आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

आचार्य श्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ

आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह समिति, दिल्ली

Foreign Price Sh. 80/-

प्रकाशक :
आचार्य श्री तुलसी धवल समारोह समिति
वृद्धिचन्द जैन स्मृति भवन,
४०९३ नयाबाजार, दिल्ली।

पृष्ठ संख्या

प्रथम अध्याय	२९२
द्वितीय अध्याय	१३२
तृतीय अध्याय	१२४
चतुर्थ अध्याय	२१२
अन्य	२८
कुल योग	७८८

मुद्रक
श्यामकुमार गर्ग
राष्ट्रभाषा प्रिन्टर्स
२७ शिवाश्रम, क्वीन्स रोड, दिल्ली
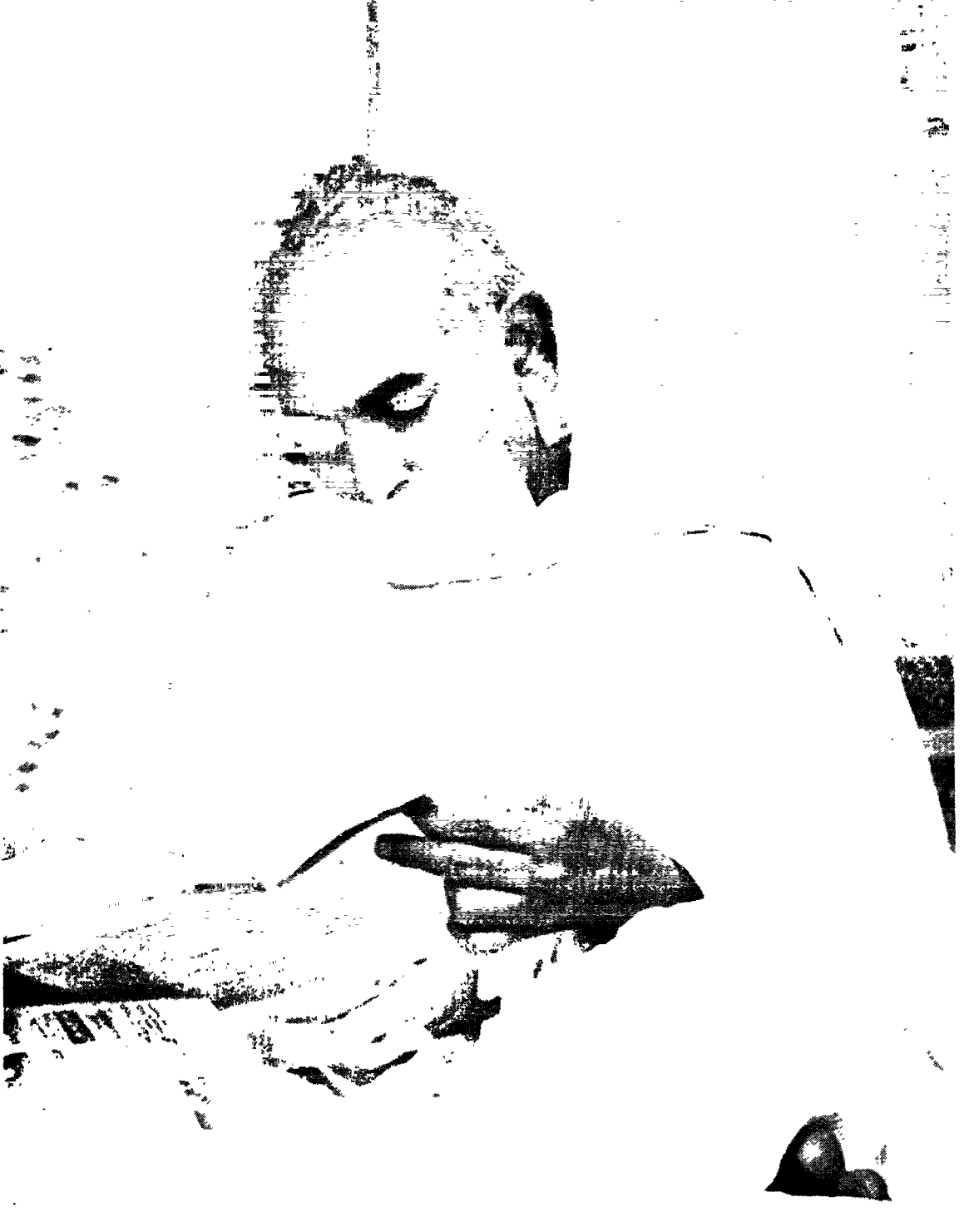
तेरापंथ के नवमाधिशास्ता, अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक—

आचार्य श्री तुलसी

उपराष्ट्रपति डा० सर्वपल्लि राधाकृष्णन्

द्वारा

वि० सं० २०१८ फाल्गुन कृष्णा दशमी, गुरुवार

ता० १ मार्च, १९६२

के दिन गंगाशहर (बीकानेर) में

अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी

को

सादर समर्पित

सम्पादकीय

आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ में चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय श्रद्धाञ्जलि और संस्मरण प्रधान है। देश और विदेश के विभिन्न क्षेत्रीय लोगों ने आचार्यश्री तुलसी को अपनी-अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित की है। वे आचार्यश्री के व्यापक व्यक्तित्व और लोक-सेवा की परिचायक हैं। दूसरे अध्याय में आचार्यश्री तुलसी की जीवन-गाथा है। जिनका समग्र जीवन ही अहिंसा और अपरिग्रह की पराकाष्ठा पर है, उनकी जीवन-गाथा सर्वसाधारण के लिए उद्बोधक होनी ही है। तीसरे अध्याय की आत्मा अणुव्रत है। समाज में अनैतिकता क्यों पैदा होती है और उसका निराकरण क्या है आदि विषयों पर विभिन्न पहलुओं से लिखे गए नाना चिन्तनपूर्ण लेख इस अध्याय में हैं। समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और अर्थशास्त्र के आधार पर विभिन्न विचारकों द्वारा प्रस्तुत विषय पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। संक्षेप में इस अध्याय को हम एक सर्वांगीण नैतिक दर्शन कह सकते हैं। चौथा अध्याय दर्शन और परम्परा का है। विद्वानों द्वारा अपने-अपने विषय से सम्बन्धित लिखे गए शोधपूर्ण लेख इस अध्याय की ही नहीं, समग्र ग्रन्थ की अनूठी सामग्री बन गए हैं। हालांकि अधिकांश लेख जैन दर्शन और जैन-परम्परा से ही सम्बन्धित हैं; फिर भी वे नितान्त शोध-प्रधान दृष्टि से लिखे गए हैं और साम्प्रदायिकता से सर्वथा अछूते रहे हैं। स्याद्वाद जैन दर्शन का तो हृदय है ही, साथ-साथ वह जीवन-व्यवहार का अभिन्न पहलू भी है। यह सिद्धान्त जितना दार्शनिक है, उतना वैज्ञानिक भी। डा० आइन्स्टीन ने भी अपने वैज्ञानिक सिद्धान्त को सापेक्षवाद की संज्ञा दी है। इस प्रकार चार अध्यायों का यह अभिनन्दन ग्रन्थ दर्शन और जीवन-व्यवहार का एक सर्वांगीण शास्त्र बन जाता है। अभिनन्दन-परम्परा की उपयोगिता भी यही है कि उस प्रसंग विशेष पर ऐसे ग्रन्थों का निर्माण हो जाता है। अभिनन्दन में व्यक्ति तो केवल प्रतीक होता है। वस्तुतः तो वह अभिनन्दन उसकी सत्प्रवृत्तियों का ही होता है।

भारतवर्ष में सदा ही त्याग और संयम का अभिनन्दन होता रहा है। आचार्यश्री तुलसी स्वयं अहिंसा व अपरिग्रह की भूमि पर हैं और समाज को भी वे इन आदर्शों की ओर मोड़ना चाहते हैं। सामान्यतया लोग सत्ता की पूजा किया करते हैं। इस प्रकार सेवा के क्षेत्र में चलने वाले लोगों का अभिनन्दन समाज करती रही, तो सत्ता और अर्थ जीवन पर हावी नहीं होंगे।

ग्रन्थ-सम्पादन की शालीनता का सारा श्रेय मुनिश्री नगराजजी को है। साहित्य और दर्शन उनका विषय है। मैं सम्पादक मण्डल में अपना नाम इसीलिए दे पाया कि वह कार्य उनकी देख-रेख में होना है। व्यक्तिशः मैंने इस पुनीत कार्य में अधिक हाथ नहीं बटाया, पर नाम से भी सबके साथ रह कर आचार्यश्री तुलसी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त कर सका, इस बात का मुझे हर्ष है।

पटना
ता० २६-१२-६१

अनन्तशयनम् आयंगार

धवल समारोह : परिकल्पना और परिसमापन

विक्रम संवत् २०१६ का वर्ष मेरे लिए ऐतिहासिक संस्मरण छोड़ गया। वर्ष की आदि में आचार्य भिक्षु स्मृति-ग्रन्थ की रूपरेखा और कार्य दिशा के निर्धारण में अपने-आपको लगाकर महामहिम आचार्यश्री भिक्षु को एक विनम्र श्रद्धाञ्जलि दे पाया और वर्ष के अन्त में आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ के आयोजन में अपने-आपको लगाकर कृत-कृत्य हुआ।

इस वर्ष आचार्यप्रवर का चातुर्मास कलकत्ता में था। श्री शुभकरणजी दसाणी ने अकस्मात् इस ओर ध्यान आकृष्ट किया कि दो वर्ष बाद आचार्यवर को आचार्य-पद के पच्चीस वर्ष पूर्ण हो जाते हैं। इस उपलक्ष में हमें 'सिलवर-जुबली' मनानी चाहिए। सिलवर जुबली का नाम सुनकर मैं सहसा चौंका। मैंने कहा—यह तो बीसवीं सदी में अठारहवीं सदी के सुझाव जैसा लगता है। उन्होंने कहा—सिलवर जुबली को भी हमें बीसवीं सदी के चिन्तन का पुट देकर ही तो मनाना है। बस यही प्राथमिक वार्तालाप समग्र धवल समारोह की भूमिका बन गया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' इस वार्तालाप में साथ थे ही और हम तीनों ने आदि से अन्त तक की सारी योजना उन्हीं दिनों गढ़ ली।

योजना के मुख्यतः तीन पहलू थे—

१. आचार्यप्रवर की कृतियों का सम्यक् सम्पादन हो। उनकी ऐतिहासिक यात्राओं का लेखबद्ध संकलन हो। इसी प्रकार उनके भाषणों का प्रामाणिक संकलन व सम्पादन हो।

२. आचार्यवर की लोकोपकारक प्रवृत्तियाँ सार्वदेशिक रूप से अभिनन्दित हों।

३. धवल समारोह प्रशस्ति परम्परा तक ही सीमित न रहे, वह दर्शन, संस्कृति व नैतिकता का प्रेरक भी हो।

इसी समग्र परिकल्पना को लेखबद्ध कर आचार्यप्रवर के सम्मुख रखा। उन्होंने तो स्थितप्रज्ञ की तरह इसे सुना और चुप रहे। इससे अधिक हम उनसे अपेक्षा भी कैसे रखते। सं० २०१७ का वर्ष तेरापंथ द्विशताब्दी का वर्ष था। आचार्यवर का चातुर्मास राजनगर में हुआ। द्विशताब्दी और धवल समारोह की अपेक्षाओं को ध्यान में रखते हुए हमारा चातुर्मास आचार्यवर ने दिल्ली ही करवाया। साहित्य-सम्पादन व साहित्य-लेखन का कार्य क्रमशः आगे बढ़ने लगा। धवल समारोह की अन्यान्य अपेक्षाएं भी क्रमशः उभरती गई। अणुव्रत समिति के तत्कालीन अध्यक्ष श्री सुगनचन्दजी आंचलिया प्रभृति कुछ लोग सक्रिय रूप से समारोह की प्रवृत्तियों के साथ जुटे रहे। उस वर्ष का मर्यादा महोत्सव आमेट में हुआ। उस अवसर पर समाज के प्रतिनिधियों की एक गोष्ठी हुई और धवल समारोह की रूपरेखा पर मुक्त रूप से चिन्तन चला। मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी व मैंने भी इस गोष्ठी में भाग लिया। तेरापंथी महासभा के नव निर्वाचित अध्यक्ष श्री जबरमलजी भण्डारी, पूर्ववर्ती अध्यक्ष श्री नेमचन्दजी गधैया व जैन भारती के भूतपूर्व सम्पादक श्री जयचन्दलालजी कोठारी आदि के उत्साह और आत्म-विश्वास ने समारोह के कार्यक्रम को तेरापंथी महासभा का स्थायी आधार दे दिया।

दिल्ली धवल समारोह के कार्यक्रम का केन्द्र बन गई। श्री मोहनलालजी कठौतिया प्रभृति स्थानीय लोगों का विशेष सहयोग मिलना ही था। कार्यकर्ताओं का भी अनुकूल योग बैठता ही गया। दिल्ली अणुव्रत समिति व धवल समारोह समिति एकीभूत-सी हो गई। देखते-देखते भाद्रव शुक्ला नवमी आ गई। बीदासर में धवल समारोह का प्रथम चरण सम्पन्न हो गया। आत्माराम एण्ड संस के संचालक श्री रामलाल पुरी ने 'श्रीकालू उपदेश वाटिका,' 'अग्नि-परीक्षा' आदि पच्चीस पुस्तकें प्रकाशित कर आचार्यवर को भेंट कीं। देश के अनेकानेक गणमान्य व्यक्तियों ने अपनी भावभीनी

श्रद्धांजलियाँ प्रस्तुत कीं। अब धवल समारोह का व्यापक कार्यक्रम फाल्गुन कृष्णा १० मे गंगाशहर (बीकानेर) में होने जा रहा है। उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन् अभिनन्दन ग्रन्थ भेट करेगे, ऐसा निश्चय हुआ है। आचार्यवर का अभिनन्दन सत्य और अहिंसा का अभिनन्दन है। प्रस्तुत आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ भारतवासियों की ही नही, विदेशी मनीषियों की भी आध्यात्मिक निष्ठा का परिचायक है। सभी ने आचार्यश्री का अभिनन्दन कर सचमुच अध्यात्मवाद को ही अभिनन्दित किया है।

चूँकि धवल समारोह की परिकल्पना से लेकर परिसमापन तक मैं इसकी अनवद्य प्रवृत्तियो मे सलग्न रहा हूँ। मुझे यथासमय इसकी सर्वांगीण सम्पन्नता देख कर परम हर्ष है। दिल्ली मे अनेकों चातुर्मास व्यतीत किये और सघन कार्य व्यस्तता रही, पर ये दो चातुर्मास कार्य-व्यस्तता की दृष्टि से सर्वाधिक रहे। मेरे सहयोगी मुनिजनो का अनवगाह्य सहयोग रहा है, वह निश्चित ही अतुल और अमाप्य है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और 'द्वितीय' ही ग्रन्थ के वास्तविक सम्पादक है। इन्होंने इस दिशा मे जो कार्यक्षमता व बौद्धिक दक्षता का परिचय दिया, वह मेरे लिए भी अप्रत्याशित था। समारोह के सम्बन्ध मे मुनि मानमलजी की सफलताएं भी उल्लेखनीय रहीं। अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों मे जो सहयोग अर्जित हुआ, वह तो समारोह के प्रत्येक अवयव में मूर्त है ही।

'रजत' शब्द भौतिक वैभव का द्योतक है, अतः 'धवल' शब्द इसका ही भावबोधक मानकर अपनाया गया है। रजत जयन्ती शब्द की अपेक्षा धवल जयन्ती या धवल समारोह शब्द अधिक सात्त्विक तथा साहित्यिक लगता है। मैं मानता हूं, इस दिशा में यह एक अभिनव परम्परा का श्रीगणेश हुआ है।

१ जनवरी '६२
कठौतिया भवन,
सब्जीमण्डी, दिल्ली।

मुनि नगराज

प्रबन्ध सम्पादक की ओर से

सामान्यतः आज का युग व्यक्ति-पूजा का नहीं रहा है, पर आदर्शों की पूजा के लिए भी हमें व्यक्ति को ही खोजना पड़ता है। अहिंसा, सत्य व संयम की अर्चा के लिए अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी यथार्थ प्रतीक है। वे अणुव्रतों की शिक्षा देते है और महाव्रतों पर स्वयं चलते है।

भारतीय जन-मानस का यह सहज स्वभाव रहा है कि वह तर्क से भी अधिक श्रद्धा को स्थान देता है। वह श्रद्धा होती है—त्याग और संयम के प्रति। लोक-मानस साधुजनों की बात को, चाहे वे किसी भी धर्म के हों, जितनी श्रद्धा से ग्रहण करता है, उतनी अन्य की नहीं। अणुव्रत-आन्दोलन की यह विशेषता है कि वह साधुजनों द्वारा प्रेरित है। यही कारण है कि वह आसानी से जन-जन के मानस को छू रहा है। आचार्यश्री तुलसी समग्र आन्दोलन के प्रेरणा-स्रोत हैं।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व सर्वांगीण है। वे स्वयं परिपूर्ण हैं और उनका दक्ष शिष्य-समुदाय उनकी परिपूर्णता में और चार चाँद लगा देता है। योग्य शिष्य गुरु की अपनी महान् उपलब्धि होते हैं। प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ व्यक्ति-अर्चा से भी बढ़ कर समुदाय-अर्चा का द्योतक है। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो सेवा आचार्यजी व मुनिजनों द्वारा देश को मिल रही है, वह आज ही नहीं; युग-युग तक अभिनन्दनीय रहेगी।

'आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ' केवल प्रशस्ति ग्रन्थ ही नहीं, वास्तव में वह ज्ञान-वृद्धि और जीवन-शुद्धि का एक महान् शास्त्र जैसा है। इसमें कथावस्तु के रूप में आचार्यश्री तुलसी का जीवनवृत्त है। महाव्रतों की साधना और मुनि जीवन की आराधना का वह एक सजीव चित्र है। **राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है** की उक्ति को चरितार्थ करने वाला वह अपने आप में है ही। साहित्य मर्मज्ञ मुनिश्री बुद्धमल्लजी की लेखनी से लिखा जाकर वह इतिहास और काव्य की युगपत् अनुभूति देने वाला बन गया है। नैतिक प्रेरणा पाने के लिए व नैतिकता के स्वरूप को सर्वांगीण रूप से समझने के लिए 'अणुव्रत अध्याय' एक स्वतन्त्र पुस्तक जैसा है। दर्शन व परम्परा अध्याय में भारतीय दर्शन के अंचल में जैन-दर्शन के तात्त्विक और सात्त्विक स्वरूप को भली-भाँति देखा जा सकता है। 'श्रद्धा, संस्मरण व कृतित्व' अध्याय में आचार्यश्री तुलसी के सार्वजनीन व्यक्तित्व का व उनके कृतित्व का समग्र दर्शन होता है। साधारणतया हरेक व्यक्ति का अपना एक क्षेत्र होता है और उसे उस क्षेत्र से श्रद्धा के सुमन मिलते हैं। नैतिकता के उन्नायक होने के कारण आचार्यजी का व्यक्तित्व सर्वक्षेत्रीय बन गया है और वह इस अध्याय से निर्विवाद अभिव्यक्त होता है।

केवल छः मास की अवधि में यह ग्रन्थ संकलित, सम्पादित और प्रकाशित हो जाएगा, यह आशा नहीं थी। किन्तु इस कार्य की पवित्रता और मंगलमयता ने असम्भव को सम्भव बना डाला है। ऐसे ग्रन्थ अनेकानेक लोगों के सक्रिय योग से ही सम्पन्न हुआ करते हैं। मैं उन समस्त लेखकों के प्रति आभार प्रदर्शन करता हूँ, जिन्होंने हमारे अनुरोध पर यथासमय लेख लिख कर दिये। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री पं० जवाहरलाल नेहरू, उपराष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्, सर्वोदयी संत विनोबा व राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन आदि ने अपनी व्यस्तता में भी यथासमय अपने सन्देश भेज कर हमें बहुत ही अनुगृहीत किया है। तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ के व्यवस्थापक श्री मोहनलालजी कठौतिया का व्यवस्था-कौशल भी अभिनन्दन ग्रन्थ की सम्पन्नता का अभिन्न अंग है। दिल्ली अणुव्रत समिति के उपमन्त्री श्री मोहनलालजी बाफणा और श्री लादूलालजी आच्छा, एम० कॉम० मेरे परम सहयोगी रहे हैं। इनकी कार्यनिष्ठा ग्रन्थ-सम्पन्नता की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। श्री सुन्दरलाल झवेरी, बी० एस-सी० ने आचार्यश्री तुलसी के सम्पर्क में आये हुए

विदेशी विद्वानों से ग्रन्थ के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित की तथा देश के विभिन्न भागों में अणुव्रती कार्यकर्ताओं ने भी लेख-सामग्री के संकलन में हाथ बँटाया। और भी अनेकानेक लोग इस पुनीत अनुष्ठान में सहयोगी हुए हैं। पूना के कलाकार श्री वसन्तराव डेरे द्वारा चित्रित कतिपय महत्त्वपूर्ण रेखाकृतियाँ भी ग्रन्थ की साज-सज्जा में सहयोगी रही हैं। मैं उन सबके प्रति आभार-प्रदर्शन करता हूँ।

मैं अपने आपको कृतकृत्य मानता हूँ कि मैं अपने व्यस्त जीवन में भी यत्किंचित् परमार्थ साध पाया।

२६ जनवरी '६२
नवभारत टाइम्स
दरियागंज, दिल्ली

अक्षयकुमार जैन

अनुक्रम

प्रथम अध्याय : श्रद्धा, संस्मरण, कृतित्व

द्वितीय अध्याय : जीवन वृत्त

तृतीय अध्याय : अणुव्रत

चतुर्थ अध्याय : दर्शन और परम्परा

परिशिष्ट

राष्ट्रपति भवन,
नई दिल्ली।
जनवरी १, १९६२
पौष ११, १८८३ शक

अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य श्री तुलसी के धवल समारोह के अवसर पर मैं उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने के निर्णय का स्वागत करता हूं और आचार्य जी के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूं। अणुव्रत आन्दोलन का उद्देश्य नैतिक जागरण और जनसाधारण को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करना है। यह प्रयास अपने आप में ही इतना महत्वपूर्ण है कि इसका सभी को स्वागत करना चाहिये। आज के युग में जबकि मानव अपनी भौतिक उन्नति से चकाचौंध होता दिखाई दे रहा है, और जीवन के नैतिक तथा आध्यात्मिक तत्वों की अवहेलना की आशंका है, ऐसे आन्दोलनों के द्वारा ही मानव अपने सन्तुलन को बनाये रख सकता है और भौतिकवाद के विनाशकारी परिणामों से बचने की आशा कर सकता है।

मैं श्री आचार्य तुलसी धवल समारोह समिति को बधाई देता हूं और इस आयोजन की सफलता की कामना करता हूं।

राजेन्द्र प्रसाद

VICE-PRESIDENT
INDIA

NEW DELHI

November 20,1961.

I am glad to know that you are bringing out an Abhinandan Granth to commemorate the services of Acharya Shri Tulsi. I send my best wishes for the success of your function and hope that the Acharya will have many more years of useful life in the service of the country.

(S.Radhakrishnan)

शुभकामना

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई है कि आचार्यश्री तुलसी की सेवाओं की स्मृति में आप अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने जा रहे हैं। समारोह की सफलता के लिए मैं अपनी शुभकामनाएं भेजता हूँ और आशा करता हूँ अपने कार्य-शील जीवन के द्वारा अनेकों वर्ष तक आचार्यश्री देश की सेवा करते रहेंगे।

एस० राधाकृष्णन्

प्रधान मंत्री भवन
PRIME MINISTER'S HOUSE
NEW DELHI

December 27, 1961

MESSAGE

I send my good wishes to Acharya Shri Tulsi, the sponsor of the Anuvrat Movement, on his completing twentyfive years of Acharyaship. I have followed with much interest and appreciation his work in the Anuvrat Movement intended to raise the moral standards of our people, especially of the younger generation.

Jawaharlal Nehru

सन्देश

मैं अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को, उनके आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में, अपनी शुभकामनाएं भेजता हूँ। मैंने उनके अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत होने वाले कार्य का विशेष रुचि व प्रशंसात्मक भाव से अनुशीलन किया है, जिसका उद्देश्य हमारे देशवासियों का और विशेषतः नई पीढ़ी का नैतिक स्तर ऊँचा उठाना है।

जवाहरलाल नेहरू
प्रधानमन्त्री, भारत सरकार

संयम और सेवा का संगम

आचार्यश्री तुलसीजी के महान् कार्यों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का विचार योग्य ही है। संयम को सेवा-कार्य में जोड़ने का काम अपनी विशिष्ट पद्धति से उन्होंने चलाया, जिसका असर जीवन के अनेक क्षेत्रों में पड़ा है और पड़ेगा। संयम और सेवा के संगम से ही नव-समाज बनेगा।

अणुव्रत की कल्पना

यह मेरा सौभाग्य है कि आचार्यश्री तुलसी को पास से देखने और उनसे बात करने तथा उनके भाषण सुनने का अवसर मुझे मिला है। दिल्ली में उनके कई अनुयायी मुनियों से मेरी भेंट हुआ करती थी। उनके चलाये अणुव्रत-आन्दोलन के पक्ष में कुछ सभाओं में भी मैंने अपना मत प्रकट किया था। अणुव्रत की कल्पना बहुत सुन्दर है और उसने बहुतों को व्रती बनाकर उनके जीवन की गति में अच्छी भावना का प्रवेश कराया है।

देश में नैतिकता की गहरी कमी दिखाई पड़ती है। उसमें परिवर्तन करने के लिए अणुव्रत-आन्दोलन सहायक हो सकता है। आचार्य तुलसी अपनी कल्पना की पूर्ति में अधिकाधिक सफलता पायें यह मेरी अभिलाषा स्वाभाविक है। आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता के लिए हम सबकी श्रद्धा और सहयोग के अधिकारी हैं।

पुरुषोत्तमदास टण्डन
ता. १०.१९६१

श्रीराम

आचार्य श्री की सेवा में

मानिक से तुलसी-दल का योग,
हो गया मेरा भोजन भोग!
तुम्हारी वाणी का अनु-दान,
लोक के लिए सुरत्न-समान।
(स्वल्प भी सधा अनुष्ठान
महा भय से करता है त्राण।)
धन्य भारती के पूत-सपूत,
दिपो चिर दिन दिव के-से दूत!

मैथिलीशरण

नैतिकता के पुजारी

श्री लालबहादुर शास्त्री
स्वदेश मन्त्री, भारत सरकार

आचार्यश्री तुलसी नैतिकता के पुजारी हैं, अहिंसा जिसका मूलाधार है। सभा, सम्मेलन और साहित्य-निर्माण आदि के द्वारा उन्होंने एक नये आन्दोलन को सम्बल प्रदान किया है। अणुव्रत-आन्दोलन ने प्रत्येक वर्ग को अपनी ओर खींचने का प्रयास किया है और जैन समुदाय पर स्वभावतः इसका विशेष प्रभाव पड़ा है। नैतिकता उपदेशों से कम, उदाहरण से ही पनपती है। आचार्यश्री तुलसी स्वयं उस मार्ग पर आचरण कर दूसरों को उस ओर प्रेरित करना चाहते हैं। उनका अभिनन्दन इसी में है कि लोग उनके इस आन्दोलन के स्वरूप को समझें और अपने जीवन को एक नये रूप में ढालने का प्रयास करें।

मानव-जाति के अग्रदूत

न्यायमूर्ति श्री भुवनेश्वरप्रसाद सिन्हा
मुख्य न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय भारतवर्ष

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी को तेरापंथ संघ के आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन का, जो कि वर्तमान में न केवल भारतवर्ष के लिए अपितु समग्र विश्व के लिए एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान है, प्रारम्भ आपके आचार्य-काल की विशिष्ट देन है। इस आन्दोलन का उद्देश्य है—सत्य और अहिंसा जैसे शाश्वत मूल्यों के प्रति मनुष्यों की श्रद्धा को उद्बुद्ध करना तथा इन मूल्यों को पुनः प्रतिष्ठित करना। इस महान् आचार्य ने न केवल उपदेश से अपितु अपने आचरण के द्वारा प्रामाणिकता, सच्चाई और व्यापक अर्थ में चारित्रिक दृढ़ता जैसे उच्च सद्गुणों को मूर्त रूप दिया है। इसलिए जहाँ तक भारतीय संस्कृति के विलक्षण तत्त्व सत्य-अहिंसा जैसे मौलिक सिद्धान्तों के प्रसार का प्रश्न है, ये महान् आचार्य केवल जैन धर्म के सीमित दायरे में ही नहीं, अपितु समग्र मानव-जाति के अग्रदूत हैं। मानव-जाति के कल्याणार्थ आचार्य तुलसी दीर्घायु हों।

सौभाग्य की बात

जननेता श्री जयप्रकाशनारायण

हमारे लिए यह सौभाग्य की बात है कि आज आचार्य तुलसी जैसी विभूति हमारा पथ-प्रदर्शन कर रही है। वे मानवता की प्रतिष्ठापना द्वारा समता, सहिष्णुता स्थापित करना चाहते हैं तथा शोषण का अन्त चाहते हैं। भूदान और अणुव्रत-आन्दोलन की प्रवृत्तियाँ ऐसी हैं जो हृदय के परिवर्तन द्वारा अहिंसक समाज नव-रचना में अग्रसर हो रही हैं, जिसे कायम करने के लिए रूस आदि देश प्रायः असफल ही दीख पड़ते हैं। अपने देश की निर्धनता देखने से पता चलता है कि कितना असीम दुःख समाज में व्याप्त है। निर्धनों के साथ कितना अन्याय हो रहा है। इन्हीं अन्याय एवं शोषणों के कारण ही शासित वर्ग के कुछ नवोदित नेता रक्तरंजित क्रान्ति की दुन्दुभि बजाने तथा शोषकों को धनविहीन एवं उनकी प्रवृत्तियों को समूल नष्ट कर देने के लिए लोगों का आह्वान कर रहे हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन भी सर्वोदय आन्दोलन का एक सहयोगी ही है। इससे भी देश-विदेश के प्रायः सभी विचारक और नेता परिचित हो ही गए हैं। हमारे आदर्श की ओर बढ़ने के लिए आचार्य तुलसी ने बहुत सुन्दर आदर्श रखा है। विनोबाजी और तुलसीजी सभी जाति और वर्ग के लिए हैं, दोनों ही सबका भला चाहते हैं। आचार्य तुलसीजी से बम्बई में वार्तालाप करने पर उनके उच्च उद्देश्यों की झलक मिली। उनका कहना है कि जब सारी हिंसक शक्तियाँ एकत्रित हो सकती है, तब अहिंसक शक्तियाँ भी एक हो सकती हैं और सबके सामूहिक प्रयास और प्रयत्न से अवश्य ही अहिंसक समाज की कल्पना पूरी हो सकेगी। सबको मिल कर काम करने में शीघ्र सफलता मिलेगी।

सर्वप्रथम व्यक्ति-सुधार

हमारे सामने यह प्रश्न अवश्य हो सकता है कि किस पद्धति के द्वारा सबका हित हो सकता है, शोषण मिट सकता है ? क्या सरकार शोषण को मिटा सकती है ? नहीं, बिल्कुल असम्भव है। यह जनता कर सकती है। मनुष्य की आन्तरिक शक्ति के द्वारा यह कार्य पूरा हो सकता है। संविधान द्वारा सर्वोदय असम्भव है। जैसा कि आचार्य तुलसी कहा करते हैं कि व्यक्ति-व्यक्ति से समाज-परिवर्तन होगा और जब तक व्यक्ति नहीं सुधरेगा, तब तक कुछ नहीं होगा। ध्यान से देखा जाये तो उनकी इस वाणी में कितना तत्त्व भरा पड़ा है। समाज का मूल व्यक्ति ही है, व्यक्ति से समुदाय, समुदाय से समाज का रूप सामने आता है। समाज तो प्रतिबिम्ब है, जैसा मनुष्य रहेगा वैसा समाज बनेगा और फिर जैसा समाज बनता रहेगा वैसा-वैसा परिवर्तन मनुष्यों में भी आता रहेगा। अस्तु, सर्वप्रथम व्यक्ति-सुधार पर जोर देना चाहिए। आचार्य तुलसी यह भी कहते हैं कि सब अपनी-अपनी आत्म-शुद्धि करें। यह और अच्छा है। अगर सब स्वतः आत्म-शुद्धि कर लें तो क्रान्ति की क्या आवश्यकता है ? महात्मा गांधी भी समाज-सुधार के पहले व्यक्ति-सुधार पर जोर देते रहे हैं। साम्यवादी आदि क्रान्तियाँ बाह्य सुधार की द्योतक हैं। किन्तु जब तक आन्तरिक सुधार नहीं हुआ, तब तक कुछ नहीं हुआ; बाह्य सुधार तो क्षणिक और सामयिक कहलायेगा, उसमें आन्तरिक सुधार के समान शाश्वतता कहाँ ? अगर हम आन्तरिक सुधार और व्यक्ति-सुधार को प्राथमिकता नहीं देंगे तो हमारा कार्य अधूरा ही रह जायेगा। रूस, अमेरिका, फ्रांस आदि देशों में आज भी असमानता, परतन्त्रता, असहिष्णुता, भ्रातृत्वहीनता, पूँजीवादिता आदि किसी-न-किसी रूप में अवश्य विद्यमान हैं। विचार-स्वातन्त्र्य की आज भी सुविधा नहीं, एक तरह से अधिनायकवाद का बोल-बाला ही है। वैतनिक असमानता अस्सी गुणा है। अस्तु, कहने का तात्पर्य यह है कि शक्ति और हिंसा पर आधारित

क्रान्ति से उद्देश्य-पूर्ति नहीं, यह तो एकमात्र हृदय-परिवर्तन पर आधारित है। इसलिए हम लोगों को चाहिए कि उक्त देशों के समान दुर्दिन आने से बचाने तथा समाज में उथल-पुथल न आने देने के लिए उचित मात्रा में त्याग और निःस्वार्थ भावना को जीवन में उतारें। महात्माजी ने भी व्यक्ति को केन्द्र मान कर उसके सुधार पर जोर दिया है और राजतन्त्र के स्थान पर लोकतंत्र को स्थापित करने की अपनी नेक सूझ हमें दी है।

हृदय और विचारों में परिवर्तन आवश्यक

राजनीति और कानून की चर्चा विशेष हुआ करती है। आचार्यश्री तुलसी तो राजनीति और कानून की खुले शब्दों में आलोचना करते हैं। वे कहते हैं कि क्या कानून किसी स्वार्थी को निःस्वार्थी या पर-स्वार्थी बना सकता है? कानून तो एक दिशा मात्र है। इसलिए राजनीति और कानून के परे आचार्य विनोबा और आचार्य तुलसी के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। जिस क्रान्ति से हृदय और विचारों में परिवर्तन नहीं आया, वह क्रान्ति नहीं। हिंसा पर आधारित क्रान्ति से हृदय-परिवर्तन भी सम्भव नहीं। उसके लिए तो प्रेम और सद्भावना का सहारा लेना होगा।

क्रान्ति कोई नहीं। जब-जब समाज में शिथिलाचार हुआ, तब-तब अवतारों व महापुरुषों द्वारा विचारों में क्रान्ति लाई गई। धर्म और नीति में से अधर्म और अनीति को निकाल फेंका गया। समाज का सुधार किया गया। धर्म और नीति समाज के अनुकूल बनाये गये। समाज में एक नया विपर्यय हुआ। धार्मिक, सामाजिक और सांसारिक जीवन के बीच की दीवारें तोड़ी गई। महात्मा गांधी, विनोबा भावे और आचार्य तुलसी भी ऐसी ही अध्यात्मनिष्ठ क्रान्ति की उद्घोषणा लिए हैं। अनावश्यक एवं समाज-हित के लिए घातक रूढ़ियों का अन्त करना इन्होंने भी आवश्यक समझा। भगवान् बुद्ध का 'धर्मचक्र' प्रवर्तन या धार्मिक क्रान्ति भी सर्वोदय या समाज-सुधार का दिशा-संकेत था। अणुव्रत-आन्दोलन भी नैतिक क्रान्ति का एक चिर-प्रतीक्षित चरण है।

एक ही भावना

सम्पत्तिदान और अणुव्रत-आन्दोलन की भावना भी एक ही है। एक समाज के हक को उसे दे देने के लिए बाध्य करता है, प्रेरित करता है या उसे सीख देता है। दूसरा संग्रह को ही त्याज्य बताता है और जो कुछ है उसे दानस्वरूप देने को नहीं बल्कि त्यागस्वरूप समाज के लिए छोड़ देने की भावना प्रदर्शित करता है। अणुव्रत-आन्दोलन परिग्रह मात्र को पाप का मूल मानता है। इसके अनुसार संग्रह ही हिंसा की जड़ है। जहाँ संग्रह है वहाँ शोषण और हिंसा आप-से-आप मौजूद हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन असाम्प्रदायिक और सार्वभौम है। यह चाहे जिस नाम से चले, हमें काम से मतलब है और इसका नामकरण चाहे जो भी कर दिया जाये, लाभ वही होगा। इसलिए अपेक्षा यह है कि आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित नैतिक अभ्युत्थान के इस पथ को समझ, परख और सीखकर जीवन में अनुकरण करें। साथ ही उसके आधार पर अपने व्यवसाय, उद्योग व धन्धे में ऐसे ठोस कदम उठाएं, जिनसे जन-जीवन को भी प्रेरणा मिल सके। धर्म केवल नाम लेने, जय-जयकार करने और मस्तक झुकाने में नहीं होता, अपितु आचरणों में परिलक्षित होता है।

आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में जो मंगलकारी कार्य हो रहा है, उसके साथ मैं तन्मय हूँ और मेरी जो कुछ भी शक्ति है, उसे इस पुण्य कार्य में लगाने को तत्पर हूँ।
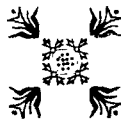
अणुव्रत और एकता

श्री उ० न० ढेबर

एकता के लिए यह आवश्यक है कि दो या अधिक पृथक् इकाइयों का अस्तित्व हो और एक ऐसा संयोजक माध्यम हो जो दोनों को मिलाकर एक सम्पूर्ण इकाई बना दे। हमारे देश में पृथक् समुदायों की कोई कमी नहीं है। जन्म हमें विभक्त करता है, परम्पराएं हमें विभक्त करती हैं, रीति-रिवाज हमें विभक्त करते हैं, धर्म हमें विभक्त करते हैं, सम्पत्ति ने तो लोगों को हमेशा ही विभक्त किया है। भारत में तो······दर्शन भी हमें विभक्त करता है, चाहे हम उसको समझते हों अथवा नहीं। अज्ञजनों की यही प्रवृत्ति होती है कि अन्तिम विश्लेषण में वे अंश के खातिर पूर्ण को खो जाने देते हैं, अंश को ही पूर्ण मान लेते हैं और ऐसे निर्णय पर पहुँचते हैं जिसका कोई आधार नहीं होता। इस देश में अज्ञान का बोलबाला है। यह अज्ञान सामाजिक अहंकार, धार्मिक अहंकार, राजनैतिक और आर्थिक अहंकार और अन्त में दार्शनिक अहंकार का पोषण करता है। भारत में सिद्धान्तों के संघर्ष की अपेक्षा अहम् का संघर्ष अधिक दिखाई देता है। एक व्यक्ति के अहम् से सारी जाति का नाश हो सकता है और किसी समुदाय का अहम् भी कम हानिकर अथवा कम विनाशक नहीं होता।

राष्ट्र के सामने मुख्य कार्य यह है कि या तो इस अहम् को समाप्त किया जाये, जो अत्यन्त ही कठिन है या उसे सुसंस्कृत बनाया जाये, जो कुछ कम कठिन है। इसका अर्थ यही हुआ कि हमें इस अहम् को उसकी संकुचित गलियों से बाहर निकालना होगा। इसका यह अर्थ भी होता है कि हम यह याद रखें कि जिस स्तर पर हम व्यवहार करते हैं, उन स्तरों पर हमारा आचरण पशुओं जैसा होता है, जबकि हम वास्तव में मानव हैं। इसलिए हमको मानव की उत्तम और श्रेष्ठ वृत्तियों को अपनाना और विकसित करना चाहिए।

क्या अणुव्रत इस सुसंस्करण की प्रक्रिया में सहायक हो सकता है? अणुव्रत यदि आचार का विज्ञान नहीं है तो फिर और कुछ भी नहीं है। छोटी बातों से प्रारम्भ करके वह ऐसी शक्ति संचय करना चाहता है जिसके द्वारा बड़े लक्ष्य सिद्ध किए जा सकें। मनुष्य को दूसरे मनुष्य के साथ व्यवहार में उसका प्रारम्भ करना चाहिए। उसे ऐसा व्यवहार करना चाहिए कि जिससे वह दूसरों के अधिक-से-अधिक निकट पहुंचता चला जाये और अन्त में सारी दूरी समाप्त हो जाये। यह तभी हो सकता है, जब वह उपेक्षा के स्थान में सहमति उत्पन्न करेगा, घृणा के स्थान पर मित्रता और शत्रुता के स्थान पर लिहाज और आदर की स्थापना करेगा। आचरण के द्वारा ही यह सब सिद्ध किया जा सकता है।

विश्व में बुराई भी है और अच्छाई भी। जहाँ भी दुनिया है, वहाँ अच्छाई और बुराई दोनों हैं। मनुष्य को निरन्तर यह प्रयास करना चाहिए कि वह दूसरे व्यक्ति का भला, बलवान् और उज्ज्वल पक्ष देखे और अपने मन को निरन्तर ऐसी शिक्षा दे कि विरोधी की बुराई को अथवा उसके जीवन के निर्बल या कृष्ण पक्ष को देखने की वृत्ति न हो। दक्षिण भारतीय और उत्तर भारतीय, हिन्दू और मुसलमान, ब्राह्मण और अ-ब्राह्मण, सवर्ण और हरिजन, आदिवासी और अन्य, भाषा के आग्रही और निराग्रही, पंडित और निरक्षर, सरकारी अधिकारी और सार्वजनिक कार्यकर्ता, बंगाली और बिहारी, बिहारी और उड़िया, गुजराती और महाराष्ट्री, ईसाई और अ-ईसाई, सिक्ख और आर्यसमाजी, कांग्रेसी और अ-कांग्रेसी—सभी को उपेक्षा और पक्षपात के सदियों पुराने घेरे से बाहर आने का प्रयत्न करना होगा और सामने वाले व्यक्ति के बारे में ऐसा सोचना होगा कि वह हमारे आदर, सहानुभूति और समर्थन का हकदार है। इसके बिना हम सब उस भयंकर संकट से नहीं बच सकते जिसका विघटनकारी शक्तियाँ आज आह्वान कर रही हैं।

सर्वधर्म समभाव अर्थात् सब विश्वासों और धर्मों के प्रति आदर भाव का जो महान् गुण है, उसका हर व्यक्ति को प्रतिदिन और प्रतिक्षण आचरण करना चाहिए। इसके बिना भारत बलशाली और सुखी नहीं हो सकता और न मनुष्यों के एक अत्यन्त प्राचीन जीवित समाज के नाते इतिहास ने उसके लिए जो कर्तव्य निर्धारित किया है, उसकी पूर्ति कर सकता है।

प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे उसका जीवन में कोई भी स्थान या पद क्यों न हो, प्रतिदिन एक-दूसरे के प्रति आदर प्रकट करने और एक-दूसरे को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। किसी भी भारतीय के लिए यह महान् देश भक्तिपूर्ण सेवा होगी। कर्तव्य की दृष्टि से यह सेवा बहुत आसान है और परिणाम की दृष्टि मे वह उतना ही शक्तिशाली है। इस छोटी बात की तुलना हम अणु-शक्ति केन्द्र के एक छोटे अणु से कर सकते हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन और इस महान् आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी का यही सन्देश है।

एक अच्छा तरीका

राष्ट्रसंत श्रीतुकड़ोजी

भारत में ही नहीं, अपितु सारे संसार में अधिक-से-अधिक शान्ति, सत्य व अहिंसा का प्रचार हो, यह मेरी हार्दिक कामना रही है। मुझ में अभी तक किसी सम्प्रदाय विशेष का कड़वापन प्रविष्ट नहीं हुआ है। यद्यपि यह मैं अनुभव करता हूँ कि प्रत्येक सम्प्रदाय, पंथ अथवा धर्म में अच्छे तत्त्व होते हैं। यदि ऐसा न होता तो धर्म की जड़ ही संसार से समाप्त हो जाती। धर्म या पंथ, जाति या संगठन, स्वार्थ और सत्ता के सीकचों में जकड़ जाते हैं, तब वे अपने तात्त्विक शिखर से नीचे गिरने लगते हैं और अहिंसा, सत्य तथा शान्ति जो कि धर्म के अभिन्न अंग होते हैं, छूटते चले जाते हैं और धर्म निष्प्राण बन जाता है। ऐसी परिस्थिति में धर्म को मिटाने की आवाज उठने लगती है। स्वयं उस धर्म के अनुयायी भी ऐसा करते हुए नहीं हिचकिचाते। वहाँ से क्रान्ति के नाम पर एक नया समाज जन्म लेता है। वह धर्म में फिर से प्राण-प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न करता है। यह क्रम बार-बार इस सृष्टि में चलता ही रहता है।

मैं आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व, उनकी कार्य-विधि व सुविश्रुत अणुव्रत-आन्दोलन से चिर-परिचित रहा हूँ। केवल परिचित ही नहीं, उसे निकट मे भी देख चुका हूँ। कई बार उनसे मिलने का भी मुझे सुअवसर प्राप्त हुआ है। उनके प्रिय शिष्य और आन्दोलन के कर्मठ प्रचारक मुनिश्री नगराजजी से भी मिलने का प्रसंग पड़ा है। आचार्यजी ने अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा अपने अनुयायी और जनता को व्यसन-मुक्त कर सच्चरित्र व त्यागी बनाने का प्रशंसनीय प्रयत्न प्रारम्भ किया है। यह एक अच्छा तरीका है। उनका कार्य सुसम्बद्ध और एक सूत्र से चलता है, यह मुझे बहुत ही अच्छा लगा। आचार्यश्री तुलसी के उपदेशों से व अणुव्रतों की साधना से जनता को काफी लाभ होता है। उनका यह प्रचार प्रतिदिन बढ़े, यह मैं दिल से चाहता हूँ।

जनहितरता जीवतु चिरम्

मुनिश्री नथमलजी

सव्वे वि पईवा अभविंसु जत्थ अकयत्था
तत्थ मए दिट्ठा पढमं तवालोयरेहा
सव्वे वि सत्था अभविंसु जत्थ अकयकज्जा
तत्थ मए दिठो पढ़मं तव विक्कम-क्कमो
महापईव ! पप्प तव सन्निहिं
सयमंधयारो वि गच्छई पयासत्तणं
अहिंसव्वय ! अभिगम्म तव समीवयं
सुमहंपि भवइ सत्थमसत्थं
असत्थ ! सत्थेसु अत्थि विउला तव मई
तहावि नत्थि रुद्धा तव गई
मइमं ! तव मई ण कुणइ विरोहं गईए
गइमं ! तव गई अविक्खए मइं
तेणं करेमि तवाहिनंदणं ।

स्वयं जातः पन्थाश्चरणयुगलं येन विहृतं,
स्वयं जातं शास्त्रं वचनमुदितं यच्च सहजम् ।
स्वयं जाता लब्धिर्मनसि यदिदं कल्पितमपि,
न वा दृष्टो रागः क्वचन तव हे कृत्रिमविधौ ।

निमज्जन्नात्माब्धौ नयसि पदवीमुन्नततमां,
नयानोप्युच्चैस्त्वं पुनरपि पुनर्मज्जसि निजे ।
इदं निम्नोच्चत्वं नयति नियतं त्वां प्रभुपदं,
न यल्लभ्यं सभ्यैर्जलधि-वियतोर्न्यस्तनयनैः ।

विचित्रं कर्तृत्वं प्रतिपलमितं चक्षुरमलं,
विचित्रा ते श्रद्धाऽप्रतिहतगतिर्याति सततम् ।
विचित्रं चारित्रं निजहितरतं सत् परहितं,
त्वदायत्ता लब्धिर्जनहितरता जीवतु चिरम् ।

युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन

मुनिश्री बुद्धमल्लजी

युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

अपना अतिशय चैतन्य लिए इस धरती पर
युग के श्वासों को सुरभित करने आये हो,
कलि के कर्दम में खड़े हुए तुम पंकज से
अपनी सुषमा में सतयुग को भर लाये हो,
फिर भी निर्लिप्त; निछावर करते आये हो
जन-हेतु स्वयं के जीवन का तुम हर स्पन्दन ।
युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

युग की पीड़ा का हालाहल खुद पीकर तुम
पीयूष सभी को बाँट रहे हो निर्भय बन,
वत्सलता की यह गोद हो गई हरी-भरी
परहित जब से कि समर्पित तुमने किया स्वतन,
युग के पथदर्शक ! आज तुम्हारी सेवा में
युग-श्रद्धा आई है करने को पद-वन्दन ।
युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

मानवता की पांचाली का अपमान भूल
सत्साहस का अर्जुन जब भ्रान्त हुआ पथ से,
अणुव्रत की गीता तब तुमसे उपदिष्ट हुई
कर्तव्य-बोध के अंकुर फिर फूटे अथ से,
नव-युग के पार्थ-सारथी ! तुम निज कौशल से
संचालित करते युग-चेतनता का स्पन्दन ।
युगपुरुष ! तुम्हारा अभिनन्दन ।

गति ससीम और मति असीम

मुनिश्री नगराजजी

शीतकाल का समय था। आचार्यवर चतुर्विध संघ के साथ बंगाल से राजस्थान की सुदीर्घ पद-यात्रा पर थे। भगवान् श्री महावीर की विहार-भूमि का हम अतिक्रमण कर रहे थे। एक दिन प्रातःकाल गाँव के उपान्त भाग में आचार्यवर यात्रा मे मुड़ने वाले लोगों को मंगल-पाठ सुना रहे थे। हम सब साधुजन अपने-अपने परिकर में बँधे जी० टी० रोड पर लम्बे डग भरने लगे। यह सदा का क्रम था। कुछ ही समय पश्चात् पीछे मुड़कर देखा तो आचार्यवर द्रुतगति से चरण-विन्यास करते और क्रमश एक-एक समुदाय को लाँघते पधार रहे थे। देखते-देखते सब ही समुदाय उस क्रम में आ गए। केवल हमारा ही एक समुदाय आचार्यवर मे आगे रह रहा था। हम सब भी जोर-जोर से कदम उठाने लगे। कुछ दूर आगे चल कर देखा तो पता चला मैं और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ही आचार्यवर मे आगे चलने वालों में रहे हैं। उम समय हमारे चलने की गति लगभग बारह मिनट प्रति मील हो रही थी। कुछ एक क्षणों के बाद पीछे की ओर झाँका तो मैंने पाया अब आचार्यवर मे आगे चलने वालों में मैं स्वयं अकेला ही रह गया हूँ, मेरी और आचार्यवर की दूरी दस-बीम कदम भी नहीं रह पाई है। अकेले को आगे चलते हुए देख आचार्यवर के सहचारी और अनुचारियों में विनोद और कौतुक का भाव भी उभर रहा था।

एक क्षण के लिए मन में आया, औरों की तरह मैं भी रुक कर पीछे रह जाऊँ, परन्तु दूसरे ही क्षण सोचा आचार्यवर आज सबकी गति का परीक्षण ले ही रहे हैं, तो अपनी परीक्षा कस कर ही क्यों न दे दूँ। गति का क्रम बारह मिनट प्रति मील से भी सम्भवतः नीचे आ गया था। अब पीछे झाँकने को अवसर नहीं था। चलता रहा, आचार्यवर के साथ चलने वाले स्वयं-सेवकों के जूतों की आवाज से ही मैं अपनी और आचार्यवर की दूरी माप रहा था। चौदह प्रस्तर फर्लांगों के और दो प्रस्तर मीलों को लाँघ कर ही मैंने पीछे की ओर झाँका। लगभग चार फर्लांग की दूरी मेरे और आचार्य-वर के बीच आ गई थी।

अब मुझे सोचने का अवसर मिला, यह अच्छा हुआ या बुरा! सड़क के एक ओर हट कर बैठ गया। देखते-देखते आचार्यवर पधार गये। मुझे शक था, आचार्यवर इतना तो अवश्य कह ही देंगे इस प्रकार आगे चलते रहे, तेतीस आसातनाएं पढ़ी हैं या नहीं? इसी चिन्तन में मैं वन्दना करता रहा, आचार्यवर अबोले ही आगे पधार गए।

ग्यारह मील का विहार सम्पन्न कर हम सब भलवा की कोठी में पहुँच गए। दिन भर रह-रहकर मन में आता था, मेरे अविचार को आचार्यवर ने कैसे लिया होगा। संतों में परस्पर नाना विनोद पूर्ण चर्चाएं रहीं, पर आचार्यश्री ने अपने भावों का जरा भी प्रकाशन नहीं किया।

सायंकाल प्रतिक्रमण के पश्चात् मैं वन्दन के लिए आचार्यवर के निकट गया। मुनिश्री नथमलजी प्रभृति अनेकों संत पहले से बैठे थे। मैं भी वन्दन कर उनके साथ बैठ गया। आचार्यवर ने आकस्मिक रूप से कहा—तुम्हारी गति तो मेरी धारणा से बहुत अधिक निकली! आचार्यवर की वाणी में प्रसन्नता थी। उपस्थित साधुजन प्रातः काल के संस्मरण को याद कर हँस पड़े। उसी प्रसंग पर पृथक्-पृथक् टिप्पणियाँ चलने लगीं। आचार्यवर ने सबका ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—ऐसी घटना यह सर्वप्रथम ही नहीं है। बहुत पहले भी ऐसी एक घटना अपने यहाँ घट चुकी है। कालूगणाराज कहा करते थे, तेरापंथ के षष्ठम आचार्यश्री माणकगणी जो कि बहुत ही तेज चलने वालों में थे, एक दिन के विहार में एक-एक करके सब संतों को पीछे छोड़ते हुए पधार रहे थे। मैं उनकी भावना को भांप गया। अपने पूरे वेग से ऐसा चला कि अगले गाँव में सर्वप्रथम पहुँचा। इस प्रकार आचार्यवर ने उम दिन के प्रसंग को जिस तरह सँवारा, उनकी अलौकिक महत्ता और असाधारण संवेदनशीलता का परिचायक था। सचमुच ही उस दिन उन्होंने मेरी गति को मापा और मैंने उनकी मति को। मेरी गति ससीम रही और उनकी मति असीम रही। उनके प्यार में मेरी हार स्पष्ट दीखने लगी।

संकल्प की सम्पन्नता पर

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

आचार्यश्री के चौबीसवें पदारोहण दिवस के उपलक्ष पर कलकत्ता में मैंने एक संकल्प किया था। वह मैंने उसी दिन लिखकर आचार्यश्री को निवेदित भी कर दिया था। उसकी भाषा थी—"धवल समारोह की सम्पन्नता तक ग्यारह हजार पृष्ठों के साहित्य का निर्माण, सम्पादन आदि करने का प्रयत्न करूँगा।" उसके अनन्तर ही मैं अपने कार्य में जुट पड़ा। आचार्यश्री की कृतियाँ, प्रवचन व यात्राएं सम्पादित करने व लिखने की दिशा में तथा तत्सम्बन्धी अन्य साहित्यिक कार्य आगे बढ़ा। नाना दुविधाएं अस्वाभाविक रूप से सामने आईं। फिर भी कुल मिलाकर मैं देखता हूँ तो मुझे प्रसन्नता है कि मैं अपने विहित संकल्प की सम्पन्नता पर पहुँच गया हूँ। आज जब कि आचार्यश्री तुलसी का देश तथा बाहर के विद्वान् अभिनन्दन कर रहे हैं; मैं भी उस साहित्यिक भेंट के द्वारा अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्तित्व

श्री जैनेन्द्रकुमार

आचार्यश्री तुलसी उन पुरुषों में हैं, जिनके व्यक्तित्व से पद कभी ऊपर नहीं हो पाता। वे जैनमत के तेरापंथी सम्प्रदाय के पट्टधर आचार्य हैं और इस पद की गरिमा और महिमा कम नहीं है। वे एक ही साथ आध्यात्मिक और लौकिक हैं। किन्तु तुलसी इतने जीवन्त और प्राणवन्त व्यक्ति हैं कि उस आसन का गुरुत्व स्वयं फीका पड़ सकता है। वेश-भूषा से वे जैनाचार्य हैं, किन्तु आन्तरिक निर्मलता और संवेदन-क्षमता से वे सभी मत और सभी वर्गों के आत्मीय बन सके हैं। मेरा जितना सम्पर्क आया है, मैंने उन्हें सदा जागृत व तत्पर पाया है। शैथिल्य कहीं देखने में नहीं आया। प्रमाद और अवसाद उनमें या उनके निकट टिक नहीं पाता। आसपास का वातावरण उनकी कर्मशीलता से चैतन्य और उन्नत बना दिखता है। परिस्थित से हारने वाले वे नहीं हैं, आस्था के बल से उसे चुनौती ही देते रहते हैं। परम्परा से उच्छिन्न नहीं हैं, लेकिन नव्यता के प्रति भी उद्यत हैं। उनकी नेतृत्व की क्षमता अभिनन्दनीय है। नेतृत्व उस वर्ग का जिसका प्रत्येक सदस्य निस्पृह, निस्वार्थ और सर्वथा मुक्त हो, आसान काम नहीं है। किसी प्रकार का लोभ और भय वहाँ व्यवस्था में सहारा नहीं दे सकता। अन्तर्भूत आत्मतेज ही इस नैतिक नैतृत्व को सम्भव बनाये रख सकता है। तुलसी में उसी का प्रकाश दीखता है और मुझे उनके सान्निध्य मे सदा लाभ हुआ है। इस अवसर पर मैं अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि उनके अभिनन्दन में अर्पित करता हूँ।

आचार्यश्री तुलसी

डा० सम्पूर्णानन्द
भूतपूर्व मुख्य मन्त्री, उत्तरप्रदेश

मेरी अनुभूति

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी राजनीतिक क्षेत्र से बहुत दूर हैं। किसी दल या पार्टी से सम्बन्ध नहीं रखते। किसी वाद के प्रचारक नहीं हैं, परन्तु प्रसिद्धि प्राप्त करने के इन सब मार्गों से दूर रहते हुए भी वे इस काल के उन व्यक्तियों में हैं, जिनका न्यूनाधिक प्रभाव लाखों मनुष्यों के जीवन पर पड़ा है। वे जैन धर्म के सम्प्रदाय-विशेष के अधिष्ठाता हैं, इसीलिए आचार्य कहलाते हैं। अपने अनुयायियों को जैन धर्म के मूल सिद्धान्तों का अध्यापन कराते ही होंगे, श्रमणों को अपने सम्प्रदाय-विशेष के नियमादि की शिक्षा-दीक्षा देते ही होंगे; परन्तु किसी ने उनके या उनके अनुयायियों के मुंह से कोई ऐसी बात नहीं सुनी जो दूसरों के चित्त को दुखाने वाली हो।

भारतवर्ष की यह विशेषता रही है कि यहाँ के धार्मिक पर्यावरण की धर्म पर आस्था रखी जा सकती है और उसका उपदेश किया जा सकता है। आचार्यश्री तुलसी एक दिन मेरे निवास-स्थान पर रह चुके हैं। मैं उनके प्रवचन सुन चुका हूँ। अपने सम्प्रदाय के आचारों का पालन तो करते ही हैं, चाहे अपरिचित होने के कारण वे आचार दूसरों को विचित्र से लगते हों और वर्तमान काल के लिए कुछ अनुपयुक्त भी प्रतीत होते हों; परन्तु उनके आचारण और बातचीत में ऐसी कोई बात नहीं मिलेगी जो अन्य मतावलम्बियों को अरुचिकर लगे। भारत सदा से तपस्वियों का आदर करता आया है। उपासना शैली और दार्शनिक मन्तव्यों का आदर करना अस्वारस्य होते हुए भी हम चरित्र और त्याग के सामने सिर झुकाते हैं। हमारा तो यह विश्वास है कि :

यत्र तत्र समये यथा तथा, योऽसि सोऽस्यभिधया यथा तथा

जिस किसी देश, जिस किसी समय, महापुरुष का जन्म हो, वह जिस किसी नाम से पुकारा जाता हो, वीतराग तपस्वी पुरुष सदैव आदर का पात्र होता है। इसलिए हम सभी आचार्य तुलसी का अभिनन्दन करते हैं। उनके प्रवचनों से उस तत्त्व को ग्रहण करने की अभिलाषा रखते हैं जो धर्म का सार और सर्वस्व है तथा जो मनुष्य मात्र के लिए कल्याणकारी है।

भारतीय संस्कृति ने धर्म को सदैव ऊँचा स्थान दिया है। उसकी परिभाषाएं ही उसकी व्यापकता की द्योतक हैं। कणाद ने कहा है **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** जिससे इस लोक और परलोक में उन्नति हो और परम पुरुषार्थ की प्राप्ति हो, वह धर्म है। मनु ने कहा—**धारणाद् धर्मः** समाज को जो धारण करता है, वह धर्म है। व्यास कहते हैं—**धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किन्न सेव्यते।** धर्म से अर्थ और काम दोनों बनते हैं, फिर धर्म का सेवन क्यों नहीं किया जाता? इस पाठ को भुला कर भारत अपने को, अपनी भारतीयता को खो बैठेगा; न वह अपना हित कर सकेगा और न संसार का कल्याण ही कर सकेगा।

भौतिकता की घुड़-दौड़

इस समय जगत् में भौतिक वस्तुओं के लिए जो घुड़-दौड़ मची हुई है, भारत भी उसमें सम्मिलित हो गया है। भौतिक दृष्टि से सम्पन्न होना पाप नहीं है, अपनी रक्षा के साधनों से सज्जित होना बुरा नहीं है; परन्तु भारत इस दौड़

में अपनी आत्मा को खोकर सफल नहीं हो सकता। अनियन्त्रित स्पर्धा से धन प्राप्त हो जाये तो वह धन अविनय और अकरणीय कर्म की ओर ले जाता है। परमाणु बम जैसी नर-संहारवादी वस्तुओं का मार्ग दिखलाता है। मनुष्य आज आकाशारोहण करने जा रहा है। बात तो बुरी नहीं है; पर इसका परिणाम क्या होगा! यदि वह राग-द्वेष का पुतला बना रहा, यदि लोभ ही उसको स्फूर्ति देने वाला रहा और धन-सम्पत्ति का संग्रह ही उसके जीवन का चरम लक्ष्य रहा तो वह दूसरे पिण्डों को भी पृथ्वी की भाँति रणस्थल और कसाईखाना बना देगा। यदि उन पिण्डों पर प्राणी हुए तो उनका जीवन भी दूभर हो जायेगा और वे मनुष्य जाति के क्षय को ही अपने लिए वरदान मानेंगे। मनुष्य का ज्ञान-समुच्चय उसके लिए अभिशाप हो जायेगा और एक दिन उसे अपने ही हाथों सहस्रों वर्षों मे अर्जित संस्कृति और सभ्यता की पोथी पर हरताल फेरनी होगी।

लोभ की आग सर्वग्राही होती है। व्यास ने कहा है—

नाच्छित्वा परमर्माणि, नाकृत्वा कर्म दुष्करम्।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम्॥

बिना दूसरों के मर्म का छेदन किये, बिना दुष्कर कर्म किये, बिना मत्स्यघाती की भाँति हनन किये (जिस प्रकार धीवर अपने स्वार्थ के लिए निर्दयता से सैकड़ों मछलियों को मारता है) महती श्री प्राप्त नहीं हो सकती। लोभ के वशीभूत होकर मनुष्य और मनुष्यों का समूह अन्धा हो जाता है; उसके लिए कोई काम, कोई पाप, अकरणीय नहीं रह जाता। लोभ और लोभजन्य मानस उस समय पतन की पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, जब मनुष्य अपनी परपीड़न-प्रवृत्ति को परहितकारक प्रवृत्ति के रूप में देखने लगता है, किसी का शोषण-उत्पीड़न करते हुए यह समझनेलगता है कि मैं उसका उपकार कर रहा हूँ। बहुत दिनों की बात नहीं है, यूरोप वालों के साम्राज्य प्रायः सारे एशिया और अफ्रीका पर फैले हुए थे। उन देशों के निवासियों का शोषण हो रहा था, उनकी मानवता कुचली जा रही थी, उनके आत्म-सम्मान का हनन हो रहा था, परन्तु यूरोपियन कहता था कि हम तो कर्तव्य का पालन कर रहे हैं, हमारे कन्धों पर **ह्वाइट मैन्स बर्डन** (गोरे मनुष्य का बोझ) है, हमने अपने ऊपर इन लोगों को ऊपर उठाने का दायित्व ले रखा है, धीरे-धीरे इनको सभ्य बना रहे हैं। सभ्यता की कसौटी भी पृथक्-पृथक् होती है। कई साल हुए, मैंने एक कहानी पढ़ी थी। थी तो कहानी ही, पर रोचक भी थी और पश्चिमी सभ्यता पर कुछ प्रकाश डालती हुई भी। एक फ्रेंच पादरी अफ्रीका की किसी नर-मांस-भक्षी जंगली जातियों के बीच काम कर रहे थे। कुछ दिन बाद लौट कर फ्रांस गये और एक सार्वजनिक सभा में उन्होंने अपनी सफलता की चर्चा की। किसी ने पूछा, "क्या अब उन लोगों ने नर-मांस खाना छोड़ दिया है?" उन्होंने कहा, "नहीं; अभी ऐसा तो नहीं हुआ, पर अब यों ही हाथ से खाने के स्थान पर छुरी-काँटे से खाने लगे हैं।" मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उस समय पतन पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है, जब मनुष्य की आत्मवञ्चना इस सीमा तक पहुँच जाती है कि पाप पुण्य बन जाता है। **विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः**। एक लोभ पर्याप्त है, सभी दूसरे दोष आनुषंगिक बन कर उसके साथ चले आते हैं। जहाँ भौतिक विभूति को मनुष्य के जीवन में सर्वोच्च स्थान मिलता है, वहाँ लोभ से बचना असम्भव है।

असत्य के कन्धे पर स्वतन्त्रता का बोझ

हम भारत में वेल्फेयर स्टेट—कल्याणकारी राज्य—की स्थापना कर रहे हैं और 'कल्याण' शब्द की भौतिक व्याख्या कर रहे हैं। परिणाम हमारे सामने है। स्वतन्त्र होने के बाद चरित्र का उन्नयन होना चाहिए था, त्याग की वृत्ति बढ़नी चाहिए थी, परार्थ-सेवन की भावना में अभिवृद्धि होनी चाहिए थी। सब लोगों में उत्साहपूर्वक लोकहित के लिए काम करने की प्रवृत्ति तीव्र पड़नी चाहिए थी। एड़ी-चोटी का पसीना एक करके राष्ट्र की हितवेदी पर सब-कुछ न्यौछावर करना था। परन्तु ऐसा हुआ नहीं। स्वार्थ का बोलबाला है। राष्ट्रीय चरित्र का घोर पतन हुआ है। कर्तव्यनिष्ठा ढूँढे नहीं मिलती। व्यापारी, सरकारी कर्मचारी, अध्यापक, डाक्टर किसी में लोकसंग्रह की भावना नहीं है। सब रुपया बनाने की धुन में हैं, भले ही राष्ट्र का अहित हो जाए। कार्य से जी चुराना, अधिक-से-अधिक पैसा लेकर कम-से-कम काम करना— यह साधारण-सी बात हो गई है। हम करोड़ों रुपया व्यय कर रहे हैं, परन्तु उसके आधे का भी लाभ नहीं उठा

रहे हैं। लोभ सर्वव्यापी हो रहा है और उसके साथ असत्य का साम्राज्य फैला हुआ है। असत्य-भाषण, असत्य आचरण और सर्वोपरि असत्य-चिन्तन। एक बार १६१७ में महात्माजी ने कहा था कि हमारे चरित्र में यह दोष है कि हमारी 'हाँ' का अर्थ 'हाँ' और हमारे 'नहीं' का अर्थ 'नहीं' नहीं होता। वह दोष आज भी हम में वैसा ही है। परन्तु असत्य के कन्धे पर स्वतन्त्रता का बोझ नहीं उठ सकता। दुर्बल चरित्र देश को ले डूबेगा और मानव-समाज का भी अहित करेगा। इसीलिए महात्माजी ने वैयक्तिक और सामूहिक जीवन में धर्म को सर्वोच्च स्थान दिया था। उनका यह डिंडिम-घोष था कि 'साधन का महत्त्व साध्य से कम नहीं होता।' वह राजनीति में भी सत्य और अहिंसा को अनिवार्य मानते थे और भावी भारत में धर्म को। अपनी कल्पना को रामराज्य के नाम से बराबर लोगों के सामने रखते गये। आज वह नहीं हैं। करोड़ों ने उनके उपदेशों को सुना था, अब भी पढ़ते हैं, परन्तु उनका अनुगमन कौन कर रहा है ? धर्म मूलक राज्य, रामराज्य की कल्पना पुस्तकों के पन्नों में ही रह गई।

चरित्र की गिरावट की गति अबाध है। इससे घबरा कर कुछ लोगों का ध्यान स्व० श्री.बुकमैन और उनके 'मॉरल रिआर्मामेंट' (नैतिक पुनरुत्थान) कार्यक्रम की ओर गया। कार्यक्रम भले ही अच्छा हो, पर हमारी सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियाँ भिन्न हैं और हम कम्युनिज्म के विरोध के आधार पर राष्ट्रीय चरित्र का उन्नयन नहीं कर सकते। उससे हमारा काम नहीं चल सकता। हमारी अपनी मान्यताएं हैं, परम्पराएं हैं, विश्वास हैं; हमारे अनुकूल वही उपदेश हो सकते हैं जो हमारी अनुभूतियों पर अवलम्बित हों, जिनकी जड़ें हमारे सहस्रों वर्षों के आध्यात्मिक धरातल से जीवन-रस ग्रहण करती हों।

समाज संगठन का भारतीय व पश्चिमी आधार

पश्चिम के समाज-संगठन का आधार है—प्रतिस्पर्धा; हमारा आधार है—सहयोग। हम संभूय समुत्थान के प्रतिपादक हैं; पश्चिम में व्यक्तियों और समुदायों के अधिकारों पर जोर दिया जाता है; हम कर्त्तव्यों, धर्मों पर जोर देते हैं, इस भूमिका में जो उपदेश दिया जायेगा, वही हमारे हृदयों में प्रवेश कर सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने इस रहस्य को पहचाना है। वह स्वयं जैन हैं, पर जनता को नैतिक उपदेश देते समय वह धर्म के उस मंच पर खड़े होते हैं जिस पर वैदिक, बौद्ध, जैन आदि भारत-सम्भूत सभी सम्प्रदायों का समान रूप से अधिकार है। वह बालब्रह्मचारी हैं, साधु हैं, तपस्वी हैं, उनकी वाणी में ओज है। इसलिए उनकी बातों को सभी श्रद्धापूर्वक सुनते हैं। कितने लोग उनके उपदेश को व्यवहार में लाते हैं, वह न्यारी कथा है; परन्तु सुनने मात्र से भी कुछ लाभ तो होता ही है और फिर : **रसरी आवत जात ते, सिल पर होत निसान।**

आचार्यश्री लोगों से जिन बातों का संकल्प कराते हैं, वे सब घूम-फिर कर अहिंसा या अस्तेय के अन्तर्गत ही आती हैं। पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य को महाव्रत कहा है और यह ठीक भी है। इनमें से किसी एक को भी निबाहना कठिन होता है और एक के निबाहने के प्रयत्न में सबको ही निबाहना अनिवार्य हो जाता है। एक को पकड़ कर दूसरों से बचा नहीं जा सकता। मान लीजिये कि कोई यह संकल्प करता है कि मैं आज से रिश्वत नहीं लूंगा और किसी माल में मिलावट नहीं करूँगा। संकल्प पूरा करने के लिए ही तो किया जायेगा, तोड़ने के लिए नहीं। पदे-पदे प्रलोभन आते हैं, पुराने संस्कार नीचे की ओर खींचते हैं। लोभ का संवरण करना कठिन होता है। चित्त डाँवा-डोल हो जाता है। वह जिन किन्हीं दैवी शक्तियों पर विश्वास करता हो उनसे शक्ति की याचना करता है कि मेरा यह संकल्प कहीं टूट न जाये। मैं मिथ्याचरण को छोड़कर सत्याचरण की ओर आता हूँ, कहीं परीक्षा में डिग न जाऊँ। वैदिक शब्दों में वह यह कहता है—**अग्ने, व्रतपते, व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयम् तन्मे राध्यताम् इदमहमनृतात्सत्यमुपैमि**—हे दोषों को दूर करके पवित्र करने वाले भगवन्! हे व्रतों के स्वामी, मैं व्रत का आचरण करने जा रहा हूँ। मुझको शक्ति दीजिये कि मैं उसे पूरा कर सकूँ। उसको सम्पन्न कीजिये, मैं अनृत को छोड़ कर सत्य को अपनाता हूँ। व्रत का निभ जाना, प्रलोभनों पर विजय पाना, सरल काम नहीं है। बड़े भाग्य से इसमें सफलता मिलती है; और यह भी निश्चित है कि व्रती की गति एक व्रत पर ही अवरुद्ध न होगी। एक व्रत उसको दूसरे व्रत की ओर ले जायेगा। एक को पूरा करने के

लिए युगपत् सबको अपनाना होगा; और जो आरम्भ में परम अणु प्रतीत होता रहा हो, वह अपने वास्तविक रूप में बहुत बड़ा बन जायेगा। इसी से तो कहा कि **स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**। इसीलिए मैं कहता हूँ कि वस्तुतः कोई भी व्रत अणु नहीं है। किसी एक छोटे से व्रत को भी यदि ईमानदारी से निबाहा जाये तो वह मनुष्य के सारे चरित्र को बदल देगा।

आचार्य तुलसी के प्रवचनों में तो बहुत लोग दीख पड़ते हैं, स्त्रियाँ भी बहुत-सी दीख पड़ती हैं। सेठ-साहूकारों का भी जमघट रहता है। इसी से मैं घबराता हूँ। हमारे देश में साधुओं के दरबार में जाने और उनके उपदेशों को पल्ले-भाड़ विधि से सुनने का बड़ा चलन है। ऐसे लोग न आवें तो अच्छा है। सबसे पहले उन लोगों को प्रभावित करना है जो समाज का नेतृत्व कर रहे हैं। शिक्षित वर्ग को आकृष्ट करना है। इसी वर्ग में से शिक्षक, अध्यापक, डाक्टर, इंजीनियर, राजनीतिक नेता, सरकारी कर्मचारी निकलते हैं। यदि इन लोगों का चरित्र सुधरे तो समाज पर शीघ्र और प्रत्यक्ष प्रभाव पड़े। मैं आशा करता हूँ कि आचार्यश्री का ध्यान मेरे इस निवेदन की ओर जायेगा। भगवान् उनको चिरायु और उनके अभियान को सफल करे।

अचार्यश्री तुलसी का जीवन-दर्शन

श्री० वुडलैण्ड वहेलर
अध्यक्ष, अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी संघ, लन्दन

अन्तर्राष्ट्रीय-सम्बन्ध इस समय समस्त संसार की एक प्रमुख समस्या है। दो विश्व-युद्धों के बाद पुराने ढंग के संकीर्ण राष्ट्रीयतावादी भी यह अनुभव करने लगे हैं कि विश्व-व्यापी रूप में, यानी समग्र विश्व की दृष्टि से नई सीमाएं निर्धारित करनी आवश्यक हैं। इस कार्य में सहायता के लिए भारतवर्ष के जैनाचार्य श्री तुलसी अपने अनुयायियों को दुनिया में हर चीज पर परस्परावलम्बी अहिंसक दृष्टि से विचार करने की प्रेरणा करते हैं। विश्वव्यापी मैत्री के फूल व्यक्तिगत आत्म-संयम के बीज से ही उत्पन्न होते हैं, इस बात को मुख्य मानते हुए आचार्यश्री तुलसी और उनके सर्वथा शाकाहारी अनुयायियों ने अणुव्रत-आन्दोलन संगठित किया है। यह एक ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समाज के निर्माण का प्रयत्न है, जिसमें जैन और अजैन सभी ऐसे लोग शामिल हो सकते है, जो आदर्शों को असली रूप देने के लिए निश्चित की गई कुछ अनुशासनात्मक प्रतिज्ञाओं को अपनी क्षमता के अनुसार स्वेच्छापूर्वक ग्रहण करने के लिए तैयार हों।

आचार्यश्री तुलसी २० अक्तूबर, १९१४ को लाडनूं में पैदा हुए थे, जो भारतीय संघ के राजस्थान राज्यान्तर्गत जोधपुर डिवीजन का एक कस्बा है। आचार्यश्री तुलसी तीन वर्ष के ही थे कि उनके पिता का देहान्त हो गया। पिता के देहावसान के बाद आचार्यश्री तुलसी के सबसे बड़े भाई मोहनलालजी पर गृहस्थी का भार आया। मोहनलालजी अवश्य कड़े अनुशासन वाले व्यक्ति रहे होंगे, क्योंकि अपनी डायरी में आचार्यश्री तुलसी ने लिखा है—"मैं उनसे इतना डरता था कि उनके विरुद्ध कुछ कहना तो दूर, उनकी उपस्थिति में कुछ करने में भी मुझे संकोच होता था।"

आचार्यश्री तुलसी पर अपनी माता का भी बहुत असर पड़ा, जो आध्यात्मिक विचारों की थीं और बाद में साध्वी बन गई। तेरापंथी साधु-साध्वियों के वातावरण में शाकाहारी तो वह जन्म से ही थे। बाल्यावस्था में ही अपने मानसिक धरातल को दृढ़ करने के लिए उन्होंने जीवन में कभी नशा और धूम्रपान न करने की प्रतिज्ञा ली। इस तरह व्यक्तिगत आत्म-संयम का सहारा लेकर उन्होंने छोटी अवस्था से ही उस मार्ग को अपनाया जो कठिन होते हुए भी दुनिया में सुखी रहने का सबसे प्रशस्त मार्ग माना जाता है।

बाल्यावस्था के अपने संस्मरणों में आचार्यश्री तुलसी लिखते हैं—"पाठ कण्ठाग्र करने की मुझे आदत थी। यहाँ तक कि खेलते समय भी मैं अपना पाठ याद करता रहता था।" प्रारम्भ से ही वे बाहरी प्रभाव के बनिस्पत अन्त-रात्मा का अनुसरण करते थे और प्रारम्भिक काल के उनके सभी अध्यापकों ने उनमें नेतृत्व की क्षमता को अनुभव किया था। चार या पाँच साल की अवस्था में, जबकि बच्चे आमतौर पर ऐसी आदतों का परिचय देते हैं जो उनके भावी जीवन की रूपरेखा बनाती हैं, आचार्यश्री तुलसी में जरा-जरा सी बात पर गुस्सा हो जाने की आदत पड़ गई। क्रोध के दुष्प्रभाव में मनुष्य का पेट खाए हुए पदार्थ को अच्छी तरह नहीं पचा सकता, लेकिन आचार्यश्री तुलसी बाल्यावस्था में ही इतने समझ-दार थे कि जब उन्हें गुस्सा आता तो खाना खाने से इन्कार कर देते थे। कभी-कभी तो ऐसा होता कि घर के सभी लोगों के बहुत कहने-सुनने पर भी सारे दिन या दो दिन तक वह खाना नहीं खाते। इसी समय किसी ने उन्हें नारियल चुरा कर भगवान् पर चढ़ाने की सलाह दी। इस सलाह पर, जिसका औचित्य निःसन्देह संदिग्ध है, चल कर कथित धार्मिक क्रिया के लिए उन्होंने अपने ही घर से कुछ नारियल चुराए। लेकिन सदाचार के जिस मार्ग को उन्होंने अपनाया, उसमें बचपने के ऐसे अवधान बिरले ही हुए। आज्ञा-पालन और मृदुता उनके विशेष गुण बन गए, जिनके कारण अपनी इच्छा न होने

हुए भी उन्होंने अपनी माता और बड़े भाई मोहनलालजी ने जो कहा, वह किया। ऐसे एक दुःखद प्रसंग का उन्होंने अपनी डायरी में उल्लेख किया है, जबकि उनकी माँ ने उनसे पड़ौस के एक घर से छाछ माँग लाने के लिए कहा था। "माँगने में मुझे अपमान का अनुभव होता था।" आचार्यश्री तुलसी लिखते हैं, "लेकिन मुझे अपनी माँ के आदेश का पालन करना पड़ा।"

जैन दर्शन के अनुसार पूर्व जन्मों के संस्कार मनुष्य की आत्मा में रहते हैं, जिनके अनुसार ही मनुष्य अपने उपयुक्त कार्य का चुनाव करता है। आचार्यश्री तुलसी के लिए निश्चित ही यह बात लागू होती है, क्योंकि आध्यात्मिकता की कोई छिपी हुई शक्ति उनका मार्ग-दर्शन करती मालूम पड़ती है। यही बात उनके कुटुम्ब के कुछ अन्य व्यक्तियों के बारे में भी कही जा सकती है। उनकी बहन लाडांजी साध्वी बनी, जो कालान्तर में तेरापंथी सम्प्रदाय की सभी साध्वियों की प्रमुख हुई और उनके भाई चम्पालालजी ही नहीं, बल्कि एक भतीजे हंसराजजी भी तेरापंथी साधु बने।

आचार्यश्री तुलसी ने जबसे होश सम्हाला, उनका सारा परिवार तेरापंथ के आठवें आचार्यश्री कालूगणी का अनुयायी था। अपने बाल्यकाल में आचार्यश्री तुलसी ने अक्सर यह आकांक्षा की तो उसमें आश्चर्य की बात नहीं कि मैं भी साधु हो जाऊँ तो कितना अच्छा। अपनी माँ से वह अक्सर आचार्यश्री कालूगणी के बारे में पूछते रहते थे। आचार्यश्री कालूगणी जब कभी लाडनूं आते, जो तेरापंथ के प्रभाव का केन्द्र था, आचार्यश्री तुलसी और उनके परिवार के दूसरे सभी व्यक्ति उनके दर्शनों को जाते थे। आचार्यश्री कालूगणी के बारे में आचार्यश्री तुलसी ने लिखा है—"उनके मुख पर जो आध्यात्मिक तेज था, वह मेरे हृदय को आकर्षित करता था और मैं घण्टों उन्हें, उनके लम्बे कद, उनके गौर वदन, उनकी चमकती हुई आँखों की ओर निहारता रहता था। मन-ही-मन कहता—क्या किसी दिन मुझे भी ऐसा सौभाग्य प्राप्त होगा कि मैं साधु बन कर उनकी साधना में उनके साथ बैठूं।"

जैन तेरापंथ में आचार्य ही अपने उत्तराधिकारी का चुनाव करते हैं। कालान्तर में आचार्यश्री कालूगणी ने इस प्रश्न पर विचार करना प्रारम्भ किया कि उनके बाद आचार्य का पद किसे दिया जाये। आचार्यश्री कालूगणी ने लाडनूं की अपनी यात्राओं में एक बार बालक तुलसी को देखा था और पहली ही नजर में बालक ने उनका हृदय छू लिया था। बालक की उनके प्रति जैसी भावना थी, उसी तरह वे भी उसकी ओर आकर्षित हुए और बालक तुलसी की चमकती हुई आँखों में देखते हुए आचार्यश्री कालूगणी ने जान लिया कि जिस उत्तराधिकारी की वह खोज में थे उसे उन्होंने पा लिया।

आचार्यश्री तुलसी जब ग्यारह वर्ष के हुए तो आचार्यश्री कालूगणीजी एक बार फिर लाडनूं आये। साधु बनने के स्वप्न की पूर्ति में विलम्ब न हो, यह सोच कर आचार्यश्री तुलसी ने उनसे अपने को तेरापंथ के साधु-समुदाय में दीक्षित करने की प्रार्थना की। बड़े भाई मोहनलालजी इतनी छोटी अवस्था में संसार के सारे भौतिक सुखों और सम्पत्ति का परित्याग करने की अपने छोटे भाई की तैयारी देख कर धक्क रह गए। छोटे भाई के कानूनी संरक्षक के नाते, इसके लिए आवश्यक अनुमति देने मे उन्होंने इन्कार कर दिया। आचार्यश्री तुलसीजी ने बार-बार आग्रह किया, लेकिन मोहनलालजी भी अपनी बात पर दृढ़ रहे।

इसके कुछ दिन बाद की बात है कि आचार्यश्री कालूगणी लाडनूं में एक विशाल समुदाय के बीच प्रवचन कर रहे थे। सबको और विशेषतः मोहनलालजी को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उस विशाल समुदाय के बीच खड़े होकर ग्यारह वर्षीय आचार्यश्री तुलसी ने आचार्यश्री कालूगणी को सम्बोधित करके कहा—"आदरणीय आचार्यश्री, मैं यह प्रतिज्ञा लेना चाहता हूँ कि आजीवन ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा और धनोपार्जन के चक्कर में नहीं पड़ूँगा।" जिसने अभी युवावस्था में भी प्रवेश नहीं किया था, ऐसे बालक का यह साहस देख कर जन-समुदाय भौंचक्का रह गया। भाई मोहनलालजी भी ऐसे चकित हुए कि कुछ बोल न सके। स्वयं आचार्यश्री कालूगणी भी, जो भारत के विविध भागों के व्यापक प्रवास में अनोखे-अनोखे दृश्य देख-सुन कर अब वयोवृद्ध हो चुके थे, आचार्यश्री तुलसी के इस आकस्मिक परिवर्तन को देख कर चकित रह गए। बड़े भाई की अवस्थिति में प्रतिदिन दबे-दबे रहने वाले तुलसी को आज क्या हो गया? मोहनलालजी का भय कहाँ चला गया? यह किसी की समझ में नहीं आया। वस्तुतः यह छोटे बालक के बजाय एक वयस्क की ही वाणी थी।

लम्बी खामोशी के बाद आचार्यश्री कालूगणी ने कहा—"तुम अभी बालक ही हो, ऐसी प्रतिज्ञा का पालन करना

आसान काम नहीं है।"

मोहनलालजी की आँखें आचार्यश्री तुलसी पर एकाग्र थीं। जन-समुदाय ज्यों-का-त्यों निःशब्द था। तुलसीजी को यह कसौटी थी। उन्हें लगा कि यहाँ उपस्थित हर एक उनसे प्रश्न कर रहा है, ऐसी हालत में उन्हें क्या करना चाहिए? उन्होंने अभीष्ट निर्णय किया कि मुझे गलती नहीं करनी चाहिए, अपनी आत्मा की दृढ़ता दिखाने का यही अवसर है और स्पष्ट वाणी में आचार्यश्री से कहा—"आदरणीय आचार्यश्री, आप प्रतिज्ञा दिलाने को राजी हों या नहीं, मैं तो आपकी उपस्थिति में यह प्रतिज्ञा ले ही रहा हूँ।" इसके बाद उस छोटे बालक ने आजीवन विवाह और धनोपार्जन न करने की प्रतिज्ञा को गम्भीरता के साथ दोहराया।

जन-समुदाय में इससे एक बार फिर आश्चर्य की लहर दौड़ गई। यहाँ तक कि कठोर अनुशासक मोहनलालजी भी अपने छोटे भाई के वीरतापूर्ण शब्दों से बहुत प्रभावित हुए। एक क्षण बाद मोहनलालजी अपनी जगह से उठे और आचार्यश्री को सम्बोधन करके बोले—'आचार्यश्री, मैं अपने भाई की इच्छा के आगे सिर झुकाता हूँ और आपसे अनुरोध करता हूँ कि आप उसे तेरापंथ के साधुओं में दीक्षित कर लें।'

इस बार आचार्यश्री सोच में नहीं पड़े, बल्कि तुरन्त सहमति दे दी। दीक्षा के लिए ऐसी शीघ्र अनुमति बहुत असाधारण बात थी, जैसा कि पहले कभी विरल ही हुआ था। जन-समुदाय एक बार फिर भौंचक्का रह गया।

आचार्यश्री तुलसी के बाल्यकाल का यह विवरण मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' द्वारा लिखित आचार्यश्री तुलसी की जीवन-झाँकी 'भारत की ज्योति' के आधार पर लिखा गया है। 'भारत की ज्योति' के प्रति पूरा न्याय करना हो तो इस संक्षिप्त निबन्ध की परिधि से बाहर जाना होगा। आत्म-संयम के लिए जो आध्यात्मिक जिज्ञासा का मार्ग ग्रहण करना चाहें, उनके लिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन का सदस्य बनने की हार्दिक प्रार्थना करूँगा। अणुव्रत-आन्दोलन के दो उत्साही सदस्यों रमणीकचन्द और सुन्दरलाल झवेरी की कृपा से कुछ वर्ष पूर्व हमारे पहली बार भारत आने पर मुझे और मेरी पत्नी को आचार्यश्री तुलसी के चरणों में बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

आचार्यश्री तुलसी से भेंट करने पर मेरी पत्नी ने कहा था—'आचार्यश्री आपकी आंखों में जो दिव्य ज्योति मैं देख रही हूँ, वैसी इससे पहले अपने जीवन में मैंने कभी नहीं देखी।' उनके चेहरे का निचला आधा हिस्सा यद्यपि तेरापंथ की परम्परा के अनुसार धवल वस्त्र से ढका हुआ था, फिर भी जैन आचार्यश्री तुलसी की सुन्दर चमकदार आँखें हमसे नहीं छिपी रह सकीं और उनके द्वारा हम उनके हृदय की ऊष्मा, उनके व्यक्तिगत आकर्षण और उससे भी अधिक उनके मन व आत्मा की महान् शुद्धता को अनुभव कर सकते थे।

इस स्मरणीय पहली भेंट में इस बात से हम बहुत प्रभावित हुए कि उनके आस-पास पलथी मार कर जमीन पर बैठे हुए सभी लोग हमें प्रसन्न दिखाई पड़े। पश्चिमी दुनिया के सुविधावादी दृष्टिकोण से प्रभावित अनेक धार्मिक व्यक्तियों के विपरीत साधु-साध्वियों तथा आचार्यश्री तुलसी के दूसरे अनुयायियों ने स्पष्टतया प्राकृतिक जीवन के अपने आनन्द को नहीं खोया है। उनके हास्य और स्वेच्छापूर्ण उल्लास से हमें लगा कि नैतिकता के मार्ग पर चलते हुए उनका समय बहुत अच्छा बीत रहा है। हमारी भेंट के बीच आचार्यश्री तुलसी ने कई अच्छी बातें कहीं, जिनमें से यह मुझे विशेषतया याद है—'अपनी इच्छाओं पर आप विजय नहीं पायेंगे तो वे आप पर हावी हो जायेंगी।'

आचार्यश्री तुलसी और उनके अनुयायियों से विदा होने के पहले मैंने उनसे पूछा कि बीसवीं सदी के टूटे काल में जब प्रगति के नाम पर संहार और संहार की तैयारी जारी है, तब दुनिया में सच्चे सुख की प्राप्ति कैसे सम्भव है? आचार्यश्री ने जो कुछ कहा उसका भावार्थ यह है कि शरीर एक अच्छा नौकर, पर बुरा मालिक है, अतः सचमुच सुखी होने के लिए मनुष्य को अहिंसा की आवाज पर चलना चाहिए यानी किसी को चोट नहीं पहुंचानी चाहिए।

तेरापंथ के नवें आचार्य से अपनी और अपनी पत्नी की पहली मुलाकात के बाद से ही सुख के सम्बन्ध में मैं एक नई दृष्टि से विचार करने लगा हूँ और वासनाओं की भूख पर बहुत कुछ विचार करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सुख की कुंजी, जैसा कि आचार्यश्री तुलसी कहते हैं, आत्म-संयम में ही है। भौतिक शरीर तरह-तरह की झूठी आकांक्षाओं में आनन्दानुभव करता है और अगर हम उनके चंगुल में पड़ जायें तो अन्त में हमेशा निराशा ही हाथ

लगेगी। दूसरी ओर, अगर हम प्राकृतिक नियमों के अनुसार रहने योग्य काफी अनुशासित यानी संयमपूर्ण हो जायें तो हमें सुख की खोज करने की आवश्यकता नहीं रहेगी। तब वह स्वयमेव हमारे पास आयेगा। वास्तव में तो मनुष्य की सच्ची प्रकृति ही सुख है, वह उसमें अवस्थित है, जिसे केवल पहचानने की आवश्यकता है।

सांसारिक सुख का एक सबसे बड़ा खतरा, मुझे लगता है, किसी चीज से ऊब जाना। हमारे व्यग्र, भौतिक युग में अपनी आवश्यकता की पूर्ति होते ही मनुष्य उस चीज से ऊब जाता है और उससे अपेक्षाकृत बड़ी, अच्छी, तेज तथा अधिक उत्तेजक चीज की आकांक्षा करने लगता है। अतः भौतिक इच्छाओं के विरुद्ध या उन पर विजय पाने के लिए, मनुष्य को आध्यात्मिक प्रेरणा देने वाले जीवन-दर्शन को अपनाना आवश्यक है—सुख-प्राप्ति की ऐसी जीवन-दृष्टि जिससे अन्त में निराशा पल्ले न पड़े। मुझे लगता है कि सुख के बारे में आचार्यश्री तुलसी की ऐसी ही जीवन दृष्टि है। आचार्यश्री की आँखों में देखते हुए मुझे और मेरी पत्नी को ऐसी ही झलक नजर आई।
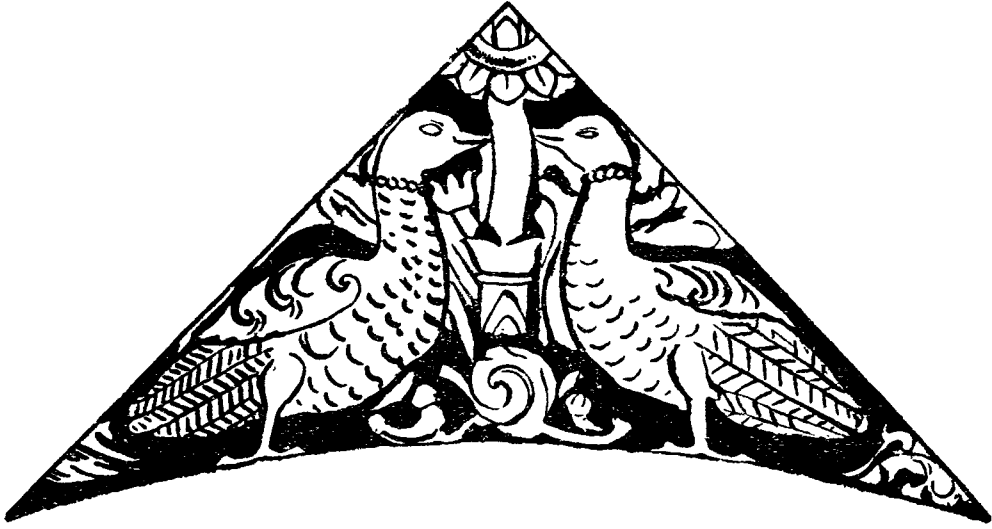
आचार्यश्री तुलसी और अणुव्रत-आन्दोलन

सेठ गोविन्ददास, एम० पी०

मानव, पूर्ण पुरुष परमात्मा की, एक अपूर्ण कृति है; और मानव ही क्यों, यह सारी सृष्टि ही, जिसका वह नायक बना है, अपूर्ण ही है। जब मानव अपूर्ण है, उसकी सृष्टि अपूर्ण है, तो निश्चय ही उसके कार्य-व्यापार भी अपूर्ण ही रहेंगे। मेरी दृष्टि में मनुष्य का अस्तित्व इस जगती पर उस सूर्य की भाँति है जो अन्तरिक्ष से अपनी प्रकाश-किरणें भू-मण्डल पर फेंक एक निश्चित समय बाद उन्हें फिर अपने में समेट लेता है। इस बीच सूर्य-किरणों का यह प्रकाश जगती को न केवल आलोकित करता है, वरन उसमें नित-नूतन जीवन भरता है और समभाव में सदा सबको प्राण-शक्ति से प्लावित रखता है। यहाँ सूर्य को हम एक पूर्ण तत्त्व मान कर उसकी अनन्त किरणों को उसके छोटे-छोटे अनन्त अपूर्ण अणु-रूपों की संज्ञा दे सकते हैं। यही स्थिति पुरुष और परमेश्वर की है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा भी है, **ईश्वर अंश जीव अविनाशी**—अर्थात् मानव-रचना ईश्वर के अणुरूपों का ही प्रतिरूप है, जो समय के साथ अपने मूल रूप से पृथक् और उसमें प्रविष्ट होता रहता है। सूर्य-किरणों की भाँति उसका अस्तित्व भी क्षणिक होता है; पर समय की यह स्वल्पता, आयु की यह अल्पज्ञता होते हुए भी मानव की शक्ति, उसकी सामर्थ्य समय की सहचरी न होकर एक अतुल, अटूट और अखण्ड शक्ति का ऐसा स्रोत होती है, जिसकी तुलना में आज सहस्रांशु की वे किरणें भी पीछे पड़ जाती हैं जो जगती की जीवनदायिनी हैं। उदाहरण के लिए, अंग्रेजी की यह उक्ति 'Where the sun cannot rises the doctor does inter there.' कितनी यथार्थ है! फिर आज के वैज्ञानिक युग में मानव की अन्तरिक्ष-यात्राएं और ऐसे ही अनेकानेक चामत्कारिक अन्वेषण, जो किसी समय सर्वथा अकल्पनीय और अलौकिक थे, आज हमारे मन में आश्चर्य का भाव भी जागृत नहीं करते। इस प्रकार की शक्ति और सामर्थ्य से भरा यह अपूर्ण मानव, आज अपने पुरुषार्थ के बल पर, प्रकृति के साथ प्रतिस्पर्धी बना खड़ा है।

जगती में सनातन काल से प्रधान रूप में सदा ही दो बातों का द्वन्द्व चलता रहा है। सूर्य जब अपनी किरणें समेटता है तो अवनि पर सघन अन्धकार छा जाता है। अर्थात् प्रकाश का स्थान अन्धकार और फिर अन्धकार का स्थान प्रकाश ले लेता है। यह क्रम अनन्त काल से अनवरत चलता रहता है। इसी प्रकार मानव के अन्दर भी यह द्वैत का द्वन्द्व गतिशील होता है। इसे हम अच्छे और बुरे, गुण और दोष, ज्ञान और अज्ञान तथा प्रकाश और अन्धकार आदि अगणित नामों से पुकारते हैं। इन्हीं गुण-दोषों के अनन्त-अगणित भेद और उपभेद होते हैं जिनके माध्यम से मानव, जीवन में उन्नति और अवनति के मार्ग में अनभ्यास से अनायास ही अग्रसर होता है। यहाँ हम मानव-जीवन के इसी अच्छे और बुरे, उचित और अनुचित पक्ष पर विचार करेंगे।

जीवन की सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि

भारत धर्म प्रधान देश है, पर व्यावहारिक सचाई में बहुत पीछे होता जा रहा है। भारतीय लोग धर्म और दर्शन की तो बड़ी चर्चा करते हैं, यहाँ तक उनके दैनिक जीवन के कृत्य, वाणिज्य-व्यवसाय, यात्राएं, वैवाहिक सम्बन्ध आदि जैसे कार्य भी दान-पुण्य, पूजा-पाठ आदि धार्मिक वृत्तियों से ही आरम्भ होते हैं; किन्तु कार्यों के आरम्भ और अन्त को छोड़ जीवन की जो एक लम्बी मंजिल है, उसमें व्यक्ति, धर्म के इस व्यावहारिक पक्ष से सदा ही उदासीन रहता है। इस धर्म-प्रधान देश के मानव में व्यावहारिक सचाई में प्रामाणिकता के स्थान पर आडम्बर और आधिभौतिक शक्तियों का

आधिपत्य होता जा रहा है। जीवन में जब व्यावहारिक सचाई नहीं, प्रामाणिकता नहीं, तो धर्माचरण कैसे सम्भव है ! इसके विपरीत भौतिकतावादी माने जाने वाले देशों की जब भारतीय यात्रा करते हैं तो वहाँ के निवासियों की व्यवहारगत सचाई और प्रामाणिकता की प्रशंसा करते हैं। दूसरी ओर जो विदेशी भारत की यात्रा करते हैं, उन्हें यहाँ की ऊँची दार्शनिकता के प्रकाश में प्रामाणिकता का अभाव खलता है। इस विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा यह धर्माचरण जीवन-शुद्धि के लिए नहीं; पुनर्जन्म की शुद्धि के लिए है। किन्तु यहाँ भी हम भूल रहे हैं। जब यह जीवन ही शुद्ध नहीं हुआ तो अगला जन्म कैसे शुद्ध होगा ? यह सुनिश्चित है कि उपासना की अपेक्षा जीवन की सचाई को प्राथमिकता दिये बिना इस जन्म की सिद्धि और पुनर्जन्म की शुद्धि सर्वथा असम्भव है।

अब प्रश्न उठता है कि जीवन की यह सिद्धि और पूनर्जन्म की शुद्धि कैसे हो सकती है ? स्पष्ट है कि चारित्रिक विकास के बिना जीवन की यह प्राथमिक और महान् उपलब्धि सम्भव नहीं। चरित्र का सम्बन्ध किसी कार्य-व्यापार तक ही सीमित नहीं, अपितु उसका सम्बन्ध जीवन की उन मूल प्रवृत्तियों से है जो मनुष्य को हिंसक बनाती हैं। शोषण, अन्याय, असमानता, असहिष्णुता, आक्रमण, दूसरे के प्रभुत्व का अपहरण या उसमें हस्तक्षेप और असामाजिक प्रवृत्तियाँ ये सब चरित्र-दोष हैं। प्राय: सभी लोग इनसे आक्रान्त हैं। भेद प्रकार का है। कोई एक प्रकार के दोष से आक्रान्त है, तो दूसरा दूसरे प्रकार के दोष से। कोई कम मात्रा में है, तो कोई अधिक मात्रा में। इस विभेद-विषमता के विष की व्याप्ति का प्रधान कारण शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था का दोषपूर्ण होना माना जा सकता है। आज की जो शिक्षा-व्यवस्था है, उसमें चारित्रिक विकास की कोई निश्चित योजना नहीं है। भारत की प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भारत के भौतिक विकास के प्रयत्न ही सन्निहित थे। कदाचित् **भूखे भजन न होई गोपाला** और **आरत काह न करै कुकर्मू** की उक्ति के अनुसार भूखों की भूख मिटाने के प्राथमिक मानवीय कर्तव्य के नाते यह उचित भी था; किन्तु चरित्र-बल के बिना भर-पेट भोजन पाने वाला कोई व्यक्ति या राष्ट्र आज के प्रगतिशील विश्व में प्रतिष्ठित होना तो दूर, कितनी देर खड़ा रह सकेगा, यह एक बड़ा प्रश्न है। अतः उदरपूर्ति के यत्न में अपने परम्परागत चरित्र-बल को नहीं गँवा बैठना चाहिए। यह हर्ष का विषय है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में इस दिशा में कुछ प्रयत्न अन्तर्निहित है। हमारी शिक्षा कैसी हो, यह भी एक गम्भीर प्रश्न है। बड़े-बड़े विशेषज्ञ इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हैं। अनेक तथ्य और तर्क शिक्षा के उज्ज्वल पक्ष के सम्बन्ध में दिये जाते रहे हैं और दिये जा सकते हैं। निश्चित ही भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में आगे बढ़े हैं; किन्तु आज का यह बौद्धिक विकास एक असंयत विकास है। कोरा-ज्ञान भयावह है, कोरा भौतिक विकास प्रलय है और नियंत्रणहीन गति का अन्त खतरनाक। दृष्टि ही विशुद्ध जीवन की धुरी है। दृष्टि शुद्ध है तो ज्ञान शुद्ध होगा; दृष्टि विकृत होगी तो ज्ञान विकृत हो जायेगा, चरित्र दूषित हो जायेगा। इस दृष्टि-दोष से हम सभी बहुत बुरी तरह ग्रसित हैं। भाषा, प्रान्त, राष्ट्रीयता और साम्प्रदायिकता के दृष्टि-दोष के जो दृश्य देश में आज जहाँ-तहाँ देखने को मिल रहे हैं, ये यहाँ के चारित्रिक ह्रास के ही परिचायक हैं। घृणा, संकीर्ण मनोवृत्ति और पारस्परिक अविश्वास के भयावह अन्तराल में भारतीय आज ऐसे डूब रहे हैं कि ऊपर उठ कर बाहर की हवा लेने की बात सोच ही नहीं पाते। इस भयावह स्थिति को समय रहते समझना है अपने-आपको सम्भालना है। यह कार्य चरित्र-बल से ही सम्भव है और चरित्र को सँजोने के लिए शिक्षा में सुधार अपरिहार्य है। प्रश्न है—यह शिक्षा कैसी हो ?

संक्षेप में जीवन के निर्दिष्ट लक्ष्य तक यदि हमें पहुँचना है, तो ऐसे जीवन के लिए निश्चित वही शिक्षा उपयोगी होगी, जिसे हम संयम की शिक्षा की संज्ञा दे सकते हैं। संयमी जीवन में सादगी और सरलता का अनायास ही सम्मिश्रण होता है और जहाँ जीवन सादगी से पूर्ण होगा, उसमें सरलता होगी, वहाँ कर्तव्यनिष्ठा बढ़ेगी ही। कर्तव्य निष्ठा के जागृत होते ही व्यक्ति-निर्माण का वह कार्य, जो आज के युग की, हमारी शिक्षा की, उसके स्तर के सुधार की माँग है, सहज ही पूरा हो जायेगा।

उन्नति की धुरी

अर्थ-व्यवस्था भी दोषपूर्ण है। अर्थ-व्यवस्था सुधरे बिना चरित्रवान् बनने में कठिनाई होती है और चरित्रवान्

बने बिना समाजवादी समाज बने, यह भी सम्भव नहीं है। इसीलिए यह आवश्यक है कि देश के कर्णधार योजनाओं के क्रियान्वयन में चरित्र विकास के सर्वोपरि महत्त्व को दृष्टि से ओझल न करें। ईमानदारी चरित्र का एक प्रधान चरण है। यदि चरित्र नहीं तो ईमानदारी कहाँ से आयेगी, और जब ईमानदारी नहीं, तो इन दीर्घसूत्रीय योजनाओं से, जो आज क्रियान्वित हो रही हैं, आगे चलकर अर्थ-लाभ भले ही हो, पर अभिशाप में अविचार, असंयम और असमानता का ऐसा घेरा समाज में पड़ेगा, जिससे निकलना फिर आसान बात न होगी।

इस प्रकार देशोन्नति की धुरी चरित्र ही है। बिना चरित्र विकास के देश का विकास असम्भव है। चरित्र-निर्माण का सम्बन्ध हमारी शिक्षा और अर्थ-व्यवस्था से जुड़ा हुआ है। इनके दोषपूर्ण होने पर निष्कलंक चरित्र की कल्पना नहीं की जा सकती।

आचार्य तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र-निर्माण की दिशा में एक अभूतपूर्व आयोजन है। अणुव्रत का अर्थ है—छोटे व्रत।

स्वभाव से ही मानव अन्धकार की परिधि से बाहर निकल प्रकाश की ओर बढ़ने का इच्छुक होता है। व्रत-ग्रहण में भी यही तथ्य निहित है। मानव-समाज में व्याप्त विषमता, बेईमानी और अनैतिकता जब व्यक्ति को दृष्टिगोचर होती है तो उसके अन्दर इस वैषम्य, वैमनस्य, शोषण और अनाचार को दूर करने की प्रवृत्ति जागृत होती है और सद्-भावमूलक इस प्रवृत्ति के उदय होते ही त्याग की भावना से अभिभूत उसका अन्तःकरण व्रतों की ओर आकर्षित होता है। जीवन-सुधार की दिशा में व्रतों का महत्त्व सर्वोपरि है। व्रतों में प्रधानरूप से आत्मानुशासन की आवश्यकता होती है। जिस प्रकार सिद्धान्त कायम करना जितना आसान है, उस पर अमल करना उतना ही कठिन, उसी प्रकार व्रत लेना तो आसान है, पर उसका निभाना बड़ा कठिन होता है। व्रत-पालन में स्व-नियमन व हृदय-परिवर्तन से बड़ी सहायता मिलती है।

अणुव्रत के पांच प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदार-संतोष और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

अहिंसा—रागद्वेषात्मक प्रवृत्तियों का निरोध या आत्मा की राग-द्वेष-रहित प्रवृत्ति।

सत्य—अहिंसा का रचनात्मक या भाव-प्रकाशनात्मक पहलू है।

अचौर्य—अहिंसात्मक अधिकारों की व्याख्या है।

ब्रह्मचर्य—अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है।

अपरिग्रह—अहिंसा का परम-पदार्थ-निरपेक्ष रूप है।

व्रत हृदय-परिवर्तन का परिणाम होता है। बहुधा जन-साधारण का हृदय उपदेशात्मक पद्धति से परिवर्तित नहीं होता; अतः समाज की दुर्व्यवस्था को बदलने के लिए भी प्रयत्न किया जाता है। उदाहरण के लिए आर्थिक दुर्व्यवस्था व्रतों से सीधा सम्बन्ध नहीं रखती, किन्तु आत्मिक दुर्व्यवस्था मिटाने के लिए और संयत, सदाचारपूर्ण जीवन-यापन की दिशा में व्रत बहुत उपयोगी होते हैं। हृदय-परिवर्तन और व्रताचरण से जब आत्मिक दुर्व्यवस्था मिट जाती है तो उससे आर्थिक दुर्व्यवस्था भी स्वतः सुधरती है और उसके फलस्वरूप सामाजिक दुर्व्यवस्था भी मिट जाती है।

व्यक्ति के चरित्र और नैतिकता का उसकी अर्थ-व्यवस्था से गहरा सम्बन्ध है—**बुभुक्षितः किं न करोति पापम्?** की उक्ति के अनुसार भूखा आदमी क्या पाप नहीं कर सकता! इसके विपरीत किसी विचारक के इस कथन को भी कि संसार में हरएक मनुष्य की आवश्यकता भरने को पर्याप्त से अधिक पदार्थ हैं, पर एकभी व्यक्ति की आशा भरने को वह अपर्याप्त है,[1] हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। एक निर्धन निराशा से पीड़ित है तो दूसरा धनिक आशा से। यही हमारी अर्थ-व्यवस्था की सबसे बड़ी विडम्बना है। भगवान् महावीर[2] ने आशा की अनन्तता बताते हुए कहा है—यदि सोने और चाँदी के कैलाश-तुल्य असंख्य पर्वत भी मनुष्य को उपलब्ध हो जायें तो भी उसकी तृष्णा नहीं

---

१ There is enough for everyone's need but not everyone's greed

२ **सुवण्ण रूवस्स उ पव्वया भवे सियाहु कैलास समा अणंतया।**

रनी, क्योंकि धन असंख्य है और तृष्णा आकाश की तरह अनन्त।

गरीब कौन ?

विचारणीय यह है कि वास्तव में गरीब कौन है ? क्या गरीब वे हैं, जिनके पास थोड़ा-सा धन है ? नहीं। गरीब तो यथार्थ में वे हैं जो भौतिक दृष्टि से समृद्ध होते हुए भी तृष्णा से पीड़ित हैं। एक व्यक्ति के पास दस हजार रुपये हैं। वह चाहता है बीस हजार हो जायें, तो आराम से जिन्दगी कट जाये। दूसरे के पास एक लाख रुपया है, वह भी चाहता है कि एक करोड़ हो जाये तो शान्ति से जीवन बीते। तीसरे के पास एक करोड़ रुपया है, वह भी चाहता है, दस करोड़ हो जायें तो देश का बड़ा उद्योगपति बन जाऊँ। अब देखना यह है कि गरीब कौन है ? पहले व्यक्ति की दस हजार की गरीबी है, दूसरे की निन्यानबे लाख की और तीसरे की नौ करोड़ की। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाये तो वास्तव में तीसरा व्यक्ति ही अधिक गरीब है, क्योंकि पहले की वृत्तियाँ जहाँ दस हजार के लिए, दूसरे की निन्यानबे लाख के लिए तड़पती हैं, वहाँ तीसरे की नौ करोड़ के लिए। तात्पर्य यह है कि गरीबी का अन्त सन्तोष है और असन्तोष ही अर्थ-संख्या का सबसे बड़ा अभाव है। संग्रह के जिस विन्दु पर मनुष्य सन्तोष को प्राप्त होता है, वहीं उसकी गरीबी का अन्त हो जाता है। यह बिन्दु यदि पाँच अथवा पाँच हजार पर भी लग गया, तो व्यक्ति सुखी हो जाता है। हमारे देश की प्राचीन परम्परा में तो वे ही व्यक्ति सुखी और समृद्ध माने गए हैं, जिन्होंने कुछ भी संग्रह न रखने में सन्तोष किया है। ऋषि, महर्षि साधु-संन्यासी गरीब नहीं कहलाते थे और न कभी उन्हें अर्थाभाव का दुःख ही व्यापता था।

भगवान् महावीर ने **मुच्छा परिग्गहो**—मूर्च्छा को परिग्रह बताया है। परिग्रह सर्वथा त्याज्य है। उन्होंने आगे कहा है—**वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,** धन से मनुष्य त्राण नहीं पा सकता। महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास ने कहा है—

उदरं भ्रियते यावत् तावत् स्वत्वं हि देहिनाम्।
अधिकं योभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति॥

अर्थात्—उदर-पालन के लिए जो आवश्यक है, वह व्यक्ति का अपना है; इससे अधिक संग्रह कर जो व्यक्ति रखता है, वह चोर है और दण्ड का पात्र है।

आधुनिक युग में अर्थ-लिप्सा से बचने के लिए महात्मा गांधी ने इसीलिए धनपतियों को सलाह दी थी कि वे अपने को उसका ट्रस्टी मानें। इस प्रकार हम देखते हैं हमारे सभी महज्जनों, पूर्व पुरुषों, सन्तों और भक्तों ने अधिक अर्थ-संग्रह को अनर्थकारी मान उसका निषेध किया है। उनके इस निषेध का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि उन्होंने सामाजिक जीवन के लिए अर्थ की आवश्यकता को दृष्टि से ओझल कर दिया हो। संग्रह की जिस भावना से समाज अनीति और अनाचार का शिकार होता है, उसे दृष्टि में रख व्यक्ति की भावनात्मक शुद्धि के लिए उसके दृष्टिकोण की परिशुद्धि ही हमारे महज्जनों का अभीष्ट था। वर्तमान युग अर्थ-प्रधान है। आज ऐसे लोगों की संख्या अधिक है जो आर्थिक समस्या को ही देश की प्रधान समस्या मानते हैं। आज के भौतिकवादी युग में आर्थिक समस्या का यह प्राधान्य स्वाभाविक ही है। किन्तु चारित्रिक शुद्धि और आध्यात्मिकता को जीवन में उतारे बिना व्यक्ति, समाज और देश की उन्नति की परिकल्पना एक मृगमरीचिका ही है। अणु-आयुधों के इस युग में अणुव्रत एक अल्प-अर्थी प्रयत्न है। एक ओर हिंसा के बीभत्स रूप को अपने गर्भ में छिपाये अणुबमों से सुसज्जित आधुनिक जैट राकेट अन्तरिक्ष की यात्रा को प्रस्तुत हैं; दूसरी ओर आचार्यश्री तुलसी का यह अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति व्यक्ति के माध्यम से हिंसा, विषमता, शोषण, संग्रह और अनाचार के विरुद्ध अहिंसा, सदाचार, सहिष्णुता, अपरिग्रह और सदाचार की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्नरत है। मानव और पशु तथा अन्य जीव-जीवाणुओं में जो एक अन्तर है, वह है उसकी ज्ञान-शक्ति का। निसर्ग ने अन्यों की अपेक्षा मानव को ज्ञान-शक्ति का जो विपुल-भण्डार सौंपा है, अपने इसी सामर्थ्य के कारण मानव सनातन काल से ही सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ प्राणी बना हुआ है। आज के विश्व में जबकि एक ओर हिंसा और बर्बरता का दावानल दहक रहा, तो दूसरी ओर अहिंसा और शान्ति की एक शीतल-सरिता जन-मानस को उद्वेलित कर रही है। अब आज के मानव को यह तय करना है कि उसे हिंसा और बर्बरता

के दावानल में झुलसना है अथवा अहिंसा और शान्ति की शीतल सरिता में स्नान करना है। तराजू के इन दो पलड़ों पर असन्तुलित स्थिति में आज विश्व रखा हुआ है और उसकी बागडोर, इस तराजू की चोटी, उसी ज्ञान-शक्ति सम्पन्न मानव के हाथ में है जो अपनी ज्ञान सत्ता के कारण सृष्टि का सिरमौर है।

सर्वमान्य आचार-संहिता

आचार्यश्री तुलसी से मेरा थोड़ा ही सम्पर्क हुआ है; परन्तु वे जो कुछ करते रहे हैं और अणुव्रत का जो साहित्य प्रकाशित होता रहा है, उसे मैं ध्यान से देखता रहा हूँ। जैन साधुओं की त्याग-वृत्ति पर मेरी सदा से ही बड़ी श्रद्धा रही है। इस प्राचीन संस्कृति वाले देश में त्याग ही सर्वाधिक पूज्य रहा है और जैन साधुओं का त्याग के क्षेत्र में बड़ा ऊँचा स्थान है। फिर आचार्यश्री तुलसी और उनके साथी किसी धर्म के संकुचित दायरे में कैद भी नहीं हैं। मैं आचार्यश्री तुलसी के विचार, प्रतिभा और कार्य-प्रवीणता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। उनका यह अणुव्रत-आन्दोलन किसी पक्ष-विशेष का आन्दोलन न होकर समूची मानव-जाति के क्रमिक विकास और उसके सदाचारी जीवन का इन व्रतों के रूप में एक ऐसा अनुष्ठान है जिसे स्वीकार करने मात्र से भय, विषाद, हिंसा, ईर्ष्या, विषमता जाती रहती है और सुख-शान्ति की स्थापना हो जाती है। मेरा विश्वास है हिंसा भले ही बर्बरता की चरम सीमा पर पहुँच जाये, पर उसका भी अन्त अहिंसा ही है और इस दृष्टि से हर काल, हर स्थिति में अणुव्रत की उपयोगिता, उसकी अनिवार्यता निर्विवाद है।

आचार्यश्री तुलसी एक समृद्ध साधु-संघ के नायक हैं, बृहत् तेरापंथ के आचार्य हैं और लाखों लोगों के पूज्य हैं। उनके इस बड़प्पन में जो सबसे बड़ी बात है, वह है उनका स्वयं का तथा अपने प्रभावशाली साधु-संघ का एक विशेष कार्य-क्रम के साथ जन-कल्याण के निमित्त समर्पण। उनके इस जन-कल्याण का जो स्वरूप है, उसकी जो योजना है, वह इस अणुव्रत-आन्दोलन में समाहित है। दूसरे शब्दों में, उनके इस आन्दोलन को देश-निर्माण का आन्दोलन कहा जा सकता है। भारतीय संस्कृति और दर्शन के अहिंसा, सत्य आदि सार्वभौम आधारों पर नैतिक व्रतों की एक सर्वमान्य आचार-संहिता की संज्ञा भी इसे दे सकते हैं।

व्यक्ति न होकर स्वयं एक संस्था

आचार्यश्री तुलसी प्रथम धर्माचार्य हैं जो अपने बृहत् साधु-संघ के साथ सार्वजनिक हित की भावना लेकर व्यापक क्षेत्र में उतरे हैं। आचार्यश्री साहित्य, दर्शन और शिक्षा के अधिकारी आचार्य हैं। वे स्वयं एक श्रेष्ठ साहित्यकार और दार्शनिक हैं। अपने साधु-संघ में उन्होंने निरपेक्ष शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया है तथा संस्कृत, राजस्थानी भाषा की भी वृद्धि में उनका अभिनन्दनीय योग है। उनके संघ में हिन्दी की प्रधानता आचार्यश्री की सूझ-बूझ की परिचायक है। आपकी प्रेरणा से ही साधु-समुदाय सामयिक गति-विधि से दर्शन और साहित्य के क्षेत्र में उतरा है। इसी के अनन्तर आप देश की गिरती हुई नैतिक स्थिति को उर्ध्व संचरण देने में प्रेरित हुए और उसी का शुभ परिणाम यह सर्वविदित अणु-व्रत-आन्दोलन बना।

आचार्यश्री तुलसी एक व्यक्ति न होकर स्वयं एक संस्था-रूप हैं। आपके इस उपयोगी आचार्य-काल को पच्चीस वर्ष पूरे हो रहे हैं। छब्बीसवें वर्ष में तुलसी-धवल समारोह मनाने का जो निश्चय किया गया है, वह आचार्य तुलसी के धवल व्यक्तित्व के सम्मान की दृष्टि से भी तथा उनके द्वारा हो रहे कार्य की उपयोगिता और उसके मूल्यांकन की दृष्टि से सर्वथा अभिनन्दनीय है।

मैं इस शुभ अवसर पर आचार्यश्री तुलसी को, उनके इस वास्तविक साधु-रूप को तथा उनके द्वारा हो रहे जन-कल्याण के कार्य को, अपनी हार्दिक श्रद्धा अर्पित करता हूँ।

एक अमिट स्मृति

श्री शिवाजी नरहरि भावे

महामहिम आचार्यश्री तुलसी बहुत वर्ष पहले पहली बार ही धूलिया पधारे थे। इसके पहले यहाँ उनका परिचय नहीं था। लेकिन धूलिया पधारने पर उनका सहज ही परिचय प्राप्त हुआ। वे सायंकाल से थोड़े ही पहले अपने कुछ साथी साधुओं के साथ यहाँ के गांधी तत्वज्ञान मन्दिर में पधारे। हमारे आमंत्रण पर उन्होंने निःसंकोच स्वीकृति दी थी। यहाँ का शान्त और पवित्र निवास-स्थान देख कर उनको काफी संतोष हुआ। सायंकालीन प्रार्थना के बाद कुछ वार्तालाप करेंगे ऐसा उन्होंने आश्वासन दिया था। उस मुताबिक प्रार्थना हो चुकी थी। सारी सृष्टि चन्द्रमा की राह देख रही थी। सब ओर शान्ति और समुत्सुकता छाई हुई थी। तत्वज्ञान मन्दिर के बरामदे में वार्तालाप आरम्भ हुआ। **सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति** भवभूति की इस उक्ति का अनुभव हो रहा था।

वार्तालाप का प्रमुख विषय तत्त्वज्ञान और अहिंसा ही था। बीच में एक व्यक्ति ने कहा—अहिंसा में निष्ठा रखने वाले भी कभी-कभी अनजाने विरोध के झमेले में पड़ जाते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने कहा—"विरोध को तो हम विनोद समझ कर उसमें आनन्द मानते हैं।" इस सिलसिले में उन्होंने एक पद्य भी गाकर बताया। श्रोताओं पर इसका बहुत असर हुआ।

मृगमीनसज्जनानां तृणजलसंतोषविहितवृत्तीनां।
लुब्धकधीवरपिशुना निष्कारणवैरिणो जगति।

सचमुच भर्तृहरि के इस कटु अनुभव को आचार्यश्री तुलसी ने कितना मधुर रूप दिया। सब लोग अवाक् होकर वार्तालाप सुनते रहे।

आचार्यश्री विशिष्ट पंथ के संचालक हैं, एक बड़े आन्दोलन के प्रवर्तक हैं, जैन शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित हैं, किन्तु इन सब बड़ी-बड़ी उपाधियों का उनके भाषण में आभास भी किसी को प्रतीत नहीं होता था। इतनी सरलता! इतना स्नेह! इतनी शान्ति! ज्ञान व तपस्या के बिना कैसे प्राप्त हो सकती है?

आचार्यश्री तुलसी की हमारे लिये यही अमिट स्मृति है। इस धवल समारोह के शुभ अवसर पर आशा रखते हैं कि हम सब इन गुणों का अनुसरण करेंगे।

भौतिक और नैतिक संयोजन

श्रीमन्नारायण
सदस्य—योजना आयोग

निःसन्देह करोड़ों मानव आज प्राथमिक और मामूली जरूरतें भी पूरी नहीं कर पाते हैं। अतः उनका जीवन-स्तर ऊपर उठाना परम आवश्यक लगता है। प्रत्येक स्वतन्त्र और लोकतन्त्री देश के नागरिक को कम-से-कम जीवनोपयोगी वस्तु तो अवश्य ही मिल जानी चाहिए, परन्तु हमें अच्छी तरह समझ लेना होगा कि केवल इन भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर देने से ही शान्तिपूर्ण और प्रगतिशील समाज की स्थापना नहीं हो सकेगी। जब तक लोगों के दिलों दिमागों में सच्चा परिवर्तन नहीं होगा, तब तक मनुष्य-जाति को भौतिक समृद्धि भी नसीब नहीं होगी।

सादगी और दरिद्रता

आखिर मनुष्य केवल रोटी खाकर ही नहीं जीता और न भौतिक सुख-सामग्री से मनुष्य को सच्चा मानसिक और आत्मिक सुख ही मिल सकता है। हमारे देश की संस्कृति में तो अनादि काल से नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को सबसे अधिक महत्त्व दिया गया है। इस देश में तो मनुष्य के धन-वैभव को देख कर नहीं, उसके सेवा-भाव और त्याग को देख कर उसका आदर होता है। यह सच कि है दरिद्रता अच्छी चीज नहीं है और आधुनिक समाज को, एक निश्चित मात्रा में कम से-कम भौतिक सुख-सुविधा तो सबको मिले, ऐसा प्रबन्ध करना होता है। परन्तु सादगी का अर्थ दरिद्रता नहीं है और न जरूरतें बढ़ा देना प्रगति की निशानी। हमें भौतिक और नैतिक कल्याण और विकास के बीच एक संतुलन उपस्थित करना होगा। यह ध्यान प्रतिदिन रखना होगा कि आर्थिक संयोजन में लक्ष्यों को पूरा करने के साथ-साथ नैतिक पुनरुत्थान के लिए भी अनुकूल परिस्थितियाँ निर्मित करने का काम भी करते रहना है, नहीं तो हम ऐसे मार्ग पर चल पड़ेंगे, जो हमारी संस्कृति और राष्ट्र की आत्मा के प्रतिकूल होगा। जब तक देश के निवासी—स्त्रियाँ और पुरुष—नेक और ईमानदार नहीं होंगे, हम राष्ट्र की नींव को मजबूत नहीं कर सकेंगे। राष्ट्र की असली सम्पत्ति बड़ी-बड़ी योजनाएं, कारखाने या विशाल इमारतें नहीं है। राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति और सुख का कारण तो वास्तव में समझदार और नैति नागरिक हैं, जिन्हें अपने कर्तव्यों और अधिकारों का पूरा-पूरा भान होता है। भारतीय लोक-राज्य का चिह्न भी धर्मचक्र है, जिसका अर्थ है—सच्ची प्रगति धर्म के अर्थात् कर्तव्य और सन्मार्ग के अनुसरण में ही है। यदि इस चिह्न को हमक भुला देंगे तो हमारा कभी कल्याण नहीं हो सकता।

अणुव्रत-आन्दोलन को मैं नैतिक संयोजन का ही एक विशिष्ट उपक्रम मानता हूँ। यह आन्दोलन व्यक्ति की सुप्त नैतिक भावना को उद्बुद्ध करता है तथा विवेकपूर्वक जीवन का समत्व प्रत्येक व्यक्ति को समझाता है।

मुझे यह प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी का धवल समारोह मनाने का आयोजन किया गया है। २५ वर्ष पहले आचार्यश्री आचार्य पद पर आरूढ़ हुए थे। यह स्वाभाविक ही है कि इस अवसर पर उनका गौरव और अभिनन्दन किया जाये।

प्रभावशाली व्यक्तित्व

भारत के मुझ जैसे बहुत से व्यक्ति आज आचार्यश्री तुलसी को केवल एक पंथ के आचार्य नहीं मानते हैं। हम

तो उन्हें देश के महान् व्यक्तियों में से एक प्रभावशाली व्यक्तित्व मानते हैं, जिन्होंने भारत में नीति और सद्व्यवहार का झंडा ऊँचा उठाया है। अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा देश के हजारों और लाखों व्यक्तियों को अपना नैतिक स्तर ऊँचा करने का अवसर मिला है और भविष्य में भी मिलता रहेगा। यह आन्दोलन बच्चे, बूढ़े, नौजवान, स्त्री, पुरुष, सरकारी कर्मचारी व्यापारी वर्ग आदि सबके लिए खुला है। इसके पीछे एक ही शक्ति है और वह है नैतिक शक्ति। यह स्पष्ट ही है कि इस प्रकार का आन्दोलन सरकारी शक्ति से संचालित नहीं किया जा सकता। भारतवर्ष में यह परम्परा ही रही है कि जनता की नैतिकता ऋषि, मुनि व आचार्यों द्वारा ही संचालित हुई है।

मैं आशा करता हूँ कि आचार्यश्री तुलसी बहुत वर्षों तक इस देश की जनता को नैतिकता की ओर ले जाने में सफल रहेंगे और उनके जीवन से हजारों व लाखों व्यक्तियों को स्थायी लाभ मिलेगा।

भारतीय संस्कृति के संरक्षक

डा० मोतीलाल दास, एम० ए०, बी० एल०, पी-एच० डी०
संस्थापकमंत्री, भारत संस्कृति परिषद्, कलकत्ता

भारतीय संस्कृति एक शाश्वत जीवन शक्ति है। अत्यन्त प्राचीन काल से आधुनिक युग तक महान् आत्माओं के जीवन और उनकी शिक्षाओं से प्रेरणा की लहरें प्रवाहित हुई हैं। इन संतों ने अपनी गतिशील आध्यात्मिकता, गम्भीर अनुभवों और अपने सेवा और त्यागमय जीवन के द्वारा हमारी सभ्यता और संस्कृति के सारभूत तत्त्व को जीवित रखा है। आचार्यश्री तुलसी एक ऐसे ही संत हैं। यह मेरा बड़ा सौभाग्य है कि मैं ऐसे विशिष्ट महापुरुष के निकट सम्पर्क में आ सका। मैं अणुव्रत समिति कलकत्ता के पदाधिकारियों का आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे इस महान् नेता से मिलने का अवसर दिया।

आचार्यश्री तुलसी अवस्था में मुझसे छोटे हैं। उनका जन्म अक्तूबर, १९१४ में हुआ और मैंने उन्नीसवीं शताब्दी की अस्तंगत किरणों को देखा है। उन्होंने ग्यारह वर्ष की सुकुमार वय में जैनधर्म के तेरापंथ सम्प्रदाय के कठिन साधुत्व की दीक्षा ली। अपने दुर्लभ गुणों और असाधारण प्रतिभा के बल पर बाईस वर्ष की अवस्था में ही वे तेरापंथ सम्प्रदाय के नवें आचार्य बन गए। तब से आचार्य पद पर उनको पच्चीस वर्ष हो गए हैं और वे अपने सम्प्रदाय को नैतिक श्रेष्ठता और आध्यात्मिक उत्थान के नये-नये मार्गों पर अग्रसर कर रहे हैं।

मंगलमयी आकृति

दुनिया आज घृणोन्माद की शिकार हो रही है। लोभ और लिप्सा, भ्रम और क्रोध का दुर्निवार बोल-बाला है। भ्रष्टाचार और पतन के युग में महान् आचार्य का शान्त चेहरा देख कर कितनी प्रसन्नता होती है। उनके शान्त चेहरे की ओर एक दृष्टि निक्षेप से ही दर्शक को शान्ति और आह्लाद प्राप्त होता है। संयम-पालन के कारण वह कठोर अथवा शुष्क नहीं हुए हैं। उनकी आकृति मंगलमयी है जो प्रथम दर्शन पर ही अपना प्रभाव डालती है। उनका चौड़ा ललाट और ज्योतिर्मय नेत्र आप को आशा और शान्ति का आश्वासन देते हैं और उनका सन्तुलित व्यवहार आपको अपने आलोक से मुग्ध कर देता है।

उनमें और भगवान् बुद्ध में समानता प्रतीत होती है। गौतम बुद्ध महानतम हिन्दू थे, जिन्होंने असीम मानवता-प्रेम से प्रेरित होकर अपने अनुयायियों को **बहुजन हिताय** और **बहुजन सुखाय** धर्म का उपदेश देने के लिए भेजा। उन महान् धर्म-संस्थापक की तरह ही आचार्यश्री तुलसी ने पद-यात्राओं का आयोजन किया है। इस नवीन प्रयोग में कुछ असाधारण सुन्दरता है। तेरापंथ के साधु अपनी पद-यात्राओं में जहाँ कहीं भी जाते हैं, नई भावना और नया वातावरण उत्पन्न कर देते हैं।

धर्म का ठोस आधार

अपनी पद-यात्रा के मध्य आचार्यश्री तुलसी बंगाल आए और कुछ दिन कलकत्ता में ठहरे। उस समय मैंने उनसे साक्षात्कार किया और बातचीत की। उन्होंने मुझसे अणुव्रतों की प्रतिज्ञा लेने को कहा। मुझे लज्जापूर्वक कहना पड़ता है कि मैंने अपने भीतर प्रतिज्ञाएं लेने जितनी शक्ति अनुभव नहीं की और झिझक पूर्वक वैसा करने से इन्कार कर दिया। किन्तु वे इससे तनिक भी नाराज नहीं हुए। तटस्थ भाव से, जो उनकी विशेषता है और क्षमाशील स्वभाव से,

जो अपूर्व है, उन्होंने मुझसे तौलने, विचार करने और फिर निर्णय करने को कहा। आचार्यश्री तुलसी की शिक्षाएं बुद्ध की शिक्षाओं की भाँति नैतिक आदर्शवाद पर आधारित है। उनके अनुसार नैतिक श्रेष्ठता ही धर्म का निश्चित और ठोस आधार है। जब कि भौतिकवाद का चारों ओर बोल-बाला है, उन्होंने मानवता के, नैतिक उत्थान के लिए अणुव्रत-आन्दोलन चलाया है।

दूसरे अनेक व्यक्तियों के साथ जो ज्ञान और अनुभव में विद्वत्ता और आध्यात्मिक भावना में मुझसे आगे हैं, मैं पतनोन्मुख भारत के नैतिक उत्थान के लिए आचार्यश्री तुलसी ने जो काम हाथ में लिया है और जो आशातीत सफलताएं प्राप्त की हैं, उनके प्रति इस धवल समारोह के अवसर पर अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि भेंट करता हूँ।

अणुव्रत-आन्दोलन एक महान् प्रयास है और उसकी कल्पना भी उतनी ही महान् है। एक श्रेष्ठ सत्य-धर्मी संन्यासी के द्वारा उसका संचालन हो रहा है। अपने सम्प्रदाय को संगठित करने के बाद उन्होंने १ मार्च, १९४९ को देश व्यापी नैतिक पतन के विरुद्ध अपना आन्दोलन आरम्भ किया।

युग पुरुष व वीर नेता

हम सदियों की दासता के बाद सन् १९४७ में स्वतन्त्र हुए, किन्तु हमने अपनी स्वतन्त्रता अनुशासन के कठिन मार्ग से प्राप्ति नहीं की। इसलिए अधिकार और धन-लिप्सा ने समाज-संगठन को विकृत कर दिया। जीवन के हर क्षेत्र में अकुशलता का बोल-बाला है। नीतिहीनता ने हमारी शक्ति को क्षीण कर दिया है और इसलिए जब तक हम नैतिक स्वास्थ्य पुनः प्राप्त नहीं कर लेते, हम राष्ट्रों के समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते। मानव पतन के सर्वव्यापी अन्धकार के मध्य नैतिक उत्थान की उनकी मुखर पुकार आश्चर्यकारक ताजगी लिए हुए आई है और नंगे पाँव व श्वेत वस्त्रधारी यह साधु अचानक ही युगपुरुष व वीर नेता बन गया है। ऐसे ही पुरुष की आज राष्ट्र को तात्कालिक आवश्यकता है।

शुक्ल यजुर्वेद में एक स्फूर्तिदायक मन्त्र है, जिसमें ऋषि अपनी सच्ची आस्था प्रकट करते हैं। "ऐ उज्ज्वल ज्ञान के आलोक, शक्ति की अग्नि-शिखा, मुझे अनीति की राह पर जाने से रोक। मुझे सत्पथ पर अग्रसर कर। मैं नये पवित्र जीवन को अंगीकार करूँगा, अमर आत्माओं के पद-चिह्नों पर चलता हुआ सत्य और साहस का जीवन व्यतीत करूँगा।"

मनुष्य की आत्माभिव्यक्ति कर्म के माध्यम से होती है, ऐसा कर्म जो कष्टसाध्य और स्थायी हो और जो आत्मा की मुक्ति और विजय की घोषणा करने वाला हो। मनुष्य को निःस्वार्थ भाव से फल की आकांक्षा का त्याग करके कर्म करना चाहिए। यही सच्ची तपस्या है, यही सच्ची चारित्रिक पूर्णता है। चरित्र और नैतिक श्रेष्ठता के बिना मनुष्य पशु बन जाता है और सत्यं, शिवं और सुन्दरं का अनुसरण करके वह प्रेम के मार्ग पर ऊँचा और अधिक ऊँचा उठता जाता है और अन्त में अमर आत्माओं के राज-सिंहासन के पद पर आसीन होता है।

नैतिक मूल्यों की स्थापना

अतः आचार्यश्री तुलसी ने भारत माता की सच्ची मुक्ति के लिए अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात करके बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता से काम चलने वाला नहीं है। यहाँ तक कि शिक्षा-सुधारों, आर्थिक सफलताओं और सामाजिक उत्थान से भी अधिक सहयोग नहीं मिलेगा। सर्वोपरि आवश्यकता इस बात की है कि व्यक्तियों और सारे समाज के जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की स्थापना हो। नैतिक पुनरुत्थान का सर्वोत्तम मार्ग यह नहीं है कि लोगों के सामाजिक जीवन में आमूल परिवर्तन होने की प्रतीक्षा की जाये, बल्कि व्यक्ति के सुधार पर ध्यान केन्द्रित किया जाये। व्यक्तियों से ही समाज बनता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति सज्जन बन जाये तो सामाजिक उत्थान के पृथक् प्रयास के बिना ही समाज धर्म-परायण बन जायेगा।

जब कोई व्यक्ति प्रतिज्ञा लेता है तो वह अपने को नैतिक रूप में ऊँचा उठाने का प्रयास करता है। वह अपने द्वारा अंगीकृत कर्तव्य के प्रति धार्मिक भावना से प्रेरित होता है और इसलिए वह उस साधारण व्यक्ति की अपेक्षा जिसे

कानून अथवा सामाजिक अप्रतिष्ठा के भय के अलावा और किसी बात से प्रेरणा नहीं मिलती, आज की दुनिया में अधिक सफल होता है।

प्रत्येक व्यक्ति में श्रेष्ठता और महानता का स्वाभाविक गुण होता है चाहे वह समाज के किसी भी वर्ग से सम्बन्धित क्यों न हो। यदि हम प्रत्येक व्यक्ति में आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न कर सकें और उसे अपने इन स्वाभाविक गुणों का ज्ञान करा सकें, तो चमत्कारी परिणाम आ सकते हैं। यदि आत्म-ज्ञान व आत्म-निष्ठा हो तो व्यक्ति के लिए सत्पथ पर चलना अधिक सरल होता है। ऐसी स्थिति में तब वह सदाचार का मार्ग निषेधक न रह कर विधायक वास्तविकता का रूप ले लेता है।

प्रतिज्ञा-ग्रहण का परिणाम

अणुव्रत आन्दोलन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के सुविदित सिद्धान्तों पर आधारित है, किन्तु वह उनमें नई सुगन्ध भरता है। कुछ लोग प्रतिज्ञाओं और उपदेशों को केवल दिखावा और बेकार की चीजें समझते हैं, किन्तु असल में उनमें प्रेरक शक्ति भरी हुई है। उनसे निःस्वार्थ सेवा की ज्योति प्रकट होती है जो मानव-मन में रहे पशु-बल को जला देती है और उसकी राख से नया मानव जन्म लेता है, अमर और दैवी प्राणी।

कुछ लोग यह तर्क कर सकते हैं कि ये तो युगों पुराने मौलिक सिद्धान्त हैं और यदि आचार्यश्री तुलसी उनके कल्याणकारी परिणामों का प्रचार करते हैं तो इसमें कोई नवीनता नहीं है। यह तर्क ठीक नहीं है। यह साहसपूर्वक कहना होगा कि आचार्यश्री तुलसी ने अपने शक्तिशाली दृढ़ व्यक्तित्व द्वारा उनमें नया तेज उत्पन्न किया है।

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन को अपने करीब ७०० निःस्वार्थ साधु-साध्वियों के दल की सहायता से चला रहे हैं। उन्होंने आचार्यश्री के कड़े अनुशासन में रह कर और कठोर संयम का जीवन बिता कर आत्म-जय प्राप्त की है। उन्होंने आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी अच्छा अध्ययन किया है। इसके अतिरिक्त ये साधु-साध्वी दृढ़ संकल्पवान् हैं और उन्होंने अपने भीतर सहिष्णुता और सहनशीलता की अत्यधिक भावना का विकास किया है, जिसका हमें भगवान् बुद्ध के प्रसिद्ध शिष्यों में दर्शन होता है।

आध्यात्मिक अभियान

यह आध्यात्मिक कार्यकर्ताओं का दल जब गाँवों और नगरों में निकलता है तो आश्चर्यजनक उत्साह उत्पन्न हो जाता है और नैतिक गुणों की सच्चाई पर श्रद्धा हो आती है। जब हम नंगे पाँव साधुओं के दल को अपना स्वल्प सामान अपने कंधों पर लिए देश के भीतर गुजरते हुए देखते हैं तो यह केवल रोमांचक अनुभव ही नहीं होता, बल्कि वस्तुतः एक परिणामदायी आध्यात्मिक अभियान प्रतीत होता है।

साधु-साध्वियाँ श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। वे किसी वाहन का उपयोग नहीं करते। उनका वाहन तो उनके अपने दो पाँव होते हैं। वे साधारणतः किसी की सहायता नहीं लेते, उनका कोई निश्चित निवास-गृह नहीं होता और न उनके पास एक पैसा ही होता है। जैसा कि प्राचीन भारत के साधु सन्तों की परम्परा है, वे भिक्षा भी माँग कर लेते हैं। भ्रमर की तरह वे इतना ही ग्रहण करते हैं, जिससे दाता पर भार न पड़े।

आचार्यश्री तुलसी का ध्येय केवल लोगों को अपने जीवन का सच्चा लक्ष्य प्राप्त करने में सहयोग देने का एक निःस्वार्थ प्रयास है। पूर्णता प्राप्त करने का लक्ष्य इसी धरती पर सिद्ध किया जा सकता है। किन्तु उसके लिए हमको छोटी-छोटी बातों से प्रारम्भ करना चाहिए। एक-एक बूंद करके ही तो अगाध असीम समुद्र बनता है। पहले एक प्रतिज्ञा, फिर दूसरी प्रतिज्ञा, इसी प्रकार नैतिक पुनरुत्थान की क्रिया आरम्भ होती है।

वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक जीवन-विधि

आचार्यश्री की जीवन-विधि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दोनों ही प्रकार की है। नैतिक उत्थान का सन्देश सभी

को भाता है। वह जाति और धर्म, लिंग और राष्ट्रीयता, शिक्षा और वातावरण के भेद से परे है। उसका सम्बन्ध शाश्वत गुणों से है जिनकी सभी युगों के धार्मिक पुरुषों ने महिमा बखानी है। आचार्यश्री ने चरित्र निर्माण कार्य को नई दृष्टि प्रदान की है और नैतिक श्रेष्ठता में अटूट श्रद्धा ने चरित्र निर्माण की कला को एक रचनात्मक कार्य बना दिया है।

आध्यात्मिक दुष्काल और आत्म-शिथिलता के इस युग में अणुव्रत-आन्दोलन ने जीवन की पवित्र कला को पुनर्जीवित किया है। पशु की भाँति जीवन बिताना, आहार, निद्रा और मैथुन में ही सन्तोष मानना कोई जीवन नहीं है। वही मनुष्य जीवित है जो धर्म के मार्ग का अनुसरण करता है। यह धर्म ही है जो मनुष्य की पाशविक वृत्तियों को दैवी गुणों में बदल सकता है। अतः हम सबको इस आन्दोलन का हार्दिक समर्थन करना चाहिए। उससे धार्मिक सौमनस्य उत्पन्न होगा, फूट दूर होगी और सद्भावना और प्रेम का प्रसार होगा।

समन्वयमूलक आदर्शवाद

आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन से भी महान् हैं। निस्सन्देह यह उनकी महान् देन है, किन्तु यही सब कुछ नहीं है। उनकी प्रवृत्तियाँ विविध हैं और उनकी दृष्टि सर्वव्यापी है। उनका समन्वयमूलक आदर्शवाद उनकी सभी प्रवृत्तियों में नये प्राण फूंक देता है, ऐसी प्रफुल्लता ला देता है जो बुद्धिगम्य प्रतीत नहीं होती। अगर दुर्गुणों का लोप हो जाता है तो संस्कृति का आगमन अवश्यम्भावी है। जब दुर्गुण, बुराई और पतन नाम शेष हो जायें तो संस्कृति का अपने आप विकास होता है।

वे प्राचीन भारत के अधिकांश धर्माचार्यों से सहमत हैं कि इच्छा ही सारे दुःखों की जड़ है। वे उनकी इस राय से भी सहमत हैं कि जब इच्छा का प्रभाव नष्ट हो जाता है, तभी हम सर्वोच्च शान्ति और आनन्द की प्राप्ति कर सकते हैं।

कलकत्ता के संस्कृत कालेज में एक साध्वी ने संस्कृत में भाषण दिया था और हमें पता चला कि आचार्यश्री साधु-साध्वियों को शिक्षा देने में अपना काफी समय खर्च करते हैं। वे संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान्, ओजस्वी वक्ता और गम्भीर चिन्तक हैं। वे अपने विचारों में अग्रगामी हैं। वे अथक उत्साह और असीम श्रद्धा के साथ देश के एक कोने से दूसरे कोने तक अपना नैतिक पुनरुत्थान का सन्देश दे रहे हैं।

बहुत काम हुआ है और अभी बहुत कुछ होना शेष है। इस कठिन कार्य में हम प्रत्येक भारत प्रेमी से हृदय से सहभागी बनने की प्रार्थना करते हैं। उत्थान के ऐसे निरन्तर प्रयास से ही कवियों और दार्शनिकों की महान् भारत की वह कल्पना साकार हो सकेगी। भारतीय संस्कृति के इस संरक्षक का सभी अभिनन्दन करते हैं। राजस्थान का यह सपूत दीर्घजीवी हो और अपने पावन ध्येय को सिद्ध करे।
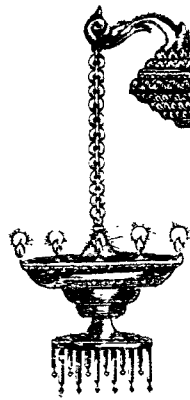
तेजोमय पारदर्शी व्यक्तित्व

श्री केदारनाथ चटर्जी
सम्पादक—माडर्न रिव्यू, कलकत्ता

प्रथम सम्पर्क का सुयोग

बीस वर्ष पूर्व सन् १६४१ के पतझड़ की बात है। एक मित्र ने मुझे सुझाया कि मैं अपनी पूजा की छुट्टियाँ बीकानेर राज्य में उनके घर पर बिताऊँ। इससे कुछ पहले मैं अस्वस्थ था और मुझे कहा गया कि बीकानेर की उत्तम जल-वायु से मेरा स्वास्थ्य सुधर जायेगा। कुछ मित्रों ने यह भी सुझाया कि ब्रिटिश भारत की सेनाओं के लिए देश के उस भाग में रँगरूटों की भरती का जो आन्दोलन चल रहा है, उसके बारे में मैं कुछ तथ्य संग्रह कर सकूँगा। किन्तु यह तो दूसरी कहानी है। मैंने अपने मित्र का निमन्त्रण स्वीकार कर लिया और कुछ समय पटना में ठहरने और राजगृह, नालन्दा तथा पावापुरी की यात्रा करने के बाद मैं बीकानेर राज्य के भादरा नामक कस्बे में पहुँच गया।

बीकानेर की यात्रा एक से अधिक अर्थ में लाभदायक सिद्ध हुई। निस्सन्देह सबसे सुखद अनुभव यह हुआ कि जैन श्वेताम्बर तेरापंथ-सम्प्रदाय के प्रधान आचार्यश्री तुलसी से संयोगवश भेंट करने का अवसर मिल गया। कुछ मित्र भादरा आए और उन्होंने कहा कि बीकानेर के मध्यवर्ती कस्बे राजलदेसर में कुछ ही दिनों में दीक्षा-समारोह होने वाला है। उसमें सम्मिलित होने के लिए आप आने का कष्ट करें। कुछ नये दीक्षार्थी तेरापंथ साधु-समाज में प्रविष्ट होने वाले थे और आचार्यश्री तुलसी उनको दीक्षा देने वाले थे।

मेरे आतिथेय ने मुझसे यह निमन्त्रण स्वीकार करने का अनुरोध किया, कारण ऐसा अवसर क्वचित् ही मिलता है और मुझे जैन धर्म के संयम-प्रधान पहलू का गहराई से अध्ययन करने का मौका मिल जाएगा। इसी सम्भावना को ध्यान में रख कर मैं अपने आतिथेय के भतीजे और एक अन्य मित्र के साथ राजलदेसर के लिए रवाना हुआ।

यह किसी दर्शनीय स्थान का यात्रा-वर्णन नहीं है और न ही यह साधारण पाठक के मन-बहलाव के लिए लिखा जा रहा है; इसलिए दीक्षा-समारोह के अवसर पर मैंने जो कुछ देखा-सुना, उसका अलंकारिक वर्णन नहीं करूँगा और न ही उस समारोह का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करूँगा। मैंने दीक्षा की प्रतिज्ञा लेने के एक दिन पहले दीक्षार्थियों को भड़कीली वेश-भूषा में देखा। उनके चेहरों पर प्रसन्नता खेल रही थी। उनमें से अधिकांश युवा थे और उनमें स्त्री और पुरुष दोनों ही थे। मुझे यह विशेष रूप से जानने को मिला कि उन्होंने अपनी वास्तविक इच्छा से साधु और साध्वी बनने का निश्चय किया है। वे ऐसे साधु-समाज में प्रविष्ट होंगे, जिसमें सांसारिक पदार्थों का पूर्णतया त्याग और आत्म-संयम करना पड़ता है। मुझे यह भी ज्ञात हुआ कि न केवल दीक्षार्थी के संकल्प की दीर्घ समय तक परीक्षा ली जाती है, बल्कि उसके माता-पिता व संरक्षकों की लिखित अनुमति भी आवश्यक समझी जाती है। इसके बाद मैंने व्यक्तिगत रूप से इस बात की जांच की है और इसकी पुष्टि हुई है। जहाँ तक इस साधु-समाज का सम्बन्ध है, मुझे उनकी सत्यता पर पूरा विश्वास हो गया है।

मेरे सामने सीधा और ज्वलन्त प्रश्न यह था कि वह कौन-सी शक्ति है, जो इस कठोर और गम्भीर दीक्षा-समारोह में पूज्य आचार्यश्री के कल्याणकारी नेत्रों के सम्मुख उपस्थित होने वाले दीक्षार्थियों को इस संसार और उसके विविध आकर्षणों, सुखों और इच्छाओं का त्याग करने के लिए प्रेरित करती है?

अपनी पृष्ठभूमि

इस विषय में अधिक लिखने से पूर्व मैं इस संसार और मनुष्य-जीवन के बारे में अपना दृष्टि-बिन्दु भी उपस्थित करना चाहूँगा। मेरे पूर्वजों की पृष्ठभूमि उन विद्वान् ब्राह्मणों की है जो अपनी आँखें खुली रख कर जीवन बिताते थे और उनके मन में निरन्तर यह जिज्ञासा रहती थी—**तत् किम्**? मेरी तात्कालिक पृष्ठभूमि ब्रह्म समाज की थी। यह हिन्दुओं का एक सम्प्रदाय है जो उपनिषदों की ज्ञानमार्गी व्याख्या पर आधारित है। मुझे विज्ञान की शिक्षा मिली है और मैंने लन्दन में डिग्री और डिप्लोमा प्राप्त किया है। बाद में मेरे पूज्य पिताजी ने मुझे पत्रकारिता की शिक्षा दी, जो अपने समय में इस देश के एक महान् और उदार सम्पादक थे। मैंने विस्तृत भ्रमण किया और तीन महाद्वीपों का जीवन भी देखा है। मेरे पिताजी को सार्वजनिक जीवन में जो स्थान प्राप्त था, उसके कारण मैं देश के प्रायः सभी महापुरुषों और कुछ विशिष्ट विदेशी व्यक्तियों से भी मिल चुका हूँ।

इस प्रकार मुझे यह गौरव है कि मेरी पृष्ठभूमि एक सधे हुए निरीक्षक की थी, जो जीवन को एक यथार्थवादी दृष्टि से देख सकता है। पूज्य आचार्यश्री तुलसी से भेंट के समय मेरी अवस्था ५० वर्ष की थी और जीवन के सम्बन्ध में मुझे कोई विशेष भ्रम नहीं थे। मैंने सन् १९१४-१८ की अवधि में प्रथम महायुद्ध को निकट से देखा था और इसलिए मानव-स्वभाव और मानव-दुर्बलताओं एवं विकारों के सम्बन्ध में काफी शंकाशील बन गया था। मैं यह सब इसलिए लिख रहा हूँ कि दीक्षार्थियों के सम्बन्ध में मेरी जिज्ञासा का हल धार्मिक उत्साह से उत्पन्न नहीं हुआ था, बल्कि बात इसके बिल्कुल विपरीत थी।

वह ऐसी कौन-सी शक्ति थी, जिसने इन दीक्षार्थियों को कठोर संयम और सम्पूर्ण त्याग का जीवन अपनाने को प्रेरित किया? मैंने एक दिन पूर्व उनमें से कुछ को भड़कीली वेश-भूषा में जीवन का उपभोग करते हुए देखा था। दीक्षा-समारोह में मैं इतना निकट बैठा हुआ था कि दीक्षार्थियों को साफ-साफ देख सकता था। उनमें दो या तीन लड़के और एक लड़की थी और वे यौवन की देहली में पाँव रखने जा रहे थे। एक दिन पहले मैंने जो कुछ देखा, उसके बाद यह तो प्रश्न ही नहीं उठता कि उन्होंने अभाव से प्रेरित होकर यह निर्णय किया होगा। अवश्य ही धार्मिक वातावरण के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता, किन्तु प्रत्येक उदाहरण में क्या यही एकमात्र प्रेरक कारण हो सकता है? यदि इस धर्म को मानने वाले मेरी जान-पहिचान के कुछ लोगों की व्यावसायिक नैतिकता और सामान्य जीवन-पद्धति पर विचार किया जाये तो यही कहना होगा कि यही एक मात्र कारण नहीं है। मुझे यह खेदपूर्वक लिखना पड़ रहा है, किन्तु उस समय मेरा यही तर्क था और स्वयं पूज्य आचार्यश्री ने अपने अनुयायियों के बारे में, अणुव्रत-आन्दोलन के सिलसिले में, अपनी पद-यात्रा के दौरान में कलकत्ता में जो कुछ कहा था, उसके आधार पर यह लिखने का साहस कर रहा हूँ।

अपने प्रश्न का जो उत्तर मिला, उसे मैं सीधे और स्पष्ट रूप में यहाँ लिख दूँ। इस पार्थिव संसार में, साधारण मनुष्यों के लिए मानव प्राणियों पर दैवी प्रभाव किस प्रकार काम करता है, यह मालूम करना आसान नहीं होता। जहाँ तक सामान्य जन का सम्बन्ध है, तीव्रता और प्रकाश का प्रसार आत्मा के आन्तरिक विकास पर निर्भर करता है जो मशाल-वाहक का काम करता है। मशाल की ज्योति मशालवाहक की आन्तरिक शक्ति के परिमाण पर मन्द या तीव्र होती है। जरूरतमन्दों और पीड़ितों में श्री रामकृष्ण के उपदेशों का प्रचार करने के लिए असीसी के संत फांसिस जैसी समर्पित आत्मा की आवश्यकता थी। इसी प्रकार आचार्यश्री भिक्षु ने तेरापंथ की स्थापना की। इसलिए मुझे अपने प्रश्न का उत्तर आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व में खोजना पड़ा।

दीक्षा-समारोह के पहले मैं उनसे मिल चुका था। उन्होंने सुना था कि बंगाल के एक पत्रकार आये हैं। उन्होंने दीक्षार्थियों के चुनाव की विधि और दीक्षा के पहले की सारी क्रियाएं मुझे समझाने की इच्छा प्रकट की। इसका यह कारण था कि उनके साधु समाज के उद्देश्यों और प्रवृत्तियों के बारे में कुछ अपवाद फैलाया गया था। उन्हें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि मैं हिन्दी अच्छी तरह बोल और समझ सकता हूँ और उन्होंने सारी विधि मुझे विस्तार से समझा दी। भक्त लोग दर्शन करने और पूज्य आचार्यश्री के आशीर्वाद प्राप्त करने के लिए आते रहे और

इससे बीच-बीच में बाधा पड़ती रही। वे भक्तों को आशीर्वाद देते जाते और शान्तिपूर्वक दीक्षा की विधि विस्तार से समझाते रहे।

अन्त में उन्होंने हँसते हुए मुझे कोई प्रश्न पूछने के लिए संकेत किया। मेरे मस्तिष्क में अनेक प्रश्न थे, किन्तु उनमें से दो मुख्य और नाजुक थे; कारण उनका सम्बन्ध उनके धर्म से था। काफी संकोच के बाद मैंने कहा कि यदि मेरे प्रश्न आपत्तिजनक प्रतीत हों तो वे मुझे क्षमा कर दें। मैंने कहा कि मैं दो प्रश्न पूछना चाहता हूँ और मुझे भय है कि उन पर आपको बुरा लग सकता है। इस पर उन्होंने कहा कि यदि प्रश्न ईमानदारी से पूछोगे तो बुरा लगने की कोई बात नहीं है। तब मैंने प्रश्न पूछे।

दो प्रश्न

पहला प्रश्न जीवन के प्रकार और मेरी विनीत मान्यता के अनुसार पाप और मोक्ष के बारे में था। जिस धर्म से मेरा पालन-पोषण हुआ था, उसमें गृहस्थ आश्रम को मूलतः पापमय नहीं समझा जाता; जबकि जैन धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार संसार के सम्पूर्ण त्याग द्वारा ही मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। अतः यदि मैं अपने धर्म पर श्रद्धा रख कर चलूँ तो क्या मेरे जैसे प्राणी को मोक्ष मिल ही नहीं सकता ?

दूसरा प्रश्न था कि दुनिया किस तरह चल रही है ? उस समय द्वितीय महायुद्ध अपने पूरे वेग, रक्तपात और विनाश के साथ चल रहा था। मैंने पूछा कि जब दुनिया में सत्ता और अधिकार की लिप्सा का बोलबाला है, शक्तिशाली वही है जो सूक्ष्म नैतिक विचारों की कोई परवाह नहीं करता और उनको कमजोरों और अज्ञानियों का भ्रम-मात्र समझते हैं, क्या अहिंसा की विजय हो सकती है ? उनके निकट नैतिकता और धर्म-सापेक्ष शब्द हैं। विज्ञान में दक्ष और युद्ध करने में समर्थ लोगों के लिए जो उचित है, वह कमजोरों और अकुशल लोगों के लिए उचित नहीं है। अपने कथन के प्रमाण स्वरूप वे इतिहास की साक्षी प्रस्तुत करते हैं।

मेरे साथ एक परिचित सज्जन थे, जो तेरापंथ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। उन्होंने कहा कि मेरा दूसरा प्रश्न आचार्यश्री की समझ में नहीं आया। इससे मेरे मनमें शंका पैदा हुई और मैंने अपने मित्र की ओर एवं फिर आचार्यश्री की ओर देखा। आचार्यश्री, जब मैं प्रश्न पूछ रहा था, तो चुप थे और मेरे प्रश्नों का विचार करते प्रतीत हुए। किन्तु मैंने देखा कि उनके शान्त नेत्रों में प्रकाश की किरण चमक उठी और उन्होंने कहा कि इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिए शान्त वातावरण की आवश्यकता होगी, इसलिए अच्छा होगा कि आप सायंकाल सूर्यास्त के बाद जब आयेंगे, मैं प्रतिक्रमण व प्रवचन समाप्त कर चुकूँगा और तब एकान्त में वार्तालाप अच्छी तरह हो सकेगा।

मुझे पता था कि मुझे विशेष अवसर दिया जा रहा है; क्योंकि सूर्यास्त के बाद आचार्यश्री से उनके निकट शिष्यों के अतिरिक्त बहुत कम लोग मिल पाते हैं। मैंने यह सुझाव सहर्ष स्वीकार कर लिया।

धर्म-गुरुओं से विशेष चर्चा

मेरे प्रश्न घिसेघिसाए और सामान्य थे, कारण द्वितीय महायुद्ध के बाद के वर्षों में दुनिया बहुत अधिक बदल गई है। किन्तु जिस समय मैंने ये प्रश्न पूछे थे, उस समय उनका विभिन्न जातियों, धार्मिक सम्प्रदायों और जीवन-दर्शनों के बीच विद्यमान मतभेदों की दृष्टि से कुछ और ही महत्त्व था। उस समय मनुष्य और मनुष्य के मध्य सहिष्णुता के अभाव के कारण से मतभेद इतने तीव्र और अनुलंघनीय थे कि विचारों का स्वतन्त्र आदान-प्रदान न केवल असम्भव; बल्कि व्यर्थ हो गया था। इस प्रकार के आदान-प्रदान के फलस्वरूप प्रतिदिन सुस्थिर रहने वाले तनाव में वृद्धि ही हो सकती थी।

मैं पहला प्रश्न थोड़े हेर-फेर के साथ भिन्न-भिन्न धर्मों के अनेक विद्वान् धर्म-गुरुओं से पूछ चुका हूँ। उनमें एक रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय के मुक्ति-पंथी पादरी, एक मुस्लिम मौलाना और एक हिन्दू संन्यासी शामिल थे। मुझे जो उनसे उत्तर मिले, वे या तो अत्यन्त दयनीय या निश्चित रूप से उद्दण्डतापूर्ण थे। उनको समाधानकारक तो कभी नहीं कहा जा सकता।

दूसरे प्रश्न के सम्बन्ध में, द्वितीय महायुद्ध जो मौत और विनाश के पथ पर तेजी से आगे बढ़ रहा था, अहिंसा की विजय की समस्त आशाओं को निर्मूल करता हुआ प्रतीत होता था। जैसा कि विश्व कवि रवीन्द्रनाथ ने अपनी एक निराशाजनक कविता में इसी आशय की पुष्टि करते हुए कहा भी था—'करुणाघन, धरणी तले करो कलंक शून्य।' अवश्य ही शान्ति के दूसरे उपासक महात्मा गांधी स्वयं अपने अनुयायियों के विरोध और शंकाशील उद्गारों के बावजूद भी अपनी अहिंसा की मान्यता पर अविचल भाव से डटे हुए थे। यह स्थिति तो केवल भारत में थी। शेष दुनिया में जंगल के कानून का बोलबाला था और केवल अहिंसा का नाम लेने मात्र पर हल्की और तिरस्कारपूर्ण हँसी सुनने को मिलती थी।

इस पृष्ठभूमि में मैंने अपने दो प्रश्न पूछे थे और मैं जिज्ञासा और प्रत्याशामिश्रित भाव से उनके उत्तरों की प्रतीक्षा कर रहा था; क्योंकि उत्तर ऐसे व्यक्ति के द्वारा मिलने वाले थे जो भारतीय ज्ञान के प्रकाण्ड विद्वान् समझे जाते हैं; भले ही उन्हें पश्चिम की रीति-नीति की प्रकट जानकारी न हो। मैं अपने परिचित साथी के कथन से, जो उनके अनुयायी थे, कुछ ऐसा ही समझा था।

मैं निराश नहीं हुआ। उन एकान्त शान्त नेत्रों की चमक से जो आशाएं मेरे हृदय में उत्पन्न हुई थीं, उनको निराशा में परिणत नहीं होना पड़ा। मेरे परिचित मित्र ने अपने अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के दर्प में इस प्राचीन और युगमान्य उक्ति को या तो सुना नहीं या उस पर ध्यान नहीं दिया कि **प्रज्ञा भिनत्तु मे तमः** अर्थात् सच्चा ज्ञान अज्ञान के समस्त अन्धकार का नाश कर देता है।

जब मैं आचार्यश्री से संध्या के शान्त समय में पुनः मिला तो मुझसे कहा गया कि मैं अपने प्रश्नों को विशेषकर दूसरे प्रश्न को विस्तार से पुनः पूछूँ। मैंने अपने दूसरे प्रश्न का विस्तार करते हुए कहा कि पश्चिम में लोग पौरुष और शौर्य को हमारे प्राचीन क्षत्रियों की भाँति मानवी गुण मानते हैं और जीवन में साहस को सर्वोपरि स्थान देते हैं। उत्तर स्पष्ट और निश्चित थे और अच्छा होता कि मैंने उनको पूरा लिख लिया होता। किन्तु अब अपनी स्मृति के आधार पर संक्षेप में ही उनका विश्लेषण कर पाऊँगा।

प्रथम प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्यश्री ने कहा कि किसी धर्म, मान्यता या सम्प्रदाय और उसके संतों या धर्माचार्यों के बारे में निन्दात्मक या हीन भाषा का प्रयोग करना स्वयं उनके धर्म के विरुद्ध है।

दूसरे प्रश्न का उत्तर काफी विस्तृत और लम्बा था। उनका कहना था कि हिंसा और संदेह-लिप्सा दो मूलभूत बुराइयाँ हैं, जिनसे मानव-जाति पीड़ित है और ये युद्ध के अत्यन्त उग्र और व्यापक प्रतीक हैं। इन दोनों नग्न बुराइयों पर विजय प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग अहिंसा ही है और दुनिया को यह सत्य एक दिन स्वीकार करना ही होगा। मनुष्य सबसे बड़ी बुराइयों पर विजय प्राप्त किये बिना कैसे महत्तर सिद्धि प्राप्त कर सकता है ?

अन्त में आचार्यश्री मेरी ओर मुस्कराये और पूछा कि क्या मेरा समाधान हो गया। मैंने उत्तर दिया कि मुझे उत्तर अत्यन्त सहायक प्रतीत हुए हैं और मैंने प्रणाम कर उनसे बिदा ली।

उसके बाद

इस घटना के वर्षों बाद, मैंने कलकत्ता में एक विशाल जनसमूह से भरे हुए पण्डाल में आचार्यश्री को अणुव्रत-आन्दोलन पर प्रवचन करते हुए सुना। उसके बाद उन्होंने थोड़े समय के लिए मुझसे व्यक्तिगत वार्तालाप के लिए कहा। उन्होंने देश के भीतर नैतिक मूल्यों के ह्रास पर अपनी चिन्ता व्यक्त की। उन्होंने कहा कि उन्हें भ्रष्टाचार और नैतिक पतन की शक्तियों के विरुद्ध आन्दोलन करने की अन्तरतम से प्रेरणा हो रही है, विशेषकर जबकि स्वयं उनके अपने सम्प्रदाय के लोग भी तेजी से पतन की ओर जा रहे हैं।

मैंने पूछा कि अपनी सफलता के बारे में उनका क्या ख्याल है, उनके मुख पर वही मुस्कराहट खेल गई, हालाँकि उनके नेत्रों में उदासी की रेखा खिंची हुई दिखाई दी। उन्होंने कहा, जब वह नई दिल्ली में पंडित जवाहरलाल नेहरू से मिले थे तो उन्होंने पंडितजी से पूछा था कि अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता के बारे में उनका क्या ख्याल है। पंडितजी ने कहा था कि वह दिन-प्रतिदिन दुनिया के सामने अहिंसा का प्रचार करते रहते हैं, किन्तु उनकी बात कौन सुनता है ? पंडितजी

ने कहा कि हमको अपने ध्येय पर अटल रहना है और उसका प्रचार करते जाना है। आचार्यश्री ने कहा कि शान्ति और पवित्रता के ध्येय पर उनकी भी ऐसी ही श्रद्धा और निष्ठा है।

तेजोमय महापुरुषों की अगली पंक्ति में

मुझे सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य वश अपने जीवन के ७० वर्षों में ऐसे बहुसंख्यक लोगों से मिलने का काम पड़ा जो प्रसिद्ध और महान् व्यक्ति की ख्याति अर्जित कर चुके थे। खेद है कि उनमें से बहुत कम लोगों के मुख पर मैंने सत्य और पवित्रता की वह उज्ज्वल ज्योति अपने पूरे तेज के साथ चमकते हुए देखी, जैसी कि एक शुद्ध आबदार हीरे में चमकती दिखाई देती है। मैं पारदर्शी और तेजोमय महापुरुषों की अगली पंक्ति में आचार्यश्री तुलसी का स्थान देखता हूँ।

सम्भवामि युगे युगे

श्री को० अ० सुब्रह्मण्य अय्यर
भूतपूर्व उपकुलपति—लखनऊ विश्वविद्यालय

प्रगति की गति

आज संसार एक भयंकर स्थिति में है। एक ओर तो पाश्चात्य विद्वान् और वैज्ञानिक अपने बुद्धि-बल और परिश्रम से विज्ञान की अद्भुत वृद्धि करा रहे हैं और दूसरी ओर वहीं के राजनैतिक नेता वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कृत तत्त्वों के आधार पर नये-नये विध्वंसक अस्त्र-शस्त्र बनवा रहे हैं और सारे संसार को विनाशोन्मुख बना रहे हैं। जहाँ मनुष्य-निर्मित ग्रह सूर्य का परिभ्रमण कर रहा है, वहाँ यह समाचार भी सुनने में आता है कि एक क्षण में एक विस्तृत भूमि-भाग को निर्जीव बनाने की शक्ति रखने वाले 'कोबाल्ट बम' का निर्माण अत्यन्त निकट है। प्रेम को ऐहिक और पारलौकिक सुख का मुख्य उपाय घोषित करने वाले ईसाई धर्म में उसी के अनुयायियों की श्रद्धा प्रतिदिन शिथिल होती जा रही है। विमानों के नये-नये प्रकार आविष्कृत हो रहे हैं, जिससे पृथ्वी में दूरता का लोप-सा हो रहा है। विप्रकृष्ट मनुष्य-जातियाँ सन्निकृष्ट हो रही है। इसके फलस्वरूप अब सभी मनुष्य-जातियाँ अन्य मनुष्य जातियों को साक्षात् देख सकती हैं और उनसे सम्पर्क और व्यवहार कर सकती हैं। परन्तु इस परस्पर-परिचय से पारस्परिक आदर ही बढ़ रहा हो, यह बात नहीं है; कभी-कभी पारस्परिक द्वेष भी बढ़ता है। जब तक विजातीय और विधर्मी लोग दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, विप्रकृष्ट ही रहते हैं, तब तक उनके प्रति उपेक्षा की ही बुद्धि अधिकांश बनी रहती है। अब तो सब लोग सब जगह जल्दी पहुंच जाते हैं। अब भारतीय अधिक संख्या में विदेशों में संचार करते हैं और निवास भी करते हैं। इसी प्रकार विदेशी अब अधिक संख्या में भारत आने लगे हैं। इसलिए परस्पर भेद अधिक स्पष्ट होने लगा है।

सभ्यता, संस्कृति और युग

इस नये संसार में भारत, अपने स्वभाव और अपनी संस्कृति के अनुसार, एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करने के लिए यत्न कर रहा है। अब भारत ने राजनैतिक स्वातन्त्र्य प्राप्त कर लिया है। परन्तु स्वातन्त्र्य एक उपाय-मात्र है। उसके द्वारा एक बड़े लक्ष्य को सिद्ध करना है तथा इस प्राचीन देश को नवीन बनाना है। यह एक बहुत बड़ा काम है और उसमें हर व्यक्ति का सहयोग अपेक्षित है। इस देश की पुरानी सभ्यता और संस्कृति को इस नये युग के अनुरूप बनाना है। जीवन के हरएक विभाग में आमूल परिवर्तन लाना है। यह काम प्रारम्भ हो गया है। केन्द्रीय सरकार की जो पंच-वर्षीय योजनाएं चल रही हैं, उनका मुख्य उद्देश्य यही है। उनमें यद्यपि आर्थिक सुधार पर अधिक जोर दिया जा रहा है, फिर भी अधिकारियों को इस बात का पूरा ज्ञान है कि केवल आर्थिक उन्नति से, केवल दारिद्र्य-निवारण से, देश की उन्नति नहीं हो सकती है। साथ-साथ अनेक सामाजिक सुधार भी आवश्यक हैं। शिक्षा-क्षेत्र में यह देश बहुत पिछड़ा हुआ है। इस युग में यह लज्जा और परिभव की बात है। यद्यपि इस देश में अच्छे-अच्छे विद्वान् भी मिलते हैं। परन्तु इस युग में उन्नति की कसौटी ही दूसरी है। केवल बीस प्रतिशत आदमी ही पेट-भर खा सकें और सब भूखे रह जायं तो यह देश की समृद्धि नहीं कही जा सकती है। अच्छे-अच्छे विद्वान् भले ही मिलते हों, परन्तु अधिकांश जनता यदि निरक्षर है तो दशा उन्नति की नहीं समझी जा सकती है। इतनी विद्वत्ता तो व्यर्थ गई, क्योंकि उसका साधारण जनता पर कोई असर ही नहीं हुआ। इस युग में साधारण जनता की उन्नति ही उन्नति समझी जाती है। इस दृष्टि से अभी भारत में बहुत काम बाकी है।

काम इतना बड़ा और सर्वतोमुख है कि सारी जनता यदि बड़ी तत्परता और एकता के साथ निरन्तर प्रयत्न करे, तब कार्य-सिद्धि की सम्भावना है, नहीं तो बिल्कुल नहीं है। कुछ इने-गिने व्यक्तियों के इस काम में भाग लेने से लक्ष्य पूरा नहीं हो सकता है। सारी जनता का सहयोग अपेक्षित है; बड़ा ऐकमत्य हो और उत्साह हो। चीन के सम्बन्ध में भारत में तरह-तरह की भावनाएं हैं। वहाँ की राजनैतिक और आर्थिक व्यवस्था के बारे में यहाँ काफी मतभेद भी हैं। कुछ भारतीय चीन हो आये हैं और उन्होंने अपने-अपने अनुभवों का वर्णन भी किया है। इन वर्णनों को पढ़ने के बाद और लौटे हुए कुछ व्यक्तियों से वार्तालाप करने के अनन्तर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि चीन में उत्साह है और एकता है। चीन की जनता अपने देश की उन्नति के लिए बड़े उत्साह के साथ भगीरथ प्रयत्न कर रही है। इस बात की भारत में अत्यन्त आवश्यकता है। क्या यहाँ अपेक्षित उत्साह और एकता है? कुछ अंश में तो दोनों हैं। कुछ अंश में एकता है, इस बात का प्रमाण यह है कि सारे भारत में एक ही राजनैतिक दल राज्य कर रहा है। भारत ने संसार का सबसे बड़ा प्रजातन्त्र स्थापित किया है और वह चल भी रहा है। देश की उन्नति के लिए बड़ी-बड़ी योजनाएं बनाई जा रही हैं और कार्यान्वित की जा रही हैं। इस काम में लाखों की संख्या में सरकारी कर्मचारी लगे हैं, असंख्य साधारण व्यक्ति भी व्यापृत हैं। जहाँ स्वातन्त्र्य के पहले न केवल अंग्रेजी राज था, अनेक छोटी-छोटी देशी रियासतें भी थीं, राजा-महाराजे और नवाब अपने-अपने राज्य में स्वेच्छानुसार राज करते थे; वहाँ तब इन रियासतों में प्रजा का कोई भी अधिकार नहीं था। इस समय तो भारत का कोई भी अंश नहीं, जहाँ प्रजातन्त्र चल नहीं रहा हो और जहाँ प्रजा का अधिकार न हो। इस दृष्टि से समस्त भारत एक ही सूत्र में बाँधा गया है। यह एक प्रकार की एकता है। यह अवश्य उन्नति का लक्षण है। इसके आधार पर बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं।

चरित्र-भ्रंश

कुछ सन्तोषजनक बातों के होते हुए भी स्वातन्त्र्य के बाद देश में असन्तोष फैल रहा है। पंचवर्षीय योजनाओं के सफल होने पर भी देश में शिकायतें सुनने में आ रही हैं। ये दुःख की आवाजें साधारण जनता की दरिद्रता और पिछड़ी हुई स्थिति के सम्बन्ध में नहीं हैं। चारों ओर से एक ही शब्द-प्रयोग सुनने में आता है और वह है 'चरित्र-भ्रंश'। लोग अपने साधारण वार्तालाप में, नेतृ-वर्ग अपने भाषणों में, यही घोषित करते हैं कि देश के सामने सबसे बड़ी समस्या जनता के चरित्र-भ्रंश की है। धर्म और मानवता का पूरा तिरस्कार करके लोग अपना स्वार्थ साधने में तत्पर हैं। जीवन के हर-एक क्षेत्र में इस बात का अनुभव किया जा रहा है। जनता का ऐसा कोई भी वर्ग नहीं है जो इस चरित्र-भ्रंश से बचा हो। किसी वर्ग, दल, धर्म, सम्प्रदाय या वर्ण को दूसरों पर इस विषय में अभियोग करने का अधिकार नहीं है। जब तक गांधीजी हमारे बीच थे, तब तक हम लोगों के एक बड़े पथ-प्रदर्शक थे। वे हर एक व्यक्ति को, हर एक दल को, हर एक वर्ग को, शासन के अधिकारियों को, समस्त देश को चरित्र की दृष्टि से देखा करते थे। उनकी वही एक कसौटी थी। राजनीति के क्षेत्र में धर्म और चरित्र की रक्षा करते हुए काम करना असम्भव समझा जाता था। उनका सारा जीवन इस बात का प्रमाण है कि यह विचार अत्यन्त भ्रममूलक है। प्रतिदिन अपनी प्रार्थना-सभाओं में जो छोटे-छोटे दस-दस मिनट के भाषण दिया करते थे, उनका मुख्य उद्देश्य जनता का चरित्र-निर्माण ही था। उनके ये भाषण बड़े मार्मिक थे, विचारशील लोग उनकी प्रतीक्षा करते थे, समाचार-पत्रों में सबसे पहले उन्हीं को पढ़ा करते थे और दिन में अपने मित्रों के साथ उन्हीं की चर्चा करते थे। इन भाषणों का प्रभाव सरकारी कर्मचारियों पर, अध्यापक और विद्यार्थियों पर, व्यापारियों पर, गृहस्थों पर, धर्मोपदेशकों पर, सारी जनता पर पड़ता था। गांधीजी के स्वर्गवास होने के बाद उनका वह स्थान अब भी रिक्त है। कोई भी उसको ग्रहण करने में अपने को समर्थ नहीं पा रहा है।

धर्म निरपेक्षता बनाम धर्म-विमुखता

देश के पुनर्निर्माण में सबसे बड़ा काम केन्द्रीय और प्रादेशिक शासनों के द्वारा ही किया जा रहा है। यह स्वाभाविक भी है। उनके पास शक्ति भी है, धन भी है। परन्तु इस काम में शासनों की एक विशेष दृष्टि होनी है। उनकी

दृष्टि अधिकांश आर्थिक होती है। हमारे शासन को धर्म-निरपेक्ष शासन होने का बड़ा गर्व है। वास्तव में तो हमारा शासन धर्म-निरपेक्ष शासन नहीं है। धर्म विशेष निरपेक्ष भले ही हो, परन्तु सर्वथा धर्म से विमुख नहीं है। कोई भी शासन सामान्य धर्म की उपेक्षा नहीं कर सकता। परन्तु वस्तुस्थिति यह है कि शासन की बड़ी-बड़ी योजनाएं धर्म की दृष्टि से नहीं बनाई जा रही हैं। हमारा शासन तो अवश्य चाहता है कि जनता का चरित्र ऊँचा हो। हमारे शासन को बहुत दुःख है कि देश में स्वातन्त्र्य के बाद चरित्र गिर रहा है। परन्तु शासन का विचार यह है कि देश में आर्थिक उन्नति के साथ-साथ चरित्र की उन्नति स्वयं ही हो जायेगी। चरित्र-उन्नति के साक्षात् प्रयत्न करना शासन का काम नहीं है, वह तो जनता का काम है।

प्राचीन भारत में परिस्थितियाँ भिन्न थीं। जनता में धर्म बुद्धि अधिक थी, परलोक से डर था, धर्माचार्यों के नेतृत्व में श्रद्धा थी। प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय के अनेक धर्माचार्य होते थे और जनता पर बड़ा प्रभाव था। शासन और धर्माचार्यों का परस्पर सहयोग था। दोनों मिलकर जनता को चरित्र-भ्रंश से बचाते थे। वह परिस्थिति अब नहीं है। प्रश्न यह है—अब क्या हो ?

धर्माचार्यों के लिए स्वर्णिम अवसर

परिस्थिति तो अवश्य बहुत बदल गई है; परन्तु स्मरण रहे कि हम लोग अपने-अपने धर्म को सनातन मानते हैं। हम लोग मानते हैं कि परिस्थिति के भिन्न होते हुए भी मानव-जीवन में कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो सनातन हैं, जिनको स्वीकार किये बिना मनुष्य-जीवन सफल नहीं हो सकता है, मनुष्य सुख प्राप्त नहीं कर सकता है। भारत में अनेक धर्मों और सम्प्रदायों का जन्म हुआ। हर एक धर्म और सम्प्रदाय अपने तत्त्वों को सनातन मानता है और उनको हर एक परिस्थिति में उपयुक्त मानता है। इन तत्त्वों का रहस्य हमारे धर्माचार्य ही जानते हैं, वे ही साधारण जनता में उनका प्रचार कर सकते हैं। भारत में जो-जो धर्म और सम्प्रदाय उत्पन्न हुए, वे सब भारत में आज भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान हैं। उनकी परम्पराएं भी अधिकांश सुरक्षित हैं। इन धर्मों के रहस्य जानने वाले धर्माचार्य और साधु-संन्यासी हमारे ही बीच हैं और जगह-जगह काम भी कर रहे हैं। हाँ, अब शासन से उनका इतना सम्बन्ध नहीं है जितना प्राचीन काल में था। तथापि इन धर्मों का रहस्य जानने वाले जनता ही के बीच रहते हैं और जनता के अन्तर्गत हैं। क्या हमको यह आशा करने का अधिकार नहीं है कि इस भयंकर समय में जब चरित्र-भ्रंश के कारण जनता अधिक पीड़ित है, हमारे धर्माचार्य और साधु-संन्यासी अपने को संगठित करके देश के चरित्र निर्माण का काम अपने हाथ में ले लें। जनता में इस प्रकार की आशा होना स्वाभाविक है और धर्माचार्यों को यह दिखलाने के लिए एक स्वर्णिम अवसर प्राप्त है कि हमारे प्राचीन धर्मों और सम्प्रदायों में आज भी जान है।

आचार्यश्री तुलसी की दिव्य दृष्टि

जिन धर्माचार्यों ने वर्तमान परिस्थितियों को अच्छी तरह से समझ कर इस नये अवसर पर, भारतीय जनता और भारतीय संस्कृति के प्रति अगाध श्रद्धा और प्रेम से प्रेरित होकर उनकी रक्षा और सेवा करने का निश्चय किया, उनमें आचार्यश्री तुलसी का नाम प्रथम गण्य है। आचार्यश्री ने अपना 'अणुव्रत-आन्दोलन' प्रारम्भ करके वह काम किया है जो हमारे सबसे बड़े विश्वविख्यात नेता नहीं कर सकते थे। उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि से देख लिया कि चरित्र-भ्रंश के क्या-क्या बुरे असर देश पर हो चुके हैं और अधिक क्या-क्या हो सकते हैं। उन्होंने देखा कि इसके कारण देश का कृच्छ्र-समुपार्जित स्वातन्त्र्य खतरे में है। चरित्र-भ्रंश के कारण व्यक्ति, वर्ग, दल और जातियाँ अपने-अपने स्वार्थ-साधन में तत्पर हैं, देश, धर्म और संस्कृति का चाहे जो भी हो जाए। चरित्र-भ्रंश का एक बहुत कड़वा फल यह होता है कि जनता में पारस्परिक विश्वास सर्वथा समाप्त हो जाता है। जहाँ परस्पर विश्वास नहीं है, वहाँ संगठन नहीं हो सकता है; जहाँ फूट होती है, वहाँ एकता नष्ट होती है। अब देश में फिर अलग-अलग होने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। नये-नये सूबों की माँग चारों ओर से उठ रही है। इनके पीछे व्यक्तियों का और वर्गों का स्वार्थ छिपा हुआ है। भाषा-सम्बन्धी झगड़े जिस प्रकार उत्तर भारत में द्रोह और हिंसा के कारण हो रहे हैं, उसी प्रकार दक्षिण भारत और लंका में भी। व्यक्तिगत जीवन में

इतना शैथिल्य आ गया है कि संयम का कुछ भी मूल्य नहीं रहा। भारतीय संस्कृति का प्राण ही संयम है। संयम-प्राण अणुव्रत-आन्दोलन प्रारम्भ करके आचार्यश्री तुलसी ने अपनी धर्मनिष्ठा और दूरदर्शिता दिखलाई है।

अणुव्रत के अन्तर्गत जो पाँच व्रत हैं, अर्थात् अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह--ये भारतीय संस्कृति से स्वल्प परिचय भी रखने वालों के लिए कोई नई बात नहीं है। भारत में जितने धर्म उत्पन्न हुए, उन सबमें इनका प्रथम स्थान है। क्योंकि ये सब संयममूलक हैं और संयम ही भारतीय धर्मों का प्राण है। अथवा धर्म-मात्र का, चाहे वह भारतीय हो अथवा विदेशी, संयम ही किसी-न-किसी रूप में प्राण है। इन व्रतों को स्वीकार करने में किसी भी धर्म के अनुयायियों को आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

ये व्रत इसलिए अणुव्रत कहे गये हैं कि महाव्रत इनसे भी बढ़कर हैं और उनके पालन करने में अधिक आध्यात्मिक शक्ति अपेक्षित है। परन्तु साधारण व्यक्तियों के लिए अणुव्रतों के पालन में भी चरित्र चाहिए। जनता में इन पाँचों तत्त्वों के अभाव असंख्य रूप ग्रहण किये हुए हैं। अहिंसा ही को लीजिये। इसके अभाव का बहुत स्पष्ट रूप तो आमिष-भोजन है। परन्तु इसके और भी असंख्य रूप हैं जिनको पहचानने के लिए विकसित बुद्धि अपेक्षित है। इनके पालन में त्याग की आवश्यकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अगर कोई व्यक्ति सच्ची निष्ठा से इनका पालन करे तो उसके जीवन में एक बड़ा परिवर्तन हो जाता है। समाज से उसका सम्बन्ध आनन्दमय हो जाता है, वह भीतर से सुखी बन जाता है। शर्त यह है कि श्रद्धा हो। व्रतों का पालन भीतरी प्रेरणा से हो, बाहर के दबाव से नहीं।

भारतीय संस्कृति का एक पुष्प

जिस पद्धति से आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन प्रारम्भ किया और उसको समस्त भारत में फैलाया, उससे उनके व्यक्तित्व का प्राबल्य और माहात्म्य स्पष्ट होता है। पहले तो उन्होंने इस काम के लिए अपने ही जैन-सम्प्रदाय के कुछ साधुओं और साध्वियों को तैयार किया। अब उनके पास अनेकों विद्वान्, सहनशील, हर एक परिस्थिति का सामना करने की शक्ति रखने वाले सहायक हैं जो पद-यात्रा करते हुए भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में संचार करते हैं और जनता में नये प्राण फूँक देते हैं। उनकी नियमबद्ध दिनचर्या को देख कर जनता आश्चर्य-चकित हो जाती है। उसके पीछे शताब्दियों की परम्परा काम कर रही है। आचार्यश्री और उनके सहायकों की जीवनशैली प्राचीन भारतीय संस्कृति का एक विकसित पुष्प है। इस प्रकार की जीवन शैली भारत के बाहर नहीं देखी जा सकती है। इस पुष्प को आचार्यजी ने भारतमाता की सेवा में समर्पित किया है। आजकल के गिरे हुए भारतीय समाज में आचार्यश्री का जन्म हुआ। यही लक्षण है कि इस समाज का पुनरुत्थान अवश्य होगा।
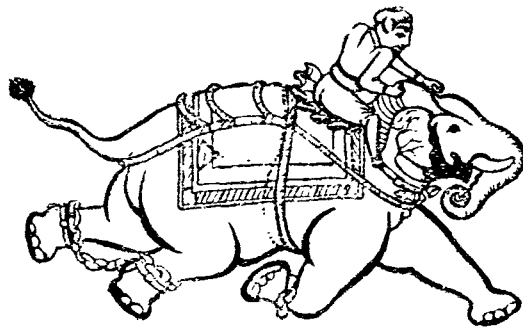
आचार्यश्री तुलसी के अनुभव चित्र

मुनिश्री नथमलजी

आचार्यश्री तुलसी विविधताओं के संगम हैं। उनमें श्रद्धा भी है, तर्क भी है, सहिष्णुता भी है, आवेग भी है, साम्य भी है और शासक का मनोभाव भी है। हृदय का सुकुमारता भी है और कठोरता भी है, अपेक्षा भी है और उपेक्षा भी है। राग भी है और विराग भी है।

विरोधी युगलों का संगम

अनेकान्त की भाषा में प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक व्यक्ति में अनन्त विरोधी युगल होते हैं। आचार्यश्री भी एक व्यक्ति हैं। उनमें भी अनन्त विरोधी युगलों का संगम हो, वह कोई आश्चर्य नहीं। अस्तित्व की दृष्टि से आश्चर्य-जैसा कुछ है भी नहीं। प्रत्येक आत्मा में अनन्त ज्ञान है, अनन्त-दर्शन है, अनन्त आनन्द है और अनन्त शक्ति है। आश्चर्य का क्षेत्र है, अभिव्यक्ति। अदृश्य जब दृश्य बनता है, तब मन को चमत्कार-सा लगता है। पानी का योग मिलता है, मिट्टी की गन्ध अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। अग्नि का योग मिलता है, अगर की गंध अव्यक्त से व्यक्त हो जाती है। मिट्टी में और अगर में गन्ध जो है, वह असत् नहीं है; वस्तु के बहुत सारे पर्याय, बहुत सारी शक्तियाँ अव्यक्त रहती हैं; अनुकूल निमित्त मिलता है, तब वे व्यक्त हो जाती हैं। वह अभिव्यक्ति ही चमत्कार का केन्द्र है। पौद्गलिक विज्ञान और क्या है ! यही पुद्गल की अव्यक्त शक्तियों के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया।

धर्म और क्या है ? यही चैतन्य की अव्यक्त शक्तियों के व्यक्तीकरण की प्रक्रिया। इसीलिए उनके संस्थान चमत्कार से परिपूर्ण है। आचार्यश्री का व्यक्तित्व भी इसीलिए आश्चर्यजनक है कि उसमें बहुत सारी शक्तियों को व्यक्त होने का अवसर मिला है। हमें आचार्यश्री के प्रति इसीलिए आकर्षण है, उनकी उपलब्धियाँ विशिष्ट हैं। और सर्वोपरि आकर्षण का विषय है उनकी शक्तियों की अभिव्यक्ति की प्रक्रिया। हम उनकी विशिष्ट उपलब्धियों को देख केवल प्रमोद का अधिकार पा सकते हैं; किन्तु अभिव्यक्ति की प्रक्रिया को जान कर हम स्वयं आचार्यश्री तुलसी बनने का अधिकार पा सकते हैं।

प्रायोगिक जीवन

तपे बिना कोई भी व्यक्ति ज्योति नहीं बनता और खपे बिना कोई भी व्यक्ति मोती नहीं बनता, यह शाश्वत स्थिति है; पर जनतन्त्र के युग में तो यह बहुत ही स्पष्ट है। आचार्यश्री ने बहुत तप तपा है, वे बहुत खपे हैं। जनता की भाषा में, उन्होंने जन-हित-सम्पादन के लिए ऐसा किया है। उनकी अपनी भाषा में, उन्होंने अपनी साधना के लिए ऐसा किया है। आत्मोपकार के बिना परापकार हो सकता है, इसमें उनका विश्वास नहीं है। उनके अभिमत में परोपकार का उत्स आत्मोपकार ही है। जो अपने को गँवाकर दूसरों को बनाने का यत्न करता है, वह औरों को बना नहीं पाता और स्वयं को गँवा देता है। दूसरों का निर्माण वही कर सकता है, जो पहले अपना निर्माण कर ले। आचार्यश्री को व्यक्ति-निर्माण में जितना रस है, उससे कहीं अधिक रस अपने निर्माण में है। लगता है, यह स्वार्थ है; पर उनकी मान्यता में, परमार्थ का बीज स्वार्थ ही है। उन्होंने अपने विषय में जो अनुभव प्राप्त किये हैं; वे उन्हीं की भाषा में इस प्रकार हैं—
"मेरा जीवन प्रयोगों का जीवन है। मैं हर बात का प्रयोग करता रहता हूँ; जो प्रयोग खरा उतरता है, उसे स्थायी

रूप देता हूँ।"[1]

आचार्यश्री का जीवन वैयक्तिक की अपेक्षा सामुदायिक अधिक है। उनका चिन्तन समुदाय की परिधि में अधिक होता है। वे तेरापंथ के शास्ता हैं। शासन में उनका विश्वास है, यदि वह आत्मानुशासन मे फलित हो तो। संगठन में उनका विश्वास है, यदि वह आत्मिक पवित्रता से शृंखलित हो तो। उनकी मान्यता है, "मेरा आत्मा जितनी अधिक उज्ज्वल रहेगी, शासन भी उतना ही समुज्ज्वल रहेगा।"[2]

स्तवना में खुश न होने की साधना

आचार्यश्री की आस्था आत्मा से फलित है और धर्म में क्रियान्वित है। इसलिए वे आत्म-विजय को सर्वोपरि प्राथमिकता देते हैं। लक्ष्य की सिद्धि का अंकन करते हुए आचार्यश्री ने लिखा है—"लाडनूँ का एक व्यक्ति......आया और उसने कहा—'इन वर्षों में मेरे मनोभाव आपके प्रति बहुत बुरे रहे हैं। मैंने अवांच्छनीय प्रचार भी किया है।' उसने जो किया, वह मुझे सुनाया। उसे सुन क्रोध उभरना सहज था, पर मुझे बिल्कुल क्रोध नहीं आया। मैंने सोचा, निन्दा सुन कर उत्तेजित न होना, इस बात में तो मेरी साधना काफी सफल है; पर स्तवना या प्रशंसा सुन कर खुश न होना, इस बात में मैं कहाँ तक सफल होता हूँ, यह देखना है।"[3]

असमर्थता की अनुभूति

आचार्यश्री सत्य की उपासना में संलग्न हैं। सत्य को अभय की बहुत बड़ी अपेक्षा है। जहाँ अभय नहीं होता, वहाँ सत्य की गति कुण्ठित हो जाती है। सत्य और अभय की समन्विति ने आचार्यश्री को यथार्थ कहने की शक्ति दी है और इसीलिए उनमें अपनी दुर्बलताओं को स्वीकार करने व दूसरों की दुर्बलताओं को उन्हीं के सम्मुख कहने की क्षमता विकसित हुई है। तेरापंथ के आचार्य जो चाहते हैं, वह उनके गण में सहज ही क्रियान्वित हो जाता है। किन्तु कुछ भावनाएं ऐसी हैं, जिन्हें आचार्यश्री समूचे गण में प्रतिबिम्बित नहीं कर पाए। इस असमर्थता का उल्लेख आचार्यश्री ने इस भाषा में किया है—"मेरा हृदय यह कह रहा है कि धर्म को ज्यादा से ज्यादा व्यापक बनाना चाहिए। पर समूचे संघ में मैं इस भावना को भरने में समर्थ नहीं हुआ। हो सकता है, मेरी भावना में इतनी मजबूती न हो, अथवा अन्य कोई कारण हो।"[4]

आज रविवार के कारण विशेष व्याख्यान था, पर मेरी दृष्टि में अधिक प्रभावोत्पादक नहीं रहा।"[5]

आचार्यश्री किसी भी धर्म-सम्प्रदाय पर आक्षेप करना नहीं चाहते; पर धार्मिक लोगों में जो दुर्बलताएं घर कर गई हैं, उन पर कटु प्रहार किये बिना भी नहीं रहते। बीकानेर में एक ऐसा ही प्रसंग था। उसका चित्र आचार्यश्री के शब्दों में यों है—"आज साल्हे की होली वाले चौक में भाषण हुआ। उपस्थिति अच्छी थी। लगभग पाँच-छह हजार भाई-बहिन होंगे। दस बजे तक व्याख्यान चला। इस स्थान में जैनाचार्य का व्याख्यान एक विशेष घटना है। यहाँ ब्राह्मण ही ब्राह्मण रहते हैं। जैनधर्म के प्रति कोई अभिरुचि नहीं; फिर भी बड़ी शान्ति से प्रवचन हुआ। यद्यपि आज का प्रवचन बहुत स्पष्ट और कटु था, फिर भी कटुकौषध-पान-न्यायेन लोगों ने उसे बहुत अच्छे में ग्रहण किया।"[6]

---

१ वि० सं० २०१० चैत्र कृष्णा १४
२ वि० सं० २०१४ आश्विन शुक्ला ५, सुजानगढ़
३ वि० सं० २०१४ दीपावली, सुजानगढ़
४ वि० सं० २०१० चैत्र कृष्णा ७, पुनरासर
५ वि० सं० २०१० श्रावण कृष्णा ८, जोधपुर
६ वि० सं० २०१० वैसाख कृष्णा ६, बीकानेर

उदार दृष्टिकोण का परिणाम

आचार्यश्री केवल वाक्-पटु ही नहीं, समयज्ञ भी हैं। वे कटु बात भी ऐसी परिस्थिति में कहते हैं कि श्रोता को वह असह्य नहीं होती। आचार्यश्री बहुत बार कहते हैं कि मुझ में व्यवहार-कौशल उतना नहीं, जितना कि एक शास्ता में चाहिए। पर सचाई यह है कि उनका कठोर संयम उन्हें कृत्रिम व्यवहार की ओर प्रेरित नहीं करता। वे औपचारिकताओं से दूर हटते जा रहे हैं, फिर भी उनकी सहृदयता परिपक्व है। आचार्यश्री के मानस में क्रमिक विकास हुआ है। उनकी प्रगति तत्त्ववेत्ता की भूमिका से स्थितप्रज्ञता की भूमिका की ओर हुई है। वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, फिर भी उनका दृष्टिकोण सम्प्रदायातीत है। उनकी विशेषताएं इसलिए चमकी हैं कि उन्होंने दूसरों की विशेषताओं को मुक्त भाव से स्वीकार किया है। वे इसीलिए सबके बने हैं कि उन्होंने सबको अपनत्व की दृष्टि से देखा है। वे अतीत और वर्तमान की तुलना करते हुए अनेक बार कहते हैं—"आज हम भी उदार बने हैं, आप लोग भी उदार बने हैं। मैं मानता हूँ कि सब सम्प्रदाय उदार बने हैं। उदार बने बिना कोई व्यक्ति ग्रहणशील भी नहीं बनता।" आचार्यश्री के सामने जो विशेषता आती है, उसे वे सहसा ग्रहण कर लेते हैं। यह उनके उदार दृष्टिकोण का परिणाम है। आचार्यश्री की डायरी के पृष्ठ इसके स्वयंभू प्रमाण हैं। "आज दुपहरी में पौने तीन बजे विमला बहिन आई। वह विनोबा के भूदान-यज्ञ की विशेषज्ञा है, विदुषी है। बड़ा अच्छा वक्तव्य देती है। आकृति पर ओज है। थोड़ा प्रवचन सुना। भूदान-यज्ञ के कार्यकर्ता अच्छे-अच्छे हैं। इससे प्रगति का सूचन मिलता है। अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यकर्ता भी ऐसे हों, तो बहुत काम हो सकता।"[1]

"आज वृन्दावन के वन महाराज वैष्णव संन्यासी आए। वे वृन्दावन में एक विश्वविद्यालय बनाना चाहते हैं। प्राथमिक तैयारी हो गई। उसमें सब धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए तेरह पीठ रखे गये हैं। उनमें एक जैन-पीठ भी है। जैन-पीठ के लिए लोगों ने हमारा नाम सुझाया, इसलिए वे आए हैं। बहुत बातें हुई। समन्वयवादी व विद्वान् व्यक्ति मालूम हुए।"[2]

इस उदार दृष्टि से ही आचार्यश्री का अन्य दर्शनानुयायियों के साथ सम्पर्क बढ़ गया है। वे यहाँ आते हैं और आचर्यश्री उनके वहाँ जाते हैं। इस क्रम से समन्वय की एक सुन्दर सृष्टि हुई है। आचार्यश्री ने ऐसे अनेक प्रसंगों का उल्लेख किया है—"आज तीन बौद्ध भिक्षु आए। एक लंका के थे, एक बर्मा के और तीसरे महाबोधि सोसायटी बम्बई के मंत्री थे। प्रवचन सुना। आगामी रविवार को सोसायटी की तरफ से यहीं सिक्कानगर में व्याख्यान रखा है और मुझे अपने विहार में ले जाने के लिए निमंत्रण देकर गए हैं।"[3]

"आज हम बौद्ध विहार में गए। वहाँ के भिक्षुओ ने बड़ा स्वागत किया। अच्छी चर्चा चली। फिर फादर विलियम्स के चर्च में गए। ये सब बम्बई सेंट्रल स्टेशन की तरफ हैं।"[4]

द्रुतगामी पाद-विहारी

आचार्यश्री पाद-विहारी हैं; किन्तु उनका कार्यक्रम यान विहारी से द्रुतगामी होता है। एक प्रसंग है—"आज सिक्कानगर में व्याख्यान हुआ। व्याख्यान के बाद एक 'रशियन' सुन्दरलाल के साथ आया। उसने कहा—"भारतीय लोगों की तरह रशियनों को स्वतंत्रता से फलने-फूलते का अवसर नहीं मिलता। बड़ा कष्ट होता है।" उसकी बहुत जिज्ञासाएं थीं, पर हमें समय नहीं था। डेढ़ बजे जे० जे० स्कूल ऑफ आर्ट्स, जो एशिया का सुप्रसिद्ध कला-शिक्षण केन्द्र है, में प्रवचन करने गए। फिर बोरीबन्दर स्टेशन होते हुए लौंकागच्छ के उपाश्रय में यति हेमचन्द्रजी, जो दो बार अपने यहाँ

---

१ वि० सं० २०१० आश्विन शुक्ला ६, बम्बई—सिक्कानगर

२ वि० सं० २०१६ कार्तिक कृष्णा ७, कलकत्ता

३ वि० सं० २०११ आश्विन शुक्ला २, बम्बई

४ वि० सं० २०११ आश्विन शुक्ला ३, बम्बई

आ चुके थे, से मिलने गए। कुछ प्रवचन किया। उपाश्रय बड़ा है। फिर सिक्कानगर आये।"[1]

"गंगाशहर से विहार किया। दूसरे दिन नाल पहुँचे। रास्ते में नथुसर दरवाजे के बाहर लालीबाई का आश्रम है, वहाँ गए। वह पुरुष-वेष में रहती है। भगवा पहनती है। विधवा बहिनों के चरित्र-सुधार का काम करती है। उसकी बहुत शिष्याएं हैं। वे सिर के बाल मुँडाती हैं और सफेद वस्त्र पहनती हैं। लालीबाई बोली—'आचार्य आशाराम जी से हम आपके विषय में बहुत बातें सुनती हैं, पर आज आपके दर्शन हो गए। वहाँ का वातावरण अच्छा मालूम दिया।"[2]

सिद्धान्त और समझौतावादी दृष्टिकोण

आचार्यश्री सर्व धर्म-समन्वय के समर्थक रहे हैं। साम्प्रदायिक एकता उनकी दृष्टि में असंभव या अस्वाभाविक प्रयत्न है। सिद्धान्त और समझौतावादी दृष्टिकोण उनके अभिमत में भिन्न वस्तुएं हैं। वे सम्प्रदाय-मैत्री के पोषक हैं। विचार-भेद मैत्री के अभाव में ही पलता है। सहज ही तर्क होता है, क्या विचार-भेद मैत्री में बाधक नहीं है? प्रति-प्रश्न भी होता है, क्या जिनमें मैत्री है, उनमें कोई विचार-भेद नहीं है। अथवा जिनमें विचार-भेद नहीं है उनमें मैत्री है ही? मैत्री का सम्बन्ध जितना सद्व्यवहार और हृदय की स्वच्छता से है, उतना विचारों की एकता से नहीं है। अपने-अपने सिद्धान्तों को मान्य करते हुए भी सब सम्प्रदाय मित्र बन सकते हैं। जो विचारों से हमारे साथ नहीं है, वह हमारा विरोधी ही है—ऐसा मानना अपने हृदय की अपवित्रता का चिह्न है। दो विरोधी विचारों का सहावस्थान या सह-अस्तित्व सर्वथा सम्भव है। इसी धारणा की नीति पर आचार्यश्री ने वि० सं० २०११ बम्बई में सम्प्रदाय-मैत्री के पाँच व्रत प्रस्तुत किए:

१. मण्डनात्मक नीति बरती जाये। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये। दूसरों पर लिखित या मौखिक आक्षेप न किया जाये।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाये।

३. दूसरे संप्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाये।

४. कोई संप्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाये।

५. धर्म के मौलिक तथ्य—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाये।

उन दिनों के आचार्यश्री के मनोमन्थन के चित्र ये हैं: 'इस वर्ष स्थानकवासी साधुओं का सम्मेलन भीनासर में होने वाला है। सुना है, वे थली की ओर भी जायेंगे। मैंने अपने श्रावकों से कहा है कि यदि वे वहाँ आयें तो उनके साथ किसी प्रकार का दुर्व्यवहार न हो, इसका पूरा ध्यान रखा जाये।"[3]

"आज जयप्रकाशनारायण से मिलन हुआ। एक घंटे तक बातचीत हुई। विचारों का आदान-प्रदान हुआ। अहिंसक दृष्टियों का समन्वय हो, यह मैंने सुझाया। वातावरण बड़ा सौहार्दपूर्ण रहा।"[4]

"जयप्रकाशजी आज तीन बजे फिर आये। उनसे जीवनदानी बनने का इतिहास सुना, बड़ा स्फूर्तिदायी था। फिर उन्होंने पूछा—"अहिंसक शक्तियों का मिलन हो, इस बारे में आपके क्या सुझाव हैं? मैंने कहा विचारों का आदान-प्रदान हो, परस्पर एक-दूसरे को बल दें, कठिनाइयों के प्रतिकार के लिए सह-प्रयत्न हो और सामान्य नीति का निर्धारण हो।" उन्होंने कहा—"मैं यह विचार विनोबा के पास रखूँगा और आपसे भी समय-समय पर सम्पर्क बनाये रखूँगा।"[5]

---

१ वि० सं० २०११ भाद्रव कृष्णा ११, बम्बई
२ वि० सं० २०१० द्वितीय वैसाख कृष्णा १, नाल
३ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा १, बम्बई—चर्चगेट
४ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा ३, बम्बई—चर्चगेट
५ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा ५, बम्बई—चर्चगेट

मौन की साधना

समन्वय की साधना के लिए आचार्यश्री ने बहुत सहा है। मौन की बहुत बड़ी साधना की है। उसके परिणाम भी अनुकूल हुए हैं। इस प्रसंग में आचार्यश्री की डायरी का एक पृष्ठ है :

"आज व्याख्यानोपरान्त बम्बई समाचार के प्रतिनिधि मि० त्रिवेदी आए। उन्हें प्रधान सम्पादक सोरावजी भाई ने भेजा था। हमारा विरोध क्या हो रहा है? उसे जानना चाहते थे। और वे यह भी जानना चाहते थे कि एक ओर से इतना विरोध और दूसरी ओर से इतना मौन। आखिर कारण क्या है?"[1]

"आज त्रिवेदी का लेख बम्बई-समाचार में आया। काफी स्पष्टीकरण किया है। वे कहते थे, अब हमने आक्षेप-पूर्ण लेखों का प्रकाशन बंद कर दिया है। यह निभेगा तो अच्छी बात है।"[2]

"समन्वय-साधकों के प्रति प्रशंसा का भाव बन रहा है—विजयवल्लभ सूरीजी का स्वर्गवास हो गया। उनकी भावना समन्वय की थी। वे अपना नाम कर गए।"[3]

"इस दिशा में सर्व धर्म-गोष्ठियाँ भी होती रहीं—आज सर्वधर्म-गोष्ठी हुई। उसमें ईसाई धर्म के प्रतिनिधि डॉ० बेरन आदि तीन अमरीकन; पारसी, रामकृष्ण मठ के संन्यासी सम्बुद्धानन्दजी, आर्य समाजी आदि वक्ता थे।

अन्त में अपना प्रवचन हुआ। फादर विलियम्स ने उसका अंग्रेजी अनुवाद किया। बड़े अच्छे ढंग से किया। कार्य-क्रम सफल रहा।"[4]

उन्हीं दिनों बम्बई-समाचार में एक विरोधी लेख प्रकाशित हुआ। आचार्यश्री ने उस समय की मनःस्थिति का चित्रण करते हुए लिखा है—"आज बम्बई समाचार में एक मुनिजी का बहुत बड़ा लेख आया है। आक्षेपों से भरा हुआ है। भिक्षु-स्वामी के पद्यों को विकृत रूप में प्रस्तुत किया गया है। जघन्यता की हद हो गई। पढ़ने मात्र से आत्म-प्रदेशों में कुछ गर्मी आ सकती है। औरों को गिराने की भावना से मनुष्य क्या-क्या कर सकता है, यह देखने को मिला। उसका प्रतिकार करना मेरे तो कम जँचता है। आखिर इस काम में (औरों को नीचा दिखाने के काम में) हम कैसे बराबरी कर सकते हैं! यह काम तो जो करते है, उन्हीं को मुबारक हो! अलबत्ता स्पष्टीकरण करना जरूरी है, देखें, किस तरह होगा।"[5]

"इधर में विरोधी लेखों की बड़ी हलचल है। दूसरे लोग उनका सीधा उत्तर दे रहे हैं। उन्हें घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं। अपना मौन बड़ा काम कर रहा है।"[6]

साधु-साध्वियों का निर्माण

इस मौन का अर्थ वाणी का अप्रयोग नहीं, किन्तु उसका संयम है। आचार्यश्री का जीवन संयम के संस्कारों में पला है, इसलिए वे दूसरों के असंयम को भी संयम के द्वारा जीतने का यत्न करते हैं। वे व्यक्ति-विकास में विश्वास करते हैं; उसका आधार भी संयम ही है। उन्होंने अपने हाथों अनेक व्यक्तियों का निर्माण किया और कर रहे हैं। उनका सर्वाधिक निकट-क्षेत्र है—साधु-समाज। पहला दृष्टिपात यहीं हो, यह अस्वाभाविक नहीं। निर्माण की पहली रेखा यही है। "साधु-साध्वियों में प्रारम्भ से ही उच्च साधना के संस्कार डाल दिये जायें तो बहुत संभव है कि उनकी प्रकृति में अच्छा

१ वि० सं० २०११ श्रावण शुक्ला १०, बम्बई
२ वि० सं० २०११ श्रावण शुक्ला १३, बम्बई
३ वि० सं० २०११ आश्विन कृष्णा ११, बम्बई
४ वि० सं २०११ आश्विन कृष्णा १२, बम्बई—सिक्कानगर
५ वि० सं० २०११ आश्विन शुक्ला २, बम्बई—सिक्कानगर
६ वि० सं० २०११ श्रावण शुक्ला ११, बम्बई—सिक्कानगर

सुधार हो जाये। इसे प्रामाणिक करने के लिए मैंने इधर में नव-दीक्षित साधुओं पर कुछ प्रयोग किये है। चलते समय इधर-उधर नहीं देखना, बातें नहीं करना, वस्त्रों के प्रतिलेखन के समय बातें नहीं करना, अपनी भूल को नम्रभाव से स्वीकार करना, उसका प्रायश्चित करना, आदि आदि। इससे उनकी प्रकृति में यथेष्ट परिवर्तन आया है। पूरा फल तो भविष्य बतायेगा।"[1]

"आज के बालक साधु-साध्वियों के जीवन को प्रारम्भतः संस्कारी बनाना मेरा स्थिर लक्ष्य है। इसमें मुझे बड़ा आनन्द मिलता है।"[2]

"साधुओं को किस तरह बाह्य विकारों से बचा कर आन्तरिक वैराग्य-वृत्ति में लीन बनाया जाये, इस प्रश्न पर मेरा चिन्तन चलता ही रहता है।"[3]

"इस बार साधु-समाज में आचार मूलक साधना के प्रयोग चल रहे हैं। साधु-साध्वियों से अपने-अपने अनुभव लिखाए। वे प्रामाणिकता के साथ अपनी प्रगति व खामियों को लिख कर लाये। मुझे प्रसन्नता हुई। आगामी चातुर्मास में बहुत कुछ करने की मनोभावना है।"[4]

साधु-साधना में ही है, सिद्धि में नहीं। वे समय पर भूल भी कर बैठते हैं। आचार्यश्री को उससे बहुत मानसिक वेदना होती है। उसी का एक चित्र है; "आज कुछ बातों को लेकर साधुओं में काफी ऊहापोह हुआ। आलोचनाएं चलीं, कुछ व्यंग्य भी कसे गये। न जानें, ये आदतें क्यों चल पड़ीं। कोई युग का प्रभाव है या विवेक की भारी कमी? आखिर हमारे संघ में ये बातें सुन्दर नहीं लगतीं। कुछ साधुओं को मैंने सावधान किया है। अब हृदय-परिवर्तन के सिद्धान्त को काम में लेकर कुछ करना होगा।"[5]

गृहस्थों के जीवन-निर्माण के लिए भी आचार्यश्री ने समय-समय पर अनेक प्रयत्न किये हैं। उन्हें जो भी कमी लगी, उस पर प्रहार किया है और जो विशेषता लगी, उसका समर्थन किया है। "आज मित्र-परिषद् के सदस्यों को मौका दिया। उन्होंने विशिष्ट सेवाएं दी हैं। एक इतिहास बन गया है। मैंने उनसे एक बात यह कहा है, यदि तुम्हें आगे बढ़ना है तो प्रतिशोध की भावना को दिल से निकाल दो।"[6]

अणुव्रत-आन्दोलन इसी परिवर्तनवादी मनोवृत्ति का परिणाम है। वे स्थिति चाहते हैं, पर आज जो स्थिति है, उससे उन्हें सन्तोष नहीं है। वे न्यूनतम संयम का भी अभाव देखते हैं तो उनका मन छटपटा उठता है। वे सोचते रहते हैं—जो इष्ट परिवर्तन आना चाहिए, वह पर्याप्त मात्रा में क्यों नहीं आ रहा है? इसी चिन्तन में से अनेक प्रवृत्तियाँ जन्म लेती हैं। 'नया मोड़' का उद्भव भी इसी धारा में हुआ है। समाज जब तक प्रचलित परम्पराओं में परिवर्तन नहीं लायेगा, तब तक जो संयम इष्ट है, वह संभव नहीं। उसके बिना एक दिन मानवता और धार्मिकता दोनों का पलड़ा हल्का हो जायेगा। उनके हित-चिन्तन में बाधाएं भी कम नहीं है। कई बार उन्हें थोड़ी निराशा-सी होती है; किन्तु उनका आत्म-विश्वास फिर उसे झकझोर देता है—"इधर मेरी मानसिक स्थिति में काफी उतार-चढ़ाव रहा। कारण, मेरी प्रवृत्ति सामूहिक हित की ओर अधिक आकृष्ट है और मैं जो काम करना चाहता हूँ, उसमें कई तरह की बाधाएं सामने आ रही हैं, इससे मेरा हृदय सन्तुष्ट नहीं है। मेरा आत्म-विश्वास यही कहता है कि आखिर मेरी धारणा के अनुसार काम होकर रहेगा, थोड़ा समय चाहे लग जाए।"[7]

---

१ वि० सं० २०१० चैत्र कृष्णा १४, उदासर
२ वि० सं० २०१० श्रावण शुक्ला १५, जोधपुर
३ वि० सं० २०११ मृगसर कृष्णा ८, बम्बई—वर्चगेट
४ वि० सं० २०१२ जेठ शुक्ला १०, डांगर—महाराष्ट्र
५ वि० सं० २०१४ आषाढ़ कृष्णा ६, बीदासर
६ वि० सं० २०१६ कार्तिक कृष्णा ६, कलकत्ता
७ वि० सं० २००६ पौष शुक्ला १०, श्रीडूंगरगढ़

आस्था का आलोक

आचार्यश्री में चिन्तन है, विचारों के अभिनव उन्मेष हैं। इसलिए वे रूढ़ मार्ग पर ही नहीं चलते, उपयोगितानुसार नये मार्ग का भी आलम्बन लेते हैं, नई रेखाएं भी खींचते हैं। यह सम्भवतः असम्भव ही है कि कोई व्यक्ति नई रेखा खींचे और संघर्ष का वातावरण न बने। संघर्ष को निमन्त्रण देना बुद्धिमानी नहीं है, तो प्रगति के परिणामस्वरूप जो आये उसे नहीं झेलना भी बुद्धिहीनता है। संघर्ष बुरा क्या है ? वह सफलता की पहली तेज किरण है। उससे जो चौंधिया जाता है, वह भटक जाता है और उसे जो सह लेता है, वह सफलता का वरण कर लेता है। असफलता और सफलता की भाषा में स्वामी विवेकानन्द ने जो कहा है वह चिर सत्य है—"संघर्ष और त्रुटियों की परवाह मत करो। मैंने किसी गाय को झूठ बोलते नहीं सुना; पर वह केवल गाय है, मनुष्य कभी नहीं। इसलिए असफलताओं पर ध्यान मत दो, ये छोटी-छोटी फिसलनें हैं। आदर्श को सामने रख कर हजार बार आगे बढ़ने का प्रयत्न करो। यदि तुम हजार बार ही असफल होते हो तो एक बार फिर प्रयत्न करो।" आचार्यश्री को अपनी गति में अनेकानेक अवरोधों का सामना करना पड़ा, पर वे थके नहीं। विराम लिया, पर रुके नहीं। उस अबाध गति के संकल्प और अगाध आस्था ने उनका पथ प्रशस्त कर दिया। आस्था-हीन व्यक्ति हजार बार सफल होकर भी परिणाम काल में असफल होता है और आस्थावान् पुरुष हजार असफलताओं को चीर कर अन्त में सफल हो जाता है। आचार्यश्री ने अपनी आस्था के आलोक में अपने-आपको देखते हुए लिखा है :

"यह तीन चार वर्ष का संक्रान्ति-काल रहा। इसमें जो घटना-चक्र चला, उसका हरेक आदमी के दिमाग पर असर हुए बिना नहीं रहता। इस समय मेरा साथी मेरा आत्म-बल था और साथ ही मैं अपने भाग्य विधाता गुरुदेव को एक घड़ी के लिए भी भूला हूँ, ऐसा नहीं जान पड़ता। उनकी स्मृति मात्र से मेरा बल हर वक्त बढ़ता रहा। मेरी आत्मा हर वक्त यह कहती रही कि तेरा रास्ता सही है और यही सत्य-निष्ठा मुझे आगे बढ़ाए चल रही है।

"विरोध भीषण था, पर मेरे लिए बलवर्धक बना। संघर्ष खतरनाक था, पर मेरे और संघ के आत्मालोचन के लिए बना। इससे सतर्कता बढ़ी। साधु-संघ में प्राचीन ग्रन्थों व सिद्धान्तों के अध्ययन की अभिरुचि बढ़ी। सजगता बढ़ी। पचासों वर्षों के लिए रास्ता सरल हो गया। इत्यादि कारणों से मैं इसे एक प्रकार की गुणकारक वस्तु समझता हूँ। फिर भी संघर्ष कभी न हो, शान्त वातावरण रहे, संगठन अधिक दृढ़ रहे, हर वक्त यही काम्य है। भिक्षु शासन विजयी है, विजयी रहे। साधु-संघ कुशल आचारवान् है, वैसा ही रहे।"[1]

अपराजेय मनोवृत्ति

विजय की भावना व्यक्ति के आत्म-बल से उद्भूत होती है। आत्मा प्रबल होती है, तब परिस्थिति पराजित हो जाती है; आत्मा दुर्बल होता है, परिस्थिति प्रबल हो जाती है। साधना का आशय यही है कि आत्मा प्रबल रहे, परिस्थिति से पराजित न हो। इस अपराजेय मनोवृत्ति का अंकन इस प्रकार हुआ है—"स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं रहता। मौन व विश्राम से काम चल जाता है। वर्ष भर तक दवा लेने का प्रत्याख्यान है। आत्म-बल प्रबल है, फिर क्या ?"[2]

आत्मा में अनन्त वीर्य है उसका उदय अभिसन्धि से होता है। अभिसन्धिहीन प्रवृत्ति से वीर्य की स्फुरणा नहीं होती। जो कार्य वीर्य-अभिसन्धि के बिना किया जाता है, वह सफल नहीं होता और वही कार्य अभिसन्धि द्वारा किया जाता है, तो सहज सफल हो जाता है। आचार्यश्री का अपना अनुभव है—"परिश्रम की अधिकता के कारण सिर में भार, आँखों में गर्मी आज काफी बढ़ गई। रात्रि के विश्राम से भी आराम नहीं मिला, तब सवेरे डेढ़ घण्टे का मौन किया और नाक से लम्बे श्वास लिये। इससे बहुत आराम मिला। पुनः शक्ति-संचय-सा होने लगा। चित्त प्रसन्न हुआ। मेरा विश्वास

१ वि० सं० २००६ फाल्गुन कृष्णा २, सरदारशहर
२ वि० सं० २०१२ भाद्र शुक्ला २, उज्जैन

है कि मौन साधना मेरी आत्मा के लिए, मेरे स्वास्थ्य के लिए, बहुत अच्छी खुराक है। बहुत बार मुझे ऐसे अनुभव भी होते रहते हैं। यह मौन साधना मुझे नहीं मिलती तो स्वास्थ्य सम्बन्धी बड़ी कठिनाई होती। पर वैसा क्यों हो? स्वाभाविक मौन चाहे पाँच घण्टा का हो उसमे उतना आराम नहीं मिलता, जितना कि संकल्पपूर्वक किये गए एक घण्टा के मौन से मिलता है। इससे यह भी स्पष्ट है कि संकल्प में कितना बल है। साधारणतया मनुष्य यह नहीं समझ सकता, पर तत्त्वतः संकल्प में बहुत बड़ी आत्म-शक्ति निहित है। उससे आत्म-शक्ति का भारी विकास होता है। अवश्य ही मनुष्य को इस संकल्प-बल का प्रयोग करना चाहिए।"[1]

आचार्य हरिभद्र ने अभिसन्धिपूर्वक वस्तु के परिहार को ही त्याग कहा है। संकल्प में कितना वीर्य केन्द्रित है, उसे एक कुशल मनोवैज्ञानिक ही समझ सकता है। आचार्यश्री ने जो कुछ पाया है, उसके पीछे उनका कर्तृत्व है, पुरुषार्थ है और लक्ष्य पूर्ति का दृढ़ संकल्प। वे लक्ष्य की ओर बढ़े हैं, बढ़ रहे हैं। जब कभी लक्ष्य की गति में अन्तराय हुआ है, उसका पुनः सन्धान किया गया है—"इन दिनों डायरी भी नहीं लिखी गई। मौन भी छूट गया। अब दोनों पुनः प्रारम्भ किये हैं। धनजी सेठिया बैंगलोर वाले आए, और बोले—आपने मौन क्यों छोड़ दिया? वह चालू रहना चाहिए। उसमें विश्राम, स्वास्थ्य और बल मिलेगा। मैंने कहा—"आठ वर्षों से चलने वाला मौन यू० पी० में बन्द हो गया, पर अब चालू करना है। जेठ सुदी १ से पुनः मौन प्रारम्भ है।"[2]

सिद्धान्त-विरोधी प्रवृत्ति में असहिष्णुता

आचार्यश्री में समता के प्रति आस्था है और सिद्धान्त के प्रति अनुराग। इसलिए वे किसी भी सिद्धान्त-विरोधी प्रवृत्ति को सहन नहीं करते। "दुपहरी में संत व्याख्यान दे रहे थे। एक लाल दरी बिछी हुई थी। सब लोग बैठे थे, कुछ भांभी (हरिजन) भी उस पर बैठ गए। सुनने लगे। जैन लोगों ने यह देखा तो बड़े जोश से बोले—तुम लोगों में होश नहीं जो जाजम पर आकर बैठ गए। यह पंचायती जाजम है। वे आक्रोश करते हुए हरिजनों को उठा कर जाजम खींच कर ले गये। बहुतों को बुरा लगा, हरिजनों को बहुत ही धक्का लगा। कई तो रोने लग गये, मैंने भीतर से यह दृश्य देखा। मन में वेदना हुई। इस मानवता के अपमान को मैं सह नहीं सका। मैं व्याख्यान में गया। स्पष्ट शब्दों में मैंने कहा—"जिन तीर्थंकर भगवान् महावीर ने जातिवाद के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन किया, उन्हीं के भक्त आज उसी दलदल में फंस रहे हैं, बड़ा आश्चर्य है। मैंने आँखों से देखा—"मनुष्य किस प्रकार मनुष्य का अपमान कर सकता है। दरी आपको इतनी प्यारी थी तो बिछाई ही क्यों?" मैंने उनसे कहा—"साधुओं के सान्निध्य में इस प्रकार किसी जाति का तिरस्कार करना क्या साधुओं का तिरस्कार नहीं है?" वहाँ के सरपंच को, जो जैन थे, मैंने कहा—"क्या पंचायत में सभी सवर्ण ही है?" नहीं, भांभी भी हैं! "तो कैसे बैठते हो?" वहाँ तो एक ही दरी पर बैठते हैं। "तो फिर यहाँ क्या हुआ।" हमारे यहाँ ऐसी ही रीति है। आखिर उन्होंने भूल स्वीकार की। उन्हें छुआछूत की भावना मिटाने की प्रेरणा दी और हरिजनों को भी शान्त किया।"[3]
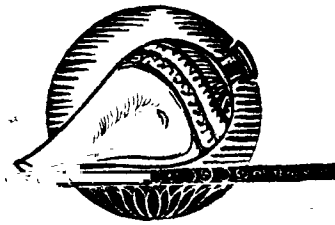
१ वि० सं० २०११ फाल्गुन शुक्ला ७, पूना
२ वि० सं० २०१६ जेठ शुक्ला १, कलकत्ता
३ वि० सं० २०१० वैसाख कृष्णा १०

जागृत भारत का अभिनन्दन !

अणुविस्फोटों के इस युग में अणुव्रत ही संबल मानव का,
व्रत-निष्ठा के बिना विफल है अनयंत्रित भुजबल मानव का !

संघबद्ध स्वार्थों के तम में अणुव्रत ही प्रत्यूष-किरण-कण,
महाज्योति उतरेगी भू पर कभी अणुव्रती के ही कारण !

सदा सुभग लघु लघु सुन्दर की महिमा से ही मंडित है जग,
नापेंगे कल दिग-दिगन्त भी अणुव्रत के कोमल वामनपग !

अणु की लघिमा शक्ति करेगी देशांतर का सहज संचरण,
भूमिकिरण के किरण-बाण से होगा ऊर्ध्व बिन्दु का वेधन !

द्यावा की विराट शोभा ही अणुव्रत की दूर्वा है भू पर,
दूर्वा का अतिशय लघु तृण ही मुक्ति-नीड़ में सबसे ऊपर !

अणुव्रत के आचार्य प्रवर, जो शील विनय संयम के दानी,
व्यक्ति व्यक्ति का शुभ्र आचरण बन जाती है जिनकी वाणी !

अणुव्रत के महिमा-गायन में है उन श्री तुलसी का वंदन,
अणुव्रत के अभिनन्दन में है जागृत भारत का अभिनन्दन !

—नरेन्द्र शर्मा

मैक्सिको की श्रद्धांजलि

डा० फिलिप पार्डिनास

डीन, इतिहास और कला संकाय, आईबेरो-अमरीकाना विश्वविद्यालय, मैक्सिको

मैक्सिको से आचार्यश्री तुलसी को विनत प्रणाम। आचार्यश्री तुलसी के प्रति श्रद्धांजलि प्रकट करने का अवसर पाकर मैं अपने को धन्य मानता हूँ। मेरी यह छोटी-सी अभिलाषा रही है कि इस भारतीय जैन आचार्य के प्रति जिन्होंने विश्वशान्ति के लिए अपना समग्र जीवन समर्पित कर दिया है, विश्व के अनेक विद्वान् जो श्रद्धांजलि भेंट करेंगे, उसमें मैं भी मैक्सिको की ओर से अपना योग दूँ।

मैक्सिको अभी तक एक युवा देश है, किन्तु सम्भवतः उतना युवा नहीं, जैसा बहुत लोग समझते हैं। यद्यपि हमारा इतिहास अर्थात् में हमारे लोगों का जीवन-वृत्त ईसा पूर्व की दो सहस्राब्दियों से प्रारम्भ होता है, फिर भी हमारी स्पष्ट जानकारी मैक्सिको की घाटी में अवस्थित टिओटिहुआकन (Teotihuacan) नामक एक धार्मिक केन्द्र के सम्बन्ध से प्रारम्भ होती है। इस केन्द्र के साथ-साथ ईसा पूर्व के लगभग छठी शताब्दी में दो और महत्त्वपूर्ण केन्द्र थे। ला वेंटा (La venta) जो वर्तमान में टावस्को प्रान्त में है और मोण्टे अलबान (Monte Alban) जो ओक्साका प्रान्त में है। इन तीनों केन्द्रों ने लेखन-कला और तिथि-पत्र का विकास किया। तिथि-पत्र का उद्देश्य केवल मौसम पर ही नहीं, समय पर नियन्त्रण प्राप्त करना था, कारण तत्कालीन कृषि-प्रधान सभ्यता के लिए यह आवश्यक था। सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि ये बड़े-बड़े नगर युद्धों और शस्त्रों से अपरिचित थे। वह शान्ति का काल था और उस समय हमारे लोग श्रम करते, देवताओं की प्रार्थना करते और शान्तिपूर्वक रहते थे।

दूसरे केन्द्रों के विषय में भी जो अब ग्राटेमाला गणराज्य में है, यही बात कही जा सकती है। उनके नाम हैं, टिकाल (Tikal) और युआक्साक्टन (Uaxactan)। यद्यपि ये समारोहिक सांस्कृतिक केन्द्र उल्लिखित केन्द्रों से पश्चात्कालीन थे।

दुर्भाग्यवश पश्चिम के सम्पर्क से पहले ही हमारे देश में विनाश और हिंसा का प्रादुर्भाव हो चुका था। उस महान् युग के अन्त को, जो करीब ईसा की सातवीं से नवीं शताब्दी के मध्य था, हम 'विशिष्ट' (Classic) युग कहते हैं। उस समय हमारे लोगों के जीवन में अत्यन्त आकस्मिक और गहरा परिवर्तन हुआ। आन्तरिक क्रान्ति और बाह्य प्रभावों ने इन समुदायों में आमूल परिवर्तन कर दिया। हमें बोनाम्पक (Bonampak) योद्धाओं और बलिदानी पुरुषों के आश्चर्यजनक भित्ति-चित्रों में हिंसा का इतिहास मिलता है। दुर्भाग्यवश ऐसा प्रतीत होता है कि ठेठ पाश्चात्यों के आगमन तक यह नई स्थिति स्थायी रही। ईस्वी सन् १६१५ में जब हरमन कोर्टीज ने मैक्सिको के मुख्य संस्कृति के केन्द्र टेनोक्टिट्लान (Tenoctitlan) नगर पर विजय प्राप्त की, तब से लेकर दीर्घकाल तक हिंसा का बोलबाला रहा। केवल अन्तिम २५-३० वर्षों में शान्ति का नया जीवन हमें देखने को मिला है।

यह रोचक तथ्य है कि प्राचीन भारतीय सभ्यता के अनेक विचार हमारे लोगों के मानस में गहरे बैठे हुए हैं। किन्तु जो लोग केवल फिल्मों और कुछ साहित्य के आधार पर मैक्सिको के विषय में अपनी धारणा बनाते हैं, उन्हें यह समझने में कठिनाई होगी कि हमारे लोगों के मानस की एक विशेषता यह भी है कि वे शान्तिपूर्ण हैं, हिंसक नहीं। जब आप हमारे राजनीतिक इतिहास का नहीं, हमारे सांस्कृतिक इतिहास का थोड़ी गहराई के साथ अध्ययन करेंगे तो आप सरलता से हमारे अहिंसा-प्रेम का पता लगा सकेंगे।

अपने पिछले भारत-प्रवास के समय मुझे अपने विद्यार्थियों के एक दल के साथ जब अपने मित्र श्रीसुन्दरलाल झवेरी के माध्यम से अणुव्रत-आन्दोलन और उसके मुख्य सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त हुआ, तो बड़ी प्रसन्नता हुई। इस प्रवास में मुझे आचार्यश्री तुलसी के आश्चर्यजनक कार्य और उनके महान् जीवन के सम्बन्ध में जानने का अवसर मिला।

हमने मैक्सिको लौटने के पश्चात् टेलीविजन पर व्याख्यानों द्वारा लोगों को अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय दिया और लोगों ने इस आन्दोलन के सिद्धान्तों के विषय में सुन कर बड़ी जिज्ञासापूर्ण उत्सुकता प्रकट की।

इसलिए मैं यह विश्वासपूर्वक कह सकता हूँ कि इस महान् भारतीय आचार्य के कार्य का हमारे आधुनिक जगत् पर गहरा प्रभाव पड़ेगा। हिंसा के विरुद्ध एकमात्र शब्द और सन्देश मैत्री का ही हो सकता है। मनुष्यों के प्रति मैत्री, जीवों के प्रति मैत्री और प्राणीमात्र के प्रति मैत्री। अतः मैं आपको यह कहना चाहूँगा कि यह मेरी उत्कट आन्तरिक इच्छा है कि इस महान् धर्माचार्य की वाणी का असंख्य मानव-आत्माओं द्वारा श्रवण हो, जिससे कि वे इस विश्व को अधिक मानवीय और अधिक शान्तिमय बनाने के प्रयास में सहयोग दे सकें।

एक आध्यात्मिक अनुभव

श्री बारन फ्रेरी फोन ब्लोमबर्ग
बोस्टन, अमेरिका

जब मैं जैन धर्म के प्रमुख आचार्यश्री तुलसी के सम्पर्क में आया, तब मेरे लिए वह एक नया आध्यात्मिक अनुभव था और उससे मैं अत्यधिक प्रभावित हुआ। अनेक वर्षों से मैं यह मानने लगा हूँ कि अध्यात्म ही सब कुछ है और आध्यात्मिक मार्ग से सब समस्याएं हल हो सकती हैं।

दुनिया ने कूटनीति, राजनीति, बल-प्रयोग, अणुबमों और भौतिक साधनों का प्रयोग किया, किन्तु सब असफल रहे। मैं स्वयं एक ईसाई हूँ और मुझे स्पष्ट प्रतीत होता है कि जैन दर्शन में सब धर्मों और विश्वासों का समावेश हो जाता है।

आज दुनिया को आध्यात्मिक एकता की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं थी। जब दुनिया में आग लगी हुई है तो हम बहुधा एक-दूसरे के विरुद्ध क्यों काम कर रहे हैं? आज यदि हम सच्चे आध्यात्मिक प्रेम-भाव से मिल कर काम करें तो सभी लक्ष्य सिद्ध हो सकते हैं।

मैं प्रति क्षण यही प्रार्थना करता हूँ कि मेरा जीवन पूर्णतया आध्यात्मिक हो; मैं वचन और कर्म में सत्य का अनुसरण करूँ। यह प्रकट सत्य है कि भौतिक पदार्थों का सम्पूर्ण त्याग कर देने पर भी जैन साधु सुख और शान्तिपूर्वक रहते है। यथार्थ रूप में तो मुझे कहना चाहिए कि उनकी शान्ति 'त्याग कर देने पर भी' नहीं, अपितु त्याग करने के कारण है। मैं चाहूँगा कि जैन धर्म और उसके सिद्धान्तों का हर देश में प्रसार हो। यह विश्व के लिए वरदान ही सिद्ध होगा।

मैं यह मानता हूँ कि यह मेरे परम भाग्य का उदय था कि आचार्यश्री तुलसी के सम्पर्क में मैं आया। जैनों की पुस्तिका मेरे हाथ में आई और उनके प्रतिनिधि बम्बई में मुझसे मिलने आए। मैं इस सबके लिए अत्यन्त आभारी हूँ।

मैं अपने कार्य के सम्बन्ध से दुनिया के नाना देशों में जाता हूँ, बराबर यात्रा करता रहता हूँ और सभी तरह के एवं सभी श्रेणियों के लोगों से मिलता हूँ। आज सर्वत्र भय का साम्राज्य है—युद्ध का भय, भविष्य का भय, सम्पत्ति-अपहरण का भय, स्वास्थ्य-नाश का भय, भय और भय! इस भय के स्थान में हमें विश्वास और श्रद्धा की स्थापना करनी होगी; वह श्रद्धा जिससे कि अन्ततः विश्व-शान्ति अवश्य स्थापित होगी। इतिहास हमें बार-बार यही शिक्षा देता है कि युद्ध से युद्धों का जन्म होता है। जीत किसी की नहीं होती, अपितु सभी की करुणाजनक हार ही होती है।

पूर्णता प्राप्त करने के लिए हमें प्रतिदिन ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे मोक्ष और ईश्वरत्व की प्राप्ति हो सके। असत्य, पर-निन्दा, सांसारिक आकांक्षाएं—सभी का त्याग करना चाहिए और उनके स्थान पर जाति, धर्म और वर्ण का भेद भुलाकर सबके प्रति सच्ची मैत्री का विकास करना चाहिए तथा अन्तिम लक्ष्य की ओर कदम-से-कदम मिला कर आगे बढ़ना चाहिए। मेरा विश्वास है कि अणुव्रत-आन्दोलन स्थायी विश्व-शान्ति का सच्चा और शक्तिशाली साधन बन सकता है। धीरे-धीरे ही सही, किन्तु यह आन्दोलन सारे विश्व में फैल सकता है।

जैन दर्शन का मूल सत्य है। सत्य से सब कुछ सिद्ध हो सकता है। हमारा भविष्य हमारे अपने हाथों में है। हम अपने-आप सुख और दुःख की रचना कर सकते हैं।

पश्चिम को जैन सिद्धान्तों की बड़ी आवश्यकता है। पूर्व और पश्चिम के धर्म एक-दूसरे की पूर्ति कर सकते हैं। उन सबमें प्रेम और सत्य का स्थान है। इस विषय में उनमें कोई अन्तर नहीं है।

दुनिया में आज पूर्वाग्रहों को लेकर गहरी खाई पड़ी हुई है। उस पर हमको सहमति का पुल निर्माण करना चाहिए। अध्यात्म के द्वारा ही यह सम्भव हो सकता है।

मानव जाति के पथ-दर्शक

श्री हेलमुथ डीटमर,
भारत में पश्चिमी जर्मनी के प्रधान व्यापार दूत

आचार्यश्री तुलसी के धवल समारोह के अवसर पर मुझे कुछ वर्ष पहले माटुंगा (बम्बई) में आयोजित जैन समाज के धार्मिक समारोह की याद हो आती है, जो साध्वीश्री गोरांजी के तत्वावधान में हुआ था और उसमें मैं प्रथम बार जैनों के सम्पर्क में आया था। मैं उस समारोह से अत्यन्त प्रभावित हुआ। मैं श्रावक और श्राविकाओं के बीच बैठा हुआ था और मैंने साध्वीजी के मुख से धर्म-शास्त्रों की व्याख्याएं सुनीं। उन्होंने काम, क्रोध, मद लोभ, हिंसा, दंभ, असत्य, चोरी, अहंकार और भौतिकवाद के विरुद्ध प्रवचन दिया। जब उन्होंने कहा कि अहिंसा परम धर्म है, सबसे मुख्य विधान और सर्वोत्तम गुण है, तो मुझे उनका यह कथन बहुत सुन्दर लगा। मैं साध्वीजी के भव्य आध्यात्मिक और शान्त रूप को कभी विस्मृत नहीं कर सकूंगा।

इस अवसर पर जैन धर्म, उसके सिद्धान्तों, सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र की विधियों और अणुव्रत-आन्दोलन का मुझ पर गहरा और स्थायी असर पड़ा और मैं उनका प्रशंसक बन गया। मेरी कामना है कि जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के नवें आचार्य और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रणेता आचार्यश्री तुलसी दीर्घायु हों और मानव-जाति का पथ-प्रदर्शन करते रहें।

मानवता का कल्याण

डब्ल्यू फोन पोखाम्मेर
बम्बई में जर्मनी के भूतपूर्व प्रधान व्यापार दूत

जब मैंने भारतीय धर्मों का अध्ययन शुरू किया तो मैं विशेषतः जैन धर्म से अत्यन्त प्रभावित हुआ। वह मनुष्य का उसके अन्तर में स्थित नैतिक व एकमात्र दैवीतत्त्व के साथ सीधा सम्बन्ध जोड़ता है।

मैं जैनों की कुछ धार्मिक सभाओं में सम्मिलित हुआ हूं और मुझे यह जान कर प्रसन्नता हुई कि वे नैतिकता को सर्वोपरि महत्त्व देते हैं। वे हमको शिक्षा देते हैं कि केवल श्रोता बन कर मत रहो, अपितु आचरण भी करो; सक्रिय मनुष्य बनो। इसका यह अर्थ हुआ कि प्रत्येक सत्संग का परिणाम व्रत के रूप में आना चाहिए।

आचार्यश्री तुलसी मुझे विशिष्ट पुरुष प्रतीत हुए, कारण वह अपने सम्प्रदाय के अनुयायियों को ही नहीं, अपितु सभी को नैतिक सिद्धान्तों के अनुसार जीवन बिताने की प्रेरणा देते हैं।

मेरी हार्दिक कामना है कि वह अपने उच्च लक्ष्य को सिद्ध करने में सफल होंगे, जिसके फलस्वरूप न केवल भारत का अपितु समस्त मानवता का कल्याण होगा।

नैतिक जागरण का उन्मुक्त द्वार

डा० लुई रेनु, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, भारतीय विद्याध्ययन-विभाग, संस्कृत-प्राध्यापक, पेरिस विश्वविद्यालय

आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ सम्प्रदाय के नवम अधिशास्ता है,जिनसे मिलने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ है। वे एक आकर्षक व्यक्तित्व वाले हैं। वे युवक हैं जिनकी शारीरिक आकृति सुन्दर है। उनकी आँखों में विशेष रूप से आकर्षण है, जिसका किसी भी दर्शक के हृदय पर अनायास ही गहरा असर पड़ता है। वे संस्कृत-साहित्य के अधिकारी विद्वान् हैं और विशिष्ट कवि भी। सबसे अधिक सब प्राणियों के प्रति उनकी दयालुता और जो सहिष्णुता है, वह बड़ी उच्चकोटि की है। उनके साढ़े छः सौ के करीब साधु-साध्वियाँ शिष्य हैं। उनके अनुयायी पाँच लाख के करीब है, जो हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में रहते हैं।

मुझे ज्ञात है कि भारतीय जनता की प्रवृत्ति बहुत धार्मिक है। मैंने इस तथ्य को कुमारी अन्तरीप से दरभंगा तक के अपने दौरे में बहुधा अनुभव किया है। किन्तु धर्म के प्रति जितनी शुद्ध एवं सच्ची श्रद्धा मुझे तेरापंथ संघ में प्रतीत हुई, उतनी अन्यत्र कहीं भी नहीं।

तेरापंथ संघ के लिए यह बड़े सौभाग्य का विषय है कि उनको आचार्यश्री तुलसी जैसे महान् व्यक्ति आचार्य के रूप में प्राप्त हुए हैं। मैं सोचता हूँ कि उनके कारण ही यह संघ अपना व्यापक विकास करेगा तथा अपनी महत्ता के साथ सारे संसार में प्रसार पायेगा।

आचार्यश्री तुलसी का धवल समारोह उनके प्रति श्रद्धा प्रकट करने का अवसर देता है। आधुनिक भारत के वे एक अत्यन्त प्रमुख महापुरुष हैं और इस सम्मान के पूर्णतया अधिकारी हैं। उन्होंने न केवल तेरापंथ समाज का सही मार्ग-दर्शन करके पूर्व आचार्य के काम को प्रभावशाली रूप से आगे बढ़ाया है, प्राचीन शास्त्रों के अनुसार यह सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चरित्र का कार्यक्रम है; बल्कि नैतिक जागरण का द्वार उन्मुक्त कर दिया है। यह कार्यक्रम हमारी आज की अशान्त और त्रस्त दुनिया में विवेक और शान्ति का सबल स्तम्भ है।

ढाई हजार वर्ष पूर्व के जैन-संघ में

डा० डब्ल्यू नोर्मन ब्राउन

अध्यक्ष, दक्षिण-पूर्व एशियाई प्रदेश-अध्ययन विभाग तथा

अध्यापक, संस्कृत, पेन्स्यालवेनिया विश्वविद्यालय (यू० एस० ए०)

तेरापंथ सम्प्रदाय के निकट सम्पर्क में आने का सौभाग्य मुझे तभी प्राप्त हुआ जब कि मैं आचार्यश्री और उनके शिष्य साधु-साध्वियों के तथा श्रावक-श्राविकाओं के परिचय में आया। जब कभी मैं जैनों से मिलता हूँ, मुझे अत्यधिक प्रसन्नता होती है और आचार्यश्री तुलसी के दर्शन पाकर भी मैंने यही अनुभूति की है।

मेरे लिए वह एक मूल्यवान् एवं आनन्ददायक समय था जब कि आचार्यश्री से बातचीत करने का तथा गोष्ठी में भाग लेने का अवसर मुझे मिला था। आचार्यश्री की स्वयं की विद्वत्ता और उनके साधु-साध्वियों की विद्वता से भी, कोई भी व्यक्ति प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। मुझे यह भी आश्चर्य हुआ कि उनके श्रावकों में भी यह क्षमता है कि वे गोष्ठी में चर्चित तात्त्विक विषयों को, जो कि गुजराती, संस्कृत और प्राकृत आदि भाषाओं में होती रही, समझ सकते थे। यह तो मुझे अत्यधिक ही अद्भुत लगा, जब कि एक साधु बिना किसी पूर्व तैयारी के प्राकृत भाषा में भाषण करने लगे। इन सब बातों से यह स्पष्ट हो जाता है कि आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन में उनका सम्प्रदाय जैन दर्शन और सिद्धान्तों का परिश्रम पूर्वक अध्ययन और विकास कर रहा है।

मैं यह मानता हूँ कि आचार्यश्री के साथ वार्तालाप करने से मुझे तेरापंथ के विशिष्ट सन्देश की जानकारी हुई है। उनसे तेरापंथ के आदर्शों, पद्धतियों, संघ-व्यवस्था, विश्व-शान्ति की दिशा में उसके प्रयत्नों आदि के विषय में स्पष्ट और अधिकारपूर्ण जानकारी मुझे प्राप्त हुई है। आचार्यश्री के साथ के मेरे सम्पर्क के समय मुझे यह अनुभूति होती थी, मानो मैं ढाई सहस्र वर्ष पूर्व के किसी जैन-संघ में प्रविष्ट हुआ हूँ।

महान् कार्य और महान् सेवा

श्री वी० वी० गिरि
राज्यपाल, केरल

तीन वर्ष पहले की बात है। मैंने कानपुर में अणुव्रत-आन्दोलन के नवम वार्षिक अधिवेशन में भाषण दिया था तो मुझे इस आन्दोलन का पूरा विवरण जानने का सौभाग्य मिला था। तभी से मैं आचार्यश्री तुलसी के उस महान् कार्य और महान् सेवा से प्रभावित हूँ जो वह मानव जाति की भावी प्रगति के लिए नैतिक आधार स्थापित करने के लिए कर रहे हैं।

एक मशाल

आज दुनिया को नैतिक उत्थान की जितनी आवश्यकता है, उतनी पहले कभी नहीं थी। कोई राष्ट्र तब तक प्रगति नहीं कर सकता अथवा अपने को बलवान् नहीं कह सकता, जब तक उसके लोग उच्च आदर्शों का अनुसरण नहीं करते और सद्गुणी नहीं होते। जीवन के प्रति भौतिक दृष्टिकोण ने लोगों को स्वार्थी बना दिया है और भ्रष्टाचार एवं भ्रष्ट व्यवहारों; जैसे कि रिश्वतखोरी और मिलावट ने भारतीय जीवन को तबाह कर दिया है। आज हम मानव भवितव्य के चौराहे पर खड़े हैं। ऐसी स्थिति में जब कि हमारे पास युगों पुरानी परम्पराओं और सांस्कृतिक मूल्यों की विरासत में मिली हुई निधि विद्यमान है, तब समस्त अन्धकार को दूर करने के लिए केवल एक मशाल की आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन वह मशाल है।

जैसा कि आचार्यश्री तुलसी ने स्वयं कहा है, 'अणुव्रत-आन्दोलन जीवन के आध्यात्मिक और नैतिक सिंचन की योजना है। उसका उद्देश्य सामाजिक अथवा राजनीतिक हित की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। वह उद्देश्य आध्यात्मिक कल्याण है और आध्यात्मिक कल्याण केवल सर्वोच्च श्रेय ही नहीं सम्पूर्ण श्रेय है। उसमें स्वयं के श्रेय और दूसरों के श्रेय दोनों का समावेश होता है।'

नैतिक मूल्यों से उपेक्षित अर्थशास्त्र असत्य

आज हमने समाजवादी ढंग के समाज को अपना राष्ट्रीय उद्देश्य स्वीकार किया है। मेरे विचार से यह केवल राजनीतिक अथवा आर्थिक नहीं है जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपनी उन्नति के लिए समान अवसर मिलना चाहिए और राष्ट्रीय प्रयास में भाग लेना चाहिए अथवा प्रत्येक नागरिक को कुछ-न-कुछ आर्थिक न्याय मिलना चाहिए, प्रत्युत ऐसा आदर्श है जो सर्वव्यापक है और राष्ट्र के आध्यात्मिक और सांस्कृतिक जीवन को स्पर्श करता है एवं जिसका नैतिक आधार है। सन् १९२४ में गांधीजी ने 'यंग इण्डिया' में लिखा था, 'वह अर्थशास्त्र असत्य है जो नैतिक मूल्यों की उपेक्षा अथवा अवहेलना करता है। आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा के नियम के विस्तार का इसके अतिरिक्त कोई अर्थ नहीं होता कि अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का नियमन नैतिक मूल्यों के आधार पर किया जाए।'

भारतीय पद्धति के समाजवाद में जो गांधीजी का स्वप्न था व हमारा राष्ट्रीय ध्येय है; दूसरे कथित समाजवादी देशों के समाजवाद में यह अन्तर है कि हम अपने ध्येय की प्राप्ति के लिए सत्य और अहिंसा पर सम्पूर्ण श्रद्धा रखते हैं जब कि अन्य समाजवादी देश शक्ति को नये समाज की प्रसव पीड़ा मानते हैं अथवा जैसा कि अन्य कुछ लोग कहते हैं, अण्डे को तोड़े बिना आमलेट नहीं बन सकता। विदेशों में जो लोग समाजवाद की कल्पना के पृष्ठ पोषक बने

हुए हैं, उनके निकट साधनों का कोई महत्त्व नहीं यदि साध्य न्यायोचित हो। किन्तु गांधीजी का कहना था कि साधनों को साध्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। इसका यह अर्थ होता है कि न्यायोचित साध्य को अनुचित साधनों से प्राप्त करना नैतिक नहीं है। गांधीजी का कहना था कि हमको लोगों का हृदय परिवर्तन करके सामाजिक परिवर्तन लाना चाहिए।

हमारी सभी नीतियों और कार्यक्रमों में यही नैतिक भावना निहित है। सन् १९३७ में गांधीजी ने आर्थिक पुनर्रचना के अपने सिद्धान्तों का विश्लेषण किया और कहा, "अर्थशास्त्र उच्च नैतिक मानदण्ड का कभी विरोधी नहीं होता, जिस प्रकार कि सभी सच्चे नैतिक नियमों को उत्तम अर्थशास्त्र के भी अनुकूल होना चाहिए। जो अर्थशास्त्र केवल लक्ष्मी की पूजा करने का आग्रह करता है और बलवान् को निर्बल को हानि पहुँचा कर धन-संग्रह करने में समर्थ बनाता है, वह झूठा और दयनीय विज्ञान है। वह मौत का सन्देशवाहक होगा। इसके विपरीत सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय का पोषक होता है, वह सबका, निर्बल से निर्बल का हित साधन करता है और उत्तम जीवन के लिए अनिवार्य होता है।" समाजवाद के नैतिक आधार की इससे अच्छी व्याख्या दूसरी नहीं हो सकती।

अध्यात्म की नकेल

आचार्यश्री तुलसी ने यही विचार प्रतिपादित किया है। उन्होंने भौतिकता पर आध्यात्म की नकेल लगाई है। उनका तत्त्व ज्ञान व्यक्ति पर केन्द्रित है और सर्वोच्च सामाजिक श्रेय प्राप्त करने के लिए व्यक्ति को नियमों का कुशलता-पूर्वक पालन करना चाहिए। यह विधि संहिता कोई ऐसी कठोर नहीं है कि उसकी अवहेलना करने पर न्यायालयों द्वारा किसी को दण्ड पाना पड़े। न्यायालय वास्तविक और प्रभावशाली समाजवाद की स्थापना करने में सहायक नहीं हो सकते। यह बहुधा कहा गया है कि लोकतन्त्र की सफलता मुख्यतः इस पर निर्भर करती है कि लोग अपने अधिकारों और सुविधाओं की माँग करने के पहले अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों को पूरा करें। लोकतन्त्र की भाँति समाजवाद की सफलता की भी यही कसौटी होगी। आदर्श की पूर्ति के लिए नागरिकों को राष्ट्र के सामने उपस्थित सभी कार्यों में बिना किसी बाहरी सत्ता के आदेश के स्वेच्छा और उत्साहपूर्वक योग देना चाहिए।

इन प्रयत्नों में अणुव्रत और ऐसे ही अन्य आन्दोलन राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक ढाँचे में ठोस और स्थिर नैतिक आधार पर व्यापक परिवर्तन लाने में हमारी सहायता कर सकते हैं।

संत भी, नेता भी

श्री गोपीनाथ 'अमन'
अध्यक्ष, जन-सम्पर्क समिति, दिल्ली प्रशासन

करीब आठ-नौ वर्ष पूर्व की बात है जबकि मैं दिल्ली विधान-सभा का उपाध्यक्ष था; एक दिन मेरे मित्र श्री जैनेन्द्र-कुमारजी ने, जब हम दोनों एक अधिवेशन से वापस आ रहे थे, कहा कि चलिये, आपको एक संत के दर्शन कराएं। मैंने पूछा, कौन? उन्होंने बताया, आचार्यश्री तुलसी। मैंने आचार्यश्री तुलसी का नाम तो सुन रखा था, न मैंने उन्हें देखा था और न उनके आन्दोलन को। मैं जैनेन्द्रजी के साथ नया बाजार में आया। वहाँ आचार्यश्री तुलसी के दर्शन हुए। सड़क के किनारे उनके श्रद्धालु भक्तों की बहुत बड़ी भीड़ थी। मेरा थोड़ा ही परिचय हुआ और मैं दर्शन करके चला आया। कोई विशेष बातचीत नहीं हुई। दर्शनों से मैं प्रभावित अवश्य हुआ, परन्तु इतना ही कि यह एक संत हैं और एक धार्मिक सम्प्रदाय के आचार्य हैं। यद्यपि यह भी अपने-आप में बहुत बड़ी बात है, परन्तु तब मैं अणुव्रत-आन्दोलन को नहीं जानता था। इसकी कुछ रूप-रेखा मुझे उनके संतों के द्वारा उस समय ज्ञात हुई, जब मैं एक वर्ष बाद दिल्ली-राज्य का मन्त्री बन गया। मुनिश्री नगराजजी और मुनिश्री बुद्धमलजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' और मुनिश्री नथमलजी से मेरा परिचय हुआ और मैंने अणुव्रत-आन्दोलन का थोड़ा-बहुत अध्ययन किया। जहाँ तक मुझे याद है, मैंने जोधपुर में पहला अधिवेशन देखा। फिर तो सरदार शहर और राजस्थान के कई स्थानों में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और आचार्यश्री तुलसी के दर्शन निकट से हो सके।

जब मैं मन्त्री था, तो कुछ मेरे अणुव्रती होने की भी चर्चा चली, परन्तु मन्त्री होते हुए मैं अणुव्रत के नियमों को पूरी तरह निबाह नहीं सकता था। मैं यह नहीं कहता कि यह निर्वाह किसी मन्त्री के लिए सम्भव नहीं है, परन्तु मेरे-जैसे दुर्बल मनुष्य के लिए असम्भव अवश्य था। फिर जब विधान सभा टूटी और मैं जन-सम्पर्क समिति का प्रधान बना तो उसी के कुछ सप्ताह पीछे मैंने एक रात्रि को आचार्यश्री तुलसी के सान्निध्य में अणुव्रत भी ग्रहण किये। अब एक अणुव्रती होने के नाते और दिल्ली अणुव्रत समिति के प्रधान तथा अखिल भारतीय अणुव्रत समिति के उपप्रधान होने के नाते आचार्यश्री से और निकट सम्पर्क हुआ। मैं जो अपने विचार लिख रहा हूँ, वह उनकी पूरी रूप-रेखा नहीं है; परन्तु इतना ही है, जितना कि मैं देख सकता था।

सिद्धान्त की अपेक्षा व्यक्ति से प्रभावित

मैं सिद्धान्त की अपेक्षा मनुष्य से अधिक प्रभावित होता हूं। जब मैं सन् १९२१ में कांग्रेस में आया तो गांधीजी के चरित्र से आकर्षित होकर; और अणुव्रत-आन्दोलन में आया तो आचार्यश्री तुलसी और उनके संतों से प्रभावित होकर। महाव्रती का जीवन बीसवीं शताब्दी में, बल्कि संवत् के हिसाब से इक्कीसवीं शताब्दी में बड़ा आश्चर्यजनक है। मनुष्य ने अपनी आवश्यकताएं बढ़ा ली हैं और आवश्यकताओं का बढ़ाना सभ्यता का चिह्न समझा जाने लगा है। एक ऐसे दौर में कोई व्यक्ति या उससे भी बढ़ कर कोई मण्डली अपनी आवश्यकताओं को इतना समेट ले कि उसके पास एक-दो कपड़े और पात्रों से अधिक कुछ न हो, यह बड़े आश्चर्य की बात है। और फिर ऐसे महाव्रतियों का अपना संगठन है, यह और भी आश्चर्य की बात है।

आचार्यश्री तुलसी एक संत ही नहीं, एक नेता भी हैं। संत नेता होना बहुत कठिन काम है। संत तो अपना ही

सुधार करते हैं और जो उनके सम्पर्क में आ जायें, तो कभी-कभी प्रभावित होकर उनका भी सुधार हो जाता है; परन्तु एक नेता तो सुधार का मिशन लेकर चलता है। आचार्यश्री तुलसी के पीछे साढ़े छः सौ संत और साध्वियाँ हैं और लाखों मनुष्य भी। इन साढ़े छः सौ महाव्रतियों को नियंत्रित रखना कोई साधारण काम नहीं। नेता की दृष्टि में तो वह सच्चा और पूर्ण नेता है जो सबकी कमजोरियों को भी, जो होती ही हैं, निबाह देता है। आचार्यश्री तुलसी को भी कई ऐसी कठिनाइयाँ पेश आती रहती हैं, जैसे महात्मा गांधी को आश्रम में पेश आती थीं। इसके विशेष वर्णन की आवश्यकता नहीं, केवल संकेत करना ही काफी है। परन्तु आचार्यश्री तुलसी में नेतृत्व का इतना बड़ा जौहर है कि मैंने उन्हें कभी अशान्त नहीं देखा। यह एक नेता का सबसे बड़ा गुण है और यह एक संत नेता में ही हो सकता है। इस समय आचार्यश्री तुलसी एक तो तेरापंथ-सम्प्रदाय के आचार्य हैं और दूसरे अणुव्रत-आन्दोलन के नेता। तेरापंथी सम्प्रदाय तो एक धार्मिक सम्प्रदाय है; परन्तु अणुव्रत-आन्दोलन एक नैतिक आन्दोलन है, जिसमें जैन ही नहीं, बल्कि न जाने कितने मुझ-जैसे अजैनी भी सम्मिलित हैं। यह कोई छिपी हुई बात नहीं कि जो लोग केवल जैनियों को अणुव्रतों का अधिकारी मानते हैं या अणुव्रत को केवल इसी रूप में मानते हैं कि वह महाव्रती के लिए प्राथमिक साधन है, वे आचार्यश्री तुलसी के अणुव्रत-आन्दोलन का विरोध भी करते हैं; परन्तु आचार्यश्री तुलसी ने न तो अपने स्तर से उतर कर कभी इन विरोधियों को उत्तर दिया है और न कभी उनसे प्रभावित होकर अपने आन्दोलन के काम को रोका है। यह भी एक सच्चे नेता की ही बात है।

विरोध की एक लम्बी कहानी

आचार्यश्री तुलसी के विरोध में क्या-क्या किया गया, क्या-क्या कहा गया, क्या-क्या लिखा गया, यह भी एक लम्बी कहानी है। कलकत्ते में सन् १९५९ के अधिवेशन में भी मुझे निमन्त्रित किया गया था। वहाँ मैंने भी इन विरोधों का कुछ रूप देखा। मैं कभी-कभी आवेश में भी आया, परन्तु आचार्यश्री मुस्कराते ही रहे। ये संत माइक्रोफोन पर नहीं बोलते, इसलिए बड़ी सभाओं में उनकी आवाज पहुँचने में अवश्य ही कठिनाई होती है; परन्तु आचार्यश्री तुलसी की आवाज बहुत तेज है। मैंने देखा कि कलकत्ते में उनके बोलते समय जोर-जोर से पटाखे छोड़े गए, ताकि सभा के काम में खलबली मचे; परन्तु आचार्यश्री न केवल स्वयं शान्त रहे, बल्कि उनमें इतना प्रभाव था कि उन्होंने सारे समूह को शान्त रखा। उस समूह में मुझ-जैसे लोग भी थे, जो जल्दी आवेश में आ जाते हैं; परन्तु यह उनका प्रभाव और आकर्षण था कि कोई आवेश में नहीं आया। उन्होंने अपने व्याख्यान में भी कहा कि जो मेरे भाई मेरे विरोधी हैं, वे मुझे अवसर दें कि वे मुझे समझा दें या मैं उनको समझा दूँ। इतने बड़े महान् नेता के लिए यह बात कहना उसकी महानता का परिचायक है। मैंने आचार्यश्री से जब-जब बातें की हैं तो मैंने यह देखा कि विरोधियों के प्रति उनमें जरा भी रोष नहीं। संसार के अन्य महान् व्यक्तियों की तरह वे विरोधियों को निपटाते तो हैं, परन्तु न उन्हें कोई हानि पहुँचाना चाहते हैं और न उनके स्तर पर उतर कर कोई जवाब देना चाहते हैं, यह बहुत बड़ी बात है।

जीवन में स्याद्वाद

दूसरी महानता जो मैंने आचार्यश्री में देखी, वह यह कि स्याद्वाद को उन्होंने अपने जीवन में पूर्ण रूप से ग्रहण कर लिया है। उनके दर्शकों में हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सभी वर्गों के और सभी जातियों के लोग होते हैं। यह भी स्पष्ट है कि जैन-धर्म जितना अहिंसा पर जोर देता है, अन्य सभी धर्म उतना जोर नहीं देते, परन्तु आचार्यश्री यह देख लेते है कि मेरे साथ कोई कितना चल सकता है और उससे उतनी ही आशा करते हैं। इससे संगठन में बहुत सहायता मिलती है। इन दिनों आचार्यश्री ने 'नया मोड़' आन्दोलन चलाया है। समाज-सुधार का काम वैसे ही बड़ा कठिन है, परन्तु मारवाड़ी समाज जितना पिछड़ा हुआ है, उसमें यह काम और भी कठिन है। पर्दे के विरोध में, दहेज के विरोध में, ब्याह-शादियों में अधिक धन खर्च करने और दिखावा करने के विरोध में, विधवाओं के तिरस्कार करने के विरोध में आचार्यश्री ने एक पिछड़े हुए समाज में जिस प्रकार आवाज उठाई, उससे कुछ लोग असंतुष्ट भी हैं। आचार्यश्री ने ऐसे हरिजनों के

यहाँ, जिनका खानपान शुद्ध है, अपने संतों को भिक्षा लेने को भी आज्ञा दे दी। इस पर भी उनका विरोध हुआ और जब ऐसी बातों में उनका विरोध होता है तो मुझे गांधीजी की याद आती है। महात्मा गांधी भी जीवन-पर्यन्त समाज को उठाने का प्रयत्न करते रहे और उनके विरोधी उन्हें बुरा-भला कहते रहे। आज जो लोग सच्चा धर्म नहीं चाहते, जो लकीर के फकीर बने रहना चाहते हैं, जो यह चाहते हैं कि साधु-संत उन्हें पिछली कथाएं सुनाते चले जायें और भविष्य के बारे में कुछ न कहें, क्रान्ति की बात न करें, ऐसे लोगों में आचार्यश्री के प्रति अश्रद्धा और अविश्वास होना प्राकृतिक ही है। परन्तु आचार्यश्री जिस मार्ग पर चल रहे हैं या जिस पर चलना चाहते हैं, उससे उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता।

कुशल वक्ता

कुशल वक्तृत्व का भी आचार्यश्री में एक विशिष्ट गुण है। एक तो उनकी आवाज ही बहुत ऊँची है, मधुर भी है और वह यह देख लेते हैं कि जिस जनता में मैं बोल रहा हूँ, वह कितना ग्रहण कर सकती है। बाज़ ऊँचे व्यक्तियों में यह दोष होता है कि वे कभी-कभी बिल्कुल बे-पढ़े-लिखे लोगों में दर्शन शास्त्रों का वर्णन करने लगते हैं। आचार्यश्री को इतना अनुभव हो गया है कि वह जिस जनता में बात करते हैं, ऐसी बात कहते हैं कि उसके हृदय में उतर जाये। यह बात और है कि वह जनता कहाँ तक उस उद्देश्य को क्रिया-रूप में परिणत कर सकती है।

हजारों मील पैदल चल कर लाखों मनुष्यों से सम्पर्क रखते हुए आचार्यश्री तुलसी को कब सोचने का और लिखने का समय मिलता है, यह भी आश्चर्य की बात है। सब-कुछ करते हुए भी वे मनन भी करते रहते हैं और लिखते भी रहते हैं। गद्य में भी लिखते हैं और पद्य में भी वे लिखते हैं। दोनों में मधुरता है, दोनों में सरसता है, दोनों में गम्भीरता है और दोनों में एक ऊँचे दर्जे का उद्देश्य है।

ऊँचे विचार कार्य-बुद्धि में विघ्न नहीं

आचार्यश्री तुलसी उस गुण के भी धनी हैं, जो महात्मा गांधी में था। ऊँची-ऊँची बातों का विचार करते हुए भी छोटी बातें उनकी आँखों से ओझल नहीं होतीं और वे कुशलतापूर्वक छोटे-छोटे मसलों को भी निपटाते रहते हैं। किस संत को कहाँ जाना है, किस गृहस्थी से बात करनी है, कार्यक्रम कैसे बनाना है, सभा में किस-किस का वर्णन करना है, किसको कहाँ बैठना है, कौन किस प्रकार बैठा है, कौन सुन रहा है, कौन बात कर रहा है, यह सब उनकी नजर में रहता है। उनके उच्च विचार, उनकी कार्य-बुद्धि में विघ्न नहीं डालते। मैंने अधिवेशनों में उनका यह गुण विशेष रूप से देखा है। छोटे-से-छोटा मनुष्य हो या देश का सबसे बड़ा व्यक्ति, या बाहर के देश से आया हुआ कोई विद्वान् या उच्च पदाधिकारी, उनसे मिल कर सबको सन्तोष होता है। हरिजन उनके कमरे में आते झिझकते थे, परन्तु उनके हौसला दिलाने से उन्हें चरण-स्पर्श का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

अणुव्रत-आन्दोलन की गति से आचार्यश्री तुलसी को नहीं जाँचना चाहिए। उसकी प्रगति यदि मन्द है तो उसके लिए हम जैसे अकर्मण्य लोग जिम्मेदार हैं।

पूरा सतगुरु क्या करै, जो सिखां में चूक।
अन्धा लोक न तेते रह्यो, कहै कबीरा कूक॥

आज जबकि आचार्यश्री तुलसी का धवल-समारोह मनाया जा रहा है, मैं नम्रतापूर्वक उनके चरणों में अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करता हूँ।

आधुनिक भारत के सुकरात

महर्षि विनोद, एम० ए०, पी-एच० डी०, न्यायरत्न, दर्शनालंकार

प्रतिनिधि विश्व शान्ति आन्दोलन, टोकियो (जापान) सदस्य, रायल सोसाइटी आफ आर्टस्, लन्दन

तपस्या सर्वश्रेष्ठ गुण है

—पौरुषिस्त (तैत्तरीय उपनिषद्, १-६)

आचार्य तुलसी एक अर्थ में आधुनिक भारत के सुकरात हैं। वह एक पारंगत तर्कविद् हैं, किन्तु उनकी मुख्य शिक्षा यह है कि सत्य केवल वाद-विवाद का विषय नहीं, प्रत्युत आचार का विषय है। एक शताब्दी से अधिक की अंग्रेजी शिक्षा ने भारतीय मानस को तर्कप्रधान बना दिया है। महात्मा गांधी और पं० मदनमोहन मालवीय, डा० राधाकृष्णन् ने इस बुराई का प्रकटतः बहुत कुछ निवारण किया है। आचार्य तुलसी ने भारत में मिथ्या तर्कवाद की बुराई को दूर करने के लिए एक नया ही मार्ग अपनाया है। उनका आग्रह है कि मनुष्य को नैतिक अनुशासनों का पालन करके सत्यमय और ईश्वरपरायण जीवन बिताना चाहिए।

छोटा आकार, विशाल परिणाम

इन दिनों हम घटनाओं और वस्तुओं की विशालता से प्रभावित होते हैं और उनके आन्तरिक महत्त्व की उपेक्षा करते हैं। फ्रांसीसी गणितज्ञ पोयंकेर ने कहा है कि एक चींटी पहाड़ से भी बड़ी होती है। पहाड़ की एक छोटी-सी चट्टान लाखों चींटियों को मार सकती है, किन्तु पहाड़ को यह पता नहीं चलता कि उसे स्वयं को अथवा चींटियों को क्या हुआ। इसके विपरीत हर चींटी को पीड़ा और मृत्यु का अर्थ विदित होता है। आचार्य तुलसी की अणुव्रत-विचारधारा नैतिक अनुशासन का महत्त्व प्रकट करती है। यह अनुशासन आकार में छोटे होते हुए भी परिणाम की दृष्टि से बहुत विशाल है।

अपने प्रारम्भिक जीवन में आचार्य तुलसी ने अत्यन्त कड़े अनुशासन का पालन किया। वे यह मानते थे कि कठोर तपस्या के द्वारा ही मनुष्य इस संसार में नया जीवन प्राप्त कर सकता है। नये जीवन का यह पुरस्कार प्रत्येक व्यक्ति अपने ही प्रयत्नों से प्राप्त कर सकता है। नया जीवन अपने आप नहीं मिलता। उसे प्राप्त करना होता है। आचार्य तुलसी के कथनानुसार प्रत्येक व्यक्ति को अपना लक्ष्य निर्धारित करना चाहिए। भारत जैसे देश में ही आचार्य तुलसी जैसे महापुरुष जन्म ले सकते हैं। तपस्या के द्वारा नया जीवन प्राप्त करने के लिए भारतीय पूर्वजों का उदाहरण और भारतीय सांस्कृतिक सम्पदा अत्यन्त मूल्यवान् थाती है।

मैं आचार्य तुलसी से मिला हूँ। मैंने अनुभव किया कि वे ईश्वरीय पुरुष है और उन्होंने ईश्वर का सन्देश फैलाने और उसका कार्य पूरा करने के लिए ही जन्म धारण किया है। वे न भूत काल में रहते हैं, न भविष्य काल में। वे तो नित्य वर्तमान में रहते हैं। उनका सन्देश सब युगों के लिए और सारी मानव जाति के लिए है।

ईश्वर द्वारा मनुष्य की खोज

अज्ञान काल से मनुष्य का आन्तरिक विकास केवल एक सत्य के आधार पर हुआ है। वह सत्य है—मानव की ईश्वर की खोज। इस बात को हम बिल्कुल दूसरी तरह से भी कह सकते हैं कि ईश्वर भी मनुष्य की खोज कर रहा है ईश्वर को मनुष्य की खोज उतनी ही प्रिय है जितना कि मनुष्य ईश्वर की खोज करने के लिए उत्सुक है। एक बार यदि

हम यह समझ लें कि ईश्वर और मनुष्य दो पृथक् सिद्धान्त नहीं हैं, पूर्ण मनुष्य ही स्वयं ईश्वर होता है तो दुनिया के सभी धर्म आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के भिन्न-भिन्न मार्ग प्रतीत होंगे। जब मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करता है तो वह केवल अपनी सर्वश्रेष्ठ आत्मा का ही साक्षात्कार करता है।

आचार्य तुलसी के सन्देश का आज के मानव के लिए यही आशय है कि वह स्वयं अपने लिए अपनी अन्तरात्मा के अन्तिम सत्य का पता लगाये। यही देवत्व का सिद्धान्त है। उन्होंने स्वयं पूर्ण दर्शन की स्थापना की है, जिसके द्वारा मनुष्य आत्म-ज्ञान के अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त कर सकते हैं। अणुव्रत उनके व्यावहारिक दर्शन का नाम है और वह आज के अणु-युग के सर्वथा उपयुक्त है।

अणु शब्द का अर्थ होता है—छोटा और व्रत शब्द का अर्थ है—स्वयं स्वीकृत अनुशासन। जैमिनी के अनुसार व्रत एक मनो व्यापार है, बाह्य कर्म नहीं। अणु भौतिक पदार्थ का सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग होता है। आधुनिक विज्ञान ने यह सिद्ध कर दिया है कि एक भौतिक अणु में अनन्त शक्ति छिपी हुई है।

त्रिसूत्री उपाय

आचार्य तुलसी ने इस वैज्ञानिक सत्य का मनुष्य के नैतिक और आध्यात्मिक प्रयास के क्षेत्र में प्रयोग किया है। उन्होंने यह पता लगाया है कि छोटे-से-छोटा स्वयं स्वीकृत अनुशासन मनुष्य की हीन प्रकृति को आमूल बदल सकता है। मनुष्य की आन्तरिक प्रकृति को परिष्कृत करने के लिए दिखाऊ त्याग करने अथवा भक्तिपूर्ण कार्यों का प्रदर्शन करने की आवश्यकता नहीं होती। यह उपाय त्रिसूत्री है : १. गहरी व्याकुलता, २. असंदिग्ध संकल्प और ३. एकान्त निष्ठा।

पहले हममें आत्म-विकास की गहरी व्याकुलता उत्पन्न होनी चाहिए। हम बाहरी वस्तुओं और वातावरण में बहुत अधिक व्यस्त रहते हैं। हमको अपनी अन्तरात्मा की नवीन विशालता को पहचानना चाहिए। फ्रांसीसी यथार्थवादी लेखक सरतरे ने इस व्याकुलता को ही वेदना का नाम दिया है। व्याकुलता की यह भावना इतनी तीव्र होनी चाहिए कि हर क्षण बेचैनी और व्यग्रता अनुभव हो।

दूसरे आध्यात्मिक प्रगति के लिए स्पष्ट सुनिश्चित संकल्प अत्यन्त आवश्यक है। इन दिनों किनारे पर रहने का फैशन चल पड़ा है। लोग कहते हैं, हम न इस तरफ हैं, न उस तरफ। राजनीति में यह उचित हो सकता है, किन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में तटस्थता का अर्थ जड़ता होता है। तटस्थता की भावना भय का चिह्न होती है। यदि हममें श्रद्धा है और यदि हम भय से प्रेरित नहीं हैं तो स्पष्ट संकल्प करना कुछ भी कठिन नहीं हो सकता।

तीसरे एकान्त निष्ठा का अर्थ है—सम्पूर्ण आत्म समर्पण की पावन क्रिया। विभक्त आत्मा उस जीवन में कुछ भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। अनिश्चय हमारे समय का अभिशाप है। प्रायः सारी दुनिया में शिक्षा प्रणालियाँ इस आन्तरिक विघटन की बुराई का पोषण कर रही हैं। एमर्सन ने बहुत समय पूर्व इस बुराई के विरुद्ध हमें चेताया था। आत्म-समर्पण की भावना हमको आन्तरिक अनुशासन का जीवन विताने में समर्थ बनायेगी।

इस शताब्दी के शान्ति-दूत

आधुनिक जीवन दिखावटी हो गया है। उसमें कोई गंभीरता, कोई सार व कोई अर्थ नहीं है। मनुष्य सम्पूर्ण आत्म-घात के किनारे पहुँच गया है। मनुष्य यदि आचार्य तुलसी के आत्मानुशासन के मार्ग का अनुसरण करे तो वह अपने को आत्म-नाश से बचा सकता है। अणुव्रत की विचारधारा मनुष्य को अपने आन्तरिक शत्रुओं से लड़ने के लिए अत्यन्त शक्तिशाली अस्त्र प्रदान करती है। अल्प अनुशासन आध्यात्मिक शक्ति का विशाल भण्डार सुलभ कर सकता है। आचार्य तुलसी अपने अणुव्रत के अस्त्र के साथ इस शताब्दी के शान्ति के दूत हैं। हम अणुव्रतों का व्याकुलता, दृढ संकल्प और निष्ठापूर्वक पालन करके उनके दैवी पथ-प्रदर्शन के अधिकारी बनें।

सव सम्मत समाधान

भारतरत्न, महर्षि डी० के० कर्वे

स्पूतनिक के इस युग में हम विज्ञान द्वारा प्राप्त महान सफलताओं और प्रकृति पर मानव के प्रभुत्व की बात सुनते हैं। किन्तु साथ ही हम नई खोजों की बुराइयों से भयभीत हैं, जो मानव जीवन का ही अस्तित्व समाप्त कर सकती हैं। अराजकता की इस स्थिति में आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में दुनिया की सब बुराइयों का एक समाधान प्रस्तुत करते हैं, जो सर्वसम्मत है। वह है—आत्म-शुद्धि का वह प्राचीन सन्मार्ग जो मनुष्य के जीवन को सुखद बना सकता है।

चारित्र और चातुर्य

श्री नरहरि विष्णु गाडगिल

राज्यपाल, चण्डीगढ़

गीता के अनुसार जब धर्म का क्षय होता है और अधर्म की अवस्था बढ़ती है, तब-तब भगवान् अवतार लेते हैं और अधर्म को समाप्त करके धर्म संस्थापन का कार्य करते हैं। सर्व समर्थ ईश्वर निराकार होने की वजह से अवतार-कार्य व्यक्ति के द्वारा किया जाता है। आधुनिक भाषा में यदि हम इसी अर्थ को करें, अब कोई बड़े महात्मा या युगपुरुष बार-बार नहीं होते। समाज के मार्ग-दर्शन का कार्य नई-नई विचारधाराओं द्वारा किया जाता है। मैं तो यह समझता हूँ कि नवीन दृष्टि समाज के परिवर्तन में अवश्य हो जाती है और वह दृष्टि रखने वाले जो सज्जन होते हैं, वे प्रधान विभूति माने जाते हैं। विद्यमान दुनिया में असन्तोष और अशान्ति इतनी फैली हुई है कि कल क्या होगा, कोई कह नहीं सकता। न जाने जानकीनाथ प्रभाते किं भविष्यति। अणु से ब्रह्माण्ड का नाश करने का षड्यंत्र रचा जा रहा है। वैर से वैर का नाश करने का प्रयत्न किया जा रहा है। परिणाम यह नजर आ रहा है कि वैर बढ़ता जा रहा है और असन्तोष की एक चिनगारी का स्वरूप महान् ज्वालामुखी में परिवर्तित हो रहा है। शान्ति तो नजर ही नहीं आती और अगर मूर्खता से या अविवेकी साहस से कोई एक कदम उठाया जाये तो जगत का नाश अनिवार्य है। इसीलिए आज शान्ति का और सच्चरित्र का सन्देश आवश्यक है और यही काम आचार्यश्री तुलसी वर्षों से कर रहे हैं। अणु का मुकाबला अणुव्रत से किया जा रहा है। एक-एक व्यक्ति अपने जीवन में साधु आचार करे तो समाज का जीवन स्थिर नैतिक दृष्टि से बढ़ता ही जायेगा। आज आवश्यकता है, चरित्र की, चातुर्य की नहीं। आज आवश्यकता है, सम्यक् आचार की, समलंकृत वाणी की नहीं; कार्य की आवश्यकता है, विवरण की नहीं और यही मार्ग-दर्शन आज आचार्यश्री तुलसी कर रहे हैं। उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पण कर रहा हूँ। वे अपने कार्य में सफल हों और उनके द्वारा देश के चरित्र की संस्थापना हो, यही मेरी प्रार्थना है।
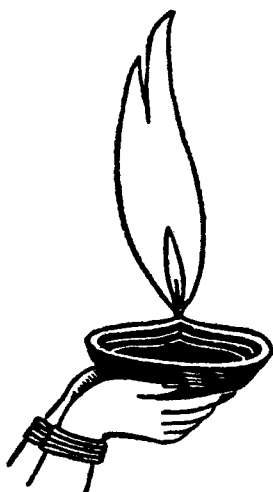
सत्य का पवित्र बन्धन

श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य
महामहिम श्री रघुवल्लभ तीर्थस्वामी
श्री पालिमार मठाधीश, उडीपी

आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन अत्यन्त प्रशंसनाय है और सही रास्ते पर चलने में सहायता प्रदान करता है।

सहअस्तित्व के लिए यह आन्दोलन निश्चित ही बहुत सहायक होगा, अतः समस्त मानव जाति सत्य के इस पवित्र बन्धन के प्रकाश से आबद्ध होगी, ऐसी हम कामना करते हैं।

समाज-कल्याण के लिए

श्री विद्यारत्न तीर्थ श्रीपादाः
श्री माध्वाचार्य संस्थानम् श्री कृष्णापुर मठ, उडीपी

भौतिकवाद के इस युग में जब कि जनसाधारण का जीवन नैतिक ह्रास और नैतिक पतन की ओर जा रहा है, यह सर्वथा उपयुक्त है कि उस पतन को रोका जाये और लोगों के सम्मुख नैतिक महानता के समृद्ध आदर्शों को प्रस्तुत किया जाये, जिनके लिए कि देश के महान् आचार्यों ने अपने जीवन काल में कठोर परिश्रम किया और उनके बाद उनके द्वारा स्थापित मठ यही काम कर रहे हैं। तुलसी धवल समारोह समिति निस्संदेह अभिनन्दन की पात्र है, जो तेरापंथ के आचार्यश्री तुलसी की एकचतुर्थ शताब्दी की उपलब्धियों का विवरण प्रस्तुत कर रही है। इस अभिनन्दन ग्रन्थ का व्यापक प्रसार होना चाहिए और उससे देश के नास्तिकों और भ्रमित नवयुवकों की आँखें खुल जानी चाहिए कि इस देश के विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं, संतों और संन्यासियों ने कितनी महान् सफलताएं प्राप्त की हैं। हम भगवान् कृष्ण से प्रार्थना करते हैं कि इस लौकिकता के और राजनीतिक नेताओं की लम्बी-चौड़ी बातों के आवरण में जन-साधारण की, पवित्र हिन्दुओं की मौलिक आकांक्षाएं डूबने न पायें। तुलसी धवल समारोह समिति के प्रयास की सफलता की कामना करते हुए हम एक बार पुनः प्रार्थना करते है कि आचार्यश्री तुलसी और उनके जैसे संत समाज के कल्याण के लिए दीर्घजीवी हों।
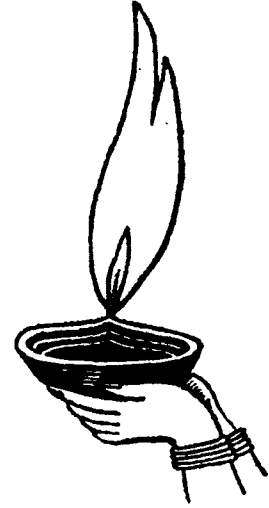
भारत का प्रमुख अंग

श्री गुलजारीलाल नन्दा
श्रम मन्त्री, भारत सरकार

मुझे यह जान कर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के सार्वजनिक सेवाकाल के पच्चीस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष में उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है। अध्यात्मवाद ह भारत का प्रमुख अंग है। इसे विना अपनाये हम अपने चरित्र को ऊँचा नहीं उठा सकते। इस दिशा में आचार्यश्री तुलसी ने जो कार्य किया है, वह स्तुत्य एवं स्पृहणीय है। ऐसे विद्वानों का अभिनन्दन करने से सर्वसाधारण में स्फूर्ति आती है और उनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति जागृत होती है। अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता के लिए मेरी शुभकामनाएं।

पुरातन संस्कृति की रक्षा

श्री श्रीप्रकाश
राज्यपाल, महाराष्ट्र

आचार्यश्री तुलसी से मेरा प्रथम परिचय आज से करीब पन्द्रह-सोलह वर्ष पूर्व बीकानेर के चुरू नामक स्थान में हुआ था। तब से उनसे और उनके समुदाय से मेरा सम्पर्क बना रहा और कई बार मुझे उनसे मिलने और उनका प्रवचन सुनने का सुअवसर मिला। इससे मैंने बहुत आनन्द का अनुभव किया।

मुझे यह देख कर भी बहुत सन्तोष हुआ कि उनके अनुयायी बहुत ही उत्साही स्त्री-पुरुष हैं जो कि उनके विचारों का सक्रिय प्रचार करते हैं। उनके द्वारा जन-साधारण की सेवा होती है और जनता को धार्मिक मार्ग पर चलने की प्रेरणा मिलती है। अपने देश में धर्म का सदा से ही प्रबल प्रभाव रहा है। आधुनिक विचार शैलियों के कारण इस ओर से कुछ लोग उदासीन होने लगे हैं। ऐसी अवस्था में उनको पुनः इस ओर ध्यान दिलाते रहना उचित है; क्योंकि इसी में हमारा कल्याण भी है और अपनी पुरातन संस्कृति की रक्षा भी है।

मेरी शुभ कामना है कि आचार्यश्री तुलसी हमारे बीच में बहुत दिनों तक रह कर हमारा पथ-प्रदर्शन करते रहें और इनके जीवन और वचन से अधिकाधिक नर-नारी दिन-प्रतिदिन प्रभावित होते रहें। अपनी शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति करते रहें और व्यक्तिगत मानमर्यादा बनाये हुए देश और समाज की सेवा भी उनके द्वारा होती रहे।

राष्ट्रोत्थान में सक्रिय सहयोग

श्री जगजीवनराम

रेल मन्त्री, भारत सरकार

आत्मोत्थान और नैतिक चारित्र्य-निर्माण अन्योन्याश्रित हैं। एक को छोड़ दूसरा सम्भव नहीं। धर्माचार्य दोनों का मार्ग-दर्शन करने में अधिक समर्थ होते हैं। ऐसे आचार्यों में ही आचार्यश्री तुलसी का स्थान है।

आचार्यश्री ने अपने गत पच्चीस वर्षों के आचार्यत्व एवं सार्वजनिक सेवा-काल में राष्ट्र के आध्यात्मिक व नैतिक उत्थान में सक्रिय सहयोग दिया है। अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में आपकी सेवाएं सराहनीय हैं। इस उपलक्ष में उनका अभिनन्दन करना अपने दायित्व को निभाना ही है। आचार्यश्री के सन्देशों व उपदेशों का समावेश करके ग्रन्थ को स्थायी महत्त्व की वस्तु बनाने का प्रयत्न किया जायेगा, इस आशा के साथ मैं अपनी शुभकामना प्रेषित करता हूँ।

विश्व-मैत्री का राज-माग

श्री यशवन्त राव चह्वाण

मुख्यमंत्री, महाराष्ट्र

सितम्बर मास के अन्त की बात है, राष्ट्रीय एकता सम्मेलन में भाग लेने मैं दिल्ली पहुँचा हुआ था। अकस्मात् आचार्यश्री तुलसी के अनुयायी मुनि (मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम') से साक्षात्कार हुआ। उन्होंने आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह का ब्यौरा मुझे बताया। वर्षों की सुषुप्त स्मृतियाँ मेरी आँखों के सामने आ गई। आचार्यश्री बम्बई आये थे। लगभग ८ महीने तक अणुव्रतआन्दोलन का प्रभावशाली कार्यक्रम चला था। मैं अनेकों बार उस समय आचार्यश्री के सम्पर्क में आया। उनका व्यक्तित्व अविस्मरणीय है।

प्रत्येक मनुष्य शान्ति चाहता है, पर वह शान्ति व सुख के मार्ग पर चलता नहीं। यही तो कारण है कि आज भीषणतम आणविक अस्त्रों के परीक्षण चल रहे हैं। मनुष्य सत्ता-लोलुप होकर संस्कृति और सभ्यता के साथ खिलवाड़ कर रहा है। यह आध्यात्मिक शून्य भौतिक प्रगति का परिणाम है। आचार्यश्री जैसे लोग आध्यात्मिकता के उन्नयन में लगे हैं। यह चिर शान्ति का मार्ग है, मानवता के विकास का मार्ग है। मनुष्य हैवान रहते हुए चन्द्रलोक में भी यदि पहुँच गया तो वहाँ भी उसे आत्मिक शान्ति के अभाव में धधकते अंगारे ही मिलेंगे। अणुव्रत-आन्दोलन विश्वबन्धुता और विश्वमैत्री का राजमार्ग है। आचार्यश्री भूले-भटके लोगों को राह लगा रहे हैं। उनके प्रति मेरे हृदय में अगाध श्रद्धा और असीम सम्मान है।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व

श्री हरिविनायक पाटस्कर
राज्यपाल, मध्यप्रदेश

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी के आचार्यकाल व सार्वजनिक सेवाकाल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के उपलक्ष में उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर श्रद्धांजलि अर्पित की जा रही है। आचार्यजी का व्यक्तित्व तथा दर्शन, साहित्य आदि क्षेत्रों के श्रेष्ठत्व के सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते। मैं इस महान् प्रयास की सराहना करता हुआ अभिनन्दन ग्रन्थ के लिए हार्दिक शुभ कामनाएं भेजता हूँ।

मणि-कांचन-योग

डा० कैलाशनाथ काटजू
मुख्य मंत्री, मध्यप्रदेश

मुझे यह जान कर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को उनके सार्वजनिक सेवा के गौरवशाली पच्चीस वर्ष पूरे होने पर अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है। अभिनन्दन ग्रन्थ वास्तव में हम सबकी उनके प्रति बनी हुई सम्मान-भावना का प्रतीक है। पिछले वर्षों में देश के सभी क्षेत्रों में पैदल भ्रमण कर आपने राष्ट्र के नैतिक एवं चारित्रिक पुनरुत्थान का जो महान् कार्य हाथ में लिया है, वह हमारे पूज्य भारतीय सन्तों की उज्ज्वल परम्परा के अनुरूप ही है। इतिहास जानता है कि इस विशाल देश के सभी क्षेत्रों को एकता के पावन सूत्र में बाँधने के लिए कितने महापुरुषों तथा सन्तों ने सारे देश का अनेक कठिनाइयों और बाधाओं के बावजूद भी भ्रमण किया है। आचार्यश्री तुलसी उसी परम्मपरा की नई कड़ी हैं, जो देश में नैतिक जागरण के लिए अपना सारा जीवन दे रहे हैं। सेवा की पवित्र भावना के साथ आचार्यश्री तुलसी में अध्ययन की जो गहराई है, वह मणि में कांचन-योग के समान है। इस अवसर पर मैं कामना करता हूँ कि आचार्यश्री तुलसी के सेवामय जीवन की आयु बहुत बड़ी हो और उन्हें अपने कार्यों में सफलता प्राप्त हो।

आध्यात्मिक स्वतन्त्रता का आन्दोलन

श्री सुज्ञानेन्द्र तीर्थ श्रीपादाः
श्री पुत्तगी मठ, उडीपी

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन ऐसे समय पर किया है जबकि भारत अपनी लुप्त आध्यात्मिक स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने में लगा है। आचार्यश्री ने भारत में सर्वत्र अपने अनुयायियों को भेज कर इस आन्दोलन के रूप में एक सन्देश दिया है।

अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन से हमें सचमुच ही प्रसन्नता होती है।

सभी लोग आचार्यश्री तुलसी के इस आन्दोलन में अपना सहयोग दें और वे अपने पूरे प्रयत्न के साथ इस आन्दोलन को चलाते रहें, ऐसी हमारी शुभ-कामना है।

पंच महाव्रत और अणुव्रत

स्वामी नारदानन्दजी सरस्वती, नेमिषारण्य

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः। सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफला-श्रयत्वम्। अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्। ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः॥

—योग दर्शन

राजनीति व राष्ट्रीय संस्थाएं इनको पंचशील कहती हैं। महर्षि पतंजलि उप-रोक्त पाँचों को पंच महाव्रत कहते हैं। सार्वभौम एकता के लिए शास्त्रीय पद्धति से इनके पालन द्वारा विश्व अपना चारित्रिक निर्माण कर सर्वप्रकारेण सुखी हो सकता है। जातिदेशकालसमयानवछिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्, महर्षिपतंजलि ने इनको पंच महाव्रत बताया है।

आचार्यश्री तुलसी ने इन्हीं व्रतों की एक सुगम विधि उपस्थित करते हुए सरलता के अर्थों में इनको पंच अणुव्रत के नाम से प्रचारित करके जनता को चरित्र की शिक्षा दी और समाज का विशेष कल्याण किया है। ईश्वर के भजन करने वालों को, शास्त्र पर चलने वालों को इन नियमों से बड़ी सहायता मिलती है। वेद सिद्धान्त के मानने वाले आज भौतिकवाद की ज्वाला से जलते हुए समाज को बचाने के लिए इन नियमों में मिल कर विश्व शान्ति करने में सफल हो सकेंगे।

हम वैदिक धर्म को मानने वाले भी आचार्य जी के दया, सत्य, त्याग, तपस्या से प्रभावित हुए। भौतिकवाद की कठोरता से पीड़ित जनता को इन नियमों से शान्ति मिलेगी।

भारत को महत्तर राष्ट्र बनाने वाला आन्दोलन

डा० बलभद्रप्रसाद, डी० एस-सी, एफ० एन० आई०
उपकुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

देश में बहुत से व्यक्ति ऐसे होते हैं जो राष्ट्र के समक्ष उपस्थित समस्याओं को जान लेते हैं; किन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत थोड़े ही होते हैं, जो समस्याओं का सामना करते हैं और उनके समाधान के लिए प्रयत्न करते है। आचार्यश्री तुलसी एक ऐसे ही महापुरुष हैं। उन्होंने अनुभव किया कि राष्ट्र की नैतिक भित्ति उसके साधारण विकास के लिए भी सुदृढ़ नहीं है, अतः उन्होंने राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण एवं विकास के आवश्यक कार्य में अपना जीवन झोंक दिया है। इस कार्य को करते हुए वे अनेक प्रकार की दुविधाओं का सामना करते हैं। समाज सेवा और नैतिक उत्थान के कार्य में मिली हुई सफलता का अंकन अत्यन्त ही कठिन हुआ करता है। बहुधा ऐसा होता है कि वर्षों पश्चात् इनका परिणाम दिखाई पड़ता है। मुझे इस बात में तो सन्देह ही नहीं है कि पूज्य आचार्यश्री तुलसी ने जो कार्य किया है, उसका फल अवश्य मिलेगा और यह भारत को महत्तर राष्ट्र बनाने में सहायक भी होगा। आचार्यश्री तुलसी अपने इस कार्य के लिए अभिनन्दन के पात्र हैं और ग्रन्थ के सम्पादकों को भी मेरी बधाई है कि वे आचार्यश्री के कार्य का ग्रन्थ रूप में सम्पादित कर रहे हैं। आचार्यश्री तुलसी को मैं अपनी शुभकामना और वन्दन प्रेषित कर रहा हूँ।

महान् व्यक्तित्व

डा० वाल्थर शुब्रिंग एम० ए०, पी-एच० डी०
हेम्बुर्ग विश्वविद्यालय

आचार्यश्री तुलसी के धवल समारोह का समाचार मिला। अनेक धन्यवाद। मुझे आचार्यश्री की गत पच्चीस वर्ष की निःस्वार्थ, नैतिक और सामाजिक सफलताओं और उनके महान् व्यक्तित्व के प्रति अपनी श्रद्धांजलि भेंट करते हुए परम प्रसन्नता हो रही है और इस कार्य में मैं उनके प्रशंसकों और अनुयायियों के साथ हूँ। मेरी हार्दिक कामना है कि तेरापंथ सम्प्रदाय के पूज्य आचार्य और अणुव्रत आन्दोलन के प्रणेता अपने उद्देश्य में और अधिक सफल हों। मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि स्विट्जरलैण्ड में नैतिक उत्थान का एक आन्दोलन चल रहा है, जिसे इण्टर नेशनल कौक्स मुवमेन्ट (International Caux Movement) कहते हैं। मैं इसे पश्चिम में अणुव्रतआन्दोलन की ही प्रतिच्छाया समझता हूँ। मैं अभिनन्दन ग्रन्थ व धवल समारोह की सफलता के लिए शुभकामनाएं प्रेषित करता हूँ।

अपने आप में एक संस्था

एच० एच० श्री विश्वेश्वरतीर्थ स्वामी
श्री पेजावर मठाधीश, उडीपी

आचार्यश्री तुलसी अपने आप में एक संस्था हैं और प्राचीन काल के ऋषियों द्वारा प्रदत्त हमारी सभ्यता के सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ तथा अत्यधिक प्रकाशमान पहलुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। आध्यात्मिक श्रेष्ठता की अगम्य गहराइयों में पैठ कर मोती निकालने का जो काम वे कर रहे हैं, वह लौकिक मस्तिष्क की पहुंच के परे की बात है।

निराशा से पीड़ित जो विश्व घृणा, अविश्वास तथा छल के कगार पर है, उसमें आचार्यश्री तुलसी प्रकाशस्तम्भ हैं। वे सद्भावना एवं पारस्परिक विकास पर आधारित दया और क्षमा के सर्वोत्तम गुणों का प्रसार कर इस समय विद्यमान घोर अन्धकार में सुन्दर मार्ग-दर्शन कर रहे हैं।

उनके अणुव्रत-आन्दोलन में उन्हीं ऊँचे आदर्शों का समावेश है, जो उनके अपने जीवन में फलीभूत हुए हैं। अतएव मनुष्य के रोगग्रस्त मस्तिष्क में सन्तुलन तथा उसके कार्यों में विवेक लाने के लिए उनसे बहुत सहयोग मिलना चाहिए।

प्रेरणादायक आचार्यत्व

श्री एन० लक्ष्मीनारायण शास्त्री,
निजी सचिव, जगद्गुरु शंकराचार्य,
जगद्गुरु महासंस्थानं, शारदा पीठ,
शृंगेरी (मैसूर राज्य)

आचार्यश्री तुलसी ने अपना जीवन जन-कल्याण और उनके नैतिक उत्थान के लिए समर्पित कर दिया है। शृंगेरी शारदा पीठ मठ के जगद्गुरु शंकराचार्य महास्वामीजी ने इस बात पर प्रसन्नता व्यक्त की है कि आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति ने आचार्यश्री तुलसी के प्रेरणा-काल के पच्चीस वर्ष पूरे होने पर समारोह करने तथा तुलसी अभिनन्दन ग्रंथ निकालने का निश्चय किया है।

इस समारोह की सुखद एवं सफलतापूर्ण समाप्ति के लिए जगद्गुरु अपनी शुभकामना भेजते हैं और भगवान् चन्द्रमौलेश्वर तथा श्री शारदम्बा से प्रार्थना करते हैं कि आचार्यश्री तुलसी दीर्घजीवी होकर दीर्घकाल तक मानव जाति के कल्याणार्थ कार्य करते रहेंगे।

श्रीकृष्ण के आश्वासन की पूर्ति

श्री टी० एन० वेंकट रमण
अध्यक्ष, श्री रमण आश्रम

भारतवासी कितने सौभाग्यशाली हैं कि आचार्यश्री तुलसी ने जीवन के नैतिक व आध्यात्मिक अभिसिंचन के लिए देश में अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया है।

भारत वैदिक और उपनिषदीय गाथाओं का देश है, किन्तु उसे राजनैतिक पराधीनता से मुक्त होने के पश्चात् अब इस अणुव्रत-आन्दोलन की आवश्यकता है। देश ने यह स्वतन्त्रता अहिंसा के अस्त्र द्वारा प्राप्त की और इस अस्त्र का प्रयोग करने वाले महात्मा गांधी थे। गांधीजी सत्य को ही ईश्वर मानते थे और जीवन में उनका एक-मात्र ध्येय सत्य की नौका खेना था और उनकी एक-मात्र इच्छा थी कि असत्य पर सत्य की जय हो।

आध्यात्मिक परम्पराओं का धनी

देश को स्वतन्त्र हुए चौदह वर्ष हो गये। इस अवधि में देश का राजनैतिक एकीकरण हुआ और राष्ट्र निर्माण की बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियाँ शुरू हुई। इसका प्रकट प्रमाण है—औद्योगिक क्रान्ति और सामाजिक पुनर्गठन। समे हमारा राष्ट्र क्रमशः बलवान् होगा और अन्य पूर्वी और पाश्चात्य देशों के साथ-साथ विश्व-कल्याण के लिए नेतृत्व कर सकेगा। पश्चिमी देश भारत के इस नेतृत्व को स्वीकार करने के लिए उद्यत हैं। केवल इसलिए नहीं कि राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की कीर्ति चारों ओर फैल गई है, प्रत्युत इसलिए भी कि भारत अत्यन्त प्राचीन आध्यात्मिक परम्पराओं का धनी है। किन्तु यदि हमारे राष्ट्र को दूसरे देशों को आध्यात्मिक मूल्य सुलभ करने की आकांक्षा की पूर्ति करना हो तो उसे आत्म-निरीक्षण करना होगा। इस आत्म-निरीक्षण की अत्यन्त आवश्यकता है। क्योंकि नैतिक पतन का संकट भी इस समय राष्ट्र पर मँडरा रहा है, चारित्रिक और आध्यात्मिक मूल्यों को भुला देने की बात तो दूर रही, वेदों, उपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों और भगवद्‌गीता के होते हुए, महात्मा गांधी की महान् नैतिक और आध्यात्मिक शक्ति के उठ जाने के पश्चात् भारतीय सामूहिक रूप में पतन की ओर अग्रसर हो रहे हैं और अपने समस्त उच्च आदर्शों को भुलाते जा रहे हैं। इसलिए अणुव्रत जैसे आन्दोलन की अत्यन्त आवश्यकता है। राष्ट्र को आचार्यश्री तुलसी और उनके सैकड़ों साधु-साध्वियों के दल के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए जो इस आन्दोलन को चला रहे है।

हमें यह देखकर बड़ा सन्तोष होता है कि इस आन्दोलन का आरम्भ हुए यद्यपि दस-बारह वर्ष ही हुए हैं, किन्तु वह इतना शक्तिशाली हो गया है कि हमारे राष्ट्र के जीवन में एक महान् नैतिक शक्ति बन गया है। हम इस आन्दोलन को भगवान् श्रीकृष्ण के आश्वासन की पूर्ति मानते हैं। उन्होंने भगवद्‌गीता के चौथे अध्याय के आठवें श्लोक में कहा है कि धर्म की रक्षा करना उनका मुख्य कार्य है और वह स्वयं समय-समय पर नाना रूपों में अवतार धारण करते हैं।

साधन चतुष्टय की प्राप्ति में सहयोगी

हमारे देश के नवयुवक हमारे संतों और महात्माओं के जीवन चरित्रों और धर्म-शास्त्रों का अध्ययन करके इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शाश्वत सुख जैसी कोई वस्तु है और उसे इसी लोक और जीवन में प्राप्त किया जाना चाहिए। हमारे धर्मशास्त्र कहते हैं—'तुम अनुभव करो अथवा नहीं, तुम आत्मा हो।' उसका साक्षात्कार करने में जितना बड़ा लाभ है,

उतनी ही बड़ी हानि उसे प्राप्त न करने में है। इसलिए वे आत्म-साक्षात्कार करने के लिए प्रवृत्त होते हैं। यह आत्मा है क्या और उसे कैसे प्राप्त किया जाए? यही उनकी समस्या बन जाती है। वे आत्म-ज्ञान का फल तो चाहते हैं, किन्तु उसका मूल्य नहीं चुकाना चाहते। वे साधन चतुष्टय (साधना के चार प्रकार) की उपेक्षा करते हैं, जिसके द्वारा ही आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन साधन चतुष्टय की प्राप्ति में बड़ा सहायक होगा और आत्म-साक्षात्कार का मार्ग प्रशस्त करेगा।

आत्म-साक्षात्कार जीवन का मूल लक्ष्य है; जैसा कि श्री शंकराचार्य ने कहा है और जैसा कि हम भगवान् श्री रमण महर्षि के जीवन में देखते हैं। भगवान् श्री रमण ने अपने जीवन में और उसके द्वारा यह बताया है कि आत्मा का वास्तविक आनन्द देहात्म-भाव का परित्याग करने से ही मिल सकता है। यह विचार छूटना चाहिए कि मैं यह देह हूँ। 'मैं देह नहीं हूँ' इस का अर्थ होता है कि मैं न स्थूल हूँ, न सूक्ष्म हूँ और न आकस्मिक हूँ। 'मैं आत्मा हूँ' का अर्थ होता है मैं साक्षात् चैतन्य हूँ, तुरीय हूँ जिसे जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति के अनुभव स्पर्श नहीं करते। यह 'साक्षी चैतन्य' अथवा 'जीव साक्षी' सदा 'सर्व साक्षी' के साथ संयुक्त है जो पर, शिव और गुरु है। अतः यदि मनुष्य अपने शुद्ध स्वरूप को पहचान ले तो फिर उसके लिए कोई अन्य नहीं रह जाता, जिसे वह धोखा दे सके अथवा हानि पहुँचा सके। उस दशा में सब एक हो जाते हैं। इसी दशा का भगवान् श्रीकृष्ण ने इस प्रकार वर्णन किया है—'ऐ गुडाकेश, मैं आत्मा हूँ जो हर प्राणी के हृदय में निवास करता हूँ; मैं सब प्राणियों का आदि, मध्य और अन्त हूँ।' आचार-सेवन के महाव्रत द्वारा और श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा अहंकार-शून्य अवस्था अथवा **अहम् ब्रह्मास्मि** की दशा प्राप्त होनी है। महाव्रत के पालन के लिए आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रतिपादित अणुव्रत प्रथम चरण होंगे।

आचार्यश्री तुलसी ने नैतिक जागृति की भूमिका में ठीक ही लिखा है, "मनुष्य बुरा काम करता है। फलस्वरूप उसके मन को अशान्ति होती है। अशान्ति का निवारण करने के लिए वह धर्म की शरण लेता है। देवता के आगे गिड़-गिड़ाता है। फलस्वरूप उसे कुछ सुख मिलता है, कुछ मानसिक शान्ति मिलती है। किन्तु पुनः उसकी प्रवृत्ति गलत मार्ग पकड़ती है और पुनः अशान्ति उत्पन्न होती है और वह पुनः धर्म की शरण जाता है।" असल में धर्म और धार्मिक अभ्यास निर्वाण के लिए है। जब मनुष्य एकदम निरावरण होता है, वह सुख और दुःख से ऊपर उठ सकता है और सुख एवं दुःख को समभाव से अनुभव कर सकता है। यही कारण है कि विष्णु सहस्रनाम में, निर्वाणम्, भेषजम्, सुखम् आदि नाम गिनाये हैं। निर्वाण हमारे सब रोगों की भैषज है और अगर वह प्राप्त हो जाये तो वही सच्चा सुख है—सर्वोच्च आनन्द है।

निषेध विधि से प्रभावक

आपका आदर्श ज्ञान-योग, भक्ति-योग अथवा कर्म-योग कुछ भी हो, अपने अहम् को मारना होगा, मिटाना होगा। एक बार यह अनुभूति हो जाये कि आपका अहम् मिट गया, केवल चिद्भास शेष रह गया है, जो अपना जीवन और प्रकाश पारमार्थिक से प्राप्त करता है। पारमार्थिक और ईश्वर एक ही हैं, तब आपका अस्तित्वहीन अहम् के प्रति प्रेम अपने-आप नष्ट हो जायेगा। भगवान् श्री रमण महर्षि के समान सब महात्मा यही कहते हैं। इसलिए हम सब अणुव्रतों का पालन करें, जिनके बिना न तो भौतिक और न आध्यात्मिक जीवन की उपलब्धि हो सकती है। अणुव्रत की निषेधात्मक प्रतिज्ञाएं विधायक प्रतिज्ञाओं से अधिक प्रभावकारी हैं और वे न केवल धर्म और आध्यात्मिक साधना के प्रेमियों के लिए प्रत्युत सभी मानवता के प्रेमियों के लिए पूरी नैतिक आचार-संहिता बन सकती हैं।

भगवान् को **अणोरणीयान् महतो महीयान्** कहा है। आत्मा हृदय के अन्तरतम में सदा जागृत और प्रकाशमान रहता है, इसलिए वह मनुष्य के हाथ-पाँव की अपेक्षा अधिक निकट है और यदि मानवता इस बात को सदा ध्यान में रखे तो मानव अपने सह मानवों को धोखा नहीं दे सकता और हानि नहीं पहुँचा सकता। यदि वह ऐसा करता है तो स्वयं अपनी आत्मा को ही धोखा देगा अथवा हानि पहुँचाएगा, जो उसे इतना प्रिय होता है।

बीसवीं सदी के महापुरुष

महामहिम मार अथनेशियस जे० एस० विलियम्स,
एम० ए०, डी० डी०, सी० टी०, एम० आर० एस० टी० (इंग्लैण्ड)
[बम्बई के आर्च बिशप एवं प्राइमेट, आजाद हिन्द चर्च

संसार में हजारों धार्मिक नेता हो चुके हैं और पैदा होंगे। परन्तु उनमें कुछ ऐसे भी हैं, जिन्होंने लोगों के हृदय परिवर्तित किये हैं, संसार में प्रेम और शान्ति के स्रोत बहाये हैं और लोगों के दिलों को इसी दुनिया में स्वर्गीय आनन्द से सरोबार करने के अमूल्य प्रयत्न किये हैं। बीसवीं सदी में हमारी इन आँखों ने भी एक ऐसे ही महापुरुष आचार्यश्री तुलसी को देखा है।

यही वह व्यक्ति है जिसके पवित्र जीवन में जैनी भगवान् श्री महावीर को देखते हैं और बौद्ध भगवान् बुद्ध को देखते हैं। हम जो महाप्रभु यीशू ख्रीष्ट के अनुयायी हैं यीशू ख्रीष्ट की ज्योति भी उनमें देखते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने महाप्रभु यीशू ख्रीष्ट के उस कथन को अपने वैरियों से भी प्रेम करो, को इतना सुन्दर रूप दिया है कि विरोध को विनोद समझ कर किसी की ओर से मन में मैल न आने दो।

चर्च से बिदाई

पृथ्वी पर कोई ऐसा स्थान नहीं है जो आचार्यश्री तुलसी को प्यारा न हो। हमें वह दिन भी याद है, जब आचार्यप्रवर बम्बई की बेलासिस रोड पर 'आजाद हिन्द चर्च' में पधारे थे। अपने अनुयायियों के साथ मिल कर उन्होंने भजन सुनाये थे और भाषण दिया था। चर्च में आशीर्वाद देकर अपने साधु और साध्वियों को भारत के कोने-कोने में नैतिकता और धर्म-प्रचार के लिए विदा किया था। इस दृश्य को देख कर बम्बई में हजारों व्यक्तियों को यह आश्चर्य होता था कि जैन साधु ईसाइयों के चर्च में कैसे आ जा रहे हैं। केवल यह तो आचार्यश्री ही की महिमा थी जो ईसाइयों का गिरजा-घर भी हिन्दू भाइयों के लिए पवित्र-स्थान और धर्म-स्थान बन गया था।

जीवन में एक बड़ी क्रान्ति

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रसार कर आचार्यश्री ने जनता के जीवन में एक बहुत बड़ी क्रान्ति कर दी है। यह हमारा सौभाग्य है कि आज भारत के कोने-कोने में सत्य और प्रेम का प्रसार हो रहा है। जनता जनार्दन अपने साधारण जीवन में ईमानदारी का व्यवहार कर रही है। सरकारी कर्मचारी भी अपने कर्तव्य को ईमानदारी से पूरा करने का उपदेश ले रहे हैं। व्यापारी वर्ग से धोखेबाजी और चोरबाजारी दूर होती जा रही है। केवल भारतीय ही नहीं, दूसरे देश भी आचार्यश्री के उच्च विचारों से प्रभावित हो रहे हैं।

यह मेरा सौभाग्य है कि मैं भी अणुव्रत-आन्दोलन का एक साधारण सदस्य हूँ और मुझे देश-देश की यात्रा करने का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ है। जब यूरोप और रूस की कड़कती ठंडक में भी मैंने चाय और कॉफी तक को हाथ नहीं लगाया तो वहाँ के लोगों को आश्चर्य होता था कि यह कैसे सम्भव है? किन्तु यह केवल आचार्यश्री के उन शब्दों का चमत्कार है जो आपने सन् १९५४ के नवम्बर महीने के प्रारम्भ में बम्बई में कहे थे—फादर साहब, आप शराब तो नहीं पीते हैं?

आचार्यश्री के साथ सैकड़ों साधु और साध्वी जन-सेवा में अपना जीवन बलिदान कर रहे है। इन तेरापथी जैनो साधुओं जैसा त्याग, तप और सेवा हमारे देश और मानव समाज के लिए बड़े गौरव की बात है। आचार्यश्री के शिष्य और वे लोग भी जो आपके सम्पर्क में आ चुके हैं, अपने आचार-विचार से मनुष्य जाति की अनमोल सेवा कर रहे हैं।

आचार्यश्री ने हर जाति के और धर्म के लोगों को ऐसा प्रभावित किया है कि आपके आदर्श कभी भुलाये नहीं जा सकते और वे सदा ही मनुष्य जाति को जीवन ज्योति दिखाते रहेंगे।

आचार्यश्री तुलसी का एक सूत्र

आचार्य धर्मेन्द्रनाथ

तीन वर्ष पूर्व सन् १६५८ में आचार्यश्री तुलसी आगरा जाते हुए जयपुर पधारे। उस समय उनके प्रवचन सुनने का अवसर मुझे भी प्राप्त हुआ। आचार्यश्री जिस तेरापंथ-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, उसे उद्भव-काल से ही स्वकीय समाज में अनेक विरोधों और भेदों का सामना करना पड़ा। किसी भी सम्प्रदाय में जब नई शाखा का प्रसव होना है तो उसके साथ ही वैर और विरोधों का अवसर भी आता ही है। पूर्व समाज नये समाज को पुरातन लीक से हटाने वाला और अधार्मिक बताता है और नया समाज पहले समाज की व्यवस्था को सड़ी-गली और नये जमाने के लिए अनुपयुक्त बताता है। बाद में दोनों एक-दूसरे को अनिवार्य मान कर साथ रहना सीख जाते हैं और विरोध का रूप उतना मुखर नहीं रह जाता, लेकिन मौन-द्वेष की गाँठ पड़ी ही रह जाती है। आचार्यश्री के जयपुर-आगमन के अवसर पर कहीं-कहीं उसी पुरानी गाँठ की पूँजी खुल-खुल पड़ती। विरोधी जितना निन्दा-प्रचार करते, उससे अधिक प्रशंसक उनकी जय-जयकार करते।

सम्पन्न लोगों की दुरभिसन्धि

इस सब निन्दा-स्तुति में कितना पूर्वाग्रह और कितना वस्तु विरोध है, इस उत्सुकता से मैं भी एक दिन आचार्यश्री का प्रवचन सुनने के लिए पण्डाल में चला गया। पण्डाल मेरे निवासस्थान के पिछवाड़े ही बनाया गया था। आचार्यश्री का व्याख्यान त्याग की महत्ता और साधुओं के आचार पर हो रहा था : "⋯किसी धनिक ने साधु-सेवा के लिए एक चातुर्मास-विहार बनवाया जिसे साधुओं को दिखा-दिखा कर वह बता रहा था कि यहाँ महाराज के वस्त्र रहेंगे, यहाँ पुस्तकें, यहाँ भोजन के पात्र और यहाँ यह, यहाँ वह। साधु ने देखभाल कर कहा कि एक पाँच खानों की अलमारी हमारे पंच-महाव्रतों के लिए भी तो बनवाई होती, जहाँ कभी-कभी उन्हें भी उतार कर रखा जा सकता।" आचार्यश्री के कहने का मतलब था कि साधु के लिए परिग्रह का प्रपंच नहीं करना चाहिए, अन्यथा वह उसमें लिप्त होकर उद्देश्य ही भूल जायेगा।

मैं जिस पण्डाल में बैठा था, उसे श्रद्धालु श्रावकों ने रुचि से सजाया था। श्रावक-समाज के वैभव का प्रदर्शन उसमें अभिप्रेत न रहने पर भी होता अवश्य था। निरन्तर परिग्रह की उपासना करने वालों का अपने अपरिग्रही साधुओं का प्रदर्शन करना और दाद देना मुझे खासा पाखण्ड लगने लगा। आचार्यश्री जितना-जितना अपरिग्रह की मर्यादा का व्याख्यान करते गये, उतना-उतना मुझे वह सम्पन्न लोगों की दुरभिसन्धि मालूम होने लगा। हमारा परिग्रह मत देखो, हमारे साधुओं को देखो! अहो! प्रभावस्तापसाम्! अगले दिन के लिए भोजन तक संचय नहीं करते। वस्त्र जो कुछ नितान्त आवश्यक हैं, वह ही अपने शरीर पर धारण करके चलते हैं। ये उपवास, यह ब्रह्मचर्य, ये अदृश्य जीवों को हिंसा से बचाने के लिए बाँधे गए मुँछीके, यह तपस्या और यह अणुबम का जवाब अणुव्रत! मुझे लगा कि अपने सम्प्रदाय के सेठों की लिप्सा और परिग्रह पर पर्दा डालने के लिए साधुओं की यह सारी चेष्टा है, जिसका पुरस्कार अनुयायियों के द्वारा जय-जयकार के रूप में दिया जा रहा है। जब और नहीं रह गया तो मैंने वहीं बैठे-बैठे एक पत्र लिख कर आचार्यश्री को भिजवा दिया, जिसमें ऐसा ही कुछ बुखार उतारा गया था।

अश्रद्धा और हठ का भाव

आचार्यश्री से जब मैं अगले दिन प्रत्यक्ष मिला, तब तक अश्रद्धा और हठ का भाव मेरे मन पर से उतरा नहीं था।

आचार्यश्री अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक कहे जाते हैं, इस पर अनेक इतर जैन-सम्प्रदायों को ऐतराज रहा है। "अणुव्रत तो बहुत पहले से चले आते हैं। साधुओं के लिए अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि पंच व्रतों का निर्विशेषतया पालन महाव्रत कहलाता है और इन्हीं व्रतों का अणु (छोटा) किंवा गृहस्थधर्मीय सुविधा-संस्करण अणुव्रत है। फिर आचार्यश्री अणुव्रतों के प्रवर्तक कैसे ?" इस प्रकार की आपत्ति अक्सर उठाई जाती रही है। आचार्यश्री के परिकर वालों को ख्याल हुआ कि 'अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक' शब्द से चिढ़ कर मैंने आचार्यश्री को यह सब लिखा है। लेकिन मुझे तब तक इसका भान भी नहीं था। अणुव्रतों और महाव्रतों का चाहे पूर्व मुनियों ने निरूपण भी किया हो, लेकिन इसको एक जनान्दोलन का रूप आचार्यश्री तुलसी ने ही दिया है, इसलिए उनके आन्दोलन के प्रवर्तकत्व से मुझे विरोध क्यों होता। वस्तुतः मेरे विरोध के मूल में अंशतः परिग्रह की पृष्ठ-भूमि में अपरिग्रह के विरोधाभास से उत्पन्न एक तात्कालिक प्रतिक्रिया थी और अंशतः कुछ पूर्व धारणाएं थीं, जिनकी संगति मैं आज भी जैन-दर्शन से पूर्णतः नहीं मिला पाया हूँ।

उदाहरण के लिए मैं इस निष्कर्ष से सहमत रहा हूँ कि आहार की दृष्टि से मनुष्य न भेड़-बकरी की तरह शाकाहारी है और न शेर-तेंदुओं की तरह मांसाहारी। बल्कि उभयाहारी जन्तुओं जैसे भालू, चूहे या कौए की तरह शाकाहार और मांसाहार दोनों प्रकार का आहार खा-पचा सकता है। इसलिए मानव-प्रकृति के विरुद्ध होने से आदमी के लिए आहार का दावा मूलतः गलत है। दूसरे; आहार चाहे वानस्पनिक हो अथवा प्राणिज, उसमें जीवत्पना होती ही है, अन्यथा आहार देह में सात्म्य किंवा तद्रूप नहीं बन सकता। अतः जैव आहार के ऊपर, स्थिति और हिंसा का त्याग, ये दोनों बातें एक साथ नहीं चल सकतीं। आहार-मात्र हिंसामूलक है, बल्कि आहार और हिंसा अभिन्न अथच पर्यायवाची हैं, ऐसी मेरी धारणा रही है।

इसके अतिरिक्त ईश्वर की सत्ता और धर्म की आवश्यकता आदि कितने ही विषयों पर मेरी मान्यताएं जैन विश्वासों से भिन्न थीं। जब बात चल निकली तो मैंने अपना कैसा भी मतभेद आचार्यश्री तुलसी से छिपाया नहीं।

मेरा खयाल था कि आचार्यश्री इस विषय को तर्कों से पाट देंगे; लेकिन उन्होंने तर्क का रास्ता नहीं अपनाया और इतना ही कहा कि "मतभेद भले ही रहे, मनोभेद नहीं होना चाहिए।" मैं तो यह सुनते ही चकरा गया। तर्क की तो अब बात ही नहीं रही। चुप बैठ कर इसे हृदयंगम करने की ही चेष्टा करने लगा।

श्रद्धा बढ़ी

बाद में जितना-जितना मैं इस पर मनन करता गया, उतनी ही आचार्यश्री तुलसी पर मेरी श्रद्धा बढ़ती गई। वास्तव में विचारों के मतभेद से ही तो समाजों और वर्गों में इतना पार्थक्य हुआ है। एक ही जाति के दो सदस्य जिस दिन से भिन्न मत अपना लेते हैं, तो मानो उसी दिन से उनका सब-कुछ भिन्न होता चला जाता है। भिन्न आचार भिन्न विचार, भिन्न व्यवहार, भिन्न संस्कार, सब-कुछ भिन्न। यहाँ तक कि सब तरह से अलग दिखना ही परम काम्य बन जाता है। मतभेद हुआ कि मनोभेद उसके पहले हो गया। मनोभेद से पक्ष उत्पन्न होता है और पक्ष पर बल देने के साथ-साथ उत्तरोत्तर आग्रह की कट्टरता बढ़ती जाती है। अन्त में आग्रह की अधिकता से एक दिन वह स्थिति आ जाती है, जब भिन्न मतावलम्बी की हर चीज से नफरत और उसके प्रति हमलावराना रुख ही अपने मत के अस्तित्व की रक्षा का एकमात्र उपाय मालूम देता है।

मुझे यहाँ तक याद आता है, किसी भी विचारक ने इसके पूर्व यह बात इस तरह और इतने प्रभाव से नहीं कही। मत की स्वतन्त्रता की रक्षा की वांछनीयता का हवा में शोर है। जनतन्त्र के स्वस्थ विकास के लिए भी मतभेद आवश्यक बताया जाता है और व्यक्ति के व्यक्तित्व के निखार के लिए भी मतभेद रखना जरूरी समझा जाता है। बल्कि मतभेद का प्रयोजन न हो, तो भी मतभेद रखना फैशन की कोटि में आने के कारण जरूरी माना जाता है। परिणाम यह है कि चाहे लोगों के दिल फट कर राई-काई क्यों न हो जायें, लेकिन असूल के नाम पर मतभेद रखने से आप किसी को नहीं रोक सकते।

यदि मुझे किसी एक चीज का नाम लेने को कहा जाये, जिसने मानव-जाति का सबसे ज्यादा खून बहाया है

और मानवता को सबसे ज्यादा काँटों में घसीटने पर मजबूर किया है तो वह यही मतभेद है। इसी के कारण अलग धर्म, सम्प्रदाय, पंथ, समाज आदि बने हैं, जिन्होंने अपनी कट्टरता के आवेश में मतभेद को आमूल और समूल नष्ट कर डालना चाहा है। मतभेदों का निपटारा जब मौखिक नहीं हो पाया तो तलवार की दलील से उन्हें सुलझाने की कोशिशें की गई हैं। एक ने अपने मत की सच्चाई साबित करने के लिए कुर्बान होकर अपने मत को अमर मान लिया है, तो दूसरे ने अपने मत की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए अपने हाथ खून से रंग कर अपने मत की जीत मान ली है। दुनिया का अधिकांश इतिहास इन्हीं मतभेदों और इनके सुलझाने के लिए किये गए हृदयहीन संघर्षों का एक लम्बा दुःखान्त कथानक है।

अब प्रश्न उठता है कि जब मतभेद रखना इतना विषाक्त और विपरिणम्य है, तो क्या मतभेद रखना अपराध करार दिया जा सकता है, या शास्त्रीय उपाय का अवलम्बन करके इसे पाप और नरक में ले जाने वाला घोषित कर दिया जाये ? न रहेंगे मतभेद, न होगी यह खून-खराबी और अशान्ति।

लेकिन समाधान इससे नहीं होगा। अगर आदमी के सोचने की और मत स्थिर करने की क्षमता पर समाज का क़ानून अंकुश लगायेगा, तो क़ानून की जड़ें हिल जायेंगी और यदि धर्मपीठ से इस पर प्रतिबन्ध लगाने की आवाज उठी तो मनुष्य धर्म से टक्कर लेने में भी हिचकेगा नहीं। धर्म ने जब-जब मानव को सोचने और देखने से मना करने की कोशिश की है, तभी उसे पराजय का मुँह देखना पड़ा है। अपना स्वतन्त्र मत बनाने और मतभेद को व्यक्त करने की स्वतन्त्रता तो मानव को देनी ही होगी; जो पात्र हैं उनको भी और जो पात्र नहीं हैं उनको भी।

फिर इसे निर्विष कैसे किया जाये ? विशुद्ध तर्क से तो सबको अनुकूल करना सम्भव है नहीं, और शस्त्र-बल से भी एकमत की प्रतिष्ठा के प्रयोग हमेशा असफल ही रहे हैं। क्रिया, फिर प्रतिक्रिया—फिर प्रति-प्रतिक्रिया; हमले और फिर जबाबी हमले। मतों और मतभेदों का अन्त इससे कभी हुआ नहीं। ऐसी अवस्था में आचार्यश्री तुलसी का सूत्र कि 'मतभेद के साथ मनोभेद न रखा जाये', मुझे अपूर्व समाधानकारक मालूम देता है। विष-बीज को निर्विष करने का इससे अधिक अहिंसक, यथार्थवादी और प्रभावकारी उपाय मेरी नजरों से नहीं गुजरा।

भारत के युग-द्रष्टा ऋषि

इसके उपरान्त भी मैं आचार्यश्री तुलसी से अनेक बार मिला, लेकिन फिर अपने मतभेदों की चर्चा मैंने नहीं की। भिन्न मुण्ड में भिन्न मति तो रहेगी ही। मेरे अनेक विश्वास हैं, उनके अनेक आधार हैं, उनके साथ अनेक ममत्व के सूत्र सम्बद्ध हैं। सभी के होते हैं। लेकिन इन सब भेदों से अतीत एक ऐसा भी स्थल होना चाहिए, जहाँ हम परस्पर सहयोग से काम कर सकें। मैं समझता हूँ कि यदि चेष्टा की जाये तो समान आधारों की कमी नहीं रह सकती।

आचार्यश्री तुलसी एक सम्प्रदाय के धर्मगुरु हैं। और विचारक के लिए किसी सम्प्रदाय का गुरु-पद कोई बहुत नफे का सौदा नहीं है। बहुधा तो यह पदवी विचारबन्धन और तंगनजरी का कारण बन जाती है। लेकिन आचार्यश्री की दृष्टि उनके अपने सम्प्रदाय तक ही निगडित नहीं है। वे सारे भारत के युग-द्रष्टा ऋषि हैं। जैन-शासन के प्रति मेरी आदर-बुद्धि का उदय उनसे परिचय के बाद ही हुआ है, अतएव मैं तो व्यक्तिशः उनका आभारी हूँ। उनके धवल समारोह के इस अवसर पर मेरी विनम्र और हार्दिक श्रद्धांजलि !

दो दिन से दो सप्ताह

डा० हर्बट टिसी, एम० ए०, डी० फिल०, आस्ट्रिया

मैं अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार केवल दो दिन ही ठहरने वाला था, लेकिन दो सप्ताह ठहरा। मैं उस अद्भत मनुष्य का चित्र खींचना चाहता था और उस मानव का, जो महात्मा पद के उपयुक्त था, अध्ययन करना चाहता था। प्रायः एक मनुष्य दूसरे मनुष्य के बारे में क्वचित् ही ऐसा कर सकता है। जैसे ही मैंने उनके प्रथम बार दर्शन किये, उनका असाधारण व्यक्तित्व मेरे हृदय को छूने लगा। उनके नेत्र स्नेहिल और तेजस्वी थे। जैसे ही उन्होंने मेरी ओर दृष्टिपात किया, मेरा अहम् नष्ट हो गया और मुझे उनकी महानता का अनुभव हुआ। मैं वहाँ गया तो था उनके कुछ फोटू खींचने के लिए, किन्तु जैसे ही मैंने उनको जाना, उनका परिचय पाया, फोटू खींचना तो भूल ही गया। उनके विचारों को और शब्दों को समझने लगा।

उनके अनुयायियों व साधु-साध्वियों के लिए वे महान् प्रेरक के रूप में होने चाहिये, जो कि उनके प्रति अगाध श्रद्धा रखते हैं और उनके बारे में निःशंक हैं। उनका प्रभाव इतना अधिक है कि यदि वे चाहें तो वे एक बहुत ही भयंकर व्यक्ति बन सकते हैं और मनुष्यों को अशान्ति के कगार तक पहुँचा सकते हैं और अपना कठिनतम लक्ष्य भी प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु उनका केवल एक ही विचार व ध्येय है जिसे कि अहिंसा-विकास कह सकते हैं।

पूर्ण अहिंसा पर उनकी श्रद्धा का स्पष्ट रूप से प्रकटीकरण ही मेरे हांसी जाने का कारण बना है। इस धर्म के अनुयायी मुँह पर पट्टी बाँधते हैं : जैसे डाक्टर लोग आपरेशन के समय मुँह पर 'मास्क' लगाते हैं। उसका प्रयोजन है कि उनकी आवाज़ से निःसृत ध्वनि तरंगों से हवा की, जो कि उनके अभिमतानुसार सजीव है, हत्या न हो। वे अन्धेरे में चलते समय भूमि का प्रमार्जन कर पाँव रखते हैं ताकि किसी भी जीव की हत्या न हो। इसलिए मैं हांसी गया और वहाँ पर इस संघ के आचार्य ने मुझे समझाया।

उनका पूरा नाम है पूज्य श्री १००८ आचार्यश्री तुलसीरामजी स्वामी। आप जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के नवम आचार्य हैं। उनका नाम उतना ही बड़ा है, जितना कि उनका नम्रता गुण। '१००८' की संख्या जो दो श्री के बीच में है, वह १००८ गुणों की द्योतक है। 'तुलसीराम' उनका व्यक्तिगत नाम है और उसके पीछे जो 'जी' जुड़ा है, वह जर्मन भाषा के Chen के समान आदर का सूचक है। 'स्वामी' का अर्थ है—वह व्यक्ति जो गृहस्थ जीवन का त्याग करता है। 'जैन' एक बहुत ही प्राचीन धर्म है जो हिन्दू धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म के अधिक निकट है। श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदाय जैन धर्म में ही एक सुधारक आन्दोलन के रूप में २०० वर्ष का प्राचीन सम्प्रदाय है। मैं उनके सामने बैठ गया और वे मेरी ओर देखने लगे।

वह एक आन्तरिक अनुभव था जो कि केवल हृदयग्राही ही था, वाणी के द्वारा व्यक्त नहीं हो सकता। किन्तु यदि प्रथम अनुभव को व्यक्त न कर सका तो प्रस्तुत उपक्रम अधूरा ही रह जायेगा।

मैं जब वहाँ गया, वे एक ऊँचे तख्त पर बैठे हुए थे और दैनिक प्रवचन कर रहे थे। उनके सामने लगभग हजार आदमी जमीन पर बैठे हुए थे। मैं अकेला ही वहाँ विदेशी था, अतः मेरे मित्र मुझे आचार्यश्री के समीप ले गये। आचार्यश्री बोलते हुए थोड़े रुके और मेरा परिचय उनको दिया गया। हम आचार्यश्री की ओर देखते हुए शान्ति से बैठ गये। दुर्भाग्यवश, बहुत सारे लोगों का ध्यान मेरी ओर खिंचा रहा, किन्तु कुछ समय बाद मैं यह भूल गया और मैं और आचार्यश्री अकेले रह गये।

प्रायः यह होता है कि यदि मनुष्य किसी भी व्यक्ति की ओर अत्यन्त ध्यानपूर्वक देखता है तो उसके मुख पर द्वेष, प्रेम या उत्तेजना के भाव उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु आचार्यश्री के विशाल विवेक पूर्ण और काले नेत्रों में इनमें से एक भी नहीं पाया गया। मुझे ऐसा लगा उनकी दृष्टि मेरे शरीर को चीर कर हृदय तक पहुँच रही है और उन्होंने मेरा अन्तर हृदय पहचान लिया है। पहले-पहल मुझे इस प्रकार का अकेलापन थोड़ा अखरा, किन्तु बाद में उनके सामने मेरी यह भावना लुप्त हो गई। मेरे हृदय में नाना प्रकार के भाव तरंग उछलने लगे। मैंने एकाएक ही अनुभव किया कि मैं अब अकेला नहीं हूँ। मुझे लगा कि मेरे अनुकूल विचार समझे गये हैं और प्रतिकूल विचारों की निन्दा नहीं की गई है। अर्थात् मेरे अच्छे विचार के कारण मुझे स्वागत मिल रहा है और बुरे विचारों के कारण मेरी निन्दा नहीं की जा रही है। अचानक ही मेरी स्मृति में अपने शैशव काल का विस्तृत स्वर्णिम जगत् स्पष्ट हो गया—निराशा के कारण से नहीं। युवाकाल की स्मृति रहती है, किन्तु उसके साथ जो संशय होता है, वह नष्ट हो गया। मेरा हृदय अच्छे और आनन्ददायक विचारों से भर गया।

मैं जानता हूँ कि इन शब्दों में जो कुछ मैंने लिखा है, वह अतिशयोक्ति-सा लगता होगा, किन्तु वह अपना कार्य समुचित रूप से करता है और आचार्यश्री के साथ वार्तालाप के समय प्रत्येक क्षण में मेरे हृदय पर नियन्त्रण करने वाली भावनाओं का वर्णन मैंने किया है। वास्तव में तो, संत पुरुषों का यह स्वभाव ही होता है कि वे दूसरों के मन में अच्छे विचारों को उत्पन्न कर देते हैं और उन विचारों को अच्छे कार्य के रूप में परिणत करना तो यह हमारा काम है।

प्रतिदिन तीन बार आचार्यश्री प्रवचन देते हैं, जिनमें सहस्रों की संख्या में लोगों की उपस्थिति होती है। उनके अनुयायी लोग बहुत अंशों में राजस्थान और पंजाब के वासी हैं और उनमें से अधिकतर माड़वाड़ी हैं, जो कि भारत के व्यापारियों में सबसे अधिक धनिक और परिग्रहासक्त हैं।

आचार्यश्री उनको अपरिग्रह और सदाचार का उपदेश देते हैं। वह एक कैसा विरोधाभास था। एक ओर जहाँ उनके अनुयायी—जो कि बहुत अच्छे व्यापारी लोग हैं, जो कि धोखाबाजी से लाखों रुपये कमाते हैं, जो सारी दुनिया के साथ व्यापार का सम्बन्ध रखते हैं, जो कर की चोरी करने के सब तरीकों को काम में लेते हैं और विश्वासघात करते है। दूसरी ओर ये छोटे कद के आचार्यश्री जिनके पास अपना कुछ नहीं है न घर है, न मन्दिर है, न पुस्तकें हैं—केवल हाथ से लिखे हुए सुन्दर शास्त्र हैं, मामूली बिछाने का कपड़ा और अत्यन्त सामान्य प्रकार के वस्त्र और स्वाभाविकतया मुख-वस्त्रिका और रजोहरण—यही उनका सब कुछ है।

वे एक कुशल मनोवैज्ञानिक हैं। वे जानते हैं कि जो व्यक्ति इस प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कालेबाजार करते हैं, उनके पास से बड़े त्याग की आशा नहीं रखी जा सकती। उनमें से किसी को भी संसार को त्याग करने का उपदेश नहीं दिया जा सकता। किन्तु उनके पास से कम-से-कम यह आशा तो की जा सकती है कि वे सच्चे अर्थ में मानव बनें, इसलिए उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया है। यह आन्दोलन छोटे-छोटे व्रतों का आन्दोलन है। उनके अनुयायियों को इस प्रकार के व्रत दिलाये जाते हैं कि मैं अप्रमाणिकता नहीं करूँगा। मैं अनैतिकता और आडम्बर को छोड़ दूँगा। मैं अन्य स्त्रियों पर बुरी दृष्टि नहीं डालूँगा।

कुल मिलाकर ४६ व्रत अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रह इन पाँच विभागों में विभक्त हैं। इनमें से प्रायः सभी व्रत स्वाभाविक हैं, और प्रायः सभी धर्मों के मूल-भूत सिद्धान्त हैं। उनमें से थोड़े व्रत ऐसे हैं जो कि केवल भारतीय संस्कृति से जुड़े हुए हैं, जैसे कि मैं मद्यपान नहीं करूँगा, दो सौ व्यक्तियों से अधिक बृहत् भोज नहीं करूँगा। ये नियम बहुत ही कम यूरोपवासियों द्वारा ग्राह्य हो सकते हैं। किन्तु एक औसत भारतीय विवाह के प्रसंग में उक्त संख्या का उल्लंघन सामान्यतया करता है, तथापि आचार्यश्री के इस आह्वान से उनके अनुयायियों में एक नई चेतना आई है।

मैं अपने एक मित्र के घर ठहरा था। वह एक बहुत ही अच्छे स्वभाव का और मोटा आदमी था। उसने डेरी के व्यापार से धनार्जन किया था। एक बार सायंकाल मैं उसकी दूध की दुकान पर उसके साथ गया। उसने उत्साह से बताया कि अब मैं पहले की तरह अधिक धन नहीं कमाता हूँ; क्योंकि मैं अणुव्रती हूँ। इसलिए दूध के व्यापार में कमाई

कम होती है। यह स्वाभाविक है कि अणुव्रत में मिलावट छोड़ देने से मेरे मित्र के कहने के अनुसार उसको कमाई पहले जैसी नहीं होती। अणुव्रती बनने से पूर्व वह मित्र यह सब जानता था।

यह हो सकता है कि अणुव्रतों के बारे में मेरा अध्ययन केवल ऊपर-ऊपर का ही हो, किन्तु मैं विदेशी के साथ मैत्री करने से अवश्य लाभान्वित हुआ हूँ। एक प्रसंग ऐसा बना, जिससे मैं हाँसी को कभी नहीं भूल सकता। केवल एक रुपये के बारे में बात थी। मैं प्रतिदिन एक दुकानदार के पास से सिगरेट खरीदता था। मैं जो सिगरेट पीता था, उस प्रकार की गाँव में और कोई नहीं पीता था। मुझे सड़क पर सिगरेट पीने में भी लज्जा का अनुभव होता था। उस सिगरेट की कीमत उस दुकान पर लिखी हुई थी। मैं जब उसके लिए पैसा देने लगा, तब उस दुकानदार ने बहुत ही नम्र भाषा में मेरे से पैसा लेने से इन्कार किया। यदि गर्मी के दिनों में मुझे किसी होटल पर ठंडा लेमन पिलाया जाता, तो उसको भी मुझे भेंट रूप में ही स्वीकार करना होता।

अणुव्रत के नियम बहुत ही सरल है। क्योंकि वे अणु यानी छोटे-छोटे व्रत हैं। आचार्यश्री व्रत लेने के लिए किसी पर भी दबाव नहीं डालते। अपने प्रवचनों में वे अनुयायिओं को उपदेश देते हैं कि यदि वे पारलौकिक सुख चाहते हैं तो उन्हें पाप करने से डरना चाहिए। जब वे बुराइयों को छोड़ने की प्रतिज्ञा करते हैं, तब ही आचार्यश्री प्रसन्न होते हैं। जो ४६ व्रतों को पालन करने की प्रतिज्ञा करता है, वही पूर्ण अणुव्रती हो सकता है।

आचार्यश्री के अधिकांश अनुयायी व्यापारी हैं। आचार्यश्री अणुव्रतों के बारे में उनके साथ घण्टों तक उत्साह-पूर्वक चर्चाएं करते हैं। उस चर्चा में वे लोग इतने जल्दी-जल्दी बोलते थे कि मुझे उनकी बात का कुछ पता नहीं चलता था। किन्तु जब भी वे लोग ब्लैक मारकेट शब्द का प्रयोग करते थे, मुझे पता चल जाता था; क्योंकि प्रायः भारतीय लोग बातचीत में अंग्रेजी शब्द ब्लैक मारकेट का प्रयोग करते हैं। ये व्यापारी लोग अपने व्यापार-सम्बन्धी कागजात आदि साथ लेकर आचार्यश्री के पास आये और वे आचार्यश्री को यह बताना चाहते थे कि बिना कालाबाजार आदि अनैतिक कार्य किये यदि वे व्यापार करें तो, निश्चित ही उनका दीवाला निकल जाये। आचार्यश्री ने उनकी सब बातों को ध्यान से सुना, उन कागजातों को ध्यान से देखा और उनके मुनाफा और घाटा सम्बन्धी सब बातों को सुना। अन्त में तो वे अपनी माँग पर निश्चल ही रहे कि व्यापारियों को अनैतिक व्यापार को छोड़ना चाहिए। इस प्रकार से चर्चा के बाद में सभी व्यापारी कालाबाजार आदि को पूर्ण रूप से छोड़ने के लिए तो तैयार नहीं हुए, किन्तु बहुत से व्यापारियों ने थोड़ी छूटके साथ में नियम लिए कि

मैं अनैतिक व्यापार को अमुक मर्यादा से अधिक नहीं करूँगा।
मैं रिश्वत नहीं लूँगा।
मैं झूठे खाते नहीं रखूँगा।
मैं समाहित हो गया था कि वे लोग इन नियमों को अच्छी तरह से पालेंगे।

इसके बाद आचार्यश्री ने मुझसे कहा—मैं चाहता हूँ कि लोग संयम को अपनायें। अणुव्रत आसानी से अपनाये जा सकते हैं। इन व्रतों का नाम अणुव्रत इसलिए रखा है कि हमें अणुबम के साथ लड़ना है और उससे सम्बन्धित सभी बुराइयों से लड़ना है। यदि थोड़े लाख व्यक्ति भी अणुव्रती बन जायें तो यह वैज्ञानिक सफलता—अणुबम के भय को नष्ट कर देगी।

इस पर मैंने पूछा—क्या आपका उद्देश्य राजनैतिक है। उन्होंने उत्तर दिया—नहीं, हमारा उद्देश्य केवल धार्मिक है। गांधीजी महात्मा भी थे और राजनैतिक नेता भी। मैं केवल एक महात्मा बनना चाहता हूँ।

मैंने उनसे आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म जैसे दार्शनिक प्रश्न पूछे व कुछ उनके वैयक्तिक जीवन तथा उनके साधु संघ के बारे में भी जिज्ञासाएं कीं। उन्होंने मेरे प्रत्येक प्रश्न व जिज्ञासा का अत्यन्त मधुरता के साथ समाधान किया। मुझे भय था कि कहीं आचार्यश्री को मैंने नाराज तो नहीं कर दिया। मेरे लम्बे-लम्बे प्रश्न जो कि मैंने उनके पवित्र जीवन को जानने की दृष्टि से पूछे थे, मूल विषय से काफी दूर थे और मेरे तुच्छ उत्साह को प्रकट करने वाले थे, उनसे शायद वे नाराज हो गये हों। फिर भी उन्होंने उस प्रकार का कोई भी भाव व्यक्त नहीं किया, प्रत्युत मेरे

जैसे एक विदेशी व्यक्ति के ऊपर आचार्यश्री की पूर्ण कृपा रही और इसलिए सम्भवतः मैं लोगों की ईर्ष्या का पात्र भी बना।

एक बार विनोद में मैंने आचार्यश्री से कहा—मैंने आपके धर्म की एक प्रार्थना (नमस्कार) मन्त्र के कुछ पद कण्ठस्थ किये हैं। क्या आप सुनने की कृपा करेंगे। आचार्यश्री ने धीरे से हाथ हिलाते हुए लोगों को शान्त किया। वह नमस्कार मंत्र मुझे उनके मुनियों ने सिखाया था। उसको मैंने कण्ठस्थ कर लिया था और कई बार पुनरुच्चारण भी कर लिया था ताकि बिना कोई भूल किये मैं उसका उच्चारण कर सकूं। मैंने कहा—

नमो अरिहंताणं
नमो सिद्धाणं
नमो आयरियाणं
नमो उवज्झायाणं
नमो लोए सव्वसाहूणं

मैं उन महात्माओं को नमस्कार करता हूँ जिन्होंने मोह, राग और द्वेष रूप शत्रुओं को जीत लिया है। मैं उन महात्माओं को नमस्कार करता हूँ जो कि मुक्त अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। मैं धर्मनायकों को, आचार्यों को—नमस्कार करता हूँ। मैं धार्मिक शिक्षा गुरुओं को—उपाध्याय को नमस्कार करता हूँ। मैं संसार के सभी साधु साध्वियों को नमस्कार करता हूँ। आचार्यश्री ने स्मित हास्य के साथ कहा—यह तो तुम्हारा इस दिशा में प्रथम चरण है। अब तुम मुँह पर मुख वस्त्रिका और हाथ में रजोहरण कब लेने वाले हो ? इस प्रकार से अन्त में वह दिन आ गया, जिसके दूसरे दिन सुबह पाँच बजे ही मैं दिल्ली के लिए प्रस्थान करने वाला था। जब मैं विदा लेने लगा, तब आचार्यश्री ने हाथ ऊँचा कर आशीर्वाद दिया।

देश के महान् आचाय

श्री जयसुखलाल हाथी
विद्युत् उपमंत्री, भारत सरकार

किशोर के लिए एक कसौटी

दुनिया में सभी संतों के जीवन में एक विशेषता होती है, वही विशेषता आचार्यश्री तुलसी के जीवन में भी दिखाई देती है। उनके बाल्यकाल में ही उनकी महानता के चिह्न दिखाई देने लगे थे। बचपन में ही उन्होंने ऐसे गुणों का परिचय दिया, जिनसे यह पता चलता था कि वे भविष्य में एक महान् धर्म गुरु बनेंगे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में उन्होंने दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। उनके परिवार के सभी लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ कि ग्यारह वर्ष का किशोर इतनी कम अवस्था में दीक्षा लेने की बात कैसे सोच सकता है। उनके बड़े भाई अनुमति देने को तैयार नहीं थे, किन्तु किशोर तुलसी की अन्तरात्मा ने उनको साधु-श्रेणी में प्रविष्ट होने को प्रेरित किया और वे अपने संकल्प से विरत नहीं हुए। क्या उन्हें त्याग का अर्थ विदित था ? उनके पारिवारिक जनों के लिए यह एक समस्या थी। जिस दिन वे संन्यास लेने वाले थे, उसके पूर्व पहली रात को उनके बड़े भाई मोहनलालजी ने उनको सौ रुपए का एक नोट दिया और कहा कि वह इसे अपने पास रख ले, जब कि वह उन सबसे अगले दिन बिदा ले रहे थे। आचार्यश्री तुलसी को यह पता था कि साधु का क्या कर्तव्य होता है और उन्होंने हँसकर पूछा—"मैं इन रुपयों का क्या करूँगा। साधु तो एक पैसा भी अपने पास नहीं रख सकता।" यह किशोर तुलसी के लिए एक कसौटी थी। उन्होंने सिद्ध कर दिया कि दुनिया के प्रलोभनों और भोग-विलास का उनके लिए कोई अर्थ नहीं है।

उनमें प्रारम्भ से ही त्याग और संयम के गुण मौजूद थे। आगे चल कर उनका साधु-जीवन विकसित हुआ और वे महान् धर्म-गुरु बन गए। बाईस वर्ष की अवस्था में आचार्यश्री कालूगणी ने मुनिश्री तुलसी को अपना उत्तराधिकारी मनोनीत किया। आचार्य बनने के लिए यह अवस्था छोटी ही थी, किन्तु मुनिश्री तुलसी ने जो गुण विकसित कर लिए थे, उनके कारण उनका यह चुनाव सर्वथा उचित सिद्ध हुआ। संस्कृत में एक उक्ति है : **गुणाः पूजास्थानं गुणिषु, न च लिंगं न च वयः** अर्थात् न तो आयु का और न लिंग का महत्त्व है; असली महत्त्व तो गुणों का ही होता है। आचार्यश्री तुलसी भी अपने गुणों के कारण अपने शिष्यों की श्रद्धा और आदर के अधिकारी बने।

अणुव्रत का प्रवर्तन

सन् १९४९ में उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन चलाया। नैतिक मापदण्डों की गिरावट के विरुद्ध यह आन्दोलन था। नैतिक पतन के पाश से राष्ट्र को मुक्त करना उसका उद्देश्य है। आज जब कि दुनिया आध्यात्मिक केन्द्र से दूर जा रही है, मानव का दृष्टिकोण अधिकाधिक भौतिकवादी बनता जा रहा है, नैतिक मूल्यों को विस्मृत किया जा रहा है, अणुव्रत-आन्दोलन मनुष्य को नैतिक अधः-पतन के दलदल में फँसने से रोकता है और उसे आन्तरिक शान्ति और सुख की उपलब्धि कराता है। जैसा कि 'अणुव्रत' शब्द से ही प्रकट है, वह छोटी-छोटी प्रतिज्ञा से प्रारम्भ होता है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए 'पूर्ण' बनना सम्भव नहीं हो सकता, किन्तु अल्प प्रारम्भ करके वह सर्वोच्च आदर्श को प्राप्त कर सकता है। अणुव्रत-आन्दोलन समाज के नैतिक चरित्र का निर्माण करना चाहता है। इस आन्दोलन के मुख्य उद्देश्य ये हैं—१. जाति, वर्ण, राष्ट्रीयता और धर्म का कोई भेद न करते हुए सब लोगों के लिए संयम का आदर्श प्रस्तुत करना और उस आदर्श के अनु-

सार अधिकाधिक जीवन बिताने के लिए प्रेरित करना; २. समाज में विश्व-शान्ति का प्रचार करने के लिए प्रचारक तैयार करना और उन्हें प्रेरित करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए अणुव्रत-आन्दोलन अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की पाँच प्रतिज्ञाएं लेने को कहता है। यदि मनुष्य स्वतन्त्र रूप में इन पाँच व्रतों का पालन करने का प्रयत्न करे तो वह पूर्ण आदर्श को प्राप्त कर सकेगा। जीवन के हर क्षेत्र में वह इन व्रतों का पालन कर सकता है।

हम आज देखते हैं कि धर्म, भाषा, जाति और सम्प्रदाय के नाम पर लोग परस्पर लड़ रहे हैं। धर्म की भावना को लोगों ने ठीक प्रकार से नहीं समझा है। धर्म केवल मन्दिर जाने और दैनिक कर्मकाण्डों का पालन करने में नहीं है। वह इन सबसे कुछ अधिक है। वास्तविक धर्म सभी धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखाने में है। पूजा की विधि कुछ भी हो, उसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने को नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से ऊँचा उठाए और रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाए बिना यह लक्ष्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

उदार मनोवृत्ति का परिचय

आचार्यश्री तुलसी ने एक धर्माचार्य के रूप में अपनी उदार मनोवृत्ति का परिचय दिया है; कारण वह कहते हैं कि दूसरे धर्मों के प्रति किसी को निन्दात्मक भाषा का लेखनी या वाणी द्वारा प्रयोग नहीं करना चाहिए। केवल अपने विचारों का ही प्रचार करना चाहिए। दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता दिखानी चाहिए। दूसरे धर्मों के संतों और आचार्यों के प्रति घृणा या तिरस्कार नहीं फैलाना चाहिए। अगर कोई व्यक्ति अपना धर्म या सम्प्रदाय बदल लेता है तो उसके साथ दुर्व्यवहार नहीं करना चाहिए और न उसका सामाजिक बहिष्कार ही करना चाहिए। धर्म के सर्वमान्य मूल तत्त्वों का यथा—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का प्रचार करने का सामूहिक प्रयास करना चाहिए। अगर मनुष्य इन आचार-नियमों का पालन करने लगे तो वर्तमान दुनिया में महान् क्रान्ति हो जायेगी।

राष्ट्र का निर्माण करने के लिए नैतिक और आध्यात्मिक पृष्ठभूमि की सदैव आवश्यकता होती है और अणुव्रत-आन्दोलन एक प्रकार से देश के नैतिक उत्थान का आन्दोलन है। जो आन्दोलन वर्तमान युग की चुनौती का सामना नहीं कर सकता, वह चल नहीं सकता। अणुव्रत आन्दोलन वर्तमान युग की चुनौती का उत्तर देता है। वह लोगों को केवल भौतिक विचारों का परित्याग करने और नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान के लिए काम करने का आह्वान करता है। संत और धर्माचार्य युग-युग से शान्ति का प्रचार करते आए हैं; किन्तु जब तक अहिंसा और सत्य के गुणों का विकास नहीं होगा, तब तक शान्ति की स्थापना नहीं हो सकती। इसमें कोई सन्देह नहीं कि यदि अणुव्रत-आन्दोलन के पाँचों व्रतों का पालन किया जाये तो युद्धों की सम्भावना टल जायेगी। इस प्रकार यह आन्दोलन वर्तमान युग की चुनौती का समाधान है।

और जब अणुव्रत-आन्दोलन के प्रणेता आचार्यश्री तुलसी अपने आचार्य-पद के पच्चीस वर्ष पूरे कर रहे हैं, यह उचित ही है कि देश अपने इस महान् आचार्य के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है।

नैतिक पुनरुत्थान के नये सन्देशवाहक

श्री गोपालचन्द्र नियोगी
सम्पादक—दैनिक वसुमति, बंगला, कलकत्ता

नई आशा का नया सन्देश

मनुष्य का जीवन केवल खाने-पीने और मौज उड़ाने अथवा कष्ट और दुविधाएं झेलने के लिए ही नहीं है। वह उपन्यास के पृष्ठों की भाँति भी नहीं है। मनुष्य समाज का प्राणी है और समाज भी मानव प्राणियों से ही बना है। उसका जीवन सामाजिक जीवन है और सामाजिक वातावरण से उसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। साथ ही वह सामाजिक सम्बन्धों से उत्पन्न होने वाली समस्याओं पर विजय प्राप्त कर सकता है। मनुष्य को केवल अधिकार ही प्राप्त नहीं है, उसे कुछ कर्तव्यों का पालन और दायित्वों का निर्वाह भी करना होता है। स्वभाव से वह चेतन और सक्रिय प्राणी है और उसे तर्क शक्ति प्राप्त है। उसका पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक जीवन होता है और वह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। अनिवार्यतः वह जीवन की ऐसी योजना बनाने का प्रयत्न करता है, जिससे उसके शरीर और मन की आवश्यकताएं पूरी हो सकें और वह जीवन की आवश्यक समस्याओं को हल कर सके। किन्तु उसे मार्ग में अनेक रुकावटों का सामना करना पड़ता है, जो दुर्लंघ्य प्रतीत होती हैं। सामाजिक परिस्थितियाँ ही ये समस्याएं हैं। उन्होंने एक सुविधा भोगी वर्ग को जन्म दिया है जो प्रगति के फलों का उपभोग करता है। समाज सत्ता-प्रेम, मुनाफाखोरी और भ्रष्टाचार के दृढ़ पाश में जकड़ा हुआ है। फलस्वरूप बहुसंख्यक जन समाज घोर दुःख में जीवन बिता रहा है। कठोर परिश्रम करने पर भी अधिकतर लोग दो जून पेट भर कर रोटी नहीं खा सकते। विफलता और निराशा का अँधेरा उनके मानस पर छाया रहता है। वर्षों के गहरे चिन्तन के बाद आचार्यश्री तुलसी करोड़ों शोषितों और श्रमजीवियों के लिए नई आशा और मानव जाति के लिए नैतिक पुनरुत्थान का नया सन्देश लेकर अवतरित हुए हैं।

आचार्यश्री तुलसी जैन धर्म के श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के आध्यात्मिक आचार्य हैं। साधारणतः कहा जाता है कि जैन धर्म का सबसे पहले भगवान् महावीर ने प्रचार किया, जो भगवान् बुद्ध के समकालीन थे। किन्तु अब यह स्वीकार कर लिया गया है कि जैन धर्म भारत का अत्यन्त प्राचीन धर्म है, जिसकी जड़ें पूर्व ऐतिहासिक काल में पहुँची हुई हैं। लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भिक्षु ने जैन धर्म के तेरापंथ सम्प्रदाय की स्थापना की; जिसका अर्थ होता है—वह समुदाय जो तेरे (भगवान् के) पथ का अनुसरण करता है। आचार्यश्री तुलसी इस सम्प्रदाय के नवम गुरु अथवा आध्यात्मिक पथ प्रदर्शक हैं। केवल ग्यारह वर्ष की अल्प आयु में उन्होंने दीक्षा ग्रहण की और फिर ग्यारह वर्ष की आध्यात्मिक साधना के पश्चात् वे उस सम्प्रदाय के पूजनीय गुरुपद पर आसीन हुए। आचार्यश्री तुलसी का हृदय जन-साधारण के कष्टों को देख कर द्रवित हो गया। उनके प्रति असीम प्रेम से प्रेरित होकर उन्होंने अणुव्रत आन्दोलन का सूत्र-पात किया। उसका उद्देश्य उच्च नैतिक मानदण्ड को प्रोत्साहन देना और व्यक्ति को शुद्ध करना ही नहीं है, प्रत्युत जीवन के प्रत्येक पहलू में प्रवेश कर समाज की पुनर्रचना करना है। अणुव्रत जीवन का एक प्रकार और समाज की एक कल्पना है। अणुव्रती बनने का अर्थ इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है कि मनुष्य भला और सच्चा मनुष्य बने।

नैतिक शास्त्र का आविष्कार

प्रत्येक आन्दोलन का अपना आदर्श होता है और अणुव्रत-आन्दोलन का भी एक आदर्श है। वह एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है जिसमें स्त्री और पुरुष अपने चरित्र का सोच-समझ कर परिश्रम पूर्वक निर्माण करते हैं और अपने को मानव जाति की सेवा में लगाते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन पुरुषों और स्त्रियों को कुछ विशेष अभ्यास करने की प्रेरणा देता है, जिनसे लक्ष्य की प्राप्ति होती है। हमारे साधारण जीवन में भी हमको यह विचार करना पड़ता है कि हमको क्या काम करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए। फिर भी हम सही मार्ग पर नहीं चल पाते। हम क्यों असफल होते हैं और किस प्रकार सही मार्ग पर चलने का दृढ़ संकल्प कर सकते हैं, यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। पूज्य आचार्यश्री तुलसी ने उन विषयों पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अपने विभिन्न सार्वजनिक और व्यक्तिगत प्रवचनों में उनकी अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से व्याख्या की है।

लोकतन्त्र एक ऐसी राजनैतिक प्रणाली है, जिसके द्वारा समाज का ऐसा संगठन किया जाता है कि सब मनुष्य उसमें सुखी रह सकें। किन्तु जब हम लोकतन्त्री सामाजिक जीवन की ओर देखते हैं तो हमें हृदयहीन धन-सत्ता और शाषण के दर्शन होते हैं। राज्य शासकों और शासितों में विभक्त दिखाई देता है। लोकतन्त्र की उज्ज्वल कल्पना और भयानक वास्तविकता में अन्तर बहुत स्पष्ट दिखाई देता है। मानव प्रेम और अगाध निष्ठा से प्रेरित होकर बारह वर्ष पूर्व आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के नैतिक शास्त्र का आविष्कार किया और उसको व्यावहारिक रूप दिया। अणुव्रत शब्द निःसन्देह जैन शास्त्रों से लिया गया है, किन्तु अणुव्रत-आन्दोलन में साम्प्रदायिकता का लवलेश भी नहीं है।

इस आन्दोलन का एक प्रमुख स्वरूप यह है कि वह किसी विशेष धर्म का आन्दोलन नहीं है। कोई भी स्त्री-पुरुष इस आन्दोलन में सम्मिलित हो सकता है और इसके लिए उसे अपने धार्मिक सिद्धान्तों से तनिक भी इधर-उधर होने की आवश्यकता नहीं होती। अन्य धर्मों के प्रति सहिष्णुता इस आन्दोलन का मूल मन्त्र है। वह न केवल असाम्प्रदायिक है, प्रत्युत सर्वव्यापी आन्दोलन है।

अणुव्रत जैसा कि उसके नाम से प्रकट है, अत्यन्त सरल वस्तु है। अणु का अर्थ होता है—किसी भी वस्तु का छोटे-से-छोटा अंग। अतः अणुव्रत ऐसी प्रतिज्ञा हुई, जिसका आरम्भ छोटे-से-छोटा होता है। मनुष्य इस लक्ष्य की ओर अपनी यात्रा सबसे नीची सीढ़ी से आरम्भ कर सकता है। कोई भी व्यक्ति एक दिन में, अथवा एक महीने में वांछित परिणाम प्राप्त नहीं कर सकता। उसको धीरे-धीरे किन्तु गहरी निष्ठा के साथ प्रयत्न करना चाहिए और शनैः-शनैः अपने कार्य-क्षेत्र का विस्तार करना चाहिए। मनुष्य यदि व्यवसाय में किसी उद्योग में या और किसी धन्धे में लगा हुआ हो तो अणुव्रत-आन्दोलन उसे उच्च नैतिक मानदण्ड पर चलने की प्रतिज्ञा लेने की प्रेरणा देता है। इस प्रतिज्ञा का आचरण बहुत छोटी बात से आरम्भ होता है और धीरे-धीरे उसमें जीवन की सभी प्रवृत्तियों का समावेश हो जाता है। अणुव्रत मनुष्यों को बुद्धि-संगत जीवन की सिद्धि के लिए आत्म-निर्भर बनने में सहायता देता है। उसके फलस्वरूप अहिंसा, शान्ति, सद्भावना और अन्तर्राष्ट्रीय सहमति की स्थापना हो सकेगी।

नैतिक क्रान्ति का सन्देश

भारत चौदह वर्ष पूर्व विदेशी शासन के जुए से स्वतन्त्र हुआ। विशाल पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा भी हम आर्थिक और सामाजिक शान्ति नहीं कर पाये। जब तक हम ऐसी नई समाज व्यवस्था की स्थापना नहीं करेंगे, जिसमें निर्धन से निर्धन व्यक्ति भी सुखी जीवन बिता सकेगा, तब तक हमारा स्वराज्य इस विशाल देश के करोड़ों व्यक्तियों का स्वराज्य नहीं हो सकेगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हमारे सिर पर सर्वसंहारकारी अणुयुद्ध का भयानक खतरा मंडरा रहा है। इस आणविक युग में जबकि शस्त्रों की प्रतियोगिता चल रही है, सर्वनाश प्रायः निश्चित दिखाई देता है। हमारे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में समस्याएं अधिकाधिक जटिल होती जा रही हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि लोकमन

सम्बन्धित सरकारों को प्रभावित नहीं कर पा रहा है। इस संकट में आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत आन्दोलन एक नई सामाजिक आर्थिक, राजनीतिक और नैतिक क्रान्ति का सन्देश देकर हमको मार्ग दिखा रहा है। यह न तो दया का कार्यक्रम है और न ही दान-पुण्य का। यह तो आत्म-शुद्धि का कार्यक्रम है। इसमें केवल व्यक्ति की ही आत्म-रक्षा नहीं है, प्रत्युत संसार के सभी राष्ट्रों की रक्षा निहित है। जबकि विनाश का खतरा हमारे सम्मुख है, अणुव्रत-आन्दोलन हमें ऐसी राह दिखा रहा है, जिस पर चल कर मानव जाति त्राण पा सकती है।

स्वीकृत कर वर ! चिर अभिनन्दन

श्री ओमप्रकाश द्रोण

अमल अकुल नव ज्योति विभाकर
सार्वभौम हित द्योति दिपाकर
जन-जन के मन के दूषित वर
बन्धन सकल अबन्धनमय कर।

अणुव्रत, सत्य, अहिंसात्मक बल
पा कर हो जन-जन-मन अविचल
पंकिल जल रत ज्यों नव उत्पल
किंजलकीरत, त्यों जग-हृत्थल।

प्रसरित धवल-कमल-वर-चन्दन
पुलकित चपल भ्रमर दल जन-मन
गुंजित अमल समल जग-कानन
'चरैवेति' रत वर जन-जीवन

अरुण राग लांछित मम वन्दन
स्वीकृत कर वर ! चिर अभिनन्दन

सुधारक तुलसी

डा० विश्वेश्वरप्रसाद, एम०ए०, डी० लिट्
अध्यक्ष—इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

विश्व के इतिहास में समय-समय पर अनेक समाज-सुधारक होते रहे हैं, जिनके प्रभाव से समाज की गति एक सीधे रास्ते पर बनी रही है। जब-जब वह राजमार्ग या धर्ममार्ग को छोड़ कर इधर-उधर भटकने लगता है, तब-तब कोई महान् नेता, उपदेशक और सुधारक आकर समाज की नकेल पकड़ उसे ठीक मार्ग पर ला देता है। भारतवर्ष के इतिहास में तो वह बात और भी सही है। इसीलिए गीता में भगवान् कृष्ण ने कहा था कि "जब-जब धर्म की हानि होती है, तब-तब अधर्म को हटाने के लिए मैं अवतरित होता हूँ।" महान् सुधारक ईश्वर के अंश ही होते हैं और उसी की प्रेरणा से वह समाज को धर्म के राजमार्ग पर लाते हैं। समाज की स्थिरता और दृढ़ता के लिए आवश्यक है कि वह धर्म की राह पकड़े। यह धर्म क्या है? मेरी समझ में धर्म वही है, जिससे समाज का अस्तित्व बने। जिस चलन से समाज विशृंखल हो और उसकी इकाई को ठेस लगे, वह अधर्म है। समाज को शृंखलाबद्ध रखने के लिए और उसके अंगों-प्रत्यंगों में एकता और सहानुभूति बनाये रखने के लिए धर्म के नियम बनाये जाते हैं। यद्यपि समाज की गति के साथ इन नियमों में परिवर्तन भी होता रहता है, फिर भी कुछ नियम मौलिक होते हैं जो सदा ही समान रहते हैं और उनके अकुलित होने पर समाज में शिथिलता आ जाती है, अनाचार बढ़ता है और समाज का अस्तित्व ही नष्ट होने लगता है। ये नियम सदाचार कहलाते हैं और हर युग तथा काल में एक समान ही रहते हैं। शास्त्रों में धर्म के दस लक्षणों का वर्णन है। ये लक्षण मौलिक हैं और उनमें उथल-पुथल होने से समाज की स्थिति ही खतरे में पड़ जाती है। सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह आदि ऐसे ही नियम हैं जो समाज के आरम्भ से आज तक और भविष्य में समाज के जीवन के साथ सदैव ही मान्य होंगे और उनमें श्रद्धा घटने पर या उनके विरुद्ध आचरण होने पर समाज मिट जायेगा। इसीलिए पूर्वकाल से निरन्तर समाज-सुधारकों तथा गुरुजनों का संकेत सदैव इन नियमों के पालन की ओर रहा है और जब भी सामुदायिक रूप से व्यक्तियों ने इनके विरुद्ध आचरण किया है; सुधार की आवाज तेज हुई है और कोई बड़ा नेता उत्पन्न हुआ है जिसने समाज की गति को फिर धर्म की ओर मोड़ दिया है।

वैदिक काल में वेदों और उपनिषदों में सदाचार और धर्म के कुछ नियम बनाये गए। उपनिषदों ने आचरण पर बल दिया और मोक्ष या निर्वाण को व्यक्ति के कर्मों पर अवलम्बित माना। परन्तु यह रास्ता कठिन था, अतः लोगों ने एक सहज मार्ग को खोज निकाला और यज्ञादि के फल पर भरोसा करके अपने और परमात्मा के बीच पुरोहित के माध्यम को स्वीकार किया। इसका परिणाम यह हुआ कि यज्ञों की भरमार होने लगी और सभी प्रकार की बलि दी जाने लगी। हिंसा का बोलबाला हुआ और धर्म केवल ढोंग रह गया। यह भावना मनुष्य के जीवन के दूसरे अंशों में भी व्याप्त हो गई और पारस्परिक कलह, राज्यों के झगड़े, लड़ाई और अत्याचार का जोर हुआ। सामाजिक सम्बन्धों में स्थिरता के स्थान पर अस्थिरता आने लगी और सैन्य या पाशविक बल के आधार पर साम्राज्य बने तथा विभिन्न वर्गों के सम्बन्धों में भी यही आधार होने लगा जिससे निर्बल और पिछड़े हुए वर्ग पद-दलित हुए और उनके अधिकारों को क्षति पहुँची। ऐसे समय पर दो महापुरुषों ने इस देश में जन्म लिया, भगवान् महावीर तथा गौतम बुद्ध। उन्होंने धर्म के सच्चे तत्त्वों का विश्लेषण किया और समाज की दृष्टि वाह्य रूप से हटा कर पुनः मौलिक नियमों की ओर आकृष्ट की। आचरण पर बल दिया गया और निर्वाण को, समाज में मनुष्य के पारस्परिक व्यवहार पर ही प्राप्य बताया। हिंसा से हट कर अहिंसा में आस्था हुई

और अशोक ने इस सदाचरण को ही राज्य का धर्म बनाया। व्यक्ति का अपने परिवार, अपने पड़ौसी और समाज के प्रति क्या कर्तव्य है, यह अशोक ने पूर्ण रूप से अंकित किया और अहिंसा को शासन-दण्ड बनाया। समाज फिर धर्म-मार्ग की ओर उन्मुख बना। परन्तु इस अवस्था में पुनः परिवर्तन हुआ और सदाचरण की बागडोर फिर ढीली पड़ने लगी। बुद्ध और महावीर के अनुयायी ही उस सच्चे मार्ग से विचलित होने लगे और धर्म के सच्चे तत्त्वों को भूल कर पुनः कर्म-काण्ड में लिप्त हुए। मठों और मन्दिरों के निर्माण, व्रतों और बाहरी दिखावे को ही सब कुछ माना गया, जिससे आचरण में शिथिलता आयी। समाज ढीला पड़ने लगा और फिर आपसी सम्बन्ध बिगड़ने लगे। राजनीतिक स्तर पर साम्राज्यों का बनना-बिगड़ना सैनिक बल पर ही आधारित था और देश की एकता को हानि पहुँची। हर्ष के काल में यह भावना उत्तरोत्तर और प्रबल होती गई तथा देश पर बाह्य आक्रमण हुए। देश के भीतर युद्धों की परम्परा चल पड़ी और विदेशी धर्म का भी प्रादुर्भाव हुआ। जनसमूह घबड़ा उठा और सच्चे मार्ग को पाने के लिए छटपटा उठा। इस काल में अनेक धर्म-सुधारक और नेता देश में अवतरित हुए जिनका उपदेश फिर यही था कि अपना आचरण ठीक करो, भक्ति-मार्ग का अवलम्बन करो और पारस्परिक सहानुभूति, सामंजस्य और सहष्णुता को बढ़ाओ जिससे मत-मतान्तरों के झगड़ों से ऊपर उठ कर सत्य-मार्ग का आश्रय लिया जाये। अत्याचार से इसी मार्ग द्वारा मुक्ति मिल सकती थी।

शंकराचार्य, रामानुज, रामानन्द, कबीर, नानक, तुलसी, दादू आदि अनेक सुधारक कई सौ वर्षों में होते रहे और समाज को सीधे मार्ग पर चलाने का प्रयत्न करते रहे, जिससे उस समय के शासन और राजनीति की कठोरताओं के बावजूद हिन्दू-समाज और व्यक्ति शान्ति और आत्म-विश्वास कायम रख सका।

देश पर पुनः एक संकट अठारहवीं शती में आया और इस बार विदेशी शासन और विदेशी संस्कृति ने एक जोरदार आक्रमण किया, जिससे भारतीय समाज और देश के धर्म का पूर्ण अस्तित्व ही नष्ट प्राय हो गया था। पश्चिम के ईसाई-सम्प्रदाय ने हिन्दुओं को अपने मत में लाने का घोर प्रयत्न किया और इस कार्य में मिशनरी लोगों को शासन से सर्वविध सहायता प्राप्त थी। उन्नीसवीं शती के आरम्भ में देश में अन्धविश्वास, आडम्बरपूर्ण धार्मिक आचरण और शास्त्रयुक्त नियम और आचरण के प्रति अश्रद्धा बढ़े, जिससे यहाँ के वासी पाश्चात्य धर्म और संस्कृति के सहज ही शिकार होने लगे। विशेषतः नई अंग्रेजी शिक्षायुक्त कलकत्ते का नवयुवक-समुदाय तो देश की सभी परम्पराओं, बुरी या भली, सभी का घोर विरोध करने लगा और ईसाई मत या नास्तिकता की ओर अग्रसर हुआ। इस सर्वग्रामी आयोजन से देश और संस्कृति को बचाने का श्रेय राममोहनराय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, विवेकानन्द प्रभृति महान् सुधारकों और धर्मोपदेशकों को है, जिन्होंने भारतीय दर्शन और धर्म का शुद्ध रूप बलपूर्वक दर्शाया और उसके प्रति विश्वास और श्रद्धा की पुनःस्थापना की। इन सभी सुधारकों ने सामयिक कुरीतियों और संयमशून्य पद्धतियों का जोरदार खंडन किया और बताया कि उनके लिए शास्त्रों में और पुनीत वैदिक धर्म आदि में कोई भी पुष्टि नहीं है। उन्होंने वैदिक हिन्दू धर्मका पवित्र रूप सामने रखा और उसी का अनुगमन करने का उपदेश दिया। उस धर्म में आचरण पर बल दिया गया; ज्ञान को सर्वोपरि माना गया; और मनुष्य अपने शुभ कर्मों द्वारा अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है, इस तथ्य को बताया गया। इस प्रकार शाश्वत, सनातन धर्म केवल पाखंड और पोपलीला न होकर बुद्धिसिद्ध (rational) और समाज के लिए कल्याणकारी है, इस बात को दर्शाया गया। इन सुधारकों के यत्न से देश की संस्कृति जागृत हुई और जन समुदाय में नई चेतना और आत्मविश्वास का विकास हुआ, जिससे राष्ट्रीयता का जन्म हुआ और देश स्वतन्त्रता की ओर अग्रसर हुआ।

इस शताब्दी के आरम्भ में जिस समय राष्ट्रीय आन्दोलन बढ़ रहा था और हिंसा की प्रवृत्ति प्रबल हो रही थी, उस समय महात्मा गांधी ने उसकी बागडोर सँभाली और आन्दोलन को अहिंसात्मक मार्ग पर चलाया और सत्य व सदाचार पर जोर दिया; क्योंकि इनके बिना स्वतन्त्रता प्राप्त होने पर भी राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता है। त्याग सत्य का प्रेरक है और सदाचार का प्रणेता। इसी त्याग पर गांधीजी ने बल दिया और सत्याग्रह का मार्ग दिखा कर देश के जन-समुदाय को राष्ट्रहित के लिए त्याग की ओर प्रेरति किया। जहाँ त्याग और सेवा प्रमुख कर्तव्य हैं, वहाँ ऊँच-नीच का भेद, छोटे-बड़े और अफसर-मातहत की संज्ञा का ही लोप हो जाता है और समाज में एकता, समता और सद्-व्यवहार का आधिपत्य हो जाता है। बिना इन गुणों के समावेश के समाज सुसंगठित नहीं होता। इस महान् तथ्य को महात्मा गांधी

ने देश के सामने रखा और इसी के आधार पर देश को स्वतन्त्र किया। उनके निर्वाण के बाद जब भारतवर्ष सर्वसत्ता-सम्पन्न गणराज्य बना और देश में विकास की योजनाएं बनायी गईं, तब लाभकारी कार्यों की कमी न रह गई और विभिन्न वर्गों की उन्नति के नये रास्ते खुल गये। देश को विकास की ओर ले जाना था, उसकी आर्थिक उन्नति करना था, जिसमे सम्पूर्ण जनता का उत्थान हो और उसकी आर्थिक दशा सुधरे। इस योजना के लिए आवश्यक था कि सच्चरित्र, परहित-रत, कर्तव्य-परायण, सदाचारी नेता, हाकिम, व्यापारी, शिक्षक, कारीगर आदि देश के विकास की बागडोर अपने हाथ में लें। यदि इन वर्गों में सदाचार की कमी हुई तो देश का हित न होकर अहित हो जाये और देश उन्नति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। दुर्भाग्यवश जिस समय यह सुअवसर आया और आशा हुई कि अब इतने वर्षों के कठोर परिश्रम और त्याग के फलस्वरूप देश की उन्नति होगी और गरीबी मिटेगी, उस समय देखा गया कि कर्मचारियों, नेताओं, व्यापारियों आदि में अनाचार और स्वार्थ की वृद्धि हो रही है; क्योंकि अब इनके लिए नित्य नये अवसर आने लगे। अगर यही क्रम बना रहा तो नई योजनाओं का कोई लाभ न होगा और उनकी सफलता संदिग्ध बन जायेगी। देश में चारों ओर यही आवाज उठने लगी कि शासन को इस प्रकार के मगरमच्छों से बचाया जाये और भ्रष्टाचार (Corruption) को दूर किया जाये।

ऐसे समय में आचार्य तुलसी ने अपने अणुव्रत-आन्दोलन को प्रबल किया और अनेक वर्गों के सदस्यों को पुनः सदाचार की ओर प्रेरित किया। आचार्य तुलसी ने यह काम पहले ही शुरू कर दिया था, पर इसकी प्रधानता और गति-शीलता स्वतंत्रता के बाद, विशेष रूप से बढ़ी। इनका यह आन्दोलन अपने ढंग का निराला है। धर्म के सहारे व्यक्ति को ये व्रती बनाते हैं और उसको इस प्रकार बल देकर कुमार्ग और कुरीतियों से अलग करके सदाचार की ओर अग्रसर करते हैं। यह व्रत छोटे-छोटे होते हैं, पर इनका प्रभाव बहुत ही गम्भीर होता है, जो व्यक्ति तथा समाज के जीवन में क्रान्ति ला देता है। व्यापारियों, सरकारी कर्मचारियों, विद्यार्थियों आदि में यह आन्दोलन चल चुका है और इसके प्रभाव में सहस्रों व्यक्ति आ चुके हैं। आज इसकी महत्ता स्पष्ट न जान पड़े, पर कल के समाज में इसका असर पूरी तरह दिखाई पड़ेगा, जब समाज पुनः सदाचार और धर्म द्वारा अनुप्लावित होगा और भविष्य में आज की बुराइयों का अस्तित्व न होगा। आचार्य तुलसी और उनके शिष्य मुनिगण का कार्य भविष्य के लिए है और नये समाज के संगठन के लिए सहायक है। इसकी सफलता देश के कल्याण के लिए है। आशा है, यह सफल होगा और आचार्य तुलसी सुधारकों की उस परम्परा में, जो इस देश के इतिहास में बराबर उन्नति लाते रहे हैं, अपना मुख्य स्थान बना जायेंगे। उनके उपदेश और नेतत्व से समाज गौरवशील बनेगा।

मेरा सम्पर्क

का० यशपाल

लाहौर-षड्यन्त्र के शहीद सुखदेव और मैं लाहौर के नेशनल कालेज में सहपाठी थे। एक दिन लाहौर ज़िला-कचहरी के समीप हमें दो श्वेताम्बर जैन साधु सामने से आते दिखाई दिये। हम दोनों ने मन्त्रणा की कि इन साधुओं के अहिंसा-व्रत की परीक्षा की जाये। हम उन्हें देखकर बहुत जोर से हँस पड़े। सुखदेव ने उनकी ओर संकेत करके कह दिया, "देखो तो इनका पाखंड !" उत्तर में हमें जो क्रोध-भरी गालियाँ सुनने को मिलीं, उससे उस प्रकार के साधुओं के प्रति हमारी अश्रद्धा, गहरी विरक्ति में बदल गई।

मेरी प्रवृत्ति किसी भी सम्प्रदाय के अध्यात्म की ओर नहीं है। कारण यह है कि मैं इहलोक की पार्थिव परि-स्थितियों और समाज की जीवन-व्यवस्था से स्वतन्त्र मनुष्य की, इस जगत् के प्रभावों से स्वतन्त्र चेतना में विश्वास नहीं कर सकता। अध्यात्म का आधार तथ्यों से परखा जा सकने वाला ज्ञान नहीं है, उसका आधार केवल शब्द-प्रमाण ही है। इसलिए मैं समाज का कल्याण आध्यात्मिक विश्वास में नहीं मान सकता। अध्यात्म में रति, मुझे मनुष्य को समाज से उन्मुख करने वाली और तथ्यों से भटकाने वाली स्वार्थ परक आत्मरति ही जान पड़ती है। इसलिए अणुव्रत-आन्दोलन के लक्ष्यों में, सामाजिक और राजनैतिक उन्नति की अपेक्षा आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देने की घोषणा से, मुझे कुछ भी उत्साह नहीं हुआ था।

जैन-दर्शन का मुझे सम्यक् परिचय नहीं है। 'काकचंचु'-न्याय से ऐसा समझता हूँ कि जैन-दर्शन ब्रह्माण्ड और संसार का निर्माण और नियमन करने वाली किसी ईश्वर की शक्ति में विश्वास नहीं करता। वह कभी अजर-अमर आत्मा में विश्वास करता है, इसलिए जैन मुनियों और आचार्यों द्वारा आध्यात्मिक उन्नति को महत्त्व देने के आन्दोलन की बात मुझे बिल्कुल असंगत और निरर्थक जान पड़ी। ऐसे आन्दोलन को मैं केवल अन्तर्मुख-चिन्तन की आत्मरति ही समझता था।

दो-तीन वर्ष पूर्व आचार्य तुलसी लखनऊ में आये थे। आचार्यश्री के सत्संग का आयोजन करने वाले सज्जनों ने मुझे सूचना दी कि आचार्यश्री ने अन्य कई स्थानीय नागरिकों में मुझे भी स्मरण किया है। लड़कपन की कटु स्मृति के बावजूद उनके दर्शन करने के लिए चला गया था। उस सत्संग में आये हुए अधिकांश लोग प्रायः आचार्य तुलसी के दर्शन करके ही सन्तुष्ट थे। मैंने उनसे संक्षेप में आत्मा के अभाव में भी पुनर्जन्म के सम्बन्ध में कुछ प्रश्न पूछे थे और उन्होंने मुझसे समाजवाद की भावना को व्यावहारिक रूप दे सकने के सम्बन्ध में बात की थी।

आचार्य का दर्शन करके लौटा, तो उनकी सौम्यता और सद्भावना के गहरे प्रभाव से सन्तोष अनुभव हुआ। अनुभव किया, जैन साधुओं के सम्बन्ध में लड़कपन की कटु स्मृति से ही धारणा बना लेना उचित नहीं था।

दो बार और—एक बार अकेले और एक बार पत्नी-सहित आचार्य तुलसी के दर्शन के लिए चला गया था और उनसे आत्मा के अभाव में भी पुनर्जन्म की सम्भावना के सम्बन्ध में बातें की थीं। उनके बहुत संक्षिप्त उत्तर मुझे तर्क-संगत लगे थे। उस सम्बन्ध में काफी सोचा; और फिर सोच लिया कि पुनर्जन्म हो या न हो, इस जन्म के दायित्वों को ही निबाह सकूँ, यही बहुत है।

एक दिन मुनि नगराजजी व मुनि महेन्द्रकुमारजी ने मेरे मकान पर पधारने की कृपा की। उनके आने से पूर्व उनके बैठ सकने के लिए कुर्सियाँ हटा कर एक तख्त डाल कर सीतलपाटी बिछा दी थी। मुनियों ने उस तख्त पर बिछी सीतलपाटी पर आसन ग्रहण करना स्वीकार नहीं किया। तख्त हटा देना पड़ा। फर्श की दरी भी हटा देनी पड़ी। तब

मुनियों ने अपने हाथ में लिये चँवर से फर्श को झाड़ कर अपने आसन विछाये और बैठ गये। मैं और पत्नी उनके सामने फर्श पर ही बैठ गए।

दोनों मुनियों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण से शोषणहीन समाज की व्यवस्था के सम्बन्ध में मुझसे कुछ प्रश्न किये। मैंने अपने ज्ञान के अनुसार उत्तर दिये। मुनियों ने बताया कि आचार्यश्री के सामने अणुव्रत-आन्दोलन की भूमिका पर एक विचारणीय प्रश्न है। अणुव्रत में आने वाले कुछ एक उद्योगपति अपने उद्योगों को शोषण-मुक्त बनाना चाहते हैं, पर अब तक उन्हें एक समुचित व्यवस्था इस दिशा में नहीं दीख रही है। लाभ-विभाजन का मान-दण्ड क्या हो, यह एक प्रश्न अणुव्रती नहीं सुलझा पा रहे हैं। इस दिशा में सन्तुलन बिठाने के लिए वे अपना लाभांश कम करने के लिए भी तैयार हैं।

मैंने अर्थशास्त्र के दृष्टिकोण से उत्तर दिया कि उद्योग-धन्धों से यदि लाभ नहीं होगा, तो हानि होगी। उद्योग-धन्धों अथवा उत्पादन का तो प्रयोजन ही यह होता है कि उत्पादन में श्रम और व्यय के रूप में जितना मूल्य लगे उससे अधिक मूल्य का फल हो। सेर-भर गेहूँ बोकर सेर-भर गेहूँ पाने के लिए खेती नहीं की जाती। शोषण उद्योग-धन्धों से होने वाले लाभ के कारण नहीं होता, बल्कि वह लाभ एक व्यक्ति द्वारा ही हथिया लिया जाने के कारण या लाभ का वितरण सब श्रम करने वालों में समान रूप से न किया जाने के कारण होता है। अणुव्रती जनहित के विचार से उद्योग-धन्धे आरम्भ करें तो उनकी सफलता न्यूनतम व्यय और अधिक-से-अधिक उत्पादन में होगी। उन उद्योग-धन्धों द्वारा श्रमिकों को उचित जीविका देने के बाद भी यथेष्ट लाभ होना चाहिए, परन्तु वह लाभ किसी व्यक्ति-विशेष की सम्पत्ति नहीं, बल्कि श्रमिकों की ही सम्मिलित सम्पत्ति मानी जानी चाहिए। साधनों को कायम रखने और बढ़ाने के अतिरिक्त वह लाभ-धन उन उद्योग-धन्धों में लगे हुए श्रमिकों को शिक्षा, चिकित्सा तथा सांस्कृतिक सुविधाएं देने के लिए उपयोग किया जा सकता है। परन्तु उद्योग-धन्धों से लाभ अवश्य होना चाहिए; समाजवादी देशों में ऐसा ही किया जाता है।

मेरी बात से मुनियों का समाधान नहीं हुआ। उन्होंने कहा—जिस प्रणाली और व्यवस्था में लाभ का उद्देश्य रहेगा, उस व्यवस्था से निश्चय ही शोषण होगा। वह व्यवस्था और प्रणाली अहिंसा और पारस्परिक सहयोग की नहीं हो सकेगी।

मैं मुनियों का समाधान नहीं कर सका; परन्तु इस बात से मुझे अवश्य सन्तोष हुआ कि अणुव्रत-आन्दोलन के अन्तर्गत शोषण-मुक्ति के प्रयोगों पर सोचा जा रहा है।

मैंने मुनिजी से अनुमति लेकर एक प्रश्न पूछा—आप अपने व्यक्तिगत स्वार्थ को छोड़ कर समाज-सेवा करना चाहते हैं; ऐसी अवस्था में आपका समाज और सामाजिक व्यवहार से पृथक् रहकर जीवन बिताना क्या तर्कसंगत और सहायक हो सकता है? इसमें वैचित्र्य के अतिरिक्त कौन सार्थकता है? इससे आपको असुविधा ही तो होती होगी।

मुनिजी ने बहुत शान्ति से उत्तर दिया—हमें असुविधा हो, तो उसकी चिन्ता हमें होनी चाहिए। हमारे वेश अथवा कुछ व्यवहार आपको विचित्र लगे हैं, तो उन्हें हमारी व्यक्तिगत रुचि या विश्वास की बात समझ कर उसे सहना चाहिए। हमारे जो प्रयत्न आपको समाज के लिए हितकारी जान पड़ते हैं, उनमें तो आप सहयोगी बन ही सकते हैं।

मुनिजी की बात तर्कसंगत लगी। उनके चले जाने के बाद खयाल आया कि यदि किसी की व्यक्तिगत रुचि और सन्तोष, समाज के लिए हानिकारक नहीं है, तो उनसे खिन्न होने की क्या जरूरत? यदि मैं दिन-भर सिगरेट फूँकते रहने की अपनी आदत को असामाजिक नहीं समझता, उस आदत को क्षमा कर सकता हूँ, तो जैन मुनियों के मुख पर कपड़ा रखने और हाथ में चँवर लेकर चलने की इच्छा से ही क्यों खिन्न हूँ? आचार्य तुलसी की प्रेरणा से अणुव्रत-आन्दोलन यदि आध्यात्मिक उन्नति के लिए उद्बोधन करता हुआ भी जनसाधारण के पार्थिव कष्टों को दूर करने और उन्हें मनुष्य की तरह जीवित रह सकने में भी योगभूत बनता है तो मैं उसका स्वागत करता हूँ।

तुम ऐसे एक निरंजन

श्री कन्हैयालाल सेठिया

तुम ऐसे एक विसर्जन
जो सृजन लिये चलते हो !

कब घन अपनी बूंदों से
अपनी ही तृषा बुझाता ?
कब तरु अपने सुमनों से
अपना श्रृङ्गार सजाता ?

तुम ऐसे एक समर्पण
जो ग्रहण लिये चलते हो !

देते हो दान विभा का
लेते हो जग की ज्वाला,
तुम सुधा बाँट कर शिव सम
पीते हो विष का प्याला,

तुम ऐसे एक निरंजन
जो भुवन लिये चलते हो !

तुम महामुक्ति के पंथी
बन्धन की महत्ता कहते,
तुम आत्म रूप अपने में
पर देह रूप से रहते ।

तुम ऐसे एक विचक्षण
जो द्वैत बने दलते हो !

तुम ऐसे एक विसर्जन
जो सृजन लिये चलते हो !

अचार्यश्री तुलसी मेरी दृष्टि में

सेवाभावी मुनिश्री चम्पालालजी

आचार्यश्री तुलसी निःसन्देह एक महापुरुष हैं। महापुरुष कोई जन्म से नहीं होता, वंश-परम्परा, समाज या स्थान उसे महान् नहीं बनाता। व्यक्ति अपनी चारित्रिक प्रवृत्ति से ही महान् होता है। उसकी प्रत्येक क्रिया एक अविच्छिन्न सत्य से ओत-प्रोत होती है, किन्तु उस क्रिया का प्रयोग होता है—सर्वजन-हिताय। हित का जहाँ तक प्रश्न है, वह मनोनीत नहीं होता। उसे सीमाओं की परिधि में भी नहीं बाँधा जा सकता और जो रेखांकित होता है, सम्भवतः वह विशुद्ध हित भी न हो। हित सदा उन्मुक्त रहा है। उसकी कसौटी आत्म-भावना है। जहाँ निर्विवाद निर्ममत्व, निस्वार्थता हो, वही असंदिग्ध क्रिया हित है। सीधे शब्दों में जो क्रिया जीवन नैर्मल्य का प्रतीक है, औरों को जिससे आत्म-संबल मिले; वही सर्वोत्तम हित है। आचार्यश्री तुलसी सर्वजनहिताय बढ़ रहे हैं। उनका वह बहुमुखी व्यक्तित्व सबके सामने है।

मुझे आज भी वे दिन याद हैं, जिन दिनों आचार्यश्री तुलसी का जन्म हुआ था। उस समय मेरी आयु छः वर्ष को पार कर चुकी थी। अपने नन्हे भाई को देखने के लिए मन में तीव्र उत्सुकता थी। जन्म के तीसरे ही दिन मैंने सबसे पहले तुलसी को देखा। एक पीत वस्त्र में लिपटा हुआ गुलाबी फूलों का गुच्छा-सा, सिंदूर ढालते से नन्हे-नन्हे पैर, खिलता हुआ चेहरा, एक प्रभा-सी सामने आई। हर्ष-विभोर मन नाच उठा। जी चाहता था कि उसे गोद में ले लूँ, पर नहीं मिला। नामकरण के अवसर पर घर में एक नवीन चहल-पहल थी। हम तुलसी, तुलसी पुकारने लगे।

तुलसी मुझे बहुत भाता। मै नहीं भूल रहा हूँ, जब तुलसी दो वर्ष का हुआ होगा, गुडाली चलने और थड़ी करने ही लगा था; न जाने किस कारण से, आपसी खींचातान में या गिर जाने से उसका एक पैर चढ़ गया। तुलसी बहुत रोया, बहुत रोया। डाक्टर को बुलाया, वैद्यों को बुलाया, सयाने को बुलाया, पर पैर नहीं उतरा।

हमारे मामा श्री नेमीचन्दजी कोठारी अच्छे अनुभवी व्यक्ति थे। मैं उन्हें बुला लाया। माँ ने कहा—भाई तुलसी का पैर···। अब ··मामाजी ने लोहे का एक भारी-सा कड़ा तुलसी के पैरों में पहना दिया। उसको गोदी में लिये लिये रखना होता। सारी-सारी रात माताजी खड़ी-खड़ी निकालती। धीरे-धीरे कुछ दिनों में पैर बोझ के खिचाव से अपने आप पूर्ववत् हो गया। उन दिनों जो मानसिक कष्ट होता, वह अनुभव की ही बात है। तुलसी को रोता देख मैं रोता तो नहीं, पर बाकी कुछ नहीं रहता। मैंने भी उन दिनों घण्टों घण्टों तक तुलसी को गोद में रखा।

मुझसे छोटा भाई सागर बड़ा ही तूफानी था। जब तब वह तुलसी को तंग करता, पर तुलसी नहीं झलकता। बहुधा तुलसी की ओर से मैं डटता और सागर के तूफानों से बचाता। कभी-कभी तो तुलसी के लिए मुझे झड़प भी करनी होती। प्रायः तुलसी बच्चों में नहीं खेलता। एकान्त-प्रियता और अपने आपमें व्यस्त रहना उसका सहभावी धर्म-सा था। बाल्य-चपलता जो सहज है और होनी भी चाहिए, पर तुलसी की चपलता उससे सर्वथा भिन्न थी। उन दिनों पुस्तकें बहुत कम थीं। प्रायः विद्यार्थी स्लेट (पाटी) बरता ही रखते थे। तुलसी बरते का शौकीन था। मैं उसे बहुधा छोटे-छोटे बरतों के टुकड़े दिया करता और तुलसी दिन भर उन टुकड़ों से आँगन में उल्टी-सीधी लाइनें खींचते रहता या एकान्त पा अपने आप गुनगुनाना ही उसकी चपलता थी। निष्कारण न कभी हँसना, न रोना और न बोलना तुलसी का स्वभाव था।

एक दिन तुलसी बरते से कान कुरेद रहा था। किसी अचानक धक्के से बरता अन्दर टूट गया। सुनार के यहाँ

बरते को समाणी से निकालने का प्रयत्न किया, पर नहीं निकला। डाक्टर के यत्न भी असफल रहे। शायद तुलसी समस्त विद्या को मस्तिष्क में लिख लेना चाहता हो, इसीलिए कान के द्वार से उसे अपने अन्दर प्रवेश करवाया हो। उसी कारण से कान का परदा विकृत हो गया। उसमें रसी, मवाद-पीप पड़ गई, कान बहने लगा। डाक्टरों ने सलाह दी कि इसे पिच-कारी से साफ करो। एक दिन कान में पिचकारी मारते-मारते बरता बाहर निकल पड़ा। तब से कान में थोड़ी-सी कमी रह गई।

मैं इस बीच कलकत्ता यात्रा को गया। तुलसी उदास था, खिन्न-सा डबडबाई आँखें लिये मुझे पहुँचाने आया। वह कितना स्नेहिल,मृदु और मुँह लगा था। भाई का अलगाव बहुत दिनों तक अखरा। मैं पुनः लौटा। तुलसी के लिए कुछ खिलौने लाया, किन्तु तुलसी बहुत नहीं खेला। खेलना पसन्द भी कम था। एक पढ़ने की धुन में वह मग्न रहता।

तुलसी बचपन में जितना सरल, गम्भीर और धैर्यशील था, उतना ही जिद्दी भी था। जिद्दी इस माने में था कि जब तक उसे कुछ नहीं जचता, वह नहीं मानता, चाहे कोई कितना ही समझाओ और कहो। जब समझ में आती तो उसका आग्रह वहीं समाप्त हो जाता। कभी-कभी अति आग्रह होता तो वह खंभा पकड़ कर बैठ जाता।

जब वह थोड़ा समझने लगा,चिन्तन जैसी स्थिति में आया, मैंने प्रव्रज्या ले ली। तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्रीमद् कालूगणी के चरण कमलों में बैठने का सौभाग्य मिला। उनके दयार्द्र हृदय में थोड़ा-सा स्थान मेरे लिये भी सुरक्षित था। उनकी कृपा और वात्सल्य शब्दों में नहीं, आँखों में तैरता है। आज भी वह दिग्गज मूर्ति ज्यों की त्यों आँखों के आगे सदृश हो उठती है।

प्रव्रजित होने के डेढ़ साल बाद श्रद्धेय गुरुदेव ससंघ लाडनूं समवसरित हुए। वहाँ मुझे तुलसी की मनःस्थिति आँकने को मिली। एकान्त वार्तालाप किया। उसकी भावना को कसौटी पर चढ़ाने की सोचने लगा। वह सशंक मनोवृत्ति, भद्रता और बाल्य-भीरुता वश एक-दो बार तो मेरी बातों को टालता रहा, पर टालने से मतलब हल नहीं होता था। तुलसी ने साहस बटोर कर हृदय खोल दिया। उसकी दृढ़ता हृदय को चिह्नित कर गई। मैं गुरुदेव के समक्ष अपनी और तुलसी की भावना व्यक्त करने लगा। मुस्कराहट ने उत्साह बढ़ाया। तुलसी साध्वोचित आचार-प्रक्रिया सीखने लगा। अनेकों प्रयत्न किये, माताजी राजी हुई, पर बड़े भाई श्री मोहनलालजी के बिना काम बन नहीं सकता था। वे बड़े कड़े और निश्चय के पक्के जो थे। बंगाल से उन्हें संवाद द्वारा बुलाया गया। कई दिनों तक वार्तालाप चला, अन्त में उन्होंने स्वयं तुलसी की परीक्षाएं कीं। बहिन लाडांजी के साथ ही दीक्षा-संस्कार निश्चित हुआ और वि० सं० १६८२ पोष कृष्णा ५ को दीक्षा-संस्कार सम्पन्न हुआ।

एकादश वर्षीय बालक तुलसी अब मुनि तुलसी के रूप में परिवर्तित हुआ। वे प्रारम्भ से ही कृशकाय और तीव्र प्रतिभा के धनी थे। संयम साधना को मुखरित करने का माध्यम अध्ययन बना। वे दत्तचित से अध्ययन में जुट गये। एक गुरुकुल के विद्यार्थी की तरह वे रात को सबके सोने पर सोते और सबसे पहले जगते, उठते। कह देना चाहिए रात-दिन एक कर दिया। जब देखो, पुस्तक हाथ में रहती और अधीत पाठ-आवर्तन सतत चालू रहता।

धीरे-धीरे तुलसी मुनि छात्र से अध्यापक की स्थिति में आये, फिर भी उनमें शासक भाव नहीं जागे। सत्ता का व्यामोह उन्हें नहीं सताया। मैंने कभी नहीं देखा अध्यापक तुलसी ने मुनि छात्रों के साथ हास्य-विनोद या व्यर्थ समय का अपव्यय किया हो। पूरी छात्र-मण्डली तुलसी मुनि सहित एक कमरे में बैठ जाती। पहरे पर दरबान बन कर मैं बैठता। जिस श्रम से तुलसी मुनि ने ज्ञानार्जन किया, वह किसी श्रमोपलब्धि से कम नहीं था।

मैं कभी-कभी तुलसी मुनि की त्रुटियाँ ढूंढने के लिए लुक-छिप कर जाया करता। मेरा आशय स्पष्ट था—मैं अपने भाई को नितान्त निर्दोष देखना चाहता था। एक दिन तुलसी मुनि मेरे पास आये और बोले—आपको मेरे प्रति क्या अविश्वास है, आप लुक-छिप कर क्या देखा करते हैं? इतना पूछने का साहस सम्भवतः उन्होंने कई दिनों के चिन्तन के बाद किया होगा। मैंने अधिकार की भाषा में कहा—तुम्हें कोई जरूरत नहीं। मुझे जैसा उचित जचेगा, करूँगा,देखूंगा, पूछूँगा। स्पष्ट आऊँ या लुक-छिप, तुम्हें क्या प्रयोजन? मैं मानता हूँ तुलसी मुनि ने जो मेरा सम्मान रखा, आज का विद्यार्थी क्या अपने बड़े का रखेगा? न विशेष मैं बोलता और न वे। ऊपर में बीस-बीस छात्र उनके छात्रावास में रहे,

पर तुलसी के प्रति सब में समान आदर भाव और श्रद्धा देखी।

एक दिन मैंने तुलसी मुनि से कहा—तुलसी ! तुम अपना समय औरों ही औरों के लिए देते रहोगे या स्वयं का भी कुछ करोगे ? पहले अपना पाठ पूरा करो फिर औरों को कराओ। मेरी इस भावना को तत्रस्थ छात्रों ने विपरीत लिया और यदा-कदा यह भी सामने आया—ये चम्पालालजी हमें पढ़ाने के लिए आचार्यश्री को टोकते हैं, किन्तु मेरा आशय था कि पहले स्वयं अध्ययन नहीं करोगे तो फिर विशेष जिम्मेवारी आने पर नहीं होगा। तुलसी मुनि ने बड़े विवेक से उसका उत्तर ठीक में दिया।

गुरुदेव श्री कालूगणी का वह वात्सल्य भरा आदेश आज भी कानों में गूँज उठता है—चम्पालाल ! यदि तुलसी में कोई कसर रही तो दण्ड तुझे मिलेगा। मैं उन हृदय भरे शब्दों का विस्तार कैसे करूँ; नहीं आता।

आज भी लिखते-लिखते ऐसे सैकड़ों संस्मरण मस्तिष्क में दौड़ रहे हैं। एक के शब्दों में आबद्ध होने से पूर्व ही दूसरा और सामने आ खड़ा होता है। उसे लेना चाहता हूँ, इतने में तीसरा उससे अधिक प्रिय लगने लग जाता है। लेखनी लिख नहीं पाती।

एक दिन श्रीकालूगणी ने मुझे आदेश फरमाया—तुलसी को बुलाओ। मैं बुला लाया। अच्छा तुम दरवाजे पर बाहर बैठ जाओ। मैं बैठ गया। कई दिनों तक यह क्रम चलता चला। उन दिनों गुरुदेव रुग्णावस्था में थे। उन्होंने अपने उत्तरवर्ती का भार हलका करना शुरू कर दिया था। तुलसी दिन-प्रतिदिन और विनयावनत होते गये।

एक दिन वह भी आया, जब मैंने अपने हाथों से सूर्योदय होते-होते स्याही निकाली और एक श्वेत पत्र, लेखनी व मसीदान ले गुरुदेव के श्री चरणों में उपस्थित हुआ। गंगापुर मेवाड़ का वह रंगभवन, उसके मध्यवर्ती उस विशाल हाल में ध्यानोन्मुख पूज्य गुरुदेव विराजे और अपना उत्तराधिकार तुलसी मुनि को समर्पित किया।

वि० सं० १९९३ भाद्रव शुक्ला ९ को आप श्री ने आचार्य-भार सँभाला। तब से अब तक की प्रत्येक प्रवृत्ति से मैं ही क्यों समूचा साहित्य-जगत् किसी न किसी रूप में परिचित है ही। आज उनके शासन काल को पूरे पच्चीस वर्ष हो चले हैं। संघ की उदीयमान अवस्था का यह असाधारण काल रहा है।

मानवता के पोषक, प्रचारक व उन्नायक

श्री विष्णु प्रभाकर

किसी व्यक्ति के बारे में लिखना बहुत कठिन है। कहूँगा, संकट से पूर्ण है। फिर किसी पंथ के आचार्य के बारे मे। तब तो विवेकबुद्धि की उपेक्षा करके श्रद्धा के पुष्प अर्पण करना ही सुगम मार्ग है। इसका यह अर्थ नहीं होता कि श्रद्धा सहज होती ही नहीं; परन्तु जहाँ श्रद्धा महज हो जाती है, वहाँ प्रायः लेखनी उठाने का अवसर ही नहीं आता। श्रद्धा का स्वभाव है कि वह बहुधा कर्म में जीती है। लेखनी में अक्सर निर्णायक बुद्धि ही जागृत हो आती है और वही संकट का क्षण है। उसमें पलायन करके कुछ लेखक तो प्रशंसात्मक विशेषणों का प्रयोग करके मुक्ति का मार्ग ढूंढ़ लेते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो उतने ही विशेषणों का प्रयोग उसकी विपरीत दिशा में करते हैं। सच तो यह है कि विशेषण के मोह से मुक्त होकर चिन्तन करना संकटापन्न है। वह किसी को प्रिय नहीं हो सकता। इसीलिए हम प्रशंसा अथवा निन्दा के अर्थों में सोचने के आदी हो गए।

फिर यदि लेखक मेरे-जैसा हो, तो स्थिति और भी विषम हो जाती है। आचार्यश्री तुलसी गणी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ की गुरु-परम्परा के नवम पट्टधर आचार्य है और मैं तेरापंथी तो क्या, जैन भी नहीं हूँ। सच पूछा जाये तो कहीं भी नहीं हूँ। किसी मत, पंथ अथवा दल में अपने को समा नहीं पाता। धर्म ही नहीं, राजनीति और साहित्य के क्षेत्र में भी……। लेकिन यह सब कहने पर भी मुक्ति क्या सुलभ है ! यह सब भी तो कलम से ही लिखा है। अब तर्क आश्वस्त करे या न करे, पराजित तो कर ही देता है। इसीलिए लिखना भी अनिवार्य हो उठता है।

विष अमृत बन सकता है ?

आज के युग में हम कगार पर खड़े है। अन्तरिक्ष-युग है। धरती की गोलाई को लेकर सुदूर व्यतीत में हत्याएं हुई हैं। उसी तथ्य को आज का मानव आँखों से देख आया है। इस प्रगति ने मानस की पटभूमि को आन्दोलित भी किया है। दृष्टि की क्षमता बढ़ी है। विवेक-बुद्धि भी जागृत हुई है, पर मानव का अन्तर-मन अभी भी वहीं है। हिंसा और घृणा की बात विवादास्पद मान कर छोड़ भी दें, लेकिन साम्प्रदायिकता और जातीयता, अर्थलोलुपता और मात्सर्य—ये सब उसे अभी पूरी तरह जकड़े हुए हैं। धर्म, मत अथवा पंथ में न हों, राजनीति और साहित्य में हों, तो क्या उनका विष अमृत बन सकता है ? भले ही हम चन्द्रलोक में पहुँच जाएं अथवा शुक्र पर शासन करने लगें। उस सफलता का क्या अर्थ होगा, यदि मनुष्य अपनी मनुष्यता से ही हाथ धो बैठे ? मनुष्यता सापेक्ष हो सकती है, परन्तु दूसरे के लिए कुछ करने की कामना में, अर्थात् 'स्व' को गौण करने की प्रवृत्ति में, सापेक्षता है भी, तो कम-से-कम। वहाँ स्व को गौण करना स्व को उठाना है।

आचार्यश्री तुलसी गणी के पास जाने का जब अवसर मिला, तब जैसे इस सत्य को हमने फिर से पहचाना हो। या कहें, उसकी शक्ति से फिर से परिचय पाया हो। जब-जब भी उनसे मिलने का सौभाग्य हुआ, तब-तब यही अनुभव हुआ कि उनके भीतर एक ऐसी सात्त्विक अग्नि है जो मानवता के हितार्थ कुछ करने को पूरी ईमानदारी के साथ आतुर है। जो अपने चारों ओर फैली अनास्था, आचरणहीनता और अमानवीयता को भस्म कर देना चाहती है।

कला में सौन्दर्य के दर्शन

पहली भेंट बहुत संक्षिप्त थी। किन्हीं के आग्रह पर किन्हीं के साथ जाना पड़ा। जाकर देखता हूँ कि शुभ्र-श्वेत

वस्त्रधारी, मँझले कद के, एक जैन आचार्य साधु-साध्वियों से घिरे हमारे प्रणाम को मधुर-मन्द मुस्कान से स्वीकार करते हुए आशीर्वाद दे रहे हैं। गौर वर्ण, ज्योतिर्मय दीप्त नयन, मुख पर विद्वत्ता का जड़ गाम्भीर्य नहीं, बल्कि ग्रहणशीलता का तारल्य देख कर आग्रह की कटुता धुल-पुछ गई। याद नहीं पड़ता कि कुछ बहुत बातें हुई हों; पर उनके शिष्य-शिष्याओं की कला-साधना के कुछ नमूने अवश्य देखे। सुन्दर हस्तलिपि, पात्रों पर चित्रांकन; समय का सदुपयोग तो था ही, साधुओं के निरालस्य का प्रमाण भी था। यह भी जाना कि यह साधु-दल शुष्कता का अनुमोदक नहीं है, कला में सौन्दर्य के दर्शन करने की क्षमता भी रखता है।

सौम्य और आग्रह-विहीन

दूसरी बार जोधपुर में मिलना हुआ। कोई उत्सव था, भाषण देने वालों और सुनने वालों की अच्छी-खासी भीड़ थी। स्वागत-सत्कार में भी कोई कमी नहीं थी। कुछ बहुत अच्छा नहीं लगा। भाषण और भीड़ से मुझे अरुचि है; और अगर स्वागत-सत्कार के पीछे सहज भाव नहीं है, तो वह भी एक बोझ बन कर रह जाता है। परन्तु यहीं पर आचार्यश्री तुलसी को जी भर कर पास से देखा। विचार-विनिमय करने का अवसर भी मिला। बहुत अच्छी तरह याद है कि रात को बाल-दीक्षा आदि कुछ प्रश्नों को लेकर आचार्यश्री से काफी स्पष्ट बातें हुई थीं। तभी पाया कि वे सौम्य और आग्रह-विहीन हैं। अहिंसा और अपरिग्रह के अपने मार्ग में उन्हें इतना सहज विश्वास है कि शंकालु का समाधान करने में मस्तिष्क पर कुछ अधिक जोर देना नहीं पड़ता। आलोचना से उत्तेजित नहीं होते। सहिष्णुता उनके लिए सहज है, इसीलिए उद्विग्नता भी नहीं है। है केवल एकाग्रता और आग्रह-विहीन पक्ष-समर्थन। वे कुशल वक्ता हैं। जो कुछ कहना चाहते हैं, बिना किसी आक्षेप के प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत कर देते हैं। आश्वस्त तो न तब हुआ था, न आज तक हो सका हूँ; परन्तु विराट मानवता में उनकी अटूट आस्था ने मुझे निश्चय ही प्रभावित किया था। वह अणुव्रत-आन्दोलन के जन्मदाता हैं। उनकी दृष्टि में चरित्र-उत्थान का वह एक सहज मार्ग है। कवि की भाँति मैं अणुव्रत की अणु-बम से काव्यात्मक तुलना नहीं कर सकता। करना चाहूँगा भी नहीं। उस सारे आन्दोलन के पीछे जो उदात्त भावना है, उसको स्वीकार करते हुए भी उसकी संचालन-व्यवस्था में मेरी आस्था नहीं है। परन्तु उन व्रतों का मूलाधार वही मानवता है, जो कालातीत है, अभिन्न है और है अजेय।

विश्व में सत्ता का खेल है। सत्ता, अर्थात् स्व की महिमा; इसीलिए वह अकल्याणकर है। इसी अकल्याण का दंश निकालने के लिए यह अणुव्रत-आन्दोलन है। इन सबका दावा है कि चरित्र-निर्माण द्वारा सत्ता को कल्याण कर बनाया जा सकता है; परन्तु मुझे लगता है कि उद्देश्य शुभ होने पर भी यह दावा ही सबसे बड़ी बाधा है। क्योंकि जहाँ दावा है, वहाँ साधन और साधन जुटाने वाले स्वयं सत्ता के शिकार हो जाते हैं, इसीलिए उनके आस-पास दल उग आते हैं। पैसा देते हैं और देकर मन-ही-मन सहस्र गुना पाने की आकांक्षा रखते हैं। इसीलिए जैसे ही सिद्धि-प्राप्त व्यक्ति का मार्ग-दर्शन सुलभ नहीं रहता, वे सत्ता के दलदल में आकण्ठ फँस जाते हैं। स्वयं आचार्यश्री ने कहा है—"धन और राज्य की सत्ता में विलीन धर्म को विष कहा जाये तो कोई अतिरेक न होगा।" इससे अधिक स्पष्ट और कठोर शब्दों का प्रयोग हम नहीं कर सकते।

क्रियात्मक शक्ति और संवेदनशीलता

पर शायद यह तो विषयान्तर हो गया। यह तो मेरी अपनी शंकामात्र है। इससे अणुव्रत-आन्दोलन के जन्मदाता की मानवता में आशंका क्यों हो! जो व्यक्ति निवृत्तिमूलक जैन धर्म को जन-कल्याण के क्षेत्र में ले आया, मानवता में उसकी आस्था निश्चय ही अद्भुत है। इसीलिए अनुकरणीय भी है। उनकी क्रियात्मक शक्ति और उनकी संवेदनशीलता निश्चय ही किसी दिन मानवता के रेगिस्तान को नाना वर्णों के पुष्पों से आच्छादित हरे-भरे सुरम्य प्रदेश में परिवर्तित कर देगी। कारलाइल ने कहीं लिखा है, "किसी महापुरुष की महानता का पता लगाना हो तो यह देखना चाहिए कि वह अपने से छोटे के साथ कैसा बर्ताव करता है।" आचार्यश्री स्वाभाव से ही सबको समान मानते हैं। बचपन से ही धर्म में उनकी रुचि रही है और ये संस्कार उन्हें अपनी मातुश्री की ओर से विरासत में मिले हैं। उन्होंने शूद्रों को कहीं छोटा

नहीं समझा। स्पष्ट शब्दों में उन्होंने कहा है, "धर्म ब्राह्मणों का है, बनियों का है; शूद्रों का नहीं, यह भ्रान्ति है। धर्म का द्वार सबके लिए खुला है।" वे धर्म को सत्य की खोज, अपने स्वरूप की खोज, मानते हैं। जो सत्य का खोजी है, जो अपने को जानना चाहता है, उसके लिए न तो कोई बड़ा है, न छोटा। यही नहीं, वे मानव के एकीकरण में विश्वास रखते है। उनकी दृष्टि समानता और समन्वय के तत्त्वों को ही देखती है; विषमता और विशृंखलता के तत्त्वों को नहीं। उन्होंने बार-बार कहा है, "धर्म-सम्प्रदायों में समन्वय के तत्त्व अधिक हैं। विरोधी तत्त्व कम।" इसीलिए उनके अणुव्रत-आन्दोलन में अजैन तो हैं ही, हिन्दू धर्म के बाहर के लोग भी हैं।

सब विरोधों, विसंगतियों और मतभेदों के बावजूद ये सब तथ्य क्या यह प्रमाणित नहीं करते कि आचार्यश्री तुलसी गणी का जीवन-लक्ष्य विराट और अखण्ड मानवता का कल्याण है, लघु और खण्डित मानवता का नहीं और उनका यह विश्वास शाब्दिक भी नहीं है, क्रियाशील है। तभी यह अणुव्रत-आन्दोलन है। तभी उनका बल आचार पर अधिक है; क्योंकि व्यास भगवान् के शब्दों में 'आचार ही धर्म है' और बीसवीं सदी में आचार ही मानवता है। आचार्य-श्री तुलसी इसी मानवता के पोषक, प्रचारक और उन्नायक हैं।
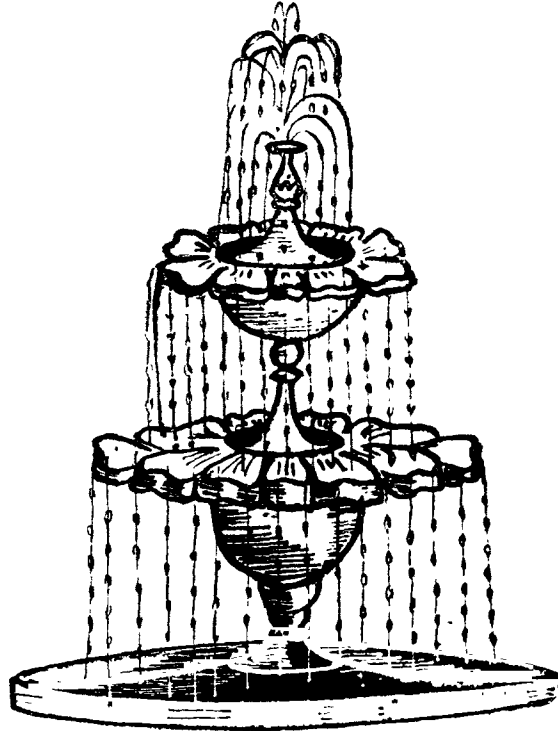
वर्तमान शताब्दी के महापुरुष

प्रो० एन० वी० वैद्य, एम० ए०
फर्ग्यूसन कालेज, पूना

सद्बोधं विदधाति हन्ति कुमति मिथ्यादृशं बाधते,
धत्ते धर्ममति तनोति परमे संवेगनिर्वेदने।
रागादीन् विनिहन्ति नीतिममलां पुष्णाति हन्त्युत्पथं,
यद्वा किं न करोति सद्गुरुमुखादभ्युद्गता भारती।

महान् और सद्गुरु के मुख से निकले हुए वचन सद्ज्ञान प्रदान करते हैं, दुर्मति का हरण करते हैं, मिथ्या विश्वासों का नाश करते हैं, धार्मिक मनोवृत्ति उत्पन्न करते हैं, मोक्ष की आकांक्षा और पार्थिव जगत के प्रति विरक्ति पैदा करते हैं, राग-द्वेष आदि विकारों का नाश करते हैं, सच्ची राह पर चलने का साहस प्रदान करते हैं और गलत एवं भ्रामक मार्ग पर नहीं जाने देते। संक्षेप में, सद्गुरु क्या नहीं कर सकता ?

दूसरे शब्दों में, सद्गुरु इस जीवन में और दूसरे जीवन में जो भी वास्तव में कल्याणकारी है, उस सबका उद्गम और मूल स्रोत है।[1]

शलाकापुरुष

इन पंक्तियों का असली रहस्य मैंने उस समय जाना, जब मैंने चार वर्ष पूर्व राजगृह में आचार्यश्री तुलसी का प्रवचन सुना। कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो प्रथम दर्शन में ही मानस पर अतिक्रमणीय छाप डालते हैं। पूज्य आचार्यश्री सचमुच में ऐसे ही महापुरुष हैं। जैन श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के वर्तमान आचार्य को उनके चुम्बकीय आकर्षण और प्राणवान् व्यक्तित्व के कारण आसानी से युगप्रधान, वर्तमान शताब्दी का महापुरुष अथवा शलाकापुरुष (उच्चकोटि का पुरुष अथवा अति मानव) कहा जा सकता है। मेरा यह अत्यन्त सद्भाग्य था कि मुझे उनके सम्पर्क में आने का अवसर मिला और मैं उस सम्पर्क की मधुर और उज्ज्वल स्मृतियों को हमेशा याद रखूंगा; कारण **सतां सद्भिः संगः कथमपि हि पुण्येन भवति** अर्थात् सत्संग किसी पुण्य से ही प्राप्त होता है।

उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है कि चार बातों का स्थायी महत्त्व है। वह श्लोक इस प्रकार है :

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं ॥३-१॥

अर्थात् किसी भी प्राणी के लिए चार स्थायी महत्त्व की बातें प्राप्त करना कठिन है। मनुष्य जन्म, धर्म का ज्ञान, उसके प्रति श्रद्धा और आत्म-संयम का सामर्थ्य।

उसी प्रकरण में आगे कहा गया है—

माणुस्सं विग्गहं लद्धं सुई धम्मस्स दुल्लहा। ३-८॥

अर्थात् मनुष्य जन्म मिल जाने पर भी धर्म का श्रवण कठिन है।

---

१ उत्तराध्ययन पर देवेन्द्र की टीका

दुमपत्तयं नामक दशम अध्ययन में भी इसी भावना को दोहराया गया है:

अहीण पंचिंदियत्तं पि से लहे
उत्तम धम्म सुई हु दुल्लहा। १०-१८

अर्थात् यद्यपि मनुष्य पाँचों इन्द्रियों से सम्पन्न हो, किन्तु उत्तम धर्म की शिक्षा मिलना दुर्लभ होता है।

इसलिए किसी व्यक्ति के लिए यह परम सौभाग्य का ही विषय हो सकता है कि उसे महान् गुरु अथवा सच्चे पथ प्रदर्शक का सम्पर्क प्राप्त हो—ऐसे गुरु का जो विश्वधर्म के सच्चे सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता हो। सबसे महत्त्व-पूर्ण बात यह कि जो अपने उपदेश के अनुसार स्वयं आचरण भी करता हो। आचार्यश्री तुलसी के चुम्बकीय आकर्षण, सच्ची श्रद्धा और उनकी उच्च और भव्य शिक्षाओं का प्रभाव तत्काल ही मन पर पड़ता है। उनका दृष्टिकोण तनिक कट्टरतापूर्ण अथवा संकुचित साम्प्रदायिकता युक्त नहीं है। इसके विपरीत वे अपने चारों ओर उदारता, व्यापकता और विशालता का वातावरण विकीर्ण करते हैं। जब हजारों व्यक्ति ध्यान मग्न होकर उनका प्रवचन सुनते हैं तो कम-से-कम थोड़े समय के लिए तो वे नित्य-प्रति की चिन्ताओं और भौतिक स्वार्थों के लिए होने वाले अपने नैरन्तरिक संघर्षों को भूल जाते हैं और संकुचित और दकियानूसी दृष्टिकोण त्याग कर मानो किसी उच्च, भव्य और अलौकिक जगत में पहुँच जाते हैं।

बुराइयों की राम बाण औषधि

अणुव्रत-आन्दोलन जिसका पूज्य आचार्यश्री संचालन कर रहे हैं और जो प्रायः उनके जीवन का ध्येय ही है, वास्तव में एक महान् वरदान है और वर्तमान युग की समस्त बुराइयों की रामबाण औषधि सिद्ध होगी। दुनिया में जो व्यक्ति लोगों के जीवन और भाग्य-विधाता बने हुए हैं, यदि वे इस महान् आन्दोलन पर गम्भीरता से विचार करें तो हमारे पृथ्वी-मण्डल का मुख ही एकदम बदल जाए और दुनिया में जो परस्पर आत्म-नाश की उन्मत्त और आवेशपूर्ण प्रतिस्पर्धा चल रही है, बन्द हो जाए। तब निश्शस्त्रीकरण, आणविक अस्त्रों के परीक्षण को रोकने और मानव जाति के सम्पूर्ण विनाश के खतरे को टालने के लिए लम्बी-चौड़ी बेकार की बहसें करने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी। मनुष्य अपने को सृष्टि का मुकुट समझने में गर्व अनुभव करता है। किन्तु अकस्मात् ये उद्गार फूट पड़ते हैं, 'मनुष्य ने मनुष्य को क्या बना दिया है।'

अणुव्रत-आन्दोलन वास्तव में असाम्प्रदायिक आन्दोलन है और उसको हमारी धर्म निरपेक्ष सरकार का भी समर्थन मिलना चाहिए। यदि इस आन्दोलन के मूलभूत सिद्धान्तों की नई पीढ़ी को शिक्षा दी जाए तो वे बहुत अच्छे नाग-रिक बन सकेंगे और वास्तव में विश्व नागरिक कहलाने के अधिकारी हो सकेंगे। राजनैतिक नेताओं की लम्बी-चौड़ी बातों के बजाय जो प्रायः कहते कुछ हैं और करते कुछ हैं, इस प्रकार का आन्दोलन राष्ट्रीय एकता के ध्येय को अधिक शीघ्रतापूर्वक सिद्ध कर सकेगा।

धवल समारोह समिति के आयोजकों ने पूज्य आचार्यश्री के प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि भेंट करने का जो अवसर मुझे प्रदान किया है, उसके लिए मैं अपने को गौरवान्वित और परम सौभाग्यशाली समझता हूँ। अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादक ने जब मुझसे आचार्यश्री के बारे में अपने संस्मरण लिखने का अनुरोध किया तो मैंने उसे तुरन्त सहर्ष स्वीकार कर लिया, कारण कवि ने कहा है:

प्रतिबध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजा व्यतिक्रमः

● ● ●

धर्म-संस्थापन का दैवी प्रयास

श्री एल० ओ० जोशी
मुख्य सचिव, दिल्ली प्रशासन

मनुष्य और शेष सृष्टि में एक मुख्य अन्तर यह है कि मनुष्य में मनन व विचार की शक्ति अधिक प्रखर एवं प्रबल होती है। मन्' (=सोचना, विचार करना) धातु से ही 'मनुष्य' शब्द की भी व्युत्पत्ति मानी जाती है, अतः मनन मनुष्य की न केवल स्वाभाविक प्रवृत्ति ही है, बल्कि उसका वैशिष्ट्य भी है। यही प्रवृत्ति नर को नारायण बनाने की आशा भी उपजाती है और वानर बनाने की आशंका भी। इसीलिए कहा गया है, **मन एव मनुष्याणां कारणं बंधमोक्षयोः** मन ही मनुष्यों के बन्धन का कारण है और मोक्ष का भी।

यह मन, यह बुद्धि, मनुष्य को सामान्यतः निर्विकार शान्त नहीं रहने देता। 'सामान्यतः' इसलिए कि इस पर स्वामित्व प्राप्त कर लेने वाले मनीषियों पर तो इसका वश नहीं चलता; किन्तु शेष सब तो इसी के नचाये नाचते रहते हैं। एक दृष्टि से इस प्रवृत्ति का, और इससे उत्पन्न जिज्ञासा का, बड़ा महत्त्व है। अंग्रेजी कवि एवं दार्शनिक ब्राउनिंग[1] लिखता है कि मनुष्य एक मिट्टी का ढेला तो नहीं है, जिसमें शंका व जिज्ञासा की एक चिनगारी भी न चमकती हो। और जो समझे कि जीवन केवल इसीलिए है कि खाओ-पीओ और मौज करो—अथवा जैसे कि टाल्स्टाय ने अपनी 'मुक्ति की कहानी' (Confessions and What I believe) में सविस्तर व्याख्या की है—प्रत्येक विचारशील व्यक्ति के मन में एक प्रश्न उठता है, टाल्स्टाय के लिए भी यह प्रश्न था—"इस ससीम जीवन का कोई निःसीम प्रयोजन अथवा अर्थ है या नहीं ?" और यह प्रश्न उसे इस तरह झकझोर देता है, अभिभूत कर लेता है कि जब तक उसका समाधान न हो, न कोई शान्ति मिलती है, न विश्राम।

मै कौन हूँ ? किस लिए यह जन्म पाया ?
क्या-क्या विचार मन में किसने पटाया ?
माया किसे ? मन किसे ? किसको शरीर ?
आत्मा किसे कहे सब धर्म धीर ?

ये प्रश्न अनादिकाल से मनुष्य के मस्तिष्क में उठते चले आये हैं और महापुरुषों ने भिन्न-भिन्न देश, काल एवं परिस्थितियों में अत्यन्त उत्कट साधना, अनन्य निष्ठा एवं प्रखर प्रतिभा के द्वारा इनका उत्तर खोजा है। इस खोज में उन्हें जिस सत्य के दर्शन हुए, उसे उन्होंने प्राणी-मात्र के हित के लिए अभिव्यक्त तथा प्रसारित भी किया है। कालान्तर में इन्हीं उत्तरों का वर्गीकरण हो गया और वे देश, काल अथवा व्यक्ति-विशेष से सम्बद्ध होकर किसी विशिष्ट धर्म के नाम से सम्बोधित किये जाने लग गये।

मानव समाज की अपूर्व निधि

इस सन्दर्भ में एक विलक्षण तथ्य की ओर ध्यान सहसा आकृष्ट होता है। जिस प्रकार अध्यात्म अथवा दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार के अनुभव एवं प्रयोग मानव-इतिहास के प्रारम्भ से चले आ रहे हैं, उसी प्रकार भौतिक विज्ञान के क्षेत्र

१ Finished and finite clods, untroubled by spark.

में भी होते आये है। परन्तु इन दोनों में एक महान् अन्तर यह दृष्टिगोचर होता है कि जहाँ भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में एक के बाद एक सिद्धान्त प्रयोग और परीक्षण की कसौटी पर कसे जाकर प्रस्थापित होते हैं और उत्तरोत्तर प्रयोगों तथा परीक्षणों से उनके असत्य प्रमाणित होने पर नये सिद्धान्त नवीनतम सत्य के रूप में प्रतिपादित होते हैं, वहाँ जीवन दर्शन के क्षेत्र में ऋषि-महर्षि, विभूतियाँ, अवतार, मसीहा, पैगम्बर, संत भिन्न-भिन्न देश-काल आदि में सत्य की खोज करने निकले और मूलतः एक ही परिणाम पर पहुँचे। कितनी अद्भुत है यह अनुभूति! यही धर्म की सनातनता है। इसी के फल-स्वरूप उत्तरोत्तर प्रयत्नों द्वारा अध्यात्म के क्षेत्र में पूर्ववर्ती अनुसन्धान से प्राप्त सत्य की ही पुष्टि एवं व्याख्या हुई। यह शाश्वत अविकल दिक्-कालादि-अनवच्छिन्न तत्त्व, यह सत्य दर्शन, मानव-समाज की अपूर्व निधि है, यही उसकी मानवता का माप-दण्ड है।

दुर्भाग्य से, समय-समय पर बड़ी चर्चा होती है—धर्म और अधर्म के भेदों की, उनसे उत्पन्न कटुताओं की और धर्म-आचरण के दुष्परिणामों की। आजकल हमारे देश में भी धर्म एक विभीषिका-सा बना हुआ है। धर्म के नाम पर जो विकृत परम्पराएं आदि धर्म का ह्रास होने पर सबल हो जाती हैं, उन परम्पराओं, अन्धविश्वासों, संकुचित दृष्टिकोणों को ही धर्म मान कर हम धर्म के शाश्वत तत्त्वों की उपेक्षा करने लगेंगे तो वह विनाश का मार्ग अपनाने जैसा होगा। धर्म की विकृतियों से हट कर गहराई में घुसने और धर्मों की मूलभूत एकता तथा समता का अनुभव करने के लिए धर्म-निष्ठा, धर्म-चिन्तन, धर्म-आचरण का मार्ग ग्रहण करना होगा; धर्म-द्वेष, धर्म-उपेक्षा या धर्म-अज्ञान का नहीं।

धर्मों में मूलभूत भेद नहीं

वास्तव में एक धर्म और दूसरे धर्म में कोई मूलभूत भेद न तो है, न हो सकता है। इन भेदों की कल्पना और उनके आधार पर धर्मों के विरुद्ध लगाये जाने वाले आरोप-प्रत्यारोप सब भ्रामक एवं भ्रान्तिमूलक हैं। वास्तव में कोई विरोध या संघर्ष है तो वह धर्म और धर्म के बीच नहीं, वरन धर्म और अधर्म के बीच है और यह विरोध अनादि काल से चला आ रहा है और चिरकाल तक चलता रहेगा। इस दृष्टि से सोचें तो कितनी सुन्दर लीला यह है—मनुष्य युग-युग से प्रतिपादित उच्चतम दर्शन (धर्म तत्त्व) के उत्तराधिकारी के रूप में जन्मता है; उसमें स्वयं इतनी क्षमता निहित है कि वह इन तत्त्वों का आचरण तथा चिन्तन करके विकास की चरम सीमा तक पहुँच सके; फिर भी, प्रायः वह मोह में पड़ कर पथ-भ्रष्ट हो जाता है और पशुवत् अथवा पशु से भी निम्न श्रेणी का जीवन व्यतीत करता है; फिर यही मानव-समाज किसी ऐसी विभूति को जन्म देता है जो फिर मनुष्य का ध्यान उसकी मनुष्यता के मूल स्रोतों की ओर खींचता है, जो नये-नये ढंग से उस शाश्वत सत्य को प्रतिपादित करता है और धर्म की फिर से अच्छी तरह स्थापना करने का प्रयास करता है। मनुष्य को ऊर्ध्व गति की ओर तथा अधोगति की ओर ले जाने वाली शक्तियों के इसी अनवरत संघर्ष—सुरासुर-संग्राम के कारण जगन्नियन्ता को स्वयं अवतीर्ण होकर धर्म-संस्थापन करना पड़ता है, जिससे कि इन शक्तियों का सन्तुलन बिगड़ न जाये, अधर्म धर्म पर हावी न हो जाये।

इस संघर्ष का एक सुन्दर कलात्मक एवं प्रेरक चित्र उपस्थित करते हुए जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द ने अपनी कविता 'सत्य और स्वर्ण' में कितना सुन्दर कहा है—

स्वर्ण भी चिरकाल से है इस धरा पर,
सत्य भी रहता चला आया निरन्तर।
स्वर्ण की चेष्टा सदा से ही रही यह,
सत्य का मुख ढके माया-जाल से वह।
सत्य का यह यत्न उतना ही पुराना,
स्वर्ण के मोहक प्रलोभन में न आना।
आदि से यह द्वन्द्व चलता आ रहा है,
अन्त कोई भी न इसका पा रहा है।

इस चिरन्तन द्वन्द्व की जो है कहानी,
कथा मानव-साधना की वह पुरानी।
....
सत्य अन्तर्बाह्य सम अविराम अविजित,
स्वर्ण से संघर्ष करता है अकम्पित।
स्वर्ण के जो दास वे हैं हाथ उसके,
सत्य के निःस्वार्थ साथी साथ उसके।
जो न इसके, समर्थक उसके बने हैं,
मार्ग दो ही मानवों के सामने हैं।
तीसरा दल विश्व में कोई नहीं है,
सत्य ने आशा कभी खोई नहीं है।
प्रश्न यह इतिहास का सबसे सतत है—
'कौन किसके साथ इस रण में निरत है?'

श्रेय और प्रेय से उपलब्धि

सब धर्मों के सार अथवा अपरिवर्तनीय मूल तत्त्व का संक्षेप में उल्लेख करना सरल नहीं है, तथापि प्रस्तुत संदर्भ में यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि यह है आध्यात्मिकता—अथवा शान्ति या सुख की खोज बाहर न करके अन्दर करना। यही श्रेय मार्ग है, जिसे उपनिषदों ने प्रेय मार्ग से भिन्न बताया और कहा कि श्रेय मार्ग ग्रहण करने से कल्याण होता है, परन्तु प्रेय मार्ग ग्रहण करने से ऐसा 'हीयतेऽर्थः' प्रयोजन ही विफल हो जाता है। इस श्रेय मार्ग का आनन्द त्याग के द्वारा मिलता है, भोग के द्वारा नहीं; अतएव यह आनन्द वास्तविक, पूर्ण तथा शाश्वत होता है। भोग द्वारा प्राप्त सुख मिथ्या, अपूर्ण तथा अनित्य होता है, इसलिए यदि सुख ही अभीष्ट हो तो विषयेन्द्रिय-संयोग-जन्य विषाक्त सुख के स्थान पर अतीन्द्रिय सुख का आनन्द लेना मनुष्य को शोभा देता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं—"मैं ही ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ, मैं ही अव्यय अमृत की, शाश्वत धर्म की, तथा एकान्तिक सुख की प्रतिष्ठा हूँ।" अर्थात् चाहे अमृतत्व के लिए साधना हो, चाहे धर्म के अथवा सुख के लिए, हमारी दृष्टि यह होनी चाहिए कि जिस अमृत की हम चाह करते हैं, वह अव्यय हो; जिस धर्म में हमारी निष्ठा है, वह शाश्वत (अपरिवर्तनशील) धर्म हो, जिस सुख की हम खोज करें, वह एकान्तिक हो; ऐसा न हो कि वह दुःख में परिणत हो जाये।

उपर्युक्त प्रकार से जीवन की दिशा निश्चित हो जाने पर यह कहा जा सकेगा कि **सम्यग् व्यवसितो हि सः** यह दिशा ठीक स्थिर हुई। इसके पश्चात् लक्ष्य की ओर बढ़ने की बात आती है। यह प्रगति हमारे दैनिक आचरण, व्यवहार व अभ्यास पर निर्भर है। इस क्षेत्र में हमें आचार्यों, संतों और महापुरुषों की जीवन-चर्या से बड़ी प्रेरणा तथा मार्ग-दर्शन मिलते हैं। साधना-पथ की ओर उन्मुख व्यक्ति के पैर पथ की विकटता के वर्णनों से डगमगाते हैं—जैसे कि **क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत् कवयो वदन्ति**; Strait is the gate and narrow the path; अथवा कभी-कभी इस भय से कि कहीं वह उभयतः विभ्रष्ट न हो जाये—माया मिली न राम। गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'गीतांजलि' के एक गीत में इस दुविधा का एक सुन्दर चित्र खींचा है:

मेरे बन्धन बड़े जटिल हैं, किन्तु
जब मैं उन्हें तोड़ने का प्रयत्न करता हूँ
तो मेरा दिल दुखने लगता है।
मेरा दृढ़ विश्वास है
कि तुझमें अमूल्य निधि है और

तू ही मेरा सच्चा सखा है, किन्तु
मुझ में इतना साहस नहीं कि मेरे
अन्तर के कूड़े-करकट को निकाल फेंकूं।

यह आवरण जो मुझे अभिभूत किये हुए है,
मिट्टी और मृत्यु का बना है—
मैं इससे घृणा करता हूँ, परन्तु इसे ही
प्रेम से आलिंगन किये हूँ।

मुझ पर भारी आभार है, मेरी विफलताएं विराट हैं,
मेरी लज्जा गोपनीय एवं गहरी है, किन्तु
जब मैं अपने कल्याण की याचना करने
लगता हूँ तो इस आशंका से कांप उठता हूँ कि
कहीं मेरी प्रार्थना स्वीकार न हो जाये।

ऐसी मनःस्थिति में ही साधक को आवश्यक जीवन दृष्टि तथा साहस प्रदान करने के लिए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है—"इस मार्ग में अभिक्रम का नाश या प्रत्यवाय नहीं होता; इस धर्म का स्वल्पांश भी महान् भय से रक्षा करता है"; —"कल्याण मार्ग का कोई पथिक दुर्गति को नहीं जाता"; "निस्सन्देह मनुष्य का मन बड़ा चंचल है और बड़ी कठिनाई से निग्रह में आता है, फिर भी वैराग्य तथा अभ्यास से यह सम्भव है?" आदि-आदि।

आध्यात्मिकता के पुनर्जागरण का शंखनाद

आचार्यश्री तुलसी ने आज के भौतिकता-प्रधान युग में धर्म अर्थात् आध्यात्मिकता के पुनर्जागरण के लिए जो शंखनाद किया है, वह धर्म-संस्थापन के समय-समय पर होने वाले दैवी प्रयासों की शृंखला की ही एक कड़ी है। व्यवहार क्षेत्र में उन्होंने 'अणुव्रत' की नई व्याख्या करके साधना के मार्ग को सरल बनाया है। धर्म-पथ पर एक अणु के बराबर भी प्रगति की तो उसके अनेक हितकर प्रभाव होंगे, यह स्पष्ट है। सबसे बड़ा हित तो यही है कि अधर्म से विमुख होने पर ही धर्म-पथ पर एक पग भी बढ़ा जा सकेगा, अतएव हम अधोगति से पूर्णतः बच जायेंगे। दूसरे, साधना के पथ की लम्बाई या दुरूहता पर ध्यान लगने से जो आशंका व दुविधा हमें अभिभूत कर लेती है, उसके बजाय हम केवल अगले एक कदम की ही सोचें तो रास्ता सरलता से कटता जायेगा। बहुत चलना है, मुश्किल चलना है, इस भय के स्थान पर अणुव्रत यह भावना सामने रखता है कि एक कदम तो चलो। महात्मा गांधी कहते थे, "मेरे लिए एक कदम काफी है" (One step enough for me)। संसार जानता है कि एक-एक करके वे कितने कदम चले और मनुष्य-मात्र के लिए साधना का कितना ऊँचा मानदण्ड स्थापित कर गए। यदि हम इस प्रकार एक-एक कदम भी चलें तो उस पश्चात्ताप के गर्त में न पड़ेंगे, जिसके बारे में एक ईसाई संत ने कहा है—

जिसे सन्मार्ग समझा, उस पर चल न पाया।
जिसे कुमार्ग समझा, उससे टल न पाया।

अथवा—

किमहं साधु नाकरवम् किमहं पापमकरवमिति।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि का उपदेश आध्यात्मिक जीवन-दर्शन की मानी हुई आधार-शिलाएं हैं। यह उपदेश धर्म के प्रारम्भकाल से दिया जाता रहा है। शाश्वत धर्म के इन मूल सिद्धान्तों को मानव-जीवन के प्रारम्भिक युग में ही तपस्या, चिन्तन एवं स्वानुभव के आधार पर प्रतिपादित किया गया था, किन्तु इसका यह अर्थ

नहीं कि इस कारण हम अणुव्रत-आन्दोलन के मूल्य को न समझें और कहें कि इसमें तो नवीनता नहीं है। जैसा कि पहले कहा गया है—जीवन-दर्शन के क्षेत्र में मौलिक नवीन सिद्धान्तों की खोज ने प्राचीनतम सिद्धान्तों की सत्यता को खंडित नहीं, पुष्ट ही किया है। यहाँ नई खोज, नये प्रयास का लक्ष्य पिछले सिद्धान्त का उखाड़ना नहीं, वर्तमान स्थितियों में उसकी व्यावहारिकता प्रतिपादित करके उसे नया-नया रूप देना होता है। इस दृष्टि से अणुव्रत-आन्दोलन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी कार्य कर रहा है। कालान्तर से धर्म और व्यवहार में जो खाई पड़ गई है, जो द्वैत उत्पन्न हो गया है, उसे मिटा कर धर्म को व्यावहारिक जीवन में सम्यक् प्रकार से स्थापित करने का यह नवीनतम प्रयास इस दृष्टि से अत्यन्त अभिनन्दनीय है।

इस पुनीत अवसर पर आचार्यश्री के प्रति श्रद्धा प्रकट करने के हेतु से इन कुछ वाक्य-पुष्पों की अंजलि अर्पित है। सच्ची श्रद्धांजलि तो यही होगी कि आचार्यश्री के उपदेशों की ओर हमारा ध्यान जाये, हम उन पर विचार करें, उन्हें समझें उन पर आचरण करें जिससे हममें मानवोचित आध्यात्मिकता फिर से जागे, हमारी धर्म में आस्था दृढ़ हो और धर्म-व्यवहार में उतरे।

प्रथम दर्शन और उसके बाद

श्री सत्यदेव विद्यालंकार

वे प्रथम दर्शन मैं कभी भूल नहीं सकता। राजस्थान के कुछ स्थानों का दौरा करने के बाद मैं जयपुर पहुँचा। उन दिनों जयपुर के जैन समाज में कुछ सामाजिक संघर्ष चल रहा था। जयपुर पहुँचने पर उसके बारे में कुछ जानकारी प्राप्त करने की इच्छा स्वाभाविक थी। जैन समाज के साथ मेरा बहुत पुराना सम्बन्ध था। अखिल भारतीय दिगम्बर जैन महासभा के प्रधानमंत्री लाला प्रसादीलालजी पाटनी, कई वर्ष हुए, 'जैन-दण्डनम्' नामक पुस्तक लेकर मेरे पास आये। पुस्तक में जैन समाज पर कुछ गर्हित आक्षेप किये गए थे। उनके कारण वे उसको सरकार द्वारा ज़ब्त करवाना चाहते थे। मेरे प्रयत्न से उनका वह कार्य हो गया। इस साधारण-सी घटना के कारण मेरा अखिल भारतीय दिगम्बर महासभा के माध्यम से जैन समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित हुआ और पाटनीजी के अनुग्रह से वह निरन्तर बढ़ता ही चला गया। इसी कारण उस संघर्ष के बारे में मेरे हृदय में जिज्ञासा पैदा हुई।

मैंने एक मित्र से उसका कारण पूछा; वे कुछ उदासीन भाव से बोले कि आपको इसमें क्या दिलचस्पी है। मैंने विनोद में उत्तर दिया कि पत्रकार के लिए हर विषय में रुचि रखनी आवश्यक है। इस पर भी उन्होंने मुझे टालना ही चाहा। कुछ आग्रह करने पर उन्होंने कहा कि जैन समाज के विभिन्न सम्प्रदायों में बहुत पुराना संघर्ष चला आता है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में तो फौजदारी तथा मुकदमेबाजी तक का लम्बा सिलसिला कई वर्षों तक जारी रहा। इसी प्रकार इन सम्प्रदायों का स्थानकवासियों तथा तेरापंथियों के साथ और उनका आपस में भी मेल नहीं बैठता। यहाँ तेरापंथ-सम्प्रदाय के आचार्यश्री तुलसी का चातुर्मास चल रहा है और उनके प्रवचनों के प्रभाव के कारण दूसरे सम्प्रदायों के लोग उनके प्रति ईर्ष्या करने लगे हैं। उनका आपस का पुराना वैर नये सिरे से जाग उठा है।

मेरी दिलचस्पी के कारण उन्होंने स्वयं ही यह प्रस्ताव किया कि क्या आप आचार्यश्री के दर्शन करने के लिए चल सकेंगे? मैंने कहा कि मुझे इसमें क्या आपत्ति हो सकती है! एक आचार्य महापुरुष के दर्शनों से कुछ लाभ ही मिलेगा। उन्होंने कुछ समय बाद मुझे सूचना दी कि दोपहर को दो बजे बाद का समय ठीक रहेगा।

प्रथम दर्शन

लगभग अढ़ाई बजे मैं उनके साथ उस पण्डाल में पहुँच गया, जिसमें आचार्यश्री के प्रवचन हुआ करते थे। मैं अपने मित्र के साथ अजनबी-सा बना हुआ उपस्थित लोगों की पीछे की पंक्ति में एक कोने में जा बैठा। यदि मैं भूलता नहीं, तो पूज्य आचार्यश्री उस समय उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री दौलतमल भण्डारी के साथ बातचीत करने में संलग्न थे। आचार्यश्री की निर्मल, स्वच्छ और पवित्र वेश-भूषा तथा उनके रौबीले चेहरे में कुछ अद्भुत-सा आकर्षण दीख पड़ा। मैं चुपचाप २०-२५ मिनट बैठ कर चला आया। मैंने कोई बातचीत उस समय नहीं की और न करने की मुझे इच्छा ही हुई। कारण केवल यह था कि मैं उनकी बातचीत में खलल पैदा नहीं करना चाहता था। परन्तु जैसे ही उठ कर मैं चला, पूज्य आचार्यश्री की दृष्टि मुझ पर पड़ी और मुझे ऐसा लगा जैसे कि उनकी आँखों ने मुझे घेर लिया हो। फिर भी चुपचाप वहाँ से लौट आया। वह थे पहले दर्शन, जिनका चित्र मेरे सामने आज भी वैसा ही बना हुआ है।

जयपुर से प्रवास करने के बाद आचार्यश्री का दिल्ली में आगमन हुआ। अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया जा चुका था। नैतिक चरित्र-निर्माण के, अणुव्रत-आन्दोलन के सन्देश को लेकर आचार्यश्री अपने संघ के साथ राजधानी पधारे

थे। इसी कारण आचार्यश्री के पधारने की विशेष चर्चा थी। नई दिल्ली होते हुए अपने संघ के साथ आचार्यश्री ने जब दिल्ली-दरवाजे की ओर से राजधानी की पुरानी नगरी में प्रवेश किया और दरियागंज से चाँदनी चौक होते हुए आप नया-बाजार पहुँचे तो दर्शक वह दृश्य देख कर मुग्ध रह गये। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि महाकवि तुलसी के **सन्त हंस गुण गहहिं पय परिहरि वारि विकार** शब्दों के अनुसार क्षीर-नीर का मन्थन करने के लिए मानसरोवर से राजहंसों की टोली राजधानी में अवतरित हुई हो। सचमुच भ्रष्टाचार, चोरबाजारी, मुनाफाखोरी, मिलावट तथा अनैतिकता के वातावरण को शुद्ध व पवित्र करने के लिए आचार्यश्री के अणुव्रत-आन्दोलन का नैतिक सन्देश दूध को दूध और पानी को पानी कर देने वाला ही था।

तीन घोषणाएं

नयाबाजार में पदार्पण करने के बाद जो पहला प्रवचन हुआ, उसके कारण मेरे लिए आचार्यश्री का राजधानी की ऐतिहासिक नगरी में शुभागमन एक अनोखी ऐतिहासिक घटना थी। वह प्रवचन मेरे कानों में सदा ही गूँजता रहता है और उसके कुछ शब्द कितनी ही बार उद्धृत करने के कारण मेरे लिए शास्त्रीय वचन के समान महत्त्वपूर्ण बन गये हैं। आचार्यश्री की पहली घोषणा यह थी कि यह तेरापंथ किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं है। यह प्रभु का पंथ है। इसीलिए इसके प्रवर्तक आचार्यश्री भिखनजी ने यह कहा कि यह मेरा नहीं, प्रभु ! तेरा पंथ है। इस घोषणा द्वारा आचार्यश्री ने यह व्यक्त किया कि वे किसी भी प्रकार की संकीर्ण साम्प्रदायिक भावना से प्रेरित न होकर, राष्ट्र-कल्याण तथा मानव-हित की भावना से प्रेरित होकर राजधानी आये हैं।

दूसरी घोषणा आचार्यश्री की यह थी कि मैं अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा उन राष्ट्रीय नेताओं के उस आन्दोलन को बलशाली तथा प्रभावशाली बनाना चाहता हूँ, जो राष्ट्रीय जीवन को ऊँचा उठा कर उसमें पवित्रता का संचार करने में लगे हैं।

इसी प्रकार तीसरी घोषणा आचार्यश्री ने यह की थी कि मैं अपने समस्त साधु-संघ तथा साध्वी-संघ को राष्ट्र के नैतिक उत्थान के इस महान् कार्य में लगा देना चाहता हूँ।

इन घोषणाओं का स्पष्ट अभिप्राय यह था कि जिस नैतिक नव-निर्माण के महान् आन्दोलन का सूत्रपात राज-स्थान के सरदारशहर में किया गया था, उसको राष्ट्रव्यापी बना देने का शुभ संकल्प करके आचार्यश्री राजधानी पधारे थे। स्थानीय समाचारपत्रों में इसी कारण आचार्यश्री के शुभागमन का हार्दिक स्वागत एवं अभिनन्दन किया गया। मैं उन दिनों में दैनिक 'अमर-भारत' का सम्पादन करता था। इन घोषणाओं से प्रभावित होकर मैंने 'अमर भारत' को अणुव्रत-आन्दोलन का प्रमुख पत्र बना दिया और उसके लिए भारी-से-भारी लोकापवाद को सहन करते हुए मैं अपने इस व्रत पर अडिग रहा।

उपेक्षा, उपहास और विरोध

श्रेयांसि बहु विघ्नानि की कहावत आचार्यश्री के इस शुभागमन और महान् नैतिक आन्दोलन पर भी चरितार्थ हुई। आन्दोलन का राजधानी में सूत्रपात होने के साथ ही विरोध का बवण्डर भी उठ खड़ा हुआ। ऐसे प्रत्येक आन्दोलन को उपेक्षा, उपहास, भ्रम और विरोध का प्रारम्भ में सामना करना ही पड़ता है। फिर उसके लिए सफलता की झाँकी दीख पड़ती है। अणुव्रत-आन्दोलन को उपेक्षा और उपहास का इतना सामना नहीं करना पड़ा, जितना कि विरोध का। इस विरोधपूर्ण वातावरण में ही अणुव्रत-आन्दोलन के प्रथम अखिल भारतीय सम्मेलन का आयोजन दिल्ली में टाउन-हाल के सामने किया गया। न केवल राजधानी में, अपितु समस्त देश के कोने-कोने में उसकी प्रतिध्वनि गूँज उठी। कुछ प्रतिक्रिया विदेशों में भी हुई। हमारे देश का कदाचित् ही कोई ऐसा नगर बचा होगा, जिसके प्रमुख समाचारपत्रों में अणुव्रत-आन्दो-लन और सम्मेलन की चर्चा प्रमुख रूप से नहीं की गई और उस पर मुख्य लेख नहीं लिखे गये। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा अन्य नगरों के समाचारपत्रों ने बड़ी-बड़ी आशाओं से आन्दोलन एवं सम्मेलन का स्वागत किया। बात यह थी कि

अनैतिकता और भ्रष्टाचार दूसरे महायुद्ध की देन है और इन बुराइयों से सारे ही विश्व का मानव-समाज पीड़ित है। वह इनसे मुक्ति पाने के लिए बेचैन है। इसमे भी कहीं अधिक विभीषिका विश्व के मानव के सिर पर तीसरे सम्भावित महा-युद्ध की काली घटाओं के रूप में मँडरा रही है। तब ऐसा प्रतीत होता था, जैसे कि आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा मानव की इस पीड़ा व बेचैनी को ही प्रकट किया हो और उसको दूर करने के लिए एक सुनिश्चित अभियान शुरू किया हो, इसीलिए उसका जो विश्वव्यापी स्वागत हुआ, वह सर्वथा स्वाभाविक था।

सबसे बड़ा आक्षेप

इस विश्व-व्यापी स्वागत के बावजूद राजधानी के अनेक क्षेत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन को सन्देह एवं आशंका से देखा जाता रहा और उसको अविश्वास तथा विरोध की घनी घाटियों में से गुजरना पड़ा। विरोधियों और आलोचकों का सबसे बड़ा आक्षेप यह था कि आचार्यश्री एक पंथ-विशेष के आचार्य हैं और वह पंथ संकीर्ण साम्प्रदायिकता, अनुदारता तथा असहिष्णुता से ओत-प्रोत है। आन्दोलन का सूत्रपात उस सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए किया गया है और उस सम्प्रदाय के अनुयायी अपने आचार्य को पुजवाने के लिए उसमें लगे हुए हैं। यह भी कहा जाता था कि इस सम्प्रदाय की सारी व्यवस्था अधिनायकवाद पर आधारित है। उसके आचार्य उसके सर्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिनायक हैं। वर्तमान प्रजा-तन्त्र-युग में अधिनायकवाद पर आश्रित आन्दोलन बड़ा खतरनाक है। इसी प्रकार के तरह-तरह के आरोप व आक्षेप आन्दोलन पर किये जाते थे। तेरापंथी सम्प्रदाय की मान्यताओं व मर्यादाओं के सम्बन्ध में संकुचित व संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से विचार व विरोध करने वाले इसी पक्षपातपूर्ण चश्मे से अणुव्रत-आन्दोलन को देखते थे और उस पर मनमाने आरोप व आक्षेप करने में तनिक भी संकोच न करते थे। तरह-तरह के हस्तपत्रक छाप कर बाँटे गए और दीवारों पर बड़े-बड़े पोस्टर भी छाप कर चिपकाये गए। विरोध करने वालों ने भरसक विरोध किया और आन्दोलन को हानि पहुँचाने में कुछ भी कसर उठा न रखी।

इस बवण्डर का जो प्रभाव पड़ा, उसको प्रकट करने के लिए एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए। कुछ साथियों का यह विचार हुआ कि अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद को देकर उनकी सहानुभूति प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। उनका यह अनुमान था कि राष्ट्रपतिजी नैतिक नव-निर्माण के महत्त्व को अनुभव करने वाले महानुभाव हैं। उनको यदि इस नैतिक आन्दोलन का परिचय दिया गया तो अवश्य ही उनकी सहानुभूति प्राप्त की जा सकेगी। श्रीमान् सेठ मोहनलालजी कठौतिया के साथ मैं राष्ट्रपति-भवन गया और उनके निजी सचिव से चर्चा-वार्ता हुई, तो उसने स्पष्ट कह दिया कि यह आन्दोलन विशुद्ध रूप से साम्प्रदायिक है और ऐसे किसी साम्प्रदायिक आन्दोलन के लिए राष्ट्रपति की सहानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती। मैंने अनुरोध किया कि राष्ट्रपतिजी से एक बार मिलने का अवसर तो आप दें, परन्तु वे उसके लिए भी सहमत न हुए। यह एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए; यह दिखाने के लिए कि आचार्यश्री को राजधानी में प्रारम्भिक दिनों में कैसे विरोध, भ्रम, उदासीनता तथा प्रतिकूल परि-स्थितियों में अणुव्रत-आन्दोल की नाव को खेना पड़ा। इसके विपरीत जिस धैर्य, संयम, साहस, उत्साह, विश्वास तथा निष्ठा से काम लिया गया, उसका परिचय इतने से ही मिल जाना चाहिए कि विरोधी आन्दोलन के उत्तर में एक भी हस्त-पत्रिका प्रकाशित नहीं की गई। एक भी वक्तव्य समाचारपत्रों को नहीं दिया गया और किसी भी कार्यकर्ता ने अपने किसी भी व्याख्यान में उसका उल्लेख तक नहीं किया—प्रतिवाद करना तो बहुत दूर की बात थी। जबकि आचार्यश्री के प्रभाव, निरीक्षण और नियन्त्रण में इस अपूर्व धैर्य और अपार संयम से कार्यकर्ता आन्दोलन के प्रति अपने कर्तव्य-पालन में संलग्न थे, तब यह तो अपेक्षा ही नहीं की जा सकती थी कि पूज्यश्री के प्रवचनों में कभी कोई ऐसी चर्चा की जाती। अणुव्रत-सम्मेलन के अधिवेशन में भी कुछ विघ्न डालने का प्रयत्न किया गया, परन्तु सम्पूर्ण अधिवेशन में विरोधियों की चर्चा तक नहीं की गई और प्रतिरोष अथवा असन्तोष का एक शब्द भी नहीं कहा गया। आन्दोलन अपने सुनिश्चित मार्ग पर अव्याहत गति से निरन्तर आगे बढ़ता गया।

अधिकाधिक सफलता

आचार्यश्री के उस प्रथम दिल्ली-प्रवास में राजधानी के कोने-कोने में अणुव्रत-आन्दोलन का सन्देश पूज्यश्री के प्रवचनों द्वारा पहुँचाया गया और दिल्ली से प्रस्थान करने से पूर्व ही उसके प्रभाव के अनुकूल आसार भी चारों ओर दीखने लग गए थे। राजधानी के अतिरिक्त आसपास के नगरों में आन्दोलन का सन्देश और भी अधिक तेजी से फैला। यह प्रकट हो गया कि तपस्या और साधना निरर्थक नहीं जा सकती। विश्वास, निष्ठा और श्रद्धा अपना रंग दिखाये बिना नहीं रह सकते। रचनात्मक और नव-निर्माणात्मक प्रवृत्तियों को असफल बनाने के लिए कितना भी प्रयत्न क्यों न किया जाये, वे असफल नहीं हो सकतीं। अणुव्रत-आन्दोलन का १०-१२ वर्ष का इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि कोई भी लोक-कल्याणकारी शुभ कार्य, प्रवृत्ति अथवा आन्दोलन असफल नहीं हो सकता। राजधानी की ही दृष्टि से विचार किया जाये तो आचार्यश्री की प्रत्येक दिल्ली-यात्रा पहली की अपेक्षा दूसरी, दूसरी की अपेक्षा तीसरी और तीसरी की अपेक्षा चौथी अधिकाधिक सफल, आकर्षक और प्रभावशाली रही है। राष्ट्रपति-भवन, मन्त्रियों की कोठियों, प्रशासकीय कार्यालयों और व्यापारिक तथा औद्योगिक संस्थानों एवं शहर के गली-कूचों व मुहल्लों में अणुव्रत-आन्दोलन की गूँज ने एक-सरीखा प्रभाव पैदा किया। उसको साम्प्रदायिक बता कर अथवा किसी भी अन्य कारण से उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकी और उसके प्रभाव को दबाया नहीं जा सका। पिछले बारह वर्षों में पूज्य आचार्यश्री ने दक्षिण के सिवाय प्रायः सारे ही भारत का पाद-विहार किया है और उसका एकमात्र लक्ष्य नगर-नगर, गाँव-गाँव तथा जन-जन तक अणुव्रत-आन्दोलन के सन्देश को पहुँचाना रहा है। राजस्थान से उठी हुई नैतिक निर्माण की पुकार पहले राजधानी में गूँजी और उसके बाद सारे देश में फैल गई। राजस्थान, पंजाब, मध्यभारत, मध्यप्रदेश, खानदेश, बम्बई और पूना; इसी प्रकार दूसरी दिशा में उत्तरप्रदेश बिहार तथा बंगाल और कलकत्ता की महानगरी में पधारने पर पूज्य आचार्यश्री का स्वागत तथा अभिनन्दन जिस हार्दिक समारोह व धूमधाम से हुआ, वह सब अणुव्रत-आन्दोलन की लोकप्रियता, उपयोगिता और आकर्षण शक्ति का ही सूचक है।

मैंने बहुत समीप से पूज्य आचार्यश्री के व्यक्तित्व की महानता को जानने व समझने का प्रयत्न किया है। अणुव्रत-आन्दोलन के साथ भी मेरा बहुत निकट-सम्पर्क रहा है। मुझे यह गर्व प्राप्त है कि पूज्यश्री मुझे 'प्रथम अणुव्रती' कहते हैं। आचार्यश्री के प्रति मेरी भक्ति और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति मेरी अनुरक्ति कभी भी क्षीण नहीं पड़ी। आचार्यश्री के प्रति श्रद्धा और अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति विश्वास और निष्ठा में उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई है। महात्मा गांधी ने देश में नैतिक नव निर्माण का जो सिलसिला शुरू किया था, उसको आचार्यश्री के अणुव्रत-आन्दोलन ने निरन्तर आगे ही बढ़ाने का सफल प्रयत्न किया है। यह भी कुछ अत्युक्ति नहीं है कि नैतिक नव-निर्माण की दृष्टि से पूज्य आचार्यश्री ने उसे और भी अधिक तेजस्वी बनाया है। चरित्र-निर्माण हमारे राष्ट्र की सबसे बड़ी महत्त्वपूर्ण समस्या है। उसको हल करने में अणुव्रत-आन्दोलन जैसी प्रवृत्तियाँ ही प्रभावशाली ढंग से सफल हो सकती हैं, यह एकमत से स्वीकार किया गया है। राष्ट्रीय नेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं, विभिन्न राजनैतिक दलों के प्रवक्ताओं और लोकमत का प्रतिनिधित्व करने वाले समाचार-पत्रों ने एक स्वर से उसके महत्त्व और उपयोगिता को स्वीकार किया है। संत विनोबा का भूदान और पूज्य आचार्यश्री का अणुव्रत-आन्दोलन, दोनों का प्रवाह दोनों के पादविहार के साथ-साथ गंगा और जमुना की पुनीत धाराओं की तरह सारे देश में प्रवाहित हो रहा है। दोनों की अमृतवाणी सारे देश में एक जैसी गूँज रही है और भौतिकवाद की घनी काली घटाओं में बिजली की रेखा की तरह चमक रही है। मानव-समाज ऐसे ही संत महापुरुषों के नव जीवन के आशामय सन्देशों के सहारे जीवित रहता है। वर्तमान वैज्ञानिक युग में जब अणुबमों और महाविनाशकारी साधनों के रूप में उसके द्वार पर मृत्यु को खड़ा कर दिया गया है, तब ऐसे संत महापुरुषों के अमृतमय सन्देश की और भी अधिक आवश्यकता है। आचार्य-प्रवर श्री तुलसी और संत-प्रवर श्री विनोबा इस विनाशकारी युग में नव जीवन के अमृतमय सन्देश के ही जीवन्त प्रतीक हैं। धन्य हैं हम, जिन्हें ऐसे संत महापुरुषों के समकालीन होने और उनके नैतिक नव-निर्माण के अमृत सन्देश सुनने का सौभाग्य प्राप्त है!

अणुव्रत-आन्दोलन के पिछले ग्यारह-बारह वर्षों का जब मैं सिंहावलोकन करता हूँ, तब मुझे सबसे अधिक

आशाजनक जो आसार दीख पड़ते हैं, उनमें उल्लेखनीय है— आचार्यश्री के साधु-संघ का आधुनिकीकरण। मेरा अभिप्राय यह नहीं है कि साधु-संघ के अनुशासन, व्यवस्था अथवा मर्यादाओं में कुछ अन्तर कर दिया गया है। वे तो मेरी दृष्टि में और भी अधिक दृढ़ हुई हैं। उनकी दृढ़ता के बिना तो सारा ही खेल बिगड़ सकता है; इसलिए शिथिलता की तो मैं कल्पना तक नहीं कर सकता। मेरा अभिप्राय यह है कि आचार्यश्री के साधु-संघ में अपेक्षाकृत अन्य साधु संघों के सार्वजनिक भावना का अत्यधिक मात्रा में संचार हुआ है और उसकी प्रवृत्तियाँ अत्यधिक मात्रा में राष्ट्रोन्मुखी बनी हैं। आचार्यश्री ने जो घोषणा पहली बार दिल्ली पधारने पर की थी, वह अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई है। उन्होंने अपने साधु संघ को जन-सेवा तथा राष्ट्र-सेवा के लिए अर्पित कर दिया है। एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए। वह यह कि जितने जनोपयोगी साहित्य का निर्माण पिछले दस-ग्यारह वर्षों में आचार्यश्री के साधु-संघ द्वारा किया गया है और जन-जागृति तथा नैतिक चरित्र-निर्माण के लिए जितना प्रचार-कार्य हुआ है, वह प्रमाण है इस बात का कि समय की माँग को पूरा करने में आचार्यश्री के साधु-संघ ने अभूतपूर्व कार्य कर दिखाया है और देश के समस्त साधुओं के सम्मुख लोक-सेवा तथा जन-जागृति के लिए एक अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर दिया है। युग की पुकार सुनने वाली संस्थाएं ही अपने अस्तित्व को सार्थक सिद्ध कर सकती हैं। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि आचार्यश्री के तेरापंथ साधु-संघ ने अपने अस्तित्व को पूरी तरह सफल एवं सार्थक सिद्ध कर दिया है।

तुभ्यं नमः श्रीतुलसीमुनीश !

आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दन शर्मा, आयुर्वेदाचार्य

अणुव्रतैः शान्तिनितान्तशीलै रस्त्रै रमोघैः कलहं विजेतुम्।
त्वं भारतोर्व्यां कुरुषे विहारं, तुभ्यं नमः श्रीतुलसीमुनीश ॥१॥
त्वं लोकबन्धोः सदृशो विभासि, लोकान्धकारस्य विनाशनाय।
पापाधमैधांसि विदग्धुमर्हः, प्राज्ञैः प्रतीतोऽस्यकृशः कृशानुः ॥२॥
चिन्ताग्निना प्रज्वलिताङ्गभाजां, शान्तं सुशीतं हृदयं करोषि।
दोषैरशेषै रहितं ब्रुवन्ति, विदांवरा स्त्वामशशं शशाङ्कम् ॥३॥
रत्नोपमानि प्रवरव्रतानि, दीनाय दारिद्र्य-हताय दत्से।
विद्वद्वरा स्त्वां मधुरं वदन्तमक्षारतोयं जलधिं विदन्ति ॥४॥
अहिंसया निर्हृत लोकदुःखं, सद् ब्रह्मचर्यव्रतभूषिताङ्गम्।
अपुत्रभार्यं विजहद् गृहं त्वां, मन्यामहे गान्धिमगाधबुद्धिम् ॥५॥
अशेषशब्दाम्बुधिपारयातं, सारस्वताः संप्रति सन्दिहन्ति।
त्वं पाणिनिं वा तुलसीमुनिं वा, दाक्षी[1] सुतं वा वदना[2] सुतं वा ॥६॥
साधूं स्त्वदीयान् सम भोज्यवस्त्रान्, एक क्रिया नेक गुरौ निबद्धान्।
वीक्ष्य प्रवीणा इह निर्णयन्ति, न साम्यवादं न समाजवादम् ॥७॥
गीतामपि त्वां परितः पठन्तं, जैनागमान् पूर्णतया रटन्तम्।
शौद्धोदने ग्रन्थवरान् भणन्तं, स्वं-स्वं विदुर्वैदिकजैनबौद्धाः ॥८॥

१ दाक्षी, पाणिनिमाता २ वदना, तुलसी माता

सम्प्रति वासवः

मुनिश्री कानमलजी

सुरसभेव सभा नव राजति, सुरसभाव सभा नव राजति।
त्वमपि संसदसंप्रति वासवः, कुतुहलं मम विभ्रति वासवः ।।१।।
यमवलोक्य भवन्तमिवोज्ज्वलं, परिवृतं भगणैः रिव साधुभिः।
अवकिरन्तमिवामृतधारया, सितरुचं परमंचसिताम्बरे ।।२।।
कुमुदिनी मुदिनी मुदिनीरधि रधिपतिः स्वगृहं स्वगृहं प्रति।
सुभगवां भगवान् भगवांछया, सकल साध्यल साध्यल नाध्यय ।।३।।

निर्द्वन्द्वो द्वन्द्वमाश्रितः

मुनिश्री चन्दनमलजी

विनयेन वराविद्या, विवेको विद्यया सह।
वकारत्रयमाबाल्यात्, समगंस्त त्वयि प्रभो ।।१।।
पाठकः पाठकालेयः, सेव्यमानोसि सेवकः।
तितीर्षु स्तारकश्चापि, निर्द्वन्द्वो द्वन्द्वमाश्रितः ।।२।।
वृद्धिकृद् वर्द्धमानो यः, श्रमणः श्रमतत्परः।
विरोधिषु महावीरः, संगताख्यात्रयी त्वयि ।।३।।
पञ्चविंशतिवर्षेषु, भ्रामं भ्रामं भुवस्तले।
गुप्तं नैदंयुगीनैस्तद्, यत्त्वयोपकृतं गणे ।।४।।
पुत्रस्त्वमतिजातोसि, देव ! पुत्र चतुष्टये।
वृत्तिं सर्व जनीनां यत्, समाश्रित्य विराजसे ।।५।।
ध्वान्तं दुर्णयसंभूतं, दूरयन् धवलेश्वर।
धवलस्ते समारोहो, विश्वं धवलयिष्यति ।।६।।
स्वयं प्रकाशमानोथो, अर्थसार्थं प्रकाशयन्।
भानुमानिव लोकेस्मिन्, जयतात्तुलसी प्रभुः ।।७।।

•

तुलसीं वन्दे

श्री यतीन्द्र विमल चौधरी
मन्त्री-वङ्गीय संस्कृत शिक्षा परिषद्

आचार्यतुलसीं वन्दे जैनधर्मस्वरूपकम्।
'तेरापन्थि' महासङ्घ-मैत्रीबन्धनहेतुकम् ।।१।।
महावीर महाधर्म-सुधारसप्रदायकम् ।।
अणुव्रत-प्रचारेण विश्वशुद्धिविधायकम् ।।२।।

चिरं जयतु श्रीतुलसामुनीन्द्रः

मुनिश्री नवरत्नमलजी

अर्हन त्वमेव भगवन्नुपकारकत्वात् सिद्धोपि विश्ववसुधातल आश्रयत्वात्
आचारचिन्तनपटोरनुयोगकृच्चोपाध्याय आर्य ! मुनि उज्ज्वलसाधकत्वात् ॥१॥
विद्यार्थिनोविनयशासनशीलयुक्तान् व्यापारिणः सरलसत्यपथप्रविष्टान्
कर्माधिकारिमनुजान् नयनीति निष्ठान् कुर्वन् चिरं जयतु श्रीतुलसीमुनीन्द्रः ॥२॥

•

न मनुजोऽमनुजोऽर्हति तत्तुलम्

मुनिश्री पुष्पराजजी

सु तुलसी भुवने स्त्यमरः प्रियो, न मनुजोऽमनुजोऽर्हति तत्तुलम् ।
हत विधि सुविधि शरणागतं, प्रकुरुते हरते च तदापदम् ॥१॥
तदमले कमले चलनेऽधुना, सुमनसं मनसोपहरन्नरम्,
सुमनसा प्रणमन्नऽहमुत्सुकः, सुसमये धवले ह्यभिनन्दनम् ॥२॥

•

निर्मलात्मा यशस्वी

मुनिश्री वत्सराजजी

लोकोद्धारं समयविदुरः कर्तु मुद्यद् वचस्वी,
स्वात्मोद्धारं समयविदुरो नित्यमीशो मनस्वी ।
स्वान्योद्भासी गृहमणिनिभः सत्तपस्वी महस्वी,
चेतस्तल्पे लसतु तुलसी निर्मलात्मा यशस्वी ॥१॥
को नो विद्यात् तरुणतरणिं तीव्र तेजः प्रतापं,
भूम्याकाशंयदुदयवशाद् भासते सप्रकाशम् ।
तोषं यातं निखिलभुवनं क्रान्तिशीलं निरीक्ष्य,
शोषं यातो जनपथ ततः केवलं पंकराशिः ॥२॥
कल्याणाभं दिवि दिनमणिं नित्य मुच्चैश्चरिष्णु,
मीर्ष्या-म्लाना तिरयितु मिमे वारिवाहा यतन्ते ।
पातस्तेषां भवति तरसा वीक्षणीयो विपाकः,
श्रद्धा स्फीता भवति भुवने भास्वतां तद् विरोधात् ॥३॥

•

कोपि विलक्षणात्मा

मुनिश्री डूंगरमलजी

आचार्यवर्यपदमाप्य सुशास्त्रसिन्धुं, निर्मथ्य तत्त्वसुमणीनुपगम्य पूज्य।
श्रीमान् स्वयं समभवन् कृतवांश्च सङ्घं, विष्णुर्भवानजनि कोपि विलक्षणात्मा ॥१॥
योगात्मवद् वैदिक ब्रह्मवत् किम्, व्याप्तं त्रिलोके सुयश स्त्वदीयम्।
तेषां तु बाधाऽनुपलब्धिमात्रात्, प्रत्यक्षतस्ते सुयशः-प्रसिद्धिः ॥२॥
अस्तं कदा याति कदा ह्युदेति, न ज्ञानमाप्नोति जनस्तवान्तिके।
वैशेषिकं मुक्तिपदं समर्पयन्, वैशेषिकः कोपि विलक्षणो भवान् ॥३॥
प्रत्यक्षसिद्धान् सुगुणांस्त्वदीयान्, मीमांसका नैव विलोकयन्ति।
गुणा न संतीति मतं मतं यत्, सत्येपि सूर्ये जनुषान्धका यथा ॥४॥
प्रतिभया चकितं जगतीतलं, मधुरया सुगिरा तृषिता नराः।
तमभिनन्दितवान् धवलोत्सवे, गुरुवरं तुलसीं मुनि डुँगरः ॥५॥

•

निरन्तरायं पदमाप्तुकामः

मुनिश्री शुभकरणजी

कल्याणकांक्षिन् सुकृतिन् प्रयोगिन् कृतिन् प्रयोगिन् तुलसीमुनीश।
सर्वान् सदा पाहि निरन्तरायं निरन्तरायं पदमाप्तुकामः ॥१॥
जीयाच्चिरं विश्वदिनेशतेजो, दिनेशतेजोपि भवेदणीयम्।
गतागतिप्रज्ञ समागमज्ञ, समागमज्ञ स्थितधिन् मुमुक्षो ॥२॥

•

वन्द्यो न केषां भवेत् ?

श्री विद्याधर शास्त्री, एम० ए०

राष्ट्रे नित्यमणुव्रतादिषु जनान् संयोजयन् पावयन्,
भ्रष्टाचारतमः सदा स्वविषयात् सोन्मूलमुच्छेदयन्।
तत्तच्छास्त्रनयादिशोधनपरः शिष्यप्रदेयागमः,
आचार्यस्तुलसी सभादिनकरो वन्द्यो न केषां भवेत् ॥१॥
रत्नं भारतसंस्कृते मुनिवरो मान्यो मनस्वी महान्,
नेता कोऽपि कृती स्वशुभ्रयशसा सर्वा दिशः पूरयन्।
भव्येऽस्मिन् धवले महोत्सवदिने विभ्राजमानोऽधिकम्,
आचार्यस्तुलसी विलक्षणमतिर्जातोऽभिनंद्योऽखिलैः ॥२॥

•

निष्ठाशील शिक्षक

मुनिश्री दुलीचन्दजी

आचार्यश्री तुलसी केवल भारत में ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में ख्याति प्राप्त महापुरुष है। इसमें उनके मौलिक विचार और उन पर पूर्ण निष्ठा ही मुख्य कारण है। जैन परम्परा में, एक बड़े संघ के अधिनायक होने के कारण उन्हें अपने संघ में विद्या और प्रचार-कार्य में अनवरत रत रहना पड़ता है। जैन साधुओं के लिए नियमानुसार निरन्तर एक स्थान में रहना तो निषिद्ध है ही, फिर भी वे साधारणतः एक क्षेत्र में एक महीने तक और चातुर्मास की स्थिति हो तो एक क्षेत्र में चार महीने तक रह सकते हैं। इसके अतिरिक्त वे घूमते रहते हैं। किन्तु आचार्यश्री इससे भी कुछ आगे बढ़े और उन्होंने एक देशव्यापी यात्रा प्रारम्भ की। इन कुछ वर्षों में उन्होंने करीब १५-१६ हजार मील की यात्राएं की हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान, पंजाब, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल आदि अनेक प्रान्तों में घूम-घूम कर उन्होंने जनता में नैतिकता की मशाल जगाई। यह सब कार्य चातुर्मास के अतिरिक्त निरन्तर विहार करते रहने पर ही बन पाया है। यदि एक-एक गाँव में महीने-महीने भर बैठे रहते तो इस प्रकार एक देशव्यापी यात्रा कभी सम्भव नहीं थी।

पैदल विहार करते हुए भी उन्होंने अपने संघ में विद्या की एक मन्दाकिनी बहायी है। यह उनकी एक निष्ठा का फल है। प्रातः और सायं दोनों समय विहार करते रहना और उसके साथ-साथ अध्ययन-कार्य भी चालू रखना, यह एक अनहोनी-सी बात लगती है। दिन-भर में १५-१६ मील चल लेने के पश्चात् शरीर की क्या दशा होती है, यह तो सर्वविदित है ही। इसके उपरान्त भी आचार्यश्री अपनी शिष्य मण्डली को विश्राम करने की बेला में अध्ययन रत रखते थे। साधु-संत भी इस समय अत्यन्त मनोयोग के साथ अध्ययन कार्य में संलग्न रहते थे। कभी-कभी जब आचार्यश्री एकनिष्ठ होकर अपने शिष्य समुदाय को अध्ययन करवाते तो प्राचीन महर्षि-मुनियों की याद हो आती थी। आचार्यश्री अनेक कार्यों में व्यस्त होते हुए भी अपने शिष्यों को संस्कृत-व्याकरण, दर्शन, सिद्धान्त, साहित्य आदि अनेक कठिन विषयों का अध्ययन कराने में पूर्ण रुचि रखते हैं।

इस प्रकार आचार्य प्रवर ने अध्ययन-परम्परा को आगे बढ़ाने के लिए एक परीक्षाक्रम भी बनाया। योग्य, योग्यतर और योग्यतम यह एक परीक्षा क्रम है। योग्य में तीन वर्ष, योग्यतर में दो वर्ष और योग्यतम में दो वर्ष; इस प्रकार सात वर्ष का यह आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम है। इस परीक्षाक्रम में अध्ययनार्थ कुछ वैदिक, बौद्ध और जैनेतर धर्म के ग्रन्थ भी लिए गए हैं। उदाहरणार्थ--गीता, महाभारत, धम्मपद आदि-आदि।

इस परीक्षा क्रम के ऊपर भी एक 'कल्प' नामक परीक्षा है जोकि दर्शन, सिद्धान्त, व्याकरण आदि किसी भी विषय में विशेषज्ञ होने की इच्छा रखने वाला दे सकता है। उपर्युक्त विहारादि की कठिनाइयों के बावजूद भी अनेक साधु संतों ने इस परीक्षा क्रम में परीक्षा देकर सफलता प्राप्त की है।

वस्तुतः यह देखा जाये तो आचार्यश्री के सान्निध्य में चलने वाला यह अध्ययन कार्य किसी भी विद्यालय से कम नहीं कहा जा सकता। इसको यदि हम एक चलता-फिरता विश्वविद्यालय भी कहें तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। एक स्थान पर रह कर अध्ययन-अध्यापन होना बड़ा सरल है, किन्तु इस प्रकार ग्रामानुग्राम घूमते हुए इस कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेना, एक टेढ़ी खीर है। यह एक आचार्यश्री जैसी तपःपूत आत्मा की प्रेरणा का ही सुफल है; अन्यथा आज हम देख रहे हैं कि अनेकानेक सुविधाओं व प्रलोभनों के बावजूद भी आज के विद्यार्थी कैसा अध्ययन करते है, यह किसी से

छिपा हुआ नहीं है। साधुओं ने जिस प्रकार आचार्य प्रवर के इस तात्त्विक अध्ययनक्रम को सफल बनाने के लिए प्राणप्रण से चेष्टा की, उसी प्रकार साध्वी समाज ने भी दत्तचित्त होकर ज्ञान प्राप्ति में कोई कमी नहीं रखी। फलतः उनके साधु संत संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी, कन्नड़, अंग्रेजी, मारवाड़ी आदि अनेकों भाषाओं के प्रभावशाली पंडित बने।

आचार्यश्री के साधु समाज में आज अनेक साधु संस्कृत व हिन्दी के आशु कवि हैं। अनेक साधु-साध्वियाँ कविता लिखने में सिद्धहस्त हैं। अनेक साधु गद्य-पद्य के लेखक हैं। उनके कुछ साधुओं ने संस्कृत, हिन्दी व प्राकृत की नवीन व्याकरणों की भी रचना की है। उदाहरणार्थ—भिक्षुशब्दानुशासनमहाव्याकरण, कालूकौमुदी, तुलसी प्रभा, तुलसी मंजरी व जय हिन्दी व्याकरण आदि। अनेक साधु तात्त्विक ग्रन्थों के लेखक व अनुशीलक बने। अनेक साधु अवधान विद्या के पारंगत भी बने। जिनमें कुछ शतावधानी, पंचशतावधानी, सहस्रावधानी और सार्धसहस्रावधानी भी हैं। इस प्रकार आचार्य प्रवर की उत्साहदायिनी प्रेरणा पाकर अनेक साधु उच्चकोटि के विद्वान् बने। पारस लोहे को कंचन बनाता है, 'पारस' नहीं, किन्तु आचार्यश्री अपने अनेक शिष्यों को अपने समकक्ष लाये। आचार्यश्री में यह एक विशेष ध्यान देने की बात है कि वे विद्याध्ययन कराने के लिए किसी के भी साथ संकीर्णता का बरताव नहीं करते। आचार्य प्रवर ने अपने कुछ शिष्यों को जैन-सिद्धान्तों के शोधकार्य में भी जोता। वह कार्य इतनी यात्राओं के होते हुए भी सुचारु रूप से चल रहा है। जहाँ पर प्रचार, पर्यटन, जन-सम्पर्क, अध्ययन, अध्यापन आदि अनेक कार्य साथ-साथ चल रहे हों, वहाँ सब कार्यों की गति स्वभावतः ही मंद पड़ जाती है। किन्तु आचार्यप्रवर के वचनों में न जाने कौन-सी अद्भुत शक्ति भरी हुई है कि उनके सान्निध्य में चलने वाले अनेक कार्य उसी तीव्र गति से चल रहे हैं। अनेक कार्यक्रमों की व्यस्तता में भी उनका एक भी शिष्य पठन-पाठन के परिश्रम से पीछे नहीं हटता।

आचार्यश्री के कन्धों पर संघ के गुरुतर दायित्व का भार है, अतः उन्हें अन्यान्य कार्यों के लिए अवकाश मिल पाना आसान नहीं है, फिर भी वे व्याख्यान, प्रचार, बातचीत, चर्चा आदि अनेकानेक कार्यों में व्यस्त रहते हैं। तेरापथ सम्प्रदाय की प्रणाली के अनुसार छोटे-से-छोटे और बड़े-से-बड़े सारे कार्य उन्हीं की आज्ञा के अनुसार सम्पादित होते हैं। अतः इन छोटे-मोटे कार्यों में भी उन्हें ही ध्यान बटाना पड़ता है। इस प्रकार प्रत्येक समय में वे कार्यों से 'सावन भादों' में बादलों से नीले नभ की तरह घिरे रहते हैं। सुबह चार बजे से लेकर रात को नौ बजे तक वे अत्यन्त उत्साहपूर्वक अपने एक-एक कार्य के लिए सजग रहते हैं। यहाँ तक कि वे अपने नियोजित कार्यों के लिए कभी-कभी भोजन को भी गौण कर देते हैं। चर्चा, प्रश्नोत्तर, अध्ययन, अध्यापन आदि कार्य करते समय तो वे अपने-आपको भूल से ही जाते हैं। चर्चा, वार्ता व प्रश्नोत्तरों के कारण रात को कभी-कभी ग्यारह व बारह बजे तक जागते रहते हैं। उधर पश्चिम रात्रि में साधुओं को स्वाध्याय व पढ़ाने के लिए वे नियमित रूप से चार बजे उठते हैं। इस प्रकार उनकी एकनिष्ठा ने साधु-समाज को जो विद्या की एक अमोघ शक्ति दी है, वह अतुलनीय है।

बिहार, बंगाल, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र आदि अनेक देशों में आचार्यश्री के अनुयायी लोग रहते हैं। वे लोग सहस्रों ही नहीं, अपितु लाखों की संख्या में हैं। वे लोग भी तात्त्विक और सद्व्यवहारिक ज्ञान से वंचित न रह जाएं, इसको दृष्टिगत रखते हुए उन्होंने उपर्युक्त प्रत्येक प्रान्त के प्रत्येक गाँव व नगर में अपने साधु-साध्वीगण के दल भेज कर उन्हें भी ज्ञानार्जन करने का अवसर प्रदान किया। इस प्रकार लोगों को तात्त्विक ज्ञान की अवगति कराने के लिए आचार्यप्रवर ने एक नई दिशा दी। इसका भी एक परीक्षाक्रम निर्धारित किया गया। कलकत्ता तेरापंथी महा-सभा द्वारा प्रतिवर्ष इस परीक्षाक्रम में अध्ययन करने वालों की परीक्षा ली जाती है। सहस्रों बालक, बालिकाएं व तरुण इसमें अध्ययन कर अपने ज्ञानांकुर को विकसित करने में अग्रसर होते हैं।

आचार्यप्रवर आचार के क्षेत्र में जितने निष्ठाशील आचारी, विचार के क्षेत्र में जितने निष्ठाशील विचारक, सद्व्यवहार के क्षेत्र में जितने सद्व्यवहारी और चर्चा के क्षेत्र में जितने चर्चावादी हैं, उतने ही शिक्षा क्षेत्र में एक निष्ठाशील शिक्षक भी हैं। तेरापंथ संघ में आज जो अप्रत्याशित शैक्षणिक प्रगति देख रहे हैं, उसका सारा श्रेय उसी एक उत्कट निष्ठाशील आत्मा को है, जिसने अपना अमूल्य समय देकर चतुर्विध संघ को आगे लाने का प्रयत्न किया है।

आञ्जनेय तुलसी

आचार्य जुगलकिशोर
शिक्षा-मंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार

संजीवन विद्या का रहस्य

मानव विचार, मनन और मन्थन में अनेकानेक शक्तियों का पुंज है। वह अपने जीवन को साधना द्वारा नितान्त उज्ज्वल बना सकता है। वैसे तो प्राणीमात्र में सिद्धत्व और बुद्धत्व जैसे गुणों की उपलब्धि की सम्भावनाएं हैं, किन्तु वे अपनी शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलताओं के कारण इसके महत्त्व को हृदयंगम करने में बहुत कम क्षमता रखते हैं। मानव के अलावा अन्य प्राणियों का यह दुर्भाग्य है कि वे उसकी भाँति अपने हिताहित व कृत्याकृत्य को परख नहीं सकते। विवेकबुद्धि का उनमें अभाव है। इस भाँति केवल मानव ही एक ऐसा विचारशील एवं मननशील प्राणी है, जिसमें अपने हित-अहित और कृत्य-अकृत्य को परखने की अद्भुत क्षमता पायी जाती है। मानव ही अपने जीवन की संजीवन विद्या के रहस्य को समझ सकता है।

यह सब होते हुए भी आज परिस्थिति कुछ भिन्न-सी नजर आती है। किसी कारणवश आज मानव की वह चेतना-शक्ति मन्द पड़ गई है। यही मूलभूत कारण है, जिससे वह स्वार्थ में अन्धा होकर अनैतिकता की ओर अग्रसर हो गया है। उसके जीवन में सात्त्विकता की कमी हो रही है और अवांछनीय तत्त्व घर करने लगे हैं। मानव मानव में विश्वास की भावना का ह्रास हो रहा है। वह दूसरों के अधिकारों की परवाह नहीं करता। ऐसी स्थिति में उसके विवेक को जगाने का कोई उपक्रम चाहिए। अनैतिकता की व्याधि को स्वाहा करने के लिए कोई अमोघ औषधि चाहिए।

मानव की यह सुषुप्त चेतना तभी पुनर्जागृत हो सकती है जब उसमें चरित्र का बल हो। उसके प्रत्येक कार्य में अहिंसा व नैतिकता की पुट हो। जनवंद्य आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में एक अभिनव प्रयास कर रहा है। वह दिग्भ्रान्त मानव-समाज को नैतिकता की खुराक दे रहा है और उसे एक दिशा-दर्शन देता है। अणुव्रत-आन्दोलन वास्तव में एक ऐसे समाज की रचना करना चाहता है जिसमें मिलावट, चोरबाजारी, दुराचार, अनाचार, बेई-मानी, ठगी, धूर्तता और स्वार्थान्धता आदि का पूर्ण रूप से अन्त हो जाये तथा मानव शीलवान्, सच्चरित्र व सद्गुण-सम्पन्न हो।

एक रचनात्मक अनुष्ठान

आचार्यश्री तुलसी ने समस्त मानव समाज को मैत्री, प्रेम और सद्भावना का सन्देश ऐसे समय में दिया है जबकि उसे उसकी परम आवश्यकता थी। भारतवर्ष के गाँव-गाँव में पैदल घूम-घूम कर आचार्यश्री ने जनता को यह बताया कि उनके विचारों की यह त्रिवेणी किस प्रकार मानव-समाज का कल्याण कर सकती है। महात्मा गांधी ने जिस समय अहिंसा के बल पर स्वराज्य दिलाने का वचन दिया था, तब अधिकांश लोगों ने यह सोचा था कि क्या गांधीजी अपने सम्पूर्ण जीवन में भी यह कर दिखाने में सफल होंगे। उन्होंने आलोचकों की परवाह न करते हुए अपना प्रयास जारी रखा और अन्त में परतन्त्रता की सदियों पुरानी बेड़ियाँ तोड़ फेंकी। जिस प्रकार स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अहिंसा व सत्य का आश्रय लिया गया, उसी प्रकार उसकी रक्षा के लिए भी अहिंसा और सत्य का ही आश्रय लेना होगा। इन गुणों को विकसित करने की आवश्यकता है। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में एक स्पृहणीय प्रयास है। यह हमारे सौभाग्य और उज्ज्वल

भविष्य का सूचक है। राजस्थान की तपोभूमि से निःसृत आज यह आन्दोलन केवल भारतवर्ष की ही चार-दीवारी में सीमित नहीं रहा है, बल्कि विदेशों में भी इसकी चर्चा होने लगी है। वास्तव में यह एक रचनात्मक अनुष्ठान है। अपने जीवन-काल के विगत लगभग बारह वर्षों में इस आन्दोलन के अन्तर्गत विभिन्न प्रवृत्तियों का विकास हुआ है और उनमें आशातीत सफलता भी मिली है। संक्षेप में यह आन्दोलन जन-जीवन का परिमार्जन चाहता है। जहाँ वह नैतिक पतन की ओर जाते हुए मानव को नैतिक नव-जागरण की प्रेरणा देता है, वहाँ वह मनोमालिन्य, वैमनस्य व संघर्ष की ओर जाते हुए मानव-समाज को मैत्री की बात भी कहता है। वास्तव में यह आन्दोलन एक विचार-क्रान्ति है। यह मनुष्य को आदि से अन्त तक जकड़ता नहीं। इसका काम विचारों में स्वच्छता ला देना है। निःसन्देह यह उपक्रम सभी अर्थों में विचार-उच्चता का पोषक है और इसके प्रवर्तक जनवंद्य आचार्यश्री तुलसी सब के लिए वन्दनीय हैं; क्योंकि उन्होंने एक सम्प्रदाय-विशेष के अधिशास्ता होते हुए भी साम्प्रदायिक भावनाओं से परे रह मानव-मात्र को धर्म ग्रन्थों का नवनीत निकाल कर जीवन-संहिता के रूप में अणुव्रत-आन्दोलन का अनुपम पाथेय दिया है, जिसका उपभोग कर वह (मानव) अपने जीवन को तो सात्त्विक ढंग से बिता ही सकता है, पर साथ-ही-साथ दूसरों के लिए भी वह सुविधाशील बन सकता है।

ऐसे कल्याणकारी महापुरुष के चरणों में मानव का शीश स्वयं ही झुक जाता है और उसकी हृत्तंत्री से स्वतः ही यह भावना मुखर हो उठती है कि ऐसा युगपुरुष सदियों तक मानव-मात्र का पथ-प्रदर्शन करता रहे और अपने आध्यात्मिक बल से मूर्च्छित नैतिकता में प्राण प्रतिष्ठित करने के लिए संजीवनी का अवतारण कर आञ्जनेय बने।

आचार्यश्री तुलसी के आचार्य काल एवं सार्वजनिक सेवाकाल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने पर उनके प्रति मैं अपनी हार्दिक शुभकामनाएं प्रकट करता हूँ। इन पच्चीस वर्षों के सेवाकाल में अणुव्रत-आन्दोलन को जो बल प्राप्त हुआ है, वह किसी से छिपा नहीं है। हम सबकी यही कामना है कि उस बहुमुखी व्यक्तित्व एवं राष्ट्रीय चरित्र पुनर्निर्माण के कार्य में उनका नेतृत्व हमें सर्वदा प्राप्त होता रहे। इस शुभ अवसर पर मैं अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

तरुण तपस्वी आचार्यश्री तुलसी

श्रीमती दिनेशनन्दिनी डालमिया, एम० ए०

आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन-ग्रन्थ में मुझे भी कुछ लिखने के लिए आमन्त्रित किया गया, पर मैं क्या लिखूँ? जिनको हम इतनी निकटता से जानते हैं, उनके बारे में कुछ कहना उतना ही कठिन है, जितना प्रसुप्त प्रज्ञा के द्वारा शक्ति को सीमा-बद्ध करना।

मैं उन्हें बचपन से जानती हूँ। कई बार सोचा भी था कि मैं सुविधा से उनके बारे में अपनी अनुभूतियाँ लिखूँगी। उनके व्यक्तित्व को जितनी निकटता से देखा, उतना ही निखरा हुआ पाया। उस जमाने में वे इतने विख्यात न थे, किन्तु विलक्षण अवश्य थे। उनकी तपश्चर्या, मन और शरीर की अद्भुत शक्ति और आध्यात्मिकता के तत्त्वांकुर गुरु की दिव्य-दृष्टि से छिप न सके और वे इस जैन संघ के उत्तराधिकारी चुन लिये गए। इन्होंने प्राचीन मर्यादाओं की रक्षा करते हुए, सम्पूर्ण व्यवस्था को, मौलिकता का एक नया रूप दिया। सारे संघ की बल-बुद्धि और शक्ति को इकट्ठा कर तपश्चर्या और आत्म-शुद्धि का सुगम मार्ग बतलाते हुए, संकीर्णता के बन्धनों को काटते हुए, शान्ति-स्थापना का संकल्प ले आगे बढ़े। जन-समूह ने इनका स्वागत किया और तब इनका सेवा-क्षेत्र द्रौपदी के चीर की तरह विस्तृत हो गया। आचार्यश्री तुलसी ने धार्मिक इतिहास की परम्पराओं पर ही बल नहीं दिया, बल्कि व्यक्ति और समय की आवश्यकताओं को समझ उसके अनुरूप ही अपने उपदेशों को मोड़ा। संघ के स्वतन्त्र व्यक्तित्व और वैशिष्ट्य का निर्वाह करते हुए साम्प्रदायिक भेदों को हटाने का भगीरथ प्रयत्न किया।

सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यवहार की मूल भित्ति मानने वाले इस संघ के सूत्र-धार के उपदेशों से जनता आश्वस्त हुई। आज के विश्व की इस विषम परिस्थिति में, जब सेवा का स्थान स्वार्थ ने, विश्वास का सन्देह ने, स्नेह और श्रद्धा का स्थान घृणा ने ले लिया है, तब इन्होंने भगवान् महावीर की अहिंसा-नीति का हर व्यक्ति में समन्वय करते हुए नये दृष्टिकोण से एक नई पृष्ठभूमि तैयार की।

मानव को देव नहीं, मानव बनाने का इनका गम्भीर प्रयत्न, बिना किसी फल और कीर्ति की आकांक्षा के निरन्तर चलता है। इनको अपने जीवन अथवा सेवा के लिए कोई आर्थिक साधन नहीं जुटाने पड़ते। बिना किसी प्रतिद्वन्द्विता की भावना से प्रभावित हुए अपने कार्यों को रचनात्मक रूप देते रहते हैं। पद और प्रशंसा की भावना से उपराम होकर ये मानव की असहिष्णु हृदय-भूमि को नैतिक हल से जोतते हैं। प्रेम और धर्म के बीजों को बोते हैं। शास्त्रों के निचुड़े हुए अर्क से उन्हें सींचते हैं। क्षेत्रज्ञ की तरह उसकी रखवाली करते है, यही उनके अस्तित्व और सफलता की कुंजी है। यही इस पंथ का गुह्यतम इतिवृत्त है कि इतने थोड़े काल में विज्ञान और विनाश की इस कसमसाती बेला में भी समाज में इन्होंने अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है।

नगरों और ग्रामों में घूम कर, छाया, पानी, शीत, आतप आदि यातनाएं सहन कर लोक-कल्याण करते है। जीवन की सफलता के अचूक मन्त्र इस अणुव्रत को इस अहिंसा के देवदूत ने एक सरल जामा पहना कर लोगों के सामने रखा। सुगन्धित द्रव्यों के धूम्रसमूह-सा यह अनन्त आसमान में उठा और इहलोक और परलोक के द्वार पर प्रकाश डाला।

जब आचार्यश्री पद्मासन की तरह एक सुगम आसन में बैठते हैं तो उनके पारदर्शी ज्योति-विस्फारित नेत्रों से विशद आनन्द और नीरव शान्ति का स्रोत बहता है। उनकी वाणी में मिठास, मार्मिकता और सहज ज्ञान का एक प्रवाह-सा रहता है, जिसे सर्व-साधारण भी सहज ही ग्रहण कर सकता है। जीवन को सुन्दर बनाने के लिए इनके

पास पर्याप्त सामग्री है।

मैं इतना कुछ जानते हुए भी इस धर्म के गूढ़ तत्त्वों को आज तक हृदयंगम नहीं कर सकी हूँ, क्योंकि इन्होंने अपने आपको इतना विशाल बना लिया है कि इनको जान लेना ही इनके आदर्शों को सटीक समझ लेना है, क्योंकि ये ही इनकी सत्यता के साकार प्रतीक है। वैसे तो सारे ही धर्म-पंथ बड़े कठिन और ऊबड़-खाबड़ है, परन्तु इस पंथ के पथिक तो खाँड़े की तीखी धार पर ही चलते हैं। गुरु के प्रति शिष्यों का पूर्ण आत्म-समर्पण और उनके व्यक्तित्व इस तरुण तपस्वी के आदेशों में इस तरह समा जाते है, जैसे बृहत् साम का स्तुति-पाठ इन्द्र में समा जाता है।

त्याग की वेदी पर कर्मों का होम करने के बाद भी ये बड़े कर्मठ हैं। सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त तक इनके क्षण बँधे हुए होते है। काल की अनन्तता में विश्वास करते हुए भी इनका पलार्धपल का हिसाब उसी तरह होता है, जैसा अवसान-वेला में वणिक् की दूकान का। इनके जीवन की कोई मिसल या मसला दूसरे दिन के लिए नहीं छोड़ा जाता। सारे दिन की आलोचना करने के बाद इनका मानस-पटल उस गहरे जलाशय-सा मालूम देता है, जिसकी तरंगें विलीन हो गई हों—थाह हीन, शान्त !

इस धार्मिक फिरके के संतों ने अपने-आपको आधुनिक प्रलोभन से इतना ऊपर उठा रखा है कि आज के अपूर्ण युग में ये अपनी कठिन मर्यादाओं से बँधे हुए जीते कैसे हैं ?

त्याग और तप की प्रतिमूर्त्ति ये आचार्य और सूई की अनी से ऊँट को निकालने वाला इनका धर्म श्रेय और प्रेय का ज्ञान कराने में समर्थ है।

चरैवेति चरैवेति की साकार प्रतिमा

श्री आनन्द विद्यालंकार
सहसम्पादक—नवभारत टाइम्स, दिल्ली

'चरैवेति' का आदि और सम्भवतः अन्तिम प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण के शुनःशेप उपाख्यान में हुआ है। उसमें इन्द्र के मुख से राजपुत्र रोहित को यह उपदेश दिलाया गया है कि **पश्य सूर्यस्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्। चरैवेति चरैवेति।** इसका अर्थ है—'हे रोहित! तू सूर्य के श्रम को देख। वह चलते हुए कभी आलस्य नहीं करता। इसलिए तू चलता ही रह, चलता ही रह।' यहाँ 'चलता ही रह' का निगूढ़ार्थ है कि 'तू जीवन में निरन्तर श्रम करता रह।' इन्द्र ने इस प्रकरण में सूर्य का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उससे सुन्दर और सत्य अन्य कोई उदाहरण नहीं हो सकता। इस समस्त ब्रह्माण्ड में सूर्य ही सम्भवतः एक ऐसा भासमान एवं विश्व-कल्याणकर पिण्ड है, जिसने सृष्टि के आरम्भ से अपनी जिस आदि-अनन्त यात्रा का आरम्भ किया है, वह आज भी निरन्तर जारी है। इस ब्रह्माण्ड में गतिमान पिण्ड और भी हैं; परन्तु जो गति पृथ्वी पर जीवन की जनक तथा प्राणिमात्र में प्राण की सर्जक है, उसका स्रोत सूर्य ही है। वह सूर्य कभी नहीं थकता। अपने अन्तहीन पथ पर अनालस-भाव से वह निरन्तर गतिमान है। श्रम का एक अनुलनीय प्रतीक है वह! 'चरैवेति' अपने सम्पूर्ण रूप में उसी में साकार हुआ है।

जीवन की श्रेष्ठ उपलब्धि

सूर्य के लिए जो सत्य है, वह इस युग में इस पृथ्वी पर आचार्यश्री तुलसी के लिए भी सत्य है। जोधपुर-स्थित लाड़नूं नगर के एक सामान्य परिवार में जन्म-प्राप्त यह पुरुष शारीरिक दृष्टि से भले ही सूर्य की तरह विशाल एवं भास-मान न हो, परन्तु उसका जो अन्तर्मन और प्रखर बुद्धि है, उसकी तुलना सूर्य से सहज ही की जा सकती है। उसके मान-सिक ज्योति-पिण्ड ने अपने चैतन्य-काल से जनहितकारी किरणों का जो विकिरण आरम्भ किया है, उसका कोई अन्त नहीं है। वह अविराम जारी है। भौतिक शरीर जरा-मरण और क्लान्ति-धर्मा है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने अविराम श्रम से यह सिद्ध कर दिया है कि काल-क्रम के अनुसार जरा-मरण उन्हें भले ही आत्मसात् कर ले, परन्तु क्लान्ति उन्हें यावज्जीवन स्पर्श नहीं करेगी। जीवन में यह कितनी बड़ी व श्रेष्ठ उपलब्धि है। कितना महान् आदर्श है उस मानव-समाज के लिए, जिसका भौतिक और आध्यात्मिक कल्याण भी इसमें ही निहित है—**नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति।**

भाग्य और श्रम दोनों ही मानव की अनमोल निधि हैं। इनमें से एक सहज प्राप्त है और दूसरी यत्न-साध्य। भाग्य की महिमा संसार में कितनी ही दृष्टिगोचर होती हो और **भाग्यं फलति सर्वत्र** पर मानव का कितना ही अखण्ड विश्वास हो, परन्तु श्रम की जो गरिमा है, उसकी तुलना उससे नहीं की जा सकती। भाग्य तो परोपजीवी है और श्रम भाग्य का निर्माता। यह श्रम का ही प्रताप है, जिससे धरती शस्यश्यामला होती है और मनुज महिमा को प्राप्त होता है। संसार में जो कुछ सुख-समृद्धि दृष्टिगोचर है, उसके पीछे यदि कोई सर्जक शक्ति है तो वह श्रम ही है। नितान्त वन्य जीवन से उन्नति और विकास के जिस स्वर्ण शिखर पर मानव आज खड़ा है, वह श्रम की महिमा का ही स्वयं-भाषी प्रतीक है। जिस श्रम में इतनी शक्ति हो और जो सूर्य की तरह उस शक्ति का सागर हो, उससे अधिक 'चरैवेति' की साकार प्रतिमा अन्य कौन हो सकता है? आचार्यश्री तुलसी ने अपने अब तक के जीवन से यह सिद्ध कर दिया है कि श्रम ही जीवन का सार है और श्रम में ही मानव की मुक्ति निहित है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने बाल्यकाल से जो अथक श्रम किया है, उसके दो रूप हैं—ज्ञान-प्राप्ति और जन-कल्याण। बालक तुलसी जब दस वर्ष के भी नहीं थे, तभी से ज्ञानार्जन की दुर्दमनीय अभिलाषा उनमें विद्यमान थी। अपने बाल्यकाल के संस्मरणों में एक स्थल पर उन्होंने लिखा है—'अध्ययन में मेरी सदा से बड़ी रुचि रही। किसी भी पाठ को कण्ठस्थ कर लेने की मेरी आदत थी। धर्म-सम्बन्धी अनेक पाठ मैंने बचपन में ही कण्ठाग्र कर लिये थे।' अध्ययन के प्रति उनकी तीव्र लालसा और श्रम का ही यह परिणाम था कि ग्यारह वर्ष की अल्प वय में तेरापंथ में दीक्षित होने के बाद दो वर्ष की अवधि में ही इतने पारंगत हो गए कि उन्होंने अन्य जैन साधुओं का अध्यापन प्रारम्भ कर दिया। उनकी यह ज्ञान-यात्रा केवल अपने लिए नहीं, अपितु दूसरों के लिए भी थी। निरन्तर श्रम के परिणामस्वरूप वे स्वयं तो संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड पण्डित हो ही गए, अपितु उन्होंने एक ऐसी शिष्य-परम्परा की स्थापना भी की, जिन्होंने ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में असाधारण उन्नति की है। उनमें से अनेक प्रसिद्ध दार्शनिक, ख्यातनामा लेखक, श्रेष्ठ कवि तथा संस्कृत और प्राकृत के प्रकाण्ड उद्भट विद्वान् हैं।

आचार्यश्री की स्मृति-शक्ति तो अद्भुत एवं सहजग्राही है ही; परन्तु उनकी जिह्वा पर साक्षात् सरस्वती के रूप में जो बीस हजार श्लोक विद्यमान हैं, वे उठते-बैठते निरन्तर उनके श्रम-साध्य पारायण का ही परिणाम है। उनमें जो कवित्व और कुशल वक्तृत्व प्रकट हुआ है, उसके पीछे श्रम की कितनी शक्ति छिपी है, इसका अनुमान सहज ही नहीं लगाया जा सकता। ब्रह्म मुहूर्त से लेकर रात्रि के दस बजे तक का उनका समस्त समय ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान में ही बीतता है। भगवान् महावीर के 'एक क्षण को भी व्यर्थ न गँवाओ' के आदर्श को उन्होंने साक्षात् अपने जीवन में उतारा है। स्वयं की चिन्ता न कर सदा दूसरों की चिन्ता की है। वे प्रायः कहा करते हैं कि 'दूसरों को समय देना अपने को समय देने के समान है। मैं अपने को दूसरों से भिन्न नहीं मानता।' जिस पुरुष की समय और श्रम के प्रति यह भावना हो और जो स्वयं ज्ञान का गोमुख होकर ज्ञान की जाह्नवी बहा रहा हो; उससे अधिक 'चरैवेति' को सार्थक करने वाला कौन है? उपदेष्टा इन्द्र को कभी स्वप्न भी नहीं हुआ होगा कि किसी काल में एक ऐसा महापुरुष इस पृथ्वी पर जन्म लेगा जो उसका मूर्तिमन्त उपदेश होगा।

सर्वतः अग्रणी सम्प्रदाय

आचार्यश्री तुलसी के तेरापंथ का आचार्यत्व ग्रहण करने से पूर्व, अधिकांश साध्वियाँ बहुत अधिक शिक्षित नहीं थीं। यह आचार्यश्री तुलसी ही थे, जिन्होंने उनके अन्दर ज्ञान का दीप जगाया। जिस समय उन्होंने साध्वियों का विद्यारम्भ किया था तो केवल तेरह शिष्याएं थीं; परन्तु आज उनकी संख्या दो सौ से अधिक है और वे विभिन्न विषयों का अध्ययन कर रही हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने शिक्षा-पद्धति में भी संशोधन किये। पाठ्यक्रम को उन्होंने तीन भागों में बाँट दिया—प्रथम में उन्होंने दर्शन, साहित्य, व्याकरण, शब्दकोष, इतिहास, फलित ज्योतिष तथा विभिन्न कला एवं भाषाओं के ज्ञान की व्यवस्था की; दूसरे में जैन धर्म की शिक्षा की तथा तीसरे में धर्म-ग्रन्थों के ज्ञान की। साधु-साध्वियों के बौद्धिक एवं मानसिक स्तर को उन्नत करने के उद्देश्य से प्रबन्ध-लेखन, कविता-पाठ और धार्मिक एवं दार्शनिक वाद-विवादों की व्यवस्था भी की। ग्यारह वर्ष तक वे निरन्तर ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान की पवित्र प्रवृत्तियों में संलग्न रहे। इस अद्भुत श्रम का ही यह फल है कि तेरापंथ आज भारत के सर्वतः अग्रणी सम्प्रदायों में से एक है।

ज्ञान के क्षेत्र में आचार्यश्री तुलसी ने जो महान् कार्य किया है, उसका एक महत्त्वपूर्ण अंग और भी है और वह है—जैन धर्म-ग्रन्थों—आगमों पर उनका अनुसन्धान। ये आगम भगवान् महावीर के उपदेशों का संग्रह हैं। वे ज्ञान के भण्डार हैं; परन्तु भगवान् महावीर के निर्वाण के उत्तरकालीन पच्चीस सौ वर्ष के समय-प्रवाह ने इन आगमों में अनेक स्थलों पर दुर्बोध्यता उत्पन्न कर दी है। आचार्यश्री तुलसी के पथ-प्रदर्शन में अब इन आगमों का हिन्दी-अनुवाद तथा शब्दकोष तैयार किया जा रहा है। जिस दिन यह कार्य पूर्णतः सम्पन्न हो जायेगा, उस दिन संसार यह जान सकेगा कि तपःपूत इस व्यक्ति में श्रम के प्रति कैसी अटूट भक्ति है! यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि अपनी ज्ञान-साधना से आचार्यश्री तुलसी ने यह सिद्ध कर दिया है कि वे श्रम के ही दूसरे रूप हैं।

आचार्यश्री तुलसी की दिनचर्या भी अविराम श्रम का एक उदाहरण है। वे ब्रह्म मुहूर्त्त में ही शय्या छोड़ देते है। एक-दो घण्टे तक आत्म-चिन्तन और स्वाध्याय के अनन्तर प्रतिक्रमण—सब नियमों और प्रतिज्ञाओं का पारायण करते हैं। हलासन, सर्वांगासन, पद्मासन उनका प्रिय एवं नियमित व्यायाम है। इसके पश्चात एक घण्टे मे अधिक का समय वे जनता को उपदेश तथा उनकी जिज्ञासाओं को शान्त करने में व्यतीत करते हैं। भोजनानन्तर विश्राम-काल में हल्का-फुल्का साहित्य पढ़ते हैं। उसके बाद दो से ढाई घण्टे तक का उनका समय साधुओं और साध्वियों के अध्यापन में बीतता है। विभिन्न विषयों पर विभिन्न लोगों से वार्ता के बाद वे दो घण्टे तक मौन धारण करते हैं और इस काल में वे पुस्तक-लेखन और अध्ययन करते हैं। सूर्यास्त से पूर्व ही रात्रि का भोजन ग्रहण करने के अनन्तर प्रतिक्रमण और प्रार्थना का कार्यक्रम रहता है। एक घण्टे तक पुनः स्वाध्याय अथवा ज्ञान-गोष्ठी के बाद आचार्यश्री शय्या ग्रहण कर लेते है। उनका यह कार्यक्रम घड़ी की सुई की तरह चलता है और उसमें कभी व्याघात नहीं होता। जब तक किसी व्यक्ति में श्रम और वह भी परार्थ के लिए श्रम करने की हार्दिक भावना न हो, तब तक उक्त प्रकार का यंत्रवत् जीवन असम्भव है।

आचार्यश्री के श्रम का दूसरा रूप है—जन-कल्याण। वैसे तो जो ज्ञानार्जन और ज्ञान-दान वे करते हैं, वह सब ही जन-कल्याण के उद्देश्य से है; किन्तु मानव को अपने हिरण्यमय पाश में बाँधने वाले पापों से मुक्ति के लिए उन्होने जो देशव्यापी यात्राएं की हैं और अपने शिष्यों से कराई हैं, उनका जन-कल्याण के क्षेत्र में एक विशिष्ट महत्व है। इन यात्राओं से आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् बुद्ध के शिष्यों द्वारा की गई वे यात्राएं स्मरण हो आती हैं जो उन्होंने मानवमात्र के कल्याण के लिए की थीं। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने इस यात्रारम्भ से पूर्व अपने साठ शिष्यों को पंचशील का सन्देश प्रसारित करने का आदेश दिया था, ठीक उसी प्रकार आचार्यश्री तुलसी ने आज से बारह वर्ष पूर्व अपने छः सौ पचास शिष्यों को सम्बोधित करते हुए कहा था—"साधुओ और साध्वियो! तुम्हारे जीवन आत्म-मुक्ति और जन-कल्याण के लिए समर्पित हैं। समीप और सुदूर-स्थित गाँवों, कस्बों और शहरों को पैदल जाओ। जनता में नैतिक पुनरुत्थान का सन्देश पहुँचाओ।" तेरापंथ का जो व्यावहारिक रूप है, उसके तीन अंग हैं—१. पवित्र एवं साधुतापूर्ण आचरण, २. भ्रष्टाचार से मुक्त व्यवहार और ३. सत्य में निष्ठा एवं अहिंसक प्रवृत्ति। आचार्यश्री तुलसी ने अपने शिष्यों को जो उक्त आदेश दिया था, उसका उद्देश्य तेरापंथ के इसी रूप की जनता-जनार्दन के जीवन में अवतारणा थी।

अणुव्रत चक्र प्रवर्तन

वर्तमान में भारतीय समाज की जो दशा है, वह किसी से छिपी नहीं है। प्राचीन आध्यात्मिकता का स्थान नितान्त भौतिकता ने ले लिया है। अन्तर्मुख होने के स्थान पर व्यक्ति सर्वथा बहिर्मुख हो गया है। विलासिता संयम पर आरूढ़ हो गई है और सर्वत्र भोग और भ्रष्टाचार का ही वातावरण दृष्टिगोचर होता है। यह स्थिति किसी भी समाज के लिए बड़ी दयनीय है। इस दुरवस्था से मुक्ति के लिए ही आचार्यश्री ने जनता में अणुव्रत चक्र प्रवर्तन का निश्चय किया। यह अणुव्रत ही वस्तुतः तेरापंथ का व्यावहारिक रूप है। इस 'अणुव्रत' शब्द में अणु का अर्थ है—सबसे छोटा और व्रत का अर्थ है—वचन—दृढ़ संकल्प। जब व्यक्ति इस व्रत को ग्रहण करेगा तो उससे यही अभिप्रेत होगा कि उसने अन्तिम मंजिल पर पहुँचने के लिए पहली सीढ़ी पर पैर रख दिया है। इस अणुव्रत के विभिन्न रूप हो सकते हैं और ये सब रूप पूर्णता के ही आरम्भक बिन्दु हैं। आचार्यश्री तुलसी ने इसी अणुव्रत को देश के सुदूर भागों तक पहुँचाने के लिए अपने शिष्यों को आज से बारह वर्ष पूर्व आदेश दिया था। तब से लेकर अब तक ये शिष्य शिमला से मद्रास तथा बंगाल से कच्छ तक सैकड़ों गाँवों और शहरों में पैदल पहुँचकर अणुव्रत की दुन्दुभी बजा चुके हैं। इस अवधि में आचार्यश्री ने भी अणुव्रत के सन्देश को जन-जन तक पहुँचाने के लिए जो अत्यन्त आयासकर एवं दीर्घ यात्राएं की हैं, वे उनके सूर्य की तरह अविराम श्रम की शानदार एवं अविस्मरणीय प्रतीक हैं। राजस्थान के छापर गाँव से उन्होंने अपनी अणुव्रत-यात्रा का आरम्भ किया। उसके बाद वे जयपुर आये और वहाँ से राजधानी दिल्ली। दिल्ली से उन्होंने पदल-ही-पैदल पंजाब में भिवानी, हाँसी, संगरूर, लुधियाना, रोपड़ और अम्बाला की यात्रा की। इसके बाद राजस्थान होते हुए वे बम्बई, पूना और हैदराबाद के समीप तक गये। वहाँ से लौटकर उन्होंने मध्यभारत के विभिन्न स्थानों तथा राजस्थान की पुनः यात्रा की। इसी प्रकार

उन्होंने उत्तरप्रदेश, विहार और बंगाल के लम्बे यात्रा-पथ तय किये।

भारत के आध्यात्मिक स्रोत

आचार्यश्री तुलसी की ये यात्राएं चरित्र-निर्माण के क्षेत्र में अपना अभूतपूर्व स्थान रखती हैं। उनकी तुलना अनैतिकता के विरुद्ध निरन्तर जारी धर्मयुद्धों से की जा सकती है। अपने शिष्यों समेत स्वयं यह महान् एवं अविराम श्रम करके आचार्यश्री तुलसी ने समस्त देश में शान्ति एवं कल्याण का एक ऐसा पवन प्रवाहित किया है, जिसकी शीतलता जन-मानस को स्पर्श कर रही है और जो अपने में **सागरं सागरोपमः** की तरह अनुपम है। जो आध्यात्मिक सन्तोष और आत्म-विश्वास की भावना इन यात्राओं के परिणामस्वरूप जनता को प्राप्त हुई, उसने समाज को चरित्र के चारु, किन्तु कठिन पथ पर चलने के लिए नवीन प्रेरणा प्रदान की है। अब तक लगभग एक करोड़ व्यक्ति अणुव्रत-आन्दोलन के सम्पर्क में आ चुके हैं और एक लाख से अधिक व्यक्तियों ने उससे प्रभावित होकर बुरी आदतों का परित्याग कर दिया है। आचार्यश्री तुलसी सूर्य की तरह ही न केवल दिव्यांग हैं, अपितु सूर्य की तरह ही उनकी समस्त दिनचर्या है। वे भारत के आध्यात्मिक स्रोत हैं। उन्होंने अपने चैतन्य काल से अब तक जो कार्य किया है, उस सब पर उनके श्रान्तिहीन श्रम की छाप विद्यमान है। वह जनता-जनार्दन का एक ऐसा इतिहास है जिसकी तुलना धर्म-संस्थानों के इतिहास से की जा सकती है। इस सकाम संसार में वह निष्काम दीप की तरह जल रहा है। जीवन का एक पल भी उनका ऐसा नहीं है, जिसमें उन्होंने अपनी ज्योति का दान दूसरों को न दिया हो। वह 'चरैवेति' की तरह एक ऐसी साक्षात् प्रतिमा है जिसके सम्मुख सिर सहज ही श्रद्धा से नत हो जाता है।
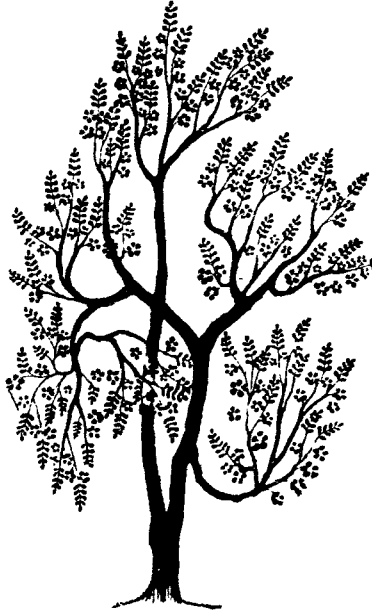
नवोत्थान के सन्देश-वाहक

श्री अमरनाथ विद्यालंकार
शिक्षामंत्री, पंजाब सरकार

आचार्य तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन वस्तुतः देश में नैतिकता और नियन्त्रण के प्रचार का आन्दोलन है। महात्मा गांधी ने अपनी पचास वर्ष की कठोर तपस्या द्वारा देश के नैतिक स्तर को ऊँचा उठाया, जिससे हम खून का एक कतरा बहाये बिना ही आजाद हो गये। इतिहास में अहिंसा और नैतिकता की इतनी बड़ी विजय इतने बड़े विशाल राजनैतिक क्षेत्र में प्रथम बार ही प्राप्त हुई। आज जब मानव समाज को संगठित तथा व्यवस्थित करने के लिए इतने प्रकार सोचे जा रहे हैं और मानव स्वभाव तथा भावनाओं के विकारों को बाह्य भौतिक उपायों द्वारा शान्त करने के नये-नये प्रकार उपस्थित किये जा रहे हैं; इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि नैतिक तथा आध्यात्मिक उपायों की यथार्थता तथा श्रेष्ठता व्यावहारिक रूप मे सिद्ध की जाये। भारतीय विचारधारा के अनुसार इतिहास में अनेक बार क्षात्र भावनाओं पर ब्रह्मत्व की श्रेष्ठता व्यावहारिक रूप से सिद्ध की जा चुकी है।

महात्मा गांधी के पश्चात् आचार्य विनोबा और आचार्यश्री तुलसी ने नैतिकता के सन्देशवाहक का कठिन भार अपने कन्धों पर लिया है। और हमें उनका अनुसरण करना चाहिए।

आचार्यश्री तुलसी की गणना उन महान् धर्म-नायकों और संतों में है, जो केवल धर्मोपदेश देने ही में अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं करते, अपितु जन-कल्याण की भावना से ओत-प्रोत होकर अपने समस्त क्रिया-कलाप को जनसेवा की साधना में समर्पित कर देते हैं। हमारे देश में बहुत थोड़े ऐसे धर्म-गुरु हैं जो स्वयं विद्वान् तथा ज्ञानवान् होते हुए भी अपनी विद्वता तथा पाण्डित्य पर सन्तुष्ट होकर नहीं बैठे रहते, अपितु लोकैषणाओं से निर्लिप्त रह कर ही जन साधारण के साथ उठते-बैठते, चलते-फिरते हैं और इस प्रकार अपने सदाचरणों के माध्यम से सामान्य जनों का मार्ग-दर्शन करते हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने जैन मुनियों और थेरो के परम्परागत महान् दर्शन शास्त्र को जीवन दर्शन की भाषा में अनूदित किया और उसे 'अणुव्रत-आन्दोलन' का रूप दिया। प्राचीन दर्शन नवोत्थान का सन्देश लेकर भारतीय जन-साधारण को नव युग की प्रेरणा देने लगा।

समाज व्यवस्था के बिना क्षण-भर भी जीवित नहीं रह सकता। विशृंखल व्यक्तियों को परस्पर जोड़ कर समाज के रूप में सुसंगठित करने वाली कड़ियाँ कानून की तलवारों से गढ़ी नहीं जा सकती। मानव को मानव से जोड़ने वाली कड़ियाँ भावनात्मक होती हैं। लाठी से हाँके जाने वाले भेड़ों के रेवड़ की भाँति इन्सान भी मजमे के रूप में इकट्ठे भले ही किये जा सकते हैं, परन्तु जब तक उनकी हृदयतन्त्री के तार सम्मिलित होकर एक सुर में बज नहीं उठते, तब तक समाज नहीं बनता।

मैं जानता हूँ, आचार्यश्री तुलसी के संवेदनशील व्यक्तित्व तथा नैष्ठिक नैतिकतापूर्ण सदाचरण से प्रभावित होकर अनेक चतुर दुनियादार भौतिक सफलता के उपासकों ने नैतिकतापूर्ण जीवन का प्रसाद पाया है।

आचार्यप्रवर का सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है, इस अवसर पर शुद्ध प्रसूनों की यह तुच्छ भेंट उनके चरणों में समर्पित करते हुए मैं अपने-आपको धन्य मानता हूँ।

कुशल विद्यार्थी

मुनिश्री मीठालालजी

वस्तुतः कुशल विद्यार्थी ही कुशल अध्यापक होता है और कुशल अध्यापक ही औरों को प्रशिक्षित कर सकता है। जो बहुत अभिज्ञ होने पर भी जिज्ञासु भाव को संजोये रखे और सत्य के अनुसन्धान में 'मम-तव' के भेद में न उलझे वही व्यक्ति कुशल विद्यार्थी एवं अध्यापक होता है। विद्यालय विशेष से उसका लाग-लगाव नहीं होता। वह जहाँ होता है, वहीं उसके लिए विद्यालय बन जाता है और निरवकाश उसका कार्य सुचारु रूप से चालू रहता है। मेरा यह कहना सम्भवतः लोगों को अचरज में डालेगा कि आचार्यश्री तुलसी एक विद्यार्थी हैं।

मैं क्या कहूँ, वे स्वयं अपने को ऐसा मानते हैं और ऐसा बने रहने में ही उन्हें अपना और संसार का भावी विकास-दर्शन होता है। वे बहुत बार दूसरों को परामर्श भी यही देते हैं कि साहित्य की तह तक पहुँचने के लिए सदा प्रत्येक व्यक्ति को वयोवृद्ध और ज्ञान-वृद्ध हो जाने पर विद्यार्थी ही बना रहना चाहिए। ज्ञान की जब इयत्ता नहीं तब थोड़ा-सा ज्ञान पाकर अपने को इयत्ता-प्राप्त या सत्य के अन्तिम छोर तक पहुँचा मान लेना निरा अज्ञान है। वैचारिक दुराग्रह भी इसी स्थिति में पनपता है और वही व्यक्ति को सत्य से बहुत परे ढकेल देता है। सत्य का आग्रह अवश्य उपादेय है, किन्तु सत्य वही नहीं है जो व्यक्ति ने जाना, माना या अपना लिया। तो सत्य को पाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को अथ से इति तक विद्यार्थी बने रहना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है।

सत्य को उपलब्ध करने की कुंजी

विद्यार्थी दुराग्रही या स्वमताग्रही नहीं होता और जो दुराग्रही या स्वमताग्रही होता है, वह विद्यार्थी भी नहीं होता। विद्यार्थी में निकेवल सत्य का आग्रह होता है। वह अपने अभिमत को ही सत्य नहीं, किन्तु सत्य को ही अपना अभिमत मानता है। वह किसी भी अभिमत को अपना तब तक ही मानता है, जब तक उसे वह सत्य लगता है। असत्य लगने के पश्चात् उसके परित्याग में उसे तनिक भी संकोच नहीं होता। आचार्यश्री ने एक चिन्तन गोष्ठी में अपना चिन्तन नवनीत प्रस्तुत करते हुए कहा था—'हमें जो समीचीन लगे उसे निःसंकोच भाव से आत्मसात् करना है। हम अनुकरण प्रिय नहीं, सत्य-प्रिय और सत्य-गवेषक हैं। सत्य पर आधारित बड़े-से-बड़ा परिवर्तन हमारे लिए अपेक्षणीय है और असत्य पर आधारित छोटे-से-छोटा परिवर्तन हमारे लिए उपेक्षणीय है, हेय है। कोरी अनुकरण-प्रियता में सत्य ओझल रहता है। नवीन चिन्तन के लिए अपने मस्तिष्क को सदा उन्मुक्त रखना चाहिए। किसी भी समय सत्य का कोई पहलू स्पष्ट हो सकता है जो अतीत में हमारे लिये अस्पष्ट रहा हो। चिन्तन का द्वार बन्द करने में विकास की इतिश्री हो जाती है।' यह है सत्य को उपलब्ध करने की आचार्यश्री की कुंजी।

आचार्यश्री प्राचीन परम्परा को आवश्यक और उचित महत्त्व प्रदान करते हैं, किन्तु प्राचीनता के साथ सत्य का गठ-बन्धन है और अर्वाचीनता के साथ नहीं, ऐसा उन्हें स्वीकार्य नहीं।

वे सर्वथा न प्राचीनता के समुत्थापक हैं और न सर्वथा अर्वाचीनता के सम्पोषक। वे प्राचीनता और अर्वाचीनता दोनों को तुल्य महत्त्व देते हैं, बशर्ते कि उसमें सचाई और औचित्य हो। सच्चाई से रिक्त न प्राचीनता उनके लिए उपादेय है और न अर्वाचीनता। सच्चाई प्राचीनता में भी हो सकती है और अर्वाचीनता में भी। प्राचीनता मात्र हेय नहीं और अर्वाचीनता मात्र उपादेय नहीं। दोनों में हेय अंश भी है और उपादेय अंश भी। ये हैं उनके एक और एक दो जैसे

स्पष्ट विचार। प्राचीनता के हेय अंश को छोड़ने में और अर्वाचीनता के उपादेय अंश को स्वीकार करने में वे कभी भी नहीं सकुचाते। यह उनकी स्पष्ट और मूलभूत रीति है। यही तो उनकी कुशल विद्यार्थिता है। विद्यार्थी पारखी होता है। उसका लगाव सत्य के सिवाय दूसरे के साथ हो भी कैसे सकता है!

तटस्थ दृष्टि

विद्यार्थी की दृष्टि तटस्थ होती है और उसके आलोक में वह सबको पढ़ता है। आचार्यश्री ने तटस्थ दृष्टि के आलोक में भारतीय दर्शनों का अध्ययन किया। दर्शनों में जहाँ अतटस्थ दृष्टिवाले लोगों को पूर्व-पश्चिम का विभेद दीखता है, वहाँ आचार्यश्री को अभेद अधिक दीखा। वे कहते हैं—"सभी आस्तिक दर्शनों के मूलभूत उद्देश्य में साम्य है, उपासना या साधना पद्धति में थोड़ा-बहुत विभेद अवश्य है। सभी दर्शनों में हमें ऐक्य के बीज अधिक उपलब्ध होंगे और अनैक्य के कम। थोड़े से अनैक्य के आधार पर लड़ना, झगड़ना और राग-द्वेष को उत्तेजना देना धर्म के नाम पर अधर्म का सम्पोषण करना है। उचित यह है कि हम अनैक्य के प्रति, सहिष्णु बनें और एक स्वर से ऐक्य के प्रसार में दत्तचित्त बनें।

यह सही है कि तटस्थ दृष्टि रखे बिना किसी भी दर्शन के हृदय को छुआ नहीं जा सकता। किसी भी दर्शन के प्रति गलत धारणा को लेकर उसे पढ़ना उसके प्रति अन्याय करना है। अतः दर्शन के विद्यार्थी के लिए तटस्थ दृष्टि ही स्पृहणीय है, जिसका कि आचार्यश्री में स्पष्ट प्रतिभास होता है।

आचार्यश्री समन्वय की भाषा में बोलते हैं, समन्वय की दृष्टि से सोचते हैं और लिखते हैं। समन्वयमूलक वृत्ति ने ही उन्हें जनप्रिय बनाया है। वे जो बात कहते हैं, वह सीधी लोगों के गले उतर जाती है। उनकी वाणी में ओज, हृदय में पवित्रता और साधना में उत्कर्ष है। उत्साह उनका अनुचर है। अत्यधिक कार्य व्यस्तता भी उनके सतत प्रसन्न स्वभाव को खिन्न बनाने में सर्वथा अक्षम्य ही रहती है। जन-जन के जीवन को नैतिकता से प्रशिक्षित करना ही उनका व्यसन है। उनका जीवन एक प्रेरक जीवन है, इसलिए वे नैसर्गिक कुशल अध्यापक हैं। उनके जीवन से लोगों को जो विश्व-बन्धुता और नैतिकता की प्रबल प्रेरणाएं उपलब्ध हुई हैं, वे सतत अविस्मरणीय हैं।

भारत के कोने-कोने से समायोज्यमान धवल समारोह आचार्यश्री की अविस्मरणीय सेवाओं की स्मृति मात्र है। इस अवसर पर मैं भी अपने को आचार्यश्री के अभिनन्दन से वंचित रखूँ, यह मुझे अभीष्ट नहीं।

महान् धर्माचार्यों की परम्परा में

श्री पी० एस० कुमारस्वामी
भूतपूर्व राज्यपाल, उड़ीसा

जब मैं यह सोचता हूँ कि मानव जन्म कितना दुर्लभ है और वह भी भारत जैसी पुण्य भूमि में, तो मेरा मस्तिष्क महान् विचारों से भर उठता है। यह हमारे देश का सौभाग्य है कि समय-समय पर इसमें महान् विवेकी पुरुषों ने जन्म लिया है और उन्होंने हमारे धर्म पर चढ़े हुए मैल को धोया है तथा लोगों को सही मार्ग दिखाया है। वास्तव में ऐसे पुरुषों ने देश की कीर्ति को आलोकित किया है और उनके विचारों ने सभी के हृदय को प्रभावित किया है। यह भव्य परम्परा वैदिक युग से प्रारम्भ हुई। जैन और बौद्ध धर्म के संस्थापकों ने भी हमको ज्ञान का प्रकाश प्रदान किया है और उनके बाद भी ऐसे सुप्रसिद्ध महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने इस देश की आध्यात्मिक शक्ति में वृद्धि की है। आज भारत के लिए यह समझा जाता है कि वह मानव-कल्याण के लिए अपना नैतिक योग दान देने में समर्थ है तो इसका कारण यही है कि भूत-काल में संतों और ऋषि-मुनियों ने भारत के लोगों को आध्यात्मिक शक्ति सम्पन्न बनाया था।

इस परम्परागत ज्ञान और विवेक का आधार यह विचार है कि सद् विचार, सद्ज्ञान और सदाचार से सुख की प्राप्ति होती है। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि यही शाश्वत और प्रेरक सन्देश अणुव्रत-आन्दोलन का भी मूलाधार है जिससे जीवन की शुद्धि होती है और दैनिक मानव-व्यवहार में नैतिकता और सत्य का समावेश होता है। वर्तमान समय में जब मानव मन भौतिकवाद के जाल में फँस रहा है, हमें अपना पथ आलोकित करने के लिए एक व्याव-हारिक और प्रेरक धर्म की आवश्यकता है। आचार्यश्री तुलसी उपयुक्त अवसर पर अवतरित हुए हैं। वे हमारे महान् धर्माचार्यों की परम्परा में हैं। वे हमें सद्विचार और सदाचार का मार्ग दिखा रहे हैं।

आज जगत् की क्या अवस्था है, यह किसी से छुपा हुआ नहीं है। हमारे देश ने भी यदि वर्तमान असंस्कारी विचारधाराओं को अपनाया होता तो वह बुरे मार्ग पर चल पड़ता। किन्तु सौभाग्य से महात्मा गांधी ने हमारी समाज-नीति को प्रभावित किया। उन्होंने हमारी राजनीति को आध्यात्मिक रूप देने का प्रयास किया और हमें गर्हित भौतिक-वाद से बचा लिया। मुझे विश्वास है कि अणुव्रत-आन्दोलन भी अहिंसा, सत्य, स्वावलम्बन और स्वार्थ-त्याग पर बल दे कर राष्ट्र का कल्याण सिद्ध करने के लिए कठोर परिश्रम करेगा। ये सिद्धान्त किसी एक धर्म की बपौती नहीं हैं, सभी धर्म उनको मान्यता देते हैं। यह हो सकता है कि कोई धर्म उनके पालन पर न्यूनाधिक बल देता हो।

मुझे यह ज्ञात हुआ है कि आचार्यश्री तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ सम्प्रदाय के नवम आचार्य हैं। इससे मुझे ख्याल आता है कि जैन धर्म का कितना व्यापक प्रचार रहा है। उसके प्राचीन और उदात्त सिद्धान्तों ने अकबर जैसे महा-पुरुषों को और आधुनिक काल में महात्मा गांधी को भी प्रेरणा दी है। जैन जीवन-दृष्टि राष्ट्रीय दृष्टिकोण का अंग ही बन गई है। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि जैन साहित्य और उसकी कलात्मक परम्परा भारतीय संस्कृति के समकक्ष बन गई हैं।

यह मैं इसलिए कहता हूँ कि दक्षिण भारत में भी जैन ग्रन्थकारों ने तमिल साहित्य को समृद्ध बनाया है। इससे प्रकट होता है कि उन्होंने इस क्षेत्र की भाषा को अपने धर्म की महत्ता और सन्देश का माध्यम बनाने में कोई हानि नहीं समझी। कला और नैतिकता के क्षेत्र में जैनों की उपलब्धियाँ और जीवन के इस क्षेत्र में जैन समाज की उल्लेखनीय

सफलताएं महत्त्वपूर्ण रही हैं। यह भी सर्वविदित है कि गांधीवाद पर जैन धर्म का कितना भारी प्रभाव पड़ा था।

मैं आशा करता हूँ कि आचार्यश्री तुलसी उत्तम और व्यवहारिक नागरिकता का विकास करने का अपना पावन कार्य निरन्तर करते रहेंगे और सभी सत्य-शोधकों के लिए समान मंच उपलब्ध करेंगे। मेरी कामना है कि वह लोगों को सही मार्ग बताएं और उनमें सरल और साहसी जीवन एवं सदाचार की नई चेतना उत्पन्न करके राष्ट्र का नैतिक कल्याण सिद्ध करने में यशस्वी हों।

←→

अभिनन्दन गीत

श्री मतवाला मंगल

हे ! युग-स्रष्टा, युग-द्रष्टा, युग के नूतन पंथ-प्रवर्तक
हे ! विश्व-शान्ति के अग्रदूत, हे, नूतन विश्व-प्रदर्शक
षट्-शत करोड़ भयभीत हस्त
भौन्तिक प्रवाह में पड़े पस्त
तव अभय-पंथ लखते प्रशस्त
कर रहे तुम्हारा वन्दन, हे, लोक-वन्द्य ! तव वन्दन
तव कोटि-कोटि अभिनन्दन।

तुम अति उदार, उन्नत, विशाल, जाज्वल्यमान शुभदायक
युग के चिन्तन-मन्थन-दर्शन के तुम प्रकाण्ड विधायक
उद्भव तुम से लख अणु-प्रकीर्ण
हो रहा रुद्ध तिमिरावतीर्ण
झर रहे पत्र सब जीर्ण-शीर्ण
बन रहा इन्द्रवन मरुवन, हे लोक-दीप ! तव वन्दन
तव कोटि-कोटि अभिनन्दन।

भौतिक सुषुप्ति में लीन लोक-नेत्रों के तुम उन्मेषक
अध्यात्म-प्रात के नवल सूर्य, अणुव्रत के तुम अन्वेषक
तुमने उच्चारा दिव्य मन्त्र
हर व्यक्ति धरा का है स्वतन्त्र
है मैत्रि-भाव सुशस्त्र-अस्त्र
है ताज्य आज रण-अर्चन, हे लोक-देव तव अर्चन
तव कोटि-कोटि अभिनन्दन।

तुलसी आया ले 'चरैवेति' का नव सन्देश

श्री कीर्तिनारायण मिश्र, एम० ए०

फैला जब चारों ओर तिमिर का अन्ध जाल
अन्याय-अनय हिंसा का नित दंशन कराल,
शोषण-मर्दन की पीड़ा से जब त्रस्त देश
तुलसी आया ले 'चरैवेति' का नव सन्देश।

इसकी वाणी में नवयुग का नूतन प्रकाश
संस्कृति-दर्शन का तेज अमित जीवन-विकास,
आदर्श-समुज्ज्वल शान्त-स्निग्ध-शुचि-सौम्य-रूप
गढ़ता विकृतियों में मानव-आकृति अनूप।

यह तुम्हें न कोई नयी बात कहने जाता
या तर्क-वितर्कों में न तुम्हें यह उलझाता;
जो भूल चुके तुम मार्ग उसे फिर अपनाओ
सात्विक जीवन के तत्त्वों से परिचय पाओ।

संयमित बनालो आज कि अपने जीवन को
परिग्रह की ओर न ले जाओ अपने मन को,
संकल्प-वरण कर जीवन को पावन कर लो
अन्तर ज्योतित करने का व्रत धारण कर लो।

तुम भूल चुके उस तीर्थंकर का शुभ सन्देश
जिसकी किरणों से ज्योतित होता था स्वदेश,
यह आज उसी का गान सुनाने आया है
जागो-जागो यह तुम्हें जगाने आया है।

तुलसी का 'अणुव्रत' जागृति का अभिनव प्रतीक
अध्यात्मवाद का परिपोषक, सद्धर्म-लीक;
दिग्भ्रान्तों का वह करता है पथ-निर्देशन
सभ्यता-संस्कृति के तत्त्वों का अनुशीलन।

यह अनाचार की आज रहा दीवार तोड़
जागरण के लिए नीति-भीत्ति को रहा जोड़;
अज्ञान तिमिर को चीर, ज्ञान का भर प्रकाश
कर रहा आज वह मानव का अन्तर्विकास।

करता न कभी आमर्ष-कलह की एक बात
या धर्मभेद की इसके सम्मुख क्या बिसात ?
बस एक लक्ष्य इसका—'जीवन मंगलमय हो
अन्याय-अनय औ' कल्मषका क्षण में लय हो।'

हो गये आज तुम हो अतिशय आचरण-भ्रष्ट
कर रहे आज तुम स्वयं आत्म-बल को विनष्ट;
अपनी आँखें खोलो, यदि तुम कुछ सको देख
तो देखो अपने धर्मदूत की ज्योति-रेख।

व्रत करते हैं कुछ लोग स्वार्थ की सिद्धि-हेतु
व्रत करते हैं कुछ लोग, बनाने स्वर्ग-सेतु;
लेकिन यह 'अणुव्रत' कैसा जिसमें नहीं स्वार्थ
निष्काम कर्म यह है नैतिकता प्रचारार्थ।

भगवान् महावीर और बुद्ध की परम्परा में

मुनिश्री सुखलालजी

भगवान् महावीर और बुद्ध का नाम उन अत्यल्प व्यक्तियों में से है, जिन्होंने भारतीय संस्कृति को एक नई चेतना दी है। वैसे रत्नगर्भा वसुन्धरा पर न जाने कितने महावीर और बुद्ध उतरे होंगे, पर उनकी अपनी यह एक विशेषता रही है कि अपने पीछे वे एक पुष्ट-परम्परा-प्रवाह को छोड़ गये हैं। निश्चय ही परम्परा में अविरल चैतन्य नहीं रहता। कभी-कभी उसे मन्दता का प्रकोप भी सहना पड़ता है, पर सततवाहिता की यह एक सहज उपलब्धि है कि उसमें समय-समय पर कुछ ऐसे उन्मेष आते रहते हैं जो उसकी अतीत की मन्दता को भी कुछ होने से बचा देते हैं। यही कारण है कि ढाई हजार वर्षों के बाद भी हम महावीर और बुद्ध को भूल नहीं पाये हैं। श्रमण-संस्कृति के क्षितिज पर आज एक ऐसे तेज-पुंज का उदय हो रहा है, जो भगवान् महावीर और बुद्ध को एक बार पुनः अभिव्यक्ति देने का प्रयास कर रहा है।

हमारा संसार प्रतिध्वनियों का एक स्रोत है। युग-युग में यहाँ सदा कोई-न-कोई महामहिम मानव प्रतिध्वनित होता ही रहता है। पर भारत की प्रतिध्वनि-पंक्ति में भगवान् महावीर और बुद्ध का विशेष प्रभाव रहा है। उन्होंने न जाने कितने महापुरुषों को पैदा कर अध्यात्म के अंकुर को प्रकाशसिक्त किया है। निश्चय ही भगवान् महावीर और बुद्ध भी अपने आपमें किसी ध्वनि की ही प्रतिध्वनि रहे होंगे। पर उनकी प्रतिध्वनि अपने आपमें इतनी दूरगामी थी कि वर्तमान में भी हम उसे आचार्यश्री तुलसी के रूप में सुन रहे हैं।

महावीर और बुद्ध आज हमारे बीच साहित्य के रूप में उपस्थित है। यद्यपि इतिहास की यह दुर्बलता है कि वह सब स्थितियों को अपने में प्रतिबिम्बित नहीं कर पाता। पर इसके बाद भी आज उनके विषय में जो कुछ अवशेष रह गया है, वह उनके महत्त्व को अच्छी प्रकार से व्यक्त कर देता है। कालक्रम से उन पर बहुत से आवरण भी चढ़ाये गये हैं, इसलिए हमें उनका वास्तविक स्वरूप समझने में कठिनाई भी हो सकती है। पर भगवान् के महत्त्व को भक्त ही बढ़ाता है, यह भी हमें भूल नहीं जाना चाहिए। इस प्रकार कुल मिला कर उनका स्वरूप जो हमारे सामने है, वह अत्यन्त आकर्षक है।

अपने समय में महावीर और बुद्ध को कितना महत्त्व मिला था, यह एक विवादास्पद विषय है। उस समय भी एक साथ छः तीर्थकरों का अस्तित्व जैन और बौद्ध दोनों साहित्य स्वीकार करते हैं। पर परिस्थिति के आघात-प्रत्याघातों से बच कर हम तक केवल वे दो ही पहुँच पाये हैं। यह तथ्य पूर्ण अनावृत है; अतः उनके साहित्य को पढ़ कर आचार्यश्री तुलसी के जीवन पर दृष्टिपात किया जाये तो बहुत-सी घटनाएं उनमें एक अलभ्य-साम्य रेखा हमारे सामने खींच देती हैं। अतः कुछ घटनाओं को मैं यहाँ अंकित करना चाहता हूँ, जिनको मैंने अपनी आँखों से देखा है। क्योंकि विचारों का हिम ही पिघल कर घटनाओं के सलिल-प्रवाह के रूप में हमारे सामने बहता है। निश्चय ही आचार्यश्री तुलसी के सामने वे ही आदर्श हैं जो श्रमण संस्कृति के उद्भावकों के सामने रहे थे। अतः विचार-साम्य तो उनमें होगा ही, पर आचार्यश्री ने उन पर अपने अपनत्व की जो मुद्रा लगाई है, वह निश्चय ही उनके अपने व्यक्तिगत व्यवहार की देन है।

महावीर और बुद्ध के जीवन को पढ़ते समय ऐसा लगता है कि हम किसी ऐसी मूर्त्ति के सामने बैठे हैं जो चारों ओर से श्रद्धामय है। सचमुच श्रद्धा जीवन का एक विशेष गुण है। कुछ लोग उसे अन्धी कह कर उससे परहेज कर सकते

हैं, पर व्यवहार में उससे किसी भी प्रकार से बचा जा सकता है; ऐसा नहीं लगता। बल्कि प्रत्येक सरस व्यक्तित्व मे श्रद्धा का अपूर्व स्थान रहेगा ही। श्रद्धेय स्वयं श्रद्धाशील बन कर ही अपने पद तक पहुँच पाता है। जिसने श्रद्धा का अनुगमन नहीं किया, वह कभी श्रद्धेय नहीं बन सकता। भगवान् महावीर और बुद्ध भी श्रद्धा के आदान-प्रदान में पूर्ण प्रवीण थे। यही कारण है कि हम उन्हें सदा श्रद्धालुओं से घिरा पाते हैं। उनके चारों ओर लिपटा श्रद्धा-सिचय कभी-कभी इतना अपारदर्शी हो जाता है कि वे स्वयं भी उसमें छिप जाते हैं। पर श्रद्धा में इतनी अकल्प्य शक्ति होती है कि कभी-कभी तर्क उसका साथ ही नहीं दे पाता।

महापुरुष का पुण्य प्रसाद

मुझे कलकत्ते की वह घटना याद है। उस दिन आचार्यश्री कलकत्ता के विवेकानन्द रोड़ पर आस्थित चोपड़ों के मकान में ठहरे हुए थे। लोगों का आवागमन भरपूर था। उसी के बीच एक बंगाली दम्पति ने आचार्यश्री के कक्ष में प्रवेश किया। बंगाल की भक्ति-भावना तो भारत विश्रुत है ही, अतः आते ही उस युगल ने प्रणिपात किया और एक ओर हट कर खड़ा हो गया। आचार्यश्री ने अपनी दृष्टि उनकी ओर उठाई तो पति कहने लगा—गुरुदेव! सच-मुच आप हमारे लिए भगवान् हैं। आचार्यश्री के लिए यह शब्द प्रयोग नया नहीं था, अतः उनकी प्रशस्ति सुन शान्त हो गए। पर पति ने फिर दोहराया—गुरुदेव! आप सचमुच हमारे लिए भगवान् ही हैं। उसकी मुख-मुद्रा में इतनी स्वाभाविकता थी कि इस बार आचार्यश्री के चेहरे पर एक प्रश्न चिह्न उभर आया।

पति अपनी पत्नी की ओर संकेत कर कहने लगा—यह मेरी पत्नी है। कई वर्षों से क्षय-ग्रस्त थी। अनेक उप-चार करवाने पर भी कोई लाभ नहीं हुआ। आखिर बढ़ते-बढ़ते यह अन्तिम किनारे पर आ गई और हम लोगों ने सोच लिया, बस अब यह ठीक होने की नहीं है, अतः दवा बन्द कर दी और शान्तिपूर्वक आयु शेष की प्रतीक्षा करने लगे। पर इसी बीच एक दिन मैंने 'अणुव्रत-पण्डाल' में आपका प्रवचन सुना। तो मुझे उसमें कुछ दिव्य-ध्वनि-सी अनुभव हुई। मैं आपकी मुखाकृति से अपरिचित होकर ही तो पण्डाल में आया था और जब आपकी वीणा-वाणी के स्वरालापों को सुना तो मन में आया—जरूर यह कोई दिव्य पुरुष है।

उस दिन मैं फिर आपके दर्शन की भावना लेकर अपने घर लौट गया। पर दूसरी बार जब मैं प्रवचन-पण्डाल से लौटा तो खाली हाथ नहीं लौटा। उस दिन मेरे साथ आपकी चरण-धूलि भी थी। घर आकर मैंने उसे स्वच्छ वर्तन में रख दिया और पत्नी से नियमित रूप से थोड़ी-थोड़ी करके इस पुण्य-प्रसाद को खाते रहने का आदेश दे दिया। मैंने इसे यह भी बता दिया कि यह एक महापुरुष की चरण-रेणु है। पत्नी ने श्रद्धा से इस क्रम को निभाया और इसी का यह परि-णाम है कि आज यह बिल्कुल स्वस्थ होकर आपके सामने खड़ी है।

सुनने वालों को थोड़ा विस्मय हुआ, पर श्रद्धा में अपरिमित शक्ति होती है, यह जान कर मैंने मन-ही-मन आचार्य चरणों में सिर झुका दिया। मैं नहीं जानता स्वास्थ्य-विज्ञान इस प्रसंग को कैसे सुलझायेगा? पर इतना निश्चित है कि श्रद्धा से बड़े-बड़े अकल्प्य कार्य सुगम हो जाते हैं। आचार्यश्री ने वैसा स्थान पाया है, यह न केवल यही घटना बता रही है, अपितु इस प्रकार की अनेकों घटनाएं लिखी जा सकती हैं। हो सकता है, यह सब स्वाभाविक ही होता हो, पर यदि कोई व्यक्ति इतनी श्रद्धा अर्जित कर सकता है, उसे महापुरुष कहने में शब्दों का दुरुपयोग नहीं है, ऐसा मेरा विश्वास है।

समान श्रद्धेय

कुछ लोगों का विश्वास है कि श्रद्धा अज्ञान की सहचारिणी है, पर आचार्यश्री ने अपने व्यक्तित्व-बल से जहाँ साधारण जन की श्रद्धा का अर्जन किया है, वहाँ देश-विदेश के शिक्षित मानस को भी अपनी ओर खींचा है। यह सच है कि ज्ञान-विज्ञान में आज बहुत तेजी से प्रगति हो रही है और इस युग में किसी को पुरानी बातें नहीं सुहाती हैं, पर रुचि और अरुचि के प्रश्न को मेरे विचार से नये और पुराने के साथ नहीं जोड़ना चाहिए; क्योंकि ज्यों-ज्यों नई बातें पुरानी होती जा रही हैं, त्यों-त्यों पुरानी बातें भी नवीनता धारण करती जा रही हैं। उसमें आवश्यकता केवल उचित माध्यम की है।

यदि उसे संप्रसारित करने वाला व्यक्तित्व प्रबुद्ध होगा तो पुरानी बातें भी नवता का आकार ग्रहण करने लगेंगी। यही कारण है, आचार्यश्री के व्यक्तित्व ने बीसवीं सदी के इस विज्ञान बहुल युग में भी पदयात्रा के महत्त्व को ध्वनित किया है। संयम और साधना के प्रति युग में एक अनुराग भावना संप्रसारित हुई है। भगवान् महावीर और बुद्ध को जिस प्रकार झोंपड़ी से लेकर राजप्रसादों की श्रद्धा समान रूप से मिलती थी, उसी प्रकार आचार्यश्री ने भी झोंपड़ियों से लेकर राज-प्रसादों तक का समान सम्मान पाया है। राष्ट्रपति भवन में भी उन्हें जिस प्रकार एक संत के रूप में देखा गया था; उसी प्रकार गरीबों को झोंपड़ी में भी उन्हें एक संत के समान ही समझा गया। राष्ट्रपति ने उनसे राष्ट्र के सुधार के लिए अणुव्रत-आन्दोलन की आवश्यकता बताई तो उस हरिजन-दम्पति की घटना भी उनके महत्त्व पर कम प्रकाश नहीं डाल रही है।

आचार्यश्री जयपुर से आगे श्री माधोपुर की ओर जा रहे थे। बीच के एक गाँव में विश्राम के लिए ठहरे तो उनके चारों ओर लोग एकत्रित हो गए। आचार्यश्री ने उन्हें व्यसन-मुक्ति का उपदेश दिया और आगे चल पड़े। बीच मार्ग में एक हरिजन महिला आई और बोली—बाबाजी! क्या आप मेरे घर में भी आ सकते है? आचार्यश्री ने तत्क्षण अपने चरण उसके घर की ओर बढ़ा दिए। महिला के हर्ष का पारावार नहीं रहा। अपने घर में आचार्यश्री को पाकर कहने लगी—बाबाजी! यह मेरा पति तमाखू बहुत खाता है। मैंने इसे बहुत समझाया, पर यह मेरी बात मानता ही नहीं है। मैं इससे कहती हूँ—तू कोई कमाई न कर सके तो मत कर; घर का कार्य मैं चला लूंगी, पर कम-से-कम व्यसनों में तो पैसों को बर्बाद मत कर। अब आपने आज हमारे आंगण को पवित्र कर दिया है तो इसकी तमाखू भी छुड़वा दीजिये।

आचार्यश्री ने अपनी बड़ी आँखें उस हरिजन पर गड़ाई और बोले—तू तमाखू नहीं छोड़ सकता?

एक क्षण के लिए उसके हृदय में द्वन्द्व हुआ और फिर वह बोला—अच्छा बाबा! आज से नही खाऊंगा, प्रतिज्ञा करवा दीजिये। आचार्यश्री यह भिक्षा पाकर प्रसन्न मुख वापस लौट आये, मानो कहना चाहते हों, मेरा परिश्रम व्यर्थ नहीं गया है।

पुष्करजी जा रहा हूँ!

आचार्यश्री जब ग्रामीणों से बात करते हैं तो ऐसा लगता है जैसे उनसे उनका गाढ़ परिचय रहा है। एक बार लाडनू में मध्याह्न के समय आचार्यश्री भाई-बहिनों के बीच बैठे थे कि दो किसान भाई जल्दी से आये और वंदना कर जाने लगे। आचार्यश्री ने उन्हें पूछा—कौन हो? कहाँ से आये हो भाई? जाने की इतनी क्या जल्दी है? उनमें से एक ने कहा—महाराज हम किसान हैं। यह आज इसी गाड़ी से पुष्करजी जा रहा है; अतः जल्दी है।

आचार्यश्री—अच्छा! पुष्करजी जा रहे हो? क्यों जाते हो वहाँ?

किसान—वहाँ स्नान करेंगे। भगवान् के दर्शन करेंगे, साधुओं के भी दर्शन होंगे।

आचार्यश्री—स्नान करने से क्या होगा?

किसान—सब पाप धुल जायेंगे।

आचार्यश्री—तब तो वहाँ तालाब में रहने वाली मछलियों के पाप सबसे पहले धुलेंगे?

बात कुछ चमकाने वाली थी। किसान बोला—वहाँ हमारे साधुओं के दर्शन होंगे।

आचार्यश्री—तो क्या साधुओं में भी हमारे और तुम्हारे दो होते हैं? साधु तो सभी के होते हैं, बशर्ते कि वे वास्तव में ही साधु हों और समझो कि सच्चे साधु वे ही होते हैं जो अपने पास पैसा नहीं रखते। अच्छा तो तुम वहाँ साधुओं को कुछ भेंट चढ़ाओगे?

किसान—जरूर (आवाज में दृढ़ता थी)।

आचार्यश्री—तो तुम साधु के पास आये हो, क्या कोई भेंट लाये हो?

अपनी जेब टटोल कर उसने एक रुपया निकाला और आचार्यश्री को देने लगा। आचार्यश्री ने उसे हाथ में लिया और कहने लगे—अरे! एक रुपये से क्या होगा?

किसान—बस, महाराज ! हम तो एक रुपया ही चढ़ाते हैं और आपके पास तो अनेक भक्त लोग आते है, एक-एक रुपया देंगे तो भी बहुत हो जायेंगे।

आचार्यश्री—पर बताओ रुपये का हम करें क्या ?

किसान—किसी धर्मार्थ काम में लगा देना।

आचार्यश्री—पर धर्म के लिए पैसे की जरूरत नही होती। वह तो आत्मा से ही होता है। तब फिर साधुओं के पास पैसा किस काम का ? हम तो पैसा नहीं लेते। यह लो तुम्हारा रुपया।

किसान को बड़ा आश्चर्य हुआ। कहने लगा—महाराज ! हमने तो आज तक ऐसा साधु नहीं देखा जो पैसा नही लेता हो। वह कुछ दुविधा में पड़ गया। सोचने लगा पुष्करजी में नहाने से पाप नहीं उतरते और उन संतों के दर्शन करने से कोई कल्याण नहीं हो सकता जो पैसा रखते हैं, तब फिर पुष्करजी जाऊँ या नहीं जाऊँ ?

आचार्यश्री—भाई ! वह तुम तुम्हारी जानो। हमने तुम्हे रास्ता बता दिया है। करने में तुम स्वतन्त्र हो।

किसान कुछ विचार कर बोला—अच्छा महाराज ! अब पुष्कर जी नहीं जाऊँगा। आपके पास ही आऊँगा।

आचार्यश्री—पर यहाँ आने मात्र से कल्याण नहीं होने वाला है, कुछ नियम करोगे तो कल्याण होगा।

किसान—क्या नियम महाराज !

आचार्यश्री ने उसे प्रवेशक अणुव्रती के नियम बताये और वह उसी समय सोच-समझ कर अणुव्रती बन गया।

भगवान् महावीर और बुद्ध के हाथ में कोई राज्य सत्ता नहीं थी, पर उन्होंने देश के मानस को बदलने के लिए जो प्रयास किया है, वह सम्भवतः कोई भी राज्य-सत्ता नहीं कर सकती। आचार्यश्री ने भी यही कार्य करने का प्रयास किया है।

सत्ता और उपदेश

एक बार आचार्यश्री महाराष्ट्र में विहार कर रहे थे। बीच में एक गाँव में सड़क पर ही अनेक लोग इकट्ठे हो गये। कहने लगे—आचार्य जी ! हमें भी कुछ उपदेश देते जायें। अपनी शिष्य मंडली के साथ आचार्यश्री वहीं वृक्ष की छाया में बैठ गये और पूछने लगे—क्यों भाई ! शराब पीते हो ? ग्रामीण एक-दूसरे का मुँह देखने लगे।

आचार्यश्री—तुम्हारे यहाँ तो शराबबन्दी का कानून है न ?

ग्रामीण—हाँ महाराज ! है तो सही।

आचार्यश्री—तब फिर तुम शराब तो कैसे पीते होंगे ? कोई नहीं बोला। चारों ओर मौन था। फिर आचार्यश्री कहने लगे—देखो भाई ! हम सरकार के आदमी नहीं हैं, हम तो साधु हैं। तुम हमसे डरो मत। सच्ची-सच्ची बात बता दो। धीरे-धीरे लोग खुलने शुरू हुए और कहने लगे—महाराज ! कानून है तो बाहर है। घर में तो नहीं है न ? अतः लुक-छिप कर पीने से कौन गवाह करने वाला है।

आचार्यश्री—पर सरकार के आदमी तो देख-रेख करने आते होंगे ?

ग्रामीण—देख-रेख कौन करता है महाराज ! वे तो उल्टे हमारे घर पीकर जाते हैं।

आचार्यश्री ने हम साधुओं से कहा—यह है कानून की विडम्बना। पर उपस्थित समुदाय की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—देखो भाई ! शराब पीना अच्छा नहीं है। इससे मनुष्य पागल बन जाता है।

ग्रामीण—बात तो ठीक है महाराज ! पर हमारे से तो यह छूटती नहीं है।

आचार्यश्री—देखो तुम मनुष्य हो। मनुष्य शराब के वश हो जाये, यह अच्छा नहीं, छोड़ दो इसे।

ग्रामीण—पर महाराज ! यह हमें बहुत प्यारी हो गई है।

आचार्यश्री—अच्छा तो तुम ऐसा करो, एकदम नहीं छोड़ सकते तो कुछ दिनों के लिए तो छोड़ दो। उपस्थित जनसमुदाय में से अनेक लोगों ने यथाशक्य मद्य पीने का त्याग कर दिया। कुछ ने अपनी मर्यादा कर ली कुछ व्यक्तियों ने बिल्कुल भी त्याग नहीं किया। एक नौजवान भाई पास में खड़ा था। आचार्यश्री ने उसका नाम पूछा, तो वह भाग

खड़ा हुआ। लोग उसे समझा-बुझा कर वापस लाये। आचार्यश्री ने उससे पूछा—क्यों भाई ! तुम भाग क्यों गये ? कहने लगा मैं नहीं छोड़ सकता। आप सरकार में कहीं रिपोर्ट कर दें तो ?

आचार्यश्री—हम किसी की रिपोर्ट नहीं करते ! हम साधु हैं। हम तो उपदेश के द्वारा ही समझाते हैं। तुम सोचो, यह अच्छी नहीं है। बहुत समझाने-बुझाने के बाद उसने महीने में केवल चार दिन शराब पीने का त्याग किया। यह है कानून और हृदय-परिवर्तन का एक चित्र।

हमने आपको नहीं पहिचाना

पहले परिचय में आचार्यश्री को समझना जरा कठिन होता है। क्योंकि आज साधु-वेष में जो अन्याय पल रहे हैं, उन्हें देखते यह सम्भव भी नहीं है। पर ज्यों ही उन्होंने आचार्यश्री का परिचय पाया, उन्हें अपने-आप पर पश्चात्ताप हुआ है।

आचार्यश्री जब सौराष्ट्र के समीप से गुजर रहे थे, रास्ते में एक गाँव आया। हमारा वहाँ जाने का पहला ही अवसर था। एक साथ इतने बड़े संघ को देख कर वहाँ के लोग दहल गये और हमारे विषय में तरह-तरह की बातें करने लगे। कई लोग कहते—ये कांग्रेसी हैं, अतः वोटों के लिए आये हैं। कई लोग कहते—ये साधु का वेप बनाये डाकू हैं। कई लोग कहते—ये अपने धर्म का प्रचार करने आये हैं। इस प्रकार अनेक प्रकार की आशंकाओं के कारण लोगों ने हमें वहाँ रहने को स्थान भी बड़ी मुश्किल से दिया। एक टूटा-फूटा मन्दिर था। उसी में हम सब जाकर ठहर गये। अनेक प्रकार के कुतूहल लेकर कुछ लोग आये तो आचार्यश्री ने प्रवचन करना शुरू कर दिया। लोग बैठ गये और प्रवचन सुनने लगे। प्रवचन सुन कर उन लोगों के सारे संशय उच्छिन्न हो गये। फिर हम भिक्षा के लिए गये। हमारी भिक्षा विधि को देख कर तो वे और भी प्रभावित हुए। दोपहर को अनेक लोग मिल कर आये। बातचीत की, प्रवचन सुना तो उनकी आँखें खुल गई। आचार्यश्री वहाँ से विहार कर शाम को जाने वाले थे, अतः उनमें से एक बूढ़ा आदमी आगे आया और कहने लगा—"बापू! आज-आज तो आपको यहाँ रुकना पड़ेगा। आँखों में आँसू भरकर वह बोला—मैं आपको सच बताऊँ, हमने आपको पहचाना नहीं। हमने समझा ये कोई डाकू हैं। इसलिए न तो हम आपकी भक्ति कर पाये और न आपसे कुछ लाभ ही उठा सके। आप तो महान् हैं, हमें क्षमा करें और आज रात-रात यहाँ जरूर ठहरें। पर आचार्यश्री को आगे जाने की जल्दी थी, अतः ठहर नहीं सके और चल पड़े। लोगों ने आँसू भरे चेहरे से आचार्यश्री को विदाई दी।

महापुरुषों का क्षणमात्र जीवन में अकल्प्य परिवर्तन कर देता है, उसी का एक चित्र है। ढलते दिन ढलती अवस्था का एक जर्जर देह हरिजन आचार्यश्री के पास आया और कहने लगा—महाराज ! आपके दर्शन करने आया हूँ। पिछली बार जब आप यहाँ आये थे तो मैंने आपसे तमाखू नहीं पीने का व्रत लिया था। याद है न आपको ? आचार्यश्री के उस समय मौन था, अतः बोले नहीं। कुछ संकेत ही किये; वृद्ध ने अपना कहना जारी रखा। क्यों याद नहीं महाराज आपके सामने ही तो मैंने अपनी चिलम तोड़ी थी। अब तक पूरा पालन करता हूँ उस नियम का। आचार्यश्री को भी घटना याद हो आई। अपनी गर्दन हिलाकर उन्होंने उसकी स्वीकृति दी और इशारे से बताया—अभी मेरे मौन है। वृद्ध ने फिर कहना प्रारम्भ किया—महाराज ! वह नियम तो मैंने पूरा निभाया है, पर मेरी एक बुरी आदत और है। मैं अफीम खाता हूँ। बिना उसके रहा नहीं जाता। पर सोचता हूँ, आज आपके पास आया हूँ तो उसे भी छोड़ता जाऊँ। मैं खुद तो छोड़ नहीं सकता, पर आपके पास त्याग करने पर किसी प्रकार मैं उसे निभा ही लूँगा। अतः आज मुझे अफीम-सेवन करने का त्याग दिलवा दीजिए और सचमुच उसने अफीम-सेवन का त्याग कर दिया।

आत्म-विश्वास का जीता-जागता चित्रण

एक छोटा-सा गाँव। पाठशाला का मकान। सायंकालीन प्रार्थना से थोड़े समय पहले का समय। एक प्रौढ़ किसान आचार्यश्री के सामने कर-बद्ध खड़ा है। आचार्यश्रीने पूछा—कहाँ से आये हो भाई ! कहने लगा—यहीं थोड़ी दूर पर एक गाँव है, वहाँ से आया हूँ।

आचार्यश्री—इतनी देर से कैसे आये ?

किसान—दिन में मेरा लड़का तथा स्त्री आ गये थे। उन्होंने कहा—तुम भी जा आओ। सो खेत से सीधा ही आपके दर्शन करने आया हूँ महाराज !

आचार्यश्री—पर केवल दर्शन करने से क्या होगा ? क्या तमाखू पीते हो ?

किसान—पीता हूँ महाराज ! बचपन से ही पीता हूँ ।

आचार्यश्री—हाथ दिखाओ तो तुम्हारे ? देखो इनमें तमाखू के दाग बैठ गये। धोने से भी नहीं उतरते, तो क्या पेट में ऐसे दाग नहीं बैठेंगे ? और सच तो यह है कि तमाखू से जीवन में भी दाग बैठ जाता है। यह अच्छी नहीं है भाई !

किसान—तो क्या छोड़ दूं इसे ?

आचार्यश्री—हाँ, जरूर छोड़ दो।

किसान—तो लो आज से ही तमाखू पीने का त्याग है।

आचार्यश्री—पर निभाना पड़ेगा इसे ? केवल त्याग करने से ही कुछ नहीं हो जाता।

किसान—इसमें क्या शक है। प्राण चले जायें, पर प्रण नहीं जायेगा।

मानव के आत्म-विश्वास का यह एक जीता-जागता चित्रण है।

इतना सब कुछ होते हुए भी आचार्यश्री अपने-आपको एक अकिंचन भिक्षु मानते हैं। उस समय जेठ का महीना था। जोधपुर से लाडनूं की ओर विहार हो चुका था। आँधियाँ चलने लगी थीं, अतः आचार्यश्री का सारा शरीर अलाइयों से भर गया था। बार-बार खुजली आती थी। एक साधु 'हैजलीन' लाये और निवेदन किया इसे लगाने से आपको आराम रहेगा। आचार्यश्री ने कहा—भाई ! यह तो अमीर लोगों की दवा है। हम तो अकिंचन फकीर हैं; हमारे ऐसी दवाइयाँ काम नहीं आ सकतीं ? हमारी दवाई तो जब वर्षा आयेगी और ठण्डी-ठण्डी हवा चलेगी तो अपने-आप हो जायेगी।

आचार्यश्री ने जहाँ लाखों लोगों की श्रद्धा पाई है, वहाँ अनेक लोगों के विरोध को भी उन्हें सहन करना पड़ा है। पर उन्होंने इसे इस प्रकार हँस कर टाल दिया जैसे मानो भगवान् महावीर और बुद्ध की आत्मा ही उनमें बोल रही हो।

यह जोधपुर की घटना है। दीक्षा प्रसंग को लेकर विरोध बातूल प्रबल वेग से बह रहा था। कुछ लोगों ने विरोध में कोई कमी नहीं रखी थी। अतः उन्होंने एक दिन उस सड़क को, जिससे होकर आचार्यश्री जंगल जाते थे, पोस्टरों से पाट दिया। थोड़े-थोड़े फासलों पर पोस्टर चिपके हुए थे। उस विरोध-बेला में भी आचार्यश्री के अधरों से स्मित फूट रहा था। बोले—इन लोगों ने कितने पोस्टर चिपकाएं हैं; पर एक कमी इन्होंने रख दी। यदि पोस्टर नजदीक-नजदीक लगाये होते तो हमारे पैर तारकोल से गन्दे होने से बच जाते। सचमुच ऐसी बात कोई महापुरुष ही कह सकता है।
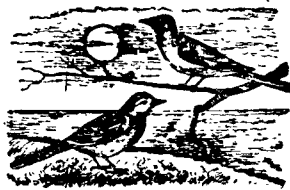
जैसा मैंने देखा

श्री कैलाशप्रकाश, एम० एस-सी०
स्वायत्त शासनमंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार

युग आये और चले गये। अनेकों उसके काल-प्रवाह में बह गये। उनका अस्तित्व के रूप में नाम-निशान तक नहीं रहा। अस्तित्व उसी का रहता है जो कुछ कर-गुजरता है। व्यक्ति की महानता इसी में है कि वह युग के अनुस्रोत में नहीं बहे, बल्कि मानव-कल्याणंकारक कार्य-कलापों से युग के प्रवाह को अपनी ओर मोड़ ले। इस रत्नगर्भा वसुन्धरा ने समय-समय पर ऐसे नररत्न पैदा किये हैं जो कि युग के अनुस्रोत में नहीं बहे, बल्कि स्व-साधना के साथ-साथ उन्होंने मानव मात्र का कल्याण किया। स्वनामधन्य आचार्यश्री तुलसी भी उसी गगन के एक उज्ज्वल नक्षत्र हैं जो कि अपनी साधना में निरत रहते हुए भी आज के युग में परिव्याप्त अवांछनीय तत्त्वों का निवारण करने के हेतु मानव-समाज में नैतिकता का उद्घोषण कर रहे हैं।

वर्षों के प्रयास के बाद हमें विदेशी दासता से मुक्ति मिली। अपनी सरकार बनी, जनता के प्रतिनिधि शासक बने। यद्यपि हम राजनैतिक दृष्टि से पूर्णरूपेण स्वतन्त्र हैं, लेकिन अनैतिकता की दासता से मानव-समाज आज भी जकड़ा है; अतएव सही स्वतन्त्रता का आनन्द हम तब तक अनुभव नहीं कर सकते, जब तक जन-मानस में अनैतिकता की जगह नैतिकता घर न कर ले, पारस्परिक द्वेष-भावना मिटाकर उसका स्थान मैत्री न ले ले। वास्तव में, हमारे राष्ट्र की नींव तभी मजबूत हो सकती है, जबकि वह नैतिकता पर आधारित हो, वरना वह धूल के टीले की तरह हवा के झोंके मात्र से हिल जायेगी। फिर भी हमारे बीच एक आशा की किरण है। जनवन्द्य आचार्यश्री तुलसी इस दिशा में अभिनव प्रयास कर रहे हैं और जन-जन में आध्यात्मिकता का पाञ्चजन्य फूंक रहे हैं। उनके द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन एक प्रकाश-स्तम्भ है जो मानव के लिए एक दिशा-दर्शन है तथा उसके लिए क्या हेय, ज्ञेय या उपादेय है, यह मार्ग बताता है।

वैसे तो 'अणुव्रत' कोई नवीन वस्तु नहीं। युगों से उनकी चर्चा धर्मशास्त्रों में आती है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को अनेकों नामों से अभिहित किया गया है, जिनका उद्देश्य लगभग एक-सा है; परन्तु जहाँ तक अणुव्रत-आन्दोलन का सम्बन्ध है, उनमें एक नवीनता है। इसके नियमोपनियम बनाते समय आचार्यश्री ने निस्सन्देह बहुत ही दूरदर्शिता से काम लिया है। जहाँ तक मैं समझा हूँ, उन्होंने प्रमुख रूप से यही प्रयास किया है कि मानव-समाज में बहुलता से बुराइयाँ व्याप्त हैं, पहले उन्हीं पर प्रहार किया जाये। वे यह भी जानते हैं कि आज का मानव आधिभौतिकता की चकाचौंध में चुँधिया गया है, आधारभूत नैतिक मान्यताओं के प्रति उसकी श्रद्धा कम होती जा रही है, शास्त्रों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का पालन नहीं किया जा रहा है; अतएव इस आन्दोलन के रूप में आपने मानव-समाज को एक व्यावहारिक संहिता दी है, जिस पर आचरण कर कम-से-कम वह दूसरों के अधिकारों को न हड़पे, अनैतिकता से दूर रहकर, चरित्रवान् बनने की ओर अग्रसर हो।

मेरा आन्दोलन से कुछ सम्बन्ध रहा है। इसके साहित्य को पढ़ा, उस पर मनन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि वास्तव में यह एक आन्दोलन है, जिससे मानव-कल्याण सम्भव है। इस आन्दोलन की विशेषता यह पाई कि इसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी या इसके प्रचारक उनके अन्तेवासी जितना स्वयं करते हैं, उससे कहीं कम करने का उपदेश देते हैं। वास्तव में प्रभाव भी ऐसे ही पुरुषों का पड़ता है, जो स्वयं साधना-रत हैं और जिनका जीवन त्याग व तपस्या से मँजा है, जिनके जीवन में सात्त्विकता है। आचार्यश्री में संयम का तेज है, उनकी वाणी में ओज है, मुख-मण्डल

पर अद्भुत आध्यात्मिक आकर्षण है। ऐसे सत्पुरुष जब इस प्रकार के आन्दोलनों का संचालन करते हैं तो उसकी सफलता में तनिक भी संशय नहीं रह जाता।

आचार्यश्री तुलसी ने इस आन्दोलन का प्रवर्तन कर मानव-समाज का हित किया है। वे सबके वन्दनीय हैं, पूजनीय हैं, आदरणीय हैं। उनके आचार्य-काल के इस धवल समारोह के पुण्य अवसर पर मैं भी इन शब्दों के साथ अपनी भाव-भरी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ तथा यह कामना करता हूँ कि वे युगों-युगों तक इसी प्रकार मानव-जाति का कल्याण और आध्यात्मिकता का प्रसार करते रहें!

● ● ●

शत-शत अभिवन्दन

मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल'

आर्य! तुम्हारे चरणों में शत-शत अभिवन्दन
दीर्घ दृष्टि तुम; इसीलिए यह जगत तुम्हारे
पद विन्यासों का करता आया अभिनन्दन
मानव उच्च रहा है सदा तुम्हारी मति में
और उसी पर टिका अटल विश्वास तुम्हारा
कब माना उसको नृशंस, विषयान्ध, विगर्हित
क्योंकि हृदय का स्वच्छ सदा आकाश तुम्हारा
बाहर सतत वही लोचन पथ में आता है
जो होता है निहित निगोपित अंतरंग में
जैसा सलिल पयोनिधि में रहता बहता है
वैसा ही उभरा करता चंचल तरंग में
तुम मानवता के उन्नायक बने प्रतिक्षण
काट-काट कर युग के सब जड़ता मय बन्धन
आर्य! तुम्हारे चरणों में शत-शत अभिवन्दन।

प्राण तुम्हारे सदा सत्य के लिए निछावर
प्राप्य सत्य से बढ़ कर कोई है न तुम्हारा
राग, रोष के सारे तिमिर तिरोहित होते
सत्य अचल है विमल विभास्वर वह उजियारा
जहाँ असत्य का पोषण होता, दुख ही दुख है
इसीलिए बस सत्य-साधना तुम बतलाते
आत्मोदय की उस प्रशस्त पद्धति का गौरव
अपने मुख से गाते गाते नहीं अघाते
ताप शमन का कार्य सहा करते रहते हो
मिटा रहे हो प्रतिपल वितथ जनित आक्रन्दन
आर्य! तुम्हारे चरणों में शत-शत अभिवन्दन।

अणुव्रत, आचार्यश्री तुलसी और विश्व-शांति

श्री अनन्त मिश्र
सम्पादक—सन्मार्ग, कलकत्ता

नागासाकी के खण्डहरों से प्रश्न

विश्व के क्षितिज पर इस समय युद्ध और विनाश के बादल मँडरा रहे हैं। अन्तरिक्ष-यान और आणविक विस्फोटों की गड़गड़ाहट से सम्पूर्ण संसार हिल उठा है। हिंसा, द्वेष और घृणा की भट्टी सर्वत्र सुलग रही है। संसार के विचारशील और शान्तिप्रिय व्यक्ति आणविक युद्धों की कल्पना मात्र से आतंकित हैं। ब्रिटेन के विख्यात दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल आणविक परीक्षण-विस्फोटों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ८९ वर्ष की आयु में सत्याग्रह कर रहे हैं। प्रशान्त महा-सागर, सहारा का रेगिस्तान, साइबेरिया का मैदान और अमेरिका का दक्षिणी तट भयंकर अणुबमों के विस्फोट से अभि-गुंजित हो रहे हैं। सोवियत रूस ने ५० से १०० मेगाटन के अणुबमों के विस्फोट की घोषणा की है तो अमेरिका ५०० मेगा-टन के बमों के विस्फोट के लिए प्रस्तुत है। सोवियत रूस और अमेरिका द्वारा निर्मित यान सैकड़ों मील ऊँचे अन्तरिक्ष के पर्दे को फाड़ते हुए चन्द्रलोक तक पहुँचने की तैयारी कर रहे हैं। छोटे-छोटे देशों की स्वतन्त्रता बड़े राष्ट्रों की कृपा पर आश्रित है। ऐसे संकट के समय स्वभावतः यह प्रश्न उठता है कि संसार में वह कौन-सी ऐसी शक्ति है जो अणुबमों के प्रहार से विश्व को बचा सकती है। जिन लोगों ने द्वितीय युद्ध के उत्तरार्द्ध में जापान, नागासाकी और हिरोशिमा जैसे शहरों पर अणुबमों का प्रहार होते देखा है, वे उन नगरों के खण्डहरों से यह पूछ सकते हैं कि मनुष्य कितना क्रूर और पैशाचिक होता है।

निस्सन्देह मानव की क्रूरता और पैशाचिकता के शमन की क्षमता एकमात्र अहिंसा में है। सत्य और अहिंसा में जो शक्ति निहित है, वह अणु और उद्जन बमों में कहाँ! भारतवर्ष के लोग सत्य और अहिंसा की अमोघ शक्ति से परि-चित हैं; क्योंकि इसी देश में तथागत बुद्ध और श्रमण महावीर जैसे अहिंसा-व्रती हुए हैं। बुद्ध और महावीर ने जिस सत्य व अहिंसा का उपदेश दिया, उसी का प्रचार महात्मा गांधी ने किया। ब्रिटिश साम्राज्य को समाप्त करने के लिए गांधीजी ने अहिंसा का ही प्रयोग किया था। सत्य और अहिंसा के सहारे गांधीजी ने सदियों से परतन्त्र देश को राज-नैतिक स्वतन्त्रता और चेतना का पथ प्रदर्शित किया। अतः भारतवर्ष के लोग अहिंसा की अमोघ शक्ति से परिचित हैं। सत्य, अहिंसा, दया और मैत्री के सहारे जो लड़ाई जीती जा सकती है, वह अणुबमों के सहारे नहीं जीती जा सकती।

वर्तमान युग में सत्य, अहिंसा, दया और मैत्री के सन्देश को यदि किसी ने अधिक समझने का यत्न किया है तो निःसंकोच अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक के नाम का उल्लेख किया जा सकता है। अणुबम के मुकाबले आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत अधिक शक्तिशाली माना जा सकता है। अणुव्रत से केवल बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ ही नहीं जीती जा सकतीं, बल्कि हृदय की दुर्भावनाओं पर भी विजय प्राप्त की जा सकती है।

युद्ध के कारण का उन्मूलक

जैन-सम्प्रदाय के आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन नैतिक अभ्युत्थान के लिए किया गया बहुत बड़ा अभियान है। मनुष्य के चरित्र के विकास के लिए इस आन्दोलन का बहुत बड़ा महत्त्व है। चोरबाजारी, भ्रष्टाचार, हिंसा,

द्वेष, घृणा और अनैतिकता के विरुद्ध आचार्यश्री तुलसी ने जो आन्दोलन प्रारम्भ किया है, वह अब सम्पूर्ण देश में व्याप्त है। अणव्रत का अभिप्राय है उन छोटे-छोटे व्रतों का धारण करना, जिनसे मनुष्य का चरित्र उन्नत होता है। सरकारी कर्मचारी, किसान, व्यापारी, उद्योगपति, अपराधी और अनीति के पोषक लोगों ने भी अणुव्रत को धारण कर अपने जीवन को स्वच्छ बनाने का यत्न किया है। कठोर कारादण्ड भोगने के बाद भी जिन अपराधियों के चरित्र में सुधार नहीं हुआ, वे अणुव्रती बनने के बाद सच्चरित्र और नीतिवान् हुए। इस प्रकार अणुव्रत मानव-हृदय की उन बुराइयों का उन्मूलन करता है जो युद्ध का कारण बनती हैं। आचार्यश्री तुलसी का मैत्री-दिवस शान्ति और सद्भावना का सन्देश देता है।

अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति आइजन होवर और सोवियत प्रधानमंत्री श्री निकिता ख्रुश्चेव के मिलन के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी ने शान्ति और मैत्री का जो सन्देश दिया था, उसे विस्मृत नहीं किया जा सकता। अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और संघर्ष को रोकने की दिशा में अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी को उल्लेखनीय सफलता मिली है। उन्होंने विभिन्न धर्मों और विश्वासों के मध्य समन्वय स्थापित कराने का प्रयास किया है। यही आचार्यश्री तुलसी के अणुव्रत-आन्दोलन की सबसे बड़ी विशेषता है।

विश्व-शान्ति के प्रसार में उल्लेखनीय योग-दान

अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों के मत में आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत के माध्यम से विश्व-शान्ति और सद्भावना के प्रसार में उल्लेखनीय योग-दान किया है। हिंसा की दहकती हुई ज्वाला पर वे अहिंसा का शीतल जल छिड़क रहे हैं। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन अब केवल भारत तक ही सीमित नहीं है, बल्कि उसका प्रसार विदेशों में भी हो गया है। हिमालय से कन्याकुमारी तक सम्पूर्ण भारत का पैदल भ्रमण करके आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत का जो सन्देश दिया है, उससे राष्ट्र के चारित्रिक उत्थान में मूल्यवान् सहयोग मिला है। अगर संसार के सभी भागों में लोग अणुव्रतों को ग्रहण करें तो युद्ध की सम्भावना बहुत अंशों तक समाप्त हो जायेगी। विश्व-युद्ध को रोकने के लिए आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत एक अमोघ अस्त्र है। यूरोप में चलने वाले 'नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन' की तुलना में अणुव्रत-आन्दोलन का महत्त्व अधिक है। अगर संसार के विशिष्ट राजनीतिज्ञ अणुव्रतों के प्रति अपनी आस्था प्रकट करें तो युद्ध का निवारण करना आसान हो सकता है। केनेडी, मैकमिलन, दगाल और ख्रुश्चेव जैसे राजनीतिज्ञ जिस दिन अणुव्रत ग्रहण कर लेंगे, उसी दिन यद्ध की सम्भावना समाप्त हो जायेगी।

सन्तुलित व्यक्तित्व

साहू शान्तिप्रसाद जैन

श्री आचार्य तुलसीजी महाराज ने लगभग दो वर्ष पूर्व जब एक पूरा चातुर्मास कलकत्ते में व्यतीत किया तो मुझे अनेक बार उनके निकट सम्पर्क में आने का अवसर मिला। दो दिन उनका वास मेरे निवास-स्थान पर भी रहा। उनका संयम उनकी साधु-वृत्ति के अनुरूप तो है ही, मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया उनके सन्तुलित व्यक्तित्व की उस पावन मधुरता ने जो संयम का अलंकार है। उनका तत्त्वश्रद्धान जितना परम्परागत है, उससे अधिक उसमें वे अंश हैं जो उनके अपने चिन्तन, मनन और आत्मानुभाव से उपजे हैं। उनकी जीवनचर्या का परम्पराबद्ध मार्ग कितना कठिन और कष्टसाध्य है। मैंने पाया है कि आचार्यश्री दूसरों के आग्रहों को चुनौती नहीं देते, चुनौतियों को आमंत्रित करते हैं और दृष्टि का सामंजस्य खोजते हैं। तत्त्वचर्चा और धार्मिक प्रवचन को उन्होंने मनुष्य के दैनिक जीवन की समस्याओं से जोड़ कर धर्म को जीवन की गति और हृदय का स्पन्दन दिया है। अणुव्रतों की व्यवस्था जिन आचार्यों ने की थी, उनके लिए ये व्रत समाज के नैतिक संगठन और निराकुल संरक्षण के आधारभूत सिद्धान्त थे। ज्यों-ज्यों धर्म जीवन से विच्छिन्न होकर रूढ़ होता गया, अणुव्रत की महत्ता उसी अनुपात में शास्त्रगत अधिक और जीवनगत कम हो गयी। अणुव्रत-चर्चा की सार्थकता आन्दोलन के रूप में जो भी हो, आचार्यश्री तुलसी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने अणुव्रतों का प्रतिपादन युग के संदर्भ में किया और व्यापक स्तर पर समाज का ध्यान केन्द्रित किया।

आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह के अवसर पर मैं अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

आशा की झलक

श्री त्रिलोकीसिंह

नेता, विरोधी दल, उ० प्र० विधान सभा

आचार्यश्री तुलसी आधुनिक युग के उन लोगों में से हैं, जिन्होंने समाज के उत्थान के लिए महान प्रयत्न किया है। उनके द्वारा संचालित अणुव्रत-आन्दोलन दरअसल गिरते हुए मानव को उठाने के लिए महान प्रयत्न है। कहने को तो वह छोटे-छोटे व्रत हैं, किन्तु उनके अपनाने के बाद कोई ऐसी बात नहीं रह जाती जो मनुष्य के विकास में बाधा पहुँचाये।

सच बात तो यह है कि वे समय के खिलाफ चल रहे हैं। इस समय ऐसा वातावरण है कि चारों ओर ढील-ढाल नजर आती है। समाज बजाय जाति-विहीन होने के मर्यादा विहीन होता जा रहा है। ऐसे समय में किसी का यह प्रयत्न कि नई मर्यादा कायम हो, साधारण बात नहीं है। आचार्यजी जो कार्य कर रहे हैं, उससे इस देश में आशा की झलक निकलती मालूम होती है। मुझे इसमें सन्देह नहीं है कि समाज का कल्याण इनके बताये हुए रास्ते से हो सकता है। मुझे इसमें भी सन्देह नहीं कि जिस प्रकार वे इस आन्दोलन का संचालन कर रहे हैं, उसमें अवश्य सफल होंगे।

महावीर व बुद्ध के सन्देश प्रतिध्वनित

श्री करणसिंहजी , सदस्य लोकसभा
महाराजा, बीकानेर

अणुव्रत-आन्दोलन कोई राजनीतिक यज्ञ नहीं है। यह तो मानव मात्र की आध्यात्मिक उन्नति का प्रयास है। इसका उद्देश्य है कि जीवन पवित्र बने। दैनिक जीवन में सच्चाई व प्रामाणिकता आये। थोड़े में कहा जाये तो अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र का आन्दोलन है। यह किसी सम्प्रदाय, जाति, धर्म व व्यक्ति विशेष का न होकर सबका है। इसमें किसा अधिकार अथवा पद की व्यवस्था नहीं है।

आज के युग में जब हम अपने चारों ओर देखते हैं तो बड़े दुःख के साथ अनुभव करते हैं कि देश में सर्वत्र भ्रष्टाचार, जातिवाद, क्षेत्रवाद आदि अनेक विषैले कीटाणु हमारे समाज को नष्ट करने में व्यस्त हैं। ऐसी दशा में उसका उद्धार केवल अणुव्रत जैसे आन्दोलनों द्वारा ही हो सकता है।

इसके साथ-ही-साथ प्रत्येक आन्दोलन के संचालन में उसके प्रमुख कार्यकर्ताओं में उस आन्दोलन की मर्यादानुसार कार्य करने की क्षमता का होना भी उतना ही आवश्यक है जितना कि उसका उद्देश्य। यह कितनी प्रसन्नता की बात है कि अणुव्रत-आन्दोलन को आचार्यश्री तुलसी का आशीर्वाद प्राप्त है।

आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व देश के पूर्वी अंचल से भगवान् श्री महावीर और गौतम बुद्ध के आध्यात्मिक सन्देश समग्र भारतवर्ष में गूँजे थे। भगवान् श्री महावीर का सन्देश पंच अणुव्रत के रूप में था और गौतम बुद्ध का सन्देश पंचशील के रूप में। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत सन्देश पश्चिम से पूर्व की ओर प्रतिध्वनित हुआ है। यह इस अंचल का सौभाग्य है। उनके धवल समारोह के अवसर पर उनके कार्यों के प्रति श्रद्धा प्रकट करना प्रत्येक विचारशील अपना कर्तव्य समझता है।

●

विकास के साथ धार्मिक भावना

श्री दीपनारायणसिंह
सिंचाई मंत्री, बिहार सरकार

आचार्यश्री तुलसी के दर्शन प्रथम बार कई साल पहले मुझे जयपुर में हुए। तब से अनेकों बार उनके दर्शन का अवसर मुझे मिला है। जन-समाज के नैतिक बल को बढ़ाने के लिए उनका प्रवचन असरदार होता है। बराबर पैदल यात्रा कर समाज के कल्याण के लिए वे रास्ता बताते हैं। उनका सरल जीवन तथा सुन्दर स्वास्थ्य बहुत ही प्रभावशाली है।

भारतवर्ष आज स्वतन्त्र है। विकास का काम जोरों से चल रहा है। ऐसे समय में धार्मिक भावनाओं का समुचित विकास होता रहे और समाज नैतिकता के रास्ते पर चले, इसकी बड़ी आवश्यकता है। ऐसे कार्यों के लिए आचार्यश्री तुलसी जैसे मार्ग-दर्शक की आवश्यकता है। मेरी शुभ कामना है कि आचार्यश्री तुलसी स्वस्थ रहकर सदा समाज का मार्ग-दर्शन कराते रहें।

आध्यात्मिकता के धनी

श्री प्रफुल्लचन्द्रसेन,
खाद्य मंत्री, बंगाल

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर भारत के धर्म गुरुओं के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है। आज जबकि जाति, प्रान्त, भाषा व धर्म के नाम पर अनेकानेक झगड़े खड़े हो रहे हैं, स्वार्थ-भावना की प्रबलता है, साम्प्रदायिकता निष्कारण ही पनप रही है, आचार्यश्री तुलसी द्वारा नैतिक क्रान्ति का आह्वान सचमुच ही उनके दूरदर्शी चिन्तन का परिणाम है। आचार्यजी विशुद्ध मानवतावादी हैं और प्रत्येक वर्ग में व्याप्त बुराई का निराकरण करना चाहते हैं। मुझे उनके दर्शन करने का अनेकशः सौभाग्य मिला है और निकट बठ कर उनके पवित्र उपदेश सुनने का भी। वे आध्यात्मिकता के धनी है और उनमें साधना का प्रखर तेज है। वे भारतीत ऋषि-परम्परा के वाहक हैं, अतः भारतीय जनता को उन्हें अपने बीच में पाकर गौरव की अनुभूति भी है। उनके प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त करना प्रत्येक देशवासी का अपना कर्तव्य है।

आप्त-जीवन में अमृत सीकर

श्री उदयशंकर भट्ट

आणविक युद्ध को रोकने का एकमात्र उपाय अणुव्रत-साधना है। युद्ध युद्धों को नहीं रोक सकते। मरण के साधनों से जीवन नहीं मिल सकता। शान्ति, अपरिग्रह, क्षमा, आत्म-संतोष, सर्वभूतहिते रनि ही जीवन के कल्याण-मार्ग हैं। मनुष्य का सबमे बड़ा दुःख तृष्णाओं के पीछे भटकना है। इस भटकाव का कहीं अन्त नहीं है। मृगतृष्णा अज्ञान संभूत है, जो निरन्तर एक तृष्णा से दूसरी, तीसरी इस प्रकार अनन्त तृष्णाओं को उत्पन्न करती है। तृष्णा अज्ञानान्ध तम है। उसमें स्वार्थों का प्रकाश है, प्रकाशाभास; एवं कामना की पूर्ति से अन्य कामनाओं, अनन्त कामनाओं के चक्कर में हमारा जीवन भ्रमित होकर अतृप्ति का ग्रास हो जाता है। ऐसी अवस्था में आत्म-संतोष, आत्म-चिन्तन ही हमें एकाग्र, शान्ति, मूर्धन्य सुख, परम तृप्ति दे सकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने हमें इस दिशा में आप्त-जीवन में अमृत सीकर की तरह नई दृष्टि दी है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, क्षमा, दया के अक्षय अस्त्र देकर आजीवनीय तत्त्वों से संघर्ष करके जीवन का प्रतिप्ठा-प्रण दान किया है। अहिंसा सार्वकालिक अस्त्र है। भले ही वह कुछ काल के लिए निर्बल दिखाई दे, किन्तु उससे युगयुगान्तर प्रकाशित होते हैं और इससे पारस्परिक जीवन की चरम एवं परम प्राणमयी धाराएं गतिमान होती रहती है। सत्य आचरण, सत्य के प्रति निष्ठा और स्वयं सत्यात्मा के दर्शन होते हैं, जो हमारे जीवन का चरम उल्लास है। मेरी कामना है, आचार्यश्री तुलसी के जीवन चिन्तन से निकले 'अणुव्रत' के उद्गार निरन्तर हमारे लिए चिर सुख के कारण बनें। हम अपने में अपने सुख को खोजकर आत्म-प्रकाशा हों। मेरा आचार्य तुलसी को शत-शत अभिवन्दन।

नैतिकता का वातावरण

श्री मोहनलाल गौतम

भूतपूर्व सामुदायिक विकासमंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार

आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रकाशन की योजना के बारे में जानकर अतीव प्रसन्नता हुई।

आचार्यश्री तुलसी स्वयं अपने जीवन से तथा अपने अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा जिस नैतिकता का वातावरण उत्पन्न कर रहे हैं, वह आज के युग में भारतीय जीवन को सजीव और सशक्त रखने के लिए आवश्यक ही नहीं, अपितु अनिवार्य भी है। आन्तरिक शोध के अभाव में बाह्य प्रगति कल्याणप्रद के स्थान पर हानिकर होगी, यह निर्विवाद है।

मुझे विश्वास है कि इस अभिनन्दन ग्रन्थ द्वारा आचार्यश्री तुलसी के जीवन, विचार पद्धति और कार्यप्रणाली पर जो बहुमुखी प्रकाश पड़ेगा, वह हमारे जन जीवन को आलोकित कर सही मार्ग की ओर उन्मुख करने में सहायक होगा।

प्राचीन सभ्यता का पुनरुज्जीवन

महाशय बनारसीदास गुप्ता

उपमन्त्री, जेल विभाग, पंजाब सरकार

आचार्यश्री तुलसी जैसे उस महान् तपस्वी के दर्शन मैंने उस समय किये थे, जब कि वे हजारों मील की पद-यात्रा करते हुए हाँसी (पंजाब) पधारे थे। मैंने भी आपका पंजाब सरकार और पंजाब की जनता की ओर से, हजारों नर-नारी जो भारत के सभी प्रान्तों से वहाँ आये हुए थे, उनकी विशाल उपस्थिति में अभिनन्दन और स्वागत किया था। आचार्यश्री तुलसी का यह परिश्रम भारत की प्राचीन सभ्यता को पुनरुज्जीवित करने में सफल हो रहा है और रहेगा। देश की स्वतन्त्रता के भरण-पोषण के लिए जहाँ तमाम साधन जुटाने की आवश्यकता है, वहाँ इस देश में चरित्र-निर्माण का महान् कार्य चलाने की भी महती आवश्यकता है। आपके पुनीत प्रयत्न के फलस्वरूप लाखों प्राणी इस महान् कार्य में जुटे हुए हैं। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। यह देश तो बड़ा महान् है। इसका भूतकाल बड़ा महान् रहा है। आओ! मिल कर इसके भविष्य को भी उज्ज्वल बनाएं।

मैंने पिछले चार सालों में आचार्यश्री तुलसी के चरण-चिह्नों पर चलने का थोड़ा-सा प्रयास किया है। पदयात्राएं कीं और गाँव-गाँव में जाकर सांस्कृतिक जीवन का संदेश दिया। इसमे मुझे यह अनुभव हुआ कि यह रास्ता महान् कल्याणकारी है। भारतवर्ष को आप जैसे हजारों तपस्वी साधुओं की परम आवश्यकता है ताकि यह देश फिर से धर्मपरायण होकर ऊँचे आदर्शों, अपनी सभ्यता और संस्कृति की रक्षा के लिए आपके बताये हुए मार्ग पर चल सके और संसार में फिर विख्यात होकर आध्यात्मिकता के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर सके। मैं इस शुभ अवसर पर आपका अभिनन्दन करता हूँ।

सर्वोत्कृष्ट उपचार

श्री वृन्दावनलाल वर्मा, झाँसी

मुझे आचार्यश्री तुलसी के दर्शनों का सौभाग्य तो कभी प्राप्त नहीं हुआ, परन्तु मैं पत्रों में प्रकाशित उनकी वाणी को नत-मस्तक होकर पढ़ा करता हूँ।

हमारे देश के लिए इस समय ऐसे महान् सत्पुरुष की परम आवश्यकता है। समाज और राष्ट्र का ही वह हित नहीं कर रहे हैं, प्रत्युत मानव भर का भी। राष्ट्र में कुछ प्रवृत्तियाँ विघटन की ओर हैं। आचार्यश्री घृणा और द्वेष को तिरोहित करवाकर समाज को संगठित—सच्चे और कल्याणकारी रूप में संगठित करने का शुभ कार्य कर रहे हैं। साथ ही वे व्यक्ति के विकास और उत्थान पर भी ध्यान दिये हुए हैं। तभी तो उन्होंने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति कम-से-कम पन्द्रह मिनट प्रतिदिन स्वाध्याय करे और एकाग्र मन होकर किसी स्वस्थ विषय का चिन्तन करे। आजकल जहाँ देखिये वहाँ जीवन पर तरह-तरह का बोझ बढ़ता जा रहा है। व्यक्ति में बेचैनी बढ़ रही है। इसके कारण समाज में खटपट और व्यक्तियों में नाना प्रकार के रोग फैल रहे हैं। आचार्यश्री का बतलाया हुआ उपचार सर्वोत्कृष्ट है। जो जिस प्रकार इसे अपना सके, अवश्य अपनाये और उसका अभ्यास करे। मुझे रत्तीभर भी सन्देह नहीं कि इससे व्यक्ति को सन्तुलन प्राप्त होगा और साथ ही समाज को संगठन एवं उत्थान।

आध्यात्मिक जागृति

सवाई मानसिंहजी

महाराजा, जयपुर

आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन ने गत बारह वर्षों में जो प्रगति की है, वह आशातीत व सन्तोषप्रद है। इस भीषण संघर्ष के युग में जनता को अध्यात्म मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता है। भौतिक जागृति से अधिक महत्त्वपूर्ण हमारी आध्यात्मिक जागृति है, जिसके अभाव मे जीवन सुखी नहीं बन सकता। संसार का वास्तविक कल्याण तभी हो सकता है, जबकि जन-साधारण के चरित्र की ओर ध्यान दिया जाये। आचार्यश्री तुलसी ने इस दिशा में चारित्रिक जागृति का एक ठोस कदम रखा है। सबसे बड़ी विशेषता इस आन्दोलन की यह है कि बिना किसी जाति, सम्प्रदाय और वर्ग-भेद के जनता इसमें भाग लेकर लाभान्वित हो रही है। राष्ट्रव्यापी इस पुनीत कार्य की प्रगति में जिन महानुभावों ने अपना योग दिया है, वे भी बधाई के पात्र हैं।

मेरी हार्दिक कामना है कि नैतिक निर्माणकारी व जन-जीवन की शुद्धि का यह उपक्रम पूर्ण सफलता प्राप्त करे एवं अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण प्रयास सिद्ध हो।

आचार्यश्री तुलसी का तपःपूत जीवन सुषुप्त मानवता को उद्‌बुद्ध करने में संजीवनी का कार्य कर रहा है। अशान्ति और हिंसा से प्रताड़ित समाज को उनके उपदेशों से राहत की अनुभूति होगी, इसमें सन्देह नहीं है।

उत्कट साधक

श्री मिश्रीलाल गंगवाल

वित्तमन्त्री, मध्यप्रदेश सरकार

यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। आचार्यश्री तुलसी अहिंसा और सत्य के उपासक तथा भारतीय संस्कृति और दर्शन के उत्कट साधक हैं। वे सरल, मृदुभाषी 'साधु' शब्द को वास्तविक रूप में चरितार्थ करने वाले आदर्श पुरुष हैं। उनके समक्ष किसी भी बुद्धिजीवी का मस्तक श्रद्धा से नत हो जाता है। उनकी गणना देश के गणमान्य साहित्य सेवियों और संस्कृत तथा दर्शन के गिने-चुने विद्वानों में की जाती है। उनसे अनेक व्यक्तियों को साहित्य और दर्शन में रुचि रखने की प्रेरणा मिली तथा उनके सान्निध्य में बैठ कर अनेक जनोपयोगी पुस्तकों का सृजन करने का अनेकों को अवसर मिला। उन्होंने केवल समाज का ही मार्ग-दर्शन नहीं किया वरन साधु-समाज में फैली अनेक बुराइयों का उन्मूलन करने के लिए संस्कृति, दर्शन और नैतिकता को नया मोड़ देकर अध्यात्म का सही मार्ग प्रशस्त किया। उनका व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा जन हित में किये गए अनेक कार्य दोनों ही एक-दूसरे के पूरक होकर जन-मानस के लिए श्रद्धा की वस्तु बने हैं। ऐसे महान् व्यक्ति का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित कर निश्चित ही समाज के लिए एक बड़ा उपादेय कार्य किया जा रहा है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इससे जन-मानस को आत्मीय बोध प्राप्त होगा। मैं अभिनन्दन ग्रन्थ की हृदय से सफलता चाहता हूँ।

● ● ●

महान् आत्मा

डा० कामताप्रसाद जैन, पी-एच० डी०, एम० आर० ए० एस०

संचालक—अखिल विश्व जैन मिशन

सुवासित फूलों की सुगन्धि अनायास ही सर्वत्र फैलती है। तदनुरूप जो महान् आत्मा अपना समय ज्ञानोपयोग रूप आत्मानुभूति-चर्या में बिताता है उसका यश भी दिगदिगन्त में फैल जाता है। कहा भी है—**णाणोपयोग जो कालगमइ तसु तणिय कित्ति भुवणयला भमइ।** श्रद्धेय आचार्य तुलसीजी इसी श्रेणी के संत हैं, महान आत्मा हैं। गत बुद्ध जयन्ती समारोह के अवसर पर जब दिल्ली में जैनों ने जो साँस्कृतिक सम्मेलन किया था, उसी में हमें उनके दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। मंच पर श्वेत वस्त्रों में सज्जित वे बडे ही सौम्य और शान्त दिखाई पड़ रहे थे। उनके हृदय की शुभ्र उज्ज्वलता मानो उनके वस्त्रों को चमका रही थी। उनका ज्ञान, उनकी लोकहित भावना और धर्म-प्रसार का उत्साह अपूर्व और अनुकरणीय है। अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा वे सर्वधर्म का प्रचार सभी वर्गो में करने में सफल हो रहे है। एक ओर जहाँ वे महामना राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री नेहरू को सम्बोधित करते है तो दूसरी ओर गाँव और खेतों के किसानों और मजदूरों को भी सन्मार्ग दिखाते हैं। उनका संगठन देखते ही बनता है ? वे सच्चे श्रमण हैं उनका अभिनन्दन सार्थक तभी हो, जब हम सब उनकी शिक्षा को जीवन में उतारें। इन शब्दों में मैं अपनी श्रद्धा के फूल उनको अर्पित करता हुआ उनके दीर्घ-आयु की मंगल कामना करता हूँ।

प्रभावशाली चारित्रिक पुनर्निर्माण

डा० जवाहरलाल रोहतगी

उपमंत्री, उत्तरप्रदेश सरकार

हमारे देश की पुरातन परम्परा रही है कि जब कभी राष्ट्र पर काई संकट आया, ऋषि-मुनियों ने अपनी साधना और तपोबल को लोकोपकार की दिशा में उन्मुख किया और जन-साधारण में आत्म-विश्वास पैदा किया, जिसके फलस्वरूप दुरूह कार्य भी सरल और सुगम हो गये। यह परम्परा आज भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान है।

आचार्यश्री तुलसी सरीखे बिरले लोग हमारे बीच में हैं जो न केवल राष्ट्र के नैतिक उत्थान में लगे हुए हैं, वरन् उसकी छोटी-से-छोटी शक्ति के यथेष्ट उपयोग की चेष्टा कर रहे हैं। साथ ही आचार्य प्रवर के नेतृत्व में प्रभावशाली साधु समाज जन-सम्पर्क द्वारा चारित्रिक पुनर्निमाण के कार्य में लगा हुआ है।

सच पूछा जाये तो आज के युग में जब हम आर्थिक एवं सामाजिक पुनरुत्थान के लिए योजनाबद्ध कार्य कर रहे हैं, अणुव्रत जैसे आन्दोलन का विशेष महत्त्व है। इससे हमारे उद्देश्यों को पूरा करने में बड़ा सम्बल मिलता है।

मुझे प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी के सार्वजनिक सेवा-काल के पच्चीस वर्ष पूरे होने के उपलक्ष में अभिनन्दन का आयोजन किया गया है। मैं आपके प्रयास की सफलता की कामना करता हूँ।

●

तपोधन महर्षि

श्री लालचन्द सेठी

आचार्यश्री तुलसी वर्तमान अशान्ति के युग में शोक-सन्तप्त अशान्त मानव को जीवन की शान्तिमय रूपरेखा के मार्गदर्शक, तपोधन एवं महर्षि के रूप में आज भारत में विद्यमान हैं। आचार्य तुलसीजी ने अपूर्व साधना से न केवल अपना ही जीवन धन्य किया है, बल्कि अपने प्रभावशाली साधु-संघ को भी एक विशेष गति-विधि देकर जन-कल्याण के लिए अर्पित किया है, जो बड़ा ही श्रेयस्कर कार्य है। वह केवल जैन-समाज के निमित्त ही नहीं, वरन् समस्त मानव-जाति के लिए एक ध्येय के रूप में रहेगा।

मेरी आचार्य तुलसी के प्रति अटूट श्रद्धा है। जो पावन कार्य वे कर रहे हैं, वह दिग्दिगन्त में उनके नाम को सदा अमर रखेगा।

धवल समारोह मनाने के कार्यक्रम एवं अभिनन्दन ग्रन्थ की रूपरेखा का जो निर्माण हुआ है, तदर्थ हार्दिक बधाई देता हूँ और चाहता हूँ कि ये कार्य खूब ही समारोहपूर्वक सम्पन्न हों और आचार्यश्री तुलसीजी महाराज के तप, ज्ञान एवं सदुपदेश मानव की अशान्ति मिटाकर उन्हें शान्ति प्राप्त कराने में सहायक हों, यही मेरी हार्दिक कामना है।

मेरी बहुत दिनों से इच्छा हो रही है कि आकर महामहिम श्री तुलसीजी महाराज के दर्शन कर अपने को धन्य समझूँ, किन्तु कार्याधिक्य की उलझनों के कारण यह इच्छा पूर्ण नहीं हो पा रही है और मन की मन में ही गोते खाती रहती है। आशा है कि यह शुभ दिन भी अवश्य ही प्राप्त होगा।

अनेक विशेषताओं के धनी

डा० पंजाबराव देशमुख
कृषिमंत्री, भारत सरकार

यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री तुलसी जी के महान् कार्यों के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने के उद्देश्य से उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय किया गया है। यों तो आचार्यजी अनेक गुणों और विशेषताओं के धनी हैं—हिन्दी साहित्य, दर्शन और शिक्षा भी उनके अधिकृत क्षेत्र हैं। संस्कृत और हिन्दी भाषा के विकास में उनका व्यापक योग है, फिर भी उनकी सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि उन्होंने अपने-आपको और अपने प्रभावशाली साधु-संघ को जन-कल्याण के लिए अर्पित किया है।

मुझे आशा है कि अधिक-से-अधिक लोग उनके महान कार्यों तथा आदर्शों का नुसरण करते हुए लोक-कल्याण की भावना को अपनायेंगे।

वास्तविक उन्नति

श्री गुरुमुख निहालसिंह
राज्यपाल, राजस्थान

आचार्य तुलसी के जीवन व कार्य से हमें सदा प्रेरणा मिलती रहेगी और हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि जो सिद्धान्त उन्होंने हमारे सामने रखे हैं उनको ग्रहण करें। देश का वास्तविक उन्नति तभी हो सकती है जब कि सामाजिक और आर्थिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उत्थान भी हो।

सफल बनें

सरसंघचालक मा० स० गोलवलकर

आचार्यजी को यहाँ के सभी की ओर से एवं प० पू० श्री गुरुजी की ओर से विनम्र प्रणाम प्रेषित करने की कृपा करें। उनको परम कृपालु परमात्मा सुदीर्घ एवं निरामय आयु प्रदान करे ताकि दुःख से भरे हुए, शोषित, पीड़ित, मार्गदर्शन के लिए इधर-उधर भटकने वाले त्रस्त मानव समाज को पथ-प्रदर्शन करने में वे सफल बनें।

—मु० कृ० चौथाईवाले

समाज के मूल्यों का पुनरुत्थान

श्री मोहनलाल सुखाड़िया

मुख्यमंत्री, राजस्थान सरकार

मुझे यह जान कर प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति की ओर से एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है।

आचार्यश्री तुलसी देश के एक साधु-संघ के नेता तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रणेता हैं, जिसका उद्देश्य समाज के मूल्यों का पुनरुत्थान तथा समाज का नैतिक विकास है। अभिनन्दन ग्रन्थ में नैतिक तथा सामाजिक विषयों पर प्रेरणाप्रद तथा उपादेय सामग्री का संकलन होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

मैं इस अवसर पर आचार्यप्रवर के दीर्घ जीवन के लिए शुभकामना करते हुए ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ।

आचार-प्रधान महापुरुष

श्री अलगूराय शास्त्री

वनमंत्री, उत्तर प्रदेश सरकार

श्री तुलसीजी वर्तमान युग के सदाचार प्रचारकों तथा आचार-प्रधान महापुरुषों में सूर्य समान देदीप्यमान व्यक्ति हैं। उनकी प्रेरणाओं से जन-मानस में उच्च आचरण के लिए उथल-पुथल उत्पन्न हो जाती है। मुझे इनके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। श्री तुलसीजी दीर्घ आयु प्राप्त करें और मानव समाज को आचार-शिखर पर ले जाकर उन्हें सिद्धशिला का अधिकारी बनावें, यही कामना है, ईश्वर से यही याचना है।

अपना ही परिशोधन

डा० हरिवंशराय 'बच्चन' एम० ए०, पी-एच० डी०

मुझे यह जानकर प्रसन्नता है कि आचार्यश्री तुलसी के अभिनन्दन का आयोजन किया गया है। संत का अभिनन्दन क्या? हम अपना ही परिशोधन कर रहे है। योजना की सफलता के लिए मेरी हार्दिक शुभकामना। सब कुछ आचार्य के अनुरूप हो।

उनके कार्य से कौन अपरिचित है। मुझ-जैसे अपरार्थ को भी उनकी करुणा का प्रसाद मिल चुका है। एक दिन उन्होंने स्वयं पाद-विहार से आकर मेरे घर पर मुझे दर्शन दिये थे और मेरे घर को पवित्र किया था।

मुझे उनके विषय में कहने का अधिकार नहीं। मेरा प्रणाम उनके चरणों में निवेदित कर दें।

एक अनोखा व्यक्तित्व

मुनिश्री धनराजजी

मेरे दीक्षक, शिक्षक व गुरु होने के कारण मैं उन्हें असाधारण प्रतिभा सम्पन्न, साहित्य जगत् के उज्ज्वल नक्षत्र, अमित आत्मबली, कुशल अनुशासक व अनुत्तर आचार-निधि आदि उपमाओं से अलंकृत करूँ, ऐसी बात नहीं है। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश, चन्द्रमा की शीतलता और जलधि का गाम्भीर्य प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं, उसी प्रकार महापुरुषों के व्यक्तित्व को निखारने की आवश्यकता नहीं होती; वह स्वतः निखरित होता है। महापुरुष जिस ओर चरण बढ़ाते हैं, वही मार्ग; जो कहते हैं, वही शास्त्र और जो कुछ करते हैं, वही कर्तव्य बन जाता है। महापुरुष तीन कोटि के माने गये हैं, १. जन्मजात, २. श्रम व योग्यता के बल पर और ३. कृत्रिम, जिन पर महानता थोपी जाती है।

आचार्यश्री तुलसी को जन्मजात महापुरुष कहने में कोई आपत्ति नहीं, किन्तु तो भी श्रम और योग्यता से बने इस स्वीकरण में भी दो मत नहीं होंगे।

कर-कंकण को दर्पण की तरह ही प्रत्यक्ष को प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। इतिहास कहता है—पूर्वजात महा-पुरुषों का अमर व्यक्तित्व स्वतः धरा के कण में चमत्कृत हुआ है तो फिर वर्तमान में हो तो आश्चर्य व नवीनता क्या हो सकती है ?

आचार्यश्री तुलसी के व्यक्तित्व का अरुण आलोक मजदूर की झोंपड़ी से लेकर राष्ट्रपति भवन तक फैल चुका है; इसकी अनुभूत यथार्थता को स्पष्ट करके ही मैं आगे लिखना चाहूँगा।

घटना जुलाई सन् १९५९ की है। राजस्थान की राजधानी जयपुर की यातायात संकुल मिर्जा इस्माइल रोड स्थित दूगड़ बिल्डिंग की दूसरी मंजिल में मैं ठहरा हुआ था। एक युवक पारिवारिक कलह से ऊब कर मेरे पास आया। कहने लगा मुझे मंगल पाठ सुनाओ। मैंने सुना दिया। वह उसी समय वहाँ से नीचे सड़क पर कूद पड़ा। मैं अवाक् रह गया। उसके चोट भी लगी। जोरों से चिल्लाने लगा। सैकड़ों लाग इकट्ठे हो गये। वातावरण कुछ कलुषित हो गया। उसे थाने में ले जाया गया। वहाँ उसने कह दिया—उस मकान में तीन साधु भी ठहरे हुए हैं। उन्होंने किसी के कहने से निष्कारण ही मुझे पकड़ कर नीचे गिरा दिया। थानेदार ने पूछा—वे साधु कौन हैं ? उसने कहा—आचार्यश्री तुलसी के शिष्य तेरापंथी साधु हैं। थानेदार आचार्यश्री के सम्पर्क में आ चुका था। उसने कहा—तुम झूठ बोलते हो। आचार्य तुलसी व उनके शिष्य ऐसा काम कभी नहीं कर सकते। मैं उनसे अच्छी तरह परिचित हूँ। आखिर दो-चार डण्डे लगने पर युवक ने सच्ची घटना रख दी और कहा मैं स्वयं ही नीचे गिरा था। साधुओं का कोई दोष नहीं। मैंने बहकावे में आकर झूठ ही उनका नाम लिया है। अस्तु ! यह है आपके बहुमुखी व्यक्तित्व की परिचायिका एक छोटी-सी घटना।

आज आपका व्यक्तित्व एक राष्ट्रीय परिधि में सीमित न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। बम्बई में श्री वेरन आदि कतिपय अमेरिकनों ने आचार्यश्री से कहा—"हम आपके माध्यम से अणुव्रतों का प्रचार अपने देश में करना चाहते हैं, क्योंकि वहाँ इनकी आवश्यकता है।"

सन् १९५४ में जापान में हुए सर्व धर्म सम्मेलन के प्रतिनिधियों ने यह निश्चय किया कि अणुव्रतों का प्रचार यहाँ भी होना चाहिए।

द्वितीय महायुद्ध की लपटों से झुलसे हुए संसार को 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' नाम से आपने एक सन्देश दिया, जिस पर टिप्पणी करते हुए महात्मा गांधी ने लिखा, "क्या ही अच्छा होता, दुनिया इस महापुरुष

के बताये हुए मार्ग पर चलती।"

सात्त्विक विचारधारा की अपेक्षा

आज अनेक व्यक्ति आपके सम्पर्क के लिए उत्सुक रहते हैं। उसका मूल कारण है—आपका प्रसरणशील व्यक्तित्व। लाखों व्यक्तियों ने आपका साक्षात् सम्पर्क किया है। आपके नाम और नैतिक उपक्रमों से तो करोड़ों व्यक्ति परिचित हैं। आपके प्रति जन-मानस की जो श्रद्धा और भावना है, उसका सही चित्रण इस लघुकाय निबन्ध में असम्भव है, किन्तु यह कहने का लोभ भी संवृत नहीं कर सकता कि प्राचीन और अर्वाचीन युगल विचारधाराएं आपके प्रति आशंसोपचित है। यद्यपि आप किसी को भौतिक समृद्धि अथवा स्वराज्य-प्रदान नहीं करते, किन्तु आपके प्रेरणा पीयूष से मानव सहज उन्मार्ग को छोड़ कर सन्मार्ग को ग्रहण कर जीवन का वास्तविक लक्ष्य प्राप्त करने में समर्थ हो सकता है। विविध समस्याओं की जड़ आप विचार-दारिद्रय को ही मानते है। मनुष्य का वर्तमान और भविष्य दोनों विचारों पर ही अवलम्बित है। शुद्ध और सात्विक विचारधारा की अपेक्षा है। इसके अभाव में अनेक समस्याओं का उद्गमन होता है।

आपके विशाल व्यक्तित्व के अनेक कारणों में मैं आचार को प्राथमिकता देता हूँ। जिसका आचार आकाश की तरह विशद और सुस्थिर है, उसका व्यक्तित्व भी अनन्त व असीम है। आचारहीन व्यक्तित्व बिना नींव के प्रासाद तुल्य होता है। किसी का व्यक्तित्व प्रायोगिक होता है और किसी का नैसर्गिक। आपका व्यक्तित्व द्विधात्मक है। आचार की अपेक्षा नैसर्गिक और विचार-दारिद्रय को मिटाने की अपेक्षा प्रायोगिक। अत: आपके व्यक्तित्व के आगे अनोखा विशेषण युक्तिसंगत ही है।

मानवता के उन्नायक

श्री यशपाल जैन
सम्पादक—जीवन साहित्य

आचार्यश्री तुलसी का नाम मैंने बहुत दिनों से सुन रख था, लेकिन उनसे पहले-पहल साक्षात्कार उस समय हुआ जबकि वे प्रथम बार दिल्ली आये थे और कुछ दिन राजधानी में ठहरे थे। उनके साथ उनके अन्तेवासी साधु-साध्वियों का विशाल समुदाय था और देश के विभिन्न भागों से उनके सम्प्रदाय के लोग भी बहुत बड़ी संख्या में एकत्र हुए थे।

विभिन्न आलोचनाएं

आचार्यश्री को लेकर जैन समाज तथा कुछ जैनेतर लोगों में उस समय तरह-तरह की बातें कही जाती थीं। कुछ लोग कहते थे कि वह बहुत ही सच्चे और लगन के आदमी हैं और धर्म एवं समाज की सेवा दिल से कर रहे हैं। इस के विपरीत कुछ लोगों का कहना था कि उनमें नाम की बड़ी भूख है और वह जो कुछ कर रहे हैं, उसके पीछे तेरापंथी सम्प्रदाय के प्रचार की तीव्र लालसा है। मैं दोनों पक्षों की बातें सुनता था। उन सबको सुन-सुन कर मेरे मन पर कुछ अजीब-सा चित्र बना। मैं उनसे मिलना टालता रहा।

अचानक एक दिन किसी ने घर आकर सूचना दी कि आचार्यश्री हमारे मुहल्ले में आये हुए है और मेरी याद कर रहे हैं। मेरी याद ? मुझे विस्मय हुआ। मैं गया। उनके चारों ओर बड़ी भीड़ थी और लोग उनके चरण स्पर्श करने के लिए एक-दूसरे को ठेल कर आगे आने का प्रयत्न कर रहे थे। जैसे-तैसे उस भीड़ में से रास्ता बना कर मुझे आचार्यश्री जी के पास ले जाया गया। उस भीड़-भाड़ और कोलाहल में ज्यादा बातचीत होना तो कहाँ सम्भव था, लेकिन चर्चा से अधिक जिस चीज की मेरे दिल पर छाप पड़ी, वह था आचार्यश्री का सजीव व्यक्तित्व, मधुर व्यवहार और उन्मुक्तता। हम लोग पहली बार मिले थे, लेकिन ऐसा लगा मानो हमारा पारस्परिक परिचय बहुत पुराना हो।

उसके उपरान्त आचार्यश्री से अनेक बार मिलना हुआ। मिलना ही नहीं, उनसे दिल खोल कर चर्चाएं करने के अवसर भी प्राप्त हुए। ज्यों-ज्यों मैं उन्हें नजदीक से देखता गया, उनके विचारों से अवगत होता गया, उनके प्रति मेरा अनुराग बढ़ता गया। हमारे देश में साधु-सन्तों की परम्परा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। आज भी साधु लाखों की संख्या में विद्यमान हैं; लेकिन जो सच्चे साधु हैं, उनमें से अधिकांश निवृत्ति-मार्गी हैं। वे दुनिया से बचते हैं और अपनी आत्मिक उन्नति के लिए जन-रव से दूर निर्जन स्थान में जाकर बसते हैं। आत्म-कल्याण की उनकी भावना और एकान्त में उनकी तपस्या निःसन्देह सराहनीय है, पर मुझे लगता है कि समाज को जो प्रत्यक्ष लाभ उनसे मिलना चाहिए, वह नहीं मिल पाता।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा है, "मेरे लिए मुक्ति सब कुछ त्याग देने में नहीं है। सृष्टि-कर्ता ने मुझे अगणित बन्धनों में दुनिया के साथ बाँध रखा है।"

आचार्यश्री तुलसी इसी मान्यता के पोषक हैं। यद्यपि उनके सामने त्याग का ऊँचा आदर्श रहता है और वे उसकी ओर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहते हैं, तथापि वे समाज और उसके सुख-दुःख के बीच रहते हैं और उनका अहर्निश प्रयत्न रहता है कि मानव का नैतिक स्तर ऊँचा उठे, मानव सुखी हो और समूची मानव-जाति मिल-जुल कर प्रेम से रहे। वह एक सम्प्रदाय-विशेष के आचार्य अवश्य हैं; लेकिन उनकी दृष्टि और उनकी करुणा संकीर्ण परिधि से आवृत नहीं है।

वे सबके हित का चिन्तन करते हैं और समाज-सेवा उनकी साधना का मुख्य अंग है।

गांधीजी कहा करते थे कि समाज की इकाई मनुष्य है और यदि मनुष्य का जीवन शुद्ध हो जाए तो समाज अपने-आप सुधर जायेगा। इसलिए उनका जोर हमेशा मानव की शुचिता पर रहता था। यही बात आचार्यश्री तुलसी के साथ है। वे बार-बार कहते हैं कि हर आदमी को अपनी ओर देखना चाहिए, अपनी दुर्बलताओं को जीतना चाहिए। वर्तमान युग की अशान्ति को देख कर एक बार एक छात्र ने उनसे पूछा—'दुनिया में शान्ति कब होगी?' आचार्यश्री ने उत्तर दिया—'जिस दिन मनुष्य में मनुष्यता आ जायेगी।' अपने एक प्रवचन में उन्होंने कहा—'रोटी, मकान, कपडे की समस्या से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या मानव में मानवता के अभाव की है।'

मानव-हित के चिन्तक

मानव-हित के चिन्तक के लिए आवश्यक है कि वह मानव की समस्याओं से परिचित रहे। आचार्यश्री उस दिशा में अत्यन्त सजग हैं। भारतीय समाज के सामने क्या-क्या कठिनाइयाँ हैं, राष्ट्र किस संकट से गुजर रहा है, अन्तर्राष्ट्रीय जगत के क्या-क्या मुख्य मसले हैं, इनकी जानकारी उन्हें रहती है। वस्तुतः बचपन से ही उनका झुकाव अध्ययन और स्वाध्याय की ओर रहा है और जीवन को वे सदा खुली आँखों से देखने के अभिलाषी रहे हैं। अपने उसी अभ्यास के कारण आज उनकी दृष्टि बहुत ही जागरूक रहती है और कोई भी छोटी-बड़ी समस्या उनकी तेज आँखों से बची नहीं रहती।

जैन-धर्मावलम्बी होने के कारण अहिंसा पर उनका विश्वास होना स्वाभाविक है। लेकिन मानवता के प्रेमी के नाते उनका वह विश्वास उनके जीवन की श्वास बन गया है। हिंसा के युग में लोग जब उनसे कहते हैं कि आणविक अस्त्रों के सामने अहिंसा कैसे सफल हो सकती है तो वे साफ जवाब देते हैं, "लोगों का ऐसा कहना उनका मानसिक भ्रम है। आज तक मानव-जाति ने एक स्वर से जैसा हिंसा का प्रचार किया है, वैसा यदि अहिंसा का करती तो स्वर्ग धरती पर उतर आता। ऐसा नहीं किया गया, फिर अहिंसा की सफलता में सन्देह क्यों?"

आगे वे कहते हैं—"विश्व शान्ति के लिए अणुबम आवश्यक है, ऐसा कहने वालों ने यह नहीं सोचा कि यदि वह उनके शत्रु के पास होता तो।"

धर्म पुरुष

आचार्यश्री की भूमिका मुख्यतः आध्यात्मिक है। वे धर्म-पुरुष हैं। धर्म के प्रति आज की बढ़ती विमुखता को देख कर वे कहते हैं, "धर्म से कुछ लोग चिढ़ते हैं, किन्तु वे भूल पर हैं। धर्म के नाम पर फैली हुई बुराइयों को मिटाना आवश्यक है, न कि धर्म को। धर्म जन-कल्याण का एकमात्र साधन है।"

इसी बात को आगे समझाते हुए वे कहते हैं—"जो लोग धर्म त्याग देने की बात कहते हैं, वे अनुचित करते हैं। एक आदमी गन्दे विषैले पानी से बीमार हो गया। अब वह प्रचार करने लगा कि पानी मत पीओ, पानी पीने से बीमारी होती है। क्या यह उचित है? उचित यह होता कि वह अपनी भूल को पकड़ लेता और गन्दा पानी न पीने को कहता। धर्म का त्याग करने की बात कहने वालों को चाहिए कि वे जनता को धर्म के नाम पर फैले हुए विकारों को छोड़ना सिखाएं, धर्म छोड़ने की सीख न दें।"

धर्म क्या है, इसकी बड़े सरल सुबोध ढंग से उन्होंने इन शब्दों में व्याख्या की है—"धर्म क्या है? सत्य की खोज, आत्मा की जानकारी, अपने स्वरूप की पहचान, यही तो धर्म है। सही अर्थ में यदि धर्म है तो वह यह नहीं सिखलाता कि मनुष्य मनुष्य से लड़े। धर्म नहीं सिखलाता कि पूंजी के मापदण्ड से मनुष्य छोटा या बड़ा है। धर्म नहीं सिखलाता कि कोई किसी का शोषण करे। धर्म यह भी नहीं कहता कि बाह्य आडम्बर अपना कर मनुष्य अपनी चेतना को खो बैठे। किसी के प्रति दुर्भावना रखना भी यदि धर्म में शुमार हो तो वह धर्म किस काम का। वैसे धर्म से कोसों दूर रहना बुद्धिमत्तापूर्ण होगा।"

आज राजनीति का बोलबाला है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'राज' को केन्द्र में रख कर सारी नीतियाँ बन और चल रही हैं; जबकि चाहिए यह कि केन्द्र में मनुष्य रहे और सारी नीतियाँ उसी को लक्ष्य में रख कर संचालित हों। उस अवस्था में प्रमुखता मानव को होगी और वह तथा मानव-नीति राज और राजनीति के नीचे नहीं, ऊपर होगी। आज सबसे अधिक कठिनाइयाँ और गन्दगी इस कारण फैली है कि राजनीति जिसका दूसरा अर्थ है सत्ता, पद, लोगों के जीवन का चरम लक्ष्य बन गई है और वे सारी समस्याओं का समाधान उसी में खोजते हैं। कहा जाता है कि सर्वोत्तम सरकार वह होती है जो लोगों पर कम-से-कम शासन करती है; लेकिन इस सच्चाई को जैसे भुला दिया गया है। इस सम्बन्ध में आचार्यश्री का स्पष्ट मत है—"राजनीति लोगों के जरूरत की वस्तु होती होगी। किन्तु सबका हल उसी में ढूंढ़ना भयंकर भूल है। आज राजनीति सत्ता और अधिकारों को हथियाने की नीति बन रही है। इसीलिए उस पर हिंसा हावी हो रही है। इससे संसार सुखी नहीं होगा। संसार सुखी तब होगा, जब ऐसी राजनीति घटेगी और प्रेम, समता तथा भाईचारा बढ़ेगा।"

वे चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को विकास का पूरा अवसर मिले; लेकिन यह तभी सम्भव हो सकता है, जबकि मनुष्य स्वतन्त्र हो। स्वतन्त्रता से उनका अभिप्राय यह नहीं है कि उसके ऊपर कोई अंकुश ही न हो और वह मनमानी करे। ऐसी स्वतन्त्रता तो अराजकता पैदा करती है और उससे समाज संगठित नहीं, छिन्न-भिन्न होता है। उनके कथनानुसार—"स्वतन्त्र वह है, जो न्याय के पीछे चलता है। स्वतन्त्र वह है, जो अपने स्वार्थ के पीछे नहीं चलता। जिसे अपने स्वार्थ और गुट में ही ईश्वर-दर्शन होता है, वह परतन्त्र है।"

आगे वे फिर कहते हैं—"मैं किसी एक के लिए नहीं कहता। चाहे साम्यवादी, समाजवादी या दूसरा कोई भी हो; उन्हें समझ लेना चाहिए कि दूसरों का इस शर्त पर समर्थन करना कि वे उनके पैरों तले चिपटे रहें, स्वतन्त्रता का समर्थन नहीं है।"

कुशल अनुशासक

वे किसी भी वाद के पक्षपाती नहीं हैं। वे नहीं चाहते कि मानव पर कोई भी ऐसा वाह्य बन्धन रहे, जो उसके मार्ग को अवरुद्ध और विकास को कुण्ठित करे। पर इससे यह न समझा जाये कि संगठन अथवा अनुशासन में उनका विश्वास नहीं है। वे स्वयं एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं और हजारों साधु-साध्वियों के सम्प्रदाय और शिष्य मण्डली के मुखिया हैं। उनके अनुशासन को देख कर विस्मय होता है। उनके साधु-साध्वियों में कुछ तो बहुत ही प्रतिभाशाली और कुशाग्रबुद्धि के हैं; लेकिन क्या मजाल कि वे कभी अनुशासन से बाहर हों। जब किसी क्षुद्र स्वार्थ के लिए लोग मिलते हैं तो उनके गुट बनते हैं और गुटबन्दी कदापि श्रेयस्कर नहीं होती। इसी प्रकार वाद का अर्थ है, आँखों पर ऐसा चश्मा चढ़ा लेना कि सब चीजें एक ही रंग की दिखाई दें। कोई भी स्वाधीनचेता और विकासशील व्यक्ति न गुटबन्दी के चक्कर में पड़ सकता है और न वाद के। मनुष्य अपने व्यक्तित्व के दीपक को लेकर भले ही वह कितना ही छोटा क्यों न हो, अपने मार्ग को प्रकाशमान करता रहे, जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाता रहे, यही उसके लिए अभीष्ट है।

वास्तविक स्वतन्त्रता का आनन्द वही ले सकता है, जो परिग्रह से मुक्त हो। अपरिग्रह की गणना पंच महाव्रतों में होती है। आचार्यश्री अपरिग्रह के व्रती हैं। वे पैदल चलते हैं; यहाँ तक कि पैरों में कुछ भी नहीं पहनते। उनके पास केवल सीमित वस्त्र, एकाध पात्र और कुछ पुस्तकें हैं। समाज में व्याप्त आर्थिक विषमता को देख कर वे कहते हैं—"लोग कहते हैं कि जरूरत की चीजें कम हैं। रोटी नहीं मिलती, कपड़ा नहीं मिलता। यह नहीं मिलता, वह नहीं मिलता, आदि आदि। मेरा ख्याल कुछ और है। मैं मानता हूँ कि जरूरत की चीजें कम नहीं, जरूरतें बहुत बढ़ गई हैं, संघर्ष यह है। इसमें से अशान्ति की चिनगारियाँ निकलती हैं।"

अपनी आन्तरिक भावना को व्यक्त करते हुए वे आगे कहते हैं—"एक व्यक्ति महल में बैठा मौज करे और एक को खाने तक को न मिले, ऐसी आर्थिक विषमता जनता से सहन न हो सकेगी।"

"प्रकृति के साथ खिलवाड़ करने वाले इस वैज्ञानिक युग के लिए शर्म की बात है कि वह रोटी की समस्या को

नहीं सुलझा सकता।"

आज का युग भौतिकता का उपासक बन रहा है। वह जीवन की चरम सिद्धि भौतिक उपलब्धियों में देखता है। परिणाम यह है कि आज उसकी निगाह धन पर टिकी है और परिग्रह के प्रति उसकी आसक्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है। वह भूल गया कि यदि सुख परिग्रह में होता तो महावीर और बुद्ध क्यों राजपाट और दुनिया के वैभव को त्यागते और क्यों गांधी स्वेच्छा से अकिंचन बनते। सुख भोग में नहीं है, त्याग में है और गौरीशंकर की चोटी पर वही चढ़ सकता है जिसके सिर पर बोझ की भारी गठरी नहीं होती। आचार्यश्री मानते हैं कि यदि आज का मनुष्य अपरिग्रह की उपयोगिता को जान ले और उस रास्ते चल पड़े तो दुनिया के बहुत से संकट अपने आप दूर हो जायेंगे।

मानव के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन को शुद्ध बनाने के लिए आचार्यश्री ने कई वर्ष पूर्व अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात किया था और वह आन्दोलन अब देश व्यापी बन गया है। उस नैतिक क्रान्ति का मूल उद्देश्य यह है कि मनुष्य अपने कषायों को देखे और उन्हें दूर करे। इसके साथ-साथ जो भी काम उसके हाथ में हो, उसके करने में नैतिकता का पूरा-पूरा आग्रह रखे। इस आन्दोलन को अधिक-से-अधिक व्यापक और सक्रिय बनाने के लिए आचार्यश्री ने बड़े परिश्रम और लगन से कार्य किया है और आज भी कर रहे हैं, चूँकि इस आन्दोलन का अन्तिम लक्ष्य मानव जाति को सुखी बनाना है, इसलिए उसका द्वार सब के लिए खुला है। उसमें किसी भी धर्म, मत अथवा सम्प्रदाय का व्यक्ति भाग ले सकता है। अणुव्रत के व्रतियों में बहुत से जैनेतर स्त्री-पुरुष भी हैं।

इसी आन्दोलन के अन्तर्गत प्रति वर्ष अहिंसा तथा मैत्री-दिवस भी देश भर में मनाये जाते हैं। जिससे तनाव का वातावरण सुधरे और यह इच्छा सामूहिक रूप से व्यक्त हो कि वास्तविक सुख और शान्ति हिंसा एवं वैर से नहीं, बल्कि अहिंसा और भाईचारे से स्थापित हो सकती है।

प्रभावशाली वक्ता और साहित्यकार

आचार्यश्री प्रभावशाली वक्ता तथा अच्छे साहित्यकार भी है। उनके प्रवचनों में शब्दों का आडम्बर अथवा कला की छटा नहीं रहती। वे जो बोलते हैं, वह न केवल सरल-सुबोध होता है, अपितु उसमें विचारों की स्पष्टता भी रहती है। जटिल-से-जटिल बात को वे बहुत ही सीधे-सादे शब्दों में कह देते हैं। कभी-कभी वे अपनी बात को समझाने के लिए कथा-कहानियों का आश्रय लेते हैं। वे कहानियाँ वास्तव में बड़ी रोचक एवं शिक्षाप्रद होती हैं।

आचार्यश्री प्रायः कविताएं भी लिखते रहते हैं। जब उन कविताओं का सामूहिक रूप में सस्वर पाठ होता है तो बड़ा ही मनोहारी वायुमण्डल उत्पन्न हो जाता है।

लेकिन वे प्रवचन करते हों अथवा गद्य-पद्य लिखते हों, उनके सामने मानव की मूर्ति सदा विद्यमान रहती है और मानवता के उत्कर्ष की उदात्त भावना उनके हृदय में हिलोरें लेती रहती है।

आचार्य विनोबा कहा करते हैं कि भूदान यज्ञ के सिलसिले में उन्होंने सारे देश का भ्रमण किया है; लेकिन उन्हें एक भी दुर्जन व्यक्ति नहीं मिला। मानव के प्रति उनकी यह आस्था उनका बहुत बड़ा सम्बल है। यथार्थतः प्रत्येक व्यक्ति में सद् और असद् दोनों प्रकार की वृत्तियाँ रहती हैं। आवश्यकता इस बात की है कि सद्वृत्तियाँ सदा जागृत रहें और असद् वृत्तियों को मनुष्य पर हावी होने का अवसर न मिले।

आचार्यश्री तुलसी भी इसी विश्वास को लेकर चल रहे हैं। वे लोगों को अपने अन्दर आत्म-विश्वास पैदा करने की प्रेरणा देते है और कहते हैं कि इस दुनिया में कोई भी बुरा नहीं है। अच्छा काम करने की क्षमता हर किसी में विद्यमान है।

आचार्यश्री के सामने वास्तव में बड़ा ऊँचा ध्येय है, पर मानना होगा कि कुछ मर्यादाएं उनके कार्य की उपयोगिता को सीमित करती हैं। वे एक सम्प्रदाय विशेष के हैं; अतः अन्य सम्प्रदायों को अवसर है कि वे मानें कि वे उनके उतने निकट नहीं हैं। फिर वे आचार्य के पद पर बैठे हैं, जो सामान्य जनों के बराबर नहीं, बल्कि ऊँचाई पर है। इसके अतिरिक्त उनके सम्प्रदाय की परम्पराएं भी हैं। यद्यपि उनके विकासशील व्यक्तित्व ने बहुत-सी अनुपयोगी परम्पराओं को छोड़ देने

का साहस दिखाया है। तथापि आज भी अनेक ऐसी चीजें हैं जो उन पर बन्धन लाती है।

सहिष्णुता का आदर्श

जो हो, इन कठिनाइयों के होते हुए भी उनकी जीवन-यात्रा बराबर अपने चरम लक्ष्य की सिद्धि की ओर ही रही है। उनमें सबसे बड़ा गुण यह है कि वे बहुत ही सहिष्णु हैं। जिस तरह वे अपनी बात बड़ी शान्ति से कहते हैं, उसी तरह वे दूसरे की बात भी उतनी ही शान्ति से सुनते हैं। अपने से मतभेद रखने वाले अथवा विरोधी व्यक्ति से भी बात करने में वे कभी उद्विग्न नहीं होते। मैंने स्वयं कई बार उनके सम्प्रदाय की कुछ प्रवृतियों की, जिनमें उनका अपना भी बड़ा हाथ रहता है, उनके सामने आलोचना की है; लेकिन उन्होंने हमेशा बड़ी आत्मीयता से समझाने की कोशिश की है। एक प्रसंग यहाँ मुझे याद आता है कि एक जैन विद्वान् उनके बहुत ही आलोचक थे। हम लोग बम्बई में मिले। संयोग से आचार्यश्री भी उन दिनों वहीं थे। मैंने उन सज्जन से कहा कि आपको जो शंकाएं हैं और जिन बातों से आपका मतभेद है, उनकी चर्चा आप स्वयं आचार्यश्री से क्यों न कर लें? वे तैयार हो गये। हम लोग गये काफी देर तक बातचीत होती रही। लौटते में उन सज्जन ने मुझसे कहा—"यशपालजी, तुलसी महाराज की एक बात की मुझ पर बड़ी अच्छी छाप पड़ी है।" मैंने पूछा—"किस बात की?" बोले, "देखिये, मैं बराबर अपने मतभेद की बात उनसे कहता रहा, लेकिन उनके चहरे पर शिकन तक नहीं आई। एक शब्द भी उन्होंने जोर से नहीं कहा। दूसरे के विरोध को इतनी सहनशीलता से सुनना और सहना आसान बात नहीं है।"

अपने इस गुण के कारण आचार्यश्री ने बहुत से ऐसे व्यक्तियों को अपनी ओर आकृष्ट कर लिया है, जो उनके सम्प्रदाय के नहीं हैं।

अपनी पहली भेंट से लेकर अब तक के अपने संसर्ग का स्मरण करता हूँ तो बहुत से चित्र आँखों के सामने घूम जाते है। उनसे अनेक बार लम्बी चर्चाएं हुई हैं, उनके प्रवचन सुने हैं, लेकिन उनका वास्तविक रूप तब दिखाई देता है, जब वे दूसरों के दुःख की बात सुनते हैं। उनका संवेदनशील हृदय तब मानों स्वयं व्यथित हो उठता है और यह उनके चेहरे पर उभरते भावों से स्पष्ट देखा जा सकता है।

पिछली बार जब वे कलकत्ता गये थे तो वहाँ के कतिपय लोगों ने उनके तथा उनके साधु-साध्वी वर्ग के विरुद्ध एक प्रचार का भयानक तूफान खड़ा किया था। उन्हीं दिनों जब मैं कलकता गया और मैंने विरोध की बात सुनी तो आचार्यश्री से मिला। उनसे चर्चा की। आचार्यश्री ने बड़े विह्वल होकर कहा—"हम साधु लोग बराबर इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि हमारे कारण किसी को कोई असुविधा न हो।'''स्थान पर हमारी साध्वियाँ ठहरी थीं। लोगों ने हम से आकर कहा कि उनके कारण उन्हें थोड़ी कठिनाई होती है। हम ने तत्काल साध्वियों को वहाँ से हटाकर दूसरी जगह भेज दिया। यदि हमें यह मालूम हो जाये कि हमारे कारण यहाँ के लोगों को परेशानी या असुविधा होती है तो हम इस नगर को छोड़ कर चले जायेंगे।"

आचार्यश्री ने जो कहा, वह उनके अन्तर से उठकर आया था।

भारत-भूमि सदा से आध्यात्मिक भूमि रही है और भारतीय संस्कृति की गूंज किसी जमाने में सारे संसार में सुनाई देती थी। आचार्यश्री की आँखों के सामने अपनी संस्कृति तथा सभ्यता के चरम शिखर पर खड़े भारत का चित्र रहता है। अपने देश से, उसकी भूमि से और उस भूमि पर बसने वाले जन से, उन्हें बड़ी आशा है और तभी गहरे विश्वास के साथ कहा करते हैं—"वह दिन आने वाला है, जब कि पशु बल से उकताई दुनिया भारतीय जीवन से अहिंसा और शान्ति की भीख माँगेगी।"

आचार्यश्री शत जीवी हों और उनके हाथों मानवता की अधिकाधिक सेवा होती रहे, ऐसी हमारी कामना है।

—⟩⟨—

महामानव तुलसी

प्रो० मूलचन्द सेठिया, एम० ए०
बिरला आर्ट्स कालेज, पिलानी

आचार्यश्री तुलसी का नाम भारत में नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन का एक प्रतीक बन गया है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध आचार्यश्री तुलसी द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन अन्धकार में दीप-शिखा की तरह सबका ध्यान आकृष्ट कर रहा है। एक मुग्ध विस्मय के साथ युग देख रहा है कि एक सम्प्रदाय के आचार्य में इतनी व्यापक संवेदनशीलता, दूरदर्शिता और अपने सम्प्रदाय की परिधि से ऊपर उठ कर जन-जीवन की नैतिक-समस्याओं से उलझने और उन्हें सुलझाने की प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न हुई? आचार्यश्री तुलसी को निकट से देखने वाले यह जानते हैं कि इसका रहस्य उनकी महामानवता में छिपा है। मानवीय संवेदना से प्रेरित होकर ही उन्होंने अनैतिकता के विरुद्ध अणुव्रत-आन्दोलन आरम्भ किया। आज के युग में, जब कि प्रत्येक वर्ग एक-दूसरे को भ्रष्टाचार के लिए उत्तरदायी सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहा है और स्वयं अपने को निर्दोष घोषित करता है, आचार्यश्री तुलसी अपने निर्लेप व्यक्तित्व के कारण ही यह अनुभव कर सके कि भ्रष्टाचार एक वर्ग-विशेष की समस्या न होकर निखिल मानव-समाज की समस्या है। जितनी व्यापक समस्या हो, उसका समाधान भी उतना ही मूलग्राही होना चाहिए। आचार्यश्री तुलसी ने इस मानवीय समस्या का मानवीय समाधान ही प्रस्तुत किया है। उनका सन्देश है कि जन-जीवन के व्यापक क्षेत्र में, जो व्यक्ति जहाँ पर खड़ा है, वह अपने बिन्दु के केन्द्र से वृत्त बनाते हुए समाज के अधिकाधिक भाग को परिशुद्ध करने का प्रयत्न करे। यही कारण है कि जब अन्यान्य विचारक विवाद और वितर्क के द्वारा प्याज के छिलके उतारते ही रह गये, आचार्यश्री तुलसी अपनी दृढ़ निष्ठा और अपार मानवीय संवेदना के सम्बल को लेकर भ्रष्टाचार की समस्या के व्यावहारिक समाधान में संलग्न हो गये।

पवित्रता का वृत्त

यह अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि किसी भी समस्या को उसके व्यापक सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा और सुलझाया जा सकता है; परन्तु जब तक सामाजिक वातावरण में परिवर्तन नहीं हो, तब तक हाथ-पर-हाथ धर कर बैठे रहना भी तो एक प्रकार की पराजित मनोवृत्ति का परिचायक है। जो समाज-तंत्र की भाषा में सोचते हैं, वे बड़े-बड़े आँकड़ों के माया-जाल में उलझे हुए निकट भविष्य में ही किसी चमत्कार के घटित होने की आशा में निश्चेष्ट बैठे रहते हैं, परन्तु जो मानव को व्यक्ति-रूप में जानते हैं और नित्यप्रति सैकड़ों व्यक्तियों के सजीव सम्पर्क में आते हैं, उनके लिए कार्य-क्षेत्र सदैव खुला रहता है। आचार्यश्री तुलसी के लिए व्यक्ति समाज की एक इकाई नहीं; प्रत्युत समाज ही व्यक्तियों की समष्टि है। वे समाज से होकर व्यक्ति के पास नहीं पहुँचते, वरन् व्यक्ति से होकर समाज के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। समाज तो एक कल्पना है, जिसकी सत्यता व्यक्तियों की समष्टि पर निर्भर है, परन्तु व्यक्ति अपने-आप में ही सत्य है, हालाँकि उसकी सार्थकता समाज की मुखापेक्षिणी होती है। आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन इसी व्यक्ति को लेकर चलता है, समाज तो उसका दूरगामी लक्ष्य है। वे व्यक्ति को सुधार कर समाज के सुधार को चरम परिणति के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं; समाज के सुधार की अनिवार्य परिणति व्यक्ति का सुधार नहीं मानते। इसलिए उनका प्रयत्न अपने प्रारम्भिक रूप में कुछ स्वल्प-सा, नगण्य-सा प्रतीत हो सकता है; परन्तु उसमें महान् सम्भावनाएं छिपी

हुई हैं। कुछ निष्ठावान् व्यक्ति समाज में एक ऐसा पवित्रता का वृत्त तो बना ही सकते है, जो उत्तरोत्तर विस्तृत होते हुए कभी सम्पूर्ण समाज को अपने घेरे के अन्दर ले सकता है। खेद है कि अणुव्रत-आन्दोलन की इस महती सम्भावना की ओर विचारकों का ध्यान बहुत कम आकृष्ट हुआ है।

मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक

दस-बारह वर्षों के सीमित काल में आचार्यश्री तुलसी ने अपने अणुव्रत-आन्दोलन को एक नैतिक शक्ति का रूप प्रदान कर दिया है। इस आन्दोलन का मूलाधार कोई राजनैतिक या आर्थिक संगठन नहीं, बल्कि आचार्यश्री तुलसी का महान् मानवीय व्यक्तित्व ही है। एक सम्प्रदाय के मान्य आचार्य होते हुए भी आचार्यप्रवर ने अपने व्यक्तित्व को साम्प्रदायिक से अधिक मानवीय ही बनाये रखा है। आचार्यप्रवर अणुव्रतियों के लिए केवल संघ-प्रमुख ही नहीं, उनके मित्र, दार्शनिक और मार्ग-दर्शक (Friend, Philosopher and Guide) भी हैं। वे अपने जीवन की कठिनाइयों, उलझनों और सुख-दुःख की सैकड़ों बातें आचार्यश्री तुलसी के सम्मुख रखते हैं और उनको अपने संघ-प्रमुख द्वारा जो समाधान प्राप्त होता है, वह उनकी सामयिक समस्याओं को सुलझाने के साथ ही उन्हें वह नैतिक बल भी प्रदान करता है जो अन्ततः आध्यात्मिकता की ओर अग्रसर करता है। आचार्यश्री तुलसी की दृष्टि में हल है हलकापन जीवन का। आचार्यप्रवर मनुष्य के जीवन को भौतिकता के भार से हलका देखना चाहते हैं, उसके मन को राग-विराग के भार से हलका देखना चाहते हैं और अन्ततः उसकी आत्मा को कर्मों के भार से हलका देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि ध्रुव-तारे की तरह इसी जीव-मुक्ति की ओर लगी हुई है; परन्तु वे लघु मानव को अँगुली पकड़ कर धीरे-धीरे उस लक्ष्य की ओर आगे बढ़ाना चाहते हैं। मेरी दृष्टि में आचार्यश्री तुलसी आज भी समाज-सुधारक नहीं, एक आत्म-साधक ही हैं और उनका समाज-सुधार का लक्ष्य आत्म-साधना के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण करना ही है।

आज के युग में जबकि प्रत्येक व्यक्ति पर कोई-न-कोई 'लेबल' लगा हुआ है और दलों के दलदल में धँसे हुए मानवता के पैर मुक्त होने के लिए छटपटा रहे हैं, किसी व्यक्ति में मानव का हृदय और मानवता का प्रकाश देखकर चित्त में आह्लाद का अनुभव होता है। हमारा यह आह्लाद आश्चर्य में बदल जाता है, जब कि हम यह अनुभव करते है कि एक बृहत् एवं गौरवशाली सम्प्रदाय के आचार्य होने पर भी उनकी निर्विशेष मानवता आज भी अक्षुण्ण है। निस्सन्देह आचार्यश्री तुलसी एक महान् साधक हैं, सहस्रों साधकों के एकमात्र मार्ग-निर्देशक हैं। एक धर्म-संघ के व्यवस्थापक हैं और एक नैतिक आन्दोलन के प्रवर्तक हैं; परन्तु और कुछ भी होने के पूर्व वे एक महामानव हैं। वे एक महान् संत और महान् आचार्य भी इसी लिए बन सके हैं कि उनमें मानवता का जो मूल द्रव्य है, वह कसौटी पर कसे हुए सोने के समान शुद्ध हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने आचार्यत्व के पच्चीस वर्ष पूरे किये हैं और इसी उपलक्ष में धवल-समारोह मनाया जा रहा है। सम्भवतः रजत-समारोह इसलिए नहीं मनाया जा रहा है कि वह तो उनके लिए मिट्टी है। हाँ, श्वेताम्बर-परम्परा के आचार्य होने के नाते धवल का, उनके लिए कुछ आकर्षण हो सकता है। उनकी सम्पूर्ण साधना धवलता की ही तो साधना है—वस्त्र की धवलता, चित्त की धवलता, वृत्तियों की धवलता और अन्ततः आत्मा की अमल धवलता। आचार्यश्री तुलसी अपने को धवल बना कर ही सन्तुष्ट नहीं हुए, वे युग की कालिमा को भी धो-पोंछकर धवल बना देने पर तुले हुए हैं। इसीलिए तो आज उनके धवल-समारोह में एक विचार और एक लक्ष्य में विश्वास रखने वाले सभी सम्प्रदायों और दलों के व्यक्ति सम्मिलित हो रहे हैं। इस धवल-समारोह के उज्ज्वल क्षणों में उन अमल-धवल चरणों में मेरा भी प्रणत प्रणाम! क्या मेरा यह प्रणाम भी उस महामानव के चरणों में जाकर धवल बन सकेगा?

हे गौरव-गिरि उत्तुंग काय!
पद-पूजन का भी क्या उपाय?

भारतीय संत-परम्परा के एक संत

डा० युद्धवीर सिंह
अध्यक्ष, औद्योगिक सलाहकार परिषद्, दिल्ली प्रशासन

आचार्य प्रवर श्री तुलसी से मेरा सम्पर्क आज से लगभग कोई आठ-दश वर्ष पूर्व स्थापित हुआ। उसके बाद उनके दर्शन और उनके भाषण सुनने का लगातार अवसर मिलता रहा। उनकी कृपा से मैंने तेरापंथ, जिसके वे आचार्य हैं, उसका कुछ साहित्य आदि और आचार्यश्री भिक्षु का जीवन-चरित्र भी पढ़ा।

आचार्यश्री तुलसी भारत के सन्तों की परम्परा में एक सन्त तुल्य हैं। आपकी वाणी में रस है, आपके सम्पर्क में मनुष्य अपनी आत्मा का उत्थान होते हुए अनुभव करता है। आपका जीवन तपस्वी जीवन है और आपका व्यक्तित्व आकर्षक है। एक छोटी-सी सम्प्रदाय के नेता होते हुए भी आपने हर मजहब और हर प्रान्त के अच्छे-अच्छे लोगों को आकर्षित किया है। आपके आचार्य-काल के पच्चीस वर्ष पूर्ण होने के इस शुभ अवसर पर मैं आपके चरणों में अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

आपने नैतिकता की ओर विशेष ध्यान दिया और उसी के लिए अणुव्रत-आन्दोलन चलाया। आन्दोलन में बहुत से लोग सम्मिलित हुए और निःसन्देह उसका असर भी लोगों पर पड़ा है। मेरी कुछ ऐसी धारणा है कि यदि आचार्य-प्रवर एक साम्प्रदायिक आचार्य न होकर मुक्त होते हुए ऐसा आन्दोलन चलाते तो उसका व्यापक असर होता। आपके एक सम्प्रदाय के आचार्य होने के कारण जनता का ध्यान सम्भवतः इतना उस ओर आकर्षित न हुआ हो, जितना होना चाहिए था। फिर भी आपके त्याग, तपस्या और व्यक्तिगत प्रभाव से प्रभावित होकर बहुत से लोगों का नैतिक उत्थान हुआ है और होगा।

मेरी ईश्वर से हार्दिक प्रार्थना है कि आचार्य प्रवर दीर्घायु हों और उनको जो शिष्य मिलें, वे उनके कार्य को आगे बढ़ाएं और वे शिष्य न केवल उनके पंथ में बल्कि उसके बाहर भी मिलें, जिससे उनका अत्युपयोगी और अत्यावश्यक अणुव्रत-आन्दोलन देश में व्यापक रूप धारण करके देश की आचार-हीनता और गिरती हुई नैतिकता को रोकने में समर्थ हो; क्योंकि स्वतन्त्र भारत सर्वथा उन्नत तभी होगा, जब त्याग और तपस्या एवं सत्य और अहिंसा के मूल सिद्धान्तों को धारण करके उसका आचार ऊँचा होगा। आचार्यजी को मैं एक बार फिर नमस्कार करता हूँ और उनके प्रयत्नों की सफलता के लिए प्रार्थना करता हूँ।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व : एक अध्ययन

मुनिश्री रूपचन्दजी

जीवन अनन्त गुणात्मक है। उसका विकास ही व्यक्तित्व की महत्ता का आधार बनता है। महान् और साधारण; ये दोनों शब्द गुणात्मक तारतम्य ही लिये हुए हैं, जो कि व्यक्ति-व्यक्ति के व्यक्तित्व का विभाजन करते हैं। अन्यथा हम एक व्यक्ति के लिए महान् और दूसरे व्यक्ति के लिए साधारण शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते। आचार्यश्री महान् हैं; क्योंकि उनका व्यक्तित्व महान् है। उनका व्यक्तित्व महान् इसलिए है कि वे साधारण की भूमिका को विशिष्ट बनाते हुए चलते हैं। कोई भी व्यक्ति साधारण से अस्पृष्ट रह कर महान् नहीं बनता है। किन्तु वह साधारण को विशिष्ट बनने का विवेक देता है, इसलिए महान् बनता है। मेरा विवेक सब पर छा जाये, यह चेतना का अहं है। महत्ता उससे अतीत है। वह प्रत्येक सुषुप्त विवेक को जगाने के लिए पथ-निर्देशन भी करती है और उसके समुचित विकास के लिए पर्याप्त अवकाश भी देती है। जहाँ इसका अभाव होता है, वहाँ व्यक्ति अनुशास्ता बन सकता है, महान् नहीं। सीधे शब्दों में कहें तो उसका अधिकार केवल कलेवर तक पहुँच सकता है, प्राण उसके लिए सदैव ही अगम्य रहते हैं। आचार्यश्री का व्यक्तित्व महान् इसलिए है कि प्राण उनके लिए गम्य ही नहीं बने, किन्तु प्राणों ने उनका अनुगमन कर उनका लक्ष्य भी पाया।

आचार्यश्री का व्यक्तित्व बहुमुखी है। वे एक ओर जहाँ अध्यात्म-साधना में तल्लीन हैं, वहाँ दूसरी ओर एक बृहत् संघ के अनुशास्ता भी। तीसरी ओर वे व्यक्ति-व्यक्ति की समस्याओं को समाहित करने में तत्पर हैं तो चौथी ओर अध्ययन, स्वाध्याय और शिक्षा-प्रसार के लिए अथक प्रयास करते दिखाई देते हैं। प्राचीन आगमिक साहित्य की शोध के लिए जहाँ वे अहर्निश जुटे हुए हैं तो इसके साथ ही जीवन की प्राचीन रूढ़ता के उन्मूलन में भी वे बद्ध परिकर हैं। इस प्रकार उनके जीवन का प्रत्येक क्षण अदम्य उत्साह और सतत गतिशीलता से ओत-प्रोत है। जीवन की डोर को हाथ में थामें जो उसको जितना अधिक विस्तार दे सकता है, वही व्यक्तित्व-विकास की समग्रता पा सकता है। व्यक्ति-व्यक्ति में अपनत्व की पुट बिखेर देना व्यक्तित्व की सबसे बड़ी सफलता है। यह तभी सम्भव है, जबकि व्यक्ति अपने 'व्यक्ति' से ऊपर उठ कर अपना सब कुछ उत्सर्ग कर दे। जीवन अनन्त तृष्णाओं का संगम-स्थल है। यह प्रत्येक जीवधारी की सामान्य अवस्थिति थी। किन्तु चिन्तन की उदात्तता यहीं विश्राम लेना नहीं चाहती। वह और आगे बढ़ती है और वहाँ तक बढ़ती है, जहाँ कि तृष्णाएं छिछली बनती हुई तृप्ति का भी पार पाने का यत्न करती है। तृष्णा और तृप्ति हमारी मानसिक कल्पनाओं की ही तो कलनाएं हैं। वे कलनाएं जब उनका पार पा लें. तब व्यक्ति देहातीत बन जाता है। वैसी स्थिति में उसके लिए आगत और अनागत, दृश्य और अदृश्य की सभी सीमाएं होने पर उनसे वह बाधित नहीं हो सकता। क्योंकि उन्हें वह उत्साहपूर्वक आत्म-सात् करने का प्रण लिये चलता है; उत्सुकता और उद्विग्नता जैसा कोई भी तत्त्व उसके लिए अवशेष नहीं रह जाता।

जीवन की दो अवस्थाएं

व्यक्ति और देवत्व जीवन की ये दो अवस्थाएं हैं। व्यक्तित्व वह है जो कि व्यक्ति का स्व होता है और देवत्व वह है जो कि व्यक्तित्व को कुछ विशिष्ट ऐश्वर्य में समारोपित करता है। व्यक्तित्व लौकिक होता है और देवत्व अलौकिक। अलौकिक हमारे व्यवहार को नहीं साध सकता। वह व्यवहार के लिए सदा आदर्श और अगम्य ही बना रहता है,

इसलिए उसकी दृष्टि में उस (देवत्व) का कोई मूल्य भी नहीं। आचार्यश्री एक मानव हैं। इसलिए उनका अंकन भी उनके अपने व्यक्तित्व मे करना अधिक समुचित होगा। वे मानव हैं, इसलिए सभी मानव विवशताएं भी उनमे उसी रूप में विद्यमान हैं, जिस रूप में प्रत्येक सामान्य जीवन के समक्ष आती रहती हैं। फिर भी उनका व्यक्तित्व अन्य मे विशिष्ट इसलिए है कि उन्होंने सामान्य की भूमिका पार कर विवशताओं को परास्त ही नहीं किया, किन्तु उसे सहयोगी गुणों के रूप में परिवर्तित भी कर दिया। तिमिर को मिटाना उनके जीवन का लक्ष्य नहीं, किन्तु उसको आलोक मे परिवर्तित कर देना, यही उनका आत्म-घोष रहा है। विरोधी के साथ भी मित्रता का व्यवहार करना अहिंसा का विकास है। किन्तु अहिंसा की पराकाष्ठा वह है, जहाँ शत्रु नाम की कोई चीज रह ही न जाये, सब कुछ मित्र में परिणत हो जाये।

व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति अपने आस-पास के वातावरण की अनुकूलता पाकर फले-फूले यह स्वयं एक निष्क्रियता है। सक्रियता वह है, जहाँ व्यक्ति जीवन भर स्थूल दृष्टि से निष्क्रिय रह कर भी गतिशीलता के लिए जूझता रहे। गतिशीलता कभी भी वातावरण की अनुकूलता सहन नहीं कर सकती। प्रतिकूल परिस्थिति में भी अपना धैर्य न खोये यह व्यक्ति की महत्ता का परिचायक है, किन्तु व्यक्ति की महत्ता वहाँ दुगुनी हो जाती है, जब कि वह पथ में आने वाले प्रत्येक रोड़ों को भी लक्ष्य का महत्त्व समझा कर उसमें गति-प्रेरकता भर दे। इसमें आचार्यश्री सिद्धहस्त हैं। वे चलते हैं, प्रतिकूल परिस्थिति में भी चलते रहे हैं, किन्तु अकेले ही नहीं, समूह को साथ लेकर चलते है। वे प्रत्येक व्यक्ति को महत्त्व देते हैं और उसकी योग्यता का अंकन भी करते हैं। उनकी गति का क्रम भी यही है कि जो गति से अनजान है, उन्हें गति का भान कराना; जो जानते हैं, किन्तु फिर भी प्रमादवश रुद्ध हैं, उन्हें प्रेरणा देना और गति करने वालों को निरन्तर आगे बढ़ते रहने के लिए समुचित अवकाश देना। योग्यता का मूल्यांकन जहाँ नहीं होता, वहाँ नई प्रतिभाएं तो विकसित हो ही नहीं सकती। किन्तु विकसित प्रतिभाएं भी मुरझा जाती हैं; अतः उसका समुचित रूप से नियोजन करना गनिमत्ता के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है।

कुशल अनुशासक

आचार्यश्री एक कुशल अनुशासक हैं। अनुशास्ता बनना सहज है, किन्तु उसमें कुशलता निखर आये, यह अनुशासन की सफलता है। शासक शासितों के साथ घुल-मिल जाये, यह कुशलता की कसौटी है। उस पर खरा उतरने वाला ही संघ को विकास व विस्तार दे सकता है; क्योंकि वहाँ अनुशासकत्व भी त्याग और बलिदान की परिधि में रह कर अपना कार्य साधता है। आज जहाँ अनुशासन करने की व्यक्ति-व्यक्ति में भूख लगी है, वहाँ उसके दायित्व को समझने का प्रयास कहाँ है? आचार्यश्री ने एक बार अपने प्रवचन में कहा—'अनुशासक बनने की अपेक्षा अनुशासन का पालन करना अधिक सहज होता है। अनुशासन-पालन में व्यक्ति को केवल अपनी ही चिन्ता होनी है, किन्तु अनुशासकत्व में न जाने कितने अनजानों की भी चिन्ता रखनी पड़ती है। अनुशासकत्व का दायित्व क्या लेना है, मानो काँटों का ताज धारण करना है।' किन्तु इस गुरुतर भार का महत्त्व तभी है, जब अनुशासक उसके दायित्व को समझे। वस्तु सत्य हमें बताता है कि अनुशासन करना एक पृथक् कर्म है और उसके दायित्व को समझना एक पृथक् कर्म। दायित्व के अभाव में ही अनुशासन लड़खड़ाता है, अन्यथा अनुशासन में उच्छृंखलता पनप ही नहीं सकती। वर्तमान राज्यतंत्र विकास नहीं पा रहा है, समाज-व्यवस्था भी अस्त-व्यस्त है और कह देना चाहिए कि बीते हुए 'कल' के माप-दण्ड 'आज' के समक्ष लड़खड़ा रहे हैं और आने वाले 'कल' के समक्ष 'आज'। ऐसा क्यों है? इसलिए कि दायित्व का अंकन नहीं हो रहा है। अनुशासकत्व अनुशासन को विवेक देता है कि वह अपना कर्तव्य समझे। किन्तु उसके साथ ही यह प्रश्न भी उभरता है कि उसका अपना भी कोई दायित्व होता होगा? जहाँ यह चिन्तन नहीं होता, वहीं शासन क्रान्ति का रूप लेता है।

तेरापंथ शासन एकतंत्रीय परम्परा पर आधारित है, इसलिए यह अधिक अपेक्षित होता है कि उसका शास्ता योग्यता सम्पन्न हो। संघ के प्रत्येक व्यक्ति को नियन्ता के रूप में वह तभी स्वीकार्य हो सकता है जबकि शास्ता के प्रति प्रत्येक हृदय समान रूप से श्रद्धा और समर्पण से अन्वित हो और श्रद्धा व समर्पण को शास्ता तभी प्राप्त कर सकता है जब कि उसके समस्त व्यवहार एक इस प्रकार की कसौटी पर कसे हों, जो सर्वमान्य हैं। प्रजातंत्र में इसके लिए सम्भवतः

इतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं। किन्तु एकतंत्र में इसका सर्वोपरि स्थान है। एकतंत्र का प्रयोग वहीं असफल रहा है, जहाँ कि शास्ता के व्यवहारों पर अहंता ने अपना स्थान जमा लिया। एकतंत्र की यही सबसे बड़ी दुर्बलता है और यदि वह कुशल अनुशास्ता द्वारा पाट दी जाती है तो वह समाज सम्भवतः अन्य किसी समाज से उन्नति और विकास की घुड़दौड़ में पिछड़ नहीं सकता। मुझे एक घटना याद आ रही है। एक बार की बात है कि आचार्यश्री के समक्ष एक विवादास्पद प्रसंग उपस्थित हुआ। दोनों पक्षों ने अपने-अपने पक्ष सबलता पूर्वक रखे। आचार्यश्री सुनते रहे और सुनते रहे किन्तु एक शब्द भी उत्तर में नहीं कहा। बात की समाप्ति पर दोनों ही पक्ष निर्णय सुनने को आतुर थे। पर आचार्यश्री ने निर्णय की अपेक्षा उसी दिन से एकासन (एक समय भोजन) करना आरम्भ कर दिया। एकासन का पहला दिन बीता, दूसरा दिन बीता और तीसरा दिन भी बीत गया। दोनों पक्षों के आग्रह पर यह निर्मम प्रहार था जो उसे सहन नहीं कर सका। उसके बन्धन ढीले पड़े और विवाद स्वयं समाहित हो गया। तब सभी ने माना कि विवाद के अन्त के लिए यह निर्णय उस निर्णय की अपेक्षा कहीं अधिक अमोघ व सहज था। ऐसे एक नहीं, अनेकों अवसर शास्ता के समक्ष आते हैं जबकि अनुशासन स्वयं अनुशासक का परीक्षण करना चाहता है। परीक्षण ही नहीं, कभी-कभी उसे अनुशासित भी करता है ताकि संघ की सुचारुता बनी रहे। आचार्यश्री इसमें कितने कुशल और कहाँ तक सफल रहे हैं, इसके लिए तेरापंथ संगठन का सर्वांगीण विकास एक ज्वलन्त प्रमाण लिये हमारे सामने है।

प्रत्येक चेतना का यह स्वभाव होता है कि वह अपने से भिन्न चेतना में कुछ वैशिष्ट्य खोजना चाहती है। जहाँ से वह मिल जाता है, उसे वह सहर्षतया अपना समर्पण भी कर देती है, किन्तु समर्पण भी अपना स्थायित्व नहीं गाड़ता है, जहाँ उसे नित नई स्फुरणाएं और उसे संवारने वाली साज-सज्जा मिलती रहे। अन्यथा वह अस्थायी नहीं बन सकता। वैशिष्ट्य भी जब दूसरी चेतना को देने का उपक्रम करने लगता है तब कृत्रिमता पनपने लगती है और वह उस दुर्बलता को अवसर पाकर प्रकट कर ही देती है। सच तो यह है कि वैशिष्ट्य मे चेतना का समर्पण जब तक स्वयं कुछ न कुछ ग्रहण करता रहेगा, तब तक ही वह निभ सकेगा। कृत्रिमता भले ही कुछ समय के लिए उसे भुलावे में रख सकती है, किन्तु समर्पण उससे प्रेरणा नहीं पा सकता। इस दृष्टि से भी श्रद्धेय का व्यक्तित्व उस रूप में निखरे यह अपेक्षित होता है, जिसमें कि वह सबकी श्रद्धा समान रूप से पचा सके। क्षण-स्थायी आस्था को प्रतिपल भटकने का भय बना रहता है तो उसे अन्त तक निभाने में श्रद्धेय भी सफल नहीं हो सकता। यह एक ऐसा सम्बन्ध है जिसमें कि मस्तिष्क की अपेक्षा हृदय का प्राधान्य होता है। यही कारण है कि तर्क उसे सिद्ध करने में सदा ही असफल रहा है। वस्तुवृत्त्या तेरापंथ संगठन में शासक-शासित की भावना के प्राधान्य की अपेक्षा उसमें गुरु-शिष्य भाव रहे, इस ओर विशेष ध्यान दिया गया है। नेतृत्व-पालन करने वालों में नेता की अनिवार्यता का भान हो, तभी शिष्यत्व का भाव उभरता है। वहाँ हृदय का प्राधान्य रहता है, मस्तिष्क का नहीं। यही कारण है कि एक अकिंचन संगठन जिसके संचालन में अर्थ का कोई प्रश्न ही नहीं, आज दो सौ वर्षों से भी अक्षुण्ण और गतिशीलता लिये अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा है। मैं नहीं समझता कि विश्व के इतिहास में ऐसा एक भी उदाहरण मिलता हो जिसमें कि बिना किसी प्रकार के भौतिक मूल्यों के आधारित कोई भी संगठन का स्थायित्व इतने लम्बे समय तक और वह भी अपनी उत्तरोत्तर उज्ज्वलता और विकास को अपने में समेटे चला हो। प्रसिद्ध विचारक जैनेन्द्रजी से एक बार तेरापंथ के बारे में उनके विचार पूछे गये तो उन्होंने बताया कि "जो कुछ मैं जानता हूँ, उससे इस संगठन के प्रति मुझमें विस्मय का भाव होता है। कारण कि उसके केन्द्र में सत्ता नहीं है। सत्ता को अधिकार, हथियार और सम्पत्ति से सुरक्षित और समर्थ बनाया जाता है।" तो क्या तेरापंथ को एक ऐसे रूप में स्वीकार किया जा सकता है जो कि सत्ता और सम्पत्ति से दूर कुछ परम तत्त्वों से ही अपनी मौलिकता संचित करता हो। यह पूछने पर उन्होंने बताया कि मैं इससे सहमत हूँ। कारण कि मैं आस्तिक हूँ। आस्तिक का मतलब मैं समष्टि को चित्-केन्द्रित और चित्-संचालित मानता हूँ। यह चित्-अस्तित्व का संसार है।...मेरी श्रद्धा है कि जहाँ संगठन के केन्द्र में यह चित् तत्त्व है, वहीं संगठन का जीवन है और शुभ है। अन्यथा संगठन में संदिग्ध का मेल होता है और उससे फिर जीवन का अहित होने लगता है। मानव संगठन के सम्बन्ध में यह श्रद्धा आज खत्म हुई-सी जा रही है कि बिना सत्ता और सम्पदा के वह उदय में आ सकता या कायम रह सकता है।...इस अनास्था को टूटना चाहिए और मालूम होना चाहिए कि कुछ और

भी तत्त्व है—चिन्मय तत्त्व, आध्यात्मिक तत्त्व, नैतिक तत्त्व आदि; जिस के चारों ओर मानव-संघटना हो सकती है और होनी चाहिए। यदि ऐसा हो तो मेरा विश्वास है, हम देख पायेंगे कि यह संघटना काल को भेदती हुई स्थायी बनती है, उसमें उगने और बढ़ने के बीज रहते हैं।

सप्राण नेतृत्व

व्यक्ति और संगठन इतने संश्लिष्ट और एकात्मक होते है कि हम उनमें विभेद देख ही नहीं सकते। यह तभी सम्भव है, जब उसका नेता संघटनात्मक प्रवृत्तियों में अनुयायी वर्ग को एक-रस कर दे। एक-रसात्मकता व्यक्ति संठन के बीच में अभिन्नता ही स्थापित नहीं करती, किन्तु वह उसमें अपनी अनिवार्यता भी आरोपित कर देती है। वहाँ न व्यक्ति संघ के लिए भारभूत बनता है और न व्यक्ति के लिए संगठन ही स्वतंत्रता-अपहरण की स्थिति उपस्थित करता है। जैनेन्द्र जी के शब्दों में—"मैं स्वतंत्रता शब्द को बहुत ऊँचा नहीं मानता। मेरे निकट स्वतंत्रता की सार्थकता सर्वथा देने में हैं, लेने में तनिक भी नहीं, अर्थात् मुझे प्रेम प्रिय है। अपनी स्वतंत्रता उस नाते मुझे अप्रिय भी हो सकती है। आचार्य तो, मान लो, एक के बजाय अनेक भी हो सकते हैं। लेकिन क्या आदमी में अन्तःकरण और विवेक भी दो हो सकते है। क्या विवेक के आधिपत्य को स्वतंत्रता का घातक कहना होगा ? यदि आचार्य सत्ता भोगी नहीं है; उस समाज या संघ के अन्तःकरण का प्रतीक है तो उसमें मैं पूरा-पूरा औचित्य देखता हूँ।" किन्तु यह सब तभी सम्भव है जबकि आचार्य या संघ-संचालक उसमें सजीवता भर दे। मानव की प्रत्येक कृति अपने में एक अकल्पित सम्भार लिए हुए है। पर वह सम्भार तभी खलता है, जब वह प्राण-शून्य बन जाता है। प्रत्येक कला में अमरत्व वहीं निखरता है, जब वह सजीव और जीवन्त हो। निष्प्राण तो यह शरीर भी भारभूत बन जाता है। आचार्यश्री की यह सर्वाधिक विशेषता रही है कि उन्होंने अपने नेतृत्व को सप्राण बनाये रखा है। इसे नेता की ही सफलता मानना चाहिए। अनुपालक वर्ग तो उसे रूढ़ व निष्प्राण बनाने को प्रतिपल तत्पर दिखाई देता है। वह संघ की प्रत्येक पद्धति को शरीर से ही पकड़ने का प्रयत्न करता है। उसके साथ चेतना कहीं छूट न जाये, यह कार्य उसके नेता से ही सम्भव होता है। यही कारण है कि तेरापंथ अपनी उज्ज्वलतर धारा लिए अविरल गति से आगे बढ़ रहा है।

सफल कलाकार

उनके जीवन का कलात्मक पक्ष अधिक प्रभाव और प्रवाह पूर्ण रहा है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं मनुष्य का स्वभाव है। वह उसे अपने जीवन में साकार देखना चाहता है। किन्तु वह तभी सम्भव है जबकि वह अपनी प्रत्येक कृति में कलात्मकता भर दे। हम सत्यं, शिवं, सुन्दरं का रचनात्मक रूप कला को मान लें तो कोई असंगत नहीं होगा। इस प्रकार प्रवृत्ति की प्राणवत्ता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें कला का रूप निखरे। प्रत्येक वस्तु में जो सरसता और सौन्दर्य का दर्शन होता है, वह कला का ही परिणाम है। कलाकार उसमें जितनी अधिक कलात्मकता भर पाता है, उसमें सौन्दर्य उतना ही अधिक चमत्कार लिये अवतरित होता है। धरती का प्रत्येक अणु अपने में सौन्दर्य समेटे हुए है। परन्तु उसका प्रक्रियात्मक और प्रयोगात्मक रूप केवल कलाकार के हाथों से ही सम्भव होता है। उसकी कुशलता प्रत्येक नीरसता में सरसता उंडेल देती है। संस्कृत व्याकरण की दुरूहता से उसके छात्र अनभिज्ञ नहीं हैं। सम्भवतः व्याकरण की इस दुरूहता के कारण संस्कृत लोक-भाषा बनने में अभी तक सफल नहीं हो रही है। किन्तु यही विषय जब आचार्यश्री के द्वारा विद्यार्थीगण पढ़ते हैं तो सचमुच ही यह अनुभव होता है कि यह विषय अन्य विषयों से कम रसात्मक नहीं। पर यह अनुभूति व्याकरण की सुगमता सिद्ध नहीं कर सकती। यह तो अध्यापक की विलक्षणता है जो कि अपने अध्यापन में वह कलात्मकता भर देता है जिससे विद्यार्थी उसे काव्य की-सी सरसता प्राप्त कर सके। इसका यह परिणाम है कि वे व्याकरण, दर्शन, तर्क-शास्त्र और आगमिक ज्ञान जैसे दुर्गम विषयों को भी सफलतापूर्वक प्रसारित करते रहे हैं। उन्होंने संस्कृत का सांगोपांग अध्ययन स्वयं तो किया ही, किन्तु संघ के शिक्षा-पाठचक्रम में प्रमुख स्थान देकर मृत-भाषा कही जाने वाली संस्कृत-भाषा को जीवन्तता दी है। ठीक इसी प्रकार उन्होंने अपने प्रत्येक क्रिया-कलापों में कला की पुट का आरोपण किया

है या उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति में कला का स्फुरण सहज रूप से हुआ है; क्योंकि वे सफल कलाकार जो ठहरे।

अपनी आत्म-साधना

आचार्यश्री के व्यक्तित्व का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष जिसे कि मैं मानता हूँ, उनकी अपनी आत्म-साधना है। प्रत्येक व्यक्तित्व अपनी दुर्बलताओं से अधिक मर्माहत होता है। यह आघात भी ऐसा होता है जिसका कि कोई उपचार नहीं। व्यक्तित्व की सबसे बड़ी असफलता वह होती है, जहाँ व्यक्ति स्वयं अपने से ही कतरा जाता है। इसका अभाव प्रत्येक क्रिया में कुण्ठा भरता है और अन्ततः असफलता और निराशा के अतिरिक्त कुछ भी हाथ नहीं आता।

सामान्यतया साधना और संसार दोनों के क्षेत्र सर्वथा पृथक्-पृथक् होते हैं। साधना के अभ्यास काल के लिए यह आवश्यक भी होता है। अन्यथा संसार की टेढ़ी-मेढ़ी पगडंडियों में वह कभी ही भटक जाये। किन्तु साधना की परिपक्वता में संसार उससे अस्पृष्ट नहीं रहता है। साधक के लिए समूचा ब्रह्माण्ड साधनामय हो जाता है। वह साधना के उत्कर्ष का फल है। उसके लिए यह आवश्यक होता है कि साधक अपने क्रिया-कलापों में साधना का समारोहण कर दे। वह अपनी प्रवृत्ति और साधना के बीच विलगता न पनपने दे। प्रायः साधक वहीं फिसलता है जबकि वह साधना और प्रवृत्ति के बीच सामंजस्य नहीं रख पाता। जो इस पर विजयी बना, वह अध्यात्म की भाषा में जीवन-मुक्त बना। आचार्यश्री अपनी वर्तमान अवस्था में साधना की कौन-सी भूमिका पार कर रहे हैं, यह प्रश्न सम्भवतः उनके लिए नहीं है, किन्तु हमारे लिये अवश्य है जो कि बुद्धि के कठघरे में बंधे हुए हैं। वे अपने में जो कुछ बनना चाहते है या जो कुछ हैं, वह उनके लिए कुछ भी विशेष नहीं। क्योंकि वे अपने में एक-रस हैं। एक-रसता में कुछ भी भिन्न नहीं रह जाता और उसी एक-रसता में वे साधना और संसार को घुला-मिला देखना चाहते हैं। व्यक्ति और साधनाके बीच में समय की रेखाएं खिंच जायें, यह उनको बिल्कुल मान्य नहीं। उनके अपने शब्दों में "विचार प्रवाहमान रहते हैं, तब तक उनमें स्वच्छता रहती है। उसका प्रवाह रुकता है, वे पंकिल बन जाते हैं। रूढ़ियाँ अनावश्यक नहीं होती। व्यक्ति या समाज को जीवित रखने के लिए देश-काल के अनुरूप रूढ़ि का आलम्बन लेना होता है। यहाँ पर रूढ़िवाद नहीं है। रूढ़िवाद वह है, जो देश-काल के बदले जाने पर भी देश-काल-जनित स्थिति को न बदलने का आग्रह करे।" इसी भावना को लक्षित करते हुए कहा गया :

> **इस काल पुरुष की रेखा में सिमटे जीवन को**
> **उस असीम की ओर बढ़ाना चाहते हो,**
> **व्यवहार जहाँ पर तरल रूप ले बह जाता**
> **उस चरम सत्य को व्यक्त बनाना चाहते हो।**

सच तो यह है कि आचार्यश्री जो कुछ हैं, हमारे समक्ष हैं और जो कुछ बनना चाहते हैं, वह भी दृष्टि से ओझल नहीं है। फिर हमारे अन्तर-चक्षु या चर्म-चक्षु उन्हें कहाँ तक परखते हैं, यह अपनी-अपनी योग्यताओं पर भी अवलम्बित है।

द्वितीय संत तुलसी

श्री रामसेवक श्रीवास्तव
सहसम्पादक—नवभारत टाइम्स, बम्बई

सन् १९५५ की बात है, जब अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी बम्बई में थे और कुछ दिनों के लिए वे मुलुण्ड (बम्बई का एक उपनगर) में किसी विशिष्ट समारोह के सिलसिले में पधारे हुए थे। यहीं पर एक प्रवचन का आयोजन भी हुआ था। सार्वजनिक स्थान पर सार्वजनिक प्रवचन होने के नाते मैं भी उसका लाभ उठाने के उद्देश्य से पहुँचा हुआ था।

प्रवचन मैं कुछ अनिच्छा से ही सुनने गया था, क्योंकि इससे पूर्व मेरी धारणा साधुओं तथा उपदेशकों के प्रति, विशेषतया धर्मोपदेशकों के प्रति कोई बहुत अच्छी न थी और ऐसे प्रसंगों में प्रायः महात्मा तुलसीदास की उस पंक्ति को दोहराने लगता था जिसमें उन्होंने **पर उपदेश कुशल बहुतेरे, जे आचरहिं ते नर न घनेरे** कहकर पाखंडी धर्मोपदेशकों की अच्छी खबर ली है। परन्तु आचार्यश्री तुलसी के प्रवचन के बाद जब मैंने उनकी और उनके शिष्यों की जीवनचर्या का निकट से निरीक्षण कियातब तो मैं स्वयं अपनी लघुता से बरबस इतना दब-सा गया कि आत्म-ग्लानि एक अभिशाप बन कर मेरे पीछे पड़ गई और आचार्यश्री तुलसी जैसे निरीह संत के प्रति अनजाने ही अश्रद्धा का भाव मन में लाने के कारण बड़ा पश्चात्ताप हुआ। मारे लज्जा के मैं कई दिनों तक फिर किसी ऐसे समारोह में गया ही नहीं।

मुनिश्री से भेंट

कुछ दिन बाद मुनिश्री नगराजजी की सेवा में मुझे उपस्थित होने का सौभाग्य मिला। आपने मुझे अणुव्रत पर कुछ साहित्य तैयार करने की प्रेरणा दी। मैंने अपनी असमर्थता के साथ अपनी हीनता का भी स्पष्टतः निवेदन किया और बताया कि अणुव्रत-आन्दोलन के किसी भी नियम की कसौटी पर मैं खरा नहीं उतर सकता; तब, ऐसी स्थिति में इस विषय पर लिखने का मुझे क्या अधिकार है? मुनिश्री ने कहा कि अणुव्रत का मूलाधार सत्य है और सत्य-भाषण कर आपने एक नियम का पालन तो कर ही लिया। इसी प्रकार आप अन्य नियमों का भी निर्वाह कर सकेंगे। मुझे कुछ प्रोत्साहन मिला और मैंने अणुव्रत तथा आचार्यश्री तुलसी के कतिपय ग्रन्थों का अध्ययन कर कुछ समझने की चेष्टा की और एक छोटा-सा लेख मुनिश्री की सेवा में प्रस्तुत कर दिया। लेख अत्यन्त साधारण था, तो भी मुनिश्री की विशाल सहृदयता ने उसे अपना लिया। तब से अणुव्रत की महत्ता को कुछ आँकने का मुझे सौभाग्य मिला और मेरी यह भ्रान्ति भी मिट गई कि सभी धर्मोपदेशक तथा संत निरे परोपदेशक ही होते हैं। सच तो यह है कि गोस्वामी तुलसी की वाणी की वास्तविक सार्थकता मैंने आचार्यश्री तुलसी के प्रवचन में प्राप्त की।

जीवन और मृत्यु

गोस्वामी तुलसी ने नैतिकता का पाठ सर्वप्रथम अपने गृहस्थ जीवन में और स्वयं अपनी गृहिणी से प्राप्त किया था; किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने तो आरम्भ से ही साधु-वृत्ति अपनाकर अपनी साधना को नैतिकता के उस सोपान पर पहुँचा दिया है कि गृहस्थ और संन्यासी, दोनों ही उससे कृतार्थ हो सकते हैं। तुलसी-कृत रामचरितमानस की सृष्टि गोस्वामी तुलसी ने 'स्वान्तः सुखाय' के उद्देश्य से की, किन्तु वह 'सर्वान्तःसुखाय' सिद्ध हुआ; क्योंकि संतों की सभी विभू-

नियाँ और सभी कार्य अन्यों के लिए ही होते आए हैं। **परोपकाराय सतां विभूतयः।** फिर आचार्यश्री तुलसी ने तो आरम्भ से ही अपने सभी कृत्य परार्थ ही किए हैं और परार्थ को ही स्वार्थ मान लिया है। यही कारण है कि उनके अणुव्रत-आन्दोलन में वह शक्ति समायी हुई है जो परमाणु शक्ति-सम्पन्न बम में भी नहीं हो सकती; क्योंकि अणुव्रत का लक्ष्य रचनात्मक एवं विश्वकल्याण है और आणविक शस्त्रों का तो निर्माण ही विश्व-संहार के लिए किया जाता है। एक जीवन है तो दूसरा मृत्यु। तो भी जीवन मृत्यु से सदा ही बड़ा सिद्ध हुआ है और पराजय मृत्यु की होती है, जीवन की नहीं। नागासाकी तथा हिरोशिमा में इतने बड़े विनाश के बाद भी जीवन हिलोरें ले रहा है और मृत्यु पर अट्टहास कर रहा है।

वास्तविक मृत्यु

मानव की वास्तविक मृत्यु नैतिक ह्रास होने पर होती है। नैतिक आचरण से हीन होने पर वस्तुतः मनुष्य मृतक से भी बुरा हो जाता है, क्योंकि साधारण मृत्यु होने पर 'आत्मा' अमर बनी रहती है। **न हन्यते हन्यमाने शरीरे** (गीता)। किन्तु नैतिक पतन हो जाने पर तो शरीर के जीवित रहने पर भी 'आत्मा' मर चुकती है और लोग ऐसे व्यक्ति को 'हृदयहीन', 'अनात्मवादी', 'मानवता के लिए कलंक' कहकर पुकार उठते हैं। इसी प्रकार नैतिकता से हीन राष्ट्र चाहे जैसा भी श्रेष्ठ शासनतन्त्र क्यों न अंगीकार करे, वह जनता की आत्मा को सुखी तथा सम्पन्न नहीं बना सकता। ऐसे राष्ट्र के कानून तथा समस्त सुधार-कार्य प्रभावकारी सिद्ध नहीं होते और न उसकी कृतियों में स्थायित्व ही आने पाता है; क्योंकि इन कृतियों का आधार सत्य और नैतिकता नहीं होती, अपितु एक प्रकार की अवसरवादिता अथवा अवसरसाधिका वृत्ति ही होती है। नैतिक संबल के बिना भौतिक सुख-साधनों का वस्तुतः कोई मूल्य नहीं होता।

अणु और अणुव्रत-आन्दोलन

आज के युग में आणविक शक्ति का प्राधान्य है और इसीलिए इसे अणु युग की संज्ञा देना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत होता है। विज्ञान आज अपनी चरम सीमा पर है और उसने अणुमात्र में भी ऐसी शक्ति खोज निकाली है, जो अखिल विश्व का संहार कुछ मिनटों में ही कर डालने में समर्थ है। इस सर्वसंहारकारी शक्ति से सभी भयभीत है और तृतीय विश्वव्यापी युद्ध के निवारणार्थ जो भी प्रयास प्रकारान्तर से आज किये जा रहे हैं, उनके पीछे भी भय की यही भावना समायी हुई है।

पश्चिमी राष्ट्रों की संगठित शक्ति से भयभीत होकर रूस ने पुनः आणविक शस्त्रास्त्रों के परीक्षण की घोषणा ही नहीं कर दी है, वस्तुतः वह दो-चार परीक्षण कर भी चुका है। रूस के इस आचरण की स्वाभाविक प्रतिक्रिया अमरीका पर हुई है और अमरीका ने भूमिगत आणविक परीक्षण आरम्भ कर दिये हैं।

अमरीका प्रक्षेपास्त्रों की होड़ में रूस से पहले से ही पिछड़ा हुआ है और इसीलिए रूस को उस दिशा में और अधिक बढ़ने का मौका वह कदापि नहीं दे सकता। साथ ही, विश्व के अन्य देशों पर भी इसकी प्रतिक्रिया हुई है और बेलग्रेड में आयोजित तटस्थ देशों का सम्मेलन इस घटना से कदाचित् अत्यधिक प्रभावित हुआ है; क्योंकि सम्मेलन शुरू होने के दिन ही रूस ने अपनी यह आतंककारी घोषणा की है। इस प्रकार आज का विश्व आणविक शक्ति के विनाशकारी परिणाम से बुरी तरह त्रस्त है। सभी ओर 'त्राहि-त्राहि'-सी मची हुई है; क्योंकि युद्ध शुरू हो चुकने पर कदाचित् कोई 'त्राहि-त्राहि' पुकारने के लिए भी शेष न रह जायेगा। इस विषम स्थिति का रहस्य है कि शान्ति के आवरण में युद्ध की विभीषिका सर्वत्र दिखाई पड़ रही है?

परिग्रह और शोषण की जनयित्री

जब मानव भौतिक तथा शारीरिक सुखों की प्राप्ति के लिए पाशविकता पर उतर आता है और अपनी आत्मा की आन्तरिक पुकार का उसके समक्ष कोई महत्त्व नहीं रहता, तब उसकी महत्त्वाकांक्षा परिग्रह और शोषण को जन्म

देती है, जिसका स्वाभाविक परिणाम साम्राज्य अथवा प्रभुत्व-विस्तार के रूप में प्रकट होता है। अपने लिए जब हम आवश्यकता से अधिक पाने का प्रयास करते हैं, तब निश्चय ही हम दूसरों के स्वत्व के अपहरण की कामना कर उठते हैं; क्योंकि औरों की वस्तु का अपहरण किये बिना परिग्रह की भावना तृप्त नहीं की जा सकती। यही भावना औरों की स्वतन्त्रता का अपहरण कर स्वच्छन्दता की प्रवृत्ति को जन्म देती है, जिसका व्यवहारिक रूप हम 'उपनिवेशवाद' मे देखते हैं। शोषण की चरम स्थिति क्रान्ति को जन्म देती है, जैसा कि फ्रांस और रूस में हुआ और अन्ततः हिंसा को ही हम मुक्ति का साधन मानने लगते हैं तथा साम्यवाद के सबल साधन के रूप में उसका प्रयोग कर शान्ति पाने की लालसा करते हैं, किन्तु शान्ति फिर भी मृग-मरीचिका बनी रहती है। यदि ऐसा न होता तो रूस शान्ति के लिए आणविक परीक्षणों का सहारा क्यों लेता और किसी भी समझौता-वार्ता की पृष्ठभूमि में शक्ति-सन्तुलन का प्रश्न क्यों सर्वाधिक महत्त्व पाता रहता ?

मिथ्याचरण

भारत के प्राचीन एवं अर्वाचीन महात्माओं ने सत्य और अहिंसा पर जो अत्यधिक बल दिया है, उसका मुख्य कारण मानव को सुख का वह सोपान प्राप्त कराना ही रहा है, जहाँ तृष्णा और वितृष्णा का कोई चिह्न शेष नहीं रह जाता। सभी धर्मों ने अपरिग्रह और त्याग पर अत्यधिक बल दिया है, जो मूलतः सत्य और अहिंसा के ही रूपान्तर हैं। सत्य की प्राप्ति के लिए सत्य का आचरण अनिवार्य बताया गया है—**सच्चं लोगम्मि सारभूयं** (जैन) **यम्हि सच्चं च धम्मो च सो सुखी** (बौद्ध) **अहमनृतात् सत्यमुपैमि** (वैदिक)।

वास्तविक धर्म मनसा, वाचा और कर्मणा शुद्धाचरण माना गया है और मन से भी प्रतिकूल आचरण करने वाले को 'पाखण्डी' तथा 'मिथ्याचारी' बताया गया है—

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥ —गीता

मिथ्याचरण स्वयं अपने में एक छलना है, तब औरों में भी अविश्वास उत्पन्न करे, तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

विश्व की महान् शक्तियाँ शान्ति के नाम पर युद्ध की गुप्त रूप से जो तैयारियाँ कर रही हैं, यह मिथ्याचरण का ही द्योतक है और इसीलिए पूर्व तथा पश्चिम में पारस्परिक विश्वास का नितान्त ह्रास होकर भय की भावना उद्दीप्त हो उठी है।

भारत में आज सर्वोत्कृष्ट प्रजातन्त्र विद्यमान होते हुए भी प्रजा (जनता) सुखी एवं सन्तुष्ट क्यों नहीं है ? मद्यनिषेध के लिए इतने कड़े कानून लागू होने पर और केन्द्र द्वारा इतना अधिक प्रोत्साहन दिये जाने पर भी वह कारगर होता क्यों दिखाई नहीं पड़ता ? भ्रष्टाचार रोकने के लिए प्रशासन की ओर से इतना अधिक प्रयास किये जाने पर भी वह कम होने के स्थान में बढ़ क्यों रहा है ? इन सबका मूल कारण मिथ्याचरण नहीं तो और क्या है ? आन्तरिक अथवा आत्मिक विकास किये बिना केवल बाह्य-विकास बन्धन-मुक्ति का साधन नहीं हो सकता। विज्ञान तथा अणु शक्ति का विकासमात्र ही उत्थान का एकमात्र साधन नहीं है।

अणुशक्ति (विज्ञान) के साथ-साथ आज अणुव्रत (नैतिक आचरण) को अपनाना भी उतना ही, अपितु उससे कहीं अधिक, महत्त्व रखता है, जितना महत्त्व हम विज्ञान के विकास को देते हैं और जिसे राजनीतिक स्वतन्त्रता के बाद आर्थिक स्वतन्त्रता का मूलाधार भी मान बैठे हैं।

अणुव्रत के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के शब्दों में भारतीय परम्परा में महान् वह है जो त्यागी है। यहाँ का साहित्य त्याग के आदर्शों का साहित्य है। जीवन के चरम भाग में निर्ग्रन्थ या संन्यासी बन जाना तो सहज वृत्ति है ही, जीवन के आदि भाग में भी प्रव्रज्या आदेय मानी जाती रही है : **यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।**

त्यागपूर्ण जीवन महाव्रत की भूमिका या निर्ग्रन्थ वृत्ति है। यह निरपवाद संयम-मार्ग है, जिसके लिए अत्यन्त विरक्ति की अपेक्षा है। जो व्यक्ति अत्यन्त विरक्ति और अत्यन्त अविरक्ति के बीच की स्थिति में होता है, वह अणुव्रती

बनता है। आनन्द गाथापति भगवान् महावीर से प्रार्थना करता है—'भगवन् ! आपके पास बहुत सारे व्यक्ति निर्ग्रन्थ बनते हैं, किन्तु मुझमें ऐसी शक्ति नहीं कि मैं निर्ग्रन्थ बनूं। इसलिए मैं आपके पास पाँच अणुव्रत और सात शिक्षाव्रत; द्वादश व्रतरूप गृही धर्म स्वीकार करूँगा।'[1]

यहाँ शक्ति का अर्थ है विरक्ति। संसार के प्रति, पदार्थों के प्रति, भोग-उपभोग के प्रति जिसमें विरक्ति का प्राबल्य होता है, वह निर्ग्रन्थ बन सकता है। अहिंसा और अपरिग्रह का व्रत उसका जीवन-धर्म बन जाता है। यह वस्तु सबके लिए सम्भव नहीं। व्रत का अणु-रूप मध्यम मार्ग है। अव्रती जीवन शोषण और हिंसा का प्रतीक होता है और महाव्रती जीवन दुःशक्य। इस दशा में अणुव्रती जीवन का विकल्प ही शेष रहता है।

अणुव्रत का विधान व्रतों का समीकरण या संयम और असंयम, सत्य और असत्य, अहिंसा और हिंसा, अपरिग्रह और परिग्रह का मिश्रण नहीं, अपितु जीवन की न्यूनतम मर्यादा का स्वीकरण है।

चारित्रिक आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन मूलतः चारित्रिक आन्दोलन है। नैतिकता और सत्याचरण ही इसके मूलमंत्र हैं। आत्म-विवेचन और आत्म-परीक्षण इसके साधन हैं। आचार्यश्री तुलसी के अनुसार यह आन्दोलन किसी सम्प्रदाय या धर्म-विशेष के लिए नहीं है। यह तो सबके लिए और सार्वजनीन है। अणुव्रत जीवन की वह न्यूनतम मर्यादा है जो सभी के लिए ग्राह्य एवं शक्य है। चाहे आत्मवादी हों या अनात्मवादी, बड़े धर्मज्ञ हों या सामान्य सदाचारी, जीवन की न्यूनतम मर्यादा के बिना जीवन का निर्वाह सम्भव नहीं है। अनात्मवादी पूर्ण अहिंसा में विश्वास न भी करें, किन्तु हिंसा अच्छी है, ऐसा तो नहीं कहते। राजनीति या कूटनीति को अनिवार्य मानने वाले भी यह तो नहीं चाहते कि उनकी पत्नियाँ उनसे छलनापूर्ण व्यवहार करें। असत्य और अप्रामाणिकता बरतने वाले भी दूसरों से सच्चाई और प्रामाणिकता की आशा करते हैं। बुराई मानव की दुर्लबता है, उसकी स्थिति नहीं। कल्याण ही जीवन का चरम सत्य है जिसकी साधना व्रत (आचरण) है। अणुव्रत-आन्दोलन उसी की भूमिका है।

अणुव्रत-विभाग

अणुव्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य या स्वदार संतोष और अपरिग्रह या इच्छा-परिमाण।

१. अहिंसा—अहिंसा-अणुव्रत का तात्पर्य है—अनर्थ हिंसा से अनावश्यकता शून्य केवल प्रमाद या अज्ञानजनित हिंसा से बचना। हिंसा केवल कायिक ही नहीं, मानसिक भी होती है और वह अधिक घातक सिद्ध होती है। मानसिक हिंसा में सभी प्रकार के शोषणों का समावेश हो जाता है और इसीलिए अहिंसा में छोटे-बड़े अपने-बिराने, स्पृश्य-अस्पृश्य आदि विभेदों की परिकल्पना का निषेध अपेक्षित होता है।

२. सत्य—जीवन की सभी स्थितियों में नौकरी, व्यापार, घरेलू या राज्य अथवा समाज के प्रति व्यवहार में सत्य का आचरण अणुव्रती की मुख्य साधना होती है।

३. अचौर्य—लोभाविले आययइ अदत्तम् (जैन) **लोके अदिन्नं नादियति तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं** (बौद्ध) अचौर्य में मेरी निष्ठा है। चोरी को मैं त्याज्य मानता हूँ। गृहस्थ-जीवन में सम्पूर्ण चोरी से बचना सम्भव न मानते हुए अणुव्रती प्रतिज्ञा करता है—१. मैं दूसरों की वस्तु को चोर-वृत्ति से नहीं लूँगा, २. जानबूझकर चोरी की वस्तु नहीं खरीदूँगा और न चोरी में सहायक बनूँगा, ३. राज्यनिषिद्ध वस्तु का व्यापार व आयात-निर्यात नहीं करूँगा, ४. व्यापार में अप्रामाणिकता नहीं बरतूंगा।

४. ब्रह्मचर्य—१. तवेसु वा उत्तमं बंभचेरं (जैन), **२. माते कामगुणे रमस्सु चित्तं** (बौद्ध) **३. ब्रह्मचर्येण**

---

१ **नो खलु अहं तहा संचाएमि मुण्डे जाव पव्वइत्तए। अहण्णं देवाणुप्पियाणं अन्तिए पंचाणुव्वइयं सत्तसिक्खावइयं द्वादस विहं गिहिधम्मं पडिवज्जिस्सामि—उपासकदशांग ॥ १ ॥**

तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत (वेद)।

ब्रह्मचर्य अहिंसा का स्वात्मरमणात्मक पक्ष है। पूर्ण ब्रह्मचारी न बन सकने की स्थिति में एक पत्नीव्रत का पालन अणुव्रती के लिए अनिवार्य ठहराया गया है।

५. **अपरिग्रह—१. 'इच्छाहु आगाससम अणंतया'** (जैन), २. **तण्हक्खयो सव्व दुक्खं जिनाति** (बौद्ध), ३. **मागृधः कस्यस्विद्धनम्** (वैदिक) परिग्रह से तात्पर्य संग्रह से है। किसी भी सद्गृहस्थ के लिए संग्रह की भावना से पूर्णतया विरत रहना असम्भव है। अतः अणुव्रत में अपरिग्रह से संग्रह का पूर्ण निषेध का तात्पर्य न लेते हुए अमर्यादित संग्रह के रूप में गृहीत है। अणुव्रती प्रतिज्ञा करता है कि वह मर्यादित परिणाम से अधिक परिग्रह नहीं करेगा। वह घूस नहीं लेगा। लोभवश रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय नहीं लगायेगा। विवाह आदि प्रसंगों के सिलसिले में दहेज नहीं लेगा, आदि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अणुव्रत विशुद्ध रूप में एक नैतिक सदाचरण है और यदि इस अभियान का सफल परिणाम निकल सका तो वह एक सहस्र कानूनों से कहीं अधिक कारगर सिद्ध होगा और भारत या अन्य किसी भी देश में ऐसे आचरण से प्रजातन्त्र की सार्थकता चरितार्थ हो सकेगी। प्रजातन्त्र धर्मनिरपेक्ष भले ही रहे, किन्तु जब तक उसमें नैतिकता के किसी मर्यादित मापदण्ड की व्यवस्था की गुंजाइश नहीं रखी जाती, तब तक वह वास्तविक स्वतन्त्रता की सृष्टि नहीं कर सकता और न ही जनसाधारण के आर्थिक स्तर को ऊँचा उठा सकता है। स्वतन्त्रता की ओट में स्वच्छ-न्दता और आर्थिक उत्थान के रूप में परिग्रह तथा शोषण को ही खलकर खेलने का मौका तब तक निस्संदेह बना रहेगा, जब तक इस आणविक युग में विज्ञान की महत्ता के साथ-साथ अणुव्रत-जैसे किसी नैतिक बन्धन की महत्ता को भी भली-भाँति आँका नहीं जाता। विश्व-शान्ति की कुञ्जी भी इसी नैतिक बन्धन में निहित है। वस्तुतः पंचशील, सह-अस्तित्व, धार्मिक सहिष्णुता अणुव्रत के अंगोपांग जैसे ही हैं। अतः आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन आज के अणुयुग की एक विशिष्ट देन ही समझा जाना चाहिए।

भारत विश्व में यदि प्राचीन अथवा अर्वाचीन काल में किसी कारण सम्मानित रहा अथवा आज भी है तो अपने सत्य, त्याग, अहिंसा, परोपकार (अपरिग्रह) आदि नैतिक गुणों के कारण ही, न कि अपनी सैन्य शक्ति अथवा भौतिक शक्ति के कारण। किन्तु, आज देश में जो भ्रष्टाचार व्याप्त है और नैतिक पतन जिस सीमा तक पहुँचा चुका है, उसे एक 'नेहरू का आवरण' कब तक ढँके रहेगा ? एक दिन तो विश्व में हमारी कलई खुल कर ही रहेगी और तब विश्व हमारी वास्तविक हीनता को जान कर हमारा निरादर किये बिना न रहेगा। अतः भारतवासियों के लिए आणविक शक्ति के स्थान में आज अणुव्रत-आन्दोलन को शक्तिशाली बनाना कहीं अधिक हितकारी सिद्ध होगा और मानव, राष्ट्र तथा विश्व का वास्तविक कल्याण भी इसी में निहित है।

आचार्यश्री तुलसी का वह कथन, जो उन्होंने उस दिन अपने प्रवचन में कहा था, मुझे आज भी याद है कि "एक स्थान पर जब हम मिट्टी का बहुत बड़ा और ऊँचा ढेर देखते हैं तब हमें सहज ही यह ध्यान हो जाना चाहिए, किसी अन्य स्थान पर इतना ही बड़ा और गहरा गड्ढा खोदा गया है।"

शोषण के बिना संग्रह असम्भव है। एक को नीचे गिराकर दूसरा उन्नति करता है। किन्तु जहाँ बिना किसी का शोषण किये, बिना किसी को नीचे गिराये सभी एक साथ आत्मोन्नति करते हैं, वही है जीवन का सच्चा और शाश्वत मार्ग।

'अणुव्रत' नैतिकता का ही पर्याय है और उसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी महात्मा तुलसी के पर्याय कहे जा सकते हैं।

युवा आचार्य और वृद्ध मन्त्री

मुनिश्री विनयवर्धनजी

आचार्यश्री तुलसी ने बाईस वर्ष की अल्पतम आयु में आचार्य-पद का भार सम्भाला। उनके मन्त्री मुनिश्री मगनलालजी उस समय लगभग उनसे तिगुनी आयु में थे। युवा आचार्य और वृद्ध मन्त्री का यह एक अनोखा मेल था। योग्य सेवक का मिल जाना भी स्वामी के सौभाग्य का विषय होता है। योग्य मन्त्री का मिल जाना राजा का अपना सौभाग्य है ही। मन्त्रीमुनि एक तपे हुए राजसेवक थे। इससे पूर्व वे क्रमशः चार आचार्यों को अपनी असाधारण सेवाएं दे चुके थे। आचार्यश्री तुलसी ने उन्हें मन्त्री-पद से विभूषित किया, पर इससे पूर्व भी वे अपनी कार्य-क्षमता से मंत्रीमुनि कहलाने लगे थे। उनका मन्त्रीत्व सर्वसाधारण से उद्भूत हुआ और यथासमय आचार्यश्री तुलसी के द्वारा मण्डित हुआ। आचार्यश्री के शासनकाल में लगभग तेईस वर्ष की सेवाएं उन्होंने दी। उनके जीवन की उपलब्धियाँ अगली पीढ़ी के लिए एक खोज का विषय बन गई है। प्रत्येक उपलब्धि के पीछे उनका नीति-कौशल ही आधारभूत था। एक-एक करके पाँच आचार्यों से वे सम्मानित होते रहे। यह एक विलक्षण बात थी। इसके मुख्य कारण दो थे: एक तो यह कि प्रत्येक आचार्य के पास समर्पित होकर रहे। अपनी योग्यता और प्रभाव का उपयोग उन्होंने उनके लिए किया। वे नितान्त निष्काम सेवी थे। **सदैवापद्गतो राजा भोग्यो भवति मंत्रिणां** का विचार उनको छू तक नहीं गया था। आचार्यश्री तुलसी जब संघ के नूतन अधिनायक बने तो उन्होंने अपना सारा कौशल चतुर्विध संघ का ध्यान उनमें केन्द्रित करने के लिए लगाया। उन्होंने आचार्यश्री को अन्तरंग रूप से सुझाया—आप समय-समय पर साधु-साध्वियों के बीच मुझे कोई न कोई उलाहना दिया करें, इससे अन्य सभी लोग अनुशासन में चलना सीखेंगे। आचार्यवर ने ऐसे प्रयोग अनेकों बार किये भी। एक बार की घटना है—कुछ एक प्रमुख श्रावक किसी बात के लिए अनुरोध कर रहे थे। मन्त्रीमुनि ने भी उनके अनुरोध का समर्थन किया। श्रावकों ने कहा—अब तो आप फरमा ही दीजिये; मंत्रीमुनि ने भी हमारा समर्थन कर दिया है। आचार्यश्री ने ओजस्वी शब्दों में कहा—क्या मैं सब बातें मगनलालजी स्वामी के निर्देश पर ही करता हूँ। सब श्रावक सन्न रह गए। युवक आचार्य ने अपने वृद्ध मन्त्री को कितना अवगणित कर दिया। पर विशेषता तो यह थी कि मंत्रीमुनि का नूर जरा भी बिगड़ा नहीं। वे आचार्यों के लिए विनम्र परामर्शदाता थे। स्पष्टवादिता व सिद्धान्तवादिता का हौआ उनके सिर पर नहीं था। लोग उन्हें कभी-कभी 'जी हुजूर' भी बतलाते, पर आचार्यों के साथ बरतने की उनकी अपनी निश्चित नीति थी। यही कारण था कि विभिन्न नीति-प्रधान आचार्यों के शासन-काल में समान रूप से रहे। नाना झंझावात उनके ऊपर से गुजरे, जिनमें अनेकों के चरण डगमगा गए, पर वे अपनी नीति पर अटल रहे और उनका सुन्दर परिणाम जीवन भर उन्होंने भोगा।

वे अपने जीवन में सदैव लोकप्रिय रहे। जीवन के उत्तरार्द्ध में तो मानो वे सर्वथा अनालोच्य ही हो गए। इसका कारण था, विरोध का प्रतिकार उन्होंने विरोध से नहीं किया। **'अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति'** की कहावत चरितार्थ हुई। प्रतिस्पर्धी भी निःसन्तान होकर समाप्त होते गए। लोकप्रियता का एक अन्य कारण था कि वे दायित्व-मुक्त रहना पसन्द करते थे। बहुत थोड़े ही काम उन्होंने अपने जिम्मे ले रखे थे। आचार्य ही सब काम निबटाते रहे, यह उनकी प्रवृत्ति थी। किसी को अनुगृहीत कर अपना प्रभाव बढ़ाने का शौक उनमें नहीं था। उनका विश्वास था—भलाई असन्दिग्ध नहीं होती, उसमें किसी की बुराई भी बहुधा फलित हो जाती है। इसलिए निर्लिप्तता ही व्यक्ति के लिए सुखद मार्ग है। इस विश्वास में सब लोग भले ही सहमत न हों, पर उनकी लोकप्रियता का तो यह एक प्रमुख कारण था ही।

उनके जीवन में नित नये उन्मेष आते रहते थे। बहुधा अवकाश प्राप्त व्यक्ति बहुत दिनों तकलीफ कर अपना प्रभाव सीमित करता है। मंत्रीमुनि ९० वर्ष तक जीए। वर्षों तक वे वार्धक्य और रुग्णावस्था से पूरी तरह ग्रसित रहे, पर उनके जीवन की यह विलक्षण बात थी कि परिस्थितियाँ स्वयं बदलकर उनके लिए किसी न किसी प्रकार से श्रेय बटोर कर ले आतीं। टाला गया भी श्रेय उन्हें चतुर्गुणित होकर मिलता। इस प्रकार ये अपने जीवन के अन्तिम क्षण तक नूतन ही बने रहे। उनके जीवन का एक उल्लेखनीय आनन्द था—घोर तपस्वी मुनिश्री सुखलालजी और विद्या वारिधि मुनिश्री सोहनलालजी जैसे आत्म साथ मुनियों का योग।

वे अत्यन्त मित-भाषी थे। उनके मुख से सदैव नपी-तुली बात निकलती। दूसरों को देने के लिए उनकी प्रमुख शिक्षा थी—

"वचन रतन मुखकोट है, होट कपाट बणाय।
सम्भल-सम्भल हरफ काढ़िये, नहीं परवश पड़ जाय।

यही दोहा बचपन में उन्होंने मुझे याद करवाया था।

हो सकता है उनकी वाणी का संयम ही उनके लिए वाक्सिद्धि बन गया हो। अनेकानेक लोग आज भी उनके वचन-सिद्धि की गाथा गाते हैं। सरदारशहर की घटना है। मुनिश्री नगराजजी व मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी दिल्ली की ओर विहार करा रहे थे। मंत्रीमुनि पहुँचाने के लिए कुछ दूर पधारे। वन्दन और क्षमायाचना की वेला में मंत्रीमुनि ने मुनिश्री नगराजजी के कान में कहा—"देखो, दिल्ली जाओ हो, जवाहरलाल नेहरू स्यूं भी बात करनी पड़े तो भी मन में संकोच नहीं राखगो। शासण री बात बताने में कोई डर नहीं।" मुनिश्री वहाँ से विहार कर गये। प्रधानमन्त्री नेहरू से मुनिजनों का तब तक कोई सम्पर्क नहीं था। कोई आसार भी सामने नहीं थे। उसी वर्ष प्रथम बार मुनिश्री से प्रधानमन्त्री की ४० मिनट बातचीत हुई। मुनिश्री ने जिस निस्संकोच भाव से अणुव्रत-आन्दोलन का कार्यक्रम सामने रखा वे अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने मुनिश्री से आचार्यश्री को दिल्ली बुलवाने का भी आमन्त्रण करवाया। अणुव्रत-सभा में भाग लेने की बात भी उसी समय निश्चित कर दी। यह वही वर्ष था जिस वर्ष आचार्यवर सरदारशहर चतुर्मास कराकर केवल ग्यारह दिनों में दिल्ली पधारे। राष्ट्रपति तथा नेहरूजी ने प्रथम बार अणुव्रत आयोजनों में भाग लिया। इस प्रकार मंत्री-मुनि मगनलालजी स्वामी की वाक्सिद्धि के उदाहरणों को संजोया जाये तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ बन सकता है।

उनकी सेवाएं तेरापंथ साधु-संघ के लिए महान् थीं। कौन जानता था भेदपाट की पथरीली भूमि में जन्मा यह बालक महान् धर्म-संघ का मन्त्री बनेगा। कौन जानता था, केवल बारह आने की विद्या पढ़ने वाला बालक इतना असाधारण, दूरदर्शी और अनुपम मेधावी होगा। पर यह कहावत भी सत्य है—"होनहार बिरवान के होत चीकने पात"। जब ये पाठशाला में पढ़ते थे तो गुरु ने बुद्धि-परीक्षा की दृष्टि से सभी छात्रों से पूछा—यज्ञोपवीत की खूँटी कौनसी है? उपस्थित छात्र एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। गुरु ने इनकी ओर देखा तो उन्होंने झट से उत्तर दे डाला—यज्ञोपवीत की खूँटी कान है। गुरु और छात्र सभी इस उत्तर से आनन्द-विभोर हुए।

यह है संक्षेप में युवा आचार्य के वृद्ध मंत्री की जीवन गाथा।
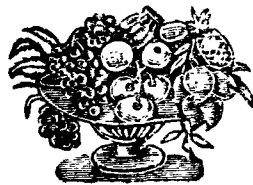
संत-फकीरों के अगुआ

बेगम अलीजहीर
अध्यक्षा, समाज कल्याण बोर्ड, उत्तरप्रदेश

यह जानकर निहायत खुशी हुई कि आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह समिति अणुव्रत-आन्दोलन के रहनुमा आचार्यश्री तुलसीजी का अभिनन्दन समारोह मनाने जा रही है और उनकी शान में एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी तैयार कर रही है।

आचार्यश्री तुलसी हमारे देश के उन संत-फकीरों के अगुआ हैं, जिन्होंने इस बात को महसूस किया कि देश की आजादी को कायम रखने के लिए यह बहुत जरूरी है कि हमारे देश के रहने वालों का नैतिक और चारित्रिक स्तर ऊंचा हो। इसके बिना किसी तरह से हमारी असली तरक्की मुमकिन नहीं है। इसलिए उन्होंने अपने साढ़े छः सौ शिष्य साधुओं और साध्वियों का रुझान इस ओर खींचा कि सारे देश का ध्यान अणुव्रत-आन्दोलन के असूलों की ओर खींचने में जुट जाओ। इतना ही नहीं, उन्होंने अपने तेरापंथ समाज के साथ सारे देश को यह महसूस कराया कि अणुव्रत के असूलों पर चलना हमारे लिए बहुत जरूरी है।

एक बार जब अणुव्रत-आन्दोलन का सालाना जलसा सन् १९५७ में सुजानगढ़ (राजस्थान) में हुआ तो उत्तर-प्रदेशीय अणुव्रत समिति के संयोजक ने हमें भी उसमें भाग लेने की दावत दी। यह पहला मौका था जब हमने नजदीक से आचार्यश्री तुलसी और उनके विद्वान् व बहुत-सी विद्याओं व हुनरों में माहिर शिष्यों, साधुओं और साध्वियों को देखा। ये सभी अच्छे-अच्छे घरों के थे और सारे दुनियावी सुखों को छोड़ कर इस नये सुख की दुनिया में आ चुके थे, जिसे हम रूहानी जिन्दगी का सुख कहते हैं।

आचार्यश्री तुलसी से मिलने पर हमने देखा कि वे सही माने में एक फकीर की जिन्दगी बसर करते हुए इस बात की कोशिश में जुटे हुए हैं कि हमारी तरक्की के साथ-साथ सारी दुनिया की तरक्की हो। यही वजह है कि हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, ईसाई सभी लोग उनके बताये हुए अणुव्रत के असूलों को पसन्द करते हैं।

आज के जमाने में हम इन्सान का आर्थिक स्तर तो ऊंचा करने में जुटे हुए हैं; लेकिन उसके मुकाबले में उसके जीवन का स्तर ऊंचा करने की कितनी कोशिश हम कर रहे हैं, यह सोचने की बात है। हम अपने देश की तरक्की के लिए पंचवर्षीय योजना चला रहे हैं, लेकिन पंचवर्षीय योजनाओं की कामयाबी के लिए जरूरी है कि देश में रहने वालों का नैतिक और चारित्रिक स्तर काफी ऊंचा हो। इसके बिना देश में राष्ट्रीय चेतना नहीं जाग सकती है।

यह तो सभी लोग जानते हैं कि सच बोलना चाहिए, किसी को सताना नहीं चाहिए, दुनिया भर की दौलत बटोरने की कोशिश नहीं करनी चाहिए; लेकिन सवाल यह है कि कितने लोग इस बात पर अमल करते हैं? आचार्यश्री तुलसी का आन्दोलन महज लैक्चर देने का या नसीहत देने का आन्दोलन नहीं है, बल्कि यह उन बातों पर अमल करने का आन्दोलन है। आचार्यश्री तुलसी और उनके शिष्य खुद महाव्रतों का पालन करते हुए हरएक को इस बात के लिए राजी करने की कोशिश करते हैं कि कम-से-कम लोग अणुव्रतों पर चलने का अहद करें। इसके लिए वे, जो लोग इन असूलों को पसन्द करते हैं, उनसे प्रतिज्ञा-पत्र भरवाते हैं कि कम-से-कम एक साल वे इन असूलों पर जरूर चलेंगे। इस तरह से यह महज़ कहने की नहीं, बल्कि करने की तहरीक़ है, जगने और जगाने की तहरीक़ है, नामुमकिन को मुमकिन बना देने की तहरीक़ है। आचार्यश्री तुलसी ने मरीज इंसान की नब्ज़ को अच्छी तरह से समझा है। उसे इंसानियत का पैग़ाम किस

तरह सुनाया जाये और उस पर चलने के लिए किस तरह जोश पैदा किया जाये, यह आज के जमाने में और लोगों की बनिस्पत ज्यादा अच्छी तरह समझा है।

आज सबसे ज्यादा कमी चरित्र की है। आज इस चरित्र की कमी की वजह से एक इंसान दूसरे इंसान का ऐतबार खो चुका है, एक जमात दूसरी जमात का ऐतबार खो चुकी है और एक मुल्क दूसरे मुल्क का ऐतबार खो चुका है। इस बे-ऐतबार (अविश्वास) के जमाने में हरएक को एक-दूसरे से खतरा पैदा हो गया है और इस खतरे का सामना करने के लिए दुनिया के मुल्क अणुबम और उद्‌जन बम आदि का सहारा ले रहे हैं; जिनके इस्तेमाल से न सिर्फ एक मोहल्ला या एक शहर, बल्कि सूबे-के-सूबे, देश-के-देश साफ हो जायेंगे। ऐसे नाजुक जमाने में अणुबम के मुकाबले में अणुव्रत-आन्दोलन चला कर आचार्यश्री तुलसी ने दुःख और निराशा के अन्धकार में भटकती हुई दुनिया को सुख-शान्ति की एक नई रोशनी दी है।

यह ठीक है कि अणुव्रत-आन्दोलन के चलाने वाले आचार्यश्री तुलसी जैन-श्वेताम्बर तेरापंथ-समाज के नवें आचार्य हैं, परन्तु मेरी दृष्टि में आचार्यश्री तुलसी दुनिया को मानवता का वही सन्देश सुना रहे है जिसे कभी योगिराज कृष्ण ने सुनाया, महावीर स्वामी ने सुनाया, महात्मा गौतम बुद्ध ने सुनाया, जिसके लिए हजरत मुहम्मद साहब ने हिज्रत किया और हमारे देश के राष्ट्रपिता महात्मा गांधीजी शहीद हुए। आज उसी मानवता का सन्देश, इंसानियत का पैग़ाम आचार्यश्री तुलसी और आचार्य विनोबा भावे हमें सुना रहे हैं।

हमारा यह फर्ज़ है कि तन, मन और जी-जान से जहाँ तक मुमकिन हो, उनके इस आन्दोलन को कामयाब बनाने की हम पूरी कोशिश करें। इसी में हम सबकी भलाई है, हमारे देश की भलाई है और हमारी इस दुनिया की भी भलाई है।

आज ऐसे महात्मा आचार्यश्री तुलसी का धवल समारोह मनाया जा रहा है। समझ में नहीं आता, किन शब्दों में मैं अपने ज़ज्बात का इज़हार करूँ, किन शब्दों में अपनी भावनांजलि पेश करूँ। फिर भी इन चन्द शब्दों में मैं अपनी ख्वाहिश का इज़हार करती हूँ कि वे चिरायु हों और सब लोगों की इसी तरह अणुव्रत-आन्दोलन और मैत्री-दिवस आदि के ज़रिये रहनुमाई करें जिससे कि हमारी यह दुनिया आज की फैली हुई मुसीबतों से नजात पा सके, छुटकारा पा सके। आदमी सच्चे माने में आदमी बन कर एक-दूसरे का मान करना सीख सके। सब लोग मिल-जुलकर सुख से रह सकें और इंसान की खुशहाली के लिए किन बातों की ज़रूरत है और किन बातों की नहीं है, यह समझ सकें, एक जौहरी की तरह हीरे और पत्थर की पहचान कर सकें।

भारतीय दर्शन के अधिकृत व्याख्याता

सरदार ज्ञानसिंह राड़ेवाला
सिंचाई और बिजली मंत्री, पंजाब सरकार

संत और गुरु का महत्त्व भारतवर्ष में सदा से रहा है। गुरु नानक ने भी संत-सेवा और गुरु-भक्ति पर अधिक-से-अधिक बल दिया। आचार्यश्री तुलसी केवल संत ही नहीं; वे संत-नायक हैं। उनकी वाणी साढ़े छः सौ साधु-साध्वियों की वाणी है। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर आपने सारे देश को नैतिक उद्‌बोध दिया है। देश में इसकी सबसे बड़ी आवश्यकता थी। देश आजाद हुआ और बड़ी-बड़ी योजनाएं यहाँ क्रियान्वित हो रही हैं। पर देशवासियों का चारित्र यदि ऊँचा नहीं हो जाता तो वह भौतिक निर्माण केवल विना रूह का शरीर रह जाता है। रोटी और कपड़े से भी अधिक जरूरी मनुष्य का अपना चरित्र है, पर आज हम जो महत्त्व रोटी और कपड़े को दे रहे हैं वह चरित्र को नहीं। रोटी और कपड़े की समस्या भी तभी बनती है, जब मनुष्य का चरित्र ऊँचा नहीं रहता। मनुष्य जो अपने बारे में सोचता है, वह पड़ोसी के बारे में नहीं सोचता। छोटे स्वार्थों के लिए बड़े स्वार्थों का हनन करता है।

भारतवर्ष धार्मिक देश कहलाता है। हम बात-बात में धर्म की दुहाई भी देते हैं, पर धर्म का जो स्वरूप हमारे जीवन-व्यवहार में मिलना चाहिए, वह नहीं मिल रहा है। आज धर्म केवल मठों, मन्दिरों, गुरुद्वारों तक ही सीमित कर दिया गया है। धर्म का सम्बन्ध जीवन व्यवहार के प्रत्येक क्षण से रहना चाहिए। बाजारों और आफिसों में जब तक धर्म नहीं पहुँचता, तब तक देश का कल्याण नहीं है। धर्म के अभाव में ही झूठा तौल-माप, चोरबाजारी और रिश्वत आदि चल रहे हैं। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, अणुव्रत-आन्दोलन का जन्म धर्म के इसी दबे पहलू को उठाने के लिए हुआ है। अणुव्रत-आन्दोलन धर्म को बाजारों, आफिसों और राजनैतिक व सामाजिक क्षेत्रों में लाना चाहता है। अणुव्रतों का हार्द है – किसी भी क्षेत्र में कार्य करता हुआ व्यक्ति अपने धर्म-कर्म को न खोये। इन्सानियत का खयाल रखे। कोई भी अनैतिक कर्म न करे। अणुव्रत-आन्दोलन का जितना विस्तार हमारे देश में होगा, उतना ही देश हर माने में ऊँचा होगा।

मुझे यह जान कर बहुत ही प्रसन्नता हुई कि आचार्यश्री के नेतृत्व में साढ़े छः सौ साधु-साध्विजन व्यवस्थित रूप से सारे देश में नैतिक जागृति का कार्य कर रहे हैं। मैंने दिल्ली में मुनिश्री नगराजजी के पास वह तालिका भी देखी, जिसमें अणुव्रत केन्द्रों का और वहाँ कार्य करने वाले साधुजनों का पूरा ब्यौरा था। सचमुच यह कार्य साधु-संतों से ही होने का है। भारतवर्ष के कोटि-कोटि लोग जिस श्रद्धा से उनकी बात सुनते हैं, उतनी और किसी की नहीं। उसका एक कारण भी है और वह यह है कि वे जो कहते हैं, उसका अपने जीवन में पालन करते हैं। वे शिक्षा अणुव्रत की देते हैं और स्वयं महाव्रतों पर चलते हैं। दूसरे सभी लोगों में कथनी और करनी का वह आदर्श नहीं मिलता, अतः उनकी कही बात उतनी कारगर नहीं होती।

किसी भी देश की महत्ता और सफलताओं का मूल्यांकन केवल भौतिक उपलब्धियों से ही नहीं किया जाता, बल्कि नैतिक धरातल से ही लगाया जाता है। भारतीय संस्कृति का चिरकाल से यही दृष्टिकोण रहा है और स्वाधीनता के उपरान्त इसी लक्ष्य को मूर्त रूप देने की आवश्यकता थी। इस दिशा में मनोयोग से काम करने वाले महानुभावों में आचार्यश्री तुलसी तथा इनके द्वारा प्रवर्तित अणुव्रत-आन्दोलन ने अन्य संस्थाओं के लिए एक आदर्श स्थापित किया है। अतः ऐसे समाज सुधारक भारतीय संस्कृति के महान् विद्वान् और भारतीय दर्शन के अधिकृत व्याख्याता के आचार्यत्व के पच्चीस वसन्त पूरे हो जाने के उपलक्ष में जो अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, वह न केवल आभार प्रदर्शन मात्र ही है, अपितु इससे हमें सतत कर्मरत रहने और राष्ट्र में भावनात्मक ऐक्य स्थापित करने की प्रेरणा भी प्राप्त होगी।

परम साधक तुलसीजी

श्री रिषभदास रांका
सम्पादक, जैन जगत्

बारह साल पहले मैं आचार्यश्री तुलसीजी से जयपुर में मिला था। तभी से परस्पर में आकर्षण और आत्मीयता बराबर बढ़ती रही है। यद्यपि पिछले कुछ वर्षों से इच्छा रहते हुए भी मैं जल्दी-जल्दी नहीं मिल पा रहा हूँ, फिर भी निकटता का सदा अनुभव होता रहता है और आज भी उस अनुभव का आनन्द पा रहा हूँ।

धवल समारोह उन पर आचार्य-पद का उत्तरदायित्व प्राप्त होकर पच्चीस वर्ष बीतने के निमित्त से मनाया जा रहा है, यही इसकी विशेषता है। व्यक्ति का जन्म कब हुआ और उसकी कितने साल की उम्र हुई, यह कोई महत्त्व की बात नहीं है। पर उसने अपने जीवन में जो कुछ वैशिष्ट्य प्राप्त किया, कोई विशेष कार्य किया हो, वही महत्त्वपूर्ण बात है।

इस जिम्मेदारी को सौंपते समय उनकी आयु बहुत बड़ी नहीं थी। उनके सम्प्रदाय में उनसे वयोवृद्ध दूसरे संत भी थे; परन्तु उनके गुरु कालूगणीजी ने योग्य चुनाव किया; यह तुलसीजी ने आचार्य-पद के उत्तरदायित्व को उत्तम प्रकार से निभाया; इससे सिद्ध हो गया।

कुछ आशंकाएं

वैसे किसी तीर्थंकर, अवतार, पैगम्बर, मसीहा ने जो उपदेश दिया हो उसकी समयानुसार व्याख्या करने का कार्य आचार्य का होता है। उसे तुलसीजी ने बहुत ही उत्तम प्रकार से किया, यह कहना ही होगा। कुछ लोग उन्हें प्राचीन परम्परा के उपासक मानते हैं और कुछ उस परम्परा में क्रान्ति करने वाले भी। पर हम कहते हैं कि वे दोनों भी जो कहते हैं, उसमें कुछ न कुछ सत्य जरूर है, पर पूर्ण सत्य नहीं है। तुलसीजी पुरानी परम्परा या परिपाटी चलाते हैं, यह ठीक है; पर शाश्वत सनातन धर्म को नये शब्दों में कहते हैं, यह भी असत्य नहीं है। कई लोगों को इसमें छल दिखाई देता है तो कईयों को दम्भ। उनका कहना है कि यह सब अपना सम्प्रदाय बढ़ाने के लिए है। लेकिन तुलसीजी छल या माया का आश्रय लेकर अपने सम्प्रदाय को बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हों, ऐसा हमें नहीं लगता। क्योंकि उनमें हमें इस समझ के दर्शन हुए हैं कि कुछ व्यक्तियों को तेरापंथी या जैन बनाने की अपेक्षा जैन धर्म की विशेषता का व्यापक प्रचार करना ही श्रेयस्कर है। उनमें इच्छा जरूर है कि अधिक लोग नीतिवान् चरित्रशील व सद्गुणी बनें। यदि व्यापक क्षेत्र में काम करना हो तो सम्प्रदाय-वृद्धि का मोह बाधक ही होता है।

यदि आज कोई किसी को अपने सम्प्रदाय में खींचने की कोशिश करता है तो हमें उस पर तरस आता है। लगता है कि वह कितना बेसमझ है और तत्त्वों के प्रचार की एवज में परम्परा से चली आई रूढ़ियों के पालन में धर्म-प्रचार मानता है। हमें उनमें ऐसी संकुचित दृष्टि के दर्शन नहीं हुए। इसलिए हम मानते हैं कि उनमें छल सम्भव नहीं है।

दंभ या प्रतिष्ठा-मोह के बारे में भी कभी-कभी चर्चा होती है। उनके प्रतिकूल विचार रखने वाले कहते हैं कि वे जैसा जो आदमी हो, वैसी बात करते हैं। मन में एक बात हो और दूसरा भाव प्रकट करना दंभ ही तो है। यदि इतने साल परिश्रम कर यही साधना की हो तो रत्न को चन्द रुपयों में बेचने जैसा है ही। जब साधना के मार्ग में दंभ से बढ़ कर कोई दूसरा बाधक दुर्गुण न हो, तब क्या तुलसीजी जैसा साधक—विकास मार्ग का प्रतीक—इसी दंभ में उलझ जायेगा, विश्वास नहीं

होता। हमने देखा है कि उनसे चर्चा करने के लिए आने वालों में कई बहुत उत्तेजित होकर ऐसी बातें भी कह बैठते हैं जो सहसा सभ्य और संस्कारी व्यक्ति के मुँह से नहीं निकल सकतीं, फिर भी वे गरम नहीं होते, उन्हें उत्तेजित होते हमने नहीं देखा। यह शान्ति साधना द्वारा प्राप्त है या दिखावा ? हमारी यह हिम्मत नहीं कि हम उसे दिखावा कहें।

रही प्रतिष्ठा या बड़प्पन की भूख की बात, सो इस विषय में कई अच्छे लोगों के मन में गलतफहमी है कि उनके शिष्य बड़े-बड़े लोगों को लाकर उनका इतना अधिक प्रचार क्यों करते हैं ? क्या यह बात आत्म-विकास में लगे हुए साधक के लिए उचित है ? इस प्रश्न का उत्तर देना आसान नहीं है। आज विज्ञापन का युग है। अच्छी बात भी बिना प्रचार के आगे नहीं बढ़ती। यदि अपनी अच्छी प्रवृत्तियों या आन्दोलन के प्रचार के हेतु यह सब किया जाता हो तो क्या उसे अयोग्य या त्याज्य माना जा सकता है ?

प्रतिष्ठा का मोह ऐसा है, जिसका त्याग करता हुआ दिखने वाला कई बार उसका त्याग उससे अधिक पाने की आशा से करता है। दूसरे पर आक्षेप करते समय हम अपना आत्म-निरीक्षण करें, तो पता लगेगा कि हमारी कहनी और करनी में कितना अन्तर है। हमें कई बार अपने-आपको समझने में कठिनाई होती है। लोकैषणा को त्यागने का प्रयत्न करने वाले ही जानते हैं कि ज्यों-ज्यों बाह्य त्याग का प्रयत्न होता है,त्यों-त्यों वह अन्तर में जड़ जमाता है। यह बात अपना मानसिक विश्लेषण,अपनी वृत्तियों का निरीक्षण-परीक्षण करने वाला ही जानता है। कई बार त्याग किये हुए ऐसा दिखाई देने वाले के हृदय में भी उसकी कामना होती है तो कई बार बाहर से दी हुई प्रतिष्ठा का भी जिसके हृदय पर असर न हुआ हो ऐसे साधक भी पाये जाते हैं। इसलिए तुलसीजी के हृदय में प्रतिष्ठा का मोह है या धर्म-प्रसार की चाह, इसका निर्णय हम जैसों को करना कठिन है, इसलिए इस बात को उन्हीं पर छोड़ दें, यही श्रेष्ठ है।

कर्मठ जीवन

उन्होंने जो धवल समारोह के निमित्त से वक्तव्य दिया, वह हमने देखा। वह भाषा दिखावे की नहीं लगती, हृदय के उद्‌गार लगते हैं। हमारी जब-जब बात हुई, हमने जो चर्चा की, वह आन्तरिक और साधना से सम्बन्धित ही रही है। हाँ, कुछ समाज से सम्बन्धित होने से सामाजिक चर्चा भी हुई, पर अधिकांश से साधना सम्बन्धित होती रही है। इसलिए हम उन्हें 'परम साधक' मानते आये हैं और कोई अब तक ऐसा प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ कि हमें अपने मत को बदलना पड़ा हो। हमें उनमें कई गुणों के दर्शन हुए। ऐसी संगठन-चातुरी, गुणग्राहकता, जिज्ञासावृत्ति, परिश्रमशीलता, अध्यवसाय व शान्ति बहुत कम लोगों में पाई। हमने प्रत्यक्ष में उन्हें बारह-बारह, चौदह-चौदह घण्टे परिश्रम करते देखा है। कई बार हमने उनके भक्तों से कहा कि इस प्रकार वे उन पर अत्याचार न करें। वे सबेरे चार बजे उठ कर रात को ग्यारह बजे तक बराबर काम करते हैं, लोगों से चर्चा या वार्ता होती रहती है। हमने देखा न तो दिन को वे आराम करते हैं और न अपने साधुओं को करने देते हैं। ध्यान, चिन्तन, अध्ययन, व्याख्यान, चर्चा चलती ही रहती है। फिर जैन साधुओं की चर्या ऐसी होती है जिसमें स्वावलम्बन ही अधिक रहता है। सभी धार्मिक क्रियाएं चलती रहती हैं। इतने परिश्रम के बाद भी सन्तुलन न खोना कोई आसान बात नहीं है। कोई उनके साथ दो-चार रोज रहकर देखे तभी पता चल सकेगा कि वे कितने परिश्रमी हैं और यह बिना साधना के संभव नहीं है।

उन्होंने अपने साधुओं तथा साध्वियों को पठन-पाठन, अध्ययन तथा लेखन में निपुण बनाने मे काफी परिश्रम और प्रयत्न किये। उनके साधु केवल अपने सम्प्रदाय या धर्म ग्रन्थो या तत्त्वों से ही परिचित नहीं, पर सभी धर्मों और वादों से परिचित हैं। उन्होंने कई अच्छे व्याख्याता, लेखक, कवि, कलाकार तथा विद्वानों का निर्माण किया है। केवल साधुओं को ही नहीं, श्रावक तथा श्राविकाओं को भी प्रेरणा देकर आगे बढ़ाया है।

आचार्य का कार्य

राजस्थान और राजस्थान में भी थली जैसा प्रदेश, ऐसा समझा जाता है, जहाँ पुराने रीति-रिवाज और रूढ़ियों का ही प्राबल्य है। उस राजस्थान में पर्दा तथा सामाजिक रीति-रिवाजों को बदलने की प्रेरणा देना सामान्य बात नहीं है, पर

अत्यन्त कठिन कार्य है। उन्होंने पर्दा प्रथा तथा सामाजिक कुरीतियों के प्रति समाज को सजग कर नया मोड़ दिया है। जैसे प्रगतिशील युवकों को लगता है कि वही पुरानी दवाई नई बोतल में भरकर दे रहे हैं, उसी तरह परम्परावादियोंको लगता है कि साधुओं का यह क्षेत्र नहीं, यह तो श्रावकों का—गृहस्थियों का काम है। उनका क्षेत्र तो धार्मिक है। वे इस झंझट में क्यों पड़ते हैं। पर प्रगतिशील तथा परम्परावादियों के सिवा एक वर्ग ऐसे लोगों का भी है जो प्राचीन संस्कृति में विश्वास या निष्ठा रखते हुए भी अच्छी बात जहाँ से भी प्राप्त हो, लेना या ग्रहण करना श्रेयस्कर मानता है। उन्हें ऐसा लगता है कि तुलसीजी आचार्य हैं और आचार्य का कार्य है, धर्म की समयोपयोगी व्याख्या करने का, सो वे कर रहे हैं।

उन्होंने केवल जैनियों के लिए ही किया है, सो बात नहीं है। वे राष्ट्रीय दृष्टि से ही नहीं, अपितु मानव-समाज की दृष्टि से ही कार्य कर रहे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन उसीका परिणाम है। अणुव्रत-आन्दोलन मानव-समाज जिन जीवन-मूल्यों को भुला रहा था, उसे स्थापित करता है। मानव का प्रारम्भ से सुख-प्राप्ति का प्रयत्न रहा है। ऋषि-मुनि, संत-साधक और मार्ग-द्रष्टा तीर्थंकर यह बताते आये हैं कि मनुष्य सद्गुणों को अपनाने से ही सुखी हो सकता है। सुख के भौतिक या बाह्य साधनों से वह सुखी होने का प्रयत्न करता तो है, लेकिन वे उसे सुखी नहीं बना सकते। सुखी बना जा सकता है, सद्गुणों को अपनाने से। अणुव्रत उसे सच्ची दृष्टि देता है। केवल किसी बात की जानकारी होने मात्र से काम नहीं चलता, पर जो ठीक बात हो, उसे जीवन में उतारने का प्रयत्न हो, विचारों को आचार की जोड़ मिले, तभी उसका उचित फल प्राप्त होता है। अणुव्रत केवल जीवन की सही दिशा नहीं बताता, पर सही दिशा में प्रयाण करने का संकल्प करवाता है और प्रयत्नपूर्वक प्रयाण करवाता है।

शुभ की ओर प्रयाण

भारत में सदा से जीवन-ध्येय बहुत उच्च रहा है, पर ध्येय उच्च रहने पर यदि उसका आचार संभव न रहे तो वह ध्येय जीवनोपयोगी न रह कर केवल वन्दनीय रह जाता है। पर अणुव्रत केवल उच्च ध्येय, जिसका पालन न हो सके, ऐसा करने को नहीं कहता। पर वह कहता है, उसकी जितनी पात्रता हो, जो जितना ग्रहण कर सके, उतना करे। प्रारम्भ भले ही अणु से हो, पर जो निश्चिय किया जाये, उसके पालन में दृढ़ता होनी चाहिए। इस दृष्टि से अणुव्रत शुभ की ओर प्रयाण कर दृढ़तापूर्वक उठाया हुआ पहला कदम है।

मनोवैज्ञानिक जानते हैं कि संकल्प पूरा करने पर आत्म-विश्वास बढ़ता है और विकास की गति में तेजी आती है। इसलिए अणुव्रत भले ही छोटा दिखाई पड़े, लेकिन जीवन-साधना के मार्ग में महत्त्वपूर्ण कदम है। इस दृष्टि से आचार्यश्री तुलसीजी ने अणव्रत को नये रूप में समाज के सन्मुख रख कर उसके प्रचार में अपनी तथा अपने शिष्य-समुदाय और अनु-यायियों की शक्ति लगाई। यह आज के जीवन के सही मूल्य भुलाये जाने वाले जमाने में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है। यदि इस आन्दोलन पर वे सारी शक्ति केन्द्रित कर इसे सफल कर सके तो केवल अपने धर्म या सम्प्रदाय का ही नहीं, अपितु मानव-जाति का बहुत बड़ा कल्याण कर सकते हैं। किन्तु हमने देखा है कि आन्दोलन को जन्म देने वाले या शुरू करने वाले जब विभिन्न प्रवृत्तियों में शक्ति को बाँट देते हैं, तब वह कार्य चलता हुआ दिखाई देने पर भी वह प्राणरहित, परम्परा से चलने वाली रूढ़ियों की तरह जड़ बन जाता है।

भारत का महान् अभियान

यदि अणुव्रत-आन्दोलन को सजीव तथा सफल बनाने के उद्देश्य से आचार्यश्री अपना सारा ध्यान उस पर केन्द्रित कर पूरी शक्ति से इस कार्य को करेंगे तो वह भारत का महान् अभियान होगा, जो अशान्त संसार को शान्त करने का महान् सामर्थ्य रखता है।

हमारा तुलसीजी की शक्ति में सम्पूर्ण विश्वास है। वे इस महान् अभियान को गतिशील बनाने का प्रयास करें, जिससे अशान्त मानव शान्ति की ओर प्रस्थान कर सके।

हम भगवान् से प्रार्थना करते है कि आचार्य तुलसीजी को दीर्घायु तथा स्वास्थ्य प्रदान कर, ऐसी शक्ति दे, जिससे उनके द्वारा अपने विकास के साथ-साथ समाज का अधिकाधिक कल्याण हो।

जन-जन के प्रिय

मुनिश्री मांगीलालजी 'मधुकर'

आचार्य तुलसी की यात्रा का इतिहास अणुव्रत-आन्दोलन के आरम्भ से होता है। यों तो आचार्यश्री की पद-यात्रा जीवन-भर ही चलती है, परन्तु यह यात्रा उससे कुछ भिन्न थी। पूर्ववर्ती यात्रा में स्व-साधन का ही विशेष स्थान था, पर इसमें 'स्व' के आगे 'पर' और जुड़ गया। इसलिए जनता की दृष्टि में इसका विशेष महत्त्व हो गया।

इसके पीछे बारह वर्ष का लम्बा इतिहास है। प्रस्तुत निबन्ध में कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख करना चाहूँगा, जिनमे आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ के ही नहीं, बल्कि जन-जन के आराध्य और पूज्य बन गये है।

आचार्यश्री यात्रा प्रारम्भ करने के बाद राजस्थान, बम्बई, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल तथा पंजाब आदि देश के अनेक भागों में करीब पन्द्रह-सोलह हजार मील घूम चुके हैं। प्रतिवर्ष भारत के ही नहीं, अपितु विदेशों के भी अनेक पर्यटक यहाँ पर आते हैं। उनके सामने पथवर्ती हरे-भरे लहलहाते खेत, कलकल वाहिनी स्रोतस्विनियाँ, गगनचुम्बी पर्वत श्रेणियाँ, प्राकृतिक दृश्यों की बहारें और अनेक दर्शनीय स्थलों की मनोरमता का अनिर्वचनीय आनन्द लूटने का ही प्रमुख ध्येय होता है, परन्तु आचार्यश्री के लिए यह सब गौण है। वे इन सब बाहरी दृश्यों की अपेक्षा मानव के अन्तःस्थल में छिपे सौन्दर्य-दर्शन को मुख्य स्थान देते हैं। दस मील चले या पन्द्रह मील, स्थान पर पहुँचते ही बिना विश्राम स्थानीय लोगों की समस्याओं का अध्ययन कर, उचित समाधान देना उन्हें विशेष रुचिकर है। वे थोड़े समय में अधिक कार्य करना चाहते हैं, अतः कहीं एक दिन, कहीं दो दिन और कहीं-कहीं तो एक ही दिन में तीन-चार और पाँच-पाँच स्थानों पर पहुँच जाते हैं। लोग अधिक रहने के लिए आग्रह करते हैं; पर उनका उत्तर होता है—जो कुछ करना है, वह इतने समय में ही कर लो। दर्शक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता, जब वे अपनी प्रभावोत्पादक शैली मे अनेक विकट समस्याओं का बहुत थोड़े समय में ही समाधान दे देते हैं।

मामला एक दिन में सुलझ गया

आचार्यश्री 'सेमड़' (मेवाड़) गाँव में पधारे। उन्होंने सुना उस छोटे-से गाँव में अनेक विग्रह हैं। वे भी दस-दस और पन्द्रह वर्षों से चल रहे हैं। भाई-भाई के साथ मन-मुटाव, चाचा-भतीजे, बाप-बेटे, श्वसुर-जमाई और सास-बहुओं में झगड़ा है। वे इस कलह को दूर करने के लिए कटिबद्ध हो गये। उस दिन आचार्यश्री के प्रतिश्याय का प्रकोप था। कण्ठ भी कुछ भारी थे, फिर भी उसकी परवाह किये बिना उस कार्य में जुट गये। एक-एक पक्ष की राम-कहानी सुनी, कोमल-कठोर शिक्षाएं दीं और भविष्य में क्या करना है, यह दिग्दर्शन किया। वादी-प्रतिवादियों का हृदय बदला। आचार्यप्रवर ने दोनों पक्षों को सोचने के लिए अवसर दिया। सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद पुनः दोनों पक्ष उपस्थित हुए और आचार्यश्री की साक्षी से परस्पर क्षमायाचना करने लगे। कल तक जो ३६ के अंक की तरह पूर्व-पश्चिम थे और जिनकी आँखें ही नही मिलती थीं, वे आज गले मिल रहे थे। अनेक पंच व न्यायाधीश जिन मामलों को वर्षों तक नहीं सुलझा सके थे, वे एक दिन में सुलझ गये। क्या वे परिवार इस उपकार को जीवन-भर भूल सकेंगे ?

यह धर्म स्थान है

आचार्यश्री के व्यक्तित्व में एक सहज आकर्षण है। वे जहाँ-कहीं भी चले जायें सहस्रों व्यक्तियों की उपस्थिति

सहजतया हो जाती है। गाँव चाहे छोटा हो या बड़ा, प्रवचन के समय स्थान पूर्ण न भरे, ऐसे अवसर कम ही आते हैं। आचार्यश्री के शब्दों में "कहाँ से आ जाते हैं इतने लोग। न धूप की परवाह है और न वर्षा की। पता लगते ही पन्द्रह-पन्द्रह मील से पैदल चले आते हैं। कितनी श्रद्धा है इन ग्रामीणों में। मैं बहुत सुनता हूँ कि आजकल लोगों में धार्मिक भावना नहीं रही, पर यह बात मैं कैसे मान लूँ कि यह बात सही है।"

एक समय था जब कुछ पुराणपन्थियों ने कहा—स्त्री और शूद्र को धर्म-श्रवण का अधिकार नहीं। आचार्यश्री की दृष्टि में यह गलत है। धर्म पर किसी व्यक्ति या जाति विशेष की मुहर छाप नहीं है। वह तो जाति-पाँति और वर्ग के भेदभावों से ऊपर उठा हुआ है। क्या वृक्षों की छाया, चन्द्रमा की चांदनी और सरिता का शीतल जल सामान्य रूप मे सभी के लिए उपयोगी नहीं होता? उसी तरह धर्म भी किसी कठघरे में क्यों बँधा रहे। जितना अधिकार एक महाजन को है, उतना ही अधिकार एक हरिजन को भी है।

अभी-अभी मारवाड़ यात्रा के दौरान में आचार्यश्री 'सणया' नामक गाँव में थे। प्रवचन स्थल पर स्थानीय लोगों ने एक जाजम बिछाई। आचार्यप्रवर परीक्षार्थी साधु-साध्वियों को अध्ययन करवा रहे थे, अतः एक साधु ने प्रवचन आरम्भ किया। सभी वर्गों के लोग आ-आकर जमने लगे। एक मेघवाल भाई भी आया और उस जाजम पर बैठ गया। तथाकथित धार्मिकों को यह कैसे सह्य होता। वे उठे, आँखें लाल करते हुए उस भाई के पास पहुँचे और बुरा-भला कहते हुए वहाँ से उठने के लिए उसे बाध्य करने लगे। इस हरकत से उस भाई की आँखों में आँसू आ गये। आचार्यप्रवर सामने से सारा दृश्य देख रहे थे। उनका कोमल हृदय पसीज उठा। अध्यापन में मन नहीं लगा। तत्काल प्रवचन स्थल पर पहुँचे और कहने लगे—भाइयो, यह क्या है? एक व्यक्ति को अस्पृश्य मान कर उसका अपमान करना कहाँ तक उचित है। धर्म-स्थान में इस प्रकार का अनुचित बर्ताव, यह तो साधुओं का अपमान है। यह कोई आपकी साज-सज्जा देखने नहीं आया है अपितु संतों का प्रवचन और आध्यात्मिक बातें सुनने के लिए आया है। उसे नहीं सुनने देना कितना बड़ा अपराध है!

एक स्थानीय पंच बोला—पर यह जाजम तो आगन्तुक भाइयों के लिए बिछाई थी। यह बैठा ही क्यों। इसे क्या अधिकार था?

आचार्यश्री—किसने कहा तुम इसे बिछाओ। यह आपकी है, आप चाहे जिसे बिठाएं, किन्तु सार्वजनिक स्थान पर बिछा कर किसी व्यक्ति विशेष को जातीयता के आधार पर वंचित करना, शान्ति से बैठे हुए को अनुचित तरीके से उठाना, बिल्कुल गलत है। यहाँ आपके पंचायत भी तो होगी? उसमें जितने पंच हैं, क्या सारे महाजन ही हैं?

पंच—नहीं, एक हरिजन भी है।

आचार्यश्री—तो क्या पंचायत के समय उसके बैठने की अलग व्यवस्था होती है?

पंच—नहीं महाराज! वहाँ तो सभी साथ में ही बैठते हैं।

आचार्यश्री—तो फिर इस बेचारे ने आपका क्या बिगाड़ा है। इसके साथ इतना भेदभाव क्यों? याद रखो, यह धर्म-स्थान है।

इस प्रकार आचार्यश्री ने अनेक तर्क-वितर्कों से अस्पृश्यता की ओट में होने वाली घृणा की भावना को दूर करने पर बल दिया। प्रवचन समाप्ति पर घटना से सम्बन्धित व्यक्ति आये और इस बात के लिए माफी माँगने लगे। वह मेघ-वाल भाई तो गद्‌गद् हो रहा था।

मैं निहाल हो गया

बहुधा सुना जाता है कि आजकल लोगों पर धार्मिक उपदेशों का असर नहीं होता। ठीक है, हो भी कैसे जब तक उपदेश के पीछे वक्ता का जीवन न बोले। वक्ता में अगर आस्था हो तो श्रोता का जीवन तो पल भर में बदल जाये। क्या दयाराम की घटना इस तथ्य को अभिव्यक्त नहीं करती। दयाराम की उम्र साठ वर्ष से ऊपर होगी। पर अब भी पति-पत्नी मिलकर हाथों से एक कुआँ खोदने में व्यस्त हैं। लम्बा कद, गठीला बदन, बड़ी-बड़ी डरावनी आँखें व बिखरे हुए बाल देख कर हरेक व्यक्ति तो उसे बतलाने का भी सम्भवतः साहस न करे। वह अपने जीवन में अनेक लोगों की तिजोरियाँ

उड़ा चुका था। यही उसका प्रमुख धन्धा है।

अपने पार्श्ववर्ती गाँव में आचार्यश्री का शुभागमन सुन कर दर्शनों की उत्कण्ठा जगी तो चल पड़ा। उपदेश सुना, अच्छा लगा। रात्रिभर चिन्तन चला। सबेरे आचार्यश्री उसी की ढाणी के पास से गुजरे। पैर पकड़ लिये और कहने लगा—थोड़ा-सा दूध तो लेना ही पड़ेगा। आप मेरे गुरु हैं। मैं आपकी साक्षी से आज प्रतिज्ञा करता हूँ कि अब से चोरी नहीं करूँगा, चाहे सौ मन सोना भी क्यों न हो, मेरे लिए हराम है। आचार्यप्रवर ने नियम दिलाते हुए दूध लिया तो वह हर्ष विह्वल हो गया। उसके मुँह से निकले शब्द 'मैं निहाल हो गया' अब भी मेरे कानों में गुनगुना रहे हैं।

बाबा तो बोलता-देखता है

आचार्यश्री'पदराडे'में थे। इधर-उधर की बस्तियों के भीलों को पता लगा कि एक बड़े बाबा आये हैं, तो करीब पचास भाई इकट्ठे होकर आये और बाहर से ही आचार्यश्री को देखने लगे। वे कुछ सकुचा रहे थे। सम्भवतः सोच रहे थे कि बाबा हमारे से बात करे या न करे। आचार्यश्री ने उन्हें देखा तो उनका परिचय पूछने लगे। आचार्यश्री की मृदु-वाणी से वे इतने मुग्ध बने कि वहीं पर जम गये और कहने लगे—बाबा, हमें भी कुछ रास्ता बतलाइये।

आचार्यश्री ने बुराइयों के बारे में कहा, जो उनके जीवन में व्याप्त थीं तो एक बूढ़ा भील खड़ा होकर कहने लगा—'वाह! वाह! बाबा तो बोलता-देखता है।' तत्रस्थ श्रोताओं को आश्चर्य हुआ, जब उन भीलों ने परस्पर विचार-विमर्श कर वर्षों से पलने वाली बुराइयों को तिलांजलि देते हुए शिकार, शराब और महीने में एक दिन से अधिक मांस खाने का त्याग कर दिया और यह विश्वास दिलाया कि हम हमारी जाति के अन्य व्यक्तियों को भी इन उपदेशों पर चलने के लिए प्रेरित करेंगे।

साहित्य और सेठ

बच्चों में अच्छे संस्कार आएं, यह सभी को काम्य है, पर वे कैसे आएं, यह कोई नहीं सोचता। वे क्या करते हैं, कहाँ रहते हैं, क्या पढते हैं, इस पर ध्यान दिये बिना इस स्थिति में परिवर्तन आ जाये, यह कम सम्भव है। इस कार्य को सम्पादित करने में अभिभावकों का आदेश-निर्देश तो मुख्य है ही, सत्साहित्य भी कम महत्त्व नहीं रखता। पर व्यापारी समाज का साहित्य से क्या वास्ता! इन वर्षों में आचार्यश्री की वरद प्रेरणा पाकर जहाँ अनेक बालक व युवक इस ओर रुचि लेने लगे हैं, वहाँ अनेक प्रौढ़ भी इस ओर आकर्षित हुए हैं।

आचार्यप्रवर 'भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर' पढ़ा रहे थे। एक भरे-पूरे परिवार वाले सेठजी आये। वे अच्छे तत्त्वज्ञ और समझदार श्रावक हैं। पुस्तक को देख कर पूछने लगे—कौनसी पुस्तक है?

आचार्यश्री—'भिक्षु ग्रन्थ रत्नाकर'। स्वामीजी का समग्र साहित्य ऐसे तीन भागों में द्विशताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुआ है। पढ़ा है या नहीं? घर पर तो होगा?

सेठ—नहीं, गुरुदेव। मैं पोते—स्वयं तो पढ़ ही नहीं सकता, क्या करूँ मँगा कर!

आचार्यश्री ने पोते शब्द को दूसरे अर्थ में प्रयुक्त करते हुए कहा—पोते, स्वयं नहीं पढ़ सकते तो क्या हुआ पोते(पौत्र) तो पढ़ सकते है?पर कौन ध्यान दें। हजारों रुपये के गहने व अन्य आडम्बर की चीजें मँगा देंगे, पर साहित्य नहीं। घर पर रहने से कहीं कोई पढ़ ले तो? कहते हैं, बच्चों में संस्कार नहीं पड़ते। कहाँ से आये संस्कार? उन्हें अपने घर के साहित्य का ही पता नहीं है।

सेठ—गुरुदेव! आप ठीक फरमाते हैं। ऐसी ही बात है। घर पर रहने से तो कोई पढ़ेगा ही। इस छोटी-सी घटना से उसमें साहित्य के प्रति काफी रुचि जागृत हो गई। अब वे बहुधा वाचन के समय अनुपस्थित नहीं रहते और साहित्य भी अपने पास रखने लगे हैं।

अपना अहोभाग्य समझूँगा

महता जी अच्छे पढ़े-लिखे और प्रत्येक बात को तर्क की कसौटी पर कस कर मानने वाले व्यक्ति हैं। वे अणुव्रत-

आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री के सम्पर्क में आये, एक बार नहीं अनेक बार। सूक्ष्मता से आचार-विचारों का अध्ययन किया और अणुव्रती बन गये। उन पर अणुव्रतों की गहरी छाप है। ग्राहक को आश्चर्य हुए बिना नहीं रहता, जब वह उनकी दुकान पर पैर धरते ही निम्नोक्त हिदायतें पढ़ता है :

१. भाव सबके लिए एक है जो कि प्राइस कार्ड पर लिखे हुए हैं।

२. भाव में फर्क आने पर तीन दिन के दरम्यान कपड़ा वापस लेकर पूरे दाम लौटाने का नियम है।

३. खरीद कर जाने के बाद भी मित्र-गण नापसन्द कर दे तो कपड़ा वापस लेकर दाम लौटाने की सुविधा है।

ऐसा केवल लिखा ही नहीं गया है, इसे अक्षरशः क्रियान्वित किया जाता है। यही कारण है कि उनकी दुकान की प्रतिष्ठा प्रतिदिन वृद्धिगत है। इस बार उन्होंने आचार्यश्री की पद-यात्रा में साथ रहने का कार्यक्रम बनाया। वे केवल १५ दिवस साथ में रहे, पर इस दौरान में आचार्यश्री द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों का खूब सूक्ष्मता से अध्ययन किया। अणुव्रतों का प्रचार तो उनका मुख्य ध्येय ही बन गया है। वे जाने लगे तो उनका जी भर आया, पर जाना जरूरी था, अतः विवश थे। दो दिन बाद अपनी इस यात्रा की चर्चा करते हुए अपने एक मित्र को पत्र लिखा उसमें उनके मानसिक भावों की प्रतिध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है। कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—मैं यह अनुभव कर रहा हूँ कि सारी जिन्दगी में सिर्फ ये १५ दिन ही काम के रहे हैं, बाकी सब निकम्मे। जो कृपा गुरुदेव की मुझ पर इन दिनों रही, उसको जन्म-जन्मान्तर भी भूल नहीं सकता। मेरी तरफ से गुरुदेव के चरणों में प्रतिज्ञा पत्र अर्ज कर देना कि मैं तेरापंथ तत्त्व, अणुव्रत-आन्दोलन, नया मोड़ व भविष्य में आपके किसी भी आदेश पर अपना सब कुछ अर्पण करने में अपने आपका अहोभाग्य समझूँगा।

आपका

चन्दनमल महता

लो बाबा इसे ही स्वीकार करो

आचार्यप्रवर जहाँ कहीं भी जायें, अपने कार्य को गौण नहीं करते। उनका यह ध्येय रहता है कि कोई भी व्यक्ति उनके पास न तो खाली हाथ आये और न खाली हाथ जाये। इसका मतलब यह नहीं कि उन्हें कोई अर्थ चाहिए। उसे तो वे छूते भी नहीं। जब उन्होंने मेवाड़ यात्रा के दौरान में आदिवासी क्षेत्र में प्रवेश किया तो बहुत से गरासियों (भीलों) ने उनका स्वागत किया। आचार्यश्री ने मन्द-मन्द मुस्कराहते हुए पूछा—अरे भाई ! खाली हाथ ही आये हो या भेंट के लिए भी कुछ लाये हो ?

सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे। एक भाई कुछ पैसे लेकर आगे आया और कहने लगा—बाबा मेरे पास तो इतने ही पैसे हैं। आप स्वीकार कीजिये।

स्मितवदन आचार्यश्री ने कहा—बस इतने ही ? इस छोटी-सी भेंट से क्या होगा ? मैं तो ऐसी भेंट चाहता हूँ जो तुम्हें सबसे अधिक प्रिय हो।

वह बेचारा असमंजस में पड़ गया। आखिर जब आचार्यश्री ने सारा भेद खोला तो वह प्रसन्न होकर बोला—बाबा ! और तो कोई लत नहीं है एक शराब जरूर पीता हूँ।

आचार्यश्री—कितनी पीते हो।

व्यक्ति—बाबा ! कितनी का मत पूछिये, वर्ष में पाँचसौ, सातसौ, हजार का कुछ भी पता नहीं है।

आचार्यश्री—भाई, शराब तो बहुत खराब है, अनेक बुराइयों की जड़ है। इसको तुम इतना प्रश्रय क्यों देते हो? जिस अर्थ को प्राप्त करने के लिए दिन-भर कड़ी मेहनत कर खून-पसीना एक करते हो, उसे यों बरबाद करो, क्या यह उचित है ? क्या मैं तुमसे यह भेंट माँग लूँ ?

कुछ देर तो वह सोचता रहा। आखिर पौरुष जागा, आगे आया और बोला—लो बाबा ! इसे ही स्वीकार करो। मैं आपके चरण छूकर कहता हूँ कि अब इसकी ओर आँख उठा कर भी नहीं देखूँगा।

मैं तो मनुष्य हूँ

आचार्यश्री के जीवन में **जहा पुण्णस्स कत्थई, तहा तुच्छस्स कत्थई, जहा तुच्छस्स कत्थई, तहा पुण्णस्स कत्थई** यह महावीर की वाणी पूर्ण रूप से चरितार्थ होती है। वे किसी व्यक्ति को, वह छोटा या हीन है, इस दृष्टि से नहीं आँकते, किन्तु उसकी मनुष्यता का अंकन करते हैं। उनके सामने अन्य भेद अतात्त्विक हैं। वे मानवता को विभक्त देखना नहीं चाहते।

एक व्यक्ति ने प्रश्न किया—आप हिन्दू है या मुसलमान।

आचार्यश्री—भाई न तो मैं हिन्दू हूँ और न मुसलमान। क्योंकि अगर मुझे हिन्दू कहें तो मेरे सिर पर चोटी नही है और अगर मुसलमान कहें तो दाढ़ी नहीं है। अतः मैं तो मनुष्य हूँ और मनुष्यता का ही विकास चाहता हूँ।

जन-प्रियता के तीन सूत्र

व्यक्ति साधना का फल पाना चाहता है, क्योंकि वह उसे प्रिय है पर साधना के क्षेत्र में उतरते हुए सकुचाता है, क्योंकि उसमें कुछ बलिदान करना पड़ता है, वह उसे अभिप्रेत नहीं है। आचार्यश्री का अटल विश्वास है कि हमें कुछ कार्य करना है तो बाधाओं को पार करते हुए भी चलना होगा। याद रहे हीरे में तभी चमक आती है, जब वह खरसाण पर चढ़ता है। अतः आज की परिस्थितियों को देखते हुए आचारात्मक धर्म के साथ-साथ विचारात्मक धर्म को भी विकसित किया जाना चाहिए। हमारा है इसलिए सत्य है, यह आग्रह व्यक्ति की बुद्धि को कुंठित कर देता है। उसमें नये-नये अन्वेषणों की आशा आकाश कुसुम ही सिद्ध होगी। जो व्यक्ति चिन्तन के द्वार खुले रख कर सत्य का अन्वेषण करता है, उसके सामने कठिनाइयाँ टिक नहीं सकतीं, वे स्वयं कपूर हो जाती हैं। आचार्यश्री इसी के मूर्त रूप हैं। अगर संक्षेप में कहा जाये तो आचार्यश्री की जन-प्रियता के तीन सूत्र हैं :

१. आचार व विचारों में उच्चता।

२. अनाग्रह बुद्धि।

३. दूसरों के विचारों को सहने की क्षमता।

इस वर्ष उन्हें आचार्य पद प्राप्त किये पूरे २५ वर्ष सम्पन्न हो रहे हैं। इस बीच में उन्होंने सहस्रों व्यक्तियों का नेतृत्व किया है, लाखों व्यक्तियों को मार्ग-दर्शन दिया है व करोड़ों व्यक्तियों को अपने विचारों से लाभान्वित किया है। आज भारत में ही नहीं, विदेशी व्यक्तियों की जबान पर भी उनका नाम है। जनता के लिए उनके चरण-चिह्न मार्ग-दर्शन का कार्य कर रहे हैं, इसलिए वे आज जन-जन के प्रिय बन गये हैं।

अनुशासक, साहित्यकार व आन्दोलन-संचालक

श्री माईदयाल जैन, बी० ए० (आनर्स), बी० टी०

इस युग को ज्ञान-विज्ञान का युग कहते है और आज के साधारण से शिक्षित स्त्री-पुरुष का यह दावा है कि वह सु-सूचित (Well-informed) भी है, पर वास्तविकता इसके विपरीत ही है। इस बात का मुझे तब पता लगा जबकि अप्रैल सन् १९५० में आचार्यश्री तुलसी अपनी शिष्य-मण्डली सहित दिल्ली पधारे और मैंने उनके आने की बात जैन जनता से सुनी। वे बातें विपक्षीय आलोचना से पूर्ण थीं। पर मैं मानूँ कि जैन-समाज की प्रवृत्तियों में तीस वर्ष तक भाग लेने पर भी मैंने श्वेताम्बर तेरापंथ या आचार्यश्री तुलसी का नाम नहीं सुना था। उनके सम्बन्ध में कुछ ज्ञान न था। इस अज्ञान से मुझे दुःख ही हुआ।

और यदि मैं यहाँ यह कह दूं कि जैन-समाज के भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय वालों में आज भी इतनी विलगता है कि वे एक-दूसरे के बारे में बहुत कम जानते हैं, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। हमारे ज्ञान की यही स्थिति दूसरे धर्मों के सम्बन्ध में है। यह है हमारे ज्ञान की सीमा! इस स्थिति को बदलने के लिए परस्पर अधिक मेल-जोल बढ़ाना होगा।

और मैं ठहरा उग्र सुधारक, बुद्धिवादी तथा लेखक। पर श्रद्धा, धर्म-प्रेम तथा जिज्ञासा की मुझमें न तब कमी थी, न अब है। इसलिए मैं उनके भाषण में गया। पास ही बैठा—बिल्कुल अनजान-सा, अज्ञात-सा। उनके भाषण की ओर तो मेरा ध्यान था ही, पर मेरी आँखें—पैनी आँखें—उनके व्यक्तित्व तथा उनके हृदय को जाँचने-पड़तालने की कोशिश कर रही थीं।

उनके तेजस्वी चेहरे, सुगठित गौर वदन, मँझले कद और आकर्षक चुम्बकीय व्यक्तित्व और उनके विद्वत्तापूर्ण सन्तुलित तथा संयत भाषण की मेरे मन पर अच्छी छाप पड़ी। मैं निराश नहीं हुआ, बल्कि उनकी तरफ खिंचा और उनसे फिर मिलने की तीव्र अभिलाषा लेकर घर लौटा।

यह थी मेरी उनसे पहली भेंट—साक्षात्, पर मौन; या यों कहिए कि यह था उनका प्रथम दर्शन।

और तब से आज तक तो मुझे उनसे दिल्ली, हिसार, पानीपत तथा सोनीपत में कई बार मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उनसे बातें हुई हैं, उन्हें पास से देखा भी है। उनके कई शिष्य-साधुओं से मेरा व्यक्तिगत गहरा परिचय है और उनका तथा उनके योग्य विद्वान् मुनियों द्वारा रचित बहुत-सा साहित्य पढ़ा है। उनके द्वारा संचालित अणुव्रत-आन्दोलन को सब रूपों में मैंने देखा है, उसकी सराहना भी सुनी है और परोक्ष में उस आन्दोलन की आलोचना, जैन-अजैन दोनों से सुनी है। जैसे राष्ट्रपति आदि की आचार-सीमाएं हैं, वैसे जैन साधु तथा पट्टधर आचार्य के पद के अनुसार उन्हें कुछ आचार-मर्यादाएं निभानी होती हैं और उन सीमाओं में रह कर वे प्रशंसनीय काम कर रहे है। इसलिए उनके प्रति मेरी श्रद्धा बढ़ी है। उनके महत्त्व का मैं कायल हुआ हूँ और मैं उनको जैन-समाज और देश की गौरवपूर्ण, महान् विभूति मानता हूँ।

मैं उनके जीनव को इन तीन पहलुओं से देखता हूँ—१. जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के पट्टधर आचार्य, २. कला-प्रेमी तथा साहित्य-सेवी और ३. अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक तथा संचालक। किसी महात्मा के व्यक्तित्व को अलग बाँटना कठिन है; क्योंकि वह तो एक ही है, पर विचार करने के लिए इस पद्धति में आसानी रहती है।

आचार्यश्री तुलसी ग्यारह वर्ष की बाल्यावस्था में दीक्षा लेकर जैन साधु हुए और ग्यारह वर्ष तपस्या, साधु जीवन तथा कठोर प्रशिक्षण के बाद और अपनी योग्यता पर अपने गुरु—आचार्य के द्वारा बाईस वर्ष की आयु में (वि०-

सं० १९९३) में आचार्य चुने गए और तब से अब तक, पच्चीस वर्षों में, अपने इस पद के उत्तरदायित्व तथा कर्तव्यों को बड़ी योग्यता से पूरा कर रहे हैं। इनके साधु तथा साध्वी शिष्य-मण्डल की संख्या सात सौ के लगभग है और अनुयायी श्रावक-श्राविकाओं की संख्या भी बड़ी है। तमाम साधु-साध्वियों के अनुशासन और समस्त तेरापंथ की धार्मिक प्रवृत्तियों का संचालन आप करते हैं। आज जबकि समस्त देश में राजनैतिक दलों, मंत्री-मण्डलों, दफ्तरों और कालेजों तथा विश्व-विद्यालयों में अनुशासन हीनता या अनुशासन कम होने की बात देख-सुन रहे हैं, तब क्या यह बात कम आश्चर्य की है कि उनके शासन के विरुद्ध कहीं कोई आवाज़ सुनाई नहीं देती। इस पद को जैन-समाज में इतनी सुन्दरता से चलाने का श्रेय जैन तेरापंथी समाज को ही है। ऐसी व्यवस्था जैन-समाज के दूसरे सम्प्रदायों में है ही नहीं, भारत के दूसरे सम्प्रायों में भी नहीं है। साधुत्व के साथ-साथ प्रेमपूर्ण शासकत्व के इस सम्मिलन से आज के शासक बहुत-कुछ सीख सकते हैं। अपने आधीन साधु-साध्वियों के शिक्षण, प्रशिक्षण, ज्ञानवर्द्धन तथा उनकी गुप्त योग्यताओं को उभारने में वे कितने दत्तचित्त तथा प्रयत्नशील हैं, इसका मुझे कुछ ज्ञान है। सन् १९५१ को दिन के दो बजे मैं पानीपत धर्मशाला में उनसे मिलने गया और तब मैंने देखा कि वे अपने कुछ शिष्यों को संस्कृत-ग्रंथ पढ़ा रहे थे। मैं यह देखकर चकित रह गया। मैंने उन्हें प्रातः चार बजे से रात के नौ-दस बजे तक भिन्न-भिन्न कार्यों में व्यस्त देखा है और यह दिनचर्या एक-दो दिन की नहीं, बल्कि नित्य की है। काम करने की इतनी अथाह शक्ति का कारण उनकी लगन समाज, धर्म तथा देश के लिए कुछ कर गुज़रने की तीव्र इच्छा ही हो सकती है।

जैन-समाज अपने विपुल साहित्य तथा कला-प्रेम के लिए प्रसिद्ध है। पर मानना पड़ेगा कि गत दो-चार सौ वर्षों में इस प्रवृत्ति में कमी ही आई है। किन्तु आचार्य तुलसी ने राजस्थान के अपने गृहस्थ अनुयायियों तथा साधु-साध्वियों में साहित्य-पठन, साहित्य-सर्जन और कला की प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया है। उनके कई शिष्य आशुकवि, अच्छे वक्ता, लेखक, विचारक तथा चिन्तक हैं। अवधान या स्मृति के धनी भी कई साधु हैं और ये सब काम या इन प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन देने का कार्य वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे इन बातों में स्वयं रुचि हो, जो स्वयं इन गुणों से विभूषित हो। और ये साधु इन प्रवृत्तियों से समाज, साहित्य तथा कलाओं के लिए प्रशंसनीय योगदान दे रहे हैं।

और अब अन्त में उनके महत्त्वपूर्ण आन्दोलन 'अणुव्रत-आन्दोलन' के संचालक के सम्बन्ध में लिखना चाहूँगा। अणुव्रतों की कल्पना पूर्णतया जैन कल्पना है और वह गृहस्थों के वास्ते है। छोटे रूप में अहिंसा सत्य, चोरी न करने, अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य को पालन करना ही अणुव्रत है। वे विभाज्य नहीं हैं, सबको पालन करना पड़ता है। पर आज के युग में जब मानव व्रतों, बन्धनों तथा नियमों से दूर भागता है, तब उसे अणुव्रतों की बात कह कर उसे व्रतों में स्थिर करना है। इसलिए आचार्यश्री ने इनके बहुत से भेद-प्रभेद करके उन्हें आज की स्थिति के अनुकूल बनाकर देश की करोड़ों जनता तथा विदेशों के रहने वालों के सामने नैतिक उत्थान के लिए रखा है। अपने-आपको तथा अपने सैकड़ों शिष्य तथा शिष्याओं को उसकी सफलता के लिए आन्दोलन में लगा दिया है। इस आन्दोलन की तुलना आचार्य विनोबा के 'भूमिदान आन्दोलन' तथा अमरीका वालों के 'नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन' (Moral Re-armament Movement) से की जा सकती है। मुझे मालूम हुआ है कि भारत के बुद्धिवादी तथा पत्रकार और राजनीतिज्ञ इसे शंका की दृष्टि से देखते थे, कुछ को आज भी शंका है, पर यह आचार्यश्री के सतत प्रयत्न का फल है कि यह आन्दोलन आज लोकप्रिय बन गया है। इस आन्दोलन की सफलता समय लेगी और इससे देश का लाभ ही होगा। पर इस आन्दोलन को स्थायी बनाने के लिए इसके संचालकों को इसके संचालन-प्रबन्ध को किसी महान् संस्था के अधीन करना होगा, जैसे कि गांधीजी अपनी प्रवृत्तियों को संस्था-आधीन कर देते थे। पर यह दूसरी बात है कि इस आन्दोलन के संचालक के रूप में आपने अपने सक्रिय तथा रचनात्मक कल्पनाशील व्यक्ति होने का परिचय दिया है।

आचार्यजी अभी पचास के इधर ही हैं। और यह आशा या कामना करना ठीक ही है कि आगामी पचास वर्षों में उनसे समाज, देश तथा धर्म को अत्यधिक लाभ होगा।

अवतारी पुरुष

श्री परिपूर्णानन्द वर्मा

भारत संतों का देश है। हमारे यहाँ एक से एक बढ़कर संत पैदा हुए हैं। उन्हीं की कृपा तथा प्रसादी से यह देश नैतिक, सामाजिक, तथा धार्मिक दृष्टि से सब देशों से महान् है। यह गर्व की बात है। यह मिथ्या अहंकार नहीं है। मैंने दो बार संसार का भ्रमण किया है। मैं उसी आधार पर यह बात दावे के साथ लिख रहा हूँ। पुलिस तथा जेल के महकमे से मेरा घना सम्बन्ध है। मैं अपराध शास्त्र का विनम्र सेवक हूँ। इसी नाते मैं कह सकता है कि धनी-से-धनी, उग्र समाजवादी तथा वर्गवादी, प्रजातन्त्रीय तथा पूँजीवादी देशों में आज जितनी अनैतिकता तथा भ्रष्टाचार है, उतना भारत में नहीं है। किन्तु संसार के दूषित वातावरण से हम कब तक बचे रह सकते हैं। हमको भी उसी गर्त्त में जाने की आशंका है। हम अभी तक सम्हले हुए हैं इसलिए कि अब भी बड़े-बड़े साधु संत जन्म लेकर हमको उँगली पकड़ कर सही रास्ते पर चला देते हैं।

सुमन्तभद्राचार्य हमें एक बड़ी सीख दे गए थे। वह थी मानवता की। मानवता के सेवक साधु के चरणों में सिर नवाते समय एक चीज ध्यान में रखते हैं। वह यह कि उनके चरण वहाँ नहीं हैं, जहाँ दिखाई पड़ते हैं, वहाँ नहीं हैं, जहाँ हमारा सिर टिकता है। उनके चरण उन दीन दुःखी आत्माओं की टोलियों और बस्तियों में हैं, पीड़ित तथा पतित कहे जाने वालों की गोद में हैं, अतएव बड़े-बड़े धनी मानी लोग जो संतों की सेवा को ही सब कुछ समझते हैं, वे एक बड़ी भारी भूल करते हैं। संतों के कथन का पालन करने से उनकी असली सेवा होती है।

मैं ऊपर लिख आया हूँ कि हमारे देश में बड़े-बड़े संत सदैव आते रहे हैं—अवतार लेते रहे हैं। ऐसे अवतारी, पुरुष आचार्यश्री तुलसी भी हैं। मैंने जब कभी इनसे भेंट की, इनसे बातें की, इनका उपदेश सुना, मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। मुझे ऐसा लगा कि उनके उपदेशों का अनुकरण कर हम अपने देश तथा समाज को बहुत ऊँचा उठा सकते हैं।

आचार्यश्री तुलसी जैसे संत भाग्य से पैदा होते हैं। जितना हो सके हम इनसे ले लें—उपदेश और इनकी विकट तपस्या का वरदान और उसी के सहारे अपनी नैया चलाएं।

आचार्यश्री के शिष्य परिवार में आशुकवि

मुनिश्री मानमलजी

शताब्दी के इस पाद में सारा विश्व ही नव-नव उन्मेषमूलक रहा। सभ्यता, संस्कृति और समाज-व्यवस्था की दृष्टि से मौलिक उन्मेष इस अवधि में हुए। घटनाक्रम की इस द्रुत गति के साथ तेरापंथ साधु-संघ में आचार्यश्री तुलसी के शासनकाल के पच्चीस वर्ष भी अप्रत्याशित उन्मेषक बने। अनेकों अभिनव उन्मेषों में एक उन्मेष आशुकवित्व का बना। कविता यों ही कठिन होती है और संस्कृत भाषा का माध्यम पाकर तो वह नितान्त कठोरतम ही बन जाती है। प्राचीन काल में भी कुछ एक मेधावी लोग ही संस्कृत के आशुकवि हुआ करते थे। तेरापंथ के इतिहास में मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी, मुनिश्री नगराजजी आद्य आशुकवि हैं। इस नवीन धारा के प्रवाहित होने में आशुकविरत्न पं० रघुनन्दन शर्मा प्रेरक स्रोत बने हैं। उनका सहज और मधुरिम आशुकवित्व मेधावी मुनिजनों के कर्ण कोटर पर गुन-गुनाता-सा ही रहता था। मुनिजनों की स्फटिकोपम मेधा में उसका प्रतिबिम्बित होना स्वाभाविक ही था। प्रकृतिलब्ध माने जाने वाली आशुकविता अनेक मुनियों की उपलब्धि हो गई। सर्वसाधारण और विद्वत्-समाज में इस अलौकिक देन का अद्‌भुत समादर होने लगा। आचार्यश्री तुलसी के शिष्यों की यह एक अनुपम ऋद्धि समझी जाने लगी। हर विशेष प्रसंग पर, राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद की और आचार्यश्री के वार्तालाप पर, विनोबा भावे और आचार्यश्री के वार्तालाप प्रसंग पर मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री बुद्धमल्लजी की प्रभावोत्पादक आशु कविताएं हुई। पूना में संस्कृत वाग्वर्धिनी सभा की ओर से आचार्यश्री के अभिनन्दन में एक सभा हुई। मुनिश्री नथमलजी को आशु कविता के लिए विषय मिला— **स्रग्धरावृत्तमालम्ब्य घटी यन्त्रं विवर्ण्यताम्** अर्थात् स्रग्धरा छन्दों में घटी यन्त्र का वर्णन करें। मुनिश्री ने तत्काल प्रदत्त विषय पर चार स्रग्धरा छन्द बोले। सारी परिषद् मन्त्र-मुग्ध-सी हो गई।

आचार्यश्री पंजाब पधारे। अम्बाला छावनी के कॉलेज में आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम रहा। मुनिश्री बुद्धमल्लजी ने आधुनिक शिक्षा विषय पर धारा प्रवाह आशु कविता की। श्रोताओं को ऐसा लगने लगा कि मुनिजी पूर्व रचित श्लोक ही तो नहीं बोल रहे हैं। चालू विषय के बीच में ही प्रिंसिपल महोदय ने एक जटिल से राजनैतिक पहलू पर भाषण दिया और कहा—इस भाषण को आप संस्कृत श्लोकों में कहें। मुनिश्री ने तत्काल उस क्लिष्टतर भाषण को संस्कृत में ज्यों का त्यों दुहराया और सारा भवन आश्चर्य-मग्न हो उठा।

मुनिश्री नगराजजी संस्कृत भाषा की राजधानी वाराणसी में पधारे। रात्रिकालीन प्रवचन में आशुकवित्व का आयोजन रहा। अनेकानेक संस्कृत के विद्वान् व प्रतिष्ठित नागरिक उपस्थित थे। प्रदत्त विषय पर आशुकवित्व हुआ। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य ने आशुकवित्व पर अपने विचारप्रकट करते हुए उपस्थितलोगों से कहा—संस्कृत पद्य रचना को कितना सहज रूप मिल सकता है, यह मैंने जीवन में पहली बार जाना।

बम्बई में बंगाल विधान परिषद् के अध्यक्ष और देश के शीर्षस्थ भाषाशास्त्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी ने मुनिश्री नगराजजी से भेंट की। आशुकवित्व का परिचय पाकर उन्होंने मुनिश्री से निवेदन किया, आप एक ही श्लोक में जैन-दर्शन का हार्द बतलाएं। मुनिश्री ने जीवन और मृत्यु आत्मा की पर्याय है, मोक्ष आत्म-स्वभाव का अन्तिम विकास है, अतः उसकी उपलब्धि के लिए प्रत्येक व्यक्ति को सतत प्रयत्नशील रहना चाहिए, इस भाव का एक सुन्दर श्लोक तत्काल उन्हें सुनाया। डा० सुनीतिकुमार गद्‌गद् हो उठे और बोले, इस श्लोक में अपूर्व भाव-गरिमा भरी है। संस्कृत में ऐसा ही एक श्लोक प्रचलित है, जिसमें सारे वेदान्त का सार आ गया है।

यह प्रसंग पाँच वर्ष से भी अधिक पुराना हो चला है। **विद्वानेव हि जानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्** की उक्ति इस प्रसंग पर एक अपूर्व ढंग से चरितार्थ हुई है। कलकत्ता से प्रकाशित 'जैन भारती' के ता० २७ अगस्त, १६६१ के एक अंक में एक संवाद प्रकाशित हुआ है, जिसमें बताया है—दिनांक १६ अगस्त, ६१ शनिवार को इण्डियन मिरर स्ट्रीट स्थित कुमार-सिंह हॉल में श्रीपूर्णचन्दजी श्यामसुखा अभिनन्दन समिति की ओर से श्यामसुखाजी की अस्सीवीं वर्षगाँठ के उपलक्ष में माननीय डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की अध्यक्षता में एक अभिनन्दन समारोह आयोजित किया गया, जिसमें श्री श्याम-सुखाजी को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। समिति के मन्त्री श्री विजयसिंह नाहर व अध्यक्ष श्री नरेन्द्रसिंहजी सिंघी प्रभृति सज्जनों ने श्यामसुखाजी के जीवन-प्रसंग प्रस्तुत किये। अध्यक्ष श्री चटर्जी ने श्री श्यामसुखाजी के बंगाल में जैनधर्म के प्रचार-कार्य की सराहना करते हुए कहा कि जैन दर्शन हमेशा संसार को एक नया आलोक देता ही है। गत कुछ वर्ष पूर्व बम्बई में जैन मुनिश्री नगराजजी से मेरा साक्षात्कार हुआ, जो संस्कृत के आशुकवि थे। उनके द्वारा तत्काल रचित संस्कृत के दो पद्यों का उच्चारण करते हुए श्री चटर्जी ने कहा कि इन दो पद्यों में जैनधर्म क्या है? इसका एक सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। अन्त में जैनधर्म और जैन विद्वानों के प्रति निष्ठा व्यक्त करते हुए अध्यक्ष महोदय ने श्री श्यामसुखाजी को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर सम्मानित किया।

मुनिश्री का आशुकवित्व बहुत ही सरल और मार्मिक होता है। आचार्यश्री तुलसी जब राजगृही के वैभारगिरि की सप्तपर्णी गुहा के द्वार पर साधु-साध्वियों की परिषद् में विराजमान थे, उस प्रसंग पर मुनिश्री नगराजजी के आशु-कवित्व रचित श्लोकों का एक श्लोक था :

आचार्यागमागमात् साधुवृन्दैः, साध्वीवृन्दैः सार्धमत्र प्रपूतैः।
विश्वख्याता सप्तपर्णी गुहेयम्, संजाताद्य श्वेतवर्णी गुहेयम्॥

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' के भी आशुकवित्व सम्बन्धी रोचक संस्मरण बने हैं। कुछ वर्ष पूर्व उनका एक अवधान प्रयोग कान्स्टीट्यूशन क्लब, नई दिल्ली में हुआ। उसमें बहु संख्यक संसद सदस्य, राजर्षि टण्डन, लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयंगर आदि अनेकों गणमान्य व्यक्ति तथा गृहमंत्री पं० पन्त आदि अनेक केन्द्रीयमंत्री उपस्थित थे। संस्कृतज्ञ श्री अनन्तशयनम् आयंगर ने आशुकविता का विषय दिया—**मसक गलक रन्ध्रे हस्तियूथं प्रविष्टम्** अर्थात् मच्छर के गले में हाथियों का झुण्ड चला गया। इस विचित्र विषय पर मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी ने बहुत सुन्दर श्लोक प्रस्तुत किए, जिसका सारांश था—आज बड़े-बड़े वैज्ञानिकों ने परमाणुओं की शोध में अपने-आपको इस तरह खपा दिया है कि मानो मच्छरों के गले में हाथियों का झुण्ड समा गया हो। सारी सभा बहुत ही चमत्कृत हुई। यह रोचक संस्मरण अगले दिन प्रायः सभी दैनिक पत्रों में प्रमुख रूप से प्रकाशित हुआ।

राष्ट्रपति भवन में जब उनका एक विशेष अवधान-प्रयोग हुआ तो प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने आशु कविता के लिए उन्हें विषय दिया—'स्पूतनिक' अर्थात् कृत्रिम चाँद। रूस ने उन्हीं दिनों अन्तरिक्ष कक्षा में स्पूतनिक छोड़ा था। मुनिश्री ने तत्काल कतिपय श्लोक इस अद्भुत विषय पर बोले, जिन्हें सुन कर सारे लोग विस्मित रहे।

आचार्यश्री के शिष्य परिवार में आज तो इने-गिने ही नहीं, किन्तु अनेकानेक आशुकवि हैं। आचार्यवर की पुनीत प्रेरणाओं ने अपने संघ को एक उर्वर क्षेत्र बना दिया है।
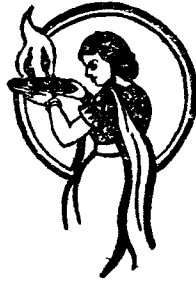
अमा में प्रकाश किरण

महासती श्री लाडांजी

आचार्यश्री तुलसी अमा के सघन निशीथ में प्रकाश किरण लेकर आये। तब जनता जड़ता की नींद में डूबी हुई थी। आपने तिमिर की गोद में सोये हुए एक-एक व्यक्ति को सहलाया, जागे हुए को पथ बतलाया। पथिक को प्रकाश दिखाया, प्रकाशित पथ वालों को मंजिल की निकटता का आभास दिया। इसीलिए जन-मानस आपको अमा में प्रकाश किरण मानता है। आपने आत्म-आलोक में स्वयं को पहचाना, तत्पश्चात् अपनी ही अनुभूतियों को जनता तक पहुँचाया, जिसे जनता अपनी ही अनुभूति मान लीन हो रही है। पथ-दर्शन पा रही है। आपका दिव्य आलोक अनेक रूपों में निखरा। अज्ञानियों के लिए ज्ञान का अक्षय कोष बन कर आया। संघीय विद्या-विकास आज आपको सरस्वती पुत्र के रूप में देख रहा है। अनैतिक जीवन जीने वालों को सुगम साधना का पथ दिखाया। साधना से कतराने वालों का साहस बढ़ाया। संयम को अनावश्यक समझने वालों की मान्यता का परिष्कार किया, दानवीय वृत्तियों से लोहा लिया। सदाचार और सहनीति की नई व्याख्या दी और एक ही वाक्य में कहें तो आपने दिग्मूढ़ मानव को राजपथ दिखलाया।

आज कृतज्ञ मानव समाज आपके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित कर रहा है। आपको पाकर जगत गौरवान्वित है। आप जैसे जगत बन्धु को बन्धु रूप में प्राप्त कर मैं विशेष रूप से गौरवान्वित हूँ।
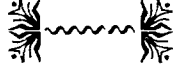
शत बार नमस्कार

श्री विद्यावती मिश्र

करता है आज युग तुम्हें शत बार नमस्कार !
शत बार नमस्कार !!

भूले हुए पथी को तुमने राह दिखायी,
फिर ध्येय-प्राप्ति की पुनीत चाह जगायी,
ऐसा लगा कि लक्ष्य धाम ही रहा पुकार !
शत बार नमस्कार !!

तुमने न बहुत ही बड़े आदर्श सजाये,
पारस से छू के लौह भी हैं स्वर्ण बनाये,
भय-शोक-ग्रस्त विश्व को तुमने लिया उबार !
शत बार नमस्कार !!

चाहे जो आये इसमें कोई रोक नहीं है,
ऐसा सुरम्य अन्य कोई लोक नहीं है,
तम तोम कहाँ ज्योति राशि का हुआ प्रसार !
शत बार नमस्कार !!

आधुनिक युग के ऋषि

श्री सुगनचन्द
सदस्य, उत्तरप्रदेश विधान परिषद्

आधुनिक युग के ऋषि आचार्य तुलसी आज वही कार्य कर रहे हैं जिसे प्राचीन ऋषियों ने उठाया था। **आत्मवत् सर्वभूतेषु** और **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना को स्वयं जीवन में उतार कर वे सारे समाज को उसी तरफ ले जाने का प्रयत्न कर रहे हैं।

भारतीय समाज ने राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर स्वामी, स्वामी दयानन्द, गांधी, विनोबा आदि महापुरुषों को पैदा कर जिस ऊँचाई का परिचय दिया है, आप उसी परम्परा को अक्षुण्ण कर रहे हैं। हमारा दर्शन सत्यं, शिवं, सुन्दरं और सत्य, प्रेम तथा करुणा की जिस सुदृढ़ नींव पर आधारित है, उस नींव को आपसे बल मिलेगा, ऐसी आशा है।

आप सादा जीवन और उच्च विचार तथा तप, त्याग, संयम की भारतीय परम्परा को समाज में उतारने के प्रयत्न में निरन्तर लगे हुए हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन यह सिद्ध करता है कि जब तक व्यक्ति ऊँचा नहीं उठेगा, तब तक समाज ऊँचा नहीं उठ सकता और व्यक्ति का निर्माण छोटी-छोटी बातों को जीवन में उतारने से ही होता है। जिनको हम छोटी बात और छोटा काम कहते हैं, उन्हीं कामों ने संसार के महान् पुरुषों को महान् बनाया है। राम ने शबरी के बेर खाये, कृष्ण ने झूठी पत्तलें उठाई, गांधीजी कातने और बुनने वाले बने, विनोबा ने भंगी का काम किया। इन्हीं छोटे कामों ने इन्हें महान् बनाया। यही नहीं, इस देश में जितने भी ऊँचे साधु-संत हुए हैं वे भी ऐसा ही छोटा-मोटा काम करते रहे। कबीरदास जुलाहे का काम करते थे। वे कपड़े का ही ताना-बाना नहीं बुनते रहे, बल्कि जीवन का ताना-बाना भी उसी के साथ बुनते रहे। उनका प्रसिद्ध भजन **झीनी झीनी बीनी चदरिया** में पंच तत्त्व और शरीर-तत्त्व का कितना सुन्दर विश्लेषण किया गया है, जिसे कोई योगी ही कर सकता है। पर कबीर ने सीधी-सादी भाषा में बहुत ही सुन्दर ढंग से इसे व्यक्त किया है। इसी तरह रैदास ने मोची का काम किया, दादूदयाल ने धोबी का और नामदेव ने दर्जी का। ये सभी संत भारत के अमूल्य रत्नों में हैं।

साधु-संतों का आविर्भाव समाज-संचालन के लिए सदैव होता रहा है और आगे भी होता रहेगा। सरकारें समाज को अनुशासित कर सकती हैं, पर उसे बदल नहीं सकतीं। आज तक दुनिया की किसी सरकार ने समाज को या सामाजिक मूल्य को नहीं बदला, न उनमें बदलने की क्षमता ही है। यह काम तो साधु-संत ही कर सकते हैं और अब तक करते आए हैं तथा आगे भी करते रहेंगे। कानून द्वारा किसी को रोका नहीं जा सकता है, डराया जा सकता है; किसी का हृदय नहीं बदला जा सकता। आज के युग में भी विज्ञान ने प्रकृति पर बहुत-कुछ विजय पा ली है, मनुष्य चन्द्रमा तक पहुँचने की तैयारी में है, पर विज्ञान स्वयं मनुष्य को बदलने में असफल रहा है। यही कारण है कि आज विज्ञान का उपयोग निर्माण के बजाय संहारक अस्त्रों में किया जा रहा है।

आज दुनिया के सामने दो ही मार्ग हैं, सर्वोदय या सर्वनाश। इनमें से ही किसी एक को चुनना होगा। यदि विज्ञान का सम्बन्ध अहिंसा से हुआ तो इस धरा पर ऐसा स्वर्गोपम सुख आयेगा जो आज तक कभी आया भी नहीं; पर अगर विज्ञान का सम्बन्ध हिंसा से हुआ तो जैसा कि आज हो रहा है, इतना बड़ा विनाश भी इसी पृथ्वी पर होगा, जितना कभी हुआ नहीं, बल्कि सृष्टि ही समाप्त न हो जाये, यह खतरा भी पैदा हो गया है।

विज्ञान अपने-आप में प्रशस्त है, पर प्रश्न है उसके प्रयोग का। प्रयोग करने वाला मनुष्य है, इसलिए सबसे आवश्यक अब यही है कि मनुष्य को कैसे बदला जाये और कौन बदले ? कैसे बदला जाये, इसका उत्तर है, मनुष्य के संस्कार बदले जायें; और कौन बदलेगा, इसका उत्तर है, ऋषि-महर्षि, साधु-संत। इसलिए आज विज्ञान के युग में, जहाँ सर्वनाश खड़ा है, साधु-संतों का मूल्य और भी बढ़ जाता है। आज मानव-सृष्टि का कल्याण इन्हीं के हाथों सुरक्षित है।

आज लोगों के मन में यह शंका होने लगी है कि नैतिकता का कोई मूल्य है भी या नहीं और समाज को उससे कुछ लाभ भी होगा या नहीं ? क्योंकि आज चारों ओर विकास के साथ-साथ भ्रष्टाचार और अनैतिकता का भी फैलाव होता जा रहा है। मानवीय मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है। जनता को यह सोचने को मजबूर कर दिया गया है कि नैतिकता हमारा संरक्षण और अनैतिकता का मुकाबला कर भी सकेगी या नहीं या समाज में जीने के लिए अनैतिकता का आश्रय ही लेना पड़ेगा। पर जरा गंभीरतापूर्वक सोचने पर लगता है कि नैतिकता के बिना एक क्षण भी समाज चल नहीं सकता। यही बन्धन समाज को एक तत्त्व में पिरोये हुए है। यदि यह बन्धन टूट गया तो न तो समाज रहेगा, न भ्रष्टाचार रहेगा।

नैतिकता का प्रभाव समाज में क्या है और कितना है, यह नापा नहीं जा सकता। बल्कि इसका प्रवाह लोगों के दिलों में निरन्तर बहता रहता है। कभी धारा वेगवती हो जाती है, कभी मन्द पड़ जाती है। साधु-संतों के, महापुरुषों के प्रभाव से यह बढ़ती-घटती रहती है। आज विनोबा के प्रभाव ने लोगों से कई हजार ग्रामदान दिलवा दिया, जो इतिहास की सर्वथा अभूतपूर्व घटना है। इसी तरह आचार्यश्री तुलसी जो कार्य कर रहे हैं, उसका प्रभाव समाज पर पड़ रहा है। हजारों लोगों का जीवन उन्होंने बदला है। पैदल ही नंगे पाँव सारे देश का भ्रमण कर रहे हैं।

वे हैं, पर नहीं हैं

मुनिश्री चम्पालालजी (सरदारशहर)

वे शासक हैं, उन्होंने अनुशासन किया है, पर तलवार से नहीं, प्यार से।
वे आलोचक हैं, उन्होंने कड़ी आलोचनाएं की हैं, पर धर्म की नहीं, धर्म के दम्भ की।
वे वैज्ञानिक हैं, उन्होंने अनेक आविष्कार किये हैं, पर हिंसक शस्त्रों के नहीं, शान्ति के शस्त्रों के।
वे क्रान्तिकारी हैं, उन्होंने बगावत की है, पर पापियों के विरुद्ध नहीं, पापों के विरुद्ध।
वे चिकित्सक हैं, उन्होंने सफल चिकित्सा की है, पर मानव के तन की नहीं, मन की।
वे द्रष्टा हैं, उन्होंने सब के सुख-दुःख को देखा है, पर तुला से तोलकर नहीं, स्वयं से तोलकर।
वे युगपुरुष हैं, उन्होंने युग को नई मोड़ दी है, पर औरों को मोड़कर नहीं, पहले स्वयं मुड़कर।

आचार्यश्री के जीवन-निर्माता

मुनिश्री श्रीचन्दजी 'कमल'

जो एक को जानता है, वह सबको जानता है और जो सबको जानता है, वही एक को जानता है। एक और सब में इतना सम्बन्ध है कि उन्हें सर्वथा पृथक् कर, जाना ही नहीं जा सकता। इस शाश्वत सत्य की भाषा में कहा जा सकता है, जो आचार्यश्री तुलसी को जानता है, वह पूज्य कालूगणी को जानता है और जो पूज्य कालूगणी को जानता है, वही आचार्यश्री तुलसी को जानता है। इन दोनों में इतना तारतम्य है कि उन्हें पृथक् कर, जाना ही नहीं जा सकता। आचार्यश्री तुलसी बाईस वर्ष में महान् संघ के सर्वाधिकार सम्पन्न आचार्य बने, यह उतना आश्चर्य नहीं, जितना आश्चर्य यह है कि उस अल्प अवस्था में इतना बड़ा दायित्व एक महान् आचार्य ने एक युवक को सौंपा। आचार्यश्री तुलसी पूज्य कालूगणी पर इतने निर्भर थे कि उनकी वाणी आपके लिए सर्वोपरि प्रमाण था। आज भी इतने निर्भर हैं कि अपनी सफलता का बहुत कुछ श्रेय उन्हीं को देते हैं। प्रमोद और विरोध दोनों स्थितियों में उन्हीं का आलम्बन लेकर चलते हैं। अपने कर्तृत्व पर विश्वास करते हुए भी उस नाम से महान् आलोक और अपूर्व श्रद्धा का संबल पाते हैं। कोई विचित्र ही परस्परता है। ऐसा तादात्म्य मैंने अपने जीवन में अन्यत्र नहीं देखा।

कालूगणी करुणा और वात्सल्य के पारावार थे। तेरापंथ के साधु-साध्वियों और श्रावक-श्राविकाएं आज भी उनके वात्सल्य की मधुर स्मृतियों से ओत-प्रोत हैं। उनका वात्सल्य सर्व सुलभ था। विद्या की अभिवृद्धि में उन्होंने अमित प्यार बिखेरा। इतने पुरस्कार बाँटे कि विद्या स्वयं पुरस्कृत हो गई। छोटे साधुओं की पढ़ने में रुचि कम होती। संस्कृत व्याकरण के अध्ययन को वे स्वयं 'अलूणी' शिला चाटना कहते थे। चटाने वाले कुशल हों तो चाटने वालों की कमी नहीं है। उन्होंने अपना अमृत सींच-सींच उसे इतना स्वादु बना दिया कि उसे चाटना प्रिय हो गया।

कठोर भी मृदु भी

आचार्य बनते-बनते उन्होंने एक स्वप्न देखा। उसमें सफेद चमकीले छोटे-छोटे बछड़े देखे। शिष्यों की बहुत वृद्धि हुई। केवल वृद्धि का महत्त्व नहीं होता। कसौटी संरक्षण में होती है। उनका हृदय मस्तिष्क पर सदा अधिकार किये रहा, इसलिए उनके सामने तर्क उठा ही नहीं। दर्पण में सबका प्रतिबिम्ब होता है, पर उसका प्रतिबिम्ब सबमें नहीं होता। वे कोई विचित्र ही थे। स्फटिक से कम उज्ज्वल और पारदर्शी नहीं थे, फिर भी उनका प्रतिबिम्ब उन सबने लिया, जो उनके सामने आये। उन्होंने चाहा तो किसी का प्रतिबिम्ब लिया, नहीं तो नहीं। उनकी आत्मा में सतत प्रतिबिम्बित थे मघवागणी, जो अपने दैहिक सौन्दर्य के लिए ही नहीं, किन्तु अपने आत्मिक सौन्दर्य के लिए भी विश्रुत थे। गंगाजल-सा निर्मल था उनका जीवन। स्फटिक-सा स्वच्छ था उनका मानस। वे नहीं जानते थे गाली क्या होती है और क्या होता है क्रोध ? विषयों से इतने विरत कि उन्हें इन्द्रिय-कामनाओं की पूरी जानकारी भी नहीं थी। जिन्हें आत्मलीन कहा जाता है, उन्हीं की पंक्ति के थे वे महान् योगी। उनका मानस प्रतिबिम्बित हुआ कालूगणी में। जब कभी उनके मुँह से मघवागणी का नाम निकल पड़ता तो उनकी आँखों में मघवागणी का चित्र भी दीखता। जिसे जीवन में एक बार भी वासना न छू पाए, जो केवल अपने अन्तर में ही रम जाए, वह कितना पवित्र होता है, इसकी कल्पना वे लोग नहीं कर सकते, जो वासना की दृष्टि से ही देखते हैं और वासना के मस्तिष्क से ही सोचते हैं। जितने पवित्र मघवागणी थे, उतने ही पवित्र कालूगणी थे और जितने मृदु मघवगणी थे, उतने ही मृदु कालूगणी थे। पर मघवागणी कहीं भी कठोर नहीं थे। उनके अनुशासन में

मृदुता बोलती और शासन मौन रहता। पर कालूगणी के व्यक्तित्व के एक कोने में कठोरता भी छिपी थी। उनका मानस मृदु था, पर अनुशासन मृदु नहीं था। वे तेरापंथ को व्यक्ति देना चाहते थे। व्यक्ति-निर्माण अनुशासन के बिना नहीं होता। इसलिए उनकी कठोरता मृदुता से अधिक फलवती थी। वे कोरे स्नेहिल ही होते तो दूसरों को केवल खींच पाते, बना नहीं पाते। वे कोरे कठोर होते तो न खींच पाते और न बना पाते। उनकी मृदुता कठोरता का चीवर पहने हुए थी और उनकी कठोरता मृदुता को समेटे हुए थी। इसीलिए वे बहुत रूखे होकर भी बहुत चिकने थे और बहुत चिकने होकर भी बहुत रूखे थे। जिन व्यक्तियों ने उनका स्निग्ध रूप देखा है, उन्होंने उनका रूखा रूप भी देखा है। ऐसे विरले ही होंगे जिन्होंने उनका एक ही रूप देखा हो।

वे कर्तव्य को व्यक्ति से ऊँचा मानते थे। उनकी दृष्टि में व्यक्ति की ऊँचाई कर्तव्य के समाचरण में ही फलित होती थी। मन्त्री मुनि मगनलालजी स्वामी उनके अभिन्न हृदय थे। बचपन के साथी थे। सुख-दुःख के सहयोगी थे। फिर भी जहाँ कर्तव्य का प्रश्न था, वहाँ कर्तव्य ही प्रधान था, साथी नहीं। प्रतिक्रमण की वेला थी। मन्त्री मुनि गृहस्थों से बात करने लगे। कालूगणी ने उलाहने की भाषा में कहा—"अभी प्रतिक्रमण का समय है, बातों का नहीं।" जो व्यक्ति कर्तव्य के सामने अपने अभिन्न हृदय की अपेक्षा नहीं रखता, वह दूसरों के लिए कितना कठोर हो सकता है, यह स्वयं कल्पना-गम्य है। वे यदि धर्मप्राण नहीं होते तो उनकी कठोरता निर्ममता में बदल जाती। पर वे महान् धर्मी थे। विस्मृति का वरदान उन्हें लब्ध था। भूल परिमार्जन पर वे इतने मृदु थे कि उनके साथ शत्रु-भाव रखने वाला भी उनका अपूर्व प्यार पाता था। कठोरता और कोमलता का विचित्र संगम उस महान् व्यक्तित्व में था।

वट के बीज को देखकर उसके विस्तार की कल्पना नहीं की जा सकती है, पर वह बीज में बाह्य नहीं होता। तेरापंथ के विद्या-विस्तार के बीज कालूगणी थे। विद्यार्जन के लिए काल की कोई मर्यादा नहीं होती। समूचा जीवन उसके लिए क्षेत्र है। कालूगणी ने इसे प्रमाणित कर दिखाया। आचार्य बने, तब आपकी अवस्था तेतीस वर्ष की थी। उस समय आपने ढाई महीनों में समग्र सिद्धान्त चन्द्रिका कण्ठस्थ की। आचार्य हेमचन्द्रकृत अभिधान चिन्तामणि शब्दकोष आप पहले ही कण्ठस्थ कर चुके थे। आपने संकल्प किया—मैं और मेरा साधु-साध्वीगण संस्कृत व प्राकृत के पारगामी बनें। आपने अपने जीवनकाल में ही उसे फलित होते देखा था। तेरापंथ की अधिकांश प्रतिभाएं उन्हीं के चरणों में पल्लवित हुई हैं।

उनमें स्पृहा और निस्पृहता का विचित्र योग था। विद्या के प्रति उनकी जितनी स्पृहा थी, उतनी ही बाह्य सम्बन्धों के प्रति उनकी निस्पृहता थी। दिए से दिया जलता है—इसमें बहुत बड़ी सच्चाई है। कालूगणी के आलोकित पथ से आचार्यश्री तुलसी अपना पथ आलोकित करते हैं। उन्हीं की भाषा में—"मैं जब सुनता हूं कि कुछ लोगों की श्रद्धा हिल उठी, तब मुझे वह वृत्त स्मरण हो आता है, जब कालूगणी ने कुछ संतों के सामने अपने भाव व्यक्त किये थे। उस समय थली (बीकानेर राज्य) में 'देशी-विलायती' का संघर्ष चलता था। तब वहाँ दूसरी सम्प्रदाय के साधु आए। कुछ लोग उनके पास जाने लगे, उनकी ओर झुके। तब कुछ संतों ने कालूगणी के सामने निराशाजनक बातें कीं। उनके उत्तर में आचार्यवर ने कहा, 'कोई किधर ही चला जाये, मुझे इस बात की कोई चिन्ता नहीं। हमने दीक्षा किसी के ऊपर नहीं ली है, अपनी आत्मा का सुधार करने के लिए ली है। मेरे तो स्वप्न में भी यह नहीं आता कि अमुक श्रावक चला जायेगा तो हम क्या करेंगे ? आखिर श्रावकों से हमें चद्दर के पैसे तो नहीं लेने हैं। श्रावक हमारे अनुयायी हैं, हम श्रावकों के नहीं। साधुओ ! तुम्हें निश्चिन्त रहना चाहिए। मन में कोई भय नहीं लाना चाहिए।' न जाने कितनी बार ये बातें मुझे स्मरण हो आती हैं और इससे अपार आत्मबल बढ़ता है।"[1]

स्वावलम्बन उनके जीवन का व्रत था। वे आदि से ही अपनी धुन में रहे। न पद की लालसा थी और न कोई वस्तुओं के प्रति आकर्षण था। छठे आचार्य माणकगणी दिवंगत हो गए। वे अपना उत्तराधिकारी चुन नहीं पाये थे। तेरापंथ के सामने एक बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो गई। प्रत्येक साधु इस स्थिति से चिन्तित था। जयचन्दजी नामक एक

---

१. वि० सं० २००७ पौष सुदी ६

साधु ने कालूगणी से पूछा, "आचार्य कौन होगा ?" आपने उत्तर दिया, "तू और मैं तो नहीं होंगे। और कोई भी हो। उससे अपने को क्या ?" उस समय आप बाईस वर्ष के थे। ढाई मास तक तेरापंथ में आचार्य की अनुपस्थिति रही। उस समय सारा कार्य-संचालन पूज्य कालूगणी और मन्त्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी ने किया, फिर साधु-परिषद् ने डालगणी को अपना आचार्य चुना। उन्होंने इस युगल की कार्यकुशलता की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

डालगणी मनुष्य के बहुत बड़े पारखी थे। उन्होंने मन्त्री मुनि से पूछा—'यदि मैं आचार्य पद का दायित्व नहीं सँभालता तो तुम लोग किसे सौंपते ?' मन्त्री मुनि ने कहा, 'यह कैसे हो सकता है ? जो दायित्व आये उससे कोई भी गण-हित चाहने वाला कैसे दूर भाग सकता है ?' डालगणी ने कहा, 'फिर भी कल्पना करो, यदि मैं इस दायित्व को लेना स्वीकार नहीं करता तो तुम लोग क्या करते ?' वे इस प्रश्न को दोहराते ही गए, तब मन्त्री मुनि ने कहा, 'कालूजी को सौंपते।' डालगणी आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने कहा, 'मैं सब ओर घूम गया, पर मगनजी ! यहाँ नहीं पहुँच पाया, जहाँ पहुँचना था, वहाँ नहीं पहुँच पाया।'

कालूगणी की आन्तरिक सम्पदा जितनी समृद्ध थी, उतनी बाह्य सम्पदा नहीं थी। उनकी आत्मा में जितना था उतना वाणी में नहीं था। वे जितने गण के थे उतने व्यक्ति के नहीं। उन्होंने एक प्रसंग में डालगणी से कहा था, 'मैं कोहनी तक हाथ जोड़ना नहीं जानता। फिर भी गण और गणी के प्रति मेरा अन्तरंग उनसे कहीं अधिक निष्ठावान् है, जो कोहनी तक हाथ जोड़ते हैं।' उनका 'स्व' बड़ा प्रबल था। वह यदि अभिमानजनक होता तो परिणाम काल में निश्चित ही विकार उत्पन्न करता। किन्तु वह निरपेक्ष भाव से प्रसूत था। इसीलिए उसने दायित्व भाव को सजग रखा और कृत्रिम व्यवहार को सुषुप्त। आचार्यश्री ने ठीक ही कहा है, "जो आत्मभाव में जागृत होता है, वह व्यवहार से सुप्त होता है और जो व्यवहार में जागृत होता है, वह आत्मभाव में सुप्त होता है।" कालूगणी की सतर्कता इतनी थी कि डालगणी जैसे कठोर अनुशासन से कभी इन्हें उलाहना नहीं मिला। उनकी निरपेक्षता इतनी थी कि उन्हें कभी कोई विशेष अनुग्रह प्राप्त नहीं हुआ। डालगणी ने अपने उत्तराधिकारी का पत्र लिख दिया; फिर भी यह प्रश्न था कि आचार्य कौन होगा ? उनका स्वर्गवास हो गया। फिर भी लोग इससे अनजान थे कि हमारा भावी आचार्य कौन है ? कालू अब भी अपने स्वावलम्बन में थे। अपना काम, अपने हाथ-पैर, अपनी धुन और अपना जगत्। व्यक्तित्व छिपा नहीं था। कल्पना दौड़ती ही थी। कुछ व्यक्तियों ने कहा, 'गुरुदेव का स्वर्गवास हो गया है। अब आप पाट पर विराजें।' आपने निर-पेक्ष भाव से कहा, 'पहले देखो, आचार्यवर ने अपना उत्तराधिकारी किसे चुना है ? फिर बात करना।' मन्त्री मुनि ने डालगणी का पुठा खोला। पत्र निकाला। परिषद् के बीच उसे पढ़ा, तब जनता ने आश्चर्य के साथ सुना कि हमारे आचार्य श्री कालूगणी हैं। अब आप पाट पर बैठें। यह निरपेक्षता अन्तिम साँस तक बनी रही। रुचि का खाना वही था जो ग्रामीण लोग खाते हैं। ठाट-बाट का कोई आकर्षण नहीं था। बाहरी उपकरण उन्हें कभी नहीं लुभा पाये। एक ही धुन थी—गण का विकास, विकास और विकास। पहले ही वर्ष उन्होंने साधु-साध्वियों के सात सिंघाडे किये। अपने साथ सिर्फ सोलह साधु रखे। शेष साधुओं से कहा—जाओ, विचरो, उपकार करो। संकल्प अवश्य फल पाता है। चतुर्दिक् वृद्धि होने लगी। शिष्य-शिष्याएं बढ़ीं, विद्या बढ़ी, बल बढ़ा, गौरव बढ़ा, यश बढ़ा। जो इष्ट था, वह सब-कुछ बढ़ा। उनका प्रयत्न फल लाने लगा। 'भिक्षुशब्दानुशासन' नामक संस्कृत महाव्याकरण बना। संस्कृत काव्य रचे जाने लगे। रचना के अनेक क्षेत्र खुल गए। उन्हें डिंगल काव्य बड़े प्रिय थे। चारण लोग आते ही रहते। कविता-पाठ चलता ही रहता। स्वयं कवि थे। पर ऐसा ही कोई विश्वास बैठ गया, विशेष नहीं लिखते। शिष्यों को प्रेरित करते। उत्साह बढ़ाते। उनकी वाणी में कोई अपूर्व चमत्कार था। उनकी दृष्टि में कोई अथाह अमृत था। उनका स्पर्श पा एक बार तो मृत भी जी उठता।

विकास और विरोध दोनों साथ-साथ चलते है। तेरापंथ का यश बढ़ा, वैसे ही विरोध बढ़ा। जैसे विरोध बढ़ा, वैसे उनका सौम्यभाव बढ़ा। आचार्यश्री तुलसी को विरोध को 'विनोद' मानने का मंत्र उन्हीं से तो मिला था। आचार्य-श्री ने एक बार कहा था—बाधाओं और विरोध से मेरे दिल में घबराहट नहीं होती। मुझे याद आती है मालवा की बात। गुरुदेव रतलाम पधारे। मैं भी उनके साथ था। वहाँ लोगों ने तीव्र विरोध किया। आज से दस गुना, पर गुरुदेव तो

अपने में ही लीन थे। एक, दो, तीन दिन बीत गए। चौथा दिन आया। एक पंडितजी आये। गुरुदेव ने पूछा—'यहीं के रहने वाले हैं ?' पंडितजी ने कहा—'यहीं रहता हूँ। यह सामने ही मेरा घर है।' गुरुदेव ने फिर पूछा—'आज ही आये हैं ?' पंडितजी ने कहा—'आया नहीं हूँ आना पड़ा है।' 'तो कैसे ?' पंडितजी बोले—'आपका विरोध आपके आने से पहले ही शुरू हो चुका था। आप आये उस दिन से आज तक आपकी ओर से प्रतिविरोध नहीं हुआ। मैंने सोचा आज आये हैं, थके-मांदे होंगे, शायद कल करेंगे। दूसरा दिन बीता कोई विरोध नहीं किया गया। मैंने सोचा—तैयारी करते होंगे, विरोध करने के लिए। तीसरे दिन भी कुछ नहीं हुआ। मैंने सोचा—'जहाँ एक व्यक्ति को 'कै' करते देख दूसरे व्यक्ति को उबाक आने लगता है वहाँ आज चौथा दिन है फिर भी कुछ नहीं हुआ, अवश्य ही इनकी पाचन-शक्ति सुदृढ़ है। इनमें सारे विरोध को पचाने की क्षमता है। मैं इस इक तरफे विरोध से खिचा-खिचा आया हूँ'।

बीकानेर का विरोध भी बड़ा प्रबल था। साधुओं को प्रतिदिन पचासों गालियाँ सुनने को मिलती थीं। फिर भी मौन, सर्वथा मौन। वह दिन मुझे याद है जब गुरुदेव ने सब साधुओं को एकत्रित कर शिक्षा के स्वर में कहा था—'मैं जानता हूँ तुम्हें गालियाँ सुनने को मिल रही हैं। मैं जानता हूँ तुम्हारे पर आक्रोश किया जा रहा है, व्यंग कसे जा रहे हैं, फिर भी तुम साधु हो, इसलिए तुम्हें मौन ही रहना चाहिए। तुम्हारा धर्म है सब सुनो, वापस एक भी मत पूछो। यही मेरी आज्ञा है'।[1]

कालूगणी विरोध को सदा बोध-पाठ मानते रहे। आचार्यश्री तुलसी का मानस भी उसी से प्रतिबिम्बित है। कुछ लोग इस विरोध को ईश्वरीय कृपा बतलाते हैं। आचार्यश्री तुलसी बाड़मेर में थे। वहाँ एक रेलवे गार्ड आया। वह बोला—'कुछ लोग आपकी आलोचना करते हैं, किन्तु मैं समझता हूँ उन्होंने अभी साधना का पथ नहीं पाया। गुरुजी ! आप पर ईश्वर की बड़ी कृपा है।' 'सो कैसे ?' 'आपके साथ कोई न कोई विरोध बना रहता है। बिना कृपा के ऐसा हो नहीं सकता।'[2] निर्मिति और निर्माता में जो अभेद होना चाहिए, वह बहुत ही प्रगाढ़ है। इसीलिए आचार्यश्री तुलसी को समझने के लिए पूज्य गुरुदेव को समझना आवश्यक है। मनुष्य की यह असमर्थता है कि वह जितना होता है, उतना जान नहीं पाता। जितना जान पाता है, उतना कह नहीं पाता। इसीलिए एक महान् को मैंने शब्दों की लघु सीमा में बाँध दिया। इस असमर्थता का भागी केवल मैं ही नहीं हूँ, स्वयं आचार्यश्री भी हैं। उन्होंने अपने निर्माता को स्वल्प रेखाओं में चित्रित किया है। मेरी असमर्थता को अवश्य ही थोड़ा आलम्बन मिलेगा। वे इस प्रकार है—"मैं कई बार सोचता हूँ, मेरे जीवन पर किन-किन का प्रभाव पड़ा ! इस दिशा में सबसे पहले मुझे दीखते हैं पूज्य कालूगणी, उन्होंने मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया है। दीक्षा के पहले दिन जो पहला ग्राम मिला, उससे लेकर उनके अन्तिम श्वास तक उनका अविरल प्रभाव मुझ पर पड़ता रहा। उनके जीवन की अविरल विशेषताएं आज भी मुझे प्रेरित कर रही है। पूज्य गुरुदेव ब्रह्मचर्य के प्रतीक थे। उनका ललित ललाट तथा दिव्य आत्म-बल इसका साक्षी था। नारी मात्र के प्रति उनमें सदा 'मातृवत्' की भावना मैंने साक्षात् देखी।

वे इसलिए महामानव थे कि उन्होंने जिसके सिर पर अपना वरद हाथ रख दिया, वह तब तक नहीं हटा जब तक वह उचित पथ से नहीं हटा, फिर भले ही उसके पास धन रहा या नहीं। और कुछ रहा या नहीं रहा। पवित्रता रही तो उनका हाथ बना का बना ही रहा।

वे विचारों के स्वतन्त्र और महान् तटस्थ थे। मंत्री मुनि उनके अनन्य थे। पर कई विचार उनसे मेल नहीं खाते सो नहीं ही खाते। जिस पर भी कभी कोई मनोभेद नहीं हुआ। प्रेम अथाह ही रहा। सचमुच वे एक असाधारण व्यक्ति थे।

विद्यानुराग उनके जैसा विरल ही मिलेगा। उन्होंने अथक प्रयास व विभिन्न उपायों से विद्या का जो स्रोत बहाया, उससे आज हमारा समूचा संघ निष्णात है। एक दिन उन्होंने कहा था—"शिष्यो ! तुम नहीं जानते, हम विद्यार्थी थे तब

---

१ प्रवचन डायरी १९५३, पृ० ११-१२
२ डायरी ४ पृ० ३४६

हमें विद्या प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती थी। कुछ अल्पचेता लोग 'देवानांप्रिया एते' कहकर हमारा तिरस्कार कर जाते, पर आज तुम्हारे सामने ऐसा करने का कोई साहस नहीं कर सकता। उन्हें अपने श्रम की फल-परिणति पर सन्तोष था। उनका जीवन कितना सादा था, यह तो प्रत्यक्षदर्शी ही जान सकता है। रात-भर दो चिलमिलियों पर लेटे रहते। महान् आचार्य होने पर खान-पान इतना साधारण कि देखने वाले पर वह प्रभाव डाले बिना नहीं रहता। श्रम में बड़ी निष्ठा थी। वे बहुत बार कहते थे कि श्रम के अभाव में आज कल नए-नए रोग बढ़ रहे हैं। कोई साधु दुर्बल होता तो वे उसे कहते दूर जंगल से झोली भर रेत लाओ, परिश्रम करो। शरीर का पसीना निकल जायेगा। अधिक चिकना भोजन मत करो। इन दवाओं में क्या धरा है? वे स्वयं बहुत श्रम-शील थे। उनका स्वास्थ्य बहुत ही अच्छा था। औषध पर उनकी आस्था जैसे थी ही नहीं। वे साधारण काष्ठादि औषध से ही काम चला लेते। ज्वर होने पर लंघन कराते। चाय से तो पटती ही नहीं थी। उनके सामने दूसरे साधु चाय का नाम लेते ही सकुचाते थे।

आचार्यवर की इन विशेषताओं से मैं अत्यन्त प्रभावित हूँ। वे मेरे अणु-अणु में रम रही हैं। उन्होंने मुझे सदा अपनी करुणाभरी दृष्टि से सींचा। इतना सींचा कि उसका वर्णन करने के लिए मेरे पास पर्याप्त शब्द नहीं हैं। मैंने कुछ भूलें भी की होंगी, पर वे उनका परिमार्जन करते गए। मुझे कभी दूर नहीं किया। यह कहना कठिन है कि मैं उनकी कितनी विशेषताओं का आकलन कर पाया हूँ। उनकी अनेक विशेषताओं का मेरे मन पर अमिट प्रभाव है। उन्हीं के प्रसाद की खुराक पाकर मेरा जीवन बना है। यह कहते हुए मुझे सात्विक गर्व का अनुभव होता है।"

निर्माण लिये आये हो

मुनिश्री बच्छराजजी

कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।
गूढ़ कला जीवन की तुम पहिचान लिये आये हो।

लगता ऐसा बाहर से तुम, बाँध रहे जीवन को,
पर झाँका भीतर तो पाया, खोल रहे बन्धन को,
रश्मि-बन्ध से तुम जीवन के, स्थल को बाँध रहे हो,
नियम-बन्ध से जग मानस को, जल को बाँध रहे हो,
मुक्ति-दूत! तुम बन्धन में परित्राण लिये आये हो।
कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।

निष्क्रिय सुन्दरता को कृति में, स्थान दिया कब तुमने,
सक्रिय-जीवन-तत्त्वों पर ही, ध्यान दिया बस तुमने,
आ जाता सौन्दर्य स्वयं जब, गौरव भर देते हो,
वन की कली-कली में मधुमय, सौरभ भर देते हो,
चित्रकार! निज चित्रों में तुम प्राण लिये आये हो।
कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।

भौतिक युग में आज मनुज, मनुजत्व गमा बैठा है,
उठ पाये खुद कैसे जब निज सत्व गमा बैठा है,
शक्ति-पुञ्ज! अब युग तेरा आलम्बन माँग रहा है,
धरणी का कण-कण तेरा पद-चुम्बन माँग रहा है,
विश्व-प्राण! तुम संयम का आह्वान लिये आये हो।
कलाकार! इस धरती पर निर्माण लिये आये हो।

मानवता का नया मसीहा

श्री एन० एम० झुनझुनवाला

आज मानवता संकट में है। भौतिक उत्थान की इस उपग्रह-बेला में भी व्यक्ति-व्यक्ति त्रस्त है। विज्ञान के प्रखर प्रकाश में भी संसार विपथ हो गया है। शीत-युद्ध के रंगमंच पर शस्त्रीकरण का उच्छृंखल अभिनय काफी विकराल हो उठा है। समर-देवता की भयानक जीभ विश्व को निगल जाने के लिए लपलपा रही है। तीन अरब कण्ठों की आर्त्त वाणी आज पल-पल चकित होती हुई-सी निकल रही है। मानवता संकटापन्न है। शान्ति को खतरा है।

यह वैज्ञानिक युग का उपग्रह-काल है। बौद्धिकता की पराकाष्ठा है, मनुष्य के चरम विकास की भी पराकाष्ठा है। मानव-निर्मित उपग्रहों ने ईश्वर-निर्मित ग्रहों को विजित करने की चेष्टा की है। अन्तरिक्ष का विराट रहस्य आज यन्त्रों द्वारा मनुष्य की आँखों में उतारा जा रहा है। शून्यता का महावास मनुष्य के ज्ञान से चिह्नित हो रहा है। विज्ञान की इस महाबेला में भी कहीं से झनझनाहट सुनाई पड़ रही है—मानवता मर रही है, शान्ति रो रही है।

मानवता और शान्ति की नीलामी

मनुष्य की सर्वतोमुखी भौतिक जागृति में सद्बुद्धि की रोशनी बुझती जा रही है। ज्ञान का मार्तण्ड भी अज्ञान से घिरा जा रहा है। प्रलय मचाने वाली शक्ति से लज्जित होकर भी मनुष्य को चैन नहीं। अपने अस्त्र-शस्त्र से अपना ही गला घोंटने को उद्धत विज्ञान-पुरुष मूढ़ता का महान् नाटक खेल रहा है। मनुष्य की दोनों मुट्ठियों में मानवता और शान्ति की मासूम बुलबुलें छटपटा रही हैं। हर ओर से आवाज आ रही है—मानवता को बचाओ! शान्ति को संभालो! और मानवता तथा शान्ति की रक्षा के लिए चेहरे पर नक़ाब डालकर अनेक खलनायक विश्व-मंच पर अभिनय कर गये हैं। शीत-युद्ध के दुपट्टे में अणु और उद्जन बम छिपाये प्राची और प्रतीची के दो अभिनेता मैत्री के लिए हाथ मिलाते हैं। शान्ति और मानवता की सहमी आँखों में थोड़ी खुशी झाँकती है; किन्तु अपने-अपने घर आकर फिर मानवता और शान्ति की नीलामी शुरू हो जाती है और दुबले-पतले मानवों का महासागर चिल्ला उठता है—मानवता को मत लूटो! शान्ति को मत मारो! बाण्डुंग से लेकर बेलग्रेड तक बेचारे टूटे हुए लोग दौड़-धूप करते हैं। प्रस्ताव पर प्रस्ताव रखे जाते हैं। किन्तु अणु-परीक्षण का एक ही विस्फोट तटस्थता के अनुयायियों की धज्जी-धज्जी उड़ा डालता है।

प्राची और प्रतीची के ये दो सूत्रधार तीन अरब पुतलों के जीवन की सट्टेबाजी खुले आम खेलते हैं। कहीं इस द्यूत-क्रीड़ा का नक़ाब फाड़ न डाला जाये, इसलिए ये चिल्ला-चिल्लाकर बोलते हैं—शान्ति...सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण...। किन्तु, कहाँ है वह प्रयास, जो सम्मान्य शान्ति का मार्ग प्रशस्त करे, जो सम्पूर्ण निरस्त्रीकरण की भावना को जगा सके! मानवता की इस दर्दसरी का मूल कहाँ है, कौन जाने?

नये चिकित्सक का अन्वेषण

राजनीति के खिलाड़ी, चिकित्सा के नाम पर, कूटनीतिक सूचिका-रस-भरण अवश्य कर सकते है, किन्तु सही रोग-निदान और तदनुकूल चिकित्सा तो कोई अनुभवी चिकित्सक ही कर सकता है। कृष्ण, बुद्ध, ईसा, गांधी और मार्क्स की चिकित्सा बीमार मानवता का रोग पहचान सकती है, किन्तु आज उसी पद्धति का नवीन रूप लेकर किसी नये मसीहा की आवश्यकता है। महामारी के रूप में रोग की परिणति होने से पहले चिकित्सक का अन्वेषण आवश्यक लगता है,

नये चिकित्सक का।

प्राची और प्रतीची के दो माँझियों के हाथों में मानवता की भाग्य तरी डगमगाती हुई तट की ओर नहीं, मंझधार की ओर जा रही है। इन कूटनीतिक माँझियों मे, बीमार मानवता की तरी, तट की ओर नहीं जा सकती। मानवता की सुरक्षा भौतिक प्रगति नहीं कर सकती । तो, मानवता की आर्त्त पुकार पर प्राची और प्रतीची के गगन में दो नक्षत्र उदित हो ही गए आखिर। हाँ, मानवता की सही चिकित्सा के लिए दो मसीहा प्राची और प्रतीची में आविर्भूत हुए—आचार्य तुलसी और बुकमैन।

इन दोनों चिकित्सकों ने मानवता की दुखती हुई नसों पर उँगुली रखी। इनका निदान यही हुआ—मानवता के विनाश का एक ही कारण है: अनैतिकता; और इसकी उपयुक्त चिकित्सा है नैतिक जागृति।

नैतिकता के ये दो उद्गाता अपने-अपने क्षितिज पर चमके, खूब चमके। प्रतीची का बुकमैन शारीरिक रूप से अभी-अभी अस्त हो चुका है; किन्तु, संसार की अरबों आत्माओं में उस महापुरुष का शंखनाद प्रतिध्वनित हो रहा है और अरबों मस्तक आज भी उसकी स्मृति में श्रद्धावनत हैं।

और आचार्यश्री तुलसी; प्राची नभ-तटी का यह सार्वभौम तरुण भास्कर आज भी उद्दीप्त है। मानवता का यह नया मसीहा उन्हीं नक्षत्रों में से एक है, जिनमें बुद्ध, महावीर, कबीर, सूर, तुलसी, नानक, चैतन्य, अरविन्द, गांधी, विवेकानन्द और रवीन्द्र का अक्षत प्रकाश आज भी विश्व को परमानन्द का लक्ष्य-बिन्दु बतला रहा है। इस नये मसीहा ने निदान किया—मानवता क्यों पीड़ित है, शान्ति क्यों भयभीत है ? क्यों व्यक्ति विनाश की ओर वेग से दौड़ा जा रहा है ? इन सबों का एक ही निदान बतलाया है इसने—अनैतिकता और इससे उत्पन्न अचारित्रिकता; भौतिकता की उच्छृंखल प्रगति और इससे उत्पन्न अनाध्यात्मिकता, असंयम और इससे उत्पन्न महत्त्वाकांक्षा का व्यामोह तथा उद्वेग।

चिकित्सा के लिए तीन औषधियाँ बतलाई, इस नैतिक भिषग् शिरोमणि ने; नैतिकता, अध्यात्म और संयम। अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, अस्तेय और ब्रह्मचर्य का सरल और सुपाच्य पंचामृत 'अणुव्रत' के नाम से पीड़ित विश्व के गले में डालते हुए इस मानवता के जय-घोषक ने उद्घोषणा की—अणुव्रत-आन्दोलन एक नैतिक क्रान्ति है । इसका उद्देश्य है, मनुष्य का आध्यात्मिक सिंचन। आध्यात्मिक प्रगति मनुष्य की सर्वोच्च प्रगति ही नहीं, सर्वांगीण प्रगति है। इस प्रगति का मूल कार्य है—चरित्र की सुदृढ़ स्थापना तथा मैत्री द्वारा शान्ति की रक्षा। सभी प्रकार के स्वास्थ्य-लाभ के लिए संयम की अत्यधिक आवश्यकता है। इतना ही नहीं, संयम को उसने जीवन-साधना बतलाया और नैतिकता को जीवन कला।

उसने संयम मे रंचमात्र भी विलगाव को जीवन के लिए अभिशाप कहा और आदर्श उद्घोषित किया—**संयम: खलु जीवनम्।**

युद्ध-देवता का तीसरा चरण

इस यान्त्रिक युग में मानवता और शान्ति का शत्रु युद्ध है। बीसवीं शताब्दी में दो दशाब्दियों का अन्तर देकर दो विश्व-युद्ध हो चुके हैं। भयंकर नर-संहार हुए हैं। सैनिक, असैनिक तथा अबोध शिशु भी युद्ध-देवता की विकराल भट्टी में झोंक दिये गए। हीरोशिमा और नागासाकी विश्व-युद्ध के द्वितीय परिच्छेद के वे अमर आकर्षण हैं, जहाँ मानवता की छाती एटम बम के प्रहारों से चाक-चाक करदी गई और जापान के ये दो सुनहले पंख पल-भर में जला कर खाक कर दिये गये।

आज भी वही स्थिति है, वहीं रंग। युद्ध-देवता का तीसरा चरण उठ चुका है। मानवता की गर्दन पूर्व-पश्चिम के दो 'क' की उँगलियों के बीच में दबी पड़ी है। अणु-परीक्षण, सामयिक चुनौतियाँ, अन्तरिक्ष-प्रतियोगिता, शस्त्रीकरण आदि शीत-युद्ध को पराकाष्ठा की ओर ले जा रहे हैं। राष्ट्र-संघ-जैसा संघटन भी शीत-युद्ध की उष्ण-परिणति को रोक रखने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। संसार के सारे राजनीतिज्ञ मिलते हैं, शिखर-सम्मेलन करते हैं, गरम-गरम भाषण दे जाते हैं; किन्तु, ये दो 'क' अपनी एक ही घुड़की से मानवता की रही-सही आशा को धूल में मिला देते हैं।

निष्कर्षतः, यही सिद्ध होता है कि वैज्ञानिक प्रगति मे शस्त्रीकरण को बल मिलता है और सैद्धान्तिक नेतृत्व या क्षेत्र-विस्तार की भावना मनुष्य को रण-अर्चना के लिए उद्धत करती है। मानवता तथा शान्ति की रक्षा के लिए एक ही उपाय है—निरस्त्रीकरण और वह सम्भव है, व्यक्ति व्यक्ति के नैतिकीकरण से।

युद्ध का कारण

मानवता के इस नये मसीहा आचार्य तुलसी ने युद्ध का एक ही कारण बतलाया है—अनैतिकता के प्रमाद मे अनियन्त्रित दुराचारिता की महत्त्वाकांक्षा, उन्माद और व्यामोह में पड़ कर, एक-दूसरे की सीमा से टकरा जाना चाहती है तथा संसार में ज्ञान के साथ-साथ मूढ़ता भी विकसित हुई है। यदि शान्ति की सुरक्षा करनी है, तो प्रत्येक व्यक्ति को पहले शान्ति की अन्तर्मुखी अर्चना करनी होगी। यदि मानवता की रक्षा करनी है तो सभी मानवों को सच्चे अर्थ में मानव बनना होगा, आसुरी प्रकृतियों का परित्याग करना होगा। निरस्त्रीकरण मे भी सुन्दर समस्या का समाधान हृदय-परिवर्तन द्वारा, पारस्परिक सद्भावना तथा मैत्री से हो सकता है। निरस्त्रीकरण सामयिक भावुकता द्वारा भले ही युद्ध की आशंका को टाल दे; किन्तु युद्ध की भावना का परित्याग तो पारस्परिक मैत्री द्वारा ही हो सकता है। सद्भावना विहीन निरस्त्रीकरण हाथ-पैर से भी युद्ध करा सकता है, जबकि सद्भावना अणुशक्ति को पकड़े हुए हाथों को भी एक-दूसरे के उत्कर्ष में सहयोगी बना कर मानवता की रक्षा कर सकती है।

दूसरी ओर मानवता के इस प्रहरी ने मनुष्य-जीवन की सारी अनैतिक गतिविधियों का अध्ययन किया और मानवता की सही पीड़ा पहचानी। अप्रामाणिकता, मिलावट, अकारण हिंसा, सामान्य असत्य, चारित्रिक निर्बलता, संग्रह एवं काम-पिपासा आदि को बढ़ावा देने वाली छोटी-छोटी अनैतिकताओं को भी खोज निकाला। इतना ही नहीं, इस मसीहा ने तो मनुष्य को कौन कहे, जानवरों तक की पीड़ा का भी अनुमान किया। अणुव्रतों के छोटे-छोटे बम हमारे जीवन में अणु-परीक्षण करती हुई अनैतिकता को बड़े ही स्नेहपूर्ण ढंग से नैतिकता में परिवर्तन कर देते है। इस मसीहा के शब्द-कोष में कहीं भी 'विनाश' का शब्द नहीं है।

आधुनिक बुद्ध

यह तरुण तपस्वी समूची दुःखी मानवता को पुकार-पुकार कर एकत्र कर रहा है। इसकी पुकार पर मनुष्यों का विशाल समूह दौड़ रहा है और इस आधुनिक बुद्ध के चारों ओर ललचाई दृष्टि से खड़ा हो रहा है। इसकी पुकार सागर की प्रत्येक लहर पर छहर रही है, पर्वतों की बर्फीली चोटियों पर मचल रही है।

भौतिक प्रवाह मे त्रस्त मनुष्यों के बीच उनका यह नया आराध्य बड़े ही प्यार मे कहता है, "मुझे भीख दो, भाइयो! मुझे अपने एक-एक दोष की भीख दो!"

तुम व्यक्ति को मिटा नहीं सकते! तुम्हें समाज बन जाना है—एक बूंद और बूंदों के अगणित अस्तित्वों का संग्रह-सागर। वह एक बूंद भी अमर है, किन्तु सिन्धु बन कर।

अणु और विराट के मधुर सामंजस्य का यह महान् प्रणेता आज लोगों में आनन्द बाँट रहा है।

अणु-परीक्षण का काल अभी भूत नहीं हो सका। सहारा की रेत के बाद अब उसके क्रूर चरण वायुमण्डल और भू-गर्भ में विचरण कर रहे हैं। मानवता का परोक्ष विनाश प्रारम्भ है; चाहे युद्ध द्वारा प्रत्यक्ष विनाश अभी दूर हो। किन्तु अणुव्रतों की आध्यात्मिक अणु-शक्तियों का परीक्षण अब समाप्त हो चुका है। वे जीवन के एक-एक दीप सिद्ध हो चुके हैं।

आज मानवता के इस मसीहा को प्रकाश फैलाते हुए पच्चीस वर्ष पूर्ण हुए। इसकी धवल-जयन्ती मनाई जा रही है। मैं साफ कह दूँ—यह आचार्यश्री तुलसी की धवल-जयन्ती नहीं; मानवता के भविष्य का रजत-समारोह है। गगन-मण्डल के जय-घोष, आचार्य तुलसी के लिए नहीं, अहिंसा और सत्य की विजय का शंखनाद है। आचार्यश्री तुलसी को देख कर संसार को फिर एक बार विश्वास हो चला है—"मानवता अमर है, शान्ति अमिट है, सत्य की विजय होती है, अहिंसा परम धर्म है और मैत्री तथा सद्भावना का आधार ही सच्चा निरस्त्रीकरण है।"

युगधर्म-उन्नायक आचार्यश्री तुलसी

डा० ज्योतिप्रसाद जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०, पी-एच० डी०

श्रमण-परम्परा मे साधु और श्रावक का सयोग मणि-कंचण संयोग है। साधु की शोभा श्रावक से है और श्रावक की साधु से। बिना श्रावक हुए कोई साधु नहीं बन सकता। दूसरी ओर श्रावक को धर्म-साधन में, अपने नैतिक एवं आत्मिक विकास में साधु से ही निरन्तर प्रेरणा एवं पथ-प्रदर्शन मिलता है। साधु को लेकर ही श्रावक का अधिकांश व्यवहार और धर्म-साधन चलता है। साधुओं के समीप धर्मोपदेश श्रवण करने से ही गृहस्थ की श्रावक संज्ञा सार्थक होती है। दोनों ही एक-दूसरे के पूरक हैं, एक-दूसरे के लिए अनिवार्य हैं तथा श्रमण-संघ के अविभाज्य अंग हैं। भगवान् महावीर ने साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप जिस चतुर्विध श्रमण-संघ का संगठन किया था, उसके ये चारों ही अंग परस्पर में एक-दूसरे से सर्वथा स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे के पूरक एवं धर्म-साधन में सहयोगी होते हैं। गृहस्थ (श्रावक-श्राविका) जीवन में धर्म के साथ-साथ अर्थ और काम पुरुषार्थों के साधन की भी मुख्यता होती है, जबकि त्यागी (साधु-साध्वी) का जीवन धर्म और मोक्ष पुरुषार्थ द्वय-साधन के लिए होता है। अस्तु, धर्म-पुरुषार्थ ही साधु और गृहस्थ के सम्बन्धों की प्रधान कड़ी है। साधुवर्ग की सेवा-भक्ति करना गृहस्थ का मुख्य दैनिक कर्तव्य है; तो गृहस्थों को धर्मोपदेश देना, उनका पथ-प्रदर्शन करना, उनमें धर्मभाव की वृद्धि करना और नैतिकता का संचार करना साधुवर्ग के धर्म का मुख्य अंग है।

यों तो श्रमण-परम्परा के सभी साधु उपर्युक्त प्रकार से प्रवर्तन करते हैं, किन्तु वर्तमान में श्वेताम्बर तेरापंथी साधु-संघ अपने नवम संघाचार्य श्री तुलसी गणी के नेतृत्व में जिस संगठन, व्यवस्था, उत्साह एवं लगन के साथ, श्रमण-आचार-विचारों की प्रभावना कर रहा है, वह श्लाघनीय है। भारत की स्वाधीनता-प्राप्ति के दो वर्ष के भीतर ही जिस सूझ-बूझ के साथ आचार्यश्री तुलसीगणी ने देश में नैतिकता की वृद्धि के लिए अपना अणुव्रत-आन्दोलन चलाया, उसकी प्रत्येक देश-प्रेमी एवं मानवता-प्रेमी व्यक्ति प्रशंसा करेगा। गत बारह वर्षों में इस अणुव्रत-आन्दोलन ने कुछ-न-कुछ प्रगति की ही है; किन्तु अपने उद्देश्य में वह कितना क्या सफल हुआ, यह कहना अभी कठिन है। ऐसे नैतिक आन्दोलनों का प्रभाव धीरे-धीरे और देर से होता है। वह तो एक वातावरण का निर्माण-मात्र कर देते हैं और जीवन के मूल्यों को नैतिकता के सिद्धान्तों पर आधारित करने में प्रेरणा देते हैं। यही ऐसे आन्दोलनों की सार्थकता है। श्रमणाचार्य तुलसी के संघ के सैकड़ों साधु-साध्वियों द्वारा अपने-अपने सम्पर्क में आने वाले अनगिनत गृहस्थ स्त्री-पुरुषों का नैतिक स्तर उठाने के लिए किये जाने वाले सतत प्रयत्न अवश्य ही युग की एक बड़ी माँग की पूर्ति करने में सहायक होंगे। अब से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आचार्य भीखणजी ने कुछ विवेकी श्रावकों की प्रेरणा से ही अपने सम्प्रदाय में एक सुधार-क्रान्ति की, जिसके फलस्वरूप प्रस्तुत श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव हुआ। यह संघ तब से शनैः-शनैः विकसित होता एवं बल पकड़ता आ रहा है। किन्तु इस सम्प्रदाय की सीमित क्षमताओं का व्यापक एवं लोक-हितकारी उद्देश्यों की सिद्धि के लिए जितना भरपूर एवं सफल उपयोग इसके वर्तमान आचार्य ने किया है और कर रहे हैं, वैसा किसी पूर्ववर्ती आचार्य ने नहीं किया। देश की नैतिकता में वृद्धि और श्रमण-संस्कृति की प्रभावना के लिए किये गए सत्प्रयत्नों के लिए युगधर्म-उन्नायक आचार्य तुलसी गणी को उनके आचार्यत्व के धवल-समारोह के अवसर पर जितना भी साधुवाद दिया जाये, थोड़ा है।

●

संघीय प्रावारणा की दिशा में

मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुदर्शन'

जिस प्रकार आजकल डायरी का स्थान साहित्य जगत् में महत्त्व पूर्ण बन गया है, उसी प्रकार पत्रों ने भी साहित्य क्षेत्र में अपना एक विशिष्ट स्थान प्राप्त कर लिया है। इसीलिए आजकल लोग बड़े साहित्यकारों व महापुरुषों के पत्र बड़े चाव से पढ़ते हैं।

पत्र स्वाभाविकता से भरा रहता है, अतः उसमें अपनी विशेषता होती है। वह दूर बैठे व्यक्ति को सौहार्द के धागे में पिरोए रखता है। उसमें लेखक का निश्छल हृदय और उनके दूसरों के प्रति विचार बड़ी स्पष्टता से निकलते हैं, जिससे पाठक पर अनायास ही असर पड़े बिना नहीं रहता।

तेरापंथ के आचार्यों में भी पत्र देने की परम्परा रही है, परन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। क्योंकि जैन साधु गृहस्थों के साथ व डाक द्वारा पत्र व्यवहार नहीं करते। इस कारण पत्र बहुत कम दिये जाते हैं। जो अत्यावश्यक पत्र संघ के साधु-साध्वियों को दिये जाते हैं, वे उसी स्थिति में दिये जाते हैं जबकि कोई संघ का साधु-साध्वी वहाँ तक पहुँचा सके।

आचार्य भिक्षु ने अपने संघ की साध्वियों को, अनुशासन के प्रश्न को लेकर पत्र दिये हैं, जिसमें हमें उस समय के संघ की स्थिति का कुछ इतिहास मिलता है। तृतीय आचार्य श्रीमद् रायचन्दजी ने अपने भावी उत्तराधिकारी को पत्र दिया है जिसमें उनके (जयाचार्य के) प्रति बड़े मार्मिक उद्गार प्रगट हुए हैं। इस प्रकार आचार्यों ने अपने संघ के साधु-साध्वियों को विभिन्न परिस्थितियों में पत्र दिये हैं जो आज हमारे लिए इतिहास के अंग बन गये हैं।

तेरापंथ साधु समाज का विस्तार जितना आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में हुआ, उतना पिछले आचार्यों के समय नहीं हुआ। इसलिए उनके दायित्वों का विस्तार भी हो गया। अनेक आन्तरिक कार्य उनको पत्रों द्वारा करने पड़ते हैं। इसलिए अन्य आचार्यों की अपेक्षा आचार्यश्री के पत्रों की संख्या अधिक है। उनके पत्रों में तेरापंथ की आन्तरिक स्थिति का चित्रण पाठकों को मिलेगा। इसके अलावा साधु-साध्वियों के प्रति उनकी वत्सलता का सजीव भाव। इससे भी महत्त्वपूर्ण बात है उनके हृदय की आवाज कि वे किस प्रकार आज के जमाने में संघ को फला-फूला देखना चाहते हैं। उनका अदम्य उत्साह, कार्य करने की अजस्र धुन, विरोधों को सहने की अटूट शक्ति, देशाटन करने की प्रबल भावना, कर्तव्य-परायणता आदि अनेक हृदय को छूने वाली घटनाएं हैं।

आचार्यश्री को पदारूढ़ हुए पच्चीस वर्ष सम्पन्न हो गये हैं। इस दीर्घ अवधि में उन्होंने साधु-साध्वियों को अनेक पत्र दिये हैं। उनमें सर्व प्रथम सती छोगांजी को दिया हुआ पत्र है, जो उन्होंने पदासीन होते हुए ही लिखा था।

सती छोगांजी अष्टम आचार्य कालूगणी की संसार पक्षीय माता थीं। उसने अपने पुत्र कालू के साथ ही दीक्षा ली थी। वृद्धावस्था के कारण उनसे चला नहीं जाता इसलिए वे कई वर्षों से बीदासर में स्थिरवास किये हुए थीं। कालूगणी का स्वर्गवास सं० १९९३ भाद्रव शुक्ला ६ को हुआ। भाद्रव शुक्ला ९ को बाईस वर्ष की अवस्था में आचार्यश्री तुलसी पदासीन हुए। चातुर्मास के बाद साध्वियों के एक सिंघाड़े के साथ छोगांजी को आचार्यश्री ने एक पत्र लिखकर भेजा।[1]

ॐ नमः !

छोगाँजी सूँ घणी-घणी सुखसाता बंचै। थे चित्त में घणी-घणी समाधि राखज्यो और अठै सूँ सत्याँ चानाँजी आदी

---

१ आचार्यश्री ने अधिकांश पत्र मारवाड़ी में ही लिखे थे।

ठाणा ५ बठै भेज्या छै सो वह सुखसाता का समाचार सारा ही कहसी और बड़ा म्हाराज साहिब महा भाग्यवान प्रबल प्रतापी देवलोक पधार गया सो निजोरी बात है। काल आगै कोई को जोर चालै नहीं तीर्थंकर देव नै पिण काल तो छोड़ै नहीं इम विचार करी नै चित्त मैं समाधि विशेष राखणी चाही जै। बाकी जिम कालूगणीराज के आप माता छा तिम म्हाँरे पिण माता तुल्य छो जिण सूँ कोई बात को विचार करी ज्यो मती और म्हाँरा पिण दर्शन देवण रा भाव वेगा ही है। मेवाड़ देश मैं चोमासा दोय हुवा तो पिण गामाँ मैं विशेष विचरणो हुवो नहि तिण सूँ अठै विचरवा की अबार जरूरत है तो पिण बठै दर्शन देणा जरूरी समझकर द्रव्य, क्षेत्र काल-भाव देखकर दर्शन वेगा ही देवारा भाव है। पिण दूर को काम है। आणो बैंत सूँ होसी। तिण सूँ पहली सत्याँनै मेल्या छै सो जाणीज्यो। और तपस्या शरीर की शक्ति देख-देख कर करीज्यो और चित्त समाधि में घणो राखज्यो। सं० १९९३ मृगशिर वदि २ सोमवार।

मेवाड़ मै तथा मारवाड़ मै विहरमाण साधु सतियाँ सूँ यथायोग बंचै। अबकी बार अठीनै नहीं बोलाया तिण सूँ साधु सत्याँ के दिल मै खासी आइ हुवेला। थाँरी काँइ बात म्हारे भी दिल मै आवे है। पर जियाँ अवसर हुवै वियाँ ही करणो पड़े। बाकी वठे रहकर भी शासन को काम करो हो आही म्हारी ही सेवा है। अबकी बार साधु-सत्याँ म्हारी दृष्टि देखकर सार्वजनिक प्रचार मै केइ जग्याँ आछी मिहनत करी, इं बात की मनै प्रसन्नता है। साराँ ने ही चाहिजै कि आपणी हद मै रहता हुवां धर्म को व्यापक प्रचार हुवै। धर्म एक जाति विशेष मै बंध्यो नहीं रह सके है। मेवाड़ सार्वजनिक प्रचार को आछो क्षेत्र है सो पूरी मिहनत हुणी चाहिजै। श्रावका ने भी पूरी चेष्टा करनी चाहिजै। सारा ही संत सत्याँ आछी तरह सूँ आनन्द मै रहीज्यो। अठे घणो आनन्द छै। शेष समाचार शिष्य मिठालाल केवेला। वि० संवत् २००८ फा० व० १० सरदारशहर।

तुलसी गणपति नवमाचार्य

सौराष्ट्र मै विहरमाण चन्दनमुनि सूँ वंदना तथा सुखसाता बंचै। सौराष्ट्र मै आप आछो उपकार कर रह्या हो, प्रसन्नता की बात है। इधर मै आपको स्वास्थ्य कुछ कमजोर सुण्यो तथा रात मैं नींद कम आवै इसी सुणी तिण सूँ कुछ विचार हुयो। देशान्तर मै विचरणे वाला साधुवाँ को शरीर ठीक रेणे सूँ म्हारे भी दिल मै तसल्ली रेवे। काम भी आछो हुवै। बाकी आपकै शरीर नै वो देश नहीं माने तो आप कहवा दीज्यो मै विचार लेवाँगा। शिष्य पूनम, शिष्य उगम आदि सर्व संता सूँ भी सुखसाता बंचै। सारा ही संत घणी चित्त समाधि सूँ रहीज्यो। तन मन सूँ घणे राजी हेत सूँ काठियावाड़ में मिहनत करज्यो, उपकार हो तो लखावै है। सारा ही संता की मिहनत पर म्हारो चित्त प्रसन्न है। अठै सूँ कानमलजी स्वामी तथा रूँपाजी, गुलाबाँजी ने भेज्या है। अठै की सुखसाता का सारा ही समाचार कहसी। इधर मै म्हारे त्रिवार्षिक देशाटन सै शासन को अच्छो उद्योत हुयो है सो जाणसी। सं० २००८ पो० व० ८ भादरा।

तुलसी गणपति नवमाचार्य

जेष्ठ सहोदर चम्पालालजी स्वामी, वदनाँजी तथा लाडाँजी सूँ यथायोग्य वंदनाँ सुखसाता बंचै। अपरंच म्है आज पौणी दस वज्याँ आसरै घणी सुखसाता सहीत फूलासर पहुँच्या सवारे अठै सूं विहार कर के आगै जावण रा भाव है और वदनाँजी के अबै ठीक ही हुवेला। तरतर कमजोरी मिटकर शक्ति आवेला। आप तीनाँ के इंयाँ लारै रेहणै को सायत पहिलो ही मोको है, घणो आछो संजोग मिल्यो है। माता नै संजम को स्हाज देवणो ओ एक पुत्र-पुत्री के वास्ते उऋण होने को मोको है। मनै पिण इं बात को घणो हर्ष है। अबै वदनाँजी के जल्दी ठीक हुणै सूँ विहार करके आइज्यो। घणी जल्दी करीज्यो मती, कारण रहणो तो हो ही गयो। घणी-घणी चित्त समाधि राखीज्यो। वदनाँजी के समाधि हुणै सूँ सघलाँ के चित्त मैं घणी समाधि हुवै। और सर्व संत सत्याँ सूँ यथायोग्य वंदनाँ सुखसाता बचैं। सं० २००२ फा० वदि १२ फूलासर।

तुलसी गणपति

मंत्री मुनि तेरापंथ संघ के सर्व सम्मान्य व्यक्ति थे। उन्होंने पाँच आचार्यों का जीवनकाल देखा, वे सभी के कृपापात्र रहे। आचार्यश्री तुलसी ने इनको मंत्री की उपाधि से विभूषित किया। यह तेरापंथ संघ में पहला अवसर था कि किसी मुनि को मंत्री की उपाधि मिली हो। वे अपने जीवन में सदा ही आचार्यों के साथ रहे। पहली बार शारीरिक अस्वस्थता के कारण उनको बीदासर में रहना पड़ा। तब लाडनूं में आचार्यश्री ने उनको पहला पत्र संस्कृत में लिखकर दिया था, उसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है :

मंत्री मुने ! पुनः-पुनः वंदना और बार-बार सुख पृच्छा। इन समाचारों को सुनकर मुझे बड़ा खेद हुआ कि आपका शरीर पहले की तरह अस्वस्थ ही है। खेद ! जिस प्रकार आपका शरीर जरा जीर्ण हो गया, क्या इस दुनिया की औषधियाँ भी जीर्ण हो गई ? क्या सभी प्रकार की चिकित्साएं संदिग्ध हो गई ? जिससे आपका शरीर अभी भी व्याधि-ग्रस्त हो रहा है। मैं मानता हूँ कि आपका शरीर जितना रोग से पीड़ित नहीं है उतना मुझसे दूर रहने के कारण है। ऐसा मैं विश्वास करता हूँ। यह मेरी कल्पना सही है। किन्तु यह शरीर तो समय आने पर मुझसे मिलने पर स्वयमेव स्वस्थ हो जायेगा, ऐसा लगता है।

आप इस अन्तराय काल में शान्त चित्त होकर रहें। क्योंकि यह मैं निश्चित मानता हूँ कि "आप मेरे से कोई दूर नहीं हैं और न मैं आपसे दूर हूँ।" इन मेरे वाक्यों को बार-बार स्मरण रखते हुए अपने अन्तःकरण को शान्त रखें। अपना मिलन शीघ्र ही होने की सम्भावना है।

यहाँ समस्त संघ पूर्णतया कुशल है वैसे ही वहाँ होगा। सं० २००५ पौष कृष्णा ५, लाडनूं।

तुलसी गणपति नवमाचार्य

तुम मानव !

मुनिश्री श्रीचन्दजी 'कमल'

तुम मानव हो
देवत्व तुम्हारे चरणों में लुटता है
लोग तुम्हारे में देवत्व की कल्पना कर रहे हैं
पर तुम मानव हो
और
मानव ही रहना चाहते हो
क्योंकि
देवत्व विलासिता का रूपक है और मानव पुरुषार्थ का। पुरुषार्थ में तुम्हारा विश्वास है, इसीलिए तुम मानव रहना चाहते हो।

इस युग के प्रथम व्यक्ति

श्री गिल्लूमल बजाज
अध्यक्ष, अणुव्रत समिति, कानपुर

यह कोई शाश्वत तथ्य नहीं कि भौतिकता अनैतिकता का आश्रय लेकर ही चले, किन्तु जब मानव दृष्टि-पथ में निःश्रेयम् हो ही नहीं और वह उसकी आवश्यकता भी स्वीकार न करना चाहे तो उस उपेक्षित आध्यात्मिकता में भौतिकता को अनैतिकता की भूमि पर खड़े होने से रोक देने की शक्ति ही कहाँ से आयेगी। यह एक नियम-सा है कि भौतिक उत्थान आध्यात्मिकता को उपेक्षा की दृष्टि मे देखता है और इसीलिए यह स्वीकार किया जाता है कि भौतिकता अनैनिकता की भूमि पर खड़ी होती है।

जब हम अपने राष्ट्र पर दृष्टि डालते हैं और यह देखते हैं कि हमें भयंकर अनैतिकता के वातावरण में से होकर चलना पड़ रहा है, तब हमें आश्चर्य होता है और हम यह सोचने के लिए वाध्य हो जाते हैं कि यह सम्भव कैसे हुआ; क्योंकि हमें स्वतन्त्र करने का श्रेय सत्य, अहिंसा और प्रेम पर आधारित हमारे नैतिक आन्दोलन को है। स्वतन्त्र हम हुए नैतिकता के बल पर और स्वतन्त्रता-जन्य सुखोपभोग के लिए हम आश्रय ले रहे हैं—अनैतिकता का; यह आश्चर्य ही तो है!

ऐसा विपरीत परिणाम क्यों? और इस विपरीतावस्था में होने वाले राष्ट्रोत्थान का प्रयास क्या हमारी वास्तविक सुख-समृद्धि की सृष्टि कर सकेगा; यह भी एक प्रश्न है और जिसे हम राष्ट्र-निर्माण की संज्ञा दे रहे हैं क्या सचमुच में इस प्रकार का राष्ट्र-निर्माण वस्तुतः हमारे लिए लाभप्रद है; इस पर भी हमें सोचना होगा।

राष्ट्र निर्माण और नैतिकता

राष्ट्र किसी विशेष स्थल के अन्योन्याश्रित निवासियों के उस समूह को कहते हैं जो अपने सदस्यों की सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक विचारधाराओं को एक साथ, एक ही दिशा में प्रवाहित करता है और जो सम्बन्धित सदस्यों के वैयक्तिक स्वार्थों को सामूहिक स्वार्थ का पूरक बना देता है। इसीलिए राष्ट्र-निर्माण का वास्तविक अर्थ है, राष्ट्र के नागरिकों के चरित्र को उस साँचे में ढालना, जो सम्वन्धित समुदाय के स्वार्थ की पूर्ति करने वाला हो। यदि ऐसा प्रयास नहीं हो रहा तो नामपट्ट चाहे जो लगा दिया जाये, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि उस प्रयास को राष्ट्र-निर्माण का नाम देना, राष्ट्र को धोका देना है।

निःसन्देह बड़े-वड़े कारखानों की स्थापना हो रही है, बाँध और नहरें अस्तित्व में आ रहे हैं, बिजली का प्रसार हो रहा है; किन्तु क्या इसीसे राष्ट्र-निर्माण हो जायेगा? क्या इसीसे हमारे देश में घी और दूध की नदियाँ बहने लगेंगी? सत्य तो यह है कि राष्ट्र-निर्माण की दिशा में सवसे पहले नागरिकों के चरित्र-निर्माण की आवश्यकता है।

प्राप्य एवं संग्रह में एक अन्तर है, यह नागरिकों को मालूम होना चाहिए। अधिकार का ही ज्ञान पर्याप्त नहीं है, नागरिक को कर्तव्य का ज्ञान भी होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं होता तो राष्ट्र की चाहे जो भी इमारत खड़ी की जाये, वह स्थायी नहीं होती। जिस राष्ट्र का नागरिक अपने कर्तव्य और अधिकार, अपने प्राप्य और देय के अन्तर को ईमानदारी से स्वीकार नहीं करता, वह राष्ट्र जियेगा कैसे?

राष्ट्रीयता का प्राण है, राष्ट्र के प्रति निष्ठा। राष्ट्र-निष्ठा का अर्थ है, उसके निवासियों के कल्याण की भावना।

राष्ट्रहित-साधन नागरिकों की सुख-समृद्धि के लिए किये जाने वाले प्रयास का नाम है। हम वर्तमान काल को राष्ट्र-निर्माणकाल की संज्ञा देते हैं; अतः हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम राष्ट्र-निर्माणात्मक अपने कार्यों पर एक दृष्टि डाल लें और यह देख लें कि हम कितने पानी में हैं। इस सम्बन्ध में हमें दो बातों की विवेचना करनी होगी। एक तो यह कि क्या हम सचमुच राष्ट्र-निर्माण कर रहे हैं और दूसरी यह कि क्या हमारा प्रयास स्थायी परिणाम का जनक होगा।

नैतिकता व अनैतिकता का सम्बन्ध

हमारी पंचवर्षीय योजनाएं निःसन्देह देश के आर्थिक स्तर को उठाने वाली हैं; किन्तु हम यह कैसे समझें कि योजनाओं द्वारा राष्ट्र का उच्चीकृत स्तर देश में सुख-शान्ति की सृष्टि करेगा और यदि सुख-शान्ति के हमें दर्शन भी हुए तो इसका क्या भरोसा कि हम उसे पकड़ कर रख सकेंगे।

समृद्ध नागरिक का नैतिक स्तर उच्च ही होगा, यह कहना स्वयं अपने को भ्रम में डालना है। वास्तविकता तो यह है कि नैतिकता-अनैतिकता का सम्बन्ध धन अथवा दरिद्रता से बिल्कुल नहीं। यदि अनैतिकता का प्रसार अवरुद्ध नहीं हुआ तो वह बढ़ेगी और उसका बढ़ना क्या होगा, कहाँ तक होगा, इसका अनुमान नहीं लगाया जा सकता। हीन चरित्र के नागरिक से राष्ट्रोत्थान की आशा करना बुद्धिमानी की बात नहीं; क्योंकि वह अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी कर सकता है। राष्ट्र को बेच सकता है, राष्ट्र की इज्जत को गिरवी रख सकता है।

राष्ट्र-निर्माणार्थ आवश्यक है कि उसमें नैतिक बल उत्पन्न किया जाये। राष्ट्रोत्थान तभी सम्भव होगा, जब नागरिक का नैतिक उत्थान होगा, जब नागरिक अपना कर्तव्य समझता होगा और उसका पालन करता होगा। जब नागरिक अपने कर्तव्यों और दूसरे के अधिकारों की रक्षा को अपना धर्म मानता है, तभी राष्ट्र का वास्तविक उत्थान होता है और वह उत्थान उत्कर्षोन्मुख रहता है।

गिरती हुई नैतिकता को रुकने की सुविधा मिलना कठिन हो जाता है। दूर न जाकर हमें अपने पर ही एक दृष्टि डालनी होगी। यह एक तथ्य है कि स्वतन्त्र होने के पश्चात् आर्थिक दृष्टि से देश कुछ ऊपर उठा है, किन्तु साथ ही यह एक विचित्र-सी बात हुई कि हमारा राष्ट्रीय चरित्र हीन ही होता चला गया है। आखिर ऐसा क्यों?

हम ऊपर कह चुके है कि हम नैतिकतापूर्ण राजनैतिक आन्दोलन की सीढ़ी पर चढ़ कर स्वतन्त्रता के मन्दिर तक पहुँच सके हैं। तब हमारा चरित्र आज हीन क्यों है? कारण केवल इतना है कि स्वतन्त्र होने के पश्चात् स्वतन्त्रता को स्थायित्व प्रदान करने के लिए उसको नैतिकता का सिंहासन देना हम आवश्यक नहीं मान सके। हमने सुख-समृद्धि के लिए तो वास्तविक प्रयास जारी रखा, किन्तु मार्ग-भ्रष्ट हो गये; अतः फल विपरीत हुआ। सुख-समृद्धि का युग तो चलता ही रहा, किन्तु नैतिकता का युग समाप्त हो गया। परिणाम यह हुआ कि सुख-समृद्धि में न्यूनता नहीं आई, किन्तु शक्ति नष्ट होना प्रारम्भ हो गई। हमको अपनी-अपनी पड़ गई। हमने कर्तव्य का पल्ला तो छोड़ दिया, किन्तु अधिकारों की माँग करने में एक-दूसरे को पीछे धकेल कर आगे बढ़ने के प्रयास में जुट गए। विवेक को चालाकी ने पराजित कर दिया। कर्तव्य-भावना को अवसरवादिता ने रौंद डाला।

इस वातावरण में हम राष्ट्र-निर्माण कर रहे हैं। यह हम जानते हैं कि राष्ट्र-निर्माताओं की कर्तव्य-भावना सन्देह से परे है; किन्तु जिन ईंटों से भवन खड़ा हो रहा है, वे कच्ची हैं, घटिया किस्म की हैं। तब पक्का और मजबूत भवन खड़ा कैसे होगा?

राष्ट्रपिता महात्मा गांधी नैतिकता की अपरिहार्यता को ठीक-ठीक समझते थे, अतः उसको उन्होंने अपने आन्दोलन का आधार बनाये रखा। महात्माजी के पश्चात् उनके सिद्धान्त को यथावत् समझने वाली और उनको कार्यान्वित करने वाली देश में केवल दो विभूतियाँ रह गईं: एक तो आचार्य विनोबा भावे और दूसरे आचार्य तुलसी। आचार्य तुलसी की विशेषता यह है कि उन्होंने देश में नैतिकता की स्थापना को ही अपने जीवन का लक्ष्य घोषित किया और अपनी घोषणा को सत्य एवं फलवती सिद्ध करने के लिए उन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कया।

अणुव्रती के काम्य

अणुव्रत-आन्दोलन चरित्र-निर्माण का आन्दोलन है, राष्ट्र-निर्माण का आन्दोलन है, मानव-मात्र के कल्याण-साधन का आन्दोलन है। इस आन्दोलन को देश, काल और पात्र की सीमाओं से परिवेष्टित नहीं किया जा सकता। यह मनुष्यमात्र के कल्याण का मार्ग-निर्माण करने वाला प्रयास है और कहा तो यह भी जा सकता है कि प्राणी-मात्र के सुख और शान्ति अणुव्रती के काम्य हैं।

आचार्य तुलसी जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के निर्देशक, नियामक व नवम आचार्य हैं और उनका स्थान अपने अनुयायियों में इतना उच्च है कि शायद ही किसी अन्य सम्प्रदाय के आचार्य का आसन उसकी समता कर सके, किन्तु फिर भी अणुव्रत-आन्दोलन पर साम्प्रदायिकता की किसी प्रकार की छाप नहीं। अणुव्रत-आन्दोलन का क्षेत्र सभी मनुष्यों का स्वागत करना है। वे चाहे किसी भी देश, समाज, जाति, वर्ण अथवा सम्प्रदाय के हों। अणुव्रत-आन्दोलन साम्प्रदायिक मान्यताओं पर न तो आघात करता है और न उन्हें बढ़ावा देता है। किन्तु मानव-धर्म को प्रमुखता देने का प्रयास करता है और उसको मान्यता दिलवाने का प्रयत्न करना ही अणुव्रत-आन्दोलन का एकमात्र उद्देश्य है।

आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ के नवम आचार्य हैं; अतः जो तेरापंथ की मान्यताओं से परिचित नहीं और जिसको आचार्यश्री के दर्शन नहीं मिले, वह यही समझेगा कि इतने सामान्य व्यक्ति का वैभव स्पृहणीय होगा, उनकी सुविधाएं असीम होंगी। किन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है। उनके परिवार नहीं, घर नहीं, सम्पत्ति नहीं, मठ नहीं, कोई स्थायी निवास नहीं, किसी सवारी पर चलते नहीं, किसी प्रकार की कोई सामग्री पास रखते नहीं; श्वेत परिधान, कुछ आवश्यक पुस्तकें और काष्ठपात्र को छोड़कर। भिक्षान्न पर जीवन-यापन और जीवन का लक्ष्य मनुष्यमात्र का कल्याण। आतिथ्य-सत्कार स्वीकार करना उनकी परम्परा के विपरीत है। आचार्यत्व के अतिरिक्त किसी पद को स्वीकार करना उनकी धार्मिक मान्यताओं के अनुकूल नहीं। वे इतने निःस्पृह और इतने निष्काम हैं।

यदि ऐसे शुद्ध चरित्र का व्यक्ति हमसे शुद्ध चरित्र की आकांक्षा करता है, तो वह स्वाभाविक है और उसका प्रभाव पड़ना हमारे ऊपर अनिवार्य भी है। अणुव्रती से अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक न तो सम्मान चाहते हैं और न बदले में किसी कामना की पूर्ति की आकांक्षा ही रखते हैं। उनकी तो हमसे केवल इतनी ही माँग है कि हम अपने चरित्र को निष्कलंक रखें और वास्तविक मनुष्य बनने का प्रयास करें।

आचार्यश्री श्रमण-संस्कृति के वर्तमान तपोधन प्रतिनिधि हैं। उनकी प्रवृत्ति जन्मना वैराग्यमूलक है। आचार्यश्री का व्यक्तित्व इतना महान् सिद्ध हुआ कि वह तेरापंथ के घेरे में न समा सका और आज अणुव्रत-आन्दोलन-प्रवर्तक के रूप में हम उन्हें युग-स्रष्टा मनीषियों में प्रमुख स्थान अधिकृत किये पा रहे हैं।

आध्यात्मिक वातावरण की सृष्टि ऐसे ही गृहत्यागी महात्माओं के द्वारा होती आई है। भगवान् बुद्ध, महावीर स्वामी, शंकराचार्य, ईसा इत्यादि जितने भी आध्यात्मिकता का सन्देश देने वाले विश्व में हुए हैं, सब इसी श्रेणी के थे। उनकी निःस्पृहता, उनकी अकिंचनता ही में वह शक्ति थी कि मनुष्य को उनकी बात सुनने के लिए बाध्य होना पड़ा है। आचार्य तुलसी उसी परम्परा के हैं। इसीलिए अणुव्रत-आन्दोलन की सफलता असंदिग्ध है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य को आज इसी सन्देश की सबसे अधिक आवश्यकता है।

स्वर्ण तभी शुद्ध होता है, जब वह अग्नि में तपा लिया जाता है। जितना जल जाता है, वह विकार होता है और जो शेष रहता है, वही सोना है। गुणगान ही यथेष्ट नहीं होता, गुणों को कसौटी पर कसना भी जरूरी होता है। अणुव्रत-आन्दोलन पर हम जितना विश्वास करते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं कि वह आवश्यकता से अधिक हो।

सबसे पहले तो हमें यह देख लेना आवश्यक है कि आन्दोलन-प्रवर्तक अपने आन्दोलन के द्वारा किस उद्देश्य-प्राप्ति के इच्छुक हैं। कहीं ऐसा तो नहीं कि अपने वैयक्तिक, पारिवारिक अथवा अन्य किसी संकुचित स्वार्थ सिद्धि के लिए आन्दोलन केवल सीढ़ी का काम दे रहा हो। यदि ऐसी परिस्थिति आन्दोलन को जन्म देने वाली होती है तो कर्णधार कर्णधार न सिद्ध होकर अपने अनुयायियों को बीच धार में डुबाने वाला होता है। वह अपने अनुयायियों की निष्ठा का

दुरुपयोग करता है और जब वह देखता है कि उसकी आन्तरिक लिप्सा-पूर्ति की क्षमता अनुयायियों की तपस्या ने उसमें उत्पन्न कर दी है तो वह उन्हें ठीक उसी तरह पीछे छोड़ जाता है, जिस तरह किसी भवन की सीढ़ियों को एक-एक कर छोड़ता हुआ कोई व्यक्ति ऊपर चढ़ता है।

आचार्यश्री की ओर जब हमारी दृष्टि जाती है तो हम उन्हें संसार-त्यागी के रूप में पाते हैं। जब वे अपना स्थायी निवास-स्थान नहीं बनाते, किसी पद को स्वीकार नहीं करते, धन को छूते भी नहीं, अपने पास कुछ भौतिक ऐश्वर्य रखते ही नहीं; तब उनकी कोई ऐसी भौतिक कामना हो ही कैसे सकती है जिसे वे आन्दोलन के बल पर पूरी करना चाहते हों। हाँ, उनकी कामना है और वह यही है कि मानव आध्यात्मिक बने। उसका चरित्र शुद्ध हो और उसका कल्याण हो। यह अवस्था ऐसी है जो हमें आश्वस्त करती है, विश्वास दिलाती है और भयमुक्त करती है।

इस युग में राष्ट्र के प्रत्येक अंग में अनैतिकता घर कर गई है जिसे सभी देखते हैं, अनुभव करते हैं; किन्तु आचार्यश्री तुलसी इस युग के प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने उन बुराइयों को दूर करने का निश्चय किया है और वह अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में क्रियान्वित हुआ।

यह आन्दोलन अपने ढंग का एकाकी है; क्योंकि इसमें न तो उपासना-पद्धति पर जोर दिया जाता है और न किसी प्रकार का कोई वचन ही लिया जाता है। वह तो केवल आत्म-शुद्धि की माँग करता है।

नारियों से, विद्यार्थियों से, सरकारी कर्मचारियों से, व्यापारियों से और सभी अन्य नागरिकों से आन्दोलन की माँग उनकी परिस्थितियों के अनुसार है। आचार्यश्री तुलसी चाहते हैं कि राष्ट्र का प्रत्येक वर्ग आदर्श हो, उच्च हो, कर्तव्यपालक हो। यदि यह हो गया तो देश का कल्याण होगा, इसमें सन्देह नहीं।

नहीं भक्त भी, किन्तु विभक्त भी

मुनिश्री मानमलजी (**बीदासर**)

जन-जागृति के अमर प्रणेता है तेरा शतशः अभिनन्दन,
नहीं भक्त भी, किन्तु विभक्त भी करते हैं तेरा अभिनन्दन।

झूम रहे थे जग के चेतन जिन भौतिक श्वासों को पाने,
उलझे थे सूने भावों में जग की चापों को अपनाने,
आ तुमने तब घोर अमा में जीवन की ज्योति दे डाली,
मानव डग भरता है अब तो पाने क्षितिज पार की लाली,
बीहड़ पथ सुषमा से पूरित, हुआ आज सब टूटे बन्धन,
जन-जागृति के अमर प्रणेता है तेरा शतशः अभिनन्दन।

अणु से हो आरम्भ पूर्ण तक है सबको ही बढ़ते जाना,
इसीलिए तो अणुव्रतों का सुना रहा तू गीत सुहाना,
पुलकित हो नैतिकता युग-युग मानवता की हो अगवानी,
जीवन मधुरिम घड़ियाँ ले, गढ़ जाये अपनी मधुर कहानी,
तुम तो स्थितप्रज्ञ तुम्हारे लिए एक है पावक-चन्दन,
जन-जागृति के अमर प्रणेता है तेरा शतशः अभिनन्दन।

व्यक्तित्व-दर्शन

श्री नथमल कठौतिया
उपमन्त्री, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता

मूर्तिकार की कलाकृति में सजावता एवं लालित्य तभी आता है जबकि उसे उपयुक्त शिला-खण्ड प्राप्त हो। माली की कला-दक्षता का सही प्रस्फुटन तभी हो सकता है जबकि उसे उर्वर भूमि उपलब्ध हो, साहित्यकार की लेखनी में रस-संचार तभी हो पाता है, जब कि उसे भावनानुकूल विषय सुलभ हो। यद्यपि मूर्ति की सद्यःसजीवता एवं सौन्दर्य-सुघड़ता का श्रेय मूर्तिकार को, वाटिका की सुरम्य रमणीयता का श्रेय माली को एवं साहित्य की रस स्निग्ध आनन्दमयी कृति का श्रेय साहित्यकार को मिलना है; यह स्वाभाविक है। परन्तु कलाकृति के पृष्ठाधार को परिष्कृत व परिमार्जित करने वाले उस मूक सूत्रधार का एवं कलाकृति व कलाभिव्यक्ति के चरम-विकास में अन्य सभी सहयोगी माध्यमों का भी अपना विशेष महत्त्व है, किन्तु उनका मूल्यांकन व उनके प्रति वास्तविक आभार-प्रदर्शन तो वह कलाकार ही कर पाता है, जिसको इन सबके सहयोग एवं बल पर वांछित सफलता का श्रेय मिला हो।

सर्वसाधारण जन तो उन मूक व मुखर सभी उपादानों के प्रति श्रद्धा-प्रदर्शन का केवल प्रयास मात्र ही कर पाते हैं। प्रस्तुत लेख भी एक ऐसा ही प्रयास है। आचार्यश्री तुलसी वर्तमान युग की एक अनुपम कृति हैं और उसके कलाकार हैं महामानव अष्टमाचार्य श्री कालूगणीराज; जिनकी अनुपम व अनोखी सूझ-बूझ, कर्मठ कर्तव्य-निष्ठा व बहुमुखी विकास प्रतिभा के फलस्वरूप विश्व को एक अमूल्य रत्न, एक ज्वलन्त प्रतिभा प्राप्त हुई। जिसके पुनीत प्रकाश में भ्रमित विश्व अपना पथ-प्रदर्शन पाता है। गौरव एवं गरिमामयी इस भेंट के लिए विश्व इस मूर्धन्य कलाकार का चिर ऋणी रहेगा, इसमें सन्देह नहीं। वर्चस्वी कलाकार श्री कालूगणी के उपर्युक्त अप्रतिम कर्तृत्व में उनके सेवाभावी शिष्य मुनिश्री चम्पालालजी (भाईजी महाराज) का भी उल्लेखनीय योगदान हुआ। वस्तुतः ऐसा सौभाग्य किसी विरले जन को ही मिल पाता है। मुनिश्री आचार्यप्रवर के वरद हस्त हैं, इस हेतु आचार्यश्री के क्रम-विकास में उनका पूरा-पूरा योगदान रहा है, जो स्वाभाविक है।

मुनिश्री की दीक्षा स्वर्गीय आचार्यश्री कालूगणीराज के करकमलों द्वारा चूरू वि० सं० १९८१ में सम्पन्न हुई थी। उनकी अपनी दीक्षा हो जाने के लगभग डेढ़ वर्ष पश्चात् आपका ध्यान अपने अनुज आचार्यश्री तुलसी की विशेषताओं व विलक्षणताओं की ओर आकर्षित हुआ। अनुज के अंक-विशेषों में उन्हें महापुरुषोचित लक्षण दृष्टि-गोचर हुए। इस प्रकार आकृत-विशेष में प्रच्छन्न किसी महान् व्यक्तित्व का आभास पाकर मुनिश्री ने मन-ही-मन अनुज के लिए सर्वोत्तम आत्मार्थी मार्ग की कल्पना संयोजित की और इस हेतु प्रयासित हुए। समय-समय पर मुनिश्री उन्हें प्रेमपूर्वक सरल शब्दों में भिन्न-भिन्न बालकोचित उपायों एवं उपदेशात्मक चित्रों द्वारा जीवन की सही दिशा का निर्देशन करते तथा उन्हें सांसारिकता से विरक्त कर आध्यात्मिकता की ओर प्रेरित करते रहते। इस तरह कुछ तो मुनिश्री के अविरल प्रयास से एवं कुछ अपने संयोजित संस्कारों से बालक तुलसी की निर्मल आत्मा में ग्यारह वर्ष की आयु में ही एक दिन वैराग्य का अंकुर प्रस्फुटित हुआ एवं आज के आचार्यप्रवर बालक तुलसी अपने भविष्य की ओर आकर्षित हुए। प्रयासित फल-प्राप्ति की सफलता पर मुनिश्री के हर्ष का पारावार न रहा, पर साथ-ही-साथ उन्होंने अब उसके विकास प्रकाश की आवश्यकता भी अनुभव की और उन्होंने विनम्र निवेदन के साथ यह प्रश्न अपने परमगुरु स्वर्गीय आचार्यश्री कालूगणीराज के समक्ष रखा तथा इस सहज अर्जित सफलता को उनके चरणों में समर्पित कर अनुज के लिए शुभाशीर्वाद की कामना की।

आचार्यश्री तुलसी के जीवन-प्रसंग

मुनिश्री पुष्पराजजी

आचार्यश्री तुलसी के जीवन को जिस किसी कोण से देखा जाये उसमें विविधताओं का संगम मिलता है। उनका बचपन, उनका मुनिजीवन व उनका आचार्यकाल जन-जन को अनिर्वचनीय प्रेरणा देने वाला है। प्रस्तुत उपक्रम में उनके बाल्य-जीवन व कुछ आचार्यकाल की घटनाओं का संकलन किया गया है, जिससे उनके जीवन का थोड़े में ही सर्वांगीण अध्ययन किया जा सके। उनके बाल्य-जीवन की घटनाएं उनके अपने शब्दों में—संस्मरणों के रूप में दी गई हैं और आचार्यकाल की घटनाओं को एक दर्शक के शब्दों में।

होनहार विरवान के होत चीकने पात

प्रातःकाल भाभी ने हाथ पर पैसे रखते हुए आज्ञा के स्वर में कहा—मोती! लोहे के कीले ले आओ। उस समय मेरी आयु सात वर्ष के करीब होगी। मैंने नेमीचन्दजी कोठारी की दुकान से कीले ले लिए। उन्होंने पैसे नहीं लिए, चूंकि वे मेरे मामा होते थे। मैं घर की ओर चला आया। भाभी के हाथ में पैसे और कीले दोनों रख दिये। भाभी ने साश्चर्य कहा—यह कैसे? पैसे भी और कीले भी? मैंने सहज भाव से कहा, मामा जो ठहरे।

"तुलसी! पैसे यदि तू रख लेता, तो मुझे क्या पता लगता?" भाभी ने कहा।

"पता नहीं लगता, पर मेरी आत्मा तो मुझे कचोटती?" मैंने बीच में ही बात काटते हुए कहा।

"तुम्हारे हृदय में पैसे चुराने का चिन्तन तो हुआ होगा?" भाभी ने मुस्कराते हुए कहा।

"मुझे अप्रामाणिकता से अत्यन्त घृणा है भाभी!" मैंने स्वर को तेज करते हुए कहा।

भाभी के मुख से सहज निकल पड़ा, "यह कोई होनहार बालक प्रतीत होता है।" 'होनहार विरवान के होत चीकने पात'।

इनके पीछे कौन?

मेरे बचपन की एक घटना है। उस समय मैं केवल सात वर्ष का था। माताजी मुझे नहला रही थीं। मैंने उस समय प्रश्न किया—माँ! मुझे पूजीमहाराज बहुत प्यारे लगते हैं।

माँ—बेटा! वे बड़े पुण्यवान् पुरुष हैं।

बेटा—माँ! उनके चरण फूल जैसे बड़े ही कोमल हैं और वे पैदल चलते हैं, तब इनके पैरों में काँटे नहीं लगते क्या?

माँ—पुण्यवानों के पग-पग निधान होते हैं, बेटा!

बेटा—माँ! इनके पीछे पूजी महाराज कौन होंगे?

माँ—(लाल आँखें दिखाकर डाँटते हुए) मूर्ख कहीं का, हमारे पूजीमहाराज युग-युगान्तर तक अमर रहें।

माँ की लाल आँखों ने मेरे हृदय में उठते हुए प्रश्नों को मौन में परिणत कर दिया।

सजा तो माफ हो गई, पर···

एक बार की घटना है, मैं जंगल (पंचमी) से पुनः लौटते समय बालू के टीले से नीचे उतर रहा था कि इतने में

गुरुदेव ने फरमाया, तुलसी ! नीचे हरियाली है। मैंने सहसा उत्तर दे दिया, मैं ध्यान रख लूंगा। पर चला उसी मार्ग पर। धीरे-धीरे व सावधानीपूर्वक चलने पर भी धूली कण हरियाली पर आ गये। गुरुदेव ने मीठा उलाहना देते हुए कहा, "देख, रेत हरियाली पर आ गई न ? मैंने कहा था न ? 'दो परठणे दण्ड'।" मेरा मुँह छोटा-सा हो गया। स्थान पर आने के पश्चात् मैंने विनम्र शब्दों में त्रुटि की क्षमा चाही। समुद्र के समान गम्भीर गुरुदेव ने सजा माफ कर दी। सजा तो माफ हो गई, पर वह शिक्षा माफ नहीं हुई। आज भी स्मृति को सरस बना रही है।

तारे गिन के आओ

रात्रि का समय था। तारे झिलमिल-झिलमिल कर धरती पर झाँक रहे थे। उस समय मेरी अवस्था सत्रह वर्ष की होगी। नींद अधिक आना स्वाभाविक ही था। कालूगणी शिवराजजी स्वामी को आदेश देते, जाओ तुलसी को उठा लाओ। वे मुझे उठा जाते। मैं कभी-कभी नींद में ही, हाँ आता हूँ, कहकर पुनः सो जाता। आप फिर कहते—तुलसी आया नहीं। जाओ, इस बार उसे साथ लेकर आओ। मैं साथ-साथ चला आता। फिर भी स्वाध्याय, चिन्तन करते-करते मुझे नींद आ ही जाती। आप उस समय बड़े ही मीठे शब्दों में मनोवैज्ञानिक ढंग से नींद उड़ाने के लिए कहते—तुलसी, जाओ आकाश के तारे गिन कर आओ, तारे कितने हैं ? सजग होने पर पुनः ज्ञानामृत पिलाते। इस प्रकार गुरुदेव ने प्रशिक्षण देकर मेरे जैसे बिन्दु को सिन्धु बना दिया। गुरु हों तो वस्तुतः ऐसे ही हों।

टूटे हृदयों का मिलन

९ दिसम्बर, १९६१ को **अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः** पातंजल योग सूत्र के इस वाक्य को प्रत्यक्ष होते हुए देखा जब कि आचार्यश्री तुलसी के एक स्वल्प कालीन प्रयास से इक्कीस वर्ष से पिता और पुत्र के टूटे हृदय का मधुर मिलन हुआ। घटना इस प्रकार थी। कानोडवासी श्री देवीलालजी बाबेल और उनके पुत्र वकील श्री राजमलजी बाबेल में कुछ लेन-देन व बटवारे को लेकर इक्कीस वर्ष से बोल-चाल, खान-पान, मेल-जोल आदि पारस्परिक व्यवहार सर्वथा बन्द थे। इस बीच अनेकों अवांछनीय घटनाएं न चाहते हुए भी हो गई। सहसा संयोगवश आचार्य प्रवर का उनके घर पर पदार्पण हुआ। आचार्यश्री उस परिस्थिति से परिचित थे, अतः दोनों को परस्पर वैमनस्य का त्याग कर शान्ति से जीवन व्यतीत करने का सदुपदेश दिया। उस उपदेश से दोनों का हृदय बदल गया। एक-दूसरे ने परस्पर क्षमा याचना की। पुत्र ने पिता के चरण छुए और पिता ने पुत्र को हृदय से लगाया। जनता ने यह स्पष्ट देखा कि जिस समस्या को सुलझाने के लिए पंच, सरपंच, न्यायाधीश असफल रहे, वह समस्या क्षण में ही सुलझ गई।

निश्चल मन और आत्म-दर्शन

पाँच नदियों के संगम स्थल पंजाब की भूमि को नापते हुए आचार्यश्री तुलसी ने एक दिन भाखड़ा-नांगल से निकलने वाली नहर पर विश्राम किया। शिष्य मंडली के साथ, जिसमें मैं भी उपस्थित था, आचार्यश्री तुलसी शान्त सुधारस की गीतिका का मधुर गायन करने में तल्लीन हो गए। नयन खुलते ही नहर के चलते हुए जल-प्रवाह की ओर ध्यान गया। चलते हुए जल में अपना प्रतिविम्ब दिखाई नहीं देता था। तत्क्षण आत्म-दर्शन की गहन चर्चा में निमज्जन करते हुए आचार्यप्रवर ने कहा—जिस प्रकार चलते हुए मैले जल-प्रवाह में अपने तन का प्रतिबिम्ब नहीं दीखता, ठीक उसी प्रकार ही चलित मैले मन में भी आत्म-दर्शन नहीं होता। स्वरूप-दर्शन तो निश्चल और निर्मल मन से ही होता है।

न हमारे जेब है और न मठ

आदिवासियों के बीच आचार्यप्रवर प्रवचन कर चुके थे। प्रवचन के बाद एक पन्द्रह वर्षीय भील बालक आया और कहने लगा—दारू-मांस का परित्याग करवा दीजिए। आचार्यश्री ने परित्याग करवा दिये। उसने वन्दन किया और चुपचाप एक चवन्नी आचार्यश्री की पलथी पर रख कर एक कोने में बैठ गया। आचार्यश्री अपनी साहित्य-साधना में

तल्लीन थे। थोड़ी देर बाद जब उस चवन्नी की ओर ध्यान गया तो पूछा—यह किसने रख दी। पास में बैठे भाइयों ने कहा—दर्शन करते समय किसी की जेब मे गिर गई होगी।

आचार्यश्री—यह गिरी हुई तो नहीं लगती, किसी-न-किसी ने भेंट रूप में रखी है, ऐसा लगता है। तत्रस्थ लोगों से पूछा गया तो सकुचाता हुआ वह बालक जिसका, नाम था 'उदा' सामने आया और कहने लगा—महाराज ! यह तो इस सेवक की तुच्छ भेंट है।

आचार्यश्री अरे भाई ! हम इस भेंट को कहाँ रखेंगे। (अपने वस्त्रों की ओर इंगित करते हुए) हमारे न तो कहीं जेब है और न कोई अलमारी और न मठ है।

बरगद में नया मोड़

सड़क के किनारे पर एक बरगद का पेड़ था। नीचे झुकी हुई जीर्ण जटाएं उसकी पुरानता की कथा स्पष्ट कह रही थीं, किन्तु उसके हरे-भरे और कोमल पत्ते इतने आकर्षक और नयनाभिराम थे कि आचार्यश्री के चरण वहीं पर रुक गये। ऊपर-नीचे देखा और पद यात्री मेवाड़ी भाइयों से कहने लगे—देखी आपने बरगद की चतुरता ? कितना समयज्ञ है यह ? वैशाख मास से पूर्व ही पुराने पत्तों को बिदाई दे दी और अब नया मोड़ लेकर नया वेष धारण किये पथिकों को मोह रहा है। इस बरगद से प्रेरणा प्राप्त कर आप भी अपने जीवन को देखिये। पुरानता के मोह में कहीं पिछड़ तो नहीं रहे हैं ?

सुदामा की भेंट

१५ जून, १९६० को आचार्यश्री अंटालिया से पुनः रिंछेड़ पधार रहे थे। रास्ते में एक 'उदोजी' नामक वयोवृद्ध किसान नौजवान की तरह हृदय में खुशियाँ लिये आचार्यश्री के पैरों में लोट गया। उसके हाथ में गुड़ की डली (ढेला) थी। उसने आचार्यश्री के चरणों में उस गुड़ को भेंट कर दिया। उस भेंट को अस्वीकार करते हुए आचार्यश्री ने गुड़ सम्बन्धी अनेक प्रश्न उससे पूछे। परन्तु उस वृद्ध पटेल का हृदय विशुद्ध प्रेम एवं भक्ति-विभोर था। आँखें आनन्द के आँसुओं से डबडबाई प्रतीत हो रही थीं। उस समय भगवान् महावीर और चन्दन बाला की घटना रह-रहकर हमें याद आ रही थी। उदोजी बोल नहीं सके। भक्ति ने कुछ करने के लिए बाध्य कर दिया। वृद्ध ने आचार्यश्री का जोर लगा कर हाथ पकड़ लिया। गुड़ मुट्ठी में रखा और बन्द कर दिया। उधर से एक साथ में जयघोष सुनाई दिया 'आज के आनन्द की जय हो।' मैंने पीछे से जिज्ञासा भाव से पूछा—पटेल वासा ! यह क्या किया ? उसने हाजिर जवाबी को लज्जित करते हुए कहा—यह तो गरीब सुदामा के चावल की कृष्ण—तुलसीराम जी महाराज की भेंट थी।

हनुमान का मूल्य

आचार्यश्री प्रातः शौचार्थ गाँव बाहर जा रहे थे। पार्श्व स्थित मन्दिर पर लगे लाउड स्पीकर मे आवाज आई—'भगवान् हनुमानजी री कीमत छब्बीस रुपया।' कुछ कदम आगे चले कि फिर सुनाई दिया—'भगवान् हनुमानजी री कीमत सत्ताईस रुपया, तीस रुपया, अड़तीस रुपया बधे सो पावै।'

आचार्यश्री ने अपने प्रवचन के बीच उक्त घटना का उल्लेख करते हुए कहा—कितना अन्धेर है। जिन देवता और भगवान् को सर्व शक्तिमान मानते हैं, उन्हे भी बोलियाँ बोल कर बेचा जाता है। विवाह और स्नान करवाया जाता है। क्या भगवान् भी मैले हो जाते हैं ? भगवान् की कितनी विडम्बना कर रहे है, उनके ही भक्त। कबीर ने ठीक ही कहा है :

कबीर कुबुद्धि अनाद की घट-घट मांहि बड़ी।
किस-किस को समझाइये, कुए भाँग पड़ी॥

♦

अनुपम व्यक्तित्व

श्री फतहचन्द शर्मा 'आराधक'
मंत्री, दिल्ली राज्य हिन्दी पत्रकार संघ

आचार्य तुलसी किसी सीमित क्षेत्र के आचार्य अथवा साधुमात्र नहीं है और न वे तेरापंथ के केवल विशिष्ट मुनि ही रह गये हैं। अपने पच्चीस वर्षों की आचार्य काल की सतत साधना से उनका स्थान इतना व्यापक बन गया है कि अब उनके सामने किसी एक छोटी इकाई-मात्र का कल्याण करने की कामना ही बहुत पीछे रह गई है। उनकी साधना ने मानव मात्र का हित-चिन्तन करना अपने जीवन का पुनीत उद्देश्य बना लिया है। जीवन मे अनेक वर्ग के साधु-महात्माओं को मुझे देखने का अवसर मिला है। किन्तु आचार्य तुलसी जैसा विलक्षण व्यक्तित्व मैं बहुत कम देख पाया। बहुत वर्ष पहले की बात है, जब आचार्य तुलसी पहली बार दिल्ली पधारे। दिल्ली के लिए आचार्यजी बिल्कुल नये थे, किन्तु उन्होंने दिल्ली की चकाचौंध के सामने अपना समर्पण न करके दिल्लीवासियों को कुछ सोचने और करने पर मजबूर किया। इसी भूमि पर उन्होंने अणुव्रत जैसे देशव्यापी आन्दोलन की सृष्टि की। अणुव्रत दिल्ली ही मे अणु का रूप लेकर देश व्यापी बना। आचार्यजी भारत की राजधानी में कई बार अपने पदार्पण से इस क्षेत्र के नागरिकों को एक विशेष प्रेरणा समय-समय पर देते रहे हैं। कुछ उद्‌बोधों से समाज के सभी वर्गों में चैतन्य आया है। अनेक बार आचार्य-जी के दिल्ली और दूसरे स्थानों पर दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त कर चुका हूँ। जब हजारों लोगों की भीड़ में उन्हें घिरा देखता हूँ, यह भ्रम अपने आप हृदय से निकल जाता है कि वे किसी सम्प्रदाय विशेष के आचार्य हैं।

जिस देश में मेरी जन्म-भूमि है, उस प्रदेश में आचार्यजी का जब आगमन हुआ तब उन्हें अणुव्रत-आन्दोलन के संचालन में केवल उनके सम्प्रदाय का अथवा जैन समाज का ही सहयोग नहीं मिला, अपितु ईसाई और मुसलमानों का भी आन्दोलन को सक्रिय सहयोग मिला और उन सबने उससे प्रेरणा भी पाई। आचार्यजी ने उत्तरप्रदेश में ऐसा जादू कर डाला कि बहुत कम व्यक्ति ऐसे रहे हैं जिन्होंने अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति अपना सौहार्द प्रदर्शित न किया हो। यह उनके प्रयत्न और प्रभाव का ही चमत्कार मानता हूँ कि उन्होंने उत्तरप्रदेश की नैतिक गतिविधियों को प्रोत्साहन देने वाली संस्थाओं में अणुव्रत समिति को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त करा दिया। अभी तक बड़ी-से-बड़ी दूसरी संस्थाओं के नैतिक आन्दोलन उत्तरप्रदेश में चले और पनपे, किन्तु उन्हें जनता और सरकार दोनों का सहयोग समान रूप से नही मिला। अणुव्रत समिति के सम्बन्ध में यह बात बिल्कुल अपवाद मात्र है। इतना गहरा प्रभाव दूसरे व्यक्ति कम कर पाये हैं। इस सारी सफलता के पीछे जहाँ उनके सहयोगी कर्मठ कार्यकर्ताओं का योग है, वहाँ आचार्यजी की साधना, उनके द्वारा किया गया निर्णय और उसे क्रियान्वित करने की तीक्ष्ण बुद्धि है। इन सबका योग मिलाकर आचार्य तुलसी ने अपनी शान्तिप्रिय साधना से केवल राजस्थान ही में नहीं, सारे देश को बाँध लिया है।

समान शुभ चिन्तक

अनेक विशिष्ट व्यक्ति जब अपने पास बड़ी-से-बड़ी शक्तियों को आते देखते हैं, तब उनके द्वार जनसाधारण के लिए बन्द हो जाते हैं। किन्तु आचार्यश्री तुलसी के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता। उनके यहाँ सभी को आने का अवसर मिलता है। राष्ट्रपति और प्रधान मन्त्री से अणुव्रत-आन्दोलन की बात करने के बाद आचार्यजी का क्षेत्र वहीं नहीं समाप्त हो जाता। जिस तरह की चर्चा आचार्यजी इस आन्दोलन को लोकोपयोगी बनाने के लिए राष्ट्र नायकों से करते हैं, उसी प्रकार अपने आन्दोलन के संचालन और संवर्धन करने के लिए वे सर्वसाधारण कार्यकर्ताओं से भी बातचीत करते

हैं। उनकी यह उदार वृत्ति अपने निकट दूसरे धर्मों के लोगों को भी खींच लाने में विशेष सहायक सिद्ध हुई है। उनके आन्दोलन में जहाँ जैन धर्म के उपासक जुटे हैं, वहाँ सनातन धर्मी और अन्य मतावलम्बी बड़े स्नेह से इस आन्दोलन को अपना आन्दोलन मानते हैं। बड़े-से-बड़े कट्टर आर्यसमाजी जिन्होंने बहुत समय तक स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के आधार पर जैन धर्म के सेवकों से अलग मार्ग रखा, वे भी बड़े चाव के साथ आचार्यजी के अणुव्रत-आन्दोलन के विशेष कार्यकर्ता बने हुए हैं। उनका यह सब प्रभाव देख कर आश्चर्य होता है कि राजस्थान के एक सामान्य परिवार में जन्म लेने वाला यह मनुष्य कितने विलक्षण व्यक्तित्व का स्वामी है जिसने वामन की तरह से अपने चरणों से भारत के कई राज्यों की भूमि नापी है। इस समय देश में एक-दो व्यक्तियों को छोड़ कर आचार्य तुलसी पहले व्यक्ति हैं, जिन्होंने आचार्य विनोबा से भी अधिक पदयात्रा करके देश की स्थिति को जाना है और उसकी नब्ज देख कर यह चेष्टा की है कि किस प्रकार के प्रयत्न करने पर शान्ति प्राप्ति की जा सकती है। उनके जीवन-दर्शन में कभी विराम और विश्राम देखने का अवसर नहीं मिला। जब कभी भी उन्हें किसी अवसर पर अपना उपदेश करते देखा, तब उन्हें ऐसा देख पाया कि वे उस समारोह में बैठे हुए उन हजारों व्यक्तियों की भावना को पढ़ रहे हैं। उन सबका एक व्यक्ति किस प्रकार समाधान कर सकता है, यह उनकी विलक्षणता है। समारोहों में सभी लोग पूरी तरह से सुलझे हुए नहीं होते। उनमें संकीर्ण विचारधारा के व्यक्ति भी होते हैं। उनमें कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने सम्प्रदाय विशेष को अन्य सभी मान्यताओं से विशेष मानते हैं। उन सब व्यक्तियों का इस प्रकार समाधान करना किसी साधारण व्यक्ति का काम नहीं है। ग्रामों और कस्बों की अज्ञान परिधि में रहने वाले लोगों को, जिन्हें पगडंडी पर चलने का ही अभ्यास है, एक प्रशस्त राजमार्ग से उन्हें किसी विशेष लक्ष्य पर पहुँचा देना आचार्य तुलसी जैसे ही सामर्थ्यवान् व्यक्तियों के वश की बात है।

विरोधियों से नम्र व्यवहार

उनके जीवन की विलक्षणता इस बात से प्रगट होती है कि वे अपने विरोधियों की शंकाओं का समाधान भी बड़े आदर और प्रेमपूर्ण व्यवहार से करते हैं। कई बार उनके उग्र और प्रचण्ड आलोचकों को मैंने देखा है कि आचार्यजी से मिलने के बाद उनका विरोध पानी की तरह से ढुलक गया है।

आचार्यजी के दिल्ली आने पर मैं यही समझता था कि वे जो कुछ कार्य कर रहे हैं, वह और साधु-महात्माओं की तरह से विशेष प्रभाव का कार्य नहीं होगा। जिस तरह से सभा समाप्त होने पर, उस सभा की सभी कार्यवाही प्रायः सभा-स्थल पर ही समाप्त-सी हो जाती हैं, उसी तरह की धारणा मेरे मन में आचार्यजी के इस आन्दोलन के प्रति थी।

कैसे निभाएंगे ?

आजकल जहाँ नगर-निगम का कार्यालय है, उसके बिल्कुल ठीक सामने आचार्यजी की उपस्थिति में हजारों लोगों ने मर्यादित जीवन बनाने के लिए तरह-तरह की प्रेरणा व प्रतिज्ञाएं ली थीं। उस समय यह मुझे नाटक-सा लगता था। मुझे ऐसी अनुभूति होती थी कि जैसे कोई कुशल अभिनेता इन मानवमात्र के लोगों को कठपुतली की तरह से नचा रहा है। मेरे मन में बराबर शंका बनी रही। इसका कारण प्रमुख रूप से यह था कि भारत की राजधानी दिल्ली में हर वर्ष इस तरह की बहुत-सी संस्थाओं के निकट आने का मुझे अवसर मिला है। उन संस्थाओं में बहुत-सी संस्थाएं असमय में ही काल-कवलित हो गई। जो कुछ बचीं, वे आपसी दलबन्दी के कारण स्थिर नहीं रह सकीं। इसलिए मैं यह सोचता था कि आज जो कुछ चल रहा है, वह सब टिकाऊ नहीं है। यह आन्दोलन आगे नहीं पनप पायेगा। तब से बराबर अब तक मैं इस आन्दोलन को केवल दिल्ली ही में नहीं, सारे देश में गतिशील देखता हूं। मैं यह नहीं कह सकता कि यह आन्दोलन अब किसी एक व्यक्ति का रह गया है। दिल्ली के देहातों तक में और यहाँ तक कि भुग्गी-झोंपड़ियों तक इस आन्दोलन ने अपनी जड़ें जमा ली हैं। अब ऐसा कोई कारण नहीं दीखता कि जब यह मालूम दे कि यह आन्दोलन किसी एक व्यक्ति पर सीमित रह जाये। इस आन्दोलन ने सारे समाज में एक ऐसा वातावरण उत्पन्न कर दिया है कि सभी वर्गों के लोग एक बार यह विचारने के लिए विवश हो उठते हैं कि आखिर इस समाज में रहने के लिए हर समय उन

बातों की ओर जाना ठीक नहीं होगा, जिनका कि मार्ग पतन की ओर जाता है। अन्ततोगत्वा सभी लोग यह विचार करने पर मजबूर दिखाई देते हैं कि सबको मिल-जुलकर एक ऐसा रास्ता जरूर खोजना चाहिए, जिससे सभी का हित हो सके। समाज में इस तरह की चेतनता प्रदान करने का श्रेय आचार्य तुलसी ही को दिया जा सकता है। उन्होंने बड़े स्नेह के साथ उन हजारों लोगों के हृदयों पर बरबस विजय प्राप्त कर ली है। जीवन की यही विशेष रूप से सफलता है, जिसे आचार्य तुलसी अपनी सतत साधना से प्राप्त कर सके हैं। अणुव्रत-आन्दोलन अब मनुष्य के जीवन की इतनी निकटता प्राप्त कर चुका है कि वह कुछ मामलों में एक सच्चे मित्र की तरह से समाज का मार्ग-दर्शन करता है। नहीं तो उसे दिल्ली और देश के दूसरे स्थानों में कैसे बढ़ावा मिलता और क्यों विद्यार्थी, महिलाएं और दूसरे श्रमिक एवं धनिक वर्ग उसे अपनाते? इस से यह प्रकट होता है कि आन्दोलन में कुछ-न-कुछ प्रभाव अवश्य है। बिना प्रभाव के यह आन्दोलन देशव्यापी नहीं बन सकता।

सतत साधना

अनेक बार आचार्यजी के पास बैठने पर ऐसा जान पड़ा कि वे जीवन दर्शन के कितने बड़े पण्डित हैं, जो केवल किसी भी आन्दोलन को अपने तक ही सीमित रहने देना नहीं चाहते। अभी पिछले दिनों की बात है कि उन्होंने सुझाव दिया कि अणुव्रत-आन्दोलन के वार्षिक अधिवेशन का मेरी उपस्थिति में होना या न होना कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं है। इस तरह से समाज के लोगों को अपने जीवन सुधारने की दिशा में आचार्य जी ने बहुत बार प्रयत्न किया है। इस सम्बन्ध में उनका यह कहना कितना स्पष्ट है कि भविष्य में कोई व्यक्ति यह नहीं कहे कि यह कार्य आचार्य जी की प्रेरणा अथवा प्रभाव के कारण ही हो रहा है। वे चाहते हैं कि व्यक्तियों को किसी के साथ बँधकर आत्म-अभ्युदय का मार्ग नहीं खोजना चाहिए। जीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति से प्रेरणा लेनी चाहिए। जीवन जिस ओर उन्हें प्रेरणा दे, वह काम उन्हें करना चाहिए। यह सब देख कर आचार्यजी को समझने में सहायता मिल सकती है। वे उन हजारों साधुओं की तरह अपने सिद्धान्तों को ही पालन कराने के लिए दुराग्रही नहीं हैं, जैसा कि बहुत से लोगों को देखा गया है, जो अपने अनुयायियों को अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चलने के लिए ही विवश किया करते हैं। आचार्यजी के अनुयायियों में कांग्रेस, जनसंघ, कम्यु-निस्ट, समाजवादी और यहाँ तक कि जो ईश्वरीय सत्ता में विश्वास नहीं करते, ऐसे भी व्यक्ति हैं। आचार्यजी मानते हैं कि जो लोग अपने को नास्तिक कहते हैं, वे वास्तव में नास्तिक नहीं हैं। इसलिए आचार्यजी के निकट जाने में सभी वर्गों के व्यक्तियों को पूरी छूट रहती है। यह मैं अपने अनुभव की बात कर रहा हूं।

प्रेरक व्यक्तित्व

उन्होंने आत्म-साधना से अपने जीवन को इतना प्रेरणामय बना लिया है कि उनके पास जाने से यह नहीं लगता कि यहाँ आकर समय व्यर्थ ही नष्ट हुआ। जितनी देर कोई भी व्यक्ति उनके निकट बैठता है, उसे विशेष प्रेरणा मिलती है। उनकी यह एक और बड़ी विशेषता है जिसे कि मैं और कम व्यक्तियों में देख पाया हूँ। वे जिस किसी व्यक्ति को भी एक बार मिल चुके हैं, दूसरी बार मिलने पर उन्हें कभी यह कहते हुए नहीं सुना गया कि आप कौन हैं? अपने समय में से कुछ-न-कुछ समय निकाल कर वे उन सभी व्यक्तियों को अपना शुभ परामर्श दिया करते हैं, जो उनके निकट किसी जिज्ञासा अथवा मार्ग-दर्शन की प्रेरणा लेने के लिए जाते हैं। अनेक ऐसे व्यक्ति भी देखे हैं कि जो उनके आन्दोलन में उनके साथ दिखाई दिये और बाद में वे नहीं दीख पाये। तब भी आचार्यजी उनके सम्बन्ध में उनकी जीवन गतिविधि का किसी-न-किसी प्रकार से स्मरण रखते हैं। यह उनका विराट व्यक्तित्व है, जिसकी परिधि में बहुत कम लोग आ पाते हैं। ऐसा जीवन बनाने वाले व्यक्ति भी कम होते हैं, जो संसार से विरक्त रह कर भी प्राणी-मात्र के हित-चिन्तन के लिए कुछ-न-कुछ समय इस काम पर लगाते हैं और यह सोचते हैं कि उनके प्रति स्नेह रखने वाले व्यक्ति अपने मार्ग से बिछुड़ तो नहीं गये हैं?

विशेषता

कभी-कभी उनके कार्य को देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि यह सब आचार्यजी किस तरह कर पाते हैं। कई वर्ष पहले की बात है कि दिल्ली के एक सार्वजनिक समारोह में जो आचार्यजी के सान्निध्य में सम्पन्न हो रहा था, देश के एक प्रसिद्ध धनिक ने भाषण दिया। उन्होंने जीवन और धन के प्रति अपनी निस्सारता दिखाई। एक युवक उस धनिक की उस बात से प्रभावित नहीं हुआ। उसने भरी सभा में उस धनिक का विरोध किया। उस समय पास में बैठा हुआ मैं यह सोच रहा था कि यह युवक जिस तरह से उस धनिक के विरोध में भाषण कर रहा है, इसका क्या परिणाम निकलेगा, जब कि उस धनिक के ही निवास स्थान पर आचार्यजी उन दिनों ठहरे हुए थे और उस धनिक की ओर से ही आयोजित सभा की अध्यक्षता आचार्यजी कर रहे थे। पहले तो मुझे यह लगा कि आचार्यजी इस व्यक्ति को आगे नहीं बोलने देंगे; क्योंकि सभा में कुछ ऐसा वातावरण उस धनिक के विशेष कर्मचारियों ने उत्पन्न कर दिया था, जिससे ऐसा लगता था कि आचार्यजी को सभा की कार्यवाही स्थगित कर देनी पड़ेगी। किन्तु जब आचार्यजी ने उस व्यक्ति को सभा मे विरोध होने पर भी बोलने का अवसर दिया तो मुझे यह आशंका बनी रही कि सभा जिस गति मे जिस ओर जा रही है, उससे यह कम आशा थी कि तनाव दूर होगा। अपने मालिक का एक भरी सभा में निरादर देख कर कई जिम्मेदार कर्मचारियों के नथुने फूलने लगे थे। किन्तु आचार्यजी ने बड़ी युक्ति के साथ उस स्थिति को सम्भाला और जो सबसे बड़ी विशेषता मुझे उस समय दिखाई दी, वह यह थी कि उन्होंने उस नवयुवक को हतोत्साह नहीं किया, बल्कि उसका समर्थन कर उस नवयुवक की बात के औचित्य का सभा पर प्रदर्शन किया। यदि कहीं उस नवयुवक की इतनी कटु आलोचना होती तो वह समाप्त हो गया होता और राजनैतिक जीवन में कभी आगे बढ़ने का नाम ही नहीं लेता। किन्तु आचार्यजी की कुशलता से वह व्यक्ति भी आचार्यजी के सेवकों में बना रहा और उस धनिक का भी सहयोग आचार्यजी के आन्दोलन को किसी-न-किसी रूप में प्राप्त होता रहा। ऐसे बहुत-से अवसर उनके पास बैठ कर देखने का मुझे अवसर मिला है, जब उन्होंने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा बड़े से बड़े संघर्ष को चुटकी बजा कर टाल दिया। आजकल आचार्यजी जिस सुधारक पग को उठा कर समाज में नव जागृति का सन्देश देना चाह रहे हैं, वह भी विरोध के बावजूद भी उनके प्रेमपूर्ण व्यवहार के कारण संकीर्णता की सीमा को छिन्न-भिन्न करके आगे बढ़ रहा है। आचार्यजी की साधना के ये पच्चीस वर्ष कम महत्त्व के नहीं हैं। राजस्थान की मरुभूमि में आचार्यजी ने ज्ञान और निर्माण की अन्तःसलिला सरस्वती का नये सिरे से अवतरण कराया है, जिससे वह ज्ञान राजस्थान की सीमा को छू कर निकट के तीर्थों में भी अपना विशेष उपकार कर रहा है।

विशेष आवश्यकता

उत्तरप्रदेश के एक गाँव में जन्म लेने वाला मुझ-जैसा व्यक्ति आज यह अवश्य विचार करता है कि आचार्य तुलसी-जैसे अनुपम व्यक्तित्व की हजारों वर्ष तक के लिए देश को आवश्यकता है। देश के जागरण में उनके प्रयत्न से जो प्रेरणा मिलेगी, उससे देश का बहुत-कुछ हित होगा। यह केवल मेरी अपनी ही धारणा नहीं है, हजारों व्यक्तियों का मुझ जैसा ही विश्वास आचार्यश्री तुलसी के प्रति है। समाज के लिए यदि भगवान् महावीर की आवश्यकता थी तो बुद्ध के अवतरण से भी देश ने प्रेरणा पाई थी। उसी प्रकार समय-समय पर इस पुण्य भू पर अवतरित होने वाले महापुरुषों ने अपने प्रेरणास्पद कार्य से इस देश का हित-चिन्तन किया। उस हित-चिन्तन की आशा और सम्भावना से आचार्यश्री तुलसी हमारे समाज की उस सीमा के प्रहरी सिद्ध हुए हैं, जिससे समाज का बहुत हित हो सकता है। मेरी दृष्टि में उनके आचार्य-काल के ये पच्चीस वर्ष कई कल्प के बराबर हैं। हजारों व्यक्ति इस भूमि पर जन्म लेते और मरते हैं। जीवन के सुख-दुःख और स्वार्थ में रह कर कोई यह भी नहीं जानता था कि उन्होंने स्वप्न में भी समाज पर कोई हित किया। इस प्रकार के क्षुद्र जीवन से आगे बढ़ कर जो हमारे देश में महामनस्वी बन कर प्रेरणा प्रदान कर सके हैं, ऐसे व्यक्तियों में आचार्य तुलसी है। इनकी देश को युगों तक आवश्यकता है।

प्रमुख शिष्य

आचार्य तुलसी के जितने भी शिष्य हैं; वे सब यथाशक्ति इस बात में लगे रहते हैं कि आचार्यजी ने जो मार्ग संसार के हित के लिए खोजा है, उसे घर-घर तक पहुँचाया जाये। इस कल्पना को साकार बनाने के लिए मुनिश्री नगराजजी, मुनिश्री बुद्धमल्लजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी आदि अनेक उनके प्रमुख शिष्यों ने विशेष यत्न किया है। ऐसा लगता है कि जो दीप आचार्यजी ने जला दिया है, वह जीवन को संयमी बनाने की प्रक्रिया में सदैव सफल सिद्ध होगा। यही मेरी इस अवसर पर हार्दिक कामना है कि आचार्य तुलसी का अनुपम व्यक्तित्व सारे देश का मार्ग-दर्शन करता हुआ चिर स्थायी शान्ति की स्थापना में सफल हो।

भगवान् नया आया

श्री उमाशंकर पाण्डेय 'उमेश'

उर में हुलास
अन्तर प्रकाश ले
कौन! यहाँ आया?
मन में उमंग, ये नया रंग,
मेहमान नया आया!
यह गगन मगन,
मृदु मंद पवन
मधुतान सुनाते हैं—
हे, कीर्ति धवल!
तव स्वागत में—
हम नयन बिछाते हैं,
अनुभूति जगाती जाग-जाग,
भगवान् यहाँ आया, मेहमान नया आया।
... ...
लहरें मचलें,
सरिता बदले,
सागर न बदलता है,
आदर्श धवल,
सम्मान प्रबल,
पर्वत न मचलता है।
शुभ कर्म, अहिंसा मृदुता का,
वरदान नया लाया, भगवान् यहाँ आया।

एक रूप में अनेक दर्शन

मुनिश्री शुभकरणजी

गति की भिन्नता कोई भिन्नत्व पैदा नहीं करती। उसमें अपना चुनाव होना है। आखिर चलने वाले नियत चौराहे पर मिल जाते हैं। उनका जीवन आदर्शमय होता है। वे झुकना जानते भी हैं और नहीं भी। झुकाना उनका कोई साध्य नहीं होता। लोक आदर्शों पर झुक जाते हैं। वे बन्धनों से परे होते हैं और बँधे हुए भी। उनका दर्शन बन्धन-विहीन है, लेकिन फिर भी वे दूसरों को बाँध देते हैं। वे बँधे हुए भी मुक्ति का अनुभव करते हैं। बन्धन में यह मुक्ति का दर्शन अवश्य कुछ अटपटा-सा है। अटपटा इसलिए है कि हम उसके तल में नहीं बैठ सकते हैं। किनारे पर रहने से यह बन्धन बन जाता है और तल में जाने पर बन्धन-विहीन। यहाँ आगम बोलता है—**कुशले पुण नो बद्धे नो मुक्के** कुशल न बद्ध है और न मुक्त, वह मुक्त भी है और बद्ध भी।

यह सब प्रतिस्रोत का दर्शन है। अनुस्रोतगामी का दर्शन भिन्न होता है। उसे मुक्ति प्रिय नहीं लगती। वह खुला हुआ भी बँधा रहता है। प्रतिस्रोत का घोष है 'अपने आपको कसो'। जबकि अनुस्रोत का इससे उलटा। वह दूसरों को कसने की बात कहता है। यहीं से आस्तिक, नास्तिक, आध्यात्मिक, भौतिक, लौकिक या पारलौकिक जैसे प्रतिपक्षी शब्द जन्म लेते हैं। दोनों की दो दिशाएं हो जाती हैं।

आचार्यश्री तुलसी का दर्शन प्रतिस्रोत का है। वे अनुस्रोत से प्रतिस्रोत में आये और उसी ने उन्हें महान् बनाया। महानता प्रतिस्रोत के बिना नहीं जन्मती। वे जन्म से महान् थे, फिर भी उनकी महानता पुरुषार्थ से चमकी। भाग्य लँगड़ा होता है पुरुषार्थ के बिना और पुरुषार्थ उसके बिना अन्धा। अन्धे और लँगड़े दोनों का संगम ही एक नई सृष्टि को जन्म देता है। महानता के क्रमिक विकास से वे विश्वव्यापी बने।

वसुधैव कुटुम्बकम् में संकीर्णता कैसे रहे। उनका जीवन सूत्र यही है। आत्म तुला के वे प्रतीक हैं। एक दिन उन्होंने कहा—"जब मैं प्रत्येक वर्ग और कौम के व्यक्तियों को अपने सामने देखता हूँ, तब मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है।" यह उदार और आत्मस्पर्शी वाणी किसके अन्तःकरण को नहीं छूती।

महान् पुरुष अकृत्रिम होते हैं। वह सहजता में ही आनन्द मानते हैं। **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** से परे उन्हें कुछ दृष्टिगत नहीं होता। वे सहज करते हैं, सहज चलते हैं और सहज ही बोलते हैं। उनकी सहज वाणी स्वतः जनता को अपनी ओर खींच लेती है। इसका कारण है उसमें उनकी आत्मा है। आत्मशून्य विचार सजे हुए और सरल भी, जनता के अन्तःकरण को छू नहीं सकते। वे अगर छू भी जायें, तो अपना स्थायित्व प्रतिष्ठापित नहीं कर सकते। आत्मानु-स्यूत विचार भाषा से अलंकृत न होने पर भी जनता के हृत्पट पर छा जाते हैं।

आचार्यश्री को जिस ओर से देखा जाये वे महान् ही नजर आते हैं। एक रूप में अनेक रूप का दर्शन है। व्यष्टि-वाद की रेखा समष्टिवाद में विलीन हो गई है। वे क्या हैं? और क्या नहीं? शब्दों का प्रवेश यहाँ असम्भव है। वे कुछ हैं भी और नहीं भी। हैं इसलिए कि दृश्यमान हैं और नहीं इसलिए कि उनका अपना कुछ भी नहीं है। सब कुछ परार्पण है। परार्पण में ही उनका साध्य स्वयं सध जाता है। कुछ व्यक्ति पहले अपना साधते हैं और फिर दूसरों का। कुछ दूसरों को ही साधते हैं, अपना नहीं। कुछ अपना और दूसरों दोनों का साधते हैं। आचार्यश्री अपना और दूसरों दोनों का साधने वाले हैं, लेकिन विशेषता यह है कि वे दूसरों में से अपना साधते हैं। यह देखने में विचित्र-सा लगता है, लेकिन साधन के प्रकर्ष में नहीं। ऐसा भी कहा जाये कि दूसरों के बनाने में वे खुद बने हैं तो कोई बड़ी बात नहीं। रस की अनुभूति से गंध कभी

परे नहीं रहता है ? बनाने का यह क्रम बचपन से ही उनके साथ चिपटा हुआ है। वे इससे मुक्त नहीं हुए, कितने उन्होंने बनाये, बनाते हैं और बनाते रहेंगे यह आकलन से परे है।

व्यक्ति विचार और आचार दो प्रकार से बनता है। आचार आत्म-सापेक्ष है। विचार मन और विद्या से अपेक्षित है। सामान्यतया विचार मानव का धर्म है। वह आचार के साथ भी रहता है और स्वतन्त्र भी। आचारवान् आत्मवान् होना है। इसमें कोई दो मत नहीं। विचारवान् आचारवान् ही हों, ऐसा नियम नहीं। आचार में आत्मा बोलती है और विचारों में मन। मन और आत्मा का योग हो तो विचारक भी आचारक हो सकता है। विद्या विचारों को विकसित और जनभोग्य बनाती है। विकसित विचार मनुष्य की आत्मा को आन्दोलित कर देते हैं। वह स्फूर्तिवान् हो उठता है।

आचार्यश्री को प्रिय है आचारवान्। विचारक उन्हें प्रिय नहीं है, ऐसी बात नहीं। लेकिन वह आचारवान् होना चाहिए। आचार-शून्य व्यक्ति की प्रियता अस्थिर होती है। वह स्वयं एक दिन लड़खड़ा उठती है। उसमें स्वार्थ रहता है, पवित्रता नहीं। वे आचारवान् को विचारक और विचारक को आचारवान् बनाते हैं। सभी विचारक बनें, यह असम्भव होता है। क्योंकि वह विशिष्ट क्षयोपशम सापेक्ष है, लेकिन आचारशील तो होना ही चाहिए। **आचारः प्रथमो धर्मः** यह पहली सीढ़ी है।

क्षयोपशम का बीज अनुकूल स्थिति में स्वतः पल्लवित हो जाता है और कहीं-कहीं उसके लिए भूमि तैयार करनी पड़ती है। स्वतः पल्लवन होने वालों के लिए कम श्रम की अपेक्षा है और दूसरों के लिए अधिक।

भूमि का बीज वपन के योग्य बनाना असाध्य है, उतना फल पाना नहीं। आचार्यश्री इस कार्य में योग साधना की तरह अविरल जुटे रहे और हैं भी।

उनके बनाने का अपना तरीका है। वे ताड़न और तर्जन में विश्वास नहीं रखते। उनका तर्जन, गर्जन, वर्षण और अमृत सब आँखों में रहता है। आँखों में जहाँ समता और ममता रहती है, वहाँ विषमता भी। वे कोमल हैं, कठोर भी, मीठे भी हैं, कड़वे भी, विनम्र और स्तब्ध भी हैं। ऐसा होना उनके लिए अनावश्यक नहीं है। इनके बिना दूसरों की प्रगति नहीं सधती। ये सब परस्पर विरोधी लगने वाले धर्म अविरोध के उपासक हैं। वे आगम वाणी की तरह थोड़े से विद्यार्थियों को सब कुछ दे देते हैं। उनके विवेक-जागरण की अपनी पद्धति है। वे कहते हैं—"देखो, यह समय तुम्हारे समूचे जीवन निर्माण का है। अभी का दुःख भविष्य के लिए अक्षय सुख का स्थान बनेगा। समय का प्रमाद मत करो। पढ़ने के बाद में फिर खूब बातें करना। मैं तुम्हें कुछ भी नहीं कहूँगा।" इन शब्दों में कितनी आत्मीयता है और है बनाने की तड़फ।

काटना सहज है, पर जोड़ना नहीं

बनना सहज है, पर बनाना नहीं। काटने और जोड़ने की क्रिया में कितना अन्तर रहता है। अंकुर की उत्पत्ति इतनी दुरूह नहीं, जितनी कि उसकी वृक्ष के रूप में परिणति है।

बच्चे को बचपन से जवानी में लाना जितना कठिन है, उससे भी अधिक कठिन शिष्यों को अपने पैरों पर खड़ा करना है। साधना का जीवन एक रूप से पुनर्जन्म है। साधक द्विजन्मा है। शिष्य को चलने, बैठने, खाने, पीने, रहने, सोने आदि का सारा प्रशिक्षण उन्हें देना होता है। इन क्रियाओं में कमी का अर्थ है—साधना में कमी। साधना का पहला चरण है :

कहं चरे कहं चिठे, कहं मासे, कहं सए।
कहं भुंजंतो भासंतो, पावकम्मं न बंधइ।

मैं कैसे चलूं, कैसे ठहरूँ, कैसे सोऊँ, कैसे भोजन करूँ और कैसे बोलूं जिससे कि पाप-कर्म का बन्धन न हो। साधना की कुशलता इन्हीं में है।

आचार्यश्री शिष्यों का सर्वस्व लेते हैं और वे सब देते हैं। देने की उनकी क्रिया इतने में परिसमाप्त नहीं होती। वह तो अजस्र जीवन की समाप्ति तक चलती ही रहती है। वे सर्वस्व लेकर भी हलके रहते हैं और शिष्य सब कुछ देकर भी भारी रहता है। पहले चरण को परिपुष्ट करने के लिए आचार्य शिष्यों को ज्ञान-विज्ञान की ओर मोड़ते हैं। ज्ञान का क्षेत्र

कितना अगाध है ? इसे समझने वाले ही समझ सकते हैं। पहले-पहले उसमें कोई रस नहीं टपकता है। वह नमक बिना के भोजन जैसा है। उसका आनन्द परिपक्व अवस्था में आता है। शिक्षण के अन्त तक धैर्य को टिकाये रखना बहुत भारी पड़ता है। कुछ व्यक्ति शैशव में हताश हो जाते है और कुछ मध्य में। जिनकी धृति अचल होती है, वही उसके अन्तिम चरण तक पहुँच कर इसकी अनुभूति कर सकता है।

दुर्बलता मानव का स्वभाव नहीं, विभाव है। मनुष्य उसे स्वभाव मान लेता है, यह भ्रान्ति है। इसका कारण है मोह और अज्ञान। आचार्य मोह और अज्ञान को मिटाने के लिए सतत जागृत रहते हैं। वे मनोवैज्ञानिक ढंग से शिष्य की अभिरुचि का अध्ययन करते हैं और उसके धैर्य को टिकाये रखने का आयास भी।

सबके सब इसमें उत्तीर्ण हों, यह असम्भव है, लेकिन कुछ हताश व्यक्ति फिर से प्रोत्साहित हो जाते हैं। जो न होते हैं उनके लिए शेष अनुताप रहता है।

आचार और विचार दोनों गतिमान रहें, अतः विविध प्रयोग नई चेतना को जागृत करते रहते हैं। विचार और आचार का अपना क्षेत्र अलग है। ये अभिन्न भी हो सकते हैं। आचार्यश्री दोनों का प्रकर्ष चाहते हैं। आचार स्वयं के लिए है जबकि विचार दोनों के लिए। जनता पर विचारों का प्रभाव होता है। उसके लिए विचारवान् और विद्वान् होना भी आवश्यक है। दोनों की सह-प्रगति एक चामत्कारिक योग है।

आचार्यश्री का उत्तरदायित्व और तपस्या दोनों सफल हैं। वे इससे संतुष्ट भी हैं और नहीं भी। संतुष्टि का कारण है—जिन सफलताओं के दर्शन पहले नहीं हुए, उनके दर्शन आपके शासनकाल में हुए, होते हैं और होते रहेंगे। असंतोष अपूर्णता का है। पूर्णता के बिना संतुष्टि कैसे आये ? उनकी आन्तरिक अभिलाषा पूर्णता के शिखर पर पहुँचने की है। प्रगति का द्वार पूर्णता के अभाव में सदा खुला रहता है। अपूर्ण को पूर्ण मानने का अर्थ है, प्रगति के पथ को रोक देना। 'प्रगति शिखर पर चढ़ती जाये' यह जिन का उद्घोष है। संघ और संघपति पूर्णता के लिए कटिबद्ध हैं। दोनों का तादात्म्य सम्बन्ध है। वे उसमें प्राण फूंकते हैं और संघ विकास के पथ में प्रतिक्षण अग्रसर होता रहता है। शासक की कुशलता संघ को सकुशल बनाने में है। उसकी सक्रियता और निष्क्रियता उन पर अवलम्बित रहती है। आचार्यश्री का संघ आचार और विचार के क्षेत्र में आज प्रमुख है। यह आपकी कुशल शासकता का सुफल है। हम चाहते हैं कि आचार्यप्रवर अपनी अमाप्य शक्ति के द्वारा आचार और विचार की कड़ी को सर्वदा अक्षुण्ण बनाते रहें।
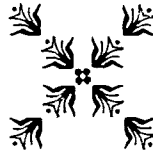
अमरों का संसार

मुनिश्री गुलाबचन्दजी

देव ! सृष्टि के व्याधि-हलाहल की घूंटे पी।
दूर क्षितिज तक अमरों का संसार बसादो।

छलना की संसृति व्यवहृति में पलती प्रतिदिन,
स्वप्निल कलना स्पष्ट नहीं विश्लिष्ट कहीं है,
पग-पग पर है भ्रान्ति भीरुता व्यवहित मानस,
इतरेतर आकृष्ट किन्तु संश्लिष्ट नहीं है।
अब व्यवधान समाहित हो सब सहज वृत्ति से,
ऐसा शुभ सौहार्द भरा संसार बसा दो।

यशस्वी परम्परा के यशस्वी आचार्य

मुनिश्री राकेशकुमारजी

तेजसां हि न वयःसमीक्ष्यते तेज-सम्पन्न महापुरुषों का अंकन गणित-प्रयोगों के आधार पर नहीं होता। उनका तेज-प्रधान जीवन विश्व के सामान्य नियमों का अपवाद होता है। उनका अभ्युदय स्थिति-सापेक्ष नहीं होता। उनका गतिशील व्यक्तित्व बाहर की सीमाओं से मुक्त रहता है।

केवल बाईस वर्ष की अवस्था, यौवन की उदय बेला में आचार्यपद का यह गुरुतर दायित्व इतिहास के पृष्ठों की एक महान् आश्चर्यकारी घटना है। श्री कालूगणी के स्वर्गवास के समय अनेकों वृद्ध साधु विद्यमान थे, किन्तु उनके भावी उत्तराधिकारी के रूप में नाम घोषित हुआ एक नौजवान साधु का, जिसे हम आज आचार्यश्री तुलसी के रूप में पहचानते हैं।

प्रवहमान निर्झर

गगन में चमकते हुए चाँद और सितारे अपनी गति से सदा बढ़ते रहते हैं। पवन की गतिशीलता किसी से छिपी हुई नहीं है। विभिन्न रूपों में बहती हुई जलधारा संसार के लिए वरदान है। निरलस प्रकृति के अणु-अणु में समाया हुआ गति और कर्म का सन्देश संसार के महापुरुषों का जीवन मंत्र होता है। गति जीवन है और स्थिति मृत्यु: इसी अन्तःप्रेरणा के साथ उनके चरण आगे से आगे बढ़ते जाते हैं। जब हम आचार्यश्री के व्यक्तित्व पर विचार करते हैं तो वह प्रवहमान निर्झर के रूप में हमारे सामने आता है। उनका लक्ष्य सदा विकासोन्मुख रहता है। बड़ी-से-बड़ी बाधाएं उन्हें रोक नहीं सकतीं। **बढ़े चलें हम रुके न क्षण भी हो यह दृढ़ संकल्प हमारा** इस स्वर लहरी में उनकी आत्मा का संगीत मुखरित हो रहा है। उनके पारिपार्श्विक वातावरण में अभिनव आलोक की रश्मियाँ छाई हुई दिखाई देती हैं। निराशा के कुहरे में दिग्मूढ़ बना मानव वहाँ सहज रूप से नया जीवन पाता है।

अभिनव प्रयोगों के आविष्कर्ता

संघ के सर्वतोमुखी विकास के लिए आचार्यश्री के उर्वर मस्तिष्क से विभिन्न प्रयोगों का आविष्कार होता रहता है। उन्होंने समयानुकूल नया-नया कार्यक्रम दिया, प्रगति की नई-नई दिशाएं दीं। **प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः** इस परिभाषा के अनुसार साधना, शिक्षा और स्वास्थ्य के सम्बन्ध में होने वाले उनके प्रयोग बहुत प्रेरणादायी हैं। तेरापंथ की वर्तमान प्रगति के पीछे छिपी हुई आचार्यश्री की विभिन्न दृष्टियाँ इतिहास के पृष्ठों से ओझिल नहीं हो सकतीं।

सारे संघ में संस्कृत भाषा का विकास आज बहुत ही सुव्यवस्थित और सुदृढ़ रूप से देखा जाता है। जहाँ एक युग में इस सुरभारती का सितारा बिल्कुल मंद-मंद-सा दिखाई दे रहा था, लोग मृत भाषा कह कर उसकी घोर उपेक्षा कर रहे थे, प्रगति के कोई नये आसार सामने नहीं थे, वहाँ तेरापंथ साधु समाज में इसका स्रोत अजस्र गति से प्रवाहित होता दिखाई दिया। जिसके निकट परिचय से बड़े-बड़े विद्वानों का मानस भोज युग की स्मृतियों में डूबने लगा। इसका श्रेय आचार्यश्री द्वारा अपनाये गये नये-नये प्रयोगों और प्रणालियों को है।

साधना की दिशा में होने वाली प्रेरणाओं में खाद्य-संयम, स्वाध्याय व ध्यान के प्रयोग विशेष महत्त्व रखते हैं।

किसी भी प्रयोग का प्रारम्भ वे अपने-आप से करना चाहते हैं। उनका विश्वास है, अपने को अपवाद मानकर किया जाने वाला प्रयोग कभी सफल नहीं हो सकता। आगे की बिन्दयों का महत्त्व पहले के अंक के पीछे होता है।

सत्यं, शिवं, सुन्दरम् के संगम

सत्यं, शिवं और सुन्दरम् की उपसाना का त्रिवेणी संगम आचार्यश्री के जीवन का एक विलक्षण पहलू है। वे जितने तत्त्वद्रष्टा हैं, उससे अधिक एक साधक और कलाकार भी। उनके विचारों के अनुसार इन तीनों के समन्वय के बिना पूर्णता के दर्शन नहीं हो सकते। जीवन का समग्र रूप निखार नहीं पा सकता।

सामान्यतया साधना और कला में अन्तर समझा जाता है। पूर्व और पश्चिम की तरह दोनों का समन्वय सम्भव नहीं माना जाता। किन्तु आचार्यश्री ने कला के लक्ष्य को बहुत ऊँचा प्रतिष्ठित कर उसे साधना में बाधक नहीं, प्रत्युत महान् साधक के रूप में स्वीकार किया है। उनका मस्तिष्क चिन्तन की उर्वरस्थली है, उनके हृदय में साधना की पवित्र गंगा बहती है और उनके हाथ और पैर कला के विविध रूपों की उपासना में निरन्तर संलग्न रहते हैं।

प्राचीनता और नवीनता के मध्य

आज के संक्रमण काल में गुजरते हुए प्राचीनता और नवीनता का प्रश्न भी आचार्यश्री के जीवन का एक विषय बन गया। यद्यपि उन्होंने इसको महत्त्व नहीं दिया। किन्तु एक संघ-विशेष का नेतृत्व करने के कारण लोगों की दृष्टि में वह महत्त्वपूर्ण अवश्य बन गया। इस सम्बन्ध में अपने विचार स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा—"सत्य के प्रकाश में नवीनता और प्राचीनता की रेखाएं बिल्कुल गौण हैं। पुराना होने से कोई श्रेष्ठ नहीं नया होने से कोई त्याज्य नहीं। सत्य की व्यावहारिक अभिव्यक्तियाँ समय-सापेक्ष होती हैं। उसका अन्तरात्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। परम्पराएं बनती हैं और मिटती हैं। व्यक्ति का व्यक्तित्व उनसे ऊँचा होता है। किन्तु जीवन की शाश्वत रेखाएं कभी नहीं बदलतीं। उनको आधार मानकर ही व्यक्ति अपने मार्ग पर आगे बढ़ सकता है।" इस चिन्तन को वृक्ष की कल्पना के आधार पर आचार्यश्री ने बड़े सुन्दर ढंग से रखा—'जो वृक्ष अपने अस्तित्व को सुरक्षित रखना चाहता है, संसार में अपने सौन्दर्य का विकास करना चाहता है उसे मौसम के अनुसार सर्दी और गर्मी दोनों की हवाओं को समान रूप से स्वीकार करना होगा। उसका एक तरफ का आग्रह चल नहीं सकता। किन्तु उसका मूल सुदृढ़ चाहिए। मूल के हिल जाने पर बाहर की हवाओं से कोई पोषण नहीं मिल सकता।'

साम्य योग की राह में

प्रगति की धारा समर्थन और विरोध इन दोनों तटों के बीच से गुजरती है। प्रगतिशील व्यक्तित्व इन दोनों को अपना सहचारी सूत्र मानकर चलते हैं। संसार गतिशील है, वह प्रगति का अभिनन्दन किए बिना नहीं रह सकता। ज्यों-ज्यों पथिक के चरण आगे बढ़ते हैं, जनता उन पर स्वागत के फूल चढ़ाती है। किन्तु साथ ही लक्ष्य की रेखाओं को सुस्पष्ट बनाने के लिए छोटे-मोटे विरोधों के प्रवाह भी विश्व के व्यापक नियम में बिल्कुल स्वाभाविक माने गए हैं।

आचार्यश्री तुलसी को बहुत बड़ा समर्थन मिला, साथ में विरोध और समालोचनाएं भी। किन्तु उनका समता-परायण जीवन इन दोनों स्थितियों में काफी ऊँचा रहा है। अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार की स्थितियों में साम्ययोग का निर्वाह करना, उनकी क्रियाशील साधना को सबसे अधिक प्रिय है।

महान् धर्माचार्य

आचार्यश्री की जीवनधारा ऊपर-ऊपर से विभिन्न रूपों में बहती हुई हमारे सामने आती है। इससे किसी अपरिचित व्यक्ति को कभी-कभी विरोधाभास का अनुभव हो सकता है। किन्तु गहराई में पैठने से वस्तुस्थिति का दर्शन अपने-आप हो जाता है। अध्यात्म की सुदृढ़ साधना के साथ-साथ शिक्षा, साहित्य, संस्कृति के सम्बन्ध में भी उनकी अपनी

अनूठी देन है। नैतिक आन्दोलन के व्यापक प्रसार के लिए जन-सम्पर्क भी उनकी दैनिक चर्या का मुख्य अंग रहता है। इन विविधमुखी धाराओं को एक रस बनाने में व इनमें संगति बिठाने में एकमात्र कारण उनका सन्तुलित व्यक्तित्व है।

यशस्वी परम्परा के यशस्वी आचार्य

तेरापंथ की आचार्य-परम्परा बहुत यशस्वी रही है। आचार्यश्री ने उसमें अनेकों महत्त्वपूर्ण कड़ियाँ जोड़ी हैं। गत दो दशकों में धर्म का क्षेत्र अनेकों संक्रान्तियों से भरा हुआ रहा है। एक ओर जहाँ विज्ञान, मनोविज्ञान व पाश्चात्य नीतिशास्त्र ने धर्म की दार्शनिक व नैतिक पूर्वमान्यताओं पर प्रभाव डाला, वहाँ दूसरी ओर धर्म के क्षेत्र में छाई हुई अनेकों विकृत परिस्थितियों ने उसके तेज को धूमिल बना डाला। धर्म के मौलिक आधारों पर जहाँ आचार्यश्री के संस्कार बड़े दृढ़ रहे हैं, वहाँ उससे सम्बन्धित विकृतियों पर उनका प्रहार भी बड़ा कठोर रहा है। उनके स्वरों में होने वाले धर्म के विश्लेषण ने बड़े-से-बड़े नास्तिकों को भी बहुत प्रभावित किया है। अपने सुव्यवस्थित साधु-समाज को देश के नैतिक पुन-रुत्थान में संलग्न कर धर्माचार्यों के सम्मुख एक बहुत बड़ा उदाहरण प्रस्तुत किया है। हमें विश्वास है कि आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन में यह धर्म-संघ अपनी अभीष्ट प्रगति की दिशा में अधिक-से-अधिक पल्लवित और पुष्पित होगा।

सभी विरोधों से अजेय है

मुनिश्री मनोहरलालजी

तुम अविचल बन
अपनी धुन में ही चलते हो
चाहे कोई उसको आँके
या अनदेखा उसे छोड़ दे
फिर भी अपने निश्चित पथ मे
नहीं तनिक भी डिगते हो तुम
बाधाओं से सम्बल लेकर
आगे बढ़ने का साहस यह
सभी विरोधों से अजेय है
सभी दृष्टियों से अजेय है
और तुम्हारा सत्य चिरन्तन
जिसके इन पावन चरणों में
सिर असत्य का
युग युगान्त से
हार-हार कर
बार-बार झुकता आया है।

तो क्यों ?

श्री अक्षयकुमार जैन
सम्पादक, नवभारत टाइम्स, दिल्ली

बड़े-बड़े आकर्षक नेत्र, उन्नत ललाट, श्वेत चादर से लिपटे एक स्वस्थ और पवित्र मूर्ति के रूप में जिस साधु के दर्शन दिल्ली में ही दस-बारह वर्ष पहले मुझे हुए, उन्हें भूलना सहज नहीं है। उनके व्यक्तित्व में कुछ ऐसा तेज और प्राचीन सांधुता है। भारत में साधु संन्यासी सदा से समादृत रहे हैं; बिना इस भेदभाव के कि कौन साधु किस धर्म अथवा सम्प्रदाय का है। हमारे देश में त्यागियों के प्रति एक विशेष श्रद्धा रही है। ऐसे बहुत कम भारतीय होंगे जो इस भाव से बचे हुए हों।

श्रद्धानन्द बाजार में आचार्य तुलसी के प्रथम दर्शन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। उस समय मन में यह प्रश्न उठ रहा था कि उम्र में बहुत अधिक बड़े न होकर भी आचार्य पद प्राप्त करने वाले तुलसीगणी जहां जा रहे हैं, वहाँ पर एक विशेष जागृति उत्पन्न होती है तो क्यों ?

भक्तों की बड़ी भारी भीड़ थी। फिर भी मुझे आचार्यश्री के पास जाकर कुछ मिनट बातचीत करने का सुअवसर मिला। जो सुना था कि आचार्य तुलसी अन्य साधुओं से कुछ भिन्न हैं, वह बात सच दिखाई दी। तेरापंथ सम्प्रदाय के छोटे-बड़े सभी लोग उनके भक्त हैं, उनसे बंधे हैं, किन्तु मेरी धारणा है कि आचार्य तुलसी सम्प्रदाय से ऊपर हैं। सच्चे साधु की तरह वे किसी धर्म विशेष से बँधे नहीं हैं। उनका अणुव्रत आन्दोलन शायद इसीलिए तेरापंथ अथवा जैन समाज में सीमित न रहकर भारतीय समाज तक पहुँच रहा है।

गत कुछ वर्षों में आचार्यश्री तुलसी के विचार और उनका आशीर्वाद-प्राप्त समाजोत्थान का आन्दोलन धीरे-धीरे राष्ट्रपति भवन से लेकर छोटे-छोटे गाँव तक चलता जा रहा है।

अभी कुछ समय पहले जब वे पूर्व भारत के दौरे से दिल्ली लौटे थे, तब दिल्ली में सभी वर्गों की ओर से एक अभिनन्दन समारोह हुआ था। तब मैं सोच रहा था कि अपने आपको आस्तिक समझते हुए भी धर्म निरपेक्ष देश में मुझे अपने ही समाज के एक साधु के अभिनन्दन में मंच पर सम्मिलित होना चाहिए या अधिक-से-अधिक मैं श्रोताओं में बैठने का अधिकारी हूँ। किन्तु तभी मेरे मन को समाधान प्राप्त हुआ कि साधु किसी समाज विशेष के नहीं होते। विशेष कर आचार्य तुलसी बाह्यरूप से भले ही तेरापंथ के साधु लगते हों, पर उनके उपदेश और उनकी प्रेरणा से चलाये जा रहे आन्दोलन में सम्प्रदाय की गन्ध नहीं है। इसलिए मैं अभिनन्दन के समय वक्ताओं में शामिल हो गया।

आचार्यश्री भारतीय साधुओं की भाँति यात्रा पैदल ही करते हैं। इसलिए छोटे-छोटे गाँवों तक वे जाते हैं। उन गाँवों में नयी चेतना शुरू हो जाती है। यदि इस स्थिति का लाभ बाद में कार्यकर्ता लोग उठाएँ तो बहुत बड़ा काम हो सकता है।

तीर्थंकरों के समय का वर्तन

डा० हीरालाल चोपड़ा, एम० ए०, डी० लिट्
लेक्चरार, कलकत्ताविश्वविद्यालय

आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व से, भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के समय से अहिंसा के सिद्धान्त का निरन्तर प्रचार किया जा रहा है, किन्तु आचार्यश्री तुलसी ने अहिंसा की भावना को जिस रूप में हमारे सामने रखा है, वह अभूत-पूर्व ही है। अहिंसा का अर्थ केवल इतना ही नहीं है कि हम मनुष्यों अथवा पशुओं की भावना को आघात न पहुँचाएं, अपितु जीवन का वह एक विधायक मूल्य है। वह मन, वचन व कर्म में सब प्रकार की हिंसा का निषेध करता है और समस्त चेतन और अचेतन प्राणियों पर लागू होता है। आचार्यश्री तुलसी ने अपने आचार्यत्व काल में अहिंसा की सच्ची भावना को, केवल उसके शब्द को ही नहीं, अपितु क्रियात्मक रूप से अपनाने पर बल दिया है।

अहिंसा जीवन का नकारात्मक मूल्य नहीं है। गांधीजी और आचार्यश्री तुलसी ने बीसवीं शताब्दी में उसको विधायक और नियमित रूप दिया है और उसमें गहरा दर्शन भर दिया है। यह आज की दुनिया की सभी बुराइयों की रामबाण औषधि है।

दुनिया आज विज्ञान के क्षेत्र में तीव्र प्रगति कर रही है और सभ्यता की कसौटी यह है कि मनुष्य आकाश में अथवा ब्रह्माण्ड में उड़ सके, चन्द्रमा तक पहुँच सके अथवा समुद्र के नीचे यात्रा कर सके, किन्तु दयनीय बात यह है कि मनुष्य ने अपने वास्तविक जीवन का आशय भुला दिया। उसे इस पृथ्वी तल पर रहना है और अपने सहवासी मानवों के साथ मिल-जुलकर और समरस होकर रहना है। गांधीजी ने जीवन का यही ठोस गुण सिखाया था और आचार्यश्री तुलसी ने भी जीवन के प्रति धार्मिक दृष्टिकोण से इसी प्रकार क्रान्ति ला दी है। पुरातन जैन परम्परा में लालन होने पर भी उन्होंने जैन धर्म को आधुनिक, उदार और क्रान्तिकारी रूप दिया है जिससे कि हमारी आज की आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके अथवा यों कह सकते हैं कि उन्होंने जैन धर्म के असली स्वर्ण से सब मैल हटा दिया है और उसे अपने उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया है जैसा कि वह तीर्थंकरों के समय में था।

प्रेम, सत्य और अहिंसा में हमको उस समय विरोधाभास दिखाई देता है, जब हम उनके एक साथ अस्तित्व की कल्पना करते हैं; किन्तु वे वास्तविक जीवन में विद्यमान हैं और जीवन के उस दर्शन में भी हैं, जिसका प्रतिपादन आचार्यश्री तुलसी ने किया है। यद्यपि यह असंगत प्रतीत होगा, किन्तु यह एक तथ्य है कि विज्ञान और सभ्यता के जो भी दावे हों, मनुष्य तभी प्रगति कर सकता है, जब वह आध्यात्मिकता को अपनायेगा और अपने जीवन को प्रेम, सत्य और अहिंसा की त्रिवेणी में प्लावित करेगा।

जब इस प्रकार के जीवन को बदल डालने वाले व्यावहारिक दर्शन का न केवल प्रतिपादन किया जाता है, प्रत्युत उसे दैनिक जीवन में कार्यान्वित किया जाता है तो बाहर और भीतर से विरोध होगा ही। अणुव्रत ऐसा ही दर्शन है, किन्तु उसके सिद्धान्तों में दृढ़ निष्ठा इस पथ पर चलने वाले व्यक्ति को बदल देगी।

अणुव्रत आत्म-शुद्धि और आत्म-उन्नति की प्रक्रिया है। उसके द्वारा व्यक्ति की समस्त विसंगतियाँ लुप्त हो जाती हैं और वह उस पार्थिव उयन-पुयज में से अधिक शुद्ध, श्रेष्ठ और शान्त बन कर निकलता है और जीवन के पथ का सच्चा यात्री बनता है।

आचार्यश्री तुलसी अपने उद्देश्य में सफल हों जिन्होंने अणुव्रत के रूप में व्यवहारिक जीवन का मार्ग बतलाया है। उनकी धवल जयन्तियाँ बार-बार आयें, यही मेरी कामना है।

इस युग के महान् अशोक

श्री के० एस० धरणेन्द्रय्या
निर्देशक, साहित्यिक व सांस्कृतिक संस्थान, मैसूर राज्य

आचार्यश्री तुलसी एक महान् पंडित तथा बहुमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति हैं। लौकिक बुद्धि के साथ-साथ उनमें महान् आध्यात्मिक गुणों का समावेश है। आध्यात्मिक शक्ति से वे सम्पन्न हैं, जिसका न केवल आत्म-शुद्धि के लिए, बल्कि मानव जाति की सेवा के लिए भी वह पूरा उपयोग करते हैं।

मानव जाति की आवश्यकताओं का उन्हें भान है। लोगों के अज्ञान और उनकी शिक्षा-हीनता को दूर करने में वे विश्वास करते हैं। अपने अनुयायियों में, जिनमें साधु और साध्वियाँ दोनों हैं, शिक्षा-प्रचार को वे खूब प्रोत्साहन देते रहे हैं। वे एक जन्मजात शिक्षक हैं और ज्ञान की खोज में आने वाले सभी की शिक्षा में वे बहुत रुचि लेते हैं।

उनका दृष्टिकोण आधुनिक है। पौर्वात्य और पाश्चात्य दोनों ही दर्शनों का उन्होंने अध्ययन किया है। यही नहीं बल्कि आधुनिक विज्ञान, राजनीति तथा समाजशास्त्र में भी उनकी बड़ी दिलचस्पी है।

लोगों में व्यापक नैतिक अधःपतन को देख कर उन्होंने सारे राष्ट्र में पुनीत अणुव्रत-आन्दोलन शुरू किया है। जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रतिपादन में उनका उत्साह सराहनीय है। महान् अशोक से उनकी तुलना की जा सकती है, जिसने अहिंसा के सिद्धान्त की शिक्षा और उसके प्रसार के लिए अपने दूतों को सुदूर देशों में भेजा था। सर्वोदय नेता के रूप में महात्मा गांधी से भी उनकी तुलना की जा सकती है।

उनका व्यक्तित्व आकर्षक है और उससे आध्यात्मिक प्रकाश तथा अन्तर्ज्ञान का तेज प्रस्फुटित होता है। लोग उन्हें पसन्द करते हैं और उन्हें शान्ति प्राप्त करने के लिए उसी तरह उनके पास आते है जैसे ईसामसीह के पास जाते थे।

भगवान् बुद्ध की तरह उन्होंने ऐसे निःस्वार्थ और उत्साही अनुयायियों का दल तैयार किया है जो मनुष्य जाति की सेवा के लिए अपने जीवन अर्पित करने के लिए कटिबद्ध हैं। वे सभी विशिष्ट विद्वान् और निष्कलंक चरित्र वाले व्यक्ति हैं।

आचार्यश्री तुलसी अभी सैंतालीस वर्ष के ही हैं, किन्तु उन्होंने सेवा और आत्म-त्याग के द्वारा त्याग और बलिदान का अनुपम उदाहरण उपस्थित कर दिया है।

आचार्यश्री तुलसी के प्रति मैं बड़ी विनम्रता से अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

सूझ-बूझ और शक्ति के धनी

पं० कृष्णचन्द्राचार्य
अधिष्ठाता, श्री पार्श्वनाथ विद्याश्रम, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

आचार्य तुलसी में सूझ-बूझ, शक्ति और सामर्थ्य कितना है, यह किसी से छिपा नहीं रहा। आज से पच्चीस वर्ष पहले साधु-शिक्षण का कार्य प्रारम्भ करना और बाद में अणुव्रत-आन्दोलन उठाना, उनकी समय को पहचानने की शक्ति तथा समाज को अपने विचारों के साँचे में ढालने के सामर्थ्य की परिचायक हैं। तेरापंथ सम्प्रदाय के दो सौ वर्षों के इतिहास में इनका अपना विशिष्ट स्थान है। इन्होंने एक ऐसे रूढ़िचुस्त सम्प्रदाय एवं समाज को समय की गति पहचानने की दृष्टि दी है, जो दूसरों के लिए सहज नहीं। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से सर्वथा पिछड़े हुए अपने साधु-साध्वी संघ को युगानुरूप शिक्षित करने में इन्हें स्वयं कितना परिश्रम करना पड़ा, अध्यवसाय से काम लेना पड़ा, यह सब बड़ा कष्ट साध्य था। वर्षों पहले यदि वे अपने साधु-साध्वी संघ को शिक्षित करने में न जुटते, तो बाद में अणुव्रत-आन्दोलन को भी नहीं उठा सकते थे और न युगानुरूप दूसरी प्रवृत्तियों को ही शुरू कर सकते थे। निःसन्देह उनका शिक्षित त्यागी संघ ही आज स्वयं उनको आगे बढ़ने में बल दे रहा है और प्रेरक बना हुआ है। आचार्य तुलसी की विलक्षण कर्तृत्व शक्ति पर दूसरे जैन सम्प्रदाय वाले भी चकित हैं।

आचार्यश्री तुलसी की शक्ति और प्रभाव इन सबको देख-सुनकर अच्छे-अच्छे विचारशीलों के मन में अब ये भाव आने लगे हैं कि आचार्यश्री तुलसी कुछ और आगे बढ़ें, तो कितना अच्छा हो। वे अपने प्रभाव और कार्यशीलता का कुछ और विस्तार कर सकें, तो इससे समूचे जैन समाज को आगे लाने व बढ़ाने में विशेष सहायता मिल सकेगी। समग्र जैन समाज की क्रियाशीलता और संगठन भी बढ़ सकेंगे। जो चीज अभी केवल तेरापंथ सम्प्रदाय तक सीमित है, वह सारे जैन समाज में जा सकेगी। उनका यह भी विचार है कि आचार्य तुलसीजी जैसे युगदर्शी और प्रभावशाली व्यक्तित्व के लिए अब यह काम विशेष दुरूह या दुःसाध्य नहीं है। प्रश्न है, विचारों को और भी उदात्त एवं विशाल बनाने का। आचार्य तुलसी सारे जैन समाज को एक मंच पर लाने का कोई विशिष्ट कार्यक्रम रख सकेंगे, तो उनकी क्रान्तिकारिता सूर्य के प्रकाश की तरह चमक उठेगी। अब हम उनसे एक यह अपेक्षा भी रख रहे हैं।

कर्मण्येवाधिकारस्ते

रायसाहब गिरधारीलाल

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने मानव को निष्काम कर्म करने का आदेश दिया है। फल की इच्छा कर्म को पंगु बना देती है। भौतिक सुखों की लालसा मनुष्य को मृगतृष्णा के अन्धकूप में ढकेल देती है। विधि की कैसी विडम्बना है कि आज का वैज्ञानिक ग्रह-नक्षत्रों की थाह लेने के लिए तो उतावला हो रहा है, परन्तु जिस जन्म भू की रज में लोट-लोटकर बड़ा हुआ है, जिसकी गोद में घुटनों के बल रेंग-रेंग कर उसने खड़ा होना सीखा है, उसके प्रति उसका कर्तव्य क्या है और कितना है; इस पर सम्भवतः वह शान्त चित्त से सोचने का प्रयास ही नहीं करना चाहता। नित नये आविष्कारों के इस धूमिल वातावरण में भी विश्व-हित-चिन्तन करने वाले, वसुधा-भर को परिवार की संज्ञा देने वाले, अपने को अणु-अणु गलाकर भी पर-हित-चिन्तन करने वाले जीव मात्र में प्रभु की मूर्ति के दर्शन करने वाले, सत्य, अहिंसा के समर्थक, मानवता के पूजक भारतीय महात्माओं के पुण्य-प्रताप का डंका आज भी पृथ्वी पर बज रहा है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक महामहिम आचार्यश्री तुलसी ऐसे ही गण्यमान्य महापुरुषों में से हैं, जिन्होंने साधु-संघ को समयानुकूल राष्ट्रीय चरित्र के पुनरुत्थान में लगाकर मानव जगत् के समक्ष एक नवीन दिशा को जन्म दिया है। आपने चारों दिशाओं में जन-मानस में जो एक नैतिक-जागरण की पताका फहराई है, वह अनुकरणीय है। सहस्रों मीलों की पदयात्रा करके राष्ट्रीय जागृति का आपने जनगण मन में दिव्य सन्देश पहुँचाया है।

हमारी सरकार जहाँ पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा देश को समृद्धिशाली बनाने के लिए प्रयत्नशील है, वहाँ आचार्यश्री तुलसी का ध्यान देश के नैतिक पुनरुत्थान की ओर जाना और तुरन्त उस ओर कदम बढ़ाना, देश के आबाल वृद्ध के हृदयाकाश में नैतिकता की चन्द्रिका का प्रकाश भरना, मानव धर्म की व्याख्या करना आदि सत्कार्य ऐसे हैं जिनके कारण आचार्यजी के चरणों में हमारा मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। आपने भारतीय संस्कृति और दर्शन के सत्य, अहिंसा आदि सिद्धान्तों के आधार पर नैतिक व्रतों की एक सर्वमान्य आचार-संहिता प्रस्तुत करके जनता की अपरिष्कृत मनोवृत्ति का परिष्कार करने के लिए स्तुत्य प्रयत्न किया है।

काल की सहस्रों परतों के नीचे दबे हुए नैतिकता के रत्न को जनता जनार्दन के समक्ष सही रूप में प्रस्तुत करके उसके माहात्म्य को समझाया है। आपके अणुव्रत अनुष्ठान में संलग्न लाखों छात्र और नागरिक अपने जीवन को धन्य बना रहे हैं।

आचार्य तुलसी की विद्वत्ता सर्वविदित है। आप प्रथम आचार्य हैं जो अपने अनुगामी साधु-संघ के साथ सर्व जन हिताय अणुव्रत का प्रचार करने के लिए व्यापक क्षेत्र में उतरे हैं। २६ सितम्बर, १९३६ को आप बाईस वर्ष की अवस्था में ही आचार्य बने। प्रथम द्वादश वर्षों में आप तेरापंथ साधु सम्प्रदाय में शैक्षणिक और साहित्यिक क्षेत्र में प्रयत्नशील रहे। संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी भाषाओं की श्रीवृद्धि में आपका व्यापक योग रहा है। आपके परिश्रम के फलस्वरूप ही संघ में हिन्दी का अधिकाधिक प्रचार हुआ।

कर्मवीर, स्वनामधन्य आचार्यश्री तुलसी का अभिनन्दन निःसन्देह सत्य, अहिंसा और अणुव्रत का अभिनन्दन है। आपके प्रभावशाली आचार्य काल के पच्चीस वर्ष पूरे हो रहे हैं। इसी उपलक्ष में मैं भी कुछ श्रद्धा-सुमन आपकी सेवा में समर्पित करना चाहता हूँ। आप जैसे पथ-प्रदर्शकों की देश को महती आवश्यकता है। परम पिता परमात्मा आपको दीर्घायु करे, जिससे देश में फैली अनैतिकता का समूलोन्मूलन होकर भारत रामराज्य का आनन्द ले सके।

विद्वान् सर्वत्र पूज्यते

श्री ए० वी० आचार्य
मंत्री, पूना कन्नड़ संघ

आज के स्पूतनिक युग में मनुष्य ने निसर्ग पर अपने अखण्ड परिश्रम द्वारा विजय प्राप्त कर ली है। मनुष्य प्रगतिशील तो है ही, लेकिन वह आज निराशा और भय के अन्धकार में पूरा फँस गया है। उन्नति का मार्ग टटोलते हुए वह अधोगति के गढ़े में क्यों गिर रहा है? इसका कारण है—उसकी राक्षसी महत्त्वाकांक्षा। वह चाहता है कि वह इतना बलवान् बन जाये कि दुनिया की सारी शक्ति का निर्मूलन वह अकेला कर सके। लेकिन वह भूल जाता है कि इस संसार में एक से दूसरा अधिक बनने का प्रयत्न हमेशा ही करता रहता है और परिणाम निकलता है—सब का ही सर्वनाश।

आज मनुष्य मनुष्य का विरोधी बनने में व्यस्त हो रहा है। जाति, धर्म, भाषा, पंथ, रंग, राज्य, प्रान्त, देश आदि जो केवल भौगोलिक और व्यावसायिक उपयुक्तता पर निर्भर रहे हैं, वे ही आज एक-दूसरे को शत्रुत्व पैदा करने के साधन बन कर नानाशाही को निमंत्रण दे रहे हैं। इस अराजक स्थिति में (Chos) मनुष्य जाति, मैत्री का विकास करने में कभी सफलता नहीं पायेगी, अपितु नष्ट जरूर हो जायेगी।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।

भगवान् श्रीकृष्ण ने उपर्युक्त शब्दावली में यही बताया है कि जब भारत में ऐसी ग्लानि, ऐसा घनघोर अंधकार, ऐसी जटिल समस्या पैदा हो जायेगी, तब उस ग्लानि को हटाने के लिए, उस अंधकारमय जीवन को उजाला देने के लिए और उस जटिल समस्या को हल करने के लिए इस महान् देश में कोई-न-कोई श्रेष्ठ विभूति जरूर पैदा हो जायेगी और वह महान् विभूति है—आचार्यश्री तुलसी।

मनुष्य जाति का विकास और उन्नति उसके सत्-चरित्र, उसकी एकता आदि पर निर्भर है। इन महान् तत्त्वों की उपासना के लिए आचार्यश्री ने जन्म लिया है। आचार्यश्री जो उपदेश देते हैं, वह होता है अणुव्रतों का और पद-यात्रा करके इस देश के कोने-कोने में सर्दी और गर्मी से संघर्ष करते हुए पालन करते हैं—महाव्रतों का। मराठी भाषा में एक मुहावरा है जिसके शब्द हैं :

क्रिये वीण वाचालता व्यर्थ आहे।

स्वतः बिना कुछ किये दूसरों को कोरा उपदेश करना विफल है। आचरणहीन उपदेश वास्तव में आत्मवंचना है।

श्रम आचार्यश्री के जीवन का क्रम है। भाग्यवाद का समर्थन करने वालों की अकर्मण्यता पर आचार्यश्री हँसते हैं और अत्यन्त कठोर कष्ट उठाने वालों को आशा भरी दृष्टि से देखते हैं। उनकी दृष्टि से पुरुष का काम है सतत सदुद्योग।

कोटि-कोटि जनता को ज्ञानामृत देने के लिए जो वाणी का वैभव होना चाहिए, वह आपकी वाणी में है। इसलिए आप विद्वत्-सभा में तथा साधारण जनता में अपना प्रभाव डालने में सदा सफल हुए हैं। राजा की महानता होती है उसके राज्य में, परन्तु विद्वान् की सारे विश्व में। इसीलिए कहा गया है—**स्वदेशे पूज्यते राजा विद्वान् सर्वत्र पूज्यते।**

शतायु हों

सेठ नेमचन्द गधैया

उत्तरोत्तर वर्धमान एवं विकासशील तेरापंथ संघ के नव आचार्यों में से उत्तरवर्ती पाँच आचार्य एवं मन्त्री मुनि आदि तपोनिष्ठ चरित्रात्माओं के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का, यतकिंचित् सेवा करने का एवं उनके शुद्ध, सात्विक स्नेह प्राप्त करने का जिस परिवार को अविछिन्न आनन्ददायक अवसर प्राप्त होता आ रहा है, उस परिवार का एक सदस्य नवम अधिशास्ता के धवल समारोह के अवसर पर उनके प्रति श्रद्धा सुमन भेंट करे, यह उसके लिए परम आल्हाद का विषय है। इस पच्चीस वर्ष की अवधि में तेरापंथ संघ की जो सर्वतोमुखी वृद्धि हुई है, ज्ञान, दर्शन, चारित्र व तप का जो विकास हुआ है, वह किसी से अविदित नहीं। आज राजस्थान में ही नहीं, भारत के प्रत्येक प्रान्त में 'तेरापंथ' का नाम सर्वविदित हो रहा है। इसके मूल में आचार्यश्री तुलसी है जिनकी शुद्ध सनातन सिद्धान्तों पर दृढ़ निष्ठा है और जो आत्म प्रत्यय के मूर्तिमान अवतार हैं। यह आप ही की दूरदर्शिता का फल है कि आपने धर्म को सम्प्रदाय के घेरे मे ऊँचा उठाकर उसे व्यापक और बहुजन हिताय बनाया है; उसे जाति, वर्ण, लिंग निरपेक्ष बनाया है।

आज न केवल तेरापंथ समाज अपितु समग्र जैन समाज धन्य है कि आप जैसा एक महान् आचार्य उसे मिला है। धर्म सम्प्रदायों में एकता स्थापित करने के लिए आपके सफल प्रयास चिर स्मरणीय रहेंगे। जो इसे अफीम समझते थे, वे ही अब धर्म की आवश्यकता और उपादेयता समझने लगे हैं। यह आप ही के कठिन प्रयास का फल है। धर्म को आप पुनः समाज व राष्ट्र के शिखर स्थान में स्थापित करने में समर्थ हुए हैं, यह कितने हर्ष का विषय है।

आप शतायु हों, मानव को सच्चे अर्थ में मानव बनाने का आपका अभियान सफल हो, अणुव्रत का विस्तार कोने-कोने में हो, देश का नैतिक धरातल शुद्ध बनाने में आप सफल हों, अहिंसा और संयम को साधारण व्यक्ति भी आपके मार्ग-दर्शन से जीवन में उतार पायें, यही हमारी कामना है।

गुरुता पाकर तुलसी न लसे
गुरुता लसी पा तुलसी की कृपा

—गोपालप्रसाद व्यास

अर्चना

श्री जबरमल भण्डारी

अध्यक्ष, श्री जै० श्वे० ते० महासभा, कलकत्ता

श्रद्धा व्यक्ति के कार्यों के प्रति होती है और भक्ति उसके व्यक्तित्व के प्रति। जिस व्यक्ति में दोनों का समावेश होता हो, वह उसका आराध्य बन जाता है। कोई भी अपने आराध्य के प्रति अपने भावों को शब्दों में बाँधना चाहे तो वह महान् दुष्कर कार्य होगा। जैसे कहा भी गया है :

भाषा क्या है भावों का लंगड़ाता सा अनुवाद

बिल्कुल सत्य है। परन्तु यह भी सत्य है कि भाषा के माध्यम से ही भाव व्यक्त किये जा सकते हैं।

"तेरा चित्र (व्यक्तित्व) और तेरे आदेश व विचार (कार्य) सदा मेरे हृदय में रहते हैं, जिन्हें देख अक्सर लोग पूछ बैठते हैं मैं तेरा कौन ?"

"मैं यह जानते हुए भी, मैं तेरा कौन हूँ, लोगों के समक्ष स्पष्टीकरण नहीं कर पाता।"

"तब क्या इस रहस्य का उद्घाटन तू ही न कर सकेगा।"

उपरोक्त पंक्तियाँ मैंने आचार्यश्री तुलसी के प्रति कुछ वर्षों पूर्व लिखी थीं, परन्तु मैंने सोचा, गंभीरता पूर्वक सोचा, और इस नतीजे पर पहुँचा कि आदेशों और विचारों को हृदय में केवल रखने मे ही काम नहीं चलेगा, उन्हें तो जीवन में लक्ष्य बना कर उतारना होगा।

तूने तेरे शक्ति-स्रोत से थोड़ी-सी सुधा पिलाई, जिसके बल से मैं निर्भय होकर अबाध गति से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ने लगा।

तेरे आदेशानुसार सम्प्रदायवाद का रंगीन चश्मा हटाकर दृष्टि का शोधन किया तो यथार्थता के दर्शन होने लगे।

दूसरों के दोष देखने की आदत जो मेरे में थी, तेरी प्रेरणा से छूटने लगी; अपने दोषों को देखने में प्रवृत्त होने लगा। सम्यग् दृष्टि बना।

जब मैंने मेरे प्रति व्यंग्य सुने, घबराया, लड़खड़ाया, तेरे चरणों में आ पड़ा, बात रखी, तुझसे जीवन का सम्बल मिला। तूने मुझे अक्षरों को सूत्र में बाँधने के लिए प्रेरित किया। जीवन में नवीन प्रकाश दिया कि पत्थर के बदले कभी ईंट न फेंको। लक्ष्य-च्युत होने के अवसर भी मेरे जीवन में आये, पर तूने शिक्षा द्वारा ऊँचा उठाया।

इस पावन बेला में मेरी श्रद्धा-कुसुमाञ्जलि जो मेरे अन्तर हृदय से उमड़ रही है, स्वीकार करो। यही मेरी अर्चना है।

तुम दीर्घ-जीवी बनो, मेरा व तेरापंथी समाज का ही नहीं, सारे संसार का पथ प्रदर्शन करते रहो।

का विध करहु तव रूप बखानी

श्री शुभकरण दसाणी

गिरा अनयन नयन बिनु बानी।
काविध करहु तव रूप बखानी ॥

श्री राम के अनन्य भक्त कवि श्रेष्ठ तुलसीदासजी का यह पद आज पुनः-पुनः मुझे स्मरण हो रहा है, अतः अनेक अनिर्वचनीय अनुभूतियों के साथ-साथ मानवता के उज्ज्वल प्रतीक आचार्यश्री तुलसी के प्रति इस शुभ अवसर पर अपने हृदय की समस्त मंगल कामनाएं, विनम्र अभिनन्दन और अटूट श्रद्धा की अञ्जलि समर्पित करता हूँ।

युग प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी

डा० रघुवीरसहाय माथुर, एम० एस-सी, पी-एच० डी० (यू० एस० ए०)
वनस्पति निदान शास्त्री, उत्तरप्रदेश सरकार, कानपुर

हमारे देश में समय-समय पर ऋषि, मुनि और संतों ने चरित्र-निर्माण और आध्यात्मिक विकास को प्रबल बनाने का प्रयास किया है। इस प्रयास में जितनी सफलता भारत को मिली है, उतनी सम्भवतः अन्य किसी देश को नहीं मिली। इसीलिए हमारे देश की कुछ विभूतियाँ अमर हैं—जैसे राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि, जिनको हम अवतार मानते हैं। इनके गुणगान से मनुष्य जाति के हजारों दुःख शताब्दियों से मिटते रहे हैं और धर्म-पथ पर आगे बढ़ने की प्रेरणा मिलती रही है। भगवद्गीता में स्वयं भगवान् कृष्ण की अमर वाणी है :

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

साक्षात् भगवान् के प्रतीक इन अवतारों के अतिरिक्त संत, महात्मा तथा आचार्यों की भी हमारे देश में कोई कमी नहीं रही। जब-जब हमारी जनता चरित्र भ्रष्ट हुई, तब-तब कोई-न-कोई महान् संत हमारे सामने अपने विमल चरित्र का दिग्दर्शन कराता रहा। परन्तु धर्म-अधर्म तथा सात्विक एवं तामस भावनाओं का समागम सदा से रहा है और रहेगा। केवल हम में यह शक्ति होनी चाहिए कि हम अधोगति के मार्ग में गिरने से बच सकें और काम, क्रोध, मद, लोभ के माया-जाल में उतना ही उलझें, जिससे आधुनिक औद्योगिक काल के सुखों से वंचित न होकर भी आध्यात्मिक पथ से विपथ न हो सकें। इस प्रकार के भौतिक सुख-प्रधान युग में रहते हुए आध्यात्मिक सुख को पूर्णतः प्राप्त करने का उदाहरण हमारे समक्ष राजा जनक का है; परन्तु आज के प्रजातान्त्रिक युग में राजा जनक जैसे लोगों का होना तो सम्भव नहीं है, अतः भौतिकवाद के सुखों को भोगते हुए भी कम-से-कम आचार्यश्री तुलसी के बनाये हुए अणुव्रतों का पालन तो अवश्य ही कुछ कर सकते हैं।

समाज के प्रति तथा सभी धर्मानुयायियों के प्रति आचार्यश्री का कठोर तपःपूत जीवन एक जीता-जागता उदाहरण है। स्वतन्त्रता के बाद जो चरित्रहीनता आज देश में देखी जा रही है, उसके अन्धकार को मिटाने के लिए आचार्यश्री देदीप्यमान सूर्य के सदृश हैं। हम शत-शत कामना करें कि वे चिरायु हों और समाज में वह साहस भरें कि बताये हुए सदाचार के पथ पर वह चल सके।

विशिष्ट व्यक्तियों में अग्रणी

श्री कन्हैयालाल दूगड़
संस्थापक, गांधी विद्यामन्दिर, सरदारशहर

आचार्यश्री तुलसीरामजी महाराज जैन समाज के उन इने-गिने विशिष्ट व्यक्तियों में अग्रणी हैं, जिन्होंने समाज को उन्नत करने में अथक परिश्रम किया है। अणुव्रत और नई मोड़ के नाम से जो साधना की नई दिशा मानव समाज को दी है, उसका सारा श्रेय आचार्यश्री को ही है। धवल समारोह के उपलक्ष पर मंगल कामना के रूप में मेरी प्रभु से यही प्रार्थना है कि वह इनसे भविष्य में भी इसी प्रकार की आध्यात्मिक, नैतिक और सामाजिक अनेक सेवाएं ले।

उज्ज्वल सन्त

श्री चिरंजीलाल बड़जाते

महापुरुषों का जीवन अनेक विशेषताएं लिए हुए रहता है। उनके जीवन में अलौकिक प्रतिभा और सहनशीलता की भावना पूर्णरूपेण समाई हुई रहती है।

आचार्य तुलसीजी ऐसे ही महापुरुषों में अनोखे हैं। उनकी तेजोमय मुखमुद्रा से मैं बहुत ही प्रभावित हुआ हूँ।

आज पन्द्रह वर्षों से मैं उनके सान्निध्य का लाभ उठा रहा हूँ। सबसे पहले मैंने उनके दर्शन जयपुर में किये। नाम वैसे सुन रखा था। देखने की लालसा थी। आखिर संयोग मिल ही गया। जब देखा, तब उनके तेज और प्रभावकारी मुखमण्डल ने मुझे उनकी ओर खिंचने को बाध्य कर दिया और मैं निरन्तर उनकी ओर खिंचता गया। उनसे प्रभावित होता रहा। उनके उपदेशों को अपने जीवन में उतारने की भरसक कोशिश करता रहा। फिर तो जोधपुर, कानपुर, सरदारशहर, बम्बई आदि कई स्थानों पर उनके दर्शन करने गया। उनके पास जाकर अमृतवाणी सुनकर एक अनिर्वचनीय शान्ति का आभास होता है।

भारतीय सांस्कृतिक परम्परा ऐसी ही शान्ति की इच्छुक रही है और इसी में उसके जीवन का रूप मिलता रहा है और तुलसीजी जैसे त्याग और संयमधन संतों के सान्निध्य का लाभ जिसे मिल जाये, उस मनुष्य के तो अहोभाग्य ही समझिये।

उन्हीं की वजह से मैंने अणुव्रत पालन किया। उनके पास जाकर मैंने परिग्रह परिमाण व्रत लिया। सच कहूं तो ऐसा मार्ग उनके पास से मुझे मिला है कि जिसके कारण मेरा जीवन धन्य हो गया है, सफल हो गया है। एक बड़े संघ के आचार्य होते हुए भी अभिमान एवं मोह की भावना का लेश मात्र भी उस मानव देहधारी आचार्य में नहीं और यही कारण है कि तुलसीजी विरोधियों द्वारा भी पूजित होते रहे हैं। वे भी जब उनका स्मरण करते हैं तो इस निष्कलंक व्यक्तित्व के समक्ष अपना सिर झुका लेते हैं।

आज यह अभिनन्दन उनका नहीं, उनके तपःशील जीवन का है। आचार्यत्व का है और संस्कृति के उत्थापक एवं जलकमलवत् निरपेक्षी स्वयं प्रभु संत का है जिसने जीवन ज्योति जगा कर पीड़ित मानवता को प्रकाश दिया, उसे चलने का मार्ग बताया। जीवन के जीने का मन्त्र सिखाया।

उनके इस अभिनन्दन के अवसर पर मेरी हार्दिक शुभकामनाएं स्वीकार करें।

●

तुमने क्या नहीं किया ?

श्री मोहनलाल कठौतिया

अपनी विशाल विचारधारा द्वारा इस धर्म-परायण भारत में अनेकों साम्प्रदायिक भेद मिटाये।

अपने असीम आत्म-बल के प्रयोग से इस स्वतन्त्र राष्ट्र की जनता का हृदय-परिवर्तित कर जाति-पाँति व ऊँच-नीच के बन्धन तोड़े।

अपने अद्वितीय व्यक्तित्व की प्रभा से सामाजिक अन्ध-विश्वासों व कुरूढ़ियों की जड़ें उखाड़ीं।

अपनी अनवरत पद-यात्रा द्वारा भारत के गिरते हुए जनमानस में नैतिक और आध्यात्मिक चेतना जागृत की।

अपने गुरुओं के अटल अनुगामी रहते हुए मान व अपमान पर समदृष्टि रखकर संघर्षों का सफल सामना किया; विरोध को विनोद मानकर उसे अहिंसा से जीता।

सच्चे धर्माचार्य के रूप में तथाकथित धर्म के प्रति फैलती हुई ग्लानि को मिटा, जन-जन को सत्य और अहिंसा का सच्चा मार्ग दिखाया, अनेकों अभिमानी व विलासी जीवन बदले।

अपने स्वाभाविक वात्सल्यपूर्ण हृदयोद्गारों से संसार को विश्व मैत्री का पाठ पढ़ाया।

तेरापंथ के चलते-फिरते आध्यात्मिक विश्वविद्यालय को विस्तृत बनाकर ज्ञान-वृद्धि का सर्वोत्तम साधन बनाया।

मानव कल्याण के लिए तुमने क्या नहीं किया ?

अहिंसा व प्रेम का व्यवहार

रा० सा० गुरुप्रसाद कपूर

हमारे देश की धार्मिक व सांस्कृतिक परम्पराएं विश्व में सब से प्राचीन हैं। समय के साथ-साथ अनेक उतार-चढ़ाव आये और भारतवर्ष पर भी उनका प्रभाव पड़ा। परन्तु फिर भी हमारा मूल धर्म और हमारी संस्कृति इन तूफानों को सहन करती हुई आगे बढ़ती गई और समय-समय पर हमारे समाज में ऐसे संत, महात्मा, ऋषि आते रहे, जिन्होंने हमें प्रेरणा दी और भटकने से बचाया। जब कभी भी हमारे देश का नैतिक पतन हुआ है, अथवा धर्म की ग्लानि हुई है; तब-तब ईश्वर की प्रेरणा से आचार्य तुलसी जैसे महापुरुष और संतों ने जन्म लेकर हमें मार्ग दिखाया है। आज हमारे देश की जो हालत है, समाज में जो अनैतिकता, व्यभिचार, भ्रष्टाचार का बोलबाला हो रहा है, वह हमें कहाँ ले जायेगा और हमारा जिस कदर नैतिक पतन हो रहा है, इसका क्या परिणाम होगा, इसकी कल्पना भी भयावह है। ऐसे समय में आचार्यश्री तुलसी ने देश के कोने-कोने में भ्रमण करके अपने उपदेश के द्वारा जो जन जागृति की है, वह हमारा सही मार्ग प्रदर्शन करती है। आचार्यजी ने जो रास्ता दिखाया है, उससे मानव जाति का कल्याण होगा, इसमें मुझे तनिक भी सन्देह नहीं है। मैं उनके महान् व्यक्तित्व और उपदेशों से अत्यन्त प्रभावित हुआ हूँ और मुझे आशा है कि उनके उपदेशों के फलस्वरूप जनता सत्य, अहिंसा व प्रेम के व्यवहार को अधिकाधिक अपनायेगी तथा समाज का नैतिक स्तर ऊँचा उठगा। मैं आचार्यजी के चरण कमलों में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

धरा के हे चिर गौरव

साध्वीश्री जयश्रीजी

जिओ हजारों साल धरा के हे महामानव !
आगत और अनागत की संकुल रेखा में
तुम कब सिमटे धरती के हे नित नव उज्ज्वल !
तुमने अपनी अमर सूझ से वर्तमान को समझा
पर कब समझ सका युग तुमको परिमल।
जिओ हजारों साल धरा के हे चिर वैभव।
तुमने ही प्राणों के मिष था स्वर उँडेला
पीड़ित सांसों से आहत जीवन-सरगम में
अंकुर बनकर तुम आये; इस नभ-धरती
के उच्छ्वासों-निःश्वासों के झिलमिल संगम में
जिओ हजारों साल धरा के हे चिर गौरव।

लघु महान् की खाई

साध्वीश्री कनकप्रभाजी

सत्य साधना के बल से आलोक अनोखा पाया
तमः पुञ्ज परिव्याप्त पंथ में उसको है फैलाया
चाह तुम्हारी यह वसुधा अब स्वर्ग तुल्य बन जाये
नैतिकता के गान धरा का कण-कण फिर से गाये
पाट चुके तुम साम्य भाव से लघु महान् की खाई।

तपःपूत

मुनिश्री मणिलालजी

तपःपूत !
तुमने ही युग को
नव प्रकाश दे
अन्धकार में
भूले भटके
पड़ते-गिरते
हर राही को
मंजिल का विश्वास दिखाया
खोई-सोई मानवता को
आशा का आलोक दिखाया।

पाप सब हरते रहेंगे

मुनिश्री मोहनलालजी

विश्व के इतिहास में तेरा अमर अभिधान होगा,
विश्व के हर श्वास में तेरा चिरन्तन ज्ञान होगा।
विशद तेरी साधना ही विश्व को सन्देश देगी,
समन्वय की भावना शक्ति-युत आदेश देगी।
सत्यशोधक दार्शनिकता उच्च पद आसीन होगी,
आग्रहहीन अभिव्यक्तियाँ कभी नहीं प्राचीन होंगी।
पदचिह्न तेरे पंथ बन दर्शन सदा करते रहेंगे,
प्रस्फुटित वे शब्द तेरे पाप सब हरते रहेंगे।

शुभ अर्चना

मुनिश्री बसन्तीलालजी

क्षितिज के इस थाल विशाल में
उदित स्वर्णिम-सूर्य सुदीप ले
प्रवर-पांशु पमारित अक्ष से
प्रकृति यों करती तव अर्चना।
ललित घोलित लाल गुलाल से
विहग-कूजित सुन्दर गीत गा
पवन डोलित चामर चारु से
प्रकृति यों करती शुभ अर्चना।

तुम कौन ?

साध्वीश्री मंजुलाजी

तुम कौन ? गगन के हसित चाँद !
अथवा धरती की चिनगारी !
पीकर नित विष की कड़ी घूंट
प्राणों का अंकुर अकुलाया
साँसों का पंछी नीड़ छोड़
है तड़प रहा वह घबराया
है हर मुरझा-सा प्राण तुम्हारे सुधा-सेक का आभारी।

गीत

साध्वीश्री सुमनश्रीजी

नयन गवाक्षों से मानस क्यों धीमे-धीमे झाँक रहा है ?
शुभ्र प्रात की मधुर-मधुर
स्मृतियों के आँचल में छिप-छिप कर,
चिर परिचित से इस अतीत औ'
भावी में अनुराग बिछाकर,
वर्तमान के नील गगन में, आशा के रथ हाँक रहा है।
नयन गवाक्षों से मानस क्यों धीमे-धीमे झाँक रहा है ?

असाधारण नेतृत्व

श्री कृष्णदत्त, सदस्य राज्यसभा

मैं आचार्यश्री तुलसी के महान् व्यक्तित्व के आगे नतमस्तक होता हूँ। बचपन से और उसके बाद का उनका असाधारण जीवन यह सिद्ध करता है कि विधाता ने उनको मानवता के एक सच्चे नेता के रूप में गढ़ा है।

उनकी शिक्षाओं का सौन्दर्य और प्रभाव इस बात में निहित है कि वे जो कहते हैं, उस पर स्वयं आचरण करते हैं। अपने अनुयायियों और दूसरों पर उनके असाधारण प्रभाव का यही रहस्य है। मानव जाति के इतिहास में यह नाजुक समय है और इस समय केवल भारत को ही नहीं, समस्त संसार को ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है।

आज की परिस्थितियों में आचार्यश्री द्वारा संचालित अणुव्रत-आन्दोलन बहुत ही उपयुक्त है। व्यक्तियों के जीवन को सुधारने के लिए भी वह आवश्यक है और तीसरा विश्व-युद्ध छिड़ने पर आणविक अस्त्रों के कारण सम्पूर्ण विनाश के खतरे से मानव जाति को बचाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को नैतिक आधार देने के लिए भी वह आवश्यक है।

मानव-जाति की कल्याण की कामना करने वाले सभी व्यक्तियों को आचार्यश्री के इस आन्दोलन का समर्थन करना चाहिए।

पूज्य आचार्य तुलसीजी

श्री तनसुखराय जैन

मंत्री, भारत वेजीटेरियन सोसाइटी

आचार्यश्री तुलसी जी महाराज के मुझे पहले पहल सरदार शहर में दर्शन हुए थे। उनका तेज व विशाल व्यक्तित्व देखकर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। कुछ देर बातें करने के बाद उनकी योग्यता की गहरी छाप पड़ी। मैं वहाँ दो दिन ठहरा और तमाम व्यवस्था देखकर बहुत सन्तोष हुआ। साधुओं के इतने बड़े समूह पर एक आचार्य का नियन्त्रण बड़े कमाल की बात है जोकि और सम्प्रदायों में बहुत कम देखने में आता है। साधुओं के काम करने की शैली और उनके कार्यों की रिपोर्ट आचार्यजी तक पहुँचाना और नियन्त्रण में रहना यह एक अति उत्तम व्यवस्था है। आचार्यजी महाराज जहाँ भी विराजते हैं, वहाँ की व्यवस्था भी ठीक ढंग से होती है।

उसके बाद आचार्य तुलसी जी महाराज तथा अन्य तेरापंथी साधु-मुनियों से मेरा बहुत सम्पर्क रहा और अभी भी समय-समय पर उनके दर्शन करता रहता हूँ। इस समय अणुव्रत-आन्दोलन जोकि पूज्य आचार्यजी ने आरम्भ किया है समय की चीज है। देश में घूसखोरी, बेईमानी, ब्लैक मार्केट तथा अन्य व्यसन बहुत ज्यादा जोर पकड़ गये हैं। मुझे पूरी आशा है कि अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा बहुत सुधार होगा।

पूज्य आचार्य तुलसीजी महाराज ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर जैन समाज का सिर ऊँचा किया है।

आचार्यश्री तुलसी की जन्म कुण्डली पर एक निर्णायक प्रयोग

मुनिश्री नगराजजी

व्यक्ति जन्म से महान् नहीं, अपने कर्तृत्व से महान् बनता है। आचार्यश्री तुलसी के सम्बन्ध में भी यही बात है। जिस दिन आपका जन्म हुआ, वह परिवार के लोगों के लिए कोई अनहोनी बात नहीं थी। अपने भाइयों में आपका क्रम पाँचवाँ था। उस समय किसने पहचाना था कि कोई महान् व्यक्तित्व हमारे घर में आया है। स्यात् यही कारण हो कि घरवालों ने आपके जन्म ग्रहों का भी अंकन नहीं करवाया। आज आपका कर्तृत्व देश के कण-कण में व्याप्त हो रहा है। देश के अनेकानेक ज्योतिर्विद आपके जन्म ग्रहों की निश्चितता करने में लगे हैं। इसी बात को ध्यान में रखते हुए मैंने किसी प्रसंग पर निम्न श्लोक कहा था :

भ्रातृषुपंचमो जन्मग्रहाः केनाऽपि नांकिताः
अद्य ज्योतिर्विदो भूयो यतन्ते लग्नशोधने।

आचार्यश्री तुलसी का जन्म विक्रम सं० १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया मंगलवार की रात का है। मातृश्री वदनांजी को इतना और याद है कि आपका जन्म पिछली रात का हुआ था। क्योंकि उस समय आटा पीसने की चक्कियाँ चल पड़ी थीं। इससे आपकी जन्म कुण्डली का कोई निश्चित लग्न नहीं पकड़ा जा सकता। अनेकानेक ज्योतिषियों ने कर्क लग्न से लेकर तुला लग्न तक आपकी विभिन्न कुण्डलियाँ निर्धारित की हैं। कुछेक ज्योतिषियों ने आपका जन्म लग्न कर्क माना है तो किसी ने सिंह, किसी ने कन्या, तो किसी ने तुला। भृगु संहिताओं से भी लग्न-शुद्धि पर विचार किया गया, परन्तु स्थिति एक निर्णायकता पर नहीं पहुँची।

आचार्यवर की कलकत्ता यात्रा में किसी एक भाई ने मुझे बताया कि यहाँ पर एक ऐसे रेखा शास्त्री हैं जो केवल हाथ की रेखाओं से यथार्थ जन्म कुण्डली बना देते हैं। उन्हीं दिनों और भी लोग मिले जो इस बात की पुष्टि करते थे। उन्होंने बताया हमारी जन्म कुण्डलियाँ जन्मकाल से ही हमारे घरों में बनी हुई थीं। प्रयोग मात्र के लिए हमने रेखानुगत कुण्डलियाँ भी बनवाई थीं। मिलाने पर वे दोनों प्रकार की कुण्डलियाँ एक प्रकार की निकलीं।

मैं बहुत दिनों से सोचता था, आचार्यवर के जन्म लग्न को पकड़ने में हस्तरेखा का सिद्धान्त एकमात्र आधार बन सकता है। ज्योतिष और हस्तरेखा इन दो विषयों में गति रखने वाले यह भली-भाँति जानते हैं कि हस्त-रेखाओं और जन्म ग्रहों के पारस्परिक सम्बन्ध क्या हैं ? मेरे सामने इससे पूर्व ही कुछ ऐसे प्रयोग आ चुके थे। मन में आया आचार्यवर के जन्म लग्न पर भी हमें यह प्रयोग अपनाना चाहिए।

अगले दिन आचार्यवर से आज्ञा लेकर हम देवज्ञभूषण पं० लक्ष्मणप्रसाद त्रिपाठी रेखाशास्त्री के घर पहुँचे। उनसे इस सम्बन्ध में बातें कीं। मन में सन्तोष हुआ। उन्होंने कहा—आप आचार्यवर के दोनों हाथों के छापे तैयार कर लीजिये। जिन्हें सामने रखकर मैं उनके संवत् व तिथि से लेकर लग्न तक विचार कर सकूँ। इससे आचार्यवर को अधिक समय इस प्रयोजन के लिए नहीं देना होगा।

अगले दिन त्रिपाठीजी ने भी आचार्यवर के दर्शन किये। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने उनके कथनानुसार मुद्रणमसि से आचार्यवर के दोनों हाथों के छापे उतारे। उन्हें लेकर हम लोग मध्याह्न में फिर उनके यहाँ गये। छापा उनके सामने रखा। उन्होंने उसका अध्ययन किया और हमें कुण्डली लिखने को कहा। हमें सन्तोष हुआ। यह सोचकर कि इन्होंने रेखा के आधार से संवत्, तिथि बार, आदि ठीक बतलाये हैं तो लग्न के ठीक न होने का कोई कारण नहीं रह

जाता। दूसरी बात लग्न भी उन्होंने वही बतलाया है जो आचार्यश्री के प्रचलित लग्नों में मध्य का है। आचार्यवर की कन्या लग्न की कुण्डली विशेष रूप से प्रचलित थी। उससे केवल सत्रह मिनट पूर्व का लग्न इन्होंने पकड़ा है। वह लग्न मनः-कल्पित था और यह रेखाओं से प्रमाणित।

वे यथाक्रम संवत्, मास, तिथि, बार, नक्षत्र आदि बोल गये। एक-एक कर भावानुगत ग्रह भी बोल दिये। लग्न के विषय में कहा—इस जातक का जन्म असंदिग्ध रूप से सिंह लग्न में हुआ है।

कुछ दिनों बाद एक अन्य रेखाशास्त्री सम्पर्क में आये। उनके भी सामने आचार्यश्री के हाथों के वही छापे रखे गये। उन्होंने भी अपनी गगना से जो लग्न निकाला वह ठीक वही था जो दैवज्ञभूषण पं० लक्ष्मणप्रसाद त्रिपाठी ने निकाला था। इस प्रकार **द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति** की उक्ति चरितार्थ हुई। आचार्यवर ने यह सब सुनकर कहा—आगे ज्योतिषियों को यही लग्न बताना चाहिए। यह है आचार्यश्री के जन्म ग्रहों के निर्णय का संक्षिप्त विवरण।

आचार्यवर की निर्धारित जन्म कुण्डली समग्र रूप में इस प्रकार है—विक्रम संवत् १९७१ मंगलवार कार्तिक शुक्ला द्वितीय इष्ट-५२/५१ लग्न सिंह ४/२४
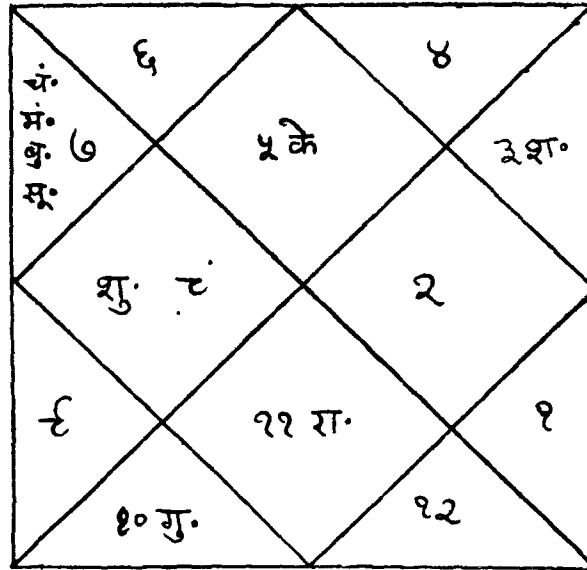
पदमभूषण श्री सूर्यनारायण व्यास ने भी उक्त कुंडली की मान्यता देकर आचार्यवर के ग्रहों पर अपने लेख में विचार किया है।

श्री तुलसीजी की जन्म कुण्डली का विहंगावलोकन

पद्मभूषण पं० सूर्यनारायण व्यास

श्रीयुत् तुलसीजी की जन्म कुण्डली का विवरण इस प्रकार है :—
श्री संवत् १९७१ श० श० ३६ कार्तिक शुक्ल १ भौमे, परं द्वितीयायाम्।
विशाखा २ चरणे इष्टं ५२।५१ । तदा जन्म । ल० ४।२४

सू०	चं०	मं०	बु०	गु०	शु०	श०	रा०
६	६	६	६	९	७	२	१०
३	२५	२१	२५	२१	१०	१०	१०

जन्म चक्रम् — चलितम् — नवांशम्
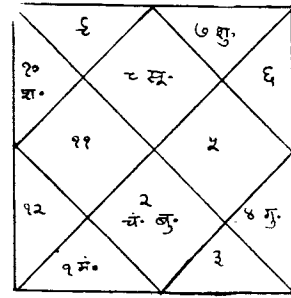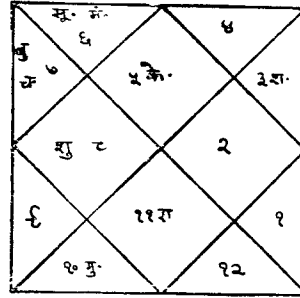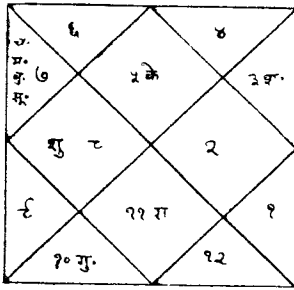
श्री तुलसीजी के जन्म समय के ग्रह योगों पर से विचार करते हुए विदित होता है कि जिन परिस्थितियों और विशिष्ट ग्रह-प्रभाव काल में उन्होंने जन्म लिया, वह वास्तव में महत्त्वपूर्ण था। आरम्भ ही से तुलसीजी ने विशिष्ट एवं परस्पर-विरोधी वातावरण में उत्पन्न होकर, जीवन के प्रस्तुत काल पर्यन्त ऐसे ही वातावरण में कार्य किया है। एक साधारण-सुखी व्यवस्थित परिवार में जन्म लेकर अपने परिवार की परम्परा और कार्य के विरुद्ध वैराग्य मार्ग का वरण किया है। इतना ही नहीं, अपने मार्ग की ओर परिवार को भी प्रेरित और प्रभावित करने में वे सफल हुए हैं। असाधारण शिक्षा-दीक्षा लेकर वे अपने पथ में सफलतापूर्वक अग्रसर हुए और जीवन के अल्पावधि काल में ही वे नेतृत्व का पद प्राप्त करने में सफल हुए हैं। इसमें भी उन्हें स्पर्धा का प्रसंग आया है, किन्तु यह स्पर्धा उन के पथ में एवं उत्थान में सहायक हुई है। नीच राशि का होकर षष्ठ स्थान में अष्टमेश एवं पंचमेश गुरु है। इसलिए संघर्ष और वह भी उच्च स्थानीय बना रहे, इसमें विस्मय का कारण नहीं रहता। इस पर भी लग्नेश सूर्य भिन्न क्षेत्र में नीच राशि का होकर स्थित है। इसलिए मित्रों, स्वजनों, सहकारियों एवं अनुयायियों से भी सतत संघर्ष सजग रहता है। किन्तु उसी भिन्न क्षेत्र में भौम और एकादश में शनि इतना सबल है कि संघर्षों में भी इनका बल बढ़ता और बना रहता है। एक प्रकार से इनके अधिनायकत्व को पोषित करता रहता है।

गुरु और सूर्य की नीच राशि के कारण सहसा इनका भावना-प्रधान मन विचलित हो जाये और विचारों में भी विकृति का अवसर प्रदान करे, किन्तु गुरु और सूर्य नीच राशि के होकर भी नीचांश में नहीं हैं। इस कारण वे विकृतियों

को नियन्त्रित करने में समर्थ बन जाते हैं और अपना गौरव स्थिर रख सकते हैं। विकारी-विचारों पर उनके कोमल मन की तात्कालिक प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है तथापि नीच राशि के गुरु के उच्चांश में नवम स्थान में स्थित होने के कारण उनकी व्यावहारिक बुद्धि उस पर प्रभुत्व पा लेती है। यही गुरु, जो सहज विरोध जागृत करता है, वही उनके व्यक्तित्व में प्रभाव प्रेरित करने वाला अंश बली होकर बन गया है। उनका ज्ञान यद्यपि शिक्षा-क्षेत्र में सीमित रहे, परन्तु उच्चांश में गए हुए नवमस्थ गुरु की पंचम पूर्ण दृष्टि होने के कारण उनकी अन्तः प्रज्ञा का प्रेरक बन गया है और व्यापक योग्यता के साथ उनमें मौलिकता को विकसित करने में सहायक बन जाता है। इसी नीच राशि (एवं उच्चांश) के गुरु ने तथा शनि ने इन्हें परिवार से विरक्त बनाया, किन्तु विरक्ति में भी परिवार की निकटता प्रदान की है। बुध-चन्द्र युति परस्पर विरोधी मिलन है। किन्तु यह मिलन जन्म में ही नहीं, ठेठ नवांश तक अपना सह-अस्तित्व रखती है। इसलिए अपनों से, सहवर्गियों से और अन्यजनों से भी जीवन-भर परस्पर-विरोध की स्थिति में से गुजरना होगा और सतत जागरूक रहने को बाध्य बनना पड़ता है। किन्तु चन्द्र भी अपने उच्चांश में स्थित है। इसलिए जितना उच्च विरोध हो, उतना ही उच्च वर्ग मित्र भी बनता है। बुध-चन्द्र की आंशिक युति भी पारस्परिक विरोध के सहअस्तित्व की जनक बन गई है। साथ ही विरोध में प्रभावोत्पादक बन रही है।

शुक्र बुध-चन्द्र की स्थिति जहाँ संयमित, गम्भीर और प्रभावशाली व्यक्तित्व की निर्मात्री है, वहाँ रस-विलास, साहित्य, कला, काव्य रस में प्रावीण्य प्रदान करती है। कला और सौन्दर्य में अभिरुचि बढ़ाती है।

नवांश में बुध-चन्द्र योग सप्तम स्थान में हो जाने तथा सूर्य-इष्ट-प्रभावित होने के कारण गार्हस्थ्यहीन होना साहजिक होता है। परन्तु बुध-चन्द्र संयोग में उच्चांश स्थित चन्द्र क्लीव बुध के सहवास के कारण विलासी प्रवृत्ति को विकसित नहीं होने देता, संयमित, सीमित, मर्यादित बना देता है। शुक्र के कारण व्यवहार नैपुण्य, योग्य शिष्यों का व्यवस्थित सहयोग प्राप्त होता है तथा कठिन स्थितियों में से भी ऊपर उठने में सहायता मिलती है, अवश्य ही कुछ निकटवर्तियों के व्यवहार और कार्यों से वातावरण में निष्कारण शंका का प्रसार होता हो, पतनोन्मुख परिस्थितियों में गुरु के द्वारा गौरव-रक्षा होती है। गुरु के कारण ही आध्यात्मिक नेतृत्व उपलब्ध होता है।

इस समय सं० २०१६ से तुलसीजी को केतु-दशा आरम्भ हुई है। केतु लग्न में है। यह दशा संवत् २०२३ तक रहेगी। इसमें आरम्भिक काल संतोषप्रद नहीं कहा जा सकता। २०१७ से २०१८ का शुक्रान्तर-काल प्रतिष्ठा, यश, ख्याति और उत्थान में सहायक बनता है। १४ जनवरी, ६२ से ७ मास का काल कला-रस-विलास और साहित्य-प्रवृत्तियों के साथ प्रतिष्ठा का रहेगा। संवत् २०१९ के भाद्रपद से एक वर्ष शारीरिक चिन्ता और मानसिक चिन्ता का कारण हो सकता है तथा संवत् २०२० के माघ से ११ मास का समय संघर्ष एवं कसौटी का रहेगा, अपने ही जनों मे असंतोष व अशान्ति का अवसर आयेगा। आगे २०२३ तक की यह दशा उपयोगी रहेगी।

१८ फरवरी, ६२ मे प्रायः उदर-विकार, प्रवास में श्रम और आत्म-परिजनों के व्यवहारों से मनस्ताप एवं स्पर्धा की परिस्थिति रहेगी।

यह स्पष्ट है कि इस कुण्डली के जिन ग्रहों के तत्त्वों से पोषित होकर तुलसी का जन्म हुआ है, वह उनके व्यक्ति-विकास में बहुत सहायक हुआ है। सीमित क्षेत्र से उन्हें व्यापक बनाने में उनके उच्चांश भोगी—नीच राशि गत—गुरु ने बहुत सहायता की है। यह गुरु नवांश में इतना सबल न बना होता तो सम्भव है कि उनका विरोधी वातावरण चिन्तनीय बन जाता, किन्तु गुरु के सबल हो जाने से ही उनका विरोध भी उन्हें ऊपर उठाने में सहायक बनता रहा है और उन्हें गौरव प्रदान करता रहा है।

हस्तरेखा-अध्ययन

रेखाशास्त्री श्री प्रतापसिंह चौहान

महामाननीय आचार्यश्री तुलसी का हाथ कुछ चमसाकार मिश्रित समकोण आकार का है। समकोण हाथ वाला दूरदर्शी, आदर्शवादी और शासक होता है। चमसाकार मिश्रित होने की अवस्था में आदर्शवादी होने के साथ-साथ व्यक्ति क्रान्तिकारी, नई धारणाओं और प्रवृत्तियों का संस्थापक होता है।

आचार्यश्री के हाथ में बुध की अंगुलि टेढ़ी है और उसका नाखून छोटा है। यह वक्तृत्व शक्ति और परख शक्ति का द्योतक है।

सूर्य रेखा जीवन रेखा से आरम्भ हुई है। जिससे आप प्रसिद्ध और प्रतिभा के धनी होंगे और जन-जीवन का कल्याण करते हुए आदरणीयता और ख्याति प्राप्त करते रहेंगे।

जीवन रेखा को मंगल के स्थान से आने वाली रेखाएं काटती हुई मस्तिष्क रेखा तक पहुंच रही हैं, इसलिए कभी-कभी अपने ही व्यक्तियों से मानसिक खिन्नता प्राप्त होती रहेगी। स्व-धर्मावलम्बी व इतर-धर्मावलम्बियों से विरोध उपस्थित होता रहेगा।

दाहिने हाथ में अपूर्ण मंगल रेखा होने से व्यवहार कुछ कठोर रहेगा, किन्तु विरोधियों के प्रति सहिष्णुता रहेगी। विरोधी कालान्तर से नतमस्तक होते रहेंगे। अनुभव सिद्ध बात है, मंगल रेखा विरोधियों पर विजय दिलाती है, किन्तु समकोण और चमसाकार मिश्रित हाथ होने की वजह से हृदय में शत्रुता के भाव शत्रुओं के प्रति भी नहीं रहेंगे।

हृदय रेखा बृहस्पति की उँगली को छू रही है, इसलिए प्रतिभा व जन-कल्याण की भावना उत्तरोत्तर बढ़ती रहेगी; आदर्शवादी चरित्र रहेगा।

दोनों हाथों में छोटी-छोटी रेखाएं हैं, इसलिए मानसिक चिन्ताएं अधिक रहेंगी। बाएं हाथ में सूर्य, शनि और बृहस्पति के स्थान पर भाग्य रेखा जा रही है। यह उद्यमशील व ख्यातिशील होने की सूचक है। यही रेखा संघ-संचालक और अनुसंधान कर्त्ता होने का भी संकेत करती है। प्रारम्भ में अन्तरंग विरोधों का निश्चित ही मुकाबला करना पड़ेगा। वृद्धावस्था में पूर्ण शान्ति का अनुभव करेंगे।

चन्द्र स्थान पर रेखाएं गहरी होकर शनि स्थान की ओर झुकती हैं। यात्राएं विशेष होंगी। चन्द्र विशेष यात्रा का भी कारण होगा। अँगूठे के नीचे से मंगल स्थान से गहरी रेखा टूटती हुई मंगल तक आई है। पदयात्रा जीवन-भर होती रहेगी।

मस्तिष्क रेखा शनि के नीचे झुकी हुई है। साथ-ही-साथ शनि के पर्वत पर छोटी रेखाएं अधिक हैं। ये वायु विकार की सूचक हैं।

सूर्य के नीचे हृदय रेखा में बड़ा द्वीप है, इसलिए एक आँख विशेष निर्बल होगी।

जीवन रेखा दोनों हाथों में विशेष घुमावदार है और कटी हुई है। संघर्षमय जीवन और लक्ष्य सिद्धि की सूचक है।

बाएं हाथ में मस्तिष्क रेखा मंगल के पहाड़ पर गई है और दाएं हाथ में सूर्य के पहाड़ के नीचे पूर्ण हुई है। इससे विषय को समझाने की सूक्ष्म शक्ति और प्रत्युत्पन्नमति मिली है।

सूर्य रेखा सूर्य के स्थान से गहरी होकर नीचे की ओर चली है। वक्षस्थल में यदाकदा पीड़ा करेगी।

अँगूठा बृहस्पति की उँगली से अधिक दूरी पर खुलता है। दृढ़ निश्चय और आत्मविश्वास का प्रेरक है। हृदय-रेखा और मस्तिष्क रेखा दोनों समानान्तर होकर कम दूरी पर हैं। ऐसा व्यक्ति तब तक दृढ़ रहता है। जब तक अपने निश्चय पर नहीं पहुँच जाता है। कितना ही समय लगे, अपने लक्ष्य पर पहुँचकर ही विश्राम लेता है।

हृदय रेखा में द्वीप है और वह सूर्य के पहाड़ तक मोटी है। वायु विकार हृदय को भी प्रभावित करेगा। यह स्थिति विशेषतया वृद्धावस्था में होगी।
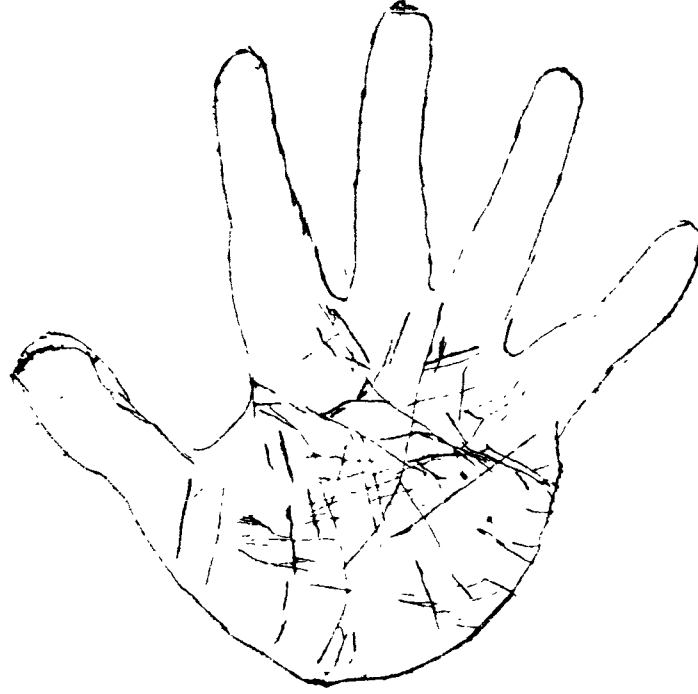
हृदय रेखा से ३६, ३७, ४३, ४४, ५५ और ५६वें वर्ष में शाखाएं निकल कर मस्तिष्क रेखा पर आई हैं। ये तीनों रेखाएं संघर्ष सूचक हैं। उक्त अवधि में संघ-सम्बन्धी या स्वास्थ्य-सम्बन्धी चिन्ताओं का योग है।

बृहस्पति के स्थान पर × का निशान है। यह प्रतिष्ठासूचक होने के साथ मस्तिष्क में भारीपन रखने वाला भी है।

मस्तिष्क रेखा बृहस्पति के स्थान से निकल कर शाखान्वित होती हुई मंगल के स्थान की ओर चली है। जीवन रेखा से अलग होते हुए भी कुछ सटी हुई है। साहित्य में चतुर्मुखी प्रतिभा देगी, सूक्ष्मातिसूक्ष्म कार्य के सम्पादन की क्षमता व निर्णायक बुद्धि होगी।

हृदय रेखा और मस्तिष्क रेखा समानान्तर हैं। सूर्य, शनि और बृहस्पति पर भाग्य रेखा का होना इस बात को प्रमाणित करता है कि किसी नई शैली से अहिंसक क्रान्ति करेंगे। कुछ एक लोग अपनी संकीर्ण भावनाओं के कारण आपका विरोध करेंगे। किन्तु अन्त में वे ही लोग आपके उद्बोधन को स्वीकार करेंगे। पहले-पहल वे लोग आप पर आडम्बर-प्रियता, निरंकुशता आदि के आरोप भी लगाएंगे। यह सब होते हुए भी आप पूर्ण निष्ठा के साथ अपने गन्तव्य की ओर बढ़ते रहेंगे।

भाग्य रेखा और सूर्य रेखा का विशेष उदय २२वें वर्ष से होता है। उसी समय से आपका जीवन लोक-सेवा के दायित्व को उठा कर चल रहा है।

मस्तिष्क रेखा के आरम्भ में द्वीप है और वह मोटा है। जब भी शारीरिक कष्ट होगा जोर से होगा।

बृहस्पति मुद्रिका बाएं हाथ में है। साधु संघ पर आपकी विशेष अनुकम्पा रहेगी।

आपका हाथ समकोण है। चन्द्रमा से भाग्य रेखा उदय होकर मस्तिष्क रेखा पर रुकी है। आपके द्वारा प्रचारित धर्म इतर लोग भी स्वीकार करेंगे; सामाजिक वृद्धि होगी।

जीवन रेखा घुमावदार है। मस्तिष्क रेखा साफ और सीधी है। हृदय रेखा बृहस्पति तक जा रही है। निश्चित ही आप दीर्घ आयु होंगे।

सूर्य रेखा जीवन रेखा से उदित हुई है। उसी स्थान से बुध रेखा निकल कर बुध के स्थान पर गई है। भिन्न-भिन्न विषयों का साहित्य आप और आपके शिष्यों द्वारा सम्पादित होगा। शोध कार्य की तरफ विशेष ध्यान रहेगा। अहिंसा स्वरूप को सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रूप में प्रतिपादित कर लोकहित करेंगे। आप अपनी संघीय व्यवस्था में विकास भी करेंगे। विभिन्न विभाग विभिन्न उत्तरदायित्व युक्त करेंगे। यह व्यवस्था विषय से सम्बन्धित होगी। इसका श्रीगणेश ४९वें वर्ष से और उसकी पूर्णता ५१, ५२, ५३ तक होती रहेगी।

एक सामुद्रिक अध्ययन

श्री जयसिंह मुणोत, एडवोकेट

विश्व के प्रांगण में कई सभ्यताएं आई, सिर ऊँचा किया और नष्ट हो गई। कितने ही राष्ट्र आगे आये, किन्तु टिके नहीं। कई संस्कृतियाँ चमकीं, लेकिन विस्मृति के अंचल में सिमिट गई। उन सभ्यताओं राष्ट्रों एवं संस्कृतियों के विकास एवं विनाश का जो इतिहास है, वह सामने है। राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं बौद्धिक तथा अन्य आघातों ने उनके भव्य प्रासादों को चकनाचूर किया और उनके खँडहरों पर धूल बिछाई, किन्तु उन प्रहारों की सबल चोटें खाकर भी हमारी भारतीय संस्कृति अभी तक जीवित है। इसका एक महत्त्वपूर्ण कारण है—इसकी आध्यात्मिकता। सहस्रांशु की वह तेजोमयी किरण अपना पूर्ण प्रभाव इस भू-भाग पर रखती है और विशेष रखती है। आध्यात्मिकता की यह अमर बेल समय-समय पर आर्ष पुरुषों द्वारा सिंचित हुई, उनसे संरक्षण प्राप्त किया और जिसे संवर्द्धन एवं संवरण उनकी छत्र-छाया में मिला। आध्यात्मिकता से उत्पन्न मानवता जहाँ यत्र-तत्र-सर्वत्र दीखने में आती रही। इस रत्न-प्रसूता वसुन्धरा ने ऐसे महामनस्वी नर पुंगवों को जन्म दिया कि जिनकी वैखरी वाणी एवं अपूर्व कार्य-कलापों ने अल्पकाल ही में वह कार्य कर दिखाया जो साधारण जनों द्वारा सम्भवतः सदियों तक अथक प्रयत्न करने पर भी सम्पन्न नहीं किया जा सकता था। जिन्होंने अपनी मानवता की चिनगारियों से इस देश की प्रसुप्त आत्मा के अन्तराल में क्रान्ति के वे स्फुलिंग जगा दिए कि जिनके प्रकाश में अखिल जगत की बड़ी-से-बड़ी सत्ता भी शान्ति का पथ ढूँढने को आतुर रही और है। धर्म और दर्शन की जननी भारत भूमि मानवता का मुख उजागर करने वाले पहुँचे हुए महापुरुषों से कभी भी खाली नहीं रही है। उसी आर्ष परम्परा की पुनीत माला के मनके हैं—आचार्यश्री तुलसी। इनके जीवन में निखार पाने वाले गुण अगणित हैं और उनका दिव्य चरित्र का पृष्ठ हम सबके सामने खुला है, जिसका समर्थन उनके हाथ से होता है। कितना सुन्दर साम्य है।

यह हाथ नहीं है पुस्तक है जिसमें जीवन का सार भरा।
है उसका पूर्ण प्रतिबिम्ब यही जो वास्तव में है सही, खरा।

Noel Jaquin का कथन है कि, "The hand is the symbolic of the whole". और 'हस्त-संजीवन' में लिखा है :

नास्ति हस्तात्परं ज्ञानं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यद् ब्राह्मं पुस्तकं हस्ते धृतं बोधाय जन्मिनाम्॥

आचार्यश्री तुलसी का हाथ चौकोर, लाल-गुलाबी रंग की मुलायम समुन्नत हथेली नीचे स्थित अंगुस्त कटिवाला लम्बा एक निराला कोण बनाता हुआ है, दूसरा पेरवा लम्बा, प्रथम पेरवा दूसरे की लम्बाई से दो तिहाई से कम नहीं और दूसरे पेरवे में एक तारे का निशान है। तर्जनी अवश्य कुछ छोटी है और उसका दूसरा पेरवा लम्बा है। मध्यमा लम्बी है, दूसरा पेरवा लम्बा व तीन खड़ी रेखा वाला है। अनामिका लम्बी है और उसका प्रथम पेरवा (नख वाला) लम्बा है। अनामिका से दूरी पर स्थित कनिष्ठा है जो लम्बी है, जिसका प्रथम पेरवा लम्बा है। तर्जनी के नीचे जो गुरु का स्थान है, वह समान रूप से उभरा हुआ है और उस पर क्रास तारे में परिणत होता दिखाई देता है। मध्यमा के नीचे जो शनि का स्थान है, उस पर खड़ी रेखा है और V का चिह्न है। स्थान समान रूप से उभरा हुआ है। अनामिका के नीचे जो सूर्यस्थान है, वह भी उभरा हुआ है। कनिष्ठा के नीचे जो बुध स्थान है, समुन्नत है और उस पर तीन-चार खड़ी रेखाएं हैं। इस स्थान के नीचे जो मंगल स्थान है, अच्छा उभरा हुआ है। चन्द्र स्थान जो इस मंगल स्थान

से नीचे है, समुन्नत है और शुक्र स्थान भी खासा उभरा हुआ है। हथेली में खड्डा नहीं है।

मस्तिष्क रेखा त्रिशूलाकार से प्रारम्भ होकर गुरु स्थान के नीचे जीवन-शक्ति रेखा मे ऊपर, किन्तु अलग प्रथम कुछ दूर सीधी और फिर भुकती हुई है जिसकी एक शाखा चन्द्रस्थान की ओर दूसरी मंगल स्थान की ओर गई है, जहाँ आखिरी सिरा ऊपर बुध की ओर मुड़ा है। हृदय-रेखा शनि एवं गुरु स्थान के बीच मे प्रारम्भ होती है और बुध स्थान के नीचे हथेली की छोर तक चली गई है। प्रारम्भ में इसकी एक शाखा गुरु-स्थान की ओर बढ़ती है। भाग्य रेखा चन्द्र स्थान के ऊपर से चल कर मस्तिष्क रेखा तक गई है, दूसरी कुछ ऊपर गई है। सूर्य-रेखा बड़ी सुन्दर है और भाग्य रेखा से मंगल के मैदान में निकल कर करीब हृदय रेखा के नीचे तक गई है और दूसरी सूर्य रेखा मस्तिष्क-रेखा से कुछ नीचे से उठ कर प्रथम सूर्य रेखा के पास चलती हुई सूर्य स्थान तक गई है और जहाँ एक शाखा बुध स्थान की ओर भेजती है। दोनों मंगल स्थान से एक-एक रेखा सूर्य स्थान को आई है जिनमें हथेली के छोर वाले मंगल स्थान वाली रेखा बहुत तीखी एवं स्पष्ट है। सूर्य स्थान के नीचे हृदय रेखा से एक रेखा बुध स्थान की ओर बढ़ी है। मस्तिष्क रेखा से एक रेखा गुरु स्थान की ओर बढ़ी है। जीवन-शक्ति-रेखा पुणचे तक गई है और स्थान-स्थान पर इससे भाग्य रेखाए निकली हैं, जिनमें एक रेखा ठीक गुरु स्थान में गई है। जीवन शक्ति रेखा के बराबर सी अन्दर की ओर एक रेखा है। जीवन शक्ति रेखा से एक रेखा शनि की उँगुली (मध्यमा) के पास गई है जो विरक्ति रेखा है। दोनों हाथ की उँगुलियों में लगभग छः शुभ चक्र हैं, चार में सीप का आकार है। मध्यमा में सीप का आकार है। उँगलियाँ हथेली से छोटी नहीं हैं। हथेली की लम्बाई एवं चौड़ाई प्रायःसमान-सी है। प्रारम्भ में सूर्य रेखा ने कुछ ऊपर उठ कर एक शाखा बुध की ओर छोड़ी है और भाग्य-रेखा की एक
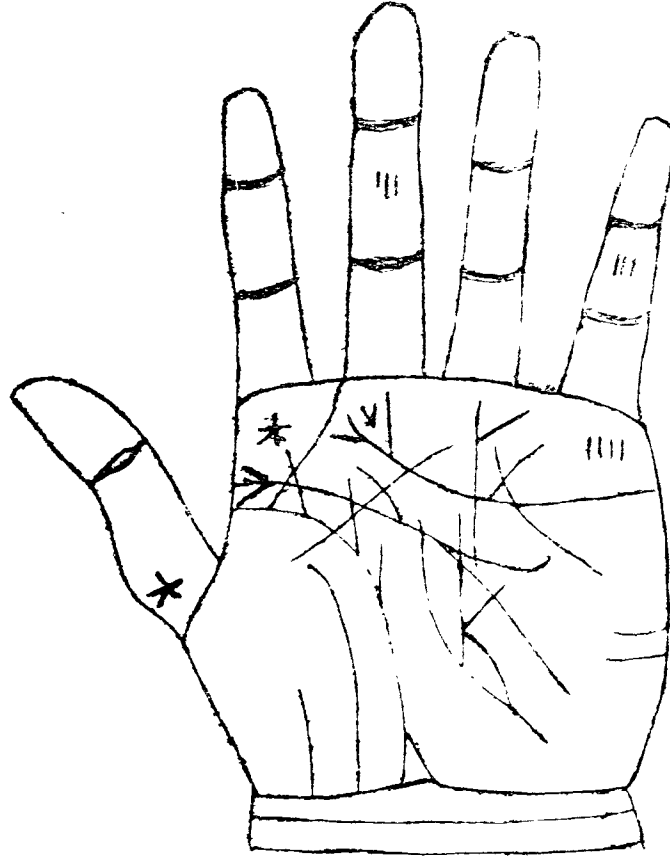
(ऊपर खींचा गया हाथ उसी हस्त-दर्शन के आधार पर है)

शाखा भी कहीं-कहीं आकर मिली दीखती है। यह ऊपर लिखा वर्णन अल्प समय में किये गये हस्त-दर्शन के आधार पर है।

चौकोर हाथ एवं मुलायम समुन्नत लाल गुलाबी रंग की हथेली जिसकी लम्बाई एवं चौड़ाई समान-सी है और अँगुलियाँ भी हथेली के बराबर हैं, इस बात की द्योतक हैं कि इनमें अपूर्व चरित्र-बल, बहस करने की प्रबल शक्ति है, सन्तुलित स्वभाव है, परिवर्तनशील हैं और निरन्तर कार्य में संलग्न रह कर विजयश्री प्राप्त करने के लक्षण हैं। छोटी तर्जनी निर-भिमान की सूचक है। मध्यमा प्रवुद्धता, चिन्तनशील, उद्योगी एवं धार्मिक पुरुष की परिचायक है। अनामिका से कला-कार, कवि एवं सामाजिक चेतनावान् मानव का परिचय मिलता है। प्रथम पेरवा लम्बा होना कवि होने की पुष्टि करता है। कनिष्ठा रचयिता एवं व्याख्यता की प्रतीक है और इसकी दूरी अनामिका से जो स्थित है, वह यह बतलाती है कि यह मानव अपने कर्म में पूर्णरूपेण स्वतन्त्र है। उपरोक्त अंगुस्त विभिन्न विचारों का समावेश, प्रखर बुद्धि, समन्वय शक्ति एवं उदारमना का द्योतक है। प्रथम पेरवा जहाँ सम्पूर्ण आत्म-बल को बतलाता है, वहाँ दूसरा पेरवा सुदृढ़ साधारण ज्ञान (Common sense) एवं प्रबल कर्म शक्ति एवं तर्क शक्ति का परिचायक है। कटि वाला अंगुस्त कुशल राजनीतिज्ञ एवं नेता होने का संकेत करता है। गुरु स्थान पर तारा का चिह्न गुरु पद एवं विश्व-विश्रुत विभूति का द्योतक है। शनि स्थान पर जो रेखा खड़ी है एवं V का चिह्न है, वह माता से विशेष स्नेह होने का परिचय देता है। जीवन शक्ति रेखा से मध्यमा के पास रेखा गई है, वह विरक्ति (Renunciation) रेखा है जो संसार से उदासीन कर विरक्त बनाने में सहा-यक होती है। शनि का समुन्नत स्थान दार्शनिक, कुछ एकान्त प्रेमी एवं संगीत की अभिरुचि का होना प्रकट करता है। ऐसा सूर्य स्थान बहुश्रुत, यशस्वी एवं विवेकी होना जाहिर करता है। सूर्य रेखा से बुध की ओर जाने वाली रेखा रचयिता एवं व्याख्याता की द्योतक है। बुध स्थान एवं उस पर खड़ी रेखाएं कुशल मनोवैज्ञानिक, विज्ञानवेत्ता, विलक्षण बुद्धि वाला एवं सुन्दर वक्ता होने का परिचायक है। मंगल स्थान एवं उनसे सूर्य की ओर जाने वाली रेखाएं महा पराक्रमी, उत्कृष्ट साहसी, हिमालय-सा अडिग, शत्रु पर अहिंसक वृत्ति से सदा विजय पाने वाला एवं परम सहिष्णु होने की द्योतक है। उपरोक्त चन्द्र स्थान तीव्र कल्पना-शक्ति वाला एवं सिरजनहार का सूचक है। शुक्र स्थान सद्भावनाओं का सम्मान करने वाला एवं संगीतज्ञ के गुण बतलाता है। जीवन-शक्ति रेखा से गुरु स्थान में जाने वाली रेखा प्रतिभा प्रदान करने वाली है। अंगुस्त के दूसरे पेरवे में जो तारा का चिह्न है, वह आनन्दयोग का सूचक है।

अधिक महत्त्वपूर्ण रेखा मस्तिष्क की है जो प्रबल आत्म-विश्वास, कल्पना एवं यथार्थता के सामंजस्य, न्यायी, सुनीतिवान्, गुत्थियों को सहज सुलझाने की शक्ति की सूचक है। त्रिशूलाकार सुयश, सौभाग्य, अन्तिम सिरा गुरुता उसका ऊपर उठना अद्भुत वाक्-शक्ति का द्योतक है। साथ-ही-साथ स्थिर बुद्धि एवं प्रवाह में नहीं बहने वाले मस्तिष्क की कल्पना कराता है। हृदय-रेखा कुशाग्र बुद्धि, यश एवं आदर्शवादी की सूचक है। भाग्य-रेखा पूर्वजों की सम्पदा प्राप्त होने की सूचना देती है और गुप्त स्थान निहित है, ऐसा बतलाती है और मस्तिष्क के विशाल एवं व्यापक होने की परि-चायक है। सबमे महत्त्वशाली सूर्य रेखा है जो सर्वांगीण सफलता, बहुश्रुत, अनेक ज्ञान, परम यश, प्रबल वाक्-शक्ति तथा विश्व-विभूति की द्योतक है। यह इक्कीस, बाईस वर्ष की आयु के पास भाग्य रेखा से निकलती है जो भाग्योदय का समय बतलाती है। फिर चौबीस वर्ष की आयु के पास इससे निकलने वाली एक रेखा जो बुध की ओर बढ़ना चाहती है, वह ज्ञानवृद्धि, राजनीति एवं विद्या विकास होना प्रकट करती है। तेतीस वर्ष की आयु के पास एक सूर्य रेखा और निक-लती है जो सीधी सूर्य स्थान को गई है। नवीन जन-क्रान्ति द्वारा विमल यश व सफलता की सूचक है। इससे मानवता से देवत्व की ओर प्रगति होगी, ऐसी सूचना मिलती है। लम्बा अंगुस्त, जो नीचे स्थित है और निराला कोण लिये हुए है, निगूढ़तम दार्शनिक, सिद्धान्तवादी, नीतिवान्, उच्च कोटि का न्यायी होना प्रकट होता है। जीवन-शक्ति की पूरी रेखा है, दोष रहित है जिसमे सुस्वास्थ्य की कल्पना है और इसके साथ दूसरी जीवन रेखा चली है जिसमे जीवन को बल मिलता है। स्थान-स्थान पर जीवन-शक्ति रेखा से सिट्टे की नाई जो भाग्य रेखाएं निकली हैं, वे उस समय की उन्नति एवं प्रतिभा की सूचक हैं। मस्तिष्क रेखा से बृहस्पति की ओर रेखा का बढ़ना सुयश की वृद्धि बतलाती है और हृदय रेखा से बुध की ओर रेखा का जाना ज्ञान-विकास की सूचक है। पेरवों में जो खड़ी रेखाएं हैं, वे व्यवहार-कुशल होने की प्रतीक है और इनसे बुद्धि एवं चतुराई को बल मिलना कहा जाता है।

आचार्यश्री तुलसी के दो प्रबन्ध काव्य

डा० विजयेन्द्र स्नातक एम०ए०, पी-एच०डी०
रीडर, हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

नैतिक उत्थान का दिव्य सन्देश

आचार्यश्री तुलसी अपने अभिनव अणुव्रत-आन्दोलन के कारण आज भारतवर्ष में एक तपस्वी साधक, मर्यादा-पालक वीतराग जैनाचार्य के रूप में विख्यात हैं। ध्वंस और विनाश के जिस उद्वेगमय वातावरण में आज संसार सांस ले रहा है, उसमें नैतिक मूल्यों द्वारा शान्ति और समभाव की स्थापना का प्रयत्न करने वाले महापुरुषों में आचार्य तुलसी का स्थान अन्यतम है। नैतिक एवं चारित्रिक ह्रास के कारण वर्तमान युग में जीवन के शाश्वत मूल्य का जिस द्रुत गति से लोप हुआ है, वह समस्त संसार के लिए चिन्ता का विषय बन गया है। एक ओर देश, जाति, धर्म और सम्प्रदाय की संकीर्ण दीवारें खड़ी करके मानवता खंडाशों में टूट-टूट कर विभक्त हो गई है तो दूसरी ओर दुर्धर्ष ध्वंसायुधों के आविष्कार के सन्देह—शंका का भयावह वातावरण विश्व में व्याप्त हो गया है। ऐसे संकट के समय समूची मानवता के लिए सौहार्द, समता, सौख्य और शान्ति का सन्देश देने वाली महान् आत्माओं और शाश्वत मूल्यों की स्थापना करने वाले उपायों की आवश्यकता स्पष्ट है। आचार्यश्री तुलसी एक ऐसे ही महान् व्यक्ति हैं जिनके पास मानव के नैतिक उत्थान का दिव्य सन्देश है जो अणुव्रत चर्या के रूप में धीरे-धीरे इस देश में फैल रहा है। कहना होगा कि इस शान्त, स्वस्थ एवं निरुपद्रवी आन्दोलन को यदि विश्व के सभी देश स्वीकार कर लें तो व्यक्ति-निर्माण के मार्ग से राष्ट्र का निर्माण और अन्त में समग्र मानवता के विकास का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा।

आचार्यश्री तुलसी की काव्य साधना के प्रसंग में अणुव्रत विषयक दो-चार शब्द मैंने जान-बूझकर लिखे हैं। अणुव्रत का सन्देश आचार्यश्री तुलसी के प्रबन्ध काव्यों में भी निहित है, किन्तु कवि ने उसे किसी आन्दोलन की भूमि पर प्रतिष्ठित न कर भावना की उर्वर धरा पर उसका वपन किया है। अणुव्रत की अनाविल नैतिकता का बीज स्वाभाविक रूप से उनके काव्यों में अंकुरित हुआ है और उसके द्वारा पाठक की परिष्कृत चेतना दीप्त होती है, ऐसी मेरी धारणा बनी है। अणुव्रत-आन्दोलन देश, जाति, धर्म—सम्प्रदाय-निरपेक्ष एकान्त व्यक्ति-साधना होने के कारण सभी विचारशील व्यक्तियों द्वारा समादृत हुआ है, फलतः उसके प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी के विषय में साधारण जनता का परिचय इसी के माध्यम से हुआ है। आचार्यश्री की नैसर्गिक काव्य प्रतिभा से बहुत कम व्यक्तियों का परिचय है, अतः मैं काव्य-प्रतिभा के सम्बन्ध में संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करने का प्रयत्न करूँगा।

ज्ञान-क्रिया की समवेत शक्ति

आचार्यश्री तुलसी के काफी काव्य-ग्रन्थों को पढ़ कर मैं इस परिणाम पर पहुँचा हूँ कि इन ग्रन्थों के निर्माण में जिस प्रेरक शक्ति का सबल हाथ रहा है, वह इच्छा, ज्ञान-क्रिया की समवेत शक्ति है। इन ग्रन्थों की रचना का उद्देश्य 'यशसे' और 'अर्थकृते' न होकर 'दिव्योपदेश' और 'शिवेतर क्षति' ही है। लौकिक एवं पारलौकिक विषयों का व्यवहार ज्ञान भी उपदेश की प्रक्रिया में समाया हुआ है। जिस सरल अभिव्यंजना और सहज अनुभूति से वर्ण्य का विस्तार इन काव्य ग्रन्थों में हुआ है, वह इस तथ्य का निदर्शन है कि भोग्य जगत् के प्रति अनासक्त भाव रखने वाले संत की वाणी में वस्तु-

सत्य के प्रति उतना आग्रह नहीं रहता, जितना भाव-सत्य के प्रति होता है। भाव-सत्य को केन्द्र बिन्दु बनाकर वस्तु-सत्य (घटना) का चित्रण करते समय संत कवि की वाणी जितनी तत्वाभिनिवेशी बनी रहती है, कदाचित् पदार्थ के प्रति आग्रह रखने वाले सामान्य कवि की वाणी नहीं रहती। 'शिवेतर क्षति' जिस काव्य का मूल स्वर हो उसमें यश और अर्थ की लिप्सा को स्थान नहीं रहता। आचार्यश्री तुलसी का निसर्ग कवि स्वयं तटस्थ भाव से इन सबको ग्रहण करके काव्य रचना में प्रवृत्त हुआ है, यह सभी काव्य ग्रन्थों के अनुशीलन से स्पष्ट होता है।

आचार्यश्री की लेखनी से अद्यावधि तीन हिन्दी काव्य-ग्रन्थ प्रकाश में आ चुके हैं। यों तो संस्कृत और मारवाड़ी में भी आपने काव्य-रचना की है, किन्तु इस लेख में मैं उनके दो प्रमुख हिन्दी प्रबन्ध काव्यों की ही चर्चा करूँगा। स्थानाभाव से हिन्दी के सभी ग्रन्थों की समीक्षा करना भी मेरे लिए सम्भव नहीं है। प्रमुख कृतियों में 'आषाढ़भूति' और 'अग्नि-परीक्षा' हैं।

आषाढ़भूति

'आषाढ़भूति' एक प्रबन्ध काव्य है। प्रबन्ध काव्य की पुरातन शास्त्रीय मर्यादा को कवि ने रूढ़ि के रूप में स्वीकार न कर स्वतन्त्र रूप मे कथा को विस्तार दिया है। सर्ग या अध्याय आदि का परम्परागत विभाजन भी इसमें नहीं है। वर्णन की दृष्टि से भी इस काव्य में शास्त्र का अनुगमन प्रायः नहीं हुआ है। वस्तुतः कवि की दृष्टि वर्ण्य वस्तु को जन-मानस तक पहुँचाने की ओर ही अधिक रही है। कवि का अभिप्रेत है 'जनकाव्य' की शैली पर गेय रागों में कथा को श्रुति मधुर बना कर व्यापकता प्रदान करना। शास्त्र-मर्यादा के कठोर पाश में आबद्ध होकर उसे विद्वन्मण्डली तक सीमित बनाने की कवि की तनिक भी इच्छा नहीं है। जैन-साहित्य परम्परा में यह शैली सुदीर्घ काल से विकसित होती रही है। आचार्यश्री ने उसी को प्रमाण माना है और उसके विकास में नई कड़ी जोड़ी है।

यह काव्य आस्तिक भावना का प्रतिष्ठापक होने के साथ जीवन की दुर्दम प्रवृत्तियों का यथार्थ बोध कराने में भी सहायक है। मानव की दुर्ललित वासना वृत्ति किस प्रकार मानव को पाप-पंक में धकेल देती है और किस प्रकार वह इन्द्रियासक्ति के जाल में पड़ कर सन्मार्ग से च्युत हो जाता है, यह बड़ी रोचक शैली से व्यक्त किया गया है। 'आषाढ़भूति' का कथा-प्रसंग निशीथ सूत्र की चूर्णि व उत्तराध्ययन की अर्थ कथाओं से लिया गया है। आचार्य तुलसी ने अपनी उपज्ञात प्रतिभा और कल्पना के योग से सामान्य कथा को दीप्त कर दिया है। कथा के विवरण केवल घटनाश्रित न होकर दर्शन, अध्यात्म, लोक-व्यवहाराश्रित अनेक उपयोगी प्रसंगों से गुँथे हुए हैं। कथा के नायक आचार्य आषाढ़भूति को प्रारम्भ में दृढ़ आस्तिक के रूप में चित्रित किया गया है, किन्तु अपने सौ शिष्यों को महामारी द्वारा अकाल कवलित देख कर और देवयोनि से वापस आकर गुरु से न मिलने पर गुरु के मन का दृढ़ आस्तिक भाव संशय के अंधड़ भाव से हिल उठा। शिष्यों ने वचन दिया था कि देवयोनि से आकर गुरु की खैर-खबर लेंगे, किन्तु एक भी शिष्य वापस न आया। उन्हें लगा कि शास्त्र मिथ्या हैं, परलोक मिथ्या है, तत्त्वज्ञान की चिन्ता व्यर्थ है। इहलोक के सुख को तिलांजलि देना मूर्खता है। भोग की सामग्री की अवहेलना करके मैंने क्या पाया। भोग्य वस्तुओं से परिपूर्ण इस संसार में रमना ही मानव का इष्ट है, ऐसी भ्रम बुद्धि उत्पन्न होने पर आचार्य आषाढ़भूति पथभ्रष्ट होकर लोभ के पंक-जाल में फँस गये। उन्होंने छः अबोध बालकों की हत्या की, उनके आभूषण छीने, चोरी की और पतन का मार्ग पकड़ा। ऐसी दशा में वचनबद्ध उनका प्रिय शिष्य विनोद देवयोनि से आया और उसने आषाढ़भूति का इस पाप-योनि से उद्धार किया। आषाढ़भूति पुनः आस्तिक मुमुक्षु बनकर सत्पथ पर आरूढ़ हुए। यही संक्षिप्त-सी कथा है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने काव्य को जनकाव्य बनाने के लिए लोक प्रचलित विभिन्न गेय रागों का आश्रय लिया है। राधेश्याम कथावाचक की रामायणी शैली का ग्रहण इस बात का प्रमाण है कि कवि इस काव्य का उसी शैली से प्रचार चाहता है। जैन दर्शन के गूढ़ सिद्धान्तों को सरल और सुबोध शैली से बीच-बीच में गुम्फित कर आचार्यश्री ने इसे प्रारम्भ में चिन्तनप्रधान काव्य का लय दिया है, किन्तु बाद में घटनाओं के वर्णन के कारण चिन्तन की गूढ़ता कम होती जाती है। दार्शनिक चिन्तन की झलक नीचे के पदों में स्पष्ट देखी जा सकती है:

यदि भूतवाद ही सब कुछ है, चेतन का पृथगस्तित्व नहीं ?
चेतनता धर्म, कहो किसका, गुण अननुरूप होता न कहीं ?
चेतना शून्य क्यों मृत शरीर, धर्मी से धर्म भिन्न कैसे ?
यह जीव स्वतन्त्र द्रव्य इसकी, सत्ता है स्वयं सिद्ध ऐसे ?
चार्वाक नहीं चिन्तन देता, साम्प्रतिक सुखों का यह केवल।
आश्वासन मात्र प्रलोभन है, इसमें न दार्शनिक, तात्विक बल।
सैद्धान्तिक सबल प्रमाणों से जाती है जड़ जिसकी खिसकी।
औदार्य भारती संस्कृति का, दर्शन में गणना की इसकी।

देवयोनि से शिष्यों के वापस लौट कर न आने पर आचार्य आषाढ़भूति की आस्था डिग गई। उनके मन में सन्देह-शंका के बादल मँडराने लगे। उन्हें लगा कि यह जप-तप, धर्म-पुण्य, सब मिथ्या हैं। स्वर्ग सुनिश्चित नहीं है, साम्प्रतिक दृष्टि ही सत्य है।

लोकस्थिति सारी कल्पित, क्या यह षट् द्रव्याश्रित,
कोई भी आस्था का आधार है नहीं।
झूठी धर्माधर्मास्ति, क्या पद्गल आकाशास्ति,
इस उलझन का कोई भी प्रतिकार है नहीं।

इस प्रकार एक बार घोर पतनगामी होकर आषाढ़भूति की जीवनयात्रा गहनाधंकार में भटक जाती है। किन्तु सौभाग्य से उनका शिष्य विनोद आता है और उनके उद्धार का आयोजन करता है। शिष्य के लिए गुरु के ऋण का शोध केवल यही है कि वह अपने अर्जित ज्ञान को गुरु-प्रबोध के लिए काम में लेने का अधिकारी बने। संयोग की बात, विनोद के सौभाग्य से वह दिन उसे देखने को मिला और उसने गुरु को प्रबोध देकर सत्पथ पर पुनः आरूढ़ किया। विनोद ने गुरु को प्रबोध दिया :

अवितथ हैं सारे आगम, संयन का सफल परिश्रम,
तत्क्षण ही आत्म-शक्ति यह फल साकार है।
आश्रव है बन्ध निबन्धन, संवर से कर्म निरुन्धन,
तप संचित कर्मों का सीधा प्रतिकार है।
देता आकाश आश्रय, पुद्गल है गलन-मिलनमय,
पुद्गल के सिवा न कोई का आकार है।

आषाढ़भूति काव्य का अन्त जैन दर्शन के सिद्धान्तों को सरल भाषा में प्रतिपादन करने में हुआ है। कुछ पारिभाषिक शब्दावलि इन पृष्ठों में प्रयुक्त हुई है जिसको सम्पादक महोदय ने परिशिष्ट में स्पष्ट कर पाठकों का कल्याण किया है।

काव्य सौष्ठव के धरातल पर इस प्रबन्ध काव्य में एक ही उल्लेख्य तत्त्व मैं पा सका; वह है—मनोरंजक शैली से गूढ़ार्थ-प्रतिपादन। अभिव्यंजना का मार्दव या व्यंजना का चमत्कार इसमें नहीं है। मूलतः यह अभिधा काव्य है, जिसे साधारण पाठक के लिए सुबोध शैली में लिखा गया है। कहीं-कहीं गेय रागों के साधारण या अति प्रचलित रूपों ने इसमें हल्कापन भी ला दिया है, किन्तु लेखक का उद्देश्य भिन्न होने से वह दुर्बलता आक्षेप योग्य नहीं रहती। प्रचार की दृष्टि से मैं इस काव्य को सफल समझता हूँ। इसका धरातल भी व्यापक बनाया गया है ताकि सभी वर्गों या सम्प्रदायों के धार्मिक वृत्ति के पाठक इसमें रस ग्रहण कर सकें।

अग्नि-परीक्षा

'अग्नि-परीक्षा' आचार्यश्री तुलसी की प्रौढ़ काव्य कृति है। इस कृति का सम्बन्ध रामायण की सुविश्रुत कथा

से है। रामकथा का क्षेत्र देश, काल, जाति, धर्म और भाषा की दृष्टि से जितना व्यापक है, उतना सम्भवतः संसार की किसी अन्य कथा का नहीं है। राम और सीता को भारतवर्ष के विभिन्न धर्म और सम्प्रदाय ही नहीं, बाहर के देश भी अपना उपास्य देव मान कर ग्रहण करते हैं। रामकथा का विस्तार होने से इसमें रूपान्तर होना तो स्वाभाविक है ही, किन्तु कहीं-कहीं आद्यन्त परिवर्तन भी दृष्टिगत होता है। जैन ग्रंथों में रामकथा का प्रारम्भ सातवीं शती से देखा जा सकता है। 'अग्नि-परीक्षा' की रचना आचार्यश्री तुलसी ने रामकथा के विभिन्न रूपों को पढ़कर अपनी नूतन शैली से की है। किन्तु इसका कथा-प्रसंग मूलतः विमल सूरि कृत 'पउम चरिउ' की परम्परा से जुड़ा हुआ है। इस कथा में कुछ नवीन पात्र अवश्य हैं जो वाल्मीकि और तुलसी की रामायण के पाठकों को नये प्रतीत होंगे, किन्तु समग्र कथा-प्रवाह में उनको बिना जाने भी पाठक अव्यवधान से रसानुभूति कर सकता है।

'अग्नि-परीक्षा' आठ सर्गों में विभक्त प्रबन्ध काव्य है। इस काव्य की कथा रावण-वध के उपरान्त लंका में जुड़ी राम की विराट सभा से प्रारम्भ होती है। दशकंधर के दिव्य प्रासाद में राम-लक्ष्मण सिंहासन पर विराजमान हैं और सुग्रीव, विभीषण, हनुमान आदि उनके चारों तरफ मंडलाकार बैठे हैं। नारद उस समय सभा में आते हैं और वे साकेत नगरी में दुःखी होती हुई वृद्धा माताओं का वात्सल्य भरा करुण सन्देश राम-लक्ष्मण को देते हैं। इस प्रसंग में कवि की वाणी माता की ममता और उसके अतुल उपकारों का वर्णन करने में लीन हुई है और बड़ी भावनाओं के साथ मातृत्व का प्यार इन पंक्तियों में उल्लसित हुआ है। अग्नि-परीक्षा का दूसरा अध्याय 'षड्यन्त्र' शीर्षक प्रसिद्ध रामचरित कथा से कुछ नया है। सम्भवतः यह प्रसंग जैन कथाओं में हो, किन्तु वाल्मीकि और तुलसी में यह कथा-प्रसंग नहीं है। रामराज्य के सुख और आनन्दपूर्ण वातावरण के चित्रण करने के ठीक बाद ही यह दिखाया गया है कि राम की अन्य रमणियाँ सीता के प्रति ईर्ष्यालु और वैमनस्य की भावना से सीता के विषय में मिथ्या प्रवाद प्रसारित करने का षड्यन्त्र करती हैं। राम की ये रमणियाँ कौन हैं और इनको राम के प्रति किस प्रकार का ममत्त्व है, यह इस कथा-प्रसंग में अघटित-सा प्रतीत होता है :

रमणियाँ राम की सब मिल सोच रही हैं,
सीता रहते किंचित सुख हमें नहीं है।
उससे ही रंजित नाथ! रात दिन रहते,
हमसे हँसकर दो बात कभी ना कहते।
जलता रहता मन भीतर ही भीतर में।
यह कैसा घोर अंधेर राम के घर में।
आलोक जहाँ से फैला भारत भर में।
यह कैसा घोर अंधेर राम के घर में।

राम की रमणियों ने षड्यन्त्र कर सीता से रावण के पैरों का चित्र बनवा कर उसे लांछित किया और राम को विवश कर दिया कि वह सीता को विसर्जित करें।

सुन अकल्पित कल्पना यह, राम दुःखित हो गये,
खिन्न मन विश्राम गृह में, क्लान्त होकर सो गये।
ज्वार विविध विचार के हृदयाब्धि में आने लगे,
लहर बन कर ओष्ठ तट से शब्द टकराने लगे।

राम का अन्तस्तल नगर में व्याप्त किंवदन्तियों और प्रवादों से खिन्न हो गया। वे निर्णय न कर सके कि सीता के उज्ज्वल धवल चरित्र पर यह कलंक-कालिमा क्यों थोपी जा रही है। किन्तु लोकापवाद को बलवान् मानकर सीता-परित्याग का कठोर निर्णय कर ही लिया। कवि ने राम के उद्भ्रान्त मन को बड़े सशक्त शब्दों में वर्णन किया है :

अभ्र, अवनी, सर, सरोरुह, श्रान्त-शान्त नितान्त थे,
सरित्, सागर-शब्द रह-रह हो रहे उद्भ्रान्त थे।

विहग, पन्नग, द्वय-चतुष्पद, सर्वतः निस्तब्ध थे,
हुई परिणति गति स्थिति में, शब्द भी निःशब्द थे।

सीता-परित्याग का यह सारा वर्णन बहुत ही प्रवाह पूर्ण शैली में लिखा गया है। सहृदय पाठक का इस प्रसंग में अनेक प्रकार की कोमल अनुभूतियों से आप्लावित हो जाना स्वभाविक है। लक्ष्मण की दशा का यथार्थ अंकन करने में कवि की वाणी इतनी संवेद्य हो गई है कि उसके साथ तादात्म्य करने में कोई बाधा नहीं आती। राम के कठोर आदेश का पालन करने की विवशता और महासती के प्रति अगाध श्रद्धा से भरा कृतान्तमुख सेनापति का मन द्विवधा में डूब जाना है। उसे सीता को छोड़ने वन में जाना ही होगा—कैसी परवशता है।

स्खलित चरण, कम्पित वदन, आकृति अधिक उदास।
पहुँचा सेनानी सपदि महासती के पास।

परित्यक्त होकर सीता वन में चली आई, किन्तु उसका मन घोर अनुताप से भर गया। सती-साध्वी निर्दोष नारी को इतना भीषण कष्ट उठाना पड़ा, यह नारी जीवन का अभिशाप नहीं तो क्या है? नारी के अभिशप्त जीवन का वर्णन कवि के शब्दों में सुनने योग्य है :

अपमानों से भरा हुआ है नारी-जीवन,
अरमानों से भरा हुआ है नारी-जीवन,
अभियानों से डरा हुआ है नारी-जीवन,
बलिदानों से घिरा हुआ है नारी-जीवन।
... ...

पुरुष-हृदय पाषाण भले ही हो सकता है,
नारी-हृदय न कोमलता को खो सकता है।
पिघल-पिघल उसके अन्तर को धो सकता है,
रो सकता है, किन्तु नहीं वह सो सकता है।

अनुताप की भट्टी में जलकर सीता ने अपनी विचारधारा को कंचन बनाया। उसे साहस का सम्बल मिला अपने ही अन्तर के भीतर। आसन्न प्रसवा होकर वह वन में आई थी। उसने दो पुत्रों को जन्म देकर अनुभव किया कि वह पति परित्यक्ता होकर भी पुत्रवती है। उसके पुत्र मर्यादा पुरुषोत्तम की सन्तान हैं। सीता के उदर में पल कर उन्होंने सत्य, धर्म और व्रत-पालन की दीक्षा ली है, क्या वे मातृ-अपमान का बोध होने पर शान्त रह सकते थे। सीता के पुत्रों की वाणी में प्रतिशोध की अग्नि भभक उठी और वीरोचित दर्प से वे हुंकार उठे :

जिस माँ का हमने दूध पिया
उसका अपमान न देखेंगे,
चम-चमती इन तलवारों से
हम जाकर के बदला लेंगे,
रे ! दूर कौन-सा कौशल है
वीरत्व स्वयं का तुम तोलो,
यदि थोड़ी-सी भी क्षमता है
करके दिखलाओ, कम बोलो।

सीता के पुत्र युद्ध के लिए सन्नद्ध होकर मैदान में उतरते हैं और लक्ष्मण के साथ आई हुई सेना से पूरी तरह मोर्चा लेने में जुट जाते हैं। इनकी वीरता से एक बार लक्ष्मण व राम भी अभिभूत हुए बिना नहीं रहते। राम और लक्ष्मण दोनों की समवेत शक्ति भी इन्हें परास्त करने में सफल नहीं होती। राम व लक्ष्मण ने अनेक शस्त्रास्त्रों का प्रयोग किया, किन्तु सभी बेकार गये।

एक एक कर यों सभी अस्त्र गये बेकार।
श्रद्धा, ज्ञान बिना यथा क्रिया न हरती भार।
यों लक्ष्मण के भी सभी हैं निरर्थ हथियार।
दया-दान, संयम बिना ज्यों होते निस्सार।

युद्ध के वर्णन में आचार्यश्री तुलसी ने एक परम्परा—मर्यादा रखी है। उसे विकराल बनाने के लोभ से शब्दों का आडम्बर खड़ा नहीं किया। सहज शैली से युद्ध की भूमिका में मानव-मन के प्रतिद्वन्द्वों को ही प्रमुख स्थान दिया है। इस प्रसंग के बाद इस प्रबन्ध काव्य का उत्कर्ष स्थल और उपसंहार एक साथ आता है। फलागम की दृष्टि से यह अध्याय अन्त में है, किन्तु इस पर उत्कर्ष जिस रूप में चित्रित किया गया है, वह लोक विख्यात कथा से कुछ भिन्न है। लोक-कथाओं में राम ने सीता की अग्नि-परीक्षा लंका से आने पर साकेत नगरी में प्रवेश से पहले ली थी, किन्तु आचार्यश्री तुलसी के काव्य में जैन-परम्परा का ग्रहण हुआ है और सीता की अग्नि-परीक्षा राम ने अपनी आत्म-ग्लानि के उपरान्त अपने अन्तर की प्रबल प्रेरणा से ली है। राम की अन्तरात्मा सीता को सर्वथा शुद्ध, सती-साध्वी मान रही है, अतः यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि जनापवाद के निरसन के लिए बाह्य परीक्षा भी की जाये।

नहीं, नहीं मेरे मन में तो शंका जैसा कोई तत्व,
दयिते! अप्रतिहत आस्था है मानों ज्यों क्षायक सम्यक्त्व।
जड़जन का उन्माद मिटाने सचमुच यही अचूक दवा,
सफल परीक्षण हो जाने से हो जायेगी शुद्ध हवा।

सीता अग्नि-कुण्ड में प्रविष्ट होने के लिए उद्यत हुई। उसके मन में अटूट विश्वास का तेज था। वह निर्भय भाव से प्रसन्न मुद्रा में अग्नि में प्रविष्ट हुई :

चीर क्षितिज की छाती भास्कर नभ प्रांगण में चढ़ता है,
मुनि ज्यों बन्धन-मुक्त साधना-पथ पर आगे बढ़ता है।
अरुण अरुण है, अरुण व्योम है, अरुण सलिल है, अरुण धरा,
तरुण अरुणता लिये ज्योतिमय रूप मैथिली का निखरा।

... ...

बिना हुताशन-स्नान किये होता सोने का तोल नहीं,
नहीं शाण पर चढ़ता तब तक हीरे का कुछ मोल नहीं,
कड़ी कसौटी पर कस अपनी अभिनव ज्योति जगाएगी,
सूर्य वंश की विजय पताका भूतल पर लहराएगी।

सीता के दिव्य एवं पवित्र चरित्र का प्रभाव ऐसा हुआ कि प्रज्वलित हुताशन की लपटें क्षण-भर में शीतल सलिल की तरंगें बन गई और सती सीता उसके ऊपर शान्त सुस्थिर भाव से विराजमान दृष्टिगत हुई। किसी अज्ञात शक्ति के प्रभाव से वह अग्नि-कुण्ड मणि-मंडित सिंहासन बन गया। उस पर बैठी सीता ऐसी लगी जैसे हंस वाहन पर साक्षात् सरस्वती सुशोभित हो रही हो :

मणि-मंडित स्वर्णिम सिंहासन
कर रहा सूर्य-सा उद्भासन,
है समासीन उस पर सीता
सुख पूर्वक साधे पद्मासन,
मानो मराल पर सरस्वती
उत्पल पर कमला कलावती।

सद्ज्ञानोपरि सम्यक् श्रद्धा,
त्यों हुई सुशोभित महासती।

संक्षेप में, अग्नि-परीक्षा भी एक अभिधा प्रधान सरस प्रबन्ध काव्य है जिसे आचार्यश्री तुलसी ने लय और स्वरों में बाँध कर गेय बनाने का प्रयास किया है। यदि इस काव्य को प्रचलित गीत स्वरों में न बाँध कर विषयानुकूल प्रवाह में बहने दिया जाता तो निश्चय ही इसका काव्य सौष्ठव अधिक उत्कृष्ट होता। ग्रंथ-सम्पादक मुनिश्री महेन्द्रकुमार ने अपनी सम्पादकीय भूमिका में ग्रंथ की तुलनात्मक समीक्षा करते समय मैथिलीशरण गुप्त रचित साकेत का संकेत किया है। कुछ स्थल उद्धृत करके साम्य-वैषम्य दिखाने की भी उन्होंने चेष्टा की है, किन्तु उनका ध्यान इस तथ्य की ओर शायद नहीं गया कि साकेत के प्रणेता गार्हस्थ्य जीवन की मोहक झाँकियाँ प्रस्तुत करने में बेजोड़ हैं। सद्गृहस्थ होने के कारण उनके काव्य में गार्हस्थिक जीवन की मर्म छवियों के अनुभूत चित्र जिस रूप में उभर कर आते हैं, वैसे एक वीतराग साधु की लेखनी से कैसे सम्भव हो सकते हैं। वियोग और करुण भाव की योजना के लिए भी जिस प्रकार की अनुभूति चाहिए, वैसी एक संत के पास नहीं हो सकती। यह दूसरी बात है कि धार्मिकता—नैतिकता का जीवन चित्र उनके काव्य में आ जाये, किन्तु गृहस्थी की भावना को साकार कैसे कर सकेंगे! यही कारण है कि 'अग्नि-परीक्षा' में पवित्रता और धार्मिकता का वातावरण अधिक है, गृहस्थ जीवन का नहीं। रामायण के जिस प्रसंग का आचार्यश्री तुलसी ने चयन किया है उसके लिए उपसंहार में नैतिक और धार्मिक उपदेशों के लिए अवकाश होने पर भी प्रारम्भ और मध्य में व्यावहारिक जीवन की कड़वी-मीठी सामान्य अनुभूतियाँ ही अधिक उभर कर आनी चाहिए थीं।

'अग्नि-परीक्षा' का सबसे बड़ा गुण है, उसकी सुबोध शैली और रोचक कथा-प्रसंगों की अन्विति। कवि की वाग्धारा सरस-स्निग्ध होकर जिस रूप में प्रवाहित हुई है, वह सर्वत्र कथा के अनुकूल है। रोचकता की दृष्टि से यह काव्य व्यापक यश का भागी होगा। कहीं-कहीं गेय रागों का प्रबल आग्रह पद-योजना तथा अर्थ-तत्त्व को इतनी साधारण कोटि तक उतार लाया है, जो ग्रंथ के विषय-गांभीर्य की दृष्टि से घातक है। किन्तु प्रचारात्मक दृष्टिकोण के कारण शायद आचार्यश्री को यह माध्यम अत्युपयुक्त प्रतीत होता है।

मैंने दोनों काव्य ग्रन्थों का प्रबन्धात्मक दृष्टि से ही विश्लेषण किया है। रस, ध्वनि, अलंकार आदि के गुणदोष-विवेचन में जान-बूझकर नहीं गया हूँ। मैंने इन दोनों काव्यों में प्रबन्धात्मकता का गुण पूरी तरह पाया है और एक तटस्थ पाठक की भाँति इन्हें पढ़ कर पर्याप्त आनन्द प्राप्त किया है। इन दोनों प्रबन्ध काव्यों की एक उल्लेख्य विशेषता यह भी है कि इनका ध्येय नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा करना होने पर भी कवि ने प्रतिपाद्य को इस प्रकार गठित किया है कि उसमें लोक-व्यवहार-ज्ञान की अत्यधिक सामग्री एकत्र हो गई है। इन दोनों प्रबन्ध काव्यों के अनुशीलन से प्रत्येक पाठक की लोक-दृष्टि व्यापक बनेगी और उसके दैनन्दिन जीवन में होने वाली घटनाओं से इन काव्यों की घटनाओं का तादात्म्य हो सकेगा। आचार्यश्री तुलसी का जीवन धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का साकार रूप है। उन्हीं आदर्शों को लोकभाषा में निबद्ध करना उनका ध्येय था। कथा-प्रसंग तो व्याज-मात्र है, किन्तु उनका निर्वाह जितनी सावधानी से होना चाहिए था, उतनी ही सावधानी से किया गया है। आचार्यश्री तुलसी वीतराग आचार्य होने पर भी लोक चेतना से सम्पृक्त रहते हैं और उसके उन्नयन और उत्थान के लिए किये गये उनके अनेक प्रयोगों में इन काव्य ग्रन्थों का भी अमिट योग है।

अग्नि-परीक्षा : एक अध्ययन

प्रो० मूलचन्द सेठिया
बिड़ला आर्टस् कॉलेज, पिलानी

प्रायः ढाई हजार वर्षों मे रामचरित भारतीय साहित्य का प्रमुख उपजीव्य रहा है। रामायण की कथा भारत की सीमाओं का अतिक्रमण कर बृहत्तर भारत में भी लोकप्रिय रही है, परन्तु डॉ० कामिल बुल्के की यह धारणा तो निर्विवाद है कि "विभिन्न आधुनिक भारतीय भाषाओं का प्रथम महाकाव्य या सबसे अधिक लोकप्रिय ग्रंथ प्रायः कोई 'रामायण' है।" राम-भक्ति का धार्मिक क्षेत्र में अवतरण भी साहित्य के माध्यम से ही हुआ है। डॉ० गोपीनाथ कविराज राम-भक्ति का विशेष विकास आठवीं शताब्दी ई० के पश्चात् मानते हैं, परन्तु प्राचीनतम उपलब्ध रामकाव्य वाल्मीकि रामायण का रचनाकाल ईसा के छह सौ से चार सौ वर्ष पूर्व के अन्तर्गत माना जाता है। वाल्मीकि के पूर्व भी स्फुट या प्रबन्ध रूप में राम-काव्य की रचना होती रही होगी, लेकिन साहित्य-शोधकों के लिए अब तक वह अप्राप्य है। यह निश्चित है कि राम के अवतार रूप की प्रतिष्ठा और राम-भक्ति के शास्त्रीय प्रतिपादन की अपेक्षा राम-चरित की काव्यात्मक अभिव्यक्ति प्राचीनतर है। भारतीय लोक-मानस की सम्पूर्ण आदर्श-परिकल्पनाएं राम के चरित्र में कुछ इस परिपूर्णता के साथ मूर्तिमन्त हुई है कि 'लोकेश लीलाधाम' राम का पावन चरित्र कवियों के लिए चिरन्तन आकर्षण का केन्द्र रहा है। हो भी क्यों नहीं :

राम तुम्हारा नाम स्वयं ही काव्य है,
कोई कवि बन जाय सहज सम्भाव्य है।

—गुप्तजी

'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' के अनुसार विभिन्न कवियों को राम के व्यापक चरित्र में अपने मनोनुकूल मन्तव्य प्राप्त हो गया है। राम के नाम में ही कुछ ऐसा दुर्निवार आकर्षण था कि सम्पूर्ण नाम-रूप के परे अन्तर्ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले निर्गुणिया कबीर 'राम नाम का मरम है आना' कह कर भी अपने को 'राम की बहुरिया' घोषित करने का लोभ संवरण नहीं कर सके। वाल्मीकि और स्वयंभु, तुलसी और केशव, कम्बन और कृत्तिवास, हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त द्वारा राम के पवित्र चरित्र का पूर्ण प्रशस्त अभिव्यंजन हो चुकने पर भी उसके प्रति नये कृतिकारों का आकर्षण उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा है।

राम का चरित्र एक ऐसे प्रभा-पुञ्ज की तरह है, जिसके प्रतिफलन के कारण उसके पार्श्ववर्ती ग्रह-उपग्रहों के रूप में सीता, लक्ष्मण, भरत, कौशल्या, कैकयी, हनुमान आदि के चरित्र भी अलौकिक आभा से अभिमण्डित प्रतीत होते हैं। आधुनिक कवियों में दिवंगत निरालाजी ने 'राम की शक्ति पूजा' और 'पंचवटी-प्रसंग' में राम के तपःपूत जीवन के कुछ पावन प्रसंगों को चित्रित किया है। श्री बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'साकेत सन्त' में भरत और माण्डवी, श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' ने कैकयी और दिवंगत पं० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने ऊर्मिला के चरित्र को अपने काव्य का केन्द्र-बिन्दु बनाया है। परन्तु राम-कथा के चाहे किसी भी पार्श्व को क्यों न स्पर्श किया जाये, राम की वर्चस्विता तो उसमें बनी ही रहती है। 'साकेत' में कविवर मैथिलीशरण गुप्त ऊर्मिला को नायिका बना कर भी लक्ष्मण को अपने महाकाव्य का नायक नहीं बना सके। वस्तुतः, राम भारतीय जीवनादर्श के एक पावन प्रतीक बन गये हैं और उनके सर्वांगपूर्ण जीवन में प्रत्येक कवि को अपने अभिप्रेत की प्राप्ति हो जाती है। राम-काव्य की बृहत् शृङ्खला में नवीनतम कड़ी है—आचार्यश्री

तुलसी की ग्रग्नि-परीक्षा, जो सन् १६६१ में प्रकाशित हुई है। राम-कथा के सम्बन्ध में ग्रपने दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करते हुए ग्राचार्यश्री तुलसी ने 'प्रशस्ति' में स्पष्ट कहा है :

रामायण के हैं विविध रूप
ग्रनुरूप कथानक ग्रहण किया,
निश्छल मन से कलना द्वारा
समुचित भावों को वहन किया,
वास्तव में भारत की संस्कृति
है रामायण में बोल रही,
ग्रपने युग के संवादों से
वह ज्ञान-ग्रंथियां खोल रही।

ग्राचार्यश्री तुलसी तेरापंथ के नवमाचार्य, ग्रणुव्रत-ग्रान्दोलन के प्रवर्तक एवं जैन-दर्शन के एक महान् व्याख्याता के रूप में राष्ट्र-व्यापी ख्याति प्राप्त कर चुके हैं, परन्तु उनके कवित्व का परिचय ग्राषाढ़भूति के प्रकाशन के साथ ही प्राप्त होता है। जन्मना राजस्थानी होने के कारण राजस्थानी भाषा में ग्राचार्यश्री तुलसी द्वारा विरचित विपुल काव्य-सामग्री विद्यमान है, जिसमें पूर्वाचार्य श्रीकालूगणी के जीवन से सम्बद्ध चरित-काव्य 'श्री कालू यशोविलास' प्रमुख रूप से उल्लेख्य है। विगत वर्षों में उत्तरी एवं मध्य भारत में विचरण करने के पश्चात् हिन्दी काव्य-सृजन की ग्रोर ग्रापके ग्राकर्षण का सूत्र-पात होना है। 'ग्रग्नि-परीक्षा' में रामायण के उत्तरार्द्ध की कथा है, जो राम के लंका-प्रस्थान से प्रारम्भ होकर ग्रग्नि-परीक्षिता महासती सीता के जयनाद के साथ समाप्त होती है। स्पष्टतः ग्राचार्यश्री तुलसी का ग्रालोच्य काव्य राम-काव्य की जैन-परम्परा के ग्रन्तर्गत ही परिगणित किया जा सकता है। ग्राचार्यश्री तुलसी के राम गोस्वामी तुलसीदास के राम की भाँति "व्यापक, ग्रकल, ग्रनीह, ग्रज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना विध करत चरित्र ग्रनूप।" वाले मर्यादावतार नहीं हैं। वे ग्राठवें वलदेव हैं ग्रौर उनकी गणना लक्ष्मण एवं रावण के साथ त्रिषष्टि महापुरुषों में की जाती है। जैन मता-नुसार राम ने ग्रपने जीवन के संध्या-काल में साधु-जीवन ग्रंगीकार किया था ग्रौर कर्मक्षय कर सिद्ध पुरुष बन गए थे। जैनों के राम मोक्ष-प्रदाता नहीं है, उन्होंने स्वयं ग्रपनी जीवन-मुक्ति के लिए साधना की थी। हाँ, इसमें सन्देह नहीं कि ग्राज राम एक जीवन-मुक्त महापुरुष सिद्ध हैं। 'ग्रग्नि-परीक्षा' के दशरथ भी राम-वनवास के बाद जैन-दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। भरत राम से कहते हैं 'ली पूज्य पिताजी ने दीक्षा।' राम के ग्रयोध्या प्रत्यागमन के वाद भरत भी जैन साधुत्व स्वीकार करने में विलम्ब नहीं करते हैं :

भरत त्वरित मुनि बन चले, कर जागृत सुविवेक।
वासुदेव-बलदेव का हुग्रा राज्य-ग्रभिषेक।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'ग्रग्नि-परीक्षा' का प्रणयन वाल्मीकीय रामायण की परम्परा में न होकर, 'पउम चरिय' के प्रणेता विमलसूरि की जैन रामायण-परम्परा में हुग्रा है। जैनों में भी रामायण की दो परम्पराएं मिलती हैं, परन्तु गुणभद्र ग्रौर पुष्पदन्त के 'उत्तर पुराण' में, जो दिगम्बर सम्प्रदाय में ही ग्रधिक प्रचलित रहे हैं; सीता के परित्याग ग्रौर ग्रग्नि-परीक्षा की घटना का कहीं उल्लेख तक नहीं किया गया है। ग्रतः ग्राचार्यश्री तुलसी की 'ग्रग्नि-परीक्षा' का सम्बन्ध विमलसूरि के 'पउम चरिय' की परम्परा से ही स्थापित किया जा सकता है। ग्रालोच्य काव्य के कथात्मक विकास पर भी 'पउम चरिय' का सुस्पष्ट प्रभाव है। राम के द्वारा सीता का परित्याग, वज्रजंघ द्वारा सीता का संरक्षण, नारद द्वारा लवणांकुश को माता के ग्रपमान की कथा सुनाया जाना, राम-लक्ष्मण के साथ लवणांकुश का युद्ध ग्रौर ग्रन्ततः सीता की ग्रग्नि-परीक्षा ग्रादि घटनाग्रों का विधान 'पउम चरिय' की परम्पानुसार ही किया गया है।

'ग्रग्नि-परीक्षा' में ग्रग्नि स्नाता सीता का ग्रत्युज्ज्वल चरित्र ही प्रमुख रूप से उपस्थित किया गया है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त के शब्दों में "वैदिक साहित्य में 'सीता' शब्द का प्रयोग ग्रधिकतर हल से जोतने पर बनी हुई रेखा के लिए हुग्रा है। किन्तु एक सीता कृषि की ग्रधिष्ठात्री देवी भी है। एक ग्रन्य सीता सूर्य की पुत्री है। विदेहतनया सीता वैदिक

साहित्य में नहीं है।" वैदिक साहित्य में सीता का उल्लेख केवल 'रामोत्तर तापनीयोपनिषद्' में मिलता है, जो साहित्य-शोधकों द्वारा काल-क्रम की दृष्टि से अर्वाचीन ठहराया गया है। डॉ० कामिल बुल्के के मतानुसार "वैदिक सीता का व्यक्तित्व ऐतिहासिक न होकर लांगल पद्धति के मानवीकरण का परिणाम है।" प्रचलित वाल्मीकि रामायण में सीता को भूमिजा भी कहा गया है। "एक दिन राजा जनक यज्ञ-भूमि को तैयार करने के लिए हल चला रहे थे कि एक छोटी-सी कन्या मिट्टी से निकली। उन्होंने उसे पुत्री-स्वरूप ग्रहण किया तथा उसका नाम सीता रखा। सम्भव है कि भूमिजा सीता की अलौकिक जन्म-कथा सीता नामक कृषि की अधिष्ठात्री देवी के प्रभाव से उत्पन्न हुई हो।" गुणभद्रकृत 'उत्तरपुराण' के अनुसार सीता रावण की पुत्री थी और मन्दोदरी के गर्भ से उसका जन्म हुआ था। इसी प्रकार पद्मजा सीता, रक्तजा सीता और अग्निजा सीता की कल्पनाएं भी अनेक पौराणिक कथा-काव्यों में मिलती हैं।

विष्णु के अवतार राम की पत्नी सीता को भी विष्णु की पत्नी लक्ष्मी का अवतार माना गया है। भक्तप्रवर तुलसीदास ने सीता को प्रभु की शक्ति-योग माया के रूप में प्रस्तुत किया है, जो केवल विष्णु की पत्नी का अवतार मात्र नहीं, प्रत्युत स्वयं सृष्टि का सृजन, पालन और संहार करने में समर्थ सर्वशक्तिमती है :

जासु अंश उपजहिं गुन खानी। अगनित लच्छि उमा ब्रह्मानी।
भृकुटि विलास जासु जग होई। राम बाम दिसि सीता सोई।

'अग्नि-परीक्षा' में आचार्यश्री तुलसी ने सीता को महामानव राम की महीयसी महिषी के रूप में चित्रित किया है और यह चरित्र आँसुओं से धुल कर और आग में जल कर तप्त कुन्दन की तरह सर्वथा निष्कलुष हो गया है। पत्नी के रूप में राम की अर्द्धाङ्गिनी बन कर भी वह अभागिनी ही रही :

जबसे इस घर में आई इसने दुःख ही दुःख देखा,
पता नहीं बेचारी के कैसी कर्मों की रेखा?

पृथ्वी की पुत्री को भी अगर अपनी सर्वसहा माता की भाँति सबका पदाघात सहन करना पड़ा हो तो इसमे आश्चर्य ही क्या ? 'अग्नि-परीक्षा' में आचार्यश्री तुलसी ने उसी अश्रुमती सीता को नायिका के पद पर प्रतिष्ठित किया है जिसकी पलकों में आँसुओं की आर्द्रता के साथ सतीत्व का ज्वलन्त तेज भी है। उसमें नारीत्व के आत्म-गौरव की भावना सदैव प्रगाढ़ रूप में परिलक्षित होती है। वह राम के माध्यम से पुरुष जाति के अत्याचार को सहर्ष सहन करती हुई भी अपने अन्तर में विद्रोहिणी है। वाल्मीकि और तुलसी की सीता उसके सामने नतनयना और मूकवचना निरीहा नारी प्रतीत होती है। युग के प्रभाव से आधुनिक युग की प्रबुद्ध नारी-चेतना से आचार्यश्री तुलसी भी अप्रभावित नहीं रह सके हैं। 'साकेत' की सीता और ऊर्मिला की आत्यन्तिक कोमलता और कातरता का प्रायश्चित्त श्री मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'विष्णुप्रिया' में किया है। 'अग्नि-परीक्षा' की सीता राम से उपालम्भ के रूप में जो कुछ कहती है, उसमें युग-युग से पदमर्दित और प्रवंचित नारी जाति की वह मर्म-वेदना भी मिली हुई है, जो विद्रोह की सीमा-रेखा को स्पर्श करने लगी है :

हाय राम ! क्या नारी का कोई भी मूल्य नहीं है ?
क्या उसका औदार्य, शौर्य पुरुषों के तुल्य नहीं है ?

आचार्यश्री तुलसी एक धर्म-सम्प्रदाय—तेरापंथ के आचार्य हैं। बचपन से ही परम्परा और मर्यादा के पालन करने और कराने का उनका चिराचरित अभ्यास रहा है। इसलिए उनसे यह आशा करना तो दुराशा ही होगी कि वे किसी भाव-प्रतिक्रिया के आवेश में आकर नारी के विद्रोह का शंखनाद करने लगेंगे, परन्तु 'अग्नि-परीक्षा' की कुछ ज्वलन्त पंक्तियाँ नारी के निपीड़न और पुरुषों की स्वेच्छाचारिता और स्वार्थपरायणता को इतनी प्रखरता के साथ उपस्थित करती हैं कि समाज का यह मूलभूत वैषम्य—जो और कुछ भी हो, सत्य और न्याय के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं है—अपनी नग्न वास्तविकता के साथ हमारे सामने आ जाता है।

नारी का अस्तित्व रहा नर के हाथों में,
नारी का व्यक्तित्व रहा नर के हाथों में,
... ...

है पुरुषों के लिए खुली यह वसुधा सारी,
पर नारी के लिए सदन की चार दीवारी।
... ...
क्या पैरों की जूती नारी ?
जो सहे आपदाएं सारी।

सिंहनाद-वन में (जिसका नाम ही रोंगटे खड़े करने वाला है) घोर निराशा के क्षणों मे भी सीता एक सन्नारी के रूप में अपने आत्म-बल को जागृत करती है और इस प्राणान्तक संकट के हलाहल को अमृत बना कर पी जाती है। तभी तो लक्ष्मण कहते हैं :

सहज सुकोमल सरल, गरल को अमृत करती सीता
विषम परिस्थितियों में जो कभी नहीं भय भीता

सीता ने अपने अखण्ड सतीत्व के बदले क्या नहीं पाया—निर्वासन, निर्यातन, निन्दा, लांछना और अन्ततः पुरुष का विश्वासघात ! परन्तु विधि की ये विडम्बनाएं उसके प्राणों के सत्व का शोषण नहीं कर सकीं। सीता ने जहर के घूंट पर घूंट पीकर ही नारी के लिए जीवन का यह तत्त्व-दर्शन प्राप्त किया था :

अपने बल पर नारी तुझे जागना होगा,
कृत्रिम आवरणों को तुझे त्यागना होगा।
खो सन्तुलन भीत हो नहीं भागना होगा,
सत्य क्रान्ति का अभिनव अस्त्र दागना होगा।

'अग्नि-परीक्षा' में सीता एक परित्यक्ता पत्नी के रूप में ही नहीं, एक महिमामयी माता के रूप में भी हमारे सम्मुख उपस्थित होती है। उसका पत्नीत्व चाहे आहत हो, लेकिन उसका मातृत्व लवणांकुश जैसे पुत्र-रत्न पाकर सफल-सार्थक है। वे जब माता के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए राम और लक्ष्मण जैसे विश्व-विश्रुत वीरों से लड़ने के लिए तैयार हो जाते हैं तो उन्हें इन नवल किशोरों से लड़ने में एक प्रकार का सहज संकोच हो आता है। इस अवसर पर सीता के सपूतों की ओजस्विनी वाणी गूँज उठती है :

करुणा किसी दीन पर करना,
झोली किसी हीन की भरना,
दया-पात्र हम नहीं तुम्हारे, क्यों फैलायें हाथ ?

लवणांकुश जैसे पुत्रों को पाकर सीता कुछ क्षणों के लिए पति की प्रवंचना के अन्तर्दाह को भी भूल गई होगी। माता के रूप में ही नारी पुरुष की प्रवंचना और प्रताड़ना के ऊपर उठ पाती है। सम्भवतः नारी अपने पुत्र के रूप में ही पुरुष को अपने सर्वान्तःकरण से क्षमा कर जाती है। माता के अपमान का शोध सत्पुत्रों के द्वारा ही होता है :

सत्पुत्र कभी यों माता का
अपमान नहीं सह सकते हैं,
पाते ही सचमुच शुभ अवसर
वे मौन नहीं रह सकते हैं।

आचार्यश्री तुलसी ने कौशल्या और सीता के रूप में मातृ-हृदय की नवनीत कोमलता और मर्म-मधुरता को सजीव रूप में उपस्थित कर दिया है। लक्ष्मण के वन से लौट आने पर माता सुमित्रा पूछती है, "तुम्हारे घाव कहाँ लगा था ? ज़रा मुझे वह जगह तो दिखलाओ।" कौतुक प्रिय नारदजी भी माता की महिमा गाते हुए सुनाई पड़ते हैं :

वात्सल्य भरा माँ के मन में,
माधुर्य भरा माँ के तन में,
उस स्नेह-सुधा की सरिता का रस तुम्हें पिलाने आया हूँ।

सुनती जब सुत का किञ्चित् दुःख,
पीला पड़ जाता उस का मुख,
उसकी उद्वेलित आत्मा को मैं तुम्हें दिखाने आया हूँ।

'अग्नि-परीक्षा' के अनेक पृष्ठ परित्यक्ता सीता के आँसुओं से गीले हैं। सीता के विरह-वर्णन में केवल पति-वियोग जन्य वेदना की ही अभिव्यंजना नहीं है, अपने सतीत्व पर किए गए सन्देह की चुभन, नारीत्व के अपमान की कसक और पति के द्वारा दी गई प्रवंचना की प्राणान्तक पीड़ा का भी समावेश है। गर्भवती अवस्था में सिंहनाद-वन में नितान्त निराश्रय छोड़े जाने पर उसके सम्मुख सबसे पहले तो कहाँ जाऊँ ? क्या करूँ ? की समस्या आ उपस्थित हुई होगी :

अम्बर से मैं गिरी हाय ! अब नहीं झेलती धरती,
टुकड़े-टुकड़े हृदय हो रहा, रो-रो आहें भरती।

सीता के करुण क्रन्दन में जीवन के कुछ ऐसे करुण और कठोर सत्य प्रकट हुए हैं, जो मर्यादा पुरुषोत्तम के इस कर्म को अमर्यादित सिद्ध करते हुए प्रतीत होते हैं :

यदि कुछ ममत्व मन में होता
करते न कभी विश्वासघात,
क्यों हाथ पकड़ कर लाए थे,
जो निभा न सकते नाथ ! साथ।

सीता के वेदनामय उद्‌गारों में एक प्रकार की विदग्धता है, जो केवल हमें भावोद्वेलित ही नहीं करती, विचारोत्तेजित भी करती है। राम की संकटापन्न एवं द्विधाग्रस्त मनःस्थिति को भी कवि ने लक्ष्य किया है। बड़े गम्भीर अन्तर्द्वन्द्व और विचार-मन्थन के पश्चात् (यद्यपि 'अग्नि-परीक्षा' में उसका साङ्केतिक वर्णन ही हुआ है) राम सीता का परित्याग करने के लिए प्रस्तुत होते हैं।

किन्तु राघव का हृदय आन्दोलनों से था भरा,
घूमता आकाश ऊपर, घूमती नीचे धरा।

सीता अगर सिंहनाद-वन को अपने कुहरी के से करुण क्रन्दन से विह्वल कर रही थी, तो राम के लिए भी अयोध्या का सुख-शयनागार कण्टक-वन बन गया था। तुलसी के राम अपहृता सीता का पता खग, मृग और मधुकर-श्रेणी से पूछ सकते थे, परन्तु अपनी ही आज्ञा से सीता को निष्कासित करने वाले राम उसका पता किससे पूछते ? राम सीता को अयोध्या के राजमहलों से निकाल कर भी उसे अपने हृदय से नहीं निकाल सके। सीता के वियोग में राम को :

लगते फीके सरस स्वादु पकवान भी,
कुसुम सुकोमल शय्या तीखे तीर-सी,
नहीं सुहाते सुखकर मृदु परिधान भी,
मलयानिल भी दुःखद प्रलय-समीर-सी।

अन्ततः राम और सीता का मिलन होता है—उनके अंगजात लवणांकुश के प्रबल पराक्रम से ! सीता माता के ये पुत्र अपने बाहु-बल के दीप्त प्रकाश में राम के संशयाच्छन्न नेत्रों को निमीलित करते हैं। राम और लक्ष्मण की सेना के रक्त-प्रवाह द्वारा वे अपनी माता पर अकारण लगाई गई कलंक-कालिमा को धो डालते हैं। नारद के मुख से अपनी माता के अपमान की कथा के श्रवण मात्र से उनका खून खौलने लगता है। है कहाँ अयोध्या ? राम कहाँ ? माता के द्वारा बार-बार समझाए जाने पर भी उनके आक्रोश का उत्ताल वेग शान्त नहीं होता। अपनी माता के अपमान का प्रतिकार करने के लिए वे अयोध्या पर आक्रमण कर ही देते हैं। प्रारम्भ में राम और लक्ष्मण इस युद्ध को बाल-लीला समझ कर गम्भीरता से नहीं लेते। परन्तु लवणांकुश की भयंकर मार-काट को देख कर उनको भी लड़ने के लिए प्रस्तुत होना पड़ता है। युद्ध-वर्णन में भी आचार्यश्री तुलसी ने अपनी काव्य-प्रतिभा का प्रशस्त परिचय दिया है। रणोद्यत राम का रौद्र रूप द्रष्टव्य है :

अरुण नेत्र निष्करुण हृदय, त्यों निष्प्रकम्प निःस्नेह,
थर-थर अधर दशन से डसते, शस्त्र-सुसज्जित देह,
सोच रहे जन अरे ! हो गया है किसका विधु वाम !
भृकुटि चढ़ी है, बड़ी व्यग्रता, फड़क रहे भुज-दण्ड,
कड़क रहे बिजली ज्यों रिपु को कर देंगे शत-खण्ड,
है प्रचण्ड कोदण्ड हाथ में मूर्त रूप ज्यों श्याम।

परन्तु रोषारुण होने से ही युद्ध नहीं होता। राम-लक्ष्मण भले ही लवणांकुश को नहीं पहचानते हों, पर रक्त तो रक्त को पहचानता था। उनके अस्त्र ही जैसे आज उनको छल रहे थे, वे फेंके किधर ही जाते थे और जाकर लगते किधर ही थे। रथ जर्जर हो गए, अश्व आहत हो गए, सेना शिथिल हो गई। नारदजी फिर रहस्योद्घाटन करने पहुँच जाते हैं। लवणांकुश का परिचय पाकर राम-लक्ष्मण अस्त्रों को छोड़ कर और रथ से उतर कर उनसे मिलने के लिए दौड़ पड़ते हैं :

पुत्र पिता से, पिता पुत्र से, परम मुदित मन मिलते हैं।
शशि को देख सिन्धु, रवि-दर्शन से पंकज ज्यों खिलते हैं।
विनय और वात्सल्य बरसता है भीगी पलकों के द्वारा।
स्नेह-सुधा से सिञ्चित कण-कण आज अयोध्या का सारा।

युद्ध के आँगन में जहाँ पहले तलवारों से तलवारें मिल रही थीं, वहाँ बाहु से बाहु और वक्ष से वक्ष मिलते हैं। आचार्यश्री तुलसी ने इस आकस्मिक भाव-परिवर्तन का बड़ा हृदयग्राही वर्णन किया है :

पल भर में ही वीर रौद्र रस बदल गया हर्षोत्सव में,
शीघ्र उग्र प्रतिशोध-भावना परिवर्तित प्रेमोद्भव में।
क्षण भर पहले जो लड़ते थे वे आपस में गले मिले,
पलट गया पासा ही सारा, फूल और के और खिले।

युद्ध-प्रकरण के पश्चात् सीता की अग्नि-परीक्षा का प्रसंग उपस्थित होता है। कपिपति सुग्रीव पुण्डरीकपुर में सीता की सेवा में उपस्थित होते हैं और उनका अभिनन्दन करते हुए कहते हैं :

कुल कमले ! कमनीय कले ! अमले ! अचले ! सन्नारी,
सहज सुव्रते ! सौम्य सुशीले ! अननुमेय अविकारी।

सुग्रीव के द्वारा राम की ओर से आमन्त्रण की बात सुनकर सीता का दबा हुआ विक्षोभ फूट पड़ता है। सीता के भावोद्गारों में नारी की वेदना ही नहीं, उसका विद्रोह भी मुखरित हो उठा है :

कपिपति ! मैं भूली नहीं वह भीषण कान्तार,
नहीं और अब चाहिए स्वामी का सत्कार।

सीता कहती है—"राम की धरोहर लवणांकुश—मैं उन्हें सौंप चुकी हूँ। राम इस कुलटा को अयोध्या जैसी पुण्य नगरी में बुलाकर उस नगरी को कलंकित क्यों करना चाहते हैं ? हाँ, अगर वे मेरी परीक्षा लेकर मेरा कलंक उतारना चाहें, तो मैं सहर्ष अयोध्या जाने के लिए प्रस्तुत हूँ।" राम सीता के दृढ़ सतीत्व के प्रति अपने मन में अप्रतिहत आस्था होते हुए भी जड़ जनता को शिक्षा देने के लिए सीता की अग्नि-परीक्षा करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। महेन्द्रोद्यान के निभृत क्षणों में जब राम सीता के सामने अपनी सफाई का बयान देने लगते हैं तो उन्हें सीता दो टूक जवाब देती है :

जीवन भर में साथ रही,
फिर भी पाये पहिचान नहीं,
कहलाते हो अन्तर्यामी,
किस भ्रम में भूले हो स्वामी!

"सीता अपने सतीत्व का प्रमाण देने के लिए अग्नि-कुण्ड में प्रवेश करती है, इस पर अग्नि-कुण्ड तालाब में बदल जाता है और उसका जल चारों ओर बढ़ने लगता है। जब पानी लोगों के कानों तक पहुँचता है, वे सीता से प्रार्थना करने लगते हैं और पानी कम हो जाता है।" इन चरम क्षणों में सती सीता के जय-जयकार के साथ आचार्यश्री तुलसी ने अपने काव्य का चरम समापन किया है। एक भव्य, प्रशस्त और उदात्त वातावरण में काव्य की परिसमाप्ति होती है। सीता हेम की तरह शुद्ध होने पर भी इस अग्नि-परीक्षा में से और भी उज्ज्वलतर होकर निकलती है :

बिना हुताशन-स्नान किये होता सोने का तोल नहीं,
नहीं शाण पर चढ़ता तब तक हीरे का कुछ मोल नहीं।

प्रत्येक प्रबन्धकार को अपने आधारभूत कथानक में से प्रबन्धौचित्य के अनुरूप ग्रहण और त्याग करने का अधिकार होता है। आचार्यप्रवर ने अधिकांशतः जैन-परम्परा में प्रचलित कथानक को ही स्वीकार किया है, परन्तु कतिपय प्रसंगों में नवोद्भावना का चमत्कार भी देखने को मिलता है। जब राम अयोध्या में लौट कर आते हैं तो भरत का यह उपालम्भ कितनी अभिन्न आत्मीयता से भरा हुआ प्रतीत होता है :

हरण हुआ भाभी का फिर भी मुझे स्मरण तक नहीं किया,
और कुशल सन्देश हमें लक्ष्मणजी का भी नहीं दिया,
रण में सबको बुला लिया, पर मेरी याद नहीं आई
उसी पिता का पुत्र कहो, क्या था न आपका ही भाई ?

राम का उत्तर केवल भरत का निरुत्तर ही नहीं करता, उसे गुरुतर गौरव-गरिमा से भूषित भी कर देता है :

कर प्रजाजनों का संरक्षण
तू ने भारी गौरव पाया,
मैं एक सिया को पूर्णतया
वन में न सुरक्षित रख पाया।

इसी प्रकार-सीता त्याग के प्रसंग में राम केवल सुनी-सुनाई बातों पर ही निर्भर न रह कर, स्वयं छद्मवेश बना कर अयोध्या के जन-समाज में घूमते हैं। सीता-त्याग के मूल में स्थित लोकापवाद के आतंक को घटनात्मक आधार देने के लिए विभिन्न कृतिकारों ने धोबी के वृत्तान्त, रावण के चित्र, भृगु-शाप, शुक-शाप आदि की कल्पनाएं कर डाली हैं। धोबी के वृत्तान्त का प्राचीनतम उल्लेख सोमदेवकृत 'कथा सरित्सागर' में मिलता है और सम्भवतः मूल ग्रन्थ गुणाढ्य की 'बड्ढ कहा' में भी रहा होगा। सीता के पास रावण का चित्र मिलने की घटना का वर्णन सर्वप्रथम हेमचन्द्राचार्य के 'जैन रामायण' में मिलता है। आचार्यश्री तुलसी ने प्रसंगतः रावण के चित्र और धोबी के वृत्तान्त का भी उल्लेख किया है। वास्तविकता तो यह है कि सीता-त्याग का मूल कारण लोकापवाद का आतंक ही रहा है, जिसे प्रसिद्ध राजनीति-शास्त्री जॉन स्टुअर्ट मिल ने जन-मत का अत्याचार (Tyranny of the Public opinion) कहा है। आचार्यश्री तुलसी ने जड़जनता की मूढ़ मतवादिता का मर्मग्राही चित्रण इन पंक्तियों में किया है :

है प्रवाह गडरी जनता का,
अस्थिर ज्यों शिखरस्थ पताका।
क्षण में इधर-उधर हो जाती,
नहीं सही चिन्तन कर पाती।

'अग्नि-परीक्षा' के कला-पक्ष का मूल्यांकन करते हुए हमें यह स्मरण रखना होगा कि एक धर्माचार्य होने के नाते आचार्यश्री तुलसी कला-पक्ष को ऐकान्तिक महत्त्व नहीं दे सकते थे। इसमें जो कलात्मक उत्कर्ष है, वह तो सहज सिद्ध है। आचार्यप्रवर की दृष्टि से काव्य का आनन्द चाहे गौण न हो, परन्तु उसका नैतिक मूल्य सर्वोपरि है। परन्तु काव्य धार्मिक होने पर भी काव्य ही रहता है, उसमें नैतिक प्रबोधन भी होता है तो कलात्मकता के माध्यम से ही होता है। 'अग्नि-परीक्षा' की सफलता इसीमें है कि इसमें एक धर्म-भावना से अनुप्राणित कथा का निर्वाह भी विशुद्ध मानवीय भाव-भूमिका

पर हुआ है। धर्म-भावना काव्य के नीर में ही क्षीर की तरह सम्मिश्रित हो गई है। वह ऊपर से आरोपित अनुभव नहीं होती। हाँ, अलंकार-विधान के अन्तर्गत जैन धर्म के सिद्धान्तों एवं दार्शनिक तथ्यों का स्थान-स्थान पर उल्लेख हुआ है। महाकवि तुलसीदास ने भी नैतिक एवं दार्शनिक तथ्यों का निरूपण इसी प्रकार उपमानों के रूप में यथाप्रसङ्ग किया है। यथा—"बूंद अघात सहे गिरि कैसे, खल के वचन सन्त सह जैसे।" 'अग्नि-परीक्षा' में आचार्यश्री तुलसी ने परम्परागत एवं रूढ़ उपमानों का परित्याग कर अपने अलंकार-विधान को कहीं-कहीं जैन-दर्शन की तात्त्विक मान्यताओं पर आधारित किया है। इससे जहाँ अलंकार-विधान में एक प्रकार की नवीनता और विलक्षणता का समावेश हुआ है, वहाँ एकाध स्थान पर दुर्बोधता भी आ गई है। कुछ पंक्तियाँ तो वास्तव में बड़ी ही चामत्कारिक एवं अनुरञ्जनकारी बन पड़ी हैं। लक्ष्मण राम से कहते हैं :

अभवी मुक्त बने, अलोक में चाहे पुद्गल दौड़े।
तो भी कभी न जँचता भाभी अटल पतिव्रत तोड़े।

... ...

शोभित माँ की गोद में दोनों पुण्य-निधान।
होते ज्यों चारित्र्य में सम्यग् दर्शन-ज्ञान।

कहीं-कही गूढ़ दार्शनिक सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण उपमान दुर्बोध हो गए है, परन्तु जैन-दर्शन की सामान्य मान्यताओं से परिचित पाठकों के लिए ये रसपूर्ण ही सिद्ध होंगे। यथा :

स्वल्प-सी भी वृष्टि होती, सिद्ध अत्युपयोगिनी,
सजग मुनि की क्रिया, संवर-निर्जरा संयोगिनी।

भारतीय साहित्य में तो वैद्यक, गणित और ज्योतिष-शास्त्र से भी उपमानों का चयन करने की प्रवृत्ति रही है, अतः आचार्यश्री तुलसी का यह अलंकार-विधान कुछ नवीनता और विलक्षणता लिए हुए होने पर भी अप्रतीत्व दोष का द्योतक नहीं है।

लोक-जीवन के निकट सम्पर्क में रहने के कारण आचार्यश्री तुलसी ने अग्नि-परीक्षा में मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रचुरता से प्रयोग किया है। मुहावरेदानी की दृष्टि से 'अग्नि-परीक्षा' खड़ी बोली के किसी भी काव्य से टक्कर ले सकती है। 'कामायनी' में तो जैसे मुहावरों का अकाल ही है। कुछ मुहावरे और लोकोक्तियाँ सहज ही हमारा ध्यान आकृष्ट करती हैं :

१. पूर्ण भर कर घड़ा जैसे फूटता है पाप का।
२. चढ़े और पैदल दोनों की लोक मजाक उड़ाते।
३. एक गुफा में दो-दो मृगपति, एक म्यान में दो तलवार।
४. भर बूंद-बूंद से घड़ा, बड़ा वह देश-राष्ट्र निर्माता है।

कहीं-कहीं भाषा का सहज सरल प्रवाह ही बड़ा प्रभावकारी बन गया है। यथा :

सेना है या लाए हो, भाड़े के पकड़-पकड़ रँगरूट,
केवल भगना ही सीखे, ये मानो रेगिस्तानी ऊँट।

प्रकृति-वर्णन को 'अग्नि-परीक्षा' में प्रमुखता तो प्राप्त नहीं हो सकी है, परन्तु जहाँ कहीं आचार्यश्री तुलसी ने प्रकृति की ओर दृष्टिपात किया है, उन्होंने कुछ बिम्बग्राही चित्र उपस्थित करने में सफलता प्राप्त की है। कुछ स्थल तो निराला की 'राम की शक्ति पूजा' के 'उगलता गगन घन अन्धकार' का स्मरण कराते हैं। प्रकृति वर्णन प्रायः सर्वत्र कथा-प्रवाह को पूर्व-पीठिका देने के लिए ही उपयुक्त हुआ है। परन्तु सधी हुई कलम से दो-चार रेखाओं में ही जो चित्र अंकित किए गए हैं, वे हमारे सम्मुख पूर्ण बिम्ब उपस्थित करने में समर्थ हैं :

अभ्र, अवनी, सर-सरोरुह, श्रान्त-शान्त नितान्त थे,
सरित्, सागर-शब्द रह-रह हो रहे उद्भ्रान्त थे।

विहग, पन्नग, द्वय-चतुष्पद, सर्वतः निस्तब्ध थे,
हुई परिणत गति स्थिति में, शब्द भी निःशब्द थे।

अन्तिम पंक्ति में शब्द भी निःशब्द थे कह कर नीरवता की पराकाष्ठा को सूचित किया गया है। प्रकृति-वर्णन अधिकतर पात्रगत भावनाओं के अनुरूप ही हुआ है। सिंहनाद-वन की दुर्गमता, निर्जनता और भयंकरता का प्रस्तुत वर्णन वातावरण के भयकारी प्रभाव को और भी गहरा कर देता है :

वन-विडाल, शृगाल शूकर हैं परस्पर लड़ रहे,
द्विरद मद झरते कहीं दन्तूशलों से भिड़ रहे।
प्रबल पुच्छाछोट करते कहीं मृगपति घूमते,
भेड़िये, भाल, भयंकर, घोर श्वापद झूमते।

'पुच्छाछोट' आदि व्यंजक शब्दों का चयन भी ऐसा किया गया है कि जो एक भयकारी वातावरण का बोलता हुआ चित्र उपस्थित कर देता है। अग्नि-परीक्षा के प्रसंग में अग्नि-कुण्ड के वर्णन में भी लेखनी से तूलिका और शब्दों से रेखाओं का काम लिया गया है :

अम्बर से अम्बर मणि की, नव किरणें भू पर उतर रहीं,
अग्नि-कुण्ड की ज्वालायें, अम्बर छूने को उभर रहीं।

आलोच्य काव्य में सर्ग बद्धता तो अवश्य है, परन्तु परम्परागत शास्त्रीय विधान के अनुसार एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग नहीं किया गया है। छन्दोभेद सर्गान्त में न होकर स्थान-स्थान पर स्वच्छन्दतापूर्वक होता गया है। हाँ, छन्दोभेद के पीछे भाव-भेद की प्रकृत प्रेरणा अवश्य विद्यमान है। सम्भवतः 'अग्नि-परीक्षा' के सुधी सम्पादक ने इसमें गीतों का बाहुल्य देखकर ही इसे प्रगीत काव्य कहा है। अन्यथा, यह प्रगीत काव्य न होकर एक कथा-काव्य ही है, जिसमें यथास्थान भाव-प्रकाशन के लिए लोक-लयाश्रित गीतों का आश्रय लिया गया है। अन्यथा, वास्तविकता यह है कि 'अग्नि-परीक्षा' को उस रूप में प्रगीत-काव्य (Lyrical Poetry) नहीं कहा जा सकता, जिस अर्थ में कालिदास के मेघदूत, प्रसाद के आँसू और साकेत के नवम सर्ग को कहा जा सकता है। इसमें भावना की प्रगीतात्मक तरलता, सूक्ष्मता एवं कोमलता के स्थान पर घटनाश्रित कथात्मकता का प्राधान्य है। कथानुबन्ध की दृष्टि से भी यह प्रगीतात्मक (Lyrical) की अपेक्षा महाकाव्यात्मक (Epic) ही अधिक है।

'अग्नि-परीक्षा' हिन्दी की राम-काव्य-परम्परा में एक अद्यतन कृति के रूप में साहित्य-समीक्षकों का ध्यान अवश्य ही आकृष्ट करेगी। संभवतः आधुनिक भारतीय भाषाओं में जैन परम्परानुवर्ती राम-काव्य का यह प्रथम प्रयोग है। परन्तु यह सर्वथा परम्परानुवर्तिनी कृति नहीं है, इसमें आधुनिक युग की प्रबुद्ध नारी-चेतना का साक्षात्कार होता है और जीवन के बदलते हुए मूल्यों का इस पर स्पष्ट प्रभाव है। एक धर्माचार्य की कृति होने के नाते इसके साहित्यिक एवं कलात्मक मूल्य में कोई अन्तर नहीं पड़ता। हिन्दी-संसार अब आचार्यश्री तुलसी को एक प्रबन्धकार के रूप में पहचानने लगा है और उनकी आगामी कृतियों की भी उत्साहपूर्वक प्रतीक्षा की जाएगी। हिन्दी के अद्यतन काव्य-रूपों एवं काव्य-प्रवृत्तियों के निकट सम्पर्क में आने के लिए यथेष्ट समय का अभाव रहते हुए भी आचार्यप्रवर ने साहित्य-साधना को अपने जीवन में एक प्रमुख स्थान प्रदान किया है। उनके तेरापंथ सम्प्रदाय के साधुओं एवं साध्वियों में काव्याराधना की प्रवृत्ति बहुत दिनों से चल रही है।

'अग्नि-परीक्षा' में सती सीता के अमल धवल चरित्र को उसकी अग्नि-स्नान पवित्रता में प्रस्तुत किया गया है। उसमें नारीत्व की चिरन्तन महिमा और उसके ज्वलन्त तेज का आख्यान है। इस पाषाणमय संसार में निरन्तर प्रहार सहन करते हुए भी नारी ने अपने हृदय की नवनीत कोमलता को अक्षुण्ण बनाये रखा है।

पुरुष-हृदय पाषाण भले ही हो सकता है,
नारी-हृदय न कोमलता को खो सकता है।

पिघल-पिघल उनके अन्तर को धो सकता है,
रो सकता है, किन्तु नहीं वह सो सकता है ।

परन्तु नारी के लिए उसकी ममता और मधुरिमा, उसकी सेवा और समर्पण युग-युग में अभिशाप ही सिद्ध हुए हैं। स्वयं शक्ति की प्रतीक होते हुए भी जैसे वह अपने आत्म-बल को भूली हुई है। इस जागृत आत्म-चेतना के अभाव में ही उसका बलिदान आज बकरी का बलिदान बनता जा रहा है। स्वयं बलि होने में नारी का गौरव रहा होगा, परन्तु पुरुष के द्वारा बलि किए जाने में तो उसके भाग्य की विडम्बना ही है। 'अग्नि-परीक्षा' की सीता अपने प्रकृत धर्म का पालन करते हुए अपने आपको मिटाने में कहीं पीछे नहीं हटती है, परन्तु वह बकरी की तरह मिमियाती नहीं है, उसकी वाणी में वज्र का गर्जन है और अग्नि-कुण्ड की लपलपाती हुई लपटों के सामने वह नारी-जीवन के एक महान सत्य का प्रत्यक्षीकरण करती है :

जागृत महिला का महत्त्व, इस महि-मंडल पर अमल रहा,
जिसने प्राण-प्रहारी संकट, प्रण को रखने सदा सहा,
उसके यश का उज्ज्वल अविरल अविकल अविचल स्रोत बहा,
दिखलाया है हृदय खोलकर, समय-समय वीरत्व अहा,
कड़ी जुड़ेगी उसमें मेरे इस उन्नत अभियान की।
बलिदानों से रक्षा होगी नारी के सम्मान की।

आत्म-बलिदान के द्वारा आत्म-सम्मान की रक्षा करने वाली जागृत महिला सती सीता के उज्ज्वल यश का यह काव्य-स्रोत प्रवाहित करने के लिए हिन्दी-जगत् आचार्यश्री तुलसी का चिर आभारी रहेगा। आशा है, जीवन के शाश्वत सत्यों के प्रकाश में सम-सामयिक समस्याओं के समाधान की ओर इङ्गित करने वाले और कई महाकाव्य आपकी पुण्य-प्रसू लेखनी से प्रसूत होंगे।

श्रीकालू यशोविलास

डा० दशरथ शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०
रीडर, दिल्ली विश्वविद्यालय

चरित-लेखन की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। भारत ने जिस किसी वस्तु या व्यक्ति को आदर्श रूप में देखा, उसे जनता के समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। एक आदर्श वीर, एक आदर्श राजा, एक आदर्श पुरुष विशेष का चरित चित्रित करने के लिए महर्षि वाल्मीकि ने रामायण की रचना की। जैन सम्प्रदाय ने भी उसी परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए केवल तीर्थंकरो के ही नहीं, अनेक शलाका-पुरुषों के चरित भी हमारे सामने प्रस्तुत किये। चाहे तो हम यह भी कह सकते हैं कि हमारा इतिवृत्त लिखने का ढंग प्रायशः आदर्शानुप्राणित रहा है। प्राचीन काल में अनेक अन्य शूरवीर, योद्धा और राजा भी हुए हैं। किन्तु भारत ने उन्हें भुला दिया है। उसके लिए यही पर्याप्त नहीं है कि किसी व्यक्ति ने जन्म लिया, राज्य किया या युद्ध किया हो, वह उसमें कुछ और विशिष्टता ढूंढ़ता है उसमें वह विशिष्टता न हो तो उसके लिए ऐसे व्यक्तियों का होना या न होना एक बराबर है।

ख्याति-प्रिय राजाओं ने इस प्रवृत्ति के परिहार-रूप में अनेक प्रशस्तियों, ताम्रपत्रों और दरबारी कवियों के काव्यों द्वारा अपने को अमर करने का प्रयत्न किया है। हर्षचरित, नव साहसांक चरित, विक्रमांक देव चरित, द्वया-श्रय-काव्य, पृथ्वीराज विजय काव्य आदि कुछ ऐसे ग्रन्थ हैं, जिनमें राजाओं का यशोगान पर्याप्त मात्रा में वर्तमान है। किन्तु ये ग्रन्थ भी वर्णित राजाओं की महत्ता से नहीं, अपितु बाण, बिल्हणादि कवियों के कवित्व के कारण जीवित हैं। आदर्शानुप्राणित भारत के जीवन में अमरत्व उसी कृति को मिलता है, जो हमारे सामने किसी आदर्श को उपस्थित करे। विशेषतः जैन सम्प्रदाय में तो देवाधिदेव वही है जो अज्ञान, क्रोध, मद, मान, लोभादि अठारह दोषों से मुक्त हो। उसी के गुणगान में आनन्द है। उससे ही जरामरणादि दुःखों से सन्तप्त लोगों को कुछ लाभ हो सकता है, उसी के प्रभाव से प्रभावित होकर जनता केवल्य मार्ग की ओर उन्मुख हो सकती है। सम्भवतः इसी बात को ध्यान में रखते हुए आचार्यश्री तुलसी ने अपने दिवंगत गुरु आचार्यप्रवर श्री कालूरामजी का चरित 'श्रीकालू यशोविलास' में प्रस्तुत किया है। भाषा भी मुख्यतः राजस्थानी ही रखी गई है, जिससे संस्कृत और प्राकृत से अनभिज्ञ व्यक्ति भी आचार्यवर के उपदेश और जीवन से पूर्ण लाभ उठा सकें। शास्त्रों के अवतरण मूल अर्धमागधी आदि में हैं। किन्तु उनके साथ ही उनका राजस्थानी अनुवाद भी प्रस्तुत है।

काव्य का संक्षिप्त वृत्त

काव्य छः उल्लासों में विभक्त है। पहले उल्लास का प्रारम्भ तीर्थंकर नाभेय, शान्तिनाथ और महावीर एवं स्वगुरु श्री कालूगणी को नमस्कार करके किया गया है। इसके बाद मरुस्थल, मरुस्थल के नागरिक और श्री कालूगणी की जन्मभूमि छापर (बीकानेर, राजस्थान) का वर्णन है। इसी नगर में ओसवंशीय चोपड़ा जाति के बुधसिंह कोठारी थे। इनके द्वितीय पुत्र मूलचन्द और कोटासर के नरसिंहदास लूणिया की पुत्री छोगा बाई के सुपुत्र हमारे चरित नायक श्री कालूगणी ने वि० सं० १९३३ फाल्गुन शुक्ला द्वितीया गुरुवार के दिन अत्यन्त शुभग्रहादि युक्त समय में जन्म लिया। इनका जन्म नाम शोभाचन्द था, किन्तु माता-पिता प्रेम से इन्हें कालू कहते। १९३४ में मूलचन्दजी के दिवंगत होने पर माँ इन्हें अपने पीहर ले गई। वहीं बाल्यकाल से ही उनमें वैराग्य की भावना बढ़ने लगी।

इसी समय तेरापंथ के पंचम आचार्यश्री मघवागणी का सरदार शहर में चातुर्मास हुआ और माँ, मासी आदि के साथ जाकर कालूगणी ने उनके दर्शन किये। श्री कालूगणी की आकृति आदि से श्री मघवागणी इतने प्रभावित हुए कि वे तदनन्तर उन्हें न भूले। संवत् १६४४ की आश्विन शुक्ल तृतीया के दिन स्वाति नक्षत्र में खूब बाजे गाजे के साथ बीदासर में उनकी दीक्षा हुई। गुरु के साथ उन्होंने अनेक स्थानों में विहार किया। संवत् १६४६ में मघवागणी का शरीर अस्वस्थ हुआ। कालूरामजी की आयु उस समय छोटी थी। इसलिए मघवागणी ने चैत्र कृष्ण द्वितीया के दिन श्री माणिकगणी को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया। पंचमी के दिन श्री मघवागणी का स्वर्गवास हुआ। श्री कालूगणी को इससे महान् दुःख हुआ।

संवत् १६४६ की चैत्र कृष्णा अष्टमी के दिन माणिकगणी पट्टाधिकारी बने। श्री कालूगणी ने उनकी समुचित सेवा की। संवत् १६५३ के आश्विन मास में श्री माणिकगणी का शरीर रुग्ण हुआ, किन्तु कर्तव्यनिष्ठ गणीजी ने इस पर कुछ ध्यान न दिया और कार्तिक कृष्णा तृतीया के दिन असार संसार का त्याग कर दिया। चतुर्विध संघ ने मिलजुल कर श्री डालिमगणी को संघपति बनाया।

श्री डालिमगणीजी की सेवा में रहते हुए श्री कालूगणी ने अनेक स्थानों पर अपने प्रभावी व्याख्यानों से लोगों को रंजित किया। इस समय इन्होंने बगड़ के पं० घनश्यामजी से संस्कृत व्याकरण का अध्ययन किया और हेम कोष—अभिधान चिन्तामणि, उत्तराध्ययन एवं नन्दी (सूत्र) आदि को कण्ठस्थ किया। बारह वर्ष तक कालूगणी ने श्री डालगणी की सेवा की। १६६४ में डालगणी चन्देरी पहुँचे। वहीं वे अस्वस्थ हो गये। सं० १६६६ की भाद्रपद शुक्ला द्वादशी के दिन स्वर्गत हुए। संघ ने श्री कालूगणी को सिंहासन पर बैठाया। श्री डालगणी के सम्वत् १६६६ प्रथम श्रावण वदी १ के पत्र में भी उन्हें यही सम्मति मिली।

भाद्रपद शुक्ला पूर्णिमा के दिन कालूगणी जी का पाटोत्सव चन्देरी नगर में हुआ। इन्होंने प्रथम याम में उत्तराध्ययन का और रात्रि के समय रामचरित का व्याख्यान किया। चन्देरी के बाद अनेक स्थानों में विहार कर कालूजी ने लोगों को उपदेश दिया और दीक्षित किया।

द्वितीय उल्लास का आरम्भ श्री महावीर स्वामी के स्मरण से है। सम्वत् १६६८ में कालूगणी ने बीदासर में चातुर्मास किया और अनेक योग्य साधु और साध्वियों को दीक्षित किया। १६६६ का चातुर्मास चूरू में और १६७० का चन्देरीमें हुआ। यहीं से ये बीकानेर में धर्म की प्रभावना के लिए पहुँचे। राज्य के बड़े-बड़े सरदारों और उच्च राज्य कर्मचारियों ने इनके दर्शन किये और अनेक दीक्षाएं हुई।

इन्हीं दिनों जर्मनी के प्रसिद्ध विद्वान्, जैन शास्त्र के महान् पण्डित और अनेक जैन धर्म-ग्रन्थों के अनुवादक डा० हर्मन याकोबी भारत पहुँचे और लाडनूं में श्री कालूगणी के दर्शनार्थ आये। श्री कालूगणी ने याकोबी महोदय के अनेक सन्देह स्थलों की इतनी विशद व्याख्या की कि उस विद्वान् का हृदय कृतज्ञता से पूर्ण हो गया और उसे यह भी निश्चय हो गया कि तेरापंथ ही जैन धर्म का सच्चा स्वरूप है। जूनागढ़ में जाकर भरी सभा में याकोबी महोदय ने यह भी घोषित किया कि आचारांग के अन्तर्गत मत्स्य और मांस का अर्थ उसने सम्यक् रूप से कालूगणीजी से ही समझा है।

इसी अवसर पर जोधपुर राज्य ने नाबालिगों की दीक्षा पर प्रतिबन्ध लगाया और २१ मार्च सन् १६१४ के गजट में ऐसी दीक्षा के विरुद्ध अपनी आज्ञा प्रसारित की। तेरापंथ के युक्ति युक्त विरोध के कारण यह आज्ञा कैन्सिल (रद्द) की गई। यू० पी० काउंसिल ने भी नाबालिगों की दीक्षा को रोकने के लिए प्रस्ताव पास किया और कानून तैयार करने के लिए आठ सदस्यों की एक कमेटी नियुक्त की। श्री कालूगणी से आशीर्वाद प्राप्त कर तेरापंथ के गणमान्य सज्जन इलाहाबाद पहुँचे और अपनी युक्तियाँ दीं। इतने में यूरोप का प्रथम महायुद्ध छिड़ गया और प्रस्ताव बीच में ही लटक गया। यू० पी० में कानून के प्रस्तावक ला० सुखबीरसिंह जब दिल्ली काउंसिल के मेम्बर बने तो वहाँ भी यह प्रश्न उठा। तेरापंथी धर्मवीरों के प्रयास से यह बिल पास न हुआ।

चित्तौड़ में श्री कालूगणी ने अमल के काँटे के अफसर को प्रबोधित किया। भगवती सूत्र के आधार पर वहां यह भी सिद्ध किया कि जीव के नाम तेईस हैं। इसी प्रकार रायपुर में आचारांग से उद्धरण देकर उन्होंने दया का ठीक स्वरूप

समझाया। जिसने भिक्षुक वेष धारण किया है उसे किसी के सुख और दुःख से कोई लगाव नहीं है। कहीं लड़ाई हो या आग लगे—ये दोनों ही उसके लिए उपेक्षा के विषय हैं।

उदयपुर में विपक्षियों ने तेरापंथ के विषय में अनेक अफवाहें फैलाईं, किन्तु वास्तविक सत्य के सामने वे ठहर न सकीं। वहाँ से विहार कर श्री कालूगणी ने एक सौ अड़तीस गाँवों को अपनी चरण-रज से पवित्र किया। आउवे में सूत्रकृतांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध छठे अध्ययन के निर्दिष्ट पाठ को पढ़ कर उन्होंने सिद्ध किया कि उसमें कहीं प्रतिमा का उल्लेख नहीं है।

सं० १९७३ में चातुर्मास जोधपुर में और १९७४ में सरदारशहर में हुआ। यहीं इटली के विद्वान् डा० टेसीटरी ने आपके दर्शन किये। अगला चातुर्मास चूरू में हुआ। यहीं आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पं० रघुनन्दन जी आपकी सेवा में आये। रतनगढ़ में गणेश्वर ने पंडित हरिदेव के व्याकरण-ज्ञान का मद दूर किया। १९७६ में बीदासर में चातुर्मास हुआ। इसके बाद सरदार शहर, चूरू आदि शहरों में होते हुए आपने हरियाणे के अनेक नगरों और ग्रामों में विहार किया। १९७७ के भिवानी के चातुर्मास में कार्तिक कृष्णाष्टमी के दिन कई दीक्षाओं का मुहूर्त निश्चित हुआ। विरोधियों ने दीक्षाओं के विरोध में सभा की, किन्तु दैववश उसी समय आकाश से एक गोला गिरा। लोगों में भगदड़ पड़ गई। दीक्षाएं नियत समय पर हुईं। १९७८ का चातुर्मास रतनगढ़ में हुआ। दूसरे स्थानों की तरह यहाँ भी अनेक दीक्षाएं हुईं। इसके बाद बीदासर, डूंगरगढ़, गंगाशहर आदि में इन्होंने संवत् १९७९ में विहार किया। भीनासर में स्थानकवासी कनीरामजी बाँठियाँ से चर्चा हुई। फिर चौमासे के लिए बीकानेर पहुँचे।

तीसरे उल्लास का आरम्भ जिनेन्द्र की मुखभारती को प्रणाम कर हुआ है। बीकानेर में विरोधियों ने यत्र तत्र उनके विरुद्ध खूब पत्र बँटवाए और चिपकाए। फिर भी दीक्षामहोत्सव बड़े आनन्द से सम्पन्न हुआ। ज्येष्ठ में जयपुर वाटी में आपने विहार किया। चातुर्मास जयपुर में हुआ और माघोत्सव सुजानगढ़ में। इक्यासी की साल में फिर चूरू में चातुर्मास हुआ। जब आप राजगढ़ पहुँचे तो अमेरिकन प्रोफेसर गिल्की ने आपके दर्शन किये और तेरापंथ के बारे में जानकारी प्राप्त की। माघ मास में गुरुवर सरदारशहर पहुँचे।

मार्गशीर्ष में श्री कालूगणी लाडनूं पहुँचे और धन लग्न में काव्य-कर्ता तुलसी और उनकी बहन एक साथ दीक्षित हुए। इसके बाद के विहार में तुलसी सदा गुरु सेवा में रहे। इन्हीं दिनों थली देश में एक महान् द्वंद्व मच गया। गुरुवर ने एक मास तक लगातार प्रयास किया। जिससे श्राद्ध समाज में अच्छी जागृति हुई। माघ-महोत्सव चूरू में हुआ। स्थानक वासी साधु-साध्वी संभोग सम्बन्धी शास्त्रार्थ में परास्त हुए। इस चर्चा में भगवानदास मध्यस्थ थे। चूरू से श्रीकालूगणी रतनगढ़ और राजलदेसर पहुँचे। अगला चातुर्मास छापर में हुआ। १९८९ का चातुर्मास सरदारशहर में हुआ।

चतुर्थ उल्लास का आरम्भ मूलसूत्र श्री कालूगणी के नमस्कार से है। १९९० में सुजानगढ़ में चातुर्मास करने के बाद आचार्यजी ने जोधपुर राज्य में विहार किया। छापर, बीदासर, लाडनूं, सुजानगढ़, डीडवाणा, खाटू, डेगाणा, बलून्दा पीपांड़, पचपदरादि होते हुए अपने वैदुष्य और संयमपूर्ण साधु परिवार के साथ गणिवर आगे बढ़े और टलोकरों द्वारा विस्तारित मिथ्या प्रचार का उद्भेदन कर जोधपुर पहुँचे। १९९१ का चातुर्मास वहीं हुआ। चारों ओर से लोग दर्शनार्थ एकत्रित हुए। बाईस दीक्षाओं का निश्चय हुआ। इसके विरुद्ध प्रतिपक्षियों ने खूब आन्दोलन किया। गणीजी ने जैन सिद्धान्त के अनुसार ऐसी दीक्षाओं का समर्थन किया और लोगों को बताया कि आठ वर्ष से अधिक बालक-बालिकाओं की दीक्षा सर्वथा विहित है। स्मृतियों में भी ऐसी दीक्षाओं का विधान है। नव वार्षिक बालक कच्चे भाण्ड की तरह हैं जिसे उचित रूप से संस्कृत किया जा सकता है। वह काली कम्बल नहीं है जिसे रंगा न जा सके। बड़ी आयु में दीक्षित होने पर मार्गभ्रष्ट होने की सम्भावना अत्यधिक है। महावीर स्वामी से दीक्षित होने पर भी उनका जामाता जमाली मार्गभ्रष्ट हो गया। लोग इन युक्तियों से प्रभावित हुए बिना न रह सके। कार्तिक कृष्णा अष्टमी के दिन ये बाईस दीक्षाएं सोत्सव सम्पन्न हुई। फिर काण्ठा देश के सुधरीपुर में मर्यादोत्सव पूर्ण कर और दुरारोह मेवाड़ की पर्वतमाला को पार कर सब भिक्षुगण सहित श्री कालूगणी संवत् १९९१ के चातुर्मास के लिए उदयपुर पहुँचे। महाराणा भूपालसिंह अपने लवाजमे सहित आषाढ़ शुक्ला चतुर्थी के दिन आपके दर्शनार्थ आये और आपका उपदेश सुन कर कृतार्थ हुए।

पाँचवाँ उल्लास भी धर्माचार्य कालूजी को नमस्कार करके आरम्भ किया गया है। कार्तिक कृष्णा पंचमी के दिन महोत्सवपूर्वक पन्द्रह दीक्षाएं सम्पन्न हुईं। इनमें तीन पुरुष और बारह स्त्रियाँ थीं। उदयपुर से विहार कर श्री कालूगणी मार्गशीर्ष शुक्ल पक्ष में राजनगर पहुँचे और साधु-साध्वियों के वार्षिक व्यतिकर के बारे में पूछकर उनके उत्साह की वृद्धि की। इसके बाद मालव संघ की अभ्यर्थना से गणीजी ने मालव देश में प्रवेश किया। सादड़ी, नीमच छावनी, महू छावनी, मन्दसौर आदि होते हुए आप माघ कृष्णा चतुर्थी के दिन जावर पहुँचे। वहाँ सबके सामने आपने तेरा-पंथ के सिद्धान्तों का सयुक्तिक व्याख्यान किया। इससे विना उत्तर और प्रत्युत्तर के लोगों का संशय दूर हुआ। वहाँ से माघ शुक्ला सप्तमी के दिन आप रतलाम पहुँचे। विद्वेषियों ने बहुसंख्यक लेख आपके विरुद्ध निकाले। प्रश्नकारियों का उचित समाधान कर गणेश्वर बड़नगर पहुँचे। यहाँ महान् मर्यादामहोत्सव सम्पन्न हुआ। माघ पूर्णिमा के दिन आपने उज्जैन के लिए विहार किया। फिर इन्दौर आदि नगरों में देशना देते हुए १२१ गाँवों का चक्कर लगाकर आप फिर रतलाम पहुँचे। वहाँ रतलाम के दीवान आदि आपके दर्शनार्थ आये। चार मास तक इस प्रकार आपने मालव भूमि को अपने उपदेशामृत का पान करवाया। वैशाख शुक्ला षष्ठी के दिन आपने मेवाड़ की ओर विहार किया। संवत् १९९३ का चातुर्मास गंगापुर के लिए निश्चित हुआ।

इसी समय गणीजी के बाएं हाथ की तर्जनी अंगुली में फुन्सी होकर पीड़ा हो गई। यह पीड़ा बढ़ती गई। आपरेशन करना आवश्यक हो गया। किन्तु इसी कार्य के लिए लाए हुए औजारों को प्रयुक्त करना विधानानुकूल न था। अतः कलम बनाने के चाकू से मगन मुनिजी ने डाक्टर के कथनानुसार चीरा दिया। गुरुजी भीलवाड़े पहुँचे। अनेक डाक्टर और श्रद्धालु भी वहाँ आए। डाक्टर अश्विनीकुमार ने मधुमेह का निदानकर व्रणविरोपण के लिए एक औषधि विशेष का विधान किया। किन्तु जैन व्रतव्रती कालूजी ने उसका सेवन स्वीकार न किया। न वे उस स्थान पर ठहरे। गंगापुर में चातुर्मास करना उन्होंने स्वीकृत किया था। इसलिए वहीं जाना उन्होंने निश्चित किया।

छठे उल्लास का आरम्भ गुरुवन्दना से है। गुरु कष्टमय मार्ग को पार कर गंगापुर पहुँचे। संवत् १९९३ का चातुर्मास वहीं हुआ। वर्षाकाल में व्रण का और विस्तार हुआ और अस्वास्थ्य बढ़ने लगा। किन्तु इतना होने पर भी उपदेश का कार्य सततरूप से चलता रहा। ग्रन्थकर्त्ता तुलसीजी ने भी उनके आदेश से श्रावण शुक्ला दशमी के दिन रामचरित का व्याख्यान आरम्भ किया। इसी समय आशु कविरत्न आयुर्वेदाचार्य पं० रघुनन्दनजी वहाँ आये। नाड़ी परीक्षा के बाद उन्होंने तीव्र औषधों के प्रयोग से चिकित्सा आरम्भ की। फिर उन्होंने जयपुर निवासी दादूपंथी लक्ष्मीरामजी राजवैद्य को सम्मति के लिए इक्कीस श्लोकों में एक पत्र लिखा। इसका उत्तर लक्ष्मीरामजी ने छः श्लोकों में दिया। औषध की अदल-बदल से कुछ लाभ हुआ। किन्तु फिर औषध कार्यकर न होने लगी। डाक्टर अश्विनीकुमार भी कलकत्ते से आये। उन्होंने और पं० रघुनन्दनजी ने भी रोग की असाध्यता का अनुभव किया। भाद्रपद की अमावस्या के दिन श्री कालूगणी ने तुलसीजी को भिक्षुगण का भार सँभालने की आज्ञा दी। फिर गुरुवर ने श्रमण वर्ग को अन्तिम शिक्षा दी। एकान्त में काव्यकार को भी बहुत तरह से उपदेश दिया। तृतीया के प्रातःकाल में गणेश्वर ने अपने हाथ से युवराज पद-पत्र में तुलसी राम को अपना पट्टाधिकारी लिखकर युवराज बनाया। इस पत्र की पूरी नकल ग्रन्थ में वर्तमान है। मगन मुनि ने यह लेख सबको सुनाया। देह-त्याग से पूर्व गणरक्षा के विषय में श्री कालूगणी ने तुलसीजी को फिर शिक्षा दी। नाड़ी डगमगा रही थी तो भी गणाधिप ने यह सब व्यवस्था की।

सब प्रदेशों के लोग अब गंगापुर में आकर एकत्रित हो गए थे। सभी उनकी दृढ़ता देखकर चकित थे। तीज की रात्रि में सांवत्सरिक उपवास को धारण कर छठ की प्रातःकाल में आपने पारण किया। सायंकाल के समय भगवान् अरिहन्त की शरण ग्रहण कर सचेत अवस्था में श्री कालूगणीजी ने शरीर-त्याग किया। अन्त्येष्टि के समय लगभग ३६ हजार व्यक्ति उपस्थित थे।

ढाल १६वीं और १७वीं में फिर कालूगणी का संक्षिप्त जीवनवृत्त और उनके समय की तपश्चर्यादि का वर्णन है।

समालोचनात्मक कुछ शब्द

पिछली पंक्तियों में हमने संक्षिप्त रूप में 'श्री कालूयशोविलास' का वृत्त दिया है। इसके समालोचन के लिए उपर्युक्त व्यक्ति तेरापंथ दर्शन का कोई अच्छा ज्ञाता ही हो सकता है। किन्तु मध्यस्थ भाव से अपनी शक्ति के अनुरूप मैं भी कुछ शब्द कहना उचित समझता हूँ और कुछ नहीं तो उससे आदेश का पालन तो हो सकेगा।

कोई काव्य अच्छा बना है या नहीं इसे देखने के लिए हमें उसके प्रयोजन के विषय में विचार करना चाहिए। सभी काव्यों के लिए एक मापदण्ड नहीं होता है। यह अवश्य है कि काव्य जितना अधिक विश्वजनीन हो, उतनी ही उसकी महत्ता अधिक बढ़ती है। उसमें वह विश्वहित की दृष्टि रहती है जो स्वतः उसे उच्चासन पर स्थापित करती है। इसके अतिरिक्त काव्य-शब्दाभिधेय कृतियों में सच्चा काव्यत्व भी होना चाहिए। केवल पद्यों में ग्रन्थित होने से कोई कृति काव्य नहीं बनती।

कई कवि यश के लिए काव्य-रचना करते हैं, कई धन के लिए, कई अमंगल की हानि के लिए, कई कान्ता-सम्मत-शब्दों में उपदेश प्रदान के लिए और कोई स्वान्तः सुख के लिए। श्रीकालू यशोविलास के रचयिता न यशः प्रार्थी हैं और न धनाभिलाषी। किन्तु चतुर्थोल्लास के अन्त में आपने यह श्लोक दिया है—

सौभाग्याय शिवाय विघ्न वितत भेदाय पङ्काच्छिदे।
आनन्दाय हिताय विभ्रमशत ध्वंसाय सौख्याय च॥
श्री श्रीकालू यशोविलास विमलोल्लास स्तुरीयोयकं।
सम्पन्नः सततं सतां गुण भृतां भूयाच्चिरं भूतये॥१॥

इससे प्रतीत होता है कि काव्य के अन्य लक्ष्य भी उनकी दृष्टि से दूर नहीं रहे हैं। इनके कवि हृदय ने स्वान्तः सुख की अनुभूति तो की ही होगी, किन्तु गणनायक के रूप में सैकड़ों भ्रान्तियों का उन्मूलन भी उनका अभीष्ट रहा है। गुरुयशोगान और गुरूपदेश को जनता के समक्ष सुस्पष्ट एवं सुग्राह्य शब्दों में रखना इसका एकमात्र ही नहीं तो कम-से-कम बहुत सुन्दर उपाय तो है। सुललित एवं रसात्मक शब्दों में इनको प्रस्तुत करना मानों सोने में सुगन्ध भरना है। हमें निश्चय है कि 'श्रीकालू यशोविलास' का समाधान पारायण किसी भी व्यक्ति को तेरापंथ के मुख्य सिद्धान्त समझाने के लिए पर्याप्त है। इसके मूलग्रन्थों और टीकाओं के उदाहरण विद्वानों के लिए भी पठनीय और मननीय हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में जिस प्रकार रामायण और महाभारत काव्य होते हुए भी धर्मग्रन्थ हैं, उसी तरह 'श्रीकालू यशोविलास' काव्य के रूप में ही नहीं, तेरापंथी समाज के धर्मग्रन्थ के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा। इसमें युक्तियुक्त रूप से जैन धर्म के तत्त्वों का निरूपण और अपने सिद्धान्तों का मण्डन है। मोक्षमार्ग में स्त्री का अधिकार, साधु के लिए दया का सच्चा स्वरूप, सुविहित दान, अल्पवय में भी दीक्षाधिकार और उसकी युक्तियुक्तता आदि स्थल तेरापंथी समाज को सदैव उसके सिद्धान्त समझने और विरोधी युक्तियों का शास्त्र और तर्क-सम्मत उत्तर देने का सामर्थ्य प्रदान कर उसकी रक्षा करेंगे। समाज के लिए उससे बढ़कर 'सौभाग्य, शिव (मंगल) आनन्द और हित' का विषय क्या हो सकता है?

शुद्ध काव्य के रूप में भी 'श्रीकालू यशोविलास' सहृदय जनों के हृदय में स्थान प्राप्त करेगा। इसमें अनेक उत्कृष्ट छन्दों और बन्धों का प्रयोग है। भाषा गंभीरार्थमयी होते हुए भी प्रसादगुणयुक्त है। सुन्दर राग और रागनियों से विभूषित, यह धर्म प्राण जनता का सुमधुर मेय काव्य है। अनेक कण्ठों की स्वरलहरी से नमो मार्ग को प्रतिध्वनित करती हुई इसकी पवित्र ध्वनि एक विचित्र स्फूर्ति उत्पन्न करती होगी।

काव्य अधिकतर अतिशयोक्ति-प्रधान होते हैं, किन्तु यह काव्य अनेक अलंकारों और काव्य-वृत्तियों का समुचित प्रयोग करता हुआ भी असत्य से दूर रहा है। मरुस्थल के लिए कवि ने लिखा है:

रयणीये रेणु कणा शशि किरणां, चलके जाणक चान्दी रे।

रात्री के समय धूलि के कण चांदनी में ऐसे चमकते हैं, मानो चांदी हो। किन्तु साथ ही में कवि ने यह भी कहा है:

मनहरणी धरणी यदि न हुवै, अति आतप अरु आंधी रे।

यह पृथ्वी अत्यन्त मनोहारी होती, यदि यहाँ बहुत जोर की धूप और आँधी न होती। कोई अन्य कवि होता तो कवित्व के बहाव में बह कर मरुस्थल की प्रशंसा ही प्रशंसा कर बैठता।

स्वाति नक्षत्र में दीक्षित श्रीकालूगणी के गुरुदेव के कर की शुक्ति से और स्वयं श्रीकालूगणी की इस स्वाति नक्षत्र में उत्पन्न उस मोती से उपमा दी है जो लाखों मनुष्यों के सिर पर चढ़ेगा और जिसकी चमक दिन-दिन बढ़ेगी। ऐसी ही दूसरी उपमा में कवि ने श्रीकालूगणी की माता के उदर को खान से, गुरु के हाथ को साण, जैन शासन को मुकट और श्रीकालूगणी को हीरे से उपमित किया है। गुरु के प्रति तुलसीजी का इतना अनुराग है कि काव्य में एक के बाद अनेक उपमाओं की झड़ी-सी लग गई है।

पहले उल्लास की सातवीं ढाल में विपक्षियों के मनोमोदकों का भी अच्छा वर्णन है। दूसरे उल्लास की बारहवीं ढाल में आजकल की स्थिति का निदर्शन कवि ने गुरुमुख से इन शब्दों में किया है—

कोई चवदै आना काण टाण तोहि रुपियो दरसावै।
घर में खांचा ताण बाहर जई मूंछा बल खावै॥
कोई है कंगाल हाल तोहि मगरूरी में नहिं मावै।
सन्धि अरु षट लिंग लिंग अनजाने कवि थावै॥
कोई झूठमूठ इक सूंठ ग्रहि जु पसारी बन जावै।
देखै सुनै अनेक छेक कोई विरलो ही पावै॥

भिवानी में गोले की वर्षा का वर्णन आँखों के सामने पूरा दृश्य खड़ा कर देता है। सोलहवीं ढाल का आत्मशुद्धि विषयक उपदेश भी अपनी निजी छटा रखता है। तृतीय उल्लास में आचार्य तुलसी ने अपनी दीक्षा से पूर्व का हास्याद्भुत रसधार युक्त अच्छा वर्णन दिया है। गुरु-विषयक ये उपमाएं भी अपनी उक्ति विशेष के कारण हृदयहारिणी हैं—

सभा सभ्यजन संभृता, यथा चित्र आलेख।
सयल श्रोतृगण श्रवण हित, अरवण प्रवण विशेष॥
सुधा झरे मुख निर्झरे, चवि चकोर अनिमेष।
वासर में हिमकर रमै, वा छोगांगज एष॥
निरख विपक्षी नयन में, प्रमिला तणों प्रवेश।
वासर में हिमकर रमै, वा छोगांगज एष।
आस्य कमल मुकुलित समल, प्रसहन जनां अशेष।
वासर में हिमकर रमै, वा छोगांगज एष॥
उच्चैस्वर गणिवर यदा, पाठ पढ्यो मुख जोर।
भविक मोर प्रमुदित भया, लखि सावन घन घोर॥

चतुर्थ उल्लास में १९९१ को जोधपुर के चातुर्मास का निम्नलिखित वर्णन भी पठनीय है—

गत विरहा मरुधरधरा, पूज्य पदार्पण पेख।
नवनवांकुरोग्दम विषम, रोमोग्दम सम लेख॥
पुहु पतती करती नती, माती भई अतीव।
मधुकर गुंजारव मिषै, मंगल गीत व तीव॥

इसके अतिरिक्त काव्य अनेक मार्मिक स्थलों से परिपूर्ण है। श्रीकालूगणी की बीमारी, अस्वास्थ्य में भी उनका धैर्य और जैन धर्मानुसार कार्य-कलाप एवं अन्तिम शिक्षादि का वर्णन काव्य और धर्म कथा दोनों ही के रूप में प्रशस्य और अध्येय है। समय के अभाव से इतना ही लिखकर विराम करना पड़ रहा है। सहृदय पाठकगण 'श्रीकालू यशोविलास' रूपी रत्नाकर से अनेक अन्य अनर्घ काव्य मुक्ताओं और मणियों की प्राप्ति कर सकते हैं।

'श्रीकालू यशोविलास' को इतिहास-ग्रन्थ रूप में प्रस्तुत किया है। आचार्य तुलसी ने गुरु के गुणों का अवश्य

गान किया है, किन्तु ये गुण भी महापुरुषोचित सीमा से बहिर्भूत नहीं हैं। श्रीकालूगणी के सभी कार्य एक महान् पुरुष के हैं। अपनी तपश्चर्या, अपने ज्ञान, अपनी धर्म-श्रद्धा और अपने चारित्र्य द्वारा उन्होंने वह स्थान प्राप्त किया है, जिनका अनुसरण सबके लिए श्रेयस्कर है। आचार्य तुलसी ने उनका यशोवर्णन कर द्वितीय उल्लास के अन्त में निर्दिष्ट अपने लक्ष्य की सुचारू रूप से सिद्धि की है। तेरापंथ समाज के विषय में जो अनेक भ्रान्तियाँ जनमानस में रूढ़ हो चुकी हैं, उनके समूल उच्छेद के लिए कुठारवत् और भव्यजनों के हृदय कमलों को विकसित करने के लिए सदा चराचर स्फूर्तिदायी सविता के रूप में वर्तमान रहते हुए यह काव्य यशोनिःस्पृह आचार्य तुलसी के यश का भी स्वभावतः सर्वत्र प्रसार करेगा।
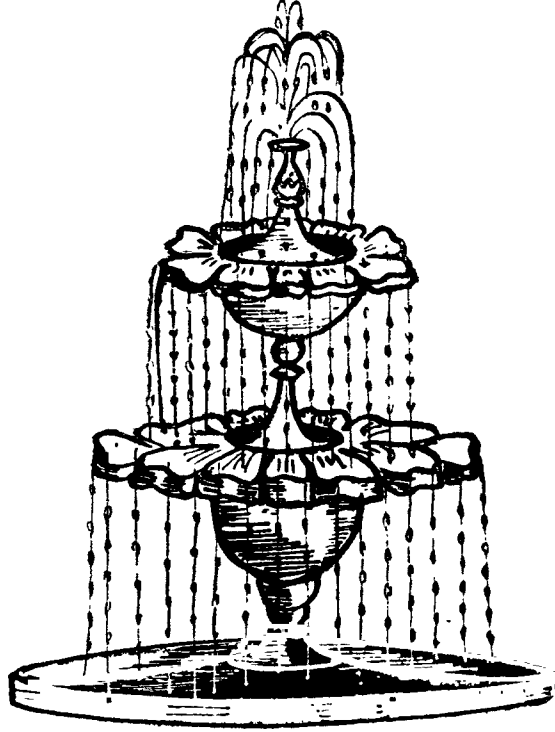
भरत-मुक्ति-समीक्षा

डा० विमलकुमार जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्राध्यापक, दिल्ली कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

महामान्य आचार्यप्रवर तुलसीजी कृत **'भरत-मुक्ति'** एक **महाकाव्य** है, जिसमें आदीश्वर भगवान् ऋषभदेव की दीक्षा, तपस्या एवं केवलज्ञान की प्राप्ति के अनन्तर भरत चक्रवर्ती की दिग्विजय का उत्सव, उनके अट्ठानवें भाइयों का संसार-त्याग, तत्पश्चात् बाहुबली से युद्ध और पुनः देवों द्वारा प्रतिबोधित होकर बाहुबली का संन्यास-ग्रहण और अन्त में भरत का राज्य-व्यवस्था के उपरान्त इन घटनाओं से विषण्ण होकर प्रव्रज्या ग्रहण करके घोर तपश्चरण के पश्चात् मुक्ति का वरण करना वर्णित है।

इसमें महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण उपलब्ध हैं। भरत इसके नायक हैं, जो धीरोदात्त एवं इक्ष्वाकु क्षत्रिय-कुलोत्पन्न हैं। यह काव्य अष्टाधिक सर्गों में समाप्त हुआ है तथा भरत के दीर्घकालिक जीवन की अनेक घटनाओं से व्याप्त है। इसमें नायिका का चित्रण नहीं है। केवल एक स्थान पर उनकी अनेक पत्नियाँ होने का उल्लेख है।[1] इसमें अनेक छन्दों का प्रयोग हुआ है तथा अंगीरस शान्त के अतिरिक्त वीरादि अंगभूत रसों का भी चित्रण है। इसमें प्रकृति-चित्रण भी है तथा युद्धादि का वर्णन भी है। इसका अन्त इसकी संज्ञानुसार आदर्शपूर्ण उद्देश्य से युक्त है।

इस प्रकार लक्षण-निकष पर कसा हुआ यह एक बृहत्काय काव्य है, जो अपने सौष्ठव से ओत-प्रोत होकर जीवन के बाह्य और अन्तः सौन्दर्य पर प्रकाश डालता हुआ उसके वास्तविक स्वरूप को उद्घाटित करता है।

इसमें काव्य के दोनों ही पक्ष **भाव** एवं **कला** अपने चरमोत्कर्ष पर हैं। भारतीय संस्कृति एवं विचार-परम्परा के अनुसार जीवन का लक्ष्य जगज्जंजाल से मुक्त होना है। संसार में सदसत् सभी प्रकार के कर्म प्राणी को सुख-दुःखात्मक स्थितियों में डालते हुए उसके जन्म-मरण के निमित्त बनते हैं। देही काम, क्रोध, मद, लोभादि के वशीभूत हुआ कर्म करता है। कभी वह पाप करता है तो कभी पुण्य परन्तु ये सभी सन्ताप के कारण होते हैं, क्योंकि क्रियानुसार फल-मुक्ति अनिवार्य है। यथा शूल के बदले फूल नहीं मिलते उसी प्रकार पाप करके शुभ परिणाम की कामना निष्फल है। अतः शाश्वत सुख की प्राप्ति के लिए कर्म-बन्धन से विमुक्ति आवश्यक है और वह साधना एवं तपस्या से ही सम्भव है।[2]

भगवान् आदीश्वर के इस तात्विक चिन्तन पर, जो आध्यात्मिक दृष्टि से एक ध्रुव सत्य है, इस काव्य की आधार-शिला स्थापित है इसीलिए प्रारम्भ से अन्त तक ऋषभदेव, उनके अट्ठानवें पुत्रों तदनन्तर उनके पुत्र बाहुबली और अन्त में भरत का संसार-त्याग वर्णित है, जिसका पर्यवसान निर्वाण में हुआ है, जो मानव-जीवन का चरम लक्ष्य है। सभी महानुभावों की दीक्षा एवं प्रव्रज्या के प्रेरक कारण उपर्युक्त कषाय ही हैं, जो कर्म-प्रवृत्ति का मूल हेतु हैं। भगवान् ऋषभदेव के इन शब्दों में संसार की निस्सारता स्पष्ट ही प्रत्यक्ष हो जाती है—

आकर के कितने चले गये,
यह धरती किसके साथ रही,

---

१ **'सभी भाभियाँ तेरी देंगी भाई ! मुझे उलाहने'—भरत-मुक्ति, पृष्ठ १६१**

२ **भरत-मुक्ति, पृष्ठ १५**

मेरी मेरी कर मरे सभी,
कोई भी अपना सका नहीं।
वैभव-साम्राज्य अखाड़े में,
सोचो तो कितने ही उतरे,
जो हारे वे तो हारे ही,
जीते उनकी भी हार अरे![1]

इस प्रकार संसार एक निस्सार स्थान है जहाँ निवास करना तथा जिसमें संलग्न मन होना बुद्धिमत्ता नहीं है, इसीलिए ऋषियों ने संसार को हेय बता कर कम-से-कम जीवन की अन्तिम स्थिति में संन्यास लेना परमावश्यक कहा है।

घोर युद्ध के पश्चात् देवों द्वारा प्रतिबोधित होकर स्वयं बाहुबली भी संसार की निस्सारता को इस प्रकार उद्घोषित करते हैं—

कोई सार नहीं संसार में,
पग-पग पर दुविधा की है तलवार दुधारी रे।
क्षण में सरस-विरस होता,
यहाँ नश्वर घन-छाया सी सत्ता विभुता सारी रे।[2]

इसी प्रकार अन्त में भरत ने भी संसार की नश्वरता को जाना, जिसके परिणामस्वरूप वे संसार से विरक्त होकर मुक्ति के अधिकारी बने—

प्रत्येक वस्तु में नश्वरता की
झलक प्रतिक्षण झाँक रहे,
इस जीवन की क्षण-भंगुरता
अंजलि-जल सी वे आँक रहे।[3]

× × ×

यों चिन्तन करते विविध, जागृत हुआ विराग।
जीत लिया नश्वर जगत, ज्यों पानी के झाग॥[4]

इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर इस काव्य का निर्माण हुआ है। इस तथ्य के ज्ञान-प्रकाश में हृदय जिस भाव-भूमि पर अवस्थित होता है, उसी का चित्रण अन्ततोगत्वा इस काव्य में हुआ है। अतः इसका भावपक्ष बड़ा ही समुज्ज्वल है। यदि यों कहें कि इसमें मानव के मन-मानस में विद्यमान विविध भावावली में से केवल सदभाव-मुक्ताओं का ही प्राधान्य है तो अत्युक्ति न होगी।

इसमें **कलापक्ष** भी प्रायः मनोहारी है। रस काव्य की आत्मा होती है। इसके अनुसार यह काव्य भी रसाप्लुत है। इसमें **शान्त रस** ही अंगीरस है, क्योंकि संसार विरक्ति ही इसका उद्देश्य है। अतएव भगवान् ऋषभदेव तथा उनके पुत्र इस संसार को असार समझ कर इससे विमुख हो गये। उपर्युक्त अवतरण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। शान्त का चित्रण करते हुए सभी पद्यों में तदपेक्षित माधुर्य गुण का अंकन भी दर्शनीय है। तदनुकूल वर्ण-चयन एवं शब्द-योजना मणि-काञ्चन के तुल्य ही मनोरम है। शान्त के अतिरिक्त **वीर रस** का चित्रण भी भरत एवं बाहुबली के युद्ध में पर्याप्त मात्रा में हुआ है। निम्न पंक्तियों में वीरता का सजीव चित्रण कितना ओजपूर्ण है—

---

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ ४७
२ वही, पृष्ठ १५८
३ वही, पृष्ठ १६०
४ वही, पृष्ठ १६२

रणभेरी गूँज उठी नभ में,
वीरों के मानस फड़क उठे,
वे कड़क उठे हैं लड़ने को,
कायर जन के मन धड़क उठे।[1]

× ×

म्यानों से निकली तलवारें,
मानो घन में बिजली दमकी,
बरछियाँ, कटारें, तेज शूल,
वे भालों की अणियाँ चमकीं।[2]

× × ×

अश्व-सूत समेत स्पन्दन दण्ड से शतखण्ड थे,
मत्त गज-कुम्भस्थलों पर गदा-घात प्रचण्ड थे,
पारधी-भय से यथा मृग-यूथ अस्त-व्यस्त हो,
ओट में छुपने लगे सब भयाकुल संत्रस्त हो।[3]

पं० श्यामनारायण पांडे द्वारा रचित 'हल्दीघाटी' काव्य में जो ओजपूर्ण वर्णन हमें दृष्टिगोचर होता है, वैसा ही प्रखर प्रवाह हमें यहाँ भी लक्षित होता है। यहाँ हमें रणभेरी की गूंज, वीर-हृदय की कड़क और कायर-जन की धड़क स्पष्ट सुनाई देती है तथा विद्युत्तुल्य तलवारों की दमक और बरदी, कटार एवं भालों की चमक प्रत्यक्ष-सी दिखाई देती है। काव्य को पढ़ते-पढ़ते समरांगण की ठेल-पेल एवं अस्त-व्यस्तता, मार-काट एवं हाहाकार तथा घर्षण-कर्षण सभी कुछ चलचित्र की भांति अनुभूत होता है। इस वर्णन में वीर के अनुकूल ओजगुण से व्यंजक वर्णों की योजना दर्शनीय है। यह कुशल कलाकार की सफल एवं सबल लेखनी का ही परिचायक है।

युद्ध का चित्रण करते हुए **बीभत्स रस** का अंकन भी प्रसंगवश आ ही गया है, यथा—

अर्ध क्षत-विक्षत सभी शव दूर फैंके जा रहे,
मांस-लोलुप श्वान, जम्बुक, गीध उनको खा रहे।[4]

× ×

जिस हृदय-स्थल में कितनों का स्नेह भाव था रहता।
आज खा रहे कौए, कुत्ते, रह-रह शोणित बहता।।
जिन आँखों में तेज तरुण था, अरुण ओज की रेखा।
चोंचें मार रही हैं चीलें दारुण वह दृश्य न जाता देखा।।
हृष्ट-पुष्ट सुन्दर वपु जिस पर थे मन स्वतः लुभाते।
काट-काट पैने दाँतों से उसको जम्बुक खाते।।[5]

इस चित्रण में भी ओज अपनी पराकाष्ठा पर है। इसके अतिरिक्त **रौद्र** का आभास हमें भरत-दूत एवं बाहुबली के वार्तालाप आदि में उपलब्ध होता है। **भयानक** का चित्रण भी अल्प मात्रा में हुआ है यथा बाहुबली के वन में जाते

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ ८४
२ वही, पृष्ठ ९३
३ वही, पृष्ठ ९६
४ वही, पृष्ठ १००
५ वही, पृष्ठ १००-१०१

समय अरण्य की भयानकता इस प्रकार अंकित हुई है—

गहरी-गहरी पड़ी दरारें, चारों ओर झाड़-झंखाड़,
द्विरद यूथ चिघाड़ रहे हैं, शेर रहे हैं कहीं दहाड़,
चीते, व्याघ्र, भेड़िये भालू, वनबिलाव, सूअर खूंखार,
घूम रहे हैं गेंडे, रोझे, अरण्य-महिष, सारंग, सियार।[1]

इस प्रकार रसों का चित्रण तदनुकूल गुणों के साथ बड़ी ही उपयुक्तता के साथ हुआ है।

इस काव्य में **अलंकार** योजना भी स्तुत्य है। शब्दालंकारों में अनुप्रास का व्यवहार तो पर्याप्त मात्रा में हुआ है, परन्तु यमकादि का प्रयोग बहुत ही कम है। इसी प्रकार अर्थालंकारों में विशेषतः उपमा, रूपक एवं उत्प्रेक्षा का प्रयोग अत्यधिक है। नीचे कुछ सुन्दर उदाहरण दिये जाते हैं—

अनुप्रास—

अमल, अविकल, अतुल, अविरल प्राप्त कर तुलसी उजारा।
... ...
आंखें लाल कराल काल-सा बढ़ने लगा सरोष।

यमक—

सम समय परीषह मुनि को अधिक नहीं है।

पुनरुक्तिवदाभास—

मधु मधु बरसाकर सबको मुदित बनाता।

उपमा—

उषा समय प्राची यथा उभय क्रोध से लाल।
... ...
विकसित वसन्त ज्यों सन्त हृदय सरसाता।

रूपक—

आज हमारे मन उपवन की फूली क्यारी क्यारी,
चित चातक है उत्फुल्ल देखकर श्यामल मेघ-वितान रे।

उत्प्रेक्षा—

स्वर्णिम सूर्य उदित है प्रमुदित नयनाम्बुज विकसाने,
मानो क्षीर सिन्धु लहराता आया प्यास बुझाने।
... ...
जल-सीकर जिन पर चमक रहे,
मानो मुक्ताफल दमक रहे।

इसी प्रकार और भी अनेक अलंकारों की छटा यत्र-तत्र छिटकी हुई है, जिसने काव्य के सौन्दर्य पर चार चाँद लगा दिये हैं।

छन्द योजना भी दृष्टव्य है। इसमें गीतक, दोहा, सोरठा, मुक्तक एवं हरिगीतिका आदि छन्दों का चारु प्रयोग हुआ है। कहीं-कहीं कुछ दोष भी दृष्टिगोचर होते हैं, यथा—

और महामाता विराजित हस्ती पर सानन्द हैं।

यह गीतक छन्द का अंश है, जिसमें २६ मात्राएं होनी चाहिएं, परन्तु इसमें २८ मात्राएं हैं अतः अधिक पदत्व दोष

---

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ १६३

है। इसी प्रकार—

लड़ने का एक बहाना है,
दिखलाना चाहता हूँ भुजबल।

इसकी दूसरी पंक्ति में भी अधिक पदत्व दोष है। परन्तु इस प्रकार के दोष यत्र-यत्र अल्पमात्रा में ही हैं, जो सम्भवतः शीघ्रता में प्रकाशित कराने के कारण पुनरावृत्ति न होने से छूट गये हैं।

इसमें **भाषा** शुद्ध खड़ी बोली है, परन्तु कुछ उर्दू एवं अंग्रेजी शब्दों का प्रयोग भी कहीं-कहीं पर उपलब्ध होता है, जैसे—

उर्दू शब्द—मौक़ा, हज़ारों, आजिजी, सजोश, खामोश और फरमाते आदि।

अंग्रेजी शब्द—सीन, फिट और नम्बर आदि।

इस काव्य में लोकोक्ति और मुहावरों का प्रयोग बड़ा ही रुचिकर एवं अधिकता से हुआ है। इस विषय में निम्न पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

जैसी करनी वैसी भरणी यह पुरानी है प्रथा।
उच्च राज-प्रासाद शिखर जो नभ से करते थे बातें।
लगता ऐसा मुझे अभी तक दीये तले अँधेरा है।
नहीं नहीं कहते जो मंत्री सोलह आना बात सही।
बाहुबली को शासित करना सचमुच ही है टेढ़ी खीर।
है दिन दूना रात चौगुना जिससे वृद्धिगत उद्योग।
कितनों को उसने नृशंस बन दिए मौत के घाट उतार।

इसी प्रकार लोहा लेना, दाल न गलना, होश उड़ना, मुँह पर थूकना, प्राणों से हाथ धोना, नौ दो ग्यारह होना, गले पर छुरी चलाना आदि और भी अनेक लोकोक्ति-मुहावरों का सुन्दर प्रयोग हुआ है।

कहीं-कहीं खाण्डे (खाँडे), वान्धे (बाँधे), झूझ (जूझ) आदि अशुद्ध शब्दों का प्रयोग अखरता है। सम्भवतः ये अशुद्धियाँ शीघ्रता-वश पुनः पाठ के अभाव में रह गई हैं।

इस काव्य में नानाविध वर्णन भी पठनीय हैं। अनेक स्थलों पर **प्रकृति-चित्रण** बड़ा ही मनोहारी है। वनिता नगरी के पार्श्व में सरयू तट पर तथा वाह्लीक देश में प्रकृति का अत्यन्त सुन्दर चित्रण हुआ है, उदाहरणतः क्रमशः दो पद्य प्रस्तुत हैं—

मसृण तृणराजि विराज रही,
दूर्वा की वह छवि छाज रही,
जल-सीकर जिन पर चमक रहे,
मानो मुक्ताफल दमक रहे।[1]

× ×

वृक्षों के झुरमुट में मनहर,
अति सुन्दरतम लघुतर सरवर,
वह मुकुर-समुज्ज्वल स्वच्छ सलिल,
खिल-खिल कर खिलते हैं उत्पल।[2]

१ भरत-मुक्ति, पृष्ठ २४
२ वही, पृष्ठ ६८

भरत का राज्य-वर्णन करते हुए षड्ऋतुओं का वर्णन भी अत्यन्त मनोहर है। यह वर्णन परम्परानुसार ही हुआ है। रात्रि एवं प्रभात का संक्षिप्त वर्णन केवल भरत की चिन्ता के प्रसंग में हुआ है। इस समस्त प्रकृति-चित्रण में प्रसाद गुण पूर्णतः परिव्याप्त है। इन स्थलों पर निर्माता की प्रकृति-प्रियता का पर्याप्त प्रकाशन हुआ है।

नगरी एवं **जनपद-वर्णन** में वनिता (साकेत, अयोध्या) एवं तक्षशिला का वर्णन तथा वाह्लीक देश का वर्णन और इनके साथ ही साथ भरत एवं बाहुबली के राज्य का वर्णन भी अत्यन्त रोचक है। युद्ध-वर्णन में भरत एवं बाहुबली का सैन्य युद्ध और अन्त में उनका दृष्टि, नाद, भुज एवं दण्ड का चतुर्विध युद्ध बड़ा ही कुतूहलवर्धक एवं प्राण-प्रेरक है। इन वर्णनों में परम्परा को कहीं भी परित्यक्त नहीं किया गया है, परन्तु सन्त कवि की अपनी शैली कहीं भी मन्द एवं लुप्त नहीं होने पाई है।

इस प्रकार इस काव्य का भाव एवं कलापक्ष अत्यन्त उज्ज्वल एवं उदात्त है। इसका सन्देश है जगत्प्रपंच से विमुख होकर तपस्या एवं साधना द्वारा मुक्ति प्राप्त करना, जैसा कि पहले कहा जा चुका है। वास्तव में यह काव्य जहाँ ज्ञान-पिपासुओं के लिए उपादेय है वहाँ साहित्य-मर्मज्ञों के लिए भी ग्राह्य है। आचार्य तुलसी ने दोनों ही वर्ग के व्यक्तियों के लिए एक अमूल्य देन दी है। निश्चय ही यह ग्रन्थ अध्येताओं के लिए एक महान् निधि का कार्य करेगा।

आचार्यश्री तुलसी की अमर कृति—

श्रीकालू उपदेश वाटिका

श्रीमती विद्याविभा, एम० ए०, जे० टी०
सम्पादिका—नारी समाज, नई दिल्ली

आदि काल से संतों के वचनामृत से मानवता के साथ-साथ साहित्य और संस्कृति भी समृद्ध होती चली आई है। सूर, तुलसी और कबीर की भाँति आचार्य तुलसी ने भी संत-परम्परा की माला में जो अनमोल मोती पिरोये हैं 'श्री-कालू उपदेश वाटिका' उनमें से एक है। ग्यारह वर्ष की आयु से ही आचार्य तुलसी ने अपने गुरु श्रीकालूगणी के चरणों में बैठ-बैठकर उनकी 'हीरां तोली बोली' में जो सीख ग्रहण की, उसी धरोहर को उन्होंने 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' के रूप में जनता-जनार्दन को सौंप दिया है। वैसे तो आचार्य तुलसी भारत की प्राग्-ऐतिहासिक जैन-परम्परा के अनुयायी संत हैं, परन्तु इस वाटिका में जिन उपदेश सुमनों का चयन हुआ है, उनकी सुगन्ध सर्वव्यापी है। इस प्रकार आचार्य तुलसी केवल जैन-परम्परा के ही संत नहीं, भारत की संत-परम्परा के कीर्ति स्तम्भ हैं। जहाँ उन्होंने भक्ति के गीत गाए हैं और जन-हित के लिए उपदेश दिये हैं, वहाँ उनमें साहित्य-सृजन की भी विलक्षण प्रतिभा है।

आचार्य तुलसी की कृतियों में भाषा भावों के साथ बही है। आवश्यकतानुसार उन्होंने विभिन्न भाषाओं के शब्दों को तोड़ा-मरोड़ा भी है तो भाषा में एकरूपता लाने के लिए। उन्होंने संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी; इन तीन भाषाओं में रचना की है। 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' की भाषा राजस्थानी है। आचार्य तुलसी को संस्कृत, हिन्दी और राजस्थानी में से किस भाषा पर विशेष अधिकार है, यह कहना कठिन है। प्रस्तुत पुस्तक की भूमिका में मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने उचित ही लिखा है कि 'आचार्यश्री तुलसी के लिए संस्कृत अधीत और अधिकृत भाषा है। राजस्थानी उनकी मातृभाषा है और हिन्दी मातृभाषावत् है'। संभवतः इसी समानाधिकार के कारण 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' में इन तीनों भाषाओं का कहीं-कहीं जो मिश्रण हुआ है, वह स्वाभाविक बन पड़ा है। आचार्यश्री ने उसकी प्रशस्ति में निम्न पंक्तियाँ लिखकर उस मिश्रण को और भी स्पष्ट कर दिया है :

सम्वत एक लाडनूं फागण मास जो,
सारां पहली परमेष्ठी पंचक रच्यो।
समै समै फिर चलतो चल्यो प्रयास जो,
सो 'उपदेश वाटिका' रो ढ़ाँचो जच्यो।

पर प्राचीन पद्धति रै अनुसार जो,
भाषा बणी मूँग चावल री खीचड़ी।
वापिस देख्या एक-एक कर द्वार जो,
तो अखरी बोली मिश्रित बैठी-खड़ी।

आचार्य तुलसी को अपनी भाषा जहाँ 'मूँग चावल री खीचड़ी' के रूप में अखरी है, वहाँ उसने ऐसे पाठकों का कार्य सुगम बना दिया है जो राजस्थानी नहीं समझते। भाषा की ऐसी खिचड़ी मीराबाई के राजस्थानी भक्ति-पदों में भी

मिलती है। इससे रसोत्पत्ति में कोई बाधा नहीं पहुँचती है और यह संतों की वाणी की विशेषता भी है। आचार्य तुलसी संत-परम्परा में होने के कारण भाषा के अलावा भावाभिव्यंजना में भी तुलसी, सूर, कबीर और मीरां के निकट हैं, जिन्होंने अपने आराध्य के गीत गाये हैं। आचार्यश्री तुलसी जैन-परम्परा में दीक्षित होने के कारण अपने आराध्य अरिहन्त प्रभु का यश-गान करते है। वे कहते हैं :

प्रभु म्हारे मन-मन्दिर में पधारो,
करूँ स्वागत-गान गुणां रो।
करूँ पल-पल पूजन प्यारो॥

चिन्मय ने पाषाण बणाऊँ ? नहिं में जड़ पूजारो।
अगर, तगर, चन्दन क्यूँ चरचूँ ? कण-कण सुरभित थांरो॥
नहिं फल, कुसुम की भेंट चढ़ाऊँ, मैं भाव भेंट करणारो।
आप अमल अविकार प्रभुजी, तो स्नान कराऊँ क्यांरो।
नहिं तत, ताल, कंसाल बजाऊँ, नहिं टोकर टणकारो।
केवल जस झालर झणणाऊं धूप ध्यान धरणारो॥

अन्त में जब वे कहते हैं :

अशरण-शरण, पतित-पावन, प्रभु 'तुलसी' अब तो तारो।

तब ऐसा प्रतीत होता है जैसे तुलसी ने अपने राम को, सूर ने अपने कृष्ण को, कबीर ने अपने 'साहिव' को और मीरा ने अपने गिरधर-गोपाल को पुकारा है।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा का शुद्ध अथवा अशुद्ध होना उसी के उपक्रमों पर निर्भर है। साधक को यह जानते हुए भी सन्तोष नहीं होता। उसकी अन्तः-शुद्धि के लिए जैन धर्म में चार शरण और पाँच परम इष्ट हैं। शरण की अवस्था में जैन धर्म और बौद्ध धर्म एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। बौद्ध धर्म में शरणागत केवल तीन की शरण ग्रहण करता है। वह कहता है—

बुद्धं शरणं गच्छामि,
धम्मं शरणं गच्छामि,
संघं शरणं गच्छामि।

जैन धर्म का साधक अरिहन्तों, सिद्धों, साधुओं और धर्म की शरण ग्रहण करता है। वह अरिहन्तों, सिद्धों, आचार्य, उपाध्याय एवं समस्त साधुओं को नमस्कार करता है। जैन मत के अरिहन्त और सिद्ध यही दो मुख्य आधार हैं। धर्म और साधु शरण हैं। आचार्य, उपाध्याय और मुनि इष्ट हैं। अरिहन्त इसलिए पूज्य हैं कि वे देह सहित है और अपने अष्ट कर्म आवरणों से चार कर्म आवरणों को दूर कर चुके हैं, इसीलिए वे जिन हैं। धर्म और तीर्थ के प्रवर्तक अरिहन्त परोपकारी हैं। आचार्य तुलसी ने अपनी उपदेश वाटिका का आरम्भ अरिहन्त की स्तुति से ही किया है। वे कहते हैं :

परमेष्ठी पंचक ध्याऊँ,
में सुमर-सुमर सुख पाऊँ,
निज जीवन सफल बणाऊँ।

अरिहन्त सिद्ध अविनाशी,
धर्माचारज गुण-राशी,
है उपाध्याय अभ्यासी,
मुनि-चरण शरण में आऊं।

इन्हीं पंक्तियों से उन्होंने अपनी यात्रा आरम्भ की और 'मंगल द्वार' में पैर रखा। धीरे-धीरे एक-एक करके जिन चार प्रकोष्ठों में प्रवेश किया, उनका रहस्य समझाने का भी पूरा प्रयास किया है। एक 'मंगल द्वार' और चार प्रवेश के इस ग्रन्थ में अनेक सरस गीत हैं। उन गीतों में कितनी ही अन्तर कथाएं छिपी हैं। यदि वे ग्रन्थ के साथ अलग से नहीं दी जातीं तो उनका पाठकों के सामने आना एक प्रकार से कठिन ही था। ग्रन्थ के कुशल सम्पादन ने 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' को एक नया निखार दिया है। इसके लिए सम्पादक श्रमण श्री सागरमलजी व मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' तथा मार्ग-दर्शक मुनिश्री नगराजजी पाठकों की श्रद्धा के पात्र हैं। पुस्तक हर प्रकार से सुन्दर एवं मनन के योग्य है।

मंगल द्वार में आराध्य की स्तुति सम्बन्धी बीस गीत हैं। कबीर की भाँति आचार्य तुलसी ने भी गुरु की महिमा गाई है। तेरापंथ के आठवें आचार्य श्रद्धेय श्रीकालूगणी उनके दीक्षा गुरु थे। आचार्य तुलसी उनकी महिमा से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना उन्हीं के नाम से की। वे गुरु को पुकार कर कहते हैं :

ओ म्हांरा गुरुदेव !
भव-सागर पार पुगाओजी,
म्हांरे रूं-रूं में रम जाओजी।
अज्ञान अन्धेर मिटाओ जी॥

अन्य भक्ति मार्गी संतों की भाँति वे भी गुरु को परमात्मा से मिलाने का माध्यम मानते हैं। सद्गुरु के बिना मुक्ति नहीं मिल सकती, ऐसा उनका विश्वास है। तभी वे कहते भी हैं :

है गुरु दिव्य देव घर-घर का,
पावन प्रतिनिधि परमेश्वर का,
गुरु गोविन्द खड़्या लख गुरु ने, पहली शीश नमावै।

और भी कहा है—

एडी घिसे खिसे चहै चोटी, गुरु बिन गोता खावै।

यही कारण है कि वे गुरु और गोविन्द दोनों के सामने खड़े रहने पर कबीर की भाँति पहले गुरु के आगे ही शीश नमन करना चाहते हैं, क्योंकि गुरु ही गोविन्द से मिलाने वाली कड़ी हैं।

वीतराग का वर्णन करते समय आचार्य तुलसी निर्गुण उपासकों की पंक्ति में प्रकट होते हैं। मंगलद्वार में ही उन्होंने कहा है :

वीतराग नित्य सुमरिए, मन स्थिरता ठाण,
वीतराग अनुराग स्यूं, भजो भविक सुजाण,
वीतराग पद पावणो, जो बारम गुणठाण॥

इसके पश्चात् वे संतों को संसार में सुखी मानकर कहते हैं :

समता रा सागर सन्त सुखी संसार में।
निज आतम उजागर सन्त सुखी संसार में॥

यहीं से वे प्रथम प्रवेश की ओर अग्रसर हुए हैं। इसमें उन्होंने मनुष्य को अपने दुर्लभ जीवन को संवार कर रखने और बुराइयों का त्याग करने की बात कही है :

चेतन अब तो चेत,
चेत-चेत चौरासी में तूं भमतो आयो रे।
भयंकर चक्कर खायो रे॥

और भी :

अब मानव जन्म मिल्यो जागो,
ओ यौवन, धन, तन, तरुणाई।

ऐश्वर्य, अलौकिक अरुणाई,
इक खिण में टूटै ज्यूं तागो ॥

इन सब वस्तुओं की नश्वरता की ओर ध्यान दिलाते हुए आचार्यश्री प्राणियों से एक बार फिर कहते हैं :

नर-देही व्यर्थ गमाई नां ।

वे व्यसनी लोगों को भी चेतावनी देते हुए कहते हैं :

भूली मत पीवो रे भवियां भांग तमाखू ।

गांजो, सुलफो, तिम साथ, जरदो मत झालो हाथ ।
बीड़ी, सिगरेट संघात, त्यागो चाहो जो सुख सात ।
भांगां बागां बिच घोटै मोटै सिलाड़े, छोटा-मोटा मिल संग ।
पीवै अरु पावै हो मन की गोठ पुरावै, होवै कांहि रंग में भंग ॥

भंगड़ी कहिवावै पावै बुद्धि-विकलता, आवै चोहट्टै दौड़ ।
'फूलां मालण-सी करणी' स्वमुख सराहत्रै, पावै फल जैसी खोड़ ॥

यहाँ 'फूलां मालण' की अन्तरकथा से दुराचारी और उसका समर्थन करने वाले को एक ही कोटि में रखने का संकेत मिलता है। कथा इस प्रकार है कि एक युवा रानी अपने झरोखे में बैठी राजमार्ग की शोभा देख रही थी। उसकी आँख उधर से निकलते एक सुन्दर युवक पर पड़ी। रानी उसके रूप पर मुग्ध हो गई। युवक ने भी रानी को देखा तो मोहित हो गया। दोनों एक दूसरे से मिलने के लिए आतुर हुए। युवक ने फूलां मालिन को राजमहल में फूल ले जाते देखा। वह उसे समझा-बुझा कर उसकी पुत्रवधू बन कर महल में रानी के पास जा पहुँचा। रानी की कली-कली खिल गई। अब तो युवक प्रतिदिन इसी रूप में रानी के पास पहुँच जाया करता था। एक दिन यह पाप का घड़ा फूट गया और राजा को पता चल गया। राजा ने रानी और युवक के साथ फूलां मालिन को भी मृत्यु-दंड सुना कर बीच बाजार में बैठा दिया। उसने अपने गुप्तचरों से कह दिया कि जो कोई व्यक्ति इनकी प्रशंसा करे उसे भी इनके साथ बैठा दिया जाये और अन्त में मौत के घाट उतार दिया जाये। उस रास्ते से कई लोग निकले, सबने बुराई की। एक ऐसा भी आया जो बोला 'मरना तो एक दिन था ही, अच्छा किया जो रानी के साथ रह कर जीवन का आनन्द लूट लिया।' जब गुप्तचरों ने उसे पकड़ लिया तो आगन्तुक ने पूछा—'क्यों ?' उत्तर मिला 'दुराचार का समर्थन करने के लिए।' इसीलिए प्रथम प्रवेश के अन्त में आचार्यश्री तुलसी ने अनुरोध पूर्वक कहा है :

प्राणी करणी निर्मल कीजै ।
'तुलसी' कामधेनु सम पाइ, मंजुल मानव काय,
मूरख अब चिन्तामणि स्यूं, तूं मत नां काग उड़ाय ।

द्वितीय प्रवेश में पहुँच कर भी आचार्यश्री का ध्यान प्राणियों की पाप-मुक्ति की ओर ही विशेष रहा है। पाप और पुण्य का अन्तर आपने बड़ी सुन्दरता से चित्रित किया है। कहा है :

पुण्य पाप रा फल है परगट, जो कोई आंख उघारै ।
एक मनोगत मोजां माणै, इक नर नगर बुहारै ॥

पाप-मुक्ति का उपाय बताते हुए कहा है :

नर क्षमा धर्म धारो ।
आध्यात्मिक सुख-साधन हृदय रोष वारो ॥
श्रमण-धर्म जो दशविध जैनागम गावै ।
खंति धर्म तिण मांही, प्रथम स्थान पावै ॥

वे साधक से कहते हैं :

राग री रंस पिछाणो ।
हो···आखिर पड़सी थांनै अन्तर ज्ञान जगाणो ।
द्वेष, राग दो बीज करम रा,
बाधक दोन्यूं आत्म-धरम रा,
हो···साधक नै आवश्यक यांरो मूल मिटाणो ।

आचार्य तुलसी ने द्वेष, कलह मिटाकर, झूठ बोलना छोड़ कर, लोभ और माया-मोह तजकर मुक्ति का सुख लेने का आग्रह किया है ।

तीसरे प्रवेश में पहुँच कर वे साधक को सुखी होने का मार्ग बताते हैं कि :

अरिहन्त-शरण में आ जा,
शिव-सुख री झांकी पा जा ।

क्योंकि :

तीन तत्त्व हैं रतन अमोलक, जीव जड़ी कर मानोजी ।
अर्हन् देव, महाव्रतधारी सुगुरु पिछाणोजी ।

इस प्रवेश में उन्होंने अनित्य, अशरण आदि सोलह भावनाओं का वर्णन किया है और जैन धर्म की महिमा स्थापित की है ।

चौथे प्रवेश का आरम्भ उन्होंने समिति और गुप्ति से किया है कि :

प्रवचन माता आठ कहावै ।
समिति गुप्तिमय सदा सुहावै ।

पूरे प्रवेश में आचार्यश्री ने पाँच समिति, तीन गुप्ति और पर्व के सम्बन्ध में बताया है ।

अन्त में प्रशस्ति में उन्होंने प्रस्तुत ग्रंथ के विषय में कहा है :

श्री कालू-गुरु वचनामृत उपदेश जो,
मैं पद्यांकित करचो स्मरचो जुग-पाछलो ।
'श्रीकालू उपदेश वाटिका' वेष जो,
प्रस्तुत चाहै सुणो, सुणाओ, बांचल्यो ।

वास्तव में यह ग्रंथ सुनने, सुनाने और पढ़ने योग्य है । इसमें शिक्षा, सिद्धान्त और अनुभूति का त्रिवेणी संगम है। निस्सन्देह यह आचार्यश्री तुलसी की एक अमर कृति है, जो आने वाले वर्षों में उनकी बहुमुखी प्रतिभा का प्रकाश फैलाती रहेगी ।
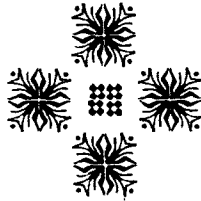
आषाढ़भूति : एक अध्ययन

श्री फरजनकुमार जैन, बी० ए०, साहित्यरत्न

'आषाढ़भूति' आचार्यश्री तुलसी की एक साहित्यिक कृति है। अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा नैतिक जागृति का उद्घोष करने वाले महापुरुष ने आषाढ़भूति में साहित्य के माध्यम से आत्मवाद का दिव्य सन्देश दिया है। हिन्दी-साहित्य की काव्य-परम्परा में यह एक खण्ड काव्य है। काव्य की प्रबन्धात्मकता के साथ-साथ प्रगीत के सम्मिश्रण ने कृति को चार चाँद लगा दिए हैं। साथ ही औपन्यासिक पात्र संवादों ने तो काव्य की कथावस्तु में जान ही फूंक दी है। इस प्रकार कवि ने प्रबन्ध काव्य में प्रगीत की विशेषताओं तथा उपन्यास के तत्त्वों का प्रयोग कर हिन्दी साहित्य उपवन को अभिनव-धारा से सिंचित किया है, जो कि वास्तव में उनका साहित्य को एक श्लाघनीय वरदान कहा जा सकता है। उपर्युक्त काव्य 'आषाढ़भूति' में एक जैनाचार्य का जीवनवृत्त चित्रित किया गया है। 'आषाढ़भूति' के गणनायक और एक अच्छे व्याख्याता होने के कारण उनके चरित्र का समुज्ज्वल रूप पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत होता है। परन्तु बाद में उनकी विचार-शिथिलता ने उनकी संयम वीणा की झंकारों को तोड़कर भोगवाद का बेसुरा राग अलापना आरम्भ कर दिया था। स्वर्ग-प्रवासी शिष्य द्वारा वे पुनः उद्बोधित हुए। इन सबका प्रस्तुत काव्य में बहुत ही सुन्दर वर्णन किया गया है। यह हिन्दी साहित्य की एक अमूल्य निधि बन गई है। वास्तव में यह रचना आस्तिकता की नास्तिकता पर विजय की प्रतीक है।

'आषाढ़भूति' की भाषा समासयुक्त हिन्दी है। संस्कृत के तत्सम शब्दों का इसमें बाहुल्य है। 'हरिऔध' जी ने अपने 'प्रियप्रवास' में संस्कृत के मूल शब्दों का स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग करते हुए भी कहीं उसमें दुरूहता तथा सौन्दर्य-विघ्नता नहीं आने दी है। उसी प्रकार आचार्यश्री ने भी अपने काव्य में संस्कृत तथा प्राकृत के मूल पदों का खुलकर प्रयोग किया है, पर पाठक को उसमें भटकने का मौका नहीं मिलता, अपितु वह उनमें झूमता हुआ काव्य का रसास्वादन करता चलता है। जहाँ पर मूल शब्दों का प्रयोग ही कविता में किया गया है, वहाँ काव्य की भावना को अधिक प्रस्फुटन मिला है। जैसे—**शरणं चत्तारि।** यहाँ ऐसा लगता है मानो चार और चत्तारि में कोई अन्तर ही नहीं। यहाँ पर चत्तारि शब्द हिन्दी का ही बन गया प्रतीत होता है। इसी प्रकार संस्कृत के शब्दों का भी बहुत प्रयोग हुआ है। एक-दो शब्द ऐसे भी आये हैं जो कि हिन्दी में प्रचलित नहीं हैं, जैसे 'बाढ़' शब्द। फिर भी इसका प्रयोग उपयुक्त स्थान पर होने के कारण अर्थ समझने में कठिनाई अनुभव नहीं होती, प्रत्युत काव्य प्रवाह को आगे बढ़ाने में ही सहायक होता है। परन्तु जहाँ प्राकृत के वाक्यों का प्रयोग ज्यों-का-त्यों हुआ है, वहाँ अवश्य थोड़ा खटकता है। जैन दर्शन के मूल सैद्धान्तिक शब्दों का प्रयोग भी अधिक मात्रा में हुआ है। उन शब्दों का पारिभाषिक ज्ञान रखने वाले पाठक के लिए तो सोने में सुहागा है ही। जैनेतर या जैन दर्शन से अनभिज्ञ पाठक भी इसका समुचित आनन्द ले सके, इसके लिए सम्पादक ने परिशिष्ट में इनका अर्थ और व्याख्या कर दी है।

कवि ने विविध स्थानों पर मुहावरों और लोकोक्तियों का भी प्रयोग किया है। जो न केवल भावाभिव्यंजक हैं, अपितु पाठक के मर्मस्थल को भी छूती हैं। संस्कृत की उक्ति **यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्,** का हिन्दी रूप **बन कर्जदार भी घी पीना** स्वार्थी बनकर अन्याय करने वालों और दूसरों का सब-कुछ छीनने वालों के ऊपर कितना तीव्र आघात करती है। **मधु से आप्लावित तीक्ष्ण छुरी, मोठों में पीसे जाते घुन** ये लोकोक्तियाँ शब्दों का परिधान पाकर कितनी सहज व हृदयस्पर्शिनी बन गई हैं। जिस प्रकार 'हरिऔध' जी ने 'चोखे चौपदे' तथा 'चुभते चौपदे' में मुहावरों का उपयोग कर समाज पर तीखा प्रहार किया है, उसी प्रकार आचार्यश्री ने 'आषाढ़भूति' में प्रचिलित उक्तियों का ग्रन्थन

कर मानव को आदर्शाभिमुख करने का सफल प्रयास किया है। कहीं-कहीं तो आचार्यश्री की स्वयं की पंक्ति भी एक लोकोक्ति बन गई है। **भोज्य को पहचानने से पेट बोलो कब भरा।**

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि आचार्यश्री ने 'आषाढ़भूति' की भाषा को बहुरंगी बनाया है। आचार्यश्री भाषा के अनुगत न होकर भाषा उनकी अनुगामी है। 'आषाढ़भूति' प्रसाद की तरह तत्सम शब्दों की प्रधानता तथा गुप्त जी की भाँति अप्रचलित संस्कृत शब्दों का अभिनव प्रयोगों का समवायी रूप है।

'आषाढ़भूति' में मुख्यतः दोहा, सोरठा तथा गीतिक छन्दों का प्रयोग अधिक हुआ है, परन्तु काव्य का सबसे आकर्षक रूप प्रबन्ध काव्य में प्रगीत का अभिनव प्रयोग है। कवि ने विभिन्न राग-रागिनियों में कविता कामिनी को सँवारा है। प्राचीन एवं अर्वाचीन हिन्दी तथा राजस्थानी लोक गीतों के संगीत तथा आधुनिक प्रसिद्ध लयों को काव्य में गुंजित किया है। प्रगीत काव्य की अभिव्यक्ति प्रस्तुत रचना में विभिन्न स्थलों पर प्रस्फुटित हुई है। विविध घटनाओं तथा भावनाओं को व्यक्त करते हुए लेखक ने छन्द परिवर्तित किये हैं, जिससे विभिन्नताओं की सुकुमारता दृष्टिगत होती है। जहाँ संगीत मानव की हृत्तन्त्री को झंकृत करता है, वहाँ वह काव्यमय होकर मानव की भावनाओं को प्रांज्जल करने में अपना सानी नहीं रखता। लेखक ने संगीत को काव्यमय तथा काव्य को संगीतमय बनाकर अनात्मवाद के गहनतम में सोये हुए स्वार्थी मानव को उद्बोधित करने का सफल प्रयास किया है।

सरसता, रमणीयता तथा शब्दों और अर्थों में अदोषता आदि काव्य के मुख्य गुण माने जाते हैं। रसयुक्त तथा दोषमुक्त काव्य ही रमणीयता अथवा सुन्दरता की कोटि में आ सकता है और कविता में रमणीयता अथवा सुन्दरता लाना अलंकारों का विशेष काम है। मानव सौन्दर्य प्रेमी होता है, यही कारण है कि वह प्रागैतिहासिक काल के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में भी सुन्दरता लाने का प्रयास करता है। काव्य क्षेत्र में भी सुन्दरता के लिए ही अलंकारों का आविर्भाव हुआ है। प्रस्तुत काव्य में अनुप्रास, पुनरुक्ति प्रकाश, उपमा, रूपक, उदाहरण आदि अलंकारों का मुख्यतः प्रयोग हुआ है। अन्य अलंकार भी यत्र-तत्र दिखाई देते हैं।

अलंकारों मे किस प्रकार पाठक की आँखों के आगे वर्ण्य विषय का चित्र-सा खिंच जाता है, यह निम्न पंक्तियों में देखिए—

आध्यात्मिक मार्मिक धार्मिक उनके भाषण का अद्भुत ओज,
व्यक्ति व्यक्ति करने लग जाते अपने अन्तर मन की खोज,
जीवन दर्शन मुख्य विषय था जिनके पावन प्रवचन का,
पूंगी पर ज्यों नाग डोलने, लगता था मन जन-जन का।

उपर्युक्त पंक्तियों में अलंकारों की कैसी छटा विद्यमान है। अन्त्यानुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश तथा उपमा अलंकारों का प्रयोग किस सुन्दर ढंग से किया गया है। जिस प्रकार पूंगी पर सर्प मन्त्रमुग्ध होकर झूमने लगत है, उसी प्रकार सभास्थल में बैठा हुआ जनसमुदाय भी धर्माचार्य आषाढ़भूति का पावन उपदेशामृत मग्न होकर पान कर रहा है। इस प्रकार अलंकारों का प्रयोग कर काव्य को द्विगुणित सौन्दर्य प्रदान करना आचार्यश्री की अद्भुत सूझ का परिचायक है। इसी प्रकार रूपक का भी एक उदाहरण देखिए—

होंगे श्री आचार्यदेव ही, लाखों पतितों के पावक।
होगा यही विनोद पूज्य-पादाम्बुज का नन्हा सावक।

'साहित्य दर्पण' के लेखक ने लिखा है—**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्** अर्थात् रस युक्त वाक्य ही काव्य होता है। रस हीन रचना काव्य की अधम कोटि में आती है। रस वह अपार्थिव पदार्थ होता है, जिसका पान कर पाठक इस लौकिक संसार से दूर **वसुधैव कुटुम्बकम्** की भावना से ओत-प्रोत होता है तथा पात्र के सुख-दुख से स्वयं को तादात्म्य कर उसके सुख-दुःख को अपना मानने लगता है।

'आषाढ़भूति' में शान्त रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। यही इसमें प्रमुख रस है। वियोग, करुण, वात्सल्य एवं बीभत्स रस आदि भी सहायक रस के रूप में आये हैं। कौन ऐसा सहृदय पाठक होगा जो धर्माचार्य आषाढ़भूति

के दुख में अपनी सहानुभूति न रखता होगा, वे करुणार्त पुकार रहे हैं—

क्या करूँ ? कहाँ अब जाऊँ रे ? दुःख किसे सुनाऊँ रे !
मन को कैसे समझाऊँ रे ! दुःख किसे सुनाऊँ रे !
एक रहा था जो छोटा-सा, बालक नयन सितारा।
अन्ध-यष्टि-सा मेरे आगे-पीछे एक सहारा।
निर्बल का बल, निर्धन का धन, यदि वह भी बच जाता।
तो उसके आधार बुढ़ापा, सुखपूर्वक कट जाता।
अब रो-रो नयन गमाऊँ रे।

जिस समय आचार्य आषाढ़भूति पदच्युत हो निर्दय बन सुकुमार छः बालकों की हत्या करते हैं। उस समय तो ऐमा लगता है मानो करुणा स्वयं ही मूर्तरूप धारण करके आ गई है।

वियोग श्रृंगार रस का प्रबल रूप है। जितना वियोग में रस का परिपाक हो पाता है, उतना संयोग में नहीं। चिन्ता, स्मृति, गुण कथन, प्रलाप और उन्माद आदि वियोग की अनेक दशाएं मानी जाती हैं। शिष्यों के काल कवलित हो जाने पर उनके उपकरण आदि को देखकर उनका स्मरण, उनके बिना भविष्य की चिन्ता, विनोद के गुणकथन, विनोद को पुकारना और उन्माद की दशा में द्वार तक दौड़े जाना आदि वियोग में ही होते हैं। एक उदाहरण देखिए—

हा ! वत्स ! विनोद कहाँ तू मेरी आशा के तारे।
करुणार्त पुकार रहे हैं, आ वत्स ! शीघ्र तू आ रे।
आहट सुन दौड़े-दौड़े, वे द्वारोपरि जाते हैं।
कोई न दृष्टिगत होता (तो) मूर्च्छित से हो जाते हैं।

बच्चों के वियोग में उनके माता-पिता की दशा का वर्णन तो बहुत मार्मिक बन पाया है। उनके प्रति माता-पिता तथा गुरु की शिष्य के प्रति वात्सल्य भावना का भी समुचित चित्रण भली-भाँति किया गया है। बीभत्स रस भी एक जगह आया है। इसका एक उदाहरण पढ़िए—

गीध-दृष्टि से दूर-दूर तक, पैनी नजर निहार रहे।
बन करके लोभान्ध आज वे कुछ भी नहीं विचार रहे।
नहीं दृष्टिगत पशु-पक्षी भी क्या मानव का नाम निशान।
चारों ओर रेत के टिब्बे नीरव पथ अरण्य सुनसान।

इस प्रकार 'आषाढ़भूति' एक रस युक्त काव्य रचना है तथा इसमें विभिन्न रसों का सुन्दर समावेश है।

आषाढ़भूति की कथा जैन समाज में अत्यन्त प्रचलित है। समय-समय पर प्राकृत, संस्कृत, गुजराती व राजस्थानी भाषाओं में इस पर प्रबन्ध रचे जाते रहे हैं। प्रख्यात कथावस्तु कल्पना का सामंजस्य पाकर अधिक मुखरित हो उठी है। स्थान-स्थान पर प्रासंगिक लोक कथाएं तथा प्रचलित शिक्षा कहानियाँ भी संकेत रूप में आई हैं, जिन्हें पाठकों की सुविधा के लिए परिशिष्ट में सम्पादक ने सविस्तार हिन्दी गद्य में लिख दिया है। यह मात्र प्राचीन भाषाओं से अनूदित ही नहीं है, अपितु इसमें यथा प्रसंग दर्शन, अध्यात्म लोक व्यवहार के नाना उपयोग प्रसंग बहुत ही रोचक शैली से संयोजित किये गए हैं। हिन्दी काव्य रचना में जितना दर्शन का दिग्दर्शन हो पाया है, उतना अन्य भाषाओं में उपलब्ध नहीं है। कबीर, जायसी, सूर, तुलसी, प्रसाद आदि का किसी-न-किसी दार्शनिक वाद से सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि अद्वैतवाद, द्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, शैव दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि दर्शनों की मीमांसा हिन्दी कविता में प्रचुर मात्रा में मिलती है और आश्चर्य यह है कि दर्शन जैसे शुष्क और दुरूह विषय को भी हिन्दी कवियों ने सरस बना दिया है। साथ ही हम कह सकते हैं कि हिन्दी की सर्वश्रेष्ठ निधि भी वे ही कृतियाँ हैं; जिनमें किसी न किसी दर्शन का पुट पाया जाता है। 'आषाढ़भूति' आस्तिकता की नास्तिकता पर विजय का प्रतीक है। भारतीय संस्कृति में आस्तिकवाद का विशेष महत्त्व है। नास्तिकवाद के प्रवर्तक बृहस्पति ने जन्म-मृत्यु, नरक-स्वर्ग, आत्मा-परमात्मा सभी इस भौतिक संसार

में ही माना है। नास्तिकों के मत में प्रकृति ही सब कुछ है। उनके अनुसार जड़-चेतन एक ही हैं। परन्तु **प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्** यदि जड़ और चेतन एक ही वस्तु के नाम हैं और उनका पृथक् अस्तित्व नहीं है तो मृत शरीर कर्मशील क्यों नहीं होता ? कवि ने निम्न पंक्तियों में नास्तिकों के तर्क का खण्डन तार्किक ढंग से प्रस्तुत किया है :

यदि भूतवाद ही सब कुछ है, चेतन का पृथगस्तित्व नहीं,
चेतनता धर्म, कहो किसका, गुण अननुरूप होता न कहीं ?
चेतना शून्य क्यों मृत शरीर ? धर्मी से धर्म भिन्न कैसे ?
वह जीव स्वतन्त्र द्रव्य इसकी सत्ता है स्वयं सिद्ध ऐसे।

भारतीय विद्वानों व कवियों ने गुरु महिमा का बहुत वर्णन किया है। कबीर तो गुरु को भगवान् से भी बढ़कर मानते थे। वे कहते थे :

हरि रूठै गुरु ठोर है, गुरु रूठै नहीं ठोर।

आचार्यश्री ने भी गुरु-गुण महिमा को अपनी कृति में दर्शाया है। स्थानांगसूत्र मे भगवान् श्री महावीर ने कहा है कि पिता से पुत्र का, लालन-पालन कर अपने ही समान बना देने वाले महाजन से अनाथ बालक का तथा गुरु से शिष्य का उऋण होना बहुत कठिन है।

माता-पिता का पुत्र पर उपकार अपरम्पार है,
निस्व-सेवक पर महधिक का अथक आभार है।
शिष्य पर गुरु का ततोधिक महा उपकृति भार है,
करो सेवा क्यों न कितनी, किन्तु दुष्प्रतिकार है।

यही कारण है कि स्वर्गप्रवासी शिष्य विनोद भी अपने गुरु के गुणों का गान करता है :

शिष्यों पर रहता सद्गुरु का है उपकार अनन्त रे।
कण-कण ले सागर के जल का कौन पा सके अन्त रे।

पड़ा कोयलों की खानों से कंकर जौहरी लाता।
चढ़ा सान पर चमका कर करोड़ों का मूल्य बढ़ाता।
वैसे ही चमकाते शिष्यों को गुरुवर गरिमावन्त रे।

देव, गुरु, धर्म का महत्त्व भारतीय संस्कृति ने आँका है, इसीलिए भारतवर्ष में प्राचीन काल से किसी भी कार्य के प्रारम्भ में इनकी आराधना की जाती है। साहित्यिक कला कृतियों में भी प्रारम्भ में मंगलाचरण की रीति चली आ रही है। कवि ने कृति के प्रारम्भ में इनकी स्तुति की है।

जहाँ हम रचना में भाव पक्ष समुन्नत पाते हैं, वहाँ कला पक्ष और कल्पना पक्ष भी कम नहीं है। कवि की कल्पना तो अपनी चरम सीमा पर ही पहुँच गई है। एक ओर कवि की लेखनी से महामारी की विभीषिका चित्रित हुई है तो दूसरी ओर बालकों की सुकुमारता। दोनों ही दृश्य चित्रपट की भाँति आँखों के सम्मुख घूमते से नजर आते है। महामारी का चित्रण कितना सजीव है :

एक चिता पर, एक बीच में, एक पड़ा है धरती।
वर्ग-भेद के बिना शहर में घूम रहा समवर्तीजी।

छहों बालक आचार्य आषाढ़भूति को वन्दन करने आते हैं, जहाँ बालकों के कान्त वपु का वर्णन आता है वहाँ के स्थिति चित्रण में तो कवित्व परमाकर्षक बन गया है। चित्रण शैली तथा वस्तु शैली का एक नमूना देखिए :

तप्त स्वर्ण से उनके चेहरे, कोमल प्यारे-प्यारे।
झलक रही थी सहज सरलता, हसित वदन थे सारे रे।

दीप्तिमान कानों में कुण्डल, लोल-कपोल स्पर्शी।
मुक्ता, मणि, हीरों, पन्नों के हार हृदय आकर्षी रे।

रत्न-जड़ित कण्ठी कण्ठों में, कर कंकण मणि-मण्डित।
हीरों की अक्षुद्र मुद्रिका, थी नव-ज्योति अखण्डित रे।

इसी प्रकार उत्थान एवं पतन की स्थितियों का चित्रण देखिए :

आता पतन चरम सीमा पर तब चाहता उत्थान।
प्रायः मानव-मानस का यह सरल मनोविज्ञान॥

है सम्भावित अत्युत्कर्षण में होना अपकर्ष।
अत्यपकर्षण में ही होता निहित सदा उत्कर्ष॥

कवि की वर्णन शैली के आकर्षण के साथ-साथ पाठकों का ध्यान औपन्यासिक कथोपकथन की सजीवता की ओर चला जाता है। रीति कालीन कवि केशव की रचनाओं में इसकी प्रधानता रही है। जहाँ सम्वाद कथावस्तु को सरस बनाते है, वहाँ वे उसको आगे बढ़ाने में भी सहायता देते हैं। गुरु-शिष्य के सम्वाद वास्तव में बहुत ही हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं और उनमें नाटकीयता के भी दर्शन होते हैं। गुरु-शिष्य सम्वाद में शिष्य विनोद अपने देवलोक का वर्णन करता है तथा नाटक को अपनी ही माया बताता है। इस प्रकार कथा कथोपकथन के सहारे आगे बढ़ती है। इस प्रकार के उदाहरण हिन्दी-कृतियों में कम ही मिलते हैं।

दिन-प्रतिदिन हिन्दी का साहित्य वृद्धि पर है। अनात्मवादी भौतिक समाज को साहित्य के माध्यम द्वारा आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत करना आचार्यश्री का प्रमुख कार्य है। 'तेरापंथ द्विशताब्दी समारोह' एवं 'आचार्यश्री तुलसी धवल समारोह' के उपलक्ष में प्रकाशित योजनाबद्ध साहित्य ने हिन्दी-साहित्य की समृद्धि ही की है। 'आषाढ़भूति' उसी शृंखला में एक पुष्प है और आशा है कि भविष्य में भी इसी प्रकार भारत भारती के अमूल्य कोष में आचार्यश्री तथा उनके आज्ञानुवर्ती साधु-साध्वियाँ अनेक मूल्यवान् साहित्यिक रत्नों की वृद्धि करते रहेंगे।

जब-जब मनुजता भटकी

मुनिश्री दुलीचन्दजी

जब जब यहाँ मनुजता घोर तिमिर राशि में भटकी
तब तब हाथों में नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

कराह रहा था मनुज यहाँ भीषण दुःखों के उन
ऊंडे गर्त्तों में घायल-सा असहाय जरू जकड़ा
वह हार चुका था शक्ति सभी बस केवल उसका तब
जीवन-दीपक टिम-टिम जलता था, हा ! निस्तेज पड़ा
हो स्नेह से पूर्ण तभी, द्रुत सींच-सींच कर बुझते
उस दीपक को तुमने शुभ आलोक किरण दिखलाए
जब जब यहाँ मनुजता घोर तिमिर राशि में भटकी
तब तब हाथों में नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

नैतिकता का मृदुल धरातल जब जब अंगारों से
तपा यहाँ पर प्रलयकाल की पावक से भी बढ़कर
लगा रहा था चीख, सभी सुध-बुध खो देने वाली
किसी दुःख की तीखी चुभती कंगर पर चढ़कर
तब तब तुमने प्राणों को ले मुठी में निज मातृभूमि
की लाज बचाने को थे दृढ़तर हाथ बढ़ाये
जब जब यहाँ मनुजता घोर तिमिर राशि में भटकी
तब तब हाथों में नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

जब जब मानवता का विश्वास यहाँ पर डोला और
सशंकित होकर किसी अबुधता के पंजे में उलझा
किये अनेकों यत्न मनुज ने पर उसको न यहाँ पर
ला पाया और न रंच सका उसको वह समझा
तब तब तुमने इस दुनिया को, अविकल दिल से वे शुभ
विश्वासों के पोषक, सुमधुर गीत अनन्त सुनाये
जब जब यहाँ मनुजना घोर निमिर राशि में भटकी
तब तब हाथों में नव ज्योति लिए तुम भागे आये।

शुभ भावना

पं० जुगलकिशोर
अधिष्ठाता 'वीर सेवा मन्दिर'

मैं आचार्यश्री तुलसी को उस वक्त से कुछ-न-कुछ सुनता, जानता तथा अनुभव में लाता आ रहा हूँ, जब वे सितम्बर, १६३६ में आचार्यपद पर प्रतिष्ठित हुए थे। उस समय पत्रों में उनके अनुकूल-प्रतिकूल अनेक आलोचनाएँ निकली थीं, जिनमें उन्हें 'नाबालिग आचार्य' तक कहकर भी कुछ खिल्ली उड़ाई गई थी। और इसलिए उक्त साधनों द्वारा मुझे जो कुछ भी परिचय आचार्यश्री का अब तक प्राप्त होता रहा है उन सबके आधार पर इतना निश्चित ही है कि आचार्यश्री तुलसीजी ने बड़ी योग्यता के साथ अपने पद का निर्वाह किया है। इतना ही नहीं, उसकी प्रतिष्ठा को आगे बढ़ाया है। उनके गुरु महाराज ने आचार्य-पद प्रदान के समय उनमें जिस योग्यता और शक्ति का अनुभव किया था उसे साक्षात् सत्य सिद्ध करके बतलाया है। वे उस वक्त की अनुकूल आलोचनाओं पर हर्षित और प्रतिकूल आलोचनाओं पर क्षुभित न होकर अपने कर्तव्य की ओर अग्रसर हुए। उन्होंने समदर्शित्व और सहनशीलता को अपनाकर अपनी योग्यता को उत्तरोत्तर बढ़ाने का प्रयत्न किया। नैतिकता का पूरा ध्यान रखते हुए ज्ञान और चरित्र को उज्ज्वल एवं उन्नत बनाया। उसी का यह फल है कि वे प्रतिकूलों को भी अनुकूल बना सके और इतने बड़े साधु-साध्वी-संघ का बाईस वर्ष की अवस्था से ही बिना किसी खास विरोध के सफल संचालन कर सके हैं। आपके सत्प्रयत्न से कितने ही साधु-साध्वीजन अच्छी शिक्षा एवं योग्यता प्राप्त कर स्व-पर-हित साधना के कार्य में लगे हुए हैं और लोक-कल्याण की भावनाओं को अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा आगे बढ़ा रहे हैं; यह सब देख-सुनकर बड़ी प्रसन्नता होती है। अतः मैं आचार्यश्री के इस धवल समारोह के पुनीत अवसर पर उनके निराकुल दीर्घ जीवन और आत्मोन्नति में अग्रसर होने की शुभ भावना भाता हुआ उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

●

अणुव्रत के आचार्यप्रवर श्री तुलसी के प्रति
अर्पित है मेरी लघु वचना प्रणति—नमस्कृति !

—**सियारामशरण**

मुनि श्री बुद्धमल्लजी
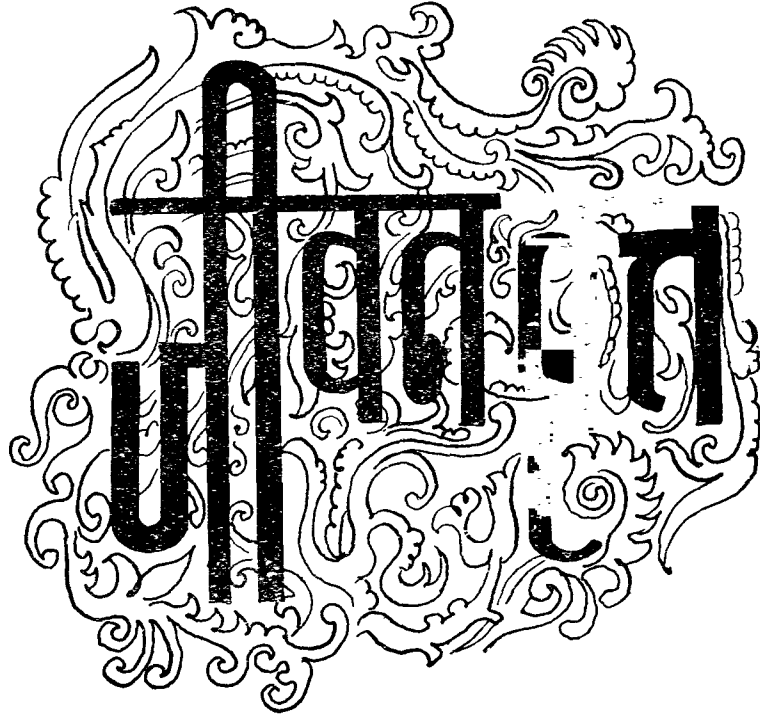
आचार्यश्री तुलसी तेरापंथ के नवम आचार्य हैं। उनके अनुशासन में वर्तमान में तेरापंथ ने जो उन्नति की है, वह अभूतपूर्व कही जा सकती है। प्रचार और प्रसार के क्षेत्र में भी इस अवसर पर तेरापंथ ने बहुत बड़ा सामर्थ्य प्राप्त किया है। जन-सम्पर्क का क्षेत्र भी आशातीत रूप में विस्तीर्ण हुआ है। संक्षेप में कहा जाये तो यह समय तेरापंथ के लिए चतुर्मुखी प्रगति का रहा है। आचार्यश्री ने अपना प्रायः समस्त समय संघ की इस प्रगति के लिए ही अर्पित कर दिया है। वे अपनी शारीरिक सुविधा-असुविधाओं की भी परवाह किये बिना अनवरत इसी कार्य में जुटे रहते हैं। इसीलिए आचार्यश्री के शासनकाल को तेरापंथ के प्रगतिकाल या विकासकाल की संज्ञा दी जा सकती है। आचार्यश्री का बाह्य तथा आन्तरिक, दोनों ही प्रकार का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक और महत्त्वपूर्ण है। मँझला क़द, गौर वर्ण, प्रशस्त ललाट, तीखी और उठी हुई नाक, गहराई तक झाँकती हुई तेज़ आँखें, लम्बे कान व भरा हुआ आकर्षक मुखमण्डल—यह है उनका बाह्य व्यक्तित्व। दर्शक उन्हें देखकर महात्मा बुद्ध की आकृति की एक झलक अनायास ही पा लेता है। अनेक नवागन्तुकों के मुख से उनकी और बुद्ध की तुलना की बातें मैंने स्वयं सुनी हैं। दर्शक एक क्षण के लिए उन्हें देखकर भाव-विभोर-सा हो जाता है। उनका आन्तरिक व्यक्तित्व उससे भी कहीं बढ़कर है। वे एक धर्म-सम्प्रदाय के आचार्य होते हुए भी सभी सम्प्रदायों की विशेषताओं का आदर करते हैं और सहिष्णुता के आधार पर उन सब में नैकट्य स्थापित करना चाहते हैं। वे मानवतावादी हैं, अतः समस्त मानवों के सुसंस्कारों को जगाकर भू-मण्डल से अनैतिकता और दुराचार को हटा देने के स्वप्न को साकार करने में जुटे हुए हैं। अथक परिश्रम उनके मानस को अपार तृप्ति प्रदान करता है। वे बहुधा अपने भोजन तथा शयन के समय में से भी कटौती करते रहते हैं। अपराजेय साहस, चिन्तन की गहराई, दूसरे के मनोभावों को सहजता से ही ताड़ लेने का सामर्थ्य और अयाचित स्नेहार्द्रता ने उनके आन्तरिक व्यक्तित्व को और भी महत्त्वशील बना दिया है।

उनका बाह्य व्यक्तित्व जहाँ सन्देहों से परे है, वहाँ आन्तरिक व्यक्तित्व अनेक व्यक्तियों के लिए सन्देह-स्थल भी बना है। कुछ लोगों ने उनमें द्वैध व्यक्तित्व की आशंकाएं की हैं। उनका व्यक्तित्व किसी को सम्प्रदायातीत मालूम दिया है, तो किसी को अपार साम्प्रदायिक। किसी ने उनमें उदारता और स्नेहार्द्रता के दर्शन किये हैं, तो किसी ने अनुदारता और शुष्कता के। तात्पर्य यह है कि वे अनेक व्यक्तियों के लिए अभी तक अज्ञेय रहे हैं। वे समन्वयवाद को लेकर चलते हैं, अतः अपने-आप को बिल्कुल स्पष्ट मानते हैं; परन्तु उनमें भयंकर अस्पष्टता का आरोप करने वाले व्यक्ति भी मिलते हैं। वे अहिंसक हैं, अतः अपने लिए किसी को अमित्र नहीं मानते; फिर भी अनेक व्यक्ति उनको अपना भयंकर विरोधी मानते हैं। भारत के प्रायः सभी प्रमुख पत्रों ने, तथा कुछ विदेशी पत्रों ने भी, जहाँ उनको तथा उनके कार्यों को महत्त्वपूर्ण बतलाया है, तो कुछ छोटे पत्रों ने उनको जी भरकर कोसा भी है। इतना ही नहीं, अपितु उनकी तथा उनके कार्यों की निम्नस्तरीय आलोचनाएं भी कीं; पर वे उन सबको एक भाव से देखते रहे। न स्वयं उन विरोधों का प्रतिवाद किया और न अपने किसी अनुयायी को करने दिया। वे सत्य-शोध के लिए विरोध को आवश्यक समझते हैं और उसे विनोद की ही तरह सहज भाव से ग्रहण करते हैं। अपनी इस भावना को उन्होंने अपने एक पद्य में यों व्यक्त किया है :

जो हमारा हो विरोध, हम उसे समझें विनोद,
सत्य, सत्य-शोध में, तब ही सफलता पायेंगे।

अनेक विचारक व्यक्तियों ने उनके विचारों का समर्थन करने वाला तथा अनेकों ने खण्डन करने वाला साहित्य लिखा है। उस उच्चस्तरीय आलोचना तथा खण्डन का उन्होंने उसी उच्च स्तर पर उत्तर भी दिया है। वे 'वादे वादे जायते

तत्त्वबोधः' को एक बहुत बड़ा तथ्य मानते हैं। वे आलोचनाओं से बचने का प्रयास नहीं करते, किन्तु उनके स्तर का ध्यान सदैव रखते हैं। उच्चस्तरीय आलोचना को उन्होंने सदैव सम्मान की दृष्टि से देखा है और उसपर उनकी भावनाएं मुखर होती रही हैं; जबकि निम्नस्तरीय आलोचना पर वे पूर्णतः मौन धारण करते रहे हैं।

इस प्रकार उनके व्यक्तित्व के विषय में विविध व्यक्तियों के विविध विचार हैं; पर यह विविधता और विरोध ही उनके व्यक्तित्व की प्रचण्डता और अदमनीयता का परिचायक है। वे समन्वयवादी हैं, अतः जहाँ दूसरों को अन्तर्-विरोध का आभास होता है, वहाँ उनको समन्वय की भूमिका भी दिखायी पड़ती है। उनके दर्शन की इस पृष्ठभूमि ने उनको विविधता प्रदान की है और उनके विरोधियों को एक उलझन।

ऐसे व्यक्तियों को शब्दों में बाँधना बहुत कठिन होता है; परन्तु यह भी सत्य है कि ऐसे व्यक्तित्व ही शब्दों में बाँधने योग्य होते हैं। जिनके जीवन में न तेज होता है, न प्रवाह और न बहा ले जाने का सामर्थ्य, उनका व्यक्तित्व शब्द में छिपकर रह जाता है और जिनमें ये विशेषताएं होती हैं उनके व्यक्तित्व में शब्द छिपकर रह जाता है। समस्या दोनों जगह पर है, परन्तु वह भिन्न-भिन्न प्रकार की है। आचार्यश्री के व्यक्तित्व को शब्दों में बाँधने वाले के लिए यही सबसे बड़ी कठिनाई है कि उसे जितना बाँधा जाता है उससे कहीं अधिक वह बाहर रह जाता है। शब्द उसके सामस्त्य को अपने में अटा नहीं पाते; उनके व्यक्तित्व की गुरुता के सम्मुख शब्दों के ये बाट बहुत ही हलके पड़ते हैं।

—लेखक

: १ :

बाल्य काल

जन्म

आचार्यश्री तुलसी का जन्म सं० १९७१ कार्तिक शुक्ला द्वितीया को राजस्थान (मारवाड़) के लाडनूं शहर में हुआ था। उनके पिता का नाम झूमरमलजी तथा माता का नाम वदनाँजी है। वे ओसवाल जाति के खटेड़ गोत्रीय हैं। छः भाइयों में वे सबसे छोटे हैं। उनके तीन बहनें भी हैं। उनके मामा हमीरमलजी कोठारी उन्हें 'तुलसीदासजी' कहकर पुकारा करते थे। वे यह भी कहा करते थे कि हमारे 'तुलसीदासजी' बड़े नामी आदमी होंगे। उनकी यह बात उस समय तो सम्भवतः प्यार के अतिरेक से उद्भूत एक सरल और सहज कल्पना ही मानी गई होगी; परन्तु आज उसे एक सत्य घटित होने वाली भविष्यवाणी कहा जा सकता है।

घर की परिस्थिति

आचार्यश्री के संसारपक्षीय दादा राजरूपजी खटेड़ काफी प्रभावशाली और प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे सिराजगंज (अब यह पूर्वी पाकिस्तान में है) में रायबहादुर बाबू बुधसिंहजी के यहाँ मुनीम थे। वहाँ उनका बहुत बड़ा व्यापार था और उसकी सारी देख-भाल राजरूपजी के ऊपर ही थी। वे व्यापार में बड़े निपुण थे, अतः उस क्षेत्र में उनका काफी सम्मान था। रहन-सहन भी उनका बड़ा रौबीला था।

सं० १९४४ में सेठ बुधसिंहजी के पौत्र इन्द्रचन्दजी आदि विलायत-यात्रा पर गये, तो लौटने पर वहाँ एक सामाजिक झगड़ा चल पड़ा था। उनके विरोधी पक्ष ने उनको तथा उनसे सम्बन्ध रखने वालों को जाति-बहिष्कृत कर दिया था। उस झगड़े में श्रीसंघ के पक्षपाती होने के कारण राजरूपजी ने उनके यहाँ से नौकरी छोड़ दी और घर आ गए। पहले कुछ दिनों कहीं अन्यत्र मुनीमी प्राप्त करने का प्रयास करते रहे; परन्तु जिस सम्मान और रौब से वे सिराजगंज में रह चुके थे, उससे कम में रहना उन्हें पसन्द नहीं था तथा उतना कहीं मिल नहीं सका। अतः वे तब से प्रायः घर पर ही रहने लगे। उनके पुत्र झूमरमलजी एक सरल स्वभावी व्यक्ति थे। व्यापार में अधिक सफल नहीं हो सके। कमाई साधारण रही और परिवार बड़ा होने से व्यय अधिक रहा, अतः धीरे-धीरे आर्थिक स्थिति गिरने लगी और परिवार पर ऋण हो गया। सं० १९७३ में राजरूपजी का देहान्त हो गया। उसके बाद सं० १९७६ में झूमरमलजी का भी देहान्त हो गया। इन मौतों के कारण परिवार की आर्थिक स्थिति पर और भी दबाव पड़ा; किन्तु आचार्यश्री के बड़े भाई मोहनलालजी ने काफी प्रयत्न तथा साहस से उस स्थिति को सँभाल लिया। उन्होंने बहुत कम समय में ही उस ऋण को उतार दिया तथा अपने घर की स्थिति को फिर से सुव्यवस्थित कर लिया। उस समय उनके अन्य भाई भी व्यापार-कार्य में लगे और उन्होंने घर की आर्थिक स्थिति सुधारने में यथाशक्ति योग दिया। इस प्रकार वह परिवार फिर से अपने पैरों पर खड़ा रहकर सम्मानित जीवन बिताने लगा।

धार्मिकता की ओर झुकाव

आचार्यश्री के परिवार वालों में प्रायः सभी की धार्मिक अभिरुचि अच्छी थी। उनमें भी वदनाँजी की श्रद्धा तथा अभिरुचि सर्वोपरि कही जा सकती है। लाडनूं में सं० १९१४ से लगातार वृद्ध सतियों का स्थिरवास चला आ रहा

है। साध्वियाँ जहाँ रहती हैं वहाँ पास में ही उनका घर है, अतः उनका फुरसत का समय प्रायः वहीं व्यतीत होता था। व्याख्यान आदि के समय तो एक प्रकार से निश्चित बँधे हुए थे ही। वे अपने बालकों को भी दर्शन करने के लिए प्रेरित करती रहती थीं। जब कोई भी बालक प्रातराश के लिए कहता, तो वे बहुधा यह पूछ लिया करती थीं कि दर्शन कर आया कि नहीं? यदि दर्शन किये हुए नहीं होते तो वे यही चाहतीं कि एक बार दर्शन कर आए। उनकी इस नैरन्तरिक प्रेरणा ने वहाँ का वातावरण ही ऐसा बना दिया था कि साधु-साध्वियों के स्थान पर जाकर दर्शन कर आना उन सबका स्वाभाविक और प्रथम कर्तव्य हो गया। आचार्यश्री उस समय बाल्यावस्था में ही थे; फिर भी घर के अन्य सदस्यों के समान ही प्रतिदिन वे दर्शन करने के लिए जाया करते थे। उनका धर्म के प्रति एक आन्तरिक अनुराग हो गया था। उनके एक बड़े भाई मुनिश्री चम्पालालजी ने जब सं० १९८१ में दीक्षा ग्रहण की, तबसे तो वे और भी अधिक धार्मिकता की ओर आकृष्ट हुए थे। उनका वह झुकाव धीरे-धीरे अनुकूल वातावरण में वृद्धिगत होता रहा।

एक दूसरा पहलू

जीवन में जब दैवी संस्कारों का बीज-वपन होता है, तब बहुधा आसुरी संस्कार भी अपने अस्तित्व को बनाये रखने का ज़ोर मारते हैं। वे किसी-न-किसी बहाने से व्यक्ति को भटका देना चाहते हैं। वैसी स्थिति में अनेक व्यक्ति भटक जाते हैं तो अनेक सँभलकर वैसे संस्कारों पर विजय पा लेते हैं और उन्हें सत्-संस्कारों में परिणत कर लेते हैं। आचार्यश्री के बाल-जीवन में भी कुछ-एक ऐसे क्षण आये जब कि एक ओर तो धार्मिक संस्कार उनके मन में जड़ जमाने लगे, और दूसरी ओर से आसुरी संस्कारों ने उन्हें भटका देना चाहा। वह उनके बाल-जीवन के चित्र का एक दूसरा पहलू कहा जा सकता है। उन्होंने स्वयं अपने 'अतीत के कुछ संस्मरण' लिखते हुए इस घटना का उल्लेख किया है। घटना इस प्रकार है—"एक बार उन्हींके एक कौटुम्बिक जन ने उन्हें बतलाया कि यहाँ गाँव से बाहर 'ओरण' में एक रामदेवजी का मन्दिर है। उसमें देवता बोलता है, परन्तु उसको नारियल चढ़ाना आवश्यक होता है। यदि तुम अपने घर से नारियल ला सको तो हम तुम्हें देवता की बोली सुना सकते हैं। बाल-सुलभ जिज्ञासा से प्रेरित होकर उन्होंने नारियल ले आने का वचन दिया और घर में जाकर चुपके-से एक नारियल उठा लाये। मन्दिर में छिपकर किसी व्यक्ति के बोलने को ही उन्होंने अपनी बाल-सुलभ सरलता से देव-वाणी मान लिया था। उस चक्कर में उन्होंने कई बार नारियल चुराये; परन्तु शीघ्र ही आत्म-निरीक्षण द्वारा वे इस कुसंगति से छूट गए और सत्-संस्कारों की विजय हुई।

दीक्षा के भाव

सं० १९८२ में मिगसर महीने में आचार्यश्री कालूगणी का लाडनूं-पदार्पण हुआ। उस समय बालक तुलसी को प्रथम बार निकटता से आचार्यदेव के दर्शन करने तथा व्याख्यान आदि सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। इस निकट-सम्पर्क ने उनके पूर्वार्जित संस्कारों को उद्‌बुद्ध कर दिया। फलस्वरूप बालक होते हुए भी वे विराग-भाव से रहने लगे। जो बात व्याख्यान आदि में सुनते, उसपर विशेष रूप से मनन करते। मन में जो प्रश्न उठते, उनकी चर्चा घर जाकर अपनी माता के पास करते और उनका समाधान खोजते। माता वदनाँजी उन्हें जो सरल-सा उत्तर देतीं, उस समय उनकी जिज्ञासा उसी से तृप्त हो जाया करती।

एक दिन उन्होंने अपने घर वालों के सामने अपनी दीक्षा लेने की भावना व्यक्त की; परन्तु उसे बाल-भाव का विनोद-मात्र समझकर यों ही टाल दिया गया। उन्होंने कुछ दिन बाद फिर अपनी बात को दुहराया, परन्तु किसी ने उस बात पर गम्भीरता से ध्यान नहीं दिया। उन्हें इस बात पर बहुत खेद हुआ कि वे जिस बात को एक तथ्य के रूप में कहना चाहते हैं, घर वाले उसे एक बाल-भाव मात्र समझते हैं; परन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं थी। घर वाले उनकी इस भावना से परिचित होने के साथ-साथ सावधान भी हो गए थे। अपनी 'हाँ' या 'ना' से वे इस बात को खींचकर अधिक पक्का करना नहीं चाहते थे। वे इस समस्या को सुलझाने का अन्दर-ही-अन्दर कुछ प्रयत्न सोचने में लगे थे।

उनकी बहिन लाडाँजी के कुछ समय से दीक्षा लेने के विचार थे। आचार्यश्री कालूगणी के पदार्पण से ऐसी

सम्भावनाएं की जाने लगी थीं कि सम्भवतः इस अवसर पर उन्हें दीक्षा की स्वीकृति मिल जाये। परिवार के प्रमुख तथा अगुआ सदस्य मोहनलालजी उस समय बंगाल में थे। उनको बुलाये बिना न लाडाँजी के विषय में कोई निश्चित क़दम उठाया जा सकता था और न बालक तुलसी के विषय में। दोनों समस्याओं का हल एक ही था कि मोहनलालजी को यहाँ बुला लिया जाये; फिर क्या कुछ करना है तथा कैसे करना है, इसकी चिन्ता वे स्वयं ही कर लेंगे। वे उन दिनों सिराजगज (पूर्वी बंगाल) में रहा करते थे। उन्हें तार दिया गया कि लाडाँजी की दीक्षा की सम्भावना है, शीघ्र आइये। तार पढ़कर वे तुरन्त लाडनूं चले आये। स्टेशन पहुँचने पर पता चला कि 'तुलसी' भी दीक्षा की बात कर रहा है, तो वे बहुत झल्लाये। कहने लगे कि मुझे यह खबर होती तो मैं आता ही नहीं। आखिर वे घर पर आये। घर वालों को बहुत-कुछ कहा-सुना। आपको भी अच्छी-खासी डाँट सुनायी और आगे के लिए ऐसी बात मुँह में भी न घालने की चेतावनी दी।

जो टलने का नहीं होता, उसे कैसे टाला जा सकता है! बात रुकने की नहीं थी, सो नहीं रुकी। जब-तब सामने आती रही। उनके चौथे भाई मुनिश्री चम्पालालजी पहले ही दीक्षित हो चुके थे। उनकी प्रेरणा थी कि वे इस दीक्षा में बाधा न दें; परन्तु मोहनलालजी अब और किसी भाई को दीक्षित होने देना नहीं चाहते थे। उन्होंने साफ-साफ कह दिया था कि वे दीक्षा की स्वीकृति नहीं देंगे। तेरापंथ की दीक्षा-विषयक नियमावली के अनुसार अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षा नहीं दी जा सकती। मोहनलालजी को अनेक व्यक्तियों ने समझाने का प्रयास किया, मुनिश्री मगनलालजी ने भी उनसे कहा; पर वे नहीं माने।

समस्या का सुलझाव

आपने जब देखा कि यह समस्या यों सुलझने वाली नहीं है, तो अपने-में से ही कोई मार्ग खोजने लगे। मन में एक विचार कौंधा और वे हर्षोत्फुल्ल हो उठे। उस समय आचार्यश्री कालूगणी व्याख्यान दे रहे थे। वहाँ की विशाल परिषद् उनके सामने उपस्थित थी। आप वहाँ गये और व्याख्यान में खड़े होकर कहने लगे—गुरुदेव! मुझे आजीवन विवाह करने और व्यापारार्थ परदेश[1] जाने का त्याग करा दीजिये। सुनने वाले चकित रह गए! मोहनलालजी सोच में पड़ गए कि यह क्या हो रहा है। आचार्यदेव ने शान्त भाव से समझाते हुए कहा—तू अभी बालक है, इस प्रकार का त्याग करना बहुत बड़ी बात होती है।

गुरुदेव के इस कथन से मोहनलालजी बड़े आश्वस्त हुए, परन्तु आपके मन में बड़ी उथल-पुथल मच गई। जो उन्होंने सोचा था, वह द्वार खुल नहीं पाया। वे एक क्षण रुके, कुछ असमंजस में पड़े और दूसरे ही क्षण नये मार्ग का निश्चय कर लिया। उन्होंने अपने साहस को बटोरा और कहने लगे—गुरुदेव! मैं आपकी साक्षी से ये त्याग करता हूँ।

मोहनलालजी अब कहें तो क्या कहें और करें तो क्या करें! बहुत व्यक्तियों ने पहले उनको समझाया था, पर भ्रातृ-मोह बाधक बन रहा था। समस्या की जो डोर सुलझ नहीं पा रही थी, आपके इस उपक्रम से वह अपने-आप सुलझ गई। बात का और डोर का, सिरा हाथ लग जाने पर उसे सुलझते कोई देर नहीं लगती।

मोहनलालजी ने परिस्थिति को समझा, दीक्षार्थी के परिणामों की उत्कटता को समझा और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब इसे रोकने का प्रयास करना व्यर्थ है। आखिर उन्होंने दीक्षा के लिए आज्ञा प्रदान करने का ही निर्णय किया। गुरुदेव के चरणों में दीक्षा प्रदान करने के लिए विनती प्रस्तुत की। गुरुदेव ने पहले साधु-प्रतिक्रमण सीखने के लिए आज्ञा प्रदान की और उसके बाद फिर प्रार्थना करने पर दीक्षा प्रदान करने के लिए पौष-कृष्णा पञ्चमी का दिन घोषित कर दिया गया।

एक परीक्षा

दीक्षा ग्रहण करने से एक दिन पूर्व रात्रि के समय मोहनलालजी ने विरागी बालक की भावना तथा साधु-आचार-सम्बन्धी ज्ञान की परीक्षा करने की सोची। मोहनलालजी की चारपाई के पास ही उनकी चारपाई बिछी हुई थी। जब

---

१ उन दिनों 'थली' के ओसवाल व्यापारार्थ प्रायः बंगाल जाया करते थे। वे उसे 'परदेश जाना' कहते थे।

वे सोने के लिए उस पर आकर लेटे तो मोहनलालजी और वे दो ही वहाँ पर थे। परीक्षा के लिए वही अवसर ठीक समझ कर मोहनलालजी ने उनसे धीरे से बात करते हुए कहा—कल तो तुम दीक्षित हो जाओगे। साधु-जीवन में कठिनाइयाँ-ही-कठिनाइयाँ होती हैं। अतः बड़ी सावधानी और साहस से तुम्हें रहना होगा। अभी तुम बालक हो, अतः भूख-प्यास के कष्ट भी काफी सतायेंगे। कभी किसी समय भोजन मिलेगा, तो कभी किसी समय। कहीं आचार्यदेव के द्वारा दूर प्रदेशों में विहार करने के लिए भेज दिये जाओगे, तो मार्ग में न जाने कैसे-कैसे कष्टों का सामना करना पड़ेगा। अन्य सब कष्ट तो आदमी फिर भी सह सकता है; परन्तु यदि आहार-पानी नहीं मिला तो तुम जैसे बालक के लिए भूख और प्यास के कष्टों को सहना बड़ा ही कठिन हो जायेगा। परन्तु हाँ, उसका एक उपाय हो सकता है। यह कहकर उन्होंने अपने पास से एक सौ रुपये का नोट निकाला और उनको देने का प्रयास करते हुए कहने लगे कि यह नोट तुम अपने पास रखो। जब कभी तुम्हारे सामने भूख-प्यास का संकट आये, तब तुम इसे अपने काम में ले लेना।

अपने बड़े भाई की यह बात सुनकर वे बहुत हँसे और छोटा-सा उत्तर देते हुए कहने लगे कि साधु हो जाने के बाद नोट रखना कल्पता ही कहाँ है ?

मोहनलालजी ने उनकी बात का विरोध किया और कहा कि रुपये-पैसे रखने तो नहीं कल्पते, किन्तु यह तो एक कागज़ है। क्या तुम प्रतिदिन नहीं देखते कि साधुओं के पास कितने कागज़ होते हैं ! तुमने अभी जो साधु-प्रतिक्रमण सीखा है, वह भी कागज़ों पर ही साधुओं द्वारा लिखा हुआ था। वे इतने सारे कागज़ कल्प से बाहर नहीं हैं तो फिर यह छोटा-सा कागज़ क्यों नहीं कल्पेगा ? उनमें और इसमें आखिर अन्तर भी क्या है ? अपने 'पूठे' में एक ओर रख लेना, पड़ा रहेगा; तुम्हारा इसमें नुकसान भी क्या है ? समय-बेसमय काम ही आयेगा।

उनकी इतनी सारी बातों के उत्तर में वे केवल हँसते रहे और बोले—ये तो रुपये ही हैं। यह नहीं कल्पता। बार-बार मनुहार करने पर भी वे अपनी धारणा पर दृढ़ रहे, तब मोहनलालजी ने समझ लिया कि केवल ऊपर से ही विराग नहीं है, अपितु अन्तरंग से है और साथ में संयम की सीमाओं का भी ज्ञान है। उन्होंने नोट को यथास्थान रख लिया और परीक्षा में उनकी उत्तीर्णता पर मन-ही-मन प्रसन्न हुए।

दीक्षा-ग्रहण

आचार्यश्री कालूगणी को लाडनूं आये एक महीना पूर्ण हो चुका था, अतः चौथ के दिन ही वहाँ से विहार कर गाँव से बाहर महालचन्दजी बोरड़ की कोठी में पधार गए। कोठी के बाहर ही बहुत बड़ा खुला चौक है। वहीं दीक्षा प्रदान करने का स्थान निर्णीत किया गया था। प्रातःकाल ही हजारों व्यक्तियों के सम्मुख दीक्षा प्रदान की गई और सीधे वहीं से विहार करके सुजानगढ़ पधार गए। वह दिन सं० १९८२ पौष कृष्णा पञ्चमी का था।

इस दीक्षा को आचार्यश्री कालूगणी ने सम्भवतः प्रारम्भ से ही कुछ विशिष्ट समझा था। दीक्षा से पहले तो उन्होंने अपनी कोई ऐसी भावना प्रकट नहीं की थी, किन्तु कुछ दिन बाद एक बार वह अनायास ही प्रकट हो गई थी। एक बार उनके पास शकुन-सम्बन्धी बातें चल पड़ी थीं। मुनिश्री चौथमलजी ने कहा कि पहले तो शकुनों के फल प्रायः मिला करते थे, यही सुना जाता है; पर अब तो वैसा कुछ नहीं देखा जाता। आचार्यश्री कालूगणी ने तब इसका प्रतिवाद करते हुए फरमाया कि नहीं ही मिलते, ऐसी तो कोई बात नहीं है। अभी हम लोग बीदासर से विहार करके लाडनूं जा रहे थे, तब अच्छे शकुन हुए थे। फलस्वरूप तुलसी की दीक्षा कैसी अनायास और अकस्मात् ही हो गई !

मालूम होता है, उनके इन शब्दों के पीछे कुछ विशिष्ट भावना अवश्य रही थी। जिसको कि उन्होंने कुछ खुली और कुछ ढकी ही रहने दिया था। उस समय उस शकुन की विशेषता के प्रति किसी को निष्ठा हुई हो चाहे न हुई हो; पर अब यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि आचार्यश्री कालूगणी का उस शकुन के विषय में जो विचार था, वह बिल्कुल सत्य निकला। आचार्यश्री तुलसी ने अपने विकासशील व्यक्तित्व से अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि वे एक विशेष योग्यता-सम्पन्न व्यक्तित्व को लेकर ही दीक्षित हुए थे।

: २ :

मुनि-जीवन के ग्यारह वर्ष

विद्या का बीज-वपन

आचार्यश्री तुलसी ने अपनी ग्यारह वर्ष की अल्प-अवस्था में ही दीक्षा ग्रहण की थी। उसके बाद वे तत्काल ही विद्यार्जन में लग गए। प्रारम्भ से ही विद्या के विषय में उनकी विशेष आतुरता रहा करती थी। गृहस्थावस्था में जब उन्होंने अपना प्रारम्भिक अध्ययन शुरू किया था, तब भी उनकी वह आतुरता लक्षित की जा सकती थी। वे अपनी कक्षा के सबसे बुद्धिमान् और निपुण विद्यार्थी समझे जाते थे। वे अपनी कक्षा के मानीटर थे। अध्यापक उनके प्रति विशेष आश्वस्त रहा करते थे।

विद्या का बीज-वपन यद्यपि उन्होंने गृहस्थ जीवन में किया था, किन्तु उसका यथेष्ट अर्जन तो दीक्षा-ग्रहण करने के पश्चात् ही किया। बाल्य अवस्था, तीव्र बुद्धि और विद्या के प्रति प्रेम—इन तीनों का एकत्र संयोग होने से वे अपने भावी जीवन के महल का बड़ी तीव्रता से निर्माण करने लगे।

ज्ञान कण्ठाँ दाम अण्टाँ

दीक्षा-ग्रहण करते ही साधुचर्या का प्रारम्भिक ज्ञान कराने के लिए दशवैकालिक सूत्र को, जो कि प्रायः प्रत्येक नव-दीक्षित को कण्ठस्थ कराया जाता है, उन्होंने बहुत थोड़े ही समय में कण्ठस्थ कर लिया। उसके बाद वे संस्कृत-अध्ययन में लग गए। 'ज्ञान कण्ठाँ और दाम अण्टाँ' इस राजस्थानी कहावत के हार्द को वे भली भाँति जानते थे; अतः कण्ठस्थ करने में उनका विशेष ध्यान था। उन्होंने अपने विद्यार्थी-जीवन में करीब बीस हज़ार श्लोक परिमित ग्रन्थ कण्ठस्थ किया था। प्राचीन काल में तो ज्ञानार्जन के लिए कण्ठस्थ करने की प्रणाली को बहुत महत्त्व दिया जाता था। सारा-का-सारा ज्ञान-प्रवाह परम्पर-रूप से कण्ठस्थ ही चलता रहता था। परन्तु युग की बदलती हुई धारणाओं के समय में भी इतना ग्रन्थ कण्ठस्थ करके उन्होंने सबके सामने एक आश्चर्य ही पैदा कर दिया था। उनके कण्ठस्थ किये हुए ग्रन्थों में व्याकरण, साहित्य, दर्शन और आगम-विषयक ग्रन्थ मुख्य थे।

अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत तथा प्राकृत भाषाओं का अधिकारपूर्ण अध्ययन किया। उनकी शिक्षा के संचालक मुख्यतः स्वयं आचार्यश्री कालूगणी ही रहे थे। उनके अतिरिक्त आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा का भी उसमें काफी अच्छा सहयोग रहा था। संस्कृत-व्याकरण की दुरूहता का दिग्दर्शन कराते हुए आचार्यश्री कालूगणी अनेक बार विद्यार्थी साधुओं को एक दोहा फरमाया करते थे। वह इस प्रकार है :

खान पान चिन्ता तजै, निश्चय माँडै मरण।
घो-ची-पू-ली करतो रहै, जद आवै व्याकरण॥

अर्थात्, "जब कोई खान-पान आदि की चिन्ताओं को छोड़कर केवल व्याकरण के ही पीछे अपना जीवन झोंक देता है तथा उतने समय के लिए घोटने, चितारने (घोटे हुए पाठ का पुनरावर्तन करने), पूछ-ताछ करने और लिखने को ही अपना मुख्य विषय बना लेता है, तब कहीं संस्कृत-व्याकरण को हृदयंगम करने में सफलता मिलती है।" इस दोहे के माध्यम से वे अपने शिष्यवर्ग को यह बतलाने का प्रयास किया करते थे कि व्याकरण सीखने वालों को अपना संकल्प कितना दृढ़ करने की तथा अपनी वृत्तियों को कितना केन्द्रित करने की आवश्यकता है।

आचार्यश्री तुलसी ने अपने विद्यार्थी-जीवन में आचार्यश्री कालूगणी की उसी प्रेरणा को चरितार्थ कर दिखाया था। केवल व्याकरण के लिए ही नहीं, वे तो जिस विषय को हाथ में लेते थे, उसके पीछे उपर्युक्त प्रकार से ही अपने-आपको झोंक दिया करते थे। कभी न थकने वाली उनकी इस लगन ने ही उनको आज अकल्पनीय को भी कल्पनीय और असम्भव को भी सम्भव बना देने का सामर्थ्य प्रदान किया है। विद्यार्थी-जीवन की उनकी वह प्रकृति आज भी रूपान्तर पाकर उसी तरह से विद्यमान है।

अपनी प्रखर बुद्धि के बल पर वे जिस किसी भी ग्रन्थ को कण्ठस्थ करने का निर्णय करते, उसे बहुत स्वल्प समय में ही पूर्ण कर छोड़ते। इसीलिए उनकी त्वरता में दूसरों का उनके साथ निभ पाना प्रायः कम ही सम्भव रहा। दशवैकालिक, भ्रमविध्वंसन, अभिधानचिन्तामणि (नाममाला), सिद्धान्तचन्द्रिका, भिक्षुशब्दानुशासन, प्रमाणनय-तत्त्वालोक और षड्दर्शनसमुच्चय आदि आगम, व्याकरण तथा दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ तो उन्होंने कण्ठस्थ किये ही थे; परन्तु शान्तसुधारस, भक्तामर आदि अनेक स्वाध्याय-योग्य ग्रन्थ तथा अनेक छोटे-बड़े व्याख्यान-योग्य ग्रन्थ भी उन्होंने कण्ठस्थ किये थे। इनके अतिरिक्त उन्होंने अनेक ऐसे ग्रन्थ भी कण्ठस्थ कर डाले थे, जिन्हें कि साधारणतया पढ़ लेने से ही काम चल सकता था। सम्पूर्ण संस्कृत-धातुपाठ, गणरत्नमहोदधि तथा उणादि-सूत्रपाठ आदि को उसी कोटि के ग्रन्थों में गिनाया जा सकता है। आज के शिक्षा-विशेषज्ञ इसे बुद्धि पर डाला गया अतिरिक्त भार कहकर अनावश्यक कह सकते हैं; परन्तु जिस व्यक्ति को थोड़ा-सा विशेष ध्यान देकर पढ़ने-मात्र से ही जब पाठ कण्ठस्थ हो जाये, तो उसे अनावश्यक तथा भार कैसे कहा जा सकता है! अल्पबुद्धि के छात्रों को यह भार अवश्य हो सकता है; परन्तु वे इस भार को उठाने के लिए उद्यत ही कहाँ होते हैं! सम्भवतः उस अवस्था में आचार्यश्री को साधारण अध्ययन की अपेक्षा उसे कण्ठस्थ कर लेने में ही अधिक आनन्द मिलता था।

उनकी कण्ठस्थ करने की वृत्ति तथा त्वरता का अनुमान एक घटना से लगाया जा सकता है। आचार्यश्री कालूगणी सं० १९९० के शीतकाल में मारवाड़ के छोटे-छोटे गाँवों में विहार कर रहे थे। कहीं अधिक दिनों तक एक स्थान पर टिक कर रहने का अवसर आने की सम्भावना नहीं थी। ऐसी स्थिति में भी उन्होंने जैन-रामायण को कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया। प्रातःकालीन समय का अधिकांश भाग प्रायः विहार करने में ही व्यतीत हो जाता था। किसी भी कृत्रिम प्रकाश में पढ़ना संघीय मर्यादा में निषिद्ध होने से रात्रि का समय भी काम नहीं आ सकता था। दिन में साधुचर्या के अन्यान्य दैनन्दिन कार्यों का करना भी अनिवार्य था। इन सबके बाद दिन में जो समय अवशिष्ट रहता, उसमें से कुछ हम लोगों के पढ़ाने में लगा दिया जाता था और शेष समय में वे स्वयं पाठ कण्ठस्थ किया करते थे। इतनी सब दुविधाओं के बावजूद भी उन्होंने उस विशाल ग्रन्थ को केवल ६८ दिनों में ही समाप्त कर डाला। बहुधा वे अपना पाठ मध्याह्न के भोजन से पूर्व ही समाप्त कर लिया करते थे। उन दिनों वे प्रतिदिन पचास-साठ से लेकर सौ-सवा सौ पद्यों तक को याद कर लिया करते थे।

स्वाध्याय

वे कण्ठस्थ करने में जितने निपुण थे, उतने ही परिवर्तना (चितारना) के द्वारा उसे याद रखने में भी। अनेक बार वे रात्रि के समय सम्पूर्ण चन्द्रिका की परिवर्तना कर लिया करते थे। शीतकाल में तो प्रायः पश्चिम-रात्रि में आचार्यश्री कालूगणी उन्हें अपने पास बुला लिया करते थे और पाठ-श्रवण किया करते थे। पूर्व-रात्रि के समय में भी उन्हें जितना समय मिल पाता, उसका अधिकांश वे स्वाध्याय में ही लगाने का प्रयास किया करते थे। यदि कभी नींद या आलस्य आने लगता तो खड़े हो जाया करते थे और अपने उद्दिष्ट स्वाध्याय को पूरा कर लिया करते थे। कभी-कभी तो शयन से पूर्व ही दो-दो हज़ार पद्यों तक का स्वाध्याय कर लिया करते थे। प्रारम्भिक समय की अपनी वह प्रवृत्ति आज भी आचार्यश्री अपने में सुरक्षित रखे हुए हैं। यद्यपि पूर्व-रात्रि में जन-सम्पर्क आदि कार्यों की व्यस्तता से उन्हें विशेष समय नहीं मिलता; फिर भी पश्चिम-रात्रि में वे बहुधा स्वाध्याय-निरत देखे जा सकते हैं। कभी-कभी वे नव-दीक्षितों का पाठ सुनते हुए भी मिल सकते हैं।

सुयोग्य शिष्य

तेरापंथ में आचार्य पर जो अनेक दायित्व होते हैं, उनमें सबसे बड़ा दायित्व है—भावी संघपति का चुनाव। उसमें आचार्य को अपनी व्यक्तिगत रुचि से ऊपर उठकर समाज में से ऐसे व्यक्ति को खोजकर निकालना होता है, जो प्रायः सभी की श्रद्धा को प्राप्त करने में सफल हुआ हो तथा भविष्य के लिए भी उनकी श्रद्धा को सुनियोजित रखने का सामर्थ्य रखता हो।

आचार्य अपने प्रभाव-बल से किसी व्यक्ति को प्रभावशाली तो बना सकते हैं, पर श्रद्धेय नहीं बना सकते। श्रद्धेय बनने में आचार-कुशलता आदि आत्म-गुणों की उच्चता अपेक्षित होती है। श्रद्धेयता के साथ प्रभावशीलता अवश्य-म्भावी होती है; जबकि प्रभावशीलता के साथ श्रद्धेयता हो भी सकती है और नहीं भी।

इस विषय में आचार्यश्री कालूगणी बड़े भाग्यशाली थे। अपने दायित्व की पूर्ति करने में उन्हें कभी चिन्तित नहीं होना पड़ा। आप-जैसे सुयोग्य शिष्य को पाकर वे इस चिन्ता से सर्वथा मुक्त हो गए थे। आप अपने विद्यार्थी-जीवन में ही प्रभावशाली होने के साथ-साथ संघ के अधिकांश व्यक्तियों के लिए श्रद्धास्पद भी बन गए थे। प्रभाव व्यक्तियों के शरीर पर ही नियन्त्रण स्थापित करता है, जबकि श्रद्धा आत्मा पर। किसी भी समाज को ऐसा संचालक सौभाग्य से ही मिल पाता है जो जनता की आत्मा पर नियन्त्रण कर पाता हो। शरीर पर किये जाने वाले नियन्त्रण की अपेक्षा से यह बहुत उच्च कोटि का नियन्त्रण होता है।

गुरु का वात्सल्य

शिष्य के लिए गुरु का वात्सल्य जीवन-दायिनी शक्ति के समान होता है। उसके बिना शिष्यत्व न पनपता है, और न विस्तार पाकर फलदायी ही बन सकता है। शिष्य की योग्यता गुरु के वात्सल्य को पाकर धन्य हो जाती है और गुरु का वात्सल्य शिष्य की योग्यता पाकर कृत-कृत्य हो जाता है। आचार्य के प्रति शिष्य आकृष्ट हो, यह कोई विशेष बात नहीं है; किन्तु जब शिष्य के प्रति आचार्य आकृष्ट होते हैं, तब वह विशेष बात बन जाती है। आचार्यश्री कालूगणी के पास दीक्षित होकर तथा उनका सान्निध्य पाकर आपको जो प्रसन्नता प्राप्त हुई थी, वह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी; परन्तु आपको शिष्य-रूप में प्राप्त कर स्वयं आचार्यश्री कालूगणी को जो प्रसन्नता हुई थी, वह अवश्य ही आश्चर्यजनक थी। आपने आचार्यश्री कालूगणी का जो वात्सल्य पाया था, वह निश्चय ही असाधारण था। एक ओर जहाँ वात्सल्य की असाधारणता थी, वहाँ दूसरी ओर नियन्त्रण तथा अनुशासन भी कम नहीं था। कोरा वात्सल्य उच्छृं-खलता की ओर ले जाता है, तो कोरा नियन्त्रण वैमनस्य की ओर। पर जब ये दोनों जीवन में साथ-साथ चलते हैं, तब जीवन में सन्तुलन पैदा करते हैं। वह सन्तुलन ही जीवन के हर क्षेत्र में व्यक्ति को विकासशील बनाता है।

आचार्यश्री कालूगणी ने आपको सामुदायिक कार्य-विभाग (जो सब साधुओं को बारी से करने होते हैं) से मुक्त रखा। वे आपके हर क्षण को शिक्षा में लगा देखना चाहते थे। इस विषय में आप स्वयं भी बड़े जागरूक रहते थे। पाँच-दस मिनट का समय भी आपके लिए बहुमूल्य हुआ करता था। आप उसका उपयोग स्वाध्याय में कर लिया करते थे। स्वयं गुरुदेव की दृष्टि भी यही रहती थी कि आप अपने समय का अधिक-से-अधिक उपयोग करें। इस विषय में समय-समय पर वे आपको प्रेरित भी करते रहते थे। निम्नोक्त घटना से यह जाना जा सकता है कि गुरुदेव आपके समय को कितना मूल्यवान् समझते थे।

आचार्यश्री कालूगणी का अन्तिम जनपद-विहार चालू था। वृद्धावस्था के कारण मार्ग में अपेक्षाकृत अधिक समय लगा करता था। विहार के समय आप भी साथ-साथ चला करते थे। एक दिन आचार्यदेव ने आपसे कहा—तुलसी! तू आगे चला जाया कर और वहाँ पर सीखा कर। आप साथ में रहना ही अधिक पसन्द किया करते थे, अतः आपने साथ में रहने का ही अनुरोध किया। परन्तु आचार्यदेव ने उसे स्वीकार नहीं किया और फरमाया कि वहाँ जो कार्य करेगा, वह भी तो मेरी ही सेवा है। आप उसके बाद आगे जाने लगे। इस क्रम से लगभग आध घंटा समय निकल सकता

था, उसे अध्ययन-अध्यापन के कार्य में लगाने लगे। जो समय निकल सके, उसका उपयोग कर लेने की ओर ही गुरुदेव का झुकाव था।

योग्यता-सम्पादन

आचार्यश्री कालूगणी आपके योग्यता-सम्पादन में हर प्रकार से सचेष्ट रहते थे। पहले कुछ वर्षों तक विद्या-भ्यास के द्वारा आवश्यक योग्यता प्राप्त कराने का उपक्रम चला। उसके बाद वक्तृत्व-कला में भी आपको निपुण बनाने का उनका प्रयत्न रहा। मध्याह्न के व्याख्यान का कार्य आपको सौंपा गया। यद्यपि आजकल मध्याह्न का व्याख्यान एक उपेक्षित-सा कार्य बन गया है, कहीं होता है कहीं नहीं भी होता; परन्तु उस समय उसका बड़ा महत्त्व था। जनता भी काफी आया करती थी।

आपके कण्ठ मधुर थे और महीन भी। आप जब व्याख्यान करते तथा गाते, तो लोग मुग्ध हो जाते थे। अनेक बार रात्रि के समय ऐसा भी होता था कि आप कोई गीतिका गाते और आचार्यश्री कालूगणी स्वयं उसकी व्याख्या किया करते। कई बार मुनिश्री नथमलजी तथा मैं 'सूक्ति-मुक्तावली' के श्लोक गाया करते और आचार्यश्री के सान्निध्य में आप उनका अर्थ किया करते। आप अपने कण्ठों का बहुत ध्यान रखा करते थे। आप कहा करते हैं कि मैं ज्यों-ज्यों अवस्था में बड़ा होता गया, त्यों-त्यों मोटे स्वर में गाने और बोलने का प्रयास करने लग गया। इसका कारण आप यह बतलाते हैं कि ऐसा किये बिना कण्ठों का माधुर्य बना नहीं रह सकता। आपके विचार से लगभग सोलह वर्ष की अवस्था के आसपास, जबकि शारीरिक विकास त्वरता से होता है, तद्ध्यान न रखने से कण्ठ एकाएक बेसुरे बन जाते हैं।

आचार्यश्री कालूगणी के अन्तिम तीन वर्ष उनके जीवन के महत्त्वपूर्ण वर्षों में से थे। वे वर्ष क्रमशः मारवाड़, मेवाड़ और मालवा की यात्रा में ही बीते थे। इससे पूर्व बहुत वर्षों तक वे थली में ही विहार करते रहे थे। आपकी दीक्षा के बाद यह उनका प्रथम जनपद-विहार था तथा उनके अपने जीवन की दृष्टि से अन्तिम। यह विहार मानो आपको अपने श्रद्धालुओं तथा उनके क्षेत्रों से परिचित कराने के लिए ही हुआ था। इस यात्रा से पूर्व आपका जन-सम्पर्क काफी सीमित था। यात्रा-काल में उसका काफ़ी विस्तार हुआ। व्यावहारिक ज्ञानार्जन के लिए ये वर्ष बहुत ही मूल्यवान् सिद्ध हुए।

आचार-कुशलता और अनुशासन-कुशलता आपको अपने संस्कारों के साथ ही प्राप्त हुई थी। उनको आपने अपने प्रयास से दिन-प्रतिदिन और भी निखार लिया था। विद्या तथा व्यवहार-कुशलता आपने आचार्यश्री कालूगणी के सान्निध्य में प्राप्त की और उन्हें अपने अनुभवों के आधार पर एक आकर्षक रूप प्रदान किया। आपकी योग्यताओं का निखार स्वयं आचार्यश्री कालूगणी को इष्ट था। वे उनकी प्रगति से अत्यन्त प्रसन्न थे।

शासन की आन्तरिक प्रवृत्तियों में भी आचार्यश्री कालूगणी समय-समय पर आपका उपयोग करते थे। उनका बहुमुखी अनुग्रह हर दिशा में आपको परिपूर्ण बनाने का रहा करता था। इन्हीं कारणों से आपकी ओर समूचे संघ का ध्यान खिंच गया। लोग आपके विषय में बड़ी-बड़ी कल्पनाएं करने लगे। संघ के विशिष्ट साधु भी आपको श्रद्धा की दृष्टि से देखने लगे। आपका प्रभाव सभी पर छाने लगा। आपने जिस अप्रत्याशित गति से योग्यता का सम्पादन किया था, वह सचमुच ही बड़ा प्रभावशाली था।

शिक्षा या संकेत ?

उन दिनों मारवाड़ में काँठे के गाँवों में विहार हो रहा था। एक बार सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् जब आप वन्दन के लिए गये तो आचार्यश्री कालूगणी ने आपको अपने पास आने का संकेत किया। आपने समीप जाकर वन्दन किया तो गुरुदेव ने एक शिक्षात्मक सोरठा रचकर सुनाया और फरमाया कि सबको सिखा देना। वह सोरठा था :

सीखो विद्या सार, परहो कर परमादनै।
बधसी बहु बिस्तार, धार सीख धीरज मनै ॥

दूसरे दिन शाम को गुरु-वन्दन के पश्चात् जब आप मंत्री मुनिश्री मगनलालजी को वन्दन करने गये, तब उन्होंने पूछा—कल आचार्यदेव ने जो सोरठा कहा था, उसके उत्तर में तू ने वापस कुछ निवेदन किया या नहीं ?

आपने कहा—किया तो नहीं।

आगे के लिए मार्ग बतलाते हुए मंत्री मुनिश्री मगनलालजी ने कहा—अब कर देना !

आपने उस बात को शिरोधार्य कर उत्तर में जो सोरठा निवेदित किया, वह इस प्रकार है :

महर रखो महाराय, लख चाकर पदकमलनों।
सीख अपो सुखदाय, जिम जल्दी शिव गति लहूँ ॥

अकेले आचार्यश्री कालूगणी के सोरठे को देखने से लगता है कि उसके द्वारा शिष्यों को शिक्षा दी गई है। पूर्व-भूमिका सहित जब दोनों सोरठों को देखते हैं, तब लगता है कि संवाद है। पर क्या इतने से मन भर जाता है ! वह अपने समाधान के लिए गहराई में जाता है तब इनके शब्द तथा अर्थ तो ऊपर रह जाते हैं और उनकी मूल प्रेरणाओं के प्रकाश में जो समाधान निकलता है, वह कहता है कि ये किसी अर्ध प्रकाशित संकेत के प्रतीक हैं।

आचार्यश्री कालूगणी एक गम्भीर प्रकृति के आचार्य थे, अतः उनके मन की गहराई को स्पष्ट समझ पाना ज़रा कठिन होता था। मंत्री मुनि उनके बाल्यावस्था के साथी थे, अतः सम्भवतः वे उनके संकेतों को अपेक्षाकृत अधिक स्पष्ट समझते थे। तभी तो उन्होंने आपको उस सांकेतिक पद्य का उत्तर देने की प्रेरणा दी होगी। अन्य किसी के पास उन संकेतों को समझने के साधन तो नही थे; पर अनुमान अनेकों का यही था कि इसके द्वारा गुरुदेव ने अपनी अतिशय कृपा का द्योतन करने के साथ-साथ भावी के लिए बहुविस्तार का आशीर्वचन भी दिया था।

विस्तार में योग-दान

बीज छोटा होता है, पर उसकी योग्यताएं बहुत बड़ी होती हैं। उसके अपने विकास के साथ-साथ योग्यताओं का भी विस्तार होता रहता है। उस विस्तार में अनेकों का योग-दान होता है। बीज उसे कृतज्ञतापूर्वक ग्रहण करता है और आगे बढ़ता है। आचार्यश्री में व्याप्त बीज-शक्तियों का विकास भी इसी क्रम से हुआ है। वे आज जो कुछ हैं, वैसा बनते अनेक वर्ष लगे हैं। आज भी वे अपने-आपको परिपूर्ण नहीं मानते। वे मानते हैं कि निर्माण की गति कभी रुकनी नहीं चाहिए। मनुष्य को सीखते ही रहना चाहिए। जहाँ उपयोगी वस्तु मिले, उसे निःसंकोच भाव से ग्रहण करते ही रहना चाहिए। उन्होंने अपने बाल्य-जीवन से आज तक अनेकों व्यक्तियों से सीखा है। हरएक का यही क्रम होता है। पहले स्वयं सीखता है, तब फिर सिखाने योग्य बनता है। शिष्य बने बिना कौन गुरु बन पाया है ! हरएक व्यक्ति के ज्ञात तथा अज्ञात अनेक गुरु होते हैं। प्रथम गुरु माता को माना जाता है। शिक्षा का बीज-वपन उसी से प्रारम्भ होता है। उसके अतिरिक्त परिवार के तथा आस-पास के वे सब व्यक्ति कुछ-न-कुछ सिखाने में सहयोगी बनते ही हैं, जिनके कि सम्पर्क में आते रहने का अवसर मिलता है। किसने क्या और कितना सिखाया है, इसका विश्लेषण करना सहज नहीं होता। अतः उनके प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन का यही उपाय हो सकता है कि व्यक्ति सबके प्रति विनम्र रहे। बहुत-से व्यक्तियों के उपकार बहुत स्पष्ट भी होते हैं। उन्हें पृथक् रूप से पहचाना जा सकता है। ऐसे व्यक्तियों के प्रति जो विनम्र तथा भक्ति-संभृत व्यवहार होता है, वही कृतज्ञता का मापदण्ड बन जाता है।

आचार्यश्री आज सहस्र-सहस्र व्यक्तियों को उपकृत कर रहे हैं, परन्तु वे स्वयं भी अनेकों से उपकृत हुए हैं। अपने उपकर्ताओं के विषय में वे अपने कर्तव्य को जानते हैं। उन व्यक्तियों के नाम से ही वे कृतज्ञता से भर उठते हैं।

प्रत्यक्ष उपकारकों में वे अपना सबसे बड़ा उपकारक आचार्यश्री कालूगणी को मानते हैं। इसीलिए वे उनके प्रति सर्वभावेन समर्पित होकर चलते हैं। अपनी हर क्रिया की श्रेयोभिमुखता में वे उन्हीं की आन्तरिक प्रेरणा मानते हैं। उनके उपकारों को वे अनिर्वचनीय मानते हैं। वे आज जो कुछ हैं, वह सब आचार्यश्री कालूगणी की ही देन हैं।

माता वदनाँजी के उपकार को भी वे बहुत महत्त्व देते हैं। उनके द्वारा उप्त धार्मिकता का बीज ही तो आज विकसित होकर शतशाखी बना है। आगम कहते हैं कि पुत्र पर माता का इतना उपकार होता है कि यदि वह आजीवन

उनके मनोनुकूल रहे, सभी शारीरिक सेवाएं करे तो भी वह ऋण-मुक्त नहीं हो सकता। उनको धार्मिकता में नियोजित करे तो ऋण-मुक्त हो सकता है। आचार्यश्री ने वही किया है। पुत्र के द्वारा दीक्षित होने वाली माताएं इतिहास में विरल ही मिल पायेंगी। स्वभाव की ऋजुता, निरभिमानता तथा तपस्या ने उनके संयम को और भी उज्ज्वलता प्रदान की है।

मंत्री मुनिश्री मगनलालजी स्वामी ने भी आपके निर्माण में बहुत महत्त्वपूर्ण योग-दान दिया था। सर्वप्रथम वे आपकी दीक्षा में सहयोगी बने थे। उनकी प्रेरणा ने ही परिवार वालों को इतने शीघ्र आज्ञा देने को तैयार किया था। दीक्षा के पश्चात् भी वे आपके हर विकास को प्रोत्साहन देते रहे थे। युवाचार्य बनने पर वे आपके कर्तव्यों का मार्ग प्रशस्त करते रहे थे। आचार्य बनने के बाद वे आपकी मन्त्रणा के प्रमुख अवलम्बन बनकर रहे थे। आचार्यश्री ने उनके महत्त्वपूर्ण योग-दान को यों प्रकट किया है—"उस सन्धिकाल में, जब पूज्य कालूगणी का स्वर्गवास हुआ था और मैंने छोटी अवस्था में संघ का उत्तरदायित्व संभाला था, यदि वे नहीं होते, तो मुझे न जाने किन-किन कठिनाइयों का अनुभव करना होता!"[1]

वे आचार्यश्री को किस प्रकार सहयोग-दान करते थे, यह भी आचार्यश्री के शब्दों में ही पढ़िये—"एक दिन वे आये और बोले कि आप कभी-कभी मुझे सबके सामने उलाहना दिया करें। मेरा तो उससे कुछ बनता-बिगड़ता नहीं, दूसरों को एक बोध-पाठ मिलेगा।"[2] यह उस समय की बात है जबकि आपने शासन-भार सँभाला ही था। उस समय उपर्युक्त प्रार्थना करने का उनका उद्देश्य यह था कि लघवय आचार्य के व्यक्तित्व की कोई अवहेलना न करने पाये।

मंत्री मुनि के स्वर्गवास होने के समाचार पाकर आचार्यश्री ने कहा था—"वे अतुलनीय व्यक्ति थे। उनकी कमी को पूरा करने वाला कौन साधु है? कोई एक साधु उनकी विशेषताओं को न पा सके तो अनेक साधु मिलकर उनकी विशेषताओं को सँजो लें। उन्हें जाने न दें।"[3]

मुनिश्री चम्पालालजी आचार्यश्री के संसारपक्षीय बड़े भाई हैं। वे उनकी दीक्षा में प्रमुख रूप से प्रेरक रहे थे। दीक्षा के अनन्तर आप उन्हींकी देख-रेख में रहते रहे थे। उनका नियन्त्रण काफी कठोर होता था; पर जो स्वयं अपने नियन्त्रण में रहता हो, उसके लिए दूसरे का नियन्त्रण केवल व्यवहार-मात्र ही होता है। उसे वह कभी भारी नहीं लगा करता। रात्निक तथा बड़े भाई होने के नाते वे सदैव उनका उस समय भी सम्मान करते रहे थे, आज भी करते हैं। स्वभावतः वे मिलनसार हैं, आचार्यश्री अपने निर्माण में उनका भी श्रेयोभाग मानते हैं।

आपके अध्ययन-कार्य में कुछ योग मुनिश्री चौथमलजी का भी रहा था। वे एक सेवा-भावी और कार्य-निष्ठ व्यक्ति थे। भिक्षुशब्दानुशासन महाव्याकरण तथा कालूकौमुदी आदि के निर्माण में उनका जीवन खपा था। तेरापंथ के भावी छात्रों के लिए उनका श्रम वरदान बन गया। वे जो भी कार्य करते, पूरी लगन से करते।

आयुर्वेदाचार्य आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा तेरापंथ में विद्याप्रसार के लिए बहुत बड़े निमित्त बने हैं। इनके पूर्व पण्डित घनश्यामदासजी ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान किया था। उन्होंने अपना सहयोग उस समय प्रदान किया था, जबकि बिना अर्थ-प्राप्ति के इतना प्रयत्न करने वाले मिलने ही कठिन थे। पं० रघुनन्दनजी का महत्त्व इसलिए भी है कि विद्या-विकास का द्वार पूर्णतः उन्हीं के योग से खुला। मुनिश्री चौथमलजी ने भिक्षुशब्दानुशासन का निर्माण किया। इन्होंने उसपर बृहद्वृत्ति लिखकर तेरापंथ के मुनि-समाज को संस्कृत-अध्ययन में स्वावलम्बी बना दिया था। आचार्यश्री को व्याकरण तथा दर्शनशास्त्र के अध्ययन में उन्हीं का योगदान रहा था।

आगम-ज्ञान अर्जन करने में आचार्यश्री के मार्गदर्शक मुनिश्री भीमराजजी तथा मुनिश्री हेमराजजी थे। मुनिश्री भीमराजजी को आगमों का जितना गहरा ज्ञान था, उतना कम ही व्यक्तियों को होता है। वे अनेक सन्तों को आगम का

---

१ जैन भारती, २८ फरवरी, १९६०
२ जैन भारती, २८ फरवरी, १९६०
३ जैन भारती, २८ फरवरी, १९६०

अध्ययन कराते रहते थे। समय के बड़े पक्के थे। निर्णीत समय से पाँच मिनट पहले या पीछे भी उन्हें अखरता था। आगम-रहस्यों की गहराई तक स्वयं उनकी तो अबाध गति थी ही, पर वे अपने छात्रों में भी वैसा ही सामर्थ्य भर देते थे। आचार्यश्री ने उनके पास अनेक आगमों का अध्ययन किया था। वे अपने शेष जीवन तक अपने ही प्रकार से जीये। सेवा लेना उन्होंने प्रायः कभी पसन्द नहीं किया। पराश्रयी होकर जीना, उनके सिद्धान्तवादी मन ने कभी स्वीकार नहीं किया था। आचार्यश्री की दृष्टि में उनके गुण अनुकरणीय तो थे ही, पर साथ ही अनेक गुण ऐसे भी थे, जो अद्वितीय थे।

हेमराजजी स्वामी का आगम-ज्ञान भी बड़ा गहरा था। आगम-मन्थन उन्होंने इतने बड़े पैमाने पर किया था कि साधारणतया उनके तर्कों के सामने टिक पाना कठिन होता था। आचार्यश्री के आगम-ज्ञान को परिपूर्णता की ओर ले जाने में उनका पूरा हाथ था।

आचार्यश्री इन सभी व्यक्तियों के प्रति विशेष रूप से कृतज्ञ रहे हैं। बातचीत के सिलसिले में जब कभी इन व्यक्तियों में से किसी का भी प्रसंग उपस्थित हो जाता है, तब वे बड़े भावुक बनकर इनका वर्णन करते हैं। अपने गुरुजनों और श्रद्धेयों के प्रति उनकी अतिशय कृतज्ञता की यह भावना उनके गौरव को और ऊँचा उठा देती है।

: ३ :

युवाचार्य

उत्तराधिकार-समर्पण

उस वर्ष (सं० १९९३) आचार्यश्री कालूगणी का चातुर्मासिक निवास गंगापुर (मेवाड़) में था। वहाँ पहुँचने से पूर्व ही उनका शरीर रोगाक्रान्त हो गया था। फिर भी वे गंगापुर पहुँचे। शरीर क्रमशः रोगों से अधिकाधिक घिरता गया। बचने की आशाएं धूमिल होने लगीं। ऐसी स्थिति में संघ के भावी अधिकारी का निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक था।

तेरापंथ के विधानानुसार आचार्य अपनी विद्यमानता में ही भावी आचार्य का निर्धारण करते हैं। यह उनका सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण उत्तरदायित्व होता है। यदि वे किसी कारणवश अपने इस उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं कर पाते तो यह उनके कर्तव्य की अपूर्ति तो होती ही है, परन्तु ऐसी स्थिति सारे संघ के लिए भी चिन्ताजनक हो जाती है। आचार्यश्री माणकगणी के समय एक बार ऐसा हो चुका था। उस समस्या को बड़े ही सात्त्विक ढंग से सुलझाकर तेरापंथ एक विकट परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ था। वैसी परिस्थिति का दुहराया जाना किसी को अभीष्ट नहीं था। अतः संघ-हितैषी जन ऐसे समय में विशेष सावधानी बरतते हैं। गुरुदेव का ध्यान इस समस्या की ओर खींचा गया। वे तो स्वयं ही इसके लिए सजग थे। उन्होंने उचित समय पर इस कार्य को सम्पन्न कर देने की घोषणा कर दी।

गुरुदेव ने उसी दिन से आपको एकान्त में बुलाना प्रारम्भ कर दिया। संघ की सारणा-वारणा-सम्बन्धी आवश्यक आदेश-निर्देश दिये। कुछ बातें मुखस्थ कहीं तथा कुछ लिखायीं भी। इतने दिन तक जो बातें केवल संकेत के रूप में ही सामने आती थीं, अब वे स्पष्टता से सामने उभर रही थीं। जन-जन की कल्पनाओं में बना हुआ अव्यक्त चित्र अब व्यवहार के पट पर स्पष्ट रेखाओं के रूप में अभिव्यक्त होने लग रहा था। गुरुदेव जब उन दिनों साधु-साध्वियों को विशेष शिक्षा प्रदान करते समय यह कहते—"किसी समय आचार्य अवस्था में छोटे होते हैं, किसी समय बड़े; फिर भी सबको समान रूप से उनके अनुशासन का पालन करना चाहिए। गुरु जो कुछ करते हैं, वह संघ के हित को ध्यान में रख कर ही करते हैं," तब प्रायः सभी जानने लग गए थे कि गुरुदेव का संकेत क्या है। गुरुदेव उसे छिपाना चाहते भी नहीं थे। नाम की उद्घोषणा नहीं की गई थी, केवल इसीलिए वे उसे बचाना चाहते थे।

विधिवत् उत्तराधिकार-समर्पण करने का कार्य प्रथम भाद्र शुक्ला ३ को सम्पन्न किया गया। प्रातःकाल का समय था। रंग-भवन के हॉल में साधु-साध्वियाँ तथा कुछ श्रावक उपस्थित थे। सारी जनता को वहाँ जाने की छूट नहीं दी जा सकती थी। उस हॉल में तो क्या, विशाल पण्डाल में भी वह नहीं समा सकती थी। लोग बहुत बड़ी संख्या में आये हुए थे। गंगापुर बसने के बाद इतने लोगों का आगमन वहाँ पहले-पहल ही था। जनता में अपार उत्सुकता थी। सब कोई युवाचार्य-पद प्रदान करने के उत्सव में सम्मिलित होना चाहते थे, पर ऐसा सम्भव नहीं था। स्थितिजन्य विवशता थी। रुग्ण होने के कारण गुरुदेव पण्डाल में तो क्या, उस कमरे से बाहर भी नहीं जा सकते थे। हाल में भी अधिक भीड़ का एकत्र होना अभीष्ट नहीं था। इससे उनके स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ने की सम्भावना थी।

अशक्त होते हुए भी कर्तव्य की पुकार के बल पर आचार्यश्री कालूगणी बैठे। युवाचार्य-पद का पत्र लिखा। फूलते हुए साँस, धूजते हुए हाथ और पीड़ा-व्याकुल प्रत्यंग की अवहेलना करते हुए उन्होंने कुछ पंक्तियाँ लिखीं। मोटे-मोटे अक्षर और टेढ़ी-मेढ़ी पंक्तियों वाला वह ऐतिहासिक पत्र कई विश्रामों के बाद पूरा हुआ। उसके बाद आपको युवाचार्य-पद का उत्तरीय धारण कराया गया और पत्र पढ़कर जनता को सुनाया गया। उसमें लिखा था:

"गुरुभ्यो नमः
भिक्षु पाट भारीमल
भारीमल पाट रायचन्द
रायचन्द पाट जीतमल
जीतमल पाट मघराज
मघराज पाट माणकलाल
माणकलाल पाट डालचन्द
डालचन्द पाट कालूराम
कालूराम पाट तुलसीराम।
विनयवंत आज्ञा-मर्यादा प्रमाणे चालसी, सुखी होसी।"

संवत् १९९३ प्रथम भाद्र शु० तृतीया, गुरुवार आचार्यश्री कालूगणी तथा युवाचार्यश्री तुलसी के जयनादों से वातावरण गुंजायमान हो गया। योग्य धर्मनेता को प्राप्त कर सबको गौरवानुभूति हुई। आचार्यश्री कालूगणी तो संघ-प्रबन्ध की चिन्ता से मुक्त हुए ही, परन्तु साथ में सारे संघ को भी निश्चिन्तता का अनुभव हुआ।

अदृष्ट-पूर्व

युवाचार्य के प्रति साधु-साध्वियों के क्या कर्तव्य होते हैं, यह जानने वाले वहाँ बहुत कम ही साधु थे। जयाचार्य के समय आचार्यश्री मघवागणी अनेक वर्षों तक युवाचार्य रहे थे। उसके बाद लगभग पचपन वर्षों में कोई ऐसा अवसर आया ही नहीं। आचार्यश्री माणकगणी को युवाचार्य-पद दिया गया था, पर वह अत्यन्त स्वल्पकालीन था, अतः कर्तव्य-बोध के लिए नगण्य-सा ही समय प्राप्त हुआ था। उसे देखने वालों में भी एक तो स्वयं गुरुदेव तथा दूसरे मंत्रीमुनि; बस, ये दो ही व्यक्ति वहाँ विद्यमान थे। शेष के लिए तो यह पद्धति अदृष्ट-पूर्व ही थी।

पहले-पहल स्वयं गुरुदेव ने ही युवाचार्य के प्रति कर्तव्यों का बोध प्रदान किया। शेष सारी बातें मंत्रीमुनि यथा-समय बतलाते रहे थे। आचार्य के समान ही युवाचार्य के सब काम किये जाते हैं। पद की दृष्टि से भी आचार्य के बाद उन्हीं का स्थान होता है। गुरुदेव ने युवाचार्य के व्यक्तिगत सेवा-कार्यों का भार मुनिश्री दुलीचन्दजी (शार्दूलपुर) को सौंपा। वे अपने उस कार्य को आज भी उसी निष्ठा और लगन से तथा पूर्ण निष्काम और निर्लेप भाव से कर रहे हैं।

अधूरा स्वप्न

आचार्यश्री कालूगणी को अपने स्वास्थ्य की अत्यन्त शोचनीय अवस्था के कारण ही उस समय उत्तराधिकारी की नियुक्ति करनी पड़ी थी, अन्यथा उनका स्वप्न कुछ और ही था। अपने उस अधूरे स्वप्न का अत्यन्त मार्मिक शब्दों में विवेचन करते हुए एक दिन उन्होंने सभी के समक्ष कहा भी था कि युवाचार्य-पद प्रदान करने की मेरी जो योजना थी, वह मेरे मन में ही रह गई। अब उसकी पूर्ति सम्भव नहीं है। जिस कार्य को मैं छोगाँजी (घोर तपस्विनी गुरुदेव की संसार पक्षीया माता) के पास बीदासर पहुँचने के पश्चात् सु-आयोजित ढंग से करने वाला था, वह मुझे यहीं पर बिना किसी विशेष आयोजना के करना पड़ा है। काल के सम्मुख किसी का कोई वश नहीं है।

नये वातावरण में

युवाचार्य बनने के साथ ही आपको नये वातावरण में प्रवेश करना पड़ा। वहाँ सब कुछ नया-ही-नया था। नये सम्मान का भार इतना बढ़ गया था कि आप उससे बचना चाहते थे, परन्तु बच नहीं पा रहे थे। जनता द्वारा अर्पित श्रद्धा और विनय की बाढ़ में आप अपने को घिरा-सा महसूस कर रहे थे। जिन रात्निक साधुओं का आप सम्मान करते रहे थे, अब वे सब आपका सम्मान करने लगे थे। उनके सामने पड़ते ही आपकी आँखें झुक जाती थीं। तेरापंथ संघ की

विनय-पद्धति की एकार्णवता ने आपको अप्रत्याशित रूप से अभिभूत कर लिया था। उन दिनों आप जिधर से भी जाते, मार्ग जनाकीर्ण ही होता। सभी कोई दर्शन करना चाहते, परिचय करना चाहते; कम-से-कम एक बार तृप्त होकर देख लेना तो चाहते ही थे।

जब व्याख्यान देने गये

यों तो व्याख्यान आप कई वर्षों से ही देते आ रहे थे। जनता को रस-प्लावित करने की आप में अपूर्व क्षमता थी; परन्तु उस दिन जब कि युवाचार्य बनने के पश्चात् आप अपना प्रथम व्याख्यान देने गये, तब आपके मानस की स्थिति बड़ी ही विचित्र थी। अब भी आप कभी-कभी अपनी उस मानस-स्थिति का पुनरवलोकन या विश्लेषण करते हैं, तब भाव-विभोर हो जाते हैं।

पण्डाल जनता से खचाखच भरा हुआ था। उसके सामने की ऊँची चौकी पर पट्ट बिछाया गया था। उसी के पास बैठकर पहले मंत्रीमुनि ने जनता को धर्मोपदेश दिया और कुछ देर बाद व्याख्यान देने के लिए आप गये थे। अनेक मुनि साथ थे। मंत्रीमुनि तथा तत्रस्थ जनता ने खड़े होकर युवाचार्योचित अभिवादन किया। आप उसे स्वीकार करते हुए चौकी पर चढ़कर पट्ट के पास आये, किन्तु सहसा ही ठिठककर खड़े रह गए। जनता आपके बैठने की प्रतीक्षा में खड़ी थी, पर आप बैठ नहीं पा रहे थे। सम्भवतः आप सोच रहे थे कि वयोवृद्ध तथा सम्मान्य मंत्री मुनिश्री मगनलालजी के सामने पट्ट पर बैठें तो कैसे! मंत्रीमुनि ने देखा तो बढ़कर आगे आये, प्रार्थना की, ज़ोर दिया और जब उससे भी काम नहीं बना तो हाथों के कोमल तथा भक्ति-संभृत दबाव से आपको उसपर बिठाकर ही रहे। उस समय उस कार्य का प्रतिकार करने की कोई स्थिति आपके पास नहीं थी।

जैसे-तैसे सहमे-सहमे सकुचे-सकुचे आप पट्ट पर बैठ तो गए; परन्तु तब भी व्याख्यान की समस्या तो सामने ही थी। बड़ी निर्भीकता से व्याख्यान देने का सामर्थ्य रखते हुए भी उस दिन प्रायः समूचे व्याख्यान में आपके नेत्र ऊँचे नहीं उठ पाये थे। यह थी नये उत्तरदायित्वों की झिझक, जोकि प्रथम व्याख्यान के अवसर पर सहसा उभर आई थी।

वह प्रथम अवसर की झिझक थी। अन्दर की योग्यता उसमें से भी झाँक-झाँककर बाहर देख रही थी। आपने अपने सामर्थ्य तथा वर्चस्व को वहाँ जितना भी छिपाने का प्रयास किया, वह उतना ही अधिक प्रबलता के साथ उभरकर बाहर आया। शीघ्र ही आपने अपने को उस नये वातावरण के अनुरूप ढाल लिया। झिझक मिट गई।

केवल चार दिन

युवाचार्य-पद प्रदान करने के बाद आचार्यश्री कालूगणी एक प्रकार से चिन्ता-मुक्त हो गए थे। संघ-प्रबन्ध के सारे काम आप करने लग गए थे। कुछ काम तो पहले से ही आपको सौंपे हुए थे, परन्तु अब व्याख्यान, आज्ञा, धारणा आदि भी आपको सँभला दिये गए। आचार्य के सम्मुख युवाचार्य की स्थिति बड़ी सुखद घटना थी, परन्तु उसकी स्थिति अधिक लम्बी नहीं हो सकी। चार दिन बाद ही आचार्यश्री कालूगणी का देहावसान हो गया। युवाचार्य के रूप में हम उन्हें केवल चार दिन ही देख पाये। मन कल्पना करता है कि वे दिन बढ़ पाये होते तो कितना ठीक होता! परन्तु कल्पना को वास्तविकता के संसार में उतर आने का कम ही अवसर मिलता है। इसीलिए सारे संघ ने उन चार दिनों में जो कुछ देखा, पाया, उसी को अपनी स्मृति में सुरक्षित रखकर अपने को कृतकृत्य माना।

: ४ :

तेरापंथ के महान् आचार्य

शासन-सूत्र

तेरापंथ की देन

आचार्यश्री तुलसी एक महान् आचार्य हैं। उनका निर्माण तेरापंथ में हुआ है, अतः उनके माध्यम से आज यदि जन-जन तेरापंथ से परिचित होता हो तो कोई आश्चर्य नहीं। वे तेरापंथ से और तेरापंथ उनसे भिन्न नहीं है। तेरापंथ उनकी शक्ति का स्रोत है और वे तेरापंथ की शक्ति के केन्द्र हैं। यह शक्ति कोई विनाशक या वियोजक शक्ति नहीं है; यह धर्म-शक्ति है जो कि विधायक और संयोजक है। तेरापंथ को पाकर आचार्यश्री अपने को धन्य मानते हैं तो आचार्यश्री को पाकर तेरापंथ गौरवान्वित हुआ है। जो व्यक्ति आचार्यश्री तुलसी को गहराई से जानना चाहेगा, उसे तेरापंथ को और जो तेरापंथ को गहराई से जानना चाहेगा, उसे आचार्यश्री तुलसी को जानना आवश्यक होगा; उन्हें एक-दूसरे से भिन्न करके कभी पूरा नहीं जाना जा सकता। भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री भु० प्र० सिन्हा ने 'तेरापंथ द्विशताब्दी महोत्सव' के अवसर पर अपने वक्तव्य में कहा था, "मेरी समझ में तेरापंथ की सबसे बड़ी देन आचार्यश्री तुलसी हैं; उन्होंने ठीक समय पर सारे देश में नैतिक जागरण का शंख फूंका है।'[1] उनके इस कथन में जहाँ आचार्यश्री के महान् व्यक्तित्व और कर्तृत्व के प्रति आदर-भाव है, वहाँ ऐसे नर-रत्न का निर्माण करने वाले तेरापंथ के प्रति कृतज्ञता भी है। व्यक्ति की तेजस्विता जहाँ उसके आधार को प्रख्यात करती है, वहाँ उसके निर्माण-सामर्थ्य को भी उजागर कर देती है।

समर्पण-भाव

आचार्यश्री तेरापंथ के नवम अधिशास्ता हैं। उनके अनुशासन में रहने वाला शिष्यवर्ग उनके प्रति पूर्ण समर्पण की भावना रखता है। यह अनुशासन न तो किसी प्रकार के बल से थोपा जाता है और न किसी प्रकार की उसमें बाध्यता ही होती है। आचार्यश्री के शब्दों में उसका स्वरूप यह है : "तेरापंथ का विकास अनुशासन और व्यवस्था के आधार पर हुआ है। हमारा क्षेत्र साधना का क्षेत्र है, यहाँ बल-प्रयोग को कोई स्थान नहीं है। जो कुछ होता है, वह हृदय की पूर्ण स्वतन्त्रता से होता है। आचार्य अनुशासन व व्यवस्था देते हैं, समूचा संघ उसका पालन करता है। इसके मध्य में श्रद्धा के अतिरिक्त दूसरी कोई शक्ति नहीं है। श्रद्धा और विनय, ये हमारे जीवन के मन्त्र हैं। आज के भौतिक जगत् में इन दोनों के प्रति तुच्छता का भाव पनप रहा है। वह अकारण भी नहीं है। बड़ों में छोटों के प्रति वात्सल्य नहीं है। बड़े लोग छोटे लोगों को अपने अधीन ही रखना चाहते हैं। इस मानसिक द्वन्द्व में बुद्धिवाद अश्रद्धा और अविनय की ओर मुड़ जाता है। हमारा जगत् आध्यात्मिक है। इसमें छोटे-बड़े का कृत्रिम भेद है ही नहीं। अहिंसा हम सबका धर्म है। उसकी नसों में प्रेम और वात्सल्य के सिवाय और है ही क्या! जहाँ अहिंसा है, वहाँ पराधीनता हो ही नहीं सकती। आचार्य शिष्य को अपने अधीन नहीं रखता; किन्तु शिष्य अपने हित के लिए आचार्य के अधीन रहना चाहता है। यह

---

१ जैन भारती, २४ जुलाई '६०

हमारी स्थिति है।"[1]

अनुशासन और व्यवस्था

अनुशासन और सुव्यवस्था के विषय में तेरापंथ को प्रारम्भ से ही ख्याति उपलब्ध है। उसके विरोधी अन्य बातों के विषय में चाहे कुछ भी कहते हों, परन्तु इन विषयों में तो बहुधा वे तेरापंथ की प्रशंसा ही करते पाये गए हैं। तेरापंथ का लक्ष्य है—चारित्र की विशुद्धि। उसका उद्‌भव इसीलिए हुआ था। अनुशासन और सुव्यवस्था के बिना चारित्र की विशुद्ध आराधना असम्भव होती है। तेरापंथ के प्रतिष्ठाता आचार्यश्री भिक्षु इस रहस्य से सुपरिचित थे। इसीलिए उन्होंने इसकी स्थापना के साथ ही इन गुणों पर विशेष बल दिया। वे सफल भी हुए। अनुशासन और व्यवस्था के विघटन में जिन प्रमुख कारणों को उन्होंने अन्य साधु-संघों में देखा था, तेरापंथ में उन्होंने उनको पनपने ही नहीं दिया। आचार्यश्री ने 'तेरापंथ द्विशताब्दी-महोत्सव' पर अपने मंगल प्रवचन में कहा था, "तेरापंथ की अपनी विशेषता है—आचार का दृढ़तापूर्वक पालन। आचार्यश्री भिक्षु ने हमारे संविधान का उद्देश्य यही बतलाया—"न्याय मार्ग चालण रो नै चारित्र चोखो पालण रो उपाय कीधो छै।"

तेरापंथ का उद्‌भव ही चरित्र की शुद्धि के लिए हुआ है। देश-काल के परिवर्तन के साथ परिवर्तन होता है, इस तथ्य को आचार्य भिक्षु स्वीकार करते थे। पर देश-काल के परिवर्तन के साथ मौलिक आचार का परिवर्तन होना है, यह उन्हें मान्य नहीं हुआ। इस स्वीकृति में ही तेरापंथ के उद्‌भव का रहस्य है। चारित्र की शुद्धि के लिए विचार की शुद्धि और व्यवस्था, ये दोनों स्वयं प्राप्त होते हैं। विचार-शुद्धि का सिद्धान्त आगम-सूत्रों से सहज ही मिला और व्यवस्था का सूत्र मिला देश-काल की परिस्थितियों के अध्ययन से। आचार्य भिक्षु ने देखा, वर्तमान के साधु-शिष्यों के लिए विग्रह करते हैं। उन्होंने शिष्य-परम्परा को समाप्त कर दिया। तेरापंथ का विधान किसी भी साधु को शिष्य बनाने का अधिकार नहीं देता।

आज तेरापंथ के सब साधु-साध्वियाँ इसलिए सन्तुष्ट हैं कि उनके शिष्य-शिष्याएं नहीं हैं।

आज तेरापंथ इसलिए संगठित और सुव्यवस्थित है कि उसमें शिष्य-शाखा का प्रलोभन नहीं है।

आज तेरापंथ इसलिए शक्ति-सम्पन्न और प्रगति के पथ पर है कि वह एक आचार्य के अनुशासन में रहता है, और उसका साधु-वर्ग छोटी-छोटी शाखाओं में बँटा हुआ नहीं है।"[2]

तेरापंथ की व्यवस्था बहुत सुदृढ़ है। इसका कारण यह है कि उसमें, सबके प्रति न्याय हो, यह विशेष ध्यान रखा गया है। आचार्यश्री भिक्षु ने दो सौ वर्ष पूर्व संघ-व्यवस्था के लिए जो सूत्र प्रदान किये थे, वे इतने सुदृढ़ प्रमाणित हुए हैं कि आज के समाजवादी सिद्धान्तों का उन्हें एक मौलिक रूप कहा जा सकता है। आचार्यश्री के शब्दों में वह इस प्रकार है—"आचार्यश्री भिक्षु ने व्यवस्था के लिए जो समता का सूत्र दिया, वह समाजवाद का विस्तृत प्रयोग है। यहाँ सब-के-सब श्रमिक हैं और सब-के-सब पण्डित। हाथ, पैर और मस्तिष्क में अलगाव नहीं है। सामुदायिक कार्यों का संविभाग होता है। सब साधु-साध्वियाँ दीक्षा-क्रम से अपने-अपने विभाग का कार्य करती हैं। खान, पान, स्थान, पात्र आदि सभी उपयोगी वस्तुओं का संविभाग होता है। एक रोटी के चार टुकड़े हो जाते हैं, यदि खाने वाले चार हों तो। एक सेर पानी पाव-पाव कर चार भागों में बँट जाता है, यदि पीने वाले चार हों तो।"[3] यह संविभाग साधु-साध्वियों के जीवन-व्यवहार में आने वाली प्रायः हर वस्तु पर लागू पड़ता है। **'असंविभागी न हु तस्स मोक्खो'**—अर्थात् संविभाग नहीं करने वाला व्यक्ति मोक्ष का अधिकारी नहीं हो सकता—यह आगम-वाक्य तेरापंथ संघ-व्यवस्था के लिए मार्ग-दर्शक बन गया है।

---

१ जैन भारती, २४ जुलाई '६०
२ जैन भारती, २४ जुलाई '६०
३ जैन भारती, २४ जुलाई '६०

समाजवाद का सूत्र यही तो है कि 'एक के लिए सब और सब के लिए एक'; और यह तेरापंथ के लिए बहुलांश में लागू पड़ता है। जननेता श्री जयप्रकाशनारायण जयपुर में जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले, तब तेरापंथ की व्यवस्था को जानकर बड़े आश्चर्यान्वित हुए। उन्होंने कहा, "हम जिस समाजवाद को आज लाना चाहते हैं, वह आपके यहाँ दो शताब्दी पूर्व ही आ चुका है, यह प्रसन्नता की बात है। हम इन्हीं सिद्धान्तों को गृहस्थ जीवन में भी लागू करना चाहते हैं।"

प्रथम वक्तव्य

आचार्यश्री ने तेरापंथ का शासन-भार सं० १९९३ भाद्र-पद शुक्ला नवमी को सँभाला था। उस समय संघ में एक सौ उन्तीस साधु और तीन सौ तेंतीस साध्वियाँ थीं। उनमें से छियत्तर साधु तो आपसे दीक्षा-पर्याय में बड़े थे। छोटी अवस्था, बड़ा संघ और उन सब पर समान अनुशासन की समस्या थी। उस समय भी आचार्यश्री का धैर्य विचलित नहीं हुआ। उन्हें जहाँ अपने सामर्थ्य पर विश्वास था, वहाँ भिक्षुसंघ के साधु-साध्वियों की नीतिमत्ता अनुशासन-प्रियता पर भी कोई कम विश्वास नहीं था। नवमी के मध्याह्न में उन्होंने अपनी नीति के बारे में जो प्रथम वक्तव्य दिया था, उसमें वे दोनों ही विश्वास परिपूर्णता के साथ प्रकट किये गए थे। उस वक्तव्य का कुछ अंश यों है :

"श्रद्धेय आचार्यप्रवर श्री कालूगणी का स्वर्गवास हो गया। इससे मैं स्वयं खिन्न हूँ। साधु-साध्वियाँ भी खिन्न हैं। मृत्यु एक अवश्यम्भावी घटना है, उसे किसी प्रकार टाला नहीं जा सकता। खिन्न होने से क्या बने, इस बात को विस्मृत ही बना देना होता है। इसके सिवाय चित्त को स्थिर करने का दूसरा कोई उपाय नहीं है।

"अपना संघ नीतिप्रधान संघ है। इसमें सभी साधु-साध्वियाँ नीतिमान् हैं, रीति-मर्यादा के अनुसार चलने वाले हैं। इसलिए किसी को कोई विचार करने की ज़रूरत नहीं है। श्रद्धेय गुरुदेव ने मुझे संघ का कार्य-भार सौंपा है। मेरे नन्हें कन्धों पर उन्होंने अगाध विश्वास किया, इसके लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। संघ के साधु-साध्वियाँ बड़े विनीत, अनुशासित और इंगित को समझने वाले हैं; इसलिए मुझे इस गुरुतर भार को ग्रहण करने में तनिक भी संकोच नहीं हुआ। शासन की नियमावली को सब साधु-साध्वियाँ पहले की तरह हृदय से पालन करते रहें। मैं पूर्वाचार्य की तरह ही सबकी अधिक-से-अधिक सहायता करता रहूँगा, ऐसा मेरा दृढ़ संकल्प है। इसके साथ मैं सबको सावधान भी कर देना चाहता हूँ कि मर्यादा की उपेक्षा मैं सहन नहीं करूँगा।

सब तेरापंथ संघ में फलें-फूलें, संयम में दृढ़ रहें; इसी में सबका कल्याण है, संघ की उन्नति है। यह सबका संघ है, इसलिए सभी इसकी उन्नति में प्रयत्नशील रहें।"

बयासी वर्ष के

एक बाईस वर्ष के युवक पर संघ का भार देकर आचार्यश्री कालूगणी ने जिस साहस का काम किया था, आचार्यश्री ने अपने कर्तृत्व से उसमें किसी प्रकार की लांछना नहीं आने दी। वे उस अवस्था में भी एक स्थविर आचार्य की तरह कार्य करने लगे। प्रारम्भ में जो लोग यह आशंका करते कि अवस्था बहुत छोटी है; उन्हें मुनिश्री मगनलालजी कहा करते—कौन कहता है आचार्यश्री की अवस्था छोटी है? आप तो बयासी वर्ष के हैं। वे अपनी बात की पुष्टि इस प्रकार करते थे कि जन्म के वर्षों से ही अवस्था नहीं होती, वह अनुभवों की अपेक्षा से भी हो सकती है। जन्म की अपेक्षा से आप अवश्य बाईस वर्ष के हैं, किन्तु अनुभवों की अपेक्षा से आपकी अवस्था बहुत बड़ी है। आचार्यश्री कालूगणी ने अपनी साठ वर्ष की अवस्था तक जो अनुभव अर्जित किये थे, वे सब उनके द्वारा आपको सहज ही प्राप्त हो गए हैं। अतः अनुभवों की दृष्टि से आप बयासी वर्ष के होते हैं। मन्त्री मुनि के इस कथन ने उस समय के वातावरण में एक प्रगाढ़ता और गौरव ला दिया था।

सुचारु संचालन

तेरापंथ का शासन-सूत्र सँभालते ही आचार्यश्री के सामने सबसे प्रमुख कार्य था, संघ का सुचारु रूप से संचालन। संघ-संचालन का अनुभव एक नवीन आचार्य के लिए होते-होते ही होता है। किन्तु आचार्यश्री ने उसमें सहज ही सफ-

लता पा ली। वे अपने कार्य में पूर्ण जागरूक रहकर बढ़े। अनुशासन करने की कला में यों तो वे पहले से ही निपुण थे, पर अब उसे विस्तार से कार्यरूप देने का अवसर था। उन्होंने अपने प्रथम वर्ष में ही जिस प्रकार से संघ-व्यवस्था को सँभाला, वह श्लाघनीय ही नहीं अनुकरणीय भी था। उन्होंने साधु-संघ के स्नेह को जीत लिया था। जिन व्यक्तियों को यह आशंका थी कि एक बाईस-वर्षीय आचार्य के अनुशासन में संघ के अनेक प्राचीन व विद्वान् मुनि कैसे चल पायेंगे, उनकी वह आशंका शीघ्र ही निर्मूल सिद्ध हो गई।

तेरापंथ में समूचे साधु-संघ के चातुर्मासिक प्रवास तथा शेषकालीन विहरण के क्षेत्रों का निर्धारण एकमात्र आचार्य ही करते हैं। वह कार्य यदि सुव्यवस्था से न हो, तो असन्तोष का कारण बनता है। इसके साथ-साथ प्रत्येक सिंघाड़े की पारस्परिक प्रकृतियों का सन्तुलन भी बिठाना पड़ता है। पिछले वर्ष में किये गए समस्त कार्यों का लेखा-जोखा भी उसी समय लिया जाता है। संघ-उन्नति के विशिष्ट कार्यों की प्रशंसा और खामियों का दोष-निवारण भी एक बहुत बड़ा कार्य है। रुग्ण साधु-साध्वियों की व्यवस्था के लिए विशेष निर्धारण करना पड़ता है। वृद्ध जनों की सेवा और उनकी चित्त-समाधि के प्रश्न को भी प्राथमिकता के आधार पर हल करना होता है। इतना सब-कुछ करने के बाद शेष सिंघाड़ों के लिए आगामी वर्ष का मार्ग-निर्धारण किया जाता है। लेखन-पठन आदि के विषय में भी पूछताछ तथा दिशानिर्देशन करना आचार्य का ही काम होता है। ये सब कार्य गिनाने में जितने लघु हैं, करने में उतने ही बड़े और जटिल हैं। जो आचार्य इन सबमें अत्यन्त जागरूकता के साथ मुनिजनों की श्रद्धा प्राप्त कर सकता है, वही संघ का सुचारु रूप से संचालन कर सकता है। आचार्यश्री ने इन सब कार्यों का व्यवस्थित संचालन ही नहीं किया, अपितु इनमें नये प्राणों का संचारण भी किया।

असाम्प्रदायिक भाव

पर-मत-सहिष्णुता

आचार्यश्री द्वारा किये गए अनेक विकास-कार्यों में प्रमुख और प्रथम है—चिन्तन-विकास। अन्य समाजों के समान तेरापंथ भी एक सीमित दायरे में ही सोचता था। सम्प्रदाय-भावना उसमें भी प्रायः वैसी थी, जैसीकि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में हुआ करती है। आचार्यश्री ने उस चिन्तन को असाम्प्रदायिकता की ओर मोड़ा। 'सम्प्रदाय' शब्द का मूल अर्थ होता है—गुरु-परम्परा। वह कोई बुरी वस्तु नहीं है। वह बुरी तब बनती है, जब असहिष्णुता के भाव आते हैं। वृक्ष का मूल एक होता है, पर शाखाओं, प्रशाखाओं तथा टहनियों के रूप में उसकी अनेकता में भी कोई कमी नहीं होती। फिर भी उनमें कोई असहिष्णुता नहीं होती, अतः वे परस्पर एक-दूसरे की शक्ति और शोभा बढ़ाती हैं। मनुष्य जहाँ भी रहा है, सम्प्रदाय, संगठन, परम्परा आदि बनाकर रहा है। तब आज कैसे कोई सम्प्रदायातीत हो सकता है! अपने सामूहिक जीवन की कोई-न-कोई परम्परा अवश्य ही विरासत में हर व्यक्ति को मिलती है। 'भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय नहीं रहने चाहिए' यह कहने वाले भी तो अपना एक सम्प्रदाय बनाकर ही कहते हैं। आचार्यश्री की दृष्टि में असाम्प्रदायिकता का अर्थ होता है—पर-मत-सहिष्णुता। जब तक मनुष्य में पर-मत-सहिष्णुता रहती रहेगी, तब तक मत-भेद होने पर भी मन-भेद नहीं हो सकेगा। असहिष्णुता ही मन-भेद को मत-भेद में बदलने वाली होती है। जो व्यक्ति प्रत्येक धर्म के प्रति सहिष्णुता के भाव रखता है, वह चाहे फिर किसी भी सम्प्रदाय में रहता हो, असाम्प्रदायिक ही कहा जायेगा।

इस चिन्तन-विकास ने तेरापंथ को वह उदारता प्रदान की है जो कि पहले की अपेक्षा बहुत बड़ी है। इससे सम्प्रदायों के साथ तेरापंथ के सम्बन्ध मधुर हुए हैं। दूरी कम हुई है। आचार्यश्री के प्रति सभी सम्प्रदाय वालों के मन में आदर-भाव बढ़ा है।

वे एक सम्प्रदाय के आचार्य हैं। उसकी सारणा-वारणा करना उनका कर्तव्य है। वे उसे बड़ी उत्तमता से निभाते हैं। फिर भी सम्प्रदाय उनके लिए बन्धन नहीं; साधना-क्षेत्र है। वे एक वृक्ष की तरह हैं, जिसका मूल निश्चित स्थान पर रुपा हुआ होता है, पर उसकी छाया और फल सबके लिए समान रूप से लाभदायक होते हैं।

पाँच सूत्र

आचार्यश्री के चिन्तन तथा कार्यकलापों का रुझान समन्वय की ओर ही रहा है। उन्होंने समय-समय पर सभी सम्प्रदायों से सहिष्णु बनने और परस्पर मैत्री रखने का अनुरोध किया है। इसके लिए उन्होंने एक पंचसूत्री योजना भी प्रस्तुत की थी। सभी सम्प्रदायों के लिए वे सूत्र माननीय हैं—

१. मंडनात्मक नीति बरती जाये। अपनी मान्यता का प्रतिपादन किया जाये। दूसरों पर मौखिक या लिखित आक्षेप न किये जायें।

२. दूसरों के विचारों के प्रति सहिष्णुता रखी जाये।

३. दूसरे सम्प्रदाय और उसके अनुयायियों के प्रति घृणा व तिरस्कार की भावना का प्रचार न किया जाये।

४. कोई सम्प्रदाय-परिवर्तन करे तो उसके साथ सामाजिक बहिष्कार आदि अवांछनीय व्यवहार न किया जाये।

५. धर्म के मौलिक तथ्य अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को जीवन-व्यापी बनाने का सामूहिक प्रयत्न किया जाये।

धर्म-सम्प्रदायों में परस्पर सहिष्णुता का भाव पैदा करना कठिन अवश्य है, परन्तु असम्भव नहीं; क्योंकि उनमें मूलतः ही समन्वय के तत्त्व अधिक और विरोधी तत्त्व कम पाये जाते हैं। यदि विरोधी तत्त्वों की ओर मुख्य लक्ष्य न रहे तो समन्वय बहुत ही सहज हो जाता है। धार्मिकों के लिए यह एक लज्जास्पद बात है कि वे किसी विचार-भेद को आधार मानकर एक दूसरे-पर आक्षेप करें, घृणा फैलायें और असहिष्णु बनें। आचार्यश्री का विश्वास है कि विचारों की असहिष्णुता मिट जाये तो विभिन्न सम्प्रदायों के रहते हुए भी सामंजस्य स्थापित हो सकता है। उनके इन उदार विचारों के आधार पर ही उन्हें एक महत्त्वपूर्ण आचार्य माना जाता है। जनता उन्हें भारत के एक महान् सन्त के रूप में जानने लगी है।

समय नहीं है

आचार्यश्री अपने इन उदार विचारों का केवल दूसरों के लिए ही निर्यात नहीं करते; वे स्वयं इन सिद्धान्तों पर चलते हैं। वे किसी की व्यक्तिगत आलोचना करना तो पसन्द करते ही नहीं; पर किसी की आलोचना सुनना भी उन्हें पसन्द नहीं है। एक बार एक अन्य सम्प्रदाय के साधु ने आचार्यश्री के पास आकर बातचीत के लिए समय माँगा। आचार्यश्री ने उन्हें दूसरे दिन मध्याह्न का समय दे दिया। यथासमय वे आये और बातचीत प्रारम्भ की। वे अपने गुरु के व्यवहारों से असन्तुष्ट थे, अतः उनकी कमियों का व्याख्यान करने लगे। आचार्यश्री यदि उसमें कुछ रस लेते, तो वे तेरापंथ का प्रमुख रूप से विरोध करने वाले एक विशिष्ट आचार्य की कमजोरियों का पता दे सकते थे; परन्तु उन्हें यह अभीष्ट ही नहीं था। उन्होंने उस साधु से कहा, मेरा अनुमान था कि आप कोई तत्त्व-विषयक चर्चा करना चाहते हैं, इसीलिए मैंने समय दिया था। किसी की निन्दा सुनने के लिए मेरे पास कोई समय नहीं है। इस विषय में मैं आपकी कोई सहायता भी नहीं कर सकता। उसी क्षण बातचीत का सिलसिला समाप्त हो गया और आचार्यश्री दूसरे काम में लग गए।

सार्वत्रिक उदारता

उनके उदार विचारों का दूसरा पहलू यह है कि वे हर सम्प्रदाय के व्यक्ति से खुलकर विचार-विमर्श करते हैं। वे इसमें कोई कार्पण्य या संकोच नहीं करते। वे अन्य सम्प्रदायों के धार्मिक स्थानों पर भी निस्संकोच भाव से जाते हैं। जहाँ लोग अन्य सम्प्रदायों के स्थानों में जाना अपना अपमान समझते हैं, वहाँ आचार्यश्री बड़ी रुचि के साथ जाते हैं। वे जानते हैं कि दूर रहकर दूरी को नहीं मिटाया जा सकता; सम्पर्क में आने पर वह दूरी भी मिट जाती है, जिसे कभी न मिटने वाली समझा जाता है। वे अनेक बार दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिरों में जाते रहे हैं। अनेक बार वहाँ उन्होंने प्रार्थनाएं भी की हैं। मूर्ति-पूजा में उन्हें विश्वास नहीं है; पर वे मानते हैं कि जब अन्य सभी स्थानों में भाव-पूजा की जा सकती है तो वह मन्दिर में भी की जा सकती है। आचार्यश्री के ऐसे विचार सभी लोगों को सहजतया आकृष्ट कर लेते

हैं। उनकी यह उदारता इस या उस किसी एक पक्ष को आधार रखकर नहीं होती; किन्तु सार्वत्रिक होती है। वस्तुतः उदार वृत्तियाँ हर प्रकार की मानसिक दूरी को मिटाने वाली होती हैं।

आगरा के स्थानक में

उत्तरप्रदेश की यात्रा में आचार्यश्री आगरा पधारे। धर्मशाला में ठहरना था। मार्ग में जैन-स्थानक आया। वहाँ संसद्-सदस्य सेठ अचलसिंहजी आदि स्थानकवासी सम्प्रदाय के कुछ प्रमुख श्रावकों ने आगे खड़े होकर प्रार्थना की—यहाँ कवि अमरचन्दजी महाराज विराज रहे हैं। आप अन्दर पधारने की कृपा कीजिये। यद्यपि काफी विलम्ब हो चुका था, फिर भी इस समन्वय के क्षण को उन्होंने छोड़ा नहीं। साधुओं-सहित अन्दर पधार गए। इतने में कविजी भी ऊपर से आ गए। वे अच्छे विद्वान् तथा मिलनसार व्यक्ति हैं। स्थानकवासी समाज में अच्छी प्रतिष्ठा है। 'उपाध्यायजी' के नाम से भी प्रसिद्ध हैं। आते ही बड़ी उल्लासपूर्ण मुद्रा में कहने लगे—मैं नहीं जानता था कि आप अन्दर आ जायेंगे। आपकी उदारता स्तुत्य है। परोक्ष में जो बातें सुनी थीं, उससे भी कहीं अधिक महत्ता देखकर मुझे प्रसन्नता हुई है। फिर तो लगभग ढाई बजे तक वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत और विचार-विमर्श में इतना उल्लास रहा कि पहले उसकी कोई कल्पना ही नहीं थी। कई वर्ष पूर्व प्रकाशित उपाध्यायजी की 'अहिंसा-दर्शन' नामक पुस्तक में कई जगह तेरापंथ की आलोचना की गई थी। बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री ने उन स्थलों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करना चाहा। मुनिश्री नथमलजी उन स्थलों को खोजने लगे, पर वे मिले नहीं। उपाध्यायजी ने मुस्कराते हुए कहा—यह दूसरा संस्करण है। इसमें आप जो खोज रहे हैं, वह नहीं मिलेगा। आचार्यश्री की समन्वय-नीति का ही यह प्रभाव कहा जा सकता है कि स्वयं लेखक ने ही अपनी आत्म-प्रेरणा से उन सब आलोचनात्मक स्थलों को अपनी पुस्तक में से हटा दिया था।

वर्णीजी से मिलन

इसी प्रकार एक बार दिगम्बर-समाज के बहुमान्य श्री गणेशप्रसादजी वर्णी के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे थे। पारसनाथ हिल का स्टेशन 'ईसरी' है। वे वहाँ एक आश्रम में रहते थे। आचार्यश्री विहार करते हुए उधर पहुँचे तो आश्रम में भी पधारे। आचार्यश्री की इस उदारता से वर्णीजी बड़े प्रभावित और प्रसन्न हुए। बातचीत के सिलसिले में उन्होंने तेरापंथ के विषय में बड़ी गुणग्राहकता और उदारता-भरी वाणी में कहा—"आपका धर्म-संघ बहुत ही संगठित है। ऐसी अद्वितीय अनुशासनप्रियता अन्य किसी भी धर्म-संघ में दिखाई नहीं देती।" इस प्रकार के स्वल्पकालीन मिलन भी सौहार्द-वृद्धि में बड़े उपयोगी होते हैं। इस मिलन की सारे दिगम्बर-समाज पर एक मूक किन्तु अनुकूल प्रतिक्रिया हुई। ये छोटी-छोटी दिखायी देने वाली बातें ही आचार्यश्री की महत्ता के पट में ताना और बाना बनी हुई हैं।

आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहाँ

बम्बई में मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय के प्रभावशाली तथा सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि के यहाँ भी आचार्यश्री पधारे थे। वहाँ भी बड़े उल्लासमय वातावरण का निर्माण हुआ था। वहाँ के मूर्तिपूजक जैन समाज पर तो गहरा असर हुआ ही था, पर बाहर भी इस मिलन की बहुत अनुकूल प्रतिक्रियाएं हुई।

दरगाह में

आचार्यश्री केवल जैनों के धर्म-स्थानों या जैन धर्माचार्यों के यहीं जाते हों, सो बात नहीं है। वे हर किसी धर्म-स्थान और हर किसी व्यक्ति के यहाँ उसी सहज भाव से जाते हैं, मानो वह उनका अपना ही धर्म-स्थान हो। अजमेर में वे एक बार वहाँ की सुप्रसिद्ध दरगाह की ओर चले गए। वहाँ के संरक्षक ने उन्हें अन्दर जाने से रोक दिया। नंगे सिर वह किसी को अन्दर नहीं जाने देना चाहता था। आचार्यश्री तत्काल वापस मुड़ गए। किसी भी प्रकार की शिकायत की भावना के बिना उनके इस प्रकार वापस मुड़ जाने ने उसको प्रभावित किया। दूसरे ही क्षण उसने सम्मुख आकर कहा,

आप तो स्वयं पहुँचे हुए व्यक्ति हैं, अतः आप पर इन नियमों को लागू करना कोई आवश्यक नहीं है। आप मज़े से अन्दर जाइये और देखिये। जिस सौम्य भाव से वे वापस मुड़े थे, उसी सौम्य भाव से फिर दरगाह की ओर मुड़ गए। अन्दर जाकर उसे देखा और उसके इतिहास की जानकारी ली।

वे गुरुद्वारा, सनातनधर्म मंदिर, आर्यसमाज मंदिर, चर्च आदि में भी इसी प्रकार की निर्बन्धता के साथ जाते रहे हैं। इस व्यवहार ने उनकी समन्वयवादी दृष्टि को बहुत बल दिया है।

श्रावकों का व्यवहार

आचार्यश्री के सहिष्णु और समन्वयी विचारों का अन्य सम्प्रदाय वालों पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। ऐसी स्थिति में स्वयं तेरापंथी समाज पर तो उसका प्रभाव पड़ना ही चाहिए था। वस्तुतः वह पड़ा भी है। कहीं अधिक, तो कहीं कम। प्रायः सर्वत्र वह देखा जा सकता है। तेरापंथ समाज को प्रायः बहुत कट्टर माना जाता रहा है। उसमें एतद्-विषयक परिवर्तन को एक आश्चर्यजनक घटना के रूप में ही लिया जा सकता है। कुछ भी हो, पर इतना निश्चित है कि असहिष्णुता की भावना में कमी और सहिष्णुता की भावना में वृद्धि हुई है।

बम्बई के तेरापंथी भाई मोतीचन्द हीराचन्द झवेरी ने संविग्न-सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध आचार्य विजयवल्लभ सूरि को अपने यहाँ निमन्त्रित किया। चौपाटी के अपने मकान फूलचन्द-निवास में सात दिन उन्हें भक्ति बहुमान सहित ठहराया। तेरापंथ समाज की ओर से उनका सार्वजनिक भाषण भी कराया गया। आचार्यजी ने उस भाषण में बड़े मार्मिक शब्दों में जैन-एकता की आवश्यकता बतलायी।[1] इस घटना के विषय में भाई परमानन्द ने लिखा है, "एक सम्प्रदाय के श्रावक जन अन्य सम्प्रदाय के एक मुख्य आचार्य को बुलायें और वे आचार्य उस निमन्त्रण को स्वीकार कर वहाँ जायें, व्याख्यान दें; ऐसी कोईघटना पहले कभी भाग्य से ही घटित हुई होगी। एकता के इस वातावरण को उत्पन्न करने में तेरापंथी समाज निमित्त बना है, अतः वह धन्यवाद का पात्र है।"[2]

फादर विलियम्स

आचार्यश्री उन दिनों बम्बई में थे। कुछ तेरापंथी भाई वहाँ के इंडियन नेशनल चर्च में गये। पादरी का उपदेश सुना। बातचीत की। उन लोगों के उस आगमन तथा उपदेश-श्रवण का चर्च के सर्वोच्च अधिकारी फादर जे० एम० विलिम्यस पर बड़ा ही रुचिकर प्रभाव पड़ा। उसके मन में यह भावना उठी कि जिसके शिष्य इतने उदार हैं कि उन्हें दूसरे धर्म का उपदेश सुनने में कोई ऐतराज़ नहीं है तो उनका गुरु न जाने कितना महान् होगा ! इसी प्रेरणा ने उनको आचार्यश्री का सम्पर्क कराया। वे किसी गद्दीधारी महन्त की कल्पना करते हुए आये थे; पर वहाँ की सारी स्थितियों को देख-सुनकर पाया कि ईसा के उपदेशों का सच्चा पालन यहीं होता है। वे अत्यन्त प्रभावित हुए। एक धर्म-गुरु होते हुए भी उन्होने अणुव्रत स्वीकार किये। अधिकांश अणुव्रत-अधिवेशनों में वे सम्मिलित होते रहे हैं। आचार्यश्री के प्रति उनकी बड़ी उत्कट निष्ठा है।

साधु-सम्मेलन में

इसी प्रकार के उदारता और सौहार्द-पूर्ण कार्यों की एक घटना बीकानेर चोखले की भी है। भीनासर में एक साधु-सम्मेलन हुआ था। उसमें अखिल भारतीय स्तर पर स्थानकवासी साधु एकत्रित हुए थे। भीनासर अपेक्षाकृत एक छोटा क़स्बा है। उससे बिल्कुल सटा हुआ ही गंगाशहर है। वह उससे कई गुना बड़ा है। वहाँ तेरापंथ के लगभग नौ सौ परिवार रहते हैं। उन्होंने उस सम्मेलन में हर प्रकार का सम्भव सहयोग प्रदान किया था। यह सहयोग केवल भाईचारे

---

१ प्रबुद्ध जीवन, १ मई '५३
२ प्रबुद्ध जीवन, १ मई '५३

के नाते ही था और उससे दोनों समाजों में काफी निकटता का वातावरण बना।

इस सम्मेलन के अध्यक्ष थे बनेचन्द भाई। उनका जब बीकानेर में जुलूस निकाला गया, तब वहाँ के तेरापंथ समाज की ओर से उन्हें माला पहनायी गई तथा सम्मेलन की सफलता के लिए शुभ कामना व्यक्त की गई। इस घटना ने उन लोगों को और भी अधिक प्रभावित किया।

इन सब घटनाओं का अपना एक मूल्य है। ये तेरापंथ के मानस का दिग्दर्शन कराने वाली घटनाएं हैं। इनके पीछे आचार्यश्री के समन्वयवादी विचारों का बल है। तेरापंथ के सभी व्यक्ति आचार्यश्री की इन उदार प्रेरणाओं से अनुप्राणित हो चुके हों, ऐसी बात नहीं है। अनेक व्यक्ति ऐसे भी हैं जो आचार्यश्री के इन समन्वयी तथा उदार कार्यों को सन्देह की दृष्टि से देखते हैं। उनके विचार से आचार्यश्री तेरापंथ को लाभ नहीं, अलाभ ही पहुँचा रहे हैं। उनका कथन है कि ऐसी प्रवृत्तियों से श्रावकों की एकनिष्ठता हटती है। आचार्यश्री उनके विचारों को यह समाधान देते हैं कि तेरापंथ सत्य से अभिन्न है। जहाँ सत्य है, वहाँ तेरापंथ है और जहाँ सत्य नहीं है, वहाँ तेरापंथ भी नहीं है; यह व्याप्ति है। समन्वयवादिता तथा गुणज्ञता आदि गुण अहिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं। अतः वे सत् और आदेय होते हैं। कदाग्रहवादिता और अवगुणग्राहिता आदि दोष हिंसा की भूमिका पर उद्भूत होते हैं, अतः वे असत् और हेय होते हैं। इसीलिए सत्य के प्रति निष्ठा रखना ही तेरापंथ के प्रति निष्ठा रखना है। तेरापंथ के प्रति निष्ठा रखना रहे और सत्य के प्रति निष्ठा न हो तो वह वास्तविक तेरापंथ तक पहुँचा ही नहीं है। सम्प्रदाय के रूप में तेरापंथ एक मार्ग है, उसपर चलकर पूर्णता के लक्ष्य तक पहुँचना है। मार्ग साधन होता है, साध्य नहीं।

चैतन्य-विरोधी प्रतिक्रियाएं

सेतुबन्ध

आचार्यश्री किसी के द्वारा 'नयी चेतना के प्रहरी' क़रार दिये जाते हैं तो किसी के द्वारा 'पुराणपंथी'। वे बिलकुल ग़लत भी नहीं हैं; क्योंकि आचार्यश्री को नवीनता से भी प्यार है और पुराणता से भी। उनकी प्रगति के ये दोनों पैर हैं। एक उठा हुआ, तो दूसरा टिका हुआ। वे दोनों पैर आकाश में उठाकर उड़ना नहीं चाहते, तो दोनों पैर धरती पर टिकाकर रुकना भी नहीं चाहते। वे चलना चाहते हैं, प्रगति करना चाहते हैं, निरन्तर और निर्बाध। उसका क्रम यही हो सकता है कि कुछ गतिशील हो, तो कुछ टिका हुआ भी हो। गति पर स्थिति का और स्थिति पर गति का प्रभाव पड़ता रहे। साधारणतया लोग नयी बात से कतराते हैं और पुरानी से चिमटते हैं। पुरानी के प्रति विश्वास और नयी के प्रति अविश्वास उन्हें ऐसा करने के लिए बाध्य कर देता है। परन्तु आचार्यश्री ऐसे लोगों से सर्वथा पृथक् हैं। वे प्राचीनता की भूमि पर खड़े होकर नवीनता का स्वागत करने में कभी नहीं हिचकिचाते। वस्तुतः वे प्राचीनता और नवीनता को जोड़ने वाला उपादेयता का ऐसा सेतुबन्ध बनाना जानते हैं कि फिर व्यवहार की नदी के परस्पर कभी न मिलने वाले इन दोनों तटों में सहज ही सामंजस्य स्थापित हो जाता है। उनकी इस वृत्ति को स्वयं तेरापंथ समाज के कुछ व्यक्तियों ने सशंक दृष्टि से देखा है। वृद्धों का कथन है कि वे नये-नये कार्य करते रहते हैं। न जाने समाज को कहाँ ले जायेंगे। युवक कहते हैं कि वे पुराणता को साथ लिये चलते हैं। इस प्रकार कोई क्रान्ति नहीं हो सकती। दोनों का साथ-साथ निभाव करने की नीति तुष्टीकरण की नीति होती है। उससे दोनों को ही लाभ नहीं मिल सकता। यों वे दोनों की आलोचनाओं के लक्ष्य बनते रहते हैं। विरोधी विचार रखने वाले अन्य लोगों ने तो उनके दृष्टिकोण पर तरह-तरह के आक्षेप किये ही हैं।

विरोध से भी लाभ

आचार्यश्री विरोध से घबराते नहीं हैं। वे उसे विचार-मन्थन का हेतु मानते हैं। दो पदार्थों की रगड़ से जिस प्रकार ऊष्मा पैदा होती है, उसी प्रकार दो विचारों के संघर्ष में नव-चिन्तन का प्रकाश जगमगा उठता है। विरोध ने

उनके मार्ग में जहाँ बाधाएं उत्पन्न की हैं, वहाँ अनेक बार लाभान्वित भी किया है। जो व्यक्ति विशेषज्ञ है, वे किसी भी प्रकार की चेतना को प्रत्यक्ष सम्पर्क से तो आँकते ही हैं; पर कभी-कभी उसके विरोध में किये जाने वाले प्रचार को देख-सुनकर परोक्ष रूप से भी आँक लेते हैं। मध्यप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल श्री मंगलदास पकवासा बम्बई के समाचार-पत्रों में आचार्यश्री के विरुद्ध किये जाने वाले प्रचार को पढ़कर ही सम्पर्क में आये थे। वे जानना चाहते थे कि जिस व्यक्ति का इतना विरोध हो रहा है, वह वस्तुतः कितना चैतन्य-युक्त होगा। काका कालेलकर भी जब पहले-पहल आचार्यश्री से मिले, तो बतलाया कि मैं तेरापंथ के विरोध में बहुत-कुछ सुनता आ रहा हूँ। मुझे जिज्ञासा हुई कि जहाँ विरोध है, वहाँ अवश्य चैतन्य है। मृत का कभी कोई विरोध नहीं करता।

विरोधी साहित्य-प्रेषण

आचार्यश्री के प्रति विरोध-भाव रखने वालों में अधिकांश ऐसे मिलेंगे जो उनके चैतन्य को—उनके सामर्थ्य को, सहन नहीं कर पा रहे हैं। वे अपनी शक्ति से उस 'सर्वजन-हिताय' बिखरे चैतन्य को बटोरने के बजाय आवृत्त कर देना चाहते हैं। ऐसे व्यक्ति उनके विरुद्ध में नाना प्रकार के अपवाद फैलाते हैं, उनके विरोध में पुस्तकें लिखते तथा छपाते हैं। जहाँ अवसर मिले, वहाँ इस प्रकार का साहित्य भेजकर उनके विरुद्ध वातावरण बनाने का प्रयास करते हैं। परन्तु वे उनके अपराजेय व्यक्तित्व को किसी भी प्रकार आच्छन्न नहीं कर पाये हैं। आज तक उनका व्यक्तित्व जितना निखर चुका है, भविष्य में वह उतना ही नहीं रहेगा; उसमें और निखार आयेगा। उनके चैतन्य का, सामर्थ्य का प्रकाश और जगमगायेगा—यही एकमात्र सम्भावना की जा सकती है। वहाँ कुछ लोग ऐसा सोचते हैं कि इस प्रकार के विरोधी प्रचार से उनके व्यक्तित्व पर रोक लगेगी, तो वे भूल करते हैं। इस प्रकार के कुछ प्रयासों के फलित देख लेने से पता चल सकता है कि उनका यह शस्त्र उल्टा आचार्यश्री के व्यक्तित्व को और अधिक निखारने वाला ही सिद्ध होता रहा है।

ढेर लग गया

सुप्रसिद्ध लेखक भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने एक बार 'हरिजन' में अणुव्रत-आन्दोलन की समालोचना की। फलस्वरूप उनके पास इतना तेरापंथ-विरोधी साहित्य पहुँचा कि वे आश्चर्यचकित रह गए। उन्होंने पत्र द्वारा आचार्यश्री को सूचित किया कि जब से वह समालोचना प्रकाशित हुई है, तब से मेरे पास इतना विरोधी साहित्य आने लगा है कि एक ढेर-का-ढेर लग गया है।

ऐसा होता ही है

इसी प्रकार की घटना उ० न० ढेबरभाई के साथ भी घटी। वे उन दिनों सौराष्ट्र के मुख्य मन्त्री थे। आचार्यश्री बम्बई-यात्रा के मध्य अहमदाबाद पधारे। वहाँ वे पहले-पहल आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उन्होंने आचार्यश्री को सौराष्ट्र आने का निमन्त्रण दिया और कहा कि इस प्रकार के कार्यक्रमों की वहाँ बड़ी आवश्यकता है। आप अपने कार्य-क्रम में सौराष्ट्र-यात्रा को भी अवश्य सम्मिलित करें। वहाँ आपको अनेक रचनात्मक कार्यकर्ता भी उपलब्ध हो सकते हैं। दूसरे दिन वे फिर आये और बातचीत के सिलसिले में अपने उस निमन्त्रण को दुहराते हुए कहा कि आप इसकी स्वीकृति दे दीजिये। आचार्यश्री का आगे का कार्यक्रम निर्धारित हो चुका था। उसमें किसी प्रकार का बड़ा हेर-फेर कर पाना सम्भव नहीं रह गया था अतः वह बात स्वीकृत नहीं हो सकी।

कुछ समय बाद ढेबरभाई कांग्रेस-अध्यक्ष बनकर दिल्ली में रहने लगे। उन दिनों मैं भी दिल्ली में ही था। मिलन हुआ तो बातचीत के सिलसिले में उन्होंने मुझे यह सारी घटना सुनायी और कहा कि जब से मेरे निमन्त्रण देने के समाचार समाचार-पत्रों में प्रकाशित हुए हैं, तभी से मेरे पास आचार्यश्री के विषय में विरोधी साहित्य इतनी मात्रा में पहुँचने लगा है कि मैं चकित रह गया हूँ।

मैने जब यह पूछा कि आप पर उसकी क्या प्रतिक्रिया हुई ? तब वे कहने लगे—मैं सोचता हूँ कि हरएक अच्छे

कार्य के प्रारम्भ में बहुधा ऐसा होता ही है। ऐसा हुए बिना कार्य में चमक नहीं आती।

व्यक्तिगत पत्र

अभी तेरापंथ-द्विशताब्दी के अवसर पर साप्ताहिक तथा दैनिक पत्रों में तेरापंथ, अणुव्रत और आचार्यश्री के विषय में अनेक लेख प्रकाशित हुए। कुछ व्यक्तियों को वे अखरे। उन्होंने सम्पादकों के पास काफी मात्रा में विरोधी साहित्य तथा सम्पादकों को कर्तव्य-बोध देने वाले व्यक्तिगत पत्र भी भेजे। ऐसा ही एक पत्र संयोगवशात् मुझे देखने को मिला। वह 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' के सम्पादक श्री बाँकेबिहारी भटनागर के नाम था। उसमें आचार्यश्री, तेरापंथ तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रश्रय देने की नीति का विरोध किया गया था। परन्तु उसका असर क्या होना था! उस पत्र के कुछ दिन बाद ही स्वयं श्री भटनागरजी का एक लेख 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' में प्रकाशित हुआ, जिसमें आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति एक गहरी श्रद्धा-भावना व्यक्त की गई थी।

ऐसी घटनाएं अनेक हैं और होती ही रहती हैं; पर जो आचार्यश्री के कार्यों से प्रभावित होते हैं, उनकी संख्या के सामने ये नगण्य-सी हैं। जहाँ गति होती है, वहाँ का वायुमण्डल उसका विरोधी बनता ही आया है। गति में जितनी त्वरा होती है, वायुमण्डल भी उतनी ही अधिक तीव्रता से विरोधी बनता है। पर क्या कभी गति की प्राणशक्ति क्षीण हुई है!

समय ही कहाँ है!

आचार्यश्री अपने विरुद्ध किये जाने वाले विरोध या आक्षेपों के प्रति कोई विशेष ध्यान नहीं देते। उनका उत्तर देने की तो तेरापंथ में प्रायः पहले से ही परिपाटी नहीं रही है। यह ठीक भी है। कार्य करने वाले के पास विरोध और झगड़ा करने का समय ही कहाँ रह पाता है! वे इतने कार्य-व्यस्त रहते हैं कि कभी-कभी उन्हें समय की कमी खटकने लगती है। वे कहते हैं कि जो व्यक्ति निठल्ला रहकर या कलह आदि में समय व्यतीत करता है, उसका वह समय मुझे मिल पाता तो कितना अच्छा होता! उनकी कर्मठता और अदम्य शक्ति मानव-जाति के लिए एक नव आशा का संचार करती है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी का निम्नोक्त कथन इसी बात की तो पुष्टि करता है—

"तुलसीजी को देखकर ऐसा लगा कि यहाँ कुछ है। जीवन मूर्च्छित और परास्त नहीं है। उसकी आस्था है और सामर्थ्य है। व्यक्तित्व में सजीवता है और एक विशेष प्रकार की एकाग्रता। यद्यपि हठवादिता नहीं, वातावरण के प्रति उनमें ग्रहणशीलता है और दूसरे व्यक्तियों और सम्प्रदायों के प्रति संवेदनशीलता। एक अपराजेय वृत्ति उनमें पायी, जो परिस्थिति की ओर से अपने में शैथिल्य लेने को तैयार नहीं है; बल्कि अपने आस्था-संकल्प के बल पर उन्हें बदल डालने को तत्पर है। धर्म के परिग्रहहीन आकिञ्चन्य के साथ इस पराक्रम सिंहवृत्ति का योग अधिक नहीं मिलता। साधुता निवृत्त और निष्क्रिय हो जाती है। वही जब प्रवृत्त और सक्रिय हो तो निश्चय ही मन में आशा उत्पन्न होती है।"[1]

मेरी हार मान सकते हैं

कभी उन्हें धार्मिक वाद-विवादों तथा जय-पराजयों में रस रहा हो तो रहा हो; पर अब तो वे इसे पसन्द नहीं करते। वाद-विवाद प्रायः जय-पराजय के भाव उत्पन्न करता है और तत्त्व-चिन्तन के स्थान पर छल, जाति आदि के प्रयोगों की ओर ले जाता है। पुराने युग में शास्त्रार्थों में बड़ा रस लिया जाता था; पर अब उन्हें वैमनस्य बढ़ाने का ही एक प्रकार माना जाने लगा है। इसीलिए वे उसे पसन्द नहीं करते। यथासम्भव ऐसे अवसरों से वे बचना ही चाहते हैं, जिनसे कि विवाद बढ़ने की सम्भावना हो। एक बार कुछ भाई आचार्यश्री से बातचीत करने आये। धीरे-धीरे बातचीत ने विवाद का रूप लेना प्रारम्भ कर दिया। आचार्यश्री ने उसका रुख बदलने के विचार से कहा कि इस विषय में जो

---

१ आचार्य तुलसी, पृ० ग-घ

मेरा विचार है वह मैंने आपको बता दिया है। अब आपको उचित लगे तो उसे मानिये, अन्यथा मत मानिये। वे भाई बातचीत की दृष्टि से उतने नहीं आये थे, जितने कि वाद-विवाद की दृष्टि से। उन्होंने कहा—ऐसा कहकर बात समाप्त करने से तो आपके पक्ष की पराजय ही प्रकट होती है। आचार्यश्री ने सौम्य भाव रखते हुए कहा—आपको यदि ऐसा लगता हो तो आप निश्चितता से मेरी हार मान सकते हैं। मुझे इसमें कोई आपत्ति नहीं है। यह बात किसी ने मुझे सुनायी थी, तब मुझे गांधीजी के जीवन की एक ऐसी ही घटना का स्मरण हो आया। गांधीजी के हरिजन-आन्दोलन के विरुद्ध कुछ पण्डित उनसे शास्त्रार्थ करने आये। उनका कथन था कि वर्णाश्रम धर्म जब शास्त्रसम्मत है, तब हरिजनों को स्पृश्य कैसे माना जा सकता है ? गांधीजी को इस प्रकार के शास्त्रार्थ में कोई रस नहीं था। उन्होंने इस बात को वहीं समाप्त कर देने के भाव से कहा—मैं शास्त्रार्थ किये बिना ही अपनी पराजय स्वीकार करता हूँ। पर हरिजनों के विषय में मेरे जो विचार हैं, वे ही मुझे सत्य लगते हैं। गांधीजी ने बड़े सहज भाव से हार मान ली, तब उन लोगों के पास आगे कुछ कहने को शेष नहीं रह गया था। वे जब उठकर जाने लगे तो गांधीजी ने कहा—हरिजन फण्ड में कुछ चन्दा तो देते जाइये। उन्होंने चन्दा लिया और अपने काम में लगे। विवाद से बचकर काम में लगे रहने की मनोवृत्ति का यह एक ज्वलन्त उदाहरण कहा जा सकता है।

कार्य ही उत्तर है

तेरापंथ की प्रारम्भ से ही यह पद्धति रही है कि निम्नस्तरीय आलोचनाओं तथा विरोधों का कोई उत्तर नहीं दिया जाना चाहिए। विरोध से विरोध का उपशमन नहीं हो सकता। उससे तो उसमें और अधिक तेजी आती है। विरोधों का असली उत्तर है—कार्य। सब प्रश्न और सब तर्क-वितर्क कार्य में आकर समाहित हो जाते हैं। आचार्यश्री इस सिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। जब दूसरे आलोचना में समय बरबाद करते होते हैं, तब आचार्यश्री कोई-न-कोई कार्य-निष्पादन करते होते हैं। किसी के विरोध का उसी प्रकार के विरोध-भाव से उत्तर देने में वे अपना तनिक भी समय लगाना नहीं चाहते।

बम्बई में आचार्यश्री का चातुर्मास था। उस समय कुछ विरोधी लोग समाचार-पत्रों में उनके विरुद्ध धुंआधार प्रचार कर रहे थे। पत्र उनके अपने थे। प्रेरणाएं किनकी थीं, यह कहने से अधिक जानना ही अच्छा है। कहना ही हो तो उसका साधारणीकरण यों किया जा सकता है—दूसरों की भी हो सकती हैं और उनकी अपनी भी। सभी पत्र वैसे नहीं थे। फिर भी कुछ विशेष पत्रों में जब लगातार किसी के विरुद्ध प्रचार होता रहे तो दूसरे पत्र भी उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रहते। या तो वे उसी राग में अलापने लगते हैं या फिर उसकी सत्यता की गवेषणा में लगते हैं। वहीं के एक पत्र 'बम्बई-समाचार' के प्रतिनिधि श्री त्रिवेदी प्रतिदिन के उन विरोधी समाचारों से प्रभावित हुए और आचार्यश्री के पास आये। बातचीत की तो पाया कि जो विरोधी प्रचार किया जा रहा है, वह विद्वेष-प्रेरित है। उन्होंने बड़े आश्चर्य के साथ आचार्यश्री से पूछा कि जब इतना विरोधी प्रचार हो रहा है, तब आप उसका उत्तर क्यों नहीं देते ?

आचार्यश्री ने कहा—हम यहां जो काम कर रहे हैं, वही उसका उत्तर है। विरोध का उत्तर विरोध से देने में हमें कोई विश्वास नहीं है। वस्तुतः आचार्यश्री अपने सारे चैतन्य को—सामार्थ्य को, कार्य में खपा देना चाहते हैं। उसका एक कण भी वे निरर्थक बातों में अपव्यय करना नहीं चाहते। विरोध है और रहेगा; कार्य भी है और रहेगा। परन्तु विरोध के जीवन से कार्य का जीवन बहुत बड़ा होता है। अतः शेष में विरोध मर जायेगा और कार्य रह जायेगा। तब उनके अपराजेय चैतन्य की विजय सबकी समझ में आयेगी। उससे पूर्व किसी के आयेगी और किसी के नहीं।

सर्वांगीण विकास

भगीरथ प्रयत्न

संघ के सर्वांगीण विकास के सम्बन्ध में भी आचार्यश्री ने बहुत बड़ा कार्य किया है। उनके शासन में तेरापंथ

ने नयी करवट ली है। युग-चेतना की गंगा को संघ में बहाने के लिए उन्होंने भगीरथ बनकर तपस्या की है। अब भी कर रहे हैं। उनका कार्य अवश्य ही बहुत बड़ा तथा श्रम-साध्य है, पर लाभ भी उतनी ही बड़ी मात्रा में है। जिन्होंने प्रारम्भ में उनकी इस तपस्या का मूल्य नहीं आँका था, वे आज आँकने लगे हैं। जो आज भी नहीं आँक पाये हैं, वे उसे कल अवश्य आँकेंगे। आचार्यश्री के प्रयासों ने तेरापंथ का ही नहीं, अपितु सारे जैन-समाज और सारे धर्म-समाज का मस्तक ऊँचा किया है।

तेरापंथ का व्याख्या-विकास

जैन धर्म भारतवर्ष का प्राचीनतम धर्म है। किसी समय में इसका प्रभाव सारे भारत में व्याप्त था, परन्तु अब वह ग्रीष्मकालीन नदी की तरह सिकुड़ता और सूखता चला जा रहा है। पता नहीं, कौन-सा वर्षाकाल उसे फिर से वेग और पूर्णता प्रदान करेगा। इस समय तो वह अनेक शाखाओं में विभक्त है। मुख्य शाखाएं दो हैं—दिगम्बर और श्वेताम्बर। श्वेताम्बर शाखा के तीन विभाग हैं—संवेगी, स्थानकवासी और तेरापंथ। इन सब में तेरापंथ अपेक्षाकृत नया है। सं० २०१७ की आषाढ़ी पूर्णिमा को इसकी आयु दो सौ वर्ष की सम्पन्न हुई है। तीसरी शती का यह प्रथम वर्ष चल रहा है। एक धर्म-संघ के लिए दो सौ वर्ष कोई लम्बा समय नहीं होता। तेरापंथ की प्रथम शती तो बहुलांश में संघर्ष प्रधान ही रही। हर क्षेत्र में उसे प्रबल संघर्षों में से गुजरना पड़ा। प्रगति के हर क़दम पर उसे बाधाओं का सामना करना पड़ा। द्वितीय शती के दो चतुर्थांशों में साधारण गति ही होती रही। उसमें कोई विलक्षणता, प्रवाह या वेग नहीं था। तृतीय चतुर्थांश में प्रविष्ट होते ही उसमें कुछ विलक्षणताएं कुलबुलाने लगीं। प्रवाह और वेग भी दृग्-गोचर होने लगे, हालाँकि वे उस समय बहुत ही प्रारम्भिक अवस्था में थे। अन्तिम चतुर्थांश वस्तुत: प्रगति का काल कहा जा सकता है। यह पूरा-का-पूरा काल आचार्यश्री के नेतृत्व में बीता है। वे उसका सर्वांगीण विकास करने में जुटे हुए हैं।

आचार्यश्री ने तेरापंथ की व्याख्या में भी एक नया विकास किया है। स्वामीजी ने तेरापंथ की व्याख्या की थी—हे प्रभो! तेरा पंथ। आचार्यश्री ने उसे विकसित करते हुए कहा—हे मनुष्य! तेरा पंथ। दोनों वाक्यों का सम्मिलित अर्थ यों किया जा सकता है कि जो प्रभु का पंथ है, वही मनुष्य का भी पंथ है। प्रभु को पंथ की आवश्यकता नहीं है वह तो मनुष्य के लिए ही उपयोगी हो सकता है। मनुष्य और प्रभु मार्ग के दो छोरों पर हैं। एक छोर मंज़िल का प्रारम्भ है, तो दूसरा उसकी पूर्णता। प्रभु पूर्ण है, मनुष्य को पूर्ण होना है, मंजिल तय करने के लिए चलना है। मार्ग चलने वाले के लिए ही उपयोगी है। पहुँच जाने वाले के लिए किसी समय उपयोगी रहा हो, पर अब उसके लिए उसकी आवश्यकता नहीं है। स्वामीजी की व्याख्या में धर्म की स्थिति विश्लिष्ट हुई है और आचार्यश्री की व्याख्या में गति। स्थिति और गति, दोनों ही परस्पर सापेक्ष भाव हैं। कोरी गति या कोरी स्थिति की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आचार्यश्री ने अपने एक कविता पद में उपर्युक्त दोनों अर्थों का समावेश इस तरह किया है :

हे प्रभो! यह तेरा पंथ,
मानव मानव का यह पंथ।
जो बनें इसके पथिक,
सच्चे पथिक कहलायेंगे।

युग-धर्म के रूप में

बहुत वर्षों तक तेरापंथ का परिचय प्रायः राजस्थन से ही रहा था। इससे बाहर जाना एक विदेश-यात्रा के समान ही गिना जाता था। राजस्थान में भी कुछ निश्चित तबके के लोगों तक ही इसका दायरा सीमित रहा था। उस समय जन-साधारण में तेरापंथ को जानने वाले व्यक्ति नगण्य ही कहे जा सकते थे। आचार्यश्री के विचारों में उसके प्रसार की योजनाएं थीं। उनका मन्तव्य है कि निस्सीम धर्म को किन्हीं सीमाओं में जकड़ कर रखना ग़लत है। वह हर व्यक्ति का है, जो करे उसी का है। उन्होंने 'अमर गान' में अपने इन विचारों को यों गूँथा है:

व्यक्ति-व्यक्ति में धर्म समाया,
जाति-पाँति का भेद मिटाया।
निर्धन-धनिक न अन्तर पाया,
जिसने धारा जन्म सुधारा।

आचार्यश्री ने केवल यह कहा ही नहीं, किया भी है। वे ग्रामीण किसानों से लेकर शहरी व्यापारियों तक और हरिजनों से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक में धर्म के संस्कार भरने का काम करते रहे हैं। उनकी दृष्टि में धर्म आत्म-शुद्धि का साधन है। अहिंसा, सत्य आदि उसके भेद हैं। यही तेरापंथ है। आचार्य भिक्षु ने धर्म का जो सूक्ष्मतापूर्ण विवेचन प्रस्तुत किया तथा हिंसा और अहिंसा की जिन सीमा-रेखाओं को निर्भीकता और स्पष्टता से प्रस्तुत किया, उसका महत्त्व उस युग में उतना नहीं आँका जा सका, जितना कि आज आँका जा रहा है। स्वामीजी के वे विवेचित तथ्य आचार्यश्री की भाषा पाकर युग-धर्म के रूप में परिणत हो रहे हैं। हिंसा और अहिंसा की सूक्ष्मतापूर्ण विवेचना से प्रभावित होकर भारत के सर्वोच्च न्यायाधीश श्री भु० प्र० सिन्हा ने कहा, "उनका (आचार्य भिक्षु का) यह मन्तव्य मुझे बहुत ही अच्छा लगा कि हिंसा में यदि धर्म हो तो जल-मन्थन से घृत निकल आये। वे व्यापक अहिंसा के उपासक थे। उन्होंने उपासना में और सिद्धान्त में अहिंसा को कहीं खण्डित नहीं होने दिया। बहुत बार लोग अहिंसा को तोड़-मरोड़कर परिस्थितियों के साथ उसकी संगति बिठाते हैं, पर यह ठीक नहीं। अहिंसा एक शाश्वत सिद्धान्त और आदर्श है। यदि हम उस तक नहीं पहुँच पा रहे हैं तो हमें अपनी दुर्बलता को समझना चाहिए। हिंसा और अहिंसा का कोई तादात्म्य नहीं हो सकता। आचार्य भिक्षु का यह कथन बहुत यथार्थ है—पूर्व और पश्चिम की ओर जा नेवाले दो मार्गों की तरह हिंसा और अहिंसा कभी मिल नहीं सकतीं।"[1]

विरोध और उत्तर का स्तर

तेरापंथ के मन्तव्यों को लेकर प्रारम्भ से ही काफी ऊहा-पोह रहा है। उनकी गहराई को बहुत छिछलेपन से लिया गया और मजाक उड़ाया गया। जैन धर्म के महान् सिद्धान्त 'स्याद्वाद' को शंकराचार्य और धर्मकीर्ति-जैसे उद्भट विद्वानों ने जैसे अपने व्यंग्यों का विषय बनाया और कहा कि स्याद्वाद के सिद्धान्त को मान लिया जाये, तो यह सिद्ध होगा कि 'ऊँट ऊँट भी है और दही भी'। परन्तु भोजन के समय दही खाने की इच्छा होती है तब क्या कोई ऊँट को दही मानकर खाने लगता है ? ऐसी ही कुछ बिना सिर-पैर के उल्टे-सीधे तर्कों के आधार पर तेरापंथ के मन्तव्यों पर भी व्यंग किये जाते रहे हैं। विरोधियों को तेरापंथ के विरुद्ध प्रचार करने का अवसर तो उन्हें अबाध गति से मिलता रहा है; क्योंकि किसी भी प्रकार के विरोध का उत्तर देने की परम्परा तेरापंथ में नहीं रही। फलस्वरूप तेरापंथ के मन्तव्यों को विकृत रूप से प्रस्तुत करनेवाला साहित्य जनता और विद्वानों तक प्रचुर मात्रा में पहुँचता रहा, परन्तु उनके गलत तर्कों का समाधान करने वाला साहित्य बिल्कुल नहीं पहुँच पाया। इस वास्तविकता से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि उत्तर देने की आवश्यकता न होने के कारण ऐसा कोई वर्तमान-योग्य साहित्य लिखा भी नहीं गया। फल यह हुआ कि उन मन्तव्यों के प्रति धारणा बनाने का साधन विरोधी साहित्य ही बनता रहा। यह स्थिति आचार्यश्री जैसे क्रान्तदर्शी मनीषी कैसे सहन कर सकते थे ! उनके विचारों में मन्थन होने लगा कि विरोध का उत्तर दिये बिना किसी को सत्य का कैसे पता लग पायेगा ! आलोचना को सर्वथा उपेक्षा की दृष्टि से देखना क्या उचित है ? इस विचार-मन्थन में से जो नवनीत के रूप में निर्णय उभरा, वह यह था कि उच्चस्तरीय आलोचनाओं का उत्तर उसी स्तर पर देना चाहिए। उससे विवाद बढ़ने के बजाय तत्त्व-बोध होने की ही अधिक सम्भावना है। **"वादे वादे जायते तत्त्वबोधः"** यह बात इसी आशय को पुष्ट करने वाली है। इस निर्णय के पश्चात् उन अनेक आलोचनाओं के उत्तर दिये जाने लगे जो कि द्वेषमूलक न होकर तत्त्व-चिन्तामूलक होती थीं। इसका जो फल आया, उससे यही अनुभव किया गया कि यह सर्वथा लाभप्रद चरणन्यास था।

१ जैन भारती, २४ जुलाई '६० (तेरापंथ-द्विशताब्दी पर प्रदत्त वक्तव्य)।

निरूपण-शैली का विकास

आचार्यश्री ने तेरापंथ के मन्तव्यों को नवीन निरूपण-शैली के द्वारा विद्वज्जन-भोग्य बनाने का प्रयास किया। उन्होंने साधु-समाज को एतद्-विषयक लेखने की प्रेरणा और दिशा दी। साहित्य के माध्यम से जब उन मन्तव्यों की दार्शनिक पृष्ठभूमि जनता तक पहुंची, तो उसका स्वागत हुआ। फलतः आलोचनाओं का स्तर ऊँचा उठा।

निरूपण-शैली की नवीनता ने जहाँ अनेक व्यक्तियों को तत्त्व-लाभ दिया, वहाँ कुछ व्यक्ति उस दृष्टिकोण को यथार्थता से नहीं आँक सके। उन्होंने आचार्यश्री पर यह आरोप लगाया कि वे आचार्यश्री भिक्षु के विचारों को बदल कर जनता के सामने रख रहे हैं। सिद्धान्तों का यथावत् प्रतिपादन करने में उन्हें भय लगने लगा है। परन्तु ये सब निर्मूल बातें हैं। ऐसे अनेक अवसर आये हैं, जहाँ आचार्यश्री ने विद्वत्-सभाओं में तेरापंथ के मन्तव्यों का बड़ी स्पष्टता के साथ निरूपण किया है। वे यह मानते हैं कि तत्त्व को किसी के भी सामने यथार्थ रूप में ही निरूपित करना चाहिए, उसे छिपाना बहुत बड़ी कायरता है। परन्तु वे यह भी मानते हैं कि तत्त्व-निरूपण में जितनी निर्भीकता की आवश्यकता है, उससे कहीं अधिक विवेक की आवश्यकता है।

संस्कृत-साधना

जैनाचार्य भाषा के विषय में बड़े उदार रहे हैं। वे जब जिस स्थान पर रहे, तब वहीं की भाषा को उन्होंने अपनी भाषा बनाया और उसके साहित्य-भण्डार को भरा। जनता तक पहुँचने तथा उस तक अपने विचार पहुँचाने का इससे अधिक और कोई उत्तम प्रकार नहीं हो सकता। उन्होंने भारत के प्रायः हर प्रान्त के साहित्यार्जन में अपना योग-दान दिया है। अर्ध-मागधी, अपभ्रंश, गुजराती, महाराष्ट्री, तेलगू, तमिल, कन्नड़ आदि भाषाओं में तो उन्होंने इतना लिखा है कि वे भाषाएं जैनाचार्यों के उपकार से ऋण-मुक्त नहीं हो सकतीं। क्षेत्रीय भाषाओं में तो उन्होंने लिखा ही; परन्तु जब संस्कृत का प्रभाव बढ़ा तब उसमें भी वे पीछे नहीं रहे। प्रायः हर विषय पर उन्होंने अधिकारी ग्रन्थ लिखे। वह एक प्रवाह था। खूब बहा, बहता रहा; पर पीछे धीरे-धीरे मन्द होने लगा। कई सम्प्रदायों में तो उसके रुकने की-सी स्थिति आ गई। प्रान्तीय भाषाओं का पल्लवन अवश्य सुचारु रूप से होता रहा।

तेरापंथ का प्रवर्तन ऐसे समय में हुआ, जबकि संस्कृत का कोई वातावरण नहीं था। आगमों का अध्ययन खूब चलता था; पर संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा एक प्रकार से विच्छिन्न थी। इसीलिए तेरापंथ की प्रथम शती केवल राज स्थानी-साहित्य को ही माध्यम बनाकर चलती रही थी। यह उचित भी था; क्योंकि स्वामीजी का विहार-क्षेत्र राजस्थान था। यहाँ की जनता को प्रतिबोध देना उसका लक्ष्य था। दूसरी भाषा यहाँ इतनी सफलता नहीं पा सकती थी।

लगभग सौ वर्ष पश्चात् जयाचार्य ने तेरापंथ में संस्कृत का बीज-वपन किया। एक संस्कृत-विद्यार्थी को उन्होंने अपना मार्ग-दर्शक बनाया। ब्राह्मण विद्वान् जैनों को विद्या देना नहीं चाहते थे। उनकी दृष्टि में वह साँप को दूध पिलाने जसा था। उनके शिष्य श्री मघवागणी ने उस अध्ययन-परम्परा को ज़रा आगे बढ़ाया; परन्तु वह पनप नहीं सकी और उनके साथ ही विलीन हो गई।

सप्तमाचार्य श्री डालगणी के समय बीदासर के जागीरदार ठाकुर हुकमसिंहजी ने उनके पास एक श्लोक भेजा और अर्थ पूछा। परन्तु उनकी जिज्ञासा को कोई भी साधु तृप्ति नहीं दे सका। यह स्थिति भावी आचार्यश्री कालूगणी को बहुत चुभी। उन्होंने अपने मन-ही-मन व्याकरण पढ़ने का संकल्प किया। चाह को भी राह मिली; पण्डित घनश्यामदासजी ने सहयोग दिया। आचार्यपद का उत्तरदायित्व सँभालने के बाद भी एक बालक की तरह अहनिशि रटते रहकर उन्होंने संस्कृत का अध्ययन किया। एक संकल्प पूरा हुआ; पर उनके सामने शिष्यवर्ग के अध्ययन की समस्या खड़ी थी। पण्डित घनश्यामदासजी रूप-पण्डित थे; प्रयोग का कोई अभ्यास नहीं था। आचार्यश्री कालूगणी का प्रयोग-पाण्डित्य उनकी अपनी संकल्प-शक्ति का परिणाम ही अधिक था।

दूसरे पण्डित मिले रघुनन्दनजी शर्मा। वे आयुर्वेदाचार्य और आशुकविरत्न थे। उनके विनीत और सरल सहयोग

ने कई साधुओं को व्याकरण में पारंगत बना दिया। फलस्वरूप मुनिश्री चौथमलजी द्वारा महाव्याकरण का निर्माण हुआ। उसकी बृहद्वृत्ति स्वयं पं० रघुनन्दनजी ने लिखी। धीरे-धीरे उसके अन्य अंगोपांग भी बना लिये गए। इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से आत्म-निर्भर तो अवश्य बन गए, पर विषय-विस्तार नहीं हो सका। साहित्य-निर्माण की शक्ति कुछ स्तोत्र बनाने तक ही सीमित रही।

आचार्यश्री तुलसी के मुनि-जीवन के ग्यारह वर्ष व्याकरण-ज्ञान की गलियों में घूमते ही बीते थे। आज जो कुछ उनके पास है, वह तो सब बाद का ही अर्जन है। यह अवश्य है कि क्रमिक विकास चालू था। आचार्यश्री ने अपने विद्यार्थी-काल में दर्शनशास्त्र के अध्ययन का बीज-वपन कर दिया था, पर वह पल्लवित तो आचार्य बनने के बाद ही हो सका।

आचार्यश्री के पास पढ़ने वाले हम विद्यार्थी मुमुक्षुओं को व्याकरण-अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाओं का विशेष सामना नहीं करना पड़ा। उसमें आत्म-निर्भरता तो आ ही गई थी, साथ ही क्रम-निर्धारण भी हो गया था; परन्तु हम लोगों को दर्शन के जंगल में बिल्कुल बिना मार्ग के चलना पड़ा था। संयोग ही कहना चाहिए कि उसमें भटकते-भटकते जब सहज ही बाहर आये तो अपने को मंज़िल के पास ही पाया। हम लोगों के बाद के विद्यार्थियों को अन्य अनेक असुविधाएं या बाधाएं भले ही देखनी पड़ी हों, परन्तु अध्ययन-सम्बन्धी असुविधाएं प्रायः समाप्त ही हो गई थीं।

तेरापंथ में संस्कृत भाषा के विकास की यह संक्षिप्त-सी रूपरेखा है। इसकी गति को त्वरा प्रदान करने में आचार्यश्री का ही श्रेयोभाग अधिक रहा है। आपकी दीक्षा से पूर्व वह गति बहुत मन्द थी। दीक्षा के बाद कुछ त्वरा आयी। उसमें आपका प्रयास भी साथ था। आचार्य बनने के बाद उसमें पूर्ण त्वरा भरने का श्रेय तो पूर्णतः आपको ही दिया जा सकता है। आपने अपने बुद्धि कौशल से न केवल अपने शिष्यवर्ग को संस्कृत भाषा का ही अधिकारी विद्वान् बनाया है, अपितु उसके प्रत्येक क्षेत्र का अधिकारी विद्वान् बनाने में प्रयत्न चालू रखा है। इससे दर्शन तथा साहित्य-विषयक निर्माण को बहुत प्रोत्साहन मिला। स्वयं आचार्यश्री ने तथा उनके शिष्य-वर्ग ने अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण कर संस्कृत-वाङ्मय की अर्चना की है और कर रहे हैं।

हिन्दी में प्रवेश

भारत गणतन्त्र की राजभाषा हिन्दी स्वीकृत की गई है। इससे इस भाषा के महत्त्व में किसी को आशंका नहीं हो सकती। स्वतन्त्रता से पूर्व भी भारत में हिन्दी का बहुत महत्त्व रहा है। यह भाषा सारे राष्ट्र को एक कड़ी में जोड़ने वाली रही है। विदेशी सरकार ने यद्यपि इसके विकास में अनेक बाधाएं उत्पन्न कर दीं, जो कि अब तक भी बाधक बनी हुई हैं, फिर भी उसका अपना सामर्थ्य इतना है कि वह पराजित नहीं हो सकती। हिन्दी का अपना साहित्य है। उसका बहुत लम्बा-चौड़ा विस्तार है। पर तेरापंथ में हिन्दी भाषा का प्रवेश कोई अधिक पुरानी घटना नहीं है।

तेरापंथ का विहार-क्षेत्र इतने वर्षों तक मुख्यतः राजस्थान ही रहता रहा है। पहले यहाँ प्रायः देशी रियासतों का ही बोलबाला था। लोगों की अपनी-अपनी अच्छी-बुरी अनेक धारणाएं थीं। प्रायः सर्वत्र राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा का ही प्रचलन था। अतः हिन्दी बोलना अहं का सूचक समझा जाता था।

एक बार सुजानगढ़ में हिन्दी भाषा के विषय में कोई प्रकरण चल पड़ा। शुभकरणजी दशाणी भी वहीं थे। उन्होंने आचार्यश्री से पूछा कि सन्तों में क्या कोई हिन्दी-निबन्धादि लिख सकते हैं? आचार्यश्री ने हम तीनों सहपाठियों (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मैं) की ओर देखकर कहा—क्या उत्तर देते हो? हम तीनों ने उत्तर में जब स्वीकृतिमूलक सिर हिलाया तो आचार्यश्री को आश्चर्य ही हुआ। शुभकरणजी ने वहाँ यह बात खोलने के लिए ही चलाई थी; अन्यथा उन्हें पता था कि हम लिखते हैं। वस्तुतः हम तीनों उन दिनों हिन्दी में कुछ-न-कुछ लिखते रहते थे, पर यह सब गुप्त ही था। उस दिन की उस स्वीकृति ने ही उस रहस्य को प्रकट किया था। आचार्यश्री से कुछ प्रेरणामूलक विचार पाकर हमें भी सुखद आश्चर्य हुआ। उसी दिन से वह लेखन-कार्य प्रच्छन्नता से हट कर प्रकट रूप में आ गया। हम लोगों ने कोई हिन्दी की अलग शिक्षा ग्रहण नहीं की थी, सीधे संस्कृत से ही उसमें आये थे; परन्तु हिन्दी की पुस्तकें पढ़ते रहने के कारण वह अपने-आप ही हृदयंगम हो गई थी।

धीरे-धीरे अनेक साधु हिन्दी के अच्छे विद्वान् तथा लेखक बन गए। अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन हिन्दी में किया गया। स्वयं आचार्यश्री ने हिन्दी में अनेक रचनाएं की हैं। तेरापंथ में हिन्दी को बड़ी त्वरता से अपनाया गया और विकसित किया गया। जैनागमों के हिन्दी-अनुवाद की घोषणा भी आचार्यश्री कर चुके हैं। कार्य बड़े वेग से आगे बढ़ रहा है। अनेक साधु अनुवाद के कार्य में लगे हुए हैं। कई आगमों का अनुवाद हो भी चुका है।

भाषण-शक्ति का विकास

सं० १९९४ में आचार्यश्री अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर करने के पश्चात् शीतकाल में भीनासर पधारे। उन दिनों हम लोग स्तोत्र-रचना कर रहे थे। पंडित रघुनन्दनजी वहाँ आये हुए थे। हमने उनको अपने-अपने श्लोक सुनाये। उन्होंने सायंकालीन प्रतिक्रमण के बाद आचार्यश्री के सम्मुख स्तोत्र-रचना की बात रख दी। आचार्यश्री ने हम सबसे श्लोक सुने और प्रोत्साहन दिया। साथ ही एक दूसरी दिशा की ओर भी हमारा ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा—मैंने अनुभव किया है कि अब तक संस्कृत-पठन के बाद श्लोक-रचना की ओर तो सन्तों की सहज प्रवृत्ति होती रही है, पर भाषण-शक्ति के विकास की ओर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। तुम लोग इस तरफ भी अपनी शक्ति लगाओ। हम सबको आचार्यश्री के इस दिशा-निर्देश से बड़ी प्रेरणा मिली। बात आगे बढ़ी और अभ्यास-वृद्धि के मार्गों का निश्चय किया गया। पंडितजी भी उस विचार-विमर्श में सहायक थे। समय-समय पर वाद-विवाद प्रतियोगिता तथा भाषण-प्रतियोगिता करते रहने का सुझाव आया। संस्कृतज्ञ सन्तों को बुलाकर आचार्यश्री ने प्रतियोगिता में भाग लेने की प्रेरणा दी और अगले दिन से उसे प्रारम्भ करने की घोषणा की। योजनापूर्वक भाषण-पद्धति को विकसित करने का यह प्रथम प्रयास था। इससे पूर्व कोई अपनी प्रेरणा से अभ्यास करता तो कर लेता, पर उससे बोलने की झिझक नहीं मिटती। सामुदायिक रूप से सबके सम्मुख भाषण करने से जो अभ्यास होता है, उसकी अपनी विशेषता ही अलग होती है।

शीतकाल का समय था। बाहर से साधु-वर्ग आया आ था। संस्कृत-भाषण का नवीन कार्य प्रारम्भ होने जा रहा था। सभी की आँखों से उल्लास झाँक रहा था। किसी के मन में बोलने को उत्सुकता थी; तो किसी के मन में सुनने की। आचार्यश्री ने समवयस्कता और समयोग्यता के आधार पर दो-दो व्यक्तियों के कई समूह बना दिये और उन्हें एक-एक विषय दे दिया। इस क्रम से वह प्रथम वाद-विवाद प्रतियोगिता प्रारम्भ हुई। आचार्यश्री को सन्तों के सामर्थ्य को तौलने का अवसर तो प्रायः मिलता ही रहता है, पर इससे जन-साधारण को भी सबके सामर्थ्य से परिचित होने का मौका मिला।

भाषण-शक्ति के विकास के लिए वह प्रकार अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ। उससे विद्यार्थी-वर्ग में आत्म-विश्वास का जागरण हुआ। उसके बाद हम लोग स्वतः अभ्यास में भी अधिक तीव्रता से प्रवृत्त हुए। प्रभात-काल में गाँव-बाहर जाते, वहाँ अकेले ही खड़े-खड़े वक्तव्य दिया करते। समय-समय पर आचार्यश्री के समक्ष प्रतियोगिताएं होती रहतीं। उनसे हमारी गति में अधिक त्वरा आती रहती।

शीतकाल में संस्कृतज्ञ साधुओं की जितनी संख्या होती, उतनी बाद में नहीं रह सकती थी; अतः बड़े पैमाने पर ऐसी प्रतियोगिताएं प्रायः शीतकाल में ही हुआ करतीं। कई बार ऐसी प्रतियोगिताएं अनेक दिनों तक चलती रहतीं। एक बार छापर में वाद-विवाद प्रतियोगिता हुई थी तथा एक बार आड़सर में भाषण-प्रतियोगिता। वे दोनों ही काफी लम्बे समय तक चलती रही थीं। धीरे-धीरे वक्तव्य कला में अनेक नवोन्मेष होते रहे। अनेक व्यक्तियों ने धाराप्रवाह भाषण देने की योग्यता प्राप्त की। आड़सर से प्रारम्भ हुई प्रतियोगिता में मुनिश्री नथमलजी पुरस्कार-भाग् रहे।

एक बार आचार्यश्री सरसा में थे। सायंकालीन प्रतिक्रमण के पश्चात् सन्तों को बुलाया और संस्कृत-भाषण के लिए कहा। यह घोषणा भी की कि 'त्रिवेणी' (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी तथा मैं) के अतिरिक्त अन्य कोई साधु यदि भाषण में कोई विशेष योग्यता दिखायेगा तो उसे पुरस्कार दिया जायेगा। अनेक सन्तों के भाषण हुए। उसमें मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' तथा मुनि बच्छराजजी ने वह उद्घोषित पुरस्कार प्राप्त किया। वे दोनों ही एकाक्षर-प्रधान संस्कृत बोले थे।

संस्कृत के समान ही हिन्दी में भी भाषण-कला के विकास की आवश्यकता थी, अतः कभी-कभी हिन्दी-भाषणों का कार्यक्रम भी रखा जाता रहा है। कभी-कभी ये भाषण भाषा की दृष्टि के स्थान पर विषय की दृष्टि को प्रधानता देकर भी होते रहे हैं। कभी-कभी विचार-गोष्ठियों का आयोजन किया जाता रहा है। उसमें किसी एक विद्वान् साधु का साहित्य, दर्शन आदि किसी भी निर्णीत विषय पर वक्तव्य रखा जाता और भाषण के पश्चात् उसी विषय पर प्रश्नोत्तर चलते। एक बार सं० २००८ के मर्यादा-महोत्सव पर उस वर्ष की विचारगोष्ठियों के भाषण तथा प्रश्नोत्तर 'विचारोदय' नाम से हस्तलिखित पुस्तक के रूप में संकलित भी किये गए थे। वक्तव्य-कला के विकासार्थ इस प्रकार के अनेक उपक्रम होते रहे हैं। हर नवीन उपक्रम एक नवीन शक्ति का वरदान लेकर आता रहा है और आचार्यश्री की प्रेरणाओं के बल पर संघ ने हर बार उसे प्राप्त किया है।

कहानियाँ और निबन्ध

वक्तव्य-कला के साथ-साथ लेखन-कला की वृद्धि करना भी आवश्यक था। आचार्यश्री का चिन्तन हर क्षेत्र में विकास करने के संकल्प को लेकर चल रहा था। हम सब उस चिन्तन के प्रयोग-क्षेत्र बने हुए थे। आचार्यश्री ने हम सब को मार्ग-दर्शन देते हुए कहा—तुम लोगों को प्रतिमास संस्कृत में एक कहानी लिखनी चाहिए। प्रत्येक महीने की सुदी ६ का दिन निश्चित कर दिया गया। इस बार कौन-सी कहानी लिखनी है, यह उस दिन बता दिया जाता और हम सम्भवतः चार दिन के अन्दर-अन्दर लिखकर वह आचार्यश्री को भेंट कर देते। अनेक महीनों तक यह क्रम चलता रहा। इससे हमारा अभ्यास बढ़ा, चिन्तन बढ़ा और शब्द-प्रयोग का सामर्थ्य बढ़ा।

कथा लिखने का सामर्थ्य हो जाने पर हमारे लिए प्रतिमास एक निबन्ध लिखना अनिवार्य कर दिया गया। यह क्रम भी अनेक महीनों तक चलता रहा। कई बार निबन्ध-प्रतियोगिताएं भी की गई। अशुद्धियाँ निकालने के लिए पहले तो हम एक-दूसरे की कथाओं तथा निबन्धों का निरीक्षण करते; पर बाद में कई बार गोष्ठी के रूप में सब सम्मिलित बैठकर भी बारी-बारी से अपना निबन्ध पढ़कर सुनाते और एक-दूसरे की अशुद्धियाँ निकालते। संस्कृत भाषा के अभ्यास में यह क्रम हमारे लिए बहुत ही परिणामकारी सिद्ध हुआ।

समस्या-पूर्ति

समस्या-पूर्ति का क्रम आचार्यश्री कालूगणी के युग में ही चालू हो चुका था। अनेक सन्तों ने कल्याण-मन्दिर तथा भक्तामर स्तोत्रों के विभिन्न पदों को लेकर समस्या-पूर्ति की थी। स्वयं आचार्यश्री ने भी आचार्यश्री कालूगणी की स्तुति-रूप में कल्याण-मंदिर की समस्या-पूर्ति की थी। हम लोगों के लिए आचार्यश्री ने उस क्रम को पुनरुज्जीवित किया। परन्तु वह उसी रूप में न होकर अन्य रूप में था। किसी काव्य आदि में से लेकर तथा नवीन बना कर कुछ पद दिये जाते और एक निश्चित अवधि में उनकी पूर्ति करायी जाती। शीतकाल में बाहर से भी मुनिजन आ जाते, तब यह कार्यक्रम रखा जाता। फिर वे श्लोक सभा में सुनाये जाते। बड़ा उत्साह रहा करता।

इस प्रकार संस्कृत में भाषण, लेखन और कविता-निर्माण आदि अनेक प्रवृत्तियाँ चलती रहती थीं। अनेक बार ऐसे सप्ताह मनाये जाते थे, जिनमें यह प्रतिज्ञा रहती थी कि संस्कृतज्ञों के साथ साधारणतया संस्कृत में ही बोला जाये। उस समय का सारा वातावरण संस्कृतमय ही रहा करता था।

'जयज्योति'

सं० २००५ के फाल्गुन में 'जयज्योति' नामक हस्तलिखित मासिक पत्रिका निकाली गई। इसका नामकरण जयाचार्य की स्मृति में किया गया था। इसमें संस्कृत और हिन्दी; दोनों भाषाओं के ही लेख आदि निकलते थे। इसका सम्पादन मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' किया करते थे। इसके अतिरिक्त कुछ समय तक 'प्रयास' नामक पत्र भी निकाला गया था। वह प्रायः नवीन विद्यार्थियों की उपयोगिता की दृष्टि से निकलता था।

एकाह्निक शतक

पण्डित रघुनन्दनजी शर्मा जब पहले-पहल आचार्यश्री कालूगणी के सम्पर्क में आये थे, तब उन्हें जैन साधुओं का आचार-व्यवहार बतलाया गया था। जो कुछ उन्होंने वहाँ सुना, उसे घर जाकर कुछ ही घण्टों में संस्कृत के सौ श्लोकों में आबद्ध कर दिया। उनकी वह कृति 'साधु-शतक' के नाम से प्रसिद्ध है। हम लोगों के विचारों में वह शतक घूमने लगा। हम भी एक दिन में शतक बनाने की सोचने लगे। पाँखें खुलते ही पंछी उड़ने को आतुर हो जाता है। वही स्थिति हमारी कल्पनाओं की थी।

सं० २००० के फाल्गुन में आचार्यश्री भीनासर में थे। वहाँ मुनिश्री नथमलजी और मुनिश्री नगराजजी ने एकाह्निक शतक बनाये। मैं आचार्यश्री कालूगणी के दिवंगत होने की मूल तिथि के दिन ही उनकी स्मृति में शतक बनाना चाहता था, अतः भाद्रपद शुक्ला ६ तक मुझे रुकना पड़ा। जब वह तिथि आयी, तब मैंने भी एकाह्निक शतक बनाया। आचार्यश्री ने हम सबको पुरस्कृत किया। फिर और भी अनेक सन्तों ने शतक लिखे।

हम से अगली पीढ़ी के विद्यार्थियों ने उस कार्य को और भी बढ़ाया। मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने एक दिन में पंचशती (पाँच सौ श्लोकों) की रचना की। कई वर्ष बाद मुनि राकेशकुमारजी ने एक हजार श्लोक बनाये और उनके बाद मुनि गुलाबचन्दजी ने ग्यारह सौ।

आशुकवित्व

सं० २००४ के मिगसर महीने में आचार्यश्री राजलदेसर में थे। वहाँ मुनिश्री नथमलजी और मैंने आचार्यश्री के सान्निध्य में जनता के सम्मुख आशुकविता की। इस क्षेत्र में भी पंडित रघुनन्दनजी का आशुकवित्व ही हमारी प्रेरणा का सूत्र बना था। मुनिश्री नगराजजी तृतीय और मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' चतुर्थ आशुकवि हुए। उसके बाद अनेक सन्तों ने भी आशुकवित्व का अभ्यास किया। आचार्यश्री के शुभ आशीर्वादों और प्रेरणाओं ने इस क्षेत्र में मुनिजनों को जो सफलता प्रदान की है, वह विद्वन्-समाज में संघ के गौरव को बहुत ऊँचा करने वाली सिद्ध हुई है।

अवधान

अवधान-विद्या स्मरण-शक्ति और मन की एकाग्रता का एक चामत्कारिक रूप है। जैनों में यह विद्या दीर्घ-काल से प्रचलित रही है। नन्द के महामन्त्री शकडाल की सातों पुत्रियों की चामत्कारिक स्मरण-शक्ति का वर्णन ग्रन्थों में मिलता है। उपाध्याय यशोविजयजी सहस्रावधानी थे। श्रीमद्रायचन्द भी अवधान-विद्या में निपुण थे। इस प्रकार के अनेक व्यक्तियों के नाम तो प्रायः बहुत समय से सुनते आये थे, परन्तु उसका प्रत्यक्ष रूप सं० १९९६ में बीदासर में देखने को मिला। गुजराती भाई धीरजलाल टोकरसीशाह वहाँ आचार्यश्री के दर्शन करने आये थे। वे शतावधानी थे। उन्होने आचार्यश्री के सामने अवधान प्रस्तुत किये। आचार्यश्री उनकी इस शक्ति से प्रभावित हुए। तेरापंथ संघ में भी इस शक्ति का प्रवेश हो, ऐसा उनके मन में संकल्प हुआ। कालान्तर में मुनिश्री धनराजजी (सरसा) का चातुर्मास बम्बई में हुआ। वहीं धीरजलाल भाई ने उनको यह विद्या सिखायी। उन्होंने वहाँ विधिवत् सौ अवधानों का प्रयोग कर इस क्षेत्र में पहल की। आचार्यश्री का संकल्प मूर्त बन गया।

मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अवधान-विद्या को भारत-विश्रुत ही नहीं, परन्तु उससे भी अधिक प्रसिद्ध कर दिया। दिल्ली में किये गए उनके प्रयोग अत्यन्त प्रभावक रहे। पत्रों में उनकी बहुत चर्चाएं हुईं। स्वयं राष्ट्रपति इस विषय में जिज्ञासु हुए और राष्ट्रपति-भवन में यह प्रयोग करने के लिए उन्हें आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति-भवन की ओर से ही यह कार्य-क्रम रखा गया था। राजधानी के अनेकानेक उच्चतम व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया। राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डा० एम० राधाकृष्णन्, प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू आदि उसमें प्रश्नकर्त्ता के रूप में उपस्थित थे। अवधानकार ने आसन जमाया और प्रश्न सुनने के लिए बैठ गए। निर्धारित प्रश्नों

की समाप्ति के बाद जब उन्होंने एक-से-एक क्लिष्ट उन सभी प्रश्नों को यथावत् दुहरा दिया और उनका उत्तर भी दे दिया तो उपस्थित जन आश्चर्यचकित रह गए। एक अन्य समारोह में गृहमंत्री श्री गोविन्दवल्लभ पन्त ने तो यहाँ तक कहा था कि यह तो कोई दैवी चमत्कार ही हो सकता है। मुनिश्री नगराजजी ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए उन्हें बतलाया कि दैवी चमत्कार नाम की इसमें कोई वस्तु नहीं है, यह केवल साधना और एकाग्रता का ही चमत्कार है।

मुनि महेन्द्रकुमारजी के प्रयोगों और उस विषय में हुई हलचलों ने अवधान की ओर सबका ध्यान आकृष्ट कर दिया। अनेक मुनियों ने इसका अभ्यास किया। अनेक नवोन्मेष भी हुए। मुनि राजकर्णजी ने पाँच सौ, मुनि चम्पालालजी (सरदार शहर) और मुनि धर्मचन्दजी ने एक हज़ार तथा मुनि श्रीचन्दजी ने डेढ़ हज़ार अवधान किये।

इस प्रकार प्रत्येक क्षेत्र में आचार्यश्री ने विकास के बीज बोये हैं। कुछ अंकुरित हुए हैं, कुछ पुष्पित, तो कुछ फलित भी। वे प्रेरणा के अखण्ड स्रोत हैं। उन्होंने अपने शिष्य-वर्ग को सत्-प्रेरणाओं से अनुप्राणित कर सदैव आगे बढ़ने का साहस प्रदान किया है। उन्होंने न केवल अपना ही, अपितु सारे संघ का सर्वांगीण विकास किया है। हतोत्साह को उत्साहित करने और निराश को आशान्वित करने का उन्हें अद्वितीय कौशल प्राप्त है।

अध्यापन-कौशल

कार्य-भार और कार्य-वेग

अध्ययन-कार्य से अध्यापन-कार्य कहीं अधिक कठिन होता है। अध्ययन करने में स्वयं के लिए स्वयं को खपाना पड़ता है; जब कि अध्यापन में पर के लिए अपने को खपाना होता है। अध्यापक को अपनी शक्ति पर भी नियन्त्रण रखना आवश्यक होता है। उसमें रबड़-जैसी संक्षेप-विस्तार की योग्यता होनी आवश्यक है। अपने ज्ञान और अपनी व्याख्या-शक्ति को हर क्षण विद्यार्थियों की योग्यता के अनुसार घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत करना पड़ता है। इन जैसी और भी अनगिनत कठिनाइयाँ इस मार्ग में रहा करती हैं। फिर भी किसी-किसी की उदात्त भावनाएं इस कठिन कार्य को भी सहज बनाने तथा सहज मानकर चलने के लिए आगे आती हैं। आचार्यश्री उन्हीं उदात्त भावनाओं वाले व्यक्ति हैं।

आप में क्रिया-जन्य अध्यापन-कुशलता से कहीं अधिक वह संस्कार-जन्य प्रतीत होती है। बहुत से लोग तो अध्यापक बनते हैं, पर वे अध्यापक हैं। बनने की बात तो तब आती है जबकि होने की बात गौण रह जाती है। वे तेरापंथ के एकमात्र शास्ता हैं। संघ की व्यवस्था, संरक्षा और विकास का सारा उत्तरदायित्व उन्हीं पर है। अपने अनु-यायियों के धार्मिक संस्कारों का पल्लवन और परिष्करण उनका अपना कार्य है। इन सब कार्यों के साथ-साथ वे जन-साधारण में आध्यात्मिक जागृति और नैतिक उच्चता की स्थापना करना चाहते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन उनके इन्हीं विचारों का मूर्त रूप है। जनता के नैतिक अधोगमन को रोकने का दुर्वह भार जब से उन्होंने अपने ऊपर लिया है, तब से उनकी व्यस्तता और बढ़ गई है। परन्तु साथ ही कार्य-सम्पादन का वेग भी बढ़ गया है, अतः वह व्यस्तता उन्हें अस्त-व्यस्त नहीं कर पाती। उनके कार्य-भार को उनका कार्य-वेग सँभाले रहता है। तभी तो वे अपने अनेक कार्यों का सम्यक् सम्पादन करते हुए भी कुछ समय अध्यापन-कार्य के लिए निकाल ही लेते हैं। इस कार्य को वे परोपकार की दृष्टि से नहीं, अपितु कर्तव्य की दृष्टि से करते रहे हैं।

जब वे स्वयं छात्र थे और निरन्तर अध्ययन-रत रहा करते थे, तब भी अनेक शैक्ष साधु उनकी देख-रेख में अध्ययन किया करते थे। छात्रों पर अनुशासन करना उन्हें उस समय भी खूब आता था। पर उनका वह अनुशासन कठोर नहीं, मृदु होता था। वे अपने छात्रों को कभी विशेष उलाहना नहीं दिया करते थे, डाँट-डपट करने पर तो उन्हें विश्वास ही नहीं था। फिर भी शैक्ष साधुओं को वे इतना नियन्त्रण में रख लेते थे कि कोई भी कार्य बिना पूछे नहीं हो पाता था। यह सब इसलिए था कि उनमें आत्मीयता की एक ऐसी आकर्षण शक्ति थी कि उसमे बाहर जाने का किसी छात्र को साहस ही नहीं होता था। उन दिनों आप अपने विद्यार्थी-साधुओं के खान-पान, सोने-बैठने से लेकर छोटे-से-छोटे कार्य को

भी सुव्यवस्थित रखा पाने की चिन्ता रखते थे। विद्यार्थी-साधु भी उन्हें केवल अपना अध्यापक ही नहीं, किन्तु संरक्षक तथा माता-पिता, सब कुछ मानते थे। शैक्ष साधुओं को कहीं इधर-उधर भटकने न देना, परस्पर बातों में समय-व्यय न करने देना, एक के बाद एक काम में उनका मन लगाये रखना, अपनी संयत वृत्तियों के प्रत्यक्ष उदाहरण से उनकी वृत्तियों को संयतता की ओर प्रेरित करते रहना; इन सबको आप अध्यापन-कार्य का ही अंग मानते रहे हैं।

अपना ही काम है

अपने अध्ययन-कार्य में जैसी उनकी तत्परता थी, वैसी ही शैक्ष साधुओं के अध्यापन-कार्य में भी थी। उस कार्य को भी वे सदा अपना ही कार्य समझ कर किया करते थे। दूसरों को अपनाने की और दूसरों को अपना स्वत्व सौंपने की उनमें भारी क्षमता थी। इसीलिए दूसरे भी आपको अपना मानते और निश्चिन्त भाव से अपना स्वत्व सौंप दिया करते थे। साधु-समुदाय में विद्या का अधिक-से-अधिक प्रसार हो, यह आचार्यश्री कालूगणी का दृष्टिकोण था। उसी को अपना ध्येय बनाकर वे चलने लगे थे। मुनिश्री चम्पालालजी (आपके संसारपक्षीय बड़े भाई) कई बार आपको टोकते हुए कहते—तू दूसरों ही दूसरों पर इतना समय लगाता है; अपनी भी कोई चिन्ता है तुझे ?

इसके उत्तर में आप कहते—दूसरे कौन ? यह भी तो अपना ही काम है। उस समय के इस उदारतापूर्ण उत्तर के प्रकाश में जब हम वर्तमान को देखते है तो लगता है कि सचमुच में वे उस समय अपना ही काम कर रहे थे। उस समय जिस प्रगति की नींव उन्होंने डाली थी, वही तो आज प्रतिफलित होकर सामने आ रही है। समस्त संघ की सामूहिक प्रगति आज उनकी व्यक्तिगत प्रगति बन गई है।

तुलसी डरै सो ऊबरै

जिन विद्यार्थियों को उनके सान्निध्य में रह कर विद्यार्जन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, उनमें से एक मैं भी हूँ। हम छात्रों में उनके प्रति जितना स्नेह था, उतना ही भय भी था। वे हमारे लिए जितने कोमल रहा करते थे, उतने ही कठोर भी। उनके व्यक्तित्व के प्रति हमारी बाल-कल्पनाओं का कोई अन्त नहीं था। एक बार मैं और मेरे सहपाठी मुनिश्री नथमलजी आचार्यश्री कालूगणी की सेवा में बैठे थे। उन्होंने हमें एक दोहा कंठस्थ कराया—

हर डर गुरु डर गाम डर, डर करणी में सार।
तुलसी डरै सो ऊबरै, गाफिल खावै मार॥

इसके तीसरे पद का अर्थ हमने अपनी बाल-सुलभ कल्पना के अनुसार उस समय यही समझा था कि भगवान्, गुरु, जनता और अपनी क्रिया के प्रति भय रखना आवश्यक है, उतना ही 'तुलसी' से डरना भी आवश्यक है। उस समय हमारी कल्पना में यह 'तुलसी' नाम किसी कवि का नहीं, किन्तु अपने अध्यापक का ही नाम था, जिनसे कि हम डरते थे। हम समझे थे कि आचार्यदेव हमें बता रहे हैं : तुलसी से डरते रहना ही तुम्हारे लिए ठीक है।

उस समय तो यह तर्क नहीं उठ सका कि उनसे भय खाना क्यों ठीक है; पर आज उसी स्थिति का स्मरण करते हुए जब उस बाल-सुलभ अर्थ पर ध्यान देने लगता हूँ, तब मन कहता है कि वह अर्थ ठीक था। जिस विद्यार्थी में अपने अध्यापक के प्रति भय न होकर कोरा स्नेह ही होता है, वह अनुशासन-हीन बन जाता है। इसी तरह जिसमें स्नेह न होकर कोरा भय ही होता है, वह श्रद्धा-हीन बन जाता है। सफलता उन दोनों के सम्मिलन में है। हम लोगों में उनके प्रति स्नेह से उद्भूत भय था। हमारे लिए उनकी कमान-जैसी तनी हुई वक्रीभूत भौंहों का भय कितना सुरक्षा का हेतु था, यह उन दिनों नहीं समझते थे, उतना आज समझ रहे हैं।

उत्साह-दान

विद्यार्थियों का अध्ययन में उत्साह बनाये रखना भी अध्यापक की एक कुशलता होती है। एक शैक्ष के लिए

उचित अवसर पर दिया गया उत्साह-दान जीवन-दान के समान ही मूल्यवान् होता है। अपनी अध्यापक-अवस्था में आचार्यश्री ने अनेकों में उत्साह जागृत किया था तथा अनेकों के उत्साह को बढ़ाया था। मैं इसके लिए अपनी ही बाल्यावस्था का एक उदाहरण देना चाहूँगा। जब हमने नाममाला कंठस्थ करनी प्रारम्भ की, तब कुछ दिन तक दो श्लोक कंठस्थ करना भी भारी लगता था। मूल बात यह थी कि संस्कृत के कठिन उच्चारण और नीरस पदों ने हमको उबा दिया था। उन्होंने हमारी अन्यमनस्कता को तत्काल भाँप लिया और आगे से प्रतिदिन आध घंटा तक हमें अपने साथ उसके श्लोक रटाने लगे, साथ ही अर्थ बताने लगे। उसका प्रभाव यह हुआ कि हमारे लिए कठिन पड़ने वाले उच्चारण सहज हो गए, नीरसता में भी कमी लगने लगी। थोड़े दिनों बाद हम उसी नाममाला के छत्तीस-छत्तीस श्लोक कण्ठस्थ करने लग गए। मैं मानता हूँ कि यह उनकी कुशलता से ही सम्भव हो सका था; अन्यथा हम उस अध्ययन को कभी का छोड़ चुके होते।

जो अध्यापक अपने विद्यार्थियों की दुविधा को समझता है और उसे दूर करने का मार्ग खोजता है, वह अवश्य ही अपने शिष्यों की श्रद्धा का पात्र बनता है। उनकी प्रियता के जहाँ और अनेक कारण थे, वहाँ यह सबसे अधिक बड़ा कारण था। आज भी उनकी प्रकृति में यह बात देखी जा सकती है। विद्यार्थियों की अध्ययन-गत असुविधाओं को मिटाने में आज भी वे उतना ही रस लेते हैं। इतना अन्तर अवश्य है कि उस समय उनका कार्य-क्षेत्र कुछ ही छात्रों तक सीमित था, पर आज वह समूचे संघ में व्याप्त हो गया है।

अनुशासन-क्षमता

अनुशासन करना एक बात है और उसे कर जानना दूसरी। छात्रों पर अनुशासन करना तो कठिन है ही; पर कर जानना उससे भी कठिन। वह एक कला है; हर कोई उसे नहीं जान सकता। विद्यार्थी अवस्था से बालक होता है, स्वभाव से चुलबुला तो प्रकृति से स्वच्छन्द। अन्य-अन्य जीवन व्यवहारों के समान अनुशासन भी उसे सिखाना ही होता है। जो चीज़ सीखने से आती है, उसमें बहुधा स्खलनाएं भी होती हैं। स्खलनाओं को असह्य मानने वाले अध्यापक छात्रों में अनुशासन के प्रति श्रद्धा नहीं, अश्रद्धा ही उत्पन्न करते हैं। अनुशासन का भाव छात्र में उत्पन्न न हो जाये, तब तक अनुशासक को अधिक उदार, सावधान और सहानुभूतियुक्त रहना आवश्यक होता है। आचार्यश्री की अध्यापन-कुशलता इसलिए प्रसिद्ध नहीं है कि उनके पास अनेक छात्र पढ़ा करते थे; अपितु इसलिए है कि वे अनुशासन करना जानते थे। विद्यार्थियों को कब कहना और कब सहना—इसकी सीमा उनको ज्ञात थी।

मैं और मुनिश्री नथमलजी छोटी अवस्था के ही थे। आपके कठोर अनुशासन की शिकायत लेकर एक बार हम दोनों पूज्य कालूगणी के पास गये। रात्रि का समय था। आचार्यदेव सोने की तैयारी में थे। हम दोनों ने पास में जाकर वन्दन किया तो आचार्यदेव ने पूछा—बोलो, किसलिए आए हो? हमने सकुचाते-सकुचाते साहस बाँधकर कहा, तुलसीरामजी स्वामी हम पर बहुत कड़ाई करते हैं। हमें परस्पर बात करने नहीं देते। आचार्यश्री कालूगणी ने पूछा—यह सब तुम्हारी पढ़ाई के लिए ही करता है या और किसी कारण से? हमने कहा—करते तो पढ़ाई के लिए ही हैं। आचार्यदेव बोले—तब फिर क्या शिकायत रह जाती है? इसमें तो वह चाहेगा, वैसा ही करेगा। तुम्हारी कोई बात नहीं चलेगी। हम दोनों ही स्तब्ध थे। आचार्यदेव ने एक कहानी सुनायी। एक राजा का पुत्र गुरुकुल में पढ़ा करता था। पढ़ाई समाप्त होने पर आचार्य उसे राज-सभा में ले जा रहे थे। बाज़ार में एक दूकान से उन्होंने गेहूँ खरीदे और पोटली बाँधकर राजकुमार को उठाने के लिए कहा। वह अस्वीकार तो नहीं कर सका, पर मन-ही-मन बहुत खिन्न हुआ। मार्ग में थोड़ी दूर जाकर पोटली उतरवा दी गई। वे राज-सभा में पहुँचे। राजा ने कुमार के ज्ञान की परीक्षा ली। वह सब विषयों में उत्तीर्ण हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर अध्यापक से पूछा—राजकुमार का व्यवहार कैसा रहा?

अध्यापक—बहुत अच्छा, बहुत विनय-युक्त।

राजकुमार से पूछा—आचार्यजी ने तुम्हारे साथ कैसा व्यवहार किया?

राजकुमार—इतने वर्ष तो बहुत अच्छा व्यवहार किया, पर आज का व्यवहार उससे भिन्न था।

राजा—कैसे?

राजकुमार ने पोटली की बात कह सुनायी। राजा उसे सुनकर बहुत खिन्न हुआ। आचार्य से कारण पूछा, तो उत्तर मिला कि वह भी एक पाठ ही था। उसकी आवश्यकता अन्य छात्रों को उतनी नहीं थी, जितनी कि राजकुमार को। मैं भावी राजा को यह बतला देना चाहता था कि भार उठाने में कितना कष्ट होता है। इस बात को जान लेने पर यह अत्यन्त ग़रीबी से रहने वाले और परिश्रम से पेट भरने वाले अभावग्रस्तों के श्रम का मूल्य आँक सकेगा और किसी पर अन्याय नहीं कर सकेगा।

आचार्यदेव ने कहा—अध्यापक तो राजकुमार से भी पोटली उठवा लेता है, तो फिर तुम्हारी शिकायत कैसे मानी जा सकती है? उसने तो तुम्हें केवल बातें करने से ही रोका है। जाओ, पढ़ा करो और वह कहे वैसे ही किया करो!

हम आशा लेकर गए थे और निराशा लेकर चले आये। दूसरे दिन पढ़ने के लिए गये तो यह भय सता रहा था कि हमारी बात का पता लग गया तो क्या होगा? हम कई दिनों तक कतराते-कतराते से रहे; पर उन्होंने यह कभी मालूम तक नहीं होने दिया कि शिकायत करने की बात का उन्हें पता है।

दूसरों को अनुशासन दिखाने वाले को अपने पर कहीं अधिक अनुशासन करना होता है। छात्रों के अनेक कार्यों को बाल-विलसित मानकर सह लेना होता है। अध्यापक का अपने मन पर का अनुशासन भंग होता है तो उसकी प्रतिक्रिया छात्रों पर भी होती है। इसीलिए अध्यापक की अनुशासन-क्षमता छात्रों पर पड़ने वाले रौब से कहीं अधिक, उसके द्वारा अपने-आप पर किये जाने वाले, संयम और नियन्त्रण से मापी जाती है।

विकास का बीज-मन्त्र

अध्यापन के कार्य में आचार्यश्री की रुचि प्रारम्भ से लेकर अब तक समान रूप से चली आई है। वे इसे बुनियादी कार्य समझते हैं। उनकी दृष्टि में अध्यापन का कार्य भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि संघ-संचालन और आन्दोलन-प्रवर्तन। वे अपने चिन्तन के क्षण जिस प्रकार उन कार्यों में लगाते हैं, उसी प्रकार इसमें भी लगाते हैं। छोटे-से-छोटा ग्रन्थ व छोटे-से-छोटा पाठ उनकी अध्यापन-कला से बड़ा बन जाता है। वस्तुतः कोई पाठ छोटा होता ही नहीं; उसका शब्द-कलेवर छोटा होने से भले ही उसे छोटा कह दिया जाये, परन्तु सारा जीवन-व्यवहार तो उन्हीं छोटे-छोटे पाठों की भित्ति पर खड़ा हुआ है।

वे जब पढ़ाते हैं तो अध्यापन-रस में सराबोर होकर पढ़ाते हैं। मूल पाठ को तो वे पूर्णतः स्पष्ट करते ही हैं, साथ ही अनेक शिक्षात्मक बातें भी इस प्रकार से जोड़ देते हैं कि पाठ की क्लिष्टता मधुमयता में बदल जाती है। नव-शिक्षार्थियों को शब्द-रूप और धातु-रूप पढ़ाते समय वे जितनी प्रसन्न मुद्रा में देखे जाते हैं, उतने ही किसी काव्य या दार्शनिक ग्रन्थ के पाठन में भी देखे जा सकते हैं। सामान्यतः उनकी वह प्रसन्नता ग्रन्थ की असाधारणता को लेकर नहीं होती, अपितु इसलिए होती है कि वे किसी के विकास में सहयोग दे रहे हैं। वे अपने निःशेष आवश्यक कार्यों में इसको भी गिनते हैं और पूरी लगन के साथ करते रहते हैं। संघ के उदय-हेतु वे शिक्षा को बीज मानकर चलते हैं।

महात्मा गांधी एक बार किसी प्रौढ़ महिला को वर्णमाला का अभ्यास करा रहे थे। आश्रम में देश के अनेक उच्च कोटि के नेता आये हुए थे। उन्हें गांधीजी से देश की विभिन्न समस्याओं पर विमर्शन करना था तथा मार्ग-दर्शन लेना था। बड़ी व्याकुलता लिये वे सब बाहर बैठे हुए अपने निर्धारित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे। अनेक विदेशी भी महात्माजी से मिलने के लिए उत्कंठित हो रहे थे। पर महात्माजी सदा की भाँति तल्लीनता के साथ उस महिला को 'क' और 'ख' का भेद समझा रहे थे। एक परिचित विदेशी ने झुँझलाकर गांधीजी से कहा, "बहुत लोग प्रतीक्षा में बैठे हैं। आपके भी महत्त्वपूर्ण कार्यों का चारों ओर ढेर लगा है। ऐसे समय में यह आप क्या कर रहे हैं?" गांधीजी ने स्मित भाव से उत्तर देते हुए कहा, "मैं सर्वोदय ला रहा हूँ।" प्रश्नकर्त्ता इस पर और क्या कहते! चुप होकर बैठ गए। ठीक यही स्थिति आचार्यश्री की भी कही जा सकती है। विद्या को वे विकास का बीज-मन्त्र मानते हैं।

कहीं मैं ही ग़लत न होऊँ !

दिल्ली की तृतीय यात्रा वहाँ ठहरने के दृष्टिकोण से तो पिछली दोनों यात्राओं से छोटी थी, पर व्यस्तता के दृष्टिकोण से उन दोनों से बहुत बड़ी थी। देशी और विदेशी व्यक्तियों के आगमन का प्रवाह प्रायः निरन्तर चालू रहा; प्रतिदिन अनेक स्थानों पर भाषण के आयोजन रहे। आचार्यश्री पैदल चलकर वहाँ जाते और भाषण के पश्चात् वापस आते। थका देने वाला नैरन्तरिक परिश्रम चल रहा था। उन दिनों दिन का प्रायः समस्त समय अन्यान्य कार्यों में विभक्त हो जाता था, पर आचार्यश्री तो अध्यापन व्यसनी ठहरे ! दिन में समय न मिला तो पश्चिम-रात्रि में ही सही। 'शान्त-सुधारस' का अर्थ छात्रों को बताया जाने लगा। अर्थ के साथ-साथ शब्दों की व्युत्पत्ति, समास और कारक आदि का विश्लेषण भी चलता रहता।

एक बार आचार्यश्री ने शान्तसुधारस में प्रयुक्त किसी समास के विषय में छात्रों से पूछा। उन्हें नहीं आया। तब उनसे अग्रिम श्रेणी वालों को बुलाया और उसी समास के विषय में पूछा। उन्हें भी नहीं आया। तब आचार्यश्री ने हम लोगों को (मुनिश्री नथमलजी, मुनिश्री नगराजजी और मुझे) बुलाया। हमने कुछ निवेदन किया और उसे सिद्ध करने वाला सूत्र भी कहा। आचार्यश्री के ध्यान से वह सूत्र वहाँ के लिए उपयोगी नहीं था। पर वे बोले, "तो कहीं मैं ही ग़लत न होऊँ !" अपनी धारणावाला सूत्र बतलाते हुए कहा,"क्या यह इस सूत्र से सिद्ध होने वाला समास नही है ?" हम सबको अपनी त्रुटि ध्यान में आ गई और हम बोल पड़े—सचमुच मे यही सूत्र समास करने वाला है।

यद्यपि आचार्यश्री का ज्ञान बहुत परिपक्व और अस्खलित है, परन्तु वे उसका कभी अभिमान नहीं करते। वे हर क्षण अपने शोधन के लिए उद्यत रहते हैं। परन्तु कठिनता यह है कि जहाँ शोधन की तत्परता होती है, वहाँ बहुधा उसकी आवश्यकता नहीं होती; और जहाँ शोधन की तत्परता नहीं होती, बहुधा वहीं उसकी सबसे अधिक आवश्यकता होती है।

उदार व्यवहार

शिष्यों की विकासोन्मुखता में आचार्यश्री असीम उदारता बरतते हैं। विकास के क्षितिज संघ के साधु-साध्वियों के लिए खुल नहीं पाये थे, उनको खोलने और सर्व-सुलभ बनाने की प्रक्रिया से उन्होंने विकास में एक नया अध्याय जोड़ा है। शिष्यों के विकास को वे अपना विकास मानते हैं और उनकी श्लाघा को अपनी श्लाघा। अपनी प्रवृत्तियों से तो उन्होंने इस बात को बहुधा पुष्ट किया ही है, पर अपनी काव्य-कल्पनाओं में भी इस भावना का अंकन किया है। 'कालू-यशोविलास' में वे एक जगह कहते हैं :

बढ़ै शिष्यनी साहिबी, जिम हिम रितुनी रात।
तिम तिमही गुरुनी हुवै, विश्वव्यापिनी ख्यात ।।

आचार्यश्री का यह उदार व्यवहार उनके शिष्यवर्ग को जहाँ आगे बढ़ाने का प्रोत्साहन देता है, वहाँ उनके व्यक्तित्व की उदात्तता का परिचय भी देता है। 'पुत्रादिच्छेत् पराजयम्' अर्थात् पुत्र को अपने से बढ़कर योग्य देखने की इच्छा रखना प्रत्येक पिता का कर्तव्य है। आचार्यश्री इस भारतीय भावना के मूर्त्त रूप कहे जा सकते हैं।

साध्वी-समाज में शिक्षा

साधुओं का प्रशिक्षण आचार्यश्री कालूगणी ने बहुत पहले से ही प्रारम्भ कर दिया था। साधु उनके जीवन-काल में ही निपुण बन चुके थे; लेकिन साध्वी-समुदाय में ऐसी स्थिति नहीं थी। कोई एक भी साध्वी इतनी निपुण नहीं थी कि उस पर साध्वियों की शिक्षा का भार छोड़ा जा सके। आचार्यश्री कालूगणी स्वयं अधिक समय नहीं दे पाते थे; फिर

भी उन्होंने विद्या का बीज-वपन तो कर ही दिया था। कार्य को अधिक तीव्रता से आगे बढ़ाने की आवश्यकता थी। आचार्यश्री कालूगणी ने जब आपको भावी आचार्य के रूप में चुना, तब संघ-विकास के जिन कार्यक्रमों का आदेश-निर्देश किया था, उनमें साध्वी-शिक्षा भी एक था। उसी आदेश को ध्यान में रखते हुए आपने आचार्य-पद पर आसीन होते ही इस विषय पर विशेष ध्यान दिया।

एक नवीन आचार्य के लिए अपने पद के उत्तरदायित्व की उलझनें भी बहुत होती है; परन्तु आप उन सबको सुलझाने के साथ ही अध्यापन-कार्य भी चलाते रहे। प्रारम्भ में कुछ साध्वियों को संस्कृत-व्याकरण कालूकौमुदी पढ़ाकर इस कार्य की शुरुआत की गई और क्रमशः अनेक विषयों के द्वार उनके लिए उन्मुक्त होते गए। सं० १९९३ से यह कार्य प्रारम्भ किया गया था। इस कार्य में अनेक कठिनाइयाँ थीं। अध्ययन निरन्तरता चाहता है; पर यह अन्य कार्यों के बाहुल्य से अन्तरित होता रहा। जब-जब आचार्यश्री अन्य कार्यों में अधिक व्यस्त होते, तब-तब अध्ययन को स्थगित करना पड़ता। फिर भी निरन्तरता की ओर विशेष सावधानी बरती गई और कार्य चलता रहा। उसी का यह फल है कि साधुओं के समान ही साध्वियाँ भी आज दर्शन-शास्त्र तक का अध्ययन करने में लगी हुई हैं।

अध्ययन की एक समस्या

साध्वी-समाज में अध्ययन की रुचि उत्पन्न कर आचार्यश्री ने जहाँ उनके मानस को जागरूक बना दिया है, वहाँ अध्यापन-विषयक एक समस्या भी खड़ी कर ली है। आचार्यश्री के साथ-साथ विहार करने वाली साध्वियों को तो अध्ययन का सुयोग मिल जाता है, परन्तु वे तो संख्या में बहुत थोड़ी ही होती हैं। अधिकांश साध्वियाँ पृथक् विहार करती हैं, उनकी अध्ययन-पिपासा को शान्त करने की समस्या आज भी विचारणीय ही है।

साध्वियों को विदुषी बनाने का बहुत बड़ा कार्य अभी अवशिष्ट है। इस विषय में आचार्यश्री बहुधा चिन्तन करते रहते हैं। तेरापंथ-द्विशताब्दी के अवसर पर उन्होंने यह घोषणा भी की है कि हर प्रशिक्षणार्थी को उचित अवसर प्रदान किया जायेगा; परन्तु उक्त घोषणा को कार्यरूप में परिणत करने का कार्य अभी प्रारम्भिक अवस्था में ही कहा जा सकता है। साधुओं के प्रशिक्षण की व्यवस्था तो सहजतया ही की जा सकती है; पर साध्वियों के लिए वैसा कर पाना सुगम नहीं है। किसी विदुषी साध्वी की देख-रेख में प्रति वर्ष कोई विद्या-केन्द्र स्थापित करने का विचार एक परीक्षात्मक रूप में सामने आया है, परन्तु अभी इस समस्या का कोई स्थायी हल निकालना अवशिष्ट है। जो सीखना चाहता है, उसकी व्यवस्था करना आचार्यश्री अपना कर्तव्य मानते हैं। इसलिए वे इसका कोई-न-कोई समुचित समाधान निकालने के लिए समुत्सुक हैं। उनकी उत्सुकता का अर्थ है कि निकट भविष्य में यह समस्या सुलझने वाली ही है।

पाठ्यक्रम का निर्धारण

अनेक वर्षों के अध्यापन-कार्य ने अध्ययन-विषयक व्यवस्थित क्रमिकता की आवश्यकता अनुभव करायी। व्यवस्थित क्रमिकता के अभाव में साधारण बुद्धि वाले विद्यार्थियों का प्रयास निष्फल ही चला जाता है। इस बात के अनेक उदाहरण उस समय सम्मुख उपस्थित थे। सम्पूर्ण चन्द्रिका अथवा कालूकौमुदी कण्ठस्थ कर लेने तथा उनकी साधनिका कर लेने पर भी कई व्यक्तियों का कोई विकास नहीं हो पाया था। इसकी जड़ में एक कारण यह था कि उस समय प्रायः संस्कृत इसलिए पढ़ी जाती थी कि उससे आगमों की टीकाओं का अध्ययन सुलभ हो जाता है। स्वयं टीका बनाने का सामर्थ्य तथा बोलने या लिखने की योग्यता अर्जित करने का लक्ष्य सामने नहीं था। इसीलिए व्याकरण कण्ठस्थ करने और उसकी साधनिका करने पर ही बल दिया जाता था। उसके व्यावहारिक प्रयोग की ओर कोई ध्यान नहीं दिया जाता था। उस समय तक संस्कृत समझ लेना ही अध्ययन की पर्याप्तता मानी जाती थी। धीरे-धीरे उस भावना में परिवर्तन आया, कुछ छुट-पुट रचनाएं होने लगीं, पर यह सब अध्ययन के बाद की प्रक्रियाएं थीं। अध्ययन का क्रम क्या हो, यह निर्धारण बहुत बाद में हुआ।

आचार्यश्री ने साध्वी-समाज को प्रशिक्षण देना प्रारम्भ किया, तब उनके विकास की गति को त्वरता प्रदान

करने के उपाय सोचे जाने लगे। एक बार आचार्यश्री कोई पत्रिका देख रहे थे। उसमें किसी संस्था-विशेष का पाठ्यक्रम छपा हुआ था। उनकी ग्रहणशील बुद्धि ने तत्काल उस बात को पकड़ा और निश्चय किया कि अपने यहाँ भी एक पाठ्य-प्रणाली होनी चाहिए। उनके निश्चय और कार्य-परिणति में लम्बी दूरी नहीं होती। आगम कहते हैं कि देवता के मन और भाषा की पर्याप्तियाँ साथ ही गिनी जाती हैं। आचार्यश्री के लिए मन, भाषा और कार्य का ऐक्य सहज माना जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। वे सोचते हैं, बतलाते हैं और कर डालते हैं। उनके कार्य की प्रायः यही प्रक्रिया रही है। पाठ्यक्रम के निर्धारण का विचार उठा, शिष्यों में चर्चा की गई, रूपरेखा बनायी गई और लागू कर दिया गया। यह सं० २००५ के आसौज की बात है। अगले वर्ष सं० २००६ के माघ में लगभग तीस व्यक्तियों ने परीक्षाएं दीं।

इस पाठ्यक्रम ने शिक्षा को बहुमुखी बनाने की आवश्यकता को पूरा किया और विचारों के बहुमुखी विकास का मार्ग खोला। विचारों का विकास ही जीवन का विकास होता है। जहाँ उसके लिए मार्ग अवरुद्ध होता है, वहाँ जीवन-विकास की कल्पना ही नहीं की जा सकती। तेरापंथ के शिक्षा-क्षेत्र में आमूलचूल परिवर्तन करने वाली इस पाठ्य-प्रणाली का नाम दिया गया—'आध्यात्मिक शिक्षा-क्रम'।

इस शिक्षा-क्रम के निर्धारण में उन विद्यार्थियों की आवश्यकता को ध्यान में रखा गया जो कि सर्वांगपूर्ण शिक्षा पाने की ओर उन्मुख हों। इस शिक्षा-क्रम के तीन विभाग हैं—योग्य, योग्यतर और योग्यतम। संघ में इस शिक्षा-क्रम का सफलतापूर्वक प्रयोग चालू है। अनेक साधु-साध्वियों ने इस क्रम से परीक्षा देकर इसकी उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है।

एक दूसरी पाठ्य-प्रणाली 'सैद्धान्तिक शिक्षा-क्रम' के नाम से निर्धारित की गई। इसकी आवश्यकता उन व्यक्तियों के लिए थी, जो अनेक विषयों में निष्णात बनने की क्षमता नहीं रखते हों, पर आगम-ज्ञान में अपनी पूरी शक्ति लगाकर कम-से-कम उस एक विषय में पारंगत हो सकें। इन शिक्षा-क्रमों में अनेक परिवर्तन भी हुए हैं और शायद आगे भी होते रहें। परिमार्जन के लिए यह आवश्यक भी है; परन्तु यह निश्चित है कि हर परिवर्तन पिछले की अपेक्षा अधिक उपयोगी बन सके, यह ध्यान रखा जाता है। आचार्यश्री कालूगणी ने शासन में विद्या-विषयक जो कल्पना की थी, उसे मूर्त रूप देने का अवसर आचार्यश्री को मिला। उन्होंने उस कार्य को इस प्रकार पूरा किया है कि आज तेरापंथ युग-भावना को समझ सकता है और आवश्यकता होने पर उसे नया मोड़ देने का सामर्थ्य भी रखता है। एक अध्यापक के रूप में आचार्यश्री के जीवन का यह कोई साधारण कौशल नहीं है।

: ५ :

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक

समय की माँग

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जिन परिस्थितियों में हुआ, उनके अनुशीलन से ऐसा लगता है जैसे कि वह समय की एक माँग थी। यह वह समय था जब कि द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद क्षत-विक्षत मानवता के घावों से रक्तस्राव हो रहा था। उस महायुद्ध का सबसे अधिक भीषण अभिशाप था, अनैतिकता। हर महायुद्ध का दुष्परिणाम यही होता है। भारत महायुद्ध के अभिशापों से मुक्त होता, उससे पूर्व ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ होने वाले जातीय संघर्षों ने उसे आ दबोचा। भीषण क्रूरता के साथ चारों ओर विनाश-लीला का अट्टहास सुनायी देने लगा। उसमें जनता की आध्यात्मिक और नैतिक भावनाओं का बहुत भयंकरता से पतन हुआ। ज्यों-त्यों करके जब वह वातावरण शान्त हुआ तब लोग अपनी-अपनी कठिनाइयों का हल खोजने में जुटने लगे। देश के कर्णधारों ने आर्थिक और सामाजिक उन्नयन की अनेक योजनाएं बनायीं और देश को समृद्ध बनाने का संकल्प किया। कार्य चालू हुआ और देश अपनी मंज़िल की ओर बढ़ने लगा।

उस समय देश में अध्यात्म भाव और नैतिकता के ह्रास की जो एक ज्वलन्त समस्या थी, उस ओर प्रायः न किसी जन-नेता का और न किसी अन्य व्यक्ति का ही ध्यान गया। आचार्यश्री तुलसी ही वे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने इस कमी को महसूस किया और इस ओर सबका ध्यान आकृष्ट करने का प्रयास किया।

निःश्रेयस् को भूलकर केवल अभ्युदय में लग जाना कभी खतरे से खाली नहीं होता। उससे मानवीय उन्नति का क्षेत्र सीमित तो होता ही है, साथ ही अस्वाभाविक भी। भौतिक उन्नति को अभ्युदय कहा जाता है। मनुष्य जड़ नहीं है, अतः भौतिक उन्नति उसकी स्वयं की उन्नति कैसे हो सकती है ! मनुष्य की वास्तविक उन्नति तो आत्म-गुणों की अभिवृद्धि से ही सम्भव है। आत्म-गुण, अर्थात् आत्मा के सहज भाव। आगम भाषा में जिन्हें सत्य, अहिंसा आदि कहा जाता है।

मनुष्य, शरीर और आत्मा का एक सम्मिलन है। न वह केवल शरीर है और न केवल आत्मा; उसके शरीर को भी भूख लगती है और आत्मा को भी। अभ्युदय शारीरिक भूख को परितृप्ति देता है और निःश्रेयस् आत्मिक भूख को। आत्मा परितृप्त हो और शरीर भूखा हो तो क्वचित् मनुष्य निभा भी लेता है; परन्तु शरीर परितृप्त हो और आत्मा भूखी, तब तो किसी भी प्रकार से नहीं निभा सकता। वहाँ पतन अवश्यम्भावी हो जाता है। देश में उस समय जो योजनाएं बनीं, वे सब मनुष्य को केवल शारीरिक परितृप्ति देने वाली ही थीं। आत्म-परितृप्ति के लिए उनमें कोई स्थान नहीं था।

आचार्यश्री ने इस उपेक्षित क्षेत्र में काम किया। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से उन्होंने जनता को आत्म-तृप्ति देने का मार्ग चुना। देश के कर्णधारों का भी इस ओर ध्यान आकृष्ट करने में वे सफल हुए। आपकी योजनाओं, कार्यक्रमों और विचारों का कहीं प्रत्यक्ष, तो कहीं अप्रत्यक्ष प्रभाव हुआ ही है। आध्यात्मिक और नैतिक उत्थान की आवाज़ को बुलन्द करने में आचार्यश्री के साथ उन सभी व्यक्तियों का स्वर भी समवेत हुआ है जो इस क्षेत्र में अपना चिन्तन रखते हैं।

देश की प्रथम दो पंचवर्षीय योजनाओं में जहाँ नैतिकता या सदाचार-सम्बन्धी कोई चिन्ता नहीं की गई है; वहाँ तृतीय योजना उससे नितान्त रिक्त नहीं कही जा सकती। यह देश के कर्णधारों के बदले हुए विचारों का ही तो

परिचायक है। इन विचारों को बदलने में अन्य अनेक कारण हो सकते हैं, पर उसमें कुछ-न-कुछ भाग अणुव्रत-आन्दोलन तथा उसके द्वारा देश में उत्पन्न किये गए वातावरण का भी कहा जा सकता है। आचार्यश्री ने जनता की इस भूख को अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा पहले अनुभव किया, इसलिए वे किसी की प्रतीक्षा किये बिना इस कार्य में जुट गए। अन्य जन अब अनुभव करने लगे हैं तो उन्हें अब इस ओर त्वरता से आगे आना चाहिए। पंडित नेहरू के विचार भी इन दिनों में बहुत परिवर्तित हो गए हैं। वे अब मनुष्य की इस अद्वितीय भूख को पहचानने लगे हैं। ब्लिट्ज़ के सम्पादक श्री आर० के० करंजिया के एक प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने अपने में यह परिवर्तन स्वीकार भी किया है। श्री करंजिया ने पूछा था, "आपके कुछ वक्तव्यों में यह चर्चा है कि देश की समस्याओं के लिए नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की भी सहायता लेनी चाहिए। क्या हम समझें कि जीवन के सांध्य में नेहरू बदल गया है ?"

उत्तर देते हुए श्री नेहरू ने कहा, "इस बात को यदि आप प्रश्न के रूप में रखना चाहते हैं तो मैं 'हाँ' में ही उत्तर दूंगा। मैं वस्तुतः बदल गया हूँ। मेरे वक्तव्यों में नैतिक एवं आध्यात्मिक समाधानों की चर्चा अनर्गल या केवल औपचारिक नहीं होती। बहुत सोच-विचारकर ही मैं उन पर बल देता हूँ। बहुत चिन्तन के बाद मैं इस निश्चय पर पहुँचा हूँ कि आज के मानव की आत्मा अशान्त और भूखी है। संसार का समस्त भौतिक वैभव भी उस भूख को नहीं मिटा सकेगा, यदि भौतिक उन्नति के साथ मनुष्य की आत्मा भूखी रहेगी।"[1]

रूपरेखा

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ एक बहुत ही साधारण-सी घटना से हुआ। बड़ी-से-बड़ी नदी का भी उत्स प्रायः साधारण ही होता है। आचार्यश्री के पास बैठे हुए व्यक्ति नैतिकता के विषय में परस्पर बात कर रहे थे। उनमें से एक ने निराशा व्यक्त करते हुए बड़ा ज़ोर देकर कहा कि इस युग में नैतिकता कोई रख ही नहीं सकता। यद्यपि आचार्यश्री उस बातचीत में भाग नहीं ले रहे थे, किन्तु उस भाई के इन शब्दों ने उनका ध्यान आकृष्ट कर लिया। वे कुछ भी नहीं बोले; किन्तु उनके मन में एक उथल-पुथल अवश्य मच गई। नैतिकता के प्रति अभिव्यक्त उस निराशा से उनको एक प्रेरणा मिली। वहाँ से वे प्रभातकालीन प्रवचन करने के लिए सभा में गये। जो बात उनके मस्तिष्क में घूम रही थी, वही प्रवचन में शत-शत धारा बनकर फूट पड़ी। उन्होंने नैतिकता को पुष्ट करते हुए मेघ-मन्द्र स्वर में पच्चीस ऐसे व्यक्तियों की माँग की जो अनैतिकता के विरुद्ध अपनी शक्ति लगा सकें और हर सम्भावित खतरे को झेल सकें। इस माँग के साथ ही वातावरण में एक गम्भीरता छा गई। उपस्थित व्यक्ति आचार्यश्री के आह्वान और अपने आत्म-बल को तौलने लगे। मनो-मन्थन का वह एक अद्भुत दृश्य था। सहसा सभा में से कुछ व्यक्ति खड़े हुए और उन्होंने अपने नाम प्रस्तुत किये। वातावरण उल्लास से भर गया। एक-एक कर पच्चीस नाम आचार्यश्री के पास आ गए। सभा-समाप्ति के अनन्तर भी वह ध्वनि लोगों के मन में गूंजती रही। राजस्थान के 'छापर' नामक उस छोटे-से क़स्बे का घर-घर उस दिन चर्चा-स्थल बन गया। उस दिन की वह छोटी-सी घटना ही अणुव्रत-आन्दोलन की नींव के लिए प्रथम ईंट बन गई।

उस समय यह कल्पना भी नहीं की गई थी कि यह घटना आगे चलकर एक आन्दोलन का रूप ले लेगी और जनता द्वारा उसका इतना स्वागत होगा। प्रारम्भ में केवल यही भावना थी कि जो लोग प्रतिदिन सम्पर्क में आते हैं, उनका नैतिकता के प्रति दृष्टिकोण बदले। वे धर्म को केवल उपासना का तत्त्व ही न मानें, उसे जीवन-शोधक के रूप में स्वीकार करें। जिन व्यक्तियों ने अपने नाम प्रस्तुत किये थे, उनके लिए नियम-संहिता बनाने के लिए सोचा गया। उसके

---

1. Q. Isn't that unlike the Jawaharlal of yesterday, Mr. Nehru, to talk in terms of ethical and spiritual solutions ? What you say raises visions of Mr. Nehru in search of God in the evening of his life ?

Ans. If you put it that way, my answer is : yes, I have changed. The emphasis on ethical and spiritual solutions is not unconscious. It is delibertate, quite deliberate. There are good reasons for it. First of all, apart from material development that is imperative, I believe that the human mind is hungry for something deeper in terms of moral and spiritual development, without which all the material advance may not be worth while.

—The Mind of Mr. Nehru, p. 31.

स्वरूप-निर्धारण के लिए परस्पर चर्चाएं चलने लगीं। आचार्यश्री ने मुनिश्री नगराजजी को यह कार्य सौंपा। उन्होंने व्रतों की रूप-रेखा बनायी और आचार्यश्री के सम्मुख प्रस्तुत की। राजलदेसर-महोत्सव के अवसर पर 'आदर्श श्रावक-संघ' के रूप में वह योजना जनता के सम्मुख रखी गई। चिन्तन फिर आगे बढ़ा और कल्पना हुई कि अनैतिकता की समस्या केवल श्रावक-वर्ग में ही नहीं है, वह तो हर धर्म के व्यक्तियों में समायी हुई है। इस योजना के लक्ष्य को विस्तृत कर क्यों न सबके लिए एक सामान्य नियम-संहिता प्रस्तुत की जाये। आखिर इसी चिन्तन के आधार पर नियमावली को फिर विकसित किया गया। फलस्वरूप सर्वसाधारण के लिए एक रूपरेखा निर्धारित हुई और सं० २००५ में फाल्गुन शुक्ला द्वितीया को सरदारशहर (राजस्थान) में आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन किया।

पूर्व-भूमिका

आन्दोलन-प्रवर्तन से पूर्व भी आचार्यश्री नैतिकता के विषय में प्रयोग कर रहे थे; परन्तु उस समय तक उनका लक्ष्य केवल श्रावक-वर्ग ही था। 'नवसूत्री[1] योजना' और 'तेरहसूत्री[2] योजना' के द्वारा लगभग तीस हज़ार व्यक्तियों को नैतिक उद्बोधन मिल चुका था। उन व्यक्तियों ने उन योजनाओं के व्रतों को स्वीकार कर अणुव्रत-आन्दोलन के लिए एक सुदृढ़ भूमिका तैयार कर दी थी।

नामकरण

प्रारम्भ में अणुव्रत-आन्दोलन का नाम 'अणुव्रती संघ' रखा गया था। 'अणुव्रत' शब्द जैन-परम्परा से लिया गया है। मनुष्य के जागरित विवेक का निर्णय जब संकल्प का रूप ग्रहण करता है, तब वह व्रत कहलाता है। वह अपनी पूर्णता की सीमा में महाव्रत कहलाता है और अपूर्णता की स्थिति में अणुव्रत। एक संयम की उच्चतम स्थिति है, तो दूसरी न्यूनतम। पूर्ण संयम में रहना कठिन साधना है, तो पूर्ण असंयम में रहना सर्वथा अहितकर। दोनों अतियों के मध्य का मार्ग है—अणुव्रत। अणुव्रत-नियमों का पालन करने वाले व्यक्तियों के संगठन का नाम रखा गया 'अणुव्रती संघ'।

जनता ने इस आन्दोलन का अच्छा स्वागत किया। हज़ारों व्यक्ति अणुव्रती बने, लाखों ने उसका समर्थन किया और उसकी आवाज़ तो करोड़ों तक पहुँची। बम्बई में हुए पंचम अधिवेशन तक अणुव्रतियों के नाम की सूची रखी जाती रही, परन्तु फिर क्रमशः बढ़ती हुई संख्या की सुव्यवस्था रखने में शक्ति लगाने का विचार छोड़ दिया गया। संख्या का लोभ पहले भी नहीं रखा गया था, केवल भावना-प्रचार के रूप में ही आन्दोलन की शक्ति लगे और खुले रूप में ही जनता उसमें भाग ले, यही अभीष्ट माना गया। नियमों में परिवर्तन किये गए। नाम के विषय में भी सुझाव आया कि 'संघ' शब्द सीमा को संकुचित करता है, जब कि 'आन्दोलन' शब्द अपेक्षाकृत मुक्त भावना का द्योतक है। सुझाव ठीक ही था, अतः मान लिया गया और तभी से इसका नाम 'अणुव्रत-आन्दोलन' कर दिया गया।

---

१ (१) आत्म-हत्या करने का त्याग, (२) मद्य आदि मादक वस्तुओं के सेवन का त्याग, (३) मांस और अण्डा खाने का त्याग, (४) बड़ी चोरी करने का त्याग, (५) जूआ खेलने का त्याग, (६) परस्त्री-गमन और अप्राकृतिक मैथुन का त्याग, (७) झूठा मामला और असत्य साक्षी का त्याग, (८) मिलावट का व नक़ली को असली बताकर बेचने का त्याग और (९) तौल-माप में कमी-बेशी करने का त्याग।

२ (१) निरपराध चलते फिरते जीवों को जान-बूझकर न मारना, (२) आत्म-हत्या न करना, (३) मद्य न पीना, (४) मांस न खाना, (५) चोरी न करना, (६) जुआ न खेलना, (७) झूठी साक्षी न देना, (८) द्वेष या लोभवश आग न लगाना, (९) परस्त्री-गमन न करना, अप्राकृतिक मैथुन न करना, (१०) वेश्या-गमन न करना (११) धूम्र-पान व नशा न करना, (१२) रात्रि-भोजन न करना, (१३) साधु के लिए भोजन न बनाना।

व्रतों का स्वरूप-निर्णय

आन्दोलन के प्रारम्भिक समय तक आचार्यश्री तथा मुनिजन बहुलांश में राजस्थान के सम्पर्क में ही रहे थे। नियमावलि बनाते समय वहीं के गुण-दोष स्पष्ट रूप से सामने आ सके। वहाँ की जीवन-यापन पद्धति को आधार मान कर ही व्रतों का स्वरूप-निर्धारण किया गया। पहले-पहल व्रतों की संख्या चौरासी थी। आन्दोलन की ज्यों-ज्यों व्यापकता होती गई, त्यों-त्यों देश तथा विदेश के व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं सामने आने लगीं।

भाई किशोरलाल मश्रुवाला ने आन्दोलन के प्रयास को प्रशंसनीय बताते हुए कुछ बातों की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्हें लगा कि अन्य व्रत तो असाम्प्रदायिक हैं, परन्तु अहिंसा-व्रत पर पंथ की पूरी छाप है। उन्होंने उदाहरण के रूप में मांसाहार और रेशमी वस्त्रों के विषय में लिखा है कि जैनों और वैष्णवों की एक छोटी-सी संख्या के अतिरिक्त देश या विदेश के अधिकांश व्यक्ति मांसाहार के नियम निभाने की स्थिति में नहीं होते। इसी प्रकार रेशम के लिए व्रत बना तो मोती के लिए क्यों नहीं बना ?[1] रेशम के समान उनमें भी छोटे जीवों की हिंसा होती है।

मांसाहार यद्यपि मानव जाति में व्यापक रूप से प्रचलित है, जैनों और वैष्णवों ने इसका बहुत समय पूर्व से बहिष्कार कर रखा है, परन्तु आज वह केवल धार्मिक प्रश्न ही नहीं रह गया है। शरीर-शास्त्रियों की मान्यता भी यही बनती जा रही है कि मांस मनुष्य के लिए खाद्य नहीं है। शाकाहार का समर्थन करने वाले व्यक्ति आज प्रायः हर देश में मिल जाते हैं; अतः इसमें किसी पंथ के दृष्टिकोण को महत्त्व देने या न देने का प्रश्न नहीं है। आचार्यश्री का चिन्तन रहा है कि निरामिषता का क्रमिक विकास होना चाहिए। साथ ही आमिषभोजियों को अणुव्रत में स्थान न हो, यह भी अभीष्ट नहीं माना गया; अतः प्रवेशक अणुव्रती के व्रतों में वह व्रत न रखकर मूल अणुव्रतियों के व्रतों में रखा गया। इससे उनकी साधना का क्रमिक विकास का अवसर मिलेगा।

सत्य-अणुव्रत के विषय में आचार्य विनोबा का अभिमत था कि सत्य अखण्ड होता है; अहिंसा की तरह उसका अणुव्रत नहीं बनाया जा सकता। इस पर भी आचार्यश्री ने चिन्तन किया। लगा कि लक्ष्य की दृष्टि से सत्य जितना अखण्ड है, उतनी ही अहिंसा भी। परन्तु साधक की साधना में जब तक पूर्णता का समावेश नहीं हो जाता, तब तक न अहिंसा की पूर्णता आ पाती है और न सत्य की। सत्य और अहिंसा अभिन्न हैं। जहाँ हिंसा है, वहाँ सत्य नहीं हो सकता। स्वरूप की दृष्टि से इनकी अखण्डता को मान्य करते हुए भी आचार-शक्यता के क्रमिक विकास की दृष्टि से इनके खण्ड भी आवश्यक माने गए हैं।

जापान के कुछ व्यक्तियों की प्रतिक्रिया थी कि इनमें से कुछ नियमों को छोड़कर शेष नियमों का हमारे देश के लिए कोई उपयोग नहीं। वे सब भारतीय जीवन को दृष्टि में रखकर ही बनाये गए प्रतीत होते हैं। उन लोगों की यह बात कुछ अंशों में ठीक ही थी; क्योंकि स्थानीय परिस्थितियों का प्रभाव रहना स्वाभाविक ही है। पर आचार्यश्री को देशी और विदेशी का कोई भेद अभीप्सित नहीं रहा है।

इस प्रकार की अनेक प्रतिक्रियाओं तथा सुझावों के प्रकाश में नियमावलि को फिर से संशोधित करने का निश्चय किया गया। इस बार के संशोधनों में यह बात मुख्यता से रखी गई कि असंयम की मूल प्रवृत्तियाँ सर्वत्र समान होती हैं, उपभेदों में भले ही अन्तर आता रहे। इसलिए नियमावलि मूल प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिए ही बनायी गई। शेष नियम देश-कालानुसार स्वयं निर्धारित करने के लिए छोड़ दिये गए। इस क्रम से नियमों की संख्या घटकर केवल बयालीस रह गई।

प्रथम रूप-रेखा में अणुव्रतियों की कोई श्रेणियाँ नहीं थीं। इस बार उनकी तीन श्रेणियाँ निश्चित की गई— १. प्रवेशक अणुव्रती, २. अणुव्रती और ३. विशिष्ट अणुव्रती। ये श्रेणियाँ किसी पद की प्रतीक नहीं हैं, अपितु क्रमिक अभ्यास की प्रगति सूचक सीढ़ियाँ हैं। प्रवेशक अणुव्रती के लिए ग्यारह, अणुव्रती के लिए बयालीस और विशिष्ट अणुव्रती के लिए छः नियम हैं। इस प्रकार व्रतों के स्वरूप का जो निर्णय किया गया, वह कई परिवर्तनों के बाद की स्थिति है।

---

१ 'हरिजनसेवक', २० मार्च '५०

असाम्प्रदायिक रूप

आन्दोलन का दृष्टिकोण प्रारम्भ से ही असाम्प्रदायिक रहा है। यह विशुद्ध रूप से चरित्र-विकास की दृष्टि लेकर चला है और इसी उद्देश्य की पूर्ति में अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगा देना चाहता है। सब धर्मों की समान्य भूमिका पर रहकर कार्य करते रहना ही इसने अपना श्रेयोमार्ग चुना है। परन्तु प्रारम्भ में लोगों को यह विश्वास ही नहीं हो पा रहा था कि एक सम्प्रदाय का आचार्य इतना उदार बनकर सब धर्मों की समन्वयात्मकता के आधार पर कोई आन्दोलन चला सकता है। उस समय यह प्रश्न बार-बार सामने आता रहता था कि अणुव्रती बनने पर क्या हमें आपको धर्म-गुरु मानना होगा ? दिल्ली में एक भाई ने यही प्रश्न सभा में खड़े होकर पूछा था। आचार्यश्री ने कहा—यह कोई आवश्यक नहीं है। आपके लिए केवल आन्दोलन के व्रतों का पालन करना ही आवश्यक है। कौन-से धर्म को मानते हैं, किसको धर्म-गुरु मानते हैं, अथवा किसी धर्म को मानते भी हैं या नहीं—इन सब बातों में अपने विचार और प्रवृत्ति को यथा-रुचि रखने में आप स्वतन्त्र हैं। आन्दोलन उसमें बाधक नहीं बनता।

जनता ज्यों-ज्यों सम्पर्क में आती गई, त्यों-त्यों साम्प्रदायिकता का भय अपने-आप दूर होता गया। धीरे-धीरे उसमें सभी तबकों के मनुष्य सम्मिलित होने लगे। हिन्दू, सिख, मुसलमान और ईसाई आदि सभी धर्मों को इसमें अपने ही सिद्धान्त प्रतिबिम्बित हुए लगने लगे।

आचार्यश्री ने इस आन्दोलन में राजनैतिक सम्प्रदायों का भी समन्वय किया है। वे इसे किसी भी राजनैतिक पार्टी की कठपुतली नहीं बना देना चाहते। समय-समय पर प्रायः अनेक राजनैतिक दलों के लोग आन्दोलन के कार्यक्रमों में सम्मिलित होते रहे हैं। उनके पारस्परिक मतभेद कुछ भी क्यों न रहते रहे हों, किन्तु चरित्र-विशुद्धि की आवश्यकता वे सभी समान रूप से ही समझते रहे हैं। सन् १९५६ में चुनावों की तैयारियां हो रही थीं, तब आचार्यश्री भी दिल्ली में ही थे। आम चुनावों में अनैतिक और अनुचित प्रवृत्तियों का समावेश न हो, इस लक्ष्य से आचार्यश्री के सान्निध्य में एक सभा का आयोजन किया गया। उसमें चुनाव-मुख्यायुक्त श्री सुकुमार सेन, कांग्रेस-अध्यक्ष उ० न० ढेबर, साम्यवादी नेता अ० क० गोपालन, प्रजासमाजवादी नेता जी० भ० कृपलानी आदि देश के प्रमुख राजनीतिज्ञ सम्मिलित हुए थे। सभी ने आन्दोलन के व्रतों को क्रियान्वित करने का विश्वास दिलाया।

सहयोगी भाव

इस असम्प्रदाय-भावना ने अणुव्रत-आन्दोलन को सबके साथ मिलकर तथा सबका सहयोग लेकर सामूहिक रूप से कार्य करने का सामर्थ्य प्रदान किया है। व्यक्ति अकेला किसी ऐसी बुराई का, जो सर्व-साधारण में अव्याहत रूप से फैल चुकी हो, सामना करने में अपने-आप को असमर्थ पाता है। परन्तु जब समान उद्देश्य के अनेक व्यक्ति उस बुराई के विरुद्ध खड़े होते हैं तो उसमें भाग लेने वाले प्रत्येक व्यक्ति को अपने में एक विशेष सामर्थ्य का अनुभव होने लगता है। जब बुराई अनेक व्यक्तियों का सामूहिक सहयोग पाकर प्रबल बन जाती है तो अच्छाई को भी अनेक व्यक्तियों के सामूहिक सहयोग से प्रबल बनाना चाहिए। एक अच्छा व्यक्ति अनेक बुरे व्यक्तियों से श्रेष्ठ अवश्य होता है, पर जीवन-व्यवहार में निभ तभी सकता है, जब कि अनेक अच्छे व्यक्ति उसकी जीवन-यापन पद्धति के पोषक तथा सहायक हों।

आचार्यश्री सभी दलों तथा व्यक्तियों का सहयोग इसीलिए अभीष्ट मानते है कि उससे धार्मिक तथा नैतिक जीवन व्यतीत करने की कामना रखने वाले व्यक्तियों को एकरूपता प्रदान की जा सके और उससे अधार्मिकता और अनैतिकता के वर्तमान प्रभाव को नष्ट किया जा सके। आचार्यश्री ने एक बार कहा था कि जब चोर आदि दुर्गुणी व्यक्ति सम्मिलित होकर काम कर सकते हैं, तो अच्छा उद्देश्य रखने वाले दल सम्मिलित होकर काम क्यों नहीं कर सकते ? इस कथन से सर्वोदयी नेता जयप्रकाश नारायण बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने कहा—"मैं सर्वोदय कार्यकर्ताओं के सम्मुख चर्चा करूंगा कि ऐसे समान उद्देश्यों के कार्यों में परस्पर सहयोगी बनें।"

प्रथम अधिवेशन

अणुव्रत-आन्दोलन का प्रथम वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी दिल्ली में हुआ था। यद्यपि इसके प्रसार की दिशाएं जयपुर से ही उन्मुक्त होने लगी थीं, पर सार्वजनिक रूप इसे दिल्ली में मिला। यह आचार्यश्री का दिल्ली में प्रथम बार पदार्पण था। आन्दोलन नया-नया ही था। परिस्थितियाँ कोई अधिक अनुकूल नहीं थीं। अविश्वास, सन्देह और विरोध की मिली-जुली भावनाओं का सामना करना पड़ रहा था। फिर भी आचार्यश्री ने अपनी बात पूरे बल के साथ जनता में रखी। पहले-पहल शिक्षित-वर्ग ने उनकी बातों को उपेक्षा व उपहास की दृष्टि से देखा; पर उनकी आवाज़ समय की आवाज़ थी। उसकी उपेक्षा की नहीं जा सकती थी। उनकी बातों ने धीरे-धीरे जनता के मन को छुआ और आन्दोलन के प्रति आकर्षण बढ़ने लगा।

कुछ दिन बाद वार्षिक अधिवेशन का आयोजन हुआ। दिल्ली नगरपालिका-भवन के पीछे के मैदान में हज़ारों व्यक्ति एकत्रित हुए। वातावरण में एक उल्लास था। दिल्ली के नागरिकों ने एक आशा-भरे दृष्टिकोण से अधिवेशन की कार्रवाही को देखा। नगर के सार्वजनिक कार्यकर्ता, साहित्यकार तथा पत्रकार आदि भी अच्छी संख्या में उपस्थित थे।

कार्य प्रारम्भ हुआ। कुछ भाषण हुए। प्रथम वर्ष की रिपोर्ट सुनायी गई। उसके पश्चात् व्रत स्वीकार कराये गए। आन्दोलन के प्रारम्भिक दिनों में जहाँ पिचहत्तर व्यक्ति थे, वहाँ इस अधिवेशन के समय छः सौ पच्चीस व्यक्तियों ने व्रत ग्रहण किये। उपस्थित जनता के लिए यह एक अपूर्व बात थी। अधिवेशन का यह सबसे बड़ा आकर्षण था। इससे देश में नैतिक क्रान्ति के बीज अंकुरित होने का स्वप्न आकार ग्रहण करता हुआ दिखायी देने लगा। चारों ओर चलने-वाली अनैतिकता में खड़े होकर कुछ व्यक्ति यह संकल्प करें कि वे किसी प्रकार का अनैतिक कार्य नहीं करेंगे, तो यह एक अघटनीय घटना लगने लगी। नैतिक वातावरण में मनुष्य जहाँ स्वार्थ को ही प्रमुख मानकर चलता है, परमार्थ को भूल-कर भी याद नहीं करता, वहाँ कुछ व्यक्तियों का अणुव्रती बनना एक नया उन्मेष ही था।

पत्रों की प्रतिक्रिया

पत्रकारों पर इस घटना का बहुत ही अनुकूल प्रभाव हुआ। देश के प्रायः सभी दैनिक पत्रों ने बड़े-बड़े शीर्षकों से इन समाचारों को प्रकाशित किया। अनेक दैनिक पत्रों में एतद्-विषयक सम्पादकीय लेख भी लिखे गए। 'हिन्दुस्तान टाइम्स' (नई दिल्ली) ने अपने सांध्य संस्करण में लिखा—"चमत्कार का युग अभी समाप्त नहीं हुआ है। दिल्ली में भी हमें चारों ओर फैले हुए अन्धकार में प्रकाश की एक किरण दीख पड़ी है।......जब अनुचित रूप से कमाये गए पैसे पर फूलने-फलने वाले व्यापारी एकत्रित होकर सच्चाई से जीवन बिताने का आन्दोलन शुरू करते हैं; तब कौन उनसे प्रभा-वित नहीं होगा! ......उन्होंने यह सत्-प्रतिज्ञा आचार्यश्री तुलसी के सामने अणुव्रती संघ के पहले वार्षिक अधिवेशन के अवसर पर ग्रहण की है।......आचार्य तुलसी, जो कि इस संगठन या आन्दोलन के दिमाग हैं, राजपूताना के रेतीले मैदानों को पार कर दिल्ली की पक्की सड़कों पर आये हैं।"

'हिन्दुस्तान स्टैण्डर्ड' (कलकत्ता) ने २ मई, ५० को अणुव्रती-संघ का स्वागत करते हुए लिखा था, "......इस देश में व्यापार-व्यवसाय में मिथ्या जोरों पर है। यह भय है कि कहीं उससे समाज के जीवन का सारा नैतिक ढाँचा ही नष्ट न हो जाये इसलिए कुछ व्यापारियों का यह आन्दोलन कि वे व्यापार-व्यवसाय में मिथ्या आचार न करेंगे, देश में स्वस्थ व्यापार-व्यवसाय को जन्म दे सकेगा। इस दिशा में अणुव्रती-संघ के प्रवर्तक आचार्यश्री तुलसी ने जो पहल की है, उसके लिए वे बधाई के अधिकारी हैं।"

कलकत्ता के सुप्रसिद्ध बंगला-दैनिक 'आनन्द बाज़ार पत्रिका' ने 'नूतन सतयुग' शीर्षक से लिखा था, "तो क्या कलियुग का अवसान हो गया है? क्या सतयुग प्रकट होने को है? नई दिल्ली, ३० अप्रैल का एक समाचार है कि मारवाड़ी समाज के कितने ही लखपति और करोड़पति लोगों ने यह प्रतिज्ञा की है कि वे कभी चोर-बाज़ारी नहीं करेंगे।... इसके प्रेरक हैं आचार्यश्री तुलसी, जिन्होंने मानव-जाति की समस्त बुराइयों को दूर करने के लिए एक आन्दोलन प्रारम्भ

किया है। उसी के समर्थन में ये प्रतिज्ञाएं की गई हैं। हम आचार्यश्री तुलसी से सविनय अनुरोध करना चाहते हैं कि वे कलकत्ता नगरी में पधारने की कृपा करें।"

'हरिजन-सेवक' के हिन्दी, अंग्रेज़ी व गुजराती-संस्करणों में श्री किशोरलाल मश्रुवाला ने संघ के व्रतों की विवेचना करते हुए सम्पादकीय में लिखा, "अणुव्रत का अर्थ है—प्रत्येक व्रत का अणु से लेकर क्रमशः बढ़ता हुआ पालन। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जो अहिंसा और अपरिग्रह में विश्वास तो रखता है, लेकिन उसके अनुसार चलने की ताक़त अपने में नहीं पाता, वह इस पद्धति का आश्रय लेकर किसी विशेष हिंसा से दूर रहने या एक हद के बाहर और किसी खास ढंग से संग्रह न करने का संकल्प करेगा और धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर बढ़ेगा। ऐसे व्रत अणुव्रत कहलाते हैं।"

इस प्रकार आन्दोलन की प्रतिध्वनि समस्त देश में हुई। क्वचित् विदेशी पत्रों में भी इस विषय में लिखा गया। न्यूयार्क के सुप्रसिद्ध साप्ताहिक 'टाइम' (१५ मई, १९५०) में यह संवाद प्रकाशित हुआ, "अन्य अनेक स्थानों के कुछ व्यक्तियों की तरह एक दुबला, पतला, ठिगना, चमकती आँखों वाला भारतीय संसार की वर्तमान स्थिति के प्रति अत्यन्त चिन्तित है। चौंतीस वर्ष की आयु का वह आचार्य तुलसी है, जो जैन तेरापंथ-समाज का आचार्य है। वह अहिंसा में विश्वास करने वाला धार्मिक समुदाय है। आचार्य तुलसी ने १९४९ में अणुव्रती-संघ की स्थापना की थी।......जब समस्त भारत को व्रती बना चुकेंगे, तब शेष संसार को भी व्रती बनाने की उनकी योजना है।"

देशी और विदेशी पत्रों में होने वाली इस प्रतिक्रिया से ऐसा लगता है कि मानो ऐसे किसी आन्दोलन के लिए मानव-समाज भूखा और प्यासा बैठा था। प्रथम अधिवेशन पर उसका यह स्वागत आशातीत और कल्पनातीत था।

आशावादी दृष्टियाँ

आन्दोलन का लक्ष्य पवित्र है, कार्य निष्काम है, अतः उससे हरएक व्यक्ति की सहमति ही हो सकती है। जब देश के नागरिकों की संकल्प-शक्ति जागृत होती है, तब मन में मधुर आशा का एक अंकुर प्रस्फुटित होता है। आन्दोलन के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों के उद्गार इस बात के साक्षी हैं। उनमें से कुछ ऐसे व्यक्तियों के उद्गार यहाँ दिये जा रहे हैं, जिनका राष्ट्रव्यापी प्रभाव है तथा जो किसी भी प्रकार के दबाव से अप्रभावित रहकर चिन्तन करने की क्षमता रखते हैं।

राष्ट्रपति-भवन में एक विशेष समारोह पर बोलते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा, 'पिछले कई वर्षों से अणुव्रत आन्दोलन के साथ मेरा परिचय रहा है। शुरुआत में जब कार्य थोड़ा आगे बढ़ा था, मैंने इसका स्वागत किया और अपने विचार बतलाये। जो काम आज तक हुआ है, वह सराहनीय है। मैं चाहूंगा इसका काम देश के सभी वर्गों में फैले, जिससे सब इससे लाभान्वित हो सकें। इस आन्दोलन से हम दूसरों की भलाई करते हैं; इतना ही नहीं, अपने जीवन को भी शुद्ध करते हैं, अपने जीवन को बनाते हैं। संयम का जीवन सबसे अच्छा जीवन है। इसीलिए हम चाहते हैं कि सब वर्गों में इसका प्रचार हो। सबको इसके लिए प्रोत्साहित किया जाये।"[1]

उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में लिखा है, "हम ऐसे युग में रह रहे हैं, जब हमारा जीवात्मा सोया हुआ है। आत्म-बल का अकाल है और प्रमाद का राज्य है। हमारे युवक तेज़ी से भौतिकवाद की ओर झुकते चले जा रहे हैं। इस समय किसी भी ऐसे आन्दोलन का स्वागत हो सकता है, जो आत्म-बल की ओर ले जाने वाला हो। इस समय हमारे देश में अणुव्रत-आन्दोलन ही एक ऐसा आन्दोलन है जो इस कार्य को कर रहा है। यह काम ऐसा है कि इसको सब तरफ से बढ़ावा मिलना चाहिए।"[2]

प्रधानमन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने कहा, "हमें अपने देश का मकान बनाना है। उसकी बुनियाद गहरी होनी चाहिए। बुनियाद यदि रेत की होगी तो ज्यों ही रेत ढह जायेगी, मकान भी ढह जायेगा। गहरी बुनियाद चरित्र की होती है। देश में जो काम हमें करने हैं, वे बहुत लम्बे-चौड़े हैं। इन सबकी बुनियाद चरित्र है। इसे लेकर बहुत अच्छा

---

१ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ४१

२ अणुव्रत-आन्दोलन

काम अणुव्रत-आन्दोलन में हो रहा है। मैं मानता हूँ, इस काम की जितनी उन्नति हो, उतना ही अच्छा है। इसलिए मैं अणुव्रत-आन्दोलन की पूरी उन्नति चाहता हूँ।"[1]

अणुव्रत-सेमिनार में उद्घाटन-भाषण करते हुए यूनेस्को के डायरेक्टर-जनरल डा० लूथर इवान्स ने कहा, "हम लोग यूनेस्को के द्वारा शान्ति के अनुकूल वातावरण बनाने की चेष्टा कर रहे हैं। इधर अणुव्रत-आन्दोलन भी प्रशंसनीय काम कर रहा है। यह बड़ी खुशी की बात है। मैं उसकी सफलता चाहता हूँ। आपका यह सत्कार्य संसार में फले और शान्ति का मार्ग-दर्शन करे।"[2]

राष्ट्र के सुप्रसिद्ध विचारक काका कालेलकर ने कहा है, "श्रमण और भिक्षु शान्ति-सेना के सैनिक हैं। नैतिक प्रचार और प्रसार के लिए उन्होंने जीवन को जगाया है, यह उचित है। अणुव्रत-आन्दोलन में नैतिक विचार-क्रान्ति के साथ-साथ बौद्धिक अहिंसा पर भी बल दिया गया है। यह इसकी अपनी विशेषता है।"[3]

श्री राजगोपालाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है, "मेरी राय में यह जनता के नैतिक एवं सांस्कृतिक उद्धार की दिशा में पहला क़दम है।"

आचार्य जी० भ० कृपलानी ने अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अपने भाव यों व्यक्त किये हैं, "···मैं मानता हूँ कि व्रतों के बिना दुनिया चल नहीं सकती। व्रतों को त्यागने से सर्वनाश हो जाता है। मैं व्यक्ति-सुधार में विश्वास नहीं रखता। सामूहिक सुधार को सत्य मान कर चलता हूँ। व्यक्ति-सुधार की प्रक्रिया में वह वेग और उत्साह नहीं रहता, जितना सामूहिक सुधार में रहता है। इसके तात्कालिक परिणाम भी लोगों को आकृष्ट कर लेते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में मार्ग-सूचक बने, ऐसी मेरी भावना है।"[4]

हिन्दी-जगत् के सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमार के विचार इस प्रकार हैं, "सिद्धान्त की कसौटी व्यवहार है; जो व्यवहार पर खरा सिद्ध नहीं होता, वह सिद्धान्त कैसा! मुझे यह कहते प्रसन्नता है कि महाव्रत का मार्ग जगत् से एकदम निरपेक्ष नहीं है, अणुव्रत उसका उदाहरण है। व्रत जीवन में किनारे जैसे हैं। यदि नदी के किनारे न हों, तो उसका पानी रेगिस्तान में सूख जाये। किनारे नदी को बाँधने वाले नहीं होने चाहिए, वे उसको मर्यादा में रखने वाले होने चाहिए। ऐसे ही वे किनारे जीवन-चैतन्य को विकास देने वाले और दिशा देने वाले हो सकते हैं।"[5]

अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के भूतपूर्व महामन्त्री श्री श्रीमन्नारायण ने अपनी भावना यों व्यक्त की है, "अणुव्रत-आन्दोलन की जब से मुझे जानकारी हुई है, तभी से मैं इसका प्रशंसक रहा हूँ। इसके सम्बन्ध में मेरा आकर्षण इसलिए हुआ कि यह आन्दोलन जीवन की छोटी-छोटी बातों पर भी विशेष ध्यान देता है। बड़ी बातें करने वाले बहुत हैं, किन्तु छोटी बातों को महत्त्व देने वाले कम होते हैं।

यह आन्दोलन क्रमिक विकास को महत्त्व देता है, यह इसकी विशेषता है। एक साथ लक्ष्य पर नहीं पहुँचा जा सकता, एक-एक कदम आगे बढ़ा जा सकता है।"[6]

संसद्-सदस्या श्रीमती सुचेता कृपलानी ने कहा, "अणुव्रत-आन्दोलन जीवन-शुद्धि का आन्दोलन है। जब कार्य और कारण दोनों शुद्ध होते हैं, तब परिणाम भी शुद्ध होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक का व उनके साथी साधुओं का जीवन शुद्ध है। अणुव्रतों का कार्यक्रम भी पवित्र है, इसलिए इनके कहने का असर पड़ता है।

अणुव्रत-आन्दोलन के व्रत सार्वजनीन हैं। प्रत्येक वर्ग के लिए इसमें व्रत रखे गए हैं। यह इसकी अपनी विशेषता

---

१ अणुव्रत जीवन-दर्शन
२ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ३४
३ नव निर्माण की पुकार, पृ० ५०
४ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ४५
५ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ५२
६ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ५१

है। व्रतों की भाषा सरल व स्वाभाविक है। अहिंसा आदि व्रतों का विवेचन सामयिक व युगानुकूल है। अहिंसा की व्याख्या व व्रतों में शब्दों का संकलन मुझे बहुत ही भावोत्पादक लगा। कहा गया है—जीव को मारना या पीड़ा पहुँचाना तो हिंसा है ही, किन्तु मानसिक असहिष्णुता भी हिंसा है। अधिकारों का दुरुपयोग भी हिंसा है। कम पैसों से अधिक श्रम लेना भी हिंसा है, आदि-आदि। इसी प्रकार सभी व्रत जीवन को छूते हैं। अणुव्रतियों का जीवन इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। मुझ पर आन्दोलन का काफी असर है। आचार्यजी का सत् प्रयास सफल हो, यह मेरी कामना है।"[1]

उपर्युक्त व्यक्तियों के अतिरिक्त भी बहुत से ऐसे व्यक्ति हैं जो अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में बहुत श्रद्धाशील और आशावादी हैं। उन सबके उद्गारों का संकलन एक पृथक् पुस्तक का विषय हो सकता है। यहाँ उन सबका उल्लेख सम्भव नहीं है।

सन्देह और समाधान

आन्दोलन के विषय में जहाँ अनेक व्यक्ति आशावादी हैं, वहाँ कुछ व्यक्तियों को एतद्-विषयक नाना सन्देह भी हैं। किसी भी विषय में सन्देहों का होना अस्वाभाविक नहीं कहा जा सकता; वस्तुतः वे बात को अधिक गहराई से सोचने की प्रेरणा ही देते हैं। सावधान भी करते हैं। यहाँ आन्दोलन के विषय में किये जाने वाले कुछ सन्देहों का संक्षेप में समाधान प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. भगवान् महावीर, भगवान् बुद्ध और महात्मा गांधी जैसे व्यक्ति भी जब विश्व को नैतिकता के ढाँचे में नहीं ढाल सके, तो आचार्यश्री वह कार्य कैसे कर सकेंगे ?

इस सन्देह का समाधान यही हो सकता है कि समूचे विश्व को नैतिक बना देना किसी के लिए सम्भव नहीं है। नैतिकता का इतिहास जितना पुराना है, उतना ही अनैतिकता का भी। हर युग में इन दोनों का परस्पर संघर्ष चलता रहा है। संसार के रंगमंच पर कभी एक की प्रमुखता होती रही है तो कभी दूसरे की; पर सम्पूर्ण रूप से न कभी नैतिकता मिटी है और न ही अनैतिकता। जब-जब मानव-समाज में नैतिकता की प्रबलता रही है, तब-तब उसका उत्थान हुआ है और जब-जब अनैतिकता की प्रबलता हुई है, तब-तब पतन। एक न्याय, मैत्री और साम्य की संवाहक बनकर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करती है तो दूसरी अन्याय, विद्वेष और विषमता की संवाहक बनकर अशान्ति का दावानल प्रज्वलित करती है। सभी महापुरुषों का विचार रहा है कि विश्व नैतिक और आध्यात्मिक बने; किन्तु वे सब यह भी जानते रहे हैं कि यह सम्भव नहीं है। इसलिए वे फल की ओर से निश्चिन्त होकर केवल कार्य पर लगे। उससे समाज में आध्यात्मिकता और नैतिकता का प्रामुख्य स्थापित हुआ। आचार्यश्री भी अपना पुरुषार्थ इसी दिशा में लगा रहे हैं। कितना क्या कुछ बनेगा, इसकी चिन्ता न वे करते हैं और न उन्हें करनी ही चाहिए।

२. सारा संसार ही जब भ्रष्टाचार और दुर्व्यसनों में फँसा है, तब चन्द मनुष्य अणुव्रती बनकर अपना सत्य कैसे निभा सकते हैं ?

इसका संक्षिप्त समाधान हो सकता है कि सत्य आत्मा का धर्म है। उसके लिए दूसरे का सहारा नितान्त अपेक्षित नहीं है। सफलता संख्या पर नहीं, भावना पर निर्भर है। संसार के प्रायः सभी सुधार थोड़े व्यक्तियों से ही प्रारम्भ हुए है। अधिक व्यक्ति तो उसके विरोध में रहे हैं; क्योंकि विचारशील और स्वार्थ-त्यागी मनुष्य अपेक्षाकृत स्वल्प ही मिलते हैं। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अणुव्रतियों की संख्या स्वल्प ही रहनी चाहिए; किन्तु यह है कि संख्या को सफलता का मापक यन्त्र नहीं मानना चाहिए। अधिक व्यक्ति जिस मार्ग को चुनते हैं, वह सच्चा ही हो, यह आवश्यक नहीं है। अतः सत्य-सेवी के लिए बहुमत का महत्त्व अधिक नहीं रह जाता। उसे अपने आत्म-बल पर विश्वास रखते हुए बहु-जन मान्य अनैतिक विषयों का सामना ही नहीं, अपितु उन पर प्रहार करने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार वह अपने सत्य को तो निभा ही लेता है, साथ-साथ उन अनेक व्यक्तियों को सत्य मार्ग के लिए प्रेरित भी कर देता है, जो साथी के अभाव

१ नव-निर्माण की पुकार, पृ० ५३-५४

में अपने बल पर आगे बढ़ने से घबराते हैं।

३. जिस गति से लोग अणुव्रती बन रहे हैं, वह बहुत धीमी है। इस गति से यहाँ का नैतिक दुर्भिक्ष मिट नहीं सकता। प्रतिवर्ष एक सहस्र व्यक्ति अणुव्रती बनते रहें तो भी अकेले भारत की चालीस करोड़ जनता को नैतिक बनाते लाखों वर्ष लग जायेंगे। तब आन्दोलन के पास इस समस्या का क्या हल है?

यह स्वीकार किया जा सकता है कि गति बहुत धीमी है। उसे तेज करना चाहिए; किन्तु आन्दोलन गुण की निष्ठा लेकर चलता है। संख्या का महत्त्व उसमें गौण है। यदि गुण का आधिक्य हो तो औषधि की अल्प मात्रा भी प्रभूत परिणाम ला सकती है। उसी तरह अल्पसंख्यक गुणी व्यक्ति भी सारे समाज को प्रभावित कर सकते हैं। यह मानवीय भावना का प्रश्न है। इसे साधारण गणित के आधार पर समाहित नहीं किया जा सकता। मानवीय भावना गणित के फारमूलों से बँधकर नहीं चला करती। हजारों व्यक्तियों की सम्मिलित भावना का जब कहीं एक स्थान पर तीव्र विस्फोट होता है, तब वह हमारी गणित की प्रक्रिया में एक के रूप में सम्मिलित किया जाता है। अवशिष्ट व्यक्ति गणना-क्षेत्र से बाहर रह जाते हैं। अणुव्रत-भावना को भी इसी आधार पर यों समझा जा सकता है कि जब हजारों व्यक्तियों के मन पर अनीति के विरुद्ध नीति का प्रभाव होता है, तब उनमें से तीव्रतर या तीव्रतम प्रभाव वाला व्यक्ति जो कि उन सहस्रों की भावना का एक प्रतीक समझा जा सकता है, प्रतिज्ञाबद्ध होता है। अणुव्रत-भावना से प्रभावित होते हुए भी अवशिष्ट व्यक्ति उस संख्या से बाहर रह जाते हैं। संख्या-समाविष्ट व्यक्ति तो उन हजारों व्यक्तियों का एक प्रतीक-मात्र होता है। इसलिए अणुव्रतियों की संख्या को ही अणुव्रत-भावना का विकास-क्षेत्र नहीं मान लेना चाहिए। भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम के अहिंसक सैनिक इस बात की सत्यता के लिए प्रमाणभूत माने जा सकते हैं। सारे भारतवासी तो क्या, पर शतांश भी उस संस्था के सदस्य नहीं थे। पर क्या इससे यह माना जा सकता है कि जितने उस संस्था के सदस्य थे, केवल उतने ही स्वतन्त्रता के पुजारी थे। अवशिष्ट व्यक्तियों का स्वतन्त्रता-संग्राम से कोई सम्बन्ध नहीं था?

इसके अतिरिक्त सारे भारत की बात सोचने से पहले यह तो हरएक व्यक्ति को मान्य होगा ही कि अभाव से तो स्वल्प भाव अच्छा ही होता है। स्वल्प भाव को सर्व भाव की ओर बढ़ने में अपनी गति तीव्र करनी चाहिए। इसमें स्वयं अणुव्रत-आन्दोलन सहमत है। परन्तु सर्व भाव न हो, तब तक के लिए अभाव ही रहना चाहिए; स्वल्प भाव की कोई आवश्यकता नहीं है, इस बात से वह सहमत नहीं हो सकता।

४. अणुव्रतों की रचना में मुख्यतः निषेधात्मक दृष्टि ही क्यों अपनायी गई है? जबकि जीवन-निर्माण में विधि-प्रधान पद्धति की आवश्यकता होती है।

यों तो विधि में निषेध और निषेध में विधि स्वतः गर्भित रहती है, फिर भी मनुष्य की आचार-संहिता में विधेय अधिक होते हैं और हेय कम। इसीलिए अपनी मर्यादा में रहकर मनुष्य को क्या-क्या करना चाहिये, इसकी लम्बी सूची बनाने से अधिक सुगम यह होता है कि उसे क्या-क्या नहीं करना चाहिए, यह बतलाया जाए। सीमा या मर्यादा का भावात्मक अर्थ निषेध ही तो होता है! माता-पिता या गुरु अपने बालक को निषिद्ध वस्तु की मर्यादा ही बतलाते हैं। 'बिजली को मत छुआ करो'—यह कह वे उसकी जो सुरक्षा कर सकते हैं क्या वही 'कमरे की ये-ये वस्तुएँ छुआ करो' कहकर कर सकते हैं? सरकार भी विदेश से जिन-जिन व्यापारों का निषेध करना चाहती है, उन्हीं का नाम-निर्देश करती है; न कि जो-जो मँगाया जा सकता है, उसका सूची-पत्र। सरलता भी इसी में है।

५. हर कार्य की उपलब्धि सामने आने पर ही उस पर विश्वास जमता है। अणुव्रत-आन्दोलन की कोई उपलब्धि दृष्टिगत क्यों नहीं हो रही है?

भौतिक समृद्धि के लिए किये जाने वाले कार्यों से जो स्थूल उपलब्धियाँ होती हैं, वे प्रत्यक्ष देखी जा सकती हैं। परन्तु यह आन्दोलन उन कार्यों से सर्वथा भिन्न है। इसकी उपलब्धि किसी स्थूल पदार्थ के रूप में प्रत्यक्ष नहीं देखी जा सकती। अन्न, वस्त्र या फलों के ढेर की तरह आध्यात्मिकता, नैतिकता या हृदय-परिवर्तन का ढेर नहीं लगाया जा सकता। भौतिक और अभौतिक वस्तुओं को एक तुला पर तौलने की तो बात ही क्या की जा सकती है, जबकि भौतिक वस्तुओं में भी परस्पर अतुलनीय अन्तर होता है। पत्थर और हीरे को क्या कभी एक तराजू पर तौला जा सकता है? अणुव्रत-

आन्दोलन की उपलब्धि प्रत्यक्ष नहीं हो सकती; फिर भी उसने क्या कुछ किया है, इस बात का पता लगाने के लिए कुछ कार्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं। आन्दोलन का ध्येय हृदय-परिवर्तन के द्वारा जनता के चारित्रिक उत्थान का रहा है। अतः उसने भ्रष्टाचार, मिलावट, झूठा तौल-माप, दहेज और रिश्वत आदि के विरुद्ध अनेक अभियान चलाये हैं। मद्य-पान और धूम्र-पान के विरुद्ध भी वातावरण तैयार करने का प्रयास किया है। हजारों व्यक्तियों को उपर्युक्त दुर्गुणों से दूर कर देना आत्म-शुद्धि के क्षेत्र में जहाँ एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, वहाँ जन-सामान्य की दृष्टि में आने वाली आन्दोलन की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि भी है। परन्तु आन्दोलन इस उपलब्धि की अपेक्षा उस सूक्ष्म उपलब्धि को अधिक महत्त्व देता है जिससे कि जन-मानस में अध्यात्म का बीज-वपन होता है।

आन्दोलन की आवाज़

अणुव्रत-आन्दोलन की आवाज़ तालाब में उठने वाली उस लहर की तरह है जोकि धीरे-धीरे आगे बढ़ती और फैलती जाती है। आज जितने व्यक्ति इससे परिचित हैं, वे सब धीरे-धीरे ही इसके सम्पर्क में आये हैं। प्रारम्भकाल में बहुत से लोग इसे एक साम्प्रदायिक आन्दोलन मानते रहे थे। आचार्यश्री को अनेक बार एतद्-विषयक स्पष्टीकरण करना पड़ता था। फिर भी सबके मस्तिष्क में यह बात कठिनता से ही बैठ पा रही थी। आचार्यश्री यथाशीघ्र इस अविश्वसनीय स्थिति को मिटा देना चाहते थे। वे यह अच्छी तरह से जानते थे कि जब तक यह स्थिति मिट नहीं जाती, तब तक आन्दोलन गति नहीं पकड़ सकता। वे इस विषय में दूसरों के सुझाव लेने में भी उदार रहे हैं। जयपुर में डा० राजेन्द्र-प्रसाद आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। वे उन दिनों भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। आचार्यश्री ने उनके सामने अणुव्रत-आन्दोलन की रूपरेखा और कार्यक्रम रखा, तो उन्होंने कहा कि देश को ऐसे आन्दोलन की इस समय बहुत आवश्यकता है। इसका प्रसार तीव्र गति से होना चाहिए। आचार्यश्री ने तब निस्संकोच भाव से अपनी समस्या रखते हुए कहा था कि हम भी यही चाहते हैं, परन्तु इसमें बाधा यह है कि लोग अभी तक इसको साम्प्रदायिक दृष्टि से देखते हैं। इससे प्रसार होने में बहुत बाधाएं आती हैं।

डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा कि आन्दोलन यदि असाम्प्रदायिक भाव से कार्य करता रहेगा तो ज्यों-ज्यों लोग सम्पर्क में आयेंगे, त्यों-त्यों यह दृष्टिकोण अपने-आप मिट जायेगा। बात भी यही हुई। आज प्रायः सभी व्यक्ति यह जानने लगे हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन का कार्य सम्प्रदाय-भाव से प्रभावित नहीं है। राष्ट्रपति बनने के बाद डा० राजेन्द्र-प्रसाद ने आन्दोलन की इस सफलता को महत्त्वपूर्ण मानते हुए लिखा था, "मुझे सबसे अधिक प्रसन्नता तो इस बात से है कि देश में इस आन्दोलन ने सार्वजनिक रूप ले लिया है। मैं समझता हूँ कि अब लोगों में ये भावनाएं नहीं रह गई हैं कि यह कोई साम्प्रदायिक आन्दोलन है। इस आन्दोलन का सार्वजनिक रूप ही उसके सुनहरे भविष्य का सूचक है।[1]

इतना होने पर भी क्वचित् कुछ व्यक्ति आन्दोलन को किसी पक्ष या विपक्ष का मानने की भूल कर जाते हैं। डा० राममनोहर लोहिया तथा श्री नि०चं० चटर्जी आदि कुछ व्यक्तियों ने ऐसा अनुभव किया है कि आचार्यश्री द्वारा कांग्रेस की नींव गहरी की जा रही है। इस प्रकार के कई आक्षेप सम्मुख आये। आचार्यश्री का इस विषय में यही स्पष्टीकरण रहा कि आन्दोलन किसी भी राजनीतिक दल से सम्बद्ध नहीं है; पर साथ ही यह भी उतना ही सत्य है कि वह किसी भी दल से असम्बद्ध रहना भी नहीं चाहता। मानव-मात्र के लिए किये जाने वाले आन्दोलन को न किसी पक्ष-विशेष से बँधना ही चाहिए और न किसी पक्ष-विशेष को उपेक्षित ही करना चाहिए। दो विरोधी पक्षों में भी उसे समन्वय की खोज करना आवश्यक होता है। इसी धारणा पर चलते रहने के कारण आज अणुव्रत-आन्दोलन को सभी दलों का स्नेह प्राप्त है। वह भी अपनी आवाज़ सभी दलों तक पहुँचाना चाहता है। समन्वय के क्षेत्र में दल, जाति, धर्म आदि का भेद स्वयं ही अभेद में परिणत हो जाता है। आन्दोलन का कार्य किसी की दुर्बलता को समर्थन देना नहीं है, वह तो हरएक को सबल बनाना चाहता है।

---

१ अणुव्रत-आन्दोलन

आन्दोलन का मुख्य बल जनता है। उसी के आधार पर इसकी प्रगति निर्भर है। यों सभी दलों तथा सरकारों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ है। सबकी शुभकामनाएं तथा सहानुभूति उसने चाही है और वह उसे हर क्षेत्र से पर्याप्त मात्रा में मिलती रही है। जन-मानस की सहानुभूति ही उसकी आवाज़ को गाँवों से लेकर शहरों तक तथा किसान से लेकर राष्ट्रपति तक पहुँचाने में सहायक हुई है। आन्दोलन ने न कभी राज्याश्रय प्राप्त करने की कामना की है और न उसे इसकी आवश्यकता ही है।

भारत की राज्य-सभा में सन् ५७ में जब अणुव्रत-आन्दोलन विषयक प्रश्नोत्तर चले थे, तब उसका उत्तर देते हुए गृहमन्त्रालय के मन्त्री श्री ब० ना० दातार ने कहा था, "इस आन्दोलन को राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री नेहरू की शुभकामनाएं प्राप्त हैं। आन्दोलन के अन्तर्गत चल रहे भ्रष्टाचार-विरोधी अभियान का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था कि यह कार्य सिर्फ भाषणों तक ही सीमित नहीं रहेगा, अपितु वे साधु-जन घर-घर जाकर स्वतन्त्र रूप से उच्चाधिकारियों को भ्रष्टाचार से बचने की प्रेरणा देंगे।" यह कथन सरकार की ओर से उसके संचालकों की शुभकामना का सूचक ही है। आन्दोलन के कार्यकर्ता आर्थिक सहयोग के लिए सरकार की ओर कभी नहीं झुके हैं। यही आन्दोलन की शक्ति है और इसी के आधार पर वह सबका मुक्त सहयोग पा सका है।

इसी प्रकार सन् ५६ की फरवरी में उत्तरप्रदेश की विधान-परिषद् में विधायक श्री सुगनचन्द द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया। जिस पर अन्य सत्ताईस विधायकों के भी हस्ताक्षर थे। उसमें कहा गया था—"यह सदन निश्चय करता है कि उत्तर प्रदेशीय सरकार देश में आचार्य तुलसी द्वारा चलाये गए आन्दोलन में यथोचित सहयोग तथा सहायता दे।"[1]

इस प्रस्ताव से कुछ विधायकों को अवश्य ऐसा सन्देह हुआ था कि अणुव्रत-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता माँगी जा रही है। किन्तु बहस के अवसर पर जब यह प्रश्न उठा, तब अनेक विधायकों ने उसका समुचित खण्डन कर दिया। चर्चा काफी लम्बी चली थी, पर यहाँ कुछ व्यक्तियों के ही कथनों को उद्धृत किया जा रहा है। विधायक श्री ललिताप्रसाद सोनकर ने विषय को स्पष्ट करते हुए कहा—"यह प्रस्ताव सरकार से धन की माँग नहीं करता है और न किसी अन्य वस्तु की माँग करता है। लेकिन यह प्रस्ताव सरकार से यही चाहता है कि उसके शासन में रहने वाले लोगों की नैतिक और अध्यात्म-सम्बन्धी या चरित्र-सम्बन्धी बातों में सुधार हो।"[2]

विधायक श्री शिवनारायण ने कहा—"सरकार से सहयोग का मतलब यह है कि सरकार की सहानुभूति प्राप्त हो। आज हर एक आदमी सहयोग का नारा लगा रहा है। सहयोग का मतलब है कि नीचे से लेकर ऊपर तक सभी इस काम में जुट जाएं।......पैसे की कमी नहीं मान्यवर! पैसा कौन माँगता है?"[3]

सामाजिक सुरक्षा तथा समाज-कल्याण राज्य-मन्त्री श्री लक्ष्मीरमण आचार्य ने कहा—"जहाँ तक सहायता का सम्बन्ध है और सहयोग तथा सहायता के शब्द प्रयोग किये गए हैं; शायद उसके माने यह है कि सरकार यह कह दे कि अणुव्रत-आन्दोलन एक ठीक आन्दोलन है।......लेकिन वह सहायता रुपये-पैसे की नहीं है, मैं ऐसा समझता हूं। जहाँ तक इन चीजों का सम्बन्ध है, श्रीमन्, मुझे सरकार की तरफ से यह कहने में संकोच नहीं है कि अणुव्रत-आन्दोलन को सरकार गलत नहीं समझती है और ऐसा भी ख़याल करती है कि अणुव्रत-आन्दोलन कोई रिट्रोग्रेटिव स्टेप नहीं है और न कोई प्रतिक्रियावादी शक्तियों की जंजीर है या धर्म की स्थापना का नया तरीक़ा है।"[4]

उपर्युक्त चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि अणुव्रत-आन्दोलन के समर्थकों ने जो सहयोग चाहा, वह आर्थिक न होकर वैचारिक तथा चारित्रिक है। इसी सहयोग के आधार पर आन्दोलन की आवाज़ व्यापक प्रसार पा सकती है। ऐसे आन्दोलनों में वैचारिक तथा आचारिक सहयोग से बढ़कर अन्य कोई सहयोग नहीं हो सकता। आर्थिक प्रधानता तो

---

१ जैन-भारती, १५ नवम्बर '५६
२ जैन-भारती, २७ दिसम्बर '५६
३ जैन-भारती, २७ दिसम्बर '५६
४ जैन-भारती, २४ जनवरी '६०

ऐसे आन्दोलनों को नष्ट करने वाली ही हो सकती है। आन्दोलन की आवाज को आगे बढ़ाने में सरकार से लेकर किसान तक का सहयोग इसलिए उन्मुक्त है कि वह आर्थिक या राजनैतिक सहायता की अपेक्षा को कभी मुख्यता प्रदान नहीं करता।

इस आवाज़ को जन-जन तक पहुँचाने के लिए आचार्यश्री ने इन बारह वर्षों में अनेक लम्बी-लम्बी यात्राएं कीं और भारत के अनेक प्रान्तों में पहुँचे। लाखों व्यक्तियों से साक्षात्कार हुआ। शहरों और गाँवों के व्यक्तियों से आन्दोलन-विषयक चर्चा करने में ही उनका बहुत-सा समय खपता रहा है। पैदल चलना, रास्ते के गाँवों में थोड़ा-थोड़ा ठहरकर जनता को उद्‌बोध देना और फिर आगे चल पड़ना; यह एक ऐसी थका देनेवाली प्रक्रिया है कि दृढ़ निश्चय के बिना लगातार ऐसा सम्भव नहीं हो सकता। अपनी बात को शिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए और अशिक्षितों में किस तरह रखना चाहिए, इसे वे बहुत अच्छी तरह जानते हैं। वे जितना विद्वानों को प्रभावित करते हैं, उतना ही अशिक्षित ग्रामीणों को भी प्रभावित कर लेते हैं।

उनके शिष्य-वर्ग ने भी इस कार्य में बहुत परिश्रम किया है। अनेक क्षेत्रों में उनके श्रम ने ही आन्दोलन के मूल को सुदृढ़ किया है। दिल्ली-जैसे व्यस्त तथा राजनैतिक हलचल से भरे शहर में आन्दोलन की आवाज़ को घर-घर में पहुँचाने का काम, यद्यपि बहुत कठिन है, फिर भी मुनि श्री नगराजजी के निर्देश में रहते हुए मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने इस दुस्साध्य कार्य को सहज बना दिया। मुनि श्री नगराजजी की सूझ-बूझ तथा विद्वत्ता और मुनि महेन्द्रकुमार-जी की श्रमशीलता का योग आन्दोलन के लिए बड़ा ही गुणकारी हुआ है। दिल्ली में रहने का अवसर मुझे भी अनेक बार मिला है। उस समय मेरे सहयोगी मुनि मोहनलालजी 'शार्दूल' ने भी वहाँ इस कार्य के लिए अपने शरीर से ऊपर होकर परिश्रम किया है। मेरा विश्वास है कि आन्दोलन की आवाज का भारत की राजधानी ने जैसा स्वागत किया है, वह प्रथम ही है। अन्य विभिन्न क्षेत्रों में मुनि श्री गणेशमलजी, मुनि श्री जसकरणजी, मुनि मगनमलजी, मुनि पुष्पराज-जी, मुनि राकेशजी आदि साधुओं तथा कस्तूराँजी आदि साध्वियों का परिश्रम भी इस दिशा में उल्लेखनीय रहा है।

नये उन्मेष

बीज जब तक धरती में उप्त नहीं किया जाता, तब तक वह अपनी सुषुप्त-अवस्था में रहता है; किन्तु जब उसे अनुकूल परिस्थितियों में उप्त कर दिया जाता है, तो वह अंकुरित होकर नये-नये उन्मेष करता हुआ फल तक विकसित हो जाता है। विचारों का भी कुछ ऐसा ही क्रम होता है; वे या तो सुषुप्त रहते हैं या जागृत होकर नये-नये उन्मेष प्राप्त करते हुए फल-निष्पत्ति की ओर अग्रसर होते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन का प्रारम्भ हुआ, तब साधारण आचार-संहिता के रूप में उसका बीज विचार-क्षेत्र से निकल कर कार्य-क्षेत्र में उप्त हुआ। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों उसमें अनेक नये-नये उन्मेष होते गए।

हर उत्थान अनेक उत्थानों को साथ लेकर आता है, हर पतन अनेक पतनों को। भारतीय जीवन में जब पुरा-काल में आचरणों के प्रति सावधानी हुई, तब उसका विकास यहाँ तक हुआ कि माल से भरी दूकानों में भी ताला लगाने की आवश्यकता नहीं रही। लिखी हुई बात का तो कहना ही क्या, किन्तु कही हुई या यों ही सहज-भाव से मुँह से निकली बात को निभाने के लिए प्राणोत्सर्ग तक भी कोई बड़ी बात नहीं रही; परन्तु जब उसी भारत में दूसरा दौर आरम्भ हुआ तो नैतिकता या सदाचार से जैसे विश्वास ही उठ गया। जेब में पड़ी चीज़ें गायब होने लगीं। लिखी हुई बात भी विश्वस-नीय नहीं रही। परमार्थ की वृत्ति में अग्रणी भारतीय आकण्ठ स्वार्थ में निमग्न हो गए। ऐसी ही स्थिति में आचार्यश्री ने पुनः आचरण-परिशोध की बात प्रारम्भ की, तो उसके साथ अनेक प्रकार के परिशोधों की ओर सहज ही दृष्टि जाने लगी। विचार-क्रान्ति को परिपुष्ट करने के लिए अणुव्रत-साहित्य का सिलसिला आरम्भ हुआ। यह आन्दोलन का प्रथम नवोन्मेष था। जो बातें शत-शत बार के कथन से हृदयंगम नहीं हो पातीं, वे साहित्य के द्वारा सहज ही हृदयंगम हो जाती हैं। अणुव्रत-साहित्य ने जीवन-परिशोध की जो प्रेरणाएं दीं, वे अन्यथा सुलभ नहीं हो सकती थीं।

विचार-प्रसार के लिए समय-समय पर विचार-परिषदों, गोष्ठियों, प्रवचनों तथा सार्वजनिक भाषणों का क्रम

प्रचलित किया गया। यह भी आन्दोलन की प्रवृत्तियों में एक नवोन्मेष ही था।

कार्य-क्षेत्र में भी विविध उन्मेष हुए। दहेज-विरोधी अभियान, व्यापारी-सप्ताह, मद्य-विरोधी तथा रिश्वत-विरोधी कार्यक्रम; ये सब आन्दोलन के कार्य-क्षेत्र को और अधिक विकसित करने में सहायक हुए। यही क्रम कुछ विकसित होकर वर्गीय नियमों के आधार पर विचार-प्रसार का माध्यम बना।

विचारों की पवित्रता को सुरक्षित रखने के लिए विद्यार्थियों को विशेष रूप में उचित पात्र समझा गया। आन्दोलन ने उन पर विशेष ध्यान दिया। अध्यापकों और विद्यार्थियों के द्वारा वहाँ अणुव्रत विद्यार्थी-परिषदों की स्थापना हुई। दिल्ली में यह कार्य विशेष रूप से संगठित हुआ। लगभग पचास हायर सैकण्डरी स्कूलों में अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् स्थापित हुई। उन सबको एक सूत्र में ग्रथित करने के लिए प्रत्येक स्कूल के प्रतिनिधियों के आधार पर केन्द्रीय अणुव्रत विद्यार्थी-परिषद् बनी। इस परिषद् ने दिल्ली में अनेक बार दहेज़-विरोधी कार्यक्रम सम्पन्न किये। भाषण-प्रतियोगिता, वाद-विवाद प्रतियोगिता आदि आयोजनों द्वारा छात्रों की सुरुचि को जागृत करने का प्रयास किया। दिल्ली के विद्यार्थियों में मुनि हर्षचन्द्रजी ने विशेष रूप से कार्य किया। मुनि माँगीलालजी ने भी इस कार्य को आगे बढ़ाया। कुछ अन्य शहरों तथा गाँवों में भी अणुव्रत विद्यार्थी-परिषदों का गठन हुआ, किन्तु उनमें प्राय स्थायित्व नहीं आ सका।

मुनि श्री नगराजजी के साथ रहते हुए मुनि मानमलजी ने राज्य-कर्मचारियों में कार्य करने की नई दिशा खोली। राजकीय विभागों को आन्दोलन के प्रति सक्रिय किया।

केन्द्रीय अणुव्रत-समिति की स्थापना भी आन्दोलन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। उसकी स्थापना आन्दोलन के कार्यों को व्यवस्थित गति देने के लिए हुई थी। साहित्य-प्रकाशन तथा 'अणुव्रत' नामक पत्र का प्रकाशन भी समिति ने किया। अणुव्रत-अधिवेशन के रूप में प्रतिवर्ष विचारों का आदान-प्रदान तथा एकसूत्रता का वातावरण बनाये रखने के लिए वह सदा प्रयत्न करती रही है। अब तक समिति के द्वारा विभिन्न स्थानों पर आचार्यश्री के सान्निध्य में ग्यारह अधिवेशन किये जा चुके हैं।

आन्दोलन के प्रसारार्थ आचार्यश्री तथा मुनिजनों का विहार-क्षेत्र ज्यों-ज्यों विकसित हुआ, त्यों-त्यों स्थानीय अणुव्रत-समितियों की भी काफी संख्या में स्थापना हुई। उन्होंने अपने स्थानीय आधार पर बहुत-कुछ काम किया है। उनमें कुछ का स्थायित्व तो काफी प्रशंसनीय रहा है; परन्तु कुछ बहुत ही स्वल्पकालिक निकलीं।

अणुव्रत-आन्दोलन का यह एक बहुत कमज़ोर पक्ष भी रहा है कि आचार्यश्री तथा मुनिजन कार्य को जहाँ आगे बढ़ाते रहे हैं, वहाँ पीछे से उसकी सार-सँभाल बहुत ही कम हो सकी है। इस शिथिलता के कारण बिहार तथा उत्तर प्रदेश के अनेक स्थानों में स्थापित अणुव्रत-समितियों से आज कोई विशेष सम्पर्क नहीं रह पाया है। यदि केन्द्रीय समिति इस कार्य को व्यवस्थित रूप दे सकती तो आन्दोलन की प्रगति को अधिक स्थायित्व मिलता और तब 'परिश्रम अधिक और फल कम' की बात कहने का किसी को अवसर नहीं मिलता।

अणुव्रत-आन्दोलन व्यक्ति-सुधार की दृष्टि से कार्य करता रहा है; किन्तु वह सामूहिक सुधार में भी दिलचस्पी रखता है। आचार्यश्री ने एक बार आन्दोलन का अगला क़दम परिवार-सुधार को बतलाते हुए कहा था, "अब हमें व्यक्ति से समष्टि की ओर अग्रसर होना है। परिवार-सुधार सामूहिक सुधार की दिशा में ही एक क़दम है।" आचार्यश्री की इस घोषणा को मैंने राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद के सम्मुख बातचीत के सिलसिले में रखा तो उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए कहा था—"अब समय आ गया है जबकि अणुव्रत-आन्दोलन को सामूहिक सुधार की दिशा में काम करना चाहिए।" यह १८ जुलाई, १९५९ की बात है। आचार्यश्री उसके बाद अपनी घोषणा के अनुसार क्रमशः उस ओर आन्दोलन को प्रगति देते रहे हैं।

परिवार-सुधार की उस योजना को विकसित कर उन्होंने नये मोड़ के रूप में समाज के सम्मुख कुछ बातें रखी हैं। इसमें प्राचीन रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वासों के विरुद्ध जन-मानस को तैयार करने का उपक्रम किया गया है। समाज के ऐसे बहुत-से कार्य हैं जो कि चालू परम्परा से किये जाते हैं; परन्तु आज उनका मूल्य बदल गया है। समाज के धनी-मानी लोग नये मूल्यों के अनुसार नये कार्य तो प्रारम्भ कर देते हैं, किन्तु सहसा प्राचीन कार्यों को छोड़ नहीं पाते। मध्यम

वर्ग के लोग उन्हें छोड़ना चाहते हुए भी इज़्ज़त का प्रश्न बना लेते हैं और छोड़ने के बजाय उनसे चिमटकर रह जाते हैं। उनकी गति साँप-छुछूँदर जैसी बन जाती है।

आचार्यश्री एक लम्बे समय से सामाजिक अभिशापों की बातें सुनते रहे हैं। उनके विषय में कुछ कहते भी रहे हैं। समाज में जन्म, विवाह और मृत्यु के समय किये जाने वाले संस्कार इतने विचित्र और इतने अधिक हैं कि उन सब को यथाविधि करने वाला तो शायद मिलना ही कठिन है। परन्तु प्रायः हर व्यक्ति कुछ-कुछ पुराने संस्कार छोड़ देता है तो कुछ नये अपना लेता है; यों वह बराबर उतना ही भार ढोये चलता है। दक्षिण के राजा रामदेव के मंत्री आचार्य हेमाद्रि ने अपने 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' ग्रन्थ में तथा उसी समय के काशी के पण्डित नीलकण्ठ, कमलाकर भट्ट आदि ने अपने ग्रन्थों में हिन्दुओं के क्रियाकाण्डों का विशद विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रत्येक नैष्ठिक हिन्दू को प्रतिवर्ष दो हजार के लगभग क्रियानुष्ठान करने आवश्यक होते हैं अर्थात् प्रतिदिन पाँच-छः अनुष्ठान। आजकल उन अनुष्ठानों में से बहुत से तो केवल पुस्तकों में ही रह गए हैं। फिर भी जो अवशिष्ट हैं तथा नये-नये प्रचलित किये जा रहे हैं, वे भी इतने हैं कि साधारण व्यक्ति उनके भार से दबा जा रहा है। आचार्यश्री अनुभव कर रहे हैं कि जब तक सामाजिक जीवन में सादगी को महत्त्व नहीं दिया जायेगा, तब तक अणुव्रत-भावना के प्रसारार्थ क्षेत्र की अनुकूलता नहीं हो सकेगी। इसलिए वे नये मोड़ पर इतना जोर देते हैं और चाहते हैं कि हर गाँव में सामाजिक स्तर पर कुछ नियम बनाये जायें और उनमें सादगी को प्रमुखता दी जाये।

अनेक स्थानों पर इस भावना के अनुरूप नियम बने हैं। जहाँ अभी तक नहीं बने हैं वहाँ के लिए प्रयत्न चालू हैं। प्रायः हर गाँव में ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं जो सादगी को पसन्द करते हैं, परन्तु इस कार्य में बाधाएं भी बहुत हैं। पुराने विश्वासों के स्थान पर नये विश्वासों को जमाना प्रायः सहज नहीं होता। यदि अणुव्रत-आन्दोलन यह कर देता है तो वह अपने लक्ष्य में से एक बहुत बड़े कार्य की पूर्ति कर लेता है।

प्रकाश-स्तम्भ

अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से जो कार्य हुआ है, वह परिणाम में भले ही बहुत कम हो, किन्तु मात्रा में काफी महत्त्वपूर्ण हुआ है। हृदय-परिवर्तन के ऐसे अनेक उदाहरण सामने आये हैं जो कि विरल ही मिल सकते हैं। एक बार दिल्ली सेंट्रल जेल में आचार्यश्री का भाषण हुआ। उसके कुछ ही दिन बाद एक सिपाही एक बन्दी को लिये हुए जा रहा था। एक अणुव्रती भाई भी उस तरफ ही जा रहा था। मार्ग में उस भाई ने बन्दी से पूछा—क्या तुमने जेल में आचार्यश्री का भाषण सुना था? बन्दी ने कहा—हाँ, सुना तो था; लेकिन वही भाषण यदि कुछ पहले सुन पाता तो मुझे यहाँ आना ही न पड़ता।

इसी प्रकार उत्तरप्रदेश की यात्रा में जब आचार्यश्री हाथरस पधारे, तब वहाँ मुनिश्री नगराजजी आदि ने व्यापारियों को प्रेरणा दी और अणुव्रत-आन्दोलन के वर्गीय नियमों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट किया। फलस्वरूप एक सौ नौ व्यापारियों ने मिलावट न करने आदि के नियम ग्रहण किये। उनमें छोटे-बड़े सभी प्रकार के व्यापारी थे। इस घटना को दिल्ली में जब मैं पंडित नेहरू से मिला, तब बातचीत के सिलसिले में उनके सामने रखा। वे हृदय-परिवर्तन की इस घटना से जहाँ आश्चर्याभिभूत हुए, वहाँ कुछ जिज्ञासु भी हुए। उन्होंने पूछा कि क्या उन सबके नाम पत्रों में प्रकाशित किये गए हैं? यदि नहीं तो शीघ्र ही वे नाम प्रकाशित होने चाहिए, ताकि अन्य व्यक्ति भी उनसे प्रेरणा ले सकें। वस्तुतः वे नाम उत्तरप्रदेश के पत्रों में उसी समय प्रकाशित हो चुके थे।

हृदय-परिवर्तन के ऐसे उदाहरण यत्र-तत्र उपलब्ध तो होते रहते हैं; परन्तु वे संकलित कठिनता से ही किये जाते हैं। अणुव्रत-समिति के वार्षिक अधिवेशनों के समय ऐसे उदाहरणों का संकलन सहज होता है। उस समय अधिवेशनों से पूर्व आचार्यश्री के सान्निध्य में एक अन्तरंग सम्मेलन किया जाता है। उसमें समागत अणुव्रती भाई-बहिन सम्मिलित होते हैं और अपनी-अपनी कठिनाइयाँ सामने रखते हैं। जिसने उन कठिनाइयों का सामना करने में किसी विशेष पद्धति का अनुसरण किया हो तो वह भी दूसरों की सुविधा के लिए सामने रखा जाता है। अणुव्रतियों के उन

अनुभवों से पता लगता है कि वे अनैतिकता के सामने डटे हैं। अपने उस कर्तव्य में मानवीय स्वभाव के अनुसार क्वचित् किसी की भूल हो जाना भी स्वाभाविक है; परन्तु वहाँ सबके सामने अनेक व्यक्तियों ने अपनी उन भूलों को भी स्वीकार किया है तथा उसका प्रायश्चित्त किया है। भूल करना बुरा होता है, परन्तु उसे छिपाना उससे भी अधिक बुरा होता है। जहाँ अधिकांश व्यक्ति अपनी भूल को छिपाना चाहते हैं, वहाँ अनेक व्यक्तियों के सम्मुख अपने ही द्वारा उसे स्वीकार कर लेना बड़े साहस का कार्य कहा जा सकता है।

एक ओर अर्थ-लाभ हो, तथा दूसरी ओर नैतिकता हो, वहाँ अर्थ-लाभ को ठुकरा देना बहुत कठिन होता है। किन्तु अनेक सदस्यों ने ऐसा किया है। उनके कुछ प्रेरणाप्रद उदाहरण अवश्य ही यहाँ प्रासंगिक होंगे।

क्या पूजें ?

एक व्यक्ति जब अणुव्रती बनकर अपने मालिक के यहाँ गया और उसने वहीखाते में गड़बड़ी न करने की अपनी प्रतिज्ञा ज़ाहिर की तो मालिक ने कहा—यदि ऐसा नहीं कर सकता तो क्या हम तुझे यहाँ बैठा कर पूजें ? और उसने उसे अपने यहाँ से हटा दिया। काफी समय तक उसे आर्थिक विपत्तियों का सामना करना पड़ा; किन्तु अब उसका कथन है कि वह विपत्ति ही उसके लिए वरदान बन गई। अब बाज़ार में उसकी साख बहुत ऊँची है और इस समय वह पहले से कहीं अधिक कमा लेता है।

नदी में

इसी प्रकार एक औषधि-विक्रेता के यहाँ दस हज़ार रुपयों का मिलावटी सिपरमेंट आ गया। एक अणुव्रती होने के नाते उसने उसे नदी में बहा दिया। यदि वह चाहता तो जैसे आया था, वैसे खपा भी सकता था। पर हज़ारों रुपयों का नुकसान उठाकर भी उसने ऐसा नहीं किया।

यह मुझे मंजूर नहीं

एक अन्य अणुव्रती ने दो सौ रुपये का अधिक इन्कमटैक्स लगा देने पर मुकदमा लड़ा। लोगों ने कहा—मुकदमा लड़ने पर तो दो सौ की जगह कहीं दो हज़ार खर्च होने की सम्भावना होती है, तब फिर ये दो सौ ही क्यों नहीं दे देते ? उसने कहा—दो सौ रुपये भी दूँ और चोर भी बनूँ, यह मुझे मंजूर नहीं।

रिश्वत या जेल

इनके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक उदाहरण सामने आये हैं जिनसे अनैतिकता का सामना करने की भावना को बढ़ाने में आन्दोलन की सतत जागरूकता का परिचय मिलता है। उदाहरण-स्वरूप उड़ीसा प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी के सदस्य तथा ग्राम-पंचायत के सदस्य एक अणुव्रती की घटना दी जा सकती है। एक बार उनके गाँव में सवर्ण तथा असवर्ण हिन्दुओं का परस्पर झगड़ा हो गया था और उसमें एक ब्राह्मण-दम्पती की हत्या कर दी गई। पुलिस-अफ़सर ने पंचायत वालों द्वारा जोर डालने पर भी, न जाने क्यों, उस मामले पर विशेष ध्यान नहीं दिया। उन्हीं दिनों सम्बलपुर में नेहरूजी आने वाले थे। उस अवसर पर टिटलागढ़ सब-डिवीज़न के प्रतिनिधि के रूप में उपर्युक्त अणुव्रती भाई वहाँ कांग्रेस कमेटी में भाग लेने वाले थे। संयोगवश उन्होंने पुलिस-अफ़सर से कह दिया कि मैं यहाँ की सारी घटना सम्बलपुर कांग्रेस कमेटी में कहूँगा। बस, फिर क्या था, पुलिस ने झूठा गवाह तैयार करके उन्हें फाँसा और हत्या में उनका भी हाथ होने के अभियोग में गिरफ्तार कर लिया। जब ये हिरासत में थे, पुलिसवालों ने अपने ढंग से उन्हें यह जतला दिया कि कुछ देकर वे इस झंझट से बच सकते हैं। किन्तु उन्होंने रिश्वत देकर छूटने से साफ इन्कार कर दिया। आखिर मुकदमा चला और सोलह महीने के बाद वे निर्दोष होकर छूटे। उनका कहना है कि राज्य की न्याय-व्यवस्था तथा पुलिस पर आक्रोश के भाव तो मन में अवश्य उभरे; पर इस बात का सन्तोष है कि कष्ट सहकर भी रिश्वत देने की भ्रष्ट पद्धति का अवलम्बन नहीं लिया।

ब्लैक स्वीकार नहीं

एक व्यापारी को अपने साथी दूसरे व्यापारी के साथ प्लास्टिक-चूर्ण का एक बड़ा कोटा मिला हुआ था। उस समय की ब्लैक-दर से उसमें लगभग तीन लाख का मुनाफ़ा होता था; किन्तु उस भाई को अणुव्रती होने के नाते ब्लैक करना स्वीकार नहीं था, अतः उसे वह व्यापार ही छोड़ देना पड़ा।

गुड़ की चाय

आसाम के एक व्यवसायी अणुव्रती होने के बाद कोई भी वस्तु ब्लैक से नहीं खरीदते थे। ब्लैक से खरीदे बिना उस समय चीनी प्राप्त कर लेना कठिन ही नहीं, असम्भव-प्राय ही था; परन्तु वे अपने नियम में पक्के रहे और गुड़ की चाय पीने लगे। एक बार उनके किसी सम्बन्धी के यहाँ कुछ अतिथि आये। उन अतिथियों में एक टैक्सटाइल सुपरिण्टेण्डेण्ट भी थे। चाय-पार्टी में वह अणुव्रती भाई भी सम्मिलित हुआ। किन्तु औरों के लिए जहाँ चीनी की चाय आयी, वहाँ उसके लिए गुड़ की चाय मँगायी गई। अतिथि-वर्ग इस विचित्र व्यवहार से चकित हुआ। जब उन्हें कारण से अवगत किया गया तो वे बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने तभी से ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उसे प्रति सप्ताह ढाई सेर चीनी नियन्त्रित भावों से मिलती रहे।

सत्य की शक्ति

एक सप्लाई-क्लर्क को उसके अफ़सर ने बुलाकर कहा—स्टाक में सीमेण्ट कम है और मांग अधिक है। जान-पहचान के कुछ व्यक्तियों को सीमेण्ट दिलाना है, अतः आप अपनी रिपोर्ट में अन्य व्यक्तियों की दरख्वास्त पर स्टॉक में सीमेण्ट न होना लिख देना। क्लर्क ने कहा—श्रीमन्, माफ करें! मैं तो ग़लत रिपोर्ट नहीं दे सकता। आपको ऐसा ही करना है तो मुझसे रिपोर्ट न माँगें। जिन्हें दिलाना चाहें, उनकी दरख्वास्त पर आर्डर लिख दें, मैं परिमिट बना दूँगा। उस अफ़सर पर इस बात का इतना प्रभाव पड़ा कि उसके द्वारा पेश किये गए कागज़ों पर उसके बाद बिना किसी संशय के हस्ताक्षर कर देने लगे। यहाँ तक कि कभी-कभी तो दूसरे विभागों के कागज़ात भी उसके पास भेजकर कह देते थे कि इन पर आर्डर लिख देना, मैं हस्ताक्षर कर दूँगा। इन्हीं सब बातों को देखते हुए उस भाई का विश्वास है कि सत्य में काफी शक्ति होती है। पर उसकी परीक्षा में डटे रहना ही सबसे अधिक कठिन है।

दूकानों की पगड़ी

दिल्ली में एक भाई ने नया मकान बनवाया। उसमें आठ दूकानें किराये पर देने को थीं। शहर में दूकानों की प्रायः कमी होती है, अतः लोग किराये के अतिरिक्त पगड़ी के रूप में भी हजारों रुपये पहले देने को तैयार रहते हैं। उस भाई की दूकानों के लिए भी पाँच-पाँच हज़ार रुपये की पगड़ी देने वाले कई व्यक्ति आये। इस प्रकार अनायास ही आठ दूकानों का चालीस हज़ार रुपया पगड़ी के रूप में मुफ़्त ही मिल रहा था। परन्तु अणुव्रती होने के नाते उसने वह पैसा स्वीकार नहीं किया और अपनी सारी दूकानें केवल उचित किराये पर ही दे दीं।

एक चुभन

एक अणुव्रती भाई की दूकान पर सेल्स-टैक्स इन्स्पेक्टर आया। उसने कुछ कपड़ा ख़रीदना चाहा। जो कपड़ा वह चाहता था, वह पहले ही स्टेशन मास्टर द्वारा ख़रीदा जा चुका था। वैसा और कपड़ा दूकान में था नहीं। दूकानदार ने कहा—आप दूसरा जो चाहें, कपड़ा ख़रीद लें; पर यह ख़रीदा हुआ कपड़ा मैं आपको कैसे दे सकता हूँ? इन्स्पेक्टर कुछ गर्म हुआ और चला गया। परन्तु उसके मन में चुभन हो गई। एक बार सेल्स-टैक्स ऑफ़िसर को उस दूकानदार ने हर वर्ष की तरह अपने बहीखाते दिखाये। वह उस पर फ़ैसला लिखने ही वाला था कि इतने में वह इन्स्पेक्टर वहाँ आ

गया और बोला—मैं इस फर्म की इन्क्वायरी करूँगा। ऑफ़िसर ने कह दिया, कर लो। अब उस दूकानदार का मामला सेल्स-टैक्स ऑफिसर से हटकर इन्स्पेक्टर के हाथ में आ गया। वह उसे आये-दिन तंग करने लगा। समय-असमय बुला लेता और तरह-तरह के प्रश्न करता रहता। वह एक प्रकार से वैर लेने की वृत्ति से काम कर रहा था। उसे फँसाने के लिए उसने उन सब तारीखों को गुप्त रूप से संगृहीत कर रखा था, जिनमें कि विभिन्न स्थानों से उसकी दूकान पर माल आया था। उसके पास इसका भी पूरा-पूरा ब्यौरा था कि म्युनिसिपल कमेटी का टरमिनल टैक्स कब दिया और कितना दिया। बहुत दिनों तक वह उसके बहीखाते भी देखता रहा। आखिर कहीं भी कोई पकड़ वाली बात हाथ न लगी। तब वह स्वयं ही अपने कार्य के प्रति लज्जित हुआ। दूकानदार के प्रति उसका हृदय भी बदला। आखिर उसने अपनी इन्क्वायरी की समाप्ति इन शब्दों में लिखकर की—"मैंने फर्म के बहीखाते बड़ी सावधानी से देखे हैं। इन में कहीं भी गोलमाल नहीं मिला।"

इस प्रकार के और भी बहुत से उदाहरण[1] हैं जो कि आन्दोलन के द्वारा सम्पन्न किये जाने वाले कार्य के प्रति मन में निष्ठा उत्पन्न करते हैं और दूसरों को यह प्रेरणा भी देते हैं कि संकल्प करने पर हर कोई वैसा बन सकता है। वस्तुतः शुभ संकल्प करना इतना कठिन नहीं होता, जितना कि बाद में प्रतिक्षण उस पर डटे रहना। किन्तु ऐसा किये बिना समाज में न आध्यात्मिकता पनप सकती है और न नैतिकता। उपर्युक्त उदाहरण हरएक व्यक्ति के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान हैं। कठिनाइयाँ पृथक्-पृथक् हो सकती हैं; परन्तु उन सबको हल करने का एकमात्र यही तरीका हो सकता है कि वह अपने-आप को इतना दृढ़ बनाये कि उस पर असत्य का नाग फन मार-मारकर भले ही मर जाये, पर उस पर उसके विष का कोई प्रभाव न हो सके।

१ इस प्रकार के अन्य बहुत से प्रेरणाप्रद संस्मरण मुनि श्री नगराजजी द्वारा 'प्रेरणा-दीप' नामक पुस्तक में संकलित किये गए हैं।

: ६ :

विहार-चर्या और जन-सम्पर्क

विहार-चर्या

कार्य-कारण भाव

'विहार चरिआ इसिणं पसत्था' इस आगम-वाक्य में ऋषियों की विहार-चर्या को ही प्रशस्त बताया गया है। भारतवर्ष में प्रायः हर संन्यासी के लिए यायावरता को अत्यन्त आवश्यक माना गया है। जीवन की गतिशीलता के साथ पैरों की गतिशीलता का अवश्य ही कोई अदृश्य सम्बन्ध रहा है। यहाँ के नीतिकारों ने देशाटन को चातुर्य का एक कारण माना है। उपनिषद्कारों ने 'चरैवेति-चरैवेति' सूत्र से केवल भावात्मक गतिशीलता को ही नहीं, अपितु देशाटन—यायावरता को विभिन्न उपलब्धियों का हेतु माना है। जैन मुनियों के लिए तो यह चर्या मुनि-जीवन के साथ ही सहज स्वीकृत होती है। आज जब कि वाहनों के विकास ने क्षेत्र की दूरी को संकुचित कर दिया है, जल, स्थल और आकाश की अगम्यता धीरे-धीरे गम्यता में परिणत हो गई है, तब भी जैनमुनि उसी प्राचीन परिपाटी के अनुसार पादचार से ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए देखे जा सकते हैं।

विहार-चर्या जनसम्पर्क की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। गाँवों और शहरों में हर प्रकार के व्यक्तियों तक पहुँचने के लिए एकमात्र सफल उपाय यही हो सकता है। तेज़ वाहनों पर चलने से वह सम्पर्क सम्भव नहीं हो सकता। मुनि जीवन के लिए जिस साधारणीकरण की आवश्यकता होती है वह इस चर्या के द्वारा ही सम्पन्न हो सकता है। विशिष्ट उद्देश्य की पूर्ति के लिए स्वीकृत यह आदर्श अपने-आप में जन-सम्पर्क की अद्वितीय क्षमता सँजोये हुए है। विहार-चर्या और जन-सम्पर्क में परस्पर कार्य कारण भाव का सम्बन्ध है। राजघाट पर आचार्यश्री तुलसी और विनोबाजी का मिलन हुआ। विनोबाजी ने कहा मैंने भी जैन मुनियों की तरह पैदल चलने का निश्चय किया है। उनके इस कथन से मुझे लगा कि जन-सम्पर्क के लिए विनोबाजी ने भी इसे सर्वोत्तम साधन माना है। किन्तु दोनों की स्थितियों में अन्तर है। विनोबाजी की पद-यात्रा उनका व्रत नहीं है जब कि आचार्यश्री की पद-यात्रा उनका व्रत है।

प्रचण्ड जिगमिषा

यों तो प्रत्येक जैन-मुनि दीक्षा-ग्रहण के साथ ही आजीवन के लिए पद-यात्री बन जाता है; परन्तु आचार्यश्री की पद-यात्राएं अपने साथ एक विशेष कार्यक्रम लिये हुए हैं। वे आज तक जितना घूम चुके हैं, उससे कहीं अधिक घूमना उनके लिए अवशिष्ट है। उनकी गति की त्वरता यही बतलाती है कि अभी उनके लिए बहुत काम अवशिष्ट है, शिथिल गति से उसकी पूर्ति नहीं की जा सकती। वे लगभग सोलह-सत्रह हज़ार मील चल चुके हैं, परन्तु आज भी उनका चलने का उत्साह बिलकुल नया बना हुआ है। एक यात्रा समाप्त करते हैं उससे पहले ही वे अन्य यात्राओं की भूमिका बांध लेते हैं। वे गुजरात में 'वाव' गये थे, परन्तु उससे बहुत पहले वहाँ जाने की स्वीकृति दे चुके थे। मेवाड़ से थली में आने से पूर्व ही वापस मेवाड़ और उदयपुर पहुँचने की अन्तिम तिथि का निर्धारण उन्होंने कर दिया। दक्षिण-यात्रा का विचार उनके मन में एक अधूरे स्वप्न की तरह सदैव अपनी पूर्ति की माँग करता रहता है। वस्तुतः यात्रा में वे अपने-आपको अपेक्षाकृत अधिक ताज़ा और प्रसन्न अनुभव करते हैं। नवीनता से वे चिर-बन्धन करके आये हैं। एक स्थिति में या एक क्षेत्र में

ठहरना उनके मन ने कभी स्वीकार नहीं किया है। वे गति चाहते हैं, अपने लिए भी और दूसरों के लिए भी। एक प्रचण्ड जिगमिषा उन्हें अज्ञात रूप से सतत प्रेरित करती रहती है।

शाश्वत यात्री

आठ-दस मील चलने को अब वे बहुत साधारण गिनते हैं। चौदह-पन्द्रह मील चलने पर उन्हें कहीं विहार करने का मनस्तोष मिल पाता है। आवश्यकता होने पर बीस-बाईस मील चल लेना भी उन्हें कोई अधिक कठिन कार्य नहीं लगता। सं० २०१३ में सरदार शहर से दिल्ली पहुँचे तो प्रायः प्रतिदिन बीस मील के लगभग चले। कलकत्ता से थली में आये तो प्रायः प्रतिदिन पन्द्रह-सोलह मील चले। बीच-बीच में, क्वचित् उससे अधिक भी चले। उन्हें मानो गति में थकान नहीं आती, स्थिति में आती है। इस समय उनके आचार्य-काल को पच्चीस वर्ष समाप्त हो रहे हैं। उसके पूर्वार्द्ध में वे बहुत कम घूमे। उस समय की उनकी गतिविधि केवल थली (बीकानेर डिवीज़न) तक ही सीमित रही। परन्तु उत्तरार्द्ध में वे इतने घूमे कि पूर्वार्द्ध में कम घूमने की बात अविश्वसनीय-सी बन गई।

अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना और सुदूर यात्राएं प्रायः साथ-साथ ही प्रारम्भ हुई। राजस्थान, दिल्ली, पंजाब उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, मध्यभारत, गुजरात, महाराष्ट्र आदि प्रान्त उनके चरण-स्पर्श का लाभ प्राप्त कर चुके हैं। भारत के अवशिष्ट प्रान्त सम्भवतः उन्सुकतापूर्वक उसकी प्रतीक्षा में हैं। आगामी यात्राओं का उनका क्या कार्यक्रम है, यह तो वे ही जानें; परन्तु पिछली यात्राओं को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि जन-मानस को प्रेरित करने के लिए ऐसी यात्राएं बहुत ही उपयोगी होती हैं। उनकी यात्राओं को काल-क्रम के हिसाब से चार भागों में बाँटा जा सकता है—दिल्ली-पंजाब यात्रा, गुजरात-महाराष्ट्र-मध्यभारत यात्रा, उत्तरप्रदेश-बिहार-बंगाल-यात्रा और राजस्थान-यात्रा। यद्यपि उनके इस भ्रमण के लिए 'यात्रा' शब्द उतना अनुकूल नहीं बैठता, क्योंकि यात्री किसी एक निर्णीत स्थान से चलता है और जब पुनः अपने स्थान पर पहुँच जाता है, तब उसकी एक यात्रा समाप्त मानी जाती है। परन्तु आचार्य-श्री के लिए अपना कोई स्थान नहीं है। यों सभी स्थानों को वे अपना ही मानते हैं, पराया उनके लिए कोई नहीं है। तब फिर कहाँ से यात्रा का प्रारम्भ हो और कहाँ अन्त? वे शाश्वत यात्री हैं और उनकी यात्रा भी शाश्वत है। वह उनके जीवन की एक अभिन्न चर्या है। इसीलिए आगम उसे 'विहार-चर्या' के नाम से पुकारते हैं। केवल जन-प्रचलित भाषा-प्रयोग की निकटता के लिए ही यहाँ मैंने 'यात्रा' शब्द का प्रयोग कर लिया है।

प्रथम यात्रा

आज से लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व, जब कि अध्यात्म-प्राण भारत-भूमि में हिंसा, जातीयता, कामुकता, शोषण और संग्रह आदि की प्रवृत्तियाँ ज़ोर पकड़ रही थीं, तब गौतम बुद्ध ने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा था—

"चरत भिक्खवे चारिकं, चरत भिक्खवे चारिकं,
बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय।"

अर्थात्, हे भिक्षुओ! बहुत जनों के हित और सुख के लिए लिए तुम पाद-विहार करो, पाद-विहार करो! भिक्षुओं ने पूछा—भदन्त! अज्ञात प्रदेश में जाकर हम लोगों से क्या कहें? बुद्ध ने कहा—

पाणी न हंतव्वो,
अदिन्नं न दातव्वं,
कामेसु मुच्छा न चरितव्वा,
मूसा न भासितव्वा,
मज्जं न पातव्वं।"

अर्थात्—"प्राणियों की हिंसा मत करो, चोरी मत करो, कामासक्त मत बनो, मृषा मत बोलो और मद्य मत पीओ!" उन्हें इस पंचशील का सन्देश दो। अपने शास्ता की आज्ञा को शिरोधार्य कर भिक्षु चल पड़े। उस छोटी-सी

घटना ने वह विस्तार पाया कि एक दिन समस्त एशिया भू-खण्ड में पंचशील का घोष फैल गया।

अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ भी उसी प्रकार की स्थितियों में हुआ। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ भारत में हिंसा, जातीयता, गरीबी और शोषण आदि का दुश्चक्र बहुत तेजी से घूमने लगा। लम्बी पराधीनता के कारण जनता का चरित्र-बल शून्यता के आस-पास ही पहुँच चुका था। देश को सर्वाधिक तात्कालिक आवश्यकता चरित्र-निर्माण की थी। उस समय आचार्यश्री ने अपने शिष्यों से कहा, "साधुओ ! स्व-पर-कल्याण के लिए विहार करो और गाँवों तथा नगरों में पहुँचकर चरित्र-उत्थान का सन्देश दो।" उन्होंने उन सबको पंचशील के स्थान पर पंच-अणुव्रतों की व्यवस्थित रूप-रेखा दी। वे पाँच अणुव्रत ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

उन्होंने कहा—"अहिंसा आदि की पूर्णता तक पहुँचना जीवन का परम लक्ष्य होना चाहिए और उनको अणु-रूप से प्रारम्भ कर अधिकाधिक जीवन-व्यवहार में उतारते जाना प्रतिदिन का काम होना चाहिए। अतः तुम संसार को अणु से पूर्ण की ओर बढ़ने का सन्देश दो।" मुनिजन अपने नियामक के निर्देश को घर-घर पहुँचाने में जुट गए। उत्तर में शिमला से लेकर दक्षिण में मद्रास तक तथा पूर्व बंगाल से लेकर पश्चिम में बम्बई-महाराष्ट्र तक पद-यात्राओं का एक सिलसिला प्रारम्भ हो गया। अणुव्रतों के घोष से वायुमण्डल मुखरित हो उठा। जनता के सुप्त मानस में पुनः एक हलचल प्रारम्भ हुई।

आचार्यश्री स्वयं भी इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपनी ऐतिहासिक पद-यात्राओं के लिए चल पड़े। सरदारशहर (राजस्थान) में अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात कर वे राजस्थान के छोटे ग्रामों में वह सन्देश देते हुए वहाँ की राजधानी जयपुर में आये। वहाँ अणुव्रत-आन्दोलन को प्राथमिक बल मिला। पत्र-पत्रिकाओं में उसकी चर्चा हुई। प्रारम्भ काल था, अतः विविध सन्देहों के बादल भी घिरे। प्रकाश-किरण को सर्वथा अस्तित्वहीन कर देने का सामर्थ्य बादलों में नहीं होता। वे कुछ समय के लिए उसको धूमिल या मन्थर कर सकते हैं, परन्तु आखिर उन्हें हटना ही पड़ता है। विरोधों और अवरोधों के बावजूद आन्दोलन का प्रकाश फैला। जनता आकृष्ट हुई, चारों ओर से ऐसे कार्यक्रम की आवश्यकता का महत्त्व स्वीकार किया जाने लगा। आचार्यश्री को अपने कार्य की उपयोगिता पर और अधिक दृढ़ता से विश्वास करने का अवसर मिला। वहाँ से वे आगे बढ़े और अलवर, भरतपुर, आगरा व मथुरा जैसे देश के प्रसिद्ध नगरों तथा मार्ग के देहातों की पद-यात्रा करते हुए भारत की राजधानी दिल्ली में पधारे। दिल्ली में तेरापंथ के आचार्यों का यह सर्वप्रथम पदार्पण था। वहाँ उन्होंने अपने प्रथम भाषण में ही यह घोषणा की—मैं अपने संघ की शक्ति को राष्ट्र की नैतिक सेवा व नैतिक उत्थान के लिए अर्पित करने राजधानी में आया हूँ। तब उस घोषणा को कुछ ने आश्चर्य की दृष्टि से व कुछ ने उपहास और उपेक्षा की दृष्टि से देखा। दिल्ली-जैसे हलचल से भरे और आधुनिकता में पगे शहर के नागरिकों को उस समय यह विश्वास होना भी कठिन हो रहा था कि आधुनिक साधन-सामग्री से सर्वथा विहीन यह पैदल चलने वाला व्यक्ति विश्व-हित की भावना लेकर देश को कोई सन्देश दे सकेगा? किन्तु धीरे-धीरे उनका वह भ्रम दूर हो गया। आचार्यश्री की आवाज को वहाँ वह बल मिला जिसकी कि सारे देश तथा विदेशों में प्रतिक्रिया हुई।

वहाँ से हरियाणा तथा पंजाब के विभिन्न स्थानों पर अपना सन्देश देते हुए आचार्यश्री वर्षावास करने के लिए पुनः दिल्ली आये। यह उनकी देश के चारित्रिक उत्थान के लिए की गई प्रथम यात्रा कही जा सकती है। इसमें जन-साधारण से लेकर राष्ट्र के कर्णधारों तक आपने अणुव्रत-आन्दोलन की विचार-धारा को पहुँचाया। इसी यात्रा में उनका राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, प्रधानमन्त्री जवाहरलाल नेहरू तथा आचार्य विनोबा भावे के साथ आन्दोलन तथा राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक स्थितियों के विषय में प्रथम विचार-विमर्श हुआ। आचार्यश्री की उस प्रथम यात्रा का महत्त्व यदि अति संक्षिप्त शब्दों में कहना हो तो यह कहा जा सकता है कि उनकी उस यात्रा ने भारतीय जन-मानस को यह विश्वास करा दिया कि आध्यात्मिक दुर्भिक्षता के अवसर पर आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में एक जीवनदायी वर-दान लेकर आये हैं।

इस यात्रा के लगभग पाँच वर्ष बाद आचार्यश्री तीसरी बार दिल्ली में फिर गये। प्रथम यात्रा की तुलना में उस समय बहुत बड़ा अन्तर आ गया था। पहले-पहल जहाँ आचार्यश्री तथा अणुव्रत-आन्दोलन को प्रचण्ड विरोध सहना पड़ा

था, तरह-तरह की आशंकाओं का सामना करना पड़ा था, साम्प्रदायिक संकीर्णता, धार्मिक गुटबन्दी तथा पूँजीपतियों का राजनैतिक स्टण्ट होने के आरोप झेलने पड़े थे; वहाँ तीसरी बार की यात्रा में उनका आशातीत स्वागत और कल्पनातीत समर्थन किया गया। प्रथम बार ही आचार्यश्री की वाणी ने राजधानी के आध्यात्मिक व नैतिक वातावरण में एक प्रचण्ड हलचल पैदा कर दी थी। इस बार उसकी लहरें और भी अधिक प्रभावक रूप में सामने आयीं। यद्यपि यह प्रवास केवल चालीस दिन का ही था, फिर भी इस थोड़े-से समय में अणुव्रतों के दिव्य रूप की जो छाप राजधानी के माध्यम से देश तथा विदेश के विचारकों पर पड़ी, वह इस यात्रा की सबसे बड़ी सफलता थी।

आचार्यश्री के उस पदार्पण का अवसर ही कुछ ऐसा था कि उस समय यूनेस्को-कान्फ्रेंस, बौद्ध गोष्ठी तथा जैन गोष्ठी आदि के सांस्कृतिक समारोहों के कारण देश-विदेश के कुछ विशिष्ट विचारक पहले से ही राजधानी में उपस्थित थे। इस स्थिति से आचार्यश्री के सन्देश को उन लोगों तक पहुँचाने के लिए अनायास ही अनुकूलता हो गई थी। लगता है, इस प्रवास के पीछे कोई सुदृढ़ आन्तरिक प्रेरणा काम कर रही थी। बाहरी प्रेरणा भी कोई कम नहीं थी। राष्ट्र की आध्यात्मिक और नैतिक स्थिति को देखते हुए देश के सभी विचारक यह अनुभव करते थे कि राष्ट्रोत्थान की अन्य योजनाओं के साथ नैतिक उत्थान का कार्य भी बहुत आवश्यक है। इसी अनुभूति ने उन सबका ध्यान आचार्यश्री और उनके आन्दोलन की ओर आकृष्ट किया। आचार्यश्री द्वारा अनुष्ठित नैतिक निर्माण की गूंज राजधानी में निरन्तर सुनी जाती रही। उससे उच्च राजनीतिक क्षेत्र भी प्रभावित हुआ। सम्भवतः इसीलिए पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुनिश्री नगराजजी से हुई एक मुलाकात में आचार्यश्री के दिल्ली-आगमन विषयक निवेदन किया था। अणुव्रत-आन्दोलन के अन्य समर्थकों और कार्यकर्ताओं की भी यह प्रबल इच्छा थी कि इस महत्त्वपूर्ण अवसर पर आचार्यश्री अवश्य राजधानी आयें; क्योंकि वे वहाँ आयोजित होने वाले सांस्कृतिक कार्यक्रमों का लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए प्राप्त करने की प्रबल इच्छा रखते थे। राजधानी के अनेक विशिष्ट नेता तथा कार्यकर्ता आचार्यश्री के सम्मुख यह अनुरोध करते रहे थे कि सं० २०१३ का वर्षाकाल वे दिल्ली में ही बितायें। किन्तु अनेक कारणों से आचार्यश्री उस अनुरोध को स्वीकार नहीं कर सके और उन्होंने वह वर्षाकाल सरदारशहर में बिताया। वहाँ उन लोगों का यह निवेदन रहा कि वर्षाकाल-समाप्ति के तत्काल बाद यदि आचार्यश्री दिल्ली पहुँच जायें तो उन सभी सांस्कृतिक कार्यक्रमों तथा जन-सम्पर्क का सहज प्राप्य लाभ अणुव्रत-आन्दोलन के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।

आचार्यश्री को उन लोगों का सुझाव उपयुक्त लगा। वे दिल्ली की तीसरी यात्रा का वातावरण बनाने लगे। उन्होंने इस विषय में मुनिजनों से आवश्यक विचार-विनिमय किया और दिल्ली-यात्रा की घोषणा कर दी। चातुर्मास समाप्त होते ही उन्होंने वहाँ से प्रस्थान कर दिया। आचार्यश्री ने अपने एक प्रवचन में दिल्ली-यात्रा के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए कहा था—"मेरा वहाँ जाने का उद्देश्य देश-विदेश से आये लोगों से सम्पर्क करना और दिल्लीवासियों की प्रार्थना पूरी करना है। वहाँ के नेताओं का भी ख्याल है कि मेरा वहाँ जाना उपकारक हो सकता है।"[1]

आचार्यश्री को वहाँ जिन कार्यक्रमों में भाग लेना था, उनकी तिथियाँ काफी पहले से निश्चित हो चुकी थीं। उनमें परिवर्तन की गुंजायश नहीं थी। समय बहुत कम था और मार्ग बहुत लम्बा था। सरदारशहर से दिल्ली लगभग दो सौ मील है। आचार्यश्री लम्बे विहार करते हुए सिर्फ ग्यारह दिन में वहाँ पहुँच गए। जिस उद्देश्य को लेकर वे दिल्ली गये थे, वह आशातीत रूप से परिपूर्ण हुआ। वहाँ यूनेस्को के प्रतिनिधि, बौद्ध भिक्षु, देश-विदेश के विद्वान्, नैतिक व सांस्कृतिक आन्दोलनों में लगे हुए अनेक प्रचारक, राष्ट्र के धुरीण राजनीतिज्ञ आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनमें अंग्रेज, अमेरिकन, फ्रांसीसी, जर्मन, जापानी, श्रीलंकावासी लोगों का सम्पर्क अपेक्षाकृत अधिक रहा। उनकी मुलाकात, जिज्ञासाएं तथा विचार-मन्थन बहुत ही रोचक रूप से चला करते थे। उनमें से कई व्यक्ति तो वहाँ ऐसे भी मिले जो अनन्तर रूप से परिचित तो नहीं थे, किन्तु परम्पर रूप से परिचित थे। उनमें जर्मन विद्वान् प्रो० हरमन जैकोबी के दो शिष्य—प्रो० ग्लासनाथ और प्रो० हॉफमैन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे दिल्ली-प्रवेश के प्रथम दिन ही, जब कि आचार्यश्री वार्ड०

---

१ नव-निर्माण की पुकार, पृ० १०

एम० सी० ए० हॉल में 'बौद्ध गोष्ठी' में सम्मिलित होने गये, बहुत देर से बड़ी उत्सुकता के साथ प्रतीक्षा करते हुए मिले। उनके गुरु प्रो० हरमन जैकोबी जैनागमों के ख्याततामा विद्वान् थे। वे जब भारत-यात्रा पर आये थे, तब लाडनूं (राजस्थान) में अष्टमाचार्य श्री कालूगणी से मिले थे और जैनागमों की अनेक उलझी हुई समस्याओं पर विचार-विनिमय किया था। उन दोनों जर्मन प्रोफेसरों को इस बात की विशेष प्रसन्नता थी कि आचार्यश्री के गुरु और उनके गुरु का जो धार्मिक सम्पर्क हुआ था, वह आज दोनों ही ओर की अगली पीढ़ी में पुनः नवीन हो रहा था।

वह यात्रा न केवल जन-सम्पर्क की दृष्टि से ही सम्पन्न थी, अपितु नाना आयोजनों ने भी उसके महत्त्व को बढ़ा दिया था। अणुव्रत-सेमिनार, राष्ट्रीय चरित्र-निर्माण सप्ताह, मैत्री-दिवस, चुनाव-शुद्धि प्रेरणा, संस्कृत-गोष्ठी, साहित्य-गोष्ठी तथा विविध संस्थाओं और स्थानों पर हुए आचार्यश्री के प्रवचन मुख्यतः अणुव्रत विचार-प्रसार के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध हुए। अणुव्रत-सेमिनार का उद्घाटन अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातनामा विद्वान् डा० लूथर इवान्स ने, मैत्री-दिवस का उद्घाटन राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने तथा चरित्र-निर्माण सप्ताह का उद्घाटन पं० जवाहरलाल नेहरू ने किया था।

दिल्ली के वे चालीस दिन आचार्यश्री ने इतनी व्यस्तता में बिताये थे कि उनके पास प्रायः अतिरिक्त समय बच ही नहीं पाता था; फिर भी वे वहाँ के नागरिकों का आध्यात्मिक और नैतिक भूख को पूरा नहीं कर सके। उन्होंने मर्यादा-महोत्सव की स्वीकृति सरदारशहर के लिए पहले ही दे दी थी, अतः उससे अधिक ठहरना वहाँ सम्भव नहीं था। वह स्वल्पकालीन प्रवास सभी दृष्टियों से इतना प्रभावक रहा कि सुप्रसिद्ध पत्रकार सत्यदेव विद्यालंकार ने उसकी तुलना रोम-सम्राट् जूलियस सीजर की मिश्र-विजय पर प्रस्तुत की गई रिपोर्ट के शब्दों से की है। जूलियस सीजर ने अपनी बात को अति संक्षेप में यों कहा था—"मैं गया, मैंने देखा और मैंने जीत लिया।" सत्यदेवजी कहते हैं—"जूलियस सीज़र के शब्दों को कुछ बदलकर हम आचार्यश्री की धर्म-यात्राओं का विवरण इन शब्दों में देने का साहस कर रहे हैं—"वे आये, उन्होंने देखा और जीत लिया।"[1]

इस यात्रा के बाद आचार्यश्री चौथी बार दिल्ली में तब गये जब कि वे कलकत्ता से राजस्थान आ रहे थे। परन्तु उस समय वे वहाँ केवल चार दिन ही ठहरे। वह प्रवास दिल्ली के लिए नहीं था, फिर भी पत्रकार-सम्मेलन, विचार-परिषद् तथा राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री आदि से हुई मुलाकातों से वह अति स्वल्पकालीन प्रवास भी काफी महत्त्व का हो गया। दिल्ली की वे सभी यात्राएं अपने-अपने प्रकार का पृथक्-पृथक् महत्त्व रखती हैं। इन सबमें अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यक्रम को बहुत बल मिला है।

द्वितीय यात्रा

आचार्यश्री की द्वितीय यात्रा सं० २०१० के राणावास मर्यादा-महोत्सव के बाद प्रारम्भ हुई। कुछ दिन कांठे के गाँवों में विचरने के बाद आबू के मार्ग से वे गुजरात में प्रविष्ट हुए। आबू में वे रघुनाथजी के मन्दिर में ठहरे थे। वहाँ से दूसरे दिन देलवाड़ा के प्रसिद्ध जैन मन्दिरों में गये। प्राचीन काल के गौरव मण्डित जैन-इतिहास के साक्षी बनकर खड़े ये मन्दिर अपनी अपूर्व भव्यता से मन को आकृष्ट करते हैं। शान्त और स्निग्ध वातावरण में प्रशान्त मुद्रासीन मूर्तियाँ भगवान् की साधना को अनायास ही स्मृति-पटल पर ला देती हैं। देलवाड़ा मार्ग में नहीं था। टेढ़े मार्ग से जाना पड़ा था, अतः वापस आबू ही आ गए। आबू राजस्थानियों की ओर से दी गई विदाई और गुजरातियों की ओर से किये गए स्वागत का संधि-स्थल बन गया।

गुजरात में प्रवेश हुआ, उस समय तक गर्मी काफी तेज़ पड़ने लगी थी। लूएं झुलसाये डालती थीं, तो सूर्य की किरणों का ताप शरीर को पिघाल-पिघाल डालता था। फिर भी मंज़िल पर मंज़िल कटती गई और आचार्यश्री बाव पहुँच गए। बाव अब थराद सब डिवीज़न का प्रमुख शहर है, परन्तु पहले भूतपूर्व राणा हरिसिंह की राजधानी था। राणा आचार्यश्री के प्रति बहुत श्रद्धा रखते रहे हैं। दूर दूर तक आकर दर्शन भी करते हैं। पाँच-छः वर्ष पूर्व बाव के

१. नव-निर्माण की पुकार, पृ० ६

श्रावकों तथा राणा ने आचार्यश्री के दर्शन किये थे, तब बाव-पदार्पण के लिए काफी प्रार्थना की थी। वह प्रार्थना इतनी प्रभावशाली सिद्ध हुई कि आचार्यश्री ने उसी समय यह स्वीकृति दे दी थी कि उधर आयेंगे, तब यथावसर बाव भी आने का विचार रखेंगे। इतने लम्बे समय के बाद अब वह वचन पूर्ण हुआ।

वहाँ से आचार्यश्री अहमदाबाद पधार गए। वह क्षेत्र कच्छ, सौराष्ट्र तथा गुजरात—तीनों के ही लिए अनुकूल पड़ सकता है। अतः वर्षाकाल वहीं व्यतीत करने की प्रार्थना की गई, पर वह स्वीकृत नहीं हुई। सौराष्ट्र के तत्कालीन मुख्य मन्त्री श्री ढेबर भाई की सौराष्ट्र-पदार्पण के लिए काफी आग्रह-भरी प्रार्थना थी, पर वह भी स्वीकृत नहीं हुई। आचार्यश्री ने पहले से ही अपने मन में जो निर्णय कर रखा था, उसी के अनुसार उन्होंने सूरत की ओर प्रस्थान कर दिया।

गुजरात में तेरापंथ के प्रतिष्ठापन में सूरत प्रमुख रूप से कार्य करने वाला क्षेत्र रहा है। धर्म-प्रसार में जी-जान लगाने वाले सुप्रसिद्ध श्रावक मगनभाई वहीं के थे। वहाँ केवल तीन दिन ठहरना हुआ। शायद वहाँ और अधिक विराजते; किन्तु उस क्षेत्र की वर्षा ऋतु के क्रम को देखते हुए शीघ्र ही बम्बई पहुँच जाना आवश्यक समझा गया था। बम्बई की ओर विहार करते हुए आचार्यश्री प्रतिदिन प्रायः पन्द्रह-सोलह मील चला करते, फिर भी मार्ग में वर्षा शुरू हो गई। उससे तीव्र गर्मी से तो कुछ छुटकारा मिला, पर दूसरी अनेक दुविधाएं पैदा हो गईं। वर्षा के कारण विहार का समय बिल्कुल अनिश्चित हो गया। कभी समय पर विहार हो जाता और कभी नहीं। मार्ग काटना था, अतः कभी फिर मध्याह्न में और कभी सायं लम्बा चलना पड़ता। नदी-नालों से बचने के लिए रेल की पटरी का मार्ग लिया गया, किन्तु वहाँ कंकरों के मारे पैर छलनी हो जाते। नीचे चलने तो वर्षा से भीगी हुई चिकनी मिट्टी पैरों से इतनी मात्रा में चिपट जाती कि उसका भार महसूस होने लगता। इसी प्रकार की अनेक कठिनाइयों को पार करते हुए आचार्यश्री बम्बई के एक उपनगर 'बोरीवली' पहुँच गए। तब तक वे लगभग हजार मील चल चुके थे। उनकी उद्दिष्ट यात्रा का वहाँ एक भाग सम्पन्न हो गया था। इससे उनके मन में एक सहज निश्चिन्तता का भाव उदित हुआ।

चातुर्मासिक काल से पूर्व तथा पश्चात् बम्बई के विभिन्न उपनगरों में रहना हुआ। वर्षाकाल सिक्कानगर में बिताया। मर्यादा-महोत्सव के लिए भी पुनः सिक्कानगर आये। लगभग नौ महीने का वह प्रवास हुआ। इस प्रवास-काल के प्रारम्भिक महीनों में ज्यों-ज्यों कार्य बढ़ा, त्यों-त्यों एक ओर तो जनता आकृष्ट हुई, पर दूसरी ओर कुछ व्यक्तियों द्वारा विरोध भी हुआ। वहाँ के कुछ दैनिक पत्र ऐसे व्यक्तियों के हाथ में थे जो आचार्यश्री तथा उनके मिशन से विरोध रखते थे। धीरे-धीरे उन लोगों को यह पता लग गया कि आचार्यश्री का विरोध कर वे जन-दृष्टि में अपने पत्र के महत्त्व को गिरा ही रहे हैं। पिछले महीनों में विरोध की यह तीव्रता मन्द हो गई।

मर्यादा-महोत्सव के बाद आचार्यश्री ने इस यात्रा का दूसरा चरण प्रारम्भ किया। उस समय उन्हें चौपाटी पर विदाई दी गई। एक ओर चौपाटी का विशाल समुद्र था तथा दूसरी ओर जन-समुद्र था। उस समय दोनों ही उद्वेलित थे। एक वायु से तो दूसरा विदाई के वातावरण से। लोकमान्य तिलक की मानवाकार पाषाण-मूर्ति उन दोनों की ही समस्याओं को समझने का प्रयत्न करती हुई-सी पास में खड़ी थी। लोगों के मन में उस समय एक ओर कृतज्ञता के भाव तथा दूसरी ओर विरह के भाव उमड़ रहे थे; किन्तु आचार्यश्री उन दोनों से अलिप्त रह कर अपने पथ पर आगे बढ़ते हुए पूना पधार गए।

पूना को दक्षिण भारत की काशी कहा जा सकता है। वहाँ संस्कृत के धुरीण विद्वान् काफी संख्या में हैं। वहाँ के विद्या-व्यसनी कुछ व्यक्तियों ने तो अपना जीवन ही इस कार्य में झोंक दिया है। आचार्यश्री के पदार्पण से वहाँ का सांस्कृतिक तथा साहित्यिक क्षेत्र मानो एक सुगन्ध से महक उठा। यद्यपि वहाँ का प्रवास-काल अति संक्षिप्त था, फिर भी स्थानीय विद्वानों से परिचय की दृष्टि से वह बहुत महत्त्वपूर्ण रहा।

वहाँ से महाराष्ट्र के विभिन्न गाँवों में विहार करते हुए आचार्यश्री एलौरा तथा अजन्ता की सुप्रसिद्ध गुफाओं में भी पधारे। ये दोनों ही स्थल प्राकृतिक दृष्टि से अत्यन्त रमणीय हैं। ये गुफाएं वहाँ उस पहाड़ को उत्कीर्ण करके ही बनायी गई हैं। वहाँ की उत्कीर्ण मूर्तियाँ बहुत ही कलापूर्ण हैं। उन्हें प्राचीन स्थापत्य का उत्कृष्ट उदाहरण कहा जा सकता है। एलौरा में जहाँ जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनों ही संस्कृतियों की गुफाएं तथा मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं, वहाँ अजन्ता में केवल

बौद्ध मूर्तियाँ ही हैं। वहाँ बुद्ध की जीवन-सम्बन्धी अनेक घटनाएं तथा जातक-कथाएं आलिखित तथा उत्कीर्ण हैं। आलिखित चित्रों का रंग बहुत प्राचीन होने पर भी नवीन-सा लगता है। कई मूर्तियाँ इस प्रकार के कौशल से उत्कीर्ण की गई हैं कि उन्हें विभिन्न तीन कोणों से देखने पर तीन विभिन्न आकृतियाँ दिखलाई पड़ती हैं। वहाँ के कई स्तम्भ ऐसे हैं कि उन्हें हाथ से बजाने पर तबले की सी ध्वनि उठती है। वहाँ मनुष्यों तथा पशुओं की तो अनेक भावपूर्ण मुद्राएं अंकित की ही गई हैं; किन्तु बेल-बूटों के भी मनोहारी दृश्य चित्रित हैं। अजन्ता में जाने से पूर्व दिन की रात्रि उन्होंने 'व्यू पोइण्ट' पर बिताई थी। 'व्यू पोइण्ट' उस स्थान को कहते हैं, जहाँ से एक अंग्रेज शिकारी को अजन्ता की उन विस्मृत गुफाओं का पहले-पहल आभास मिला था।

इस प्रकार आचार्यश्री महाराष्ट्र के प्राकृतिक दृश्यों तथा जालना, भसावल, जलगाँव, धूलिया, डोंडायचा, शाहदा आदि विभिन्न शहरों में समान आनन्द लेते हुए विचरते रहे। लोगों का अनुमान था कि वे इस यात्रा के तीसरे चरण में बेंगलौर तक पहुँच जायेंगे। सम्भवतः आचार्यश्री का भी कुछ-कुछ ऐसा विचार रहा हो, किन्तु परिस्थितिवशात् वैसा नहीं हो सका। वहाँ से वे मध्यभारत की ओर मुड़ गए। मालवा के विभिन्न क्षेत्रों में विचरते हुए उन्होंने अपनी यात्रा का तीसरा चरण उज्जैन में वर्षाकालीन प्रवास के द्वारा सम्पन्न किया। उस यात्रा का अन्तिम चरण उज्जैन से गंगापुर-पदार्पण था। लगभग आठ महीने तक मालवा में विहरण हुआ। राजस्थान-प्रवेश के साथ आचार्यश्री की यह द्वितीय यात्रा सम्पन्न हुई।

तृतीय यात्रा

आचार्यश्री की तृतीय यात्रा बहुत लम्बी होने के साथ-साथ बहुत महत्त्वपूर्ण भी रही। इस यात्रा में आचार्यश्री ने अपने कार्य-क्षेत्र के लिए नया क्षितिज खोला और नये प्रभाव-क्षेत्र का निर्माण किया। भारत के सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण प्रान्त उत्तरप्रदेश, बिहार और बंगाल—इस यात्रा के लक्ष्य थे। किसी युग में इन प्रदेशों में जैन श्रमणों का बड़ा महत्त्व रहा था। बिहार तो भगवान् महावीर का मुख्य कार्य-क्षेत्र था ही। राजगृह और वैशाली का महत्त्व उस समय केवल बिहार के लिए ही नहीं, अपितु सारे भारत के लिए था। आचार्यश्री ने इस यात्रा का निश्चय किया और राजस्थान की राजधानी जयपुर से विहार करते हुए उधर पधारे। पहले उत्तरप्रदेश ही मार्ग में आया। समाचार-पत्रों द्वारा आचार्यश्री के पदार्पण का समाचार पाकर वहाँ के विभिन्न क्षेत्रों की जनता अति उत्सुकता के साथ उनकी प्रतीक्षा करने लगी। जहाँ-जहाँ पदार्पण होता, वहाँ की जनता में चेतना की एक लहर-सी दौड़ जाती। आचार्यश्री के पदार्पण से पूर्व मुनि महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' ने अनेक क्षेत्रों में रहकर एक भूमिका तैयार कर दी थी। आचार्यश्री वहाँ चरित्र-निर्माण के बीज बिखेरते जा रहे थे। जनता आचार्यश्री के चरित्रोत्थानमूलक कार्यक्रमों में बड़ा रस लेती थी। अनेक स्थानों पर स्थानीय अणुव्रत समितियों का गठन हुआ। आचार्यश्री के मिशन को आगे बढ़ाने के लिए तथा नैतिकता के पक्ष में उत्पन्न हुए वातावरण को स्थायित्व देने के लिए प्रायः सभी लोग उत्सुक थे। आचार्यश्री ग्रीष्म ऋतु में वहाँ खूब विचरे। राजस्थान की लूओं में पले हुए व्यक्तियों के लिए वहाँ की गरमी यद्यपि अधिक कठोर नहीं थी, परन्तु वहाँ की लूओं ने राजस्थान को भी पीछे छोड़ दिया। राजस्थान में सम्भवतः लूओं से इतने व्यक्ति नहीं मरते होंगे जितने कि उत्तरप्रदेश और बिहार में। वहाँ की लूओं ने एक साध्वी की बलि तो ले ही ली, पर दो-तीन साधुओं को भी एक बार तो उस किनारे के निकट तक पहुँचा ही दिया। यह दूसरी बात है कि वे बच गए। उस गरमी में जन-कल्याण के उद्देश्य से विहार करते हुए आचार्यश्री ने अपना वर्षा-काल कानपुर में बिताया।

उत्तरप्रदेश की राजधानी लखनऊ, विद्वत्ता और पवित्रता के लिए प्रख्यात वाराणसी तथा उद्योग-नगरी कानपुर आदि में जहाँ महत्त्वपूर्ण जन-सम्पर्क हुआ, वहाँ छोटे-छोटे गाँवों में भी वह कम नहीं हुआ। पर मानस सम्पर्क की जहाँ तक बात है, वहाँ शहरों की अपेक्षा गाँव सदैव आगे रहे हैं। शहरों की जनता जहाँ सभ्यता, शिष्टता और भारी-भरकम शब्दों के क्रमिक विधि-विधानों के माध्यम से बात करती है, वहाँ ग्रामीण जनता सीधे मन से ही सरल आडम्बरहीन बात करना पसन्द करती है। उनका व्यवहार यद्यपि असभ्य और अशिष्ट नहीं होता; परन्तु वह सभ्यता और शिष्टता की

भाषा में बँधता भी नहीं। वह कुछ अपने ही प्रकार का विलक्षण भाव होता है। उसे नजदीक से पहचानने के लिए यदि कोई शब्द प्रस्तुत करना ही हो तो उसे सहज भक्ति कहा जा सकता है। आर्थिक दृष्टि से ग्रामीण जन अवश्य ही ग़रीब होते है; परन्तु सहजता और नम्रता के तो इतने धनी होते हैं कि उन जसा धनी शहरों में चिराग़ लेकर खोजने पर भी मिलना कठिन है। आचार्यश्री के सम्पर्क में दोनों ही प्रकार के व्यक्ति आते रहे हैं। वे उनकी प्रकृति-भिन्नता से बहुत अच्छी तरह परिचित हैं। दोनों की विभिन्न समस्याओं का भी उन्हें पता है। वे उन दोनों के लिए मार्ग-दर्शन देते हैं, अतः दोनों के लिए ही समान रूप से श्रद्धा-भाजन बन गए है।

चातुर्मास-समाप्ति के पश्चात् आचार्यश्री कानपुर से चले। बंगाल पहुँचने का लक्ष्य सामने था। बिहार मार्ग में पड़ता था। चरण बढ़ चले। बिहार-भूमि में प्रविष्ट हुए। वह भगवान् महावीर की जन्म-भूमि और निर्वाण-भूमि होने के साथ उनकी मुख्य तपोभूमि भी रही है। पटना, पावा, नालन्दा, राजगृह आदि ऐतिहासिक क्षेत्रों में आचार्यश्री गये। नालन्दा में सरकार द्वारा स्थापित 'नव नालन्दा महाविहार' एक महत्त्वपूर्ण विद्या-संस्थान है। पाली भाषा के अध्ययनार्थ यह एक तीर्थ का रूप लेता जा रहा है। नालन्दा में बौद्ध तथा जैन विद्वानों द्वारा आचार्यश्री का बड़ा भावभीना स्वागत किया गया। राजगृह में जैन संस्कृति-सम्मेलन रखा गया। उसमें अनेक विद्वानों ने भाग लिया। दोनों श्रमण-परम्पराओं के ये दोनों विभिन्न तीर्थ-स्थान परस्पर बहुत समीप हैं।

शहरों की स्थिति से वहाँ गाँवों की स्थिति भिन्न थी। गाँवों में जैन साधुओं को बहुत कम लोग जानते हैं, प्रायः नहीं ही जानते; अतः ठहरने के लिए स्थान आदि की बड़ी दिक़्क़तें रहतीं। डाकुओं का आतंक होने के कारण कहीं-कहीं आचार्यश्री के साथ चलने वाले काफ़िले को भी उसी सन्देह की दृष्टि से देखा जाता। कहीं-कहीं पर यह भय भी स्थान देने में बाधक बनता कि इतने व्यक्तियों को कहीं भोजन कराना न पड़ जाये? परन्तु उन लोगों का वह भय तब निर्मूल सिद्ध हो जाता, जब कि आचार्यश्री के साथ चलने वाले गृहस्थ अपना भोजन स्वयं पकाते। उन लोगों का गाँव पर किसी प्रकार का कोई भार नहीं होता। रात को आचार्यश्री उपदेश देते, भजन सुनाते, सत्य की प्रेरणा देते और दुर्व्यसन छोड़ने को उत्साहित करते। लोगों का तब सारा भ्रम दूर हो जाता। बाद में उन्हें अपने व्यवहार पर पछतावा होता। जो लोग पहले दिन स्थान देना तक नहीं चाहते, वे ही दूसरे दिन अधिक ठहरने का आग्रह करने लगते।

बिहार को पार कर आचार्यश्री बंगाल में प्रविष्ट हुए। सैंथिया में मर्यादा-महोत्सव मनाया। वहाँ से कलकत्ता पधार गए। वहाँ राजस्थान के जैन बहुत बड़ी संख्या में रहते हैं। उनमें अधिकांश आचार्यश्री को बहुत श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। वहाँ के काफी लोग ठेठ कानपुर से ही आचार्यश्री के साथ थे। कलकत्ता पहुँचने पर कुछ दिनों तक विभिन्न उपनगरों में रहे और बाद में वर्षा-काल व्यतीत करने के लिए बड़ाबाज़ार एरिया में आ गए। तेरापंथी महासभा-भवन में ठहरे। प्रवचन वहाँ से कुछ ही दूर बनाये गए विशाल अणुव्रत-पण्डाल में हुआ करता था। प्रति दिन के प्रवचन में उपस्थिति प्रायः सात-आठ हज़ार व्यक्तियों की हो जाया करती थी। रविवार को इसमें भी अधिक होती थी। कलकत्ता जैसे व्यस्त व्यापारिक क्षेत्र में आर्थिक विषय के अतिरिक्त अन्य किसी भी विषय में अधिक उत्साह कम ही देखने को मिलता है। वहाँ वह पर्याप्त देखा जा सकता था। जन-जागृतिमूलक कार्य भी वहाँ बड़े उत्साह से सम्पन्न किये जाते रहे। वहाँ के निम्न वर्ग से लेकर आभिजात्य वर्ग तक के लोग आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। जन-सम्पर्क तथा उससे मिलने वाले श्रेयोभाग ने अनेक व्यक्तियों को ईर्ष्यालु भी बनाया। ऐसे व्यक्तियों ने अपनी शक्ति का उपयोग आचार्यश्री के विरुद्ध वातावरण बनाने में किया। परन्तु इससे आचार्यश्री क्यों घबराते! वे अपना काम करते रहे और आचार्यश्री अपना।

चातुर्मास-समाप्ति के बाद वहाँ से वापस चले, तो बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली होते हुए हाँसी में आकर उन्होंने मर्यादा-महोत्सव किया। वहीं उस प्रलम्ब यात्रा की समाप्ति समझी जा सकती है।

चतुर्थ यात्रा

इन विशिष्ट यात्राओं के अतिरिक्त आचार्यश्री ने जो परिव्रजन किया है, उसे मैंने चतुर्थ यात्रा के रूप में मान लिया है। उपर्युक्त तीनों यात्राओं से पूर्व आचार्यश्री लगभग बारह वर्ष तक राजस्थान के बीकानेर डिवीज़न में विचरते

रहे। वह समय उन्होंने मुख्यतः संघ के विद्या-विकास पर ही लगाया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने अपनी हर एक यात्रा राजस्थान से ही प्रारम्भ की है, अतः एक यात्रा से दूसरी यात्रा का अन्तर्-काल राजस्थान के विहार का ही काल रहा है। काल-व्यवधान को गौण रखकर यहाँ उनकी इस यात्रा को एक रूप में ही देखा गया है।

राजस्थान को प्रकृति ने विभिन्न परिस्थितियाँ प्रदान की हैं। कहीं वह बालुका-प्रधान है, कहीं पर्वत-प्रधान और कहीं समतल। कहीं ऐसा रेगिस्तान है कि हरियाली देखने को भी कठिनता से ही मिलती है, तो कहीं खूब हरा-भरा भी है। आचार्यश्री का पाद-विहार वहाँ के बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, उदयपुर और जयपुर डिवीज़नों में ही बहुधा होता रहा है। इस प्रकार उनकी यात्रा का स्रोत अजस्र चालू है। एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र तथा एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में वे उसी सहज भाव से जाते-आते रहते हैं, जैसे कि कोई व्यक्ति अपने मकान के एक कमरे से दूसरे कमरे में जाता-आता रहता है। कोई दिक़्क़त, अनभावन या परायापन नहीं। कोई थकान नहीं, तो कोई समाप्ति भी नहीं।

जन-सम्पर्क

आचार्यश्री का जनसम्पर्क बहुत व्यापक है। 'जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थइ'—अर्थात् "किसी बड़े आदमी को जो मार्ग बतलाये वही एक ग़रीब आदमी को भी।" इस आगम-वाक्य को वे अपना प्रकाश-स्तम्भ बनाकर चलते हैं। आध्यात्मिकता और नैतिकता के मार्ग का लक्ष्य सभी के लिए एक है। कौन कितना अपना सकता है या किसको कितनी साधना की आवश्यकता है, यह अवश्य व्यक्तिगत स्थितियों पर निर्भर कर सकता है। आचार्यश्री के सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर मैंने उनके जन-सम्पर्क को तीन भागों में बाँट दिया है—१. साधारण जन-सम्पर्क, २. विशिष्ट जन-सम्पर्क और ३. प्रश्नोत्तर। 'साधारण जन-सम्पर्क' से मेरा तात्पर्य रहा है—बहुधा सम्पर्क में आते रहने वाले जन-समुदाय का सम्पर्क। इसी प्रकार 'विशिष्ट जन-सम्पर्क' से तात्पर्य रहा है—जिनका समाज में विशिष्ट स्थान है और जो क्वचित् ही सम्पर्क में आ सकते हैं। 'प्रश्नोत्तरों' में देशी-विदेशी जिज्ञासुओं के प्रत्यक्ष या पत्रादि के माध्यम से किये गए प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर हैं।

साधारण जन-सम्पर्क

आदिवासी से लेकर राजनेता तक उनके सम्पर्क में आते है, अपनी बात कहते हैं और मार्ग-दर्शन भी पाते है। पारिवारिक कलह से लेकर सामाजिक कलह तक की बातें उनके सामने आती हैं। न्यायालयों में वर्षों तक जो कलह नहीं निपटते वे कुछ ही समय में आचार्यश्री के मार्ग-दर्शन से निपटते देखे गए हैं। कहीं न भी निपटे, तो आचार्यश्री को उसका कोई क्षोभ नहीं होता; कलह-निवारण का प्रयास करना वे अपना कर्तव्य मानते हैं। फैसला हो जाये तो उन्हें उन लोगों से कोई पारिश्रमिक या भेंट लेनी नहीं है और न हो तो उनके पास से कुछ जाना नहीं है। निष्काम वृत्ति से जितना होता है या किया जा सकता है, उसी में वे आत्म-तुष्टि का अनुभव करते हैं। यहाँ उनके साधारण जन-सम्पर्क की कुछ घटनाएं उद्धृत की जाती हैं।

एक पुकार

मेवाड़ में भील जाति के लोग काफी बड़ी संख्या में रहते हैं। वे अपने-आपको भील के स्थान पर 'गमेती' कहना अधिक पसन्द करते हैं। मेवाड़ के महाजनों ने उन ग़रीब तथा भोले लोगों को कर्ज़ आदि से काफ़ी दबा रखा है। तरह-तरह से वे लोग उन पर अन्याय भी करते रहते है। आचार्यश्री जब सं० २०१७ में मेवाड़ गये, तब 'रावलिया' के आस-पास के गमेतियों ने अपनी दशा को आचार्यश्री के सम्मुख रखा था। वे अपनी दशा और महाजनों के अत्याचारों के विषय में चार पृष्ठ का एक पत्र भी लिखकर लाये थे। उसे उन्होंने प्रस्तुत किया। आचार्यश्री ने उस विषय में महाजनों को कहा भी तथा कुछ सन्तों को एतद्विषयक दोनों पक्षों की पूरी जानकारी के लिए वहाँ छोड़ा भी। उस पत्र के कुछ अंश

इस प्रकार हैं—"श्री श्री १००८ श्री श्री श्री माराज धरमीराजजी श्री पुजनीक माराज, थंला री धरती वाला माराजजी पुजजी माराज से दुका (दुखियों) की पुकार—

तरत फैसला, अदल नाव माराज पुजनीकजी······कर सकेगा, गरीब जाति रो हेलो जरूर सुणेगा, यंचाव (हिसाब) तो लेगा। धरमराज से भरोसो है। गमेती जनता री हाथ जोड़ कर के अरज है के मारी गरीब जाती बोन दुखी है······ कुछ महाजनों के नाम देकर आगे लिखा है—फरजी जुटा-जुटा खत माँड कर गरीबाँ रे पास से जमी ले लीदी है और गायाँ, भैंसा बकरयाँ बी ले लीदी हैं। बड़ा भारी जुलम कीदा है, जुटा-जुटा दावा करके कुरकी करावे ने जोर-जबरदस्ती करने वसूली करे है। गरीबाँ ने ५ रुपया देने ५०० रुपया रा खत माँडे। सो मारा सब पंसा (पंचों) री राय है, के······जलदी सूँ जलदी पद मँगाकर देकाया जावै, जलदी सूँ जलदी फैसला दिया जावै।

द० दलीग, सब जन्ता (जनता) रा केवा सूँ
(२०१७ जेठ सुद सातम)।"[1]

इस पत्र का भावार्थ है—आचार्यश्री से दुःखियों की पुकार—"हमें विश्वास है कि आप हम गरीबों की पुकार अवश्य सुनेंगे, शीघ्र फैसला कर हमें उचित न्याय दे सकेंगे। गमेती जनता बहुत दुःखी है। अमुक-अमुक······व्यक्तियों ने झूठे खत लिखकर हमारे खेत ले लिये हैं, पशु भी ले लिये हैं, झूठे दावे करके कुर्की करायी जाती है और फिर बलात्कार से उसको वसूला जाता है। पाँच रुपये देकर पाँच सौ लिखा लिये जाते हैं, अतः हमारे पंचों की राय है कि आप हमारा फैसला करें।"

हस्ताक्षर 'दलीग', सब जनता के कहने से
(सं० २०१७, ज्येष्ठ शुक्ला ७)"

हरिजनों का पत्र

मारवाड़ के काणाना नामक गाँव में मेघवाल जाति के हरिजन व्यक्तियों द्वारा भी ऐसा ही एक पत्र आचार्यश्री के चरणों में प्रस्तुत किया गया। उसमें कुछ महाजनों के व्यक्तिगत नाम लिख कर अपनी पुकार की थी। उस पत्र के कुछ अंश इस प्रकार हैं—"हम मेघवंश सूत्रकार जाति जन्म से यहीं के निवासी है। यहाँ के महाजन हमारे पर लेन-देन को लेकर काफी ज्यादती करते हैं। अतः उन्हें समझाया जाये। वे लोग बेईमानी कर हमें हर समय दुःख देते हैं। यदि यह भार हम पर कम हुआ तो हम ऊपर उठ सकते है।

साथ ही इतनी छुआछूत रखते हैं कि हमें दूकानों पर चढ़ने तक का अधिकार नहीं। क्या हम मानव-पुत्र नहीं है?

आपके उपदेश बड़े हितकार व मानव-कल्याणमूलक है। हम आपके उपदेशों पर चलेंगे और आपके अणुव्रत-आन्दोलन के नियमों की कभी भी अवहेलना नहीं करेंगे।

हम है आपके विश्वास-पात्र
मेघवंशी समाज (काणाना)"[2]

आचार्यश्री ने उस पत्र का अपने व्याख्यान में ज़िक्र किया और यह प्रेरणा दी कि किसी को हीन मानना बहुत बुरा है। जैन होने के नाते लेन-देन में धोखा, अधिक ब्याज और झूठे मुकदमे भी तुम लोगों के लिए अशोभनीय हैं। उस व्याख्यान का लोगों पर अच्छा असर रहा। अनेक व्यक्तियों ने अपने-आपको उन दुर्गुणों से बचाने का संकल्प किया।

छात्रों का अनशन

काणाना के महाजनों में भी परस्पर झगड़ा था। वर्षों से वे दो गुटों में विभक्त थे। आचार्यश्री का पदार्पण हुआ, तब स्थानीय छात्रों ने उस अवसर का लाभ उठाने की सोची। वे गाँव की इस दलबन्दी को तोड़ना चाहते थे। लगभग

---

१ जैन भारती, ९ अक्टूबर '६०
२ जैन भारती, २३ अप्रैल '६१

सवा सौ छात्र एकत्रित होकर एकता-सम्बन्धी नारे लगाते हुए आचार्यश्री के पास आये। उन्होंने आचार्यश्री से निवेदन किया कि जब तक पंच मिलकर फैसला नहीं कर लेंगे, तब तक हम अनशन करेंगे। आचार्यश्री से भी अनुरोध किया कि तब तक के लिए अपना व्याख्यान स्थगित रखें। उनके अनुरोध पर आचार्यश्री ने प्रवचन नहीं किया। अनेक वर्षों बाद आचार्यश्री आयें और वे प्रवचन भी न करें, यह बात सभी को अखरी। आखिर दोनों पक्षों के व्यक्ति मिले और शीघ्र ही समझौता हो गया। गाँव में पड़े दो तड़ मिट गए।

नाना का दोष

रावलिया में शोभालाल नामक एक चौदह वर्षीय बालक ने आचार्यश्री के हाथ में एक चिट्ठी दी।

आचार्यश्री ने पूछा—क्या है इसमें ?

उसने कहा—गुरुदेव! मेरे नाना और गाँव वालों में परस्पर कलह चलता है। इस पत्र में उसे मिटाने की आपसे प्रार्थना की गई है।

आचार्यश्री ने चिट्ठी पढ़ी और उस बालक से ही पूछा—तुझे इसमें किसका दोष मालूम देता है ?

बालक ने कहा—अधिक दोष तो मेरे नाना का ही लगता है।

आचार्यश्री ने उसके नाना से कुछ बातचीत की और उसे समझाया। फलस्वरूप उसी रात्रि को वह झगड़ा मिट गया। प्रातः आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमा-याचना कर ली गई। जो व्यक्ति समूचे गाँव और पंचों की बात ठुकरा चुका था, आचार्यश्री की कुछ प्रेरणा पाकर सरल बन गया।

एक सामाजिक विग्रह

कुछ समय पूर्व थली के ओसवालों में 'देशी-विलायती' का एक समाज-व्यापी विग्रह उत्पन्न हो गया। वह अनेक वर्षों तक चलता रहा। उससे समाज को अनेक हानियाँ उठानी पड़ीं। एक प्रकार से उस समय समाज की सारी शृंखला ही टूट गई थी। धीरे-धीरे वर्षों बाद उसका उपरितन रोष और खिंचाव तो ठंडा पड़ गया; किन्तु उसकी जड़ नहीं गई। सामूहिक भोज आदि के अवसर पर उसमें अनेक बार नये अंकुर फूटते रहते थे। आखिर सं० १९९९ के चूरू-चातुर्मास में आचार्यश्री ने लोगों को एतद्विषयक प्रेरणा दी। दोनों ही दलों के व्यक्तियों को पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक रूप से समझाया। आखिर अनेक दिनों के प्रयास के बाद उन लोगों ने समझौता किया और आचार्यश्री के सम्मुख परस्पर क्षमायाचना की। यह विग्रह चूरू से ही प्रारम्भ होकर समग्र थली में फैला था और संयोगवशात् चूरू में ही उसकी अन्त्येष्टि भी हुई।

ऐसे उदाहरण यह बतलाते हैं कि विभिन्न समाजों के व्यक्तियों पर आचार्यश्री का कितना प्रभाव है और वे सब उनके वचनों का कितना आदर करते हैं। अपने पारिवारिक तथा सामाजिक कलह को इस प्रकार उपदेश-मात्र से मिटा लेना आचार्यश्री के प्रति रही हुई श्रद्धा और विश्वास उनके नैरन्तरिक सम्पर्क से ही उद्भूत हुआ मानना चाहिए।

विशिष्ट जन-सम्पर्क

आचार्यश्री का सम्पर्क जितना जन-साधारण से है, उतना ही विशिष्ट व्यक्तियों से भी। वे धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक दलबन्दी को प्रश्रय नहीं देते, पर परिचित सभी से रहना अभीष्ट समझते हैं। समाज तथा राष्ट्र के वर्तमान नेतृ-वर्ग से भी उनका प्रगाढ़ परिचय है। साहित्यकारों तथा पत्रकारों से भी बहुधा मानवीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करते रहते हैं। वे चिन्तन के आदान-प्रदान में विश्वास करते हैं, अतः अनुकूल-प्रतिकूल बातों को सामरस्य से सुन लेने के अभ्यस्त हैं। दूसरों के सुझावों में से ग्राह्य तत्त्व को वे बहुत शीघ्रता से पकड़ते हैं। वे जिस रसानुभूति के साथ राजनीतिज्ञों से बातें करते हैं, उतनी ही तीव्र रसानुभूति के साथ किसी साधारण गृहस्थ से। उनको जितना सहयोग मिला है, उससे कहीं अधिक उनकी आलोचनाएं हुई हैं; फिर भी उनके सामर्थ्य ने कभी धैर्य नहीं खोया। तभी तो आलोचकों की संख्या घटती गई है और समर्थकों की बढ़ती गई है। जो व्यक्ति प्रथम सम्पर्क में उनसे बहुत दूरी का अनुभव करते थे,

वे ही धीरे-धीरे अति निकट आ गए। सुप्रसिद्ध साहित्यकार जैनेन्द्रजी अपनी प्रथम भेंट के विषय में लिखते हैं, "पहली भेंट मैं व्यक्ति से नहीं पा सका, गुरु के ही दर्शन हुए।" किन्तु वे ही अपनी दूसरी भेंट के विषय में लिखते हैं, "उस दिन से मैं तुलसीजी के प्रति अपने में आकर्षण अनुभव करता हूँ और उनके प्रति सराहना के भाव रखता हूँ।……उस परिचय को मैं अपना सद्भाग्य गिनता हूँ।" इसी प्रकार आचार्य कृपलानी से भी प्रथम परिचय अत्यन्त नीरस रहा था। सं० २००४ में, जब वे कांग्रेस के अध्यक्ष थे, किसी कार्यवश फतहपुर आये थे। कुछ व्यक्तियों की इच्छा रही कि आचार्यश्री से कृपलानीजी का सम्पर्क हो सके तो अच्छा रहे। वे लोग फतहपुर गये और उन्हें रतनगढ़ ले आये। वे आचार्यश्री के पास आये तो सही, पर न आचार्यश्री उनकी प्रकृति से परिचित थे और न वे आचार्यश्री की प्रकृति से। जब उन्हें संघ का परिचय दिया जाने लगा तो वे बोले, "मैंने तो अपना गुरु गांधी को मान लिया है, अब आप मुझे क्या समझायेंगे ?" और दूसरी बात चले, उससे पूर्व ही उन्होंने यह भी कह दिया कि मैं तो सुनने के लिए नहीं, किन्तु सुनाने के लिए आया हूँ। वे लगभग दस मिनट ठहरे होंगे, किन्तु किसी पूर्व-आग्रह से भरे होने के कारण बातचीत के क्रम में कोई सरसता नहीं आ सकी। वे ही कृपलानीजी जब सं० २०१३ में दिल्ली में दुबारा मिले, तब वह तनाव तो था ही नहीं, अपितु अत्यन्त सौजन्य ने उसका स्थान ले लिया था। अणुव्रत-गोष्ठी में भी उन्होंने भाग लिया और बहुत सुन्दर बोले। उसके बाद सुचेताजी के साथ जब वे आचार्यश्री से मिले तो ऐसा लगा, "मानो प्रथम भेंट वाले कृपलानी कोई दूसरे थे। आचार्यश्री ने जब प्रथम भेंट की याद दिलायी तो वे हँस पड़े।

दूरी व्यक्ति से पीछे होती है, पहले मन से होती है। अविश्वास या घृणा उसका माध्यम बनती है। जो न घृणा करता हो और न अविश्वास, वही उस खाई की दूरी को पाट सकता है। आचार्यश्री ने उसे पाटा है। वे किसी को अपने से दूर नहीं मानते, किसी से घृणा नहीं करते और सभी का विश्वास खुलकर लेते हैं तथा देते हैं। विचार और विश्वास के आदान-प्रदान की कृपणता उन्हें प्रिय नहीं। इसीलिए उनके सम्पर्क का दायरा तथा उसकी गहराई निरन्तर बढ़ती ही जा रही है। जितने व्यक्तियों से उनका सम्पर्क हुआ है, उसका विवरण बहुत बड़ा है। उन सब का नामोल्लेख कर पाना सम्भव नहीं है; फिर भी दिग्दर्शन के रूप में कुछ व्यक्तियों का सम्पर्क-प्रसंग यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्यश्री और राष्ट्रपति

राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद आध्यात्मिक प्रकृति के व्यक्ति हैं। उनकी विद्वत्ता और पद-प्रतिष्ठा जितनी महान् है, वे उतने ही नम्र हैं। आचार्यश्री के प्रति उनके मन में बहुत आदरभाव है। वे पहले-पहल जयपुर में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये थे। उस समय वे भारतीय विधान-परिषद् के अध्यक्ष थे। उसके बाद वह सिलसिला चालू रहा और अनेक बार सम्पर्क तथा विचार-विमर्श करने का अवसर प्राप्त होता रहा। वे अणुव्रत-आन्दोलन के प्रबल प्रशंसक रहे हैं। वे इसे एक समयोपयुक्त योजना मानते हैं और इसका प्रसार चाहते हैं। आचार्यश्री के सान्निध्य में मनाये गए प्रथम मैत्री-दिवस का उद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा था कि आप यदि अणुव्रत-आन्दोलन में मुझे कोई पद देना चाहें तो मैं समर्थक का पद लेना चाहूँगा।

राष्ट्रपतिजी का आचार्यश्री से अनेक बार और अनेक विषयों पर वार्तालाप होता रहा है। उसमें से कुछ वार्ता-प्रसंग यहाँ दिये जाते हैं :

"राजेन्द्रबाबू—इस समय देश को नैतिकता की सबसे बड़ी आवश्यकता है। स्वतन्त्रता के बाद भी यदि नैतिक स्तर नहीं उठ पाया तो यह देश के लिए बड़े खतरे की बात है।

आचार्यश्री—इस क्षेत्र में सबको सहयोगी बनकर काम करने की आवश्यकता है। यदि सब एक होकर जुट जायें तो यह कोई कठिन काम नहीं है।

राजेन्द्रबाबू—राजनैतिक नेताओं की बात आप छोड़िये। उनमें परस्पर बहुत विचार-भेद तथा बुद्धि-भेद है। इस वस्तु-स्थिति के अन्दर रहकर इसे किस तरह सँभाला जाये, यह विचारणीय है।

आचार्यश्री—जो नेता-जन आध्यात्मिकता में विश्वास करते हैं, वे सब सहयोग-भाव से इस कार्य में लग सकते हैं।

राजेन्द्रबाबू—सर्वोदय समाज की भी इन कार्यों में रुचि है, अतः आपका उससे सम्पर्क हो सके, तो ठीक रहे।

आचार्यश्री—सबके उदय के लिए सब के सहयोग की आवश्यकता है। मैं ऐसे किसी भी सम्पर्क का प्रशंसक हूँ।"[1]

आचार्यश्री और उपराष्ट्रपति राधाकृष्णन्

उपराष्ट्रपति डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आचार्यश्री तथा उनके कार्यक्रमों में अच्छी रुचि रखते हैं। सं० २०१३ में जब आचार्यश्री दिल्ली पधारे, तब उनसे मिले थे। वे अणुव्रत-गोष्ठी में भाग लेने वाले थे, किन्तु पत्नी का देहावसान हो जाने से नहीं आ सके थे। जब आचार्यश्री उनकी कोठी पर पधारे, तब वार्ताक्रम में उन्होंने कहा भी था कि मैं किसी भी कार्यक्रम में सम्मिलित नहीं हो सका।

उसके बाद आचार्यश्री के साथ उनका अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण वार्तालाप हुआ। उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं :

"डा० राधाकृष्णन्—जैन-मन्दिर में हरिजन-प्रवेश के विषय में आपका क्या अभिमत है ?

आचार्यश्री—जहाँ धर्माभिलाषी व्यक्ति प्रवेश न पा सके, वह क्या मन्दिर है ? किसी को अपनी अच्छी भावना को फलित करने से रोकना, मैं धर्म में बाधा डालना मानता हूँ। वैसे हम तो अमूर्तिपूजक हैं। जैनों में मुख्य दो परम्पराएं हैं—श्वेताम्बर और दिगम्बर। दोनों ही परम्पराओं में दो प्रकार के सम्प्रदाय हैं—एक अमूर्तिपूजक और दूसरा मूर्ति-पूजक। जैन सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा के विषय में मौलिक दृष्टि से प्रायः सभी एकमत हैं। कुछ एक प्रसंगों को लेकर थोड़ा पार्थक्य है, जो अधिकांश बाह्य व्यवहारों का है, और क्रमशः कम होता जा रहा है। अभी जैन-सेमिनार में श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के साधुओं ने भाग लिया। वहाँ मुझे भी प्रमुख वक्ता के रूप में निमंत्रित किया गया था और अच्छा सहिष्णुता का वातावरण वहाँ था।

डा० राधाकृष्णन्—समन्वय का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। आज के समय की यह सबसे बड़ी माँग है और इसी के सहारे बड़े-बड़े काम किये जा सकते हैं।

आचार्यश्री—आपका पहले राजदूत के रूप में और अब उपराष्ट्रपति के रूप में राजनीति में प्रवेश हमें कुछ अटपटा-सा लगा था कि एक दार्शनिक किधर जा रहे हैं; पर अब आपकी सांस्कृतिक रुचियों और अन्य कामों को देखकर लगा कि यह तो एक प्राचीन प्रणाली का निर्वाह हो रहा है। वर्तमान की जो राजनीति है, उसमें कोई विचारक ही सुधार कर सकता है और उसे एक नया मोड़ दे सकता है; क्योंकि उसके पास सोचने का नया तरीक़ा होता है और नया चिन्तन होता है। वह जहाँ भी जाता है, सुधार का काम शुरू कर देता है।

डा० राधाकृष्णन्—आज द्रव्य-हिंसा का तो फिर भी कुछ अंशों में निषेध हो रहा है, पर भाव-हिंसा का प्रभाव तो और भी ज़ोरों से चल रहा है। इसके निषेध के लिए कुछ अवश्य होना चाहिए।

आचार्यश्री—हाँ, अणुव्रत-आन्दोलन इस दिशा में सक्रिय है।

डा० राधाकृष्णन्—मैं ऐसा मानता हूँ कि जीवन-उदाहरण का जो असर होता है, वह उपदेश या बोध से नहीं होता। इसलिए आप जो काम करते हैं, उसका जनता पर स्वतः सुन्दर प्रभाव होता है। क्योंकि आपका जीवन उसके अनुरूप है।"[2]

आचार्यश्री और प्रधानमन्त्री नेहरू

आचार्यश्री का पंडित जवाहरलाल नेहरू के साथ अनेक बार विचार-विमर्षण हुआ है। प्रथम बार का मिलन सं० २००८ में हुआ था। उसमें आचार्यश्री ने उन्हें अणुव्रत-आन्दोलन से परिचित कराया था। उस समय वे प्रायः सुनने

१ वार्तालाप-विवरण
२ नव-निर्माण की पुकार

ही अधिक रहे; परन्तु दूसरी बार जब सं० २०१३ में मिलना हुआ तो काफ़ी खुलकर बातें हुईं। आचार्यश्री ने उनसे यह कहा भी था, "मैं चाहता हूँ आज हम स्पष्ट रूप से विचार-विमर्श करें। हमारा यह मिलन औपचारिक न होकर वास्तविक हो।" वस्तुतः वह बातचीत खुले दिमाग से हुई और परिणामदायक हुई।

आचार्यश्री ने बात का सिलसिला प्रारम्भ करते हुए कहा, "हम जानते हैं कि गांधीजी व आप लोगों के प्रयत्नों से भारत को आज़ादी मिली; पर आज देश की क्या स्थिति है! चरित्र गिरता जा रहा है। कुछेक व्यक्तियों को छोड़कर देश का चित्र खींचा जाये तो वह स्वस्थ नहीं होगा। यही स्थिति रही तो भविष्य कैसा होगा? बात ठीक है, पर किया क्या जाये! कोरी बातों से चरित्र उन्नत नहीं होगा। लोगों को कुछ काम दिया जाए, तब वह होगा। काम से मेरा मतलब बेकारी मिटाने का नहीं है। काम से मेरा मतलब है, चरित्र-सम्बन्धी कोई काम दिया जाये। यही मैं चाहता हूं। अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही स्थिति पैदा करना चाहता है। हम छोटे-छोटे व्रतों के द्वारा जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना चाहते हैं। पाँच वर्ष पूर्व मैंने आपको इसकी गतिविधि बतायी थी। आपने सुना अधिक, कहा कम। आपने आज तक कुछ भी सहयोग नहीं दिया। सहयोग से मतलब हमें पैसा नहीं लेना है। यह आर्थिक आन्दोलन नहीं है।

पं० नेहरू—मैं जानता हूँ, आपको पैसा नहीं चाहिए।

आचार्यश्री—इस आन्दोलन को मैं राजनीति से भी जोड़ना नहीं चाहता।

पं० नेहरू—मैं तो राजनैतिक व्यक्ति हूँ, राजनीति से ओत-प्रोत हूँ, फिर मेरा सहयोग क्या होगा?

आचार्यश्री—जैसे आप राजनैतिक हैं, वैसे स्वतन्त्र व्यक्ति भी हैं। हम आपके स्वतन्त्र व्यक्तित्व का उपयोग चाहते हैं, राजनैतिक जवाहरलाल नेहरू का नहीं। पहली मुलाक़ात में आपने कहा था कि मैं उसे पढ़ूँगा; पता नहीं, आपने पढ़ा या नहीं।

पं० नेहरू—मैंने यह पुस्तक (अणुव्रत-आन्दोलन) पढ़ी है, पर मैं बहुत व्यस्त हूँ। आन्दोलन के बारे में मैं कह सकता हूँ।

आचार्यश्री—आपने कभी कहा तो नहीं; क्या आप इस आन्दोलन की उपयोगिता नहीं समझते?

पं० नेहरू—यह कैसे हो सकता है!

आचार्यश्री—हमारे सैकड़ों साधु-साध्वियाँ चरित्र-विकास के कार्य में संलग्न हैं। उनका आध्यात्मिक क्षेत्र में यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है।

पं० नेहरू—क्या 'भारत साधु समाज' से आप परिचित हैं?

आचार्यश्री—जिस भारत सेवक समाज के आप अध्यक्ष हैं, उससे जो सम्बन्धित है, वही तो?

पं० नेहरू—हाँ, भारत सेवक समाज का मैं अध्यक्ष हूँ। यह राजनैतिक संस्था नहीं है। उसी से सम्बन्धित यह 'भारत साधु समाज' है। आप श्री गुलजारीलाल नन्दा से मिले हैं?

आचार्यश्री—पाँच वर्ष पहले मिलना हुआ था। भारत साधु समाज से मेरा सम्बन्ध नहीं है। जब तक साधु लोग मठों और पैसों का मोह नहीं छोड़ते, तब तक वे सफल नहीं हो सकते।

पं० नेहरू—साधुओं ने धन का मोह तो नहीं छोड़ा है। मैंने नन्दाजी से कहा भी था, तुम यह बना तो रहे हो, पर इसमें ख़तरा है।

आचार्यश्री—जो मैं सोच रहा हूँ, वही आप सोच रहे हैं। अब आप ही कहिये, उनसे हमारा सम्बन्ध कैसे हो?

पं० नेहरू—उनसे आपको सम्बन्ध जोड़ने की आवश्यकता भी नहीं है। साधु-समाज अगर काम करे तो अच्छा हो सकता है, ऐसी मेरी धारणा है। पर काम होना कठिन हो रहा है।

वार्तालाप की समाप्ति पर पंडितजी ने कहा—आन्दोलन की गतिविधियों को मैं जानता रहूँ, ऐसा हो तो बहुत अच्छा रहे। आप नन्दाजी से चर्चा करते रहिये। मुझे उनके द्वारा जानकारी मिलती रहेगी। उसमें मेरी पूरी दिलचस्पी है?"[1]

---

[1] नव-निर्माण की पुकार

आचार्यश्री और अशोक मेहता

समाजवादी नेता श्री अशोक मेहता ६ दिसम्बर, १९५६ को प्रातःकालीन व्याख्यान के बाद आये। आचार्यश्री से विचार-विनिमय के प्रसंग में जो बातें चलीं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं :

"श्री मेहता—अणुव्रती व्रत लेते हैं; वे उनका पालन करते हैं या नहीं, इसका आपको क्या पता रहता है?

आचार्यश्री—प्रति वर्ष होने वाले अणुव्रत-अधिवेशन में परिषद् के बीच अणुव्रती अपनी छोटी-छोटी गलतियों का भी प्रायश्चित्त करते है। इससे पता चलता है, वे व्रत-पालन की दिशा मे कितने सावधान हैं। कई लोग वापस हट भी जाते हैं। इससे भी ऐसा लगता है कि जो प्रतिवर्ष व्रत लेते है, वे उन्हें दृढ़ता से पालते है। अणुव्रतियों में अधिकांश जो हमारे सम्पर्क में आते रहते है, उनकी सार-सम्हाल तो मैं और सौ-सवा सौ जगह घूमने वाले हमारे साधु-साध्वियाँ लेते रहते हैं। कठिनाइयों के कारण अगर कोई व्रत नहीं निभा सकता, तो उसे अलग कर दिया जाता है। और ऐसा हुआ भी है। इस पर से खरे उतरने वाले अणुव्रतियों का भाग नब्बे प्रतिशत रहता है।

हम नैतिक सुधार का जो काम कर रहे हैं, उसमें हमें सभी लोगों के सहयोग की अपेक्षा है। रुपये-पैसे के सहयोग की हमें अपेक्षा नहीं है। हम चाहते हैं कि अच्छे लोग यदि समय-समय पर अपने आयोजनों में इसकी चर्चा करते रहें, तो इससे आन्दोलन गति पकड़ सकता है। अतः हम आप से भी चाहेंगे कि आप हमें इस प्रकार का सहयोग दें।

श्री मेहता—उपदेश करने का तो हमारा अधिकार है नहीं, क्योंकि हम लोग राजनैतिक व्यक्ति हैं। राजनीति में जिस प्रकार हम ने निर्लोभ सेवा की है, उस पर से हमें उसके सम्बन्ध में कहने का अधिकार है। पर धर्म या यह उपदेश नहीं कर सकते और करना भी नहीं चाहिए। वैसे तो मैं कभी-कभी इसकी चर्चा करता हूँ और आगे भी करता रहूँगा।

चुनाव के सम्बन्ध में किये जाने वाले कार्यक्रम को लेकर जब उन्हें उनकी पार्टी का सहयोग देने के लिए कहा गया तो उन्होंने कहा—मैं तो अभी यहाँ रहने वाला हूँ नहीं। हमारी पार्टी के दूसरे सदस्य इस कार्यक्रम में ज़रूर भाग लेंगे। पर काम केवल घोषणा से नहीं होने वाला है। इसके लिए तो खड़े होने वाले उम्मीदवारों और विशेषतः जनता को जागरूक बनाने की आवश्यकता है। अतः आप जनता में भी कार्य करें।

आचार्यश्री—जनता में हमारा प्रयास चालू है। इसको हम उम्मीदवारों में भी शुरू करना चाहते है।"[1]

आचार्यश्री और सन्त विनोबा भावे

आचार्यश्री ने सं० २००८ का वर्षाकाल दिल्ली में बिताया था। उसके पूर्ण होते ही उन्हें वहा से अन्यत्र विहार करना था। कुछ दिन पूर्व राष्ट्रपति राजेन्द्रप्रसाद के साथ हुई बातचीत के प्रसंग में आचार्यश्री को पता चला कि विनोबाजी एक-दो दिन में ही दिल्ली पहुँचने वाले हैं। राष्ट्रपतिजी की इच्छा थी कि वे विनोबाजी से अवश्य मिलें। आचार्यश्री स्वयं भी उनसे विचार-विनिमय करना चाहते थे। विनोबाजी आये, उधर चातुर्मास समाप्त हुआ। मार्गशीर्ष कृष्णा द्वितीया को राजघाट पर मिलने का समय निश्चित हुआ। आचार्यश्री वहाँ गये और उधर से विनोबाजी भी आ गए। गांधी-समाधि के पास बैठकर बातचीत प्रारम्भ हुई। उसके कुछ अंश यहाँ दिये जाते हैं :

"सन्त विनोबा—श्रमण-परम्परा में तो पद-यात्रा सदा से चलती ही है, अब मैंने भी आपकी उस वृत्ति को ले लिया है।

आचार्यश्री—लोग मुझसे पूछा करते हैं कि आज के युग में आप पैदल यात्रा क्यों अपनाये हुए हैं? वायुयान या मोटर से जितना शीघ्र अपने लक्ष्य स्थान पर पहुँचा जा सकता है, वहाँ पैदल चलकर पहुँचने में समय का बहुत अपव्यय होता है। मैं उन्हें कहा करता हूँ कि भारत की जनता ग्रामों में बसती है और उससे सम्पर्क करने के लिए पद-यात्रा बहुत

१ नव-निर्माण की पुकार

उपयोगी है। आपका ध्यान भी इधर गया है, यह प्रसन्नता की बात है। अब यदि किसी कांग्रेसी ने मेरे सामने यह प्रश्न रखा, तो मैं कहूँगा कि वह उसका उत्तर विनोबाजी से ले ले।

और फिर वातावरण हँसी से गूँज उठा।

सन्त विनोबा—आप प्रतिदिन कितना चल लेते हैं ?

आचार्यश्री—साधारणतया लगभग दस-बारह मील।

सन्त विनोबा—इतना ही लगभग मैं चलता हूँ।

आचार्यश्री—जनता के आध्यात्मिक और नैतिक स्तर को ऊँचा करने की दृष्टि से अणुव्रती-संघ के रूप में एक आन्दोलन प्रारम्भ किया गया है। क्या आपने उसके नियमोपनियम देखे हैं ?

सन्त विनोबा—हाँ ! मैंने उसे पढ़ा है। आपने अच्छा किया है। अणुव्रत का तात्पर्य यही तो है कि कम-से-कम इतना व्रत तो होना ही चाहिए।

आचार्यश्री—हाँ ! आप ठीक कह रहे हैं। पूर्णव्रत की असमर्थता में ये अणुव्रत हैं। नैतिक जीवन की यह एक साधारण सीमा है।

सन्त विनोबा—अहिंसा और सत्य का मेल नहीं हो पा रहा है; इसीलिए अहिंसा का पक्ष दुर्बल हो रहा है। अहिंसा पर जितना बल दिया गया है, उतना बल सत्य पर नहीं दिया गया। यही कारण है कि जैन गृहस्थों में अहिंसा-विषयक जितनी सावधानी देखी जाती है, उतनी सत्य-विषयक नहीं।

आचार्यश्री—अहिंसा और सत्य की पूर्णता परस्परापेक्ष है। एक के अभाव में दूसरे की भी गौरवपूर्ण पालना नहीं हो सकती। अणुव्रत-कार्यक्रम व्यवहार में चलने वाले असत्य का एक प्रबल प्रतिकार है। अहिंसक दृष्टिकोण के साथ जब सत्यमूलक व्यवहार की स्थापना होगी, तभी आध्यात्मिक और नैतिक स्तर उन्नत बन सकेगा।

अणुव्रत-नियमों में निषेध परक नियम ही अधिक हैं। हमारे विचार में किसी भी मर्यादा के विषय में निषेध जितना पूर्ण होता है उतना विधान नहीं। आपके इस विषय में क्या विचार हैं ?

विनोबा—मैं नकारात्मक दृष्टि को पसन्द करता हूँ। इसका मैंने कई बार समर्थन किया है।"[1]

आचार्यश्री और श्री मुरारजी देसाई

आचार्यश्री बम्बई में थे। उस समय श्री मुरारजी देसाई वहाँ के मुख्य मन्त्री थे। वे बम्बई के कार्यक्रमों में दो बार सम्मिलित हो चुके थे, परन्तु बातचीत करने का अवसर प्राप्त नहीं हुआ था। अतः वे चाहते थे कि आचार्यश्री से व्यक्तिगत बातचीत हो। आचार्यश्री भी उसके लिए उत्सुक थे। समय की कमी और विभिन्न व्यवधानों के कारण ऐसा नहीं हो सका। जब बम्बई से विहार करने का अवसर आया, तब अन्तिम दिन आचार्यश्री मुरारजी भाई की कोठी पर गये। एक तरफ विदाई का कार्यक्रम था तो दूसरी तरफ मुरारजी भाई से वार्तालाप। बीच में बहुत थोड़ा ही समय था। फिर भी आचार्यश्री वहाँ पधारे। मुरारजी भाई ने बड़ा सत्कार किया और बहुत प्रसन्न हुए। औपचारिक वार्तालाप के पश्चात् जो बातें हुईं, उनमें से कुछ ये हैं—

"आचार्यश्री—आप दो बार सभा में आये, पर वैयक्तिक बातचीत नहीं हो सकी।

श्री देसाई—मैं भी ऐसा चाहता था, परन्तु मुझे यह कठिन लगा। इधर कुछ दिनों से मैंने धार्मिक उत्सवों में जाना कम कर दिया है और आपको अपने यहाँ बुला कैसे सकता था !

आचार्यश्री—धार्मिक कार्यों में कम भाग लेने का क्या कारण है ?

श्री देसाई—मेरे नाम का वहाँ उपयोग किया जाता है। यह सम्प्रदाय बढ़ाने का तरीका है। मैं सम्प्रदायों से दूर भागने वाला व्यक्ति इसे क़तई पसन्द नहीं करता।

---

१ वार्तालाप-विवरण

आचार्यश्री—जहाँ सम्प्रदाय बढ़ाने की बात हो, वहाँ के लिए तो मैं नहीं कहता; पर जहाँ असाम्प्रदायिक रूप से काम किया जाता हो और उससे यदि आध्यात्मिकता और नैतिकता को बल मिलता हो, तो उसमें किसी के नाम का उपयोग होना मेरी दृष्टि में कोई बुरा नहीं है।

श्री देसाई—आप लोग प्रचार-कार्य में क्यों पड़ते हैं ? सन्तों को तो प्रचार से दूर रहना चाहिए।

आचार्यश्री—साधुत्व की अपनी मर्यादा में रहते हुए जनता में सत्य और अहिंसा-विषयक भावना को जागृत करने का प्रयास मेरे विचार से उत्तम कार्य है।

श्री देसाई—बुराई न करने की प्रतिज्ञा दिलाना मुझे उपयुक्त नहीं लगता। इस विषय में गांधीजी से भी मेरा विचार-भेद था। मैंने उनसे कहा था, 'आप प्रतिज्ञा लिवाकर लोगों को आश्रम में रखते हैं। लोग आपको खुश करने के लिए यहाँ आ जाते हैं। यहाँ की प्रतिज्ञाएं न निभा पाने पर वे उसे छिपकर तोड़ते हैं।' गांधीजी से मेरा यह मतभेद अन्त तक चलता ही रहा। आपके सामने भी वही बात रखना चाहूँगा कि आपको खुश करने के लिए लोग अणुव्रती बन तो जाते हैं; परन्तु वे इसे ठीक ढंग से निभाते हैं, इसका क्या पता ?

आचार्यश्री—प्रतिज्ञा के बिना संकल्प में दृढ़ता नहीं आती, इसलिए उसमें मेरा दृढ़ विश्वास है। कोई भी व्रत या प्रतिज्ञा आत्मा से ली जाती है और आत्मा से ही पाली जाती है। बलात् न वह ग्रहण करायी जा सकती है और न पालन करायी जा सकती है। कौन प्रतिज्ञाओं को पालता है और कौन नहीं, इस विषय में मैं उसके आत्म-साक्ष्य को ही महत्त्व देता हूँ।

अणुव्रतों के विषय में आपके कोई सुझाव हों तो बतलाइये।

श्री देसाई—इस दृष्टि से मैंने अभी तक पढ़ा नहीं है। अब आपने कहा है, इसलिए इस दृष्टि से पढूँगा और आपके शिष्य मिलेंगे, उन्हें बतला दूँगा।"[1]

प्रश्नोत्तर

आचार्यश्री का जन-सम्पर्क इतने विविध रूपों में है कि उन सबकी गणना करना एक प्रयास-साध्य कार्य है। कुछ व्यक्ति उनके पास धर्मोपदेश सुनने के लिए आते हैं, तो कुछ धर्मचर्चा के लिए। कुछ उन्हें सुझाव देने के लिए आते हैं, तो कुछ मार्ग-दर्शन लेने के लिए। कुछ की बातों में केवल व्यावहारिक रूप होता है, तो कुछ की बातों में तत्त्व की गहरी जिज्ञासा। देश और विदेश के विभिन्न व्यक्ति विभिन्न रूपों में अपनी जिज्ञासाएं उनके सामने रखते हैं। आचार्यश्री उन सबकी जिज्ञासाओं को शान्त करने का प्रयत्न करते रहे हैं। प्रायः जिज्ञासुओं को आचार्यश्री के उत्तर तथा व्यवहार से तृप्त होकर जाते देखा गया है। यह बात मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा, किन्तु उन व्यक्तियों के द्वारा आचार्यश्री के प्रति लिखे गए या व्यक्त किये गए उद्गार इस बात के साक्षी हैं। आचार्यश्री के पास हर किसी को तृप्त करने का एक ऐसा अमृत रस है जो कि बहुत कम व्यक्तियों के पास मिलता है। यहाँ हम देशी तथा विदेशी विद्वानों द्वारा किये गए कतिपय प्रश्न और आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त उत्तर दे रहे हैं।

डा० के० जी० रामाराव

दक्षिण भारत के सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक डा० के० जी० रामाराव, एम० ए०, पी-एच० डी० आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री के साथ उनके जो तात्त्विक प्रश्नोत्तर चले, उनमें से कुछ यों हैं :

"श्री रामाराव—जीवन सक्रियता का प्रतीक है (Life is activity), क्रमशः वैराग्य का होना कर्म-विमुखता है; अतः वैराग्य तथा जीवन का सामंजस्य कैसे हो सकता है ?

आचार्यश्री—जिस रूप में आप जीवन को सक्रिय बतलाते हैं, जीवन की वे क्रियाएं सोपाधिक हैं। जैसे, भोजन

---

१ वार्तालाप-विवरण

करना तब तक आवश्यक है जब तक भूख का अस्तित्व हो। जिन कारणों से ये सोपाधिक सक्रियताएं रहती हैं, वे कारण यदि नष्ट हो जायें तो फिर उनकी (सक्रियताओं की) आवश्यकता नहीं रहेगी। आत्मा की स्वाभाविक सक्रियता है—ज्ञान में, निजस्वरूप में रमण करना, जो हर क्षण रह सकती है। इस रूप में सक्रिय रहती हुई आत्मा अन्यों से (आत्म-रमण-व्यतिरिक्त अन्य क्रियाओं से) अक्रिय रहती है। सोपाधिक सक्रियता वैकारिक या वैभाविक है। उसे मिटाने के लिए त्याग-तपस्या आदि की आवश्यकता होती है।

श्री रामाराव—समाज-प्रवृत्ति का हेतु है, दूसरों के लिए जीना। यदि प्रत्येक व्यक्ति वैराग्य अंगीकार कर ले तो वह एक प्रकार का स्वार्थ होगा। स्वार्थपरता दो प्रकार की है: एक तो यह कि अपने लिए धन आदि सांसारिक सुख-साधनों के संचय का प्रयत्न करना। दूसरी यह कि दूसरों की चिन्ता न करते हुए केवल अपनी मुक्ति की लालसा करना। इस स्थिति में केवल अपनी मुक्ति की लालसा रखने से, क्या जीवन का ध्येय पूर्ण हो सकता है?

आचार्यश्री—दूसरे प्रकार की स्वार्थपरता जो आपने बतायी, वस्तुतः वह स्वार्थपरता नहीं है। यदि सभी व्यक्ति उस पर आ जायें तो मेरे खयाल में उसमें दूसरों को हानि की कोई सम्भावना नहीं होगी। सभी विकासोन्मुख होंगे। वह स्वार्थ नहीं, परमार्थ होगा। जब कि हम मानते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति जीवन-विकास करने का जन्म-सिद्ध अधिकारी है, जब कि वह अकेला जन्मता है, अकेला मरता है; तब यदि अकेला अपने-आपको उठाने की—आत्म-विकास करने की चेष्टा करता है तो उसका ऐसा करना स्वार्थ कैसे माना जायेगा!

श्री रामाराव—क्या पुण्य-कर्म मोक्ष का रास्ता—मोक्ष की ओर ले जाने वाला, नहीं है?

आचार्यश्री—पुण्य शुभ कर्म है। कर्म बन्धन है, अतः पुण्य भी मोक्ष में बाधक है। 'कर्म' शब्द के दो अर्थ हैं: १. क्रिया, २. क्रिया के द्वारा जो दूसरे विजातीय पुद्गल आत्मा के साथ सम्बद्ध हो जाते हैं—चिपक जाते हैं, वे भी कर्म कहे जाते हैं। अच्छे कर्म पुण्य और बुरे कर्म पाप कहलाते हैं। बुरे कर्म तो स्पष्टतः मोक्ष में बाधक हैं ही। अच्छे कर्मों का फल दो प्रकार का है: उनसे पुराने बन्धन टूटते हैं, किन्तु साथ-साथ में शुभ पुद्गलों का बन्धन भी होता रहता है। बन्ध मोक्ष में बाधक है।

श्री रामाराव—अच्छे कर्मों से बन्धनों के टूटने के साथ-साथ पुनः बन्धन कैसा?

आचार्यश्री—उदाहरण-स्वरूप बगीचे में आप घूमने जायेंगे, वहाँ उससे अस्वस्थता के पुद्गल दूर होंगे और स्वस्थता के अच्छे पुद्गल समाविष्ट होंगे। अच्छी क्रिया में मुख्य फल आत्म-शुद्धि है; किन्तु जब तक उस क्रिया में मुख्य राग-द्वेष का अंश समाविष्ट रहता है, उसमें बन्धन भी है। गेहूँ की खेती की जाती है; गेहूँओं के साथ चारा या भूसा भी पैदा होता है। बादाम के साथ छिलके भी पैदा होते हैं। जब तक वीतरागता नहीं आयेगी, तब तक की अच्छी प्रवृत्ति यत्-किंचित् अंश में राग-द्वेष से सर्वथा विरहित नहीं होगी, अतः बन्धन होता रहेगा।

श्री रामाराव—बन्धन से छुटकारा कैसे हो?

आचार्यश्री—ज्यों-ज्यों कषायावस्था का शमन होता रहेगा, त्यों-त्यों जो क्रियाएं होंगी, उनमें बन्धन कम होगा; हलका होगा, आत्मा ऊँची उठती जायेगी। एक अवस्था ऐसी आयेगी, जिसमें सर्वथा बन्धन नहीं होगा; क्योंकि उसमें बन्धन के कारणों का अभाव होगा।

श्री रामाराव—क्या निष्काम भाव से कर्म करने पर बन्धन कम होगा?

आचार्यश्री—निष्काम भावना के साथ आत्म-अवस्था भी शुद्ध होनी चाहिए। बहुत-से लोग कहने को कह देते हैं कि वे निष्काम कर्म करते हैं; किन्तु जब तक आत्म-अवस्था विशुद्ध नहीं होती, वह निष्कामता नहीं कही जा सकती।

श्री रामाराव—साइकोलोजी (मनोविज्ञान शास्त्र) का विचार-क्षेत्र मानसिक क्रिया से ऊपर नहीं जाता। आपके विचार इस विषय में क्या हैं?

आचार्यश्री—आत्मा की मानसिक, वाचिक व कायिक क्रिया तो हैं ही; इनके अतिरिक्त 'अध्यवसाय' या 'परिणाम' नाम की एक सूक्ष्म क्रिया भी है। स्थावर जीवों के मन नहीं होता, किन्तु उनके भी वह सूक्ष्म क्रिया होती है; उसे 'योग', 'लेश्या' आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

श्री रामाराव—जिनके मन नहीं होता, क्या उनके आत्मा नहीं होती है ?

आचार्यश्री—आत्मा के आलोचनात्मक ज्ञान के साधन का नाम ही मन है। जिस प्रकार पाँचों इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं, उसी प्रकार मन भी। यदि दूसरे शब्दों में कहा जाये तो आत्मा की बौद्धिक क्रिया का नाम मन है। जिनकी बौद्धिक क्रिया अविकसित होती है, उन्हें अमनस्क कहा जाता है; अर्थात् उनके मन नहीं होता।

श्री रामाराव—क्या इन्द्रियों की प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति से आत्मा मुक्ति पाती है ?

आचार्यश्री—प्रवृत्ति दो प्रकार की हैं : सत्प्रवृत्ति तथा असत्प्रवृत्ति। सत्प्रवृत्ति तथा निवृत्ति दोनों आत्म-मुक्ति की साधनभूत हैं।

श्री रामाराव—मनोविज्ञान ऐसा मानता है कि विचार-शक्ति में मनुष्य कार्य-प्रवृत्ति से (सतत चेष्टा से) विकास कर सकता है; किन्तु कुछ बातें ऐसी होती हैं जो संस्कारलभ्य हैं। मनोविज्ञान में विचारधारा के तीन प्रकार माने गए है : १. माता-पिता की अपनी सन्तति के प्रति जैसी रक्षात्मक भावना होती है, वैसी भावना रखना और दूसरों से वैसी ही रक्षात्मक भावना की माँग करना; २. घृणित भावनाओं से घृणा करना व उन्हें छोड़ने की प्रवृत्ति करना; ३. उत्तेजक काम-क्रोध वासना आदि। वे तीनों भावनाएं स्वाभाविक शक्तियाँ (Energies) हैं, इनको सरलतया मिटाया नहीं जा सकता। इनको दूसरी ओर लगाया जा सकता है, अर्थात् दूसरे मार्ग पर ले जाने की कोशिश की जा सकती है। स्कूलों में चरित्र-गठन की शिक्षा के लिए यह विधि प्रयुक्त की जाती है कि पहली को प्रोत्साहन दिया जाये और तीसरी को रोकने की चेष्टा की जाये, क्या यह ठीक है ?

आचार्यश्री—तीसरी को रोकने का प्रयास करना बहुत ठीक है। पहली में प्रवृत्ति करने की या प्रोत्साहन देने की प्रेरणा एक सामाजिक भावना है। जो दूसरी विचारधारा है, उसको आश्रय देना—प्रोत्साहन देना उत्तम है।"[1]

डॉ० हर्बर्ट टिसि

डॉ० हर्बर्ट टिसि एम० ए०, डी० फिल्० आस्ट्रिया के यशस्वी पत्रकार तथा लेखक हैं। ये डॉ० रामाराव के साथ ही हाँसी में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये थे। आचार्यश्री के साथ हुए उनके कुछ प्रश्नोत्तर इस प्रकार हैं :

"डॉ० हर्बर्ट—लगभग पचास वर्ष पूर्व रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय वालों में ऐसी भाव-धारा उत्पन्न हुई कि वे जो कुछ कहते हैं, वह सर्वथा मान्य, विश्वसनीय व सत्य है। उसमें अविश्वास या भूल की कोई गुंजायश नहीं। किन्तु इस पर लोगों ने यह शंका की कि मनुष्य से भूल का होना सम्भव है। क्या आप भी आचार्य के विषय में ऐसा मानते हैं ? अर्थात् वे जो कुछ कहते है, वह एकान्ततः स्खलन-शून्य ही होता है ?

आचार्यश्री—यद्यपि संघ के लिए, अनुयायियों के लिए आचार्य ही एकमात्र प्रमाण हैं। उनका कथन—आदेश, सर्वथा मान्य व स्वीकार्य होता है; किन्तु हम ऐसा नहीं मानते कि आचार्यो से कभी भूल होती ही नहीं। जब तक सर्वज्ञ नहीं होते, तब तक भूल की सम्भावना रहती है। यदि ऐसा प्रसंग हो तो आचार्य को वह बात निवेदन की जा सकती है। वे उस पर उचित ध्यान देते हैं।

डॉ० हर्बर्ट—क्या कभी ऐसा काम पड़ सकता है जब कि एक पूर्वतन आचार्य के बनाये नियमों में परिवर्तन किया जा सके ?

आचार्यश्री—ऐसा सम्भव है। पूर्वतन आचार्य उत्तरवर्ती आचार्य के लिए ऐसा विधान करते हैं कि देश, काल, भाव, परिस्थिति आदि को देखते हुए व्यवस्थामूलक नियमों में परिवर्तन करना चाहें तो कर सकते हैं। किन्तु साथ-साथ में यह ध्यान रहे कि धर्म के मौलिक नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार किसी को भी नहीं है। वे सर्वदा व सर्वथा अपरिवर्तनशील हैं।

डॉ० हर्बर्ट—क्या जीव पुद्गल पर कुछ असर कर सकता है ?

---

१ तत्त्व-चर्चा से

आचार्यश्री—हाँ, जीव पुद्गलों को अनुकूल-प्रतिकूल अनुवर्तित या परिणत करने का सामर्थ्य रखता है। जैसे—कर्म पुद्गल हैं। जीव कर्म-बन्धन भी करता है और कर्म-निर्जरण भी। इससे स्पष्ट है कि जीव पुद्गलों पर अपना प्रभाव डाल सकता है।

डा० हर्बर्ट—जीव मनुष्य के शरीर में कहाँ है ?

आचार्यश्री—शरीर में सर्वत्र व्याप्त है। कहीं एकत्र—एक स्थान-विशेष पर नहीं। उसका प्रत्यक्ष प्रमाण है; जब शरीर के किसी भी अंग-प्रत्यंग पर चोट लगती है, तत्क्षण पीड़ा अनुभव होती है।

डा० हर्बर्ट—जब सब जीव संसार-भ्रमण शेष कर लेंगे, तब क्या होगा ?

आचार्यश्री—बिना योग्यता व साधनों के सब जीव कर्म-मुक्त नहीं हो सकते। जीव संख्या में इतने हैं कि उनका कोई अन्त नहीं है। उनमें से बहुत कम जीवों को वह सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे वे मुक्त हो सकें। जब कि संसार की स्थिति यह है कि करोड़ों लोगों में लाखों शिक्षित हैं, लाखों में हजारों विद्वान् या कवि हैं, हजारों में भी ऐसे बहुत कम हैं, जो स्वानुभूत बात कहने वाले तत्त्वज्ञानी हों। तब अध्यात्मरत योगी संसार में कितने मिलेंगे, जो संसार-भ्रमण शेष कर लेते हैं ?[1]

डा० फेलिक्स वेल्यि

प्राच्य संस्कृति-विषयक उच्चतर अध्ययन के लिए एक विद्या-संस्थान के प्रतिष्ठापक तथा संचालक डा० फेलिक्स वेल्यि द्वारा किये गए प्रश्न और उनके उत्तर इस प्रकार हैं :

डा० वेल्यि—योग की उपयोगिता क्या है ?

आचार्यश्री—मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों के विकास के लिए व इन्द्रिय-विजय के लिए उसका व्यवहार होता है।

डा० वेल्यि—इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर क्या है ?

आचार्यश्री—आत्मा और शरीर के भेद का ज्ञान होना एवं आत्मा के निर्माण-स्वरूप तक पहुँचने की भावना होना, इन्द्रिय-दमन का प्रथम स्तर है।

डा० वेल्यि—ज्ञान व चरित्र, इन दोनों में जैनों ने किसको अधिक महत्त्व दिया है ?

आचार्यश्री—जैन दृष्टि में, ज्ञान और चरित्र-निर्माण, दोनों समान महत्त्व रखते हैं।

डा० वेल्यि—जैन योग का अन्तिम ध्येय क्या है ?

आचार्यश्री—जैन योग का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है।

डा० वेल्यि—काम-विजय के सक्रिय उपाय कौनसे हैं ?

आचार्यश्री—मोहजनक कथा न करना, चक्षु-संयम रखना, मादक व उत्तेजक वस्तुएं न खाना, अधिक न खाना, विकारोत्पादक वातावरण में न रहना, मन को स्वाध्याय, ध्यान या अन्य सत्प्रवृत्तियों में लगाये रहना आदि काम-विजय के सक्रिय उपाय हैं।

डा० वेल्यि—क्या जैन विवाह को एक धर्म-संस्कार मानते हैं ? विवाह-विच्छेद प्रथा के प्रति जैनों का दृष्टिकोण क्या है।

आचार्यश्री—जैन विवाह को धर्म-संस्कार नहीं मानते। विवाह-विच्छेद की प्रथा जैन समाज में नहीं है। जैन लोग उक्त प्रथाओं को धर्म में सम्मिलित नहीं करते।

डा० वेल्यि—जैन साधुओं में परस्पर प्रतिस्पर्धा है या नहीं ?

आचार्यश्री—आत्म-साधन एवं अध्ययन के क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा होती है। यश-प्राप्ति की स्पर्धा वैध नहीं है।

---

१ तत्त्व-चर्चा से

यश की अभिलाषा रखना दोष समझा जाता है।

डा० वेलिय—क्या धर्मगुरु से कभी कोई ग़लती नहीं होती? क्या वे सदा सन्तुष्ट रहते हैं? क्या वे हमेशा स्वस्थ रहते हैं? क्या औषधोपचार भी विहित है? क्या उन्हें स्वास्थ्यकर भोजन हमेशा मिलता रहता है?

आचार्यश्री—गुरु भी अपने को साधक मानता है। साधना में कोई भूल हो जाये तो वे उसका प्रायश्चित्त करते हैं। हमारी दृष्टि में सर्वश्रेष्ठ सुख आत्म-सन्तोष है; इसकी गुरु में कमी नहीं होती। शारीरिक स्थिति के बारे में कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता; क्योंकि वह भिन्न-भिन्न क्षेत्र और परिस्थितियों पर निर्भर है। साधु भिक्षा द्वारा भोजन प्राप्त करते हैं, इसलिए भोजन सदा स्वास्थ्यकर ही मिले, यह बात आवश्यक नहीं।

साधु को शारीरिक व्यथाएं होती हैं और मर्यादा के अनुकूल उनका उपचार करना भी वैध है। औषधि-सेवन करना या अपनी आत्म-शक्ति से ही उसका प्रतिकार करना, यह वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर है।

डा० वेलिय—संसार के प्रति साधुओं का क्या कर्तव्य है?

आचार्यश्री—हमें विश्व के दुःख के जो मूलभूत कारण हैं, उन्हें नष्ट करना चाहिए। अपने आत्म-विकास और साधना के साथ-साथ जन-कल्याण करना, अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का प्रचार करना साधुओं का लक्ष्य है।

श्री जे० आर० बर्टन

आचार्यश्री बम्बई के उपनगरों में थे, तब दो अमेरिकन सज्जन श्री जे० आर० बर्टन और श्री डब्ल्यू० डी० वेल्स दर्शनार्थ आये। ये विभिन्न धर्मों की अन्तर्-भावना का परिशीलन करने के लिए एशियाई देशों में भ्रमण करते हुए यहाँ आये थे। आचार्यश्री के साथ उनका वार्तालाप-प्रसंग इस प्रकार हुआ:

"श्री बर्टन—मैंने बौद्ध दर्शन में यह पढ़ा है कि तृष्णा या आकांक्षा को मिटाना जीवन-विकास का साधन है। जैन-दर्शन की इस विषय में क्या मान्यता है?

आचार्यश्री—जैन-धर्म में भी वासना, तृष्णा, लिप्सा आदि का वर्जन करने के उपदेश हैं। आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप तक पहुँचने में ये दोष बड़े बाधक हैं।

श्री बर्टन—ईसा के उपदेशों के सम्बन्ध में आपका क्या ख़याल है?

आचार्यश्री—अपरिग्रह और अहिंसा आदि अध्यात्म-तत्त्वों के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने कहा है, वह हृदय-स्पर्शी है।

श्री बर्टन—क्या आप धर्म-परिवर्तन भी करते हैं?

आचार्यश्री—हमारा कार्य तो धर्म के सत्य तत्त्वों के प्रति व्यक्ति के मन में श्रद्धा और निष्ठा पैदा करना है। हृदय-परिवर्तन द्वारा व्यक्ति को आत्म-विकास के पथ का सच्चा पथिक बनाना है। कहीं भी रहता हुआ व्यक्ति ऐसा करने का अधिकारी है। एक मात्र बाहरी रंग-ढंग को बदलने में मुझे श्रेयस् प्रतीत नहीं होता; क्योंकि धर्म का सीधा सम्बन्ध आत्म-स्वरूप के परिमार्जन और परिष्कार से है।

श्री बर्टन—श्रद्धा का क्या तात्पर्य है?

आचार्यश्री—सत्य विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।

श्री बर्टन—सत्य विश्वास किसके प्रति?

आचार्यश्री—आत्मा के प्रति, परमात्मा के प्रति और आध्यात्मिक तत्त्वों के प्रति।

श्री बर्टन—क्या कर्तव्य ही धर्म है?

आचार्यश्री—धर्म अवश्य कर्तव्य है; पर सब कर्तव्य धर्म नहीं। सामाजिक जीवन में रहते हुए व्यक्ति को पारिवारिक, सामाजिक आदि कई कर्तव्य ऐसे भी करने पड़ते हैं, जो धर्मानुमोदित नहीं होते। समाज की दृष्टि से तो वे कर्तव्य हैं, अध्यात्म-धर्म नहीं। आत्म-विकास उनसे नहीं सधता।"[1]

१ जैन भारती, २८ नवम्बर '५४

श्री वुडलेंड केलर

अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी मण्डल के उपाध्यक्ष तथा यूनेस्को के प्रतिनिधि श्री वुडलेंड केलर, जो शाकाहारी एवं अहिंसावादी लोगों से मिलने व विचार-विमर्श करने सपत्नीक भारत में आये थे, बम्बई में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केलर ने कहा कि भारतवर्ष एक शाकाहार-प्रधान देश है और जैन-धर्म में विशेष रूप से आमिष-वर्जन का विधान है। अतः भारतवर्ष से, तथा मुख्यतः जैनों से, हमारा एक सहज सम्बन्ध एवं आत्मीय भाव जुड़ जाता है।

आचार्यप्रवर के साथ श्री केलर का जो वार्तालाप हुआ, उसका सारांश यों है :

"श्री केलर—रूस विश्व की उलझनों अथवा समस्याओं के लिए साम्यवाद के रूप में जो समाधान प्रस्तुत करता है, उसके सम्बन्ध में आपका क्या विचार है ?

आचार्यश्री—साम्यवाद समस्याओं का स्थायी और शुद्ध हल नहीं है; वह अर्थ-सम्बन्धी समस्याओं का एक सामयिक हल है। आर्थिक समस्याओं का सामयिक हल जीवन की समस्याओं को सुलझा सके, यह सम्भव नहीं।

श्री केलर—क्या राजनैतिक विधि-विधानों से लोक-जीवन की बुराइयों और विकृतियों का विच्छेद हो सकता है ?

आचार्यश्री—विकारों अथवा बुराइयों के मूलोच्छेद का सही साधन है—हृदय-परिवर्तन। विकारों के प्रति व्यक्ति के मन में घृणा और परिहेयता के भाव पैदा होने से उसमें स्वतः परिवर्तन आता है। हृदय बदलने पर जो बुराइयाँ छूटती हैं, वे स्थायी रूप से छूटती हैं और कानून या दण्ड के बल पर जो बुराइयाँ छुड़ायी जाती हैं, वे तब तक छूटी रहती हैं, जब तक विकारों में फँसे व्यक्ति के सामने दण्ड का भय रहे।

श्री केलर—संसार में जो कुछ दृश्यमान है, वह क्षणभंगुर है, नाशवान् है, फिर व्यक्ति क्यों क्रियाशील रहे; किस लिए प्रयास करे ?

आचार्यश्री—दृश्यमान-अदृश्यमान भौतिक पदार्थ नाशवान् हैं, भौतिक सुख क्षण-विध्वंसी हैं; पर आत्म-सुख तो शाश्वत, चिरन्तन और अविनश्वर हैं। उसी के लिए व्यक्ति को सत्कर्मनिष्ठ और प्रयत्नशील रहने की अपेक्षा है। भौतिक दृश्यमान जगत् या सुख-सामग्री जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है। चरम लक्ष्य है—आत्म-साक्षात्कार, आत्म-विशोधन।

श्री केलर—दूसरे लोगों में जो बुराइयाँ हैं, उनके विषय में आप टीका करते हैं या मौन रहते हैं ?

आचार्यश्री—वैयक्तिक आक्षेप या टीका करने की हमारी नीति नहीं है। पर सामुदायिक रूप में बुराइयों पर तो आघात करना ही होता है, जो आवश्यक है।

श्री केलर—मनुष्य जो कर्म करता है, क्या उसका फल-परिपाक ईश्वराधीन है ?

आचार्यश्री—ईश्वर या परमात्मा केवल द्रष्टा है। व्यक्ति जैसा कर्म करता है, उसका फल स्वयं उसे मिलता है। सत् या असत् जैसा कर्म वह करेगा, वैसा ही फल उसे मिलेगा। फल-परिपाक कर्म का सहज गुण है। ईश्वर या परमात्मा विगत-बन्धन है, निर्विकार है। स्व-स्वरूप में अधिष्ठित है। कर्म-फल प्रदातृत्व से उसका क्या लगाव ?"[1]

डानेल्ड-दम्पती

कैनेडियन पादरी श्री डानेल्ड कैप अपनी पत्नी तथा चर्च के अन्य कार्यकर्ताओं के साथ जलगाँव में आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उनका वार्तालाप-प्रसंग निम्नांकित है :

"श्रीमती कैप—बाइबिल के अनुसार हम ऐसा मानते हैं कि न्यायी व्यक्ति श्रद्धा से जीवन बिताता है।

आचार्यश्री—हमारी भी मान्यता है कि सच्चा श्रद्धावान् वही है, जो अपने जीवन में अन्याय को प्रश्रय नहीं देता।

श्रीमती कैप—प्रभु यीशू ने कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि तू जिस को मारना चाहता है, वह तू ही है।

---

1 जैन भारती, २० फरवरी '५५

आचार्यश्री—भगवान् महावीर का कथन है कि जिस तरह तुझे अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह वह सबको प्रिय है। सब जीव जीना चाहते हैं, इसलिए तुम्हें क्या अधिकार है कि तुम दूसरों के प्राण हरो। इस प्रकार बहुत-सी बातें ऐसी हैं, जो विभिन्न धर्मों में समन्वय बताती हैं।

श्री कैप—संसार में व्याप्त अशान्ति और दुःख का कारण क्या है?

आचार्यश्री—आज का संसार भौतिकवाद में बुरी तरह फँसा है, परिणामस्वरूप उसकी लालसाएं असीमित बन गई हैं। स्वार्थ के अतिरिक्त उसे कुछ नजर नहीं आता। अध्यात्म, जो शान्ति का सही तत्त्व है, वह दिन-पर-दिन भुलाया जा रहा है। जहाँ तक मैं सोचता हूँ, आज के संघर्ष और अशान्ति का यही कारण है।

श्री कैप—हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य जब पैदा होता है तो पापमय, पापों को लिये हुए, पैदा होता है।

आचार्यश्री—हमारी मान्यतानुसार जब मनुष्य पैदा होता है तो पाप और पुण्य दोनों लिये हुए पैदा होता है। यदि पुण्य साथ नहीं लाता तो उसे अनुकूल सुख-सुविधाएं कैसे मिलतीं?

श्री कैप—जो प्रभु यीशू की शरण में आ जाते हैं, उनकी मान्यता रखते हैं, उनके पापों के लिए वे पेनैल्टी (दण्ड) चुका देते हैं।

आचार्यश्री—तब मनुष्य का अपना कर्तव्य क्या रहा? हमारी मान्यता यह है कि मनुष्य को पैदा करने वाली ईश्वर-जैसी कोई शक्ति नहीं है। मनुष्य-जाति अनादिकालीन है। सत्-असत्, शुभ-अशुभ मनुष्य के स्वकृत कर्मों पर आधारित है। उनके लिए मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। अपने भले-बुरे कार्यों के लिए व्यक्ति का अपना उत्तरदायित्व न हो तब मनुष्य का क्या दोष? वह तो ईश्वर के चलाये चलता है।

श्री कैप—मेरी ऐसी मान्यता है कि हम लोग स्वयं कुछ नहीं कर सकते; सब ईश्वरीय प्रेरणा से करते है।

आचार्यश्री—इसमें हमारा विचार-भेद है। हमारे विचारानुसार हम अपने सत्-असत् के स्वयं उत्तरदायी हैं, और हमारी मान्यता यह है कि व्यक्ति आत्म-शक्ति से ही कार्य करता है, किसी दूसरी शक्ति से नहीं?"[1]

[1] जैन भारती, २९ मई '५५

: ७ :
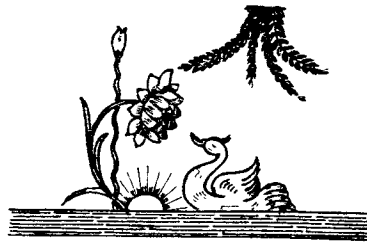
महान् साहित्य-स्रष्टा

आचार्यश्री जहाँ तक सफल आध्यात्मिक नेता तथा कुशल संघ-संचालक हैं, वहाँ महान् साहित्य-स्रष्टा भी हैं। साहित्य-सर्जन की उनकी प्रक्रिया में एक अतुलनीय विशेषता पायी जाती है। साहित्यकार को बहुधा एकान्त तथा शान्त वातावरण की आवश्यकता होती है; किन्तु इस प्रकृति के विपरीत वे जन-संकुल और कोलाहलपूर्ण वातावरण में बैठकर भी एकाग्र हो जाते हैं और साहित्य-रचना करते रहते हैं। यह स्वभाव सम्भवतः उनको इसलिए बना लेना पड़ता है कि एकान्त चाहने पर भी जनता उनका पीछा नहीं छोड़ती। कुछ उनके स्वभाव की मृदुता भी इसमें बाधक होती रही है। इतने पर भी साहित्य-स्रोतस्विनी अपनी अव्याहत गति से बहती ही रहती है।

उनका साहित्य, पद्य और गद्य, दोनों ही रूपों में है। भाषा की दृष्टि से वे राजस्थानी हिन्दी तथा संस्कृत में लिखते हैं। राजस्थानी तो उनकी मातृ-भाषा है ही, किन्तु हिन्दी और संस्कृत को भी उन्होंने मातृ-भाषावत् हा बना लिया है। विषय की दृष्टि से उनका साहित्य काव्य, दर्शन, उपदेश, भजन तथा स्तवन आदि अंगों में विभक्त किया जा सकता है। इस-के अतिरिक्त उनके धर्म-सन्देश तथा दैनन्दिन प्रवचनों के संग्रह भी स्वतन्त्र कृतियों के समान ही अपना महत्त्व रखते हैं।

काव्य-साहित्य में उन्होंने राजस्थानी तथा हिन्दी में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। राजस्थानी में 'श्रीकालू यशोविलास', 'माणकमहिमा', 'श्रीकालू उपदेश वाटिका', 'उदाई', 'गजसुकुमाल' तथा 'सुकुमालिका' आदि प्रमुख हैं। हिन्दी-ग्रन्थों में 'आषाढ़भूति', 'भरत-मुक्ति' तथा 'अग्नि-परीक्षा' आदि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त 'श्रीकालू उपदेश वाटिका', 'श्रद्धेय के प्रति' तथा 'अणुव्रत गीत' आदि उपदेशात्मक, भक्त्यात्मक तथा प्रेरणात्मक गीतों के विभिन्न संकलन हैं। यहाँ कुछ उद्धरणों द्वारा उनके काव्य-साहित्य का रसास्वादन करा देना अप्रासंगिक नहीं होगा।

श्रीकालू यशोविलास

'श्रीकालू यशोविलास' में तेरापंथ के अष्टमाचार्य श्री कालूगणी का जीवन-चरित्र वर्णित है। इसकी भाषा राज-स्थानी है, किन्तु कहीं-कहीं गुजराती से भावित है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि प्राचीन काल में दोनों प्रदेशों का तथा उनकी भाषाओं का निकट सम्बन्ध रहा है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि गुजराती भाषा के जैन-ग्रन्थ राजस्थान में विहार करने वाले साधु-साध्वियों द्वारा भी बहुधा पढ़े जाते रहे हैं और उससे उनकी अपनी कृतियों में भी भाषा का मिश्रण होता रहा है। तेरापंथ के आद्य आचार्य स्वामी भीखणजी तथा चतुर्थ आचार्य श्री जयाचार्य के साहित्य में एटले, माटे, शुं, छे, एम, केटला आदि गुजराती भाषा के अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। आचार्यश्री ने 'श्रीकालू यशो-विलास' में उसी प्राचीन परम्परा को प्रयुक्त किया है। इसमें उन्होंने हिन्दी का भी प्रयोग किया है। वस्तुतः वे पहले-पहले भाषा के विषय में काफी मुक्त होकर चले हैं। इसमें विभिन्न भाषाओं के शब्द तो प्रयुक्त हुए ही हैं, किन्तु पद्य की सुविधा के लिए शब्दों का अपभ्रंश भी किया गया है। उनके राजस्थानी तथा हिन्दी के कुछ प्रथम ग्रन्थों में यह क्रम रहा है; परन्तु 'श्रीकालू उपदेश वाटिका' की प्रशस्ति से यह बात सिद्ध होती है कि बाद में स्वयं उनको यह मिश्रण खटकने लगा। वे कहते हैं :

पर प्राचीन पद्धती रै अनुसार जो,
भाषा बणी मूंग चावल री खीचड़ी।

वापिस देख्या एक-एक कर द्वार जो,
तो अखरी बोली मिश्रित बैठी खड़ी ॥"

यहाँ हिन्दी को 'खड़ी बोली' कहा जाता रहा है, अतः 'बैठी बोली' से आचार्यश्री का तात्पर्य राजस्थानी से है। इस अखरन ने आचार्यश्री की आगे की कृतियों पर काफी प्रभाव डाला है। उनमें भाषा का मिश्रण न होकर विशुद्ध किसी एक भाषा का ही प्रयोग हुआ है।

'श्रीकालू यशोविलास' विभिन्न मधुर लयों में निबद्ध है। उसमें प्रसंगानुसार ऋतुओं, स्थानों तथा मनोभावों का अत्यन्त कुशलता से वर्णन किया गया है। घटनाओं का तथा उस समय तक स्वयं लेखक का भी राजस्थान से ही अधिक सम्पर्क रहा था, अतः उसमें राजस्थान के अनेक स्थलों का अत्यन्त रोचक वर्णन हुआ है। राजस्थान की भयंकर गर्मी और उसमें होनेवाली हैरानियों का लेखा-जोखा तथा गृहस्थ-जीवन और साधु-जीवन का भेद उपस्थित करते हुए उन्होंने ग्रीष्म-ऋतु की सजीव अभिव्यक्ति इस प्रकार की है :

ज्येष्ठ महीनो हो ऋतु गरमी नी, मध्यम सीनो हो हिवे हठ भीनों।
लूहर झालाँ हो अति विकरालाँ, वह्नि ज्वाला हो जिम चोफालाँ॥
भू थई भट्टी हो तरणी, तापे, रेणू कट्ठी हो तनु संतापे।
अजिन 'रु अठ्ठी हो मट्टी व्यापै, अति दुरघट्टी हो घट्टी मापै॥
स्वेद निझरणा हो रूँ-रूँ झारै, चीवर कर नां हो लूह-लूह हारै।
तनु पे उघड़ै हो फुणसी-फोड़ा, भू पे उघड़ै हो जिम भूँफोड़ा॥
जैन-मुनी नो हो मारग झीणो, भव्य प्रवीणो हो धोवण पीणो।
न्हावण-धोवण हो अंश न करणो, आतम तपावण हो दिल संवरणो॥
मलिन दुकूला हो कड़-कड़ बोलै, जंघा चूला हो छड़-छड़ छोलै।
अति प्रतिकूला हो पवन झकोलै, जिम कोई शूलाँ हो अंग खबोलैं॥
कोमल काया हो पासे माया, जननी जाया हो बाहर नाया।
भूँहरै घर कै ही पोढै खाटाँ, जलस्यूँ छिड़कै हो खस-खस टाटा॥
मंदिर मूँदी हो खोलै पंखा, कर-धर तुंदी हो सोत निशंका।
विद्युत योगे हो जल सीतलियो, बरफ प्रयोगे हो वा सो गलियो॥
हृदय उमावै हो बलि-बलि न्हावै, पान करावै हो दिल सुख पावै।
जो घबरावै हो सेंट छिटावै, ज्यादा चावै हो सिमलै जावै॥

—श्रीकालू यशोविलास, तृतीय उल्लास, गीतिका १७, २४ से ३१

यहाँ कवि ने ज्येष्ठ मास को ग्रीष्म ऋतु का हृदय कहा है। वे कहते हैं—"उस समय लू अग्नि-ज्वाला की तरह होती है और सूर्य के ताप से वह भूमि भट्टी के समान उत्तप्त हो उठती है। रजःकण शरीर को सन्तप्त ही नहीं करते, अपितु त्वचा और यहाँ तक कि अस्थियों तक पर अपना प्रभाव दिखलाते हैं। वैसे समय की घड़ियाँ घड़ी के माप से कुछ बड़ी ही लगती हैं। स्वेद रोम-रोम से फूटकर झरनों की तरह बहता है जिन्हें पोंछते हुए हाथ के वस्त्र—रूमाल बेचारे थक जाते हैं। भूमि पर वर्षा के समय भूँफोड़े उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार ग्रीष्म में शरीर पर फुंसी और फोड़े उठ आते हैं। ऐसी स्थिति में जैन मुनियों का कठिन मार्ग और भी कठिन हो जाता है। अचित्त जल की स्तोकता, अस्नान व्रत तथा दुकूलों की प्रतिकूलता इस प्रकार से दुःखद हो जाती है कि मानो कोई शरीर में शूलें चुभो रहा है। दूसरी ओर धनिक व्यक्तियों का दूसरा ही चित्रण सामने आता है। वे उस ऋतु में बाहर तो निकलते ही नहीं, भूमिगृहों में लू से छिपकर सो जाते हैं। खस की टट्टियाँ छिड़की जाती हैं, पंखे चलते हैं, विद्युत पर बर्फ के प्रयोग से शीतल किया गया जल पीते हैं, अनेक बार स्नान करते हैं, सुवासित रहते हैं। इतने पर भी यदि गर्मी का कष्ट प्रतीत होता है तो शिमला आदि पहाड़ी स्थानों में चले जाते हैं।" ग्रीष्मकाल के समय परस्पर विरोधी इन दो जीवन चित्रों को उपस्थित कर कवि ने एक ही ऋतु

में भोगियों और त्यागियों की प्रवृत्तियों का अन्तर अत्यन्त सहजता से स्पष्ट कर दिया है।

एक अन्य स्थान पर वे मारवाड़ प्रदेश के 'काँठा' (सीमान्त) का वर्णन इस कुशलता से करते हैं कि वहाँ के वातावरण का समग्र दृश्य एक साथ आँखों के सामने नाचने लग जाता है। वे कहते हैं :

हुती बिछायत ठाम-ठाम बाँवल काँटाँ नी,
रात-बिरात खटाखट उठती ध्वनि राँठां नी।
मेदपाट पड़ोस ठोस रचना घाटा नी,
टोर-ठोर धव, खदिर, पलास, रास भाटाँ नी।
अलप ऊँडिया कूप सूँडिया कानी-कानी,
जास प्रसाद निभाली विषमी गति वृषभाँ नी।
समीं जमीं जल कोरा धोरा सींचे पानी,
तेहथी निपजै नाज, साज नहिं बीजो जानी।

—श्रीकालू यशोविलास, चतुर्थ उल्लास, गीतिका १०, १ से ४

अर्थात्—"हर गाँव में बबूल के काँटों की बहुलता है। रात्रि की घनीभूत शून्यता में भी अरट्ट की ध्वनि अपनी खटाखट सुनाती रहती है, पड़ौसी प्रदेश मेवाड़ के अरावली पर्वत की घाटियाँ ऊँची दीवार-सी खड़ी दिखाई देती हैं। उनकी उपत्यकाओं में स्थान-स्थान पर धव, खदिर और पलाश वृक्षों की पंक्तियाँ खड़ी हैं तथा पत्थरों के ढेर लगे है। हर गाँव के चारों ओर ऊँचे पानी वाले कुएँ, उनमें से पानी निकालने के लिए शूँडनुमा चडस, उन्हें खींचने के बाद उल्टी गति से चलते हुए बैल एक विचित्र ही दृश्य उपस्थित करते हैं। वहाँ की सीधी सपाट भूमि को सींचने के लिए अपनायी गई इस व्यवस्था से वहाँ की जल-प्रणालियाँ पानी से भरी बहती हैं। वहाँ के व्यक्ति केवल उसी के आधार पर अन्न पैदा करते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य कोई यान्त्रिक अथवा प्राकृतिक सहयोग उन्हें प्राप्त नहीं है।" यह सारा वर्णन मारवाड़ के सीमान्त का तथा वहाँ के निवासियों के जीवन-क्रम का संक्षेप में परिपूर्ण तथा रोचक दृश्य उपस्थित कर देता है।

एक जगह राजस्थान के सुप्रसिद्ध अरावली तथा वहाँ के वन्य वातावरण को इस प्रकार से अभिव्यक्ति देते हैं :

चहूं ओर चंगी जुड़ी झंगी भारी, जहूं जगि जंगी वटा री जटाँ री।
कहीं निंब कादंब जबांब झारी, खरी शूल बबूल जीहाँ जमाँ री॥
कहीं खक्खराटी हुवै खक्खरी, कहीं घग्घराटी हुवै बग्घराँ री।
धड़ूड़ा लहूड़ा मडूड़ा मरारी, कहीं दंड थूराँ बकूरा बराँ री॥
किते फेतकाराँ फरक्कत फेरू, किते फुंफणारा अरक्कत्त एरू।
किते घूक संघाट घुग्घाट घेरू, किते वुक्क वुक्काट केरू बनेरू॥

—श्रीकालू यशोविलास, चतुर्थ उल्लास, गीतिका १२, १४ से १६

इस वर्णन में भाषा का राजस्थानी रूप डिंगल से प्रभावित है। जंगल की गहनता और भाषा की गहनता एक साथ हो गई है। अनुप्रासों का बाहुल्य उस गहनता को और भी बढ़ा देता है। वे कहते हैं—"चारों ओर एक-दूसरे से सटकर खड़े हुए वृक्षों से जहाँ वह अरण्य गहन बना हुआ है, वहाँ उसे बड़े-बड़े वट-वृक्षों की जटाओं ने और भी गहन बना दिया है। उस अटवी में जहाँ क्वचित् निम्ब, कदम्ब और जम्बू जैसे वृक्ष भी दिखाई देते हैं, वहाँ अधिकांश कँटीली झाड़ियाँ-ही-झाड़ियाँ तथा यम की जिह्वा-जैसे अपने शूलों को लिये बबूल-ही-बबूल खड़े हैं। धावड़े, खाखरे, महुड़े और थूहर आदि वृक्षों से तथा वन्य पशुओं के विभिन्न प्रकार के शब्दों से वह घाटी अत्यन्त विकट प्रतीत होती है।" इस प्रकार उपर्युक्त कुछ उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'श्रीकालू यशोविलास' आचार्यश्री की एक विशिष्ट कृति है। उसमें प्रकृति तथा मानव-स्वभाव के विविध पहलुओं के सजीव वर्णन के साथ-साथ जीवनी का प्रवाह चलता है। कहीं-कहीं उस प्रवाह में पाठक को तब रुकावट भी प्रतीत होती है जब कि बीचों-बीच में दीक्षाओं तथा अन्तर्-घटनाओं का वर्णन आने लगता है। आचार्यश्री की यह कृति सं० २००० में पूर्ण हुई थी।

माणक-महिमा

माणक-महिमा में तेरापंथ के षष्ठ आचार्यश्री माणकगणी का जीवन वर्णित है। यह 'श्रीकालू यशोविलास' के काफी बाद की रचना है। सं० २०१३ भाद्रपद कृष्णा चतुर्थी को इसकी पूर्ति हुई थी। अपेक्षाकृत यह काफी छोटी रचना है। इसमें तेरापंथ के श्रमण-समुदाय की गतिविधियों का वर्णन विशेष रूप से किया गया है। श्रमण-संस्कृति वस्तुतः शान्ति, समानता और श्रम के आधार पर चलने वाली संस्कृति है। प्राकृत के 'समण' शब्द से शम, सम और श्रम ये तीनों एकरूप हो जाते हैं। इसलिए साधुओं की दिनचर्या में भी इन तीनों की व्याप्ति हो जाना आवश्यक है। इसी बात को व्यक्त करने के लिए एक जगह साधुओं की दिनचर्या का वर्णन वे इस प्रकार करते हैं :

शम, सम श्रममय श्रमण संस्कृति, निरख साधना भारी।
शान्त रसाश्रित जीवन जोयो, होयो दिल अविकारी।।
निर्धन धनिक पुण्य परितोषित, शोषित नर हो नारी।
सदा 'सव्वभूयप्पभूय' बहै, समता रस की क्यारी।।
है जिहाँ श्रम की बड़ी प्रतिष्ठा, जीवन चर्या सारी।
श्रम परिपूर्ण सबेरै संध्या, निरखो नयन उघारी।।
अपनो-अपनो कार्य करो सब, प्रतिदिन ऊठ सवारी।
अपठित पठित अमीर गरीब, हुए जब महाव्रतधारी।।
पड़िलेहण और काजो-पूंजो, पात्र-प्रमार्जन वारी।
महाजन हरिजन काम सामलो, चलो श्रमण-पथ-चारी।।
भारी भोलप अपनै क्रम में, लाज करै लघुतारी।
सो अपंग परमुखापेक्ष बण, दुविधा बहै दुधारी।।
प्राप्त परिश्रम से जो भिक्षा, सम-विभाग स्वीकारी।
अपनी पाँती में सुख मानो, नहितर जीवन ख्वारी।।
वृद्ध बाल गुरु ग्लान म्लान, परिचर्या उचित प्रकारी।
हो जिम सब की चित्त समाधी, रहै सदा सुविचारी।।
विनय विवेक नेक अनुशासन, आसन दृढ़ता धारी।
हिलै न एक पान भी गणपति, आज्ञा बिन अविचारी।।

—माणक-महिमा, गीतिका २, २ से १०

जब कि माणकगणी अपना उत्तराधिकारी स्थापित किये बिना ही दिवंगत हो गए, तब सारे संघ पर आचार्य के चुनाव का भार आ गया। उस समस्या पर विचार करने के लिए एकत्रित हुए मुनिजनों की मानसिक उथल-पुथल का विश्लेषण करते हुए जो कहा गया है, वह न केवल तेरापंथ के श्रमणों की चिन्तन-पद्धति को ही व्यक्त करता है, अपितु उनकी विचार-गरिमा का भी द्योतक है। वह वर्णन इस प्रकार है :

बिचारो सन्तां ! सब मिल बात क नाथ कठा स्यूं ल्यावांला ?
सरै नहिं बिना नाथ इक स्यात, वर्ष सम रात बितावांला।।
आपाँरो गण गोकुल सन्ता ! गउवां खड़ी विशाल।
बड़ी दिदारू और दुधारू, पिण नहिं रह्यो गोवाल।
सन्तां ! बिना गवाल गउवाँ की सी गति आपाँ पावालां।।
सेना कड़ाचूड़ है सारी, पहरण पक्की ड्रेश।
पर सेनापति रह्यो न कोई, कुण दै अब आदेश।

सन्ताँ ! बिन सेनानी सेना की काँइ उपमा पावाँला ।।
ग्रह नक्षत्र चमकता सारा, ताराँ की झमझोल ।
पिण अम्बरियो सूनो लागे, बिना चाँद चमकोल ।
सन्ताँ ! बिना चाँद की रजनी स्यूँ आपाँ तुल जावाँला ।।
जातिवान द्रुम पेड़'र पौधा, विटपी लता वितान ।
फल फूलाँ स्यूँ लड़ा-लुंब है, माली बिना बगान ।
सन्ताँ ! बिन माली कै उपवन की उपमा बन जावाँला ।।
खेती खड़ी नाज स्यूँ नमती, दीखै सुन्दर डोल ।
पिण बिण बाड़ सतावै राही, मन स्यूँ करै मखोल ।
सन्ताँ ! बिना बाड़ की खेती गण ने नहीं बणावाँला ।।

—माणक-महिमा, गीतिका १८, २ से ६

श्रीकालू उपदेशवाटिका

'श्रीकालू उपदेशवाटिका' आचार्यश्री द्वारा समय-समय पर बनायी गई भक्त्यात्मक तथा उपदेशात्मक गीतिकाओं का संग्रह है। यह ग्रन्थ सं० २००१ से २०१५ तक बनता रहा। इस कथन से यह अधिक संगत होगा कि इस लम्बी अवधि में बनायी गई गीतिकाओं को बाद में इस नाम से संगृहीत कर लिया गया। यह राजस्थानी भाषा का ग्रन्थ है। इसकी भक्त्यात्मक गीतिकाएं जहाँ व्यक्ति को भक्ति-विभोर कर देने वाली हैं, वहाँ आचार्यश्री के भक्ति-प्रवण हृदय का भी दिग्दर्शन कराने वाली हैं। यद्यपि जैन तथा जैनेतर भक्तिवाद की भूमिका में काफी भेद रहा है; फिर भी आचार्यश्री भक्ति-धारा में बहते हुए दूसरी धारा को भी मानो अपने में समा लेना चाहते हैं। वे जानते हैं कि उनका आराध्य जैनेतर भक्तिवादियों के आराध्य के समान दृश्य या अदृश्य रूप से अपने आराध्य के पास नहीं आता। उसे तो केवल भाव-विशुद्धि का साधन ही बनाया जा सकता है; फिर भी वे उसे अपने मन-मन्दिर में बुलाने का आग्रह करने से नहीं चूकते। वे कहते हैं :

प्रभु म्हारै मन-मन्दिर में पधारो !
करूँ स्वागत गान गुणाँ रो,
करूँ पल-पल पूजन थारो ।
चिन्मय नें पाषाण बनाऊँ, नहीं मैं जड़ पूजारो,
अगर-तगर-चन्दन क्यूँ चरचूँ, कण-कण सुरभित थारो ।

स्थान की अनुपयुक्तता में कहीं आराध्य उस मन्दिर में आने से इन्कार न कर दें, इसलिए वे स्वयं ही स्पष्टीकरण प्रस्तुत करते हुए वहीं आगे कहते हैं :

म्लान स्थान चंचलता निरखी, न करो नाथ नाकारो,
तुम थिर वासे निरमलता पा, होसी थिरचा वारो ।

बड़े-से-बड़े दार्शनिक तथ्य को भी वे छोटे-से किसी रूपक के सहारे इस सहजता से कह जाते हैं कि आश्चर्य होता है। राग और द्वेष दोनों ही, आत्म-विरोधी भाव हैं; परन्तु जन-मानस में एक के प्रति आदरमूलक भाव हैं तो दूसरे के प्रति निरादरमूलक। वे उन दोनों की एकरूपता तथा भावनात्मक भेद के कारण उन पर होने वाली मानव-प्रतिक्रिया की विभिन्नता को यों समझाते हैं :

द्वेष दाव; हिमपात राग है,
पण दोनाँ री एक लाग है,
है दोनाँ रो काम कमल रो खोज गमाणो ।
काठ काट अलि बाहर आवै,

कमल पाँखड़ी छेद न पावै;
द्वेष राग रो रूपक जाग सको तो जाणो ।।

कुछ गीतिकाओं में भक्ति और उपदेश का अत्यन्त मनोहर मिश्रण हुआ है। इसी प्रकार की एक गीतिका में अविनाशी प्रभु की भक्ति के लिए प्रेरणा देते हुए वे कहते हैं :

"भज मन प्रभु अविनाशी रे !
बीच भँवर में पड़ी नावड़ी काँठे आसी रे ।।
थाँरो म्हाँरो कर कर सारो जनम गमासी रे।
कोड्याँ साटे हीरो खोकर तूं पिछतासी रे ।।

इस संग्रह की उपदेशात्मक गीतिकाएं बहुत सरसता के साथ जहाँ व्यक्तियों को दुष्प्रवृत्तियों से हटने की प्रेरणा देती है, वहाँ स्थान-स्थान पर रूपकों के रूप में काव्य-रस का भी आस्वादन कराती हैं। उदाहरण-स्वरूप एक गीतिका के निम्नोक्त पदों को पढ़ लेना पर्याप्त होगा :

अम्बर में कड़कै बिजली कड़ी,
होके रहिज्यो रे राही हुँशीयार !
घुमड़ घोर है गगन मण्डल में अजब अँधेरी छाई।
पथ नहीं सूझै हृदय अमूंझै, डाँफर स्यूं काया कुम्हलाई ।।
तरुण तूफान अरुण हो अन्धड़, आँख मींचता आवै।
भारी बिरखा बाढ़ नद्यां में, जीवड़ो जोखम स्यूं घबड़ावै ।।
पापी मोर पपीहा बोलै, हंसा हुया प्रवासी।
काँठै खड्या रूँखड़ा डोलै, मिटा में कुटिया लुट जासी ।।
खिण-खिण में जो ख्याँत राखता, चढ़ता मोटै मालै ।
'जाए जाती खोखा खाती' बहग्या बै पिण पाणी रे बालै ।।

इसमें संसारी प्राणी को रूपक की भाषा में राही कहा गया है। राही के मार्ग में आने वाली कठिनाइयों का भी उसी प्रकार की भाषा से वर्णन करते हुए उसे सावधान किया गया है—"**आकाश में कड़कती हुई बिजलियाँ, घुमड़ते हुए बादलों में चारों ओर छाने वाला अन्धकार, शरीर को विच्छाय कर देने वाली डाँफर—शीत वायु, आँख मींचकर चलने वाले तूफान और अन्धड़, टूटकर गिरने वाली भारी वर्षा तथा चढ़ी हुई नदियों ने तुम्हारे लिए घबरा जाने का वातावरण तैयार कर देने के साथ-साथ खतरा भी पैदा कर दिया है। ऐसा न हो कि तुम तट पर खड़े वृक्ष की तरह यों ही उखड़ जाओ तथा तट पर बँधी कुटिया की तरह क्षण-भर में डुबो दिये जाओ। यहाँ प्रतिक्षण सावधान रहने वाले तथा ऊँचाई पर रहने वाले व्यक्ति भी बहुधा बहाव के साथ बह जाते हैं।**"

श्रद्धेय के प्रति

यह भी 'श्रीकालू उपदेशवाटिका' की तरह गीतिकाओं का संग्रह ही है। इसमें विभिन्न पर्व-दिवसों पर देव, गुरु और धर्म के विषय में बनायी गई गीतिकाएं हैं। इसके दो विभाग कर दिये गए हैं। प्रथम में हिन्दी और दूसरी में राजस्थानी की गीतिकाएं हैं। वे प्रायः महावीर-जयन्ती, भिक्षु-चरमोत्सव तथा मर्यादा-महोत्सव आदि पर्व-दिवसों पर बनायी गई हैं। स्तुत्यात्मक होते हुए भी अनेक स्थानों पर काफी गहरा निरूपण किया गया है। स्वामीजी द्वारा निर्दिष्ट एक आचार्य, एक आचार और एक विचार की त्रिपदी को लक्ष्य कर उसे एक नूतन अद्वैत बतलाते हुए कहा गया है :

एकाचार एक समाचारी एक प्ररूपणा पन्थ।
ओ नूतन अद्वैत निकाल्यो वाह-वाह भीखणजी सन्त।

चातुर्मासिक प्रवास से सन्त-सतियों के दूर-दूर तक फैल जाने और फिर मर्यादा-महोत्सव के अवसर पर एकत्रित

होने की इस विकोचन और संकोचन की प्रक्रिया को नदी के रूपक में अत्यन्त सूक्ष्मता और गौरवशीलता के साथ यों अभिव्यक्ति दी गई है :

पावस में पसरै करै अपनो शीतकाल संकोच।
निर्झरणी सम शासन सरणी अन्तर्मन आलोच ।।

प्रबन्ध-काव्य

इधर लगभग तीन वर्षों से आचार्यश्री का रुझान प्रबन्ध-काव्य लिखने की तरफ हुआ है। इन वर्षों में उन्होंने 'आषाढ़भूति,' 'भरतमुक्ति' तथा 'अग्नि-परीक्षा' नाम से तीन काव्य लिखे हैं। हिन्दी में प्रायः छन्दोबद्ध प्रबन्ध-काव्यों का ही प्रचलन है; किन्तु इस परिपाटी के विपरीत ये तीनों गीतिका-निबद्ध हैं। बीच-बीच में दोहों, सोरठों तथा गीतक छन्द आदि का भी प्रयोग किया गया है। जैन-साहित्य-परम्परा में यह शैली काफी प्रचलित रही है। राजस्थानी तथा गुजराती में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं। हिन्दी में इस शैली का प्रयोग बीजारोपण के रूप में आचार्यश्री द्वारा किया गया है। इसकी संगीतात्मकता श्रव्य-काव्य के भावनात्मक ध्येय की पूर्ति करने वाली है। रोचक कथानक, प्रवाहमयी भाषा संगीतात्मकता के साथ मिलकर श्रोता को एक अद्वितीय आनन्द की अनुभूति करा देने वाली होती है।

आषाढ़भूति

'आषाढ़भूति' की कथा जैन समाज में अति प्रसिद्ध है। एक महान् आचार्य का परिस्थितियों के आवर्त्त-विवर्त्तों में फँसकर नास्तिकता की ओर झुकने और फिर उस भावना पर विजय पाकर आस्तिकता में स्थिर होने तक की घटनावलि में मानस के अनेक उतार-चढ़ावों का वर्णन है। अन्य पारिपार्श्विक वर्णन भी हृदय को छूने वाले हैं। शहर में फैली हुई महामारी के अवसर पर नगरवासियों की दशा का वर्णन करते हुए कहा गया है :

प्रायः पड़े बीमार; न कोई सेवा करने वाला।
त्राहि-त्राहि कर रहे, न घर में पानी भरने वाला।।
अच्छे-अच्छे भिषग्वरों की औषधि काम न करती।
उग्र व्याधि के प्रबल घात से धड़क रही है धरती।।
छोड़ पितामह प्रपितामह को पौत्र प्रपौत्र सिधारे।
माता मरी; रो रहे बच्चे बिलख-बिलख कर सारे।।
अन्ध-यष्टि से निराधार-आधार नन्द इकलौते।
पैर पसारे, कौन उबारे, रहे स्वजन सब रोते।।
कहीं-कहीं पर तो मृतकों को नहीं जलाने वाले।
घर-घर में शव पड़े सड़ रहे, कौन किसे सँभाले ?
एक चिता पर, एक बीच में, एक पड़ा है धरती।
वर्ग-भेद के बिना, शहर में घूम रहा समवर्ती।।

—आषाढ़भूति, १-४८ से ५३

महामारी के प्रचण्ड प्रहार ने आचार्य आषाढ़भूति के अनेक योग्य तथा विद्वान् शिष्यों की आहुति ले ली। शेष शिष्यों के बचने की आशा भी कुपित काल के आघातों से धूमिल हो उठी। उस स्थिति ने आचार्य के धार्मिक मन को झकझोर डाला। वे सोचने लगे, क्या आजीवन की गई धर्म-साधना का यही प्रतिफल है! जन-साधारण की मृत्यु तथा अपने विद्वान् शिष्यों की मृत्यु के अभेद ने उनके मन में नास्तिकता का बीज वपन कर दिया। एक ओर उनके मानस की यह डगमग करती हुई स्थिति थी, तो दूसरी ओर गण की स्थिति उस उद्यान के समान हो रही थी जो कि पतझड़ के समय बिल्कुल शोभाविहीन होकर डरावना-सा लगने लगता है। आचार्य अपने मन की इस परेशानी को जब बचे हुए शिष्यों

के सामने रखते है, तब उनका मन इतना खिन्न और निराशा से भरा होता है कि उन्हें किसी के बचने की सम्भावना ही नहीं रहती। उन्हें लगता है कि काल कुपित होकर उनकी हरएक आशा को घात लगा-लगाकर तोड़े डाल रहा है। तभी तो वे अपने अवशिष्ट शिष्यों को सानन्द बिदा देने की बात कह डालते हैं और साथ ही अपनी आँखों में घिर आने वाली नास्तिकता की सम्भावित काली रात का भी उल्लेख कर देते हैं। वे कहते हैं :

फलित ललित आषाढ़भूति-गण
पतझड़ हुआ आज देखो
किसने सोचा यों आयेगा, भीषण झंझावात !
शेष रहे भी बच पायेंगे
यह भी सम्भव नहीं अहो !
रह-रह आशा तोड़ रही है, कुपित काल की घात।
ले लो सभी बिदा मेरे से,
मैं सानन्द तुम्हें देता
पर घिरने वाली है, इन आंखों में काली रात।"

—आषाढ़भूति, १-७२ से ७४

एक स्थान पर बालकों का वर्णन सहज और सरल शब्दों में इतने आकर्षक ढंग से किया गया है कि मानो बालकों की आकृति, प्रकृति और क्रिया-कलाप स्वयं ही मुखरित हो उठे हों :

तप्त स्वर्ण से उनके चेहरे, कोमल प्यारे-प्यारे,
झलक रही थी सहज सरलता, हसित वदन थे सारे।
तुतली-तुतली प्यारी-प्यारी, मीठी-मीठी बोली
बड़ी सुहानी हृदय लुभानी, सूरत भोली-भाली।

—आषाढ़भूति, २-६६, ७२

महाकवि कालिदास ने कहा है—**नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।** अर्थात् मनुष्य की दशा रथ के चक्र की तरह क्रमशः नाचे से ऊपर और ऊपर से नीचे होती रहती है। आचार्यश्री इस बात को 'अति' मे जोड़ कर यों कहते हैं :

आता पतन चरम सीमा पर, तब चाहता उत्थान,
प्रायः मानव-मानस का यह, सरल मनोविज्ञान।
है सम्भावित अत्युत्कर्षण में होना अपकर्ष,
अत्यपकर्षण में ही होता, निहित सदा उत्कर्ष।

—आषाढ़भूति, ३-१२७, १२८

भरत-मुक्ति

'भरत-मुक्ति' भगवान् ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र भरत के जीवन से सम्बद्ध प्रबन्ध-काव्य है। मानव-संस्कृति के प्रथम स्फोट के अवसर पर मार्ग-दर्शन करने वाले तीर्थंकर भगवान् ऋषभनाथ को, जैनों ने ही नहीं, किन्तु वैदिकों ने भी अपने अवतारों में से एक गिना है। इस काव्य में उस समय के मानव-स्वभाव और उसमें क्रमिक विकास का अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। महाराज भरत ऋषभनाथ के प्रथम पुत्र होने के साथ यहाँ के प्रथम सम्राट् भी थे। जैनों के विचारानुसार उन्हीं के नाम पर इस क्षेत्र को 'भरत' या 'भारत' कहा जाने लगा है। भरत के जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव हैं। राज्य-लिप्सा, भाइयों से कलह, युद्ध, साम्राज्य-स्थापन तथा अनन्य सुख-भोग आदि की घाटियों से तुमुल नाद के साथ बहती हुई उनकी जीवन-सरिता अन्तःशमरस की समभूमि पर आ जाती है। यहीं से उनके जीवन की उस उच्च भूमिका का निर्माण होता है जिसे प्राप्त करने के लिए योगिजन योग-साधना करते

हैं। दृश्य और अदृश्य सभी बन्धनों से पूर्ण मुक्ति की ओर अभियान का प्रारम्भ इसी अवस्था से होता है।

सामाजिक व्यवस्था की स्थापना करने वाले प्रभु ऋषभनाथ के द्वारा सरयू के तट पर 'वनिता' नगरी की स्थापना हुई। उस समय की प्रारम्भिक स्थितियों में उसका अपना वैभव प्राकृतिक वैभव ही हो सकता था। नगर के सन्निकट के विपिन-कुंज पादप और लताओं से भरे हुए थे। उनका वर्णन करते हुए कहा गया है :

छोटे-छोटे सन्निकट विपिन,
तरु वल्लरियों से घिरे सघन;
कुञ्जों की वह कमनीय प्रभा,
किसका न रही हो चित्त लुभा;
शाखाओं के मिष हाथ हिला,
पथिकों को पादप रहे बुला;
आओ मीठे फल खा जाओ,
अपनी पथ-श्रान्ति मिटा जाओ।

—भरत-मुक्ति, सर्ग ३

विपिन के तरु, वल्लरियों और कुंजों के द्वारा पथिक को जहाँ चित्त-प्रसत्ति होती है, वहाँ उसे प्रकृति का अतिथि-सत्कार भी प्राप्त होता है। भारतीय मानव ही अतिथि-सत्कार में निपुण नहीं है, अपितु वृक्ष भी उसमें कम नहीं उतरना चाहता। वे अपनी शाखाओं के हाथ हिला-हिलाकर पथिकों को बुलाते हैं और अपने मीठे फलों तथा छाया से उनकी श्रान्ति दूर करते हैं। यहाँ पादपों द्वारा पथिकों को बुलाना तथा मीठे फल खाने का आग्रह करना आदि क्रियाओं का बड़ी सुन्दरता से मानवीकरण किया गया है।

स्त्रियाँ वस्त्राभूषणों से सज्जित होती हैं, अपने रूप-गौरव पर अपने-आप ही लज्जित होती हुई वे झुकी-झुकी सी रहती हैं। पति के आस-पास रहने को वे अपने जीवन का सर्वोत्कृष्ट सुख मानती हैं। उनकी हर गतिविधि पुरुष के मन को उन्मत्त कर देने वाली है। परन्तु वे सारी गतिविधियाँ मानवीय संस्कारों में ही बँधकर नहीं रह जाती हैं। कवि के संस्कार में वे वनस्पतिलोक में भी उसी प्रकार से चलती रहती हैं। मानवीय भावों को वनस्पति-जगत् पर कवि ने कितने सुन्दर ढंग से आरोपित किया है :

शाखाओं से नत लज्जित हो,
पत्तों पुष्पों से सज्जित हो,
मानसोन्मादिनी लतिकायें,
पादप गण के दाएं बाएं।

—भरत-मुक्ति, सर्ग ३

एक-स्थान पर हिंसा और अहिंसा के विषय में बड़ी स्पष्टता के साथ कहा गया है :

है हिंसा आक्रामकता, भय खाना भी हिंसा है,
उसमें बर्बरता, इससे जग में निन्दा-खिसा है।
दोनों से आत्म-पतन है, दोनों हैं दुर्बलताएं,
क्यों लड़ें किसी से अड़के ? क्यों मरने से घबरायें ?
होते आक्रमण, पलायन, भयभीतों के दो लक्षण,
बचते जो इन दोनों से, वे ही गम्भीर विचक्षण।
वर अभय अहिंसा देती, जहाँ भय का काम नहीं है,
संत्रस्त भयाकुल प्राणी लेते विश्राम वहीं हैं।

—भरत-मुक्ति, सर्ग ४

आक्रमण करना हिंसा है, पर आक्रमण से भयभीत होना भी हिंसा है। एक मानवीय बर्बरता का प्रदर्शन है तो दूसरी कायरता का; दोनों ही वृत्तियाँ निन्दनीय हैं। भयभीत पशु या तो आक्रमण कर बैठता है या भाग जाता है। मनुष्य की भी वृत्तियाँ अभी तक वैसी ही चल रहा हैं। वह भी तो यही करता है। आचार्यश्री ने अहिंसा के समर्थन में भरत के भाइयों के मुख से ये उद्गार व्यक्त कराये हैं कि अहिंसा ही अभयदायिनी है; संसार के प्राणियों के लिए इससे अतिरिक्त विश्राम का कोई स्थान नहीं हो सकता।

अग्नि-परीक्षा

अग्नि-परीक्षा आचार्यश्री के प्रबन्ध-काव्यों में नवीनतम रचना है। इसमें जनक-तनया सीता के माध्यम से भारतीय नारी का जहाँ शील-सौजन्य अंकित किया गया है, वहाँ राम तथा तत्कालीन जनता के माध्यम से नारी जाति के प्रति पुरुष जाति का युग-युगान्तरों से चला आ रहा सन्देह भी वर्णित तथा आलोचित हुआ है। लंका-विजय के बाद राम के सपरिवार अयोध्या आने की भूमिका से इस काव्य का प्रारम्भ हुआ है, तो सीता के अग्नि-परीक्षा में उत्तीर्ण होने के साथ परिपूर्ण। इसमें घटनावलि इस क्रम से चलती रही है कि न कहीं राम भुलाये गए हैं और न कहीं सीता; फिर भी पाठक के सम्मुख स्वयं ही यह स्पष्ट हो जाता है कि इसमें मूल पात्र राम न होकर सीता है। 'अग्नि-परीक्षा' नाम भी इसी वास्तविकता का द्योतक है।

यद्यपि आज की परिस्थिति में किसी नारी को अग्नि में डालकर उसके शील की परीक्षा करना न व्यवहार्य है और न सम्भव; फिर भी पुरुष के मन में जब-जब नारी के शील में सन्देह उत्पन्न होता है, तब-तब उस बेचारी को, प्रतीकात्मक भाषा में कहें तो आज भी, 'अग्नि-परीक्षा' में से ही गुज़रना पड़ता है। नारी के लिए यह एक शाश्वत समस्या है। इस समस्या का हल सीता ने अपनी मानसिक पवित्रता, आत्म-बल और सहिष्णुता में ही खोजा था। प्रत्येक नारी के लिए उनके इन आदरणीय गुणों की आवश्यकता है। आचार्यश्री ने निष्कासन के अपमान से दुःखाभिभूत सीता के मुख से राम को नाना उपालम्भ दिलाकर उनके सहज नारीत्व को उभारा है। उन्हें पुरुष की दासी-मात्र नहीं बनाकर, स्वाभिमान-युक्त नारी के रूप में चित्रित किया गया है जो कि सर्वथा स्वाभाविक है। यह काव्य मानस-भूमि में सात्त्विक गुणों के अंकुरित होने के लिए एक सहज वातावरण उत्पन्न करता है। इस काव्य की ललित पदावलि, धारा की तरह प्रवहमान भाषा तथा सरस वर्णन पाठक को मुग्ध किये बिना नहीं रहते। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं।

राम जब रात्रि के समय अयोध्या में घूमकर सीता के अपवाद की बातें सुनकर वापस आते हैं, तब एक ओर तो शान्त रात्रि तथा दूसरी ओर अशान्त मन का वातावरण उनके लिए असह्य हो गया उसका चित्रण यों किया गया है :

विश्व वातावरण सारा तम-निमिज्जित हो रहा,
जन-समूह अनूह निशि के व्यूह में था सो रहा।
टिमटिमाते तारकों की कान्ति ज्योति-विहीन थी,
प्रकृति ध्वान्तावरण में तल्लीन सर्वांगीण थी।
अभ्र-अवनी-सर-सरोरुह श्रान्त शान्त नितान्त थे,
सरित-सागर-शब्द रह-रह हो रहे उद्भ्रान्त थे।
विहग पन्नग द्वय-चतुष्पद सर्वतः निस्तब्ध थे,
हुई परिणत गति स्थिति में, शब्द भी निःशब्द थे।
किन्तु राघव का हृदय आन्दोलनों से था भरा,
घूमता आकाश ऊपर, घूमती नीचे धरा।
तल्प कोमल निशित शायक तुल्य दुःखद लग रही,
स्वयं उनको हा स्वयं की भावनाएं ठग रहीं।

—अग्नि-परीक्षा, ३–१ से ३

नारी-जाति के विषय में आचार्यश्री के अतिशय कोमल विचार हैं। वे उनकी उत्थान-विषयक योजनाओं को कार्यान्वित करने पर बहुधा बल देते रहते हैं। नारी-जाति की पीड़ा और विवशता उनसे छिपी नहीं है। राम द्वारा निष्कासित होने पर सीता का चिन्तन वस्तुतः आचार्यश्री के चिन्तन को ही व्यक्त करने वाला है, जो कि इस प्रकार है :

है पुरुषों के लिए खुली यह वसुधा सारी,
पर, नारी के लिए सदन की चार-दीवारी।
सूर्य देखना भी होता महाभारत भारी,
किसे कहें अपनी लाचारी वह बेचारी।
मार-मार कर अपने मन को वह सब कुछ सहती,
जैसा होता, नहीं किसी से कुछ भी कहती।
चिन्ता सदा चिता बन, उसको दहती रहती,
व्यथा हृदय की छल-छल कर पलकों से बहती।

—अग्नि-परीक्षा, ४–१४, १५

जैन रामायण के अनुसार परित्याग के लिए सीता को लक्ष्मण नहीं, किन्तु 'कृतान्तमुख' सेनापति ले गए थे। जब वे वापस आकर राम को सीता के उपालम्भों आदि से अवगत कराते हैं, तब उनसे श्रोतागण का मन करुणार्द्र हो उठता है; परन्तु अन्ततः जब सीता इस काण्ड में भी सदा से निर्दोष रहने वाले राम के मति-विभ्रम को अपने ही किन्हीं अज्ञात कृतकर्मों का परिणाम स्वीकारती है, तब भारतीय नारी की इस शालीनता और सात्त्विकता पर मस्तक झुक जाता है। कृतान्तमुख उनके शब्दों को यों दुहराता है :

कैसे प्रतिकूल प्रवाह बहा, कुछ भी जा सकता नहीं कहा,
नस-नस में उनकी जान रही, अति भावुक भद्र स्वभाव रहा।
जो हुआ, दोष सब मेरा है, निर्दोष निरन्तर रहे राम,
कृतकर्मों का ही कुपरिणाम, जिससे उनकी मति हुई वाम।
झूठा कलंक यह आया है, रवि के रहते तम छाया है,
माताजी ने कहलाया है।।"

—अग्नि-परीक्षा, ४-७४

इसके साथ ही जब वे इस परित्याग से उत्पन्न हुई स्थिति में अपने और राम के सम्बन्धों का जिक्र करती हैं, तब रूपकों के माध्यम से कवि उनके भावों की अभिव्यक्ति इतनी गहराई और मार्मिकता के साथ करते हैं कि हर रूपक सीता के अन्तस्तल की पीड़ा का प्रतिबिम्ब बनकर 'श्रव्य' के साथ-साथ 'दृश्य' होने का आभास देने लगता है। वहाँ कहा गया है :

ममता की गाँठ शिथिल हुई, भावों की गगरी फूट गई,
निर्यामक का मुँह फिरते ही, पतवार हाथ से छूट गई।
सीता की सरिता सूख गई, सपनों की रजनी रूठ गई,
अब क्या जीने में जीना है, जब आकांक्षाएं टूट गई।
सब गत-रस किया कराया है, न्यारी काया से छाया है।

—अग्नि-परीक्षा, ४-७५

एक स्थान पर शरद् ऋतु का वर्णन इस प्रकार किया गया है :

शरद् ऋतु की सुखद शीतल पव-नलहरी चल रही,
विगत-घन अति शुभ्र अम्बर पंक-विरहित थी मही।
आ रहा विस्तार वर्षा का सहज संक्षेप में,

ज्यों समाहित तत्त्व सारे, चतुर्विध निक्षेप में।
नाति शीत, न चाति ऊष्मा, सम अवस्थित भाव में,
सर्वदा ज्यों लीन रहते, सन्त सहज स्वभाव में।
निशा-वासर हैं बराबर, तुल्यता कफ-वात में,
वेदनी आयुर्यथा सम समुद्घात-विघात में।
पूर्णतः अनुकूल ऋतु यह स्वास्थ्य-शोधन के लिए,
ज्यों अणुव्रत आज जन-मानस प्रबोधन के लिए।
स्वच्छ सलिल सरोवरों का मुकुर-सदृश सुहावना,
धर्म शुक्ल ध्यान में जैसे समुज्ज्वल भावना।
जैन मुनि भी कर रहे अब प्रतीक्षा प्रस्थान की,
योग-रोधक प्राप्त-शैलेशी यथा निर्वाण की।
स्वल्प-सी भी वृष्टि होती सिद्ध अत्युपयोगिनी,
सजग मुनि की क्रिया संवर-निर्जरा-संयोगिनी।
हो रहीं कृशकाय नदियाँ, क्षीण निर्झर-प्रनता,
क्षपक श्रेण्यारूढ़ मुनि की ज्यों कषाय-प्रहीणता।
वर्ष भर का कृषिक श्रम अब हो रहा साकार है,
खींचता तन-सार अनशन में यथा अनगार है।"

—अग्नि-परीक्षा, ५-१ से ५

यहाँ शीतल पवन, घनरहित आकाश, पंकरहित धरती, वृष्टि-विस्तार से हुए हर उपक्रम का पुनः संक्षेप, शीतोष्ण भावना की समस्थिति, दिन-रात की समानता, स्वास्थ्य की अनुकूलता, जल की स्वच्छता, नदियों और निर्झरों के उफान का शमन तथा कृषिक के श्रम का धान्य के रूप में साकार होना आदि कार्य शरद् ऋतु का इतना सहज चित्र खींचते हैं कि जिसे हर कोई दृश्य जगत् में प्रतिवर्ष साक्षात् अनुभव करता है। इस वर्णन में प्रयुक्त उपमाएं जहाँ एक ओर विषय को सरल बनाती हैं, वहाँ दूसरी ओर गम्भीर भी बना देती हैं। जैन तत्त्व-ज्ञान के बिना उन्हें समझना कुछ कठिन है। इन उपमाओं में आचार्यश्री ने एक नवीन प्रयोग किया मालूम होता है। अवश्य ही इससे जैन संस्कृति के विचारों तथा पारिभाषिक शब्दों से जन-साधारण को परिचित होने की प्रेरणा मिलेगी।

संस्कृत-साहित्य

आचार्यश्री के संस्कृत-साहित्य में 'जैन सिद्धान्तदीपिका' तथा 'भिक्षुन्यायकर्णिका' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दर्शन-ग्रन्थ हैं। ये प्राचीन परिपाटी के अनुसार सूत्र तथा वृत्ति के रूप में संदृब्ध हैं। 'जैन सिद्धान्तदीपिका' में जैन मान्यतानुसार तत्त्व-निरूपण किया गया है। इसके नौ प्रकाश हैं। नवें प्रकाश में जैन न्याय-सम्बन्धी संक्षिप्त परिभाषाएं दी गई हैं, जबकि अन्य आठ प्रकाशों में द्रव्य, आत्मा, कर्म, अहिंसा तथा गुणस्थान आदि का विवेचन है। 'न्यायकर्णिका' में आठ विभाग हैं जिनमें जैन मान्यतानुसार प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति और प्रमाता का वर्णन किया गया है। यह ग्रन्थ न्याय के विद्यार्थियों के लिए प्रवेश-द्वार का कार्य करता है। 'प्रमाणनयतत्त्वालोक' आदि ग्रन्थों के समान इसमें इतर न्याय-शास्त्रियों के मन्तव्यों का खण्डन करने का लक्ष्य नहीं रखा गया है। यह ग्रन्थ जैन पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत करता है तथा जैन न्याय के प्रमुख अंग नय-निक्षेप आदि को भी सरलता से हृदयंगम कराने में सहायक होता है। वस्तु-वृत्त्या यह अत्यन्त उपयोगी एक लाक्षणिक ग्रन्थ है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-गद्य में आचार्यश्री के कई निबन्ध भी हैं। संस्कृत पद्य-ग्रन्थों में 'कालू कल्याण मंदिर-स्तोत्रम्', 'कर्तव्यषट्त्रिंशिका', 'शिक्षाषण्णवति' आदि हैं।

धर्म-सन्देश

आचार्यश्री की साहित्य-सृष्टि में धर्म-सन्देशों का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये सन्देश बहुधा विश्व के विभिन्न भागों में होने वाले विभिन्न सम्मेलनों के अवसर पर दिये गए। अनेक स्थानों पर उनका अच्छा प्रभाव भी देखने में आया। 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' नामक एक सन्देश लन्दन में आयोजित 'विश्व धर्म सम्मेलन' के अवसर पर दिया गया था। वह दूर-दूर तक पहुँचा था। न्यूयार्क के 'साइरेक्यूज़ विश्वविद्यालय' के डा० रेमंड एफ० पीयर ने एक पत्र में लिखा था कि उन्होंने तुलनात्मक अध्ययन के लिए अपने छात्रों के पाठ्यक्रम में २६ जून, १९४५ को दिये गए प्रवचन 'अशान्त विश्व को शान्ति का सन्देश' के महत्त्वपूर्ण अंशों को सम्मिलित कर लिया है।[1]

इस सन्देश की एक प्रति महात्मा गांधी के पास भी पहुँची थी। उन्होंने उसे पढ़ा और उस पर कई जगह टिप्पणियाँ भी लिखीं। इस सन्देश का प्रकाशन काफी लम्बे समय के पश्चात् हुआ था। अतः भूमिका में जहाँ एतद्-विषयक खेद प्रकाशित किया गया था, महात्मा गांधीजी ने वहीं पर लिखा—"ऐसे सन्देश निकालने में देरी क्यों?" पुस्तिका के पृष्ठ ११ पर 'सम्यक्त्व' का विवेचन किया गया है; महात्मा गांधी ने वहाँ लिखा है—"क्या इस सम्यक्त्व का प्रचार किया गया?" उसके आगे पृष्ठ ११-१२ पर विश्व शान्ति के सार्वभौम उपायों का कथन करते हुए नौ बातें बतायी गई हैं। उस पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "क्या ही इच्छा होता कि दुनिया इस महापुरुष के इन नियमों को मान कर चलती।"[2]

यह आचार्यश्री का प्रथम सन्देश था। इसके बाद 'धर्म-रहस्य', 'आदर्श राज्य,' 'धर्म-सन्देश', 'पूर्व और पश्चिम की एकता', 'विश्व-शान्ति और उसका मार्ग', 'धर्म सब कुछ है; कुछ भी नहीं', 'धर्म और भारतीय दर्शन' आदि अनेक सन्देश तथा वक्तव्य दिये गए। उनका प्रायः सर्वत्र यथोचित आदर हुआ है।

मधु-संचय

आचार्यश्री के दैनन्दिन प्रवचनों को अनेक व्यक्तियों द्वारा अनेक रूपों में संकलित किया गया है। वे सभी संकलन उनके साहित्य के ही अंग हैं। 'नैतिक संजीवन', 'शान्ति के पथ पर', 'पथ और पाथेय', 'प्रवचन-डायरी' आदि पुस्तकें इसा क्रम में समाविष्ट हैं। वस्तुतः वे जो कुछ बोलते हैं, वह सब ऋषि-वाणी के रूप में स्वयंसिद्ध साहित्य बन जाता है। उन प्रवचनों में कुछ अंश तो इतने भावपूर्ण होते हैं कि हृदय को छू-छू जाते हैं। वे आचार्यश्री के मानस-मन्थन से उद्भूत विचार नवनीत के रूप में जितने सुकोमल और पवित्र होते हैं, उतने ही शक्तिदायक भी। उनके भावों की गहराई मन को मुग्ध कर लेने वाली होती है। श्री कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर' ने आचार्यश्री के एक वाक्य पर लिखा था—"अणुव्रत आन्दोलन के प्रवर्तक सन्त तुलसी ने दो शब्दों में इस विकृति-प्राप्त सुख को न लेना और अप्राप्त की सतत चाह रखने का जो चित्र दिया है, उसे हज़ार विद्वान् हज़ार-हज़ार पृष्ठों की हज़ार पुस्तकों में भी नहीं दे सकते। वे शब्द हैं—भूख और व्याधि। सन्त की वाणी है—"आज के मनुष्य को पद, यश और स्वार्थ की भूख नहीं; व्याधि लग गई है, जो बहुत कुछ बटोर लेने के बाद भी शान्त नहीं होती।"[3] इस प्रकार के छोटे तथा गहरे वाक्यों से आचार्यश्री के प्रवचन भरे रहते हैं। यहाँ उनके इसी प्रकार के भाववाही सुभाषितों के मधु-संचय का कुछ आस्वादन अप्रासंगिक नहीं होगा।

जो सब कुछ जानकर भी अपने-आप को नहीं जानता,वह अविद्वान् है। विद्वान् वही है, जो दूसरों को जानने से पूर्व अपने-आप को भली भाँति जान ले।

... ...

हम अपने से ही अपना उद्धार चाहते हैं। बाह्य नियन्त्रण कम-से-कम आयें। हम स्वयं ही नियन्त्रित होकर चलें,

---

१ जैन भारती, मार्च, '४६
२ जैन भारती, जुलाई '४७
३ ज्ञानोदय, फरवरी '५६

तभी हम अपना उद्धार कर सकते हैं।

… … …

सिद्धान्तवादिता से आलोचना प्रतिफलित होती है और अनुभूति से मौलिकता। सिद्धान्त से मौलिकता नहीं आती, मौलिकता के आधार पर सिद्धान्त स्थिर होते हैं।

… … …

जो जितना अधिक नियन्त्रणहीन होता है, वह उतना ही अधिक अपने आस-पास मर्यादा का जाल बुनता है।

… … …

हमारा घर साफ-सुथरा होगा तो पड़ौसी को उससे दुर्गन्ध नहीं मिलेगी।
हम अहिंसक रहेंगे तो पड़ौसी को हमारी ओर से क्लेश नहीं होगा।
पड़ौसी को दुर्गन्ध न आये, इसलिए हम घर को साफ-सुथरा बनाये रखें, यह सही बात नहीं है।
दूसरों को कष्ट न हो इसलिए हम अहिंसक रहें, अहिंसा का यह सही मार्ग नहीं है।
आत्मा का पतन न हो इसलिए हिंसा न करें, यह है अहिंसा का सही मार्ग! कष्ट का बचाव तो स्वयं हो जाता है।

… … …

अहिंसा के दो पहलू हैं—विचार और आचार। पहले विचार बनते हैं, फिर तदनुसार आचरण होता है।
आवश्यक हिंसा को अहिंसा मानना चिन्तन का दोष है। हिंसा आखिर हिंसा है। यह दूसरी बात है कि आवश्यक हिंसा से बचना कठिन है।

… … …

धर्म एक प्रवाह है। सम्प्रदाय उसका बाँध है। बाँध का पानी सिंचाई और अन्य कार्यों के लिए उपयोगी होता है। वैसे ही सम्प्रदाय से धर्म सर्वत्र प्रवाहित होता है। इसके विपरीत सम्प्रदायों में कट्टरता, संकीर्णता, साम्प्रदायिकता आ जाये, तो वह केवल स्वार्थ-सिद्धि का अंग बनकर कल्याण के स्थान पर हानिकारक और आपसी संघर्ष पैदा करने वाला हो जाता है।

… … …

शोषण का द्वार खुला रखकर दान करने वाले की अपेक्षा अदानी बहुत श्रेष्ठ है, चाहे वह एक कौड़ी भी न दे।

… … …

मनुष्य अपनी गलती को नहीं देखता; दूसरे की गलती को देखने के लिए सहस्राक्ष बन जाता है। अपनी गलती देखने के लिए जो दो आँखें हैं, उनको भी मूंद लेता है।

… … …

आत्म-तोष का एकमात्र मार्ग आत्म-संयम है। दोनों का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। लोग संयम को निषेधात्मक मानते हैं, पर वह जीवन का सर्वोपरि क्रियात्मक पक्ष है।

… … …

जिसकी चाह नहीं है, उसकी राह सामने हैं और जिसकी चाह है, उसकी राह नहीं है। आज का मनुष्य विपर्यय की दुनिया में जी रहा है। चाह सुख की है, कार्य दुःख के हो रहे हैं।

… … …

सुख का हेतु अभाव भी नहीं है और अति भाव भी नहीं है। सुख का हेतु स्वभाव है।

… … …

व्रती समाज की कल्पना जितनी दुरूह है, उतनी ही सुखद है। व्रत लेने वाला कोरा व्रत ही नहीं लेता, पहले वह विवेक को जगाता है। श्रद्धा और संकल्प को दृढ़ करता है। कठिनाइयाँ झेलने की क्षमता पैदा करता है। प्रवाह के प्रतिकूल चलने का साहस लाता है; फिर वह व्रत लेता है।

पहले-पहल बुराई करते घृणा होती है, दूसरी बार संकोच, तीसरी बार निःसंकोचता आ जाती है और चौथी बार में साहस बढ़ जाता है।

... ...

विचार के अनुरूप ही आचार बनता है अथवा विचार ही स्वयं आचार का रूप लेता है।

... ...

आचार-शुद्धि की आवश्यकता है, उसके लिए विचार-क्रान्ति चाहिए। उसके लिए सही दिशा में गति, और गति के लिए जागरण अपेक्षित है।

... ...

जीवन सरस भी है, नीरस भी है। सुख भी है, दुःख भी है। सुख कुछ भी है, कुछ भी नहीं है। नीरस को सरस, दुःख को सुख, कुछ भी नहीं को सब बनाने वाला कलाकार है।

... ...

पदार्थ प्राप्ति पर जो आनन्द मिलता है, वह तो क्षणिक होता है।...किन्तु वस्तु-निरपेक्ष आनन्द ही स्थायी होता है।

... ...

धर्म जो कि पुस्तकों, मन्दिरों और मठों में बन्द है, उसे जीवन में लाना होगा। बिना जीवन में उतारे केवल आस्तिकवाद की दुहाई देने मात्र से क्या होने वाला है!

... ...

विश्व शान्ति और व्यक्ति की शान्ति दो, वस्तुएं नहीं हैं। अशान्ति का मूल कारण अनियन्त्रित लालसा है। लालसा से संग्रह, संग्रह से शोषण की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।

... ...

मुझे तो अणुबम और उद्जनबम जितने प्रलयंकारी नहीं लगते, उतनी प्रलयंकारी लगती है—चरित्रहीनता, विचारों की संकीर्णता। बम तो उन अपवित्र विचारों का फलितार्थ-मात्र है।

... ...

छोटे भिखारियों के लिए तो सरकार भिखारी-बिल बना देगी; पर मैं पूछता हूँ कि इन बड़े भिखारियों का सरकार क्या करेगी? जब चुनाव आते हैं, तब ये बड़े भिखारी घर-घर डोलते हैं—"लाओ वोट और लो नोट!"

... ...

लोगों में जितना भाव उपासना का है, उतना आचरण-शुद्धि का नहीं। पर आचरण-शुद्धि के बिना उपसना का महत्त्व कितना होगा!

... ...

मैं चाहता हूँ, प्रत्येक व्यक्ति एक-दूसरे के सद्विचारों का समादर करे। समस्त धर्मों के प्रति सहिष्णुता रखे। उदार बनेंगे तो पायेंगे; संकुचित बनेंगे तो खोयेंगे।

... ...

श्रद्धा और तर्क, जीवन के दो पहलू हैं। जीवन में दोनों की अपेक्षा है। व्यावहारिक जीवन में भी न केवल श्रद्धा काम देती है और न केवल तर्क। दोनों का समन्वित रूप ही जीवन को समुन्नत बनाने में सहायक होता है। अतः तर्क के साथ श्रद्धा की भूमिका होनी चाहिए और श्रद्धा भी तर्क की कसौटी पर कसी होनी चाहिए।

... ...

विद्या वरदान है; पर आचार-शून्य होने से वह अभिशाप भी बन जाती है।

... ...

तुम पथिक बनकर पथ पर चलो, लेकिन पथ पर क़ब्ज़ा मत करो ! पंथ पर चलो, पर पंथ के नाम पर बड़ी-बड़ी अट्टालिकाएं और महल खड़े मत करो।

... ...

लोग कहते हैं कि सांप-बिच्छू ज़हरीले हैं, इसलिए उन्हें मारते हैं। मैं पूछता हूं—ज़हरीला कौन नहीं है ? क्या आदमी सांप से कम ज़हरीला है ? सांप कब काटता है ? जब वह दब जाता है, उसे भय होता है; पर आदमी बिना दबे ही ऐसा काटता है कि उसका ज़हर पीढ़ियों तक भी नहीं उतरता।

... ...

खाने के तीन उद्देश्य हैं—स्वाद के लिए खाना, जीने के लिए खाना और संयम-निर्वाह के लिए खाना। स्वाद के लिए खाना अनैतिक है। जीने के लिए खाना आवश्यक है और संयम के लिए खाना साधना है।

... ...

विद्या जीवन की दिशा है, जिसे पाकर मनुष्य अपने इष्ट स्थान पर पहुँच सकता है। चरित्र जीवन की गति है। सही दिशा मिल जाने पर भी गति-हीन व्यक्ति इष्ट स्थान पर नहीं पहुँच पाता। सही दिशा और सही गति दोनों मिलें, तब काम बनता है।

... ...

सेवा का सबसे पहला क़दम अपनी जीवन-शुद्धि है। यह आत्म-सेवा है, जिसके बिना जन-सेवा बन नहीं सकती।

... ...

विद्या का फल मस्तिष्क-विकास है, किन्तु है प्राथमिक। उसका चरम फल आत्म-विकास है। मस्तिष्क-विकास चरित्र-विकास के मध्य से ही आत्म-विकास तक पहुँच पाता है, इसलिए चरित्र-विकास दोनों के बीच में कड़ी है।

... ...

न्याय और दलबन्दी, ये दो विरोधी दिशाएं हैं। एक व्यक्ति एक साथ दो दिशाओं में चलना चाहे, इससे बड़ी भूल और क्या हो सकती है !

... ...

मेरी दृष्टि में वह धर्म ही नहीं जो अगले जीवन को सुधारने के लिए इस जीवन को संक्लिष्ट बनाये बिगाड़े। वस्तुतः धर्म की कसौटी अगला जीवन नहीं, यही जीवन है।

: ८ :
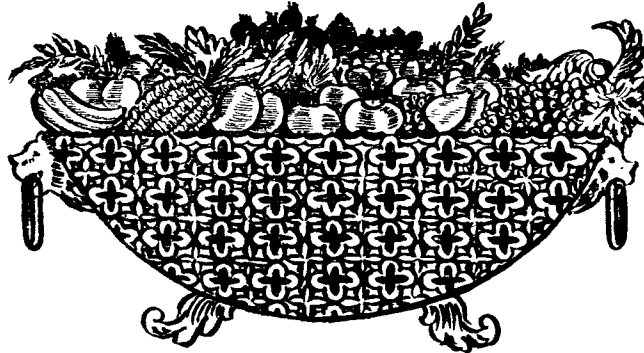
संघर्षों के सम्मुख

आचार्यश्री का जीवन संघर्षमय जीवन की एक कहानी है। ज्यों-ज्यों उनका जीवन विकास करता रहा है, त्यों-त्यों संघर्ष भी बढ़ता रहा है। उनके विकासशील व्यक्तित्व ने जहाँ अनेकों भक्त तैयार किये हैं, वहाँ विरोधी भी। भक्ति श्रद्धा या गुणज्ञता से उत्पन्न हुई, तो विरोध अश्रद्धा या ईर्ष्या से। विरोध चट्टान बनकर बार-बार उनके मार्ग में अवरोधक बनकर आता रहा है, किन्तु उन्होंने हर बार उसे अपनी सफलता की सीढ़ी बनाया है। वे जहाँ जाते हैं, वहाँ हज़ारों स्वागत करने वाले मिलते हैं तो पाँच-दस आलोचना करने वाले भी निकल आते हैं। "विकास विरोधियों के साथ संघर्ष का नाम है"—लेनिन का यह वाक्य अपने पूरे रहस्य के साथ आचार्यश्री पर लागू होता है। विरोध और अनुरोध, इन दोनों ही परिस्थितियों में अपने-आप को सन्तुलित रखने की शक्ति उनमें है। अवरोधजन्य अहं-भाव और विरोधजन्य हीन भाव उन्हें प्रभावित नहीं करते। अपनी स्थितप्रज्ञता के बल पर वे इन सब भावों से ऊपर उठे हुए हैं।

संघर्ष प्रायः हर जीवन में रहते हैं, सफल जीवन में तो और भी अधिक। आचार्यश्री के जीवन में वे काफी मात्रा में रहे हैं; कुछ साधारण, तो कुछ असाधारण। कुछ स्वल्पकालिक प्रभाव छोड़ने वाले, तो कुछ चिरकालिक। वर्तमान वातावरण को तो सभी संघर्ष झकझोरते ही हैं, आचार्यश्री के सम्मुख आने वाले संघर्षों में कुछ आन्तरिक हैं, तथा कुछ बाह्य।

आन्तरिक संघर्ष

आन्तरिक संघर्ष से तात्पर्य यह है—तेरापंथियों द्वारा किया हुआ संघर्ष। क्योंकि आचार्यश्री तेरापंथी के आचार्य हैं। तेरापंथ के विधानानुसार उनकी आज्ञा सभी अनुयायियों को समान रूप से शिरोधार्य होनी चाहिए, परन्तु कुछ प्राचीनतावादियों के मन में उनके प्रति अश्रद्धा के भाव उत्पन्न हुए हैं। उनके विचारानुसार उनकी अनेक बातें तेरापंथ की परम्परा के विरुद्ध होती जा रही हैं। वे सोचते हैं कि आचार्यश्री द्वारा युग की आवश्यकता के नाम पर जो परिवर्तन किये जा रहे हैं, वे सब अन्ततः अहितकर ही होंगे।

आचार्यश्री का दृष्टिकोण है कि धर्म के मूल नियम अपरिवर्तनीय भले ही हों, किन्तु किसी भी प्रकार के परिवर्तन का विरोध करना जीवन की गति का ही विरोध करना है। मूल गुणों को सुरक्षित रखते हुए उत्तर गुणों से सम्बद्ध अनेक परम्पराओं का जिस प्रकार पूर्वाचार्यों ने परिवर्तन किया है, उसी प्रकार आज भी आवश्यकतानुसार उसमें परिवर्तन की गुंजाइश हो सकती है।

प्राचीनता और नवीनता का यह संघर्ष कोई नया नहीं है। हर प्राचीनता नवीनता को इसी आशंका-भरी दृष्टि से देखती है कि यह कहीं सारे ढाँचे को ही न ढहा दे। परन्तु जो दूर-द्रष्टा होते हैं, वे जानते हैं कि नवीन प्राण-शक्ति के बिना कोई भी समाज जीवित नहीं रह सकता। इसी आधार पर वे प्राचीनता के इन तर्कों से भयभीत नहीं होते और आवश्यक परिवर्तन करते हैं। आचार्यश्री ने अनेक परिवर्तन किये हैं और उनके मार्ग में आने वाले विरोधों को उन्होंने विचार-मन्थन का ही एक साधन माना है। जिस क्रिया में विरोध या रुकावट नहीं आती, वह कार्य उतना प्रभावकारी भी नहीं होता। जिस काम में चेतना लाने वाली शक्ति होती है, वही हरएक के मस्तिष्क में हलचल पैदा कर सकता है। कुछ लोगों के लिए यह हलचल भय का कारण बन जाती है। वही भय फिर संघर्ष के लिए अनेक निमित्त उपस्थित कर देता है। उन निमित्तों में से कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराना अनुचित नहीं होगा।

दृष्टिकोण की व्यापकता

आन्तरिक संघर्ष का बीज-वपन अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के पारिपार्श्विक वातावरण से हुआ। उससे पूर्व सभी में आचार्यश्री के प्रति अटूट निष्ठा थी। तब तक आचार्यश्री का विहार-क्षेत्र प्रायः थली (बीकानेर डिवीज़न) तक ही सीमित था। उनके समय और शक्ति का बहुलांश प्रायः उसी समाज के बँधे हुए दायरे में लगता था। आन्दोलन की प्रवृत्तियों के साथ-साथ ज्यों-ज्यों दायरा विशाल बनता गया, दृष्टिकोण व्यापक होता गया, त्यों-त्यों उस वर्ग पर लगने वाला समय और सामर्थ्य का प्रवाह जन-साधारण की ओर मुड़ता चला गया। इससे कतिपय व्यक्तियों को लगने लगा कि आचार्यश्री तेरापंथ से दूर हटने लगे हैं। वे ग़ैर-तेरापंथियों से घिरते चले जा रहे हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रति भी अनेक शंकाएं उठायी जाने लगीं। उनमें मुख्य ये थीं :

१. जो व्यक्ति सम्यक्त्वी नहीं है, क्या उसे अणुव्रती कहा जा सकता है ?

२. गृही जीवन के विषय में नियम बनाना क्या साधुचर्या के अनुकूल है ?

३. श्रावक के बारह व्रतों को छोड़कर नया प्रचार करना क्या आगमों के प्रति अन्याय नहीं है ? आदि-आदि।

आचार्यश्री ने यथासमय उपर्युक्त तथा इन जैसी अन्य सभी शंकाओं का अनेक बार समाधान किया। जो व्यक्ति 'अणुव्रती' शब्द की उलझन में थे, वे स्वयं श्रावक-व्रत धारण न करने वाले को भी श्रावक ही कहा करते थे। श्रावक और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की तुलना पर ध्यान देने से वह शंका स्वयं ही निरस्त हो जाने वाली थी। परन्तु यहाँ भी श्रावक शब्द के प्रयोग की प्राचीनता और अणुव्रती शब्द के प्रयोग की नवीनता ही समझने में बाधक बना रही। गृही जीवन के विषय में नियम बनाने की बात भी श्रावक के बारह व्रतों की नियमावलि के आधार पर समझ में आ सकती थी। भगवान् ने श्रावकों की तात्कालिक जीवन-व्यवस्था के आधार पर जो नियम बनाये थे, उसी प्रकार के ये नियम थे जो कि वर्तमान जीवन-व्यवस्था को ध्यान में रखकर बनाये गए थे। अणुव्रत और बारह व्रतों में तो कोई संघर्ष ही नहीं था। उस समय भी अनेक व्यक्ति बारह व्रत धारण करते थे तथा अनेक द्वादश-व्रती अणुव्रत के नियमों को भी स्वीकार करते थे। इतना स्पष्ट होते हुए भी ये शंकाएं दोहरायी जाती रहीं।

अणुव्रत-आन्दोलन खुद ही जब चर्चा का विषय बना हुआ था, तब अणुव्रत-प्रार्थना में भी दो मत होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। उसके विरोध में यह प्रचारित किया गया कि प्रातः भगवान् का नाम लेना चाहिए, वह तो इसमें है नहीं; इसमें तो झूठ-फरेब आदि के नाम भर दिये गए हैं, जिनको कि उस समय याद ही नहीं करना चाहिए। बहुत-से लोग इसीलिए प्रातःकालीन प्रार्थना में सम्मिलित नहीं होते।

इसी ग्रीष्म की बात है—एक व्यक्ति को मैंने प्रार्थना में सम्मिलित होने के लिए कहा, तो उत्तर मिला कि वह तो मेरी समझ में ही नहीं बैठती।

मैंने कहा—क्यों; ऐसी कौनसी उलझन की बात है उसमें ?

उसने कहा—नित्य सबेरे ही यह ढिंढोरा पीटना कि हम अणुव्रती बन चुके हैं, अतः हमारे भाग्य बड़े तेज़ हैं—मुझे तो बिल्कुल पसन्द नहीं है; और मैं तो अभी तक अणुव्रती बना भी नहीं, अतः मेरे लिए तो ऐसा कहना भी असत्य ही होगा।

अणुव्रत-प्रार्थना की प्रथम कड़ी का जो अर्थ उसने लगाया था, उसे सुनकर मैं दंग रह गया। इस विरोध के प्रवाह में बहकर और भी अनेक व्यक्ति न जाने किन-किन बातों का क्या-क्या मनमाना अर्थ लगाते रहते होंगे। मुझे उस भाई की बुद्धि पर तरस भी आया। मैंने समझाते हुए उससे कहा—तुमने प्रार्थना की कड़ी का ग़लत अर्थ लगाया है, इसी-लिए तुम्हें उसके विषय में भ्रम हुआ है। उस कड़ी का अर्थ तो यह है कि यदि हम अणुव्रती बन सकें, तो यह हमारे लिए बड़े भाग्य की बात होगी। जिस प्रकार श्रावक के लिए तीन मनोरथों का उल्लेख आगमों में आता है और उनके द्वारा भाव-विशुद्धि होती है; उसी प्रकार इस प्रार्थना में जीवन-विशुद्धि के लिए जो संकल्प हैं, उनसे भाव-विशुद्धि होती है।

अणुव्रती बन सकने का सामर्थ्य न होने पर भी वैसा बनने की भावना करना बुरा नहीं है। इन सब बातों को समझ लेने के बाद वह व्यक्ति प्रार्थना में सम्मिलित होने लगा।

अस्पृश्यता-निवारण

जैन परम्परा जातीयता के आधार पर किसी को छोटा या बड़ा मानने की नहीं रही है। तब इस आधार पर किसी को स्पृश्य और किसी को अस्पृश्य मानने का तो प्रश्न ही नहीं उठता; फिर भी पिछली कुछ शताब्दियों में बाह्य प्रभाववश अस्पृश्यता की भावनाएं बनीं और फिर धीरे-धीरे रूढ़ हो गई। अब उन्हें फिर से मूल परम्परा तक ले जाना कठिन हो गया है। उनके सामने उन रूढ़ संस्कारों का महत्त्व भगवान् महावीर के क्रान्त दर्शन से भी अधिक हो गया है। आचार्यश्री ने जब जातिवाद को अवास्तविक कहा और तथाकथित अस्पृश्य व्यक्तियों को भी अपने सम्पर्क में लेना प्रारम्भ किया, तब बहुत-से व्यक्तियों के मन में एक मूक किन्तु प्रबल हलचल होने लगी। उस हलचल के प्रथम दर्शन छापुर में हुए। आचार्यश्री ने वहाँ की एक हरिजन-बस्ती में व्याख्यान देने के लिए एक साधु को भेजा और कहा कि उन्हें समझा कर मद्य-मांस आदि का परित्याग कराओ। हरिजन-बस्ती में किसी साधु को भेजे जाने का यह प्रथम अवसर ही था। उन्हें जाना तो पड़ा; किन्तु उनका मन समस्या-संकुल बना हुआ था। व्याख्यान हुआ, अनेक व्यक्तियों ने मद्य-मांस आदि छोड़ा। व्याख्यान-समाप्ति पर सैकड़ों लोग उनके साथ आचार्यश्री तक आये। सवर्ण व्यक्तियों ने उनको बड़े कुतूहल की दृष्टि से देखा। उस दृष्टि में स्वयं उपदेष्टा भी अपने-आपको कुछ हीन-सा अनुभव करने लगे। उसी समय सकुचाते-से दूर खड़े हरिजनों से किसी ने कहा—"देखते क्या हो; आचार्यश्री का चरणस्पर्श करो!" कहने वाले की भावना में क्या था, पता नहीं; परन्तु देखने वाले स्तब्ध खड़े थे कि देखें, अब क्या होता है! आचार्यश्री अपने-आप में स्पष्ट थे। हरिजन भाइयों ने आगे आकर चरणस्पर्श किया। आचार्यश्री ने उलटे उन्हें प्रोत्साहित ही किया, रोका तनिक भी नहीं। यह घटना काफी चर्चा का विषय बनी। कुछ लोग उत्तेजित भी हुए। कुछ ने कहा कि ये हम सबको एक कर देना चाहते हैं। साधुओं में भी इसकी हलचल कम नहीं थी।

पारमार्थिक शिक्षण-संस्था

पारमार्थिक शिक्षण-संस्था की स्थापना भी अणुव्रत-आन्दोलन की स्थापना के एक पक्ष बाद ही (सं० २००५ की चैत्र कृष्णा तृतीया को) हुई थी। श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा, कलकत्ता की ओर से दीक्षार्थियों को अध्ययन की सुविधा देने के लिए इस संस्था का निर्माण हुआ। यह काफी दिनों तक आलोचना का विषय बनती रही। दीक्षार्थी महासभा द्वारा निर्धारित अध्ययन करने के साथ-साथ अपनी आचार-साधना के विषय में आचार्यश्री से भी आदेश-निर्देश पाते थे। आलोचकों ने उसी बात को पकड़ा और प्रचारित किया कि दीक्षार्थियों के खान-पान, रहन-सहन आदि की सारी व्यवस्था आचार्यश्री के आदेश से होती है।

आचार्यश्री ने अनेक बार उस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा कि साधना के विषय में मार्ग-दर्शन करना मेरा कर्तव्य है। वह मैं करता हूँ। संस्था में चलने वाली बाकी प्रवृत्तियों से मेरा सम्बन्ध नहीं है। यहाँ तक कि संस्था में किसे लिया जाये और किसे नहीं, यह निर्णय भी स्वयं संस्था के पदाधिकारी करते हैं। 'प्रत्येक दीक्षार्थी को संस्था में रहना ही पड़ेगा, अन्यथा मैं दीक्षित नहीं करूँगा'—ऐसा मेरा कोई निर्णय नहीं है। कोई दीक्षार्थी अध्ययन करना चाहे और वह इस संस्था में रहे तो मैं कोई बाधा नहीं देखता; और न रहे तो भी मेरे सामने कोई बाधा नहीं है।

इस स्पष्टीकरण के बाद भी संस्था के प्रति तथा साथ-साथ आचार्यश्री के प्रति भी आलोचनात्मक भावनाएं बनती रहीं।

बाह्य संघर्ष

आचार्यश्री को आन्तरिक संघर्षों की तरह ही बाह्य संघर्षों का भी सामना करना पड़ा है। तेरापंथ के लिए

ऐसे संघर्ष नवीन नहीं हैं। वे उसकी उत्पत्ति के साथ से ही चले आ रहे हैं। समय-समय पर उन संघर्षों का रूप अवश्य बदलता रहा है; परन्तु विरोधी जनों की भावना की तीव्रता सम्भवतः कम नहीं हुई है।

आचार्यश्री अपनी तथा अपने संघ की सारी शक्ति को निर्माण में लगा देना चाहते हैं। पारस्परिक संघर्षों में शक्ति खपाना उन्हें बिल्कुल अभीष्ट नहीं है। इसीलिए यथासम्भव वे संघर्षों को टालना चाहते हैं। विरोधी स्थितियों में भी वे सामंजस्य का सूत्र खोजते रहते हैं। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे विरोधों का सामना कर नहीं सकते। उनके सामने अनेक विरोध आये हैं और उन्होंने उनका बड़े सामर्थ्य के साथ सामना किया है।

वे सत्य के भक्त हैं; अतः जहाँ उसकी प्राप्ति होती है वहाँ कट्टर विरोधी की बात मानने में भी वे कभी हिचकिचाहट नहीं करते। जहाँ सत्य की अवहेलना होती है, वहाँ वे किसी की भी बात नहीं मानते। सत्यांश की अवज्ञा और असत्यांश को प्रश्रय उन्हें किसी भी परिस्थिति में इष्ट नहीं है।

विरोध के दो स्तर

तेरापंथ की मान्यताओं को लेकर अनेक आलोचनाएं होती रहती हैं। उनमें बहुत-सी निम्नस्तरीय होती हैं, आचार्यश्री उनकी उपेक्षा करते हैं; किन्तु कुछ उच्चस्तरीय भी होती हैं, उनका वे आदर करते है। अपनी आलोचना में लिखी गई बातों को वे बड़े ध्यान से पढ़ते हैं, उन पर मनन करते हैं। आवश्यकता होने पर उसी औचित्यपूर्ण ढंग से उसका प्रतिवाद भी करते हैं। इस पद्धति को वे विरोध-पूर्ण न मानकर सौहार्द-पूर्ण ही मानते हैं।

निम्न कोटि की आलोचना में बहुधा इतर सम्प्रदायों के कुछ असहिष्णु व्यक्ति रस लेते हैं। उनमें कुछ ऐसे व्यक्ति भी हो सकते हैं, जो अपने-आप को किसी भी सम्प्रदाय का न कहें; तथा कुछ ऐसे भी हो सकते हैं जो स्वयं को तेरापंथी कहें; पर उन सबका ध्येय प्रायः विरोध के लिए विरोध होता है। वे आचार्यश्री की उन प्रवृत्तियों का भी उपहास करते हैं, जिनको कि वे ठीक समझते होते हैं। आचार्यश्री जब हरिजनों में व्याख्यान आदि के लिए जाने लगे तथा अस्पृश्यता का खण्डन करने लगे, तब इसी प्रकार के कुछ लोगों ने उस प्रवृत्ति का मज़ाक—'कौआ चले हंस की चाल' कहकर किया था। जब अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री ने नैतिक जागरण का उद्घोष किया तो उन लोगों ने उसे 'नयी बोतल में पुरानी शराब' बतलाया। ऐसे व्यक्ति अँधेरा-ही-अँधेरा देखते रहने के आदी हो जाते हैं। ज्योत्स्ना की धवलिमा या तो उनके बाँट ही नहीं पड़ती, या फिर अपने स्वभावानुसार वे उसे स्वीकार ही नहीं करते।

दीक्षा-विरोध

जो व्यक्ति गृही जीवन से विरक्त हो जाते हैं, वे मुनि-जीवन में दीक्षित होते हैं। दीक्षा की पद्धति प्रायः सभी भारतीय सम्प्रदायों में है, तेरापंथ में भी है। तेरापंथ इन दीक्षाओं में विशेष सावधानी बरतता है। इसमें केवल आचार्य को ही दीक्षा देने का अधिकार है। दीक्षार्थी के अभिभावकों की लिखित स्वीकृति के बिना किसी को दीक्षित नहीं किया जाता। दीक्षार्थी के लिए एक निर्धारित सीमा तक का तात्त्विक ज्ञान अनिवार्य माना जाता है। वर्षों तक दीक्षार्थी के कष्ट-सहिष्णुता आदि गुणों की परीक्षा की जाती है। जब वह इन सब परीक्षाओं में उत्तीर्ण हो जाता है, तब उसको जन-समूह में दीक्षित किया जाता है। तेरापंथ की यह प्रणाली हर प्रकार से सन्तोषप्रद परिणाम लाने वाली रही है।

विरोध हर बात का हो सकता है; परन्तु जब विरोध करने का ही दृष्टिकोण बना लिया जाता है, तब तो वह और भी सहज हो जाता है। दीक्षा का भी विरोध किया जाता रहा है, कहीं 'बालदीक्षा' के नाम पर, तो कहीं साधु-संस्था को ही अनावश्यक बता कर। तेरापंथ के सामने ऐसे अनेक विरोध आते रहे हैं। कहीं-कहीं ये विरोध ऊपर से तो दीक्षा-विरोध ही लगते हैं, पर अन्तरंग में ये तेरापंथ के विरोध होते हैं। जयपुर का दीक्षा-विरोध इसी कोटि का था।

वि० सं० २००६ के जयपुर-चातुर्मास में आचार्यश्री ने कुछ व्यक्तियों को दीक्षित करने की घोषणा की। विरोधी व्यक्ति शायद विरोध करने का अवसर खोज ही रहे थे। उन्हें यह अवसर मिल गया। उन लोगों ने 'बालदीक्षा-विरोधी समिति' का गठन किया। हालाँकि उन दीक्षार्थियों में एक भी ऐसा बालक नहीं था जिसके लिए उन्हें विरोध करने को

बाध्य होना पड़े; फिर भी विरोधी वातावरण बनाया गया। वस्तुतः वह दीक्षा का विरोध न होकर आचार्यश्री के बढ़ते हुए व्यतिक्त्व और प्रभाव का विरोध था। दीक्षा को तो विरोध करने के लिए माध्यम बनाया गया था।

वह अणुव्रत-आन्दोलन का आरम्भ-काल था, आचार्यश्री उसके प्रचार-प्रसार में पूरी तन्मयता से लगे हुए थे। जनता पर उन व्रतों का अच्छा प्रभाव हो रहा था। उसके माध्यम से साधारण जनता से लेकर जन-नेता तक आचार्यश्री के सम्पर्क में आ रहे थे। देश के चोटी के व्यक्तियों ने भी उनके कार्यक्रमों को सराहा और देश के लिए उन्हें उपयोगी माना। यह कुछ व्यक्तियों को अखरा। उसी अखरन का फलित रूप यह विरोध था। दीक्षा के विरुद्ध वातावरण तैयार करने की योजना बनी और वह विज्ञप्तियों आदि द्वारा कार्य में परिणत की जाने लगी। समाचार-पत्रों में भी एतद्-विषयक विरोधी लेख-टिप्पणियाँ आदि प्रकाशित की गईं। जनता को बड़े पैमाने पर भ्रान्त करने का यह एक सुनियोजित षड्यन्त्र था।

आचार्यश्री को इस विरोधी प्रचार पर ध्यान देना आवश्यक हो गया। लोगों में फैलायी जाने वाली भ्रान्त धारणाओं का निराकरण करना आवश्यक था, अतः उन्हीं दिनों में जैन-दीक्षा विषय पर एक सार्वजनिक प्रवचन रखा गया। उसमें आचार्यश्री ने तेरापंथ की दीक्षा-प्रणाली को सबके सामने रखा। दीक्षा के विषय में उठाये जाने वाले तर्कों का समाधान किया। दीक्षा-विषयक अपना मन्तव्य प्रकट करते हुए उन्होंने कहा कि मेरे विचार से दीक्षा के लिए न तो सारे बालक ही योग्य होते हैं और न सारे युवक या वृद्ध ही। कुछ बालक भी उसके लिए योग्य हो सकते हैं और कुछ युवक तथा वृद्ध भी। दीक्षा में अवस्था की परिपक्वता का उतना महत्त्व नहीं होता, जितना कि संस्कारों की परिपक्वता का होता है। बालक को ही दीक्षित किया जाना चाहिए, यह मेरा मन्तव्य नहीं है। इस विषय में मेरा कोई आग्रह भी नहीं है। मेरा आग्रह तो यह है कि अयोग्य की दीक्षा नहीं होनी चाहिए, भले ही वह व्यक्ति युवा या वृद्ध ही क्यों न हो।

विरोधी समिति के सदस्यों को भी आह्वान करते हुए आपने कहा कि वे दूर-दूर से ही विरोध क्यों करते हैं? उन्हें चाहिए कि वे मेरे विचार समझें तथा अपने विचार समझायें। मैं किसी भी प्रकार के परिवर्तन में विश्वास न करने वालों में नहीं हूँ। देश-काल की परिस्थितियों से भी अनभिज्ञ नहीं हूँ; पर साथ में यह भी कह दूँ कि किसी भी प्रकार के वातावरण के प्रवाह में बह जाने वाला भी मैं नहीं हूँ।

उस भाषण से लोग काफी प्रभावित हुए। उस सभा में विरोधी समिति के कई सदस्य भी उपस्थित थे। उन पर भी प्रतिक्रिया हुई। वे इस विषय पर विचार-विमर्श के लिए आचार्यश्री के पास आये। बातचीत हुई; परन्तु उसका परिणाम विरोध को मन्द या बन्द कर देने के बजाय अधिक तीव्र कर देने के रूप में ही सामने आया। उन लोगों द्वारा दीक्षा का विरोध करने के लिए बाहर से अनेक विद्वानों को बुलाया गया। विरोधी सभाएं आयोजित की गई। धुआँधार भाषण किये गए। पैम्फलेटों, समाचार-पत्रों तथा पुस्तिकाओं द्वारा भी काफी विष-वमन किया गया। तेरापंथ से या तेरापंथ की प्रगति से विरोध रखने वाले प्रायः सभी व्यक्तियों का उन्हें समर्थन और सहयोग प्राप्त था। उन सबने मिल-कर एक ऐसा मोर्चा बना लिया था कि जिससे दीक्षाओं को रोककर तेरापंथ को पराजित किया जा सके।

विरोध में से गुज़रते समय विशृंखलित समाज भी संगठित बन जाता है। तेरापंथ तो फिर एक सुसंगठित धर्म-सम्प्रदाय है। ज्यों-ज्यों लोगों को इस विरोध का पता लगता गया, त्यों-त्यों वे जयपुर पहुँचने लगे। उन सबका निर्णय था कि दीक्षा किसी भी स्थिति में नहीं रुकेगी। दीक्षा की घोषित तिथि ज्यों-ज्यों समीप आती गई, त्यों-त्यों जनता बढ़ती गई। वातावरण में गरमी भी बढ़ती गई। जनता को शान्त रखना कठिन अवश्य हो रहा था, पर वह आवश्यक था। इस लिए आचार्यश्री ने सबको सावधान करते हुए कहा—हिंसा को हिंसा से जीतना कोई मौलिक विजय नहीं होती। हिंसा को अहिंसा से जीतना चाहिए। हम साधन-शुद्धि पर विश्वास करते हैं, अतः पंथ की समस्त बाधाओं को स्नेह और सौहार्द से ही पार करना होगा। उत्तेजित होकर काम को बिगाड़ा ही जा सकता है, सुधारा नहीं जा सकता। मैं यह नहीं कहता कि आप विरोध के सामने झुक जायें; मैं तो यह कहता हूँ कि विरोध का सामना अवश्य करें; परन्तु अहिंसक ढंग से करें। विरोधी लोग उत्तेजना बढ़ाना चाहें और आप उत्तेजित हो जायें तो यह उनकी सफलता मानी जायेगी; यदि आप उस समय भी शान्त रहें तो यह आपकी सफलता होगी। मैं आशा करता हूँ कि कोई भी तेरापंथी भाई न उत्तेजित होगा और न उत्तेजना बढ़े, वैसा कार्य करेगा। दूसरा क्या कुछ करता है, यह उसके सोचने की बात है; पर हमारा मार्ग सदैव

शान्ति का रहा है, और इसी में हमारी सफलता के बीज निहित हैं।

दीक्षा के विषय में भी जनता को आचार्यश्री ने बताया कि यदि दीक्षार्थी दृढ़-संकल्प होंगे, तो उनकी दीक्षा किसी भी प्रकार से नहीं रोकी जा सकेगी। विरोधी जन अधिक-से-अधिक इतना ही कर सकते है कि वे दीक्षार्थियों को निर्णीत समय तक मेरे पास न पहुँचने दें। उस स्थिति में दीक्षार्थियों को स्वयं ही दीक्षा ग्रहण कर लेनी चाहिए। दीक्षा एक आत्म-भाव है। वह दीक्षार्थी की आत्मा से उद्भूत होता है, गुरु तो उसमें केवल साधन-मात्र या साक्षी-मात्र होते हैं। दीक्षा के अवसर पर किये जाने वाले आयोजन आदि भी केवल व्यवहार-मात्र ही होते है। उसे न कोई हिंसक पशु-बल रोक सकता है और न तथाकथित सत्याग्रह आदि।

आचार्यश्री द्वारा प्रदत्त इस प्रबोध-सूत्र ने दूर-दूर से समागत उत्तेजित बन्धुओं को शान्ति प्रदान की तथा दीक्षार्थियां को मार्ग-दर्शन दिया। विरोधियों के समस्त शस्त्र इस पर टकरा कर व्यर्थ हो गए।

दूसरे दिन प्रातः ठीक समय पर पूर्व-निर्धारित स्थान पर ही दीक्षाएं हुई। किसी भी प्रकार की अशान्ति नहीं हुई। तेरापंथ के लिए वह एक कसौटी का अवसर था। विरोधी जनों के इतने सुव्यवस्थित तथा सुसंगठित विरोध को परास्त कर देना सामान्य बात नहीं थी। यह अपने प्रकार का प्रथम विरोध ही था और सम्भवतः अन्तिम भी।

इस विरोध में कई समाचार-पत्रों के संचालक और सम्पादक भी थे। विरोधी पक्ष को सामने रखने तथा दीक्षा के विरुद्ध प्रचार करने में उनका खुलकर उपयोग हुआ था। एक ओर जहाँ बाहर के पत्रों में अणुव्रत-आन्दोलन के विषय में अनुकूल विचार जाते थे, वहाँ दूसरी ओर बाल-दीक्षा को लेकर प्रतिकूल विचार भी। फल यह हुआ कि आचार्यश्री बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक माने जाने लगे। पर वे न तो बाल-दीक्षा के कट्टर समर्थक हैं और न युवा-दीक्षा या वृद्ध-दीक्षा के ही। वे तो अपने-आप को केवल योग्य दीक्षा का समर्थक मानते हैं। यह योग्यता क्वचित् बालक में भी हो सकती है और क्वचित् युवा और वृद्ध में भी। बालक में वैसी योग्यता हो ही नहीं सकती—इस मान्यता के वे कट्टर विरोधी अवश्य हैं।

जो व्यक्ति दीक्षा-मात्र के विरोधी हैं, उन्हें वे कुछ नहीं कहना चाहते; परन्तु जो किसी एक ही अवस्था में, चाहे वह युवावस्था हो या वृद्धावस्था, दीक्षा की उपयोगिता स्वीकार करते हैं, उनसे वे पूछना चाहते हैं कि ऐसा करके क्या वे जन्मान्तर को नहीं मान लेते हैं? जन्मान्तर मानने वाले के लिए क्या कभी पूर्व-संस्कार अमान्य हो सकते हैं? यदि पूर्व-संकार नामक कोई तत्त्व है तो फिर वह बालक में भी उद्बुद्ध होता है। दीक्षा और क्या है! पूर्व-संस्कारों के उद्बोध की फलपरिणति का नाम ही तो है। उसमें अवस्था का प्रश्न मुख्य नहीं, गौण रह जाता है।

यद्यपि आचार्यश्री युग-भावना से संगति बिठाकर ही चलते हैं; परन्तु जहाँ तत्त्व-विवेक का प्रश्न है, वहाँ उससे आँखें मींचना भी तो उचित नहीं होता। वे इसी आधार पर, जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण उठते हैं, वहाँ-वहाँ दीक्षा के साथ आयु का अनिवार्य सम्बन्ध जोड़ने का विरोध करते हैं। उनकी दृष्टि में यह भी उचित नहीं है कि क़ानून द्वारा बाल-दीक्षा को रोका जाये। विभिन्न राज्यों की विधान-परिषदों में इस विषय के विधेयक प्रस्तुत होते रहे हैं। आचार्यश्री ने उनका विरोध किया है।

बम्बई विधान-परिषद् में 'बाल संन्यास-दीक्षा प्रतिबन्धक बिल' आया। तब वहाँ मुरारजी देसाई मुख्य मन्त्री थे। उस बिल के सिलसिले में मुनिश्री नगराजजी उनसे मिले थे। विचारों का आदान-प्रदान हुआ तो पता लगा कि वे भी आचार्यश्री के समान ही क़ानून के द्वारा उसे रोकने के विरोधी हैं। उनकी इस नीति के कारण ही वह प्रस्ताव वहाँ पारित नहीं हो सका था। उन्होंने उस अवसर पर विधान-परिषद् के सदस्यों के सम्मुख जो भाषण[1] दिया था, वह विचारों की दृष्टि से बहुत ही मननीय था। उसे पढ़ते समय ऐसा लगता है मानो आचार्यश्री के ही उद्गार भाषान्तर से उन्होंने कहे थे। उनके भाषण का कुछ अंश यहाँ दिया जा रहा है:

"...पहले हमें इस प्रश्न पर विचार करना चाहिए कि क्या हर हालत में यह ग़लत है कि बालक सांसारिक

१ दिनाङ्क ९ सितम्बर '५५ और १२ सितम्बर '५५ को यह भाषण दिया गया था।

जीवन का परित्याग करें ? अगर हम कर्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास रखते हैं, तो जो बालक बाल-दीक्षा के पूर्व संस्कारों के सहित जन्म लेता है उसे संसार-परित्याग में कोई बाधा नहीं हो सकती। उन व्यक्तियों के हमारे पास गौरवपूर्ण उदाहरण हैं जिन्होंने बचपन में संन्यास-दीक्षा ग्रहण की। मेरे बन्धु महाशय का कहना है कि इस प्रकार के व्यक्ति बहुत कम होते हैं; लेकिन मैं उन्हें यह बतलाना चाहता हूँ कि संसार का भला करने वाले व्यक्ति भी बहुत कम ही है।

"इसी प्रकार संसार का भला बहुत थोड़े आदमियों से ही हुआ है, बहुतों से नहीं; और संसार को छोड़ने वाले आदमी भी बहुत नहीं हो सकते।...नाबालिग़ का अर्थ सदा उस व्यक्ति से नहीं होता जो किसी चीज़ को न समझे। नाबालिग वह है जो इक्कीस वर्ष से नीचे का हो और और अगर वह संसार को छोड़ना चाहे तथा उसके लिए कटिबद्ध रहे, तो सरकार के लिए यह उचित है कि वह उसे रोके।...नाबालिग़ भी हम से ज्यादा बुद्धिमान् हो सकता है। हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि यह एक पूर्व कर्मों की भी बात है। संसार में अद्भुत बालक हुए हैं। वे सारे उदाहरण हमारे सामने हैं। हमें यह भी नहीं सोचना चाहिए कि चूंकि हम वयस्क हो चुके हैं, अतः अधिक बुद्धिमान् हैं।...मैं यह नहीं कहता कि हरएक बालक बुद्धिमान् होता है। हरएक बालक यह समझता है, ऐसा भी कभी नहीं होता। मेरे विचार से बहुत थोड़े बालक ऐसे होते हैं। फिर भी यह क़ानून उनकी उन्नति में रुकावट डालेगा; अगर वे अपनी इच्छानुसार ऐसा नहीं कर सकेंगे, जब कि उनकी आत्मा ऐसा करने के लिए तड़पती हो।......भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता के विकास में साधु-संघ की बहुत बड़ी देन है। मुझे यह कहने में भी हिचकिचाहट नहीं है कि साधु-संस्था में बहुत-से दोष भी आ गए हैं। लेकिन सिर्फ एक वस्तु का उपयोग या दुरुपयोग हो सकना उस चीज़ को बिल्कुल मिटा देने का कारण या आधार नहीं हो सकता।......हम यहाँ तमाम लोग सोच रहे हैं कि सिर्फ वयस्क ही ऐसे हैं जो बुद्धिमान् हैं और बच्चे नहीं। यह भूल जाते हैं कि ज्ञानेश्वर ने सोलह वर्ष की आयु में 'ज्ञानेश्वरी' को लिखा था और बहुत-से बालिग़ पुरुष शताब्दियों के बाद भी आज उसकी पूजा कर रहे हैं। ऐसा एक ही उदाहरण नहीं है, ऐसे बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। महामुनि रायचन्द्र ने, जिनमें महात्मा गांधी श्रद्धा रखते थे, बारह से सोलह वर्ष की आयु में लिखना प्रारम्भ कर दिया था और उनकी पुस्तकें आज भी पढ़ी जाती हैं। वे संन्यासी नहीं थे; लेकिन निरन्तर जीवन अपनी पसन्द के अनुसार बिताते थे। इससे कोई मतलब नहीं कि ऐसे आदमी संन्यास लेते हैं या नहीं। मान लीजिये, कोई ऐसा बच्चा दीक्षा लेना चाहता है तो क्या मुझे रोकना चाहिए?......यह सच है कि इस बिल को प्रस्तुत करने वाले सज्जन ने जो उदाहरण दिये हैं, वे प्रायः जैनों के हैं और किसी के नहीं। इस-लिए अगर जैनी यह सोचें कि यह बिल सर्वसाधारण के लिए न होकर केवल उनके द्वारा जो दीक्षाएं दी जातीं है उन्हीं को रोकने के लिए है, तो वे ग़लत कहे जायेंगे। मेरे पास सैकड़ों विरोध-पत्र व तार पहुंचे हैं और वे तमाम जैनों के हैं। लेकिन एक दूसरी बात और है जिसे मैं स्पष्ट करना चाहूँगा। साधु या संन्यासियों के तमाम संघों में, जिनको कि मैंने देखा है, मुझे कहना चाहिए कि त्याग और तपस्या के आदर्श को जितना जैन साधुओं ने सुरक्षित रखा है, उतना और किसी संघ के साधुओं ने नहीं। यह जैनियों के लिए गौरव की बात है। ऐसे सम्प्रदायों पर, जिनके साथ मत-भिन्नता के कारण हम एकमत नहीं, आक्रमण करने से कोई फ़ायदा नहीं। मुझे किसी व्यक्ति को संन्यास-जीवन अपनाने से नहीं रोकना चाहिए—इस कारण से कि मैं ख़ुद संन्यास-जीवन को नहीं अपना सकता। इन्सान के साथ बर्ताव करने का यह तरीक़ा ग़लत है। सिर्फ इसी कारण से, कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, मुझे हरएक व्यक्ति को सांसारिक जीवन की ओर जाने के लिए नहीं कहना चाहिए। अगर संन्यासी लोग कहें भी कि सांसरिक जीवन अच्छा नहीं है, तो भी मैं संन्यासी होने के लिए तैयार नहीं हूँ। तब मुझे क्यों जोर देकर कहना चाहिए कि मैं सांसारिक जीवन को अच्छा समझता हूँ, अतः किसी को भी संन्यासी नहीं होना चाहिए। जिस तरह मैं अपने जीवन में उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता चाहूँगा, जिसे मैं चाहता हूँ, उसी तरह मुझे दूसरों को उस रास्ते पर चलने की स्वतन्त्रता देनी चाहिए, जिस पर वे चलना पसन्द करते हों।......मैं यह नहीं चाहता कि शंकराचार्य, हेमचन्द्राचार्य और ज्ञानेश्वर जैसे व्यक्तियों के रास्ते में रोड़ा अटकाना हमारे लिए उचित होगा; क्योंकि जैसा हम करते हैं उसका तो अभिप्राय होगा कि हम केवल अपने देश को ही नहीं, वल्कि संसार को ऐसे महान् व्यक्तियों से वंचित करते हैं। मैं नहीं सोचता कि हमें सामाजिक सुधार के नाम पर चेष्टा करनी चाहिए, चाहे कई लोगों को ऐसा करना कितना ही अभीष्ट क्यों न हो।......धर्म मानव

के अन्दर की स्वाभाविक प्रेरणा है जिसे दबाया नहीं जा सकता। जब हम कहते है कि बच्चों को इस क्षेत्र में नहीं जाने देना चाहिए, तब हमें यह याद रखना चाहिए कि हम उन्हें बहुत-से दूसरे क्षेत्रों में जाने देते हैं। क्या हमने बच्चों को स्वतन्त्रता के संग्राम में भरती नहीं किया और उस संग्राम में लम्बे समय तक लगाकर उनके भावी जीवन के सारे विकास को नहीं रोका ? क्या यह उनकी भावना जगाने का प्रश्न नहीं था ? क्या हम यह सोचते हैं कि हम बच्चों का ग़लत उद्देश्य के लिए प्रयोग कर रहे थे ? बिल्कुल नहीं। यह एक महान् कार्य था। महात्माजी ने बच्चों से गहने ले लिये और उनको आशीर्वाद दिया। क्या वे बच्चे जानते थे कि वे क्या कर रहे थे ? क्या यह कहा जा सकता है कि बच्चे सही काम कर रहे थे और महात्मा गांधी हमारी भावी सन्तान को महान् बलिदान व त्याग की शिक्षा दे रहे थे ! लेकिन आज मैं यह सोचता हूँ कि वह सब सही था। मैं उसमें कोई दोष नहीं पाता। जब कभी हम मनुष्यों को व बच्चों को अच्छी बातों की शिक्षा दे रहे हों तो मैं समझता हूँ कि हमें इसका अनादर नहीं करना चाहिए, वरन् स्वागत करना चाहिए।"[1] ये विचार दीक्षा के समर्थकों और विरोधियों दोनों के लिए ही मननीय हैं। इस भाषण में जिन तथ्यों का निरूपण है, बहुधा वे ही तथ्य आचार्यश्री सबके सामने रखते रहे हैं। उनके इन विचारों से सभी सहमत हों, यह कोई आवश्यक बात नहीं है। पर उसमें रहे तथ्यों की अवहेलना कैसे की जा सकती है ? इन विचारों ने जो अनेक संघर्ष खड़े किये हैं, उनमें से एक यह जयपुर का संघर्ष भी था। उठा तो वह तूफान की तरह था, परन्तु किन्हीं ठोस तथ्यों पर उसका आधार नहीं था, अतः उसकी समाप्ति फुटपाथ पर किसी अनाथ व्यक्ति की मृत्यु के समान ही हुई।

एक अकारण विरोध

आचार्यश्री का कलकत्ता महानगरी में पदार्पण हुआ। जनता की ओर से उनका हार्दिक स्वागत किया गया। आचार्यश्री के विचार जनता के हृदय को आलोकित कर रहे थे; क्योंकि उनके विचार युग की भूख को तृप्ति प्रदान करने वाले थे। यों भी कहा जा सकता है कि युग की भूख उन विचारों को पाने के लिए तड़प रही थी। उनके विचार समय के अनुकूल थे और समय उनके विचारों के अनुकूल था। लोगों ने उन्हें युग-चेतना के प्रतिनिधि के रूप में देखा। वहाँ के व्यापारिक क्षेत्रों में नैतिकता और अध्यात्म की चर्चा होने लगी। जहाँ लोग बहुधा व्यापार या नौकरी के लिए ही पहुँचते हैं, वहाँ कोई नैतिकता और अध्यात्म की अलख जगाने पहुँचे, तो यह एक अनोखी-सी ही बात लगेगी। आचार्यश्री इसी-लिए वहाँ गये थे, अतः एक नये प्रकार के व्यक्तित्व को देखने का कुतूहल हर किसी में सहज ही जागृत होने लगा था। जो परिचित थे वे तो आते ही, पर जो अपरिचित थे वे भी काफी बड़ी संख्या में आते। देखने-सुनने की भावना लेकर आते और तृप्त होकर जाते।

चातुर्मास से पूर्व महानगरी के अनेक अंचलों में आचार्यश्री का पदार्पण हुआ। सर्वत्र जनता का अपार उत्साह और अपार स्नेह उन्हें मिला। उन्होंने भी जनता को वह उपदेश दिया जो उसे वहाँ कभी भूले-भटके भी नहीं मिल पाता। विशेष प्रवचनों तथा कार्यक्रमों की सफलता भी अद्वितीय रही। आचार्यश्री को कलकत्ता और कलकत्ते को आचार्यश्री भा गए।

कुछ व्यक्ति आचार्यश्री की यशो-गाथा के प्रति असहिष्णु थे। वे उनके वर्चस्व को किसी भी मूल्य पर रोक देना चाहते थे। आचार्यश्री ने जब तक अपने वर्षाकालीन प्रवास का निर्णय नहीं किया था, तब तक तो वे लोग प्रायः शान्त ही रहे थे। शायद उन्होंने उस थोड़े दिनों के प्रवास को साधारण और अस्थायी प्रभाव वाला ही समझा हो, अतः उसकी उपेक्षा कर दी हो; परन्तु जब आचार्यश्री ने वहीं वर्षा-काल बिताने का निर्णय कर दिया तब उनके प्रयत्नों में त्वरता आ गई। विरोधी वातावरण निर्मित करने के उपाय खोजे जाने लगे। वे किसी-न-किसी बहाने से आचार्यश्री और उनके मिशन के प्रति ऐसी घृणा फैला देना चाहते थे कि जिससे उनके पूर्वोपार्जित समस्त वर्चस्व और प्रभाव को आवृत किया जा सके।

---

१ जैन भारती, १८ सितम्बर '५५

उन विरोधी व्यक्तियों में कुछ तो ऐसे थे जो कि आचार्यश्री और उनके कार्यों का जब-तब विरोध करते रहे हैं। उसमें उन्होंने सच-झूठ का भी कोई विशेष अन्तर नहीं किया है। यों उनमें अनेक व्यक्ति पढ़े-लिखे हैं, कार्य-कुशल हैं, शिष्ट हैं; परन्तु आचार्यश्री के विरोध में वे अपनी शिष्टता को बहुधा नहीं निभा पाते। शायद उसकी आवश्यकता भी नहीं मानते हों। यद्यपि मैं उनमें से अनेकों को व्यक्तिशः नहीं जानता, परन्तु आचार्यश्री के प्रति किये जाते रहे उनके भाषा-प्रयोग ने कम-से-कम मेरे मन पर तो यही छाप छोड़ी है। मूलतः विरोधी भाव उन्हीं कुछ लोगों के मन में था। उन्होंने जब वैसा वातावरण बनाया, तब कुछ और व्यक्ति भी उसमें आ मिले। कुछ उनके मैत्री-सम्पर्क से, तो कुछ भुलावे से।

विरोध का वह एक विचित्र प्रकार था, परन्तु आचार्यश्री का साहस उससे भी विचित्र था। वे देखते रहे, सुनते रहे और अपने कार्यों में लगे रहे। वे स्वयं भी तो कलकत्ता में विरोध करने के लिए ही गये थे। यह दूसरी बात है कि आचार्यश्री अनीति और अधर्म का विरोध कर रहे थे, जबकि उनके विरोधी लोग अनीति और अधर्म का विरोध करने वालों का विरोध कर रहे थे।

आचार्यश्री के विरुद्ध यह अभियान लगभग छः महीने तक चलता रहा होगा। कभी धीमे, तो कभी तेज़ी से। पर न कभी वे उससे उत्तेजित हुए और न भयभीत। वे विरोध को विनोद समझकर चलने के आदी हैं। जहाँ उन्हें किसी विरोध का सामना करने को बाध्य होना पड़ता है, वहाँ वे उसके लिए भी घबराते नहीं। वे मानते हैं—"विरोध से घबराने की कोई आवश्यकता नहीं। उससे घबराने वाले समाप्त हो जाते हैं और उठकर उसका सामना करने वाले विजय प्राप्त कर लेते हैं।"[1]

१ नैतिक संजीवन, पृ० ३६

: ६ :
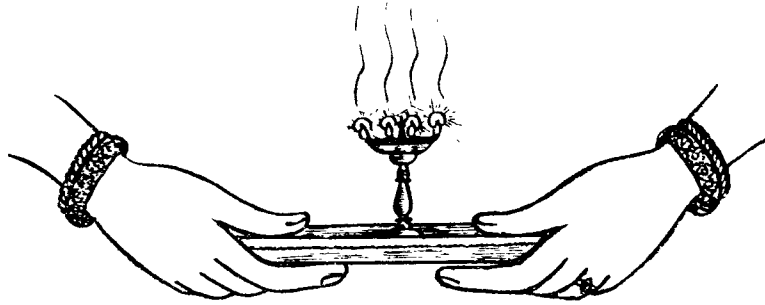
जीवन-शतदल

आचार्यश्री का जीवन शतदल कमल के समान है। कमल की प्रत्येक पंखड़ी अपनी विशिष्ट महत्ता लिये होती है। उन पंखड़ियों की समवायात्मक एकता ही तो कमल की आत्मा होती है। जीवन का शतदल विभिन्न घटनाओं की पंखड़ियों से बना होता है। प्रत्येक घटना अपने-आप में परिपूर्ण होती है, फिर भी अपने से उच्च पूर्णता का एक अंग बन कर वह जीवन को आकृति प्रदान करती है। मधुकोश की सुरक्षा में खड़ी पंखड़ियाँ अधिक सुव्यवस्थित लगती हैं, जब कि उसके बाहरी घेरे की बिखरीं-बिखरीं सी। फिर भी मूल से बँधी हुई वे उससे अभिन्न होती हैं। जीवन-घटनाओं में भी यही क्रम होता है। कुछ घटनाएं किसी एक ही क्रम में ढलकर जीवन के विशेष क्षेत्र को घेरती हैं; पर कुछ ऐसी भी होती हैं जो जीवन का अभिन्न अंग होने पर भी अलग-अलग सी लगती हैं। अपेक्षाकृत कुछ अधिक खुलापन उन्हें ऐसा बना देता है। फिर भी पंखड़ियों के सौरभ की तरह प्रेरणात्मकता की अतिशयता तो उनका अपना जन्म-जात स्वभाव होता ही है। इस अध्याय में आचार्यश्री के जीवन-शतदल की उन अलग-अलग दिखायी देने वाली स्फुट घटनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है। आचार्यश्री का जीवन किसी एक बँधी-बँधायी परिपाटी का जीवन नहीं है, वह तो एक बहते हुए प्रवाह का जीवन है। उसमें घुमाव है, कटाव है तथा नव-निर्माण की उच्च अभिलाषा है; बहाव तो उन सब में व्याप्त है ही। इसीलिए उनका जीवन घटना-संकुल है। उन घटनाओं के प्रकाश में हम आचार्यश्री के जीवन को नये-नये कोणों से देख सकते हैं। जिस तरह हीरे को उसका छोटे-से-छोटा पहलू भी एक नयी चमक और आकृति प्रदान करता है, उसी तरह छोटी-छोटी स्फुट घटनाओं की प्रत्येक स्फुरणा आचार्यश्री के जीवन का एक-एक नया कक्ष खोलने वाली है। यहाँ कुछ घटनाएं संकलित की गई हैं।

शारीरिक सौन्दर्य

पूर्ण दर्शन

आचार्यश्री के पास जहाँ आन्तरिक सौन्दर्य का अक्षय स्रोत है, वहाँ बाह्य सौन्दर्य भी कुछ कम नहीं। प्रकृति ने उनके व्यक्तित्व के निर्माण में रूप-सम्पदा को खुले हाथ से लुटाया है, इसीलिए उनके शारीरिक अवयवों की रचना किसी कलाकार की अद्वितीय कलाकृति के समान है। साधारण व्यक्तियों की आँखें उनकी आकृति पर टिकें, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है; किन्तु दार्शनिक और विद्वानों को भी उनकी आकृति लुब्ध कर लेती है। दक्षिण से दो दार्शनिक राजस्थान में आचार्यश्री के पास आये। कई दिनों तक नाना दार्शनिक विषयों पर विमर्षण होता रहा। जब वे बिदा होने लगे तो बोले—"सभी तृप्तियों के साथ हम एक अतृप्ति भी लिये जा रहे हैं।"

साश्चर्य आचार्यश्री ने पूछा—कौन-सी अतृप्ति ?

उन्होंने कहा—मुख-वस्त्रिका के कारण हम आपके पूर्ण मुख का दर्शन नहीं कर पाये। आपके मुख का अर्ध-दर्शन हमें प्रतिदिन पूर्ण दर्शन के लिए उत्सुक करता रहा है। हमें आज संकोच छोड़कर यह कहने को विवश होना पड़ रहा है कि यदि कोई शास्त्रीय बाधा न हो, तो क्षण-भर के लिए भी अपने अनावृत मुख के दर्शन का अवसर अवश्य दें!

नेत्रों का सौन्दर्य

यूनेस्को के प्रतिनिधि तथा अन्तर्राष्ट्रीय शाकाहारी-मण्डल के उपाध्यक्ष श्री वुडलैण्ड केलर बम्बई में सपत्नीक आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। श्री केलर जब आचार्यश्री से बातचीत कर रहे थे, तब श्रीमती केलर आचार्यश्री के नेत्रों की ओर बड़ी उत्सुकता से देख रही थीं। बातचीत की समाप्ति पर श्रीमती केलर ने कहा—मुझे बहुत लोगों से मिलने का अवसर मिला है, किन्तु जो ओज, आभा और आत्म-तेज आपके नेत्रों में है, वैसा अन्यत्र कहीं देखने में नहीं आया। निस्सन्देह आपके नेत्रों का सौन्दर्य और तेजस्विता मनुष्य को लुभा लेने वाले हैं।

तात्कालिक प्रतिक्रिया

यूरोप की ख्यातिलब्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिज़ाबेथ ब्रूनर दिल्ली में जब मेरे सम्पर्क में आयीं, तब उन्होंने मुझे आचार्यश्री का एक स्वनिर्मित चित्र दिखलाया तथा उसका इतिहास भी बतलाया। एक दिन 'शान्ति-निकेतन' में अचानक ही आचार्यश्री से उनकी भेंट हो गई थी। आचार्यश्री अपनी बंगाल-यात्रा के समय विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के सांस्कृतिक व ऐतिहासिक संग्रहालय तथा शान्ति निकेतन के समृद्ध पुस्तकालय का अवलोकन कर बाहर आ रहे थे और उधर से ही कुमारी एलिज़ाबेथ अन्दर जा रही थीं। एक क्षण के लिए उनका आकस्मिक साक्षात्कार हुआ। इतने मात्र से ही वे इतनी प्रभावित हुई कि पुनः कलकत्ता आकर आचार्यश्री से मिलीं और एक महीने तक वहाँ ठहरकर आचार्यश्री का जो एक भव्य चित्र बनाया, वही यह था। वे ऐसा करने के लिए क्यों प्रेरित हुईं, उन्होंने इस विषय पर एक लेख भी लिखा, जो कि कलकत्ता के पत्रों में प्रकाशित हुआ था। उस लेख में उन्होंने बतलाया है—"शान्ति निकेतन में जब मैं उत्तरायण के द्वार पर पहुँची तो उधर से आते व्यक्तियों के एक समूह ने मेरा ध्यान आकर्षित किया। मैंने देखा कि वे नंगे पाँव श्वेत वस्त्रधारी साधु थे, जो कवि-गृह से आ रहे थे। वे जैन थे और उनके मुँह पर श्वेत वस्त्र बँधा हुआ था। मैं आदरपूर्वक एक ओर खड़ी हो गई। वे निकट पहुँचे। मुझे शान्ति अनुभव हुई, उन्होंने मेरे नाम व देश के विषय में प्रश्न पूछे। उनके प्रश्न गहरे थे और मेरी तात्कालिक प्रतिक्रिया थी कि उनकी आँखें बड़ी तेज़ हैं।"

एक विदेशी कलाकार महिला की यह प्रतिक्रिया आचार्यश्री के व्यक्तित्व की जहाँ असाधारणता की द्योतक है, वहाँ उनके रूप-सौन्दर्य का एक ज्वलन्त उदाहरण भी।

ठीक बुद्ध की तरह

एक बार आचार्यश्री सरदारशहर पधार रहे थे। उन्हीं दिनों सरदारशहर में एक वैद्य-सम्मेलन हो रहा था। अनेक लब्धप्रतिष्ठ वैद्यों ने उसमें भाग लिया था। उनमें से कई व्यक्तियों ने सरदारशहर से आकर मार्ग-स्थित ग्रामों में आचार्यश्री के दर्शन किये। उनमें जयपुर के सुप्रसिद्ध राजवैद्य नन्दकिशोरजी भी थे। आचार्यश्री से उन लोगों ने विविध विषयों पर वार्तालाप किया और पूर्ण तृप्ति के साथ जब वापस जाने के लिए खड़े हुए, तब नन्दकिशोरजी ने कहा—"आचार्यश्री के कानों की बनावट ठीक भगवान् बुद्ध के कानों की तरह है। मैंने कानों की ऐसी सुषमा अन्यत्र कहीं नहीं देखी।"

आत्म-सौन्दर्य

आचार्यश्री ने जन-निर्माण में लगकर भी आत्म-निर्माण को गौण नहीं बनाया है। वे अपने जीवन को आगे बढ़-कर जीते रहे हैं, और सिंहावलोकन-पद्धति से अपने भूतकाल का अवलोकन करते हुए उसे समझते रहे हैं। ध्यान, योगा-सन आदि क्रियाएं उनके आत्म-निर्माण की ही अंग हैं। इनसे उनका आत्म-सौन्दर्य निरन्तर निखार पाता रहा है।

वे सात्त्विक तथा मित आहार के समर्थक रहे हैं। अपने आहार पर उनका बहुत अधिक नियन्त्रण है। यथासम्भव वे बहुत स्वल्प द्रव्यों से तृप्त हो जाते हैं। अपने आचार-व्यवहार की कुशलता पर भी वे कड़ाई से ध्यान देते रहे हैं। जब

कोई काँटा या कंकर उनके पैरों में लग जाता है, तब वे बहुधा यह कहते सुने जाते हैं कि यह तो ईर्या समिति की क्षति का दण्ड है। अपनी हर प्रकार की स्खलनाओं को वे आत्म-नियन्ता बनकर दूर करते हैं। निन्दा और प्रशंसा से अक्षुब्ध रहते हुए वे अपनी गति को बनाये रखने में सर्वथा समर्थ हैं। यह उनका आन्तरिक सौन्दर्य शारीरिक सौन्दर्य से भी अधिक प्रभावक है।

प्रेम की भाषा

जो व्यक्ति उनके सम्पर्क में आता है, वह बहुधा उनका ही हो जाता है। वह उनकी आत्मीयता और अकारण वात्सल्य में खो-सा जाता है। शायद स्नेह की भाषा समझने वाला ही उसका पूरा रसास्वादन कर पाता है। कलकत्ता से राजस्थान आते हुए आचार्यश्री दिल्ली पहुँचे। वहाँ दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी-हॉल में उनका सार्वजनिक स्वागत किया गया। सुप्रसिद्ध चित्रकर्त्री कुमारी एलिज़ाबेथ ब्रूनर उस कार्यक्रम में आदि से अन्त तक उपस्थित रहीं। कार्यक्रम समाप्त होने पर आचार्यश्री ने उससे कहा—तुम हिन्दी नहीं समझतीं, फिर इतनी देर चुपचाप कैसे बैठी रहती हो? उसने उत्तर देते हुए कहा—प्रेम की भाषा अलग ही होती है; मैं उसे समझती हूँ। हर कोई उसे नहीं समझ पाता, इसीलिए ऊब जाता है।

प्रखर तेज

ब्यावर में 'अणुव्रत प्रेरणा-दिवस' पर बोलते हुए अजमेर के तपे हुए कार्यकर्ता श्री रामनारायण चौधरी ने कहा—मेरे दिमाग़ में कल्पना थी कि आचार्यश्री तुलसी कोई वृद्ध मनुष्य होंगे; पर आज ज्यों ही मैंने उनके दर्शन किये तो पाया कि आचार्यश्री में प्रखर आध्यात्मिक तेज के साथ-साथ आयु और शरीर का भी तेज है।

शक्ति का अपव्यय क्यों ?

राजस्थान विधान-सभा में आचार्यश्री के प्रवचन का कार्यक्रम था। उसके बारे में एक स्थानीय पत्रिका के सम्पादक ने कुछ अनर्गल बातें लिखी थीं। विधान-सभा के उपाध्यक्ष निरंजननाथजी को यह बहुत बुरा लगा। उन्होंने उस कार्य को अपमान समझा और आचार्यश्री के सम्मुख कहने लगे—यह हमारा और विधान-सभा का अपमान है। हम इस पर क़ानूनी कार्रवाई करेंगे।

आचार्यश्री ने कहा—हमारे लिए किसी व्यक्ति का अहित हो, यह मैं नहीं चाहता। किसी की इस प्रकार आलोचना करना अज्ञान है। अज्ञान को मिटाना है तो उसके दोष को क्षमा कर देना होगा। दूसरी यह बात भी है कि इन तुच्छ घटनाओं में हमें अपनी शक्ति का अपव्यय क्यों करना चाहिए?

प्रशंसा का क्या करें ?

एक पुरोहित ने आचार्यश्री से कहा—मैंने आपके दर्शन तो आज पहली बार ही किये हैं, किन्तु मैं लोगों के बीच आपकी बहुत प्रशंसा करता रहा हूँ। अनेकों व्यक्तियों को मैंने आपके सम्पर्क में आने की प्रेरणा दी है।

आचार्यश्री ने कहा—पुरोहितजी! हमें अपनी प्रशंसा नहीं चाहिए। हम उसका क्या करें! हम तो चाहते हैं कि हर कोई अपने जीवन की सत्यता को पहचाने। इसी में उसके जीवन का उत्कर्ष निहित है।

क्या पैरों में पीड़ा है ?

आचार्यश्री ने पिलानी से विहार किया तो सेठ जुगलकिशोरजी बिड़ला भी बिदा देने के लिए दूर तक साथ-साथ आये। मार्ग में वे आचार्यश्री से बातें करते चल रहे थे। आचार्यश्री जब-जब बोलते, तब पैर रोक लेते। बिड़लाजी ने समझा, सम्भवतः पैरों में पीड़ा है जिससे वे ऐसा कर रहे हैं। जब कई बार ऐसा हुआ तो उन्होंने पूछ लिया—क्या पैरों

में पीड़ा-विशेष है? आचार्यश्री ने कहा—नहीं तो, कोई भी पीड़ा नहीं है। बिड़लाजी ने तब साश्चर्य पूछा—तो आप रुक-रुक कर क्यों चल रहे हैं? आचार्यश्री ने प्रश्न का भाव अब समझा। उन्होंने समझाते हुए कहा—चलते समय बातें न करने का हमारा नियम है; अतः जब-जब बोलने का अवसर आता है, तब-तब मैं रुक जाता हूँ। बिड़लाजी ने क्षमा माँगते हुए कहा—तब तो मुझे भी नहीं बोलना चाहिए था।

शान्तिवादिता

आचार्यश्री की नीति सदा से ही शान्ति-प्रधान रही है। अशान्ति को न वे स्वयं चाहते हैं और न दूसरों के लिए पैदा करते हैं। जहाँ शान्ति की सम्भावना होती है, वहाँ वे अपने को तत्काल अलग कर लेते हैं। इसी शान्तिवादी नीति का परिणाम है कि आज उनके विरोधी भी उनकी प्रशंसा करते हैं।

प्रथम झलक

आचार्य-काल के प्रारम्भ में ही उनकी शान्तिप्रियता की एक झलक सबको मिल गई थी। उन्होंने अपना प्रथम चातुर्मास बीकानेर में किया था। उसकी समाप्ति पर जब वहाँ से विहार किया, तब कई हज़ार व्यक्ति उनके साथ थे। वहाँ के सुप्रसिद्ध राँगड़ी चाक की सड़क जन-संकुल हो रही थी। उसी समय सामने से एक अन्य सम्प्रदाय के आचार्य आ गए। उनकी नीति सदा से ही तेरापंथ के विरुद्ध रही थी। उस समय भी वे किसी अच्छे इरादे से नहीं आये थे। उनके साथ के आगे चलने वाले कुछ भाई अपमानजनक ढंग से 'हटो-हटो' कहते हुए आगे बढ़े। आचार्यश्री ने स्थिति को तत्काल भाँप लिया। सबको चीर कर आगे बढ़ने के इरादे से इधर वाले भाइयों में बड़ी उत्तेजना फैली; परन्तु आचार्यश्री ने स्थिति को परोटा और सड़क छोड़कर एक ओर हो गए। साथ के जन-समुदाय के लिए इधर-उधर हटने को कोई स्थान नहीं था। फिर भी आचार्यश्री ने उन्हें शान्त रहने तथा उनका मार्ग न रोकने का निर्देश किया। सड़क पर के सभी व्यक्तियों ने एक-दूसरे से सटते हुए उनके लिए मार्ग खाली किया। दूर तक केवल दो आदमी गुज़र सकें, इतनी-सी पट्टी में से वे लोग 'विजय' का गर्व करते हुए गुज़रे। यदि आचार्यश्री उस समय शान्ति न रख पाते, तो झगड़ा अवश्यम्भावी था। उस कार्य की जन-प्रतिक्रिया यह रही कि आचार्यश्री ने बड़ी समझदारी और शान्ति से काम लिया। स्वयं दूसरे पक्ष के समझदार व्यक्तियों ने आचार्यश्री के कार्य की प्रशंसा की और अपने पक्ष की नीति की आलोचना की। यह उनकी शान्तिवादिता की जन-साधारण के लिए प्रथम झलक थी।

स्वाध्याय ही सही

नवलगढ़ में रात्रिकालीन व्याख्यान बाज़ार में हुआ, और शयन पास के दिगम्बर मन्दिर में। जनता ने अगले दिन फिर वहीं व्याख्यान देने के लिए आग्रह किया, आचार्यश्री ने स्वीकृति दे दी। जब दूसरे दिन सायं बाजार में पहुँचे तो सुना कि वहाँ किसी वैष्णव साधु का व्याख्यान होने वाला है। आचार्यश्री कुछ असमंजस में पड़े, पर तत्काल ही निर्णय कर लिया कि चलो, आज रात को मन्दिर में स्वाध्याय ही करेंगे। कुछ लोगों ने आकर कहा—आप भी यहीं ठहर जाइये। हम दोनों का ही व्याख्यान सुन लेंगे। आचार्यश्री ने कहा—यद्यपि एक सभा में दो धर्मावलम्बियों के व्याख्यान आजकल कोई आश्चर्य का विषय नहीं रहा है, फिर भी यहाँ जिस ढंग से यह कार्यक्रम रखा गया है, उससे मुझे लगता है कि उसके पीछे कोई विद्वेष-बुद्धि काम कर रही है। ऐसी स्थिति में यहाँ व्याख्यान देने से शान्ति रहना कठिन है। आचार्यश्री वहाँ नहीं ठहरे और मन्दिर में चले गए।

जब उस वैष्णव साधु को इस घटना-क्रम का पता लगा तो आदमी भेजकर कहलाया कि मुझे यह पता नहीं था कि वहाँ पहले किसी जैनाचार्य का व्याख्यान होना निश्चित हो चुका है। मुझसे आग्रह करने वालों ने मुझे इस स्थिति से अनजान रखा। यद्यपि मैंने उस स्थान पर व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया, पर अब प्रसन्नता से कहता हूँ कि मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। पूर्व-निर्णयानुसार वहाँ जैनाचार्य का ही व्याख्यान हो। मुझे सुनने की इच्छा रखने वाले मेरी कुटिया पर आ सकते हैं।

आचार्यश्री ने उस भाई से कहा—हमें उनके व्याख्यान देने पर कोई आपत्ति नहीं है। हमारा व्याख्यान कल वहाँ हो ही चुका है; आज यदि लोग उनको सुनें तो यह हमारे लिए कोई बाधा की बात नहीं है। इस पर भी उस सन्देश-वाहक ने स्पष्ट कर दिया कि वे नहीं आयेंगे। आचार्यश्री फिर भी वहाँ नहीं गये, तब बाज़ार के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने आकर पुनः निवेदन किया और दबाव दिया कि अब तो किसी प्रकार की अशान्ति का भी भय नहीं रहा है। इस पर आचार्यश्री ने व्याख्यान देना स्वीकार कर लिया और वहाँ गये।

शान्ति का मार्ग

सौराष्ट्र में जिन दिनों विरोधी वातावरण चल रहा था, तब मास्टर रतिलाल भाई आचार्यश्री के दर्शन करने आये। सौराष्ट्र में धर्म-प्रचार के लिए अपना समय और शक्ति लगाने वालों में वे एक प्रमुख व्यक्ति थे। वे जब आये तो उनके मन में यह भय था कि न जाने आचार्यश्री क्या कहेंगे! मुनिजनों को वहाँ भेजने की प्रार्थना करते समय उन्हें यह पता नहीं था कि विरोधी लोग वातावरण को इतना कलुषित कर देंगे। किन्तु अब उसका सामना करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग भी नहीं था।

आचार्यश्री ने पूछा—कहिये, सौराष्ट्र में कैसी स्थिति है? प्रचार-कार्य ठीक चल रहा है? इस प्रश्न ने रतिलाल भाई को असमंजस में डाल दिया। वे कुछ सोच नहीं पा रहे थे कि इसका उपयुक्त उत्तर क्या हो सकता है; फिर भी उन्होंने कुछ साहस करके कहा—एक प्रकार से ठीक ही चल रहा है, किन्तु विरोधी वातावरण के कारण उसकी गति में पूर्ववत् तीव्रता नहीं रह सकी है।

आचार्यश्री ने उन्हें आश्वासन देते हुए कहा—यह कोई चिन्ता की बात नहीं है। हमें अपनी ओर से वातावरण को पूर्ण शान्त बनाये रखना है। विरोधी लोग क्या करते हैं, इस ओर ध्यान न देकर, हमें क्या करना चाहिए—यही अधिक ध्यान देने की बात है। हमें विरोध का शमन विरोध से नहीं, अपितु शान्ति से करना है। भगवान् का तो मार्ग ही शान्ति का है।

आचार्यश्री के इस कथन से रतिलाल भाई आश्चर्यान्वित हो गए। उन्होंने कहा—गुरुदेव! मुझे तो यह भय था कि आप कड़ा उलाहना देंगे। मैंने सोचा था कि सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों के प्रति किये जा रहे व्यवहार से अवश्य ही आप क्रुद्ध हुए होंगे, किन्तु आपने तो मुझे उलटा शान्ति का ही उपदेश दिया।

गहराई में

आचार्यश्री अनेक बार साधारण-सी बात को भी इतनी गहराई तक ले जाते हैं कि उसमें दार्शनिक तत्त्व नवनीत की तरह ऊपर उभर आता है। साधारण-से-साधारण घटना भी आचार्यश्री के चिन्तन का स्पर्श पाकर गम्भीर बन जाती है। साधारण व्यक्ति बहुधा घटना के बहिस्तल को ही देखता है जब कि आचार्यश्री उसके अन्तस्तल को देखते हैं।

पीछे से भी

एक बार कुहासा छाया हुआ था। उसके कारण विहार रुका हुआ था। मुनिजन अपना-अपना सामान समेटे विहार के लिए तैयार बैठे थे। कुछ प्रतीक्षा के बाद एक बार थोड़ा-सा उजाला हुआ। सामने से ऐसा लगने लगा कि अब कुहासा समाप्त होने वाला ही है। एक साधु ने खड़े होकर सामने दूर तक नज़र फैलाते हुए कहा—अब कुहासा मिटने में अधिक देरी नहीं है। यह बात चल ही रही थी कि इतने में पीछे से रुई के फाहे-जैसे कुहासे के बादल उमड़ आये और फिर पहले जैसा ही वातावरण हो गया।

आचार्यश्री ने इस बात को गहराई तक ले जाते हुए कहा—आगे सब देखते हैं, पर पीछे कोई नहीं देखता। विपत्ति पीछे से भी तो आ सकती है। सच तो यह है कि वह प्रायः सामने से कम और पीछे से ही अधिक आया करती है।

पैंड़ी का दोष

आचार्यश्री जिस मकान में ठहरे थे, उसकी एक पैंड़ी बहुत खराब थी। अपनी असावधानी के कारण उस दिन अनेक व्यक्तियों ने उससे चोट खायी। चोट खाकर अन्दर आने वाले प्रायः हर व्यक्ति ने उस पैंड़ी को तथा उसके निर्माता और स्वामी को कोसा।

पैंड़ी के प्रति व्यक्त किये जाने वाले उन विविध उद्गारों को सुनकर आचार्यश्री ने उस बात की गहराई तक पहुँचते हुए कहा—पर-दोष-दर्शन कितना सहज होता है और आत्म-दोष-दर्शन कितना कठिन, यह इस पैंड़ी की बात ने सिद्ध कर दिया है। हर कोई चोट खाने वाला पैंड़ी को दोष देता है, जब कि वस्तुतः दोष अपनी असावधानी का है। पैंड़ी की बनावट में कुछ कमी हो सकती है, फिर भी कुछ दोष अपनी ईर्या का भी तो है।

टोपी का रंग

समाजवादी नेता श्री जयप्रकाशनारायण पहले-पहल जब जयपुर में आचार्यश्री से मिले थे, तब सफेद टोपी पहने हुए थे; किन्तु जब दूसरी बार दिल्ली में मिले, तब लाल टोपी पहने हुए थे। वार्तालाप के मध्य आचार्यश्री ने टोपी के लिए पूछ लिया कि सफेद के स्थान पर यह लाल टोपी कैसे लगायी हुई है? जयप्रकाशजी ने कहा—हमारी पार्टी वालों ने यही निर्णय किया है। सफेद टोपी अब बदनाम भी हो चुकी है।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कह—टोपी बदनाम हो गई इसलिए आपकी पार्टी ने उसका रंग बदल दिया; परन्तु बदनामी के काम तो टोपी नहीं, मनुष्य करता है, उसको बदलने की आपकी पार्टी ने क्या योजना बनायी है?

सम्प्रदाय : धर्म की शोभा

आचार्यश्री विहार करते हुए जा रहे थे, मार्ग में एक विशाल आम्र-वृक्ष आ गया। सन्तों ने उनका ध्यान उधर आकृष्ट करते हुए कहा—यह वृक्ष बहुत बड़ा है।

आचार्यश्री ने भी उसे देखा और गम्भीरता से कहने लगे—एक मूल में ही कितनी शाखाएं-प्रशाखाएं निकल जाती हैं। धर्म-सम्प्रदाय भी इसी प्रकार एक मूल में से निकली हुई शाखाएं होती हैं। परन्तु इनकी यह विशेषता है कि इनमें परस्पर कोई झगड़ा नहीं है, जबकि सम्प्रदायों में नाना प्रकार के झगड़े चलते रहते हैं। शाखाएं वृक्ष की शोभा हैं। उसी प्रकार सम्प्रदायों को भी धर्म-वृक्ष की शोभा बनना चाहिए।

नास्तिकता पर नया प्रकाश

प्रसिद्ध कीर्तनकार डा० रामनारायण खन्ना आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। उन्होंने अपनी कुछ चौपाइयाँ आदि भी सुनायीं। बातचीत के क्रम में वे थोड़ी-थोड़ी देर के बाद 'रामकृपा' को दुहराते रहे। सम्भवतः उन्होंने इस शब्द का प्रारम्भ तो भक्ति की दृष्टि से ही किया होगा; पर अब वह उनके लिए एक मुहावरा बन चुका था। आचार्यश्री ने जब इस बात की ओर लक्ष्य किया तो कहने लगे—डाक्टर साहब! आप मनुष्य के पुरुशार्थ को भी कुछ मानियेगा? 'रामकृपा'-'प्रभुकृपा' आदि शब्दों को भक्ति-संभृत हृदय के उद्गारों से अधिक महत्त्व देने पर स्वयं प्रभु को भी राग-द्वेष-लिप्त मान लेना होगा। अहं-भाव को रोकने के लिए 'रामकृपा' जैसी भावनाएं आवश्यक हैं, तो क्या अकर्मण्यता और हीन भाव को रोकने के लिए पुरुषार्थ को नहीं मानना चाहिए? मैं मानता हूँ कि परमात्मा को न मानना नास्तिकता है; पर क्या अपने-आप को न मानना उतनी ही बड़ी नास्तिकता नहीं है?

डाक्टर साहब मानो सोते से जाग पड़े। आचार्यश्री ने नास्तिकता पर जो नया प्रकाश डाला था, वह उनके लिए एक बिल्कुल ही नया तत्त्व था।

कार्य ही उत्तर है

एक भाई ने आचार्यश्री को एक दैनिक पत्र दिखलाया। उसमें आचार्यश्री के विषय में बहुत-सी अनर्गल बातें लिखी हुई थीं। उसी समय एक वकील आचार्यश्री से बातचीत करने के लिए आये। उन्होंने भी पत्र देखा। वे बड़े खिन्न हुए। कहने लगे—यह क्या पत्रकारिता है? ऐसे सम्पादकों पर मुक़दमा चलाया जाना चाहिए।

आचार्यश्री ने स्मित भाव से कहा—कीचड़ में पत्थर फेंकने से कोई लाभ नहीं। मैं कार्य को आलोचना का उत्तर मानता हूँ, अतः मुक़दमा चलाने या उत्तर देने की अपेक्षा कार्य करते जाना ही अधिक अच्छा है। मौखिक समाधानों से कार्यजन्य समाधान अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं।

फोटो चाहिए

आचार्यश्री राजस्थान के भू० पू० पुनर्वास-मन्त्री अमृतलाल यादव की कोठी पर पधारे। यादवजी तथा उनकी पत्नी ने श्रद्धा-विभोर होकर उनका स्वागत किया। कुछ देर वहाँ ठहरना हुआ। बातचीत के दौरान में यादवजी की पत्नी ने कहा—मुझे नैनिक कार्यों में बड़ी अभिरुचि है। मैंने अपने घर में उन्हीं लोगों के फोटो विशेष रूप से लगा रखे हैं, जिनकी सेवाएं संसार को उच्च चारित्रिक आधार पर प्राप्त हुई हैं। मुझे अपने कमरे में लगाने के लिए आपका भी एक फोटो चाहिए।

आचार्यश्री ने कहा—फोटो का आप क्या करेंगी जब कि मैं स्वयं ही आपके घर में बैठा हुआ हूँ। मेरी दृष्टि में वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य-आकृति को न पूज कर उसके गुणों का या कथन का अनुसरण किया जाना चाहिए।

हमारा सच्चा ऑटोग्राफ

आचार्यश्री विद्यार्थियों में प्रवचन कर बाहर आये। कई विद्यार्थी उनका ऑटोग्राफ लेने को उत्सुक थे। फाउण्टेन पेन और डायरी आचार्यश्री की तरफ बढ़ाते हुए विद्यार्थियों ने कहा—आप इसमें हस्ताक्षर कर दीजिये।

आचार्यश्री ने मुस्कराते हुए कहा—देखो बालको! मैंने अभी जो बातें कही हैं, उन्हें जीवन में उतारने का प्रयास करो। यही हमारा सच्चा ऑटोग्राफ होगा।

गरम का बिगाड़

एक प्याले में दूध पड़ा था और उसके पास में ही अचित्त किया हुआ नीबू। आचार्यश्री को जिज्ञासा हुई—क्या नीबू के रस से दूध तत्काल फट जाता है?

पास खड़े एक साधु ने कहा—फट तो जाता है।

आचार्यश्री ने नीबू लिया और थोड़ा-सा दूध लेकर उसमें पाँच-चार बूंदें डालीं। दो-एक मिनट के बाद देखा, तब तक वह नहीं फटा।

एक साधु ने कहा—गरम दूध जल्दी फट जाता है। यह ठंडा है, शायद इसीलिए नहीं फटा।

आचार्यश्री ने इस बात को जीवन पर लागू करते हुए कहा—ठीक ही है। ठंडी प्रकृति वाले मनुष्य का दूसरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। गरम प्रकृति वाले का ही शीघ्रता से बिगाड़ हुआ करता है।

परिश्रमशीलता

आचार्यश्री श्रम में विश्वास करते हैं। वे एक क्षण के लिए भी किसी कार्य को भाग्य पर छोड़ कर निश्चिन्त बैठना नहीं चाहते। वे भाग्य को बिल्कुल ही नहीं मानते हों, ऐसी बात नहीं है; परन्तु वे भाग्य को पुरुषार्थ-जन्य मानते हैं। इसीलिए वे रात-दिन अपने काम में जुटे रहते हैं। दूसरों को भी इसी ओर प्रेरित करते रहते हैं। अनेक बार तो वे

कार्य के सामने भूख-प्यास को भी भूल जाते हैं।

भूख नहीं सताती

एक बार आगरा सेण्ट्रल जेल में उनका प्रवचन रखा गया। वापस स्थान पर शीघ्र ही पहुँच जाने की सम्भावना थी, अतः भिक्षाचरी आदि की व्यवस्था के लिए उन्होंने किसी को कुछ निर्देश नहीं दिया। संयोगवशात् देरी हो गई। उधर मुनिजन इसलिए प्रतीक्षा करते रहे कि अभी आने वाले ही होंगे। इतनी देरी का अनुमान उनका भी नहीं था।

जेल दूर थी। गरमी काफी बढ़ गई थी। सड़क पर पैर जलने लगे थे। इन सभी कठिनाइयों को झेलते हुए वे आये। अपने विश्राम से भी पहले उन्हें सबकी चिन्ता थी। अतः आते ही उनका पहला प्रश्न था—क्या अभी तक भिक्षा-चरी के लिए तुम लोग नहीं गये? सन्तों ने कहा—कुछ निर्देश नहीं था, अतः हमने सोचा, अभी आ ही रहे होंगे; प्रतीक्षा-ही-प्रतीक्षा में समय निकल गया। आचार्यश्री ने थोड़ी सी आत्म-ग्लानि के साथ कहा—तब तो मैं तुम लोगों के लिए बहुत अन्तराय का कारण बना। सन्तों ने कहा—आप भी तो अभी निराहार ही हैं। आचार्यश्री बोले—हाँ, निराहार तो हूँ, पर काम के सामने कभी भूख नहीं सताती।

अधिक बीमार न हो जाऊँ !

आचार्यश्री कुछ अस्वस्थ थे। फिर भी दैनन्दिन के कार्यों से विश्राम नहीं ले रहे थे। रात्रि के समय साधुओं ने निवेदन किया कि वैद्य की राय है—आपको अभी कुछ दिन के लिए पूर्ण विश्राम करना चाहिए। आचार्यश्री ने कहा—मैं इस विषय में कुछ तो ध्यान रखता हूँ, पर पूर्ण विश्राम की बात कठिन है। मुझसे यों सर्वथा निष्क्रिय होकर नहीं बैठा जा सकता। मैं सोचता हूँ कि ऐसे विश्राम से तो मैं कहीं अधिक बीमार न हो जाऊँ !

श्रम उत्तीर्ण कराता है

एक छात्रा ने आचार्यश्री से पूछा—आप तो बहुत ज्ञानी हैं; मुझे बतलाइये कि मैं इस वर्ष परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाऊँगी या नहीं !

आचार्यश्री ने कहा—तुमने अध्ययन मन लगाकर किया या नहीं ?

छात्रा—अध्ययन तो मन लगाकर ही किया है।

आचार्यश्री—तब तुम्हारा मन उत्तीर्णता के विषय में शंकाशील क्यों बन रहा है ? अपने श्रम पर विश्वास होना चाहिए। अपना श्रम ही तो उत्तीर्ण कराने वाला होता है। ज्योतिष या भविष्यवाणी किसी को उत्तीर्ण नहीं करा सकती।

पुरुषार्थवादी हूँ

आचार्यश्री एक मन्दिर में ठहरे हुए थे। मध्याह्न में एकान्त देखकर पुजारी ने अपना हाथ आचार्यश्री के सम्मुख बढ़ाते हुए कहा—आप तो सर्वज्ञ हैं; कृपया मेरा भविष्य भी तो देख दें, कुछ उन्नति भी लिखी है या नहीं ?

आचार्यश्री ने कहा—मैं कोई ज्योतिषी नहीं हूँ जो तुम्हारा भविष्य बतला दूँ। मैं तो पुरुषार्थवादी हूँ। मनुष्य को सदा सम्यक् पुरुषार्थ में लगे रहना चाहिए। जो ऐसा करेगा, उसका भविष्य बुरा हो ही नहीं सकता।

दयालुता

आचार्यश्री की प्रकृति बहुत दयालुता की है। वे बहुत शीघ्र द्रवित हो जाते हैं। संघ-संचालक के लिए यह आव-श्यक भी है कि वह विशिष्ट स्थितियों में अपनी दयार्द्रता का परिचय दे। नाना प्रकार की प्रार्थनाएं उनके सम्मुख आती रहती हैं। कुछ समय का ध्यान रखकर की गई होती हैं, तो कुछ ऐसे ही। कुछ मानने-योग्य होती हैं, तो कुछ नहीं। जिसकी प्रार्थना नहीं मानी जाती, उसके मन में खिन्नता होती है। यह आवश्यक भले ही न हो, पर स्वाभाविक है। इन

सब स्थितियों में से गुज़रते हुए भी सबका सन्तुलन बनाये रखना, उनका कर्तव्य होता है। अपना सन्तुलन रखना तो सहज होता है, पर उन्हें दूसरा का सन्तुलन भी बनाये रखना होता है। स्वभाव में दयार्द्रता हुए बिना ऐसा हो नहीं सकता।

कैसे जा सकते हैं ?

मेवाड़-यात्रा में आचार्यश्री को उस दिन 'लम्बोड़ी' पहुँचना था। मार्ग के एक 'सोन्याणा' नामक ग्राम में प्रवचन देकर जब वे चलने लगे, तब एक वृद्धा ने आगे बढ़कर आचार्यश्री को कुछ रुकने का संकेत करते हुए कहा—मेरा 'मोभी बेटा' (प्रथम पुत्र) बीमार है। वह आ ही रहा है, आप थोड़ी देर ठहर कर उसे दर्शन दे दें !

लोगों ने उसे टोकते हुए कहा—आचार्यश्री को आगे जाना है। पहले ही काफ़ी देर हो चुकी है। धूप भी प्रखर है, अतः वे अब नहीं ठहर सकते।

वृद्धा ने तुनकते हुए कहा—तुम कान होते हो कहने वाले ? मैं भी तो सुबह से बैठी बाट देख रही हूँ। महाराज दर्शन दिये बिना जा ही कैसे सकते हैं ?

वृद्धा सचमुच ही रास्ता रोक कर खड़ी हो गई। आचार्यश्री ने उसकी भक्ति-विह्वलता को देखा तो द्रवित हो गए। उन्होंने कहा—माँजी ! तुम्हारा घर किधर है ? उधर ही चलें तो दर्शन हो जायेंगे।

वृद्धा तो एक प्रकार से नाच उठी और आगे हो ली। आचार्यश्री उसके घर की ओर बढ़े, तो कुछ ही दूर पर वह लड़का आता हुआ मिल गया। उसने अच्छी तरह से दर्शन कर लिये, तब आचार्यश्री ने वृद्धा से पूछा—क्यों माँजी ! अब तो हम चलें ?

वृद्धा गद्गद हो गई और वाष्पार्द्र नेत्रों से उसने बिदाई दी।

बिना भक्ति तारो ता पै तारवो तिहारो है !

सुजानगढ़ में चाँदमलजी सेठिया अपनी युवावस्था में धर्म-विरोधी प्रकृति के थे। यों बड़े समझदार तथा दृढ़-संकल्प व्यक्ति थे। वे कालान्तर में राजयक्ष्मा से पीड़ित हो गए। उस स्थिति में उनके विचारों में भी परिवर्तन आया। उन्होंने आचार्यश्री से दर्शन देने की विनती करायी। आचार्यश्री वहाँ गये, तब उन्होंने अपनी धर्म-विमुखता का पश्चात्ताप किया और एक राजस्थानी भाषा का 'कवित्त' सुनाया। उसकी अन्तिम कड़ी थी—'बिना भक्ति तारो ता पै तारवो तिहारो है,' अर्थात् भक्तों को तो भगवान् तारते ही हैं, पर मुझ जैसे अभक्त को भी तारें, तभी आपकी विशेषता है।

आचार्यश्री उनकी इस भावना पर मुग्ध हो गए। उसके बाद स्वयं वे वहाँ जाते रहे और धर्मोपदेश सुनाते रहे। अनेक बार सन्तों को भी वहाँ भेजते रहे।

द्वेष को विस्मृत करो !

लाडनूं के सूरजमलजी बोरड़ पहले धार्मिक प्रकृति के थे, किन्तु बाद में किसी कारण से धर्म-विरोधी हो गए। उन्होंने अनेक लोगों को भ्रान्त किया। परन्तु जब बीमार हुए तब उनके विचार बदल गए। उन्होंने आचार्यश्री को दर्शन देने की विनती करायी। आचार्यश्री वहाँ पधारे, तब आत्म-निन्दा करते हुए उन्होंने अपने कृत्यों की क्षमा माँगी।

आचार्यश्री काफी देर वहाँ ठहरे और उनसे बातें कीं। प्रसंगवशात् यह भी पूछा कि स्वामीजी के सिद्धान्तों में कोई भ्रान्ति हो गई थी या कोई मानसिक द्वेष ही था। यदि भ्रान्ति थी तो अब उसका निराकरण कर लो और यदि द्वेष था तो अब उसे विस्मृत कर दो। तुम्हारे कारण से जिन लोगों में धर्म के प्रति भ्रान्तियाँ पैदा हुई हैं, उन्हें भी फिर से सत्-प्रेरणा देना तुम्हारा कर्तव्य है।

उन्होंने आचार्यश्री को बतलाया कि मेरी श्रद्धा ठीक रही है, किन्तु मानसिक द्वेष-वश ही यह इतनी दूरी हो गई थी। मैंने जिनको भ्रान्त किया है, उनसे भी कहूँगा।

उसके बाद आचार्यश्री प्रायः प्रतिदिन उन्हें दर्शन देते रहे। वे आचार्यश्री का इस दयालुता से बहुत ही तृप्त

हुए। वे बहुधा अपने साथियों के सामने अपनी पिछली भूलों का स्पष्टीकरण करते रहे थे। उनकी वह धर्मानुकूलता अन्त तक वैसी ही बनी रही।

भावना कैसे पूर्ण होती ?

आत्म-विशुद्धि के निमित्त एक बहिन ने आजीवन अनशन कर रखा था। उसे निराहार रहते छत्तीस दिन गुज़र गए। तभी उस शहर में आचार्यश्री का पदार्पण हो गया। उस बहन को अनशन में आचार्यश्री के दर्शन पा लेने की बड़ी उत्सुकता थी। उसने आचार्यश्री के वहाँ पधारते ही विनती करायी। आचार्यश्री ने शहर में पधार कर प्रवचन कर चुकने के बाद ही सन्तों से कहा—चलो ! उस बहन को दर्शन दे आयें।

देर हो गई थी और धूप भी काफ़ी थी, अतः सन्तों ने कहा—रेत में पर जलेंगे, सन्ध्या-समय उधर पधारें तो ठीक रहेगा।

आचार्यश्री ने कहा—नहीं ! हमें अभी चलना चाहिए। यद्यपि उसका घर दूर था, फिर भी आचार्यश्री ने दर्शन दिये। बहिन की प्रसन्नता का पार न रहा। आचार्यश्री थोड़ी देर वहाँ ठहर कर वापस अपने स्थान पर आ गए। कुछ देर बाद ही उस बहिन के दिगंवत होने के समाचार भी आ गए। आचार्यश्री ने सन्तों से कहा—अगर हम उस समय नहीं जाते तो उसकी भावना पूर्ण कैसे होती ? ऐसे कार्यों में हमें देर नहीं करनी चाहिए।

झोंपड़े का चुनाव

आचार्यश्री बीदासर से विहार कर ढाणी में पधारे। बस्ती छोटी थी। स्थान बहुत कम था। कुछ झोंपड़े बहुत अच्छे थे, पर कई शीतकाल के लिए बिल्कुल उपयुक्त नहीं थे। आचार्यश्री ने वहाँ अपने लिए एक ऐसे ही झोंपड़े को पसन्द किया जहाँ कि शीतागमन की अधिक सम्भावना थी। सन्तों ने दूसरे झोंपड़े का सुझाव दिया तो कहने लगे—हमारे पास तो वस्त्र अधिक रहते हैं अतः पर्दे आदि का प्रबन्ध ठीक हो सकता है। अन्य साधुओं के पास प्रायः वस्त्र कम ही रहते हैं, अतः उनके लिए सर्दी का बचाव अधिक आवश्यक होता है।

वज्रादपि कठोराणि

आचार्यश्री में जितनी दयालुता अथवा मृदुता है, उतनी ही दृढ़ता भी। आचार्यश्री की मृदुता, शिष्य-वर्ग में जहाँ आत्मीयता और श्रद्धा के भाव जगाती है, वहाँ दृढ़ता अनुशासन और आदर के भाव। न उनका काम केवल मृदुता से चल सकता है और न दृढ़ता से। दोनों का सामंजस्य बिठाकर ही वे अपने कार्य में सफल हो सकते हैं। आचार्यश्री ने इन कामों का अपने में अच्छा सामंजस्य बिठाया है। वे एक ओर बहुत शीघ्र द्रवित होते देखे जाते हैं, तो दूसरी ओर अपनी बात पर कठोरता से अमल करते हुए भी देखे जा सकते हैं।

कोई भी धर्म-श्रवण के लिए आ सकता है

एक बार आचार्यश्री लाडनूं में थे। वहाँ कुछ भाइयों ने स्थानीय हरिजनों को व्याख्यान-श्रवण की प्रेरणा दी। वे आये तो उसमें कुछ लोगों ने आपत्ति की। कुछ इस कार्य के पक्ष में थे तो कुछ विपक्ष में। वातावरण में गरमी आयी और कुछ पारस्परिक वाद-विवाद बढ़ने लगा। तब यह बात आचार्यश्री तक पहुँची। उन्होंने अत्यन्त स्पष्टता के साथ चेतावनी देते हुए कहा—इस समय यह स्थान साधुओं की नेश्राय में है। यहाँ धर्म-श्रवण के लिए कोई भी व्यक्ति आ सकता है। यदि कोई आगन्तुकों को रोकता है तो वह वस्तुतः मुझे ही रोकता है।

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण घोषणा ने सारा विरोध शान्त कर दिया। यह उस समय की घटना है जब कि आचार्यश्री ने इस ओर अपने प्राथमिक चरण बढ़ाये थे। अब तो यह प्रश्न प्रायः समाप्त हो चुका है कि व्याख्यान में कौन आता है और कहाँ बैठता है।

इस मन्दिर में भगवान् नहीं है

एक गाँव में आचार्यश्री को एक मन्दिर में ठहराने का निश्चय हुआ। वे जब वहाँ आये तो उनके साथ कुछ हरिजन भी थे। उनके साथ-साथ वे भी मन्दिर में आ गए। पुजारिन ने यह देखा तो क्रोधवश गालियाँ बकने लगी। कुछ देर तो आचार्यश्री का उधर ध्यान ही नहीं गया। पर जब पता लगा तो साधुओं से कहने लगे—चलो भाई, अपने उपकरण वापस समेट लो। यहाँ मन्दिर में तो भगवान् नहीं,क्रोध चाण्डाल रहता है। हम इस अपवित्रता में ठहर कर क्या करेंगे ?

पुजारिन ने जब आचार्यश्री के ये शब्द सुने तो कुछ ठण्डी पड़ गई। कहने लगी—आप क्यों जा रहे हैं ? मैं आप को थोड़े ही कह रही हूँ। मैं तो इन लोगों से कह रही हूँ।

आचार्यश्री ने कहा—तुम जब हम को ठहरा रही हो तो हमारे पास आने वाले लोगों को कैसे रोक सकती हो ?

पुजारिन ने आचार्यश्री का जब यह दृढ़ विश्वास देखा तो चुपचाप एक ओर चली गई।

सिद्धान्तपरक आलोचना : तत्त्व-बोध का मार्ग

आचार्य-पद पर आसीन होने के कुछ महीने बाद ही आचार्यश्री ब्यावर में पधारे थे। वहाँ अपने प्रथम व्याख्यान में उन्होंने मुनि-चर्या का वर्णन करते हुए कहा था कि अपने निमित्त बने स्थान में रहने से साधु को दोष लगता है। सेठ-साहूकारों के निवासार्थ हवेलियाँ बनती हैं, उसी प्रकार यदि साधुओं के लिए स्थान बनाये जाते हों तो फिर उनमें नाम के अतिरिक्त क्या अन्तर हो सकता है ?

आचार्यश्री की इस बात पर कुछ स्थानीय भाई बहुत चिढ़े। मध्याह्न में एकत्रित होकर वे आचार्यश्री के पास आये और प्रातःकालीन व्याख्यान में कही गई उपर्युक्त बात को अपने पर किया गया आक्षेप बतलाने लगे। उन्होंने आचार्यश्री पर दबाव डाला कि वे अपने इस कथन को वापस लें और आगे के लिए ऐसी आक्षेपपूर्ण बात न कहें।

आचार्यश्री ने कहा—हम किसी की व्यक्तिपरक आलोचना नहीं करते। सिद्धान्तपरक आलोचना अवश्य करते हैं। ऐसा होना भी चाहिए, अन्यथा तत्त्व-बोध का कोई मार्ग ही खुला न रह जाये। मेरे कथन को किसी पर आक्षेप नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह किसी व्यक्ति-विशेष या समाज-विशेष के लिए नहीं कहा गया है। वह तो समुच्चय सिद्धान्त का प्रतिपादन-मात्र है। यदि हम वैसा करते हों तो स्वयं हमारे पर भी वह उतना ही लागू होगा जितना कि दूसरों पर होता है। अपने कथन को वापस लेने तथा आगे के लिए न दुहराने की तो बात ही कैसे उठ सकती है ? यह प्रश्न मुनि-चर्या से सम्बद्ध है, अतः इस पर सूक्ष्मतापूर्वक मीमांसा करते रहना नितान्त आवश्यक है।

वे लोग आचार्यश्री को लघु-वय तथा नवीन समझ कर दबाने की दृष्टि से आये थे; परन्तु आचार्यश्री के दृढ़ता-मूलक उत्तर ने यह स्पष्ट कर दिया कि व्यक्तिगत आलोचना जहाँ मनुष्य की हीन वृत्ति की द्योतक होती है, वहाँ सैद्धान्तिक आलोचना ज्ञान-वृद्धि और आचार-शुद्धि का हेतु होती है। उन्हें रोकने की नहीं, किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। सत्य को आग्रही नहीं, अनाग्रही ही पा सकता है।

कुप्रथा को प्रश्रय नहीं

मेवाड़ के एक गाँव में आचार्यश्री पधारे। वहाँ एक बहिन ने दर्शन देने की प्रार्थना करायी। आचार्यश्री ने कारण पूछा। अनुरोध करने वाले भाई ने कहा—उसका पति दिवंगत हो गया है। यहाँ की प्रथा के अनुसार वह ग्यारह महीने तक अपने घर से बाहर नहीं निकल सकती।

आचार्यश्री ने कहा—तुम्हीं कहते हो या उससे भी पूछा है ? ऐसा कौन होगा जो इतने महीनों तक एक ही मकान में बैठा रहना चाहे ? इस पर वह भाई उस बहिन को समझा कर यहीं स्थान पर ले आने के लिए गया। पर रूढ़ियों में पली हुई वह वहाँ न आ सकी। आचार्यश्री ने तब कहा—कोई रोगी या अशक्त होता तो मैं अवश्य वहाँ जाकर दर्शन देता; पर वहाँ जाने का अर्थ है—इस कुप्रथा को प्रश्रय देना; अतः मैं नहीं जा सकता।

उस बहिन ने जब यह बात सुनी तो बहुत चिन्तित हुई। लोग हजारों मील जाकर दर्शन करते हैं और वह गांव में पधारे हुए गुरुदेव के दर्शनों से भी वंचित रह जायेगी, इस चिन्तन ने उसको झकझोर डाला। अन्ततः वह अपने को नहीं रोक सकी। कुछ बहिनों की ओट लिये भीत मृगी-सी वह आयी और दर्शन कर जाने लगी। आचार्यश्री ने उसे आगे के लिए इस प्रथा को छोड़ देने का बहुत उपदेश दिया, पर वह सामाजिक भय के कारण उसे नहीं मान सकी।

आचार्यश्री ने कहा—एक ही कोठरी में बैठे रहना और वहीं मल-मूत्र करना तथा दूसरों से फिंकवाना क्या तुम्हें बुरा नहीं लगता ?

उसने कहा—बेटे की बहू विनीत है; अतः वह सहज भाव से यह सब कुछ कर लेती है।

आचार्यश्री सन्तों की ओर उन्मुख होकर कहने लगे—अब इस घोर अज्ञान को कैसे मिटाया जाये ?

श्मशान में भी

आचार्यश्री ने सौराष्ट्र में साधु-साध्वियों को भेजा। वहाँ उन्हें घोर विरोध का सामना करना पड़ा। चूड़ा आदि में कुछ लोग तेरापंथी बने, उन्हें जाति-बहिष्कृत कर दिया गया। तेरापंथी साधुओं के विरुद्ध ऐसा वातावरण बना दिया कि उन्हें सौराष्ट्र में चातुर्मास करने के लिए कहीं स्थान नहीं मिला। ऐसी स्थिति में यह एक चिन्ता का विषय था कि चातुर्मास कहाँ किया जाये। सौराष्ट्र से अन्यत्र जाकर कहीं चातुर्मास कर सकें, इतने दिन नहीं थे। अन्त में वहाँ से कुछ भाई थला में आचार्यश्री के दर्शन करने आये और वहाँ की सारी स्थिति बतलायी।

आचार्यश्री ने क्षण-भर के लिए कुछ सोचा और कहा—यद्यपि वहाँ आहार-पानी तथा स्थान आदि की अनेक कठिनाइयाँ हैं, फिर भी उन्हें साहस से काम लेना है। घबराने की कोई आवश्यकता नहीं है। जैन-अजैन कोई भी व्यक्ति स्थान दे, उन्हें वहीं रह जाना चाहिए। कोई भी स्थान न मिलने की स्थिति में श्मशान में रह जाना चाहिए। भिक्षुस्वामी के आदर्श को सामने रखकर दृढ़तापूर्वक उन्हें कठिनाइयों का सामना करना है।

आचार्यश्री की इस दृढ़तापूर्ण स्फूर्त वाणी से श्रावकों को बड़ा सम्बल मिला। तत्रस्थ साधु-साध्वियों को भी एक मार्ग-दर्शन मिला। वे अपने निश्चय पर और भी दृढ़ता के साथ जमे रहे।

एकात्मकता

सौराष्ट्र-स्थित साधु-साध्वियों को स्थान न मिलने के कारण आचार्यश्री चिन्तित थे। उन्होंने अपने मन-ही-मन एक निर्णय किया और ऊनोदरी करने लगे। पार्श्वस्थित सभी व्यक्तियों को धीरे-धीरे यह तो पता हो गया कि आचार्यश्री ऊनोदरी कर रहे हैं; पर क्यों कर रहे हैं, इसका पता किसी को नहीं लग सका। बार-बार पूछने पर भी उन्होंने अपने रहस्य को नहीं खोला। आखिर यह रहस्य तब खुला जब सौराष्ट्र से साधु-साध्वियों की कुशलता के तथा चातुर्मास के लिए उपयुक्त स्थान मिल जाने के समाचार आ गए। संघ के साधु-साध्वियों के प्रति आचार्यश्री की यह आत्मीयता उन सबको एक-सूत्रता का भान कराती है तथा इस शासन के लिए सर्वभावेन समर्पण की बुद्धि उत्पन्न करती है। इस एकात्मकता के समक्ष कोई परीषह परीषह के रूप में टिक नहीं पाता। वह कर्तव्य की वेदी पर बलिदान की भूमिका बन जाता है।

प्रत्युत्पन्न मति

आचार्यश्री में अपनी बात को समझाने का अपूर्व योग्यता है। वे किसी भी प्रकार के तर्क से घबराते नहीं। अपनी तर्क-सम्पन्न वाक्यावलि से वे एक ही क्षण में पाँसा पलट देते हैं। उनको सुनने वाले उनकी इस क्षमता से जहाँ चकित हो जाते हैं वहाँ, तर्क करने वाले निरुत्तर। उनकी प्रत्युत्पन्न बुद्धि बहुत ही समर्थ है।

पादरी का गर्व

एक पादरी ने ईसाई धर्म को सर्वोत्कृष्ट बताते हुए आचार्यश्री से कहा—ईसा ने शत्रुओं से भी प्यार करने का उपदेश दिया है। ऐसा उदार सिद्धान्त अन्यत्र नहीं मिलेगा।

आचार्यश्री ने तत्काल कहा—महात्मा ईसा ने यह बहुत अच्छा कहा है; परन्तु इससे शत्रु का अस्तित्व तो प्रकट होता ही है। भगवान् महावीर ने इससे भी आगे बढ़कर किसी को भी अपना शत्रु न मानने को कहा है।

पादरी का अपने धर्म की सर्वोत्कृष्टता का गर्व चूर-चूर हो गया।

आप लोग क्या छोड़ेंगे ?

रूपनगढ़ में गोविन्दसिंह नामक एक सेवानिवृत्त सैन्य अधिकारी आचार्यश्री के पास आये। वे कुछ बात कह ही रहे थे कि इतने में कुछ वणिक्-जन भी आ गए। उस अधिकारी से आचार्यश्री को बात करते देखा तो किसी वणिक् ने अवसर देखकर आचार्यश्री से कान में कहा—यह तो शराबी है। आप इससे क्या बात करते हैं ? आचार्यश्री ने उसकी बात सुन ली और फिर काफी देर तक उस अधिकारी से बात करते रहे। बातचीत के प्रसंग में उससे पूछ भी लिया—क्या आप शराब पीते हैं ?

अधिकारी—हाँ महाराज ! पहले तो बहुत पीता था, पर अब प्रायः नहीं पीता।

आचार्यश्री—तो क्या अब इसे पूर्णतः छोड़ने का संकल्प कर सकोगे ?

अधिकारी—इतना तो विचार नहीं किया है, पर अब पीना नहीं चाहता।

आचार्यश्री—जब पीना नहीं चाहते तो मानसिक दृढ़ता के लिए संकल्प कर लेना चाहिए।

अधिकारी ने एक क्षण के लिए कुछ सोचा और फिर खड़ा होकर कहने लगा—अच्छा महाराज ! आज आपके सामने प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं आजीवन शराब नहीं पीऊँगा।

आचार्यश्री ने उनके मानसिक निर्णय को टटोलते हुए पूछा—मेरे कहने के कारण तथा प्रतिष्ठा-प्राप्ति के लिए तो आप ऐसा नहीं कर रहे हैं ?

अधिकारी ने दृढ़ता के साथ कहा—नहीं महाराज ! मैं अपनी आत्म-प्रेरणा से ही व्रत ले रहा हूँ। इतने दिन भी मेरा प्रयास इस ओर था, पर आज तक संकल्प-बल जागृत नहीं हुआ था। आज आपके सम्पर्क में आने से मेरे में वह बल जागृत हुआ है। उसी की प्रेरणा से मैंने यह व्रत लिया है।

आचार्यश्री ने उसके बाद उन समागत व्यापारियों से पूछा—अब आप लोग क्या छोड़ेंगे ? व्यापार में मिलावट आदि तो नहीं करते ?

व्यापारियों ने बग़लें झाँकना शुरू कर दिया। किसी तरह साहस बटोर कर कहने लगे—आजकल इसके बिना व्यापार चल ही नहीं सकता।

आचार्यश्री के बार-बार समझाने पर भी वे लोग उस अनैतिकता को छोड़ने के लिए तैयार नहीं हो सके।

आचार्यश्री ने कहा—जिसको तुम लोग बात करने योग्य नहीं बतलाते थे, उसने तो अपनी बुराई को छोड़ दिया; पर तुम लोग जो अपने को उससे श्रेष्ठ मानते हो, अपनी बुराई नहीं छोड़ पा रहे हो। तुम लोगों से उसकी संकल्प-शक्ति अधिक तीव्र रही।

वास्तविक प्रोफेसर

पिलानी-विद्यापीठ में प्रवचन करते हुए आचार्यश्री ने कहा—"जो अनुभव स्वयं पढ़ते समय नहीं हो पाता, वह विद्यार्थियों को पढ़ाते समय होता है, अतः वास्तविक प्रोफेसर तो विद्यार्थी होते हैं।" आचार्यश्री भाषण देकर आये, तब एक परिचित विद्यार्थी ने उनसे पूछा—अब आपका आगे का कार्यक्रम क्या है ?

आचार्यश्री—चार बजे के लगभग प्रोफेसरों की सभा में भाषण है।

छात्र ने हँसते हुए कहा—तब तो हम भी सम्मिलित हो सकेंगे ? क्योंकि आपने हमें भी प्रोफेसर बना दिया है।

आचार्यश्री—पर मेरे उस कथन के अनुसार वह सभा प्रोफेसरों की न होकर छात्रों की ही तो होगी। तब तुम्हारे सम्मिलित न होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है ?

कोई तो चाहिए

आचार्यश्री नबीगंज जा रहे थे। मार्ग में रघुवीरसिंहजी त्यागी का आश्रम आया। त्यागीजी ने आचार्यश्री को वहाँ ठहराने का बहुत प्रयास किया। आचार्यश्री का कार्यक्रम आगे के लिए पहले से ही निश्चित हो चुका था, अतः वहाँ ठहर पाना सम्भव नहीं था।

त्यागीजी ने अपना अन्तिम तर्क काम में लेते हुए कहा—यहाँ तो अमुक-अमुक आचार्य ठहर चुके हैं। अच्छा स्थान है, आपको किसी प्रकार का कष्ट नहीं होगा। सभी तरह की सुविधाएं यहाँ उपलब्ध हैं।

आचार्यश्री ने भी उसके विरुद्ध अपना तर्क प्रस्तुत करते हुए कहा—जहाँ सभी प्रकार की सुविधा होती हैं, वहाँ तो सभी ठहरते ही हैं। जहाँ सुविधाएं न हों, वहाँ भी तो ठहरने वाला कोई चाहिए।

त्यागीजी के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। आचार्यश्री ने अपने पूर्व-निर्धारित कार्यक्रम की अनिवार्यता बतलाते हुए उनके आग्रह को प्रेमपूर्वक शान्त किया।

नींद उड़ाने की कला

प्रातःकालीन प्रवचन में कुछ साधु झपकियाँ ले रहे थे। आचार्यश्री ने उनकी ओर देखा और अपने चालू प्रकरण में कष्ट-सहिष्णुता का विवेचन करते हुए कहने लगे—साधना करने वाले को कष्ट-सहिष्णु बनना अत्यन्त आवश्यक है। यह उनकी साधना का ही एक अंग है। मुनि-जन कितना कष्ट सहते हैं, यह देखने या सुनने से उतना नहीं जाना जा सकता, जितना कि स्वयं अनुभव करने से। गर्मी का समय है। रात को खुले आकाश में सो नहीं सकते। प्यास लगने पर भी पानी नहीं पी सकते। ऐसी स्थिति में नींद कम आये, यह सहज है। आप समझ रहे होंगे, झपकियाँ लेने वाले साधु प्रवचन सुनने के रसिक नहीं हैं, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है; प्रवचन सुनने के लिए आने पर भी रात की नींद प्रातःकाल के ठण्डे समय में सताने लगती है। इन झपकियों का मुख्य कारण यही तो है।

आचार्यश्री के इस विवेचन ने ऐसा चमत्कार का काम किया कि सबकी नींद उड़ गई। कुछ व्यक्तियों ने सोचा कि यह प्रवचन के प्रसंग में ही फरमाया गया है। कुछ ने सोचा कि यह नींद उड़ाने की एक नई कला है। नींद लेने वालों ने अपनी स्थिति को सँभालते हुए सोचा कि अब नींद नहीं लेनी है।

यह तो सुविधा है

गर्मी के दिन थे, फिर भी फतहगढ़ से साढ़े तीन बजे विहार हुआ। सूर्य तप रहा था। धूप बहुत तेज़ थी। सड़क के उत्ताप से पैर झुलसे जा रहे थे। कुछ दूर तो वृक्षों की छाया आती रही, किन्तु बाद में वह भी नहीं रही। एक साधु ने कहा—धूप इतनी तेज़ है और वृक्ष कहीं दिखाई नहीं पड़ रहे हैं। बड़ी मुसीबत है।

आचार्यश्री ने इस निराशावादी स्थिति को उलटते हुए कहा—आज इतनी तो सुविधा है कि सूर्य पीठ की ओर है। यदि यह सम्मुख होता तो कार्य और भी कठिन होता।

विचार-प्रेरणा

आचार्यश्री की कार्य-प्रेरणा जितनी तीव्र है, उतनी ही विचार-प्रेरणा भी। वे ऐसी स्थिति पैदा कर देते हैं कि जिससे व्यक्ति को उनके विचारों को जानने की उत्सुकता हो। यद्यपि वे बहुत सरल-सुबोध भाषा में बोलते हैं, फिर भी उस

सुबोधता में एक ऐसा तत्त्व भी रहता है जो प्रयासगम्य होता है। उनकी सहज बात दूसरों के लिए मार्ग दर्शक बन जाती है।

आशा से भर दिया

एक बार दिल्ली अणुव्रत समिति के अध्यक्ष श्री गोपीनाथ 'अमन' अणुव्रत-अधिवेशन में सम्मिलित होने के लिए गये, तब किसी कारणवश काफी निराश थे; किन्तु जब लौटकर दिल्ली आये, तब आशा से भरे हुए थे। मैंने उनसे इसका कारण पूछा तो उन्होंने बतलाया—अभी दिल्ली नगर-निगम के चुनावों में मेरे अपने ही मुहल्ले में वोट ख़रीदे गए थे। यह कार्य मेरी पार्टी वालों ने ही मुझसे छिपा कर किया था। इस प्रकार की प्रच्छन्न अनैतिकताओं से मुझे बड़ी ग्लानि है। अतः निराश होना स्वाभाविक ही था। इसी निराशा की स्थिति में मैं अधिवेशन में भाग लेने गया था। मैंने जब इस घटना को आचार्यश्री के सम्मुख रखा और कहा कि जब देश में इस प्रकार की अनैतिकता व्याप्त है, तब कुछ व्यक्तियों के अणुव्रती होने का कोई अधिक प्रभाव नहीं हो सकता। मुझे अपनी प्रभावहीनता पर बड़ा दुःख है कि मेरी पार्टी वालों पर भी मेरा कोई प्रभाव नहीं है। अधिक व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली भ्रष्टाचारिता के साथ जो सम्मिलित होना नहीं चाहता, उसे समाज के अन्य व्यक्तियों से अलग-थलग रहना पड़ता है। उसका जीवन जाति-बहिष्कृत-जैसा बन जाता है। मेरे साथी जब यह जान गए कि मैं उनकी इन बातों में सहयोग नहीं दूंगा, तो वे उन बातों के विषय में मुझसे विमर्षण किये बिना ही अपना निर्णय कर लेते हैं।

आचार्यश्री ने मुझसे कहा—क्या यह कम महत्त्वपूर्ण बात है कि अनेक व्यक्ति किसी एक व्यक्ति की सचाई का भी सामना नहीं कर सकते। उन्हें छिपकर काम करना पड़ता है।

बस, आचार्यश्री की इसी एक बात ने मुझे आशा से भर दिया।

मेरा मद उतर गया

सुरेन्द्रनाथ जैन आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। आचार्यश्री ने उनसे पूछा—धर्म-शास्त्रों का नैरन्तरिक अभ्यास चालू रहता होगा?

उन्होंने कहा—मैंने दस वर्ष तक दिगम्बर धर्म-शास्त्रों का अभ्यास किया है।

आचार्यश्री—तब तो मोक्षशास्त्र, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक, परीक्षा-मुख आदि ग्रन्थ पढ़े ही होंगे?

सुरेन्द्रनाथजी—हाँ, मैंने इन सबका अच्छी तरह से पारायण किया है।

आचार्यश्री—आत्म-तत्त्व का विश्वास हुआ कि नहीं?

सुरेन्द्रनाथजी—जितना निर्विकल्प होना चाहिए, उतना नहीं हूँ।

आचार्यश्री—हो भी कैसे सकते हो? पुस्तकें आत्म-तत्त्व का विश्वास थोड़े ही कराती हैं? वे तो केवल उसका ज्ञान देती हैं।

सुरेन्द्रनाथजी—तो विश्वास कैसे होता है?

आचार्यश्री—साधना से। भले ही कोई ग्रन्थ न पढ़े, पर आत्म-साधना करने वाले को आत्म-दर्शन अवश्य होगा। केवलज्ञान की प्राप्ति पुस्तकों से नहीं, किन्तु साधना से ही होती है। केवलज्ञान के लिए कहीं कालेज में भर्ती नहीं होना पड़ता, उसके लिए तो एकान्त में बैठकर अपनी आत्मा को पढ़ाना होता है। उसी से अलभ्य आत्म-बोधि की प्राप्ति हो जाती है।

आचार्यश्री की उपर्युक्त बातों का श्री सुरेन्द्रनाथजी पर जो प्रभाव पड़ा, उसको उन्होंने इस प्रकार भाषा दी है—"इतनी बड़ी बात और इतने सरल ढंग से! मेरा ज्ञानी होने का मद क्षण-भर में उतर गया। तभी मुझे लगा कि हज़ार शास्त्रघोटू पण्डितों से एक साधक सहस्रों गुना अधिक ज्ञानवान् है।"[1]

---

१ जैन भारती, १९ दिसम्बर '५४

हिन्दू या मुसलमान ?

बिहार प्रदेश में किसी ने आचार्यश्री से पूछा—आप हिन्दू हैं या मुसलमान ?

आचार्यश्री ने कहा—मेरे चोटी नहीं है, अतः मैं हिन्दू नहीं हूँ। मैं इस्लाम-परम्परा में नहीं जन्मा, अतः मुसलमान भी नहीं हूँ। मैं तो केवल मानव हूँ।

भोजन का अधिकार

'गोड़ता' गाँव में आचार्यश्री के पास मृत्यु-भोज के त्याग का प्रकरण चल पड़ा। अनेक व्यक्तियों ने मृत्यु-भोज करने तथा उसमें सम्मिलित होने का परित्याग किया। आचार्यश्री ने वहाँ के सरपंच से भी त्याग करने के लिए कहा।

सरपंच ने कहा—मैंने अभी कुछ दिन पहले मृत्यु-भोज किया है। चार हज़ार रुपये लगाकर मैंने सब लोगों को भोजन कराया है तो अब उनके यहाँ का मृत्यु-भोज कैसे छोड़ दूं ? कम-से-कम एक-एक बार तो सब के घर भोजन करने का अधिकार है। हाँ, यह हो सकता है कि मैं अब मृत्यु-भोज नहीं करूँगा।

आचार्यश्री ने अपने तर्क को नया मोड़ देते हुए कहा—परन्तु जब तुम मृत्यु-भोज नहीं करोगे तो तुम्हें फिर क्यों कोई अपने यहाँ बुलायेगा ? सब सोचेंगे—यह हमें नहीं बुलायेगा, तब फिर हम ही क्यों बुलायें ? और फिर यह भी सोचो कि जब सब लोग इसका परित्याग करते है तब तुम्हें भोजन करने के लिए बुलायेगा ही कौन ?

सरपंच के पास इसका कोई उत्तर नहीं था। आचार्यश्री के तर्कों ने उसे अपने मन्तव्यों पर पुनः विचार करने को प्रेरित किया। एक क्षण उसने सोचा और फिर गाँव वालों के साथ खड़ा होकर प्रतिज्ञा में सम्मिलित हो गया।

हमारा अनुभव भिन्न है

एक संन्यासी को आचार्यश्री ने अणुव्रत-आन्दोलन का परिचय दिया। उसने पूछा—क्या लोग आपकी बातें मान लेते हैं ? हमने तो देखा है कि प्रायः लोग व्रत के नाम से ही भागते हैं।

आचार्यश्री ने कहा—हमारा अनुभव आप से भिन्न है। व्रतों का उद्देश्य और उनकी भावना को ठीक ढंग से समझाने पर अधिकांश लोग व्रतों के प्रति निष्ठाशील होते पाये गए हैं। भागते तो वे तब है, जब कि स्वयं प्रेरक उन व्रतों को अपने जीवन में न उतार कर केवल उपदेश बघारने लगता है।

शंकर-प्रिया

श्री बी० डी० नागर को आचार्यश्री ने अणुव्रतों की प्रेरणा दी, तो वे बोले—मैं शंकर का उपासक हूं। शंकर को भाँग बहुत प्रिय थी, अतः मैं उन्हें भाँग चढ़ाता हूँ। जो वस्तु अपने इष्टदेव को चढ़ाता हूँ, उसे प्रसाद के रूप में स्वयं भी स्वीकार करता हूँ। अणुव्रती बनने से उसमें बाधा आती है।

आचार्यश्री—आप तो एक बौद्धिक व्यक्ति हैं। थोड़ा सोचिये, क्या बिना भाँग के शंकर की पूजा नहीं हो सकती ?

श्री नागर—हो तो सकती है, किन्तु अन्य वस्तुएं उनकी सर्वाधिक प्रिय वस्तु का स्थान तो नहीं ले सकतीं।

आचार्यश्री—ईश्वर को भक्त अपना ही रूप देना चाहता है। वह स्वयं जिन वस्तुओं को प्रिय मानता है, उन्हीं पर भगवान् की प्रियता का आरोपण कर लेता है। गाँजा आदि पीने वाले भी शंकर के नाम की आड़ लेते हैं। इस क्रम से तो भगवान् के निर्मल स्वरूप में बाधा ही पहुँचती है। आप इस विषय पर गम्भीरता से सोचियेगा।

श्री नागर—हाँ, यह बात सोचने की अवश्य है। नशे के रूप में भाँग छोड़ देने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। अन्य बातों पर जब तक पूर्ण मनन न कर लूं, तब तक के लिए इतना संकल्प भी काम देगा।

शुद्ध : गंगाजल से भी पवित्र

अकराबाद में एक ब्राह्मण गंगाजल लेकर आया और आचार्यश्री से उसे स्वीकार करने की हठ करने लगा। आचार्यश्री ने उसे समझाया कि कच्चा जल हमारे उपयोग में नहीं आता।

पंडितजी बोले—यह तो गंगाजल है। यह कभी कच्चा होता ही नहीं। मैं इसे अभी-अभी लेकर आया हूँ।

अन्ततः आचार्यश्री ने उसके बढ़ते हुए आग्रह को देखा तो अपनी बात का रुख बदलते हुए कहने लगे—पंडितजी! श्रद्धा पानी से बड़ी होती है, मैं आपकी श्रद्धा को सादर ग्रहण करता हूँ। वह इस गंगाजल से भी पवित्र वस्तु है।

सब से समान सम्बन्ध

उत्तरप्रदेशीय विधान-सभा के सदस्य श्री ललिताप्रसादजी सोनकर की प्रार्थना पर आचार्यश्री ने दलित वर्ग संघ के वार्षिक अधिवेशन में जाना स्वीकार कर लिया। उनके कुछ विरोधियों ने आचार्यश्री से कहा—सब दलित-वर्गीय लोगों का इसमें सहयोग नहीं है, अतः आपका जाना उचित नहीं लगता।

आचार्यश्री ने कहा—सबका सहयोग होना अच्छा है; फिर भी वह न हो, तब तक के लिए मैं अपनी बात न कहूँ, यह उचित नहीं। सत्यान्वेषण या सत्य-प्रापण में यदि सबके सहयोग की शर्त रहे, तो शायद सत्य के पनपने का कभी अवसर ही न आये। जो इस संगठन में हैं, वे मेरे विचार आज सुन लें और जो इस संगठन में नहीं हैं, वे आज वहाँ भी सुन सकते हैं, तथा अन्यत्र कहीं भी। मेरा इस या उस किसी भी संगठन से कोई सम्बन्ध नहीं है, और जो सम्बन्ध है वह सभी संगठनों से एक समान है।

चरण-स्पर्श कर सकते हैं ?

रेल से उतर कर आये हुए कुछ व्यक्तियों ने आचार्यश्री का चरण-स्पर्श करना चाहा। परन्तु उन्हें रेल के धुँए से मलिन हुए अपने वस्त्रों के कारण कुछ संकोच हुआ। यह विचार भी शायद मन में उठा हो कि एक पवित्र आत्मा के सम्पर्क में आते समय तन और वसन की पवित्रता अनिवार्यतया होनी चाहिए। दूसरे ही क्षण मन ने एक दूसरा तर्क प्रस्तुत किया कि उनसे सम्पर्क करने में तन और वसन से कहीं अधिक श्रद्धा माध्यम बनती है। वह तो सदा पवित्र ही है। आखिर उन्होंने पूछ लेना ही उचित समझा। वे आचार्यश्री के पास आये और बोले—क्या हम इस अस्नात स्थिति में आपका चरण-स्पर्श कर सकते हैं!

आचार्यश्री ने कहा—क्यों नहीं? वस्त्रों की मलिनता अपेक्षणीय न होते हुए भी गौण वस्तु है। मन की मलिनता नहीं होनी चाहिए।

विनोद

कभी-कभी अवसर आने पर आचार्यश्री विनोद की भाषा में बोलते सुने जा सकते हैं। उनका विनोद केवल परिहास के रूप में नहीं होता, अपितु अपने में एक गहरा अर्थ लिये हुए होता है। उनके विनोदों का व्यंग्यार्थ बाण की तरह वस्तुस्थिति के हार्द को विद्ध करने वाला होता है।

एक घड़ी

लाडनूं में युवक-सम्मेलन की समाप्ति पर एक स्वयं-सेवक ने सूचना देते हुए कहा—एक घड़ी मिली है; जिन सज्जन की हो, वे चिह्न बताकर कार्यालय से ले लें।

वह बैठ भी नहीं पाया था कि आचार्यश्री ने कहा—मैंने भी आप लोगों में एक घड़ी (समय-विशेष) खोई है। देखें, कौन-कौन उसे वापस ला देते हैं!

हँसी का वह कहकहा लगा कि पण्डाल में काफी देर तक एक मधुर संगीत की सी झंकार छायी रही।

पर्दा-समर्थकों को लाभ

भरतपुर से विहार कर आचार्यश्री पुलिस-चौकी पर पधारे। अर्थात् निकट की एक वाटिका में ठहरे। वहाँ एक वृक्ष पर मधुमक्खियों का एक छत्ता था। भोजन पकाने के लिए जलायी गई आग का धुआँ संयोगवशात् वहाँ तक पहुँच गया। उससे क्रुद्ध हुई मधुमक्खियों ने बहुत-से भाई-बहिनों को काट लिया। उस काण्ड में पर्दे वाली बहनें साफ बच गई।

आचार्यश्री को जब इस बात का पता चला तो हँसते हुए कहने लगे—चलो! पर्दा-समर्थक व्यक्ति उसकी एक उपयोगिता तो अब निर्विवाद बता सकेंगे।

यह भी कट जायेगी

आचार्यश्री कानपुर पधार रहे थे। विहार में मील-पर-मील कटते जा रहे थे। मील का एक पत्थर आया, वहाँ से कानपुर चौरासी मील शेष था। एक भाई ने कहा—अभी तो कानपुर चौरासी मील दूर है।

आचार्यश्री ने इस बात में अपने विनोद का रस भरते हुए कहा—"यह चौरासी भी कट जायेगी।" इस छोटे-से वाक्य के साथ ही सारा वातावरण मधुमय हास से व्याप्त हो गया।

कुँआ—प्यासे के घर

आचार्यश्री ने विभिन्न बस्तियों में जाकर व्याख्यान देना प्रारम्भ किया। तब आलोचक प्रकृति के लोग कहने लगे—प्यासा कुएँ के पास जाता है, पर कुआँ प्यासे के पास क्यों जाये?

आचार्यश्री ने इस बात का रस लेते हुए कहा—अरे भाई, क्या किया जाये! युग की रीति ही विपरीत हो गई है। अब तो नलों के द्वारा कुआँ भी तो प्यासे के घर जाने लगा है।

भाग्य की कसौटी

एक बहिन आचार्यश्री को अपना परिचय दे रही थी। अन्यान्य बातों के साथ उसने यह भी बतलाया कि उसकी एक बहिन विदेश गयी हुई है!

आचार्यश्री ने कहा—तुम विदेश नहीं गयीं?

उसने उदासीन स्वर से उत्तर दिया—मेरा ऐसा भाग्य कहाँ है!

आचार्यश्री ने मुस्कारते हुए कहा—बस, यही है तुम्हारे भाग्य की कसौटी!

अँधेरे से प्रकाश में

रात्रि के समय खुली छत पर दुग्ध-धवल चन्द्रिका में अणुव्रत-गोष्ठी का कार्यक्रम प्रारम्भ होने वाला था। वहाँ पास में एक पाल बँधा हुआ था। लगभग आधी छत पर उसकी छाया पड़ रही थी। कुछ अणुव्रती चन्द्र के प्रकाश में बैठे थे, तो कुछ उस छाया में। प्रकाश वाला कुछ भाग यों ही खाली पड़ा था। कुछ व्यक्तियों ने पीछे छाया में बैठे भाइयों से आगे आ जाने का अनुरोध किया। पर वहाँ से कोई उठा नहीं।

आचार्यश्री ने इसी स्थिति को विनोद की भाषा में यों अभिव्यक्ति दी—"प्रकाश में आने के बाद हर बात में जितनी सावधानी बरतनी पड़ती है, अँधेरे में उतनी नहीं। सम्भवतः यही सुविधा अँधेरे के प्रति आकर्षण का कारण हो सकती है। अन्यथा प्रकाश को छोड़ अँधेरे को कौन पसन्द करेगा?" वातावरण में चारों ओर स्मित भाव छलक उठा। पीछे बैठे हुए भाई किसी के अनुरोध के बिना स्वयं ही उठ-उठकर आगे आ गए।

जो आज्ञा

प्रवचन चल रहा था। एक छोटा बालक घूमता-फिरता उधर आया और आचार्यश्री के पैरों की तरफ हाथ बढ़ाते हुए बोला—'पैर दो !' आचार्यश्री अपने प्रवाह में बोल रहे थे। जनता विमुग्ध भाव से सुन रही थी। बालक को इसकी कोई परवाह नहीं थी। आचार्यश्री का प्रवाह रुका। लोगों की दृष्टि बालक की ओर गयी, आचार्यश्री ने अपने पैर को उसकी ओर आगे बढ़ाते हुए हँसकर कहा—'जो आज्ञा !' बालक अपनी मस्ती मे चरण-स्पर्श कर चलता बना।

अच्छाई-बुराई की समझ

अलीगढ़ के एक वृद्ध एडवोकेट निधीशजी आचार्यश्री के सम्पर्क में आये। बातचीत के प्रसंग में उन्होंने कहा—मैं यदि बुराई भी करता हूँ तो उसे अच्छी समझ कर ही करता हूँ।

आचार्यश्री ने छूटते ही कहा—और जब अच्छाई करते हैं तो शायद बुरी समझ कर करते होंगे !

प्रामाणिकता

आचार्यश्री अपने कार्य में परिपूर्ण प्रामाणिकता का ध्यान रखते हैं। अपनी तथा अपने साधुओं की कार्य-वृत्ति से किसी को दुविधा न हो तथा किसी की वस्तु का दुरुपयोग न हो, इसमें भी वे पूर्णतः जागरूक रहते हैं। किसी पूर्वाग्रह तथा न्यूनता लगने के भय से भी वे अपनी प्रामाणिकता को आँच आने देना नहीं चाहते।

हीनता की बात

एक विद्वान् ने आचार्यश्री से कहा—आचार्यजी ! भविष्य में इतिहास का विद्यार्थी जब यह पढ़ेगा कि भारत में छोटी-छोटी बुराइयों को मिटाने के लिए व्रत बनाने पड़े और आन्दोलन चलाना पड़ा, तो क्या यह बात भारत की हीनता प्रकट करने वाली नहीं होगी ?

आचार्यश्री—हो सकती है; किन्तु वस्तुस्थिति को छिपाना भी तो अच्छा नहीं है। भारत शताब्दियों तक परतन्त्र रहा, यह घटना भी तो हीनता की द्योतक है; पर क्या इस वस्तु-स्थिति को बदला जा सकता है ? इतिहास में उत्कर्ष और अपकर्ष आते ही रहते हैं; उनके कारण से हमें वस्तु-स्थिति छिपाने का प्रयास कर, अप्रामाणिक नहीं बनना चाहिए।

श्रद्धा का सदुपयोग करें !

आचार्यश्री आहार कर रहे थे। उसी कमरे में एक पेटी पर पानी से भरा पात्र रखा था। आचार्यश्री ने देखा तो पूछने लगे—यहाँ पानी किसने रखा है ? यदि थोड़ा-सा भी पानी नीचे गिरा तो वह पेटी के अन्दर चला जायेगा। इसके अन्दर कपड़े भी हो सकते हैं तथा आवश्यक कागज़-पत्र भी। हमारी असावधानी से वे खराब हों, यह लज्जा की बात है। लोग हमें जिस श्रद्धा से स्थान देते हैं, हमें उनकी वस्तुओं का उतनी ही प्रामाणिकता से ध्यान रखना चाहिए। उन्होंने उस पानी को तत्काल उठा लेने का निर्देश किया।

पाँच मिनट पहले

उत्तरप्रदेश की यात्रा के पहले दिन में सायं आचार्यश्री अछनेरा पधारे। इण्टर कालेज में ठहरना हुआ। परीक्षाएं चल रही थीं, अतः प्रिंसिपल ने प्रार्थना की—रात को तो आप आनन्द से यहाँ ठहरिये, परन्तु प्रातः यदि सूर्योदय से पाँच मिनट पहले ही खाली कर सकें तो ठीक रहेगा, अन्यथा परीक्षार्थी लड़कों के लिए थोड़ी दिक़्क़त रहेगी।

आचार्यश्री ने उस बात को स्वीकार कर लिया और दूसरे दिन प्रातः वैसा ही किया। सूर्योदय से पाँच मिनट

पूर्व ही सब सन्त सड़क पर आ गए और सूर्योदय होने पर वहाँ से विहार कर दिया। इस प्रामाणिकता पर कालेज के अधिकारी गद्‌गद हो गए।

वक्तृत्व

आचार्यश्री की अन्य अनेक प्रबल शक्तियों में से एक है उनकी वक्तृत्व-शक्ति। किस व्यक्ति को कौन-सी बात किस प्रकार से कही जानी चाहिए, यह वे बहुत अच्छी तरह से जानते हैं। विद्वानों की सभा में जहाँ वे अपनी प्रखर विद्वत्ता की छाप छोड़ते हैं, वहाँ ग्रामीणों पर उनके उपयुक्त सहज और सुबोध बातों की। आपके उपदेशों से सहस्रों जन मद्य, मांस, भाँग, तम्बाकू तथा अपमिश्रण आदि अनैतिकताओं से विमुक्त हुए हैं। अनेक बार ग्रामों में ऐसे दृश्य भी उपस्थित होते रहते हैं जब कि वर्षों तक मद्य तथा तम्बाकू पीने वाले व्यक्ति आचार्यश्री के सामने अपनी चिलमें फोड़ देते हैं तथा अपने पास की बीड़ियों का चूरा करके फेंक देते हैं।

वाणी का प्रभाव

डा० राजेन्द्रप्रसाद जब २१ अक्तूबर '४६ में आचार्यश्री से मिले थे, तब उनकी वाणी से इतने प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अपने एक पत्र में उसका उल्लेख करते हुए लिखा है :

"उस दिन आपके दर्शन पाकर बहुत अनुगृहीत हुआ। इस देश में ऐसी परम्परा चली आई है कि धर्मोपदेशक धर्म का ज्ञान और आचरण जनता को बहुत करके मौखिक ही दिया करते हैं। जो विद्याध्ययन कर सकते हैं, वे तो ग्रन्थों का सहारा ले सकते हैं; पर कोटि-कोटि साधारण जनता उस मौखिक प्रचार से लाभ उठाकर धर्म-कर्म सीखती है। इसलिए जिस सहज-सुलभ रीति से आप गूढ़ तत्त्वों का प्रचार करते हैं, उन्हें सुनकर मैं बहुत प्रभावित हुआ और आशा करता हूँ कि इस तरह का शुभ अवसर मुझे फिर मिलेगा।"

उनकी आत्मा बोल रही है

आचार्यश्री साधारण जीवनोपयोगी बातों पर ही प्रभावशाली ढंग से बोलते हों, सो बात नहीं। वे जिस विषय पर भी बोलते हैं, उसी में इतनी सजीवता ला देते हैं कि उन विषयों से विशेष सम्बद्ध न होने वाले व्यक्ति भी प्रभावित होते देखे जाते हैं। सं० २००८ दिल्ली में भिक्षु-चरमोत्सव के अवसर पर अजमेर के भूतपूर्व मुख्य मंत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय उसमें सम्मिलित हुए। आचार्यश्री ने स्वामी भीखणजी के विषय में जो भाषण दिया, उससे वे इतने प्रभावित हुए कि अपने स्थान पर जाकर उन्होंने एक पत्र[1] भेजा। आचार्यश्री की वक्तृत्व-शक्ति पर प्रकाश डालने वाला वह पत्र इस प्रकार है :

महामान्य श्री आचार्यजी,

सादर प्रणाम ! इधर तीन दिनों से आपके दर्शन और सत्संग का जो अवसर मिला, वह मुझे सदैव याद रहेगा। मुझे बड़ा खेद है कि आज कुछ मित्रों के अनुरोध करने पर भी मैं वहाँ कुछ बोल न सका। इधर मेरी प्रवृत्ति बोलने की कम होती जा रही है, लिखने की भी। ऐसा लगने लगा है कि मनुष्य को अपने जीवन से ही लोगों को अधिक देना चाहिए, जिससे हमें अपने जीवन को माँजते रहने का अवसर मिले।

पूज्य स्वामी भिक्षुजी के चरित्र और आपका आज का तद्‌विषयक व्याख्यान मुझे बहुत प्रभावकारी मालूम हुआ। ऐसा लगा, मानो उनकी आत्मा आप में बोल रही है। आप अपने क्षेत्र के 'युगपुरुष' हैं। जैन-धर्म को मैं मानव-धर्म मानता हूँ; उसके आप प्रतीक बनेंगे, ऐसा विश्वास है। मैं दिल्ली फिर आऊँगा, तब अवश्य मिलूँगा। आप अपने इस जीवन-कार्य में मुझे अपना सहयोगी समझ सकते हैं। इति।

विनीत
हरिभाऊ उपाध्याय

---

१ विशेष विवरण

विविध

आचार्यश्री का जीवन विविधता के ताने-बाने से बना है। उसकी महत्ता घटनाओं में बिखरी पड़ी है। घटनाएं भी इतनी कि समेटे नहीं सिमटतीं। आदि से ही विविधता उनके जीवन का प्रमुख सूत्र बनकर रही है, इसीलिए उनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के संकलन में भी अपनी अभिव्यक्ति हुई है।

मैं अवस्था में छोटा हूँ

मध्याह्न में एक किसान आया और आचार्यश्री के पास बैठ गया। आचार्यश्री ने उससे बातचीत की तो उसने बतलाया—मैं खेत पर काम कर रहा था तब सुना कि गाँव में एक बड़े महात्मा आये हैं। मैंने सोचा—चलूँ, कुछ सेवा-बन्दगी कर आऊँ। किसान ने आचार्यश्री की ओर हाथ बढ़ाते हुए कहा—लाइये, थोड़ा-सा चरण दबा दूं।

आचार्यश्री ने अपनी पलथी को अधिक समेटते हुए कहा—नहीं भाई; हम किसी से शारीरिक सेवा नहीं लेते।

किसान ने कहा—आप क्यों नहीं दबवाते! मैंने तो अनेक सन्तों के पैर दबाये हैं।

आचार्यश्री ने कहा—यह हमारा नियम है। दूसरी बात यह भी है कि मेरी अवस्था तुम्हारे से छोटी है। मैं तुम्हारे से पैर कैसे दबवा सकता हूँ! पैर मेरे दुःखते भी नहीं। युवा हूँ, तब पैर दबवाऊँ ही क्यों ?

भेंट क्या चढ़ाओगे ?

आचार्यश्री एक छोटे-से गाँव में ठहरे। ग्रामीण उनको चारों ओर से घेर कर खड़े हो गए। आचार्यश्री ने विनोद में उनसे कहा—खड़े तो हो; भेंट में क्या-क्या चढ़ाओगे ?

बेचारे किसान सकुचाये और कहने लगे—महाराज! भेंट के लिए तो हम कुछ नहीं लाये।

आचार्यश्री—तो क्या तुम लोग नहीं जानते कि दर्शन करने के बाद कुछ चढ़ाना भी आवश्यक होता है?

किसानों ने बड़े संकोच के साथ कहा—हम तो सब ग़रीब हैं; आपके योग्य भेंट ला भी क्या सकते हैं!

आचार्यश्री ने उन्हें और भी विस्मय में डालते हुए कहा—तुम सबके पास चढ़ावे के उपयुक्त सामग्री है तो सही; परन्तु उसे चढ़ाने का साहस करना होगा।

वे लोग विस्मत हो एक-दूसरे की ओर ताकने लगे। आचार्यश्री ने उनकी दुविधा को ताड़ते हुए कहा—डरो मत; मैं तुम्हारे से रुपया-पैसा माँगने वाला नहीं हूँ। मुझे तो तुम्हारी बुराइयों की भेंट चाहिए। तम्बाकू, मद्यपान, चोरी आदि की, जिसमें जो बुराई हो, वह मुझे भेंट चढ़ा दो।

यह सुनकर उनमें प्रसन्नता की लहर दौड़ गई। उन लोगों ने सचमुच ही आचार्यश्री के चरणों में काफी सारी भेंट चढ़ायी।

फ़ीस भी लेता हूँ और पद भी देता हूँ

एक भाई ने आचार्यश्री से कहा—ऐसे तो मेरी सन्तों में कोई विशेष श्रद्धा नहीं रहती; किन्तु इस बार कुछ ऐसी भावना जगी कि प्रतिदिन तीनों समय आता रहा हूँ। मुझे आपके संघ की दो बातों ने विशेष आकृष्ट किया है: एक तो सदस्यता की कोई फीस नहीं है; दूसरे, पदों का झगड़ा नहीं है।

आचार्यश्री ने उनकी आशा के विपरीत कहा—तुमने सम्भवतः गहराई से ध्यान नहीं दिया। यहाँ तो फ़ीस भी लगती है और पद भी दिया जाता है।

वह भाई कुछ असमंजस में पड़ा और पूछने लगा—कहाँ? मेरे देखने में तो कोई ऐसी बात नहीं आयी।

आचार्यश्री—अब तक नहीं आयी होगी; पर लो, अब लाये देता हूँ कि हम अपने सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति से संयम की फ़ीस लेना चाहते हैं और अणुव्रती का पद देना चाहते हैं। क्यों, है न स्वीकार ?

और तब उस भाई को न फ़ीस की शिकायत हुई, न पद की। उसने सहर्ष फ़ीस भी दी और पद भी लिया।

आपका चरणामृत मिले तो…

एक व्यक्ति अपने भानजे को साथ लेकर आया। वह अपने साथ गरम जल का पात्र तथा चाँदी की कटोरी भी लाया था। आचार्यश्री को वन्दन कर वह बोला—महाराज! यह मेरा भानजा है। इसका दिमाग़ कुछ अस्वस्थ है। कुछ समय पूर्व एक मुनि आये थे। मैंने उनका अंगुष्ठ धोकर इसे चरणामृत पिलाया था। तब से यह कुछ-कुछ स्वस्थ हुआ है, परन्तु रोग पूर्ण रूप से गया नहीं। मैंने सोचा, इस बार यदि आपका चरणामृत पिला दूं तो यह अवश्य ही पूर्ण स्वस्थ हो जायेगा।

आचार्यश्री ने कहा—मैं अपना अंगुष्ठ नहीं धुलवाऊँगा। अंगुष्ठ-धोये पानी से रोग में कुछ लाभ होता है, इसका मुझे तनिक भी विश्वास नहीं। मैं इसे एक अन्ध-विश्वास मानता हूँ। आप इसे चरणस्पर्श करा सकते हैं, उसमें मुझे कोई आपत्ति नहीं। उससे अधिक कुछ नहीं।

उस भाई ने अपने भानजे का आचार्यश्री का चरणस्पर्श कराया और बड़ी प्रसन्नता से अपने घर लौट गया।

छोटे का बड़ा काम

आचार्यश्री की सेवा में आये हुए एक परिवार की मोटर के पीछे बँधी हुई कपड़ों की गठरी मार्ग में गिर गई; उसमें लगभग पाँच सौ रुपये का कपड़ा था। पीछे से एक ताँगे वाले ने उसे गिरते देखा तो मोटर के नम्बर ले लिये। गठरी लेकर खोजता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ आचार्यश्री की सेवा में आये हुए अनेक परिवार ठहरे हुए थे। उसने वहाँ लोगों को बतलाया कि अमुक नम्बर की मोटर वाले की यह गठरी है। पूछताछ के बाद पता चलते ही गठरी यथास्थान पहुँचा दी गई।

कोई भाई उसे आचार्यश्री के पास ले आया। आचार्यश्री ने सारी घटना सुनकर परिचय के रूप में उससे उसका नाम पूछा—उसने अपना नाम 'छोटा' बतलाया। इस पर आचार्यश्री ने सत्यनिष्ठा के प्रति उसका उत्साह बढ़ाते हुए कहा—छोटे ने बड़ा काम किया है। जनता की ओर उन्मुख होते हुए उन्होंने कहा—इस घटना से पता चलता है कि भारतीय मानस की पवित्रता मरी नहीं है।

उपसंहार

आचार्यश्री विश्व की एक विभूति हैं। उनका जीवन व्यक्तिगत से बढ़कर समष्टिगत है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व से समष्टि को प्रभावित किया है। जो केवल अपने में ही समाकर रह जाता है, वह विद्वान् तो हो सकता है, पर महान् नहीं। महत्ता को इयत्ता के किसी भी वलय मे घेरा नहीं जा सकता। उन्मुक्त परिव्याप्ति ही उसकी सार्थकता है। यद्यपि महत्ता के मार्ग में इयत्ताएं आती हैं, परन्तु उनका घेरा हर बार टूटता है। कौन कितना महान् है—यह परिमाण इयत्ताओं की ही अपेक्षा से होता है। निरपेक्ष महत्ता सदा अतुलनीय ही रही है। संसार के हर महापुरुष की गति उसी निरपेक्ष महत्ता की ओर रही है। इसीलिए हर इयत्ता के साथ उनका सदैव संघर्ष चालू रहा है।

आचार्यश्री ने इयत्ताओं के अनेक वलय तोड़े हैं। वर्तमान इयत्ता से भी उनका संघर्ष चालू है। आज नहीं तो कल—यह वलय अवश्य ही टूटने वाला है। चरमरा तो वह अभी से रहा है। भविष्य के गर्भ में न जाने कितने वलय और हैं तथा उनके साथ होने वाला भावी संघर्ष समय की कितनी अवधि घेरेगा, कहा नहीं जा सकता। आज उसकी आवश्यकता भी नहीं है, वह 'कल' की बात है। 'कल' ही उसे अधिक स्पष्टता से बतलायेगा। यहाँ केवल आचार्यश्री के वर्तमान का दिग्-दर्शन कराया गया है। वर्तमान की जड़ भूतकाल की भूमि में गहराई तक धँसी रहती है। कोरा वर्तमान-टिक नहीं पाता, इसीलिए उससे सम्बन्धित भूतकाल की भूमिका पर ही उसे देखा जा सकता है। आचार्यश्री का वर्तमान काल अवस्था की दृष्टि से सैंतालीस और आचार्यत्व की दृष्टि से पच्चीस वर्ष-प्रमाण भूतकाल को अवगाहित किये खड़ा है। इसी परिप्रेक्ष्य में यहाँ उसका अंकन किया गया है।

लगभग तीस वर्ष के प्रत्यक्ष सम्पर्क में मैंने आचार्यश्री के जीवन में जो विविधताएं देखी हैं, उन्हें इस जीवनी में यथास्थान दिखाने का प्रयास किया है। यदि उन विशेषताओं को किसी एक ही शब्द में अभिव्यक्ति देने के लिए मुझे कहा जाये तो मैं उसे 'जीवन का स्याद्वाद' कहना चाहूँगा। आचार्यश्री के इस स्याद्वादी जीवन का प्रत्यक्ष दर्शन उनके साथ रहने वाला हर कोई कर सकता है। जैन-दर्शन का प्राण स्याद्वाद जिस प्रकार परस्पर विरुद्ध दिखायी देने वाले धर्मों में भी अविरोध पा लेता है, उसी प्रकार आचार्यश्री भी हर परिस्थिति में से समन्वय के सूत्र को पकड़ने के अभ्यासी रहे हैं। उनकी इस प्रवृत्ति ने अनेक व्यक्तियों को अतिशयता से प्रभावित किया है। सुप्रसिद्ध साहित्यकार श्री जैनेन्द्रकुमारजी के निम्नोक्त उद्‌गार इसी बात के साक्षी हैं। वे कहते हैं—"······मैंने बहुत नज़दीक से अध्ययन करके पाया है कि आचार्यश्री में बहुत-से अपूर्व गुण हैं। वे विरोधी-से-विरोधी वातावरण में भी क्षुब्ध नहीं होते और न विरोध का प्रतिकार विरोध से ही करते हैं। वे अपनी आत्म-श्रद्धा से विरोध-शमन का कोई-न-कोई रास्ता निकाल ही लेते हैं।"[1]

आचार्यश्री के जीवन-व्यवहार तथा प्ररूपण में कुछ ऐसी सहज व्यावहारिकता आ गई है कि उससे प्रभावित हुए बिना रह सकना कठिन है। कोई अध्यात्म में विश्वास करे या न करे, परन्तु आचार्यश्री जिस पद्धति से आध्यात्मिकता को जीवन-व्यवहार में उतारने की प्रेरणा देते हैं, उससे कोई इन्कार नहीं कर सकता। सुप्रसिद्ध उपन्यासकार कामरेड यशपाल का अनुभव इस बात को अधिक स्पष्ट करने वाला होगा। वे कहते हैं—"मैं साधु-सन्तों और अध्यात्म से दूर रहता हूं। इसमें भी एक कारण है—मैंने देखा है वे समाज से दूर हैं। जो हमसे दूर हैं, हम भी उनसे दूर हैं। आचार्यश्री जैसे जो सन्त-महात्मा समाज के नज़दीक हैं, मैं उनसे उतना ही नजदीक हूँ। हम संसारी हैं, संसार में रहते हैं, संसार से हमें काम है। साधना चमत्कार के लिए नहीं, कार्यों के लिए है। जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ और आचार्यश्री के निकट आया हूँ, उसका श्रेय अणुव्रत-आन्दोलन को है। अणुव्रत मेरी दृष्टि में व्यक्ति को परोक्षवादी नहीं, प्रत्यक्षवादी बनाता है। वह स्वार्थमुखी नहीं, व्यक्ति को समाजमुखी बनाता है।"[2]

वे जीवन को जड़ देखना नहीं चाहते। जीवन में परिष्कार और संस्कार को वे नितान्त आवश्यक मानते हैं। उनकी यही भावना कार्य-रूप में परिणत होकर संस्कृति का उन्नयन करने वाली बन गई है। भारतीय संस्कृति के अन्यान्य प्रहरियों के समान आचार्यश्री भी उसको पल्लवित, पुष्पित व फलित करने में दत्तावधान रहे हैं। उनकी इसी कार्य-पद्धति से प्रभावित होकर सुप्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' ने अपनी कविता-पुस्तक 'क्वासि' की भूमिका में आचार्यश्री को संस्कृति का उन्नयनकर्त्ता या परिष्कर्त्ता ही नहीं, अपितु अभेदोपचार से स्वयं संस्कृति ही कहा है। वे लिखते हैं—"तब संस्कृति क्या है? मेरी मति के अनुसार संस्कृति गांधी है, संस्कृति विनोबा है, संस्कृति कबीर, तुलसी, सूर, ज्ञानदेव, समर्थ तुकाराम है, संस्कृति अणुव्रत-प्रचारक जैन मुनि आचार्य तुलसी हैं। संस्कृति रमण महर्षि हैं। आप हँसेंगे; पर हँसने की बात नहीं है। संस्कृति है आत्म-विजय, संस्कृति है रागवशीकरण, संस्कृति है भाव-उदात्तीकरण। जो साहित्य मानव को इस ओर ले जाये, वही सत्साहित्य है।"[3]

इस प्रकार मैंने देखा है कि आचार्यश्री के स्याद्वादी जीवन ने विविध व्यक्तियों तथा विविध विचारधाराओं को अपनी ओर आकृष्ट किया है। वे उनकी पारस्परिक असमानताओं में भी समानता के आधार बने हैं। उन्होंने जन-जन को विश्वास दिया है, अतः वे उनसे विश्वास पाने के भी अधिकारी बने हैं। वस्तुतः जो जितने व्यक्तियों को विश्वास दे सकता है, वह उतने ही व्यक्तियों का विश्वास पा भी लेता है। उन्होंने निश्चित ही वह विश्वास पाया है। यह जीवनी उसी विश्वास का एक संक्षिप्त परिचय है।

---

१ नवभारत टाइम्स, ३१ अक्तूबर '५४

२ जैन भारती वर्ष ६, अंक ४१

३ 'क्वासि' की भूमिका, पृष्ठ २५

नैतिकता का आधार

मुनिश्री नथमलजी

मनुष्य और मानस दोनों भिन्न, साथ ही अभिन्न भी हैं। मनुष्य इसीलिए महिमाशाली है कि उसका मानस विकासशील है। उसमें चिन्तन है, तर्कणा है, ऊहापोह और गवेषणा है। मन ने जो उपलब्ध किया है, उसमें अनुपलब्ध अनन्त है; फिर भी उसका रहस्योद्घाटन मन ने बड़ी पटुता से किया है। वह केवल पौद्गलिक जगत् की शल्य-चिकित्सा में ही कुशल नहीं है; आन्तरिक मर्मोद्घाटन भी उसने बहुत प्रभावक पद्धति से किये हैं। अध्यात्म उन्हीं में से एक है। नैतिकता उसी का प्रतिबिम्ब है।

हमें जो ज्ञात है, वह सत् है। जो सत् है, वह अनादि-अनन्त है। जो है, वह था भी और होगा भी। जो नहीं था, वह होगा भी नहीं और है भी नहीं। इस तर्क-दृष्टि से हम किसी भी सत् को शाश्वत मान लेते हैं। पर जो है, वह इसी रूप में था और इसी रूप में होगा, यह आवश्यक नहीं। इस रूप-परिवर्तन की दृष्टि से हम किसी भी सत् को सादि-सान्त मान लेते हैं। निष्कर्ष की भाषा में इतना होता है कि सत् शाश्वत है, रूप अशाश्वत। शाश्वत सत् अभिव्यक्त नहीं होता। शाश्वत और अशाश्वत दोनों अविभक्त होते हैं, तब सत् व्यक्त होता है। इसी दार्शनिक भित्ति पर हम अध्यात्म और नैतिकता का विमर्श करना चाहते हैं। अध्यात्म सत् है और शाश्वत है; नैतिकता उसका रूप है और अशाश्वत है। अध्यात्म स्वयंभू है; नैतिकता परस्पराश्रित है। कैम्ब्रिज प्लेटोनिस्ट का नेता कडवर्थ नैतिकता के अस्तित्व को वस्तुगत मानता था। उसके अभिमत में नैतिक विभक्तियाँ पदार्थ के आन्तरिक गुणों की सूचक हैं। इस मान्यता में कुछ तथ्य भी है और कुछ चिन्त्य भी। चिन्त्य इसलिए कि कुछ नैतिक विभक्तियाँ मान्यता-निर्भर भी होती हैं। अध्यात्म से प्रतिफलित नैतिकता निश्चित ही सहज होती है। पर नैतिकता का विचार, जो बौद्धिक होता है, वह असहज भी होता है। बुद्धिवाद के क्षेत्र में निर्णायक ज्ञान प्रमाण होता है; किन्तु अन्तर्-जगत् में सम्यग्-ज्ञान प्रमाण होता है। निर्णायक शक्ति ज्ञान में होती है, पर सम्यग्-शक्ति नहीं भी होती। प्रभावित दशा में जितना निर्णय होता है, वह सम्यक् ही नहीं होता; अप्रभावित दशा में जो ज्ञान होता है, वह सम्यक् ही होता है। हमारा अन्तर-जगत मोहाणुओं से प्रभावित है। इसलिए नैतिकता का मूल स्रोत, यद्यपि वह एक है, विभक्त हो जाता है। एक व्यक्ति का निर्णय दूसरे व्यक्ति के निर्णय से भिन्न हो जाता है। इसी प्रकार विभिन्न देश और काल के निर्णय भी भिन्न होते हैं। इस विभाजन का हेतु नैतिकता का मूल स्रोत नहीं, किन्तु निर्णायक बुद्धि का तारतम्य है। अज्ञान, ज्ञान, मोह और निर्मोह—ये चार रेखाएं हैं। ज्ञान का आवरण ही अज्ञान होता है। वह टूटता है, ज्ञान व्यक्त हो जाता है। वीतराग या समभाव का बाधक परमाणु-वलय ही मोह होता है। वह विलीन होता है, चैतन्य में वीतरागता व्यक्त हो जाती है। मनुष्य का चेतन सहज में ज्ञानी है और वीतराग है। जहाँ ज्ञान भी है और वीतरागता भी है, वहाँ अनैतिकता होती ही नहीं। मनुष्य में अनैतिकता होती है, इसका अर्थ यह है कि उसका ज्ञान आवृत है और दृष्टि मूढ़ है। नैतिकता अध्यात्म का सहज प्रतिबिम्ब है और अनैतिकता उसका अस्वाभाविक रूप है। जो सहज है, वह असहज लग रहा है, शिक्षण-सापेक्ष हो रहा है; और जो असहज है वह सहज लग रहा है; यही है सम्यग्-ज्ञान का अभाव।

अध्यात्म एक सचाई है; पर जब तक हमारा शरीर आत्मा से प्रधान है, तब तक व्यवहार प्रमुख होता है और सचाई गौण। और इसी परिस्थिति में हमारे सामने नैतिकता का प्रश्न ज्वलन्त होता है। मनुष्य में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों के बीज संचित रहते हैं। वे सामग्री का योग पाये बिना अंकुरित नहीं होते। अध्यात्म-दर्शन यही तो

है कि मनुष्य अन्तर्-दर्शन ले, तो वह उस तत्त्व को पा सकता है,जिसकी उसे कल्पना तक नहीं है। आनन्द और सुख, गुरुत्व और प्रतिष्ठा, तृप्ति और परितोष, जो भी प्राप्य है, वह सब अपने अन्तर् में है। किन्तु वह सब अन्तर् में है, यह दृष्टि की स्पष्टता ही सर्वाधिक निगूढ़ है। इसीलिए मनुष्य का विश्वास नैतिकता की अपेक्षा अनैतिकता में अधिक है। अध्यात्म की आस्था पुष्ट हुए बिना नैतिकता साधार नहीं होती। पौद्गलिक आकर्षण से दूर रहने की वृत्ति अध्यात्म है और पारस्परिक सम्बन्धों में पवित्र रहने की वृत्ति नैतिकता। पौद्गलिक आकर्षण का संयम किये बिना कोई भी व्यक्ति पारस्परिक व्यवहारों को पवित्र रख नहीं सकता। संकोच, भय, लज्जा और कानून—ये सब अनैतिकता के प्रतिषेध हैं; और इन सबका प्रतिषेध है—परोक्ष। उसका प्रतिषेध केवल अध्यात्म ही हो सकता है। मैं अध्यात्म को इसलिए जीवन का सर्वोच्च प्रहरी मानता हूँ कि वह सब प्रतिषेधों का प्रतिषेध है। उसमें से जो विधि फलित होती है, वही हमारे जीवन का विशुद्ध नैतिक पक्ष होता है। भौगोलिक और जातीय विभक्तियाँ भी नैतिकता के अंकुरण में निमित्त बनती हैं, पर वे असीम और स्थायी नहीं होतीं। परिस्थित-जनित सारी फल-परिणतियाँ स्वयं में निर्मूल्य होती हैं। मूल्य वहीं स्थिर होता है, जहाँ स्वरूप व्यक्ति पाता है। मान्यता-निर्भर नैतिकता भी अपने-आप में निर्मूल्य है। साम्राज्यवाद भी नैतिक आचरण माना जाता था। शक्ति की भाँति उसका प्रयोग भी सम्मत था। किन्तु परीक्षा करने पर उसकी नैतिकता निर्ममता से नष्ट हो जाती है। सचाई यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने-आप में पूर्ण है। पूर्ण अर्थात् स्वतन्त्र है। स्वतन्त्र और पूर्ण में कोई अर्थ-भेद नहीं है। अपूर्ण होकर कोई स्वतन्त्र नहीं हो सकता और स्वतन्त्र होकर कोई अपूर्ण नहीं होता। उन व्यक्तियों को पराधीन करने का जो यन्त्र है, वह मूल में अनैतिक है। अर्थात् सत्ता और उसे केन्द्र मानकर चलने वाली राज्य-संस्थाएं विशुद्ध अर्थ में नैतिक नहीं हो सकते। अपहारकता में नैतिकता नहीं समाती। सत्ता-केन्द्रित शासन सदा अपहारी होते हैं, इसलिए वे नैतिक नहीं होते। किन्तु हमने मान लिया कि अकेले में काम नहीं चलता, इसलिए व्यक्ति को समाज बाँध कर चलना होगा। नियन्त्रण के बिना बहुत लोग एक साथ नहीं रह सकते, इसलिए राज्य को मान कर चलना होगा। जहाँ पूर्णता समाप्त हुई, वहाँ मान्यता का उद्भव हुआ। फिर हमारी सारी व्याख्याएं भी उस पर निर्भर हो गई। नैतिकता के शुद्ध रूप में व्यक्ति ही है। वह अध्यात्म है, स्वतन्त्र है; इसीलिए उसके चरित्र में कोई विकार नहीं होता। समाज में मान्यतापरक नैतिकता का उदय होता है, इसीलिए वहाँ अपूर्णता है, पारतन्त्र्य है और चरित्र-विकार है। पहले परिस्पर्श में कोई भी व्यक्ति अकेला नहीं होता—पूर्ण आध्यात्मिक नहीं हो सकता। इसलिए वह अध्यात्म-परिशोधित नैतिकता को स्वीकार करता है। दूसरे; व्यक्ति समाज, जाति, राज्य या राष्ट्र के लिए नहीं, अपितु अपने हित के लिए वह नैतिक बनता है। नैतिकता जब स्वहित के साथ जुड़ती है, तभी वह प्रत्यक्ष बन पाती है। फिर व्यक्ति के लिए नैतिकता का अर्थ स्वहित और स्वहित का अर्थ नैतिकता हो जाता है। दोनों अभिन्न बन जाते हैं। यही अध्यात्म का पहला परिस्पर्श है।

नैतिकता जब मुझसे भिन्न वस्तु है, तो वह मुझसे परोक्ष होगी। परोक्ष के प्रति मेरा उतना लगाव नहीं होगा, जितने की उसे अपेक्षा होती है। वह मुझसे अभिन्न होकर ही मेरे 'स्व' में घुल सकती है। सात्म्य हुए बिना कोई औषध भी परिणामजनक नहीं होता। तब नैतिकता की परिणति कैसे होगी? इस भाषा में जब सोचता हूँ तो लगता है नैतिकता उपदेश्य नहीं है, वह स्वयं-प्रसूत है। अध्यात्म की दृष्टि स्पष्ट होते ही वह व्यक्त हो जाती है। जैन-दर्शन का सर्वोपरि आधार आत्मवाद है। इसीलिए उसकी रेखा का पहला बिन्दु संयम, चरित्र या नीति है। उसकी भाषा में जो अनात्म है, वह मोह है; और जो मोह है, वह अनात्म है। आत्मा की जितनी दूरी, उतना मोह; आत्मा का जितना सामीप्य, उतना निर्मोह। जितना मोह, उतनी अनैतिकता; और जितना निर्मोह, उतनी नैतिकता। तो उपदेश्य है, अध्यात्म। पूर्ण या स्वतन्त्र, प्रेरकता इसी में है। जो अकेले में, अँधेरे में और नींद में अन्याय नहीं करता, यानी जिसकी प्रवृत्ति पर दिन और रात, परिषद् और अकेलेपन तथा नींद और जागरण का प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव नहीं होता, वह आध्यात्मिक है। विवशता में जो प्रेरकता है, वह दूसरों के प्रत्यक्ष होती है और स्वयं के परोक्ष। इस स्व-परोक्षता का नाम ही अन्-आध्यात्मिकता है। इसकी परिधि में व्यक्ति पूर्ण नैतिक बन ही नहीं पाता। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—"जितना आत्म-रमण है, वह अहिंसा है; और जितना बाह्य रमण है, वह हिंसा है।" इसी सत्य की इन शब्दों में पुनरावृत्ति की जा सकती है—"जितनी आत्म-प्रत्यक्षता है, वह नैतिकता है; और जितनी आत्म-परोक्षता है, वह अनैतिकता है।" विशुद्ध नैतिकता

देश-काल से खण्डित नहीं है। एक धर्म की गौणता व दूसरे की प्रमुखता, दूसरे की गौणता व पहले की प्रमुखता—यह एक क्रम है, जिसे सापेक्षवाद या नय के नाम से अभिहित किया जाता है। यह वस्तु-सत्य है। हमारे ज्ञान का क्रम यही है। इसी समन्वय में से जो बोध उद्भूत होता है, वह अपूर्ण होने पर भी सत्य होता है। लोकतन्त्र का आधार यही दृष्टि है। पर, सापेक्षता जैसे वस्तुगत है, वैसे लोकतन्त्र वस्तुगत नहीं है; इसीलिए उसमें असमन्वय भी फलित हो जाता है। पर्याय की भाषा भी एक नहीं है। जिस समय जो उपयोगिता रहती है, वही भाषा बन जाती है। न्याय, वस्तु का अन्तस्तल है; संविधान मानवीय मस्तिष्क की उपज और परिस्थिति-जन्य परिणति। सत्ता के जगत् में संविधान में न्याय होता है; न्याय में संविधान नहीं। समाज में उपद्रवी अधिक होते हैं, तो दण्ड-नीति प्रबल हो जाती है। दण्ड नीति भी है, न्याय भी है और मान्यता-निर्भर नैतिकता भी है। और इसीलिए है कि वह संविधान-सम्मत है। सच्चाई यह नहीं है। किसी व्यक्ति को कोई दण्ड दे, यह न्याय नहीं है; व्यक्ति अपने पाप का स्वयं प्रायश्चित्त करे, न्याय यही है। हम व्यक्ति को पूर्ण और एक इकाई मानकर चलते हैं, तो हमारी सारी व्यवस्था आत्म-निर्भर हो जाती है। उसमें से जो समाज फलित होता है वही स्वस्थ और नैतिक सम्पदा से सम्पन्न होता है। अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आचार्यश्री तुलसी ने यही सन्देश दिया है। मनुष्य-जाति उनकी सदा ऋणी रहेगी।
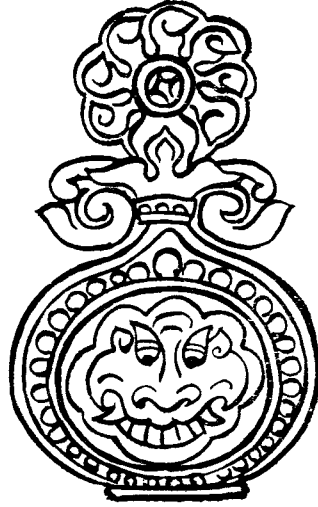
अणुव्रत-आन्दोलन और चरित्र-निर्माण

श्री सुरजित लाहिड़ी
मुख्य न्यायाधीश, कलकत्ता उच्च न्यायालय

अणुव्रत-आन्दोलन का सूत्रपात जैन श्वेताम्बर तेरापंथ के अधिशास्ता आचार्यश्री तुलसी ने किया है। यह मेरा परम सौभाग्य है कि मुझे अपने देश के एक आध्यात्मिक नेता के व्यक्तिगत सम्पर्क में आने का अवसर मिला है। तेरापंथ जनों के तीन सम्प्रदायों में से एक है। दूसरे दो सम्प्रदायों में एक मूर्तिपूजक सम्प्रदाय है और दूसरा स्थानकवासी सम्प्रदाय। तेरापंथ सम्प्रदाय लगभग दो सौ वर्ष पूर्व स्थापित हुआ था और पूज्य आचार्यश्री तुलसी इस सम्प्रदाय के वर्तमान नवें आध्यात्मिक गुरु हैं।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र

जैन दर्शन का मेरा ज्ञान अत्यन्त सीमित है फिर भी मैं अपनी कल्पना के अनुसार अणुव्रत-आन्दोलन के महत्त्व की चर्चा करने का प्रयत्न करूँगा। जैन धर्माचार्यों के अनुसार योग का आचरण करने से आत्मा मोक्ष प्राप्त कर सकती है और योग में ज्ञान (वास्तविकता का ज्ञान), श्रद्धा (आध्यात्मिक नेताओं की शिक्षाओं पर श्रद्धा) और चारित्र (समस्त बुराइयों से दूर रहना) इन तीन बातों का समावेश होता है।

चारित्र आध्यात्मिक अनुशासन के पालन का नाम है। उसके पाँच अंग हैं :

१. मन, वचन और कार्य में अहिंसा।

२. सत्य।

३. अस्तेय—चोरी न करना।

४. ब्रह्मचर्य—इन्द्रिय-भोग की वासनाओं से मुक्ति।

५. अपरिग्रह अर्थात् पार्थिव वस्तुओं में निरासक्ति।

यद्यपि चरित्र के ये पाँच अंग हैं, किन्तु उनमें अहिंसा प्रधान है और दूसरे चारों अंगों का उसी से उद्भव हुआ है।

इन पाँच सद्गुणों का दो रूपों में पालन किया जा सकता है—एक महाव्रतों के रूप में और दूसरे अणुव्रतों के रूप में। महाव्रतों के पालन के लिए अधिक कड़ा अनुशासन आवश्यक होता है और उनका साधुओं के लिए निर्देश किया जाता है, जो संसार को त्याग देते हैं और मोक्ष की साधना करते हैं। इसके विपरीत अणुव्रत में कम कड़ा अनुशासन है और वह गृहस्थों और साधारण व्यक्तियों के लिए निर्धारित किया गया है। 'अणु' विशेषण का अर्थ 'छोटा' और 'व्रत' शब्द का अर्थ 'प्रतिज्ञा' होता है। अणुव्रतों का शाब्दिक अर्थ हुआ, छोटी प्रतिज्ञाएं। चरित्र के पाँच अंगों के रूप में अणुव्रत का अर्थ होता है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का अणु से प्रारम्भ कर क्रमशः पूर्ण की ओर बढ़ना। महाव्रत के रूप में अहिंसा-पालन के लिए यह आवश्यक होगा कि किसी भी जीवित प्राणी को किसी भी प्रकार की हानि न पहुँचाने की सतत जागरूक चेष्टा की जाये; और अणुव्रत की दृष्टि से किसी भी प्राणी की हिंसा न करना ही पर्याप्त होगा। महाव्रती यदि किसी मानव प्राणी को मन, वचन और कर्म से हानि पहुँचाता है, तो वह व्रत-भंग का दोषी होगा। किन्तु अणुव्रती किसी प्राणी को मारने पर ही अहिंसा के व्रत को तोड़ने का अपराधी होगा। इसी प्रकार महाव्रत के अनुसार ब्रह्मचर्य का अर्थ जीवन-भर ब्रह्मचर्य का पालन करना और काम-वासना पर पूर्ण विजय प्राप्त करना होगा। अणुव्रत के अनुसार

ब्रह्मचर्य का अर्थ यह है कि मनुष्य परस्त्री-गमन न करे और एक पत्नी-व्रत का पालन करते हुए संयम में रहे।

नैतिक प्रकृति का रूपान्तर

अतः अणुव्रत-आन्दोलन का उद्देश्य गृहस्थों का नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान करना है और इसके लिए वह उन्हें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की एक निर्धारित सीमा तक प्रतिज्ञाएं लेने की प्रेरणा देता है। यह इस ठोस सिद्धान्त पर आधारित है कि केवल बौद्धिक प्रतिभा से कोई लाभ नहीं हो सकता, जब तक मनुष्य अपनी प्रकृति का नैतिक रूपान्तर नहीं कर लेता। महान् सन्तों ने बहुधा यह कहा है कि हम कल्पनाएं कैसी भी कर सकते हैं, किन्तु असली महत्त्व की बात यह है कि हम वास्तव में हैं कैसे। और वह धर्म धर्म नहीं, जो मनुष्य की नैतिक प्रकृति का रूपान्तर नहीं करता। अणुव्रत-आन्दोलन का उद्देश्य नैतिक उत्थान है, इसलिए वह सब के मानस को छूता है। वह असाम्प्रदायिक, अजातीय और अराजनीतिक है। कोई किसी जाति या सम्प्रदाय से सम्बन्धित हो, किसी भी धर्म को मानता हो और किसी भी राजनीतिक दल के प्रति निष्ठा रखता हो, अणुव्रती बन सकता है। उसमें हिन्दू और मुसलमान, ईसाई और बौद्ध, सिख और जैन सभी का समावेश होता है। अणुव्रत-आन्दोलन, जो मानव-प्रकृति के सर्वव्यापी तत्त्वों पर आधारित है और जिसका उद्देश्य नैतिक मूल्यों की पुनःस्थापना है, राष्ट्रीय एकता में सहायक ही हो सकता है।

सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि अणुव्रत-आन्दोलन के सूत्रधार आचार्यश्री तुलसी स्वयं एक महाव्रती हैं। वे और उनके निकटस्थ शिष्य चरित्र-नियमों का अधिक कड़ाई के साथ पालन करते हैं। वे अपने पास कोई पैसा नहीं रखते और न किसी प्रकार के वाहन का ही उपयोग करते हैं, रेलगाड़ी का भी नहीं। वे और उनके शिष्य सदा पैदल यात्रा करते हैं। इसी प्रकार आचार्य और उनके शिष्य किसी डॉक्टर-वैद्य की सहायता भी नहीं लेते। उनकी फीस नहीं दे सकते और बिना फीस दिये सहायता भी नहीं ले सकते। आचार्यश्री और उनके निकटस्थ शिष्य जिन आदर्शों का पालन करते हैं उनका हम जैसे साधारण गृहस्थों के लिए पालन करना कठिन है और इसीलिए वह साधारण व्यक्तियों से अणुव्रत की प्रतिज्ञाएं लेने का अनुरोध करते हैं।

भारत का शाश्वत आदर्श

वर्तमान नास्तिकता के युग में, जब कि धन कमाना ही मनुष्य का एकमात्र गुण समझा जाता है, इस विचार-धारा का अस्तित्व वास्तव में स्फूर्तिदायक है, जो भारत के इस शाश्वत आदर्श को प्रकट करती है कि रुपये का मूल्य ही एक-मात्र मूल्य नहीं है और रुपये के मूल्य को अन्य आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों के आधीन करना होगा। वे मूल्य पार्थिव लाभालाभ से ऊपर हैं तथा उनकी अपनी श्रेणी है।

आचार्यश्री जिस जैन-सम्प्रदाय के आचार्य हैं, वह श्वेताम्बर तेरापंथी सम्प्रदाय कहलाता है। तेरापंथ का अर्थ होता है, भगवान् के पथ का अनुसरण करने वाला समुदाय। इस सिद्धान्त से बहुत-कुछ मिलता-जुलता सिद्धान्त गीता में भगवान् कृष्ण ने इस प्रसिद्ध श्लोक में प्रतिपादित किया है :

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।।

अर्थात्, सब धर्मों का त्याग कर केवल मेरी शरण में आ, मैं तुझे सभी पापों से मुक्त रखूंगा।

अणुव्रत : विश्व-धर्म

श्री चपलाकान्त भट्टाचार्य, एम० पी०
अध्यक्ष, अ० भा० समाचारपत्र सम्पादक सम्मेलन, नई दिल्ली

सामान्यतया किसी भी धर्म में तीन तत्त्व होते हैं—एक सिद्धान्त, दूसरा कर्मकाण्ड और तीसरी उसके अनुयायियों की आचार-संहिता। यदि हम विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करें, तो हमें पता चलेगा कि उनके सिद्धान्तों और कर्म-काण्ड में परस्पर अन्तर हो सकता है, किन्तु जहाँ तक आचार-संहिता का सम्बन्ध है, सभी धर्मों के सामान्य और बुनियादी तत्त्वों में काफी समानता होती है। इसका कारण यह है कि आचार-संहिता नैतिकता के उन नियमों पर आधारित होती है, जो सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से आचरणीय होते हैं और प्रायः सभी समाज उनको स्वीकार करते हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक हैं—आचार्यश्री तुलसी। वे जैन श्वेताम्बर तेरापंथ-सम्प्रदाय के आचार्य हैं। अणुव्रत-आन्दोलन जैन धर्म द्वारा प्रतिपादित संहिता पर आधारित है। इस आचार-संहिता में मुख्यतः पाँच सिद्धान्त हैं—यथा—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनके अनुसार हिंसा न करने, असत्य न बोलने, चोरी न करने, संयम रखने और संग्रह न करने की प्रतिज्ञाएं लेनी होती हैं। आचार्यश्री तुलसी इन सिद्धान्तों का उपदेश केवल जैन धर्म के अनुयायियों को ही नहीं देते हैं, परन्तु विभिन्न धर्मानुयायियों को भी इनकी शिक्षा देते रहे हैं। वस्तुतः तो यह सिद्ध हो चुका है कि यह आन्दोलन केवल इस देश में ही नहीं, अपितु दूसरे देशों में भी समाज के सभी वर्गों के नैतिक पुनरुत्थान का आन्दोलन है।

प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा किसलिए हो सकता है और कैसे हो सकता है कि एक धर्म-विशेष के अनुयायियों की आचार-संहिता के सिद्धान्त अन्य व्यक्तियों के लिए भी मान्य और आचरणीय हों? इसका उत्तर सरल है। यह सम्भव हो सकता है और सम्भव है भी। कारण, स्वतन्त्र रूप में ये सिद्धान्त नैतिक आचरण के सिद्धान्त हैं, जिनको सारी मानव-जाति स्वीकार करती है। वस्तुतः तो ये सिद्धान्त मनुष्य की सहज नैतिक वृत्तियों का ही व्यक्त रूप है। यदि विश्व में प्रचलित वर्तमानकालीन विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो पता चलेगा कि वे सभी धर्म एक या दूसरे रूप में इन्हीं सिद्धान्तों को स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं, सब धर्मों के महान् सन्तों और मानव जाति के सुप्रसिद्ध पथ-प्रदर्शकों ने इन सिद्धान्तों को मान्य किया है, स्वयं उनका पालन किया है और दूसरों को पालन करने की शिक्षा दी है। ऐसा उन्होंने इस विशेष उद्देश्य से किया है कि इससे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन-स्तर ऊँचा हो सकता है और इस प्रकार अन्ततोगत्वा सारे समाज का भी उत्थान हो सकता है। प्रत्येक धर्म और उसके संस्थापकों और आचार्यों ने कर्म-काण्ड और परम्पराओं की अपेक्षा इन आचार-नियमों पर विशेष बल दिया है। इसलिए अणुव्रत-आन्दोलन को सब धर्मों का नवनीत कहा जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, एक प्रकार से ये सिद्धान्त विश्व-धर्म के साकार रूप हैं। मुझे आशा है कि मेरे इस कथन का उचित अर्थ ग्रहण किया जायेगा। यदि हम विभिन्न धर्म-शास्त्रों का समीक्षात्मक अध्ययन करें और उनके उपदेशों और शिक्षाओं के समान तत्त्वों को खोज निकालने का प्रयत्न करें, तो हमें वही सिद्धान्त प्राप्त होंगे जिनका अणुव्रत-आन्दोलन प्रतिपादन करता है।

यद्यपि ये सिद्धान्त हमारे धार्मिक जीवन की पूर्ति और आध्यात्मिक मुक्ति के लिए निर्धारित और प्रचारित हुए हैं, फिर भी वे हमारे दैनिक जीवन के लिए भी उपयोगी और अनुकरणीय हैं। इन सिद्धान्तों को स्वीकार करके और उन-

का पालन करके साधारण मनुष्य अधिक भला मनुष्य और अधिक अच्छा सामाजिक प्राणी बन सकेगा। उनसे जीवन के उतार-चढ़ावों में खड़ा रहने की वास्तविक शक्ति उसे प्राप्त होगी और इस शक्ति के सहारे वह जीवन की परीक्षाओं में अपने नैतिक व्यक्तित्व को क़ायम रखते हुए उत्तीर्ण हो सकेगा। इन नैतिक नियमों का पालन करने वाला व्यक्ति, इन्हें नहीं पालन करने वाले की अपेक्षा में जीवन के सामान्य और अनिवार्य उतार-चढ़ावों में अधिक अच्छा उदाहरण रख सकेगा।

प्रस्तुत लेख में मेरा प्रयत्न अणुव्रत-आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि की चर्चा करने का नहीं है, जिसके भीतर से इन सिद्धान्तों की निष्पत्ति हुई है; अपितु आन्दोलन के व्यावहारिक परिणामों और दैनन्दिन के जीवन में उसके सिद्धान्तों के आचरण का महत्त्व प्रकट करने का है, क्योंकि सामान्य जनों के सामने आन्दोलन के व्यावहारिक पहलू को प्रमाणित करने की आवश्यकता है। विशिष्ट गुणों के रूप में इन सिद्धान्तों का प्रचार करने से सर्वसाधारण उनकी ओर इतने आकर्षित नहीं होंगे, जितने कि उनको यह विश्वास कराने से होंगे कि अपनी दुर्बलताओं और मर्यादाओं के होते हुए भी वे इन नियमों का स्वीकार और पालन कर सकते हैं और ये उनके दैनिक कार्यों में उपयोगी व सहायक सिद्ध होंगे। मैं तो यह सच्चाई के साथ मानता हूँ कि अणुव्रत-आन्दोलन के सिद्धान्त हमारे नैतिक जीवन में भी वस्तुत: ही प्रभावकारी हैं।

वर्तमानयुगीन भारतीय राजनीति में गांधीवादी आन्दोलन के रूप में हुए इन सिद्धान्तों के सफल प्रयोग ने इन की प्रभावकता को प्रत्यक्षतया प्रमाणित कर दिया है। गांधीजी ने भी अपने राजनैतिक आन्दोलन को चलाने और उसमें भाग लेने वालों के आचार को संयमित करने के लिए ये ही सिद्धान्त निर्धारित किये थे। उस आन्दोलन के प्रारम्भ में शंकाशील व्यक्तियों ने सन्देह प्रकट किया था कि क्या इस प्रकार का आन्दोलन चल पायेगा और सफल होगा तथा साधारण मनुष्य, जो दुर्बलताओं का पुतला है, इन सिद्धान्तों की कसौटी पर खरा उतर सकेगा ? किन्तु बाद में यह सिद्ध हो गया कि गांधीजी का विचार सही था और शंकाशील व्यक्तियों का सन्देह निराधार था। इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के कारण गांधीजी ने अपने आन्दोलन को राजनैतिक आन्दोलन नहीं बताकर, आत्म-शुद्धि का आन्दोलन बताया था। इसी प्रकार उन्होंने यह भी कहा था कि वह राजनीति को आध्यात्मिक रूप देना चाहते हैं।

केवल मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन में ही नहीं, अपितु समष्टिगत जीवन में भी इन सिद्धान्तों के सफल प्रयोग को देखने के बाद मेरा यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि इन सिद्धान्तों का प्रचार व्यक्ति एवं समाज के लिए अत्यन्त कल्याणकारी होगा। इस आन्दोलन के द्वारा हम वर्तमान प्रशासनिक क्षेत्र की अनेक कष्ट-साध्य कठिनाइयों और समस्याओं को हल कर सकेंगे। मानव को अपनी नैतिक प्रकृति का ज्ञान कराना होगा। यदि यह सम्भव हो गया, तो निश्चय ही नैतिक स्तर पर कार्य करने वाली शक्तियाँ राजनैतिक क्षेत्र में कार्य करने वाली शक्तियों से किसी प्रकार कम प्रभावशाली नहीं रहेंगी। गांधीजी ने हमें सिखाया कि यदि नैतिकता के नियम सम्यक्तया आचार में उतारे जायें, तो उतना ही सुनिश्चित परिणाम आ सकता है, जितना कि न्यूटन के गति-नियमों के अनुसार निकाला जाता है। उन्होंने यह भी घोषित किया था कि उनका आन्दोलन सारे विश्व के लिए है। मैं गांधीजी का उल्लेख इसलिए कर रहा हूँ कि उन्होंने नैतिक सिद्धान्तों का व्यावहारिक जीवन में व्यापक प्रयोग करने का साहसिक कदम उठाया था। मेरी यह धारणा है कि गांधीजी के प्रयोग ने सारे विश्व में मनुष्य के नैतिक अन्तःकरण को जागृत किया है।

अणुव्रत-आन्दोलन के सिद्धान्त मानव के आचरण को मार्ग दिखाने वाले सिद्धान्त हैं, चाहे वह किसी भी धर्म अथवा राष्ट्र से सम्बन्धित क्यों न हो। इस रूप में अणुव्रत-आन्दोलन को विश्व-धर्म का प्रतीक माना जा सकता है। मैं आशा करता हूँ कि इस आन्दोलन को इसी व्यापक दृष्टि से चलाया जायेगा और यह समस्त मानवता का उत्थान करेगा।

नैतिकता और समाज

डा० ए० के० मजूमदार एम० ए०, पी-एच० डी०
निर्देशक, भारतीय विद्या-भवन, नई दिल्ली

क़ानून और नैतिकता

राज्य का आधार क़ानून की सत्ता पर होता है जब कि समाज नैतिक सिद्धान्तों पर अपना आधार रखता है। ये ही सिद्धान्त कभी-कभी क़ानून का रूप भी ले लेते हैं, किन्तु किसी भी जीवित समाज में ऐसे सिद्धान्तों की व्यापक संहिता का होना आवश्यक है, जिनका अधिकांश लोग बिना किसी दण्डनीय कार्रवाई के स्वेच्छा से या स्वभावतः पालन करें। उदाहरण के लिए, कोई आदमी जघन्य-से-जघन्य अपराध करने पर भी क़ानून द्वारा प्रदत्त उसका दण्ड भुगत लेने के बाद क़ानूनी तौर पर सामान्य नागरिक बन जाता है, किन्तु समाज में तो उसकी प्रतिष्ठा सदैव के लिए ही समाप्त हो जाती है।

क़ानून तब तक ही कार्यान्वित होता है, जब तक समाज की सहमति उसे प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए, बहुपत्नीत्व-विरोधी क़ानून पर आज आसानी से अमल हो रहा है, क्योंकि समूचा भारतीय समाज बहुपत्नीत्व के विरुद्ध है। हम लोग नैतिक रूप में इस बात को अनुचित समझते हैं कि एक आदमी के एक से अधिक पत्नियाँ हों। किन्तु मद्य-निषेध सम्बन्धी क़ानून उतना कार्यान्वित नहीं है; क्योंकि अल्पसंख्यक होते हुए भी एक ऐसा शक्तिशाली लोकमत है जो उसे अपराध तो क्या, अनैतिकता भी नहीं मानता।

बहुपत्नीत्व और मद्यपान, दोनों भारत में प्राचीन काल से प्रचलित रहे हैं। वर्तमान में बहुपत्नीत्व के विरुद्ध उतना प्रचार-कार्य नहीं हुआ, जितना मद्यपान या शराबखोरी के विरुद्ध किया गया है। इतना होते हुए भी मद्यनिषेध-सम्बन्धी क़ानून को समाप्त करने की माँग बराबर बढ़ रही है। बहुत-कुछ इसका ही यह परिणाम है कि मद्यनिषेध अभि-यान को पूरी सफलता नहीं मिल रही है और लुक-छिपकर शराब बनायी जाने तथा पीने की बुराई फैल रही है। मद्यपान और बहुपत्नीत्व-सम्बन्धी अभिप्राय में यह जो विरोध है, उसका वैज्ञानिक अनुसन्धान किया जाना चाहिए।

परिवर्तनशील नियमन

कभी-कभी कहा जाता है कि सामाजिक नियम एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में नहीं, तो कम-से-कम एक युग के अनन्तर दूसरे युग में अवश्य बदल जाते हैं। वास्तव में इसका अर्थ यही है कि लोगों के बात-व्यवहार बदल रहे हैं; क्योंकि सभ्य समाज का मूल आधार, जो सत्य और अहिंसा है, उसमें परिवर्तन के लिए कोई अवकाश नहीं है। प्रत्येक समाज का आधार अति प्राचीन काल से चले आ रहे इन सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित है। एक नागरिक का अधिकार वहीं समाप्त हो जाता है जहाँ कि दूसरे नागरिक का प्रारम्भ होता है। अतः जब दो नागरिक अपने-अपने अधिकारों की सीमा-विभाजक रेखा को न खोज सकें तो उन्हें उसका कोई शान्तिपूर्ण समाधान खोजना चाहिए। अगर समाज उन्हें क़ानून अपने हाथ में लेकर लड़ाई द्वारा इसका फैसला करने की छूट दे दे, तो उसका अर्थ सभ्य समाज के अस्तित्व का अन्त ही समझना चाहिए। दूरदर्शी राजनीतिज्ञ विविध राज्यों के बीच विद्यमान मतभेदों के निपटाने के लिए आज इसी सामाजिक सिद्धान्त को लागू करने का प्रयत्न कर रहे हैं।

लेकिन अहिंसा से भी महत्त्वपूर्ण सत्य है; क्योंकि सचाई के बिना किसी भी समाज का अस्तित्व सम्भव नहीं है।

सभी सामाजिक मान्यताओं का स्रोत सत्य है, जो कभी नहीं बदलता। जब किसी समाज का अधःपतन प्रारम्भ हो, तो अनुसन्धान से यह ज्ञात होगा कि उस समाज के सदस्य पूरी तरह सच्चे नहीं रहे। उदाहरण के लिए, किसी भी पतनोन्मुख समाज में दुराचार या लैंगिक सम्बन्धों की शिथिलता एक सामान्य बात है। इसका अर्थ है पति-पत्नी के बीच सचाई का अभाव; क्योंकि विवाह-बन्धन में बँधते समय ली गई प्रतिज्ञाओं के अनुसार उनका एक-दूसरे के प्रति निष्ठाशील होना आवश्यक है।

दुराचार या लैंगिक शिथिलता पतनोन्मुख समाज का एक स्पष्ट चिह्न है, किन्तु एकमात्र यही ऐसा चिह्न नहीं है, अपितु सत्य का अभाव और भी विविध रूपों में लक्षित होता है। यह अवश्य है कि भारतीय लोकमत दुराचार या लैंगिक शिथिलता की जितनी तत्परता और तीव्रता से भर्त्सना करता है, उतनी और किसी अनियमितता की नहीं; किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि ऐसी अनियमितताएं समाज के लिए कम ख़तरनाक या कम निन्दनीय हैं।

शिक्षकों का नैतिक दायित्व

उदाहरण के लिए भारत का भविष्य बहुत-कुछ शिक्षा के विस्तार पर निर्भर है और शिक्षा का आधार विद्यार्थियों तथा शिक्षकों पर है। विद्यालयों व महाविद्यालयों की जो स्थिति भारतवर्ष में आज़ादी के पहले थी उससे अब कहीं अच्छी है; लेकिन विद्यार्थियों में अनुशासनहीनता और उच्छृंखलता बढ़ रही है। जहाँ तक विद्यार्थियों का सम्बन्ध है, इसका कारण यह है कि उनमें से बहुत कम वस्तुतः विद्याध्ययन या पढ़ाई के लिए आते हैं; उनका तो प्रयोजन केवल डिग्री प्राप्त करने से होता है, जिससे उन्हें अच्छा काम-धन्धा मिल सके। परिणाम यह होता है कि पहले तो वे अधिकारियों को पढ़ाई का स्तर नीचा करने के लिए विवश करने का प्रयत्न करते हैं; फिर वे या उनमें से निश्चित ही कुछ विद्यार्थी क्रमशः बढ़ती हुई संख्या में परीक्षा पास करने के लिए अनुचित मार्गों का उपयोग करते हैं। इस तरह अपना मार्ग निश्चित कर लेने के बाद वे शिक्षा-संस्था में अध्ययन का समय व्यर्थ ही उथली बातों में तथा शिक्षा-संस्था को कारखाने का रूप देने के प्रयत्न में बिताते हैं और अपने शिक्षकों से श्रमिकों की तरह अधिकारों की माँग करते हैं।

शिक्षकों की स्थिति भी सन्तोषजनक नहीं है। शिक्षक का व्यवसाय प्रत्येक देश में तुलनात्मक रूप में दूसरे व्यवसायों से कम आय का है और यह ऐसी स्थिति आज की नहीं, बल्कि अतिप्राचीन काल से ही चली आ रही है। लेकिन कुछ समय से, खास तौर से भारत में, शिक्षकों ने न केवल यह शिकायत ही आरम्भ कर दी है कि उन्हें वेतन बहुत कम मिलता है, बल्कि कह सकते हैं कि इसी आधार पर जान-बूझकर पढ़ाने का स्तर भी घटा दिया है। इस तरह इस प्रश्न के नैतिक पहलू को भुला दिया गया है। शिक्षक के ध्यान में यह बात नहीं आती कि अमुक वेतन पर यह कर्तव्य पालन करने का दायित्व उसने स्वेच्छापूर्वक ग्रहण किया है। जो वेतन मिल रहा है,वह पर्याप्त न हो,तो वह पद-त्याग करके किसी अच्छे व्यवसाय में लग सकता है। वह अधिकारियों अथवा समाज से वेतन-वृद्धि का अनुरोध कर सकता है; किन्तु जब तक वह उस पद पर बना हुआ है, तब तक यदि वह अनैतिक और झूठा नहीं है तो वह अपनी योग्यतानुसार पूरी तरह अपना काम करने के लिए बाध्य है। शिक्षा का स्तर घटाने की बनिस्पत तो वेतन-वृद्धि के लिए हड़ताल करना अच्छा है; क्योंकि ऐसा करना कितना ही ख़तरनाक क्यों न हो, किन्तु उसमें सचाई होगी। शिक्षकों के वर्तमान आचरण का तो कोई औचित्य नहीं है। जो कुछ हो रहा है, उससे तो उच्छृंखल विद्यार्थियों तथा अयोग्य शिक्षकों की बुराई में फँसकर हमारी समूची शिक्षा-पद्धति बुरी तरह विकृत बन रही है और देश का भविष्य खतरे में पड़ रहा है।

नैतिकता बनाम धनार्जन

शिक्षक का व्यवसाय कम आय का होते हुए भी भारतवर्ष में प्राचीन काल से समाज के सर्वोत्तम व्यक्ति इसकी ओर आकर्षित होते रहे हैं। कारण यह है कि हमारे समाज में ग़रीबी के कारण नैतिक व्यक्ति की प्रतिष्ठा को कभी आँच नहीं आयी। इसके विपरीत शिक्षक के लिए, जो अधिकांशतः ब्राह्मण ही थे, ग़रीबी और कठोर जीवन उसके व्यवसाय के स्पष्ट चिह्न थे—ऐसे स्पष्ट चिह्न, जिनके कारण उनका सम्मान किया जाता था। ग़रीबी में स्वाभिमान, हिन्दू-समाज की

एक खास विशेषता है, जिसकी स्वतन्त्रता मिलने तक बराबर प्रतिष्ठा रही। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद से भारतीय धन की उपासना करने लगे हैं। उसी से सन्तोष, सुविधा, विलासिता, भोग, प्रसिद्धि और अन्ततोगत्वा सत्ता की प्राप्ति होती है। धन कमाना ही आज मुख्य लक्ष्य हो गया है, फिर उसके लिए कैसे ही उपाय क्यों न करने पड़ें। अधिकाधिक धनोपार्जन ही जब तक लक्ष्य है, तब तक करों की चोरी, रिश्वत के द्वारा सुविधाएं प्राप्त करना, माल का प्रकार घटिया करके कमाई करना या कोई भी ऐसा उपाय वर्जित नहीं है। इसी स्थिति का यह परिणाम है कि दुनिया में भारत ही अकेला ऐसा देश है, जिसमें खाद्य पदार्थों में मिलावट व्यापार का एक मान्य सिद्धान्त है। खाद्य पदार्थों में मिलावट से राष्ट्र का स्वास्थ्य नष्ट होता है, इसकी व्यापारियों को कोई चिन्ता नहीं है; उनका तो एकमात्र मतलब अपनी आय बढ़ाने से है।

यहीं सामाजिक नैतिकता की आवश्यकता है। कारण कि ऐसी भारी अनैतिकता के विरुद्ध कोई क़ानून तब तक कार्यक्षम नहीं हो सकता जब तक कि समाज स्वयं ही समझपूर्वक उन समाज-विरोधी तत्त्वों से अपनी रक्षा के लिए तैयार न हो, जो अपने लाभ के लिए समाज का गला घोंटने को तैयार हैं। ऐतिहासिक रूप में भारतीय समाज ने सभी विदेशी आक्रमणकारियों के आक्रमणों का सामना करके भी अपने अस्तित्व को सुस्थिर रखा है, लेकिन आज खतरा बाहर से नहीं, बल्कि अन्दर से है और इस चुनौती को हमें स्वीकार करना चाहिए।

भारतवर्ष सौभाग्यशाली है कि यहाँ समय-समय पर कोई युगपुरुष हमारी सुप्त चेतना को उद्बुद्ध करने के लिए समाज में आता रहा है। जब सामाजिक मान बदलने को होते हैं या उनकी धुरी हिलने लगती है, तब उनमें एक नया वर्चस्व उत्पन्न किया जाता है और उन जर्जरित तथा मृतप्राय मूल्यों में नयी प्राण-प्रतिष्ठा की जाती है। ऐसा ही अनुष्ठान वर्तमान में आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन के रूप में है। वे अनैतिकता के विरुद्ध लोक मत तैयार करते हैं। उनकी यह प्रेरणा कितनी सामयिक और हितावह है कि बुराई को बुराई समझो! बुराई को जब तक बुराई समझा जाता है, तब तक वह समाज पर छा नहीं सकती। बुराई को भलाई मान लिया जाता है, तब उसकी सर्वत्र प्रतिष्ठा हो जाती है। समाज बुराई को बुराई समझकर कभी स्वीकार नहीं करता। उसके संस्कारों में तो सर्वप्रथम वह अच्छाई की तरह आती है और तब तक अपना आसन जमाये रहती है, जब तक उसके विरुद्ध कोई ठोस क़दम नहीं उठा दिया जाता।

आचार्यश्री तुलसी चैतन्य को जागृत करना चाहते हैं। यह कार्य होने के अनन्तर समाज की बद्धमूल अनैतिकताएं चाहे वे ज्वालमुखी क्यों न हों, स्वतः ही निरसन की ओर हो जाती हैं।

नैतिकता : मानवता

डॉ० हरिशंकर शर्मा एम० ए०, डी० लिट्०

मनुष्य के मन में जब काम, क्रोध, और लोभ मोहजन्य दुर्गुणों का प्रवेश होता है, तब न वह 'मानव' कहा जा सकता है और न मानवता से उसका कुछ सम्पर्क या सम्बन्ध रहता है। 'मानवता' से नाता तोड़कर वह 'विद्वान्', 'वीर' 'धनी' और उच्च पद-प्राप्त तो कहा जा सकता है, परन्तु 'मानव' नहीं। आज मानवता का बड़ा ह्रास हो रहा है। भ्रष्टाचार, अपराध-प्रवृत्ति, दुःख, संकट, अशान्ति आदि की वृद्धि इसीलिए हो रही है कि मानव, मानव नहीं रहा। उर्दू के महाकवि 'मीर' ने अब से सौ-सवा सौ वर्ष पूर्व कहा था—"**मीर साहब, गरफरिश्ता हो तो हो; आदमी होना मगर दुश्वार है।**" एक आदमी 'फरिश्ता' तो हो सकता है, परन्तु आदमी नहीं। इसी प्रकार आज की मानवता में यह खोज करने की आवश्यकता है कि उसमें मानव-तत्त्व कितना शेष है। आज का मानव कहाँ तक 'मानव कहा जा सकता है। मानव या मनुष्य कौन है, इसकी स्थूल परिभाषा निम्नलिखित पंक्तियों में बड़ी स्पष्टता से की गई है :—

विद्याविलासमनसो धृतशीलशिक्षाः,
सत्यव्रताः रहितमानमलापहाराः।
संसारदुःखदलनेन सुभूषिता ये,
धन्या नरा विहितकर्म्मपरोपकाराः॥

इसी भाव को राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है :—

विद्या के विलास में निमग्न रहता है मन,
शिक्षा और शील का महत्त्व अपनाया है।
धारण किया है सत्यव्रत बड़ी दृढ़ता से,
मान, मद, मल जिसको न कभी आया है।
लोक-दुःख दूर करने में सुख पाता सदा,
पर-उपकारी बन संकट मिटाया है।
करके सुकर्म्म पुण्य सुयश कमाता रहा,
ऐसा धीर-वीर धन्य 'मानव' कहाया है॥

उर्दू के महाकवियों ने भी 'आदमीयत' (मानवता) की इस प्रकार परिभाषा की है :—

दर्दे-दिल पासे-वफ़ा जज्बए-ईमाँ होना,
आदमीयत है यही और यही इन्साँ होना।
यही है इबादत यही दीनो ईमाँ;
कि काम आये दुनिया में इन्साँ के इन्साँ।
काम आ ख़ल्के-खुदा के, कि खुदा के नज़दीक;
इससे बढ़कर न हुई है, न इबादत होगी।

अर्थ स्पष्ट है; संवेदनाशील हृदय, प्रतिज्ञा-पालन, सद्भावना, मनुष्य और प्राणि-मात्र (ख़ल्के-खुदा) की सेवा-सहायता ही वास्तविक मानवता है। इसी भाव को अंग्रेजी में एक प्राचीन अंग्रेज़ महाकवि ने, निम्नलिखित पंक्तियों में

बड़ी सुन्दरता से अभिव्यक्त किया है :—

The man upright of life
Whose quiltless heart is free
From all dishonest deeds
Or thoughts of vanity
The man whose silent days
In harmless joys are spent
Whom hopes cannot delude
Nor sorrows discontent
Good thoughts his only friends
His wealth a well spent age
The earth his sober inn
And quiet pilgrimage.

भाव यह है कि कुविचारों और कुकर्मों से जिसका जीवन शुद्ध हो गया है; जो किसी को किसी प्रकार का कष्ट पहुँचाने का विचार सर्वथा त्याग चुका है; जो सदा शान्त जीवन व्यतीत करता है, जिसे न तो आशाएं भ्रम में डालती हैं और न दुःख दुःखी करते हैं, सुविचार ही जिसके मित्र एवं सखा—साथी हैं, और सद्भावना-सम्पन्न जीवन ही जिसकी सम्पत्ति है, पृथ्वी जिसका गम्भीर और शान्त प्रवास-स्थान है और शान्ति ही जिसकी तीर्थयात्रा है, वही व्यक्ति वस्तुतः मानव है, मनुष्य या आदमी है।

उपर्युक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि जब मनुष्य कर्मनिष्ठ होता है, तभी 'मानव' बनता है। विचारों—सद्विचारों का, मस्तिष्क में भरा रहना मात्र 'मानवता' नहीं है। जब विचार क्रिया में आते हैं, तब ही वे आचार कहलाते हैं और इस 'आचार' का जब दूसरों के साथ प्रयोग होता है तो वह व्यवहार बन जाता है। 'आ-चार' का अर्थ ही है, पूरी तरह से अमल में लाना। 'आचार' का ही दूसरा नाम नैतिकता है। 'नीति' शब्द से नैतिक बना है। 'नीति' के जहाँ अन्य अनेक अर्थ हैं, वहाँ 'अनुष्ठान' अथवा 'अमल करना' भी एक अर्थ है। बिना 'आचार' या 'नैतिकता' के कोई मनुष्य या मानव नहीं बन सकता। संसार में जितने महापुरुष हुए हैं वे 'आचार' या 'नैतिकता' के कारण ही इतने महान् बन पाये हैं। 'अनैतिक' अर्थात् आचारविहीन बड़े-बड़े दिग्गज पोथापंथी विद्वानों को किसी ने कभी नहीं पूछा, परन्तु जो व्यक्ति आचारयुक्त, नैतिकता-सम्पन्न साधारण पढ़े-लिखे भी थे, वे देश, समाज और विश्व की विभूति बन गए।

चरित्र, आचार और नैतिकता तीनों समानार्थक हैं। इन्हीं को अरबी में 'अख़लाक़' और अंग्रेजी में 'मोरेलिटी' (Moralily) कहते हैं। मोरेलिटी का अर्थ भी कल्याणकारी विचारों को क्रिया में लाना है। विद्वद्वर रस्किन ने भी कहा है—'Cha-actor is thi traescription of knonledge into action' अर्थात् ज्ञान को क्रिया में परिणत करना ही 'चरित्र' या 'आचार' है। एक उर्दू-शायर भी यही कहता है :—

खुदा का नाम जो अक्सर, जबानों पर है आ जाता;
मगर काम उससे जब चलता कि वो दिल में समा जाता।

इसी सम्बन्ध में महाकवि शेक्सपीयर ने भी एक बहुत सुन्दर बात कही है :—

Religion without morality is a tree without fruit;

Morality without religion is a tree without roof. अर्थात्, "धार्मिक सिद्धान्त बिना अनुष्ठान (अमल) के निष्फल हैं। साथ ही अनुष्ठान या अमल भी बिना धर्म-भावना के निर्मूल है।"

अभिप्राय यह कि 'मानवता' का निर्माण नैतिकता से होता है। नैतिकता ही 'आचार' या चरित्र का नाम है और आचार का अर्थ है, विचारों को क्रियात्मक बनाना अथवा कार्यान्वित करना। अब आवश्यकता है—विचारों के विशुद्ध,

विमल या पवित्र होने की। यदि मनुष्य के मस्तिष्क में दूषित विचार भरे हुए हैं, तो उसके क्रिया-कलाप पर भी उनका बुरा प्रभाव पड़ेगा। अतएव यह बात अनिवार्य है कि हमारे मन—मस्तिष्क शिवसंकल्प-युक्त हों, उनमें मलिनता न रहने पाये। एक रिश्वतख़ोर या चोर अपने कुविचारों को अमल में लाता है तो वह आचार नहीं, दुराचार है। चरित्र नहीं, दुश्चरित्र है। नैतिकता नहीं, अनैतिकता है। 'शिवसंकल्प' या सद्विचार वे ही हैं, जो अपने और दूसरों के लिए भी श्रेयस्कर अर्थात् हितकर हों। कुविचार या अशुभ चिन्तन तो 'मानवता' के लिए सदैव ही कलंक-रूप हैं।

प्रायः सांसारिक लोगों के मन काम-क्रोध-लोभ और मोह-जन्य दोषों से भरे होते हैं। जितने 'पाप' और 'अपराध' होते हैं, वे इन्हीं दुर्भाव-जन्य दोषों के कुपरिणाम हैं। अतएव आवश्यकता है कि हमारे मन-मन्दिर में कभी दुर्भावना-भरे कुत्सित कुविचारों की झलक भी न आने पाये। सर्वदा सत्य का समावेश और अहिंसा का ही प्रवेश हो। अर्थात् मन, वचन, कर्म—तीनों में न तो हम कभी असत्य को प्रविष्ट होने दें और न भूलकर भी मन-वचन-कर्म से किसी का अहित करें। धर्म के इन दो तत्त्वों के अपनाने से मानसिक पवित्रता के लिए बड़ी सहायता प्राप्त होगी। जब मन में शुद्ध भावना, वचन में मृदुतापूर्ण सचाई और कर्म में पवित्रता होगी, तो पापों एवं अपराधों के लिए स्थान ही कहाँ रह जायेगा !

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोष, संयम, तप, त्याग, ऋजुता, मृदुता, क्षमा, दया इत्यादि विचारधाराएं मन की विशुद्धता, चरित्र की पवित्रता या नैतिकता की ही आधारभूत हैं। इन्हीं के सहयोग या अनुष्ठान से वास्तविक मानवता का उदय होता है। ये ऐसे सर्वमान्य मौलिक सिद्धान्त हैं कि विश्व में इनकी कोई व्यक्ति आवर्जना या अवमानना नहीं कर सकता। कभी-कभी कहा जाता है कि 'अहिंसा' सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं है; क्योंकि हिंसक लोग उसे नहीं मानते। ऐसे हिंसक व्यक्तियों से हमें यही कहना है कि यदि 'हिंसा' बुरी बात नहीं है, तो वे अपने परिवार, अपने मित्र-मिलापी और अपने सगे-सम्बन्धियों को कोई कष्ट या आघात पहुँचने पर क्यों दुःखी होते हैं ? हिंसा यदि अच्छी चीज़ है तो उन्हें स्वयं अपने ऊपर किसी प्रकार का कष्ट या आघात आने से हर्ष क्यों नहीं होता ? अपना और अपने परिवार का आघात तो दूर रहा, ये हिंसक तो अपने पालतू कुत्तों या उनके पिल्लों तक पर किसी प्रकार का प्रहार होने से चीख़ उठते हैं। ऐसी दशा में वे हिंसा के समर्थक और अहिंसा के विरोधी कैसे माने जा सकते हैं ! इसी प्रकार चोर, डाकू, व्यभिचारी अपने यहाँ चोरी होने, डाका पड़ने या व्यभिचार करने से क्यों चीख़ पड़ते हैं ? स्पष्ट है कि हिंसा, चोरी, डकैती या व्यभिचार आदि को उचित समझने वालों की बुद्धि पर जब भयंकर स्वार्थवाद का पापपूर्ण पर्दा पड़ जाता है, तभी वे ऐसी कुत्सित क्रियाओं को करने का दुस्साहस करते हैं। वस्तुतः मौलिक सिद्धान्त मौलिक ही रहेंगे। उनमें किसी स्वार्थ-वृत्ति के कारण किसी प्रकार की भेद-भावना नहीं आ सकती।

आज सबसे अधिक आवश्यकता नैतिकता अर्थात् चरित्र-निर्माण की है। यानी जीवन को उठाने वाले सिद्धान्त विचारों में ही न रहें, बल्कि क्रिया में परिणत हों। बाह्य स्वच्छता की जितनी आवश्यकता है, उससे कहीं बढ़-चढ़कर आन्तरिक शुद्धता अपेक्षित है। जब तक मन शिव-संकल्प से युक्त और आत्मा विशुद्ध न होगा, तब तक जीवन में पवित्रता नहीं आ सकती और मानवता का उदय भी नहीं हो सकता। महाकवि अकबर ने ठीक कहा है :

सफाइयाँ हो रही हैं बाहर और दिल हो रहे हैं मैले;
अँधेरा छा जायगा जहाँ में अगर यही रौशनी रहेगी।

सचमुच केवल बाहरी सफाई का नाम तो पाखण्ड है। गंगाजली कितनी ही शुद्ध, सुन्दर और सुहावनी क्यों न हो, यदि उसमें मदिरा भरी है तो वह गंगाजली अपना प्रकृतार्थ नष्ट कर देती है। वस्तुतः मानवता के लिए विमल विचार, पवित्र आचार और विशुद्ध व्यवहार तीनों की अत्यन्त आवश्यकता है। कोई डाक्टर या वैद्य कितना ही विद्वान्, विशेषज्ञ, अनुभवी और पीयूषपाणि क्यों न हो, यदि वह रोगियों का उपचार नहीं करता तो उससे लोगों को क्या लाभ ? उपचार करना ही उसका व्यवहार है। इसी प्रकार कैसा ही विद्वान्, पण्डित, मानव, महा-मानव, महात्मा क्यों न हो, यदि वह जनता की सेवा में संलग्न नहीं होता तो वह किस काम का ! सर्वसाधारण की सेवा और उसका सत्पथ-प्रदर्शन ही तो उसका वास्तविक व्यवहार अथवा अपनी योग्यता तथा व्यक्तित्व का उचित उपयोग है।

अपराध और नैतिकता

श्री गुलाबराय एम० ए०

पाप और अपराध

दिन-रात के युग्म की भाँति यह संसार भी पाप-पुण्य और गुण-दोषमय है। जिसको धार्मिक दृष्टि से पाप कहते हैं, उसे लौकिक और सामाजिक दृष्टि से अपराध कहते हैं। किन्तु उन दोनों का पूरा एकीकरण नहीं हो सकता; उनमें दृष्टिकोण का भेद भी है। पुण्य-पाप में ईश्वराज्ञा की भावना को, जो धर्म-ग्रन्थों में निहित रहती है, प्रधानता मिलती है। अपराधों में राजाज्ञा का प्राबल्य रहता है। भेद होते हुए भी दोनों में 'मानवहिताय' की भावना परिलक्षित होती है। अपराधों की रोकथाम और सामाजिक सुव्यवस्था के अर्थ ही राज्य और राज्य-दण्ड की आवश्यकता पड़ती है। किन्तु आदर्श समाज में दण्ड की आवश्यकता न्यूनातिन्यून रहती है। गोस्वामी तुलसीदासजी ने रामराज्य में दण्ड को 'जतिन कर' अर्थात् संन्यासियों के हाथ में सीमित कह दिया था। 'दण्ड जतिन कर' यह आदर्श तो बहुत कठिन है; किन्तु संसार की दण्ड-व्यवस्था के आदर्शों और विचारों में बहुत परिवर्तन होता आ रहा है।

दण्ड की आवश्यकता

पहले व्यक्ति, व्यक्ति से अपना बदला ले लेता था। इसमें अपराध की परम्परा पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती थी और सामाजिक अव्यवस्था बढ़ती ही जाती थी। व्यक्ति द्वारा बदला लिये जाने के स्थान में समाज अपराधी का बदला लेने की भावना से दण्ड देने लगी। बदले की भावना फिर भी एक दूषित भावना है। दण्ड तो रहा, किन्तु तत्सम्बन्धी भावनाओं में अन्तर आता रहा। एक भावना यह भी रही कि दूसरों में दण्ड का भय उत्पन्न करने के लिए और उसकी रोकथाम के लिए दण्ड की आवश्यकता है। दण्ड का एक उद्देश्य यह भी माना गया कि अपराधी को कारागृह में बन्द करके उसको अपराध करने से रोका जा सके। प्राण-दण्ड देकर उसको हमेशा के लिए रोका जा सकता है। इसमें 'न मर्ज़ रहे न मरीज़ रहे' की लोकोक्ति चरितार्थ होती है, इसलिए लोग इसके विरुद्ध होते जाते हैं।

अपराध और नैतिक उपदेश

पहले तो साधारण अपराधों के लिए भी प्राण-दण्ड की व्यवस्था थी। अब अधिकांश सभ्य देशों में यह दण्ड संकल्पित हत्या के लिए ही सीमित कर दिया गया है। कुछ विचारक प्राण-दण्ड को बिल्कुल हटा देने के भी पक्ष में हैं। अब दण्ड में अपराधी के सुधार की भावना का प्राधान्य होता जा रहा है। इसलिए अब कारावासों में नैतिक उपदेश की भी व्यवस्था हो चली है। अब कारावास एक प्रकार से स्वस्थ नागरिक जीवन के प्रशिक्षण-केन्द्र बनते जा रहे हैं। अब अपराधियों को वैध उपायों से जीवन-निर्वाह करने की शिक्षा दी जाती है। यह तो रोग उत्पन्न हो जाने पर उसके उपचार हैं। दण्ड से भी रोकथाम होती है; किन्तु दण्ड भयमूलक है। भयवश धर्मात्मा बनना धर्म की महत्ता को कम करना है। अपराध को एक रोग समझ कर उसके कारणों को दूर करने और उसके रोकथाम की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

अपराध के कारण

यद्यपि प्राचीन काल में दण्ड की सुव्यवस्था के लिए राज्य की आवश्यकता मानी जाती थी, फिर भी ऐसी बात

न थी कि अपराध के कारणों पर न विचार किया गया हो। नीति में कहा गया है: **बुभिक्षत: किं न करोति पापम्, क्षीणा नरा: निष्करुणा भवन्ति** शृंगारी कवि बिहारी ने भी कहा है—**तीन दबावत निसकत ही राजा पातक रोग** पातक को रोग के समकक्ष रखने की भावना पहले भी थी। "बुभुक्षितः कि न करोति पापम्" के सिद्धान्त में अब बुभुक्षित के बोध में कुछ विस्तार हो गया है। 'बुभुक्षा' में पेट की भूख ही नहीं है, वरन् सभी तरह की भूख शामिल है। धन की भूख, यश की भूख, इन्द्रिय-भोग की भूख, ये सब भूख के ही रूप हैं। ये अपराध के कारण बनती हैं। भूख का वैध मार्गों से मिटाना कोई पाप या अपराध नहीं है। समाज ने सभी भूखों के शमन के वैध मार्ग बना दिये हैं। धन की भूख के लिए मेहनत-मजदूरी, व्यापार आदि है। इन्द्रियों की भूख के लिए कला-कौशल का अनुशीलन तथा विवाह है। श्रीमद्भगवद्गीता में धर्माविरुद्ध काम को भी ईश्वर का रूप कहा गया है।

अपराध भूख की तृप्ति न होने से होता है; किन्तु उसकी तृप्ति वैध मार्गों से भी होती है और अवैध मार्गों से भी। श्रेय का मार्ग कठिन अवश्य है, किन्तु अन्त में व्यक्ति और समाज के लिए सुखदायक है। इसके अनुसरण के लिए उचित नैतिक शिक्षा चाहिए। इस नैतिक शिक्षा का अभाव होता जा रहा है। अपराधों में कमी होने के लिए, व्यक्ति और समाज दोनों में, सुधार की आवश्यकता है। व्यक्ति को यह शिक्षा दी जाये कि वह वैध उपायों से उपार्जित धन से यथा-काम सन्तुष्ट रहे और धनवानों को यह शिक्षा दी जाये कि वे **तेन त्येक्तेन भुञ्जीथा:** की, अर्थात् योग के साथ भोग की ईशावास्यवृत्ति को अपनायें। एक ओर धन का असमान वितरण है, दूसरी ओर उससे असन्तोष और समाज से बदला लेने की भावना और साथ ही सुलभ उपायों से बिना परिश्रम के धन वैभव और सुख उपलब्ध करने की उत्कट अभिलाषा—यही अपराध का कारण बनती है।

अपराध और साधन-शुद्धि

गांधीजी ने इसीलिए श्रम की महत्ता और आवश्यकताओं की कमी पर बल दिया था कि दुनिया में पाप का मूल कारण नष्ट हो। यह जहाँ तक हो कम संघर्ष के साथ हो। गांधीवाद में जो साधनों की शुद्धता पर बल दिया गया है, वह अपराधों की कमी के लिए ही दिया गया है। लोगों की यह भ्रान्त धारणा है कि साध्य अच्छा हो तो बुरे साधनों के अपनाने में कोई हानि नहीं। बुरे साधनों के अपनाने से अपराधों की परम्परा बढ़ती है, घटती नहीं है।

अपराधों की रोकथाम के लिए नैतिक प्रचार और उसके उदाहरण उपस्थित करने के साथ, अपराधी के साथ सहृदयता का व्यवहार आवश्यक है। धार्मिक शिक्षा के प्रचार के अभाव के साथ नैतिक शिक्षा का भी ह्रास होता जा रहा है। इसके लिए शिक्षा संस्थाओं में नैतिक शिक्षा की आवश्यकता है। शिक्षा केवल सैद्धान्तिक ही न हो, वरन् बड़े आदमी और सत्ता-सम्पन्न व्यक्ति ईमानदारी के अच्छे नैतिक उदाहरण उपस्थित करें। जो सेंध लगाता है वही चोर नहीं है, वरन् वे लोग भी चोर और डाकू हैं जो धर्म और सामाजिक प्रतिष्ठा की ओट में दूसरों का माल हड़पते रहते हैं या सरकार से और जनता से अनधिकारपूर्ण लाभ उठाते हैं। 'पर-उपदेश कुशल' तो बहुत-से लोग हैं, आचरण करने वाले थोड़े हैं। उप-देश से आचरण की शिक्षा श्रेष्ठतर है।

सामाजिक रोग

अपराधी को एक सामाजिक रोगी समझ कर उसके साथ सहानुभूति का बर्ताव होना चाहिए। दण्ड भी दिया जाये तो सुधार के लिए और उसमें बदले और क्रोध की भावना न आने देना चाहिए। अपराध से घृणा करना चाहिए अपराधी से नहीं। अपराधी को दण्ड भुगतने के पश्चात् सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने में सहायता दी जाये। इस कार्य में सरकार और जनता का सहयोग होना चाहिए। जनमन ही नहीं, वरन् जन-व्यवहार भी ऐसा होना चाहिए कि अप-राधी को सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा मिले। जनता स्वयं अवैध साधनों को छोड़े, जिससे **पर उपदेश कुशल बहुतेरे** की बात न चरितार्थ हो।

साहित्य और धर्म

डा० नगेन्द्र, एम० ए०, डी० लिट्०
अध्यक्ष–हिन्दी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

इस देश में 'साहित्य' और धर्म का ऐसा अभिन्न सम्बन्ध रहा है कि आधुनिक साहित्य-स्रष्टा और आलोचक को इन दोनों को पृथक् करने के लिए परिश्रम करना पड़ा। पाश्चात्य समीक्षकों ने जब यह कहकर भारतीय साहित्य को हेय सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह शुद्ध साहित्य की ऐहिक विभूतियों से हीन प्रायः धर्म का ही अंग है, तो भारत की प्रबुद्ध बौद्धिक चेतना के लिए अपने साहित्य की धर्म-निरपेक्ष सत्ता की स्थापना अनिवार्य हो गई। परिवर्तन-काल में मूल्यों में कुछ ऐसी अस्थिरता आ गई कि साहित्य और धर्म में एक प्रकार से विरोध का आभास होने लगा। इस धारणा का अभी अन्त नहीं हुआ है और इसका कारण यह है कि साहित्य और धर्म दोनों ही शब्दों के अर्थ अत्यन्त अनिश्चित हैं। आज भी शब्दार्थ की यह अगम्यता भ्रान्ति उत्पन्न कर सकती है, अतः 'साहित्य' और 'धर्म' शब्दों के अर्थ का निश्चय हमारी पहली आवश्यकता है।

साहित्य

भारतीय काव्यशास्त्र में प्रस्तुत प्रसंग में दो शब्दों का प्रयोग होता है—१. वाङ्मय और साहित्य। पारिभाषिक दृष्टि से वाङ्मय का अर्थ अधिक व्यापक है; उसकी परिधि में वाणी का सम्पूर्ण आलेख आ जाता है। वाङ्मय के दो प्रमुख भेद हैं : **इह वाङ्मयमुभयथा शास्त्रं काव्यञ्च (राजशेखर)**। आधुनिक शब्दावली में शास्त्र का अर्थ है, ज्ञान का साहित्य और काव्य का अर्थ है, रस का साहित्य। प्रस्तुत संदर्भ में साहित्य का अभीष्ट अर्थ है, रस का साहित्य। वस्तुतः संस्कृत में 'साहित्य' शब्द का प्रयोग 'रस के साहित्य' के अर्थ में ही होता है। उसका वर्तमान व्यापक रूप और तज्जन्य अस्थिरता उसे अंग्रेजी शब्द 'लिटरेचर' का पर्याय मान लेने का परिणाम है। संस्कृत में इसका स्वरूप और प्रयोग सर्वथा परिनिष्ठित है। काव्य साहित्य=रस का साहित्य (क्रिएटिव लिटरेचर—अंग्रेजी)। साहित्य का शाब्दिक अर्थ है—सहित का भाव अर्थात् सहभाव। कुछ विद्वानों ने सहित का अर्थ हितसहित या कल्याणमय करने का प्रयत्न किया है; किन्तु वह वर्तमान वाग्विलास है, काव्य-शास्त्र में उसके लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। इसी प्रकार गुरुदेव रवीन्द्रनाथ ने भी आधुनिक विचारधारा के सन्दर्भ में उसका अर्थ-विस्तार किया है : "सहित शब्द से साहित्य में मिलने का एक भाव देखा जाता है। वह केवल भाव-भाव का, भाषा-भाषा का, ग्रन्थ-ग्रन्थ का मिलन नहीं है, अपितु मनुष्य के साथ मनुष्य का—अतीत के साथ वर्तमान का मिलन है। किन्तु यह भी कवि के अपने वैदग्ध्य का चमत्कार है। शास्त्र में उसका एक ही निर्भ्रान्त अर्थ है—शब्द अर्थ का सहभाव : **शब्दार्थयोः यथावत् सहभावेन विद्या साहित्यविद्या (राजशेखर)**। सहभाव का यहाँ विशिष्ट अर्थ है—पूर्ण सामंजस्य; ऐसा समभाव, जिसमें दोनों में से कोई न न्यून हो और न अतिरिक्त; यही साहित्य का तात्त्विक अर्थ है। अतः साहित्य से अभिप्रेत है वाङ्मय का वह रूप, जिसमें शब्द और अर्थ का पूर्ण सामंजस्य हो। यह एक ओर शास्त्र से भिन्न है, क्योंकि उसमें अर्थ की गुरुता शब्द को भाराक्रान्त कर देती है और दूसरी ओर संगीत आदि से भी, जिसमें शब्द की तरलता में अर्थ का क्षय हो जाता है।

दूसरा शब्द है—धर्म। धर्म का व्युत्पत्त्यर्थ है—**ध्रियते अनेन यः सः धर्मः**, जो धारणा करे वह धर्म है; वे मूल विशेषताएं या गुण, जो किसी पदार्थ के अस्तित्व को धारण करते हैं (एसेंशल्स)—संक्षेप में प्राण-तत्त्व, मूल प्रवृत्ति

प्रकृति या स्वभाव। धर्म का एक दूसरा अर्थ भी है कर्तव्य-कर्म, जो मूल अर्थ का ही विकास है; क्योंकि प्रवृत्ति ही अनुशासित होकर कर्तव्य का रूप धारण कर लेती है। अतएव धर्म का समन्वित अर्थ होता है, प्रकृति और कर्तव्य-कर्म।

इस प्रकार साहित्य के धर्म के अन्तर्गत हमारा विवेच्य विषय है— आधुनिक आलोचनाशास्त्र की शब्दावलि में 'काव्य की आत्मा एवं प्रयोजन'।

जैसा कि मैंने अभी निवेदन किया, साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है, शब्द और अर्थ का पूर्ण तादात्म्य। अर्थ का शब्द के साथ पूर्ण तादात्म्य वाणी की चरम सिद्धि है। तत्त्व-रूप में अर्थ आत्मा की अनुभवज्ञानमयी स्थिति का ही नाम है और शब्द का अर्थ है प्राकट्य; अतः अर्थ का शब्द-रूप में प्राकट्य आत्म-साक्षात्कार की ही एक प्रमुख प्रक्रिया है। भारतीय काव्य-दर्शन में इसी तर्क के आधार पर अर्थ को 'शम्भु' और शब्द को 'शिवा' या 'शक्ति' कहा गया है—**रुद्रोऽर्थः अक्षरस्सोमा**—और उन दोनों के अर्धनारीश्वर रूप में साहित्य की कल्पना की गई है। आत्म-साक्षात्कार का ही नाम आनन्द है। प्रकृति के विविध उपादानों के द्वारा आत्मा अपना साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता रहता है। यह प्रयत्न या साधना ही जीवन है। साधना की सफलता-विफलता ही जीवनगत सुख-दुःख और उसकी सिद्धि ही 'आनन्द' है, जो सुख और दुःख से अतीत पूर्ण आत्म-लाभ या सामरस्य की स्थिति है। आनन्द का मूल रूप एक और अखण्ड है। माध्यम भेद से उसके नामों में भेद हो जाता है। वाणी के माध्यम से जो आत्म-सिद्धि प्राप्त होती है, उसका शास्त्रीय नाम रस है। इस व्याख्या के अनुसार अर्थ और शब्द का साहित्य सहज रसमय होता है। रस उसका अन्तरंग लक्षण है, बहिरंग विशेषणमात्र नहीं है। एक शब्द में, साहित्य की प्रकृति या प्राण-तत्त्व है रस, और यही उसका प्रयोजन है। भारतीय काव्यशास्त्र का विवेचन इतना मार्मिक और आप्त है कि उसमें लक्षण और प्रयोजन, साधन और सिद्धि, शरीर और आत्मा का भेद मिट जाता है।

धर्म और नैतिक जागरण

श्री स्वामी शिवानन्द सरस्वती

संस्थापक–दिव्य जीवन संघ, ऋषिकेश

जिस प्रकार वायु के बिना जीवित नहीं रहा जा सकता उसी प्रकार धर्म के बिना भी जीवित नहीं रहा जा सकता। ईश्वरार्पित दैनिक जीवन ही धर्म है, या यों कहिये कि धर्म ही सच्चा जीवन है। तात्पर्य यह कि सत्य के अनुरूप जीवन होना चाहिए।

नैतिकता का आधार

धर्म को जीवन की समस्याओं से पृथक् नहीं किया जा सकता। सुख या नियमित प्रगति के लिए धर्म आवश्यक है। धर्म नैतिकता का आधार है। उसमें समाज को संगठित रखने की प्रचण्ड शक्ति है। व्यक्ति और समाज के धार्मिक रुख पर ही नैतिक प्रगति का दारोमदार है। धर्म मनुष्य को सामाजिक जीवन में आत्म-नियन्त्रण करने के लिए योग-दान करता है। धर्म में भारी आकर्षण और नियन्त्रण की शक्ति है। वह मनुष्य को सदाचार की प्रेरणा करता है और अच्छे मार्ग पर ले जाता है। वह मानव-जीवन में ताने-बाने की तरह है। शासन के सभी तरह के रूपों और धर्म को विभ्रष्ट करने की विविध योजनाओं के बाद भी वह क़ायम रहेगा, क्योंकि शाश्वत जीवन का निचोड़ ही धर्म है।

धर्म मनुष्य के पाशविक रूप को बदल कर उसे दैवी रूप प्रदान करता है। धर्म और जीवन एक ही हैं। धर्म जीवन है और जीवन धर्म है। किसी भी धार्मिक के लिए जीवन और धर्म में कोई भेद नहीं है। एक को दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। जीवन में धर्म महत्त्वपूर्ण, उत्कर्षकारक और ज्वलन्त योगदाता है। मानवता को उच्च आध्यात्मिक स्तर पर पहुँचाना उसका उद्देश्य है।

नैतिक सिद्धान्तों की विश्व-व्यापकता

प्रत्येक धर्म के मूल सिद्धान्त मनुष्य को अच्छा बनने, सबके साथ भलाई करने, सबके प्रति कृपा-भाव रखने, ईमानदार बनने, सब प्राणियों के प्रति क्षमा-भाव रखने, मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद न करने तथा आध्यात्मिक एकरूपता की समान रूप से शिक्षा देते हैं। वे मनुष्य को बताते हैं कि कण-कण में भगवान् विद्यमान है। प्रेमपूर्वक, निःस्वार्थ भाव से हर प्राणी की सेवा करो और यह समझो कि यह सेवा ही भगवान् की आराधना है। कारण कि भगवान् का निवास प्रत्येक की आत्मा में है और वही उसकी सब प्रक्रियाओं का संचालन करता है।

सच्चा धर्म न तो कोई बँधी-बँधाई आचार-विधि है, न रूढ़िवादिता। सच्चा धर्म तो वह है जिसके प्रति हर व्यक्ति आकर्षित हो, जिसे हर व्यक्ति अमल में ला सके, जो सबके लिए एक समान ग्राह्य हो तथा सार्वभौम और एक ही उद्देश्य की ओर ले जाने वाला हो।

आध्यात्मिक जीवन में नैतिकता की अपेक्षा

नैतिक जीवन आध्यात्मिक जीवन की बुनियाद है। नैतिक जीवन के बिना आध्यात्मिक जीवन सम्भव नहीं।

दया, आत्म-नियन्त्रण, सत्य, ईमानदारी, पवित्रता तथा तपस्या ही नैतिकता है।

अनेक श्रद्धालु व्यक्ति पूजा-पाठ करते हैं और कण्ठी-तिलक धारण करते है, किन्तु ईमानदार नहीं होते। एक ओर पूजा करते हैं, दूसरी ओर घूस भी लेते हैं। भगवान् की पूजा तो करते हैं, लेकिन ग़रीब लोगों के दुःखों का उन्हें कभी ख्याल नहीं आता। धार्मिक जीवन की पहली कसौटी आचरण है। आध्यात्मिक जीवन के लिए ऐसी नैतिकता ज़रूरी है जिसकी बुनियाद धर्म में हो।

धर्म व्यावहारिक हो

लोग धर्म के बारे में केवल बातें ही करते है। उसको जीवन में ढालने यानी उसके अनुसार आचरण करने की उन्हें चिन्ता नहीं होती। यदि ईसाई अपने धर्मोपदेशों के अनुसार जीवन-यापन करें, बौद्ध भगवान् बुद्ध के श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करें, मुसलमान अपने पैग़म्बर के उपदेशों पर सचाई से अमल करें, जैन महावीर स्वामी के उपदेशों को आत्मसात् करें और हिन्दू भगवान्, सन्तों और ऋषि-मुनियों की शिक्षाओं के अनुसार अपना जीवन बनायें तो सर्वत्र शान्ति रहेगी।

धर्म जन्म-मरण के चक्र की नौका को धीरे-धीरे खेकर पार लगाने वाला है। वाद-विवाद और तर्क-वितर्क के लिए वह नहीं है। वह तो ग्रहण करने और अमल में लाने के लिए है। उसका व्यावहारिक होना आवश्यक है, क्योंकि गोष्ठी-चर्चा का वह विषय नहीं है।

स्वधर्म का पालन करो !

सभी धर्मों का मूलभूत सिद्धान्त निःस्वार्थ-भाव है। यही दैवी आलोक का प्रारम्भ है। प्रत्येक धर्म का स्वर्ण-सिद्धान्त यही है—"दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करो जैसे व्यवहार की आप अपने लिए दूसरों से अपेक्षा रखते हैं।"

क्या ईसा के धर्मोपदेश, क्या भगवद्गीता की शिक्षा, यम-नियम, मैत्री, करुणा, पतंजलि की, जैनों के पंच महाव्रत और बुद्ध का अष्टांगिक मार्ग सभी समान रूप से नैतिक तथ्यों पर जोर देते हैं। सदाचार, पवित्रता और सचाई का व्यवहार, नैतिक परिपूर्णता और दैवी गुणों की प्राप्ति ही संसार के सभी धर्मों का मूल मंत्र है।

धार्मिक जीवन मनुष्य के लिए सर्वोच्च वरदान है। यह मनुष्य को सांसारिक दलदल, अपवित्रता और नास्तिकता से ऊपर उठाता है। वह बुद्धि निरर्थक है जो धर्म की ज्योति मे प्रज्वलित न हो। धर्म में वह सब करने की शक्ति है, जिसकी दर्शन से कदापि अपेक्षा नहीं की जा सकती।

नैतिक जागरण

हमारे पूर्वजों को आधुनिक कुरीतियों एवं दोषों; जैसे चोरबाज़ारी, घूसखोरी को देख कर बड़ा आश्चर्य होता होगा। ये सारी राक्षसी वृत्तियाँ हमारी ही सृष्टि हैं। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से च्युत होने के कारण ही इन दोषों का सृजन हुआ है। भौतिकवादी दृष्टिकोण, विलासमय जीवन के प्रति प्रेम ही इन सारी बुराइयों का मूल है। लोगों में विलासिता के प्रति होड़ लगी है। अर्थ-संकट, परमाणु बम का निर्माण तथा विनाश के अन्य साधन—ये सभी मानवीय अभिमान, लोभ, ईर्ष्या, सन्देह तथा घृणा के परिणाम हैं। एक राष्ट्र दूसरे को नष्ट करना चाहता है, अधिकाधिक विध्वंसकारी शक्ति प्राप्त करने के लिए होड़ लगी हुई है। सबों के मुख पर यही चिन्ता छायी हुई है कि इन बुराइयों के लिए कोई उपचार है अथवा नहीं। परन्तु किसी में भी इन बुराइयों को रोकने के लिए साहस तथा श्रद्धा नहीं है। हर राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों की ओर देखता है, हर मनुष्य दूसरे मनुष्यों से अपेक्षा रखता है। इस प्रकार बुराइयाँ बनी रहती हैं। मनुष्य को स्वयं इन बुराइयों को दूर करने के लिए कटिबद्ध होना होगा। हर व्यक्ति को अपनी शक्ति के अनुसार इस ओर संलग्न होना होगा।

सरल जीवन तथा उच्च विचार

जीवन के दृष्टिकोण को परिवर्तित करना इस ओर प्रथम कदम है। सारे भौतिकवादी विचार तथा दृष्टिकोण को बदल देना होगा। सारे देशों एवं समाजों में जीवन के आध्यात्मिक मूल्यों के प्रति श्रद्धा का संचार करना होगा। सरल जीवन तथा विचार द्वारा इसका अधिकाधिक प्रसार करना होगा। हमारे पूर्वज इसी आदर्श पर चलते थे। वे संसार की सारी बुराइयों की जड़ लोभ तथा भय को संन्यास द्वारा ही विनष्ट करते थे।

इसके साथ ही बाल्यावस्था से ही हर व्यक्ति के भीतर निष्काम्य सेवा की भावना भरनी होगी। इस स्थल पर धर्म नीति तथा समाजशास्त्र से आ मिलता है; क्योंकि धर्म यह बतलाता है कि सारे जगत् में एक आत्मा ही परिव्याप्त है। अतः दूसरों के लिए जो भी सेवा की जाये, उससे स्वयं को ही लाभ प्राप्त होगा। जितना ही अधिक हम मानवीय कर्मों के उन्नत आधार को पहचानेंगे तथा उनका साक्षात्कार करेंगे; उतना ही अधिक हम पूर्णता तथा ईश्वरत्व की ओर द्रुत गति से अग्रसर होंगे।

सार्वभौमवाद

अधिकार पर बल न देकर कर्तव्य पर बल देना होगा। जातिवाद, राष्ट्रवाद, आदि सारे वाद स्वार्थ-रूपी राक्षस के ही विभिन्न सिर हैं। इनकी जगह व्यापक सार्वभौमवाद को स्थापित करना होगा। राष्ट्रीय सीमाएं शनैः-शनैः विलीन हो जायेंगी। धर्म तथा भाषा, समाज तथा आचारशास्त्र, संस्कृति तथा राजनीति—इन सबों के विभेद विनष्ट हो जाने चाहिए तथा सबों में एकता एवं समरसता का प्रसार होना चाहिए।

दूसरे राष्ट्र भले ही इस अभीष्ट की प्रतीक्षा करते रहें। हमें साहसपूर्वक इस कार्य को आरम्भ कर देना चाहिए। सर्वप्रथम अपनी ही बुराइयों को स्वतः दूर करना चाहिए। संकीर्ण सीमारेखाओं को नष्ट कर हम अपने हृदय को विश्वात्म एवं व्यापक बनाये रखें। अपने कर्मों तथा उनके परिणामों द्वारा यह प्रमाणित करना होगा कि हम ऋषियों की सन्तान हैं। हमारी पुण्य-भूमि हमें अधिकाधिक प्रकाश, स्वतन्त्रता एवं पूर्णता की ओर मार्ग प्रदर्शित करे।

सब के मन एवं हृदयों में सच्चाई, सदाचार, तथा नीति की भावनाओं को भर कर प्राचीन संस्कृति का पुन-र्जागरण करना ही कर्तव्य है। इस महान् समस्या को दूर करने के लिए स्तूपों के शिलालेखों से कुछ अधिक प्रयास करना पड़ेगा। आधुनिक साधनों द्वारा आधुनिक मन पर प्रभाव डालना होगा। स्तूप प्राचीन समृद्धि के स्मारक हैं, परन्तु वे आधुनिक समस्याओं के निवारक नहीं।

पुस्तकों तथा परिपत्रों द्वारा सदाचारमय जीवन की महिमा एवं आवश्यकता के ज्ञान का प्रसार करना समाज में नैतिक चेतना को जागृत करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। परन्तु इसके साथ ही अन्य साधनों को भी काम में लाना होगा। तभी इस उद्देश्य में शीघ्र सफलता प्राप्त की जा सकेगी।

नैतिक प्रशिक्षण

विद्यालयों में नैतिक शिक्षण अनिवार्य होना चाहिए। इस ओर शिक्षकों को भी विशेष प्रशिक्षा मिलनी चाहिए। उन्हें यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि विद्यार्थी, उनके दैनिक जीवन में सदाचार की अपेक्षा रखेंगे तथा कक्षा के प्रवचन पर ही निर्भर नहीं रहेंगे। तात्पर्य यह है कि शिक्षकों को विद्यार्थियों के लिए आदर्श बनना होगा। हर विद्यालय को प्रातः तथा दोपहर के उपरान्त नैतिक शिक्षा के लिए आध घंटा देना होगा। विद्यार्थियों के ऊपर ही समस्त विश्व का भाग्य निर्भर है, अतः नैतिक शिक्षा के महत्त्व को वैयक्तिक जीवन एव सामूहिक जीवन के लिए अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। स्कूल के प्रारम्भ तथा अन्त में विशेष प्रकार की प्रार्थना हो, तो और भी अच्छा है।

स्कूलों में सुधार लाना सुधार-कार्य का आवश्यक अंग है। इससे सुधार-कार्य का तिहाई भाग सम्पादित हो जाता है। विद्यार्थियों के लिए गृह का वातावरण, बाह्य जगत् की वस्तुस्थिति तथा विद्यालय की शिक्षा का एक समान

ही महत्त्व रखती है। यदि पुस्तक की दुकान में अश्लील साहित्य न रखा जाये, तो विद्यार्थियों को मन की शुद्धि बनाये रखने में बड़ी सहायता मिलेगी। अश्लील चित्रों, साहित्य तथा चित्रपटों को बहिष्कृत कर देना चाहिए। चलचित्रों में विशेष सुधार की आवश्यकता है। अश्लील चलचित्र युवकों के मन में गहरी छाप डालते हैं। चलचित्र-निर्माताओं को नैतिकता तथा धार्मिकता की ओर ध्यान देना चाहिए। शनैः-शनैः तम्बाकू, चाय, कॉफी आदि उत्तेजक पेय पदार्थों के सेवन को समाप्त करने का प्रयास होना चाहिए। शराबखोरी को भी सबसे पहले बन्द करना होगा।

गृह की व्यवस्था अनुकूल होनी चाहिए। सयाने व्यक्तियों में सुधार लाने की विधि में सर्वाधिक सावधानी लाने की आवश्यकता है। नियमित प्रचार, सायं सत्संग, प्रातः सत्संग आदि के द्वारा उनको बुराई से दूर किया जा सकता है।

सुधार-कार्य की ओर साधु तथा सन्यासी गण सामान्य रूप से तथा सामाजिक नेतागण विशेष रूप से सरकार को सहायता देते हुए कार्य कर सकते हैं। दूसरे को प्रशिक्षित करने से पहले स्वयं को प्रशिक्षित कर लेना होगा। वैयक्तिक उदाहरण के आधार पर ही दूसरों में सुधार लाना सम्भव है।

आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत-आन्दोलन बारह वर्षों से देश में ऐसा ही वातावरण बना रहा है, यह प्रसन्नता की बात है। भारतवर्ष में यह कार्य हमेशा ही ऋषि-मुनियों का रहा है। ऋषि-मुनि समाज के श्रद्धेय होते हैं और भारतीय संस्कृति के वाहक भी। उनका जीवन त्यागमय होता है, अतः जनता पर भी उसका प्रभाव पड़ता है। आचार्यश्री तुलसी ने इस ओर कदम बढ़ाकर जनता को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की ओर प्रेरित किया है, जिसके लिए वे बधाई के पात्र हैं। ईश्वर उनके इस प्रयत्न को सफल बनाये, यही कामना है।

इसमें मुझे सन्देह नहीं कि नैतिक जागरण की समस्या कितनी ही जटिल क्यों न हो, देश में चलने वाले विविध प्रयत्न अवश्य ही सफल होंगे; क्योंकि हमारा वास्तविक स्वरूप आध्यात्मिक है। भारतीय मूलतः आध्यात्मिक व्यक्ति होता है। ये सारे दोष अज्ञानमूलक हैं, ये सद्प्रयासों द्वारा अवश्य ही दूर हो जायेंगे।
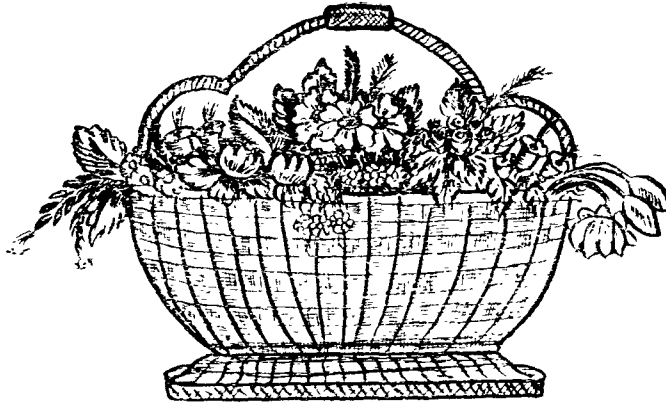
अणुव्रत-आन्दोलन का रचनात्मक रूप

श्री रघुनाथ विनायक धुलेकर
सभापति, उ० प्र० विधान-परिषद

आचार्यश्री तुलसी द्वारा चलाये हुए अणुव्रत-आन्दोलन ने इन बारह वर्षों में भारत के विचारकों पर काफी प्रभाव डाला है। इतना ही नहीं, अन्य देशों के प्रमुख विचारकों की भी दृष्टि इस आन्दोलन की ओर गई है। अनेक रीति से इस आन्दोलन की चर्चा की जा रही है।

वास्तव में यह आन्दोलन अपने ढंग का अनूठा है। चरित्र-गठन, आध्यात्मिक उन्नति, आत्म-निरीक्षण, आत्म-सुधार, सामाजिक सुधार तथा मंगल-व्यवस्था आदि-आदि सब प्रकार के आन्दोलन इस देश में स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद प्रारम्भ हुए हैं; और ऐसा नहीं है कि उनका उपयोग नहीं है अथवा जनता ने उन्हें नहीं अपनाया है। देश-देश की जनता ने परतंत्रता-रूपी निद्रा से जाग कर अपनी उन्नति के लिए अनेक मार्ग अपनाये हैं और उनसे पर्याप्त लाभ हुआ है। भारत सेवक समाज ने तथा सन्त विनोबा के भूदान-आन्दोलन ने भारतीय जन-समाज पर प्रभाव डाला है और "अपने स्वार्थ से परे भी कुछ दायित्व है" ऐसा प्रकाश भारतीय जनता के मस्तिष्क पर पड़ा है। राष्ट्रीय सरकार के प्रयत्न भी भुलाये नहीं जा सकते, विशेषकर शिक्षा का प्रसार।

किन्तु यह मानना ही होगा कि आचार्यश्री तुलसी ने भारतीय जनता का दृष्टिकोण इस ओर किया है कि मनुष्य चाहे एक छोटा-सा व्रत, जो उसकी दैनिक चर्या में ठीक बैठता है, यदि ग्रहण करे तो वह स्वयं अपनी उन्नति और समाज की उन्नति कर सकता है। आन्दोलनों में व्याख्यानों की भरमार इतनी अधिक होती है और उन व्याख्यानों में इतनी अन-गिनत अच्छी और उपयोगी बातें बतायी जाती है कि साधारण मनुष्य बालक, स्त्री, पुरुष—जो उन्हें सुनता है, समझ नहीं पाता कि वास्तव में किस उपयोगी बात को अपनायें। अपनाने योग्य बातों की लम्बी-चौड़ी सूची को सुन कर ही मनुष्य घबरा जाता है और मतिभ्रम होकर उसे ठीक रास्ता दिखायी नहीं देता।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि आदरणीय आचार्यश्री तुलसी ने इसी मर्म पर काफी समय तक गहराई से विचार किया और गम्भीरतापूर्वक विचार करते हुए इसी तत्त्व पर पहुँचे कि अल्प-बुद्धि, असमर्थ मनुष्य को कोई ऐसा सरल व व्यावहारिक मार्ग बताया जाये जो उसकी समझ में आ जाये। उसकी समझ में यह बात सरलता से आ जाये कि उसके दैनिक व्यवहार में अमुक स्थान पर कुछ न्यूनता है; और यदि उसी छोटी-सी न्यूनता को वह हटा दे तो मन में कुछ शान्ति भी हो सकती है और मन में कुछ शुद्धता भी आ सकती है। उदाहरणार्थ, छोटे व्यापारियों को लालचवश ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक ग्राहक की सामग्री में कुछ नगण्य मात्रा में तोलते समय कमी कर दी जाये तो बहुत-से ग्राहकों से, थोड़ा थोड़ा एकत्र होकर काफी लाभ हो सकता है। आचार्यश्री तुलसी की तीक्ष्ण बुद्धि ने (या कहिये दूरबीन ने) व्यापारी की गहरी मनोवृत्ति को देखा और उस अल्प-बुद्धि मानव को उन्नति-पथ पर अग्रसर करने के लिए यही उचित समझा कि उसे समझाया जाए कि अपनी अल्पज्ञता तथा असमर्थता पर अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। एक छोटा-सा व्रत अणुव्रत ले ले कि मैं कम नहीं तोलूंगा; जब पूरे दाम लिये हैं तो पूरा माल दे दूँगा। मेरा उसमें त्याग तो कुछ है नहीं। जिसका जितना माल है, उतना ही दे रहा हूँ। कोई अपना माल तो ग्राहक को अधिक नहीं दे रहा हूँ।

महात्माओं का हृदय दया और प्रेम का सागर है। वे इस जगत् में अल्प-बुद्धि, मूढ़, असमर्थ, मन के कच्चे, सर्व-साधारण जन के लिए ही आते हैं। शास्त्रियों और पण्डितों के लिए, जिनमें आढ्यता भरी होती है, नहीं आते। जिन्होंने

इस आन्दोलन के सम्बन्ध से थोड़ा भी साहित्य पढ़ा होगा, उन्हें यह ज्ञान होगा कि अणुव्रतों की सूची में इस प्रकार के छोटे-छोटे व्रत बालक-बालिकाओं के लिए, स्त्रियों के लिए, विद्यार्थियों आदि-आदि के लिए हैं, जो व्रत सरलता से प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी आवश्यकतानुसार ले सकता है।

जिस प्रकार शिशु को प्रारम्भ में ककहरा और पहाड़े ही बताये जाते हैं, और वह उन्हें ही सीखकर आगे पण्डित बन जाता है, उसी प्रकार आचार्यश्री तुलसी का जगत् आभारी है और रहेगा, जिन्होंने इस मानव-जाति को, अणुव्रत-आन्दोलन चलाकर उन्नति के पथ पर खड़ा कर दिया है। यदि मानव जाति इस पथ पर चले, तो मेरा विश्वास है कि इस समय वह जैसी भ्रमित और दुःखी है, तब सुख प्राप्त कर सकती है।

इसी को मैं इस आन्दोलन का रचनात्मक रूप समझता हूँ। मन की विशेषता है कि जब वह भूल को सुधार लेता है, तो वह दूसरी भूलों को भी सुधारने का प्रयत्न करता है। बहुत-सी भूलें इकट्ठी नहीं सुधारी जा सकतीं। जगत् के साधु व सन्त, पहले अल्पज्ञ जीव को उँगली पकड़ कर आगे चलाते हैं, फिर वे जीव स्वयं दौड़ने लगते हैं।

आचार्यश्री तुलसी के हम आभारी हैं कि इस जनोपयोगी आन्दोलन को उन्होंने जन्म दिया और वे इसके लिए सतत अथक परिश्रम कर रहे हैं।
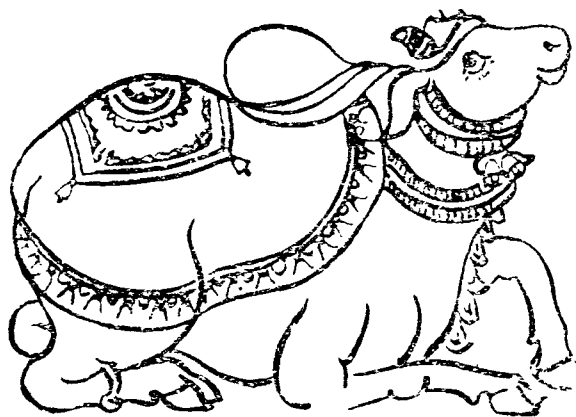
अणुव्रत से : सच्चे निःश्रेयस् की ओर

नरेन्द्र विद्यावाचस्पति
सहसम्पादक, साप्ताहिक हिन्दुस्तान

हम इस समय प्रगति के पथ पर अग्रसर हैं या विनाश के पथ पर ?—यह प्रश्न सामान्यतया सर्वत्र पूछा जाता है। यहाँ 'हम' शब्द से अभिप्राय हम तथाकथित मानवों से है। प्रागैतिहासिक काल से आज तक मानवीय विकास के दो पहलू रहे हैं—एक ओर वह पशु से मानव बनने और देवत्व की ओर बढ़ने के लिए प्रयत्नशील रहा है तो दूसरी ओर अभी भी उसमें इस तरह के चिह्न विद्यमान हैं जिनसे मालूम पड़ता है कि अभी भी उसमें पशुता के सभी लक्षण हैं। इन्हें देखकर आशंका होती है कि वह किसी दिन मनुष्य से प्रागैतिहासिक काल का पशु या उससे विकृत होकर कहीं दानव का ही रूप धारण न कर ले।

सृष्टि के आदि से ही एक देवासुर-संग्राम प्रचलित है। एक ओर मानव की वे प्रवृत्तियाँ हैं जिन्हें दैवी या दिव्य कहा जाता है, दूसरी ओर उसकी आसुरी वृत्तियाँ हैं। संसार में एक ओर बड़े-बड़े विजेता, आक्रमणकारी सम्राट् और निरंकुश स्वेच्छाचारी हुए जिन्होंने सुख या आनन्द-वैभव, की प्राप्ति के लिए 'स्व' के लिए इस संसार को जीतने का प्रयत्न किया, परन्तु वे कभी सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं कर सके और न अपने पार्थिव साम्राज्य को अनन्त काल तक भोग सके। दूसरी ओर सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक ऐसे भी मानव हुए जिन्होंने अन्तर्-जगत् में रमने का प्रयत्न किया। उन्होंने भली प्रकार समझ लिया था कि **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्**—अपनी आत्मा के लिए जो प्रतिकूल है, वह दूसरों के लिए भी नहीं करना चाहिए। हम समस्त विश्व को मित्र की आँखों से देखें—**मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे'**। इस प्रकार का अतिमानव प्रण करता रहा है—**अहमनृतात् सत्यमुपैमि**, अर्थात् मैं अनृत से सत्य की ओर बढ़ूंगा।—**'सत्यमेव जयते नानृतम्'**, अर्थात् सत्य ही विजयी होगा, असत्य नहीं। इस प्रकार मानव सत्य का अणु लेकर विराट् सत्य की खोज में आगे बढ़ता रहा है।

मुक्ति का मार्ग

सच्चे सत्य का आग्रही व्यक्ति इसलिए अपनी आत्मा द्वारा 'आत्मा' को देखने के लिए प्रयत्नशील रहा है। वह संसार की कोटि-कोटि सम्पदाओं, भोग, सत्ता, काम, लोभ, मोह को ठुकराकर उस निःश्रेयस् के मार्ग पर चलने के लिए प्रवृत्त रहा है, जिसे जान कर और प्राप्त कर अन्य कुछ प्राप्त करने के लिए अवशिष्ट नहीं रह जाता। यह निःश्रेयस् या मोक्ष का मार्ग शारीरिक तप, कष्ट या गिरिगुहाओं, पर्वत-उपत्यकाओं में समाधि मे ही केवल नहीं मिल सकता, इसके लिए मुमुक्षु यदि कर्मयोगी बने तभी उसे भी लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है। उसे तो **कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन** किसी भी प्रकार के फल की आकांक्षा न करते हुए अपने कर्तव्य-कर्मों में संलग्न रहना चाहिए।

सच्चा अणुव्रती ही कर्मयोगी

जीवन में सच्चे कर्मयोगी बनने के लिए व्यक्ति को सच्चा अणुव्रती बनना होगा। उसे सही अर्थों में बाहरी लक्ष्यों में न उलझते हुए अन्तर्मुखी बनना होगा। सच्चे अन्तर्मुखी बनने के लिए व्यक्ति को अपने जीवन की छोटी-से-छोटी बात पर भी ध्यान देना चाहिए। उसे अपने दैनिक जीवन को शुद्ध, पवित्र और निष्कलंक बनाना होगा। उसे अपने

जीवन में सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के पालन का व्रत लेना होगा। जीवन के इन पंचशीलों को अपना-कर ही व्यक्ति सच्चा महाव्रती हो सकता है।

योग-दर्शन में महर्षि पतञ्जलि ने कहा है :

अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।
जातिदेश कालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौम महाव्रतम् ॥

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आदि पाँच यम या तथ्य हैं। ये देश-काल, जाति आदि की किसी मर्यादा से नहीं बाँधे जा सकते। जैन परम्परा में इन्हें पञ्च महाव्रत व यथासाध्य की स्थिति में अणुव्रत कहा है और बौद्ध परम्परा में इन्हें 'पंचशील' कहा गया है। इस प्रकार वैदिक परम्परा के पांच यम, जैन-परम्परा के महाव्रत या अणुव्रत और बौद्ध-परम्परा के पंचशील वास्तव में मानवीय निःश्रेयस् के पाँच सोपान हैं। इन पंच महाव्रतों को यदि हम जीवन में अपनाने का निश्चय करें और इन्हें सच्चाई से अपनायें तो सच्चे पंचशीलव्रती और अणुव्रती हो जायेंगे।

प्रसन्नता का विषय है कि देश में पिछले कुछ वर्षों में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार, अनैतिकता, घूंसखोरी आदि का अन्त करने के लिए नैतिक पुनरुत्थान और चरित्र-निर्माण के कार्यों पर बल दिया जा रहा है। **आचाराल्लभते आयुः** —आचार या सदाचार से आयु की प्राप्ति होती है, सदाचार का जीवन व्यतीत करने वाला ही सच्चा साधु कहलाता है। सदाचार और सद्विचारों से स्वास्थ्य और सौन्दर्य की प्रतिष्ठा होती है और सच्चे निःश्रेयस की ओर व्यक्ति का उत्थान होता है। पिछले दस-बारह वर्षों से देश में अणुव्रत एवं चरित्र-निर्माण के जो आन्दोलन प्रचलित हैं, उनके मूल में वस्तुतः मनुष्य को दिव्य गुणों से विभूषित सच्चा मानव बनाने का ही लक्ष्य है। वह अपने विचारों और कार्यों से पशु या दानव न बने, वह मनुष्य और देव बन सके, इसी के लिए ये आन्दोलन प्रचलित हैं।

अमरता का मार्ग

अन्धकार से काली रात में एक दीपक की जोत ही सर्वत्र प्रकाश छा देती है। ठीक इसी प्रकार इस समय विश्व में जो आसुरी वातावरण व्याप्त है, उसे नष्ट करने के लिए पंच महाव्रतों, पंचशील एवं पंच अणुव्रतों से दीक्षित सच्चे कर्मयोगियों के संकल्प, साधना और निष्ठा से पूर्ण जीवन की जोत जगमगानी चाहिए, जो विश्व में व्याप्त अनैतिकता को दूर करदे।

जब सूर्य अस्त हो जाता है और रात अँधेरी होती है, तब नन्हा दीया ही प्रकाश का सन्देश देता है। आज के अनैतिकता, भ्रष्टाचार एवं स्वार्थों से पूर्ण संसार में सच्चा चरित्रवान् व्यक्ति ही :

असतो मा सद् गमय
तमसो मा ज्योतिर्गमय
मृत्योर्माऽमृतं गमय

असत् से सत् की ओर, अन्धकार से ज्योति की ओर और मरण से अमरता की ओर जनता को प्रवृत्त कर सकता है।

अणु-युग में अणुव्रत

प्रो० शैलेन्द्रनाथ श्रीवास्तव

अणु-युग में अणुव्रत का नारा सचमुच चौंकाने वाला है। हिंसा, द्वेष, घृणा और रक्तपात के कर्दम में अणुव्रत एक पङ्कज ही है। विश्व को अणुव्रत की परिकल्पना भले ही आश्चर्यजनक प्रतीत हो, पर भारत-भूमि में ही उसका उदय हुआ, यह विशेष चौंकाने वाला सत्य नहीं है। जब सम्पूर्ण संसार अणु-बमों के निर्माण के लिए आकुल-व्याकुल हो, तब भारत अणुव्रत ले रहा है, यह उसकी भूयसी, महिमामयी परम्परा के अनुरूप ही है। हमारी संस्कृति ने सदा ही भौतिक के ऊपर आधिभौतिक की विजय में आस्था रखी है। अणु-बम विनाश का अस्त्र है, अणुव्रत जीवन का मंगलमय दर्शन। अणु-बम विष है, अणुव्रत अमृत। अणु-बम प्रलय का वाहक है, अणुव्रत नव-जीवन का गायक।

अनुकरण या नेतृत्व ?

भारतवर्ष अणु-बम नहीं बना[1] सका है, यह हमारी कमजोरी है; ऐसा कुछ लोगों का विचार है, पर मैं इसे इस देश की सबलता मानता हूँ। यदि हम अणु-बम के निर्माण में सफल हो गए, तो यह इस बात का प्रमाण होगा कि पश्चिम का अंधानुकरण कर सकते हैं। और यदि अणुव्रत का आन्दोलन सफल हो गया तो यह प्रमाणित करेगा कि पश्चिम हमारा अनुकरण कर सकता है और हम उसका नेतृत्व कर सकते हैं। मूल प्रश्न है कि हमारी इच्छा क्या है—अनुकरण या नेतृत्व? एक जीवित-जागृत सप्राण और गतिशाल राष्ट्र की श्रेष्ठता किससे प्रतिपादित होगी—अनुकरण से या नेतृत्व से ? निश्चय ही, वैचारिक क्रान्ति द्वारा हम विश्व का नेतृत्व कर सकते हैं। सहस्रों वर्षों से हमारे ऋषियों और ऋषिकल्प साधकों और चिन्तकों ने यह कार्य किया है, और आज आचार्यश्री तुलसी भी यही कार्य कर रहे हैं।

आचार्यश्री तुलसी मानवता की उन विभूतियों में से हैं, जो संक्रान्ति और दिग्भ्रम की वेला में दिङ्निर्देश किया करते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन भारतीय साधना और संस्कृति के मूल तत्त्वों का युगानुरूप समुच्चय है। युग बदलता है, पर संस्कृति और जीवन के कुछ मूल्य व मूलभूत तत्त्व होते हैं, जो सार्वभौम और सार्वकालिक होते हैं; जो अन्धकाराच्छन्न और तमसाविष्ट मानव-मानस को प्रकाशित और उद्भासित करने में समर्थ होते हैं। अणुव्रत उन्हीं तत्त्वों और मूल्यों का एक व्यवस्थित सङ्कलन है। आचार्यप्रवर की महानता इसमें है कि उन्होंने प्राचीनता पर लिपटी गर्द को झाड़कर नवीन बनाकर समुपस्थित किया है, मात्र पूज्य को ग्राह्य बनाया है।

आज जब हम हर ऐसी चीज को, जो प्रत्यक्ष नहीं है, सामान्य लोकपंथी जीवन से जिसका समीप का सम्बन्ध नहीं है, उसे त्याज्य समझते हैं, और हर अराजनैतिक आन्दोलन को 'साम्प्रदायिक' या 'धार्मिक' मान कर घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं, तब अणुव्रत को भी सन्देह की दृष्टि से देखना स्वाभाविक है। पर अणुव्रत-आन्दोलन किसी भी अर्थ में 'साम्प्रदायिक' नहीं है। अणुव्रत का विश्वास है कि राष्ट्र की उन्नति केवल राजनैतिक प्रगति से ही सम्भाव्य नहीं है, उसके लिए नैतिक अभ्युत्थान भी आवश्यक है। इस देश में 'राजनीति' (Politics) नहीं है जिसे एक पश्चिमी विचारक ने 'The last refuge of the scoundrels' कहा, बल्कि वह 'नीति' पर ही आश्रित है, 'नीति' का ही एक विशिष्ट रूप

१ अभी हमारे प्रधानमंत्री ने घोषणा की है कि अगले दो वर्षों में भारत अणु-बम के निर्माण में सक्षम हो जायेगा, पर वह बनायेगा नहीं।

है। नीति-तत्त्व का प्रभाव ही प्राणियों के अन्य वर्गों से मनुष्य को पृथक् करता है। उसका अभाव तो हमें 'बृहत्तर साम्य' की ओर पहुँचा देगा। यदि जीवन से नैतिक तत्त्वों का ह्रास और लोप हो गया, तो हमारी राजनीति भी टूट कर बिखर जाएगी। अणुव्रत हमें जीवन और समाज से अलग हो जाने का आदेश नहीं देता, बल्कि उसके अंग-रूप में अपने को रखते हुए भी हमें उदात्त और महत् की ओर अभिमुख होने के लिए प्रेरित करता है।

अणु : अविभाज्य इकाई

अणु-युग के वैज्ञानिक कहते हैं कि अणु की पहले वाली परिभाषा—'अणु अविभाज्य है'—अशुद्ध है। अणु तोड़ा जा सकता है, उसे खण्डित करके शक्ति प्राप्त की जा सकती है। अणुव्रत कहता है कि व्यक्ति—अणु समाज की अविभाज्य इकाई है, उसे खण्डित करने पर हमारी वे सारी आस्थाएं और मान्यताएं भी खण्डित हो जायेंगी, जिनके द्वारा नव-निर्माण सम्भव है। शक्ति की उपलब्धि अणुओं के संयोजन से ही हो सकती है, उनके विघटन और विस्फोट से नहीं। प्रत्येक अणु जैसे 'एलेक्ट्रोन' और 'प्रोटोन' से परिपूर्ण है, वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति के भीतर भी ऋणात्मक और धनात्मक विद्युत् वर्तमान है। अणुव्रत 'धनात्मक' विद्युत् की अभिवृद्धि चाहता है। वैज्ञानिक और वैचारिक अणु का यह मूल प्रभेद ही अणुव्रत-आन्दोलन की अनिवार्यता और सार्थकता का प्रमाण है।

अणुव्रत जीवन का एक पूर्ण और निर्दोष दर्शन है। अणुव्रत का पालन चौबीस घण्टे में से कुछ मिनट पूजा-पाठ के लिए निकाल कर नहीं किया जा सकता, अपितु उसे अपनी प्रत्येक साँस में बसाना होगा। वह दर्शन हमारी प्रत्येक क्रिया का नियन्ता होगा। उसकी सुरभि का प्रभाव हमारे घ्राण पर ही नहीं, मन-प्राण पर भी पड़ना आवश्यक है। अणुव्रत किसी सङ्कीर्णता या लघुता को प्रश्रय नहीं देता, वह हमारी उदारता और विशालता का ही बृहत् और विशद रूप है। वह एक विशाल स्निग्धच्छाया तरु है, जिसकी ठंडी छाँह में हमारी उष्णता, लघुता, और क्षुद्रता शीतल हो सकती हैं। अणुव्रत मानव-मात्र के लिए एक संग्रथन-सूत्र है। वह हमें जाति, सम्प्रदाय या राष्ट्र के विभेदों में बंधे रह कर भी उनसे ऊपर उठने का पाठ पढ़ाता है। वह ऐसे मनुष्य का आत्मिक ऊर्ध्व-संचरण है, जिसके पैर यथार्थ की धरती पर हैं। वह कल्पना और आदर्शों द्वारा निर्मित शीश-महल नहीं, अत्यन्त दृढ़ और कठोर भावना-स्फटिकों का उत्तुंग-शृंग है। अणुव्रत संन्यास का मार्ग नहीं, लौकिक जीवन का अलौकिक की दिशा में आरोहण का प्रयास है।

स्वतन्त्रता के पन्द्रह वर्षों के पश्चात् आज हमारी स्थिति क्या है? एक ओर राउरकेला और भिलाई की भीमकाय मशीनें लोहा उगलती हैं, दूसरी ओर खड़गपुर का बाँध टूट कर अर्द्धरात्रि में सैंतीस गाँवों के सोए प्राणियों को बहाकर ले जाता है। एक ओर सिन्दरी का कारखाना लाखों टन अमोनियम सल्फेट पैदा करता है, दूसरी ओर विदेशों से गेहूँ और चावल का आयात बढ़ाया जाता है। भावात्मक एकता की बात की जा रही है और जातियों के आधार पर चुनाव के टिकट बाँटे जा रहे हैं। पुल बनते जा रहे हैं और आदमी टूटते जा रहे हैं। कथनी और करनी के उसी अन्तर के कारण ही हमारी सारी प्रगति सतही और बनावटी बन कर रह गई है। हम मशीनें बना रहे हैं, सड़कें बना रहे है, पर भला आदमी नहीं बना पा रहे हैं। भला आदमी किसी कारखाने या मशीन से नहीं बनेगा, वह अणुव्रत जैसे आन्दोलनों से ही बन सकता है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता।

अणुव्रत एक साथ ही सामाजिक, नैतिक और मानसिक क्रान्ति का सन्देश देता है। पर यह क्रान्ति उस उत्पात और रक्तपात का पर्याय नहीं है, जिसे हम अब तक क्रान्ति समझते आए हैं। अणुव्रत उन्हीं अर्थों में एक क्रान्ति है, जिन अर्थों में भूदान-आन्दोलन। अणुव्रत या भूदान से किसी रोग का निदान, किसी समस्या का समाधान हुआ या नहीं, यह विवादास्पद है, किन्तु इन दोनों आन्दोलनों ने हमारे मानस को झकझोरा है, हमें नए ढंग से सोचने के लिए अभिप्रेरित किया है, यह क्या इनकी थोड़ी सफलता है?

अणु-युग के प्राणी अणुव्रत को अधिकाधिक अपनाएं तो सचमुच हमारी बहुतेरी आशंकाएं गल सकती हैं, हम निर्विघ्न और सुखमय जीवन की ओर अग्रसर हो सकते हैं। अणुव्रत तो जीवन के महाव्रत का एक अणु ही तो है।

★ ★ ★

शिक्षा की आत्मा

श्री स्वामी कृष्णानन्द,
दिव्य जीवन संघ, ऋषिकेश

दैवी शक्तियों की अभिव्यक्ति

शिक्षा वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य की आन्तरिक दैवी शक्तियों की अभिव्यक्ति होती है। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली को विदेशी शासकों ने इस देश में प्रारम्भ किया था। उन्होंने यह प्रणाली इसलिए जारी की थी कि भोले-भाले भारतीय अपने शासकों की सेवा करने की योग्यता प्राप्त कर सकें। इस प्रकार यह शिक्षा-प्रणाली शिक्षा के वास्तविक उद्देश्य का विपर्यास बन गई। शिक्षा-प्रणाली का उद्देश्य मनुष्य के भीतर छिपी हुई श्रेष्ठतम, उदात्त और महान् शक्तियों का विकास करना है। अब वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के दोषों को जान लेने और उसके दृष्टिकोण में आवश्यक परिवर्तन करने का समय आ गया है। देश के प्रशासकों का वास्तविक और सच्चा उद्देश्य आने वाली पीढ़ी को ऐसी शिक्षा देना होना चाहिए, जिससे वह धीरे-धीरे हमारी अत्यन्त मूल्यवान् संस्कृति के गौरव की व्यवस्थित प्रतीक बन सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए शिक्षा-प्रणाली ऐसी होनी चाहिए, जो नवयुवकों के मस्तिष्क में केवल तथ्य और आँकड़े ही भरने का काम न करे, प्रत्युत तरुण भारत के हृदय में हमारी प्राचीन परम्परा के सुप्त आदर्शवाद को जागृत करने का सजीव साधन बन जाए। यह आदर्शवाद उसके हृदय में आज भी सुप्त और उपेक्षित दशा में पड़ा हुआ है।

सत्य की खोज

सही शिक्षा सत्य की खोज करने की प्रक्रिया है। यह सत्य धीरे-धीरे उद्घाटित होता है। शिक्षा मनुष्य को भौतिक स्तर पर शिक्षा देने से लगा कर सामान्यतः जीवन के अन्तिम लक्ष्य को सिद्ध करने तक का शिक्षण देती है। शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य उस देवत्व का ज्ञान प्राप्त करना है, जो सब प्राणियों में आलोकित हो रहा है। इस प्रक्रिया में अज्ञान रूपी कूड़ा-कर्कट को आत्मानुशासन और आत्म-शुद्धि की अग्नि में जलाना होता है। बाधाओं को भीतर से दूर हटाना होता है। सुप्त विवेक को जागृत करने के मार्ग की रुकावटों को दूर करने का नाम ही शिक्षा है। शिक्षा का अर्थ उन वृत्तियों पर अंकुश स्थापित करना है, जो शुद्ध ज्ञान और जागृति के रास्ते में रुकावट पैदा करती हैं। शिक्षा केवल बौद्धिक अनुशासन ही नहीं है, नैतिक सिद्धि उसका अन्तरंग है। सत्याचरण और नैतिक गुणों का वास्तविक शिक्षा के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह शिक्षा व्यर्थ है जिसमें आध्यात्मिक विकास अथवा देवत्व प्राप्ति की भावना का समावेश नहीं होता। भले ही शिक्षा की प्रारम्भिक श्रेणियों में सर्वोच्च लक्ष्य की भावना स्पष्ट न हो, किन्तु किसी भी श्रेणी में उसकी पूर्णतया उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिस प्रकार यदि प्रारम्भ में कोई अंक न हो तो अनेक शून्यों का कोई मूल्य नहीं होता, उसी प्रकार इस जगत् में किसी भी सफलता का तब तक कोई वास्तविक अर्थ नहीं हो सकता जब तक कि उसमें कम-से-कम बीज रूप में ही सही आध्यात्मिक भावना का समावेश न हो।

विद्यालयों और महाविद्यालयों को इसी प्रकार की शिक्षा देनी चाहिए। अवश्य ही इसका यह अर्थ नहीं है कि सभी विद्यार्थियों को एकदम उच्चतर जीवन का पूरा महत्त्व समझाया जा सकता है। किन्तु यह आवश्यक है कि छोटे बालकों का भी इस प्रकार लालन-पालन किया जाये कि वे पूर्ण सदाचारी और नीतिवान्, सज्जन और पाप-भीरु बन सकें।

प्रत्येक को प्राचीन संस्कृति का ज्ञान कराया जाए। उस संस्कृति और संस्कारों की शिक्षा दी जाए, जो देवी पुरुषों की प्रकृति में प्रकट होते हैं। शिक्षा की कसौटी आत्म-ज्योति को प्रकाशित करना है।

अन्तर्मुखता

सच्ची शिक्षा की आत्मा प्राचीन गुरुकुलवास में मिलेगी, जहाँ शिष्य पूर्ण मनुष्य की देख-रेख में शिक्षा प्राप्त करता था। विद्यार्थी की बौद्धिक योग्यता कैसी भी हो, शिक्षण कला इस बात में है कि ज्ञान की शक्ति को अन्तर की ओर मोड़ दिया जाये। अन्तर्मुख होने का अनिवार्य अर्थ कोई रहस्यपूर्ण साधना नहीं होता। सामान्यतः उसका अर्थ होता है—अन्तर्दृष्टि से विचार करना। सब वस्तुओं में अन्ततः एकत्व है, इस कल्पना के अनुसार जीवन को नियन्त्रित करना। वह वास्तविक अन्तरंग पुरुष की खोज है। उन कार्य क्षमताओं और शक्तियों का ज्ञान प्राप्त करना है, जो एक वैज्ञानिक की तटस्थ खोज के लिए भी आवश्यक होती हैं। भौतिक विज्ञान की विधि अन्त में विफल हो सकती है, यदि वह ज्ञाता की गहराई को नापे बिना ही कुछ जानने का प्रयत्न करती है। चेतन पुरुष के अनुभवों और शक्तियों के फलितार्थों को जाने बिना कुछ भी जानने का प्रयास करना व्यर्थ होगा। आधुनिक शिक्षा प्रणाली सन्तोषकारक नहीं हो सकती, कारण शिक्षा का जो सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व अन्तर संस्कार है, उस पर उसमें ध्यान नहीं दिया जाता। आगे हम क्या देख रहे हैं ? नवयुवक कई वर्षों में अपना अध्ययन-क्रम समाप्त करते हैं और बड़ी अवस्था में कालेजों से निकलते हैं, फिर भी उन्हें जीवन के मौलिक सिद्धान्तों अथवा उनके आशय का ज्ञान नहीं होता। किसी विद्यार्थी से, यहाँ तक कि तथाकथित पढ़े-लिखे नव-युवक से पूछ देखिए, वह जीवन के मुख्य तथ्यों के प्रति अपना अज्ञान प्रकट करेगा। केवल यही नहीं, विद्यार्थियों में वास्तविक सज्जनता और सद्‌गुणों का भी अभाव दिखाई देता है। उनमें नैतिक बल, आन्तरिक दृढ़ता का अभाव है, जो सुनियमित और अनुशासित जीवन से उत्पन्न होती है। प्राचीनकाल में शिष्यों को अपने गुरु के कठोर अनुशासन में रखा जाता था। उनको ऐसे नियमों का पालन करना होता था, जिनसे इन्द्रियों की कामनाओं पर विजय प्राप्त की जा सके और उनकी मानसिक और बौद्धिक शक्ति का विकास हो सके। प्राचीन ब्रह्मचारियों में ओजस शक्ति होती थी। वे अग्नि मानव होते थे और आत्म-शासन के फलस्वरूप उनके मुख पर ब्रह्मचर्य का तेज चमकता था। शिष्य का गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण उन स्वाभाविक वृत्तियों पर अंकुश लगाता था, जो शिष्य की उच्च आकांक्षाओं के रास्ते में रोड़ा बनती हैं। गुरु के आधीन जीवन का उद्देश्य ही यह होता है कि स्वाभाविक प्रकृति से ऊपर उठा जाये और ज्ञानमय आध्यात्मिक प्रकृति का जो बृहत्तर जीवन है, उसके आन्तरिक गुप्त साधनों के प्रकाश में जीवन बिताया जाये।

विद्यार्थी का कर्तव्य

धर्म निरपेक्ष शिक्षा सच्चे मानव का निर्माण नहीं कर सकती। शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शुचिता, बौद्धिक प्रखरता, नैतिक बल और जीवन के आध्यात्मिक दृष्टिकोण के साथ-साथ लक्ष्य की दिशा में सही प्रयास से पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। विद्यार्थियों को पूर्ण ब्रह्मचारी होना चाहिए—शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से और सत्य तथा अहिंसा का पालन करना चाहिए। वस्तुतः यह अच्छी बात नहीं है कि आज के विद्यार्थी अपने शिक्षा क्रम से बाहर की प्रवृत्तियों में, राजनीति और सामाजिक आन्दोलनों में आवश्यकता से अधिक भाग लेते हैं। यद्यपि ये सभी प्रवृत्तियाँ मूल्यवान् हैं, किन्तु वे वास्तविक शिक्षा की भावना और उसके मूल आशय को ही कुण्ठित करती हैं। विद्यार्थी जब तक विद्यार्थी रहता है, उसे ऐसे कामों में भाग नहीं लेना चाहिए जिनसे उसका ध्यान बट जाये और उसका विद्यार्थी जीवन बिगड़ जाए। इसके अतिरिक्त शिक्षा का ध्येय केवल भौतिक सुख प्राप्त करना नहीं है, प्रत्युत आन्तरिक विकास और संस्कारिता प्राप्त करना है, जिसे हमारे आज के विद्यार्थियों ने भुला दिया प्रतीत होता है। विद्यार्थी को विनय, आत्म-संयम, आज्ञा-पालन, आत्म-समर्पण और प्रखर बुद्धि का धनी होना चाहिए। उसका आचरण आदर्श और चरित्र निर्मल होना चाहिए। विद्यार्थी न केवल अपने देश का प्रत्युत समस्त विश्व का भावी नागरिक होता है। वह विश्व नागरिक तभी बन सकेगा, जब वह निःस्वार्थ और आत्म-त्यागी, नीतिवान् और पवित्र होगा।

विद्यालय और आध्यात्मिक शिक्षा

यह समझना ठीक नहीं है कि आध्यात्मिक भावना का विद्यालयों और महाविद्यालयों की शिक्षा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि शिक्षा अन्तरात्मा के आदेशों के प्रति सजग नहीं है तो वह एक कोरा छिलका ही होगी। यह आवश्यक है कि प्रतिदिन नहीं तो कम-से-कम सप्ताह में एक बार नैतिकता और आध्यात्मिकता पर एक पाठ अवश्य पढ़ाया जाये। आध्यात्मिक भावना से शून्य लम्बे-चौड़े पाठ्यक्रम पढ़ाना, बालू रेत पर महल खड़े करने सदृश होगा। परम आत्मा सब में विद्यमान है और इसलिए प्रत्येक व्यक्ति को उसके अस्तित्व का ज्ञान होना चाहिए और यह भी मालूम होना चाहिए कि वह क्या चाहता है। शिक्षकों, प्राध्यापकों, अभिभावकों और विद्यार्थियों—सभी को सांस्कृतिक नव-जागरण, मानव उत्थान और विश्व-बन्धुत्व की यह पुकार सुननी चाहिए और सच्ची शिक्षा के ध्येय को अर्थात् आध्यात्मिक पूर्णता को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।
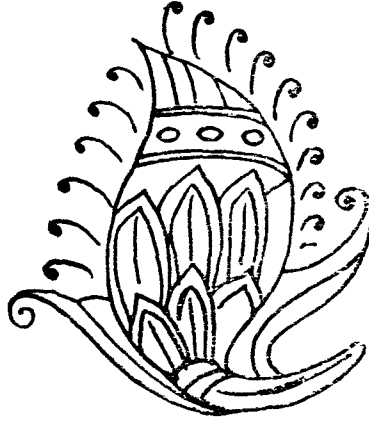
दर्शन और विज्ञान में अहिंसा की प्रतिष्ठा

पं० चैनसुखदास, न्यायतीर्थ
प्रिंसिपल—जैन संस्कृत कालेज, जयपुर

दर्शन एक चिन्तनात्मक शास्त्र है। वह सृष्टि-स्थिति एवं प्रलय का विचार करता है। ईश्वर और अनीश्वर, आत्मा एवं अनात्मा तथा परलोक आदि विषयों पर अपना मत बतलाता है। अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक सम्पूर्ण विश्व इसका विषय है।

दर्शन का धर्म से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतीय दर्शनों का अध्ययन हमें यही बतलाता है। सचाई यह है कि दर्शन धर्म के लिए ही पैदा होता है। दर्शन का अब तक प्रायः यही काम रहा है कि वह अपने स्वीकृत धर्म की मान्यताओं को सिद्ध करे। यही कारण है कि कोई भी दर्शन बिना खींचातानी के नहीं होता। इसमें अपवाद हो सकते हैं; पर यह सही है कि अपनी बात को सिद्ध करने के लिए अनेक बार उसमें आग्रह आ जाता है। यद्यपि उसका आधार ऊहापोह एवं तर्क-वितर्क है। उसके सम्पूर्ण शरीर का निर्माण ही युक्तियों से होता है। उसका कोई अंग-प्रत्यंग ऐसा नहीं होता जो तर्क निर्मित न हो।

दर्शन का एक विभाग है—तर्क पद्धति। इसमें हेतु, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान एवं वितण्डा आदि का आश्रय लिया जाता है। ये प्रकरण दर्शन की उक्त कमजोरी की ओर स्पष्ट इंगित करते हैं। अपनी मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए इन प्रकरणों को आधार बना कर उसे खण्डन-मण्डन का आश्रय लेना पड़ता है। अन्यथा उसके अस्तित्व का कोई उपयोग नहीं है। षड् दर्शन, वैदिक दर्शन, अवैदिक दर्शन, आस्तिक दर्शन, नास्तिक दर्शन, जैन दर्शन, बौद्ध दर्शन आदि उसके नाम ही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं कि उसका क्षेत्र अपना-अपना धर्म है, चाहे वह (दर्शन) कितना ही उदार क्यों न हो।

दर्शन मस्तिष्क की उपज है और धर्म हृदय की, यही कारण है कि धर्म कोमल होता है और दर्शन कठोर। किन्तु दर्शन श्रद्धा को उतना महत्त्व नहीं देता। वह यद्यपि श्रद्धा की रक्षा करना अपना कर्तव्य समझता है। विश्वास और तर्क का अन्तर ही धर्म और दर्शन का अन्तर है।

दुनिया में सबसे पहले धर्म, फिर दर्शन और इसके बाद विज्ञान आया होगा। विज्ञान भी यद्यपि विचारात्मक है; फिर भी उसकी मुख्यता एवं विशेषता उसके प्रयोगात्मक होने में है। वह प्रायः प्रयोगात्मक ही होता है। उसकी अपनी अनेक विशेषताएं हैं। वह दर्शन की तरह अपरिवर्तनीय भी नहीं होता। वैज्ञानिकों की मान्यताएं परीक्षणों के आधार पर बदलती रहती हैं। वह दर्शन के समान अणु से लेकर ब्रह्माण्ड तक का विचार करता है, किन्तु उसका विषय जड़ (भौतिक) पदार्थ है। उसके सामने किसी धर्म तत्त्व को सिद्ध करने की समस्या नहीं होती। वह स्वतन्त्र है—दर्शन की तरह परतन्त्र नहीं। दर्शन की सीमा जहाँ खत्म होती है, वहीं से विज्ञान का प्रारम्भ होता है। इसका अर्थ है—दर्शन चिन्तनात्मक है और विज्ञान प्रयोगात्मक।

अहिंसा को आधार बना कर दर्शन ने जो जगत की सेवा की है, वह चिर स्मरणीय है; पर विज्ञान ने अब तक जगत को जो अपरिसीम जीवन-सुविधाएं दी हैं, उनका भी महत्त्व सर्वोपरि है। हिंसा के लिए किये जाने वाले आविष्कारों के अतिरिक्त विज्ञान ने जो कुछ किया है, वह इतना उपादेय, प्रशस्त और आदरणीय है कि उसमें कभी दो मत नहीं हो सकते; किन्तु कुछ दशकों से विज्ञान की समालोचना होने लगी है और अणुबम एवं हाइड्रोजन आदि बमों के निर्माण और उनके प्रयोगों के बाद तो वह गम्भीर एवं कटु समालोचनाओं का शिकार बन गया है। इनके द्वारा जो असीम हिंसा

हुई है एवं और भी होने की सम्भावना है, उसका आभास मात्र ही मनुष्य को कंपा देने के लिए पर्याप्त है। इस दृष्टि से बहुत से विचारकों का यह मत हो गया है कि विज्ञान की प्रगति का अब अवरोध होना चाहिए।

दर्शन कभी इतने अनादृत भाव से आज तक नहीं देखा गया, जितना इस समय विज्ञान देखा जा रहा है। इसका कारण यह है कि मानव-समाज को दर्शन के कारण ऐसे विनाश कभी नहीं देखने पड़े, जैसे विज्ञान के कारण हिरोशिमा और नागासाकी ने देखे हैं।

यद्यपि दर्शन और विज्ञान सहोदर हैं। चिन्तन की ऊहापोहात्मक प्रणाली दोनों का आधार है, अतः इन दोनों का स्वरूप भी भिन्न नहीं है। इन दोनों का प्रयोजन भी एक ही है—अन्वेषण। किन्तु दर्शन का सम्पर्क हिंसा से उतना नहीं होता, जितना विज्ञान का आज हो रहा है। दर्शन एक शुद्ध चिन्तन है, इसलिए उसका रूप अहिंसक है। किन्तु विज्ञान का हिंसक रूप आज इतना भीषण एवं बीभत्स हो गया है कि इससे लोगों को घृणा होने लगी है।

अगर दर्शन की तरह विज्ञान में भी अहिंसा की प्रतिष्ठा होती तो उसके प्रति लोगों की इस प्रकार अनास्था न होती। आज संसार के चोटी के राष्ट्र विज्ञान की ओर जगत कल्याण की पवित्र भावना से प्रेरित होकर नहीं, अपितु प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों को दबाने के हेतु प्रलयंकारी अस्त्रों का निर्माण करने के लिए अग्रसर होना चाहते हैं। यद्यपि विज्ञान स्वतः बुरा नहीं है; क्योंकि पदार्थ की शक्ति का परिज्ञान एवं उसका परीक्षण कभी बुरा नहीं होता; तो भी उसका प्रयोग हिंसा के लिए किये जाने की अधिक सम्भावना है; इसलिए विज्ञान के शस्त्रास्त्रों से अभिभूत एवं त्रस्त मानव अब इसको जगत कल्याणकारी नहीं समझता। जब तक विज्ञान को अहिंसा का अभय नहीं मिले, तब तक मानव समाज के लिए उसकी स्थिति भयावह ही बनी रहेगी। आज तो विज्ञान के बढ़ते हुए चरण जगत के लिए अभिशाप ही बन रहे हैं। विज्ञान बढ़ रहा है, इसका अर्थ आज यह लगाया जा रहा है कि दुनिया विनाश की ओर जा रही है। अगर विज्ञान ऐसा बम तैयार कर सकता है जो सारे जगत के प्रलय के लिए समर्थ हो तो इसका यही अर्थ है कि महाप्रलय का सामान जमा हो रहा है और जिस विज्ञान ने दुनिया को अब तक अगणित सुविधाएं दी है, वही विज्ञान अब क्षण-भर में मानव एवं इसके साथी पशु-पक्षी तथा कीट-पतंग, भृंग और वृक्ष लताओं तक का विनाश कर डालेगा। इसमें कोई शक नहीं है कि विज्ञान ने जगत को अधिकाधिक समीप लाने के लिए यातायात एवं संवाद-वहन के आश्चर्यकारी साधन आविष्कृत किये है जिससे कि सारा जगत् एक परिवार बन जाये; पर जब से उसका मुँह विनाश की ओर मुड़ गया है, तब से यह सम्भावना हो रही है कि उसका सारा किया कराया चौपट हो जायेगा। आज मनुष्य बड़ा संत्रस्त है। उसके मन का भय कभी दूर नहीं होता। प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्रों की प्रजा सदा भयभीत ही सोती है और भयभीत ही उठती है। जिन राष्ट्रों के पास जीवन की सारी सुविधाएं हैं, उनकी यह स्थिति है आज। यह सब विज्ञान की देन है। यह एक ऐसी समस्या है जिसका हल ढूंढना है। इस हल में ही जगत का कल्याण है। पर इस समस्या का समाधान दूर नहीं है और इसका रूप है—अहिंसा। अहिंसा ने ही अब तक दर्शन को प्रतिष्ठा दी है। विज्ञान को भी यदि यह प्रतिष्ठा एवं आदर-सत्कार दिलाना है तो वैज्ञानिकों का कर्तव्य है कि वे एक मत होकर अहिंसा को महत्त्व दें और ऐसा कोई शस्त्रास्त्र अविष्कृत न करें, जो किसी भी प्रकार की हिंसा को प्रेरणा देता हो एवं जिसमें जन-कल्याण की भावना न हो।

इस समय जगत-कल्याण न विज्ञान में है, न दर्शन में और न हिंसा में। उसका कल्याण तो केवल भगवती अहिंसा में ही है। कभी हिंसा अहिंसा पर विजय पाकर साधारण जन-मानस में आदरणीय बन जाती है। कभी अहिंसा हिंसा पर विजयी होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। पुराणों एवं इतिहासों में सब के उदाहरण मौजूद हैं; किन्तु इस वैज्ञानिक युग का भला इसी में है कि वह अपने प्रत्येक प्रयोग में अहिंसा को सामने रखे और मनुष्य के हाथ में कोई ऐसी चीज कभी न दे, जिसके भीतर प्रलय अथवा संहार छिपा हो। प्रायः मनुष्य के भीतर पशुत्व छिपा रहता है और वह किसी भी समय निमित्त पाकर उस पशुत्व का प्रदर्शन कर सकता है। उसे रोकने का एक ही उपाय है और वह है जन-मानस में अहिंसा की प्रतिष्ठा।

जब तक वैज्ञानिक अहिंसा के प्रकाश में अपने आविष्कारों को न देखेंगे तब तक उनके आविष्कार जगत-कल्याण के कारण न बन सकेंगे। नये-नये संहारक बम निर्माण करने वाले वैज्ञानिकों को यह समझना चाहिए कि वे बम उनकी

कभी रक्षा नहीं कर सकेंगे; क्योंकि उनका उद्देश्य किसी की रक्षा करना नहीं, अपितु विनाश करना है। वे यदि दूसरों का विनाश करेंगे तो उन्हें भी अपने विनाश के लिए तैयार रहना चाहिए। क्योंकि ऐसे बम दूसरों के पास भी हो सकते हैं।

अभी न्यूयार्क टाइम्स ने रूस द्वारा १०० मेगाटन बम विस्फोट करने के निश्चय पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है कि "कुछ आश्चर्य नहीं कि इस तरह बम विस्फोट से रूस अपनी ही खिड़कियाँ न तोड़ बैठे। इस पत्र ने यह भी लिखा है कि १०० मेगाटन से रूस को पहुंचने वाले नुकसान का ख्याल कर आदमी उससे अपना हाथ खींच लेने की समझदारी बरतेगा। वह अणुबमों के युद्ध में बर्बाद होने की सम्भावना को देखकर अपने देश को उनसे बचाने के लिए अक्ल से सोचेगा।"

कहना यह है कि यदि विश्व को भीषण परमाणु विस्फोटों के तात्कालिक एवं भावी पीढ़ियों को क्षति पहुँचाने वाले महान् खतरों से बचाना है तो न केवल विज्ञान, दर्शन एवं धर्म में अपितु जीवन की प्रत्येक प्रक्रिया में भगवती अहिंसा का समन्वय करना होगा।
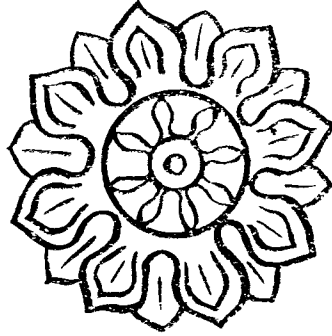
प्राचीन व अर्वाचीन मूल्य

श्री सादिकअली, एम० पी०
महामंत्री—अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी

भारत के सामाजिक और आर्थिक ढांचे मे इस समय बहुत गम्भीर और दूरगामी परिवर्तन हो रहे है। इन परिवर्तनो का जहाँ बहुत से लोग स्वागत करते है, वहाँ कुछ इनको बुरा भी समझते है। जब प्राचीन व्यवस्था बदल कर नई स्थापित होती है तो कुछ लोगों पर उसका विपरीत प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। लेकिन नई व्यवस्था के लिए हमेशा और हर परिस्थिति मे यही दावा किया जाता है कि पुरानी व्यवस्था की अपेक्षा वह अधिक न्यायपूर्ण है तथा मानव-समानता का उद्देश्य उसमे अधिक अच्छी तरह सिद्ध होगा।

भारतीय अपनी पंचवर्षीय योजनाओं तथा दूसरे उपायों से इस समय जो कुछ कर रहे हैं, उसका भी निश्चय ही यही दावा है। अक्सर यह पूछा जाता है कि लोकतंत्र, समाजवाद, नया वैज्ञानिक और बौद्धिक युग क्या भारत की उन नैतिक एवं आध्यात्मिक मान्यताओं के अनुरूप है, जिन पर कि हमारा देश ज्ञात इतिहास के कोई तीन हजार वर्षों से स्थिर है? यह ऐसा प्रश्न नहीं है जिसका सरलता से और निश्चयात्मक उत्तर दिया जा सके। इन नैतिक मान्यताओं की परिभाषा कौन किस तरह करता है, इस पर बहुत कुछ निर्भर है। भारत ने जो नैतिक और आध्यात्मिक मान्यताएं बनाई, वे ऐसे दार्शनिक तथ्य नहीं हैं, जिनका जनसाधारण के जीवन से कोई सम्बन्ध न हो। बल्कि जो उनसे मार्ग-दर्शन प्राप्त करते हैं, उनके लिए तो वे प्रचण्ड सत्य है। प्रश्न यह है कि देश में लोकतंत्र और समाजवाद की स्थापना तथा वैज्ञानिक युग का आरम्भ करते हुए क्या हम उनका परित्याग कर रहे है? विनम्रता के साथ कहूँगा कि ऐसी बात नहीं है। हमारी सभी दर्शन शास्त्रीय व्यवस्थाओं में तमाम भौतिक और मानसिक अवस्थाओं की परिवर्तनशीलता पर बहुत जोर दिया गया है। इन सब अवस्थाओं के पीछे वास्तविकता कभी नष्ट न होने वाला अंश चाहे हो, किन्तु वस्तुतः उनमें परिवर्तन और परिशोधन होता ही रहता है। न केवल सामाजिक जीवन में बल्कि राजनीतिक और आर्थिक संस्थाओं के बारे में भी यही बात है। जिस संसार में आज हम रह रहे हैं, वह बिलकुल वही नही है, जिसमें दो या तीन हजार वर्ष पहले हम लोग रहते थे। यह तो बिलकुल स्पष्ट है कि प्रारम्भिक कालों की अपेक्षा हमारी दुनिया आज कहीं बड़ी और पेचीदा है। इस सारे समय में हमने जो ऊँची मान्यताएं स्थापित की हैं, उन्हें इस नये संसार पर लागू करना होगा। इसके भारी विचार और बहुत-सी नई बातें ग्रहण करने की आवश्यकता है।

सभी महान् धर्मों का मुख्य सन्देश यही रहा है कि जीवन में, खासकर मानव-जीवन मे, एकता स्थापित हो। लेकिन हमारे सामाजिक और आर्थिक संगठनों में बहुत अपर्याप्त रूप के अतिरिक्त यह एकता स्पष्ट नहीं हुई है। लगभग प्रत्येक देश में सुविधा-प्राप्त एवं सुविधा-हीन, शासक और शासित, अमीर और गरीब, शिक्षित और अशिक्षित तथा ज्ञानी और अज्ञानी के वर्ग-भेद रहे हैं। मनुष्यों के बीच इस विभाजन से उत्पन्न कठिनाई को धर्मों द्वारा प्रतिपादित दान-पुण्य और नैतिक मान्यताओं के द्वारा कुछ कम अवश्य किया गया, लेकिन फिर भी बहुत कुछ अन्तर बाकी है। इसका बहुत कुछ कारण यह है कि दरिद्रता, रोग और निरक्षरता को दूर करने के कोई यांत्रिक साधन हमारे पास नहीं थे। यहाँ तक कि आवागमन के साधन भी हमारे पास इतने कम थे कि उससे भी सबके एक होने में रुकावट पड़ती थी। अब ये रुकावटें नहीं है। आज की दुनिया में ज्ञान या मन की सीमा केवल कुछ लोगों तक सीमित नहीं रही है, बल्कि जनता के सभी वर्गों में उसे फैलाया जा रहा है। लोकतन्त्र में सत्ता का विस्तार हो रहा है। यह सब देखते हुए मुझे तो ऐसा लगता है कि

हमारी नैतिक मान्यताओं के लिए पहले के युग के बजाय आज का युग अधिक उपयुक्त है।

संघर्ष के लिए, मगर, एक दूसरा क्षेत्र भी है। वह है—व्यक्तिगत आचरण का क्षेत्र। इसमें मान्यताएं बदल गई हैं। पुरानी मान्यताओं की दृष्टि से आत्म-अनुशासन, यहाँ तक कि इन्द्रिय-दमन भी, उचित था; स्वभावतः उसका परिणाम जरूरतें कम करना होता था। इन्द्रियों पर पूर्ण नियन्त्रण ही जीवन का सर्वोपरि रूप था। आवश्यकताओं को कम-से-कम करके मनुष्य मुक्ति का लक्ष्य साधता था। पर आधुनिक युग की बौद्धिक हवा जीवन के इस मूलभूत दृष्टिकोण के अनुकूल नहीं है। आधुनिक दृष्टिकोण दमन के विरुद्ध और आवश्यकताएं बढ़ाने का है। इसका पहलू यह है कि इससे ज्ञान-वृद्धि और मानव जाति के कल्याण के लिए तरह-तरह के विज्ञान की वृद्धि करने की प्रवृत्ति होती है। लेकिन यह भी सही है कि मनुष्य में सही दृष्टि और सही भावना न हो तो इस ज्ञान और शक्ति के द्वारा वह अपना ही नाश कर लेगा। इस बुरी संभावना ने मनुष्य को कुछ गम्भीर नये विचार के लिए प्रेरित किया। फलतः आन्तरिक जीवन की शक्तियों का नये सिरे से अध्ययन शुरू हुआ है। वैयक्तिक और सामाजिक आधार पर ऐसे समन्वय की खोज की जा रही है जिससे मनुष्य के जीवन में एकता अधिक हो तथा वह वास्तविकता एवं स्थायी आत्म-सन्तोष प्राप्त करे। मेरे विचार में जो ऊंची मान्यताएं हमारी पुरानी संस्कृति की विरासत है, उन्हें इस नये और व्यापक समन्वय में बहुत कारगर रूप में लागू किया जा सकता है।
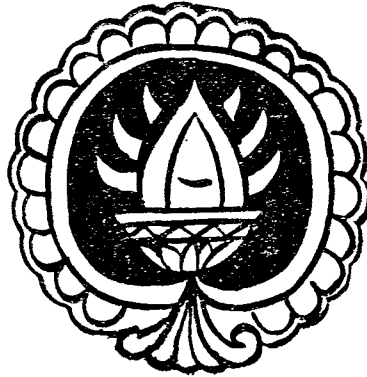
एकता की दिशा में

श्री हरिभाऊ उपाध्याय
वित्तमंत्री—राजस्थान

फिर से इस बात ने जोर पकड़ा है कि देश मे—भारत में—एकता पैदा की जाये। राष्ट्रीयस्तर पर एक आयोजन भी किया गया, जिसमें इस भावनात्मक एकता की ओर सबका ध्यान दिलाया गया है। नये सिरे से इस आवाज के उठने का कारण यह है कि पिछले दिनों भारत में जगह-जगह जातिगत झगड़े हुए। झगड़े आये दिन होते रहते हैं। कभी यहां, कभी वहां—कभी भाषा के सवाल को लेकर, कभी प्रान्त के सवाल को लेकर, कभी अधिकारों और अन्यायों की शिकायत लेकर। इन झगड़ों के मूल में आखिर बात क्या है? क्या ये लोग, जो झगड़ा खड़ा करते हैं, जीवन के सिद्धान्तों, आदर्शों, नियमों, परम्पराओं, रीति-नीतियों को नहीं जानते हैं? या जानते तो है लेकिन उनकी परवाह नहीं करते, पालन नहीं करते, न दूसरों से करवाते है? या कोई और बात मन में होती है और बताते दूसरी है। यदि ऐसा ही है तो ये ऐसा क्यों करते हैं? क्या जिन बातों का सहारा या बहाना लेकर ये झगड़े उठाये जाते है, वे वास्तव में इतनी बड़ी होती है कि जिनके लिए लड़ाई आदि उपद्रव, मार-काट करना आवश्यक है? फिर एक सवाल यह भी पैदा होता है कि ये उपद्रवकारी होते कौन है? ऊपर के नेता लोग या नीचे के आम लोग—जनता।

अभी इस राष्ट्र की भावनात्मक एकता को लेकर प्रो० हुमायूं कबीर ने एक जगह कहा था—इसका मूल कारण यह है कि हम एकता का बौद्धिक आधार तय नहीं करते या नहीं कर पाते। एक व्यक्ति जब यह देखता है कि मुझे न्याय नहीं मिल रहा है, मेरे अधिकार छिने जा रहे है, मैं दबाया जा रहा हूं, सताया जा रहा हूं, तब उसके मन में विद्रोह उठता है और वे झगड़ों के कारण बन जाते है। अतः इन झगड़ों को मिटाने या राष्ट्रीय एकता को कायम करने और निपटाने का उपाय यह है कि हम किसी के साथ अन्याय न करें और समानाधिकार के सिद्धान्त पर चलें। जब लोगों को, जो उनके लिए उचित होगा, मिलता रहेगा, तो क्यों अशान्ति और उपद्रव होंगे? विचार के क्षेत्र में इस बात को मान लेने में कोई दिक्कत नहीं है; पर आखिर इस पर अमल कैसे किया जाये? इसे व्यवहार में कैसे लाया जाये। यह मान लेने में किसी को क्या दिक्कत होगी कि भाई-भाई एक है, पति-पत्नी में कोई भेद नहीं है, पर यदि किसी के मन में यह एकता स्थिर नहीं रही तो कोरा न्याय या समता का उपदेश उस स्थिति को कैसे सुधार सकता है? सुधार सका है? सुधार सकेगा? इसके लिए कोई व्यावहारिक योजना बनानी ही पड़ेगी, कुछ नियम—शर्तें तय करनी ही होंगी। किसी-न-किसी रूप में बंटवारे की कोई तजवीज करनी पड़ेगी। केवल भावना को आघात पहुंचने से इतने बड़े दंगे और मार-काट नहीं हो सकती। जब तक कि स्वार्थों में टक्कर नहीं होती। फिर वह पद-सत्ता-सम्बन्धी हो, मान-सम्मान-सम्बन्धी हो, साम्पतिक या आर्थिक अथवा सामाजिक जीवन से सम्बन्ध रखती हो, धार्मिक प्रवृत्तियां या अधिकार उसके मूल में हों, तब तक बड़े उपद्रव, मार-काट नहीं होते। यह हो सकता है और अक्सर होता भी है कि थोड़े लोगों के स्वार्थों में टक्कर होती है और वे उसे बहुतों का—आम लोगों का सवाल बना देते हैं और उन्हें भड़का कर संगठित कर लेते हैं। वे अज्ञान, भावुकता में बहकर उनके फुसलावे में आ जाते हैं और पीछे जाकर पछताते भी हैं।

अतः एकता के इस प्रश्न के दो पहलू हो जाते हैं—भावनात्मक एकता और स्वार्थगत एकता। ये दोनों एक-दूसरे के पोषक है। यह कहना बहुत ही कठिन है, इनमें पहले कौन? पहले बाप या बेटा? बीज या फल, उत्पत्ति या प्रलय? जैसा ही जटिल यह प्रश्न है।

मेरी राय में मानव-जीवन में प्रेरणा दायिनी शक्ति तो भावना ही है, बुद्धि उसका नियन्त्रण करती है, सन्तुलन रखती है। स्वार्थों की एकता के आधार पर योजना बनाने में समाज और राष्ट्र का जीवन शान्ति के साथ चलता है। अतः भावना के क्षेत्र में हमें यह मानना होगा कि हम वैसे अलग-अलग हों, पर भीतर से एक हैं—एक आत्मा या एक मानवता में बंधे या गुंथे हुए हैं: बुद्धि के क्षेत्र में हमें यह सावधानी और जागरूकता रखनी होगी कि हम उस भावुकता में इतने तो नहीं बह गये हैं कि दूसरे की भावना या आत्मा को ठेस पहुंचाने के भागी बन गये हों या बन रहे हों। साथ ही व्यवहार के क्षेत्र में हमें ऐसी योजना, कार्यक्रम, विधि-विधान बनाने होंगे, जिनमें जन्म-सिद्ध अधिकारों या उचित स्वार्थों का किसी तरह अपहरण न हो, उल्लघन न हो। साथ ही एक ऐसा वर्ग या दल बनाना होगा, जो इन सब बातों पर निगाह रखे और इनके भग होने की अवस्था में उचित नियन्त्रण रखे।

मगर इन सब बातों को नये सिरे से करने की आवश्यकता नहीं है। हमारे भारतीय जीवन की स्थिति, रक्षा और विकास के लिए 'भारतीय संविधान' बना हुआ है। उसके अनुकूल और पोषक कई विधियां कानून-नियम आदि बने हुए हैं। स्वस्थ परम्पराएं भी मौजूद हैं। भारतीय संघ और राज्य सरकारों के रूप में ऐसा प्रशासक वर्ग भी है, जिसपर देश की शान्ति और एकता की जिम्मेदारी है। ये सब बातें बनी-बनाई मौजूद हैं। आध्यात्मिक, धार्मिक या नैतिक ज्ञान, उपदेश, परम्परा की भी कमी नहीं है। सिर्फ दो ही बातों का अभाव या कमी नजर आती है—एक तो सुयोग्य और क्रियाशील तथा प्रभावशाली नेतृत्व और दूसरे व्यक्तियों में जागरूकता। प्रभावशाली नेतृत्व वही हो सकता है, जो स्वयं उस एकता की प्रतिमूर्ति हो, इसी के लिए जीता और मरता हो। इसमें कोई शक नहीं कि हमारे पूज्य आचार्यश्री तुलसी अणुव्रत आन्दोलन के रूप में एक संगठित नेतृत्व हमें दे रहे हैं। उनके क्षेत्र का दायरा भी बढ़ता ही जा रहा है। अतएव हमें उनसे और भी अधिक आशा होती है। अन्यान्य क्षेत्रों में भी ऐसे नेतृत्व की आवश्यकता है। वैसे तो बापू के रूप में एक आदर्श नेतृत्व हमें मिला था। अब पूज्य विनोबा और पूज्य जवाहरलालजी के रूप में हमें जीवन की मूलभूत एकता पर अच्छा नेतृत्व मिल ही रहा है। इससे हमें आशा होती है कि भारत में जो अनेकता या फूट या भावनात्मक एकता का अभाव जगह-जगह दिखाई देता है, वह थोड़े समय में समाप्त हो सकेगा।
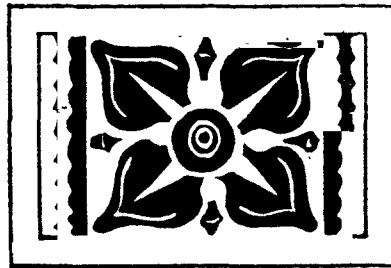
सम्यक् कृति

डा० कन्हैयालाल सहल एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रिंसिपल–बिरला आर्टस् कालेज, पिलानी

'संस्कृति' शब्द का व्युत्पत्ति लभ्य अर्थ है 'सम्यक् कृति'; किन्तु सम्यक् कृति किसे कहा जाये, यह अवश्य जटिल प्रश्न है, जिसका समाधान करने में बड़े-बड़े तत्त्वचिन्तक भी उलझन में पड़ जाते हैं। 'सम्यक् कृति' के महत्त्व को बौद्ध धर्म में भी स्वीकार किया गया है और यदि यथार्थ दृष्टि से देखा जाये तो समस्त गीता भी इसी सम्यक् कृति का आख्यान है।

संस्कृति और सभ्यता की परिभाषा

व्युत्पत्ति को छोड़ कर यदि प्रयोग पर दृष्टि डालें तो धर्म, कला,साहित्य आदि का 'संस्कृति' शब्द में अन्तर्भाव किया जाता है। इसके विरुद्ध सभ्यता शब्द के अन्तर्गत रेल, तार, जहाज, विशाल भवन आदि भौतिक उपकरणों का समावेश होता है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से सभा में बैठने योग्य व्यक्ति को सभ्य कहा जाता है और आजकल सभा में बैठने की योग्यता साज-सज्जा, वेश-भूषा आदि के बल पर उपलब्ध समझी जाती है। इससे स्पष्ट है कि सभ्यता जहाँ बाह्य वस्तुओं पर निर्भर करती है, वहाँ संस्कृति आन्तरिक उपकरणों पर आश्रित है।

आजकल के बुद्धिवादी वैज्ञानिक युग में धर्म शब्द का अपकर्ष दिखलाई पड़ रहा है। उसके स्थान में संस्कृति शब्द अधिक मान्य हो रहा है। किन्तु शब्द जो भी हो, सम्यक् ज्ञात होने पर वह 'कामधुक्' होता है। शब्दों के जगड्वाल से मुक्त होकर यदि हम 'संस्कृति' का ही सच्चा स्वरूप समझ ले तो यह हमारे लिए बहुत कुछ श्रेयस्कर हो सकता है।

मैक आइवर ने कहा था कि जिन भौतिक उपकरणों का हम प्रयोग करते हैं, वे तो हमारी 'सभ्यता' के अन्तर्गत है और जो कुछ हम वस्तुतः हैं, वह संस्कृति का क्षेत्र है। इस विश्लेषण से हमारा ध्यान श्रेष्ठ संस्कारों की ओर अनायास चला जाता है। संस्कृति यदि संस्कारों की समष्टि है तो निश्चित है उसकी उपलब्धि अनायास नहीं, सायास और साधना जन्य है। अर्थ का हस्तान्तरण आसानी से किया जा सकता है,किन्तु संस्कारों का नहीं। अच्छे संस्कार न क्रेय हैं, न विक्रेय। उनकी प्राप्ति के लिए साधक को साधना करनी पड़ती है। हमारे हृदय में सत् और असत् का द्वन्द्व निरन्तर चलता रहता है। संस्कार सम्पन्न व्यक्ति असत् से लोहा लेने में निरन्तर जागरूक रहता है, इसीलिए कबीर ने कहा है **'साध संग्राम है रैन-दिन जूझना।'** रैन-दिन जूझने से ही अच्छे संस्कारों की प्राप्ति होती है। इसीलिए गीताकार ने भी मनोनिग्रह के प्रसंग में वैराग्य के साथ-साथ अभ्यास का भी उल्लेख किया है अथवा यह कहा जाये तो और भी उचित होगा कि वैराग्य की अपेक्षा भी अभ्यास को प्रथम स्थान दिया है। इस अभ्यास की महत्ता के सम्बन्ध में मनोवैज्ञानिक, शिक्षा-शास्त्री और दार्शनिक सभी एकमत हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी विनयपत्रिका में यथार्थ ही कहा था :

वाक्य ज्ञान अत्यन्त निपुन भव पार न पावै कोई।
जिमि गृह मध्य दीप की बातन तम निवृत नहिं होई।

केवल वाक्य ज्ञान में निपुण होने से काम नहीं चल सकता। केवल दीपक की बातें करने से क्या कभी घर का अन्धकार दूर किया जा सकता है? सम्यक् क्रिया की अपेक्षा यदि तर्क हमारे स्वभाव का अंग बन गया तो वह केवल कतर-ब्योंत में लग जाता है, संस्कार-साधना में प्रवृत्त नहीं होने देता। इसीलिए महाकवि प्रसाद ने तो निरे तर्क को साधना में

बाधक माना है। उन्हीं के शब्दों में :

और सत्य यह एक शब्द तू कितना गहन हुआ है।
मेधा के क्रीड़ा पंजर का पाला हुआ सुआ है।
सब बातों में खोज तुम्हारी रट-सी लगी हुई है।
किन्तु स्पर्श से तर्क-करों के होता छुई मुई है।

एक अन्य प्रसंग में इसी महाकवि ने कहा है कि तर्क के छिद्र हृदय रूपी कलश को अमृत से भरा नहीं रहने देते—

बुद्धि तर्क के छिद्र हुए थे,
हृदय हमारा भर न सका।

अतः शास्त्रीय शब्दावलि का आश्रय लेकर कहें तो कह सकते हैं कि संस्कृति और साधना में परस्पर समवाय-सम्बन्ध है।

एक विरोधाभास

इस प्रसंग में एक विरोधाभास का उल्लेख भी आवश्यक है। यह संभव है कि कोई देश सभ्य हो और संस्कृत न हो, इसी प्रकार कोई देश संस्कृत हो और सभ्य न हो। कोई देश ऐसा भी हो सकता है, जहाँ सभ्यता और संस्कृति उचित अनुपात में घुल-मिल गई हों। यह तथ्य जैसे किसी राष्ट्र के लिए लागू है, वैसे ही व्यक्ति के लिए भी।

इसके अतिरिक्त एक-दूसरे महत्त्वपूर्ण तथ्य की ओर भी हमारा ध्यान गए बिना नहीं रहता। सभ्यता का रथ यदि एक बार चल पड़ता है तो वह निरन्तर गतिशील रहता है। रेल, तार, जहाज एक बार आविष्कृत हो गए तो इनकी गति अब रुकने की नहीं। किन्तु संस्कृति का रथ मन्द गति से चलता है, रेल, जहाज अथवा राकेट की गति उसमें नहीं आ सकती और कभी-कभी तो उसमें गति-रोध भी आ जाता है। महावीर, बुद्ध, शंकर, गांधी जैसे महापुरुष युगों के बाद पैदा होते हैं। अब कितने काल खण्डों का अतिक्रमण गांधी जैसे महापुरुष को जन्म दे सकेगा, कौन जाने ? करोड़ों रामा-श्यामाओं को मिलाकर भी राम और कृष्ण गढ़े नहीं जा सकते।

रावण की लंका में क्या नहीं था ? सभ्यता के सभी उपकरण उस स्वर्णपुरी में मौजूद थे, किन्तु संस्कारों का अभाव था, जिसकी ओर लक्ष्य करके वाल्मीकि रामायण की सीता ने रावण से कहा था—

नूनं न ते जनः कश्चिदस्मिन्निश्रेयसि स्थितः।
निवारयति यो न त्वां कर्मणोऽस्माद्विगर्हितात्॥
इह संतो न वा सन्ति सतो वा नानुवर्तसे।
यथा हि विपरीता ते बुद्धिराचारवर्जिता॥

—सुन्दर काण्ड

अर्थात् तुम्हारे कल्याण की कामना करने वाला यहाँ कोई दिखलाई नहीं पड़ता। यदि होता तो वह क्या तुम्हें इस घृणित कर्म करने से रोकता नहीं ? अरे, यहाँ संत क्या हैं ही नहीं अथवा संतों के मार्ग का तुम अनुसरण ही नहीं करते ? तभी तो तुम्हारी विपरीत बुद्धि आचार विहीन हो गई है।

वैज्ञानिक प्रगति और मानवता

आज के इस बौद्धिक युग में विज्ञान अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच रहा है। रूस और अमरीका समय पाकर चन्द्र-लोक की यात्रा भी करेंगे। इसमें सन्देह नहीं, यह मानव की बौद्धिक गरिमा का ज्वलन्त उद्घोष है, किन्तु यदि मानव ने अपनी मानवता छोड़ दी, स्पर्धा, ईर्ष्या, द्वेष और स्वार्थ के भावों से आक्रान्त होकर उसने युद्ध की विभीषिकाओं की आग सुलगा दी तो कहाँ रहेगी मानवता और कहाँ रहेंगे सभ्यता के आश्चर्यजनक उपकरण।

रूस और अमरीका परस्पर विरोधी विचारधाराओं से आक्रान्त होकर एक-दूसरे को नीचा दिखाने में लगे

है। पता नहीं, इस भयंकर स्पर्धा का परिणाम क्या हो ?

आज मानवता विकट स्थिति में है, उसे आश्रय-स्थल चाहिए। सूर्य के प्रकाश की भाँति स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि विज्ञान भले ही अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाये, मानवता की रक्षा मानवता के उदार नियमों द्वारा ही हो सकती है।

'भूमा वै सुखं, नाल्पे सुखमस्ति' द्वारा औपनिषदिक ऋषियों ने जिस सत्य का उद्घाटन किया था, वही सत्य आज आचार्यश्री तुलसी जैसे संत भी उद्घाटित कर रहे हैं। रस्किन, टाल्स्टाय और गांधी जैसे तत्त्वान्वेषी मनीषियों ने यह प्रतिपादित किया था कि मनुष्य मूलतः अच्छा है, किन्तु जैसा वेदान्त में प्रसिद्ध है, उपाधि के कारण वह अपने स्वरूप को भूल गया है। उसे आज वैज्ञानिक उत्कर्ष से भी अधिक आत्मोपलब्धि चाहिए; भूमाविशिष्ट अपने उदार सत् स्वरूप को खोकर वह चन्द्र लोक भी पहुँच जाये तो किस काम का ?
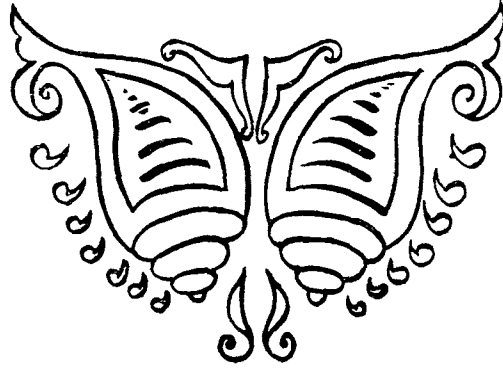
नैतिकता और देशकाल-परिवर्तन

डा० प्रभाकर माचवे

संयुक्तमंत्री—साहित्य एकादेमी, नई दिल्ली

पूर्व और पश्चिम के नैतिकता-सम्बन्धी दृष्टिकोण में क्या अन्तर है ? यदि विश्व में मानवमात्र समान है तो वह चाहे पूर्व में बसता हो या पश्चिम में, उत्तर में या दक्षिण में; कुछ ऐसे मूलाधार तो होने ही चाहिएं, जिनसे साम्य खोजा जा सकता है, या कि सब-कुछ सापेक्ष है ? ऐसे कई प्रश्न सहसा मन में उठते हैं। पूर्व और पश्चिम के विषय में तीन विचारधाराएं हैं, इन दो दिशाओं में बसने वाले मनुष्यों में कोई समानता न थी, न है, न हो सकेगी, "पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम और ये दोनों कभी मिल नहीं सकते।" दूसरा दृष्टिकोण, इससे उलटे पूर्व और पश्चिम में सम्पूर्ण अभेद मानने वालों का है। दिशा-भेद से मनुष्य के मनुष्यत्व में कोई मौलिक भेद नहीं हो जाता। इतिहास उठते-गिरते, अदलते-बदलते है, सामूहिक सभ्यताओं का उद्भावन-विलयन होता रहता है। इन सब परिवर्तनों के भीतर भी मनुष्य की अखंड सत्ता कायम रहती है। वह स्थायी है। तीसरी तर्क-स्थिति यह है कि उपर्युक्त दोनों विचार सही हैं : कुछ बातों में पूर्व और पश्चिम के मानवों में सदा अन्तर रहेगा, जैसे त्वचा का रंग या शरीर-रचना आदि; गुणों में पूर्व-पश्चिम के मानवों में सदा साम्य रहेगा, जैसे हिंसा के प्रति जुगुप्सा।

पाश्चात्य नीतिशास्त्रियों ने इस पर विचार किया है और पूर्व और पश्चिम की मूलभूत असमानताओं को वे इस प्रकार से परिभाषित करते हैं :

१. पूर्व में परमोच्च सत्ता (ईश्वर, ब्रह्म, अर्हत्-पद आदि) और आत्म-तत्त्व को एक मानते है। हिन्दू, बौद्ध, जैन, सिक्ख, कनफ्यूशियन आदि पूर्व के धर्मों में इस अभेद और अखण्डता पर जोर है; जब कि ईसाई, यहूदी, मुस्लिम, पारसी धर्मों में द्वित्व पर जोर है। वहाँ 'नर' 'नारायण' नहीं बन सकता। दोनों स्थितियों में सदा अन्तर बना ही रहेगा, वह कम-ज्यादा हो सकता है।

२. पूर्व में 'अस्ति' (और 'नास्ति') पर जोर है, जबकि पश्चिम का सारा ध्यान 'कर्म' पर है। यानी पश्चिम वाले जब मिलेंगे तो पूछेंगे 'हाउ डु यू डु' (आप क्या करते है ?); पूर्व का व्यक्ति 'करने' से ज्यादा 'होने' पर जोर देता है। जैन-बौद्ध धर्मों में तो इस तर्कशास्त्र और नीतिशास्त्र का तथा ईसाई-इस्लाम आदि धर्मों का सारा लक्ष्य पाप-पुण्य की बारीक छानबीन में लग गया है। पूर्व में अपेक्षा भेद से गीता-जैसे ग्रन्थों में युद्ध को भी धर्म मान लिया जाता है। यहाँ कर्म का योग बन जाता है; वहाँ योग-क्षेम कर्मानुसारी और कर्मावलम्बी होने से मार्क्स की सृष्टि होती है।

३. पूर्व की वृत्ति सर्वधर्म-समभावी या सह-अस्तित्व-विश्वासी है। उसके लिए संश्लेषण, समन्वय, समवाय, समाहार जैसी बातें और क्रियाएं नीति-सम्मत हैं। पश्चिम के लिए, चूंकि वहाँ के धर्म एक-दूसरे से एकदम भिन्न और मत-परिवर्तन द्वारा एक-दूसरे पर छा जाने का अहंकार, और 'केवल मैं ही हूँ अन्य सभी हैं जबकि वे मेरे जैसे हों' ऐसी 'ऐक्स-क्ल्यूजिव' वृत्ति रखते हैं, इसलिए 'यह भी सही, वह भी सही' उनके लेखे 'रामाय स्वस्ति, रावणाय स्वस्ति' जैसी अनैतिक वृत्ति है। पश्चिम वालों के हिसाब से पूर्व के लोग 'सुनना सबकी, करना मन की' वाली 'सिंक्रेटिक' यानी 'आधी-सुनी आधी गुनी', दिखावटी नम्रता और केवल ऊपरी-ऊपरी तौर से 'हाँ में हाँ' मिलाने वाली वृत्ति रखते हैं।

लोकतन्त्र और कल्याण-राज्य के युग में इन तीन असमानताओं को और भी धार मिल गई है। अल्पसंख्यकों के साथ क्या सलूक हो ? जाति-भेद, सम्प्रदाय-भेद, भाषा-भेद, लिपि-भेद वाले देश में यह 'एकता', 'अखण्डता', 'समानता' का नारा कहाँ तक अर्थ रखता है ? क्या यह केवल अपने मन को धोखे में रखने के बराबर नहीं है ? काशी के मन्दिरों पर

स्वर्ण-कलश हों; वृन्दावन में सोने के खम्भे हों और त्रिचनापल्ली में देवताओं पर सोने के जेवरात पहनाये जाते हों; पर बाहर गलियों में जो भिखारी और कोढ़ी, पंगु और अन्धे याचकों को दान-दया से पाला-पोसा जाता है, विदेशी की नजर में इन दोनों स्थितियों में कोई नैतिक ताल-मेल नहीं दिखाई देता। जब-जब हमने विदेश में बुद्ध, महावीर और गांधी के देश में अहिंसा की प्रतिष्ठा की बात जोरों से कही, विदेशियों की ओर से आवाज उठाई गई, आर्यों का आक्रमण, महाभारत, अशोक की कलिंग-विजय, कुरुक्षेत्र और पानीपत की लड़ाइयाँ, १८५७, ठगों के अत्याचार, १९४७ के हिन्दू-मुस्लिम दंगे और कालीमाई के मन्दिरों में अब भी पशु-बलि—यह सब भारतीयों की अहिंसा के प्रमाण हैं क्या? और ये सब ऐतिहासिक तथ्य हैं। क्या हम कहीं अपने ही मन की निर्माण की हुई झूठी, ख्याली, आदर्शात्मक शब्दावलि की खोखली स्वप्निल दुनिया में तो नहीं रहते! विदेशी प्रत्यक्ष प्रमाण चाहता है; हमारे देश में परोक्ष का पूजन है। विदेशी बात नहीं काम में जांचता है; हमारे यहाँ हर काम को बात में परिवर्तित करने की कला हमने विकसित की है, 'कर्म' का भी 'दर्शन' बना डाला है।

यों नीति या नैतिकता के दूसरे परिणाम भी हैं: व्यक्ति इकाई है, पर वह परिवार, सम्बन्धी जाति, ज्ञाति, समाज ग्राम, नगर, देश, जगत् आदि घेरों से बँधा है। 'जयहिन्द' से 'जय जगत्' अभिनन्दन-पद्धति में अन्तर कर देने से समस्याएं नहीं सुलझतीं। क्या सच व्यक्तिवाद पूर्व में ही अधिक है? क्या पश्चिम के लोग अत्यन्त व्यक्ति-केन्द्रित नहीं हैं; यंत्र-सभ्यता के विकास के साथ-साथ व्यक्ति-व्यक्ति के बीच ऐसे निर्वैयक्तिक सम्बन्ध स्थापित हो रहे हैं कि व्यक्ति शब्द की परिभाषा बदल रही है। जिस प्रकार से व्यक्तिवाद शब्द की नैतिकता का अर्थ-बोध बदल रहा है; समाजवाद शब्द का भी वही अर्थ नहीं रहा जो उसके आरम्भिक रूप में था। फेबियस, रूसो, मार्क्स, क्रोपाटकिन के जमाने से आज के युग तक उसकी व्याख्या बराबर बदलती-बदलती जा रही है और यदि शब्दों या विचारों के अर्थ इतने इतिहास-सापेक्ष और भूगोल सापेक्ष हों तो उन्हें अर्थ कैसे माना जा सकता है। वे विचार न होकर केवल भावाभास, केवल कल्पना-बुद्बुद हैं। क्या ऐसी सिकता पर सभ्यता के प्रासाद खड़े किये जा सकते हैं? बालू की भीत कब तक टिकेगी? 'शाखे-नाजुक में आशियाना बनेगा, नापायेदार होगा'—इक़बाल ने कहा था कि 'तुम्हारी (यानी पश्चिम की) तहज़ीब खुदकशी करेगी'। क्या पश्चिम की सभ्यता आत्म-हत्या के किनारे पर पहुँच गई है? पर पूर्व के पास भी देने के लिए कौनसी नवीन विचार प्रेरणा है? आर्थर क्वेस्लर महोदय भारत और जापान के दौरे के बाद किस निर्णय पर पहुँचे हैं? क्या हमारे मठ-मन्दिर, हमारी तथाकथित 'योग' की दूकानें और सन्तों जैसी शब्दावली का प्रयोग करने वाले बहुत-से लोग केवल नाम-मात्र के ढकोसले नहीं हैं? कई बार पूर्व के बारे में हम बोलते हैं, तब उसमें हमारी आत्म-निष्ठ भाव-सबलता भी तो मिश्रित रहती है। क्या हम अपने बारे में पूर्णतया वस्तु-निष्ठ हो सकते हैं?

इस सारी विचार-प्रहेलिका में विज्ञान ने और एक नया आयाम उपस्थित किया है: दिगन्त और अवकाश को भेद कर रूसी गगारिन और तीतोव और अमरीकी शेपर्ड आदि एक नई गतिमत्ता की पराकाष्ठा उपस्थित कर रहे हैं। अब दिशा या दिक् की परिभाषा बदल जायेगी, ऐसा लगता है; पुराना यान्त्रिक गणित, न्यूटन और दकार्त का पदार्थ-विज्ञान और तर्क अब आइन्स्टाइन के युग में पुराना पड़ रहा है। मनुष्य और उसके परिवेश प्रकृति और भौतिक सत्ताओं के बीच के सम्बन्ध तेजी से बदल रहे हैं। क्या इनका प्रभाव, प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, नीतिशास्त्रीय चिन्तन पर बिलकुल नहीं पड़ता? क्या मानवीय-नीति, जीवमात्र की नीति से भिन्न है? पुद्गल की नीति कोई भिन्न नीति है? आधुनिक आणविक-शास्त्रवेत्ता तो ऐसा नहीं मानते; उनके हिसाब से जीव-अजीव, सप्राण-अप्राण के बीच में सीमा-रेखा खींचना बहुत ही कठिन है। जैन तत्त्व-ज्ञान में इसी प्रकार का विचार बहुत वर्षों पूर्व स्याद्वादियों और अनेकान्त-विश्वासियों ने प्रस्तुत किया था।

संक्षेप में, मैंने ऊपर कई प्रश्न उठाये हैं, जिनके पूरे उत्तर मेरे पास भी नहीं हैं; न मैं समझता हूँ कि किसी एक विचारक-चिन्तक या एक सम्प्रदाय के पास ही वे हैं। देश और काल की परिवर्तन की गति बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों नीति-सम्बन्धी विचारों का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। परन्तु पुनर्मूल्यांकन का अर्थ यह नहीं है कि हम उच्छिन्न हो जाएं। गांधीजी ने लिखा था कि "मैं अपने घर की खिड़कियाँ प्रकाश और हवा के लिए खुली रखूँगा, लेकिन उसकी नींव मजबूत

चट्टान पर होगी। मैं पराये घर में याचक, मालिक या दूसरे का स्थान हड़पाने वाले की तरह नहीं रह सकता।" स्व-धर्म और पर-धर्म के बीच जब हम श्रेय और भय की चर्चा उठाते हैं, तब 'स्व-पर' भेद को काट कर जो सच्ची और मौलिक नैतिकता सबको व्यापे हुए है, उसे भुलाकर हम कैसे चल सकते हैं ? उदाहरणार्थ, और सब बातों में सब राष्ट्र, समाज, धर्म-समूह अलग-अलग विचार रखते हों; पर 'युद्ध बुरा है', 'हिंसा अनैतिक है', इस बात पर तो सब सहमत हैं। अन्यथा 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' की उपयुक्तता ही क्या होती ? मनुष्य का मनुष्यत्व इस बात पर आग्रह करता है कि अपना हनन न करे, औरों का हनन न करे। यद्यपि कुछ धर्मों में आत्म-बलि, हाराकिरी या राष्ट्र के लिए मर-मिटने वाले नाज़ी या फासिस्ट नारों की इस युग में भी कमी नहीं। मनुष्य की नैतिकता प्रथमतः और अन्ततः मनुष्य के लिए है, इस कथन से तो शायद पूर्व-पश्चिम और विभिन्न धर्मानुयायी सभी सहमत होंगे। यदि यह सही है तो शान्ति एक ऐसा मूल्य बन जाता है, जो देश-काल के परिवर्तन के बावजूद अपरिवर्तनीय रहता है।

दूसरा मूल्य हम प्रामाणिकता कह सकते हैं। विचार-उच्चार-आचार की संगति, कथनी और करनी में अभेद, एक दूसरा ऐसा मूल्य है जो देशकाल परिवर्तन से अप्रभावित रहता है। राजनीति में कई बार 'अश्वथामा हतो, नरो वा कुंजरो वा' या 'एक का अन्न, दूसरे का विष' वाली बातें सुनने को मिलती है। परस्पर सन्देह पर कूटनीतिज्ञों का सारा अस्तित्व निर्भर है। परन्तु समाज की सारी अवधारणा, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच विश्वास (जो कि प्रामाणिकता से उपजता है) पर ही है। यदि हम प्रत्येक क्षण पर दूसरे से कतराते, डरते, सकपकाते, भय खाते, शक करते चलें, तो शायद मानव-सम्बन्ध असम्भव हो जाएं। सारे उद्योग और व्यापार, शपथ और प्रतिज्ञाएं, अपेक्षा और सफलता आदि शब्द बेमानी हो जाएं। तो पूर्व और पश्चिम के बीच नीति का दूसरा मूलाधार स्व-संगति अथवा प्रामाणिकता है।

देश-काल के परिवर्तन के बावजूद नैतिकता की नींव जिस आधार पर बार-बार आकर रुकती है, वह यम-संयम का कोई-न-कोई रूप है। आदिम समाज से अराजक समाज तक सामाजिक आचार-संहिता का आधार ऐसे अपने-आप बोलते हुए अनुशासन या नियम हैं (जो चाहें अलिखित हों), जो अपने स्वातन्त्र्य के साथ दूसरे के स्वातन्त्र्य में बाधा नहीं डालते। इस प्रकार से सारे मानव-व्यापार अन्ततः स्वाधीनता से सम्बद्ध हैं। मैं दूसरे को बदल नहीं सकता, इसलिए उपदेश और नसीहतें देना कोई मानी नहीं रखता। यह सब ऊपरी-ऊपरी हवाएं हैं—जड़ों के भीतर कोई और चीज है जो काम करती है। व्यक्ति व्यक्ति को नैतिक बल से बदल सकता है, यह हमारी पुरानी धारणा हमें बदलनी होगी। व्यक्ति केवल अपने को बदल सकता है। दूसरे पर उसका प्रभाव पड़े या न पड़े। 'अन्य' या 'पर' का हम कुछ भी नहीं कर सकते, ऐसा आधुनिकतम पश्चिमी अस्तित्ववादी मानते हैं। अतः नीति की चर्चा हमेशा अपनी चर्चा होनी चाहिए; औरों की चर्चा हमें अटकाती है। कभी-कभी वह अपनी चर्चा न करने का बहाना बन जाती है। आत्म-संयम या आत्म-नियमन ही नीति का मूलाधार हो सकता है। उसी में सच्ची स्वतन्त्रता है। अणुव्रत-आन्दोलन का केन्द्र भी यही है।

मेरे मत से शान्ति (अहिंसा), प्रामाणिकता और स्वातन्त्र्य नये मानवतावाद के मौलिक तत्त्व हैं, जिन पर देश-काल-परिवर्तन के बावजूद नीति का निर्माण होता चला आया है और आगे भी होगा।
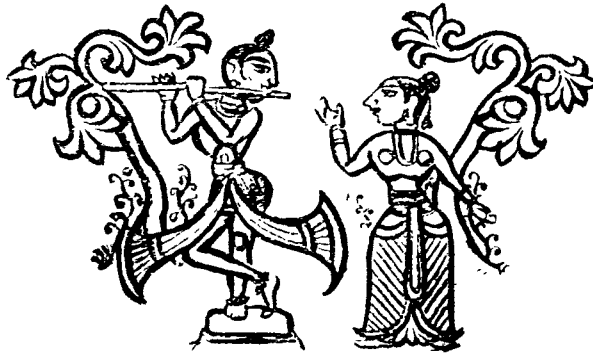
नैतिकता का मूल्यांकन

श्री मुकुटबिहारी वर्मा
सम्पादक—हिन्दुस्तान

अनैतिकता या भ्रष्टाचार की बात आज जितनी फैली हुई है, उतनी इससे पहले भी फैली है, यह कहना मुश्किल है। हर मुँह दूसरों की बुराई और भ्रष्टाचार के अजगर की तरह फैलते जाने की चर्चा सुनी जा सकती है। इसमें कोई सार नहीं है, ऐसा कहना सच्चाई से इन्कार करना होगा। लेकिन यह भी एक सच्चाई है कि सब-कुछ दूसरों से ही चाहा जाता है, अपनी ओर देखने और अपना सुधार करने की कोई चिन्ता नहीं करता। हमारी सम्मति में नैतिकता के मूल्यांकन का यह तरीका सही नहीं है, न इस तरह स्थिति को सुधारा ही जा सकता है।

अनैतिकता या भ्रष्टाचार का इस समय बोलबाला है, इससे इन्कार न करते हुए भी हम कहेंगे कि 'खुदरां फ़जीहत दीगरां नसीहत' के बजाय 'हकीमजी, पहले अपना इलाज कीजिए' का रास्ता अपनाया जाये, तभी अनैतिकता की बाढ़ को रोका जा सकता है। सोचने की बात यह है कि भ्रष्टाचार या अनैतिकता को सहारा कहाँ से मिलता है? भौतिकता की चकाचौंध, जीवन-स्तर ऊँचा करने की आकांक्षा, दूसरों की नज़र में ऊँचा बढ़ने की हविस जब साध्य का रूप ले ले और लक्ष्य-सिद्धि के लिए साधनों की अच्छाई-बुराई व्यावहारिक रूप में गौण बन जाये तो अपना काम बनाने के लिए हर कोई यह नहीं देखता कि वह ठीक तरह ही बढ़ रहा है या नहीं।

जब हम भ्रष्टाचार के बढ़ने की बात करते हैं और हर उस व्यक्ति या दूसरों की उसके लिए नुक्ताचीनी करते हैं, तब इस बात का ख्याल नहीं करते कि स्वयं हम अपना काम सुगमता से कराने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करते हैं या नहीं? 'प्रभाव' शब्द सामान्य रूप में है, जो अपने पद या समाज में अपनी स्थिति के अनुरूप काम करता है अथवा पैसे के सहारे। पैसा देकर जो काम अनियमित रूप से कराया जाता है, उसे स्पष्ट रूप में हम भ्रष्टाचार कह कर उसकी निन्दा करते हैं; पर अपने पद या सामाजिक स्थिति के प्रभाव से अनियमित रूप से जो काम कराया जाये, वह भी क्या भ्रष्टाचार या अनैतिकता ही नहीं है? और, रात-दिन भ्रष्टाचार की आलोचना करने वाले तथा दूसरों को बुरा कहने वाले ऐसे कितने आदमी हैं जो अपना काम सुविधा से दूसरों से पहले करा लेने के लिए अपने पद या प्रभाव का उपयोग नहीं करते? जब हम लम्बी लाइन की अपनी बारी को बचाने की इच्छा करते हैं, या कोई काम सामान्य रूप में होने वाले समय से कम समय में अथवा कठिनाई से बच कर करा लेना चाहते हैं, तब ऐसा असामान्य रूप से ही किया जा सकता है। वह 'असामान्य रूप' अपनी स्थिति या शक्ति का प्रभाव ही हो सकता है। अतः समाज से भ्रष्टाचार या अनैतिकता को दूर रखना है तो दूसरों की बुराई करने के बजाय अपनी ऐसी इच्छा या प्रवृत्ति को पहले रोकना होगा।

मतलब यह कि भ्रष्टाचार के लिए दूसरों की आलोचना करने के बजाय उसके मूल कारण कठिनाई या असुविधा से बचने के लिए सामाजिक स्थिति पर या धन के प्रभाव को काम में न लाने का निश्चय और अभ्यास करना होगा। यह दूसरों से चाहने के बजाय खुद करने की बात है; क्योंकि दूसरों से सिर्फ चाहा जा सकता है, लेकिन खुद करने में कोई रुकावट नहीं। और इस तरह शुद्ध या भ्रष्टाचार-रहित बनने का क्रम अपने से चले तो समाज में भी उसकी सुगन्ध फैले बगैर नहीं रहेगी तथा समाज में ऐसे लोगों का विस्तार होकर नैतिकता या भ्रष्टाचार-हीनता को प्रोत्साहन मिलेगा। आज तो स्थिति यह है कि सब-कुछ दूसरों से चाहा जाता है और खुद वैसा करने की चिन्ता नहीं की जाती। मानो हर-एक यह चाहता है कि दूसरे सब तालाब में दूध डालें और मैं अगर पानी डाल दूंगा तो कोई फर्क नहीं पड़ेगा। ऐसा

सोचना किसी एक का ही अधिकार नहीं होता; जिसका परिणाम यह होना है कि तालाब में ज्यादातर लोग पानी ही डालते हैं और दूध या तो कोई नहीं डालता या फिर ऐसे लोगों के अपवाद-रूप होने से दूध की जगह पानी ही ज्यादा होता है। फलतः आलोचना के बावजूद अनैतिकता और भ्रष्टाचार घटने के बजाय बढ़ते ही जा रहे हैं।

अणुव्रत-आन्दोलन मनुष्य में नैतिकता लाने का आन्दोलन है। क्या अच्छा हो कि परोपदेश या पर-निन्दा के बजाय यह हम लोगों में स्व-कर्तव्य-पालन की भावनाओं को प्रोत्साहन दें और ऐसे आदर्श उपस्थित करें जो दूसरों से चाहने या दूसरों की आलोचना करने के बजाय खुद कोई अनैतिकता न करें, यानी कष्ट और असुविधा बचाने के लिए किसी तरह के प्रभाव का उपयोग करने के लोभ से मुक्त हों। ऐसा हो, तभी भ्रष्टाचार की समस्या का कोई समाधान सम्भव होगा, ऐसा हमारा नम्र अभिप्राय है। अतः नैतिकता का हमारा मूल्यांकन बदलना चाहिए और उसकी कसौटी यह होनी चाहिए कि दूसरों से चाहने के बजाय खुद करने का प्रयत्न किया जाये।
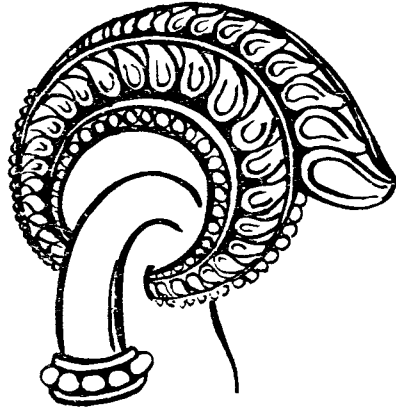
अनैतिकता : अस्वस्थता का मूल कारण

डा० द्वारिकाप्रसाद

जीव, मन, ज्ञान, विचार, इच्छा, चेतना और जीवनी-शक्ति से युक्त पंच महाभूत (क्षिति, अप्, तेज, व्योम और मरुत्) से सर्जित अनुपम यंत्रवत् मानव-शरीर सृष्टि की सबसे बड़ी देन है। यद्यपि जीव, मन, ज्ञान आदि की क्रियाओं को हम सभी शरीर की बाह्य प्रतिक्रियाओं द्वारा देखते और अनुभव करते हैं, पर यह नहीं समझ पाते कि जीव, मन, शरीर आदि आपस में मिल कर किस प्रकार सम्मिलित रूप से कार्य करते रहते हैं तथा किस प्रकार जीवनी-शक्ति, जो एक अभौतिक तत्त्व है, शरीर के सभी कोषों और तन्तुओं को प्रभावित कर अकेले ही सरलता-पूर्वक भौतिक व्यवस्था की विधियों का पालन करती हुई शरीर के सभी अंगों को जीवन के निमित्त जीवन-सम्बन्धी सभी कार्यों के सम्पादनार्थ उत्प्रेरित करती है।

भारतीय दर्शन के अनुसार जीव ब्रह्म से एवं मन जीव से उद्विकसित हुआ है। जीव, मन और शरीर परम अस्तित्व, परम चेतना एवं परम आनन्द (सच्चिदानन्द) की मूलभूत सामग्रियों की त्रिगुण व्यवस्थापनाएं हैं। यह मूलभूत वास्तविकता शरीर में अन्तर्भूत है और सृष्टि उद्विकासी प्रक्रिया-मात्र। मानव-जीवन-विज्ञान का सृजन विचार, इच्छा और कर्म से हुआ है। मनुष्य सोचता है, इच्छा करता है और उसके बाद वह कोई कर्म करता है। उसके सभी ऐच्छिक कर्मों से पूर्व उसमें लक्ष्य-विचार, साधन-विचार संकल्प, इच्छा आदि मानसिक क्रियाएं और बाद में शारीरिक प्रक्रियाएं होती हैं। इस प्रकार उसका प्रत्येक ऐच्छिक कर्म उसकी आन्तरिक क्रियाओं का फल-मात्र होता है।

सृष्टि में मानव ही एक ऐसा प्राणी है जो तर्क-प्रदत्त है और यही कारण है कि उसको अपने शुभ-अशुभ और उचित-अनुचित समझने का ज्ञान प्राप्त है। उसके इस ज्ञान के कारण ही उसे नैतिक प्राणी भी कहा जाता है। वह केवल आत्म-चेतना से ही सम्पन्न नहीं है, बल्कि वह नैतिक चेतना अर्थात् उचित, अनुचित, दायित्व और उत्तरदायित्व की चेतनाओं से भी सम्पन्न है। उसकी नैतिकता उसके विवेकपूर्ण कर्मों का सुव्यवस्थित संग्रह होता है। उसके सभी नैतिक कर्तव्य उसकी नैतिक प्रकृति की माँग पर निर्भर करते हैं। नैतिकतापूर्ण आचरण के लिए बहुत सारे आदेश हैं। इन आदेशों में शारीरिक अथवा प्राकृतिक नियमों के पालनार्थ भी एक आदेश है, जिसे आचार-शास्त्र में शारीरिक या प्राकृतिक आदेश कहते हैं। मानव के शुभ-अशुभ आचरणों के फलस्वरूप ही उसकी आयु, उसके बल एवं उसके मानसिक या शारीरिक स्वास्थ्य पर हितकर या अहितकर प्रभाव पड़ते हैं। स्वास्थ्य के नियमों का उल्लंघन करने से स्वास्थ्य खराब होगा और उसके दण्ड के रूप में मानव को रोगी होना पड़ेगा—यही हैं उसके स्वास्थ्य-सम्बन्धी नैतिक आदेश।

मनुष्य की जीवन-व्यवस्था में समाविष्ट उसके जीवन-सम्बन्धी शुभ-अशुभ एवं उचित-अनुचित कर्मों पर विचार करने के ज्ञान के कारण ही उसे अपने जीवन की वास्तविकताओं और उसके अस्तित्व के अभिप्रायों को समझने की क्षमता प्राप्त है। जीवन की वास्तविकताओं को समझने, उसके अस्तित्व के अभिप्रायों की पूर्ति तथा उसके उचित उपभोग के लिए उसकी आन्तरिक क्षमताओं का सर्वांगीण विकास अत्यावश्यक होता है। पर आन्तरिक क्षमताओं का सर्वांगीण विकास तभी सम्भव होता है, जब उसके जीवन की वास्तविकताओं के सम्बन्ध के उसके ज्ञान के साथ अभिप्रायों की पूर्ति तथा उसके अस्तित्व के उचित उपभोग की उसकी ऐच्छिक शक्ति के विकास के लिए मन और शरीर सुव्यवस्थित हों। सुव्यवस्थित मानसिक एवं शारीरिक अवस्था को ही हम स्वस्थ अवस्था कहते हैं।

मानसिक एवं शारीरिक व्यवस्था के लिए उसमें एक अदृश्य शक्ति होती है, जिसे जीवनी-शक्ति कहते हैं। इस

शक्ति का बोध केवल उसके शरीर की अनुभवगम्य चेतनाओं और क्रियाओं द्वारा ही होता है। इसका काम है शरीर और उसके प्रत्येक अंश को मस्तिष्क के साथ जुड़ा रखना। जीवनी-शक्ति एक सरल अभौतिक तत्त्व है और वह एक अन्य सरल अभौतिक तत्त्व द्वारा, जिसे आत्मा कहते हैं, शासित होती है। सुविख्यात होमियोपैथिक चिकित्सक एवं दार्शनिक डॉक्टर जे० टी० केण्ट ने जीवनी-शक्ति को आत्मा का उप-राज प्रतिनिधि माना है। स्वस्थ अवस्था में यह अभौतिक जीवनी-शक्ति मनुष्य के भौतिक शरीर को अनुप्राप्त करती है, सीमाहीन चक्रवत् गति के साथ शासित करती है एवं उसकी शारीरिक व्यवस्था के सभी अंशों की चेतनाओं और क्रियाओं की जीव सम्बन्धी क्रियाशीलता में प्रशंसनीय सामंजस्य रखती है, ताकि उसके अस्तित्व के उच्चतर अभिप्रायों की पूर्ति के निमित्त उसका तर्क-प्रदत्त मस्तिष्क उसके स्वस्थ उपकरणवत् शरीर को स्वतन्त्रतापूर्वक काम में ला सके।

डॉक्टर केण्ट के मतानुसार शरीर के शासन का केन्द्र मस्तिष्क का मुख्य भाग होता है, जहाँ से शरीर का प्रत्येक स्नायुकोष्ठ, जो उसके अन्तरतम मध्यम एवं बहिर्तम का प्रतिनिधित्व करता है, शासित होता है। शरीर की सुव्यवस्था या कुव्यवस्था के लिए सभी कार्रवाइयाँ यहीं से आरम्भ होती हैं। अतः स्वस्थ अवस्था में उसका जीवन, एक इकाई की सामान्य सक्रियताएं और उसकी सभी शक्तियाँ केन्द्र की क्रिया के फल मात्र होती हैं। प्रत्येक वस्तु, जो केन्द्र से प्रभावित एवं नियन्त्रित होती है, उसे केन्द्र से सम्बद्ध माना जाता है। जिस प्रकार केन्द्र की शासन-प्रणाली में किसी प्रकार की गड़बड़ी होते ही उससे सम्बद्ध सभी राज्यों की शासन-प्रणालियाँ प्रभावित हो पड़ती हैं, उसी प्रकार मानसिक क्रियाओं में दोष आ जाने पर मनुष्य के विचार और उसकी इच्छा की प्रणालियाँ कुव्यवस्थित हो जाती हैं, जिसके कारण वह शुभ-अशुभ का ज्ञान खो बैठता है और उसके कार्य अनुचित होने लगते हैं। मानसिक व्यवस्था में कुव्यवस्था के फलस्वरूप परिवर्तित चेतनाओं एवं क्रियाओं की उत्पत्ति के साथ परिवर्तित जीवन ही रोग होता है। अतः मनुष्य के रोग की अवस्था में ऐसा सोचना ठीक नहीं होता कि उसकी दैहिक क्रियाओं से उसमें दूषित क्रियाएं उत्पन्न होती हैं; बल्कि ऐसा सोचना चाहिए कि दूषित आन्तरिक क्रियाओं द्वारा पूर्णरूपेण प्रभावित हो जाने के कारण ही वह एक दूषित अवस्था बन जाता है। रोग कोई पृथक् तत्त्व नहीं होता, जो उसके शरीर के भीतरी भाग में कहीं छिप कर रहता है; बल्कि उसके अनियमित तथा अनैतिक जीवन के फलस्वरूप ही वह उसकी परिवर्तित मानसिक अथवा शारीरिक कुव्यवस्था की एक गुणात्मक अवस्था-मात्र है।

पहले कहा जा चुका है कि मनुष्य की सुव्यवस्थित मानसिक एवं शारीरिक अवस्था ही उसकी स्वस्थ अवस्था होती है। उसकी यह स्वस्थ अवस्था उसके रहन-सहन, आचार-विचार एवं आहार-विहार आदि के नियमों पर निर्भर करती है। ये नियम प्राकृतिक नियमों पर आधारित है तथा उसी प्रकृति द्वारा स्थिर भी किये गए हैं, जिसमें वह जन्म लेता, पलता, युवा, प्रौढ़ और वृद्ध होता तथा मर जाता है और जन्म से लेकर मृत्यु तक की अवधि में अपने जीवन-सम्बन्धी सभी कार्यों को करते हुए जीवित रहता है। प्राकृतिक नियमों के अनुकूल अपने आचरणों द्वारा रोगोत्पादक शक्तियों पर विजय पाते हुए स्वस्थ जीवन व्यतीत करना ही तो मानव-धर्म है। चिकित्सा-जगत् भी इस बात को सहर्ष स्वीकार करता है कि मानव-स्वास्थ्य का वास्तविक प्रभाव औषधि-चिकित्सा के बाहर की वस्तु है। प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन करते हुए औषधि के बल पर मानव स्वस्थ नहीं रह सकता। वह पूर्ण स्वास्थ्य का आनन्द तभी ले सकता है, जब वह अपने विवेक की अन्तर्वाणी के आदेशों का पालन करते हुए अपना कर्म करता है; अर्थात् न्यायपरायण, धर्मपरायण, कर्तव्यपरायण, विवेकी तथा नैतिक उत्तरदायित्व के ज्ञान से सम्पन्न और सत्यवादी, दयालु, ईमानदार, निष्कपट और उद्योगी होता है। वह सर्वदा स्वयं को शृंखलाबद्ध व्यवस्था में रखने की आकांक्षा रखता है ताकि उसके विचार विवेक-पूर्ण हों और वह स्वस्थ जीवन व्यतीत करे। अतः मनुष्य के स्वस्थ जीवन से उसके ज्ञान एवं नैतिक आचरण का प्रदर्शन होता है और उसके अस्वस्थ जीवन से उसके अज्ञान एवं अनैतिक आचरण के संकेत मिलते हैं।

मनुष्य जब तक अपना आचरण आहार, विहार आदि प्राकृतिक नियमों के अनुकूल रखता गया, तब तक वह स्वस्थ था। रोग और औषधियाँ नाम-मात्र की थीं। पर ज्यों-ज्यों उसकी आधुनिक सभ्यता के विकास में प्रगति होती गई, त्यों-त्यों उसके जीवन की जटिलताएं और उससे उत्पन्न समस्याओं के साथ-साथ उसमें धन, सुख, प्रभुत्व आदि का

लोभ बढ़ता गया और वह अपने जीवन की वास्तविकताओं और अभिप्रायों को भूलता गया। उसके रहन-सहन, आचार-विचार, आहार-विहार आदि प्राकृतिक नियमों के प्रतिकूल होते गए तथा उसका नैतिक स्तर गिरता गया। आडम्बर और कृत्रिमताएं बढ़ती गई। फलतः आज के अधिकांश मानव-समाज के लिए आधुनिक सभ्यता की जटिलताओं से उत्पन्न कारणों द्वारा शारीरिक या प्राकृतिक नियमों में अन्तर्निहित आदेशों का पालन तथा संयमपूर्ण जीवन, असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो गया है और साथ-साथ उन नियमों के उल्लंघन के फलस्वरूप दण्ड के रूप में नाना प्रकार के रोगों से बहुधा ग्रस्त होते रहना उसके जीवन की सामान्य घटना-सी बन गई है। मानव आज मिथ्यावादी, व्यसनी, स्वार्थी, लोभी और अवसरवादी बनकर मानवता से दूर और पशुता के निकट होता जा रहा है। सत्य, अहिंसा, त्याग, क्षमा आदि में उसकी निष्ठा दिनों-दिन कम होती जा रही है तथा उसकी अपनी समस्याओं से उत्पन्न उसके जीवन के प्रतिकूल प्रवृत्तियाँ बढ़ती जा रही हैं और उनसे भी अधिक बढ़ रही है उसके रोगों की संख्या, प्रकार तथा प्रचण्डता। यही कारण है कि विश्व के प्रायः सभी तथाकथित सभ्य मानव नैतिकता के पथ से भ्रष्ट होकर आज किसी-न-किसी रूप में अस्वस्थ हैं।

हिन्दू विचारकों ने हजारों वर्ष पूर्व ही इस बात की घोषणा कर दी थी कि मनुष्य की मानसिक एवं शारीरिक प्रकृति के विरूपीकरण के फलस्वरूप ही उसमें राग-द्वेष, जो उसकी अस्वस्थता के प्रभव होते हैं, उदय होते हैं। पर जो मनुष्य अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के नियमों के अनुसार आचरण करता है, वह राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करते हुए रोग-मुक्त जीवन व्यतीत करता है।

महात्मा चरक ने भी कहा था, "वह मनुष्य, जिसके भोजन और आचरण उसके अपने हित के लिए होते हैं, जो इन्द्रिय-सुखों से अलग रहता है, जो दानी, सत्यवादी, समदर्शी एवं क्षमाशील होता है तथा जो ऋषियों के उपदेशानुकूल अपना जीवन व्यतीत करता है, रोग-मुक्त रहता है। वह मनुष्य, जिसका विचार, वचन और कर्म आनन्द-मिश्रित, मन सुनियन्त्रित और बुद्धि परिष्कृत है तथा जो ज्ञानी, आत्म-संयमी और योग में लीन है, रोग-ग्रस्त नहीं होता।"

डॉक्टर जे० टी० केण्ट ने अपने 'लैक्चर्स ऑन होमियोपैथिक फिलॉस्फी' में लिखा है, "रोग मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप होते हैं और आज मानव-जाति के जो भी रोग हैं वे सभी केवल उसके अन्तःकरण की बाह्य अभिव्यक्ति-मात्र हैं। यह सत्य है कि रोग मनुष्य की आन्तरिक शक्ति-व्यक्ति का लेखा होता है। आज के मनुष्य की मनोदशा इस प्रकार की हो गई है कि वह अपने पड़ौसी से घृणा करता है और ईश्वर के समादेशों के उल्लंघनार्थ भावना कर रहा है। मनुष्य के रोग में उसकी मनोदशा प्रतिबिम्बित रहती है। संसार के सभी नये या पुराने रोग मनुष्य के अन्तःकरण के द्योतक होते हैं। अन्यथा वह उन भावों को, जो उसके अन्तःस्थल में रहते हैं, रोगाक्रान्त होने पर विकसित नहीं कर पाता। उसके अन्तःकरण की प्रतिमूर्ति रोग के रूप में बाहर आती है।......अन्यथा मनुष्य रोगी नहीं होता। जीवधारी प्रकृति में उसे पूर्ण जीवधारी होना चाहिए था। सृष्टि के सभी पदार्थों की पूर्णता की ओर देखें। पौधों को ही देखें, अपने में वे किस प्रकार पूर्ण हैं! पर मनुष्य अपने बुरे विचारों तथा मिथ्या भावनाओं द्वारा उस अवस्था में पहुँच चुका है, जहाँ उसने अपनी स्वतन्त्रता तथा व्यवस्था खो दी है और वह बहुत सारे परिवर्तनों से गुजर रहा है।"
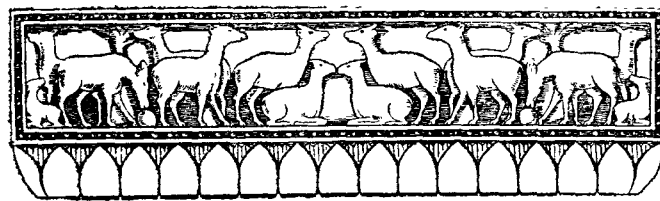
प्रगतिवाद में नैतिकता की परिभाषा और व्याख्या

श्री मन्मथनाथ गुप्त
सम्पादक–योजना, नई दिल्ली

साधारण रूप से हम उसी को नीति या सदाचार मानते है, जिसे हम बाप-दादों के जमाने से मानते चले आ रहे हैं। यह सुनने में बहुत अजीब मालूम देता है, पर है यही वास्तविकता।

हम लोग जिस कबीला, जाति, धर्म में पैदा होते है उसी को निर्भ्रान्त समझते है और शायद ही कोई व्यक्ति उस पर आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करता हो। हद तो यह है कि हम जिस वातावरण या परिवेश में पलते हैं, उसी के अनुसार हमारे शरीर के गठन में भी फर्क आ जाता है। सुनने में यह बात और भी चौंका देने वाली है; पर है यह भी सत्य।

एक हिन्दू यदि अपने सामने मांस थाली में रखा हुआ देखे तो उसे उल्टी आ जायेगी; जबकि दूसरे लोगों के मुँह में शायद पानी आ जाये। इसी प्रकार एक जैनी मांस-मात्र से परहेज करेगा और तदनुरूप उसके शरीर और स्नायु की प्रतिक्रियाएं भी होंगी। उसके मुँह में लार आना या उल्टी आना उसी रूप में चलेगा, जैसे उसके बाप-दादे का हुआ था।

इसका अर्थ यह हुआ कि हम जिसे नैतिक या सदाचार युक्त समझते हैं, वह एक विशेष अर्थ में ही सदाचार है। मानव-मात्र के लिए, जाति, धर्म, कबीले से उठ कर जो सदाचार हो सकता है, हम उसकी तरफ जा रहे हैं; पर अभी हममें से प्रत्येक का मन इस महान् खोज के लिए उपयुक्त नहीं है। हम अपनी खोल के बाहर निकल कर सोचने में असमर्थ हैं। इसीलिए सारे रगड़े-झगड़े, मत-मतान्तर, मार-पीट, युद्ध और महायुद्ध हैं।

ऐसी नीति या सदाचार ढूँढ़ निकालना है, जो मनुष्य-मात्र के लिए मान्य हो। हमें इस प्रकार के यौन आचार, सामाजिक व्यवहार तथा पारस्परिक सम्बन्धों की पद्धति ढूँढ़ निकालनी है, जो ठीक इस प्रकार से हो, जैसे सड़क का नियम होता है, जिसमें जाति, धर्म, कबीला आदि का फर्क नहीं किया जाता और जिसके लिए ईश्वर को बीच में डालने की जरूरत नहीं पड़ती।

हम भारतीय अक्सर यह डींग मारते है कि प्राचीन काल में हमने सदाचार का बड़ा सुन्दर रूप प्राप्त कर लिया था; पर जिन लोगों ने स्मृतियों का अध्ययन किया है, वे जानते है कि किस प्रकार एक ही अपराध, जैसे बलात्कार, के लिए ब्राह्मण के लिए कुछ सज़ा थी, क्षत्रिय के लिए कुछ और, वैश्य के लिए कुछ और, और शूद्र के लिए कुछ और। हम यहाँ इसके ब्यौरे में नहीं जायेंगे, पर इतना बता देंगे कि हमारी प्राचीन न्याय पद्धति में ब्राह्मण यदि शूद्रा से व्यभिचार करे तो वह स्नान कर ही शुद्ध हो सकता है, पर यदि शूद्र ब्राह्मणी से व्यभिचार करे तो उसके लिए जीवित-अवस्था में ही चिता-प्रवेश का विधान है। ऐसी पद्धति के विरुद्ध बौद्ध, जैन विद्रोह हुए; पर वे कुछ विशेष सफल नहीं हो सके।

यौन आचार को ही सदाचार में सबसे अधिक महत्त्व दिया जाता है, इसलिए यहाँ उस पर कुछ विस्तार के साथ विचार किया है।

यौन आचार के सम्बन्ध में प्रगतिवाद का क्या दृष्टिकोण है, इस सम्बन्ध में कई प्रगतिवाद के दावेदार भी अँधेरे में ज्ञात होते हैं। मैंने एक प्रगतिवादी लेखक को भरी सभा में यह दावा करते सुना कि पातिव्रत और पत्नीव्रत की कोई ज़रूरत नहीं; यह सब तो ढोंग और ढकोसला है। दुःख के साथ कहना पड़ता है कि मेरे मित्र ने प्रगतिवाद को समझा नहीं। ऐसे लोग प्रगतिवाद के सबसे बड़े दुश्मन हैं; क्योंकि एक तो ये स्वयं प्रगतिवाद को समझे नहीं, दूसरे, इनकी बहकी-बहकी बातों को सुनकर जो प्रगतिवाद के सम्भव रिक्रूट हैं, वे बिदकते हैं; और तीसरे, इनकी बातों से

प्रगतिवाद की तरफ ऐसे लोग खिंच आते है जिनका किसी भी वाद में आना उस वाद के लिए परम दुर्भाग्य है।

प्रगतिवाद के दुश्मनों ने इस परिस्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाया है; और चूँकि प्रगतिवाद एक वामपंथी आन्दोलन है, इसलिए उसे वाममार्गी प्रमाणित करने की चेष्टा की गई है, जिसमें उन्हें कुछ सफलता भी मिली है। इसलिए इस विषय पर विश्लेषणात्मक दृष्टि से विचार करना आवश्यक है।

प्रत्येक समाज-पद्धति का अपना यौन आचार होता है। अति प्राचीन समाज में मातृ-गमन और भगिनी-गमन और इस कारण पितृ-गमन और भ्रातृ-गमन सामाजिक था। यम और यमी की सुपरिचित वैदिक अनुश्रुति के अतिरिक्त हमारे वेदों में उस प्राचीनतर समाज-पद्धति की बहुत-सी गूँजें सुनाई पड़ती हैं, जब उल्लिखित प्रकार के यौन आचार अथवा आचारहीनता प्रचलित थी। स्मरण रहे, उन दिनों मनुष्य-समाज में राज्य या राष्ट्र का उदय नहीं हुआ था और न वर्गों का ही अस्तित्व था। अभी वैयक्तिक सम्पत्ति का भी उदय नहीं हुआ था।

इसके बाद उत्पादन के साधनों के विस्तार के साथ-साथ वैयक्तिक सम्पत्ति का उदय हुआ, मातृसत्ताक समाज का अन्त होकर पितृसत्ताक समाज का उदय हुआ, वर्गों की उत्पत्ति हुई और वर्ग-शासन के हथियार के रूप में राज्य का उदय हुआ। स्त्री का सम्मान घटा। विवाह-प्रथा चली। स्त्री अब एक पुरुष की सम्पत्ति हो गई। पातिव्रत का जन्म हुआ और पातिव्रत्य धर्म की महिमा गाई जाने लगी। स्मरण रहे, यह धर्म केवल एकतरफा था। पति देवता जितनी चाहें उतनी शादियाँ कर सकते थे, इसके अलावा दासियाँ थी, जो मालिक की सम्पत्ति थीं।

पहिये का एक और घूर्णन हुआ, सामन्तवाद का युग आया। किसी-किसी देश में पूर्व-वर्णित दास और मालिक का समाज उतना स्पष्ट नहीं रहा और सामन्तवाद का सूत्रपात हो गया। जो कुछ भी हो, इस युग में यौन आचार उसी प्रकार रहा, जैसे पहले बताया गया है। पातिव्रत्य का जोर रहा और एक पुरुष कई स्त्रियों से शादी कर सकता था।

बुर्जुआ युग या पूँजावादी युग के प्रारम्भ में बल्कि बहुत पहले से ही, ईसाई देशों में कानूनन एक-पत्नीत्व का प्रवर्तन हुआ; पर कानून और बात है, व्यवहार और। स्त्री के लिए पातिव्रत्य रहा, पर पुरुष चाहे जितनी उप-पत्नियाँ रखता रहा। सामन्तवाद के युग में यह धारणा यहाँ तक पहुँची कि परकीया-गमन या अनुशीलन सारे साहित्य का केन्द्र-बिन्दु समझा गया और इसी को आधार मान कर साहित्य-शास्त्र तैयार किया गया। देवताओं की गाथाएं भी इसी रूप में परोसी गई।

कहना न होगा कि यौन-व्यवस्था न्याय पर आधारित न होने के कारण तथा उसमें पुरुष और स्त्री की समानता स्वीकृत न होने के कारण किसी भी क्रान्तिकारी विचार-पद्धति के लिए स्वीकार्य नहीं हो सकती थी। इसी कारण १८४८ में साम्यवादी घोषणा-पत्र में जहाँ आर्थिक व्यवस्था को केन्द्र बना कर ही सारी बातें कही गई, वहाँ यौन-व्यवस्था पर भी सूत्र-रूप में दो बातें कह दी गई। उसमें लिखा गया, "पूँजीवादी अपनी स्त्री को महज एक उत्पादन के साधन के रूप में देखता है। उसने सुन लिया है कि उत्पादन के साधनों का सार्वजनिक उपयोग होगा। बस, उसके दिमाग में यह धारणा घर कर गई कि स्त्रियों का भी इसी प्रकार सार्वजनिक उपयोग होगा।"

एक बात, जो इस घोषणा-पत्र में नहीं कही गई, पर अब प्रगतिवाद के विपक्षियों के द्वारा कही जाती है, वह यह है कि आदिम समाज में आर्थिक शोषण नहीं था, पर उसमें यौन आचारहीनता थी, तो भविष्य के शोषणहीन समाज में भी ऐसा ही होगा। सुनने में तो यह तर्क बड़ा सच्चा मालूम देता है; पर यह तर्क थोथा इस कारण है कि भविष्य का शोषण-सम्भावनाहीन समाज आदिम समाज का प्रतिरूप नहीं होगा, बल्कि उसका अत्यन्त विकसित रूप होगा। बन्दर और अति आधुनिक मानव में जो फर्क है, वही इन दो समाजों में है; यद्यपि ऐसे मानव को बन्दर का विकसित रूप कहा जाएगा। इन दोनों समाजों में केवल एक ही समता है, याने दोनों समाजों में शोषण नहीं है। इसके अलावा बाकी जो समताएं हैं, जैसे दोनों पद्धतियों में राज्य या राष्ट्र का न होना, सो वे इसी शोषण-सम्भावनाहीनता से ही उद्भूत हैं। आदिम समाज में, जहाँ यौन आचारहीनता ही यौन सदाचार था, भविष्य के शोषण-सम्भावनाहीन समाज में जो यौन सदाचार होगा, वह पहले-पहल सर्वसाधारण को यह बतलाएगा कि यौन सम्बन्धों की सम्भावनाएं क्या हो सकती हैं। अस्तु !

१८४८ के उल्लिखित घोषणा-पत्र में यह बताया गया कि "पूँजीवादी विवाह-पद्धति वस्तुतः सार्वजनिक पत्नी बनने की प्रथा है; इस कारण साम्यवादियों के विरुद्ध जो कुछ कहा जाता है, यदि वह सत्य भी हो, तो उसका अर्थ यह है कि जहाँ पूँजीवादी ढोंगी तरीके से, छिपे हुए सार्वजनिक पत्नी-मूलक समाज को लेकर चल रहे हैं, वहाँ हम लोग खुले तौर पर वैधकृत इसी प्रकार का समाज चाहते हैं। यह तो साफ है कि उत्पादन की वर्तमान पद्धति का उच्छेद होने ही इस सार्वजनिक पत्नीत्व वाली पद्धति, याने सार्वजनिक रूप से या छिपे-छिपे वेश्या-वृत्ति का अन्त हो जायेगा।"

दूसरे शब्दों में, इस घोषणा-पत्र में यह बिलकुल स्पष्ट कर दिया गया था कि जो लोग शोषण-मुक्त समाज-पद्धति की बातें करते हैं, या ऐसे समाज की स्थापना का स्वप्न देखते हैं, जिसमें उत्पादन के सारे साधन स्वयं काम करने वालों के हाथ में आ गए हैं, वे यह नहीं समझते कि उस समाज की प्रत्येक स्त्री वेश्या होगी और प्रत्येक पुरुष वेश्यागामी।

फिर भी, जैसा कि मैं बता चुका हूँ,जो भी प्रगतिवादी आन्दोलन या विचारधारा आई, उसने उस समय मौजूद यौन आचार पर आघात किये; इस कारण प्रगतिवादियों को हमेशा से व्यभिचार और उच्छृंखलता के प्रतिपादक करके दिखाने की चेष्टा की गई है। किसी ने जोश में कोई बात कह दी, या नहीं भी कही तो उसके कथन को अतिरंजित करके तथा तोड़-मरोड़ कर प्रगतिवाद के दुश्मनों ने बार-बार यह हौआ खड़ा करना चाहा कि देखो, इनकी सुनो, कहते हैं कि तुम्हारी बहू-बेटी तुम्हारी नहीं रहेगी।

मार्क्स के वैज्ञानिक समाजवाद के बहुत पहले से ही समाजवाद का किसी-न-किसी रूप में विकास हो रहा था। विकास की ऐसी ही कड़ियों में फ्रेंच समाजवाद के प्रवर्तक फुरियेर (१७७२-१८३७) बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। उनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि वे यह समझते थे कि कभी समुद्र खारेपन से मुक्त होकर लेमनेड का सागर हो जायेगा और मनुष्यों की उम्र एकसौ चौवालीस साल होगी, जिसमें से एकसौ बीस साल स्वतन्त्र प्रेम के उपभोग में व्यतीत हुआ करेंगे। कहना न होगा कि फुरियेर ने यदि ऐसा सोचा कि समुद्र अपना खारापन छोड़कर मीठा हो जायेगा, तो इसमें उन्होंने कोई बहुत बड़ा अपराध नहीं किया। परमाणु-शक्ति ने अब यह सम्भव किया है कि ऐसी बातें हो सकें। समुद्र मीठा हो या न हो, समुद्र से इतना खाद्य द्रव्य निकालने पर ही मानवता का भविष्य निर्भर है जिससे कि बढ़ती हुई जनसंख्या को खिलाया जा सके। मरुभूमियों को उपजाऊ बनाने की बात हम बहुत गम्भीरता के साथ कर ही रहे हैं और कोई हमें पागल नहीं समझता।

रहा यह कि मनुष्य की आयु बढ़ेगी, यह फुरियेर के समय में भले ही कुछ हद तक कल्पना-विलासी रहा हो, पर गत सौ वर्षों में यह बहुत कुछ व्यावहारिक हो गया है। सभ्य तथा उन्नत देशों में लोगों की आयु बढ़ी है और यह एक तथ्य है। इसी प्रकार मनुष्य की सब तरह की उपभोग-शक्ति भी बढ़ती चली जा रही है। स्वतन्त्र प्रेम के सम्बन्ध में हम बाद को आलोचना करेंगे।

फुरियेर तो माने हुए समाजवादी नेता रहे हैं, यद्यपि उनके समाजवाद के कारण उन्हें स्वप्नवादी बताया जाता है। उन्होंने कुछ कहा, उसे इस सम्बन्ध में उद्धृत करना प्रगतिवाद के दुश्मनों के लिए क्षन्तव्य कहा जा सकता है, पर दुश्मन को नीचा दिखाने के जोश में इस सम्बन्ध में इल्लुमिनाटी-सम्प्रदाय के संस्थापक वाइसहाउप्ट का नाम लिया जाता है, जिन्होंने शायद यह कहा था कि एरोटेरियन नामक एक मदनोत्सव का प्रवर्तन किया जाये, जो प्रेम की देवी के सन्मान में मनाया जाये। भला बताइये, वाइसहाउप्ट कौन-से क्रान्तिकारी थे कि उनके मत को इस सम्बन्ध में उद्धृत किया जाता है? ऐसे कितने ही व्यक्तियों ने कितनी ही बातें ओ३म्-मण्डली के ढंग पर कही होंगी, पर उनके साथ क्रान्तिवाद या प्रगतिवाद का क्या सम्बन्ध है?

उन्नीसवीं सदी में स्त्री-स्वाधीनता-आन्दोलन ने बहुत ज़ोर पकड़ा और उस सिलसिले में उस समय की समाज-पद्धति से उकत कर कई स्त्री-स्वतन्त्रता-आन्दोलन के नेताओं तथा नेत्रियों ने कुछ इस प्रकार के नारे दिये कि सारे खुराफात की जड़ में विवाह-प्रथा है, इसलिए इसको खतम करो। जार्ज सेण्ड ने यह कह दिया कि व्यभिचार बुरा न समझा जाये। सेण्ड के इस कथन को हम बिलकुल मूर्खतापूर्ण समझते हैं; पर जिस प्रकार की भावना से अनुप्रेरित होकर उस व्यक्ति ने यह नारा दिया था, उसका विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि यह उक्ति उतनी मूर्खतापूर्ण नहीं है, जितनी

प्रथम दृष्टि में ज्ञात होती है। यदि हम इस बात को याद रखें कि उस समय के मध्यम वर्ग तथा उच्च वर्ग में पुरुष व्यभिचारी होते थे, तो हमारी समझ में आ जायेगा कि सेण्ड ने क्या बात कही। जहाँ एकतरफा व्यभिचार जारी था, वहाँ सेण्ड ने निराश होकर दोतरफा व्यभिचार का समर्थन किया। इसी प्रकार कुछ अन्य लोगों ने यह नारा दिया कि बच्चों का नाम माँ के नाम पर हो। इसी प्रकार की अन्य बहुत-सी बातें कही गई। ये सारी बातें निराशा या प्रतिशोध की भावना से कही गई, पर इनमें क्रान्तिवाद कहाँ है ? क्योंकि क्रान्तिवाद का सार यह है कि विद्रोह हो पर पहले से अच्छा पुनर्निर्माण हो। यह उत्पादन इस प्रकार की उक्तियों में कहाँ है ? इनमें विद्रोह तो था, पर पुनर्निर्माण नहीं। ऐसी अवस्था में इन्हें क्रान्ति या प्रगति के मत्थे थोपना अन्यायपूर्ण है।

फ्रांस के प्रसिद्ध समाजवादी राजनीतिज्ञ मौशिये ब्लूम ने विवाह पर एक पुस्तक लिखी। यह पुस्तक उन्होंने अपनी नौजवानी में लिखी थी, पर १६३६ मे एक नई भूमिका के साथ उन्होंने इसको प्रकाशित किया। यह पुस्तक स्वतन्त्र प्रेम का प्रतिपादन करती है। उसमें उन्होंने कहा कि भला कोई अपने को पवित्र कुमारी क्यों रखे, क्यों न मनुष्य आकर्षण के सामने आत्मसमर्पण करे ? उन्होंने कहा कि आज जो हम किसी की तरफ आकृष्ट होकर भी संयम किये पड़े रहते हैं, इसका क्या कारण है ? उन्होंने कह दिया कि लड़कियाँ अपने प्रेमियों के यहाँ से उसी प्रकार लौट आएंगी जिस प्रकार से स्कूल से लौटती हैं। उन्होंने यहाँ तक लिख मारा कि अगम्यगमन में क्या दोष है, इसे वे समझ नहीं पाते; और यदि इस बात को छोड़ भी दिया जाए कि कुछ समाजों में अगम्यगमन उचित माना गया है, तो भी यह स्वाभाविक ही मालूम होता है कि भाई से बहिन का प्यार हो और बहिन का भाई से।

कहना न होगा कि मौशिये ब्लूम ने जिस प्रकार की बातों का समर्थन किया है, वे बिलकुल ही क्रान्तिवाद के नाम के योग्य नहीं हैं। शरत्बाबू ने 'शेष प्रश्न' में कुछ इसी ढंग की बातों का प्रतिपादन किया है, अवश्य वे बातें इस प्रकार खुले रूप में नहीं कही गई हैं। फिर भी उनका वक्तव्य स्पष्ट है। श्री मा० ना० राय ने इस पुस्तक की बड़ी तारीफ की है और इसे 'गीताञ्जलि' से बढ़कर माना है। सड़े-गले समाज पर, विशेषकर उसके यौन आचार पर चाबुक लगाना और बात है और बन्धन-मुक्ति के नाम पर व्यभिचार को अपनाना और बात है।

शरत्बाबू ने कमल के हाथ में जो झण्डा दिया है, वह क्रान्ति का नहीं है, वह उच्छृंखलता का है। मैंने अपनी शरच्चन्द्र नामक पुस्तक में इसकी ब्यौरेवार आलोचना की है। उसमें से कुछ अंश यों हैं—"क्रान्ति का अर्थ असंगतिग्रस्त, सड़े कंठरोधकारी बन्धनों की जगह पर स्वास्थ्यकर नवीन बन्धनों का प्रवर्तन है। ये बन्धन ऊपर से नहीं लदते, बल्कि क्रान्तिकारी इन्हें अपने ऊपर लादता है। क्रान्ति एक युक्तवाद है। वह युक्तवाद पहले के वाद और प्रतिवाद से सम्पूर्ण रूप से अलग होते हुए भी, पहले के मुकाबले में एक छलाँग होते हुए भी, इसकी उत्पत्ति हवा से या दिमाग से नहीं होती; आधारगत रूप से ही पहले के वाद प्रतिवाद से संयुक्त है। कहीं यह समालोचना अधिक गूढ़ न हो जाये, इसलिए हम इतना ही कहेंगे कि कमल को यह धारणा कि सभी कर्तव्य आत्मपीड़न हैं, एक अजीब धारणा है। फिर एक बार, दूसरे शब्दों में, वही बात साबित होती है जो मैं पहले कह चुका हूँ कि कमल अधिकारों के लिए खूब लड़ती है, सोलहों आने सजग है; किन्तु कर्तव्य को आत्मपीड़न बताती है। इसी से स्पष्ट हो जाता है कि उसके हाथ में जो झण्डा है, वह क्रान्ति का नहीं है, वह सर्व-बन्धन-विमुक्ति तथा मात्रा-ज्ञान-हीन विद्रोह है। विद्रोह ज्यों ही मात्रा ज्ञान खो बैठता है, त्यों ही वह विद्रोह नहीं रहता, कुछ और हो जाता है; मात्रागत परिवर्तन से गुणगत परिवर्तन हो जाता है।"

स्वतन्त्र प्रेम का यदि कोई अर्थ है तो यही कि प्रेम पर अन्य सामाजिक तथा आर्थिक रोक न हो, जैसा कि हमारे विषमतामूलक समाजों में है। पर स्वतन्त्रता के नाम पर, व्यभिचार का प्रचार करना, बहुत ही दुर्भाग्य की बात है। जैसा कि मैं पहले ही इंगित कर चुका हूँ, क्रान्ति पुरानी मान्यताओं को तोड़ कर नई मान्यताओं को स्थापित करती है। यह नहीं कि सारी मान्यताएं समाप्त हो जायें। यहाँ तक कि भविष्य के राष्ट्रहीन समाज में भी मान्यताएं होंगी। सच तो यह है कि इन्हीं मान्यताओं के आधार पर वह समाज खड़ा होगा। उस समय तो राष्ट्र भी नहीं होगा, और ये ही मान्यताएं सब कुछ होंगी, और इन्हीं के बल पर समाज चलेगा। जैसे हमारे समय की एक सर्वमान्य मान्यता को लीजिये। भले ही कोई राहगीर किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि डाले, पर वह उसका मर्दन नहीं कर सकता। फौरन सब लोग एकत्र हो जायेंगे

और उस व्यक्ति को बुरे काम से रोकेंगे। इस प्रकार की सैकड़ों मान्यताएं होंगी, तभी न, बिना राष्ट्र के सैनिक और पुलिस का समाज चलेगा। अस्तु।

प्रत्येक नया समाज एक नये यौन आचार को लेकर आता है, इस प्रकार और इस हद तक क्रान्तिवाद पुराने यौन आचार को हटाकर उसके स्थान पर नया यौन आचार स्थापित करना चाहता है। यहाँ यह स्मरण रहे कि प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सर्वकाल के लिए किसी आचार का फतवा न देकर प्रगति की प्रगतिशील तथा क्रान्ति की क्रान्तिवादी परिभाषा करता है। किसी प्रकार के शाश्वत यौन आचार का प्रतिपादन हम नहीं करते। एल्डस हक्सले ने अपनी 'एण्ड्स एण्ड मीन्स' नामक पुस्तक में यह कहा कि "जिस मुक्ति की हम कामना करते हैं, वह केवल एक आर्थिक तथा राजनैतिक पद्धति से ही मुक्ति नहीं है, अपितु हम प्रचलित सदाचार से भी मुक्ति चाहते हैं।" स्वाभाविक रूप से समाज के किसी भी ढाँचे में उसकी सारी विचारधारा, चाहे वह धर्म हो, चाहे साहित्य या सदाचार हो, उस समाज को कायम रखने की चेष्टा करती है। उससे मुक्त होकर नये ढाँचे में नई विचारधारा, नया सदाचार होगा, यह तो स्पष्ट है।

इसमें जब नये समाजवादी समाज की स्थापना हुई, तो अच्छे-अच्छे लोगों ने पुराने सदाचार को दूर करने के पागलपन में बिलकुल उच्छृंखलता को अपनाया, जिस पर गोर्की को कहना पड़ा—"मैं प्रेम की बात पर कुछ न कहूँगा फिर भी मैं इतना कहूँगा कि नई पीढ़ी ने यौन सम्बन्धों में एक अतिदूषित सरलता का अवलम्बन किया है, जिसके लिए इन अपराधियों को बहुत भारी दाम चुकाना पड़ेगा। मेरी यह आन्तरिक इच्छा है कि इस प्रकार की लज्जाजनक गड़बड़ियों के लिए इन्हें जल्दी सज़ा मिले।" यह स्मरण रहे कि ये वचन प्रगतिवाद के अनन्यतम महान् प्रतिपादक गोर्की के हैं।

रूस में इस उच्छृंखलता को दबाने के लिए लेनिन को आवाज़ उठानी पड़ी। उन्होंने इस सम्बन्ध में जो कुछ कहा, वह क्लारा जेटकिन के साथ बातचीत के रूप में हमारे लिए उपलब्ध है। उन्होंने सोफिये ब्लूम के ढंग पर यौन आचार के सम्बन्ध में गिलास वाले सिद्धान्त का जोरों से खण्डन किया। वे बोले—"मैं ऐसा समझता हूँ कि यह गिलास वाला सिद्धान्त, जिसके अनुसार प्यास लगने पर किसी भी गिलास से पानी पिया जा सकता है, बिलकुल समाज-विरोधी है। यौन जीवन में केवल एक ही बात नहीं देखनी है कि आपकी तबीयत क्या कहती है; इसमें यह भी देखना है कि सांस्कृतिक विशेषताएं तथा आवश्यकताएं क्या हैं। एंगेल्स ने 'परिवार की उत्पत्ति' नामक पुस्तक में यह दिखलाया है कि सामूहिक यौन-जीवनचर्या से किस प्रकार वैयक्तिक यौन-जीवनचर्या उन्नत अवस्था है। इसके अलावा केवल बात इतनी ही नहीं है कि यह केवल दो व्यक्तियों का सम्बन्ध है। इसमें और भी बहुत-सी बातें आ जाती हैं। इन सारे सम्बन्धों को अच्छी तरह समझना पड़ेगा, और उन्हें समाज की आर्थिक नींव से मिलाते हुए देखना पड़ेगा। अवश्य ही प्यास बुझाई जानी चाहिए; पर क्या कोई सही दिमाग वाला आदमी झुक कर नाली से पानी पियेगा? या ऐसे गिलास से पानी पियेगा, जिसका ऊपर वाला हिस्सा बहुत लोगों के व्यवहार में आने के कारण गन्दा हो चुका है। सामाजिक पहलू सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। पानी पीना तो एक व्यक्ति का निजी कार्य है, पर प्रेम में दो व्यक्तियों का सम्बन्ध आ जाता है और एक नये व्यक्ति का जन्म होता है। इस प्रकार यह एक वैयक्तिक बात न रहकर सामाजिक बात हो जाती है।"

लेनिन ने इस सम्बन्ध में बोलते हुए कहा—"यह जो प्रेम की बन्धन-मुक्ति की बात कही जाती है, यह न तो कोई नई बात है और न साम्यवादियों का इससे कोई सम्बन्ध है। तुम्हें याद होगा कि गत शताब्दी के मध्य भाग के करीब 'हृदय की मुक्ति' नाम से यह आन्दोलन रोमांटिक साहित्य में चल निकला था। पर पूंजीवादियों के हाथों में पड़ कर यह आन्दोलन 'कामुकता की मुक्ति' बन कर रह गया। उन दिनों इसका जिस प्रकार प्रचार-कार्य होता था, वह कुछ प्रतिभापूर्ण था। रहा व्यवहार, सो मैं उसकी तुलना करने में असमर्थ हूँ। मैं यह नहीं कहता कि लोग लंगोट लगा कर संन्यासी बन जायें। कभी नहीं। समाजवाद यतिवाद में विश्वास नहीं करता, पर जीवन का आनन्द, जीवन की शक्ति तथा पूर्ण सन्तुष्ट जीवन समाजवाद का ध्येय है। मेरा यह विचार है कि इस समय प्रचलित यौन-उच्छृंखलता से जीवन को आनन्द तथा शक्ति प्राप्त न होकर, उससे वे छिन जाते हैं। क्रान्ति के युग में यह बुरा, बहुत ही बुरा है।"

उन्होंने कहा कि न तो वे संन्यासी ही चाहते हैं न डानजुआन चाहते हैं और न इनके बीच के जर्मन पिलि-

स्टिनों को ही चाहते हैं। इस प्रकार गोर्की और लेनिन प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद के दो महान् प्रतिपादकों का क्या कहना है, यह सामने आ गया। रहा यह कि सभी युगों में लोग धोखा खाते रहे हैं, यह भी स्पष्ट हो गया। इसलिए इसमें आश्चर्य की बात नहीं है कि प्रगतिवादी साहित्य क्या है, इस सम्बन्ध में भी बड़ी गलतफहमियाँ उत्पन्न हुई हैं। सभी विद्रोह प्रगति नहीं हैं। हम वर्तमान युग के सबसे बड़े अश्लील लेखक पाल सार्त्र की बात लेंगे। कुछ लोग उनके साहित्य को क्रान्तिकारी समझते हैं, पर असल में उसमें क्रान्ति का कहीं नाम भी नहीं है। वह तो बुर्जुआ-सभ्यता की पतनशील अवस्था का प्रतिफलक एक कलाकार है। फिर कहीं गलत न समझा जाऊँ, इसलिए यह स्पष्ट कर दूँ कि सभी क्षेत्रों में जिसे अश्लीलता कहा जाता है, वह वर्जनीय न तो है और न हो सकता है। जहाँ विषय को स्पष्ट करने के लिए लेखक थोड़े ब्यौरे में जाता है, वहाँ तो थोड़ी अश्लीलता क्षम्य कही जा सकती है; पर जिस साहित्य का उपजीव्य ही अश्लीलता हो, जिसका स्वयं ध्येय ही अश्लीलता हो, वह साहित्य किसी भी हालत में प्रगतिशील नहीं कहला सकता।

इस सम्बन्ध में छोटा-सा उदाहरण प्रस्तुत है। कुप्रिन का 'गाड़ीवानों का कटरा' नामक पुस्तक आदि से अन्त तक वेश्यालय के सम्बन्ध में होते हुए भी तथा उसमें बराबर अश्लील प्रसंग आने पर भी वह एक प्रगतिवादी रचना कही जा सकती है। बात यह है कि उसका उद्देश्य वेश्यावृत्ति की जघन्यता का उद्घाटन करना है। इसके विपरीत सार्त्र बिना कारण सर्वत्र अश्लील-प्रसंग लाया है। सार्त्र को आधुनिक युग का लंडन-रहस्य लेखक रेनल्डस माना जा सकता है; पर उसमें प्रगतिवाद या क्रान्तिवाद कहीं नहीं है। अवश्य उसके तथा रेनल्ड के साहित्य को भी सामाजिक कसौटी पर कसा जा सकता है; और वे, जैसा कि पहले ही इंगित कर चुका हूँ, रेनल्डस के क्षेत्र में सामन्तवादी वर्ग तथा सार्त्र के क्षेत्र में पूँजीवादी वर्ग के ह्रास तथा पतन की खबर हमें देते हैं। इस हद तक यह मानना पड़ेगा कि वे प्रगतिशील हैं, पर जहाँ तक कि इस ह्रास तथा पतनशीलता को एक गौरवमय रूप देने की चेष्टा करते हैं तथा भ्रम उत्पन्न करते हैं कि यही अवस्था शाश्वत तथा स्वाभाविक है, वे निश्चित रूप से प्रतिक्रियावादी हैं।

जैसे जीवन में यौन वृत्तियों को कुछ भी महत्त्व देने से इन्कार करना गलत है, उसी प्रकार से यह आशा करना भी कि साहित्य में यौन आचारों पर अधिक जोर न देना या उन्हें कोई महत्त्व न देना गलत है। प्रगतिवाद जैसे सभी क्षेत्रों में एक उन्नत विचारधारा को लेकर चलता है, वैसे ही वह यौन आचार के क्षेत्र में भी नये यौन-आचार का प्रतिपादक होकर साहित्य में आयेगा। पर वह किसी भी हालत में पानी के गिलास वाले सर्वबन्धन-मुक्ति का नारा लेकर पूँजीवादी ढंग से स्वतन्त्र प्रेम का प्रचार नहीं करेगा। जैसा कि इंगित किया जा चुका है, प्रगतिवादी के दृष्टिकोण से स्वतन्त्र प्रेम केवल वही है जो आर्थिक शोषण तथा दबावों से मुक्त हो। पर प्रेम भी एक सामाजिक गुण है, इसलिए स्वतन्त्रता के नाम पर उसे इतना अधिकार नहीं दिया जा सकता कि वह समाज की दूसरी उदात्त भावनाओं को चोट पहुँचा कर उसके संगठन को नष्ट-भ्रष्ट कर दे।"

यौन आचार के सम्बन्ध में हमने जो विश्लेषण किया, वही सब तरह के सामूहिक जीवन तथा वैयक्तिक जीवन पर लागू होता है। वास्तविक सदाचार में एक उपादान बहुत जबरदस्त होगा, बल्कि उसके बिना कोई भी आचार दुराचार ही कहलायेगा। वह उपादान यह है कि मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण किसी भी तरह नहीं होना चाहिए। इस उपादान को प्राप्त कर लेने के बाद बाकी बातें उठती हैं। सदाचार में धनी द्वारा मजदूर का, ब्राह्मण द्वारा शूद्र का, सैयद द्वारा शेख का, पुरुष द्वारा स्त्री का शोषण बिलकुल वर्जित होगा; दूसरे शब्दों में, समाजवादी समाज में ही, उसको आप चाहे किसी अन्य नाम से ही पुकारें सदाचार का राज्य हो सकता है।

राष्ट्रीय प्रगति और नैतिकता

प्रो० हरिवंश कोच्छड़
अध्यक्ष—हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, ननीताल

भौतिक प्रगति

स्वराज्य-प्राप्ति के बाद से भारतवर्ष उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। देश में नाना प्रकार की औद्योगिक प्रगति हो रही है। स्थान-स्थान पर कारखाने खड़े हो गए हैं। समुचित स्थानों पर नदियों पर बाँध बना कर कृषि के लिए सिंचाई का प्रबन्ध किया जा चुका है और भूमि अपेक्षाकृत अधिकाधिक उपजाऊ बनाई जा रही है। विविध उद्योगों द्वारा अन्न, वस्त्रादि की पैदावार बढ़ाने का प्रयत्न किया जा रहा है, देशवासियों की दरिद्रता को दूर करने का प्रयत्न हो रहा है। प्रत्येक व्यक्ति की आय में भी, कहते हैं कि वृद्धि हो गई है। सारांश यह कि देश को आर्थिक एवं भौतिक दृष्टि से समुन्नत करने का हर पहलू से प्रयत्न किया जा रहा है। यद्यपि यह विचारणीय है कि इन साधनों से देशवासियों को भोजन और वस्त्रादि की सुविधा अधिक हो सकी है या नहीं।

शैक्षणिक प्रगति

शिक्षा के विस्तार के लिए भी स्थान-स्थान पर नये-नये विद्यालय खोल दिये गए हैं। विद्यालय स्तर तक शिक्षा सर्व-जन सुलभ हो सके, इसके लिए नये-नये कदम उठाये जा रहे हैं। तकनीकी और इंजिनीयरिंग की शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए अनेक नवीन महाविद्यालय स्थापित किये जा रहे हैं। विज्ञान की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जा रहा है, छात्रवृत्तियाँ देकर दक्षता प्राप्ति के लिए बाहर विदेशों में भेजा जा रहा है। दूसरी ओर यह भी सुनने में आ रहा है कि शिक्षा का स्तर गिरता जा रहा है। विद्यार्थियों में अनुशासन की भावना घटती जा रही है। अनेक शिक्षा संस्थाओं में हड़ताल होने के और विद्यार्थियों द्वारा अपने अध्यापकों के प्रति दुर्व्यवहार के उदाहरण भी सुनाई दे जाते हैं। सारांश यह है कि देश में मानव के शारीरिक सुख और भौतिक विकास के विविध प्रयत्न किये जा रहे हैं। इन प्रयत्नों का फल यदि अभी नहीं तो निकट भविष्य में उपलब्ध हो सकेगा; ऐसी आशा की जा सकती है।

किन्तु मानव केवल शरीर मात्र ही नहीं। शरीर बिना शरीरधारी आत्मा के व्यर्थ और बेकार ही समझा जाता है। आजकल हम अपने शरीर की सुख-सुविधा की ओर तो दत्तचित्त हैं, आत्मा की उन्नति की ओर से पूर्ण निरपेक्ष हैं। मेरा अभिप्राय यह नहीं कि हम शरीर की उपेक्षा करें। **शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्** शरीर ही समग्र सिद्धियों का प्रथम साधन है। किन्तु शरीर को ही सब कुछ समझ बैठना, आत्म-तत्त्व की अपेक्षा उसे प्रधानता देना, उचित नहीं।

धर्मः संस्कृति का मूल मंत्र

हमारी संस्कृति का मूल मन्त्र धर्म रहा है; किन्तु यहाँ धर्म शब्द को संकीर्ण अर्थ में न लेकर व्यापक अर्थ में लिया गया है। धर्म शब्द अनेक अर्थों में व्यवहृत होता है। धर्म का आधुनिक अर्थ वही है जिस अर्थ में अंग्रेजी का 'रिलिजन' शब्द प्रयुक्त होता है, जैसे हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म इत्यादि। प्राचीन समय में इस अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए मत या मतवाद शब्द का प्रयोग होता था। कभी-कभी धर्म शब्द धार्मिक क्रियाओं अथवा नाना संस्कारों के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है, किन्तु इस भाव के लिए प्राचीन शब्द आचार है। कहीं-कहीं धर्म शब्द कानून अर्थात् मानव शिष्टा-

चार सम्बन्धी नियमों के लिए प्रयुक्त होता है, जैसे मानव धर्म शास्त्र। धर्म शब्द कभी-कभी व्यक्ति के कर्तव्य के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है,उदाहरणार्थ—विद्यार्थी का धर्म है गुरु का आदर करना,राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना इत्यादि। इस शब्द का सर्वाधिक प्रचलित अर्थ है—सत्य और न्याय-सम्बन्धी ऐसे सार्वकालिक तथा सार्वभौम नियम जिनका पालन करना सभी को अभीष्ट है।

इस प्रकार जब कहा जाता है कि भारतीय संस्कृति का मूलमन्त्र धर्म है तो वहाँ धर्म शब्द का प्रयोग इसी व्यापक अर्थ में किया जाता है। वस्तुतः धर्म ही मनुष्य और पशु का भेदक है—

आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
धर्मो हि तेषामधिको विशेषो धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः॥

यही कारण है कि हमारे जीवनद्रष्टा मनीषियों ने पुरुषार्थत्रय में धर्म को ही प्रथम स्थान दिया था।

विभिन्न अर्थों में धर्म शब्द का प्रयोग

धर्म शब्द संस्कृत की 'धृ-धारणात्' धातु से व्युत्पन्न हुआ है। धर्म प्रजा को, जनता को एक सूत्र में धारण करता है। **'धारणाद्धर्ममित्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।'** धार्मिक भावना भारतीय साहित्य में पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती है। व्याकरण, दर्शन, गणित, आयुर्वेद किसी भी विषय का ग्रन्थ हो, सबका आरम्भ मंगलाचरण से होगा। नाटकों की समाप्ति किसी भरत-वाक्य से होगी, जिसमें सभी की मंगलकामना की जाती है।

राजनीति में भी धर्म का स्थान है। धर्म को वहाँ से बहिष्कृत नहीं किया गया। यदि रामचन्द्र ने सीता का परित्याग किया तो लोकधर्म भावना के लिए स्वार्थ-भावना का बलिदान किया। युद्ध में निःशस्त्र को शस्त्र से जीतना अधर्म समझा जाता था। राजा को इस बात का गर्व नहीं होता था कि उसके राज्य में बड़े-बड़े आलीशान मकान हैं, अत्यधिक समुन्नत व्यापार है, नाना समृद्ध उद्योग हैं। कैकय अश्वपति को इस बात का अभिमान था कि—

न मे स्तेनो जनपदे न चौर्यो न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्नि र्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

धर्म को जिस व्यापक अर्थ में लिया गया है, उसमें धर्म के अन्तर्गत जीवन की पवित्रता, नैतिकता और सदाचार का भी समावेश हो जाता है। इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि भारतीय शिक्षा क्षेत्र में भी धर्म का स्थान था। प्राचीन समय में गुरुकुलों में विद्यार्थी विद्याध्ययन के लिए जाते थे। वहाँ आचार्य उन्हें उपनीत करता था। आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति की गई है—**आचारं ग्राहयति, आचिनोति बुद्धि, आचिनोत्यर्थान् वा** अर्थात् आचार्य उसे कहते थे जो विद्यार्थी को वस्तु-ज्ञान कराता था, उसकी बुद्धि का विकास करता था और उसमें सदाचार की प्रतिष्ठा कराता था। शिष्य को प्राचीन समय में अन्तेवासी कहा जाता था। वह गुरु के समीप—उसके हृदय में बसता था। अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अन्तेवासी या ब्रह्मचारी को, आचार्य इन्द्रिय-निग्रह और तपस्या का आदेश देता था।

अभ्युदय और निःश्रेयस का समन्वय

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र में धर्म का लक्षण किया है कि **यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः** अर्थात् जिससे इहलोक और परलोक दोनों लोकों का कल्याण हो, उसे धर्म कहते हैं। दोनों लोकों का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इहलोक की ही साधना में लीन रहना और परलोक की उपेक्षा करना अनुचित है। इसी प्रकार परलोक की ही चिन्ता करना और इहलोक का तिरस्कार करना भी अनुचित है। दोनों का समन्वय होना चाहिए और दोनों के समन्वय का साधक धर्म है।

धर्म के इस लक्षण से भारतीय और पाश्चात्य विचार धाराओं का भेद स्पष्ट हो जाता है। भारतीय विचारधारा इहलोक और परलोक दोनों का कल्याण चाहती है अर्थात् भौतिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति चाहती है। किन्तु पाश्चात्य विचारधारा केवल भौतिक उन्नति की ओर ही दृष्टिपात करती है। इस दृष्टिकोण से पाश्चात्य मानव ने मानव की शारीरिक सुख-सुविधा के लिए नाना प्रयत्न किये। विज्ञान की सहायता से उसने मानव के शारीरिक सुखोप-

भोग के समग्र साधन जुटाने का प्रयत्न किया। भारतीय विचारक भी इस शारीरिक सुख की उपेक्षा नहीं करना चाहता, किन्तु इसके साथ ही वह परलोक के कल्याण की भी कामना करता है। सारांश भारतीय विचारक भौतिक विकास की अवहेलना नहीं करता। भौतिक समृद्धि के अभाव में राष्ट्र की पूर्ण उन्नति नहीं हो सकती। अतः भौतिक विकास के साथ-साथ वह आध्यात्मिक विकास भी चाहता है—दोनों का समन्वय चाहता है।

पशु-सुधार बनाम मानव-सुधार

हमारे वर्तमान शासन में धर्म का कोई महत्त्व नहीं। शिक्षा में भी आचार और नैतिक आदर्शों की शिक्षा का कोई प्रयत्न नहीं किया जा रहा है। नयी-नयी योजनाएं बन रही हैं। मानव-शरीर के सुखोपयोग के नये-नये साधन जुटाये जा रहे हैं, किन्तु जिस मानव के लिए ये योजनाएं हैं, उस मानव के निर्माण के लिए कोई योजना नहीं। किसी भी योजना के लिए दो तत्त्वों की आवश्यकता हुआ करती है—अर्थ तत्त्व (धन) और जन तत्त्व। इन दोनों के सदुपयोग से ही कोई योजना सफल हो सकती है। किसी भी योजना में केवल धन के व्यय के ऊपर ही ध्यान न देकर उसके सदुपयोग पर भी विचार करना चाहिए। इसी प्रकार जनसंख्या पर ही विचार न कर जन-विकास पर भी ध्यान देना चाहिए। हमारी विविध योजनाओं में मानव के विकास का कोई स्थान नहीं। यदि ये सब योजनाएं जिस मानव के लिए हैं, उस मानव को हम सच्चा मानव न बना सकें तो सब व्यर्थ हैं। चूहों और खरगोशों पर परीक्षण हो रहे हैं। घोड़ों, बैलों की नस्ल सुधारने के प्रयत्न हो रहे हैं। किन्तु मानव को सुधारने का कोई प्रयत्न नहीं दिखाई देता।

कल्पना कीजिये कि भारत ने विज्ञान की सहायता से अपनी आर्थिक समस्या को सुलझा लिया। जैसे अमेरिका और इंगलैंड-जैसे देश भौतिक उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचे हुए हैं। उनका अन्धानुकरण कर भारत भी भौतिक दृष्टि से समृद्ध हो जाता है। किन्तु इससे क्या हम सुखी हो सकेंगे? क्या वे देश सुखी हैं? सन्तुष्ट हैं? आर्थिक समस्या मनुष्य की अन्तिम समस्या नहीं। आर्थिक समस्या के साथ-साथ यदि मनुष्य की आवश्यकताएं भी बढ़ती जायेंगी तो समस्या कैसे सुलझेगी? हमें यह कौन बतायेगा कि सच्चा सुख तो आवश्यकताओं को कम करने में है। जब तक मन में सन्तोष पैदा नहीं होता, हम निरन्तर लालसाओं की ओर दौड़ते रहते हैं, तब तक सुख सम्भव नहीं। इधर नित्यप्रति भोग्य-सामग्री बढ़ रही है, उधर धोखे से झूठी भोग्य-सामग्री तैय्यार करने वाले भी बढ़ते जा रहे हैं। नैतिक स्तर गिरता जा रहा है। क्या इसी से भारत सुखी हो सकेगा?

हमें हर्ष है कि सब धर्मों में प्रतिपादित आचार मार्ग द्वारा आज भी हमारे बीच आचार्यश्री तुलसी उसी प्राचीन विचारधारा की प्रकाशमयी मशाल लेकर हमें मार्ग-प्रदर्शन कर रहे हैं। वे भारत की वर्तमान अवस्था को देखकर उसके राष्ट्रीय चरित्र के पुनरुत्थान का प्रयत्न कर रहे हैं। उन्होंने अपने अणुव्रत-आन्दोलन द्वारा नैतिक जागरण पर बल दिया है। वे हमारा ध्यान हमारे प्राचीन भारतीय मनीषियों की विचारधारा की ओर आकृष्ट कर रहे हैं, जिन्होंने घोषणा की थी कि आर्थिक समस्या के हल हो जाने पर भी मानव की वास्तविक समस्या हल नहीं होगी। शरीर को ही सब कुछ न समझो। शरीर के पीछे आत्मा है। शारीरिक भूख से ऊँची भी कोई अन्य वस्तु है। भौतिक उन्नति को मानव के विकास-मार्ग का साधनमात्र समझो, साध्य नहीं। जिस आचार्यप्रवर ने हमारा ध्यान उसी प्राचीन पवित्र मार्ग की ओर आकृष्ट किया है, हम उनके चरणों में सादर अपनी विनीत श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हैं।

भारतीय स्वाधीनता और संत-परम्परा

मुनिश्री कान्तिसागरजी

शान्ति का स्रोत

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद भारतीय नागरिकों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ गया है। आज देश के समक्ष प्रादेशिकता साम्प्रदायिकता और भाषा आदि कई विषम समस्याएं हैं। पर सबसे बड़ा प्रश्न है राष्ट्र की नैतिक और चारित्रिक दृष्टि से रक्षा का। चरित्र, नैतिकता और व्यवहार-शुद्धि राष्ट्र की अमूल्य निधि हैं। नागरिकों का सामूहिक विकास इसी आदर्शोन्मुखी उत्कर्ष पर निर्भर है। सुरक्षा का आधार ही राष्ट्र का सर्वोच्च चरित्र है, जिसका निर्माण नीतिमत्तापूर्ण दैनिक जीवन और आचरण पर अवलम्बित है। सैनिकों द्वारा रक्षा की अपेक्षा आत्मिक स्वावलम्बन मूलक संरक्षण अधिक स्थायी व प्रेरणाप्रद होता है। भौतिक रक्षा की अपेक्षा आध्यात्मिक परम्परा की रक्षा का सार्वकालिक महत्त्व है। आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समुन्नत राष्ट्र या व्यक्ति वास्तविक सुख-शान्ति का अनुभव नहीं कर पा रहे हैं। अर्थमूलक उन्नति भले ही वैयक्तिक जीवन को भौतिक दृष्टि से समाज में उच्च स्थान पर प्रतिष्ठित कर सके; पर जब तक स्वार्थमूलक संघर्षों की परम्परा समाप्त नहीं होती, शोषकवृत्ति जीवन से सदा के लिए समाप्त नहीं होती और प्रतिहिंसा व प्रतिशोध की भावना का निर्मूलन नहीं हो जाता, तब तक जन-जीवन सामूहिक शान्ति का सुखानुभव नहीं कर सकता। ममत्व ही शान्ति का स्रोत है।

भारत में मानवता का शाश्वत मूल्य सदा से रहा है। समाजमूलक आध्यात्मिक परम्परा के तत्त्वदर्शी और प्रबुद्ध चिन्तकों ने दीर्घकाल-व्यापी साधना-जनित अनुभूति को वैराग्यमूलक त्यागपूर्ण जीवन व्यतीत करने की महती प्रेरणा दी है ताकि मानवता की लता, विश्वमण्डप पर फैले और राष्ट्रीय चरित्र का सह-अस्तित्व के आधार पर दृढ़ संगठन हो तथा प्राणि-मात्र के प्रति व्यक्ति-स्वातन्त्र्यमूलक समत्व की भावना जीवन में साकार हो। व्यक्ति का प्रेरणाशील व्यक्तित्व व आदर्श-पोषक भाव एवं सहिष्णुता, राष्ट्रीय चरित्र के पहलू हैं। ऐसे ही गुणों द्वारा नैतिकता-सम्पन्न उत्क्रान्ति पूर्ण विचारों को जन्म मिलता है। संघर्षों को समन्वय की दृष्टि मिलती है और अनुभव की अभिव्यक्ति स्वावलम्बन की ओर उत्प्रेरित करती है। तात्पर्य कि राजनैतिक श्रम द्वारा अर्जित स्वाधीनता की रक्षा नीति, संस्कृति और आत्मलक्षी संस्कारों को जीवन में मूर्त्तरूप देने से हो सकती है। हमें केवल नव निर्माण के नाम पर विशाल बाँध, सरोवर, राजमार्ग और बृहत्तर व सर्वसुविधा-सम्पन्न भवनों का ही निर्माण नहीं करना है और न ही यंत्रवाद को प्रोत्साहित कर अकिंचनों की उदरपूर्ति का मार्गावरोध करना है; अपितु हमें तो साम्राज्यवाद-पोषक संस्कृति को समाप्त कर जनतन्त्रमूलक श्रमण—संत—संस्कृति को जनजीवन में सम, शम और श्रम द्वारा प्रतिष्ठापित करना है ताकि वैयक्तिक स्वार्थ और संघर्ष समाप्त होकर मानव मानवके रूप में, सम्मानपूर्वक जीवित रह सके। यद्यपि अपेक्षित भौतिक विकास की आवश्यकतानुसार उपयोगिता को ध्यान में रख कर जीवन में संयम की स्थापना करनी है और वह तभी सम्भव है जब कि भारतीय राजनीतिज्ञों की अपेक्षा श्रमण परम्परा से प्रेरणा ले। वासना-नाशक तत्त्वों की राष्ट्रीय अभिवृद्धि से अन्य विकासों में बाधा की सम्भावना नहीं रहती।

त्याग-वैराग्य बनाम पलायनवाद

यह संकेत इसलिए करना पड़ रहा है कि हमारे भाग्यविधाता यह सोचते हैं कि देश के नव निर्माण के समय यदि

युवकों को त्याग-वैराग्य की ओर मोड़ेंगे तो देश की नव सृष्टि कैसे सम्पन्न होगी ? इससे तो उनमें कर्मठता के स्थान पर पलायनवादी भावना प्रोत्साहित होगी। पर यह तो स्वीकार करना ही होगा कि आज हमें निस्पृह और अनाकांक्षी व्यक्तियों की आवश्यकता है, जो सत्ता और संपत्ति के समान वितरण में आस्था रखते हों। आध्यात्मिक प्रेरणा-सम्पन्न व्यक्ति यदि जनोन्नयन के लिए अपना जीवन अर्पित करता है, तो वह सत्तालिप्सु नेताओं की अपेक्षा अधिक सफल होगा। हमें अपनी संस्कृति का सुदृढ़ संबल ले आगे बढ़ना है। हमारी राजनीति की पृष्ठ-भूमि भी संस्कृति-निष्ठ होनी चाहिए, ताकि ऐसी मानवता का नव-निर्माण हो सके, जिसमें जातिगत उच्चत्व, नीचत्व, साम्प्रदायिकता और भाषा आदि के क्षुद्र भावों को पनपने का अवसर ही न आये। जिन विगत कुप्रवृत्तियों से पराधीनता के बन्धन पोषित हुए हैं, जिन स्खलनाओं से हमारी नैतिक परम्परा धूमिल हुई थी, उनके प्रति आज प्रचुर सावधानी की अपेक्षा है।

अध्यात्म और राजनीति

राजनीति अचिरस्थायी तत्त्व होते हुए भी अद्यतन-युग में धर्म, संस्कृति और समाज-व्यवस्था में इसका अत्यधिक प्रभाव है। कहना अनुचित न होगा कि आध्यात्मिक विकास की पृष्ठभूमि भी राजनीति बनती जा रही है। सामाजिक और राष्ट्रीय व्यवस्था का जहाँ तक प्रश्न है, वहाँ अंशतः राजनैतिक सिद्धान्त उपेक्षित नहीं रखे जा सकते; पर जीवन के अन्य आदर्शोन्मुखी उत्कर्ष के लिए तो प्रेरणा का स्रोत संस्कृति को ही मानना होगा। संस्कृति, धर्म और नैतिकता यदि राजनीति के सहचरी होने लगें, तो केवल स्वार्थमूलक दर्पवृत्ति को ही प्रोत्साहन मिलेगा, जबकि मानव का काम्य है—प्राणीमात्र का सर्वोदय, जो अहिंसा, संयम और तपोमय जीवन की त्रिवेणी पर आश्रित है। इस संगम का जिसके जीवन में सामंजस्य है, वही उदारचेता व्यक्ति राष्ट्रीय चरित्र का सुदृढ़ निर्माण कर, स्वाधीनता की जड़ों का सिंचन कर, सुदीर्घ काल तक चरित्र द्वारा राष्ट्र-ज्योति को प्रज्ज्वलित कर देश की आध्यात्मिक प्रभा से विश्व को प्रभावित कर सकता है। स्वार्थ-रहित जीवन ही राष्ट्र को प्राणवान व संस्कारशील बना सकता है। वही राष्ट्र से कम-से-कम लेकर, उसे अधिक-से-अधिक दे सकता है।

अतीत का इतिहास व तात्कालिक राजनैतिक परिस्थितियाँ इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करती हैं कि बहु-मुखी राष्ट्रीय विकास के लिए किस प्रकार के व्यक्ति अपेक्षित हैं। यद्यपि जनतन्त्र में हाथ गिने जाते हैं, पर देखा यह जाना चाहिए कि व्यक्तित्व में ऐसी कौन सी चरित्रमूलक सौरभ और साधना का सौन्दर्य परिव्याप्त है, जो सचमुच नैतिकता के उच्च धरातल पर राष्ट्र को प्रतिष्ठित कर सके। क्योंकि विकास का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बिना आत्मिक प्रकाश के और बिना स्व-विकास के राष्ट्र-विकास संभव ही नहीं है; और यह तो सर्व-विदित ही है कि त्रुटिपूर्ण व्यक्तित्व सर्वत्र हानिकर होता है।

आज चारों तरफ से विकास की ध्वनि कर्ण-गोचर होती है। हर समझदार व्यक्ति विकास के प्रति उद्यत है। वह सीमित समय में बहुत-कुछ करना चाहता है; पर बहुत कम व्यक्ति सोच पाते हैं कि राष्ट्र के चरित्र का भी ऐसा विकास हो कि एक ही व्यक्ति के सदाचरण से सम्पूर्ण राष्ट्र की अभिव्यक्ति का अनुभव हो सके। किन्तु प्रश्न यह है कि विकास और चरित्र-निर्माण हो कैसे ? अतीत की ज्योति से स्पष्ट है कि राष्ट्रीय विकास के लिए, स्वस्थ, निर्दोष और बलिष्ठ समाज-निर्माण के लिए सर्वप्रथम व्यक्ति का ही सर्वांगीण विकास अपेक्षित है, और वह ऐसा होना चाहिए कि आध्यात्मिक विकास के साथ जीवन के प्रत्येक पहलुओं के भौतिक विकास में भी अनुस्यूत रह सके। भौतिक विकास जीवन का अन्तिम साध्य न होते हुए भी जहाँ तक जानतिक सुख-समृद्धि का प्रश्न है, उसे उपेक्षित नहीं रखा जा सकता, क्योंकि भार-तीय आध्यात्मवाद व्यक्तिमूलक न होकर समाजमूलक रहा है। मनुष्य स्वयं सामाजिक प्राणी है, अतः समाज और राष्ट्र के प्रति उसके जो भी अनिवार्य कर्तव्य हैं, बिना उनका निर्वाह किये दैनिक जीवन सर्वथा निरापद नहीं रह सकता।

परिस्थिति और सफलता

साधना प्राणि-मात्र के विकास का सोपान है। लक्ष्य के प्रति दृष्टि-बिन्दु केन्द्रित कर लिये जाने वाले कार्यों की

सफलता असंदिग्ध है। एक व्यक्ति की साधना राष्ट्र में सुख-शान्ति का अनुभव कराती है, तो ठीक इसके विपरीत एक ही प्रभाव-सम्पन्न व्यक्ति का दुराचरण सुख-शान्ति के लिए संकटापन्न स्थिति खड़ी कर देता है। यह सत्य है कि प्रत्येक युग की अपनी भिन्न-भिन्न समस्याएं होती हैं। यह सब कुछ इसलिए लिखना पड़ रहा है कि साधक या कार्यकर्ता की सफलता, विफलता तात्कालिक अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थितियों पर निर्भर है। जिस क्षेत्र की ओर हमारा संकेत है, उस क्षेत्र की सफलता का आधार परिस्थितियाँ होती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र की बात यहाँ नहीं की जा रही है। राष्ट्र में चेतना फूंकने और स्वाधीनता दिलाने में महात्मा गांधी की निजी साधना और आत्मिक बल के साथ परिस्थितियों का भी बहुत बड़ा हाथ रहा है। जानतिक अनुकूल वातावरण से उन्होंने देश की प्रतिष्ठा की अभिवृद्धि की। साथ ही ऐसी विचार-परम्परा वे छोड़ गए कि हिंसावादी राष्ट्र भी आज उस पर चलकर गर्व अनुभव करते हैं। इसके विपरीत ईसा और मोहम्मद साहब का उदाहरण है कि दोनों क्रान्तिकारी नर रत्नों ने अपने-अपने प्रदेशों में कुसंस्कारों से गृहस्थ मानवों को सत्य-मार्ग पर लाने के लिए बहुत प्रयत्न किया, पर प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण वे सफल न हो सके। संसार में बहुत कम ऐसे व्यक्ति मिलते हैं, जिन्हें जीवित अवस्था में सम्मान के साथ प्रेरणा का स्रोत भी माना गया हो। मानव की अपेक्षा अक्सर मनुष्य कब्रों पर पुष्प चढ़ाता है।

परिस्थितियाँ विकास में सहयोग देती हैं, यह अत्यन्त सुस्पष्ट है। अद्यतन युगीन वातावरण हमारे अनुकूल है। जब राजनैतिक साधना में परिस्थिति जन्य साफल्य सम्भव है, तो यदि अहिंसा, संयम और तपमूलक परम्परा का मूर्तरूप जन-जीवन में साकार कर दिया जाये तो राष्ट्र की कई ज्वलन्त समस्याएं स्वतः शान्त हो जायेंगी।

साथ ही अनुकूल परिस्थितियों का स्वतः निर्माण हो जायेगा। कभी-कभी यह भी देखने में आता है कि प्रचण्ड व्यक्तित्व-सम्पन्न मानव अपनी आत्मनिष्ठ साधना द्वारा वातावरण को अपने इतना अनुकूल बना लेता है कि न केवल वहाँ वैपरीत्य ही समाप्त हो जाता है, बल्कि ऐसी अनुकूल स्थिति का शाश्वत सृजन हो जाता है, जिसकी परम्परा और प्रकाश से शताब्दियों तक मानवता अनुप्राणित होती है। भगवान् महावीर आदि लोक-संस्कृति व आध्यात्मिक चेतना के अग्रदूतों का जीवन इसकी सार्थकता का प्रमाण है।

प्रशासन का मानदण्ड

जब सामान्य शासकीय सेवा के लिए नियुक्त किये जाने वाले व्यक्ति की योग्यता जाँची जाती है एवं उसका निश्चित मापदण्ड भी निर्धारित है, तो ऐसी स्थिति में भाग्य-विधाता समझे जाने वाले व्यक्तियों के लिए भी इस प्रकार की व्यवस्था नितान्त वांछनीय है। क्योंकि उसे जनोन्नयन, शासन-सूत्र-संचालन और अन्य महत्त्वपूर्ण कर्तव्य निभाने पड़ते हैं। कम-से-कम बौद्धिक प्रखरता, पाण्डित्य, क्रियाशीलता, अनाकांक्षा आदि के साथ उनका वैयक्तिक चरित्र निर्दोष व बलिष्ठ होना चाहिए, तभी जनता के हृदय पर अपना प्रभाव स्थापित कर वह जन-विश्वास सम्पादित कर सकता है। पर आज यह स्थिति दृष्टिगोचर होती है कि प्रथम पंक्ति के निरक्षर भट्टाचार्य भी विशिष्ट दल के प्रति अतिनिष्ठावान होने के कारण सभी क्षेत्रों में उपयुक्त स्थान पाने के अधिकारी समझे जाते हैं। अशिक्षित सेना जिस प्रकार रण-कौशल-प्रदर्शन में असफल प्रमाणित होती है, उसी प्रकार अपेक्षित ज्ञान की अपूर्णता के कारण तथाकथित भाग्य-विधाता को भी सफलता प्राप्त नहीं होती है। ऐसे लोग व्यर्थ ही योग्य व्यक्ति का स्थान रोक कर देश के विकास व उचित कार्य-संचालन में बाधक बनते हैं।

आचरण मूलक ज्ञान

सच्चरित्रता के साथ उचित शिक्षा भी अनिवार्य है। चरित्रहीन व अयोग्य व्यक्तियों को प्रोत्साहन देने में भले ही दलगत स्वार्थ सिद्ध होते हों या सत्तालिप्सुओं का सिंहासन सुरक्षित रहता हो; पर जन-कल्याण की दृष्टि से तो देश का अमंगल ही होता है। ऐसे व्यक्तियों से सत्य, सदाचार और समत्वमूलक प्रेरणा की आशा ही व्यर्थ है। स्वार्थ-प्रेरित जीवन और कर्म जन-पोषक न होकर जन-शोषक का ही स्थान लेगा। दल में कतिपय चरित्र-सम्पन्न व्यक्तियों का समावेश

ही उसकी उच्चता का ग्राधार नहीं होता। उच्चतम विचार भले ही बौद्धिक जगत् में उत्क्रान्ति कर सकें, पर ग्राचरण-विहीन विचार की उपयोगिता संदिग्ध है। भारतीय ज्ञान-परम्परा ग्राचार मूलक रही है। व्यक्ति के जीवन में रहा हुग्रा श्रेष्ठ गुण ही उसकी समाज में प्रतिष्ठा करता है। उच्च गुणों का केवल धार्मिक क्षेत्र में ही महत्त्व है, ऐसी बात नहीं हैं। सार्वजनिक व व्यावहारिक क्षेत्र में कार्य करने वाले प्रत्येक व्यक्ति में भी इन सब गुणों का इसलिए रहना ग्रनिवार्य है कि उसे जनजीवन को भौतिक प्रगति के साथ उच्चतम ग्राध्यात्मिक मार्ग की ग्रोर भी मोड़ना है। यह कार्य विश्व-विद्यालयों व ग्रन्य शैक्षणिक संस्थाग्रों द्वारा संभव है। बालकों के मस्तिष्क पर नीति ग्रौर धर्म की सुकुमार रेखाएं खींचने से कच्चे घड़े पर ग्रंकित रेखा के समान ग्रमिट हो जायेंगी। वस्तुतः नवोदित युवकों के लिए जो राष्ट्र के भावी निर्माता होने वाले हैं, संस्कार शीलता व चरित्र की महती ग्रावश्यकता है।

वैयक्तिक जीवन व सच्चरित्र

भारतीय संत-परम्परा का झुकाव सदा से गुणों के प्रति ही रहा है। व्यक्ति की बाह्य प्रतिष्ठा का कोई मूल्य नहीं, क्योंकि वह सामाजिक वैषम्य का प्रतीक बन जाती है। उनकी प्रतिष्ठा साधना-गर्भित विश्व कल्याणकामी जीवन प्रणाली पर ग्रवलम्बित है।

ग्राज का राजनैतिक जीवन-यापन करने वाला मानव सच्चरित्रता जैसी राष्ट्र-यश-संवर्धक शक्ति को उपेक्षित रख कर दौर्बल्य को, "यह तो हमारे व्यक्तिगत जीवन की वस्तु है", "यह तो हमारे निजी जीवन का प्रश्न है,"—कहकर टालना चाहता है। वह कहता है—राष्ट्र-उत्कर्ष के लिए जो कुछ वह कर रहा है, वही उसके चरित्र का मापदण्ड होना चाहिए। पाश्चात्य देशों में तो यह चल सकता है; पर भारत में कथनी ग्रौर करनी का वैषम्य ग्रसह्य होता है। ग्राचार ग्रौर विचार का साम्य ही बाह्य जगत् को उद्दीप्त कर प्रशस्त पथ का प्रदर्शन कर सकता है। कार्यकर्ता का जीवन जितना शुद्ध ग्रौर निर्दोष होगा, उतने ही वह ग्रधिक उत्साह के साथ जनता को प्रेरणा दे सकता है। ग्रात्मिक बल की शक्ति से प्रेरित प्रत्येक कार्य स्थायी व प्रेरणाशील होता है। वाणी, विचार ग्रौर कर्म के साम्य के कारण जनता की दृष्टि में नेता या कार्यकर्ता श्रद्धा का पात्र बन जाता है। जो नेता या धर्मगुरु मानवमात्र को ग्रात्मशुद्धि, उच्च संस्कार ग्रौर नैतिकता की ग्रोर प्रवृत्त नहीं कर सकता, वह ग्रभीष्ट प्राप्ति में कृत-कार्य नहीं हो सकेगा।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के पूर्व व पश्चात्

विकास ग्रौर सुरक्षा किस प्रकार संभव है?—यह एक प्रश्न है। वस्तु-प्राप्ति के सामूहिक प्रयत्न में ग्रौर प्राप्त को संजो कर रखने व विकास की ग्रोर गतिमान करने में ग्रन्तर है। स्वाधीनता-प्राप्ति के पूर्व राष्ट्र के सभी दलों की बलवती ग्राकांक्षा थी कि विदेशी शासन से कैसे मुक्ति प्राप्त की जाये? उन दिनों मत भेद सीमित थे; पर ग्रब वैषम्य बहुत बढ़ा हुग्रा है। साम्प्रदायिकता, भाषा ग्रौर प्रादेशिकता के नाम पर जो नग्न ताण्डव हो रहा है, वह राष्ट्र के लिए बहुत ही घातक है। इससे राष्ट्र की सुरक्षा ग्रौर विकास में बड़ी बाधाएं खड़ी होती हैं। इनको प्रोत्साहित करने वाले व्यक्तियों की राष्ट्र-भक्ति संदिग्ध है। इन तीनों के कारण भूतकाल में भी मानव समाज की जो क्षति हुई है, उसे ग्रब नहीं दोहराना है। राष्ट्र की ग्रखण्डता के लिए संतों की साधना इसका समाधान सरलता के साथ कर सकती है, बशर्ते कि वह शासनाश्रित न हो।

राष्ट्र-कल्याण ग्रौर सन्त-परम्परा

राष्ट्र-कल्याण की उत्कृष्ट भावना से प्रेरित साधक सर्वप्रथम उच्च विचार को ग्रपनी जीवन रूपी प्रयोगशाला में परीक्षण करने के बाद ही ग्रनुभव के बल पर ग्रपनी वाणी द्वारा समाज के समक्ष रखता है। वाणी विहीन साधना का काल भी ग्रादर्श का प्रतीक बन जाता है। वाणी का मौन कर्म द्वारा ग्रधिक प्रभावोत्पादक व प्रेरणाशील होता है। इसी से सुदृढ़ व्यक्तित्व का विकास होता है, जिससे राष्ट्रीय विकास का मार्ग सरल हो जाता है। ग्राज विकास का संगीत प्रचलित है,

किन्तु जब तक उच्च विचारों की जीवन में प्रतिष्ठा न हो तथा सहिष्णुतामूलक वृत्ति का जागरण न हो, तब तक केवल उच्च वक्तव्य या विचार प्रदर्शित करने से कार्य में सफलता नहीं मिलती। विकास की परम शर्त यह है कि जीवन को सरल और आडम्बरहीन बनाया जाए और ऐसी कोई क्रिया न होनी चाहिए,जिससे किसी को भी मानसिक आघात का अनुभव हो। यद्यपि जीवन-निर्वाह के लिए एकान्त रूप से इसका परिपालन सम्भव नहीं, किन्तु दूसरों को पीड़ा पहुँचाने की विवेकमूलक अप्रमत्त परम्परा यदि जीवन में प्रतिक्षण साकार हो, तो निःसन्देह अनुचित रूप से अन्य को असावधानतावश जो यन्त्रणाएं दी जाती हैं, उनसे तो अपने-आपको बचाया ही जा सकता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि संयम की साधना का कार्य सरल नहीं है, जब कि सम्पूर्ण राष्ट्रमें विपरीत परिस्थिति का आधिपत्य हो; क्योंकि स्वैच्छिक नियन्त्रण तभी सम्भव है, जब व्यक्ति आत्म-निष्ठ भावना और संस्कार-शील प्रेरणाओं के प्रति पूर्णतया निष्ठावान् हो। समत्व की भावना प्राणीमात्र के प्रति निःस्वार्थ ममत्व प्रस्थापित करने में सहायक होगी। ऐसी स्थिति में हमारा प्रत्येक कार्य कर्तव्य के रूप में होगा, न कि उपकारार्थ। व्यक्ति स्वानन्द से अभिभूत होकर सेवा-भावना के मूल मन्त्र को ध्यान में रख कर ही अनाकांक्षित रूप में स्वकर्तव्य के प्रति उत्प्रेरित होगा। भारतीय सन्त-परम्परा ने हमें यही सिखाया है। राष्ट्र का वास्तविक विकास और संरक्षण संत-परम्परा से प्रभावित व्यक्तित्व द्वारा ही सम्भव है। जिसका जहाँ अपना निजी स्वार्थ होता है, वहाँ एकान्त रूप से निष्कपटता के दर्शन असम्भव होने से जनता का उन्नयन आकाश-कुसुम के समान है।

शासन-व्यवस्था में ऋषि-मुनियों का प्रभाव

भारत संस्कृतिनिष्ठ और अध्यात्ममूलक परम्परा में विश्वास रखने वाला राष्ट्र रहा है। समस्त भारतीय जीवन ऋषि-मुनियों की विचारोत्तेजक आचारमूलक परम्परा से प्रभावित रहा है। सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था से लगाकर राष्ट्र-संचालन जैसे कार्यों में भी ऋषि-मुनियों का योग आवश्यक समझा जाता रहा है; बल्कि उच्चतर शासकों और सम्राटों पर उनका आधिपत्य भी था। विधान का निर्माण ऋषि-मुनियों द्वारा होता था और शासक-वर्ग उसे क्रियान्वित करता था। तपोवन में पनपने वाली संस्कृति के उपासक ये ऋषि आत्म-साधना में लीन रहने के बावजूद भी राजकीय महत्त्वपूर्ण कार्यों से अपरिचित नहीं थे, प्रत्युत आवश्यकता पड़ने पर जटिल-से-जटिल राजनैतिक उलझनों को सुलझाने की भी क्षमता रखते थे। उनका निर्णय अन्तिम था। वे समाज, धर्म और राजनैतिक क्षेत्र में समन्वय के समर्थक थे।

भारतीय ऋषि-मुनियों की उज्ज्वल ऐतिहासिक परम्परा पर दृष्टि केन्द्रित करने से स्पष्ट अवगत होता है कि उसने राष्ट्रीय जनोन्नयन के विकास में जो महत्त्वपूर्ण योग दिया है वह न केवल उल्लेखनीय ही है, अपितु अनुकरणीय भी। भले ही उनका कार्य अतीत की सीमा में आबद्ध हो; किन्तु उसके पीछे रहने वाली कल्याण-कामी निश्छल वृत्तियाँ त्रिकालाबाधित हैं।

सन्त-परम्परा-समर्थित सिद्धान्तों से जो लाभ उन दिनों की प्रतिकूल परिस्थिति में हुआ, वह आज अनुकूल परिस्थितिमें क्यों नहीं मिल रहा है; यह विचारणीय प्रश्न है। यों तो ऋषि-मुनि, संत या साधक परिस्थितियों से प्रभावित होने की अपेक्षा स्वयं परिस्थिति का निर्माण कर अनुकूलता को अपने आत्मिक बल के आधार पर उत्पन्न कर लेते हैं। उनकी वाणी विचारों का अनुगमन नहीं करती बल्कि विचार वाणी का अनुगमन करते हैं। साधना जनित वाणी का व्यवहार जनता को अद्भुत बल प्रदान करता है। वाणी और कर्म का साम्य किसी भी व्यक्ति को श्रद्धा का पात्र बना देता है। आज सन्त-परम्परा में भी जो वैषम्य है, उसका एकमात्र कारण उपर्युक्त वैषम्य ही है।

प्रवाह में एक अवरोध

सामन्तवादी युग में सन्त-परम्परा ने जनता के नैतिक स्तर को उच्च धरातल पर स्थापित करने के लिए जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये और तात्कालिक समस्याओं का जो समाधान किया, उसके मूल्यांकन का यह स्थान नहीं है। पर इस उल्लेख के लिए लोभ भी संवरण नहीं किया जा सकता कि उन्होंने राजनैतिक और स्थितिपालक परम्परा के वैपरीत्य के कारण जो सफलता प्राप्त की, वह अभूतपूर्व थी। वे सच्चे अर्थों में सन्त के प्रतीक थे। उनकी अपनी निजी समस्या कुछ

भी नहीं थी। वे शासकों को प्रसन्न कर अपने मत में दीक्षित करने को उत्साहित नहीं थे। वे तो आत्मिक साधना के बाद जो शेष समय बचता था, जन-सेवा में लगाते थे। अपने उन्नत विचारों द्वारा जनता को सत्य मार्ग पर लाने में योग देते थे। उच्च सिद्धान्त और विचार सन्त-जीवन में ओत-प्रोत रहने के कारण ही उन्होंने सम्पूर्ण एशिया को संस्कृति के एक सूत्र में बाँध रखा था। पर उन दिनों सबसे बड़ी बाधा इनके सामने थी—जातिवाद की। वह राष्ट्र पर इस प्रकार छाया हुआ था कि गुणमूलक परम्परा के स्थान पर व्यक्तिसूचक परम्परा का आदर होता था। ग्यारहवीं शती के बाद का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इतःपूर्व यवन, शक, हूण, आभीर आदि अनेक विदेशी जातियाँ शासक के रूप में आई, लेकिन वे भारतीय बन गई। इसका एकमात्र कारण यही था कि उन दिनों श्रमण या सन्त-परम्परा का व्यापक प्रभाव जन-जीवन पर था। बाद में भारतीय समाज के बहुसंख्यक वर्ग में वह पावन शक्ति न रही या दूसरे शब्दों में कहा जाये तो श्रमण-परम्परा भी सीमित वर्ग की सम्पत्ति हो गई थी, एवं जातिवाद इतना प्रबल हो गया कि सर्वगुण सम्पन्न व्यक्ति भी उपेक्षा की दृष्टि से इसलिए देखे जाने लगे कि निर्धारित उच्च कुल में उत्पन्न नहीं हुए थे। इसी संकीर्ण मनोवृत्ति के कारण मुसलमान भारतीय संस्कृति में न खप सके। उनके प्रति स्वार्थान्ध व्यक्तियों ने इतना भयंकर घृणा का भाव फैलाया कि भारतीय विद्या के अनन्य उपासक अलबेरुनी जैसे विद्यासाधक को भी उपेक्षित रखा गया। यहाँ तक कि संस्कृत भाषा के ज्ञान-संपादनार्थ जब वह विद्याशाला में जाते थे तो उन्हें द्वार पर बैठाया जाता था और चले जाने पर उस स्थान पर गोबर-मिश्रित जल छिटक दिया जाता था।

सन्तों ने जाति की अपेक्षा सदा से गुणों को महत्त्व देकर श्रमण-परम्परा-मान्य पद्धति को अपनाकर उदार और विशाल हृदय का परिचय देते हुए, **उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्** के आदर्श को जीवन में मूर्त रूप दिया। सत्ता-धीशों ने, जो स्वार्थी पुरोहितों के प्रपंचमय प्रभाव से प्रभावित थे, उनके मानवतावादी आत्मलक्षी विचार-प्रवाह को उतना सफल नहीं होने दिया, जितनी अपेक्षा थी। राजनैतिक दृष्टि से सापेक्षतः साफल्य न मिलने के बावजूद भी साधकों की साधना एकान्त विफल न हुई। उन दिनों जन-हृदय पर सन्तों ने अपने नैतिक गुणों द्वारा चरित्र का ऐसा प्रभाव डाला कि उसे निष्क्रिय नहीं होने दिया, बल्कि स्वावलम्बन की ओर प्रेरित किया। यही कारण था कि देश उन दिनों पराधीन होने पर भी सांस्कृतिक दृष्टि से मानसिक दासत्व का अनुभव न कर सका था।

नया मोड़

विधान शरीर पर शासन करता है न कि हृदय पर। सन्तों का अधिकार जनता के हृदय पर था। क्या कारण है कि इतनी महान्, बलिष्ठ एवं निर्दोष विरासत को पाकर भी स्वाधीनता मिलने के बाद भी जनता सुख और सन्तोष का अनुभव नहीं कर पा रही है? ठीक इसके विपरीत राष्ट्रीय चरित्र व नैतिकता का धरातल प्रतिदिन गिरता जा रहा है। इसे सुधारने के लिए राज्य के कर्मठ नेता विधान द्वारा प्रयत्नशील हैं। किन्तु परिणाम अनुकूल नहीं निकल पा रहा है। ज्यों-ज्यों वैधानिक नैतिकता बढ़ती जा रही है, त्यों-त्यों अनैतिकता वैधानिक रूप धारण करती जा रही है। नित नई समस्याएं खड़ी होती जा रही हैं। भ्रष्टाचार-निवारण के लिए वक्तव्य देने वाले भी जीवन में सदाचार को व्याव-हारिक रूप से प्रतिष्ठित नहीं कर पा रहे हैं, जो इसके उन्मूलन का सरल मार्ग है। सच्चे अर्थों में राष्ट्रीयता की भावना का जीवन में सामंजस्य नहीं हो पा रहा है। यदि यही परम्परा चलती रही, तो अहिंसा और सत्य से प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा व राष्ट्र का नैतिक दृष्टि से विकास कैसे हो सकेगा? एतदर्थ तो त्यागपूर्ण जीवन-यापन करने वाले व्यक्ति ही प्रेरणा के स्रोत बन सकते हैं और उन्हीं के द्वारा सूचित कार्य सफलतापूर्वक सम्पादित किया जा सकता है।

सांसारिक जीवन में उलझा हुआ व्यक्ति कितना भी त्यागी व कर्मठ क्यों न हो, पर उसकी शक्ति, मर्यादा और प्रभाव सीमित ही रहते हैं। विशेषकर सत्ता के सिंहासन पर आरूढ़ व्यक्ति कितना भी तटस्थ व समन्वय-वृत्ति का क्यों न हो, पर परिस्थितिवश उसे अपने दल का समर्थन करना ही पड़ता है। कभी-कभी सत्य और नैतिकता तक को ताक में रख देना पड़ता है। स्वार्थ सिद्धि के लिए आदर्श व्यावहारिकता खो बैठता है। ऐसी स्थिति में सन्त ही सफल हो सकते हैं। त्याग, तपश्चर्या, संयमशील वृत्ति और विश्व-कल्याण की भावनाओं से परिपूर्ण उनका हृदय दूसरों के हृदय को परि-

वर्तित करने में समर्थ हो सकता है।

आज के प्रचारात्मक युग में कभी-कभी बड़े-बड़े सन्देश भी विफल हो जाते हैं, किन्तु जिन दिनों प्रचार के किसी प्रकार के साधन नहीं थे, उन दिनों श्रमणों—सन्तों ने सम्पूर्ण एशिया को अपने सांस्कृतिक प्रभाव से न केवल प्रभावित ही किया था, अपितु वहाँ के जन-जीवन पर जो प्रेरणा की छाप छोड़ी थी, वह आज भी शोधकों को वहाँ की लोक-संस्कृति और स्थापत्यावशेषों में परिलक्षित होती है। प्रचार वही सफल व स्थायी होता है जिसके पीछे साधना का बल और ओज हो। भारतीय सन्त-परम्परा के राजनैतिक सन्त महात्मा गांधी का जीवन इस बात की ओर संकेत करता है। जनता की सेवा या राष्ट्रीय विकास के पूर्व व्यक्ति को अपने-आप को मांजना चाहिए या अपनी दूषित वृत्तियों को जीवन से पृथक् कर देना चाहिए। सशक्त व्यक्तित्व ही साधना द्वारा सेवा के क्षेत्र में सफलतापूर्वक अग्रसर हो सकता है। विधान द्वारा शासित मानव की सफलता संदिग्ध हो सकती है, पर आन्तरिक प्रेरणा व नीतिमत्तापूर्ण जीवन बिताने वाला किसी भी क्षेत्र में अपनी परम्पराओं का बीजवपन कर सकता है।

साधु-समाज और शासन

भारत में साधु नामधारी व्यक्तियों की संख्या बहुत बड़ी है। वे भी अपने को संत-परम्परा के वाहक ही मानते हैं। किन्तु अपने कर्म का दायित्व इनमें से कितने समझते हैं—यह एक प्रश्न है? सुख-शान्ति और वैभव के साथ वैयक्तिक जीवन को समृद्ध बना लेना कोई बड़ी बात नहीं है। अपने विशेष सम्प्रदाय के अनुयायियों को समझा-बुझाकर अपने प्रति आदर का भाव बनाय रखना भी कठिन नहीं है; पर त्याग, तपश्चर्या और शुद्ध व्यवहार द्वारा मानव मात्र को समत्व की श्रेणी में गिन कर उनको चारित्रिक विकास व सदाचारमय जीवन की ओर प्रोत्साहित करना दूसरी बात है। साधु-समाज का सामूहिक रूप से इस बात की ओर जो प्रयास है, वह नगण्य है। कहने के लिए साधु-समाज की बिखरी हुई शक्ति को 'भारत साधु-समाज' नामक संगठन द्वारा एकत्र कर देश-कल्याण के काम में प्रयुक्त किया जाता है; संयम और सदाचार मूलक सेमिनार भी होते रहते हैं; पर क्या ये प्रयत्न जिस सीमा में हो रहे हैं, इनसे राष्ट्रीय विकास और चरित्र के साथ सदाचार की ओर मानव को प्रवृत्त होने की प्रेरणा मिलेगी?

शासन के अधीन रहकर साधु-समाज या कोई भी संत विकासपूर्ण कार्यों में गतिशील हो ही कैसे सकता है? शासन के द्वारा सभी प्रकार की सहूलियतें तथाकथित व्यक्तियों को भले ही संप्राप्त हो जायें, पर उन्हें सत्ता के सम्मुख विरक्त होते हुए भी नतमस्तक होना ही पड़ता है। शासक दल के स्वार्थों का समर्थन भी करना पड़ता है। वहाँ औचित्य का कोई प्रश्न नहीं है। एक समय था जबकि भारत में विधान का निर्माण ऋषि-मुनियों द्वारा सम्पन्न होता था और शासकों द्वारा इसे क्रियान्वित किया जाता था। इस विधान-निर्माण में न दलगत स्वार्थ निहित था और न शासकों के प्रति पक्षपात ही। तात्पर्य संत-परम्परा का प्रभाव राजनीति पर इतना था कि शासक भी सन्तों से भयभीत रहते थे। इस विधान में आवश्यकता पड़ने पर तथा यदि कोई शासक सत्य से पराङ्मुख होकर कैसा भी अपराध करता, तो वह दण्ड का पात्र बनता था। पर आज शासक ही विधान का निर्माता है और वही इसे अमल में लाने वाला भी। अतः यदि आज शासक भयंकर अपराध भी कर बैठे तो उसे कोई दण्ड देने वाली शक्ति नहीं है। यही कारण है कि आज के विधान में, शासक दल द्वारा निर्मित होने के कारण जहाँ कहीं भी प्रातिकूल्य दृष्टिगोचर हुआ, वहाँ तत्काल उसमें परिवर्तन या परिवर्द्धन कर दिया जाता है। ऋषि-मुनियों को न संसार से लगाव था, न उनका कोई निजी स्वार्थ ही था। वासना-रहित कृत्य ही स्थायी कोटि में आता है।

चरित्र और जीवन का तादात्म्य

यदि भौतिकवाद के प्रभाव से प्रभावित राष्ट्र को चरित्र और संयम की उच्च भूमि पर प्रतिष्ठित करना है तो शासक व सार्वजनिक कार्यकर्ताओं पर संत-परम्परा का अंकुश नितान्त वांछनीय है। उनका भी चारित्रिक मापदण्ड निर्धारित किया जाना ही चाहिए। जब तक उनमें त्याग और सहिष्णुता की भावना जागृत न होगी, तब तक वे राष्ट्रीयता

को नहीं निभा सकेंगे। स्वयं कोई वैभवपूर्ण जीवन-यापन करे और जनता को त्याग-वैराग्य का संगीत सुनाए तो इसका क्या प्रभाव पड़ सकता है ? यह कार्य तो उन संतों का है, जो सादा जीवन बिताते हुए, वासना पर विजय प्राप्त कर, जनता को अहिंसा द्वारा संयम की ओर उत्प्रेरित कर सकते हैं। आज की राजनीति यदि संत-परम्परा से प्रेरित हो, तो जो संघर्ष सत्तात्मक गुटों में हैं, वे समाप्त हो सकते हैं। देश की सुरक्षा चरित्र के वास्तविक विकास पर ही अवलम्बित है। चरित्र की केवल आध्यात्मिक जीवन में ही आवश्यकता है—ऐसा कभी-कभी सुनाई पड़ता है। पर वस्तुतः चरित्र और जीवन का ऐसा तादात्म्य है कि उसे किसी भी क्षेत्र से अलग नहीं किया जा सकता।

अणुव्रत-आन्दोलन

भारतीय संत-परम्परा की अभिव्यक्ति स्पष्टतः अणुव्रत-आन्दोलन में परिलक्षित होती है। जनतन्त्रमूलक युग के लिए अणुव्रत एक ऐसी आचार-पद्धति है, जिसके परिपालन द्वारा गृहस्थ स्वयं सदाचारमय आत्मलक्षी जीवन-यापन करते हुए भी महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय विकास-कार्यों में भी न केवल सक्रिय योग ही दे सकता है, अपितु दर्शन के प्रकाश में ज्ञान द्वारा चरित्र की सुदृढ़ परम्परा भी स्थापित कर सकता है। यद्यपि इसे कतिपय व्यक्तियों द्वारा साम्प्रदायिक आन्दोलन घोषित करते हुए यह कहा गया कि यह तो केवल जैन गृहस्थों की ही एक विशिष्ट आचार-पद्धति रही है, पर सत्य तो यह है कि जो प्राणि-मात्र के सर्वोदय में विश्वास उत्पन्न करने में अपना जीवन समर्पित करता है और जिससे विश्व मानव को महती प्रेरणा मिलती है, जिससे भय और आशंका समाप्त होती है और जो नागरिक जीवन की समृद्धि की ओर संकेत करता है—ऐसा अध्यात्ममूलक व्यावहारिक आन्दोलन साम्प्रदायिक सीमा में आ ही कैसे सकता है ? यह तो एक ऐसा संस्कृति-निष्ठ तत्त्व है जो मानव को नैतिकता की ओर प्रवृत्त करता है। व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के युग में यही एक ऐसी आचार-शैली है जो अपनी निःस्वार्थ और कर्तव्य-भावना से प्रेरित वृत्ति से राष्ट्र में अनुपम बल और ओज का संचार करती है।

धर्म और नैतिकता

श्री शोभालाल गुप्त
सहसम्पादक—हिन्दुस्तान

धर्म और नैतिकता अन्योन्याश्रित हैं; उनको एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। नैतिकता का जन्म धर्म से होता है; बल्कि यों कहना चाहिए कि धर्म में ही नैतिकता का समावेश होता है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि नैतिकता के प्रसार के लिए धर्म के सहारे की आवश्यकता नहीं है। वे लौकिक नैतिकता में विश्वास करते हैं। मनुष्य को समाज में रहना पड़ता है और इसलिए समाज के हित में ही व्यक्ति का हित समाया हुआ है। समाज के हित मे व्यक्ति को अपने स्वार्थ का बलिदान करने के लिए प्रस्तुत रहना चाहिए। किन्तु जब मनुष्य को यह पता है कि उसका जीवन क्षण-भंगुर है और उसका प्रत्यक्ष हित उसके अपने और परिवार के उत्कर्ष में निहित है, तो वह समाज के हित के लिए काम करने को क्यों प्रेरित होगा? अवश्य ही समाज अपनी रक्षा के लिए नियम बनाता है और व्यक्ति को उन नियमों का पालन करने के लिए बाध्य करता है; किन्तु यह ऊपर से लादी हुई नैतिकता स्थायी नहीं हो सकती। अवसर मिलते ही वह इन सामाजिक नियमों की अवहेलना करने को उद्यत हो जाता है। समाज के नियमों का भंग बड़े परिमाण में होता हुआ हम देख सकते हैं। कानून और दण्ड-भय भी सामाजिक नियमों की अवहेलना को रोकने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है।

नैतिकता के परिपालन के लिए, दूसरों के कल्याण के लिए, अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करने के लिए एक मजबूत आधार की आवश्यकता होती है और वह आधार धर्म का ही हो सकता है। धर्म जीवन में मनुष्य का मार्ग-दर्शन करता है। उसे बताता है कि उसे क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए; क्या काम पहले करना चाहिए और क्या बाद में करना चाहिए। मनुष्य को सोचने और समझने की शक्ति मिली है। जब वह इस शक्ति से काम लेने लगता है तो उसके सामने सबसे पहला प्रश्न यही उपस्थित होता है कि उसके जीवन का लक्ष्य क्या है। इस प्रश्न का उत्तर सुलभ करने के लिए ही विभिन्न धर्मों का जन्म हुआ है। धर्मों के सम्बन्ध में मनुष्यों की अलग-अलग कल्पनाएं रही हैं। और उनके अनुसार ही नैतिकता का स्वरूप निर्धारित हुआ है।

एक मनुष्य है और उसके सामने फैला हुआ एक विस्तृत जगत् है। मनुष्य का उस विस्तृत जगत् के साथ क्या सम्बन्ध है और उसके साथ उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह बताना धर्म का काम है। विभिन्न धर्मों के कर्मकाण्ड और विधि-विधान अलग-अलग हो सकते हैं; उनका स्वर्ग-नरक, देवी-देवताओं आदि की कल्पनाएं भिन्न हो सकती हैं, किन्तु एक बात सभी धर्मों में समान दिखाई देती है और वह यह है कि सारे जगत् में एक सर्वोच्च शक्ति व्याप्त है। वह चेतन शक्ति है, ज्ञान-पुंज है और उसे परमात्मा, ईश्वर, आत्मा आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। मनुष्य उसी शक्ति का एक अंग है। धर्म यह बताता है कि उस शक्ति के साथ मनुष्य का क्या सम्बन्ध है। वह यह सिखाता है कि एक ही शक्ति के अंग होने के कारण जगत् के सब प्राणियों के बीच आत्मीय सम्बन्ध है और इसलिए दूसरों की भलाई के लिए प्रयत्न करना उसका धर्म हो जाता है। दूसरों से प्रेम करके, उनकी सेवा करके मनुष्य अपने भीतर सद्गुणों का विकास कर सकता है और अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। जब हम यह मानकर चलते हैं कि हम सब एक ईश्वर की सन्तान हैं तो हमारे मध्य एक समानता का नाता स्थापित हो जाता है। हम आपस में भाई-भाई हो जाते हैं। फिर भाइयों में कौन छोटा और कौन बड़ा, कौन ऊंचा और कौन नीचा तथा कौन निर्धन और सम्पन्न होगा? मनुष्यों में जो

विषमता दिखाई देती है, वह धर्म-सम्मत नहीं है। उसे मिटाने का प्रत्येक धर्मशील व्यक्ति को प्रयत्न करना चाहिए।

जीवन के लक्ष्य के सम्बन्ध में जैसी कल्पना होती है, उसके अनुसार ही मनुष्य का आचरण होता है। अगर किसी का यह लक्ष्य है कि उसे जीवन में एकमात्र अपना ही व्यक्तिगत हित सिद्ध करना है तो उसे जो भी साधन उपलब्ध होंगे, उनका वह अधिक-से-अधिक अपने हित के लिए उपयोग करना पसन्द करेगा। उसे दूसरों के स्वत्वों का अपहरण करने में कोई झिझक नहीं होगी। वह उनके परिश्रम का बेखटके शोषण कर लेगा। इसके अलावा अगर उसने अपने जीवन का यह लक्ष्य निर्धारित किया है कि उसे अपने परिवार का, अपनी जाति का अथवा अपने राष्ट्र का हित सिद्ध करना है, तो वह अपने परिवार, जाति अथवा राष्ट्र की भलाई के लिए अपने व्यक्तिगत सुख दुःख की परवाह नहीं करेगा। किन्तु एक लक्ष्य इससे भी बड़ा हो सकता है कि मनुष्य परिवार, जाति और राष्ट्र की सीमाओं को लाँघ जाए और मानव-मात्र की सेवा के लिए अपने को समर्पित कर दे। मानव मानव के बीच अभेद की कल्पना सर्वश्रेष्ठ धर्म और सर्वश्रेष्ठ नैतिकता है। यही मनुष्य का सर्वोपरि लक्ष्य हो सकता है।

इस जगत् में जहाँ प्रेम और सहयोग की भावना है, वहाँ संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की भावना भी दिखाई देती है। उसी को लक्ष्य में रख कर कुछ दार्शनिकों ने संघर्ष को विकास का नियम बताया है। वे कहते हैं कि इस संघर्ष में जो शक्तिशाली होते हैं, वे ही जीवित रहते हैं और जो निर्बल होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं; इसलिए इस जगत् में यदि किसी व्यक्ति अथवा समाज को जीवित रहना है तो उसे शक्ति-संचय करना चाहिए। किन्तु यदि हम इस नियम को मान कर चलें तो नैतिकता के लिए कोई अवकाश नहीं हो सकता। शक्ति-संचय करने की प्रतियोगिता में ही दुनिया के राष्ट्र दो गुटों में विभक्त हो गए हैं और युद्ध की तैयारियों में बुरी तरह व्यस्त हैं। उन्होंने अणुबम और उद्जनबम जैसे सर्व-संहारकारी अस्त्रों का निर्माण कर लिया है; जिनका प्रयोग यदि हुआ तो सब-कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जायेगा। अतः यह संघर्ष का नियम अधिक काम नहीं दे सकता। मनुष्य को सर्वनाश से बचने के लिए नैतिकता की ही शरण लेनी होगी। राष्ट्रों की सीमाओं को लाँघ कर एक विश्व-संघ की स्थापना करनी होगी। वर्तमान 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' उसी विश्व-संघ की पूर्व-भूमिका है। वह राष्ट्रों के मतभेद शान्तिपूर्वक निपटाने का प्रयत्न कर रहा है। किन्तु जब तक राष्ट्रों का पृथक् अस्तित्व है और मनुष्य की निष्ठा अपने राष्ट्र तक सीमित है, विश्व-संकट हल नहीं हो सकता। मानव की निष्ठा मानव-मात्र के प्रति होगी और जगत् के कल्याण की भावना से प्रेरित होकर मनुष्य काम करेगा, तभी सर्वनाश का जो भय सिर पर मँडरा रहा है, वह टल सकेगा।

हमारे अभिमतानुसार नैतिकता का पहला सूत्र यह होना चाहिए कि मनुष्य दूसरों के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसे व्यवहार की वह दूसरों से अपने लिए अपेक्षा करता है। भारतीय नीतिकार ने ठीक ही कहा है **आत्मनः प्रतिकूलानि परेषाम् न समाचरेत।** यदि कोई स्वयं हानि उठाना नहीं चाहता तो उसे दूसरों को भी हानि नहीं पहुँचानी चाहिए। यदि कोई चाहता है कि दूसरा उसके स्वत्व का अपहरण न करे तो उसे भी दूसरों के स्वत्व का आदर करना चाहिए। ईर्ष्या, द्वेष, वैर-वैमनस्य, मत्सर, पर-निन्दा आदि जितने दुर्गुण हैं, उन सबका त्याग करने के बाद ही मनुष्य दूसरों के वैर-वैमनस्य और निन्दा से बचने की अपेक्षा रख सकता है। वैर का वैर से और क्रोध का क्रोध से शमन नहीं हो सकता। वैर और क्रोध पर प्रेम और शान्ति से विजय प्राप्त की जा सकती है। दुनिया में बहुधा ऐसा भी देखने को मिलता है कि कोई किसी का अपकार नहीं भी करता, बल्कि भला ही करता है, फिर भी उसे बदले में अपकार ही मिलता है। जब भी ऐसा अवसर उपस्थित हो तो मनुष्य को निराश नहीं होना चाहिए; हिम्मत नहीं हारनी चाहिए; बल्कि अपकार का बदला उपकार से ही देने का प्रयत्न करना चाहिए। मनुष्य केवल इसी प्रकार अपने आत्म-गुणों का विकास कर सकता है और वास्तविक सुख की उपलब्धि कर सकता है।

अनैतिक साधनों का उपयोग करके मनुष्य भौतिक सुख-सामग्री जुटा सकता है। इसके लिए उसे दूसरों के परिश्रम का लाभ उठाना होगा और उनके न्यायोचित स्वत्वों का अपहरण करना होगा। मनुष्य अपने लिए भव्य भवन का निर्माण कर सकता है, आरामदेह पलंग, गद्दों और बिजली के पंखों का प्रबन्ध कर सकता है, मोटर अथवा घोड़ा-गाड़ी रख सकता है; किन्तु यह सब साधन-सामग्री सुलभ होने के बाद भी वह मानसिक अशान्ति का शिकार हो सकता है। सच्चा सुख

और शान्ति भोग में नहीं, त्याग में है। दूसरों के लिए थोड़ा-सा भी त्याग करने वाले को अनुभव होगा कि उसे इससे कितनी आन्तरिक शान्ति और सन्तोष प्राप्त होता है। किन्तु दूसरों के लिए त्याग करते समय भी एक बात की सावधानी रखनी होगी। उसे अपने त्याग का प्रदर्शन करने से बचना होगा; कारण त्याग का प्रदर्शन अहंकार और दम्भ को जन्म देता है जो मनुष्य को पतन की ओर ले जाता है।

व्यक्ति और समाज दोनों का कल्याण इसी में है कि व्यक्ति जगत् के साथ एकात्मीयता अनुभव करे और अपनी सुख-सुविधा की चिन्ता बाद में और दूसरों की सुख-सुविधा की चिन्ता पहले करे। हिंसा और असत्य से हमेशा दूर रहे। संयम और सादगी को जीवन में स्थान दे। अपनी आवश्यकताओं से अधिक संग्रह न करे; क्योंकि जो ऐसा करता है, वह नैतिकता को भंग करता है। नैतिकता जगत् के रक्षण, पोषण और विकास के लिए जरूरी है। हमारे वर्तमान अधिकांश संकटों का कारण यह है कि हमने नैतिक नियमों का परित्याग कर दिया है। धर्म के मूलभूत सिद्धान्तों के प्रति हमारी आस्था जितनी गहरी होगी, उतना ही हमारा नैतिकता का मापदण्ड ऊँचा होगा, हमारी नैतिकता जगत्-स्पर्शी होनी चाहिए। संकुचित स्वार्थों की परिधि से बाहर निकल कर ही हम नैतिक जीवन बिता सकते हैं। नैतिक जीवन का ही दूसरा नाम सदाचारी जीवन है।

अणुव्रत-आन्दोलन : कुछ विचारणीय पहलू

श्री हरिदत्त शर्मा

पार्षद—दिल्ली नगर निगम, समाचार सम्पादक—नवभारत टाइम्स, दिल्ली

आज के युग की समस्या, विशेषककर भारत के सन्दर्भ में, ग़रीबी है, जिसके कारण भारत के करोड़ों नागरिक नारकीय जीवन बिता रहे हैं। देश का नेतृ-वर्ग और स्वयं ये दलित जन ग़रीबी के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। इस संघर्ष के साथ एक अच्छी बात यह भी है कि देश में यह विश्वास बनता जा रहा है कि ग़रीबी मिटकर रहेगी। इससे जनता का मनोबल बढ़ रहा है।

आत्मानुशासन

यह मनोबल जनता को सीधे-सीधे चलने की प्रेरणा दे रहा है, पर ऐसी भी बहुत-सी चीज़ें हैं, जो जनता के विश्वास और मनोबल को सीधे रास्ते से हटा कर विकट मार्ग की ओर भी अग्रसर होने के लिए विवश कर रही हैं। इन चीज़ों में अनाचार, भ्रष्टाचार और प्रशासकीय अक्षमताओं एवं नयी उभरती संस्कृति, पश्चिमी संस्कृति की अनेक अनर्गल प्रवृत्तियों का विस्तार भी है। इसी स्थल पर ऐसे प्रयत्नों की आवश्यकता महसूस होती है जो जनता के इस विश्वास और मनोबल को कायम रख सकें। इसके लिए देश में तरह-तरह के आन्दोलन चल रहे हैं। इनमें से कुछ आन्दोलन राजनीतिक दलों द्वारा संचालित हैं, कुछ सामाजिक संस्थाओं द्वारा और कुछ धार्मिक संस्थाओं द्वारा। इस क्षेत्र में साधु-संत और मुनि भी आये हैं। इन संतों और मुनियों में संत विनोबा और आचार्यश्री तुलसी भी हैं। विनोबा ने युग की समस्या को गम्भीर दृष्टि से देखते हुए राष्ट्रीय चरित्रोत्थान के अपने आन्दोलन के साथ भूदान, ग्रामदान और सम्पत्तिदान आदि यज्ञों की प्रतिष्ठा की है। आचार्यश्री तुलसी ने मानव-गुण विकास का क्षेत्र लिया है और इस क्षेत्र में वे पिछले एक दशक से जुटे हुए हैं। उनके इस आन्दोलन को उनके शिष्यों और अनुवर्तियों ने देश के कोने-कोने में फैलाया है। इस आन्दोलन का सद्प्रभाव पड़ा है, जगह-जगह व्यापारियों, अधिकारियों, सरकारी कर्मचारियों, अध्यापकों, युवकों एवं छात्रों ने अपने जीवन को अधिक पवित्र बनाने की प्रतिज्ञा ली है। कह सकते हैं कि अणुव्रत-आन्दोलन के माध्यम से आत्मानुशासन का कार्य बढ़ा है, जिसका कि जनतन्त्र में महत्त्व है। आत्मानुशासन से मनोबल और संघर्ष-शक्ति बढ़ती है। इस तरह अणुव्रत-आन्दोलन का एक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है।

छोटे और बड़ों का संघर्ष

अणुव्रत-आन्दोलन और इस तरह के अन्य प्रयत्नों के सामने आमतौर पर एक प्रश्न खड़ा होता है। ग़रीबी के विरुद्ध संघर्ष में बहुधा टक्कर बड़ों और छोटों में हो जाती है। जब छोटी जनता अपनी उन्नति के लिए आगे बढ़ती है तो उसके लिए बड़े लोगों को रास्ता देना अनिवार्य हो जाता है; पर इस अनिवार्य धर्म को वे निभा नहीं पाते, इसलिए संघर्ष की स्थिति आ जाती है। इस प्रकार के संघर्ष के अवसर पर अणुव्रत-आन्दोलन के होता क्या करें; किसका साथ दें? यदि वे मौन अथवा अकर्मण्य हो जायें तो संघर्षशील जनता की हानि होती है; और यदि वे बड़े लोगों का साथ दें तो उनके सुधार-प्रयत्नों की हानि होती है; क्योंकि इन सुधार-प्रयत्नों का आशय तो आत्म-उन्नति के लिए सचेष्ट जनता को लाभ

पहुँचाना ही है। बहुधा सुधारवादी आन्दोलन अपने को ऐसे अवसरों पर सीमित और तटस्थ कर लेते हैं और इस तटस्थता के कारण वे ओज-विहीन हो जाते हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के सूत्रधार आचार्यश्री तुलसी का ऐसे अवसरों के लिए, जो कि संघर्षों में प्रायः आते रहते हैं, स्पष्ट दिशा-निर्देश वांछनीय है।

युग-सत्य की कामना

आचार्यश्री तुलसी जैसे संत नेताओं का मार्ग प्रेम का सहज मार्ग होता है; इसे ईश्वरीय मार्ग भी कह सकते हैं। गांधीजी भी इसी राह के राही थे; पर जनता के सक्रिय संघर्षों से सम्बद्ध होने के नाते उन्होंने इसके साथ सत्याग्रह भी जोड़ दिया था। जहाँ प्रेम अथवा सत्य के मार्ग में रोड़े होते थे, वे उसके लिए सत्याग्रह करते और कराते। इससे जनता का आशातीत मनोबल बढ़ा और भारत की दमित जनता सिंह के समान उठ खड़ी हुई। गांधीजी के परवर्ती संतों की निगाहों से यह तथ्य जैसे ओझल हो गया है। इसी से उनके कर्मों में वह तेजस्विता नहीं आ पा रही है। भारतीय परम्पराओं के आधार पर जो आन्दोलन चल रहे हैं, इस तथ्य की ओर विशेष रूप से ध्यान दिया जाना जरूरी है; अन्यथा युग-सत्य के अनुकूल वे नहीं हो पायेंगे। आचार्यश्री तुलसी जनता के अनेक वर्गों में प्राचीन मुनियों की तरह आदरणीय हैं, प्राचीन सांस्कृतिक भाव-भूमि पर उनके कर्म विचरण करते हैं; पर युग-सत्य उनके कर्मों को अपने से संश्लिष्ट होने की कामना करते हैं। अधिकांश जनता आज आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नति के पथ पर अग्रसर होना चाहती है; पर कुछ थोड़े से श्रीमन्त अपनी पूरी शक्ति से उसके मार्ग को रोके खड़े हैं। अणुव्रत-आन्दोलन या अन्य ऐसे ही आन्दोलन जनता की वांछाओं के फलीभूत होने में क्या सहयोग देंगे ?

सांस्कृतिक तथा सामाजिक आन्दोलनों और समाज के सम्बन्धों पर निगाह डालते समय एक बात और सामने आती है और वह यह कि समाज का मध्यवर्ग, जिसमें उच्च तथा निम्न मध्यवर्ग दोनों शामिल हैं, अन्य निषेधात्मक दृष्टि-कोण से ग्रस्त है। उसकी श्रद्धा-भावना तिरोहित हो गई है। उसका विश्वास जैसे कहीं खो गया है। पुरातनता उसे भाती नहीं और नवीनता के प्रति वह पूरी तरह सजग नहीं। त्रिशंकु जैसी स्थिति में वह आ गया है। श्री नेहरू का इस मनः-स्थिति को ठीक करने के लिए सुझाव है कि नवीनता को पुरानी श्रेष्ठ सांस्कृतिक परम्पराओं से सम्बद्ध किया जाये। यह सुझाव उचित मालूम पड़ता है; पर यहाँ प्रश्न यह आता है कि क्या अणुव्रत-आन्दोलन के कार्यकर्ता इस महत् कर्म को अपने कन्धों पर लेंगे ? क्या वे इतने सक्षम होंगे ? इस दिशा में निश्चित ही आचार्यश्री तुलसी का मार्ग-दर्शन मूल्यवान् होगा।

युगानुकूल आधार भूमि

इसी स्थल पर एक बात और मस्तिष्क में आती है और वह यह कि आमतौर पर धार्मिक नेताओं द्वारा संचालित आन्दोलनों में रूढ़िवादी और मताग्रही व्यक्ति एकत्रित हो जाते हैं और परिणामतः आन्दोलन की परिधि सीमित हो जाती है। इससे हानियाँ होती हैं। ऐसे आन्दोलनों को व्यापक आधार देने के लिए धर्म की व्यापक व्याख्या हृदयंगम करा दी जानी चाहिए। ऐसे आन्दोलनों के द्वितीय श्रेणी के धार्मिक नेताओं को भी ऊँच-नीच का भेद छोड़ कर अपने व्यवहार में परिवर्तन करना जरूरी है। कई ऐसे गृहस्थ व्यक्ति हो सकते हैं, जो धार्मिक नेताओं को मात्र 'मुनित्व' या 'साधुत्व' के आधार पर सम्मान नहीं देना चाहते; वे मुनियों अथवा साधुओं के साथ ईमानदारी के साथ काम करना चाहते हैं, पर साधु अथवा मुनि अपने मुनित्व की गरिमा में उसका तिरस्कार कर देते हैं। ऐसी भावना युग के अनुकूल न होने से आन्दोलन के लिए हानिप्रद हो जाती है। संत-नेताओं के लिए अपने आन्दोलन के गठन का समय-समय पर विश्लेषण कर उसका सुधार करते रहना चाहिए। इस बात के लिखते समय मेरा आशय कटाक्ष करने का नहीं और न ही संगठन-सम्बन्धी उपदेश का है। मैं सदा सत्यता और ईमानदारी से यह महसूस करता हूँ कि इन सामाजिक और सांस्कृतिक आन्दोलनों की आधारभूमि युगानुकूल होनी चाहिए; अन्यथा वे जन-मानस में जिस सौन्दर्य-विस्तार की भावना से संचालित हैं, उसके लुप्त हो जाने की सम्भावना है। इस बात की प्रसन्नता है कि अणुव्रत आन्दोलन में इसके लिए काफी

सजगता रखी जा रही है।

इसी के साथ एक बात और उल्लेखनीय है। धार्मिक संतों की संस्थाओं में अनेक बार मतमतान्तर का चक्कर फैल जाता है। यदि संस्था सनातनी साधुओं की हुई तो उसमें सनातन धर्मी विचारधारा के व्यक्ति ही आगे आते हैं और मताग्रह फैलाते हैं, यदि आर्य समाजी साधुओं की संस्था हुई तो उसमें आर्य समाजी विचारधारा के व्यक्ति आते हैं और मतवाद के चक्कर को बढ़ाते हैं; यही बात अन्य धर्मावलम्बियों के बारे में है। यद्यपि अणुव्रत-आन्दोलन इन अन्य संस्थाओं से इस दिशा में अधिक प्रगतिशील है, फिर भी इस सम्बन्ध में उसे कुछ और यत्न करने होंगे।

अणुव्रत-आन्दोलन और नई पीढ़ी

अन्तिम बात आन्दोलन बनाम नयी पीढ़ी के सम्बन्ध में है। कोई भी सामाजिक आन्दोलन नवयुवकों और नवयुवतियों के सहयोग के बिना ठीक ढंग से नहीं चल सकता। अणुव्रत-आन्दोलन के संचालकों ने इस तथ्य को अच्छी तरह समझ लिया है और वे विद्यार्थियों एवं युवकों में चरित्र-विकास के भाव भरते हैं; किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। युवकों में आधुनिक विचारों के प्रति भी दिलचस्पी पैदा करनी चाहिए। मैं समझता हूँ कि चरित्र-सौन्दर्य से मण्डित नवयुवा वर्ग आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा से प्रेरित होकर जन-सेवा का कार्य उन नवयुवकों एवं नवयुवतियों से अच्छा कर सकता है, जो मात्र वैज्ञानिक विचारधारा से प्रेरित होकर चलते हैं। श्री नेहरू ने कहा है कि नवयुवा वर्ग को प्राचीन संस्कृति के आधार पर पल्लवित चरित्र और आधुनिक वैज्ञानिक विचारधारा से युक्त करना ही इष्ट होगा। अणुव्रत-आन्दोलन आचार्य श्री तुलसी के नेतृत्व में इस कार्य को ले और अन्य सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं को भी इस दिशा में प्रेरित करे।

हमारा विचार है कि जैसे अन्य सामाजिक संस्थाएं अनेक बार किन्हीं विशेष प्रश्नों को लेकर संयुक्त प्रयत्न करती हैं, इसी प्रकार धार्मिक नेताओं द्वारा संचालित सामाजिक संस्थाओं को भी परस्पर ताल-मेल रखना चाहिए। इससे उन्हें शक्ति प्राप्त होगी और इस शक्ति से समाज लाभान्वित होगा। इससे धार्मिक सौहार्द का-सा वातावरण फैलेगा, जो राष्ट्रीय एकता के लिए बड़ा पुण्यप्रद रहेगा। यह राह भी आचार्यश्री तुलसी के पदक्षेप की आकांक्षिणी है।
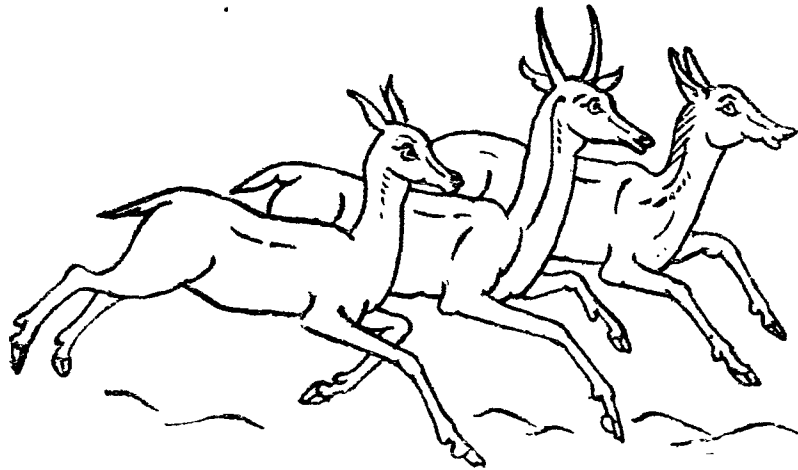
आदर्श समाज में बुद्धि और हृदय

श्री कन्हैयालाल शर्मा, एम० ए०

समाज मनुष्य द्वारा आत्म-रूप को प्रकाशित करने की संज्ञा है। एकाकी जन्म लेकर आया मनुष्य अपने आस-पास के सुख-दुःख में सहानुभूति प्रदर्शित करता हुआ परिवार के संकुचित क्षेत्र से निकल कर विश्व-बन्धुत्व की सीमा तक का स्पर्श इसी आत्मरूप के प्रकाशन के फलस्वरूप करता है। इसके विपरीत वह स्वकेन्द्रित होकर समाज-विरोधी बन जाता है और अपनी असामाजिक प्रवृत्तियों से स्वयं को समाज के शत्रु रूप में प्रकट करता है। जिस व्यक्ति की आत्म-पाराध में जितनी विशाल मानव-समष्टि को अन्तर्भूत करके चलने की क्षमता होती है, वह मनुष्य उतना ही महान् कहलाता है और विपरीतावस्था में वह अपनी तुच्छता अथवा संकीर्णता का प्रदर्शन करता है।

समस्त समाज-व्यवस्था के आधार, मनुष्य के बुद्धि और हृदय रहे हैं। उसके क्रिया-व्यापारों का परिचालन इन्हीं के द्वारा होता है। परिष्कृत और नियन्त्रित भाव-विचार के प्रकाशन से समाज में आदर्श व्यवस्था स्थापित होती है। जिस समाज के सामाजिक अपने भाव-विचार समाजोपयोगी नहीं बना पाते, उस समाज का क्रमशः ह्रास होता रहता है और अन्त में वह विनाश को प्राप्त होता है। इस प्रकार आदर्श समाज की स्थापना में दोनों का ही समान महत्त्व है।

भाव और विचार एक ही मन के दो पहलू हैं, अतः वे सर्वथा पृथक् और स्वतंत्र नहीं हैं, अपितु परस्पर सहयोगी हैं। उच्च विचारों का प्रतिफलन श्रेष्ठ समाजोपयोगी भावों के प्रकाशन में होता है और भाव समाजोपयोगी बन कर उच्च विचारों को प्रेरणा देते हैं। कभी-कभी दोनों स्वतन्त्र रूप से बहुत दूर तक चलते भी दिखाई देते हैं।

असामाजिक कार्यों का नियन्त्रण भाव-पद्धति पर भी होता आया है और विचारों के आधार पर भी। साहित्य-कारों ने व्यक्ति को सामाजिक कार्यों की ओर भाव-पद्धति के द्वारा फुसलाया है और उपदेशकों तथा शासन-व्यवस्थापकों ने विचारों को जागृत करके अन्ततः उन्हें भय या प्रलोभन का संकेत दिया है। विचार-पद्धति में भय और प्रलोभन जहाँ तक बहुत स्पष्ट रहते हैं, वहाँ तक तो व्यक्ति अपने क्रिया-व्यापारों पर नियंत्रण स्थापित करता चलता है; पर जहाँ ये प्रच्छन्न या परोक्ष हो जाते हैं, वहाँ इस पद्धति में व्यक्ति के शील को सँभाल कर चलने की शक्ति का तिरोभाव-सा होता दिखाई देता है।

कानून की व्यवस्था होती तो भय के आधार पर है; पर भय की स्थापना का मार्ग सीधा व सरल न होने से व्यक्ति की दृष्टि से वह ओझल-सा रहता है। जहाँ कुछ अवस्थाओं में वह प्रत्यक्ष भी है, वहाँ भी वकील के बुद्धि-कौशल, कानून की पुस्तकों की लचीली शब्दावली, गवाहों की जोड़-तोड़, न्यायाधीश के व्यक्तित्व आदि की आड़ में परोक्ष बन जाता है। अतः भय या दण्ड की अनिश्चितता से केवल विचार-पद्धति की भी सूक्ष्मताओं पर ठहरा क़ानून व्यक्ति को अपराध न करने की प्रेरणा प्रायः नहीं देता।

क़ानून स्थूल घटनाओं की चीर-फाड़ करके न्याय तक पहुँचता है। इस प्रक्रिया में वह अपराधी के संकल्प (intention) को भी ध्यान में रखता है। स्थूल घटनाओं के मूल में निहित सूक्ष्म संकल्प को परखने के सीधे-टेढ़े मार्गों के अनुसन्धान में न्याय प्रायः असमर्थ ही सिद्ध होता है। अतः अनेक बार सत्पक्ष पराजित और असत्पक्ष विजयी होता है, जिससे वर्तमान न्याय-व्यवस्था के प्रति अनास्था उत्पन्न होती है।

अतः कानून द्वारा सदैव सत्पक्ष को समर्थन न मिलने से समाज में सन्मार्ग के प्रति अनास्था तो उत्पन्न होती ही है, साथ ही न्याय व कानून की मान्यता के प्रति सामाजिक के मन में विद्रोह-भावना जागृत होती है। इन प्रतिक्रियाओं का

प्रतिफलन समाज के वर्तमान विकासोन्मुख अपराधों में देखा जा सकता है। वर्तमान बौद्धिक युग ने व्यक्ति को धर्म के प्रति अनास्था प्रदान की है और इसके मूल स्वरूप असत्कार्यों से उसे रोकने की शक्ति का जो अभाव धर्म में मिलता है, उसका स्थान क़ानून भी लेने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है।

सामाजिकों की प्रकृति में सदसत् के विविध पारिभाषिक मिश्रणों से इसके अगणित रूप दिखाई देते हैं। इनमें से जिनमें सत्पक्ष का आग्रह अधिक मिलता है, उनके लिए परिस्थिति का एक झटका ही सन्मार्ग-प्रदर्शन के लिए पर्याप्त है; पर जो असत्पक्ष की दिशा में बहुत दूर जा चुके हैं, उनको सन्मार्ग पर लाने के लिए असाधारण व्यवस्था की आवश्यकता है। किसी महात्मा के चमत्कार से ऐसे व्यक्तियों का भले ही कल्याण हुआ हो, पर क़ानून के द्वारा दण्डित होकर तो जेल की काली कोठरियों में उनके हृदयों की कालिमा बढ़ती है। जिन व्यक्तियों में सदसत् का अधिक असन्तुलन नहीं है, उनको क़ानून-व्यवस्था भय दिखला कर कुमार्ग की ओर बढ़ने से रोकती रहती है और अनभ्यास से ऐसे व्यक्ति कभी-कभी साधु-स्वभाव के बनते देखे गए हैं।

आज का क़ानून अपने सही रूप में केवल कुछ गिने-चुने व्यक्तियों को, वकीलों व न्यायाधीशों को ही बोधगम्य है। साधारण जनता की पहुँच उसकी बारीकियों तक होना असम्भव है। धारा ४२० की पहुँच लोक-जिह्वा तक हो जाने से सामान्य जनता की क़ानून के प्रति अभिरुचि न प्रकट होकर, ऐसे कार्यों की वृद्धि की दिशा का संकेत मिलता है जो इस धारा के क्षेत्र में आते हैं। कानून की किसी अन्य धारा से आज के सामाजिकों का कोई परिचय नहीं है। उनका किसी धारा-विशेष से तब परिचय होता है, जब वह तत्सम्बन्धी अपराध कर चुका होता है।

प्रतिद्वन्द्वियों में, क़ानूनी बुद्धि के अविकास में, न्यायालयों में उनकी स्थिति किसी अनुचारी पशु से अच्छी नहीं होती। इस प्रतिद्वन्द्विता के आवेश में धन का बल उनका सहायक बनता है। इस धन-बल के अभाव में सत्पक्ष विजयश्री को अपनी समझता हुआ भी अनेक अवस्थाओं में मार्ग में ही घुटने टेक देता है, वह प्रतिद्वन्द्विता का अन्त करने के लिए उतारू हो जाता है। तब उसके हृदय में प्रतिद्वन्द्वी के प्रति आत्मीयता का विकास होता हो, ऐसी कल्पना निराधार है। वह तो तब वर्तमान न्याय-व्यवस्था की ओर गोली-खाये हिंस्र पशु के समान देखता है और अपने प्रतिद्वन्द्वी से जब कुछ खोकर वह मित्रता के लिए हाथ बढ़ाता है, तब उसके प्रति विद्वेष की जड़ें और भी गहरी चली जाती हैं।

क़ानून बुद्धि की उपज होने के नाते व्यक्ति के मन में अपने प्रति पूज्यता की भावना उत्पन्न नहीं कर सका है। अतः उसको समझने-समझाने की प्रक्रिया का आधार निरा बौद्धिक होता है। पूज्य भावना के अभाव में क़ानून भी स्थूल पकड़ से बच कर निकलने के अनेक स्थूल-सूक्ष्म मार्ग बुद्धिजीवी व्यक्ति खोज निकालते हैं। अतः एक कानून का निर्माण अपने साथ अनेक गुप्त छिद्रों को लेकर आता है जिनमें से अपराधी सहज ही बच निकल सकता है। इस प्रकार संरक्षित व्यक्ति अपने बुद्धि-बल के गर्व में झूम कर उस मानसिक स्थिति को प्राप्त कर लेता है जो पशु-बल-युक्त डाकुओं में पाई जाती है। अतः वह मानव-सुलभ सद्-वृत्तियों के प्रति अनास्थावान् बन कर जीवन-यापन आरम्भ कर देता है।

जो व्यक्ति चतुर तथा व्यावहारिक बुद्धि के होते हैं, वे मानवता को तिलांजलि देकर कानून का लाभ उठाने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। मुझे ऐसे अनेक धन-लोलुप धनिकों के उदाहरण स्मरण हैं जो किरायेदार एक्ट का संरक्षण पाकर विधवाओं और धन-हीनों की विशाल सम्पत्ति पर बीस वर्ष पूर्व के किराये पर अधिकार जमाये बैठे हैं और वे समय-समय पर अपने मकान-मालिकों को दुत्कारते रहते हैं। ऐसी अवस्था में क़ानून एक अन्धे मदान्ध व्यक्ति के हाथ में दी गई तलवार के समान भीषण दिखाई देने लगता है और अपने विकट रूप से सामाजिकों को संत्रस्त करता रहता है। जहाँ उससे दीन, धनहीन आदि को संरक्षण मिलना चाहिए, वहाँ वह अपनी मादकता का ही परिचय दे रहा है।

क़ानून की पहुँच हृदय-मन्दिर तक नहीं है। वह अछूत है। हृदय के कोमल तारों को झंकृत करके मानव-जीवन को नई दिशा देने में वह असमर्थ है। बुद्धि के आधार पर निर्मित उसका भव्य प्रासाद देखने में तो चमत्कृत करने वाला है. पर भीतर से वह जर्जर है। प्रेम, करुणा आदि द्वारा व्यक्ति परायों को जिस कुशलता के द्वारा अपना बना लेता है, वह क़ानून द्वारा स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। उसने तो मानव की निर्विकार आकृति को विकृत किया है। वह प्रायः अपने अस्तित्व की घोषणा अपराध के उपरान्त करता है, अतः वह मूलतः मनुष्य के असत्पक्ष पर दृष्टि डालता हुआ चलता है।

अणुव्रत और नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन

श्री रामकृष्ण 'भारती', एम० ए०, शास्त्री, विद्यावाचस्पति

गत बारह वर्षों में अणुव्रत-आन्दोलन भारत में ही नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय जगत् में भी एक नैतिक आन्दोलन के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। आचार्यश्री तुलसी के नेतृत्व में तथा उनके साधु-साध्वियों के संरक्षण में यह आन्दोलन सारे देश में प्रगति कर रहा है। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् जहाँ हमारे राजनीतिक नेताओं को देश के पुनर्निर्माण के लिए पंचवर्षीय योजनाएं बनाने में प्रवृत्त होना पड़ा, वहाँ आचार्यश्री तुलसी का ध्यान देश के नैतिक पुनरुत्थान की ओर गया और उन्होंने भारतीय संस्कृति और दर्शन के अहिंसा, सत्य आदि सार्वभौम आधारों पर नैतिक व्रत की एक सर्वमान्य आचार-संहिता प्रस्तुत की। वेद के **चरैवेति-चरैवेति** सन्देश की ओर मानव-समाज का ध्यान आकर्षित करते हुए उन्होंने हमें अपने कर्तव्यों के प्रति जागरूक किया। अपने श्रावक-समाज की समाजिक कुरीतियों की ओर तो उन्होंने ध्यान दिया ही, साथ-ही-साथ सरकारी कर्मचारियों में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार तथा विद्यार्थियों में बढ़ती हुई अनुशासन-हीनता आदि की ओर भी उनका ध्यान गया तथा इस सम्बन्ध में योजनाबद्ध कार्य हुए।

नैतिक पुनरुत्थान (M. R. A.) आन्दोलन के प्रवर्तक डॉ० फ्रैंक बुकमैन हैं। उनका देहान्त ७ अगस्त, १९६१ सोमवार के दिन ८३ वर्ष की आयु में हृदय की गति बन्द हो जाने के कारण हो गया। उनका जीवन संघर्षमय था और वे अपने-आप में एक संस्था थे। इसमें सन्देह नहीं कि निरन्तर साधना एवं परिश्रम से उन्होंने 'नैतिक पुनरुत्थान' के महान् आन्दोलन को संसार के एक कोने से दूसरे कोने तक पहुँचाया और इस संस्था को एक ऐसी धार्मिक, राजनीतिक अथवा सांस्कृतिक संस्था का रूप दिया, "जिसकी विजयिनी पताका की छत्र-छाया में," साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाँकेबिहारी भटनागर के शब्दों में—"विश्व के इतने देशों के व्यक्ति अपने रूप, ढंग और पद के समस्त भेदभावों को भूल कर इस प्रकार शान्ति, श्रद्धा और लगन के साथ विश्व-कल्याण के चिन्तन में रत रहते हों।"[1]

श्री भटनागर ने अपने अग्रलेख में डॉ० बुकमैन की ८०वीं वर्ष-गाँठ के अवसर पर आयोजित, जिस विश्वव्यापी सम्मेलन का उल्लेख उक्त अंक में किया है, वह तीन वर्ष पूर्व मैकनिक द्वीप में हुआ था, जिसमें यूरोप, अफ्रीका, एशिया और अमेरिका—अनेक महाद्वीपों के निवासी अपनी रंग-बिरंगी वेश-भूषा में, अपनी विचित्र, विविध बोलियाँ बोलते हुए सैकड़ों और हजारों रुपये खर्च कर वहाँ केवल एक निमित्त के लिए एकत्र हुए थे और वह था—भौतिक चमक-दमक से चौंधियाई आँखों को नैतिक पुनरुत्थान की शान्त, शीतल प्रकाश-किरणों में ले जाने वाले अपने सम्माननीय और प्यारे फ्रैंक की ८०वीं वर्ष-गाँठ मनाना। श्री भटनागर के ही शब्दों में, "विश्वास मानिये. इस समारोह में ८०-८०, ९०-९० वर्ष के वृद्ध पुरुष और स्त्रियाँ सहस्रों मीलों की दूरी पार कर समुद्र और आकाश की छाती को चीर वहाँ ललकते हुए आये थे। वाणी उनकी काँपती थी, पैर उनके लड़खड़ाते थे, किन्तु दूसरों का सहारा ले वे अपने फ्रैंक के निकट जाते थे और प्रेम से विह्वल होकर उनका चुम्बन कर लेते थे।" पर यह सब क्यों? यह दृश्य बतलाता है कि आज के इस वैज्ञानिक युग में भी नैतिकता अभी जीवित है। उसकी मशाल विश्व के कोने-कोने में प्रज्वलित है। लोगों में प्यास है, जिज्ञासा है, श्रद्धा है और निर्माण की दिशा में निरन्तर कार्य हो रहा है। नैतिकता का यह वातावरण भी संसार के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि किसी देश का योजना-बद्ध भौतिक निर्माण।

---

१ साप्ताहिक हिन्दुस्तान अग्रलेख से, २७ अगस्त, १९६१

फ्रेंक बुकमैन स्विट्ज़रलैंड के एक ख्यातिप्राप्त वंश में उत्पन्न हुए और सन् १६८७ में उनका परिवार अमेरिका में आकर बस गया। उनके पूर्वजों में से एक ने कुरान का जर्मन भाषा में अनुवाद किया। उनके बहुत से पूर्वजों ने महत्त्वपूर्ण सैनिक अभियानों में भाग लेकर प्रसिद्धि प्राप्त की। उन्होंने अपने जीवन-काल में अनेक देशों की यात्रा कर उन देशों के सम्बन्ध में व्यक्तिगत जानकारी प्राप्त की। शिक्षा-क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण पदों पर कार्य करते हुए भी उनका कार्यक्षेत्र अत्यन्त विस्तृत था। वे प्रायः कहा करते थे, "आप कागज पर एक नये संसार की योजना बना सकते हैं, पर आपको इसका निर्माण व्यक्तियों में से उनके सहयोग से, करना चाहिए।

उन्होंने १६२६ की अपनी दक्षिणी-अफ्रीका-यात्रा में जातिगत तथा वर्गगत भेदभाव को दूर करने का महान् प्रयत्न किया। काले और गोरे, डच तथा ब्रिटिश आदि के भेदभाव को दूर करने में उनकी सेवाएं सदैव के लिए संस्मरणीय हैं। शीघ्र ही उनके कार्यों से उनकी प्रसिद्धि विश्व-व्यापी हो गई। राष्ट्र-संघ के एक भूतपूर्व अध्यक्ष के शब्दों में: "जहाँ हम राजनीति को बदलने में असफल हुए, वहाँ आप (श्री बुकमैन) ने जीवनों को परिवर्तित करने में सफलता प्राप्त की है तथा पुरुषों और स्त्रियों को जीवन का नया मार्ग दिया है।" सन् १६३८ में उन्होंने नैतिक पुनरुत्थान के आन्दोलन का श्रीगणेश एक कार्यक्रम के रूप में किया। उस कार्यक्रम में नैतिक शक्ति की आवश्यकता पर बल दिया गया था, जिससे युद्ध में विजय प्राप्त की जाये तथा एक न्यायपूर्ण शान्ति का निर्माण किया जा सके। "भगवान् ने मुझे यह विचार दिया—नैतिक तथा आध्यात्मिक पुनः शस्त्रीकरण का एक प्रबल आन्दोलन होगा, जो संसार के कोने-कोने तक पहुँचेगा। नये व्यक्ति होंगे, नई जातियाँ होंगी और होगा एक नया संसार।" सन् १६४५ में उन्होंने एक मौलिक सत्य की ओर संसार का ध्यान आकर्षित किया—"आज हम तीन विचारधाराओं को अधिकार-प्राप्ति के लिए संघर्ष करते हुए पाते हैं—१. नानाशाही, २. साम्यवाद तथा ३. नैतिक पुनरुत्थान।" द्वितीय महायुद्ध के वर्षों में उन्होंने अपने नैतिक पुनरुत्थान के सन्देश को दूर-दूर तक पहुँचाने का महान् प्रयत्न किया। नाजी जर्मनी भी इस प्रभाव से बचा न रह सका। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ही नाजियों ने नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन पर रोक लगा दी थी। नाज़ी सेनाओं को ऐसे निर्देश दिये गए थे कि वे जहाँ जायें, इस आन्दोलन को दबाएं तथा कुचलें। इस प्रकार यह आन्दोलन निरन्तर प्रगति करता रहा तथा आज स्थिति यह है कि यह अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति को प्राप्त कर चुका है। समय-समय पर इस संस्था के अधिवेशन होते हैं और विभिन्न देशों से सहस्रों की संख्या में प्रतिनिधि इनमें सम्मिलित होते हैं। इसी प्रकार की एक राष्ट्रीय सभा सन् १६५१ के जनवरी मास में वाशिंगटन में हुई, जिसमें पच्चीस देशों के लगभग पन्द्रह सौ प्रतिनिधियों ने भाग लिया।

इस आन्दोलन के महत्त्वपूर्ण साधनों में एक साधन है—इसका 'नाटकीय-अभिनय' या 'रंगमंच-अभिनय'। हमें इस प्रकार के अभिनय देखने का नई दिल्ली में सन् १६५५ में अवसर प्राप्त हो चुका है, जबकि इस आन्दोलन के अनुयायियों का एक प्रतिनिधि-मण्डल तब राजधानी में आया हुआ था।

नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन के अनुयायी ईश्वर में तथा उसके दैवी संरक्षण में भाई-चारे से कार्य करने में विश्वास रखते हैं। आन्दोलन के संस्थापक के शब्दों में, "प्रत्येक मनुष्य की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए पर्याप्त सामग्री है, परन्तु लोगों के लोभ को सन्तुष्ट नहीं किया जा सकता।" इस आन्दोलन ने केवल शान्तिकाल में ही नहीं, अपितु युद्ध-काल में भी अपना कार्य जारी रखा। द्वितीय महायुद्ध के दिनों में भी अमरिका, हालैण्ड, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया आदि देशों में आन्दोलन के प्रशिक्षण-केन्द्रों में सैनिकों को नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन के विचारों से परिचित किया गया। उन्हें अस्त्रों के युद्ध के साथ विचारों की दृष्टि से भी प्रशिक्षित किया गया। इस आन्दोलन ने अनुशासन, बलिदान तथा देश प्रेम की भावना को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया। इस आन्दोलन के कुछ नेताओं को नाज़ी-अत्याचारों का शिकार भी बनना पड़ा। कुछ मारे गए तथा कुछ कारागार में डाल दिये गए। इस आन्दोलन के महत्त्व को इस समय प्रायः प्रत्येक देश तथा उसके बड़े-बड़े नेता एक स्वर से स्वीकार कर रहे हैं।

इस प्रकार अपने ६०वें जन्म-दिवस के उपलक्ष में डा० बुकमैन ने जून, १६३८ में आन्दोलन का श्रीगणेश किया और संसार का ध्यान नैतिक पुनरुत्थान की ओर आकृष्ट किया। गत तेईस वर्षों में यह आन्दोलन विश्व-व्यापी बन चुका है।

अणुव्रत-आन्दोलन भी इसी प्रकार का एक नैतिक आन्दोलन है। मुनिश्री नगराजजी के शब्दों में, "यह आन्दो-

लन नैतिक मूल्यों के पुनरुत्थान का आन्दोलन है।" इसका आधार हमारी प्राचीन भारतीय आर्य-परम्परा में है, जिसकी नींव यम और नियमों पर आधारित है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—ये पाँच यम हमारे यहाँ योगदर्शन[1] के अनुसार माने गए हैं। इन्हीं के आधार पर आचार्यश्री तुलसी ने जैनागमों के अणुव्रतों को सर्व-साधारण श्रावकों तथा अन्य साधकों के लिए प्रचारित तथा प्रसारित किया। एक-एक व्रत को लेकर उन्होंने सर्वसाधारण के लाभ के लिए मध्यम-मार्ग का आश्रय लेकर उन्हें नैतिकता की ओर आकर्षित किया। गत बारह वर्षों में यह आन्दोलन देश-विदेश में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका है। आज स्वतन्त्र होने के पश्चात् देश की सबसे बड़ी आवश्यकता नैतिक पुनरुत्थान की भावना है। डा० बुकमैन के नैतिक पुनरुत्थान आन्दोलन तथा आचार्य विनोबा भावे की सर्वोदय विचारधारा के समान आचार्यश्री तुलसी ने भी यथासम्भव स्वयं अपने साधु-साध्वियों तथा अन्य सार्वजनिक कार्यकर्ताओं के सहयोग से इस आन्दोलन को पर्याप्त प्रगतिशील बनाया है।

उक्त दोनों आन्दोलनों में अहिंसा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसी प्रकार सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (लोभ-हीनता) की भावनाओं को भी बल दिया गया है। निःशस्त्रीकरण की समस्या आज विश्व की महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस ओर भी दोनों आन्दोलनों के संस्थापकों का ध्यान गया और दोनों की हार्दिक इच्छा यही रही है कि शस्त्रों की होड़ से जैसे भी सम्भव हो, विश्व को बचा लिया जाये।

---
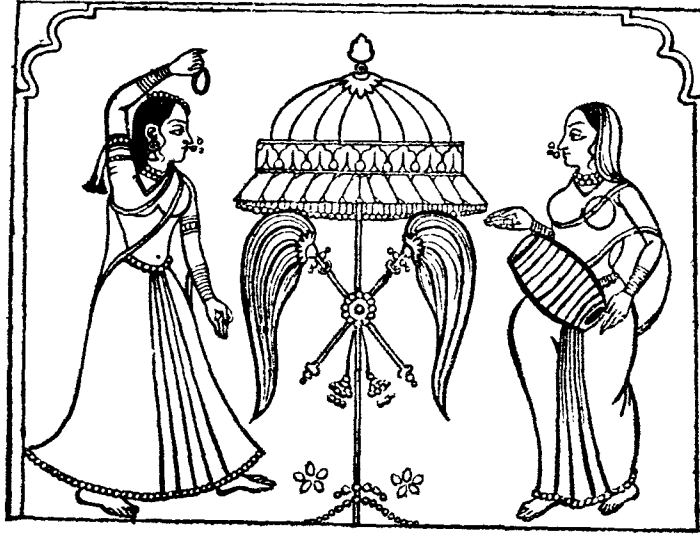
१ तत्राहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।

—योगसूत्र साधन पाद सू० ३०

नैतिकता और महिलाएं

श्रीमती उर्मिला वार्ष्णेय, एम० ए०

संसार के प्रत्येक भाग में नारी एक समस्या के रूप में खड़ी है। इतनी शिक्षा-दीक्षा, इतने विद्यालय, महाविद्यालय, विश्वविद्यालय और इतनी भौतिक उन्नति होने पर भी अब और तब में कितना भेद है। नारी को लेकर समाज में, साहित्य में महामारी-सी फैली हुई है।

विभिन्न युगों में नारी का स्थान

रामायण-काल में स्त्रियों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। वे अपने पति के साथ रण में भी जाती थीं। कैकेयी दशरथ के साथ युद्ध में गई थी। पति-निर्वाचन के लिए स्वयंवर का आयोजन किया जाता था। पर्दे की प्रथा न थी। लज्जा और संकोच नारी-जाति के आभूषण थे। स्त्रियों का उपहास करने वालों को दण्ड दिया जाता था। अनुसूया, सीता, कौशल्या, कैकेयी, तारा और मंदोदरी उस समय में नारीत्व के पूर्ण विकास का प्रतिनिधित्व करती है।

महाभारत के अनुसार स्त्री-पुरुष की अर्धांगिनी है; उसकी सबसे बड़ी मित्र है। धर्म, अर्थ, काम की मूल है। जो उसका अपमान करता है, उसका काल नाश कर देता है। महाभारत के युद्ध के मूल में नारी-अपमान ही था। द्रौपदी, उत्तरा, कुन्ती, सावित्री का व्यक्तित्व आज भी अजर-अमर है।

बौद्ध काल में भी स्त्रियों की ओर से उदासीनता नहीं बरती गई है। जम्बूनद के विवाह-भोज पर महात्मा बुद्ध ने स्पष्ट कहा, "बौद्ध धर्म में स्त्री पुरुष, बालक-बालिका, सबल-निर्बल, ऊँच-नीच सब के लिए समान स्थान है।"

अम्बापाली का प्रेम इसका उदाहरण है। स्त्रियाँ भी धर्म-व्रत पालन करने के उद्देश्य से घर से बाहर आ-जा सकती हैं। उन्हें भिक्षुणी श्रमण कहते थे।

जैन धर्म में भी श्वेताम्बर सम्प्रदाय वाले स्त्री और शूद्र को मोक्ष का भागी मानते हैं।

शैव धर्म में अर्ध-नारीश्वर की कल्पना शिव और पार्वती को लेकर ही की गई है। नारी के बिना राम के रूप की कोई सार्थकता नहीं है। वैष्णवों में राधा और कृष्ण की पूजा का विधान है। यही नहीं, सृष्टि के विकास के लिए जहाँ ब्रह्म ने अपने अनेक अंशों के साथ अवतार लिया, वहाँ प्रकृति भी सावित्री, लक्ष्मी, दुर्गा, पार्वती के रूप में अवतरित हुई। उनके अंश—कला क्रमशः गंगा, तुलसी, मानसा, देवसेना, काली देवियों के रूप में प्रगट हुए।

इतने पर भी आज नारी यह महसूस कर रही है कि उसका अपमान हो रहा है। उसे अधिकार चाहिए बराबरी का। मुस्लिम साम्राज्य में नारी की स्थिति पुरुष की केवल वासना-तृप्ति का साधन बन कर रह गई थी। उसे मूक और बधिर गाय के समान माना जाता था। पर्दे की आड़ में कभी भी उसकी रस्सी किसी भी खूंटे से बाँधी जा सकती थी। मुर्दे के नाम पर भी उसे सारा जीवन काटने को मजबूर किया जा सकता था। वहाँ आज समाज की हलचल के साथ नारी अपने अधिकारों के लिए क्रान्ति कर रही है।

आदर्श और यथार्थ

नारी-आन्दोलन के दो रूप स्पष्ट हैं—एक भारतीय, दूसरा पाश्चात्य। भारतीय नारी अपने सांस्कृतिक आदर्श को आज उतना प्रबल नहीं मानती, जितना यथार्थ को। प्राचीन आदर्शों की नींव उसके सामने खोखली और ढकोसला-

मात्र है। यद्यपि नर और नारी दोनों पति-पत्नी हैं घर में, पर उन दोनों के दृष्टिकोण और व्यक्तित्व समाज में अलग-अलग हैं। पाश्चात्य प्रभाव से पति ही नहीं, पत्नी के भी विचारों की स्वतन्त्रता इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह दाम्पत्य जीवन के कोमल तंतु को, जो कभी जन्म-जन्मान्तरों में भी अटूट मान कर जोड़ा जाता था, एक झटके में तोड़ देती है। पुरुष की कमाई की वह मोहताज न रहे, इसलिए वह आर्थिक मामले में अपने पैरों पर खड़ा होने के लिए नौकरी करती है। पति के सामने उसका स्वाभिमान चूर-चूर न हो, अतः वह अपने घमण्ड में अन्धी होकर घर से बाहर स्वतन्त्रता के नाम पर मित्र बनाती है। मित्रता का आधार नैतिकता तो है नहीं, बराबरी में हँसना, बोलना, बैठना और पता नहीं, क्या-क्या चलना है। तब नारी केवल एक के नहीं अनेक मित्रों के मनोरंजन का साधन क्लबों, होटलों में एक कॉफी के प्याले पर बन जाती है। नये फैशन की पूर्ति के लिए उसे धन चाहिए। पति तथा अपनी आय में पूरा नहीं पड़ता तो उस अर्थ-संग्रह के लिए वह जानते हुए भी अनजान बन कर अच्छे और बुरे, सही और गलत, सभी ढंगों को अपनाती है। आज यदि सलवार ढीली-ढाली और कमीज ढीली का फैशन है तो चार दिन बाद सलवार की मुहरी चूड़ीदार पजामे से होड़ लेने लगती है। कमीज के फिटिंग का यह हाल है कि बहिनजी पानी इसलिए नहीं पीतीं कि पेट फूल जायेगा और कमीज की फिटिंग के साथ-साथ बॉडी की फोर्मेशन न बिगड़ जाये। अपनी तड़क-भड़क के शानदार प्रदर्शन के लिए वे अपने नैतिक स्तर को कहीं का भी नहीं रखतीं। विचारों की स्वतन्त्रता के साथ-साथ व्यक्ति को स्वतन्त्रता भी मिल जाती है। पर जहाँ तक प्रेम और सहानुभूति का प्रश्न है, न पुरुष को स्त्री का सच्चा प्रेम मिलता है और न स्त्री को पुरुष का।

यों तो भगवान् महावीर और गौतम बुद्ध के काल में भी मल्लवियों और लच्छवियों के अठारह गणराज्य थे। वहाँ निर्वाचन-पद्धति से ही सारा कार्य होता था। आम्रपाली राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी थी। हर क्षत्रिय-कुमार उससे विवाह करने का प्रयत्न कर रहा था। जो भी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है, वह राज्य की है, इस विधान के अनुसार आम्रपाली को नगर-वधू बनना पड़ा। उस समय यह कानून नहीं, नैतिक विधान भी था।

प्रतिद्वन्द्विता

आज नैतिकता के अभाव में नारी नारी है। माँ, बहिन और पत्नी का रूप उससे दूर होता जा रहा है। यद्यपि वह माँ बनती है, पर सिर्फ बालक को जन्म देने के लिए ही। उसके दिल से पूछा जाये, क्या उसे वात्सल्य में मातृत्व नसीब होता है ? लौकिक स्वतन्त्रता के आगे, सौन्दर्य और शारीरिक भद्दे प्रदर्शन के सामने उसे पति का प्यार और बालक की ममता हेय लगती है। तब गृहस्थी का सुख कहाँ है, जब नारी पुरुष की सहचरी न होकर प्रतिद्वन्द्विनी बन जाती है।

शिवाजी के अनुचर जब कल्याण के नवाब की बेगम को बन्दिनी करके लाये तो शिवाजी उसके रूप को देखकर बोले, "मेरी माँ जीजाबाई आपकी तरह सुन्दर होतीं तो मैं भी इतना ही खूबसूरत होता।"

पर आज का पुरुष सड़क पर चलती महिलाओं के पीछे 'सदके तेरी चाल के' कहने में नहीं हिचकिचाता। रेलवे प्लेटफार्म हो या बस का स्टैंड, शहर के मुख्य बाजार का चौराहा हो या सामाजिक समारोह; जहाँ रंगीन चार तितलियाँ नजर आती हैं तो वहाँ सोलह भँवरे मँडराते दिखाई देंगे। आज के पुरुष को चाहिए, वह नारी के विकास और उन्नति में योगदान दे, न कि नैतिक पतन का अपने-आपको साध्य बनाये। नारी की आत्मा प्रेम में रहती है। पुरुष का प्रेम एक घटना-मात्र है। पर नारी का प्रेम उसके जीवन का इतिहास बन जाता है।

नारी की पूजा क्यों ?

कवीन्द्र-रवीन्द्र के शब्दों में, "नेक स्त्री परमात्मा का सर्वोत्तम प्रकाश है जिससे संसार की शोभा बढ़ती है।"

शिक्षित नारी में आन्तरिक विशिष्टता का विकास, आचार-संयमन का विधान प्रमुख होना चाहिए। कोरा आदर्श जहाँ विनाश का कारण बन सकता है, वहाँ नंगा यथार्थ उससे अधिक कटु है, इसे न भूल जाना चाहिए। नारी की स्वतन्त्रता, कोमलता, सौन्दर्य, प्रेम का उपयोग पुरुष को अपने घर, समाज और राष्ट्र की उन्नति के लिए करना है, अवनति के लिए नहीं। भारतीय और पाश्चात्य दोनों ही दृष्टिकोण यदि आपस में समझौता करके चलें तो ऐसा सम्भव

हो सकता है। नारी को भी पुरुष की वासना का साधन, उसकी आँखों का प्रेम बन कर जीवित नहीं रहना है। महर्षि दयानन्द ने एक बार कहा था, "भारत का धर्म उसके पुत्रों में नहीं, पुत्रियों के प्रताप से स्थिर है।" लौवेल ने तो यहाँ तक कहा, "विधाता ने स्त्रियों को सुन्दर बनाया है, इसी से हम उनको महत्त्व नहीं देते। वे प्रेम के लिए बनाई गई हैं, इसीलिए हम उनसे प्रेम नही करते। हम उन्हें पूजते हैं तो केवल इसलिए कि मनुष्य का मनुष्यत्व एकमात्र उन्हीं के कारण है।"

माना, हर नई पीढ़ी अपनी पुरानी पीढ़ी से अधिक चतुर होती है। वह तेजी से आगे बढ़ती है, पर आँखें बन्द करके बढ़ना तो बुद्धिमानी नहीं है।
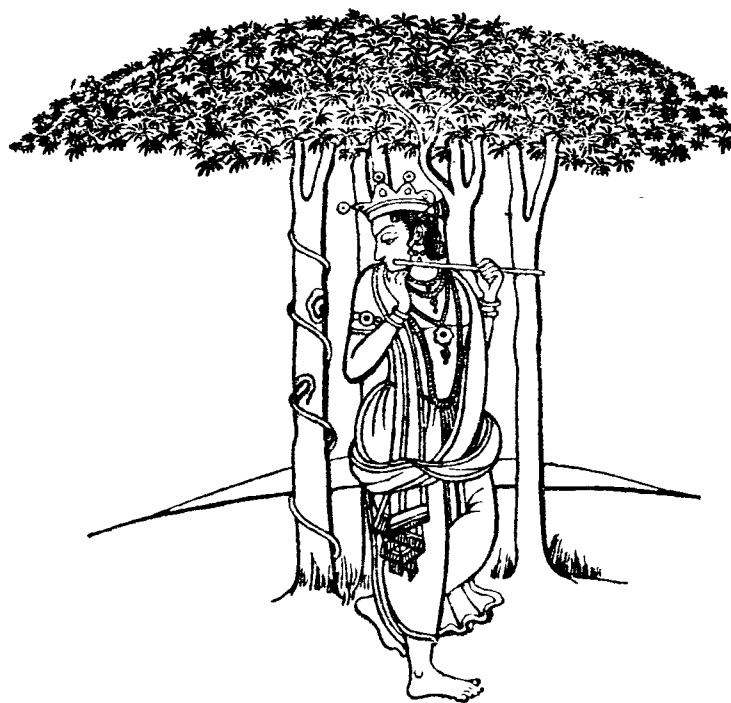
व्यापार और नैतिकता

श्री लल्लनप्रसाद व्यास
सम्पादक—तरुण भारत, लखनऊ

आज प्रायः लोगों में यह भ्रान्त धारणा पायी जाती है कि भारत की संस्कृति तो धर्म एवं आध्यात्मिकता-प्रधान रही है, अतएव इसमें अर्थ अथवा अर्थोपार्जन को कोई विशेष महत्त्व नहीं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। हमारे यहाँ तो चार पुरुषार्थ माने गए हैं, जिनमें धर्म और मोक्ष के साथ अर्थ तथा काम भी हैं। भारतीय अर्थ-शास्त्र के प्रमुख प्रणेता आचार्य चाणक्य ने तो **सुखस्य मूलं धर्मः, धर्मस्य मूलमर्थः** कह कर धर्म और अर्थ का समवायी रूप सामने रख दिया है।

सबसे बड़ी बात तो यह है कि धर्म की कल्पना वैराग्यमूलक होते हुए भी उसमें सांसारिक पक्ष की उपेक्षा नहीं की गई है; बल्कि वहाँ तो आध्यात्मिक एवं भौतिक पक्ष—दोनों को युगपत् गति दी गई है। उसकी व्याख्या इसी प्रकार की गई है, **यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** अर्थात् जिससे लौकिक और पारलौकिक जीवन बने, वही धर्म है। स्पष्ट है कि भारतीय धर्म में लौकिक और पारलौकिक या भौतिक और आध्यात्मिक पक्ष को अलग-अलग नहीं, बल्कि दोनों को एक-दूसरे का पूरक और अन्योन्याश्रित माना गया है।

त्यागमय भोग

भारतीय जीवन का आधार अथवा उसकी झाँकी ईशोपनिषद् के इस सर्वविदित श्लोक में स्पष्ट हो जाती है :

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुंजीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्॥

अर्थात् इस विशाल जगत् में हम जो कुछ देखते हैं, वह सब ईश्वर से व्याप्त है। इसलिए उसके द्वारा जो त्यक्त है, उसका भोग करो और दूसरे के धन का लोभ न करो।

इस श्लोक में निहित भावना ही समाज के प्रति व्यक्ति के कर्तव्य को इंगित करती है। यह बताते हुए कि सम्पूर्ण जगत् (समाज) में ईश्वर की व्याप्ति है और यह सब उसी की माया है, उससे परे कुछ नहीं; अतएव दूसरे के धन की ओर दृष्टिपात उचित नहीं।

साथ ही भारतीय जीवन-दर्शन के सार-तत्त्व उपनिषद् के इस मूलमन्त्र का यह भी अर्थ निकलता है कि जब जगत् की समस्त वस्तुओं में ईश्वर की व्याप्ति है, तो मनुष्य, जो उसका एक अंग-मात्र है, का उन पर क्या अधिकार है? हाँ, सृष्टि का एकमात्र ज्ञानवान् प्राणी होने के कारण वह अन्य प्राणियों की अपेक्षा अधिक सुविधाजनक किन्तु उत्तरदायित्व पूर्ण स्थिति में अवश्य है। वह जगत् (समाज) की वस्तुओं (सम्पत्ति) का अधिकारी नहीं, वरन संरक्षक (ट्रस्टी) है। वस्तुतः वह तो निमित्त-मात्र है।

समाज के लिए संरक्षकता

समाज में समता, समृद्धि और सद्भावना उत्पन्न करने के लिए उपनिषद् के उसी मूल मन्त्र को समय-समय पर विभिन्न महापुरुषों ने विभिन्न रूप या नाम से प्रस्तुत किया। वर्तमान युग में महात्मा गांधी का ट्रस्टीशिप (संरक्षकता)

का सिद्धान्त इसी उदात्त भावना का प्रतिपादन करता है। वे कहते हैं—

"वास्तव में समान वितरण के इस सिद्धान्त की जड़ में ट्रस्टीशिप या संरक्षकता का सिद्धान्त होना चाहिए। यानी अमीरों को अपने अतिरिक्त धन का ट्रस्टी या संरक्षक बनना स्वीकार करना चाहिए। समान वितरण का सिद्धान्त कहता है कि अमीरों को भी अपने पड़ौसियों से एक भी रुपया अधिक नहीं रखना चाहिए। यह सब कैसे किया जाये? धनवान् आदमी के पास उसका धन रहने दिया जायेगा, परन्तु उसका उतना ही भाग वह अपने काम में लेगा, जितना उसे अपनी जरूरत के लिए उचित रूप में चाहिए; बाकी को वह समाज के उपयोग के लिए धरोहर-रूप समझेगा।"

व्यापार में अनैतिकता

इसी भावना के अभाव में आज समाज के विभिन्न क्षेत्रों में अनैतिकता और भ्रष्टाचार व्याप्त हो चला है। यह अनुचित अवस्था व्यापार के क्षेत्र में अपनी चरम सीमा पर विद्यमान है, जहाँ अधिकांश व्यापारी-वर्ग ने येनकेन-प्रकारेण अधिकाधिक लाभ कमाना ही अपना परम उद्देश्य समझ लिया है। उन्हें न तो समाज की चिन्ता है और न ही उसके प्रति अपने कर्तव्यों का भान। बल्कि व्यापार के क्षेत्र में अनैतिकता ने अपना ऐसा प्रभाव जमा लिया कि राजनीति की तरह इसमें भी प्रायः लोग यह समझने लगे है कि व्यापार और नैतिकता से कोई सम्बन्ध नहीं और व्यापार में सफलता के लिए नैतिकता और ईमानदारी का त्याग आवश्यक-सा है। निश्चय ही यह स्थिति हमारे समाज के एक बड़े वर्ग के नैतिक अधःपतन की द्योतक है जिसका कारण है नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का ह्रास तथा हमारे जीवन पर अर्थ का अत्यधिक प्रभाव। अर्थ का यह प्रभाव होने से जीवन के सभी गुण धन की तुला पर ही तौले जाते हैं—**सर्वे गुणाः कांचनमाश्रयन्ते।**

अनैतिकता के प्रकार

आज व्यापार में अनैतिकता के जितने प्रकार हैं, उन सबका कारण अधिकाधिक लाभ कमाने की वृत्ति तो है ही; साथ ही यह वृत्ति इतनी प्रबल हो गई है कि कई बार व्यापारियों द्वारा समाज की हित-चिन्ता तो दूर रही, वे उल्टे समाज और देश के हितों को हानि पहुँचा कर भी अपने उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। निर्धारित मूल्य से अधिक लेने, कम और घटिया माल देने, अभाव के समय मनमाने दाम लेकर जन-जीवन के साथ खिलवाड़ करने तथा अन्य प्रकार से अनुचित लाभ कमाने की घटनाएं तो प्रायः देखी जाती हैं; किन्तु कभी-कभी ऐसी घटनाएं भी देखी गई हैं, जब अधिक लाभ कमाने के लोभवश राष्ट्र की प्रतिष्ठा तक को हानि पहुँचाई गई तथा देश का गम्भीर अहित किया गया। रूस द्वारा भेजे गए जूतों के आर्डर की सप्लाई में घटिया माल भेजने की घटना पुरानी न पड़ी थी कि अभी हाल में कुछ समाचार-पत्रों में प्रकाशित समाचार के अनुसार कुछ भारतीय व्यापारियों ने उत्तरी सीमा पर चीनी आक्रमणकारियों के हाथ ऊंचे दामों पर सीमेंट और जी० सी० शीटें बेचीं, जिनसे हवाई अड्डों का निर्माण किया गया।

निराकरण कैसे ?

प्रश्न है कि यह अनैतिकता दूर कैसे हो जो हमारे सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन को विषाक्त बना रही है? इस समस्या का हल हमें समस्या का मूल समझ कर ही निकालना होगा; अर्थात् हमें समाज के प्रति व्यक्ति का कर्तव्य-भाव जागृत करना होगा और समाज में व्याप्त अर्थ के अत्यधिक प्रभाव को समाप्त करना होगा। तभी समाज में नैतिक मूल्यों की पुनःस्थापना हो सकती है।

वैसे जहाँ तक इसके व्यावहारिक पक्ष का सम्बन्ध है, समस्या का निराकरण तीन प्रकार से हो सकता है—सरकारी स्तर पर, सामाजिक स्तर पर और स्वयं के द्वारा। प्रथम उपाय के अन्तर्गत सरकार कानून बना कर अनैतिकता और भ्रष्टाचार को रोकती है। जैसे पाकिस्तान में वर्तमान सरकार ने चोर-बाजारी करने वालों, खाद्य वस्तुओं में मिलावट करने वालों आदि को कड़ी-से-कड़ी सजाएं दीं। कुछ देशों में लाभ कमाने की अधिकतम सीमा भी निश्चित कर दी गई

है। इन अनिवार्य उपायों के द्वारा व्यापारियों में भय और आतंक उत्पन्न कर कुछ समय के लिए उन्हें अनैतिक कार्यों से रोका जा सकता है, परन्तु उनमें स्थायी रूप से समाजोपयोगी भाव जागृत नहीं किये जा सकते। इस प्रकार सरकारी क़ानून और दण्ड-व्यवस्था अनैतिकता या भ्रष्टाचार पर कुछ नियन्त्रण स्थापित करने में सहायक तो जरूर हो सकती है, किन्तु वह समस्या का स्थायी हल नहीं है। इसके लिए अन्य उपायों का भी सहारा लेना आवश्यक है।

दूसरा उपाय है सामाजिक स्तर का, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति की अनैतिकता पर समाज अंकुश लगाता है। आज प्रायः प्रत्येक व्यापारी किसी-न-किसी यूनियन अथवा अन्य संगठन से सम्बन्धित है। इन संगठनों का यह कर्तव्य होना चाहिए के ये न केवल उनकी उचित-अनुचित माँगों को ही संगठित-रूप से रखा करें, बल्कि यह भी देखें कि संगठन का प्रत्येक सदस्य अपने व्यापार में ईमानदारी और नैतिकता का पालन करते हुए समाज और राष्ट्र के हितों की रक्षा कर रहा है या नहीं। यदि वे संगठन अपने इस सहज अपेक्षित कर्तव्य का पालन नहीं करते तो उनकी कोई सामाजिक आवश्यकता नहीं।

इस कार्य के लिए उन संगठनों को पहले यह निश्चित करना होगा कि व्यापारियों अथवा व्यापारिक संस्थानों के कौन-कौन से कार्य नैतिकता और ईमानदारी के विरुद्ध हैं, जिनके करने पर उनका संगठन से बहिष्कार किया जा सकता है। साथ ही यह भी व्यवस्था होनी चाहिए कि बहिष्कृत व्यापारी या व्यापारिक संस्थान समस्त व्यापारिक सुविधाओं से भी वंचित किया जाये ताकि अन्य व्यापारीजन वैसे अनुचित कार्यों की ओर प्रवृत्त न हों। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि जो समाज चारित्रिक एवं अन्य गुणों की दृष्टि से बहुत उन्नत नहीं है, उसमें नैतिकता और ईमानदारी को सर्वव्यापक बनाने के लिए कुछ-न-कुछ नियमों की अनिवार्यता एवं अंकुश की आवश्यकता पड़ती है।

तीसरा उपाय, जो व्यक्ति के स्वयं के प्रयासों से सम्बन्ध रखता है, वही सर्वोपरि महत्त्व का है। बिना किसी जोर-दबाव या अंकुश-नियन्त्रण के नैतिकता और ईमानदारी का जो पालन किया जाता है, उससे एक प्रकार की आत्मिक प्रसन्नता और सन्तोष की प्राप्ति होती है। सम्भव है कि नैतिकतावादी व्यापारी को अपेक्षाकृत कम लाभांश प्राप्त हो; परन्तु उसमें जो उसे आत्मिक सन्तोष प्राप्त होगा, उसका माप धन से नहीं किया जा सकता। साथ ही एक ईमानदार व्यापारी न केवल अपना कर्तव्य पालन ही करता है, बल्कि अपने आचरण से अन्य को प्रभावित और प्रेरित भी करता है। इस प्रकार वह नैतिकता के प्रसार में भी सहायक बनता है।

यह कितने हर्ष की बात है कि आचार्यश्री तुलसी ने व्यापार में अनैतिकता की समस्या के निराकरणार्थ इस तीसरे उपाय की ओर ध्यान दिया है। उनका अणुव्रत-आन्दोलन विद्यार्थी, मजदूर, राजकर्मचारी आदि वर्गों के लिए जिस प्रकार एक आचार-संहिता प्रस्तुत करता है, उसी प्रकार व्यापारी-वर्ग के लिए भी। स्वयं आचार्यश्री तुलसी व उनके साधुजन देश के कोने-कोने में अलख जगाते हुए व्यक्ति-माध्यम से नैतिक प्रसार का भागीरथ प्रयत्न कर रहे हैं। उनके अणुव्रत-आन्दोलन में सम्मिलित होने वालों में व्यापारी बड़ी संख्या में हैं। आन्दोलन की प्रेरणा से व्यापारियों ने, जिस समय देश में चोरबाजारी अपनी सीमा पर पहुँच गई थी, चोरबाजारी न करने, मिलावट न करने, तोल-माप में न्यूनाधिकता न करने आदि की प्रतिज्ञा ली थी। सचमुच ही यह प्रयत्न व्यापार में छाई हुई अनैतिकताओं के निराकरण में अपना अनूठा स्थान रखता है। आन्दोलन के प्रयास से सैकड़ों व्यापारियों ने आते हुए अपने अर्थ-लाभ का संवरण किया है और समाज के समक्ष एक अनुकरणीय उदाहरण उपस्थित किया है।

अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा प्रारम्भ किया गया यह उपक्रम व्यक्ति-माध्यम के अनन्तर सामाजिक स्तर पर भी चला है। दिल्ली, कलकत्ता, पटना, लखनऊ, कानपुर जैसे उद्योग-प्रधान व व्यवसाय-प्रधान नगरों में वहाँ के बड़े-बड़े व्यापारिक संगठनों में भी मुनियों के भाषणों से यह आवाज गूँजी है। उन संगठनों के समक्ष इस प्रकार के प्रस्ताव उपस्थित हुए हैं और उनके परिणाम भी सुन्दर आए हैं।

कुछ एक प्रसिद्ध मण्डियों में दुकान-दुकान पर जाकर मुनिजनों ने व्यापारियों को प्रेरणा दी है और सारे बाजार से मिलावट, झूठे तौल-माप आदि को दूर किया है। अणुव्रत-आन्दोलन के द्वारा वैयक्तिक व सामाजिक—दोनों स्तर पर व्यापारियों का जन-मानस बदला जा रहा है।

नैतिकता और ईमानदारी का भौतिक लाभ भी प्राप्त होता है, पर उसमें कुछ समय लगता है। ईमानदार व्यापारी की धीरे-धीरे एक साख या प्रतिष्ठा बनती है जो अन्ततः उसे लाभ प्रदान करती है। इस प्रकार व्यापार में नैतिकता न केवल सामाजिक, बल्कि निजी हित का सम्पादन भी करती है।

यदि किसी अवस्था में नैतिकता से व्यक्ति का कोई भौतिक लाभ न भी होता हो, तो भी वह समाज की सुव्यवस्था तथा राष्ट्र की प्रतिष्ठा के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। किसी समाज या राष्ट्र की वास्तविक उन्नति और उत्कृष्टता का अनुमान इसी से लगाया जाता है कि उसमें नैतिक परम्पराओं का कहाँ तक पालन और नैतिक मानदण्डों का कहाँ तक आदर किया जाता है।

अब हमारा देश स्वतन्त्र है और हमें केवल भौतिक उन्नति से ही सन्तोष न कर लेना होगा; बल्कि यह भी विचार करना होगा कि हमारा नैतिक स्तर भी ऊँचा उठ रहा है या नहीं। यदि नहीं तो उस पर विचार करना होगा और राष्ट्र की भौतिक उन्नति के साथ-साथ नैतिक उन्नति के कार्य को भी प्राथमिकता देनी होगी।

विद्यार्थी वर्ग और नैतिकता

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
सम्पादक—आजकल

विद्यार्थी जीवन पांच या छः वर्ष की आयु से प्रारम्भ होकर इक्कीस या बाईस वर्ष की आयु तक जारी रहता है। औसतन सत्रह या अठारह वर्ष की आयु में विद्यार्थी विश्वविद्यालयों में प्रविष्ट होते हैं, क्योंकि स्कूलों का पाठ्य-क्रम ग्यारह वर्ष कर दिया गया है। प्रस्तुत लेख में विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी-जीवन को ही विवेचन का मुख्य केन्द्र रखा गया है।

सत्रह वर्ष की आयु जीवन के नाजुक वर्षों में इसलिए गिनी जाती है कि तब व्यक्ति न बालकों में गिना जा सकता है और न बड़ों में। अधिकांशतः सत्रह वर्ष का किशोर अपने को परिपक्व युवक समझने लगता है, पर उसके बड़े भाई, माता-पिता और शिक्षक उसे अभी तक मुख्यतः बालक मान रहे होते हैं। वह स्थिति स्वतन्त्र व्यक्तित्व के विकास में चाहे कितनी ही अधिक सहायक क्यों न हो, इस आयु को नाजुक जरूर बना देती है। परिणाम यह होता है कि किशोर में चिड़चिड़ापन और खिज बढ़ जाते हैं, जो मानसिक अनिश्चय और दुविधा को जन्म देते हैं।

इस आयु के भी शक्तिशाली और कमजोर दोनों ही पहलू हैं। भौतिक दृष्टि से सत्रह-अठारह वर्ष की आयु में व्यक्ति का विकास नव यौवन के निकट पहुँच रहा होता है। लड़कियाँ तो प्रायः इस आयु में काफी समझदार नवयुवतियाँ दिखाई देने लगती हैं, यद्यपि उनका मानसिक विकास अपनी आयु के लड़कों से कुछ ही अधिक होता है। व्यक्ति में आत्म-विश्वास बढ़ जाता है, तो माँ-बाप और गुरुजनों के प्रति अवज्ञा की भावना उत्पन्न होने लगती है। आज का सामाजिक वातावरण इस भावना को और भी अधिक उकसाता है। स्फूर्ति, अदम्य कार्यशक्ति, खतरा उठाने का साहस, नई बातें जानने की उत्सुकता—ये सब इस आयु के सुनहले पहलू हैं। यही सब बातें खतरे की बातें भी सिद्ध हो सकती हैं। उदाहरण के लिए नई बातें जानने की उत्सुकता को ही लीजिए। यदि इस आयु का व्यक्ति लैंगिक जानकारी में इतना लिप्त हो जाए कि वह वासना-पूर्ति के सभी स्वाभाविक या अस्वाभाविक साधनों को आजमाने लगे, तो वह व्यक्तित्व के ह्रास का कारण सिद्ध हो सकता है और इससे पराङ्मुख रह कर यदि किसी सत् लक्ष्य की ओर अग्रसर हो जाता है तो जीवन को काफी प्रगति की ओर बढ़ा सकता है।

सुप्रसिद्ध विचारक एच० जी० वैल्स की अन्तिम पुस्तक का नाम है 'ट्रैजेडी ऑफ़ होमोसेपिअन्स'। इस पुस्तक में उन्होंने कहा है कि मानव-जाति की सबसे बड़ी ट्रैजेडी—दुःखान्तता यह है कि मनुष्य का पूर्ण शारीरिक विकास तो अठारह से तेईस वर्षों की आयु में हो जाता है, पर उसका बौद्धिक और मानसिक विकास अड़तालीस से पचपन वर्ष की आयु के बाद हो पाता है, जब उसकी शारीरिक शक्ति क्षीण होने लगती है। दूसरे शब्दों में शारीरिक शक्ति मुख्यतः उन मानवों के पास है, जिनका पूर्ण बौद्धिक और मानसिक विकास नहीं हो पाया और मानव समाज के जिस भाग का मान-सिक विकास हो चुका है, वह मुख्यतः न सिर्फ़ शारीरिक दृष्टि से कमज़ोर है, अपितु उसकी शारीरिक कमज़ोरी शीघ्रता से बढ़ती जा रही होती है।

स्पष्टतः कालेजों का विद्यार्थी-समाज उस श्रेणी में है, जिनका शारीरिक विकास पूर्णता के निकट पहुँच रहा है, पर जिनका मानसिक विकास अभी निचली सीढ़ियों पर ही पहुँच पाया है। यदि पचास वर्ष के व्यक्ति का मानसिक विकास पूर्ण माना जाये तो बीस वर्ष के व्यक्ति का मानसिक विकास पचास में से बीस ही सीढ़ियों पर पहुँच पाया है।

यह ठीक है कि विद्यार्थी अवस्था में पुस्तकों तथा गुरुजनों के द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की मनःस्थिति बनाए रखी जा सकती है, पर व्यवहार में ऐसा कहाँ तक हो पाता है, यह चिन्तनीय है।

भारतीय शास्त्रों के अनुसार विद्यार्थी जीवन को 'ब्रह्मचर्यावस्था' कहा गया है। 'ब्रह्मचर्य' के सम्बन्ध में बहुत-सी भ्रान्त धारणाएं व्याप्त हैं। प्रायः ब्रह्मचर्य का अर्थ लैंगिक संयम ही से लिया जाता है। वास्तव में यह अर्थ एकदम अपूर्ण और भ्रामक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है : **ब्रह्मणि चरति इति ब्रह्मचारी** जो व्यक्ति ब्रह्म अर्थात् ज्ञान में विचरण करता है, वह ब्रह्मचारी है। **सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म।** दूसरे शब्दों में ज्ञानार्जन ब्रह्मचर्यावस्था का मुख्य लक्षण है। जो व्यक्ति ब्रह्म अर्थात् ज्ञान में विचरण करेगा, वह असंयमी और अनैतिक हो ही नहीं सकता। अर्थात् लैंगिक संयम ब्रह्मचर्य का परिणाम भले ही हो, यह उसकी व्याख्या नहीं है।

यदि विश्वविद्यालयों का वातावरण पूरी तरह ज्ञानमय बनाया जा सके, तो वहाँ नैतिकता की शिक्षा देने का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होगा। ज्ञान में कला भी सम्मिलित है। वे सब बातें जो मनुष्य का बौद्धिक और मानसिक विकास करने में सहायक होती हैं, ज्ञान का अपरिहार्य अंग हैं। इस तरह पहली और सबसे महत्त्वपूर्ण आवश्यकता तो विश्व-विद्यालयों को वास्तविक ज्ञान का केन्द्र बनाने की है।

यदि विश्वविद्यालयों में जीवन की विविध सम्पन्नता विद्यार्थियों को प्राप्त हो सके, तो वह बिना किसी विशेष श्रम के उन्हें नैतिकता के मार्ग पर ले जा सकेगी। उस आयु में विद्यार्थी साहस के काम करना चाहता है। उसे यह अवसर होना चाहिए कि वह श्रेय-कार्यों के लिए खतरे उठाए। मेरी शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल में हुई है। उन दिनों गुरुकुल कांगड़ी गंगा के दूसरे पार एक घने जंगल में था, जहाँ शेर, चीते, रीछ, हाथी आदि वन्य पशु बहुतायत से थे। वहाँ वातावरण कुछ ऐसा था कि उस ज़माने में हम यह जानते ही न थे कि भय क्या चीज है। कालेज के छात्रावास से कुछ विद्यार्थी भारतीय सर्वे-विभाग द्वारा प्रकाशित उस क्षेत्र के जंगलों के नक्शे लेकर अपरिचित जंगलों में जाते थे और शिवालक की पहाड़ियों पर बिना गाइड के चढ़ा करते थे। हम लोगों के व्यक्तित्व के निर्माण में प्रकृति का बहुत महत्त्वपूर्ण हाथ है। प्रकृति में साहसपूर्ण विचरण नैतिकता की महत्त्वपूर्ण शिक्षा देता है।

जीवन की विविध सम्पन्नता से मेरा अभिप्राय यह है कि विश्वविद्यालयों में ऐसा वातावरण रखा जाए कि विद्यार्थियों को खाली वक्त मिले ही नहीं। साथ ही उनका जीवन इतना तन्मयतापूर्ण बन जाए कि खाली रहने की इच्छा तक उनमें उत्पन्न न हो। केवल किताबी शिक्षा एकदम अधूरी है। विद्यार्थी स्वयं अपने झगड़ों को निबटाएँ। वे संगीत, कविता, कहानी, साहित्य आदि में क्रियात्मक रुचि प्रदर्शित करें, ज्ञान-विज्ञान की बातों पर परिचर्चाएं संगठित करें। इसी तरह और भी कितने ही साधन हैं, जिनसे विद्यार्थी जीवन को बहुत सम्पन्न तथा विविधतापूर्ण बनाया जा सकता है। इन्हीं उपायों से विद्यार्थियों को नैतिकता की क्रियात्मक शिक्षा दी जा सकती है और उन्हें उत्तरदायी श्रेष्ठ नागरिक के रूप में निर्मित किया जा सकता है।

विद्यार्थी, नैतिकता और व्यक्तित्व

मुनिश्री हर्षचन्द्रजी

नैतिकता और चरित्र मानवीय व्यक्तित्व की महत्ता का सौम्यतापूर्ण सौन्दर्य है। यह वही सौन्दर्य है जिसमे मानव मृत्यु के बाद भी अमरता को प्राप्त करता है, कष्टों, दुविधाओं और निराशापूर्ण स्थितियों में भी चमकता है और असंख्य-असंख्य प्राणियों के लिए अनगिनत युगों तक प्रकाश-स्तम्भ, प्रेरणाकारी तथा शक्ति-स्रोत बनता है। मानवीय महत्ता का आधार चरित्र है; चरित्र मानव की प्रत्येक प्रवृत्ति मे निर्मित होने वाला यशस्वी गुण है और गुण गुणी का अविनाभावी सहचारी है। इसलिए नैतिकता और चरित्र की अखण्ड प्राप्ति के लिए विद्यार्थी-अवस्था अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अवसर है।

विद्यार्थी भावी जगत् का प्रतिबिम्ब है। उसके नयन-पट पर बनने वाले संसार का चलचित्र उभरता चलता है, उसके कार्यों से भावी नागरिकों के आचरण प्रतिध्वनित होते हैं, उसका विकास भावी अस्तित्व की गहराई और ऊंचाई का मापयन्त्र है और संक्षेप में मानव जाति का समग्र भावी इतिहास ही विद्यार्थियों पर अवलम्बित है। बीस-तीस और पचास वर्ष के पश्चात् दिखायी देने वाली सुनहरी स्वप्नमयी झांकियाँ और उन्हीं को प्रत्यक्ष करने की महत्त्वपूर्ण योजनाएं आज के विद्यार्थियों के लिए हैं। वे स्वयं ही उस समय के लिए कर्ता हैं, उपभोक्ता हैं और विधाता भी हैं।

राष्ट्र के कर्णधार और समाज के सूत्रधार एक महत्त्वपूर्ण सन्धि में से होकर गुजर रहे हैं। उन्हें विगत के अनुपयोगी अवशेषों को शेष करना पड़ रहा है और भावी के निर्माण का प्रारम्भ। संहार और सर्जन की सूक्ष्म-सी रेखा पर न केवल वे स्वयं चल रहे हैं, अपितु अपने पीछे समग्र राष्ट्र और समाज को भी खींच रहे हैं। आदर्श क्या है—नूतन, पुरातन या समन्वय? इसका चुनाव विद्यार्थियों के लिए एक उलझन भरा प्रश्न है। विद्यार्थी नवीन राष्ट्र के भव्य भवन का निर्माण देखता है, परन्तु देखता है अस्त-व्यस्त-सी वस्तुओं का ढेर। यह स्वाभाविक भी है; क्योंकि निर्माण-कार्य चालू जो है। दूसरी ओर वह देखता है मान्यताओं, परम्पराओं और रूढ़ियों के जर्जरित भवन का संहार। वहाँ पर भी उसे उसी प्रकार की अस्त-व्यस्तता दिखाई देती है, क्योंकि उस मकान को गिराने का कार्य न केवल अधूरा है, अपितु कुछ तत्त्व उसकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील हैं।

विद्यार्थी अपने-आपको चौराहे पर खड़ा पाता है। वह बढ़ना चाहता है, गति का सामर्थ्य उसके चरणों का सहचारी है, परन्तु चलता हुआ भी बढ़ नहीं पा रहा है, कार्य करता हुआ भी विकास नहीं पा रहा है, सामर्थ्य और आकांक्षा होते हुए भी उन्हें सफलीभूत नहीं पा रहा है। क्योंकि उसके सम्मुख आदर्श है, परन्तु अनुकरणीय जीवन की प्रेरणा नहीं; शब्दों से सम्पुष्ट भीमकाय ग्रन्थ हैं, परन्तु आचरणों से पुष्ट सशक्त समाज नहीं; जीविका की शिक्षा के पाठक हैं, परन्तु मानवीय भावनाओं के विकास को मूर्त रूप देने वाले तपे हुए मनस्वी नहीं। इसलिए विद्यार्थी भ्रमित है, अपने पथ पर अविश्वस्त है और चौराहे पर खड़ा चौकन्ना होकर किसी विश्वस्त पथ-प्रदर्शक की प्रतीक्षा कर रहा है।

आज का विद्यार्थी प्रतिभा-सम्पन्न है। उसने जिस क्षेत्र में भी प्रवेश किया, उसकी उन्नत चोटी को छूकर और भी अधिक समुन्नत करने का सफल आयास किया। तरुण वैज्ञानिकों के शोधपूर्ण मस्तिष्क पर वैज्ञानिक अनुसंधान मंत्रालय प्रसन्न है; नवोदित साहित्यकारों, कवियों और लेखकों की गणना बुजुर्गों की श्रेणी में हो रही है और युवक राजनेताओं तथा मुख्य मन्त्रियों की सफलता पर वरिष्ठ नेताओं ने नये रक्त के लिए बलपूर्वक कुछ स्थान रिक्त कराने का

निर्णय किया है। ये कुछ बोलते हुए तथ्य हैं जो कि आज के विद्यार्थियों और युवकों के प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व को स्पष्ट कर रहे हैं।

देश के सम्मुख नैतिकता और चरित्र का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। समस्त नागरिक भ्रष्ट व अपनी मर्यादाओं से च्युत हो गए हैं—यह कथन सत्य से उतना ही दूर है जितना कि अहिंसा से हिंसा। परन्तु कोई भी वर्ग पूर्ण नैतिक और ईमानदार है, यह कहना भी आलोकित मध्याह्न को आँख मूंदकर तमोमयी अमावस्या बनाना है। अनैतिकता हर वर्ग में है। अपने कार्य को अनुत्तरदायित्वपूर्ण पद्धति से करने का स्वभाव प्रत्येक वर्ग का बनता जा रहा है। दूसरे वर्गों को कोसना तथा भ्रष्टता का उन पर दोषारोपण करना भी लगभग सभी व्यक्तियों की मान्य परम्परा बन रही है। ऐसी स्थिति में विद्यार्थी-वर्ग के आचरण आज देश के सम्मुख एक समस्या बन रहे हैं, यह कुछ स्वाभाविक है तो कुछ वास्तविक भी। विद्यार्थियों की सामान्य-सी त्रुटि भी देश के लिए गहरी चिन्ता का विषय है; क्योंकि उससे राष्ट्र को महत्त्वपूर्ण आशाएं हैं और उसके जीवन को पूर्ण पवित्र तथा सात्त्विक देखने की आकांक्षा भी। एक पिता को अपने पुत्र का साधारण-सा दुःख भी भयंकर लगता है और किसी अपरिचित बालक की भयंकर चोट भी साधारण-सी। क्योंकि पहले में उसका अपनत्व तथा ममत्व है, तो दूसरे में दूरी तथा अलगाव की अनुभूति।

नैतिकता क्या है? यह प्रश्न देखने में बड़ा स्पष्ट है, पर अपने अन्तर में गहरी उलझनों को छुपाये हुए है। नैतिकता व्यक्ति के खान-पान में नहीं है, वेश-भूषा की काट-छाँट में नहीं है, आजीविका के किसी विशेष प्रकार में नहीं है; वह तो उसके चिन्तन में, उसके प्रत्येक कार्य के छो हुए व्यक्तित्व में और स्वार्थ से ऊपर उठ कर किये जाने वाले परमार्थ के कार्यों में है। मानव नैतिकता को तराजू पर तोलता हुआ रख सकता है, खेतों में हल चलाता हुआ रख सकता है और रख सकता है मशीनों पर अपनी उँगलियों को नचाता हुआ भी। मानव अनैतिकता को सफेद कपड़ों में पाल सकता है, पत्रों पर लिखता हुआ तथा लिखे हुए को पढ़ता हुआ बता सकता है और अपने बन्द कमरे में मूक लेटा हुआ भी कर सकता है। अनैतिकता स्वच्छता में नहीं, अपितु दिखावेपन में है; धोती-कुर्ते अथवा पेंट-बुशर्ट में नहीं, अपितु बनावटीपन में है; और आजीविकाओं—घृत, तेल, वस्त्र, चर्म व मशीन आदि द्रव्यों में नहीं, अपितु उन-उन क्रियमाण आजीविकाओं के प्रति अपने मन के अनुत्तरदायित्वपूर्ण, स्वार्थपूर्ण तथा भ्रष्टाचार पूर्ण भावों में है। नैतिकता और चरित्र को इन त्रिसूत्रात्मक शब्दों में बाँधा जा सकता है:

१. कार्यों की स्वाभाविकता—व्यक्ति को अपना जीवन एकाकीपन में अथवा समूह में, परिवार में अथवा समाज में, व्यवहार में अथवा आदर्श में समरूप रखना चाहिए।

२. दूसरों के अस्तित्व का भान—व्यक्ति को अपने सीमित से स्वार्थों की रक्षा और पूर्ति के लिए अनगिनत व्यक्तियों की स्वार्थ-साधना में रुकावट तथा क्षति नहीं पहुँचानी चाहिए।

३. उत्तरदायित्व की भावना—व्यक्ति को प्रत्येक कार्य करते हुए अपना उत्तरदायित्व अनुभव करना चाहिए।

विद्यार्थियों को नैतिक पथ पर अग्रसर देखने के लिए राष्ट्र को एक नीति स्पष्ट करनी है। निर्विवाद है कि आदर्श शिक्षक, शिक्षणालय और शिक्षाक्रम का अभाव है; इस अभाव को स्वीकार करके उसकी पूर्ति करने के लिए विद्यार्थी को स्वतन्त्रता व प्रेरणा देनी चाहिए। विद्यार्थी स्वयं में और समाज में नैतिकता और चरित्र की आत्यन्तिक अनिवार्यता अनुभव करें और करें उसकी पूर्ति करने के मार्गों का अन्वेषण।

हमने देखा, देश में शिक्षा का अत्यन्त अभाव था और अब भी है। विद्यार्थी के सम्मुख शिक्षित व्यक्तियों की संख्या सीमित थी, पर शिक्षा की अनिवार्यता उसने अत्यधिक अनुभव की। विद्यार्थी उस ओर बढ़ा, उसकी प्रगति में बड़ों ने और यहाँ तक कि उसी के अशिक्षित अभिभावकों ने सहयोग दिया और आज हम एक युग के बाद देखते हैं कि अपढ़ बच्चे समाज को अभिशाप अनुभव हो रहे हैं। यही कारण है एक युग पूर्व जहाँ ६० प्रतिशत बच्चे निरक्षर थे, वहाँ अब ६० प्रतिशत साक्षर होने वाले हैं; हालाँकि उनके अभिभावक अब भी बहुत बड़ी संख्या में निरक्षर हैं।

आज अनैतिकता है। समाज के बहुसंख्यक व्यक्ति इस रोग से ग्रस्त हैं। फिर भी वे मानवीय जीवन के लिए नैतिकता की अनिवार्यता अनुभव करते हैं। आज आवश्यकता है कि अनैतिक व्यक्ति को समाज अभिशाप समझे। प्रत्येक

विद्यार्थी को जो कि नागरिक जीवन में प्रवेश पाना चाहता है, उसे प्रवेश करने का अधिकार उस समय तक न दिया जाये जब तक कि वह अपने-आपको नैतिक व चरित्रवान् प्रमाणित न कर दे। राष्ट्र यदि इस मान्यता को अपना आधारभूत सिद्धान्त स्वीकार कर लेता है, तो यह विश्वास पूर्वक कहा जा सकता है कि आने वाले युग में इस धरती पर नैतिकता की सुरगंगा भरी हुई, छलकती हुई और लहराती हुई दिखायी देगी।

भारतीय जनता के नैतिक पुनरुत्थान के पवित्र उद्देश्य को लेकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के साथ एक आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। भाषा, प्रान्त, जाति, वर्ण, वर्ग और धर्म की समस्त रेखाएं उस आन्दोलन ने पार कीं। उसका उद्घोष ग्रामों से उठ कर महानगरियों से, झोंपड़ियों से उठ कर विचारकों, मन्त्रियों तथा पूंजीपतियों की अट्टालिकाओं से, व्यापारियों से उठ कर विद्यार्थियों, मज़दूरों व राज्य कर्मचारियों के कर्णकोटरों से टकराया। आन्दोलन से चेतना आयी, वातावरण बना और परिवर्तन भी। आन्दोलन की भूरि-भूरि प्रशंसा में वक्ताओं की वाणी मुखरित हुई, लेखकों की लेखनियों में प्रति-योगिता हुई, सम्पादकों, समालोचकों तथा समाज-सेवियों ने अपनी अकृपण उदारता प्रदर्शित की। आन्दोलन को बहुतों ने अपनाया, बहुतों से आन्दोलन को बल मिला और उस सब में विद्यार्थी-वर्ग का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह आन्दोलन था—अणुव्रत-आन्दोलन और उसे प्रारम्भ करने वाले हैं यशस्वी, मनस्वी और तपस्वी आचार्यश्री तुलसी।

आचार्यश्री तुलसी ने अणुव्रत-आन्दोलन का प्रवर्तन कर समाज के सम्मुख एक महत्त्वपूर्ण क़दम रखा। उससे विद्यार्थी-जगत् में चेतना आयी, लाखों विद्यार्थियों ने नैतिक प्रेरणा ली और लगभग एक लाख विद्यार्थियों ने विद्यार्थियों के लिए निर्धारित 'पाँच प्रतिज्ञाएं' ग्रहण कीं। ऐसा कहा जा सकता है, समुद्र में एक लहर पैदा हुई। यद्यपि उस लहर में समग्र सागर को तरंगित करने का अनिवार्य बल है, तथापि सागर को प्रत्यक्ष रूप में तरंगित देखने के लिए उस वायु से उठी हुई उस सूक्ष्म-सी लहर को सबल तूफान के रूप में देखने की हमारी आकांक्षा है। अणुव्रतों के विद्यार्थी-सम्बन्धी कार्यक्रम से मेरा अपना निकटतम सम्पर्क रहा है। लगभग एक लाख विद्यार्थियों से मिलने का अवसर मिला है और बहुत-से विद्यार्थियों के अणुव्रत ग्रहण करने के पश्चात् के अनुभवों को भी सुना है। इस समग्र अनुभव के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है कि अणुव्रत विद्यार्थियों में नैतिक अभ्युदय को लाने के लिए सशक्त है। आज विद्यार्थी-जगत् इसी अनुभूति के आधार पर आचार्यश्री तुलसी का उनके धवल समारोह के उपलक्ष में अभिनन्दन करता है और यह आशा करता है कि वे इस धवल कार्यक्रम को धवलतम करने का निर्णय लेंगे।

सृष्टि का आधार चरित्र है और सृष्टि की इकाई व्यक्ति। व्यक्ति का मूल बाल्य-जीवन है और बालक के व्यक्तित्व का निर्माण चरित्र के विकास पर। नैतिकता के परम पुजारी आचार्यश्री तुलसी विद्यार्थियों के चरित्र-निर्माण के इस आधारभूत कार्य को कोटि-कोटि युगों तक करते रहें, इसी हार्दिक शुभ कामना के साथ मैं उनके कार्यशील व्यक्तित्व के प्रति अपनी कोटि-कोटि श्रद्धांजलियाँ समर्पित करता हूँ।

बाल-जीवन का विकास

श्रीमती सावित्रीदेवी वर्मा, एम० ए०
सम्पादिका—बालभारती

प्रत्येक माता-पिता की यह इच्छा होती है, उनकी सन्तान सदाचारी तथा सद्‌गुणी हो। वह सत्यप्रिय, दृढ़प्रतिज्ञ, दयालु, ब्रह्मचारी, आत्मविश्वासी, परोपकारी, स्नेहशील, परिश्रमी, सहनशील, ईमानदार तथा आत्मनिर्भर हो। परन्तु उनके चाहने-मात्र से तो बच्चे में वे गुण नहीं आ सकते। उसके लिए तो बचपन से ही बच्चे की नियमित और स्वस्थ दिन-चर्या, प्रसन्नतापूर्ण और प्रेरणात्मक वातावरण, बड़ों का अनुकरणीय उदाहरण तथा चेष्टाएं होनी आवश्यक हैं। बड़े यह समझते हैं, हम बड़े हैं, घर की व्यवस्था और नियम बनाने का हमें अधिकार है, छोटे बच्चों को हमारे व्यवहार और दिनचर्या में बाधा उपस्थित करने तथा उसकी आलोचना करने का कोई अधिकार नहीं। ठीक है, डर कर चाहे बच्चे प्रगट रूप से चुप रहेंगे; परन्तु बड़ों के सभी कथनों और कर्मों की छाप उनके चरित्र पर धीरे-धीरे उतरती रहती है। बच्चा बड़ों के सद्-असद् कार्यों का आईना है। घर में बच्चे की उपस्थिति में एक चेतावनी है कि सँभलकर व्यवहार करो; मुझे देखो, मैं कितना स्वच्छ, पवित्र और प्राकृतिक हूँ; मेरे मन में विकार नहीं, मेरे कार्यों में हिंसा नहीं, मुझसे तुम कुछ सीख लो।

कवियों ने कहा है—'बच्चा मनुष्य का पिता है, गुरु है, आदर्श है;' पर यह कहने-भर से काम नहीं चलेगा, उस पर अमल करना चाहिए। मनुष्य कितने विपरीत ढंग से व्यवहार करता है। वह अपनी मूर्खतावश, अहंकारवश, प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से बच्चे के निर्मल हृदय में भी झूठ, फरेब, स्वार्थ, हिंसा, ईर्ष्या, द्वेष आदि विकार उत्पन्न कर उसको गुमराह करता रहता है और अपने इस कार्य में सफलता मिलती देख वह गौरव के साथ कहता है—'ओहो! अब मेरे बच्चे होशियार हो गए हैं, उन्हें दुनियादारी आ गई है, वे व्यवहार-कुशल बन चले हैं। अपनी बुराई-भलाई, हित-अहित परखना सीख गए हैं।' यह तो वह बात रही कि दुम-कटे कुत्तों के समुदाय में एक झब्बेदार दुम वाला कुत्ता यदि पहुँच जाये, तो वह बहुत बदसूरत गिना जाता है।

आज इस संसार में छल-प्रपंच, धोखेबाज़ी का बाज़ार गर्म है, परन्तु मानव-समाज इस पाप से बोझ के नीचे कराह रहा है। सभी अनुभव करते हैं कि घरों में, स्कूलों में, कालिजों में, संस्थाओं में, समाज, देश यहाँ तक कि संसार-भर में, लोग मर्यादा का उल्लंघन कर रहे हैं। सभी ओर हाय-तोबा मची हुई है, पर भेड़चाल सदृश सभी उसी दिशा को चले जा रहे हैं। इस बीमारी का इलाज, इस बुराई का सुधार होना चाहिए। घरों में अर्थात् बच्चों के प्रति अपने कर्तव्य तथा ज़िम्मेदारी को समझा जाना चाहिए। इस महान् धरोहर के प्रति अगर प्रत्येक मनुष्य कर्तव्यशील रहे, तो बच्चों के सदाचारी होने में कोई सन्देह नहीं है।

बच्चे की महानता उसके बालरूप में छिपी है। डा० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में—बालक अमृत का सेतु और अजर प्राण का हेतु है। बालक के मन में मृत्यु की कल्पना नहीं होती। बालक के चैतन्य में मृत्यु का अनुभव नहीं होता। प्राण और जीवन की ओजायमान ऊर्जस्वी धारा बालक में बहती है। बालक का मन अमृत का ऐसा उत्स है, जो कभी विषाक्त या विकृत नहीं होता। यही सृष्टि की बड़ी आशा है। प्रत्येक शती में मानव-जाति पुनः बाल, पुनः युवा और पुनः वृद्ध बनती है। काल के जरा-जीर्ण अंश से मुक्त होने के लिए वह पुनः-पुनः बालभाव में आती रहेगी, यही जीवन का स्वर्णिम विधान है।

आत्म-विश्वास

डरे हुए, दबाये हुए बच्चे में आत्म-विश्वास नहीं रहता। वह हर समय दूसरों का सहारा ताकता रहता है। बड़ों को चाहिए कि बच्चे की योग्यता और सामर्थ्य को समझ कर उस पर ज़िम्मेदारी छोड़ें। 'हाय, अकेले में उसे कुछ हो न जाये, कहीं वह गिर न पड़े, अरे, कहीं वह कोई चीज उठा कर सिर में न मार ले,' इत्यादि भयोत्पादक तथा अविश्वासपूर्ण उद्‌गारों द्वारा माताएं अपने बच्चे के आत्म-विश्वास को हिला देती हैं। 'यह मत छू', 'वहाँ मत जा', 'सम्भल कर चीज़ उठा', 'गिर न पड़ना', 'वहाँ तुझे कहीं कुछ हो न जाये' आदि-आदि अभिभावकों के कथन बच्चे को बहादुर और आत्म-विश्वासी नहीं बनने देते। बच्चा जब कभी खेल के मैदान में चोट लगा आता है तो माता-पिता उसे डाँटें-डपटें नहीं। खेल-कूद में चोट लग ही जाती है। चोट खाकर ही बच्चे अपने बल का अनुमान लगा पाते हैं। आगे के लिए कितना साहस करना चाहिए या कितना जोखिम उठाना चाहिए, इसका उन्हें स्वयं ही पता चल जाता है।

माता-पिता को हर समय अपने बच्चे को अपनी आँचल की ओट में रख कर, सुरक्षित अनुभव करने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। परिजनों का प्रेम, प्रशंसा और सहयोग ही उसे सुरक्षा का अनुभव कराने के लिए पर्याप्त है। उसे कार्य तथा निर्णय करने की स्वतन्त्रता होनी चाहिए। माता-पिता पथ-प्रदर्शक का काम करें। अगर बच्चे में योग्यता होगी, उसकी ओर रुझान होगी, तो उसे दिया गया सुझाव रुचिकर लगेगा। बच्चा जो शिक्षा अनुभव से प्राप्त करता है, वह उपदेशों से अधिक प्रभावशाली होती है।

आत्म-निर्णय

जिन बच्चों को अपनी योग्यता को अजमाने का अवसर नहीं मिलता, वे डरपोक और आलसी बन जाते हैं। बच्चे को हरदम रोक-टोक और अधिक अनुशासन में रखने से उसका स्वाभाविक विकास कुण्ठित हो जाता है। इसका परिणाम उसके अन्तर मन पर अच्छा नहीं पड़ता। वह बड़ा होकर किसी काम में न तो स्वयं निर्णय ही कर सकता है, न आत्म-विश्वास के साथ आगे बढ़ पाता है। जीवन में कुछ कर सकने के योग्य बनने के लिए आत्म-निर्भरता भी उतनी ही अभीष्ट है जितना कि धीरज, सोच-विचार और कार्य-निपुणता। मन की दुविधा व्यक्ति को लंगर की तरह पीछे को घसीटती है।

सत्य की निष्ठा

बच्चा जब उत्सुकता और जिज्ञासावश कोई प्रश्न करता है, तो उसकी समझ के अनुसार ठीक उत्तर देकर उसकी जिज्ञासावृत्ति को विकसित करना चाहिए। कई बार बच्चे को कौतूहलवश कुछ पूछने पर माता-पिता डाँट-डपट कर या झूठी बात कह कर, उसे चुप कराने की चेष्टा करते हैं। जिज्ञासावृत्ति के वशीभूत होकर ही बच्चा अन्वेषण और साहस के कार्यों में दिलचस्पी लेता है। अपना कौतूहल मिटाने तथा जानकारी प्राप्त करने के लिए ही वह खिलौनों को तोड़ता-मरोड़ता है, उन्हें तोड़ कर फिर जोड़ने की चेष्टा करता है। परन्तु अधिकांश बच्चों को ऐसा करने पर मार पड़ती है और वे दण्ड के भय से झूठ भी बोल देते हैं।

यदि बड़े बच्चे के शासक न होकर सच्चे स्नेही, हितैषी और मित्र के सदृश व्यवहार करें तो बच्चा भी अपनी अयोग्यता और असमर्थता स्वीकार कर, अपनी असफलता में माता-पिता का सहयोग प्राप्त कर, यथाशक्ति उन्नति करने की चेष्टा करेगा। बच्चा नन्हा-मुन्ना है, उसके काम करने का ढंग, रफ्तार और समझ सभी उसकी आयु के अनुसार हैं, वह बड़ों के सदृश बड़ी हद तक सफलता नहीं प्राप्त कर सकता, अतएव आशाजनक सफलता न मिलने पर यदि बच्चे की भर्त्सना की जाती है, तो यह अन्याय होता है। यदि बड़ों का व्यवहार बच्चे के प्रति सच्चा होता है, उससे की हुई प्रतिज्ञाओं को निभाया जाता है, उसे भुलावे में नहीं डाला जाता, दैनिक व्यवहार में अपने वचन और कर्मों में सामंजस्य रख कर कार्य किया जाता है, तो बच्चा भी सत्यनिष्ठ होगा।

बच्चा अपनी रचनात्मक वृत्ति को तृप्त करने, अपने कौतूहल को मिटाने और अपनी कल्पना को साकार देखने के लिए अनेक चेष्टाएं करता है। यदि उसकी इन चेष्टाओं को प्रोत्साहन दिया जाये तो वह वैज्ञानिक, अन्वेषक, नृत्यकार, चित्रकार, कहानीकार, संगीतज्ञ आदि बन जाता है। 'ऐसा करने से क्या होगा?' 'इसके आगे क्या है?', 'ऐसा करूँ तो कैसा लगेगा?' 'यह मिटा दूं, यह जोड़ दूं, तो फिर क्या रूप होगा?' इस प्रकार के विचार बच्चे को कुछ करने की प्रेरणा देते हैं और वह कार्यशील बन जाता है। उसकी बुद्धि का विकास होता है, वह जिज्ञासावश बात की तह तक पहुँचने की सच्चाई को खोज निकालने की चेष्टा में लीन हो जाता है। यही सत्य की सच्ची उपासना है। परन्तु कितने बच्चों को ऐसी उपासना करने की प्रेरणा दी जाती है? अधिकांश बच्चे रट्टू तोते के सदृश दूसरों के उपदेशों और कार्यों को दोहरा भर देते हैं। हमारे बड़ों ने ऐसा किया, उन्होंने ऐसा कहा, किताबों में ऐसा लिखा है, दुनिया इसी राह चल रही है, इसीलिए यह हमारे लिए भी आँख मूंद कर अनुकरणीय है। अधिकांश बच्चों को इसी प्रकार सोचना और करना सिखाया जाता है। बापू के सदृश सच का पुजारी युगों के बाद कोई निकलता है। उपदेशक तो संसार में बहुत होते हैं; परन्तु पैगम्बर वही माने जाते हैं, जो सच्चाई की कसौटी पर अपने जीवन को भी कस कर खरा प्रमाणित कर दें।

माता-पिता का कठोर और अन्यायपूर्ण व्यवहार जब बच्चे को भयभीत कर देता है तो वह सच्चाई से विमुख होकर झूठ और बहानेबाजी की शरण लेता है।

ब्रह्मचर्य का विकास

बच्चा जैसे-जैसे बड़ा होता है, शरीर की वृद्धि के साथ-ही-साथ उसमें काम-वासना की भी उत्पत्ति होती है। अन्य शारीरिक शक्तियों के सदृश काम-शक्ति भी एक महत्त्वपूर्ण शक्ति है। इस विषय में बच्चे की उत्सुकता को बहुत सुन्दरता के साथ शान्त करना चाहिए। उसके प्रश्नों को 'गन्दी बात' कह कर भुलाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। माँ का दुलार, पिता का प्यार, संगी-साथियों की प्रशंसा की चाहना तथा अपने से भिन्न सेक्स की संगति के प्रति आकर्षण, सजने-सँवरने का शौक, अपने रूप और गुणों की प्रशंसा सुन प्रसन्न होना आदि बातें इस बात का प्रमाण हैं कि बच्चे में स्वस्थ काम-वृत्ति का विकास हो रहा है। अगर उसे दुत्कारा जायेगा तो वह विपथगामी हो जायेगा। बच्चे को ब्रह्मचारी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसकी सौन्दर्य-प्रियता को सन्तुष्ट करने के लिए कला की सच्ची उपासना सिखाई जाये। उसमें वीर-पूजा की भावना पैदा करें, ताकि अपना ध्येय और आदर्श बनाने में उसे सरलता हो। वह अपना प्रेम, आराधना तथा सम्मान और भक्ति, उस पूजनीय व्यक्ति पर उँडेल सके, जिससे उसे अपने जीवन को आदर्श बनाने की प्रेरणा मिलती है।

खाली दिमाग में ही बुरे ख्याल चक्कर मारते हैं। बच्चे के विचारों को पवित्र रखने के लिए यह बहुत आवश्यक है कि उसे ऐसे ही कार्यों में व्यस्त रखा जाए। उसे स्वस्थ और सच्चरित्र बनने की प्रेरणा दी जाए। उसे भक्ति और त्यागपूर्ण प्रेम तथा वीर रस की कहानियाँ सुनाई जायें ताकि उसका प्रेम वासना से अछूता रहे; पर साथ ही उसे प्रकाशित करने का सही मार्ग ज्ञात हो जाए। बच्चा जब छोटा होता है, उसकी ममता के केन्द्र उसके माता-पिता तथा बहिन-भाई ही होते हैं। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, अपने संगी-साथी तथा गुरु को अपना आदर्श बना लेता है। बच्चे के चरित्र के विकास में इन सभी का बड़ा हाथ होता है। इनके व्यवहार और आदर्शों की बच्चे के चरित्र पर परोक्ष और प्रत्यक्ष रूप से छाप पड़ती रहती है। अतएव माता-पिता को इस बात की भी सावधानी रखनी चाहिए कि बच्चा किसी बुरे व्यक्ति के प्रभाव में न रहे। जिस बच्चे में आत्म-सम्मान की भावना होगी, जो आदर्श का पुजारी होगा, जो कुल और संस्था के सनाम को महत्त्व देता होगा, वह बालक अपने चरित्र को कभी भी नहीं गिरने देगा।

एक ओर माता-पिता जहाँ बच्चे के शारीरिक स्वास्थ्य की ओर सजग रहते हैं, वे उसके मानसिक स्वास्थ्य को परखने की चेष्टा नहीं करते। जिस प्रकार शारीरिक बल शारीरिक स्वास्थ्य की भित्ति पर खड़ा रहता है, उसी प्रकार चरित्रबल की आधारशिला मानसिक स्वास्थ्य है। वह जितनी दृढ़ होगी, बच्चे का चरित्र भी उतना ही दृढ़ होगा तथा उसमें सद्गुणों का स्वाभाविक विकास होगा। सन्तोषजनक विकास अनुकूल वातावरण पर ही निर्भर है और इस वाता-

वरण को पैदा करने का दायित्व माता-पिता पर है।

स्वभाव में लोच

बच्चे की योग्यता और सद्गुणों की कसौटी है, उसके स्वभाव की लोच। मनुष्य की जीवन-यात्रा संघर्ष-पूर्ण है, उसमें कर्मयोगी ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं। दुर्बल मनुष्य परिस्थितियों का दास बन जाता है, परन्तु कर्मशील व्यक्ति परिस्थितियों से जूझ कर उन्हें गढ़ता और सँवारता है। ऐसा मनुष्य अपने साथ दस अन्यों को भी तार देता है। बच्चों में इसी योग्यता को पैदा करना, सच्ची शिक्षा है। इसके लिए धीरता, सहनशीलता, दूरदर्शिता और व्यवहार-कुशलता चाहिए। दूसरों का सहयोग प्राप्त कर सफलता की ओर बढ़ने की दृढ़ता चाहिए। यह तभी सम्भव है, जब मनुष्य में लीडर-शिप हो, और वह निःस्वार्थ तथा चरित्रवान् हो। अपने से पहले दूसरे का सोचे। जीवन को सुखी बनाना एक कला है। अगर कोई मनुष्य असन्तोषी है, वह हर समय अपने ही अभाव और असफलता का रोना रोकर सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा करता है, तो वह अपने सहयोगियों के लिए एक भार बन जाता है। जहाँ घर का वातावरण ऐसा हो कि बड़ों का व्यवहार बच्चों को परस्पर सहयोग से काम करने, वर्तमान को सुन्दर बनाने की चेष्टा तथा अनिवार्य विपत्तियों का धीरता के साथ सामना करने का पाठ पढ़ाये, वहाँ बच्चों में सद्गुणों का विकास होते देर नहीं लगती। वे सच्चे कर्मयोगी बनते हैं। उनके जीवन में 'हाय-हाय' कभी नहीं मचती।

समर्थ रहते हुए किसी को क्षमा कर देना, अभाव न होते हुए भी त्यागपूर्ण जीवन बिताने की चेष्टा करना, मानव-मात्र के प्रति दया, आदि यही तो यथार्थ धर्म शिक्षा है; ईश्वर की सच्ची उपासना है। धर्म के नाम पर व्रत-उपवास, दान आदि का असली महत्त्व यही है कि मनुष्य पवित्रता, त्याग और सेवा का पाठ पढ़े। अपने बच्चे को इसी मानवधर्म की शिक्षा दी जाये ताकि वे ऊँच-नीच गरीब-अमीर, छूत-अछूत आदि भेदभाव को भूल कर स्कूलों में सहपाठियों के संग मानवमात्र के प्रति प्रेम करना सीखे।
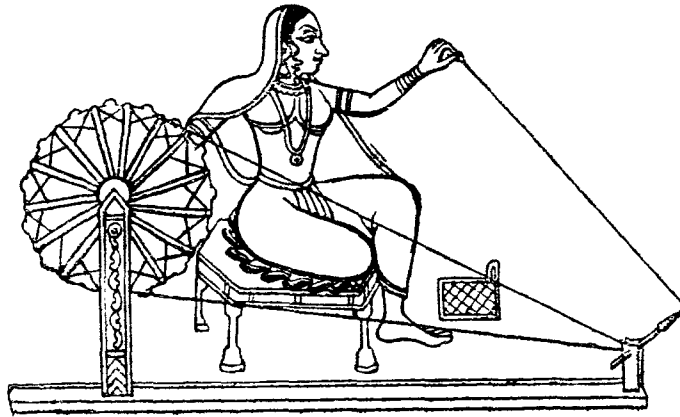
अणुव्रत : जीवन की न्यूनतम मर्यादा

मुनिश्री सुमेरमलजी 'सुमन'

ज्ञान और विज्ञान में अन्तर है। ज्ञान जानकारी का परिचायक है और विज्ञान विशिष्ट जानकारी का। दूसरे शब्दों में प्रयोगात्मक होने वाला ज्ञान, विज्ञान है। प्रत्येक तत्त्व अपने आपमें यथार्थता लिए हुए चलता है। उसकी प्राप्ति वही कर सकता है जो अन्वेषक बनकर खोजता है—'जिन खोजा तिन पाईया।' मर्यादा भी अन्वेषण का विषय बन सकती है। जैन-दर्शन के अनुसार मर्यादा का इतिवृत्त कुलकर काल से प्रारम्भ होता है। उससे पूर्व मर्यादा का उल्लेख नहीं मिलता। आवश्यकता आविष्कार की जननी है। यौगलिक काल सर्वतंत्र-स्वतंत्र काल माना जाता है। पर ज्यों ही उसका विघटन हुआ, त्यों ही व्यवस्था की आवाज बुलन्द होने लगी। बस यहीं से शासन-सूर्य का उदय होता है।

शासन व्यक्ति को शासित करता है। व्यक्ति समष्टि से बँधा हुआ होता है। इसलिए समष्टि-शासन सापेक्ष है। जो शासन चलाने में और मर्यादित करने में असमर्थ है वह शासन, शासन नहीं कोरा कलेवर है। समष्टि से आने वाला शासन स्व-शासन नहीं होता। स्व-शासन आत्मा से उद्भूत होता है। वह सुखकर, हितकर और समाधान देने वाला होता है।

शासन के द्वारा सब शक्तियों का एकीकरण और संचालन होता है। उसका अपने आपमें पूर्ण महत्त्व है। वह बिखरी हुई शक्तियों को केन्द्रित करता है। एकीकरण करने से सामान्य शक्ति भी फलदायक बन जाती है। कहा जाता है कि एक एकड़ भूमि के घास की शक्ति यदि एक भाप के इंजन के 'पिस्टन-राड' पर केन्द्रित कर दी जाए तो उसके द्वारा सारे संसार की मोटरें और चक्कियाँ चल सकती हैं।

साधना के दो मार्ग हैं–महाव्रत और अणुव्रत। व्रत पाँच हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनकी पूर्ण साधना महाव्रत कहलाती है और आंशिक साधना को अणुव्रत कहा जाता है। महाव्रत गृहत्यागी मुनियों के लिए है और अणुव्रत गृहस्थों के लिए।

साधना शक्ति की तरतमता सदा से रही है। सभी मनुष्य पूर्ण साधना में समर्थ नहीं होते, अतः प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार साधना के मार्ग को चुनता है। भगवान् महावीर ने कहा–**बलं थामं च पेहाए**–अपनी शक्ति को तौलकर साधना के मार्ग को चुनो। अणुव्रत यथाशक्ति साधना का उपक्रम है। यह मध्यम मार्ग है—दो अतियों के बीच का रास्ता है। भोग की अति व्यक्ति की सम्पदा को जीर्ण-शीर्ण कर उसे वेदना के गह्वर में ढकेल देती है और त्याग की अति से व्यक्ति गार्हस्थिक जीवन जी नहीं सकता। उसमें इतना सामर्थ्य नहीं कि वह मुनि बन जाए और न उसकी आन्तरिक दैवी-सम्पदा उसे भोग के असह्य दारुण दुःखों को ही सहन करने के लिए छोड़ती है। अतः वह कुछ भोग और कुछ त्याग को अपना कर चलता है। वह कुछेक व्रतों को स्वीकार करता है ताकि उसकी प्रतिरोधात्मक शक्ति जीवन शक्ति को धारण किये रखे और कौटुम्बिक जीवन भी नीरस न बन सके।

इन व्रतों का स्वीकरण ही अणुव्रत-आन्दोलन की आत्मा है। यह आन्दोलन चरित्र का आन्दोलन है। व्यक्ति की चिर-शक्ति को जागृत कर उसे आत्मौपम्य बनाने का उपक्रम है। प्रधानतः यह आर्थिक सुधार का आन्दोलन नहीं है। इससे आर्थिक सुधार होता है, पर गौण रूप से। आज जीवन-निर्वाह और विलास के साधन सुलभ होने पर भी लोक-जीवन अशान्त है। इससे यह स्पष्ट है कि शान्ति का साधन पदार्थ की प्राप्ति नहीं कुछ और है। वह 'और' है चरित्र का विकास। चरित्र-विकास से आनन्द का द्वार खुल जाता है और वह बाहरी सुविधाओं के मायाजाल में न फँस कर, उनकी उपेक्षा कर, शान्ति के स्रोत में घुल-मिल जाता है—जैसे दूध में मिश्री।

अणुव्रत जीवन की न्यूनतम मर्यादा है। यह सबके लिए आवश्यक है। चाहे अमीर हो या गरीब, नेता हो या नागरिक, स्त्री हो या पुरुष, बालक हो या वृद्ध, देशवासी हो या विदेशवासी, धार्मिक हो या अधार्मिक, आत्मवादी हो या अनात्मवादी, सबके सुखी जीवन के लिए यह मर्यादा प्रकाश-स्तम्भ है। इसके अभाव में नर-जीवन पशु-जीवन के समकक्ष आ जाता है। कोई भी व्यक्ति अपने प्रति बुरा वर्ताव नहीं चाहता तो वह दूसरों के प्रति बुरा व्यवहार करे, इससे ज्यादा असंगति क्या हो सकेगी ? अणुव्रत-आन्दोलन इस असंगति का प्रतिकार है।

व्रत क्यों ?

आज इस विज्ञान-प्रभावित बौद्धिक-युग में व्रत-ग्रहण की प्राचीनतम परम्परा की अवहेलना की जाती है। यह बौद्धिक अपकर्ष है।

व्रत-ग्रहण से आत्म-संयमन बढ़ता है। संयम से जीवन का सन्तुलन बना रहता है। सन्तुलित जीवन सदा सुखी रहता है। व्रत-ग्रहण से प्रतिरोधात्मक शक्ति का विकास होता है। मनुष्य में जब संकल्प शक्ति का उत्कर्ष होता है, तब असंभाव्य कार्य भी सहज सम्भाव्य हो जाते हैं। जिस व्यक्ति, समाज या राष्ट्र में संकल्प शक्ति नहीं होती उसको जीवन के प्रत्येक विराम पर हार खानी पड़ती है। संकल्प ही जीवन है—यह व्रत की आत्मा है। व्रत थोपे नहीं जाते आत्म-साक्षी से स्वीकार किये जाते हैं। इस स्वीकृत नियमन से कष्ट सहने की शक्ति पनपती है और जब यह शक्ति पूर्ण रूप से विकसित होती है, तब कष्ट स्वयं अकष्ट बन जाता है।

अणुव्रत-आन्दोलन की दार्शनिक पृष्ठभूमि

श्री सत्यदेव शर्मा 'विरूपाक्ष'
सम्पादक—नवजीवन, लखनऊ

भारतीय दर्शन और पश्चिमी दर्शन में उद्देश्य विषयक पार्थक्य है। पश्चिमी दर्शन का एकमात्र उद्देश्य सृष्टि के रहस्यों की छानबीन है, किन्तु भारतीय दर्शन को केवल इससे संतोष नहीं होता। दुःखों का आमूल उच्छेद किस प्रकार हो सकता है और सांसारिक बन्धनों से आत्मा को किस भाँति मुक्ति मिल सकती है, यह भारत की दार्शनिक विचारधाराओं के अनुसन्धान का मुख्य विषय है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सृष्टि विषयक ज्ञान आवश्यक है, केवल इस दृष्टि से ही भारतीय दर्शन में तत्त्वमीमांसा, प्रमाण-शास्त्र आदि को स्थान दिया गया है। शुष्क ज्ञान की उपलब्धि मात्र से भारतीय दार्शनिकों को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने तात्त्विक समीक्षा एवं तार्किक निष्पत्तियों को साधन मात्र मान कर मोक्ष-प्राप्ति के उपायों की गवेषणा की है। यही कारण है कि तत्त्वमीमांसा (metaphysics), प्रमाण-शास्त्र (epistemology), तर्क-शास्त्र (logic) तथा मनोविज्ञान (psychology) के साथ-साथ आचार-मीमांसा या कर्तव्य-शास्त्र (ethics) और सौन्दर्य मीमांसा (aesthetics) भी भारतीय दर्शन के अभिन्न अंग माने जाते हैं और इन सब शास्त्रों का पर्यवसान मोक्ष-प्राप्ति के हेतु वरण की गई साधना में होता है। पश्चिम में दर्शन-शास्त्र (philosophy) और धर्म-शास्त्र (theology) में अन्तर माना जाता है। पर भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि में अविच्छेद्य सम्बन्ध है; दोनों एक ही मुद्रा के दो पार्श्व हैं।

मनुष्य बुद्धिजीवी प्राणी है और इस कारण उसमें स्वाभाविक रूप से यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि मैं क्या हूँ, यह सृष्टि क्या है, जड़ और चेतन में क्या सम्बन्ध है, ज्ञान की उत्पत्ति कैसे हुई, यथार्थ और अयथार्थ के बोध के लिए किन प्रमाणों की आवश्यकता है आदि-आदि। जीवन-दर्शन की अपनी धारणाओं के अनुरूप ही मनुष्य अपनी गतिविधि का नियमन करता है और उक्त जिज्ञासा की शान्ति के लिए दार्शनिक ज्ञान की आवश्यकता उसे होती है। सांसारिक दुःखों से निवृत्ति पाने के लिए सत्य की खोज अर्थात् तत्त्व-दर्शन प्रत्येक भारतीय दार्शनिक विचारधारा का मुख्य ध्येय है। भारतीय दर्शन में तत्त्व-मीमांसा, आचार-मीमांसा, तर्क-शास्त्र, प्रमाण-शास्त्र, मनोविज्ञान आदि पर पृथक् रूप से विचार नहीं किया गया है; अपितु इन सब शास्त्रों के समन्वित अध्ययन द्वारा परम सत्य की खोज का प्रयास हुआ है। समन्वयात्मक दृष्टिकोण ही भारतीय दर्शन की विशिष्टता है, जो इसे पश्चिमी दर्शन से पृथक् करती है। यही कारण है कि प्रत्येक भारतीय दर्शन—चार्वाक, जैन, बौद्ध, सांख्य, योग, मीमांसा, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त—में तत्त्व-मीमांसा, प्रमाण-शास्त्र, तर्क-शास्त्र आदि का सम्यग् विवेचन हुआ है। प्रत्येक भारतीय दर्शन उक्त समस्त शास्त्रों का विश्व कोष कहा जा सकता है।

जैन दर्शन अति प्राचीन है; यह तथ्य संसार के प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार किया है। उसमें अध्यात्म, धर्म-साधना और शुद्धाचरण का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारतीय दर्शन की ही यह विशेषता है कि इसकी कई धाराओं—बौद्ध, जैन, मीमांसा तथा सांख्य में सृष्टिकर्ता ईश्वर की मान्यता के बिना ही उच्चतम कोटि के धर्म, आध्यात्मिकता और आचार-संहिता का प्रतिपादन किया गया है।

बौद्ध दर्शन और अद्वैत वेदान्त को छोड़ कर भारतीय दर्शन की अन्य प्रणालियों में जगत् को यथार्थ माना गया है। अद्वैत वेदान्त के मत में जगत् मिथ्या है और बौद्ध दर्शन तो आत्मा को भी अनित्य मानता है। जैन-दर्शन जगत् के अस्तित्व को वास्तविक मानता है और इस बात में उसके विचार न्याय, मीमांसा, सांख्य आदि से मिलते-जुलते हैं। पर

जैन दर्शन का कहना है कि वास्तविकता का स्वरूप एकान्त नहीं है, बल्कि अनेकान्त है। अनेकान्तवाद जैन दर्शन की आधार शिला है। अनेकान्तवाद ने ही जैन दर्शन को सर्वाधिक उदारतापूर्ण दृष्टिकोण प्रदान किया है। अनेकान्तवाद का आशय यह है कि जिन पदार्थों का हमें परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से ज्ञान होता है, वे पदार्थ अनेक धर्मों और गुणों से युक्त हैं और इसका कारण सीमित दृष्टि वाले सामान्य लोगों के लिए किसी पदार्थ का पूर्ण ज्ञान सम्भव नहीं है। हम हर चीज के सब पहलुओं को नहीं देख पाते और इस कारण हमें हठधर्मी से काम लेकर ऐसा न मानना चाहिए कि हमें जो चीज जैसी दिखाई देती है, वही उसका वास्तविक स्वरूप है और दूसरे लोग उस चीज को जिस ढंग से देखते हैं, वह गलत है। विरोध-पक्ष के विचारों में भी जैनेतर धर्मों में भी, सत्य का अंश है, इस महती मान्यता ने जैन दर्शन को उदार चित्त-वृत्ति, विशाल हृदयता तथा विचार-सहिष्णुता प्रदान की है। यही कारण है कि जैन दर्शन का किसी भी दर्शन से विरोध नहीं है। जैन दर्शन के अनुसार नाना रूपिणी सत्ता के आंशिक विवेचन तक ही सामान्य मनुष्य की बौद्धिक क्षमता सीमित है। और इस कारण सैद्धान्तिक प्रश्नों को लेकर आपस में किसी प्रकार के वैर-भाव के लिए कोई स्थान नहीं होना चाहिए। हमें दूसरों के विचारों को सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए और सब धर्मों का आदर करना चाहिए। इस भारतीय मान्यता पर जैन दर्शन की अमिट छाप है।

जैन दर्शन सामान्य बुद्धिपरक यथार्थवाद और अनेकान्तवाद बहुत्ववाद के मौलिक सिद्धान्तों पर आधारित है। जैन दर्शन की यह मूलभूत मान्यता है कि हमें दूसरे के विचारों का आदर करना चाहिए। इस मान्यता का तात्त्विक (meta-physical) आधार अनेकान्तवादी यथार्थवाद का सिद्धान्त है। अनेकान्तवादी यथार्थवाद की तार्किक निष्पत्ति स्याद्वाद के रूप में हुई है। स्याद्वाद से आशय यह है कि हम किसी पदार्थ को देख कर जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह निरपेक्ष नहीं, बल्कि सापेक्ष होता है अर्थात् हमारे निष्कर्ष और निर्णयों पर अनेक वस्तु-स्थितियों का देश-काल के अनेकानेक प्रभावों का तथा बाह्य जगत् की सीमाओं का प्रतिबन्ध रहता है। किसी भी यथार्थ वस्तु के बारे में विभिन्न व्यक्ति विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते हैं। हर व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से वस्तु के किसी पार्श्व विशेष को देख पाता है। प्रत्येक वस्तु के अनेक पार्श्व होते हैं और देश-काल की विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न दृष्टिकोण भी होते हैं। पदार्थों की यथार्थता अनेकानेक अंशों में प्रस्फुटित होती है। कोई किसी अंश को देख पाता है तो कोई किसी और को। इसलिए किसी को यह नहीं कहना चाहिए कि हमारा ही मत ठीक है और दूसरे सब गलत हैं।

पदार्थ के असंख्य पार्श्वों में से किसी एक पार्श्व का जो आंशिक ज्ञान हमें होता है, उसे जैन दर्शन में नय की संज्ञा दी गई है। दैनन्दिन जीवन में किसी वस्तु को देख कर हम जिस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं, वह केवल एक विशिष्ट दृष्टिकोण से एक परिचित विशेष की ही यथार्थता का प्रतिपादन करता है; सम्पूर्ण यथार्थता का नहीं। हम अपने निष्कर्षों को सम्पूर्णतया यथार्थ और अकाट्य मानकर दूसरे के विचारों का अनादर करते हैं और यही वैमनस्य, वितंडावाद और लड़ाई-झगड़े का प्रमुख कारण है। एक प्राचीन आख्यायिका है कि कुछ अन्धे व्यक्तियों ने हाथी के विभिन्न अंगों का स्पर्श किया। एक ने कहा कि हाथी की शक्ल पूंछ की तरह होती है, तो दूसरे ने उसे छाज की तरह बताया। किसी के लिए हाथी खम्भे की तरह का, तो किसी के लिए सूंड की तरह का। सब अन्धे इस विषय पर आपस में लड़ रहे थे। पर जब उन्हें सारी बात समझा दी गई तो वे शान्त हो गये। इस दृष्टान्त से जैन दर्शन के अनेकान्तवाद को समझने में बहुत सहायता मिलती है। जैन दर्शन ने विचार-सहिष्णुता के इस महान् मानवतावादी सिद्धान्त का प्रतिपादन कर भारतीय संस्कृति की गरिमा में वृद्धि की है। अतीत की भाँति वर्तमान और भविष्य के लिए भी यह मानव कल्याण का मूल मन्त्र है।

जैन दर्शन का कहना है कि विभिन्न दार्शनिक प्रणालियाँ विश्व की जो विभिन्न व्याख्याएं प्रस्तुत करती हैं, उनमें से प्रत्येक आंशिक रूप से यथार्थ है। विवाद इसलिए होता है कि लोग भूल जाते हैं कि सत्य ज्ञान का ठेका केवल हमीं ने नहीं लिया है, दूसरे लोग भी अपने दृष्टिकोण में पदार्थ के किसी पार्श्व विशेष को पहचानते हैं।

अनेकान्तवादी मान्यता के आधार पर जैन दर्शन ने यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया है कि प्रत्येक तार्किक निष्पत्ति के पहले हमें 'स्यात्' अर्थात् 'एक प्रकार से' लगा देना चाहिए ताकि हमारे मस्तिष्क में यह तथ्य स्पष्ट बना रहे कि हमारी विवेचन-शक्ति सीमित है। इसलिए हमारे निष्कर्ष आंशिक रूप में ही यथार्थ हो सकते हैं और अन्य दृष्टिकोणों से अन्य

निष्कर्षों के भी यथार्थ होने की सम्भावना है। उदाहरणस्वरूप यह न कह कर कि हाथी खम्भे के समान है, यह कहना युक्ति संगत है कि 'स्यात्' 'एक प्रकार से' जहाँ तक इसके पैरों का सम्बन्ध है, हाथी खम्भे के समान है। कमरे में घड़े को देख कर केवल यह कहना पर्याप्त नहीं है कि यही घड़े का अस्तित्व है; बल्कि यह कहना तार्किक दृष्टि से अधिक समुचित होगा कि अमुक समय और अमुक स्थान पर घड़े का अस्तित्व है। घट की त्रैकालिक और सार्वदेशिक सत्ता सत्य नहीं है। घड़े का अस्तित्व निरपेक्ष नहीं है, बल्कि देश काल की सीमाओं में बँधा हुआ सापेक्ष है। स्यात् शब्द के प्रयोग के कारण ही जैन न्याय के इस प्रख्यात सिद्धान्त का नाम स्याद्वाद पड़ा है। जैन दर्शन का यह प्रधान सिद्धान्त वस्तुओं की अनन्त धर्मात्मकता पर आश्रित है। विषय के सापेक्ष निरूपण को नयवाद की संज्ञा दी गई है। न्याय शास्त्र की परिभाषा में किसी उद्देश्य के विषय में विधेय का विधान अथवा निषेध 'परामर्श' है। जैन दर्शन में सत्ता के सापेक्ष रूप को स्वीकार कर परामर्श का रूप सात प्रकार का बताया गया है जो कि सप्तभंगी के नाम से विख्यात है।

जैन दर्शन न केवल विचार-सहिष्णुता का ही पक्षपाती है, अपितु आचार-संहिता के पालन पर भी वह बहुत बल देता है। अहिंसा का जितना महत्त्व जैन धर्म में है, उतना और किसी धर्म में नहीं। विचार-सहिष्णुता का सिद्धान्त अहिंसा के मानसिक रूप का ही प्रतिपादन करता है। मनसा, वाचा और कर्मणा अहिंसक होना चाहिए। अपने मत को सम्पूर्णतया यथार्थ मान कर दूसरे के मत को गलत मानना, दूसरे के दृष्टिकोण को अनादर की दृष्टि से देखना जैन धर्म के अनुसार एक प्रकार की मानसिक हिंसा है।

जैन दर्शन में मोक्ष के तीन साधन माने गये हैं—१. सम्यक् दर्शन, २. सम्यक् ज्ञान तथा ३. सम्यक् चारित्र। जैन दार्शनिकों ने कहा है कि सम्यक् चारित्र में ही सम्यक् दर्शन और सम्यक् ज्ञान की चरितार्थता सम्पन्न होती है। बौद्ध धर्म की भाँति जैन धर्म में भी पूजा-पाठ की अपेक्षा सच्चरित्रता और नैतिकता को अधिक महत्त्व दिया गया है। दोषों से विरत होना, कर्त्तव्य तथा अकर्तव्य के बारे में विवेक से काम लेकर सावधान रहना, समभाव की मर्यादा न तोड़ना और मानसिक, कायिक तथा वाचिक प्रवृत्तियों पर अनुशासन रखना जैन धर्म की विशिष्टता है। सम्यक् चारित्र की सिद्धि के लिए जैन धर्म में अहिंसा, सत्य, अस्तेय—किसी की वस्तु को उसकी अनुमति के बिना न लेना, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह—आसक्ति के परित्याग को नितान्त आवश्यक बताया गया है। ये जैन धर्म के महाव्रत हैं। जिनका पूर्ण पालन साधारण संसारी मनुष्यों के लिए बहुत कठिन है। इसलिए जैन धर्म ने गृहस्थों के लिए अणुव्रतों की व्यवस्था की है, जो महाव्रतों की स्थिति में पहुँचने के लिए सोपान के सदृश है। आचार्यश्री तुलसी के अणुव्रत-आन्दोलन की यही पृष्ठभूमि है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में जनसाधारण को कैसा आचरण करना चाहिए, इसका सुन्दर विधान अणुव्रत-आन्दोलन ने किया है। आचार्यश्री तुलसी इस बात पर जोर देते हैं कि अगर हम छोटी-छोटी बातों में अपने चरित्र को शुद्ध नहीं रखेंगे तो हम बड़े लक्ष्यों की ओर—केवलज्ञान तथा मोक्ष की ओर कदापि नहीं बढ़ सकते। आज हमारे राष्ट्रीय जीवन में जो अनुशासनहीनता, भ्रष्टाचार, स्वार्थसाधन, नियम-भंग आदि कुवृत्तियाँ प्रवेश कर गई हैं। उनके मूलोच्छेद की दिशा में अणुव्रत-आन्दोलन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। जैन दर्शन की इस देन से सारा राष्ट्र लाभान्वित हो सकता है।

कानून और हृदय-परिवर्तन

श्री बी० डी० सिंह
अधिवक्ता—सर्वोच्च न्यायालय

अब वह युग नहीं रहा, जिसमें कि क़ानून किसी वर्ग विशेष की पैतृक या निजी सम्पत्ति हो, अथवा क़ानून के क्रियान्वयन या शासन प्रबन्ध में किसी वर्ग विशेष को ही अधिकार हो जैसा कि कभी रोमन-साम्राज्य एवं ग्रीक नगर के राज्यों में था और कानून बनाने से लेकर उसका पालन कराने तक में कुछ इने-गिने नागरिकों का हाथ रहता था।

कठोर अथवा नियन्त्रित राजतन्त्र, उपनिवेश एवं साम्राज्यवाद के युग में कानून को वह व्यापकता नहीं मिल सकती जो कि जनतन्त्रवाद में मिलती या मिल सकती है। इसका कारण यह नहीं कि जनतन्त्रवाद के अतिरिक्त किसी वाद में कानून ही नहीं होते या उनमें उतनी शक्ति नहीं होती, बल्कि उसका एकमात्र कारण यह है कि उनमें कानूनों को जनता का वह समर्थन प्राप्त नहीं होता जो कि जनतान्त्रिक समाज में प्राप्त होता है।

मनुष्य की बाह्य प्रक्रियाओं एवं आचरणों के सम्बन्ध में बनाये गये सामान्य नियमों को, जिनको राज्य पालन करा सकने की क्षमता रखता हो, क़ानून की संज्ञा दी गई है। राज्य की क्षमता या शक्ति जनता में भय उत्पन्न कर सकती है या प्रतिकारात्मक सिद्धान्त के अनुसार क़ानून की अवहेलना करने वाले को दण्डित कर उसमें भय की उत्पत्ति कर सकती है जैसा कि दण्ड-शास्त्र-विशेषज्ञों एवं अपराध मनोविज्ञानवेत्ताओं का मत है, किन्तु वास्तविक रूप में क़ानून उद्देश्य की पूर्ति नहीं कर सकता।

यद्यपि प्रत्येक नैतिकता क़ानून नहीं होती, फिर भी प्रत्येक क़ानून नैतिक होता है और उसका उद्देश्य मानव समाज को सही एवं सुगम रास्ते पर लाना तथा निर्बाध रूप से स्वतन्त्रतापूर्वक जीवन व्यतीत कराने में सहयोग देना है, किन्तु विचार इस बात का करना है कि क्या एक मात्र राज्य के सहयोग एवं कानून के गठन से ही समाज-कल्याण हो सकता है? प्रश्न तो सीधा है, किन्तु उत्तर कुछ भिन्न है।

क़ानून की सफलता के लिए मात्र राज्य की शक्ति ही नहीं, बरन जनता की सहमति एवं सहयोग भी अपेक्षित है। किन्तु जनता का सहयोग किस रूप में हो, यह भी निश्चित करना आवश्यक है। यह तो प्रायः सिद्ध है ही कि यदि कानून मानने वाला स्वयं क़ानून की उपयोगिता समझ कर उसके अनुकूल आचरण न करे तो कानून की कठोरता या राज्य का भय अथवा उसकी अन्य उपयोगिता उसे बाध्य नहीं कर सकती है।

कानून की सफलता तभी सम्भव है जबकि जनता में आत्म-चेतना हो तथा ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हों जिनके द्वारा जनता का हृदय परिवर्तित हो जाये और वास्तविक अर्थ में समाज का कल्याण हो और कानून की सफलता। जब तक जनता का हृदय परिवर्तित न हो जाये, कानून ताक़ में ही रखा रह जायेगा। उदाहरण के लिए 'शारदा एक्ट' हमारे सामने है जिसके अनुसार नाबालिग शादियों पर कानूनी नियन्त्रण लगा दिया था, किन्तु उसके बावजूद एक भी शादी रुकी नहीं और कालान्तर से वर्ग विशेष में चली आती विवाह सम्बन्धी वह प्रथा चलती ही रही और आज भी बहुत कुछ हद तक चल रही है।

भारतीय संविधान में जाति-भेद वर्जित है। स्पृश्यता अपराध व दण्डनीय घोषित हो चुकी है, किन्तु जब तक जनता जाति एवं वर्ण-भेद को अपने हृदय से न निकाल देगी; क्या यह किसी क़ानून के लिए सम्भव है कि वह उसका पालन करा सके। यदि जनता का हृदय परिवर्तित हो गया तो कानून न भी हो, तब भी समाज की कोई हानि नहीं

होगी और अभीप्सित कार्य सुलभता से हो सकेगा।

पशुओं के प्रति निर्दयता का व्यवहार अपराध है, किन्तु क्या कोई भी क़ानून किसी को दयावान् बना सकता है? उत्तर है, नहीं। जब ऐसी बात नहीं है, तब प्रश्न है कि आखिर वह कौन-सी ऐसी शक्ति है जो ऐसा कर सकती है। सूक्ष्म रूप से यदि विचार किया जाये तो पता चलेगा कि वह जनता का हृदयप-रिवर्तन ही है जो कि वास्तविक रूप में क़ानून के लिए आवश्यक है।

सबसे विचित्र बात तो यह है कि सभ्यता के विकास के साथ-साथ क़ानून का विकास एवं उनके कार्य क्षेत्र में वृद्धि होती जाती है, क्योंकि मनुष्य का आचरण एवं उसका कार्य-व्यवहार अथवा समाज के साथ उसका सम्बन्ध अधिक दृढ़ होता जाता है और मानव की बाह्य प्रतिक्रियाओं से सम्बन्धित होने के कारण कानून का भी क्षेत्र बढ़ता जाता है। किन्तु कानून के क्षेत्र में विस्तार होने मात्र से न तो समाज का कल्याण हो पाता है और न वास्तविक रूप में क़ानून का व्यवहार। यद्यपि कानून विहीन समाज की कल्पना नहीं की जा सकती और यदि की भी जाये तो उसे एक पिछड़े, आदि कालीन, असभ्य या जंगली समाज की संज्ञा दी जा सकेगी, जिसमें केवल प्राकृतिक कानून ही स्वतः लागू होते हैं। ऐसी स्थिति में जब तक कानून का पालन करने वाले समाज के व्यक्तियों के हृदय में वह विचारधारा न आ जाये कि अमुक क़ानून से उनका या उनके द्वारा दूसरे का हित है, तब तक कानून सफल नहीं हो सकता।

हृदय-परिवर्तन का कार्य कानून का विषय नहीं। हृदय परिवर्तन एक-मात्र धर्म का विषय है, जिसमें आचार एवं नैतिकता का विशेष महत्त्व है। बहुधा देखा जाता है कि जो काम क़ानून से नहीं होता या जिसका होना कानून द्वारा सम्भव नहीं, वह नैतिकता के बल पर हो जाता है। जैसे यदि किसी ने कर्ज दिया हो या किसी के यहाँ कोई पावना शेष हो और तीन वर्ष के अन्दर उसे वसूल न करने या वसूल करने सम्बन्धी कार्रवाई न करे तो कानून के अन्दर फिर वह उन धन की वसूली नहीं कर सकता, किन्तु नैतिकता ऐसा नहीं कहती। नैतिकता के अनुसार तो चाहे तीस वर्ष ही क्यों न हो जायें, कर्ज लेने वाला सदा उसे वापस करना चाहता है और कर ही देता है, जो कि क़ानून द्वारा उससे नहीं कराया जा सकता।

क़ानून किसी के साथ न तो रियायत करता है और न सहानुभूति ही रखता है। कानून को अन्धा कहा गया है जो देखता नहीं, मात्र सुनता है और साक्षी के तथा तथ्य के आधार पर निर्णय करता है, किन्तु इससे समाज का वास्तविक कल्याण नहीं हो सकता। समाज के कल्याण के लिए तो समाज के व्यक्तियों का हृदय परिवर्तित होना नितान्त आवश्यक है, जो कि कानून के न होते हुए भी नैतिकता के नाम पर किसी का अहित न होने दे।

यदि हृदय-परिवर्तन की आवश्यकता न होती तो अनैतिक व्यापार-उन्मूलन या भ्रष्टाचार-उन्मूलन क़ानून अब तक सफल हो गये होते। किन्तु केवल क़ानून की किताबों में ही उनका स्थान रह गया है और उनके पालन कराने में कार्य-कारी भूमि सघन न हो सकी। समाज की किसी कुरीति को क़ानून के सहारे तो कभी भी दूर नहीं किया जा सकता। कानून किसी कार्य को अपराध घोषित कर सकता है। उसके करने पर दण्ड की व्यवस्था कर सकता है, किन्तु वह कार्य किया ही न जाये, ऐसी कोई व्यवस्था क़ानून में सम्भव नहीं। क़ानून एक व्यक्ति को चोरी करने, बेईमानी करने या धोखा देने पर अपराध सिद्ध होने पर दण्डित तो कर सकता है, किन्तु किसी को सच्चा या ईमानदार नहीं बना सकता। सच्चाई और ईमानदारी तो उस व्यक्ति विशेष की निजी चीज है, जिसे वह स्वयं ही कर सकता है; कराया नहीं जा सकता। कानून एक व्यक्ति में भय उत्पन्न कर सकता है; दया, श्रद्धा, भक्ति अथवा सहानुभूति नहीं।

घोर-से-घोर अपराध के लिए कानून में दण्ड की व्यवस्था है और बराबर दण्ड दिया ही जाता है, किन्तु क्या आज तक किसी भी अपराध में कमी हुई या उसका उन्मूलन हुआ। आखिर युग ने दण्ड की व्यवस्था से उसकी रोक-थाम क्यों नहीं की? हत्या, डकैती, बलात्कार आदि जैसे जघन्य अपराध कम क्यों नहीं हुए? सबका एकमात्र उत्तर यही है कि उस दण्ड या उस दण्ड की व्यवस्था करने वाले कानून ने जनता के हृदय में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जो कि उन अपराधों को रोकने के लिए सहायक होता। यही कारण है कि हृदय-परिवर्तन के बिना उनमें किसी भी प्रकार का सुधार आज तक नहीं हुआ।

अब तो प्रायः यह सिद्ध हो चुका है कि बिना जनता का हृदय परिवर्तित हुए केवल क़ानून के बल पर समाज-

कल्याण नहीं हो सकता। प्रश्न यह उठता है कि हृदय-परिवर्तन का माध्यम क्या हो और दूसरा क्या तरीका अपनाया जाये जिससे समाज में हृदय-परिवर्तन को उसके कल्याणार्थ उपयोग में लाया जाये।

जैसा कि मैं ऊपर कह चुका हूँ, यह एक मात्र धर्म का विषय है और धर्म सदाचार एवं नैतिकता का क्षेत्र है। क़ानून-निर्माताओं से अधिक आवश्यकता है समाज सुधारकों की या समाज के सच्चे नेताओं की जो कि समाज को उचित मार्ग दिखला सकें और उनमें उन भावनाओं को जागृत कर सकें, जिनके द्वारा समाज का कल्याण सम्भव हो सके।

अभी हाल ही में अमेरिका की एक विदुषी महिला मिस पर्ल एस० बक का जिन्हें साहित्य पर नोबेल पुरस्कार मिल चुका है, 'नेतागिरी के सिद्धान्त' (Principles of Leadership) पर एक भाषण अमेरिकी पत्रिका में प्रकाशित हुआ था, जिसमें वास्तविक अर्थ में समाज के नेताओं के गुणों का विवेचन करते हुए महात्मा गांधी के विचारों का समर्थन किया गया था। लेखिका ने स्पष्ट रूप से समाज के सृजन एवं उसके विकास का पूर्ण दायित्व समाज के नेताओं पर ही डाला है तथा समाज को अन्धा बताया है।

इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि समाज-कल्याण किसी भी सूरत में क़ानून से उस सीमा तक सम्भव नहीं जिस सीमा तक जनता के हृदय-परिवर्तन हो जाने पर सम्भव है।

प्राचीन मिस्र और अणुव्रत

श्री रामचन्द्र जैन, बी० ए० (ऑनर्स)
संस्थापक—भारतविद्या शोध संस्थान, गंगानगर

विश्व के विद्वानों ने मूल सभ्यता के तीन प्राचीनतम केन्द्र घोषित किये है—भारत, सुमेर और मिस्र।[1] पुरातत्त्व की खुदाईयों द्वारा मिस्र के प्रकाश में आने से पूर्व आर्य यूनान को सभ्यता का अधिक प्राचीन केन्द्र घोषित किया जाता था। उन्नीसवीं शती के मध्य मिस्र की कीर्ति अपने उच्चतम शिखर पर थी! बीसवीं शती के आरम्भ में सुमेर की महान् सभ्यता प्रकाश में आई और तब यह भी ज्ञान हुआ कि सुमेर सभ्यता मिस्र की सभ्यता से अधिक प्राचीन है। सुमेर सभ्यता ने मिस्र की सभ्यता को अनेक रूपों में प्रभावित किया था। ईस्वी सन् से ३,००० वर्ष पूर्व सुमेर सभ्यता के जामदत्त—नस्र-युग और उससे पूर्व की चौकियों और चाकू के हत्थों पर जो मिस्री सजावट पाई जाती है, उसमें पशु-मानव के मिश्रित रूपों और फन फैलाये सांपों की आकृतियों का प्रमुख स्थान है।[2] ईसा से लगभग ४,००० वर्ष पूर्व के उत्तरार्द्ध में इस सभ्यता के पहले उरुक (Uruk) युग था। प्रसिद्ध सुमेर काल की बाढ़ का युग इस काल से कुछ ही पूर्व रहा होगा। इस बाढ़ से पहले ईसा से ४,००० वर्ष पूर्व के आरम्भ में सुमेर में उल-उबेद (ul-ubaid) सभ्यता फल-फूल रही थी।[3]

सुमेर को उपनिवेश के रूपों में आबाद करने वाले लोग पूर्व से आये थे। यह अर्द्ध-मानव, अर्द्ध-मत्स्य जाति ओन्नीस (Oannes) के नेतृत्व में उल-उबेद के काल में सुमेर में आई थी। उर में बाढ़ की मिट्टी के नीचे दबे एक घर में से एमेजोनाइट पत्थर के बने दो दाने मिले हैं। यह पत्थर मध्य भारत की नीलगिरि पहाड़ियों में मिलने वाले पत्थर के सदृश है। यहाँ से उपलब्ध पकाई हुई मिट्टी की तीन मूर्तियाँ,[4] जिनमें ध्यानस्थ मुद्रा में नग्न महिलाएं हैं, यहाँ आये हुए लोगों के धर्म का संकेत करती हैं। पानी से सिर बाहर निकाले और मछली की भाँति तैरने वाले तैराक मानव चतुर नाविक जाति के विद्यमान होने का संकेत करते हैं। ये वे साहसिक, कार्य पटु और दुर्धर्ष लोग थे जो कि या तो मोहन-जोदड़ो, चान्हुदड़ो जैसे निकटतम अन्तर्राष्ट्रीय बन्दरगाह से आये थे, अथवा किसी अज्ञात सिन्धु सागर या नदी बन्दरगाह से। यह स्पष्ट रूप से प्रमाणित करता है कि ये शान्तिप्रिय लोग, जो कि बाहर से आये और सुमेरियनों को जिन्होंने अपना नाम, लेखन, कृषि और उद्योग प्रदान किये और जिनके बाद कोई नई खोज नहीं की गई, चार हजार वर्ष ईस्वी पूर्व के प्रथम भाग में समुद्री रास्ते से भारत से आये थे।

प्रारम्भिक मिस्री लोग किसी काली जाति के एशियायी लोग थे।[5] हेरोडोटस (Herodotus 4th Cent. B. C.) का कहना है कि फोनिशियन लोग, जो कि मूलतः भारत महासागर के तटवर्ती प्रदेशों से आये थे। दो हजार वर्ष ईस्वी पूर्व के पूर्वार्द्ध में मिस्री और असीरियायी माल[6] लाद कर भूमध्यसागर के सुदूरवर्ती तटीय प्रदेशों में व्यवसाय करते

१ V. Gordon Childe, New Light on the Most Ancient East, 1958, p. 14.

२ H. Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East, 1954, p. 90.

३ Sir Leonard Woolley, Excavations at Ur, 1956, p. 31.

४ Ibid pp. 31, 33, 50.

५ George Rawlinson, History of Ancient Egypt; 1881, Volume I, pp. 97, 99.

६ Herodotus; This Histories, 1955, p. 13.

थे। सम्भवतः वे प्राग् आर्य भारतीय 'पाणि' लोग थे। पुन्त लोग जो कि मूलतः मिस्र को उपनिवेश बना कर वहाँ बसे थे; उनका देश या तो अरब का दक्षिणी तट था अथवा भारत। उस युग में अरब एक शामी (Semitic) क्षेत्र था और वहाँ किसी प्रकार का आध्यात्मिक धर्म नहीं था। प्राचीन मिस्रियों का आध्यात्मिक धर्म जैसे कि हम लोग अभी देखेंगे, स्पष्ट रूप से भारतीय विश्वासों से साम्य रखता है। भारत स्थित सिन्धु क्षेत्र के पुरातत्त्वीय प्रतिनिधि नगर मोहनजोदड़ो की खुदाई कराने वाले सुप्रसिद्ध विद्वान् सर जॉन मार्शल थे। उन्होंने मोहनजोदड़ो से प्राप्त अवशेषों की सुमेर से प्राप्त अवशेषों से तुलना कर यह निष्कर्ष निकाला कि यह अब तक ज्ञात सभी सभ्यताओं में प्राचीनतम है। इस निष्कर्ष में विल ड्यूराँ भी सहमत हैं।[1]

आर्य और ब्राह्मण धर्म के भारत में आगमन से पूर्व भारत में श्रमण जीवन पद्धति का प्रचलन था। अथर्ववेद के व्रात्यकाण्ड अध्याय १५ में सर्वोच्च आध्यात्मिक नेता **एक-व्रात्य** का उल्लेख है। यह पवित्रतम और उच्चतम आध्यात्मिक नेता **एक-व्रात्य** ऋग्वेद में निर्दिष्ट मुनियों और शिश्न-देवों के अग्रणी थे। वे सब उस प्राक्कालीन महान् आध्यात्मिक नेता वृषभ के अनुयायी थे, जिन्होंने आत्मा और पुद्गल के दर्शन का प्रतिपादन किया था।[2] एक मुनि या श्रमण वह है जो कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है। यही 'व्रत जीवन पद्धति' है।

आर्य-ब्रह्म व्रत शब्द का अर्थ 'क्रिया' करते थे और विशेषतः याज्ञिक क्रिया।[3] ऋग्वेद के अनुसार अनु व्रत शब्द का अर्थ अनुकूल क्रिया हो सकता है।[4] यह मत भाष्यकार सायण[5] और अनुवादक एच० एच० विल्सन[6] का है। आर्य-ब्रह्मों के विरोधी, जो कि यज्ञ विरोधी लोग थे, अव्रती अथवा अन्यव्रती थे।[7] ऋग्वेद में अणुव्रत शब्द का प्रयोग नहीं किया गया, यद्यपि वहाँ अणु शब्द का प्रयोग सूक्ष्म अर्थ में मिलता है।[8]

व्रात्य-लोग **एक-व्रात्य** के अनुयायी थे। प्रधान आध्यात्मिक नेता और गृहस्थ अनुयायियों के बीच मुनियों और शिश्नदेवों का तपस्वी वर्ग था। 'व्रत जीवन-पद्धति' दो भागों में बटी थी, प्रथम भाग में वे लोग थे जो कि व्रतों का पूर्ण रूप से पालन करते थे और दूसरे भाग में वे लोग थे जो कि छोटे-छोटे व्रतों का पालन करते थे।

महावीर स्वामी ऐसे महान् आध्यात्मिक नेता थे, जिन्होंने पार्श्व के चातुर्याम धर्म में पाँचवा व्रत जोड़ा। महावीर स्वामी ने एक आत्मा की सत्ता, उसके जन्म-पुनर्जन्म द्वारा आवागमन और अन्त में उसके पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने की बात बताई। उनकी आध्यात्मिक पद्धति का मूल आधार है—सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। कोई भी व्यक्ति पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह का पालन कर सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ये महाव्रत हैं। यही मुनि की जीवन-पद्धति है। सामान्य नागरिक इस आध्यात्मिक मार्ग का पूर्ण रूप से अनुसरण नहीं कर पाता, इसलिए वह इन्हीं पाँच व्रतों को अल्पांश में जिन्हें अणुव्रत कहा गया है, अपनाता है। उनका उद्देश्य सदा इन व्रतों के पूर्ण परिपालन

१ Will Durant, Our Oriental heritage, 1954, p. 396.

२ **ऋग्वेद ७।४।१।८; ८।३।५।१४; ७।२।४।५; ७।६।१२।६; यहाँ मैंने ऋग्वेद के 'मंडल', अनुवाक्, सूक्त और ऋक् पद्धति के वर्गीकरण का अनुसरण किया है।**

३ **ऋग्वेद, २।१।८।३; २।३।२।१२; २।४।६।३; ३।१।४।७; ३।१।७।८; ३।५।६।३; ३।५।८।१; ४।२।३।२; ५।५।१३।१; ७।१।५।४; ८।५।१०।४; ९।४।६।३ तथा अन्य अनेक।**

४ **ऋग्वेद, १।८।४।४; १।१०।१।६; ८।३।१।१६; १०।३।५।२।**

५ **ऋग्वेद संहिता, वैदिक संशोधन मंडल पूना, भाग १, पृ० २५५, ३५८; भाग ३, पृ० ६१२; भाग ४, पृ० ३९१।**

६ **एच० एच० विल्सन, ऋग्वेद, भाग १, पृ० ५०, ७७; भाग २, पृ० ४३**

७ **ऋग्वेद १।१४।५।१०; २।१।११।८; ३।५।६।८; ५।३।२।६।७; ४।२।७।७; १।७।२।११; ७।१।६।३; ७।६।१५।६; ७।५।१३।७; ८।८।१।११; ८।९।१३।२।**

८ **ऋग्वेद ९।१।१०।५; ९।५।६।३।**

की ओर बढ़ने का होता है, जिसमें कि अन्ततोगत्वा पूर्ण रूप से आत्म-सिद्धि प्राप्त हो सके। महावीर स्वामी द्वारा प्रतिपादित पाँच व्रतों को भगवान् श्री पार्श्वनाथ ने चार महाव्रतों—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, और अपरिग्रह के अन्तर्गत रखा था।[1] भगवान् पार्श्वनाथ का निर्वाण महावीर स्वामी से २५० वर्ष पूर्व अर्थात् लगभग ७७७ ईस्वी पूर्व में हुआ था।[2] इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि पार्श्वनाथ लगभग ८७७ ईस्वी पूर्व में जन्मे थे। उनकी परम्परा हमारे स्वर्णिम अतीत से बहुत पुरानी है और निश्चित रूप से यह प्राग्-आर्य युग में विद्यमान थी। वे वृषभ (ऋषभ) की मुनि और श्रमण-परम्परा के उत्तराधिकारी थे। भारत की यह मुनि और श्रमण संस्कृति प्राग्-वैदिक और प्राग्-आर्य है।[3]

क्या इस आध्यात्मिक संस्कृति का प्रभाव हमें मिस्र के लोगों पर भी दिखाई देता है ? मेरा उत्तर हाँ में है।

मिस्री लोग आत्मा, उसके आवागमन, पुनर्जन्म और अन्ततः मोक्ष में विश्वास रखते थे। जब कोई मिस्री मरता था, तो वह अपने 'का' में चला जाता था। मृत्यु के बाद यह उसका भौतिक शरीर था। जीवन काल में व्यक्ति का वास्तविक व्यक्तित्व दृश्य शरीर और अदृश्य चेतना से निर्मित था। इस दृश्य और अदृश्य तत्व को मानवी भुजाओं और मानवी सिर वाले पक्षी की संज्ञा दी गई थी। इस संज्ञा का अभिप्राय यह था कि व्यक्ति की भौतिक सत्ता यथार्थतया तिर्यञ्चों के द्वारा और आध्यात्मिक सत्ता नैसर्गिक चेतना द्वारा अभिव्यक्त की जा सकती है। इस पक्षी-मानव को 'बा' कहा जाता है। 'बा' का सामान्य रूप में अनुवाद आत्मा किया जाता है। पक्षी-मानव की यह प्रतीकात्मकता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। मिस्री लोग इस प्राणी को अत्यधिक पवित्र मानते थे। आगन्तुक एशियायी लोगों की उस मान्यता में अग्रणी थे। उनका यह विश्वास था कि जन्तुओं—पशुओं में भी दिव्यता के कुछ अंश होते हैं। उनमें भी मनुष्यों की भाँति आत्मा होती है। इस प्रतीकात्मकता से निश्चित रूप से पशु और मानव में आत्मा की एकता का प्रतिपादन होता है। यह लगभग निश्चित है कि मिस्री लोग देह और चेतना पुद्गल और आत्मा में विश्वास रखते थे।[4]

प्राचीन मिस्रियों के जीवनादर्श सर्वोत्तम प्रकार से 'ज्योति का आविर्भाव' (The Menifestation of Light) नामक पुस्तक के १२५वें प्रकरण में दिये हैं। इस पुस्तक को गलती से 'मृतकों की पुस्तक' (Book of the Dead) कह दिया जाता है। 'सत्य-कक्ष' (Hall of truth) नामक यह प्रकरण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। 'ज्योति का आविर्भाव' पुस्तक में मन्दिरों, पुरोहितों, देवताओं का प्रवेश बाद में हुआ है। इसके महत्त्वपूर्ण भागों का उद्भव बहुत प्राचीन काल में हुआ था। सम्भवतः एशियायी आगन्तुक इन सत्यों को अपने साथ लाये थे। इसके मौलिकरूप में मृत्यु के बाद आत्मा के सातत्य की धारणाएं विद्यमान थीं।[5] उनकी मान्यता के अनुसार जन्म और पुनर्जन्म की परम्परा तब तक चलती रहती है, जब तक कि कुछ रहस्यमय काल चक्र पूरे नहीं हो जाते; और तब किसी महाभाग्यवान् पुण्यात्मा को 'भगवान्' के साथ एक हो जाने का महान् आनन्द उपलब्ध होता है। इस प्रसंग में 'भगवान्' से अभिप्राय एक विशुद्ध आत्मा से है, जो सभी दृष्टियों और सभी प्रकार से पूर्ण है, सर्वशक्तिमान् है व परम आदर्श है। वह स्वप्रकाशमान् नहीं है। वह अपने-आपको विभिन्न रूपों में प्रकाशित नहीं करता। वह न तो ईसाइयों का प्रभु था, न वह आर्य ब्रह्मों का ब्रह्म। वह व्यक्ति की पवित्रतम आत्म-अवस्था थी, जिसे काल के अज्ञात चक्रों के बाद महाभाग्यवान् पुण्यात्मा जन ही प्राप्त कर सकते थे। पवित्रतम आत्मा स्वयंभू देव थी।[6] इस प्रकार हम देखते हैं कि तीन हजार ईस्वी पूर्व के आरम्भ में और उसके बाद प्राचीन मिस्रियों का अन्तिम उद्देश्य था—पूर्ण अविकल, पवित्रतम और शाश्वत व्यक्तित्व की प्राप्ति।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विश्व में भौतिकवादी आर्य जीवन-पद्धति के उदय से पूर्व भारतीय और मिस्री लोग

---

१ Uttaradhyayana Sutra 23—26; Sacred Books of the East Series, Volume 45, 1895; p. 122.

२ H. C. Roychowdhary, Political History of Ancient India, 1950; p. 97.

३ Dr. G. C. Pande, Studies in the Origins of Buddhism; 1957; p. 261.

४ J. H. Breasted; Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959; pp. 52, 55, 56, 418.

५ G. Rawlinson, History of Ancient Egypt 1881 Vol. I, pp. 39-40.

६ Ibid. pp. 314, 314 Note No. 3, 319.

मौलिक आध्यात्मिक जीवन-पद्धति का अनुसरण करते थे। सौभाग्यवश इस पद्धति के विवरण मिस्री स्मारक चिह्नों में सुरक्षित हैं। आज के युग में आचार्यश्री तुलसी वृषभ (ऋषभ) नेमि, पार्श्व और महावीर का पदानुगमन करते हुए अणुव्रत आन्दोलन के रूप में मूल आध्यात्मिक मार्ग के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर रहे हैं। मिस्री लोगों के मूल मार्ग के विवरण हमें 'ज्योति का आविर्भाव' पुस्तक में प्राप्त हो जाते हैं। इन दोनों की तुलना इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है।

'जब दिवंगत आत्मा दूसरे लोक में गई तो उसका जीवन उसके पूर्वकृत कार्यों से जाँचा गया। वह 'ओसिरिस' के सम्मुख सत्य या न्यायकक्ष में प्रस्तुत हुई, जहाँ बयालीस देवता ओसिरिस की सहायता कर रहे थे। वहाँ उससे पापाचरण के बारे में पूछा गया तो उसने स्पष्ट कहा—मैंने कभी पापाचरण नहीं किया। उसने अपने जीवन-कृत्यों के वे विवरण प्रस्तुत किये, जिनके आधार पर उसके भावी जीवन का निर्णय किया जाना था। ये प्राचीन मिस्र के ओसिरियन धर्म के मूल तत्त्व हैं। उनमें से कुछेक मुनि के पूर्ण व्रत प्रतीत होते हैं। पर अधिकांश ऐसे नहीं हैं और वे मिले-जुले प्रतीत होते है। वस्तुतः वे उस मार्ग का निदर्शन करते हैं, जिसका सामान्यतया मिस्रवासी अनुसरण किया करते थे। इनकी तुलना अणुव्रत-आन्दोलन[1] के व्रतों से की जाती है।

अहिंसा व्रत

मिस्री—१. मैंने हत्या नहीं की है।

२. मैंने हत्या करने का आदेश नहीं दिया है।

अणुव्रत—१.१ चलने-फिरने वाले निरपराध प्राणी की संकल्पपूर्वक घात नहीं करूँगा।

दोनों ही जीवन को पवित्र मानते हैं। जीवन के प्रति सम्मान की भावना दोनों की दृष्टि में मुख्य सिद्धान्त है। क्योंकि दोनों ही जीवित प्राणियों में आत्मा के अस्तित्व के होने में विश्वास रखते हैं। वे पूरे ज्ञान के साथ शरीर और आत्मा में भेद करते हैं। इस छोटे व्रत की अपेक्षा मिस्री के सिद्धान्त बहुत आगे हैं; यद्यपि मुनि के पूर्ण अहिंसा-व्रत से निश्चित रूप से पीछे हैं। यह उसके बहुत पास पहुँच जाती है।

मिस्री—३. मैंने पशुओं से दुर्व्यवहार नहीं किया है।

४. मैंने पशुओं को उनके चारागाहों से हाँक कर दूर नहीं भगाया है।

५. मैंने देवताओं के पक्षियों का शिकार नहीं किया है।

६. मैंने जलीय स्थानों में मछली नहीं पकड़ी है।

७. मैंने किसी के सामने से उसका खाना नहीं हटाया है।

अणुव्रत—१.६ (ग) पशुओं पर अति भार नहीं लादूँगा।

१.६ (ख) अपने आश्रित प्राणी के खान-पान व आजीविका का कलुष-भाव से विच्छेद नहीं करूँगा।

दोनों ही पद्धतियों में पशु-जगत में आत्मा की सत्ता स्वीकार करना सर्वाधिक महत्त्व की बात है। क्या प्राचीन मिस्री माँस-भक्षण से बचते थे? यह एक यहाँ प्रसंगानुकूल प्रश्न होगा। हम एक महान् यूनानी नागरिक क्रीट के ऑरफियम

---

१ मिस्री उद्धरणों के लिए मैंने चुना है—

(1) J. H. Breasted; Development of Religion and Thought in Ancient Egypt, 1959. p. 302-304.

(2) S. Moscati; The Face of the Ancient Orient, 1960; p. 120-122.

अणुव्रत के लिए—

(१) अणुव्रत आन्दोलन, १९६१, पृ० १३-२०

अणुव्रत आन्दोलन में व्रतों को पांच भागों में बांटा है। प्रत्येक व्रतवर्ग में विशिष्ट प्रतिज्ञाओं, व्यवहारों, नियमों औरआदेशों की संख्या दी गई है। प्रथम अंक वर्ग के शीर्षक की संख्या है और दूसरी संख्या विशिष्ट प्रतिज्ञा का संकेत करती है।

से परिचित हैं,जिसने मिस्र की आध्यात्मिक जीवन पद्धति से प्रभावित होकर यूनानी धर्म को तपस्यात्मक अंश प्रदान किये थे। ऑरफियस आत्मा और उसके आवागमन में विश्वास रखता था। ऑरफियस के अनुयायी पशु-भोजन से बचते थे। वे आत्मा, पुद्गल और आत्म-साक्षात्कार में विश्वास रखते थे।[1] यदि यह आध्यात्मिक धर्म मिस्र से क्रीट होता हुआ यूनान पहुँचा तो यह लगभग निश्चित प्रतीत होता है कि मिस्रियों के ये विश्वास पशुओं से दुर्व्यवहार न करना, पक्षियों का शिकार न करना, मछलियों को न पकड़ना, अवश्य ही माँस-भक्षण से बचने में परिणत हुए होंगे। यदि मिस्रियों से प्रभावित होकर ऑरफियस के अनुयायी माँस खाने से बचते थे, तो व्यापक रूप से प्रभाव डालने में सफल होने के कारण मिस्र के लोग अतिमात्रा में इसका अनुसरण करते रहे होंगे।

मिस्री—८. मैंने किसी को रुलाया नहीं।
९. मैंने निर्धनों के साथ अनाचार नहीं किया।
१०. मैंने किसी को रोगी नहीं किया।
११. मैंने किसी को कष्ट नहीं दिया।

अणुव्रत—अणुव्रतियों को दिए जाने वाले सात उपदेशों में से दो हैं —
शि० ४ : प्रत्येक कार्य करते हुए जागरूक रहे कि वह कोई अनुचित या निंद्य कार्य तो नहीं कर रहा है।
शि० ३ : तर्क दृष्टि से बचकर अवांछनीय कार्य न करे।
१.२. आत्म-हत्या नहीं करूँगा।
१.४. जातीयता के कारण किसी को अस्पृश्य या घृणित नहीं मानूंगा।
१.६. (क) किसी कर्मचारी, नौकर या मजदूर से अतिश्रम नहीं लूंगा।

ये अहिंसक मार्ग के विस्तार की बातें हैं, जिनकी दोनों पद्धतियाँ उपासना करती हैं। दूसरों को पीड़ा देना अथवा आत्म-हत्या, दोनों ही हिंसा हैं। आत्म-हत्या की निन्दा करके अणुव्रत एक कदम और आगे बढ़ गया है। मनुष्य मनुष्य में भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। इससे कष्ट,क्लेश, दुःख और पीड़ा का जन्म होता है। जो मनुष्यों को रुलाता है, निर्धनों का शोषण करता है, दूसरों को भौतिक यातनाएं देता है, वह निश्चित रूप में पापी है। प्राचीन मिस्रियों ने इन बुराइयों का परित्याग कर दिया था।

मिस्री—१२. मैंने किसी कलह को जन्म नहीं दिया।
१३. मेरी आवाज बहुत ऊँची नहीं थी।
१४. मैं किसी की बात छिप कर नहीं सुनता था।

अणुव्रत—१. ३. हत्या व तोड़-फोड़ का उद्देश्य रखने वाले दल या संस्था का सदस्य नहीं बनूंगा और न ऐसे कार्यों में भाग लूंगा।

दोनों ही पद्धतियों में हिंसा को एक बुराई माना गया है। युग-प्रवाह के साथ उसका बाह्य रूप अवश्य बदला होगा। उपर्युक्त अणुव्रत नियम आधुनिक प्रतीत हो सकते हैं, परन्तु उनका उद्देश्य उग्र सामाजिक कलहों को रोकना है, जिससे मिस्र के लोग भी घृणा करते थे। इसका कारण यह भी हो सकता है कि दोनों ही हृदय-परिवर्तन की कला में विश्वास रखते थे। पूर्ण अहिंसा की उपलब्धि दोनों का ही अन्तिम उद्देश्य है।

मिस्री—१५. पानी को उसके मौसम मे मैंने नहीं रोका।
१६. चलते पानी को मैंने नहीं बाँधा।
१७. जिस आग को प्रज्वलित रहना चाहिए था उसे मैंने नहीं बुझाया।

आग और पानी के प्रति भी हिंसा भाव से बचने की प्रवृत्ति से मिस्र की गहरी निष्ठा का पता चलता है कि

---

१ Bertrand Russell; History of Western Philosophy, 1954; p. 35.

प्राचीन मिस्रियों का विश्वास था कि मानव प्राणियों, जन्तु और पौधों की भाँति अग्नि और जल में भी जीवन है। उनके स्वतंत्र जीवन में हस्तक्षेप करना भी वे हिंसा मानते थे। यह जैन-धर्म मे बहुत मिलता-जुलता है। जैन विश्वास अविच्छिन्न रूप से चले आ रहे व्रत और निर्ग्रन्थ मार्ग का एकमात्र उत्तराधिकारी है, जिसकी मान्यता के अनुसार अग्नि और जल में जीवित प्राणियों की भाँति जीवन है।

इस प्रकार हमें पता चलता है कि प्रचीन मिस्रियों की दृष्टि से हिंसा एक पाप थी। वे यथासम्भव अहिंसात्मक क्रिया-कलापों में प्रवृत्त होते थे। इसी प्रकार का अणुव्रत का विश्वास है जो कि दैनिक व्यवहार में यथासम्भव अहिंसा को स्थान देने के लिए प्रयत्नशील है। दोनों ही पद्धतियों में पूर्ण अहिंसा की उपलब्धि अन्तिम लक्ष्य है।

सत्यव्रत

मिस्री—१८. मैंने झूठ नहीं बोला।
१९. मैंने सत्य के स्थान पर झूठ को स्थान नहीं दिया।
२०. सत्य वचनों के प्रति मैं बहरा नहीं था।
२१. मैं शब्दों को बढ़ा-चढ़ाकर नहीं बोलता था।
२२. मैं परिहास नहीं करता था।
२३. मैंने मिस्र देश में सदा सदाचरण ही किया।

अणुव्रत—२.१. क्रय-विक्रय में माप-तौल, संख्या, प्रकार आदि के विषय में असत्य नहीं बोलूंगा।
२.२. जान-बूझकर असत्य निर्णय नहीं दूंगा।
२.३. असत्य मामला नहीं करूँगा और न असत्य साक्षी दूंगा।
२.४. सौंपी या धरी (बन्धक) वस्तु के लिए इन्कार नहीं करूँगा।
२.५. मैं जालसाजी नहीं करूँगा।
(क) जाली हस्ताक्षर नहीं करूँगा।
(ख) झूठा खत या दस्तावेज नहीं लिखाऊँगा।
(ग) जाली सिक्का या नोट नहीं बनाऊँगा।
२.६. वंचनापूर्ण व्यवहार नहीं करूँगा।
(क) मिथ्या प्रमाण-पत्र नहीं दूंगा।
(ख) मिथ्या विज्ञापन नहीं करूँगा।
(ग) अवैध तरीकों से परीक्षा में उत्तीर्ण होने की चेष्टा नहीं करूंगा।
(घ) अवैध तरीकों से विद्यार्थियों के परीक्षा में उत्तीर्ण होने में सहायक नहीं बनूंगा।
२.७. स्वार्थ, लोभ या द्वेषवश भ्रमोत्पादक और मिथ्या संवाद लेख या टिप्पणी प्रकाशित नहीं करूँगा।

यहाँ भी हमें केवल बाह्य रूपों में अन्तर दिखाई देता है। परन्तु दोनों स्थितियों में मूल भावना एक ही है। अर्थात् हमारे क्रिया-कलापों में असत्य को कोई स्थान न रहे और प्रत्येक व्यवहार सत्यानुकूल हो। असत्य को एक बुराई माना गया है और पूर्ण सत्य को अन्तिम लक्ष्य।

अस्तेय व्रत

मिस्री—२४. मैंने चोरी नहीं की।
२५. मैंने मन्दिर की स्थायी निधि अथवा सम्पत्ति में से चोरी नहीं की।
२६. मैंने देवताओं के पशुओं की चोरी नहीं की।

अणुव्रत—३.१. दूसरों की वस्तु को चोर-वृत्ति से नहीं लूंगा

३.२. जान-बूझकर चोरी की वस्तु को नहीं खरीदूंगा और न चोर को चोरी करने में सहायता दूंगा।

मन्दिर ईश्वर का घर है। इसलिए मिस्र में ईश्वर शब्द का जो महत्त्व था, उसे हमें समझना होगा। जब पवित्र मिस्री जन्म व पुनर्जन्म के रहस्यपूर्ण चक्रों में घूमने के बाद उच्चतम परम आनन्द की स्थिति प्राप्त करता था तो वह देवताओं में अद्वितीय और देवताओं का स्वामी हो जाता था। इससे प्रतीत होता है कि ईश्वर मानव प्राणी था। मानव उपलब्धि की यह उच्चतम स्थिति नहीं थी, परन्तु ईश्वर वह व्यक्ति था जो कि सामान्य नागरिक की अपेक्षा अधिक पवित्र और श्रेष्ठ था। प्राचीन मिस्र की चित्रलिपि वाली भाषा में तीन महत्त्वपूर्ण शब्द हैं। 'अरि' शब्द का प्रयोग शत्रु के अर्थ में प्रयुक्त होता है और 'अर्सी' शब्द ईश्वर अथवा देव अर्थ में प्रयुक्त होता है। 'अरिहत्' शब्द पुरोहित नायक[1] और साथ ही सिद्ध साधु के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस 'अरिहत्' की स्थिति भारतीय मुनि के समकक्ष होती होगी। यह भी पता चलता है कि प्राचीन मिस्र में एहिक आदर्श राजपुरुष मौनी व्यक्ति होता था। विनीत कष्ट भोगी राजपुरुष नहीं; अपितु एक बुद्धिमान् स्थिर चित्त सम्यक् सुशिक्षित, निरभिमानी और अपने आप को खपा देने वाला विचारशील और दृढ़।[2] वह अद्भुत रूप से निष्कपट और विनयशील था।[3] जब सांसारिक नेताओं में ये गुण थे तो हम आध्यात्मिक नेताओं के गुणों की सहज कल्पना कर सकते हैं जो कि अपने आपको अधिक तपाने वाले थे और आत्म-त्यागी थे। पवित्रतम व्यक्ति—जो कि साधु वर्ग में श्रेष्ठतम होता है—पूर्ण उपलब्धि पर सभी देवताओं का प्रधान, देवताओं का पिता, देवताओं का निर्माता, देवताओं का स्वामी, अस्तित्व का एक निर्माता, अप्रतिम देव, देवताओं में वास्तविक सम्राट् हो जाता था।[4] इसलिए देवगण और उनमें श्रेष्ठतम पवित्रतम, आध्यात्मिक प्राणी होते थे, न कि क्षणिक या दिव्य देवगण।

मिस्री मन्दिरों के बारे में भी हमें जानकारी है। मन्दिरों के अनुष्ठान अपनी एकता के लिए उल्लेखनीय हैं। ये बहुत अधिक और अत्यधिक संगठित पौरोहित्य के पीठ थे। ये सांस्कृतिक जीवन के भी केन्द्र थे। पुरोहितों और विद्ववर्ग ने मन्दिरों को धार्मिक और बौद्धिक कार्य-कलापों का केन्द्र बना रखा था।[5] 'सत्य-कक्ष' में दिवंगत व्यक्ति द्वारा निषेधात्मक दोष-स्वीकार में हमें कहीं भी मूर्ति-पूजा का उल्लेख नहीं मिलता। इस प्रकार ऐसा प्रतीत होता है कि मन्दिर सार्वजनिक मंडप या कक्ष के रूप में जातिगत, आध्यत्मिक और बौद्धिक क्रिया-कलापों के केन्द्र थे।

मिस्रियों के चोरी से सम्बन्ध रखने वाले आचरण के मौलिक सिद्धान्त का आधार वही है जो अणुव्रत का है। अर्थात् जो किसी का अपना नहीं है अथवा समाज द्वारा उसका नहीं माना गया; उसे किसी व्यक्ति को आत्मसात् नहीं करना चाहिए। व्यक्तिगत और जातिगत सम्पत्तियों के बारे में अव्यवस्थित ढंग से आचरण नहीं करना चाहिए, अन्यथा उससे सामाजिक हिंसा को प्रोत्साहन मिलेगा।

मिस्री— २७. मैंने मन्दिरों की खाद्य वस्तुओं में कमी नहीं की।
२८. देवताओं के भोजन में मैंने मिलावट नहीं की।
२९. अनाज तौलते समय मैं कभी गलत तौल काम में नहीं लाता।
३०. तौलते समय मैंने कभी डंडी नहीं मारी।
३१. बच्चों के मुंह का दूध मैंने कभी नहीं छीना।

अणुव्रत—३.४ (क) किसी चीज में मिलावट नहीं करूंगा। जैसे दूध में पानी, घी में वेजीटेबल, आटे में सिंघराज औषधि आदि में अन्य वस्तु का मिश्रण।
(ख) नकली को असली बताकर नहीं बेचूंगा। जैसे कलचर मोती को खरे मोती बताना, अशुद्ध

---

१ S. Sankaranada, The Indus People Speak, 1955, pp. 15, 16.

२ H. Frankfort, The Birth of Civilization in the Near East, 1945, p. 90.

३ G. Rawlinson, History of Ancient Egypt.Vol. II, p. 42.

४ G. Rawlinson, History of Ancient Egypt Vol. I, p. 314, Note 3.

५ S. Moscati, The Face of the Ancient Orient, 1960, p. 118.

घी को शुद्ध घी बताना आदि।

(ग) एक प्रकार की वस्तु दिखाकर दूसरे प्रकार की वस्तु नहीं दूँगा।

(घ) सौदे के बीच में कुछ नहीं खाऊँगा।

(ङ) तौल-माप में कमी-बेसी नहीं करूँगा।

(च) अच्छे माल को बट्टा काटने की नीयत से खराब या दागी नहीं ठहराऊँगा।

(छ) व्यापारार्थ चोर-बाजार नहीं करूँगा।

३.५. किसी ट्रस्ट या संस्था का अधिकारी होकर उसकी धन-सम्पत्ति का अपहरण या अपव्यय नहीं करूँगा।

मन्दिरों में से आवश्यकता से अधिक खाद्य वस्तुएं ले लेना, उसे कम करना है और यह एक प्रकार की चोरी है। महात्मा गांधी का भी यही दृष्टिकोण था। यदि जाति के सामूहिक भोजन में मिलावट की जाती है अथवा किसी व्यक्ति की उपेक्षा के कारण हानि होती है तो यह चोरी का पाप है। व्यापार-व्यवसाय में बेईमानी सामाजिक अथवा सार्वजनिक अपराध होने के अतिरिक्त आध्यात्मिक अपराध भी है। दोनों ही पद्धतियों में चोरी को घृणा की दृष्टि से देखा गया है।

ब्रह्मचर्य-व्रत

मिस्री—३२. मैंने पर-स्त्रियों के साथ मैथुन-सेवन नहीं किया।

३३. मैंने स्त्री या पुरुष किसी को भ्रष्ट नहीं किया।

अणुव्रत—४.५. वेश्या व पर-स्त्री-गमन नहीं करूँगा।

४.४. किसी प्रकार का अप्राकृतिक मैथुन नहीं करूँगा।

४.३. महीने में कम-से-कम बीस दिन ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।

४.१. कुमार-अवस्था तक ब्रह्मचर्य का पालन करूँगा।

४.२. पैंतालीस वर्ष की आयु के बाद विवाह नहीं करूँगा।

ब्रह्मचर्य एक आध्यात्मिक गुण है। दोनों ही पद्धतियाँ ब्रह्मचर्य को एक सद्गुण मानती हैं और काम-वासना में लिप्त होना एक बुराई।

अपरिग्रह व्रत

मिस्री— ३४. मैंने लूटा नहीं।

३५. अपने अधिकार के लिए चिल्लाते को मैंने नहीं लूटा।

३६. मेरा ऐश्वर्य मेरी सम्पत्ति से बढ़ कर नहीं था।

३७. मैं अर्थपिशाच नहीं था।

३८. मेरा मन लालची नहीं था।

अणुव्रत—५.१. अपने मर्यादित परिमाण (······) से अधिक परिग्रह नहीं रखूँगा।

५.२. घूँस नहीं लूँगा।

५.३. मत (वोट) के लिए रुपया न लूँगा और न दूँगा।

५.४. लोभवश रोगी की चिकित्सा में अनुचित समय नहीं लगाऊँगा।

५.५. सगाई-विवाह के प्रसंग में किसी प्रकार लेने का ठहराव नहीं करूँगा।

धन-लिप्सा, स्वामित्व या सम्पत्ति-हरण और शोषण से बचना अध्यात्मवाद के मूल सिद्धान्त हैं। दोनों ही पद्धतियाँ इस बारे में बहुत सावधान हैं।

प्राचीन मिस्री लोग भय-मुक्ति, स्वभाव में संतुलन, देव-निन्दा और परनिन्दा की निरर्थकता, आत्म-श्लाघा और दुर्वचन से हानि, साथी नागरिकों की सहायता, वचन-कर्म में पवित्रता और मान-हानि के दुष्प्रभावों में विश्वास रखते

थे। वे देवताओं अर्थात् साधुओं को दिव्य भेंट प्रदान करते थे। ये सत्य निम्न स्वीकृति वाचक उक्तियों में निहित हैं—

३९. मैंने भय-स्थिति पैदा नहीं की।
४०. मैंने गुस्सा नहीं किया।
४१. मैंने निन्दा नहीं की।
४२. मैं फूल कर कुप्पा नहीं हुआ अर्थात् घमण्ड नहीं किया।
४३. मैंने देव-निन्दा नहीं की।
४४. मैंने देवता के लिए गर्हणीय कार्य नहीं किया।
४५. देवता ने जो कुछ चाहा, उससे मैंने उसे सन्तुष्ट किया।
४६. मैंने भूखों को रोटी दी, प्यासों को पानी दिया, नंगों को वस्त्र दिया, नाव हीन लोगों का पार उतारा।
४७. मैंने देवताओं को दिव्य भेंटें अर्पित कीं।
४८. मैं निष्कलंक मुँह और अकलुष हाथों वाला हूँ।

इन सिद्धान्तों की सामाजिक और आध्यात्मिक अन्तर्वस्तु पर किसी प्रकार की टिप्पणी की आवश्यकता नहीं है और न ही इनकी तुलना में भारतीय आध्यात्मिक पद्धति के उदाहरण देने की आवश्यकता। वे स्वयं स्पष्ट हैं।

वह मूल आध्यात्मिक विचारधारा क्या थी, जिससे ये व्यवहार निकले। सौभाग्यवश, इन स्वीकारोक्तियों में मूल आधार का स्पष्ट उल्लेख मिल जाता है। मूल सैद्धान्तिक विचारधारा थी:

४९. जो नहीं है उसे मैंने नहीं जाना।

प्राचीन मिस्री ने केवल सही ज्ञान ही प्राप्त किया अर्थात् उसने वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त किया। जिस वस्तु की सत्ता नहीं है अथवा जो वस्तु नहीं है, उसका ज्ञान प्राप्त करने में उसका विश्वास नहीं था। उसने सत्य का ज्ञान ग्रहण किया। सत्य ज्ञान जिसे हम सम्यक् ज्ञान कहते हैं। सम्यक् ज्ञान के अनुसार ही वह व्यवहार करता था। उसकी व्यावहारिक विचारधारा थी:

५०. मैं सदाचरण से जीवित हूँ, मैं अपनी अन्तः चेतना की सदाचार वृत्ति से पालित-पोषित होता हूँ।

वह सदाचार पूर्ण ढंग से रहता था। सद् व्यवहार उसके जीवन का मुख्य आधार था। बिल्कुल यही व्रत-विचारधारा, निर्ग्रन्थ-विचारधारा और जैन विचारधारा है, जिसका प्रतिपादन ऋषभ, नेमि, पार्श्व, और महावीर ने किया था। और जिसका अनुसरण आचार्य भिक्षु और आचार्यश्री तुलसी ने किया है। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र आध्यात्मिक विचारधारा के मूलाधार हैं। आध्यात्मिक मार्ग का अन्तिम लक्ष्य है—आत्मा की पूर्णता अथवा सिद्धि। प्राचीन मिस्रियों का अन्तिम लक्ष्य था:

५१. मैं निर्दोष हूँ।

वह पाप-रहित होने के लिए उपर्युक्त प्रकार से आचरण करता था। आत्मा की पूर्णता उसका आदर्श था।

संक्षेप में प्राचीन मिस्री आध्यात्मिक मार्ग का अनुसरण करता था। उसका आत्मा की सत्ता में विश्वास था। उसके आवागमन और उसके पूर्ण साक्षात्कार में उसका विश्वास था। उसके सदाचरण का आधार सम्यक् ज्ञान था। उसने अपने वैयक्तिक, सामाजिक और राजनैतिक कार्य-कलापों का इस प्रकार निर्धारण किया था कि वे मूल आध्यात्मिक मार्ग के अनुकूल हों। उसका अन्तिम लक्ष्य था—ज्ञान और शक्ति से परिपूर्ण शाश्वत और आत्म-व्यक्तित्व की प्राप्ति।

यहाँ मैंने स्थूल रूप-रेखा द्वारा प्राचीन मिस्री विश्वासों और निष्ठाओं का उल्लेख किया है और भारतीय पद्धति से उसकी तुलना की है। दोनों में असाधारण रूप से समानता है और दोनों का आधार आध्यात्मिक है। मेरा यह दृढ़ विश्वास है कि भारत, सुमेर, मिस्र और क्रीट की प्राचीन संस्कृतियाँ मूलतः आध्यात्मिक थीं। यद्यपि कुछ स्थलों पर वे बहुत सुदृढ़ थीं तो अन्य स्थलों पर शिथिल। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से इन प्राचीन संस्कृतियों का यदि अनुसंधान किया जाये और निःस्वार्थ भाव से इस कार्य को उठा लिया जाये तो इससे अद्भुत परिणाम निकलेंगे।

आध्यात्मिक जागृति का आन्दोलन

न्यायमूर्ति श्री सुधिरंजनदास

भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश, सर्वोच्च न्यायालय

अणुव्रत-आन्दोलन जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, हमको व्रती बनने को कहता है अर्थात् हम पवित्र बनने और वर्ण अथवा सम्प्रदाय का कोई भेद न करते हुए अपने को मानवता की सेवा के लिए समर्पित कर दें। वह हमें ऐसा जीवन बिताने की प्रेरणा देता है, जिससे हमारा नैतिक और आध्यात्मिक उत्थान हो और उसीसे हमारा सामान्य कल्याण हो सकता है। हमको किसी धार्मिक परम्परा का अनुसरण करने की आवश्यकता नहीं और न ही किसी बाह्य कर्मकाण्ड का पालन करना होगा। आन्दोलन का उद्देश्य हमारे हृदयों में आध्यात्मिक जागृति की भावना उत्पन्न करना है। वह उच्च और शाश्वत नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना करना चाहता है; जिन्हें स्वार्थपूर्ण भौतिक लाभों की निरर्थक खोज में दुर्भाग्य-वश हम थोड़े समय के लिए खो बैठे हैं। अणुव्रत-आन्दोलन हमको वह खतरनाक मार्ग छोड़ने का आदेश देता है, जो केवल पतन और पाप की ओर ले जाता है और हमारे सामने वह त्याग और मानवता की निस्स्वार्थ सेवा का उच्च और भव्य आदर्श उपस्थित करता है। वह हमारे जीवन के अशान्त दैनिक कार्यक्रम में सौन्दर्य और सौष्ठव लाता है जो दैवी भवन की शान्ति से ही संभव है। वह हमको करुणा और पवित्रता से परिपूर्ण जीवन बिताने को कहता है। यह पवित्रता केवल हमारे बाह्य कर्मों में ही नहीं होनी चाहिए, प्रत्युत हमारे मन के अन्तरतम विचारों में भी होनी चाहिए। वह हमारे हृदयों में विनम्रता और अपने मानव बन्धुओं के प्रति प्रेम और मैत्री की भावना उत्पन्न करना चाहता है। वह हमको सात्विक सरल जीवन अपनाने व सदाचार के सरल नियमों का पालन करने की प्रेरणा देता है। संक्षेप में मेरे विचार से अणुव्रत-आन्दोलन का यही आन्तरिक अर्थ, आशय और उद्देश्य है।

अणुव्रत-आन्दोलन हमको आत्म-चिन्तन और आत्म-निरीक्षण का अपूर्व अवसर देता है। इस आन्दोलन के अनुष्ठान से हमारे हृदय में सर्वोपरि ये प्रश्न उठने चाहिएं—मैंने अपने जीवन में बन्धुता के ध्येय को आगे बढ़ाने के लिए क्या किया? क्या मैंने अपने उन मानव बन्धुओं के आगे मित्रता का हाथ बढ़ाया, जिनको मेरी सहानुभूति और मैत्री पूर्ण सहायता की आवश्यकता थी और जो मेरे से उसकी अपेक्षा रखते थे? क्या मैंने सच्चाई से और गम्भीरतापूर्वक अपने कथित आदर्श के अनुसार जीवन बिताने का प्रयत्न किया है? क्या अपने समस्त कार्यों में उस आदर्श की पवित्रता प्रतिबिम्बित हुई है? क्या मैं शाश्वत नैतिक मूल्यों पर दृढ़तापूर्वक जमा रहा हूँ जिनको मैंने स्वेच्छा से अपने जीवन के मार्ग-दर्शक सिद्धान्तों के रूप में स्वीकार किया था? संक्षेप में, क्या मैंने अपने जीवन में उन बातों पर आचरण किया है, जिनका मैंने सभाओं और समारोहों में उपदेश दिया था? हमें इन गहरे प्रश्नों को टालना नहीं चाहिए और न यह दिखावा करना चाहिए कि हम बिल्कुल ठीक तरह से चल रहे हैं। हमें अपने को धोखा नहीं देना चाहिए। यदि हम अपने आदर्श के अनुसार जीवन न बिता सकने की विफलता के प्रति अपनी आँखें बन्द कर लेंगे तो हमारा किसी भी नैतिक आदर्श की ओर बढ़ना बिल्कुल ही व्यर्थ होगा। बहुधा ऐसा होता है कि दैनिक जीवन की दौड़धूप में हमारी दृष्टि धुंधली पड़ जाती है और हमारा आदर्श मन्द और शिथिल हो जाता है। हम क्रोध को छोड़ कर प्रेम के पीछे भागने लगते हैं। यह हो सकता है कि हममें से कुछ, अथवा अनेक या अधिकांश व्यक्ति मानव जीवन के शाश्वत मूल्यों का पालन करने में असमर्थ रहते हों, किन्तु इससे हमको निराश नहीं होना चाहिए। हमको खुले हृदय से अपनी विफलता स्वीकार करनी चाहिए, कारण तभी हम अपना सुधार कर सकेंगे। यह आन्दोलन हमको ठहरने और अपने जीवन का सिंहावलोकन करने

और यह मालूम करने का अवसर देता है कि हम अपने अन्तिम लक्ष्य की ओर कितना आगे बढ़े हैं। यदि हम करुणा और पवित्रता के राज-मार्ग से इधर-उधर भटके हैं और प्रलोभन और पाप के जंगल में अपना पथ भूल गये हैं तो हमको पीछे लौटना चाहिए और सीधा मार्ग—सही मार्ग पकड़ना चाहिए और अपने चिर अभिलषित ध्येय की ओर अपनी अनन्त यात्रा पर चल पड़ना चाहिए। यह आन्दोलन हमें सही-सही लेखा-जोखा करने की प्रेरणा देता है और यह अवसर देता है कि हम अपने आदर्श के प्रति अपनी निष्ठा पुष्ट करें और पूर्णता प्राप्त करने की अपनी शाश्वत खोज को पुनः अग्रसर करने का प्रयत्न करें। एक जैसे विचार रखने वाले बहु संख्यक लोगों का एक स्थान पर एकत्र होना हमारे विश्वासों को सुदृढ़ करेगा और हमारे संकल्प को शक्ति प्रदान करेगा। मेरे विचार से आन्दोलन का यही गूढ़ आशय और महत्त्व है।

अणुव्रत-आन्दोलन का सन्देश केवल इस उप-महाद्वीप के निवासियों के लिए ही नहीं है, प्रत्युत दुनिया के हर हिस्से में रहने वाले सभी स्त्री-पुरुषों के लिए है। अपने इतिहास के अत्यन्त प्राचीन काल से इस प्राचीन देश ने सैनिक शक्ति के मुकाबले आध्यात्मिक सत्यों का अपने जीवन के मार्ग-दर्शक सिद्धान्त स्वीकार किया है। अपने आध्यात्मिक साधनों की शक्ति से ही उसने आक्रमणों और उथल-पुथल का सामना किया है। अपने गहरे पतन के काल में भी उसने अपनी आत्मा को नष्ट नहीं होने दिया। जब मानव सभ्यता का उदय हो रहा था; जब दुनिया अज्ञान, अन्ध-विश्वास और कट्टरता के दलदल में फँसी हुई थी, तब दुनिया के इस प्राचीन देश ने संसार को सद्भावना और बन्धुता का सन्देश दिया। प्राचीन ऋषि-मुनि अपनी अरण्य कुटियों के शान्त वातावरण में रहते थे और ध्यान और चिन्तन में अपना समय बिताते थे। इस प्रकार उन्होंने जीवन के शाश्वत सत्यों का पता लगाया। हिमालय के उच्च शिखरों से उन्होंने बन्धुता का सन्देश प्रेषित किया और मानव जाति का अभिनन्दन किया। इस सन्देश में उनके विश्वासों की सच्चाई गूँजती थी। बाद के समय में भी जब शास्त्रों की खनखनाहट हो रही थी, भगवद्गीता का अमर सन्देश प्रतिध्वनित हुआ। उसके साथ यह गम्भीर आश्वासन भी प्राप्त हुआ कि संकट के समय भगवान् हमारी सहायता करते हैं।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारतः।
अभ्युत्थानमधर्मस्य सम्भवामि युगे युगे॥

"जब-जब धर्म की हानि होती है, और अधर्म का उदय होता है, तब-तब भारत में धर्म का उत्थान करने के लिए अवतार लेता हूँ।" महापुरुषों ने विभिन्न युगों में हमारी सहायता करने के लिए जन्म लिया है। भगवान् महावीर अपना अहिंसा और करुणा का सन्देश लेकर आये। भगवान् बुद्ध ने दुनिया को विश्वव्यापी प्रेम और क्षमा का सन्देश दिया। गुरु-नानक, शंकराचार्य, रामानुजम्, श्री चैतन्य, राजा राममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस और अन्य महापुरुषों ने मानव बन्धुता का उपदेश दिया। अतः यह उपयुक्त ही है कि पीड़ित विश्व को इस प्राचीन देश से मित्रता का सन्देश प्रेषित किया जाये।

दुनिया की वर्तमान अवस्था को देखते हुए अणुव्रतों का पालन विशेष महत्त्व रखता है। हम चाहे जिस ओर देखें, हमको दुनिया में अव्यवस्था, अराजकता और अन्धकार ही घिरता हुआ दिखाई देता है। अविश्वास और स्वार्थ-परता, घृणा और द्वेष राष्ट्रों पर छा गया है और उसी से वे प्रेरित होते हैं। दुनिया के हर भाग में सत्ता की उन्मत्त छीना-झपटी चल रही है। संहार के भयंकर शस्त्रास्त्रों से सारे राष्ट्र आकंठ सज्जित हो रहे हैं और एक मिनट के नोटिस पर एक-दूसरे का गला काटने के लिए उद्यत हो रहे हैं। हम विनाश और मृत्यु के कगार पर चल रहे हैं। पाप और सत्ता-लोभ के इस उन्मत्त प्रवाह से कौन बच सकता है?

हमारी दृष्टि धुँधली हो गई है और हमारे मन भ्रमित हैं। सतत भय ने हमको घेरा हुआ है। वास्तविक मूल्यों को हम बिल्कुल भूल गए हैं। प्रत्येक स्त्री और पुरुष के हृदय शोक और कष्ट मे पीड़ित हैं। मित्रता और बन्धुता की सच्ची आवश्यकता जितनी आज है, उतनी पहले कभी नहीं थी। नैतिक पतन और मृत्यु की उस अन्धकार पूर्ण घड़ी में हमको समस्त मानव जाति के आगे मैत्री का हाथ बढ़ाना चाहिए जैसा कि ऋषि और कवि ठाकुर ने अपनी कविता के अन्तिम चरण में कहा है:

मानव हृदय अशान्ति के ज्वर से पीड़ित है,
स्वार्थपरता का विष व्याप्त हो रहा है,
तृष्णा का कोई अन्त नहीं है
देशों ने अपने मस्तक पर घृणा का रक्त-टीका लगा लिया है।
उनको अपने दाएं हाथ से स्पर्श करो
उन्हें एकात्मभाव प्रदान करो
उन्हें जीवन में शान्ति प्रदान करो
सौन्दर्य की लहरें उत्पन्न करो
ओ! शान्त, ओ! मुक्त,
तेरी असीम दया और कृपा
विश्व के हृदय से अन्धकार की कालिमा को धो डाले।

मेरे विचार से अणुव्रत का भी यही सन्देश है। तो आइये, हम अपने मानव बन्धुओं के प्रति बन्धुता का हाथ आगे बढ़ाएं, चाहे वे दुनिया के किसी भी भाग में क्यों न रहते हों। पृथ्वी पर मानव बन्धुता का प्यार फूले, फले और शाश्वत शान्ति का राज्य स्थापित हो।

सुधार और क्रान्ति का मूल : विचार

मुनिश्री मनोहरलालजी

जीवन का प्रत्येक क्षेत्र भले ही वह एक व्यक्ति की क्षणिक क्रिया हो अथवा समष्टि की सम्पूर्ण गतिमयता, सब में विचारों का महत्तम स्थान है। विचार तरंग से सम्बल पाकर ही हर प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक क्रिया-कलाप, फिर चाहे वे अणुमात्र भी क्यों न हों, सम्पन्न होते हैं। विचारों का आहार किये बिना मनुष्य किसी भी प्रकार की गति और स्थिति करने में अपने-आपको पूर्णतः असमर्थ पाता है। उसका हर क्षण विचारों की भूमि पर ही खड़ा होता है। विचारों की महत्ता को स्वीकार न करना उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों का अनुभव करने में अपनी न्यूनता का परिचय देना है। सूक्ष्म भावना की अनुभूति करने के पश्चात् उसके विराट् व्यक्तित्व को समझने-परखने में किसी भी प्रकार की स्वल्पता सम्मुख नहीं आ पाती। जहाँ सुधार और क्रान्ति का प्रश्न है, वहाँ उनके मूल में विचारों का होना स्वीकार करने में किसी भी प्रकर की अड़चन उपस्थित नहीं होती। सुधार और क्रान्ति का मूल विचारों में इसलिए भी मानना आवश्यक है कि इनकी मजबूती और प्रौढ़ता के बिना उसमें असफलता का आ टपकना अत्यन्त अनिवार्य जैसा लगता है। विश्व के सुप्रसिद्ध विचारक शेक्सपियर ने एक स्थान पर लिखा है, "यदि आपके विचार मजबूत हैं तो आपके प्रयत्न कभी असफल नहीं हो सकते।" प्रयत्न मात्र के लिए विचारों की दृढ़ता का स्वीकरण कर असफलता के निरसन का पथ प्रशस्त करना लाभदायक कहा जा सकता है; पर इसमें विचारों की अनिवार्यता का समाप्तीकरण नहीं, अपितु दूसरे शब्दों में इनकी प्रमुखता ही प्रस्तुत की गई है।

विचारों की सूक्ष्मता

प्रौढ़ता तथा दृढ़ता का प्रश्न बाद में आता है और विचार सर्वप्रथम। विचारों की क्रमिक वृद्धि के साथ उनमें मजबूती और प्रौढ़ता का आना कोई अनहोनी बात नहीं है। भूगर्भ शास्त्री और आज के प्रगतिशील अन्वेषक इस बात का उद्घाटन कर चुके हैं कि धरती की सतह में जो बड़े-बड़े परिवर्तन होते हैं, उनकी गति अत्यन्त मन्थर हुआ करती है। दृश्य संसार में भूकम्पों के द्वारा होने वाले भयंकर परिवर्तनों को वैज्ञानिक सूक्ष्म परिवर्तनों की तुलना में अत्यन्त असहत्त्वपूर्ण समझते हैं। इसी प्रकार विचार मनुष्य के मस्तिष्क रूपी धरातल में प्रथमतः तथा सूक्ष्मता से कम्पन करते रहते हैं। उनका महत्त्व बड़ी-बड़ी क्रान्तियों और सुधार के रूप में प्रकट होने वाले महत् कम्पनों की अपेक्षा अधिक हुआ करता है। परन्तु इस सत्य को भी उपेक्षित नहीं किया जा सकता कि जन-साधारण उन्हीं परिवर्तनों और कम्पनों को अधिक महत्त्व देता है जो अहिंसक क्रान्तियों और भूकम्पों के रूप में अचानक फूट पड़ते हैं। सूक्ष्मता दृश्य रूप में सबके सामने बहुत स्वल्प ही आती है, पर मूल का जहाँ विश्लेषण है, वहाँ तो हमें यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि सुधार, क्रान्तियाँ और बड़े-बड़े भूकम्प भी धीरे-धीरे होने वाले परिवर्तनों एवं सूक्ष्म रूपान्तरण की ही विशद और विराट प्रक्रिया मात्र हैं।

अणुयुग में जहाँ आज जन-मानस अपने को पहुँचा पाता है, वहाँ हर स्थान पर सूक्ष्मता तथा मौलिकता की ओर क्रमशः अधिकाधिक रूप में उन्मुखता प्रकट हो रही है। हर पदार्थ के मूल तक पहुँच कर उसकी व्याख्या करने का सत्प्रयास आज सर्वत्र दृष्टिगत हो रहा है। उस स्थिति में सुधार और क्रान्ति के मूल में पहुँचने का प्रयास भी हुआ है और यह पाया गया है कि उसके मूल में प्रमुखतः विचार ही रहा है। जन-साधारण भी उसकी सूक्ष्मता तक पहुँच कर यह अनुभूति कर सकेगा। इसमें अत्युक्ति जैसा कुछ नहीं है।

विश्व की सर्वोत्कृष्ट संस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र में यह लिखा गया है कि "तमाम संघर्षों का जन्म मनुष्यों के मस्तिष्क में होता है, इसलिए शान्ति का दुर्ग भी मनुष्यों के मस्तिष्क में ही निर्मित करना होगा।" इस विधान से यह प्रकट करने का प्रयत्न किया गया है कि तलवार और अस्त्र-शस्त्र विश्व के सर्वनाश में यद्यपि साधन बन सकते हैं; पर यह भावना भी उद्बुद्ध मनुष्य के मस्तिष्क स्थित विचारों से ही होती है। इस माने में यह कहा जाना बहुत महत्त्व-पूर्ण है कि "लड़ाई मनुष्य के मस्तिष्क में है।" मस्तिष्क शब्द के उल्लेख में भी विचारों को ही प्रकट करने की भावना विद्यमान रही है।

सुधार और क्रान्ति

विचारों की पृष्ठभूमि के अन्तराल में जब हम सुधार और क्रान्ति के विषय में चिन्तन करते हैं, तब यह स्पष्ट आभासित होता है कि सुधार की अपेक्षा क्रान्ति में विचारों का विस्तार अधिक परिलक्षित होता है। स्पन्दन मात्र और स्फुट हलचल की दृष्टि से विचारों की अनिवार्यता तो दोनों में समान ही है; पर विस्तीर्णता की दृष्टि से यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि सुधार स्वल्प वैचारिक हलचल में ही सम्भव हो सकता है, पर क्रान्ति वैचारिक हलचल का विराट और विशद रूप है। दृढ़ता के साथ-साथ अनेकानेक व्यक्तियों को एक साथ संयुक्त करने की आवश्यकता दोनों में ही होती है, परन्तु परिवर्तन की मात्रा में दोनों एक-दूसरे से भिन्न हो जाते हैं। सांस्कृतिक, सामाजिक, आध्यात्मिक और राजनैतिक परिपाटी तथा तौर-तरीके में मामूली फेर-बदल करना सुधार के क्षेत्र में आता है, जब कि क्रान्ति उन परिपाटियों और तौर-तरीकों में आमूलचूल परिवर्तन कर डालती है। प्रारम्भिक अवस्था में तो सुधार मात्र करने का प्रयत्न ही होता है। पर उन-उन क्षेत्रों की बद्धमूल धारणाओं का संवाहक व्यक्ति-समूह यह सब होने देना ही नहीं चाहता, तब फिर क्रान्ति का ऐसा प्रवाह आता है जो मार्ग में आने वाली प्रत्येक बाधा को बहा ले जाता है। नये विचारों के अनुरूप नई व्यवस्थाएं बनती हैं। इस प्रकार की पुनः स्थापना को सद्यस्क तथा अग्रिम काल क्रान्ति के नाम से अभिहित करता है। इस धारणा के आधार पर सुधार की बनिस्पत क्रान्ति का महत्त्व अधिक प्रकट होता है।

प्रथम कौन ?

अब यदि विचार-क्रान्ति के मूल में जाकर यह अन्वेषण किया जाये कि सर्वप्रथम कौन-सी क्रान्ति प्रस्फुटित हुई तो इस विषय में कोई एक निश्चित उत्तर निकाल लेना असम्भव जैसा है। विश्व और ईश्वर की आदि बतलाना जितना श्रम साध्य है, उतना ही प्रस्तुत विषय का समाधान दुरूह कहा जा सकता है। तब यही कहना अधिक उपयुक्त और युक्ति संगत होगा कि विश्व की तरह ही क्रान्तियाँ भी अनादि काल से होती रही हैं और अनन्त काल तक होती रहेंगी। उन सबके विषय में जन-साधारण का ज्ञान बहुत सामान्य है। बहुत सारी ऐसी विचार-क्रान्तियाँ हो चुकी हैं, जिनका काला-तिक्रमण की दृष्टि से हमारा जानना अत्यन्त कठिन है, परन्तु ज्ञेय समय की भी अनेकानेक क्रान्तियों को हम इसलिए नहीं जानते, क्योंकि उनका महत्त्व हमारे लिए बहुत स्वल्पतम है।

प्रारम्भ से अब तक

सामाजिकता का प्रारम्भ और विस्तार विचारों तथा मौलिक धारणाओं को केन्द्रबिन्दु मान कर हुआ है। कोई भी समय मानव जाति का ऐसा नहीं रहा जिसमें वह सामाजिकता को आधार मान कर नहीं चला हो। हर युग के महापुरुषों ने चालू व्यवस्था को नया जीवन दिया, गति दी और उसे युगानुकूल ढालने का विराट प्रयास किया।

आदिम समाज व्यवस्था कैसी थी ? मनोविश्लेषकों ने इसका समाधान पितृसत्तात्मक रूप में प्रस्तुत किया है। उसका अनुशासन और प्रबन्ध परिवार के सर्वाधिक वृद्ध पुरुषों के हाथों से होता था, जो आज की परिपाटी से बहुत भिन्न था। मध्य युग में वह स्थिति अत्यन्त शिथिल हुई और उसमें कुटुम्ब का भरण-पोषण करने वाला व्यक्ति योग्यता के आधार पर सामने आने लगा। आधुनिक काल में प्रजातान्त्रिक व्यवस्था पूँजीवादी, साम्यवादी आदि नवीन रूपों में

सामाजिक मूल्यों को आत्यन्तिक परिवर्तन प्रदान कर रही है। मार्क्स, लेनिन, फ्रायड के विचारानुसार आज का समाज है, यह भी कह सकना कठिन है। चिन्तन-प्रकार इन सब शृंखलाओं से भी आगे बढ़ रहा है, उसमें कुछ वैशिष्ट्य भी दृष्टि-गोचर हो रहा है। सामाजिक व्यवस्थाएं युगों के थपेड़े खा-खाकर परिवर्तित हुई हैं तथा होती जा रही हैं। उसके मुख्य स्तम्भों में से एक विवाह को ही लीजिये। वह सामूहिक बहु पतित्व, बहु पत्नित्व, एक पतित्व और एक पत्नित्व आदि विविध रूपों में से गुजरता है। जीवन की अनिवार्यता के साथ समाज में चाहे उसका नामांकन कुछ भी रहा हो और रहे, पर उपयोगिता समाप्त नहीं होती। निर्बलता से भीने विचार मनुष्य को हर क्षण समूह में रहने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। वह सम्पूर्णतः इसी आधार पर टिका है कि वह स्व-कृत और अधिक मजबूत इकाईयों में बँधता जाये। उसी के अग्रिम रूप हैं—छोटे-बड़े राज्य।

राजनैतिक विचार-क्रान्ति

मनुष्य की सामाजिक धारणा ने ही विकास करते-करते राज्य-संस्था का प्रसूतीकरण किया है। आर्थिक और धार्मिक आवश्यकताओं को ग्रहण कर मनुष्य के चिन्तनशील मस्तिष्क ने परिवार, सम्प्रदाय तथा सामूहिक उत्पादन जैसी अनेक संस्थाओं को जन्म दिया है। सुरक्षा और नियमबद्धता की भावना ने ही सामाजिक भावना का सहारा लेकर राज्य का रूप ग्रहण कर लिया। इसमें तथा अन्य संस्थाओं में भेद-रेखा मात्र इतनी ही है कि राज्य एक सर्वोत्कृष्ट और सार्वभौम प्रभुता-सम्पन्न संस्था है जिसके सामने अन्य संस्थाओं का महत्त्व बहुत स्वल्प है। पर राजनीति का जहाँ प्रश्न है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि इसका अंश हर संस्था में विद्यमान रहता है। वहाँ होने वाली हर उथल-पुथल और परिवर्तन के मूल में जो विचार रहते हैं, उनको कठोर भाषा में राजनीति या कूटनीति के नामों से अभिहित किया जाता है। किसी भी प्रकार का संचालन या शासनतन्त्र, वह फिर स्वल्प मात्रा में भी क्यों न हो, नीतिमूलक ही होता है। उसमें भेद नीति तक का समावेश हो जाता है। पर इनका महत्त्व तब गौण हो जाता है जब उससे अधिक सत्तात्मक संस्था या राष्ट्र का प्रश्न आ उपस्थित हो जाता है। राजनैतिक विचार क्रान्ति के नाम से ही अभिहित किया जाता है जो बहुत विराट रूप में प्रकट होता है। हर काम में राजनैतिक क्रान्तियाँ होती रही हैं जो आकार में कभी बड़ी रही हैं, कभी छोटी भी। आज की स्थिति में पुरातन राज्य क्रान्तियाँ बहुत छोटी-छोटी रही हैं, पर उनके मूल में विचारों का माहात्म्य स्पष्ट लक्षित किया जा सकता है। उसमें राज्य-प्राप्ति तथा अन्य अनेक कारणों के साथ अपने अनुकूल और बद्धमूल विचारों के आधार पर उसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन करने का लक्ष्य रहा है। अनेक सहस्राब्दियों पूर्व राम-रावण युद्ध, कंस-कृष्ण युद्ध अथवा पाण्डव-कौरव युद्ध, विराट राजनैतिक उथल-पुथल के कारण बने थे, उसी प्रकार शताब्दियों पूर्व मुसलमानी और अंग्रेजी राज्य संस्थापन के लिए किये गए युद्ध भी बड़े पैमाने पर राजनैतिक उथल-पुथल करने वाले सिद्ध हुए। निकट भूत में हुए दो विश्व युद्धों के बाद भी बड़े-बड़े राजनैतिक परिवर्तन हुए हैं। वर्तमान में भी विश्व की राजनीति में एकतन्त्र या प्रजातन्त्र के नाम से अथवा साम्यवाद के नाम से कशमकश चल रही है। इन सबमें एक निश्चित विचारों का आधार रहा है।

प्रस्तुत प्रकरण में इन सबका विशद विवेचन करने से अधिक लक्ष्य एक ऐसी उदात्तता का दिग्दर्शन कराना है, जिससे यह स्वीकार किया जा सके कि विचारों को लक्षित किये बिना कुछ भी नहीं किया गया। यह निर्विवाद सत्य है कि बड़े-बड़े युद्ध और राजनैतिक क्रान्तियों का दृढ़ आधार विचारों की भूमिका पर ही रखा गया। एक ओर भयंकर नर-संहार जहाँ साधारण मनुष्य के हृदय को आन्दोलित कर देता है, वहाँ दूसरी ओर इस रौरवता में भी एक वैचारिकता का आनन्द अनुभव किया जाता रहा है। यद्यपि इतनी बीभत्सता में विचार-क्रान्ति का होना अनहोना जैसा लगता है, पर फिर भी यह सब इतिहास का सत्य है।

आध्यात्मिक विचार-क्रान्ति

अध्यात्म जीवन में शान्त वातावरण की उपलब्धि कराने का लक्ष्य लेकर चलता है, पर उसमें विशिष्टता और

अविशिष्टता की दृष्टि से भिन्नत्व भी है। प्रारम्भ काल के धार्मिक क्रिया-कलाप आज की स्थिति में पहुँचकर अनेक सम्प्रदायों को उद्‌भूत कर चुके हैं। सामाजिक वातावरण की तरह अध्यात्म भी बहुत पूर्व से मानव को एकत्व में बाँधता आया है। यद्यपि आज उसके अनेक भेद-प्रभेद हो गये हैं, फिर भी मौलिकता की दृष्टि से शाश्वत तत्त्व सबके एक हैं। व्याख्या-भिन्नता ने अध्यात्म में समय-समय पर नई रोशनी प्रस्फुटित की है, विभिन्न धार्मिक क्रान्तियों का आधार भी यही रहा है। जैन, बौद्ध, वैदिक, इस्लाम,यहूदी, ईसाई आदि न जाने कितने छोटे-बड़े धर्म संघों का अस्तित्व हमारे सामने है, जो विचारों की प्रौढ़ता लेकर चले और उन्होंने आगे के लिए भी सामूहिक रूप से विचार-परिवर्तन का मार्ग प्रस्तुत किया।

संकल्प और विचार

इस तरह हम पाते हैं कि हर क्षेत्र में सुधार अथवा क्रान्ति का मूल विचार ही रहा है। यद्यपि कुछ शक्तियाँ ऐसी भी हैं जो विचारों से पूर्व जन्म लेती हैं और मनुष्य को कार्य प्रवृत्त करती हैं। पर उनमें जब तक वैचारिकता का योग नहीं हो जाता, तब तक वे अपने रूप को निर्णीत अथवा सुव्यवस्थित नहीं कर पातीं। मान लीजिये किसी बालक ने मिठाई देखी और उसे सहज भाव से मुँह में रख लिया। उसे वह मीठी लगी, अतः उस वस्तु के विषय में उसके मन में एक संकल्प ने जन्म लिया। अब वह जब कभी वैसी वस्तु देखता है, तब उसी संकल्प के बल पर उसे खाने को ललचाने लगता है। आगे चल कर वह संकल्प दृढ़ से दृढ़तर होता जाता है। इस उदाहरण से जहाँ यह ज्ञात होता है कि पहले-पहल सहज भाव से किये गए कार्य द्वारा संकल्प उत्पन्न होता है, वहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उस संकल्प को सुव्यवस्थित करने के लिए विचार की नितान्त अपेक्षा है। बालक जब संकल्प—संस्कारों से प्रेरित होकर मिठाई खाने को ललचाता है, तब प्रत्येक बार उसके मन में उस वस्तु के प्रति कुछ-न-कुछ अव्यक्त विचार भी जमते रहते हैं। जब वह अधिक स्पष्ट विचार करने में समर्थ होता है, तब उस संस्कारजन्य प्रक्रिया में अनेक परिवर्तन करने लगता है। कौन-सी मिठाई खानी चाहिए, कितनी खानी चाहिए, कब खानी चाहिए ? इन सबका निर्णय वह अपनी विचार शक्ति के आधार पर ही करता है। संकल्प-संस्कार मनुष्य के लिए उस जंगल के समान उगते हैं, जो किसी व्यवस्था के अभाव में हर किसी प्रकार की आकृति ग्रहण कर लेते हैं। विचार उन्हें सुन्दर उद्यान का रूप देता है जो कि काट-छाँट कर सुव्यवस्थित रूप से लगाया जाता है। दूसरी बात यह भी है कि यहाँ सुधार और क्रान्ति के मूल की बात प्रस्तुत है न कि संस्कारों के उद्‌भव सम्बन्धी प्रक्रिया की। इस स्थिति में विचारों की मौलिकता स्वयं सिद्ध है। कोई भी सुधार अथवा क्रान्ति उनके अभाव में असम्भव है। मूल के बिना वृक्ष की कल्पना ही कैसे की जा सकती है !
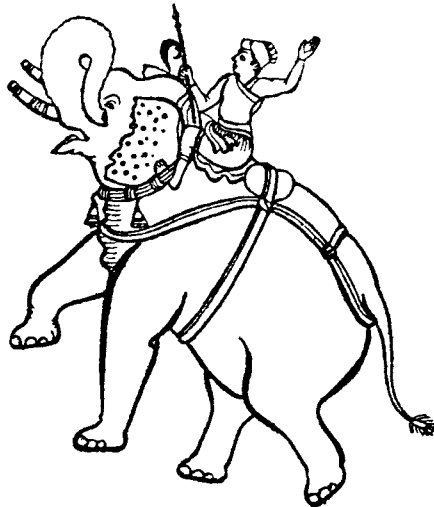
नैतिक संकट

श्रीकुमार स्वामीजी
नव कल्याण मठ, धारवाड़ (मैसूर राज्य)

बकल ने अपनी पुस्तक 'हिस्ट्री ऑफ सिविलिजेशन' में एक पूरा अध्याय इस बात की वकालत में लिखा है कि प्रगति का मुख्य कारण बौद्धिक है न कि नैतिक। वह नैतिक कारणों के प्रभावों को इस आधार पर न्यूनतम बताता है कि नैतिकता के महान् सत्य स्पष्ट रूप से पहचान लिये गए हैं और दीर्घ काल से अपरिवर्तित रूप से विद्यमान हैं। पृ० १३७ पर वह लिखता है, "जिन महान् मतों और सिद्धान्तों से नैतिक प्रणालियों का गठन हुआ है, उन प्रणालियों से संसार में न्यूनतम परिवर्तन हुआ है और यह एक निर्विवाद तथ्य है। दूसरों की भलाई करो, उनके हित में अपनी कामनाओं-इच्छाओं का बलिदान कर दो, अपने पड़ौसी से अपनी भाँति प्रेम करो, शत्रुओं को क्षमा कर दो, वासनाओं पर नियन्त्रण रखो, माता-पिता का आदर करो, जो तुम्हारे ऊपर है उनका सम्मान करो, ये तथा अन्य कुछ नैतिकता के एकमात्र सार हैं; परन्तु ये हजारों वर्षों से ज्ञात हैं और नैतिकतावादियों और धर्मतत्त्वज्ञों ने जितने प्रवचन, धर्मोपदेश और ग्रन्थ तैयार किये हैं उन्होंने इसमें लेशमात्र भी वृद्धि नहीं की।" बकल ने जिस उद्देश्य से यह टीका-टिप्पणी की है, वह कितनी अपर्याप्त है, यह स्वयं स्पष्ट है। नैतिक सत्य चाहे हजारों वर्षों से ज्ञात हो, फिर भी क्या उनका पालन भी उतने ही उत्साह से किया गया है। यदि सदियों से सामान्य सिद्धान्त स्वीकार किये जाते रहे हैं तो क्या उनके विशिष्ट प्रयोग को लेकर किसी प्रकार के विवेक का विकास नहीं हुआ? नैतिकता के विवरण के बारे में बकल का यह उद्धरण नितान्त अपूर्ण है।

नैतिक दृष्टिकोण में परिवर्तन का मुख्य कारण विकासवाद का सिद्धान्त है। डार्विनवाद की आचारशास्त्र पर मुख्य रूप से दो प्रकार से प्रतिक्रिया हुई है और यद्यपि इन दोनों विचार-शैलियों की प्रवृत्तियाँ एक-दूसरे के विरोधी हैं, फिर भी प्रायः एक ही लेखक नैतिक अविश्वास उत्पन्न करने के लिए दोनों का उल्लेख करता है और दुहाई देता है। प्रथम है—परार्थवादी आचारशास्त्र और अस्तित्व के लिए सिद्धान्तों में सुपरिचित विरोध। टैनिसन के अनुसार प्रकृति उन नैतिक नियमों के विरुद्ध आक्रोश प्रकट करती है, जिन्हें बकल ने न केवल स्थिर माना है, निश्चल भी माना है। हक्सले ने हमारे सामाजिक आदर्शों और संगठनों को ब्रह्माण्ड सम्बन्धी प्रक्रिया की एक प्रकार की अवज्ञा माना है। मानव उन आचार-सम्बन्धी उद्देश्यों का अनुसरण करता है, जिनकी प्रकृति पुष्टि नहीं करती। इसलिए नैतिकता अप्राकृतिक है, विश्व में एक छोटा-सा मानव-प्रदर्शन है और विश्व इसकी रत्ती भर भी चिन्ता नहीं करता। दूसरी विचारधारा ब्रह्माण्ड-संघर्ष में परार्थवादी नैतिक सिद्धान्तों को भी मान्यता प्रदान करती है। हेनरी ड्रमंड अस्तित्व के संघर्ष में मातृ-प्रेम के महत्त्व को एक तथ्य रूप में प्रस्तुत करता है। क्रोपाटकिन ने उसी संघर्ष में सहयोग की नीति पर जोर दिया है। इस प्रकार यह प्रतीत होता है कि विकासवाद में सदाचार आदि अन्य गुणों को भी स्थान है। परन्तु इस प्रकार मातृ-प्रेम और पड़ौसी-भाव को जो मान्यता प्रदान की जाती है, आखिर वह समूल विनाश के बाद प्राप्त विजय है। क्योंकि वे चरम धर्म नहीं हैं। वे अब भी आत्म-रक्षण की भावना की अधीनस्थ भावनाएं हैं। वे अपने-आप में भली वस्तुएं नहीं हैं, अपितु इसलिए ठीक हैं, क्योंकि वे व्यक्ति या वर्ग के जीवन-धारण में सहायक होते हैं। इस दृष्टिकोण से सभी नैतिक नियम और व्यवस्थाएं सापेक्षित हो जाती हैं। विकासवाद को पहले यह सिद्ध करना है कि हमारी आचार व्यवस्थाएं और आदर्श अप्राकृतिक हैं और इस प्रकार केवलमात्र आत्म-निष्ठ हैं अथवा केवलमात्र हमारे अपने हैं; और दूसरी बात यह है कि वे नितान्त स्वाभाविक हैं और अस्तित्व के संघर्ष का परिणाम हैं, इस प्रकार विशुद्ध सापेक्ष हैं। इनमें से किसी भी स्थिति में हम

नैतिक अविश्वास के क्षेत्र में पहुँच जाते हैं।

बर्ट्रेण्ड रसेल श्रेयस् के मानवी आदर्शों को प्रकृति की उपेक्षा या विरोध भाव की स्पष्ट आशंका के साथ प्रकटतः आरम्भ करता है। 'मिस्टिसिज्म एण्ड लाजिक' की भूमिका में वे लिखते हैं कि वे हिताहित की वास्तविकता के बहुत अधिक कायल नहीं हैं। इसी ग्रन्थ में वे इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस प्रकार की भावनाएं मानव वर्गों के अस्तित्व और सत्ता के संघर्ष से उत्पन्न होती हैं। वे विशुद्ध रूप से मानव इतिहास का अंग हैं और बाह्य वास्तविकता की प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डालतीं। वे बहुत गहरी सहज-प्रवृत्तियों और चलायमान अस्थायी इच्छाओं का परिणाम हैं। रसेल के विचार से जीव-विज्ञान-सम्बन्धी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समाज आचार शास्त्रीय धारणाएं बनाता है और उन्हें लागू करता है। वे अस्थायी हैं, इसलिए उनका संशोधन किया जा सकता है। उसका यह भी कहना है कि यूथचारी पशु अपने यूथ के हितों को न्याय के सामान्य सिद्धान्तों के साथ समझता है। अर्थात् सामान्य सिद्धान्त यूथ-वृत्ति की नैतिकता से स्वतन्त्र रूप में विद्यमान रहते हैं और परिणामतः उन्हें यूथ-वृत्ति की नैतिकता में न तो ढूंढ़ा जा सकता है और न उनकी इससे व्याख्या की जा सकती है। यूथ-वृत्ति की प्रेरणाओं और आचार-सम्बन्धी सही भावनाओं के बीच जो बड़ी दरार है, वह स्पष्ट है और दोनों परस्पर असंबद्ध हैं। यदि आचार-नीति केवल हमारी वर्तमान इच्छाओं और भावनाओं का ही परिणाम है तो श्रेयस् और काव्य में अन्तर करने में हम कैसे समर्थ हो सकते हैं? यदि आचारनीति अपनी प्रकृति और अपने स्रोत की दृष्टि से हमारी नैसर्गिक कामनाओं से पृथक् नहीं है तो विवेकपूर्वक भावनाओं और वासनाओं पर आवरण डालना असम्भव हो जायेगा। यह स्पष्ट है कि आचार नीति केवल नैसर्गिक प्रवृत्ति का परिणाम नहीं है।

परन्तु बर्ट्रेण्ड रसेल का सम्पूर्ण सामाजिक दर्शन एक ऐसी निष्ठा की वकालत करता है, जिसमें अलौकिकत्व का पुट है। 'प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल रिकंस्ट्रशन' का एक अन्तिम उत्कृष्ट उद्धरण देखिये—'संसार को एक ऐसे दर्शनशास्त्र अथवा धर्म की आवश्यकता है जो कि जीवन को आगे बढ़ा सके। पर इस जीवन-प्रवर्तन के लिए यह आवश्यक है कि केवल जीवन के अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु का महत्त्व भी समझा जाये। केवल जीवन के लिए जीवन पशु-जीवन है, जिसका कोई वास्तविक मानवी मूल्य नहीं है, जो कि मनुष्य को दुःख और असारता की भावना से सदा के लिए मुक्त रखने में असमर्थ है। यदि जीवन को पूर्ण मानवी बनना है तो इसे किसी उद्देश्य से कार्य करना चाहिए, ऐसा उद्देश्य जो कि कुछ अर्थों में मानवी-जीवन से बाहर का हो, जो कि अवैयक्तिक हो और मानवता से ऊपर हो। उदाहरणार्थ—भगवान् अथवा सत्य अथवा सौन्दर्य। जो लोग जीवन को सर्वोत्तम ढंग से आगे बढ़ाते हैं, उनका जीवन अपने प्रयोजन के लिए नहीं होता। इसकी बजाय उनका उद्देश्य होता है जो कि क्रमिक अवतरण प्रतीत होता है, हमारी मानवी सत्ता में कुछ ऐसी वस्तु उतरती है जो कि शाश्वत है, कुछ ऐसी वस्तु जो कि स्वर्ग में वास करती प्रतीत होती है और वह संघर्ष, असफलता और काल के सर्वभक्षी जबड़ों से बहुत दूर है। इस शाश्वत विश्व के साथ यह सम्पर्क शक्ति प्रदान करता है और मौलिक शान्ति प्रदान करता है, ये शक्ति और शान्ति हमारे ऐहिक जीवन के संघर्षों और प्रकट असफलताओं से भी नष्ट नहीं हो सकतीं।'

मनुष्य जब समुदाय में रहता है तो उसे सबके हित में बहुत से स्वार्थपूर्ण मनोवेगों को दबाना पड़ता है। युद्ध के समय अपने कैम्प की रक्षा के लिए नियत संतरी को रात के समय सबके हित को ध्यान में रखते हुए अपनी सोने की इच्छा का बलिदान करना पड़ता है। इस प्रकार कर्तव्य का उदय होता है, यह कार्य प्रायः रुचि के विपरीत होता है, परन्तु समुदाय या वर्ग के हित में उस कार्य की पूर्ति की आशा की जाती है। व्यक्तिगत जीवन में इस कर्तव्य भावना का अनुभव करना पड़ता है, यह भावना लोकमत की पसन्दगी अथवा नापसन्दगी से पैदा होती है, जिसमें या तो समाज से अथवा भगवान् से मिलने वाले दण्ड का भय रहता है अथवा पुरस्कार प्राप्त होने की भावना रहती है। कानून और शासन सत्ता के दण्ड के भय से मनुष्य कहता है, 'यह करना ही है', परन्तु जब इस बाह्य दण्ड विधान और लोकरुचि अथवा अरुचि की चेतनता के साथ मानव की मूल प्रकृति के अन्तर्गत नैसर्गिक सहानुभूति और प्रेम भावना भी जुड़ जाती है तो 'यह करना ही है' 'करना चाहिए' में बदल जाता है। अन्ततः एक चरित्र उभरता है, जिसका अभिप्राय होता है कर्तव्य के अनुकूल आचरण के लिए किसी व्यक्ति पर निर्भर किया जा सकता है, अर्थात् वे ही कार्य किये जाते हैं, जिन्हें ठीक समझा जाता है और उनसे बचा जाता है, जिन्हें ठीक नहीं माना जाता। इसी मार्ग से ही मनुष्य स्वतन्त्र नैतिक कर्ता बन पाता है;

जब यह नैतिक व्यवहार सामाजिक नैसर्गिक प्रवृत्तियों का स्थान ले लेता है तो यह विकास की दिशा में एक जोरदार कदम का आगे बढ़ना है। इस प्रकार जब तर्कशील प्राणी क्रियाकलापों की उपयुक्तता के बारे में सोचना शुरू करता है और उच्च मूल्यों की वस्तुओं को चुनना शुरू करता है तो माता पृथ्वी पर चारित्रिक मूल्यों के नये वर्ग का अवतरण होता है। तब स्वतन्त्र व्यक्तित्वों का जन्म होता है, जिन्हें अधिकार और कर्तव्य दोनों का पूर्ण बोध होता है, जो जीवन के मूल्यों में भेद कर सकते हैं और स्वतन्त्र रूप से चुनाव कर सकते हैं। प्रथम बार यह चरित्र बनना सम्भव हो पाता है, जिस पर भारतीय दार्शनिक बहुत बल देते हैं और कहते हैं विश्व में चरित्र अथवा सद्भाव से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है।

भारतीय दर्शन की सभी पद्धतियाँ आध्यात्मिक उपलब्धियों के उपक्रम के लिए आचार की तैयारी पर जोर देती हैं। योगशास्त्र यम-नियम के पालन का आदेश देता है। यम में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह आते हैं, इन्हें महाव्रत कहा जाता है। इन सबमें मुख्य है—अहिंसा और सभी गुण इसमें समा जाते हैं, ऐसा कहा जाता है। नियम हैं—बाह्य और अन्तः शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान। मूल सहज वृत्तियाँ नियन्त्रित करने के लिए योग तीन मार्ग बताता है और वे हैं : निराकरण, स्थानापत्ति और उन्नयन। प्रथम के अनुसार जब कभी अवांछनीय मनोवेगों से मन आक्रान्त होता है तो यह उन्हें बाहर निकालने का अथवा उनके निराकरण का प्रयत्न करता है। बाद में जब कभी किसी विशिष्ट आवेग की प्रबल धारा प्रवाहित होती है तो उसके प्रभाव को समाप्त करने के लिए मन एक अन्य विरोधी आवेग से उसे स्थानान्तरित करता है। योग का चरम लक्ष्य है—हमारी प्रकृति के तत्त्व का पूर्ण रूपान्तर कर देना।

सभी नैतिक व्यवहारों का उद्देश्य है, ऐसी सामाजिक व्यवस्था जिसमें प्रत्येक वर्ग के सदस्य को अपने कार्यों के लिए समुचित क्षेत्र उपलब्ध हो और वर्तमान तथा भावी पीढ़ी के किसी भी वर्ग के अन्य सदस्य के इसी प्रकार के अधिकार का बिना उल्लंघन किये आत्म-प्रत्यक्षीकरण का पूर्ण अवसर प्राप्त हो। इस स्थापना से समाज की सुव्यवस्थित एकता, चारित्रिक मूल्यों की सर्वोच्चता और समाज में व्यक्ति के आत्म-प्रत्यक्षीकरण के सिद्धान्त की स्थापना में बहुत अधिक सहायता मिलती है। इस बात की सम्भावना है कि हम कुछ समय बाद चारित्रिक मूल्यों पर अधिकाधिक जोर दें; इसका कारण यह है कि संसार में लोगों की भीड़ बढ़ती जा रही है, भौगोलिक विस्तार अब सम्भव नहीं है, प्रत्येक महाद्वीप में राष्ट्रों की भीड़-भाड़ हो गई है और एक-दूसरे के साथ शान्ति और मेल-मिलापपूर्वक एक साथ रहना अधिकाधिक कठिन होता जा रहा है। राष्ट्र एक-दूसरे के साथ धक्का-मुक्की कर रहे हैं और राष्ट्रों के अपने अन्दर विभिन्न दल एक-दूसरे के साथ उलझ रहे हैं। युद्ध के समय अथवा गृह-संघर्ष अथवा राजनीतिक उथल-पुथल के समय उन मूल्यों के विकास का लगभग अवसर नहीं होता, जिनकी आत्म-प्रत्यक्षीकरण के लिए आवश्यकता होती है—वे मूल्य बौद्धिक, सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न (सुरुचिपूर्ण) और विनोदात्मक होते हैं। लोगों और राष्ट्रों का मेल-मिलाप के साथ रहने का एकमात्र रास्ता है—चारित्रिक मूल्यों को अपना लेना, अर्थात् सहयोग, न्याय, कानून के प्रति आदर भावना, आत्म-संयम और आत्म-निग्रह को ग्रहण कर लेना। हमारे आधुनिक आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन में अनेक परिस्थितियाँ इस प्रकार मिल-जुल गई हैं कि उत्तरदायित्व की भावना ढीली पड़ गई है और व्यक्ति की अपने ऊपर नियन्त्रण रखने की आवश्यकता पूरी तरह अनुभव नहीं की जाती।

अब प्रश्न उठ खड़ा होता है जबकि अपराधी कानून की पकड़ से बच निकलते हैं, जबकि लोकमत उपेक्षाभाव बरतने लगा है, जबकि भावी जीवन में विश्वास की भावना शिथिल हो गई है तो समाज का क्या बनेगा ? इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट है। उन यूथचारी पशुओं का क्या होगा यदि उनकी सहज वृत्तियाँ काम करना बन्द कर दें ? यह वर्ग अथवा सम्पूर्ण वर्ग का वर्ग समाप्त हो जायेगा। जिन आदिम लोगों में सामाजिक नैतिकता खत्म हो गई, उनका क्या हुआ ? वह वर्ग या तो बिल्कुल समाप्त हो गया अथवा उन पड़ौसी वर्गों में लीन हो गया जिनकी नैतिकता समाप्त नहीं हुई थी। यदि आचार सम्बन्धी कानूनों का, जिन्हें अनुभव से सामाजिक कल्याण के उपयुक्त पाया गया है, पालन बन्द हो जाये तो हमारे आधुनिक सामाजिक वर्गों का क्या बनेगा ? परिणाम सामाजिक विघटन होगा। जब तक समाज का हृदय अदूषित और स्वस्थ है, अपराधियों की उपयुक्त व्यवस्था की जा सकती है; परन्तु जब सम्पूर्ण समाज ही भ्रष्ट हो जाये तो सामाजिक संगठन का असफल हो जाना अनिवार्य है। यह हमारी अपनी सभ्यता के सम्भावित भविष्य को भी सीधा प्रभावित करेगा।

हमारे अत्यधिक जनाकीर्ण आधुनिक राज्यों जैसी स्थिति इतिहास में हमें उपलब्ध नहीं है। पुराने जमानों में जब सामाजिक नैतिकता का पतन होता था, तो सुदृढ़ और शक्तिशाली पुरुष उस समय नये रक्त का संचार करते थे और कठोर अनुशासन स्थापित करते थे। यदि अब सामाजिक नैतिकता का पतन हो जाये, यदि स्वस्थ जीवन बिताने के नियमों की उपेक्षा का सामान्य चलन हो जाये, तो भावी अन्धकारपूर्ण युगों को नये और अच्छे युग में परिवर्तित करने के लिए बीज विद्यमान हैं? मुझे भय है कि यह पुनरुज्जीवन बहुत मन्द होगा।

परन्तु सामाजिक नैतिकता के पतन की सम्भावना नहीं है। क्योंकि समाज को पुनरुज्जीवन प्रदान करनेवाली ऐसी शक्तियाँ विद्यमान हैं जो कि पहले जमानों में अज्ञात थीं। दो महायुद्धों के बाद से निस्सन्देह सामाजिक नैतिकता का स्तर बहुत नीचे आ गया है। यह संसार अपव्ययियों और घूँसखोरों, स्त्रियों के लुटेरों, कानून तोड़ने वालों, घरों को नष्ट करने वालों, शान्ति और न्याय के विरोधियों से भरा पड़ा है। परन्तु एक नई सामाजिक चेतना का उदय हो रहा है। व्यक्तियों में, वर्गों में और राज्यों में, पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में नये मूल्यों और दृष्टियों का आविर्भाव हो रहा है। इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि संसार की नैतिक प्रगति में संकट उत्पन्न हो गया है। परन्तु यह संकट अनिवार्य है, ऐसा निश्चितता से नहीं कहा जा सकता। राष्ट्रों की प्रतिद्वन्द्विता और वर्ग संघर्ष से ऊपर, युद्ध से उत्पन्न घृणा सन्देह और भय से ऊपर एक चिन्तनप्रधान विचारणा है जो कि मन्द परन्तु असंदिग्ध रूप से जीने के अधिक प्रशस्त मार्ग का दर्शन करा रही है। ऐसे हजारों सच्चे स्त्री-पुरुष हैं जो कि स्पष्ट रूप से यह समझते हैं और ऐसे कुछ महान् नेता हैं जो कि यह देख रहे हैं कि प्रगति का मार्ग धार्मिकता, न्याय और सहयोग में निहित है।

एक साधन है जोकि नैतिक कानूनों की कठोरता को कुछ कम करने के लिए उपयुक्त पाया गया है और वह है धर्म। सभी युगों में धर्म ने कुछ अंशों में इस बोझ को कम किया है, अनाचरण के परिणामों को मिटाकर नहीं बल्कि सदाचरण को सोद्देश्य बना कर। कर्तव्य का कठोर मार्ग प्रेम और निष्ठा से नरम पड़ जाता है। परिणाम से बचा नहीं जा सकता, परन्तु कठोर कर्तव्य के कारण जो कठिनाई होती है और बोझ प्रतीत होता है वही स्वेच्छापूर्वक अपनाई गई निष्ठा से आनन्द का कार्य बन जाता है। धर्म सिखाता है कि विश्व में बन्धुत्व विद्यमान है, भगवान् प्रेम है, प्रतियोगिता के नियम से सहयोग का नियम अधिक आन्तरिक और गहरा है, परार्थवाद उतना ही मौलिक है, जितना स्वार्थवाद। यह हमें सिखाता है कि सदाचार के लिए हमारे संघर्ष में विश्व अपनी आध्यात्मिक आन्तरिकता के साथ हमारे पक्ष में है, इस प्रकार संघर्ष व्यर्थ नहीं है। जब ये आध्यात्मिक शक्तियाँ हमारी आँखों के सामने विचरने वाले किसी नेता में अवतरित होती हैं अथवा उसके व्यक्तित्व का अंग बन जाती हैं तो निष्ठा अपनी परिपूर्णता प्राप्त कर लेती है और तब बड़े-बड़े कार्य किये जा सकते हैं। जब इस प्रकार का नेता प्रकट नहीं होता तो इस बारे में शिक्षण देना अनिवार्य है, क्योंकि जन-सामान्य को या तो प्रकाश मिलना चाहिए अथवा नेता।

आचार्यश्री तुलसी के इस धवल समारोह के अवसर पर मुझे न केवल प्रसन्नता हो रही है, अपितु नैतिकता के पुनःप्रवर्तक, अणुव्रत के नेता और उच्च-स्थिति के इस संत को श्रद्धांजलि अर्पित करने का भी सुअवसर प्राप्त हुआ है। भगवान् आचार्यश्री तुलसी को अपना मंगलमय आशीर्वाद दे।

समाज का आधार : नैतिकता

श्रीमती सुधा जैन, एम० ए०

नैतिकता के अभाव में मनुष्य पशु ही है। नैतिकता से हीन समाज की यदि हम कल्पना करें, तो वह अफ्रीका के हब्शियों और संसार की असभ्य जंगली जातियों जैसी ही होगी। हमारे पूर्वजों ने समाज के लिए, मनुष्य के सभ्य होने के लिए नैतिकता को आवश्यक समझा, इसीलिए नीति और नियमों का विधान किया। विश्व का इतिहास खोलकर हम देखें, तो जब-जब भी मानव ने नैतिकता की उपेक्षा की, वह बर्बर और पशु बन गया, उस समाज की जड़ें खोखली हो गईं तथा वह देश दुःख-दर्द का साम्राज्य बन गया।

हमारे देश में भी आज अनैतिकता का बोलबाला है। स्वतन्त्र भारत में भौतिक रूप से चाहे कितनी भी उन्नति हो रही हो, नित नवीन कलों और बाँधों का निर्माण हो रहा हो, पर नैतिकता का भी कोई मूल्य है, इसको तो भारत-वासी भूलते ही जा रहे हैं। क्या व्यापार में, क्या राजनीति में, शिक्षा-संस्थाओं में या सामाजिक संस्थाओं में, कहीं ईमान-दारी का नाम नहीं सब ओर बेईमानी, झूठ, धोखे का बोलबाला है।

अनैतिकता के कारण

समाज में फैली इस अनैतिकता के आर्थिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, राजनैतिक, कितने ही कारण हैं। देश में दरिद्रता है। विशेषकर मध्यम श्रेणी के परिवारों का बुरा हाल है। आय कम है और खर्च अधिक। रोजमर्रा की जरूरतें भी वे पूरा नहीं कर सकते। बेकारी की अलग बड़ी समस्या है। भूखा और परेशान मनुष्य बेईमानी करने के लिए मजबूर हो जाता है। समाज के अमीर और शान-शौकत से रहने वालों को देख-देखकर उसकी नैतिकता डोल जाती है और जिनके पास बहुत धन है, तथा करने को कुछ काम नहीं वे धन का दुरुपयोग करते हैं बुरे-बुरे व्यसनों में। दफ्तरों के क्लर्क ज़रा-ज़रा से काम के लिए रिश्वत माँगते हैं। यह भी उनकी आमदनी का एक जरिया है। समाज में ऊपरी टीपटाप और दिखावे को इतना महत्त्व दिया जाने लगा है कि मनुष्य इस ऊपरी टीपटाप पर ही सबसे अधिक खर्च करना चाहता है। यह दिखावे की भावना मनुष्य की बेईमानी से और अधिक-से-अधिक पैसा कमाने के लिए मजबूर करती है। व्यापारी, हर वस्तु में मिलावट करते हैं लोगों को धोखा देते हैं, उनकी आँखों में धूल झोंकते हैं और ग्राहक है कि दुकानदार की आँख बची और माल गायब कर लेते हैं, कितनी चरित्रहीनता है।

योग्यता की तो आज कहीं पूछ नहीं रह गई। इज्जत उसकी है, जिसके पास जितना अधिक धन है। बड़े-बड़े पदों पर वे रखे जाते हैं, जिनकी बड़े आदमियों तक पहुँच है, चाहे वे उस पद के योग्य हों या न हों।

इन आर्थिक, सामाजिक, कारणों के अतिरिक्त अनैतिकता का एक बड़ा कारण भौतिकवाद की उन्नति और अध्यात्मवाद की उपेक्षा है। भौतिक विज्ञान ने मनुष्य से आस्था और श्रद्धा छीनकर बदले में उसे तर्क दिया है, नैतिकता की उपेक्षा कर भोगवाद का पाठ पढ़ाया है। आस्था नहीं तो धर्म नहीं। धर्म तो तर्क से दूर आस्था और श्रद्धा की चीज है। और धर्म गया तो नैतिकता कहाँ से रह सकती है? धर्म कहता है—वासनाओं पर—इच्छाओं पर संयम करो, और विज्ञान कहता है, भोगो और भोगो, वासनाओं और इच्छाओं को पूरा करो और यह वासनाओं को भोगने की मनोधारा ही मनुष्य को अनैतिक होने के लिए प्रेरित करती है।

राजनैतिक वातावरण इतना गन्दा है कि एक नहीं बीसियों पार्टियाँ—उनका आपस में इतना झगड़ा कि

जनता में राष्ट्र-प्रेम की भावना तो बिल्कुल ही समाप्त हो गई। जनता को सरकार से कोई लगाव नहीं। कोई भी सरकारी चीज हो जनता की भावना रहती है कि होने दो इसे व्यर्थ व्यय—लूटो खूब लूटो—यह तो मुफ्त का माल है। पर वे ये भूल जाते हैं कि सरकार का पैसा तो जनता का पैसा है, जो कि जनता से ही टैक्सों आदि के रूप में प्राप्त किया जाता है।

अनैतिकता कैसे दूर हो !

विद्या-केन्द्रों में धर्म सम्बन्धी शिक्षा अनिवार्य कर दी जावे। विद्यार्थियों को अन्य विषयों की शिक्षा के साथ-साथ नैतिकता का भी पाठ पढ़ाया जाये। उन्हें जीवन में नैतिक मूल्यों की उपयोगिता समझा दी जाये। विद्यालयों में ही देश के भावी कर्णधार गढ़े जाते हैं, वहीं उनके मस्तिष्क का निर्माण-कार्य होता है, अतः जो कुछ वे वहाँ सीखेंगे, उसकी छाप जीवन-भर उनके साथ रहेगी।

इसके अतिरिक्त नैतिकता का प्रचार होना चाहिए। ऐसी संस्थाएं हों और उनमें ऐसे प्रचारक हों जो बड़े प्रेम से लोगों के मन में घर की हुई अनैतिक भावनाओं को निकालकर नैतिक मूल्यों को बसाएं। मनुष्यों के मन से अनैतिकता दूर हुई कि वह समाज से, राष्ट्र मे सब जगह से दूर हो जायेगी।

अणुव्रत का नैतिकता में योग

अणुव्रत-आन्दोलन ऐसी ही धार्मिक संस्था या अहिंसक क्रान्ति है, जिसने देश में फैली अनैतिकता को बहुत कुछ दूर किया है और कर रही है। आचार्य विनोबा के भूदान-यज्ञ की तरह यह भी प्रेम और सहिष्णुता का आचार्यश्री तुलसी का अणुव्रत यज्ञ है, जो कहता है, 'आओ ! आओ ! अणुव्रत की इस पावन अग्नि में अपने मन के मैल—अनैतिकता को भस्म कर दो। यहाँ कोई कठोरता नहीं, जोर जबर्दस्ती नहीं।' देश के कोने-कोने में फैले हुए साधु-साध्वी गृहस्थों को नैतिकता का पाठ दे रहे हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम घर-द्वार छोड़कर हमारी तरह संन्यासी बन जाओ, वरन गृहस्थ में रहते हुए सत्य, अहिंसा, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का यथासाध्य पालन करो। लगभग बारह वर्ष से आचार्यश्री तुलसी और उनका देश व्यापी संघ जागरण के इस महान् यज्ञ को प्रज्वलित किए है। आशा है आचार्यश्री तुलसी की यह साधना सफल होगी और देश में फैली अनैतिकता दिन-प्रतिदिन दूर होगी।

भगवान् करे आचार्यश्री शतायु हों और उनका संघ चिरजीवी।

और
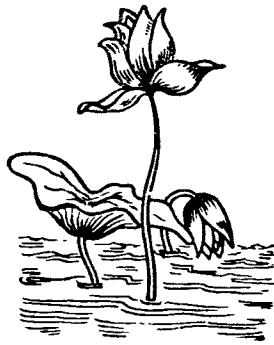
जैन धर्म के कुछ पहलू

डा० लुई रेनु, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, भारतीय विद्याध्ययन-विभाग; संस्कृत-प्राध्यापक, पेरिस-विश्वविद्यालय

भारत की धार्मिक प्रवृत्तियों में बहुत अधिक विभिन्नता है। इस क्षेत्र में जैन धर्म का मौलिक स्थान है। उसके महत्त्व और सामाजिक आशय को भारत की सीमाओं के बाहर भी समझने की अधिक आवश्यकता है। प्रस्तुत लेख में जैन धर्म के कुछ मौलिक पहलुओं की चर्चा की गई है।

जैन साहित्य

जैन साहित्य जितना विशाल है, उतना ही विविध है। वह केवल कर्मकाण्ड और सिद्धान्तों की ही चर्चा नहीं करता, अपितु उसमें सभी दृष्टिकोणों का समावेश है। जैन साहित्यकारों की कल्पना-शक्ति असाधारण है। उन्होंने ऐसी उद्बोधक कथाओं की रचना की है, जो भारतीय विद्वानों की रचनाओं में सर्वोत्तम हैं। भारतीय साहित्य सामान्य रूप से अत्यन्त समृद्ध है और इस क्षेत्र में तो अत्यधिक ही कल्पनाशील है।

जैन दर्शन

साहित्यिक क्षेत्र की विस्तृत चर्चा न करते हुए, यहाँ धार्मिक व दार्शनिक क्षेत्र को मुख्य रूप से परखा गया है। विश्व-विज्ञान और विश्व-रचना के क्षेत्र में जैन दर्शन का विस्तृत वर्णन विशेषतः हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उन्होंने आकाश को अनन्ततया विस्तृत माना है। विश्व के आकार-प्रकार का जो विस्तृत और व्यापक चित्र उन्होंने खींचा है, वह अत्यन्त ही रोचक है; जैन कर्मकाण्ड, तर्क-शास्त्र और नीति-शास्त्र की भाँति यहाँ पर भी हमें वर्गीकरण और उप-वर्गीकरण की सूक्ष्म वृत्ति दिखायी देती है।

जैन धर्म के अनुसार जो अनादि काल व्यतीत हो चुका है, उसमें चौबीस तीर्थंकर प्रत्येक काल में हुए हैं। ये तीर्थंकर सर्वज्ञ थे और मनुष्यों को सही मार्ग दिखलाने वाले थे। इन धार्मिक महापुरुषों और तीर्थ-स्थापकों का जीवन एकान्तमय नहीं था, अपितु इनका जीवन-चरित्र भी महान् सम्राटों और वीरों की जीवन-गाथाओं से सम्बन्धित था। अन्य धर्मों और परम्पराओं में प्राग्-ऐतिहासिक वर्णनों का जो अभाव मिलता है, जैन परम्परा में उस काल का अत्यन्त विस्तृत इतिहास उपलब्ध होता है। वर्तमान चौबीसी के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर थे। इन तीर्थंकरों की जीवन-परम्परा में उत्त-रोत्तर असाधारण उदाहरण प्राप्त होते हैं।

विश्व-मीमांसा

जैन दर्शन के अनुसार विश्व का आकार एक दीर्घकाय पुरुष-जैसा है, जो अपने पैरों को विस्तृत कर तथा हाथों को कटि पर रखकर खड़ा हो; अर्थात्—विश्व नीचे से विस्तीर्ण, मध्य में संकीर्ण, पुनः विस्तीर्ण और ऊर्ध्वान्त में संकीर्ण आकार वाला है। इस पुरुषाकार विश्व में पैर से लेकर कटि तक का भाग अधस्तन विश्व है, कटि का भाग मध्य विश्व है और कटि से ऊपर का भाग ऊर्ध्व विश्व है। इस वर्णन में जैन दार्शनिकों की विचार-शक्ति का अनुपम उदाहरण हमें उपलब्ध होता है।

अणु और ब्रह्माण्ड के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में जहाँ अन्य दर्शनों में केवल स्थूल चित्रण मिलता है, वहाँ जैन दर्शन के इस विश्व-चित्रण में यह सम्बन्ध सूक्ष्मतया वर्णित किया गया है। जैन दर्शन में काल के बृहत् मानों—कल्पों के विषय में मौलिक प्रतिपादन उपलब्ध होता है। चक्र के समान काल की गति मानी गई है, जिसमे अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नाम के दो विभाग होते हैं। इस विषय में भी साकार कल्पना प्रस्तुत की गई है।

ज्ञान-मीमांसा और तत्त्व-मीमांसा

इस क्षेत्र में जैन दर्शन द्वारा प्रतिपादित अनेकान्तवाद तथा इसकी दो सहायक प्रणालियाँ—नयवाद और स्याद्वाद आधुनिक बुद्धिवादियों को भी पूर्णतया सन्तुष्ट करने की क्षमता रखती हैं। स्याद्वाद का अर्थ सन्देहवाद नहीं, जैसा कि पहले कुछ लोग समझा करते थे; यह तो तत्त्व या वास्तविकता के विधेयात्मक और निषेधात्मक स्वरूप का तार्किक शब्दावलि में प्रतिपादन है। 'ऑक्सफार्ड' नामक आधुनिक विचारधारा के साथ, तर्क और सिद्धान्त के क्षेत्र में, स्याद्वाद कुछ अंग तक अद्भुत साम्य रखता है।

अन्य भारतीय दर्शनों में जो एकान्तवाद दृष्टिगोचर होता है, उससे जैन दर्शन सर्वथा मुक्त है। बौद्ध दर्शन ने नित्य द्रव्य का निषेध करके तत्त्व या वास्तविकता को ही क्षणिक बना दिया है; जबकि हिन्दू दर्शन ने ब्रह्म अथवा विश्व-व्यापी एक द्रव्य के साथ तत्त्व को जोड़कर, उसे कूटस्थ नित्य बना दिया है। जैन दर्शन तत्त्व को 'कथंचित् नित्य व कथंचित् अनित्य' मानता है।

कर्मवाद

जैन दर्शन के कर्मवाद में भी विचारधारा की सुनिश्चितता उसी प्रकार की रही है, जिस प्रकार चर्चित विषयों में हम देख चुके हैं। जब कि सामान्यतया लोग 'कर्म' को एक ऐसा काल्पनिक सिद्धान्त मानते हैं, जो रहस्यपूर्ण प्रकार से व्यक्ति के भविष्य को निर्धारित करता है; वहाँ जैन दर्शन 'कर्म' को पुद्गल, अर्थात् भौतिक पदार्थ, मानता है। ये कर्म ही अवस्था-विशेष को प्राप्त करके आत्मा को विष की तरह फल देने वाले होते हैं और तपस्या-विशेष के द्वारा इन कर्मों को उसी तरह दूर किया जा सकता है, जिस तरह औषधि-प्रयोग से विष को; अन्ततः एक ऐसी स्थिति प्राप्त हो सकती है, जब ये कर्म सम्पूर्णतः आत्मा से विलग हो जाते हैं और आत्मा भी निरोगी अवस्था के समान मुक्ति को प्राप्त कर लेती है।

कर्मों के प्रभाव के कारण आत्मा विविध प्रकार के रंग-रूपों को धारण-करती है और कर्मों की जितनी विशुद्धि होती है, उसके अनुसार ही आत्मा को उपलब्धि होती है। यह सिद्धान्त मनोविज्ञान के दृष्टिकोण से भी पुष्ट हो चुका है। मुक्त आत्मा मानो एक प्रकार के समाज को बनाती है, जिसका मुख्य लक्षण पवित्रता है। इस समाज के सभी सदस्य एक समान हैं और तत्त्वतः विशुद्ध हैं; जैसा कि श्री (मॉसूर) आलिवर लेकोम्बे ने कहा है—"सिद्ध आत्माएं सभी पूर्णताओं से युक्त होती हैं, जो औपनिषदिक 'परम ब्रह्म' में पायी जाती हैं। ऐसा लगता है, दार्शनिकों ने इन अनन्त स्वतन्त्र इकाइयों (सिद्धात्माओं) में पूर्णत्व को मानकर, इस विचार को बहुत ही रोचक बना दिया है।

जैन साधना

अपने मन्तव्यों के स्थैर्य के कारण जैन दर्शन शक्तिशाली बना है। इसके साथ-साथ जैन-धर्म के अनुयायियों ने सिद्धान्तों के सक्रिय पालन के द्वारा भी उसको शक्तिशाली बनाने में प्रमुख सहयोग दिया है। बौद्ध धर्म में केवल साधु-समाज को ही स्थान दिया गया है, जब कि जैन धर्म में गृहस्थ अनुयायियों को भी समुचित स्थान दिया गया है। वे निश्चित नियमों का पालन करते हैं और आध्यात्मिक उन्नति की विभिन्न अवस्थाओं को अपनाने का उनको साधुओं के समान ही अधिकार दिया गया है। तात्पर्य यही है कि जैन धर्म में अन्य धर्मों की तरह इस भावना को स्थान नहीं दिया गया है कि धर्म केवल कुछ-एक व्यक्तियों की साधना का मार्ग है। इस दृष्टि से यह उल्लेखनीय है कि क्रमिक साधना के लिए जैन परम्परा में संयम और ध्यान के सम्बन्ध से विशद विवरण उपलब्ध होता है। तपस्या, जो कि अन्य

भारतीय धर्मों में एक प्रकार से निष्क्रिय शक्ति रही है, जैन धर्म में एक सक्रिय ग्रौर वास्तविक सिद्धान्त के रूप में मानी गई है। जैन दर्शन ने 'तपस्या' के सिद्धान्त में प्राण भर दिये हैं। ग्राचार का दृष्टि से तपस्या का सिद्धान्त इतना कठोर होते हुए भी, जैन धर्म की ग्रहिंसा की विचारधारा उसे ग्रसाधारण सौम्यता से ग्रलंकृत करती है। ग्रहिंसा का सिद्धान्त जैन ग्राचार-शास्त्र का मूलभूत नियम है। निस्सन्देह सभी भारतीय विचारकों ने ग्रहिंसा को मान्यता दी है ग्रौर उसे ग्राचरण में उतारने का प्रयत्न किया है; किन्तु ग्रहिंसा की व्याख्या ग्रौर साधना जितनी सूक्ष्मता ग्रौर दृढ़ता के साथ जैनों ने की है, उतनी किसी ने भी नहीं की।

तेरापंथ : जैन धर्म का मूल स्वरूप

जैन धर्म का दर्शन ग्रौर सिद्धान्त-पक्ष यद्यपि ग्रत्यन्त दृढ़ है, फिर भी काल के बीतने के साथ, जैसा कि ग्रनिवार्यतया होता ही है, उसमें भी विकार ग्रौर न्यूनताएं ग्राती रही हैं। ग्रौर यह ग्रावश्यक था कि इनको दूर करने के लिए तथा मूलभूत परम्परा को पुनर्जीवित करने के लिए समय-समय पर प्रयत्न हों। तेरापंथ का ग्रान्दोलन भी ऐसा ही एक उपक्रम था। यह विशेष ध्यान देने योग्य बात है कि तेरापंथ एक ऐसे समाज का प्रतीक है, जो ग्राज भी तीर्थंकरों के द्वारा प्रतिपादित ग्राचार-नियमों का दृढ़ निष्ठा के साथ पालन करता है तथा विचारों के प्रति दृढ़ ग्रास्थावान् है। तेरापथ पूर्णतः मौलिक जैन धर्म है जो ग्राज हमारी ग्राँखों के समक्ष जीवित है ग्रौर जिसे बिना किसी साधन की सहायता से ग्राज के पूर्णतया ग्राधुनिक युग में पुनर्जीवित किया गया है।

जैन-समाधि और समाधिमरण

डॉ० प्रेमसागर जैन, एम० ए०, पी-एच० डी०
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, दिगम्बर जैन कॉलेज, बड़ौत

'समाधि' शब्द की व्युत्पत्ति

समाधीयते इति समाधिः। समाधीयते का अर्थ है—**सम्यगाधीयते एकाग्रीक्रियते विक्षेपान् परिहृत्य मनो यत्र सः समाधिः।**[1] अर्थात् विक्षेपों को छोड़ कर मन जहाँ एकाग्र होता है, वह समाधि कहलाती है। 'विसुद्धिमग्ग' में 'समाधान' को ही समाधि माना है, और 'समाधान' का अर्थ किया है, **एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानम्**[2]—अर्थात् एक आलम्बन में चित्त और चित्त की वृत्तियों का समान और सम्यक् आधान करना ही समाधान है। जैनों के 'अनेकार्थ-निघण्टु' में भी **चेतसश्च समाधानं समाधिरिति गद्यते**[3] कहकर चित्त के समाधान को ही समाधि कहा है। 'सम्यक् आधीयते' और 'सम्यक् आधानं' में प्रयोग की भिन्नता के अतिरिक्त कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही धातु से बने हैं और दोनों का एक ही अर्थ है। चित्त का आलम्बन अथवा ध्येय में सम्यक् प्रकार मे स्थित होना—दोनों ही व्युत्पत्तियों में अभीष्ट है।

ध्येय में चित्त की सुदृढ़ स्थिति निरन्तर अभ्यास और वैराग्य पर निर्भर करती है। गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा कि "हे महाबाहो! सच है कि चञ्चल मन को वश में करना कठिन काम है। पर हे कौन्तेय! अभ्यास और वैराग्य से वह वश में किया जा सकता है।"[4] योगसूत्र के **अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः**[5] के द्वारा भी यह तथ्य कि, 'चञ्चल मन का निरोध अभ्यास और वैराग्य से ही हो सकता है', सिद्ध होता है। जहाँ तक बौद्ध धर्म का सम्बन्ध है, वह अभ्यास पर ही निर्भर है।[6] जैन धर्म में ध्यान के पाँच कारणों में 'वैराग्य' को प्राथमिकता दी गई है।[7] वहाँ चित्त को वश में करने के लिए यद्यपि वायु-निरोध की बात को थोथा प्रमाणित किया गया है; तथापि प्राणायाम का अभ्यास कर, मन को रोक कर, चिद्रूप में लगाने की बात तो कही ही गई है, फिर भले ही मन और पवन स्वयमेव स्थिर हो जाते हों। जैन

---

१ मिलाइये, पातञ्जल योगसूत्र, व्यासभाष्य १।३२, मेजर बी० डी० वसु-सम्पादित, इलाहाबाद, १९२४ ई०

२ आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, कौसाम्बीजी की दीपिका के साथ, तृतीय परिच्छेद, पृष्ठ ५७, बनारस

३ देखिये, धनञ्जयनाममाला, सभाष्य अनेकार्थनिघण्टु तथा एकाक्षरीकोश, १२४वां श्लोक, पृ० १०५, पं० शम्भुनाथ त्रिपाठी-सम्पादित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २०१२

४ असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्। अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥
—महात्मा गांधी, अनासक्तियोग, श्रीमद्भगवद्गीता भाषा-टीका, ६।३५, पृ० ९२, सस्ता साहित्य मण्डल, नयी दिल्ली, १९४६ ई०

५ पातञ्जल योगसूत्र, १।१२

६ भरतसिंह उपाध्याय, बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृ० ९०९, बंगाल हिन्दी मंडल, वि० सं० २०११

७ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, १९२वें दोहे की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत-टीका, पृ० ३३१, डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा सम्पादित, परमश्रुत प्रभावक मंडल, बम्बई, १९३७ ई०

शास्त्रों के अनुसार शुभोपयोगी का मन जब तक एकदम आनन्दघन में अडोल अवस्था को प्राप्त नहीं कर पाता, तब तक मन को वश में करने के लिए पंच परमेष्ठी और ओंकारादि मंत्रों का ध्यान करना होता है; फिर शनैः-शनैः मन शुद्ध आत्म-स्वरूप पर टिकने लगता है। चौदह गुणस्थानों पर क्रमशः चढ़ने की बात भी अभ्यास की ही कहानी है। शुद्ध अहिंसा तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई हैं। इस भाँति समूचा जैन सिद्धान्त अभ्यास और वीतरागता की भावना पर ही निर्भर है।[1]

समाधि की तुलनात्मक व्याख्या

ध्यान और समाधि

जैन शास्त्रों में अनेक स्थानों पर उत्कृष्ट ध्यान के अर्थ में ही 'समाधि' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'भावप्राभृत' की बहत्तरवीं गाथा में 'समाधि' शब्द उत्तम ध्यान का ही द्योतक है।[2] आचार्य समन्तभद्र ने अपने 'स्वयम्भूस्तोत्र' के सतहत्तरवें, तिरासीवें और एकसौदसवें श्लोकों में समाधि, सातिशयध्यान और शुक्ल ध्यान को एक ही अर्थ में प्रयुक्त किया है। आचार्य उमास्वाति ने 'धर्म्य ध्यान' और 'शुक्ल ध्यान' को मोक्ष का हेतु कहकर उनके समाधि-रूप की घोषणा की है।[3] श्री योगीन्दु ने भी 'ध्यान' शब्द का प्रयोग 'समाधि' अर्थ में ही किया है।[4] पण्डितप्रवर आशाधर ने 'जिनसहस्रनाम' की स्वोपज्ञवृत्ति में 'समाधिराट्' की व्याख्या करते हुए स्पष्ट कहा है—**समाधिना शुक्लध्यानेन केवलज्ञानलक्षणेन राजते शोभते**।[5] अर्थात् केवलज्ञान है लक्षण जिसका, ऐसी शुक्ल ध्यान रूप समाधि से जो सुशोभित है, वे ही 'समाधि-राट्' कहलाते हैं। पातञ्जल योगसूत्र में **ध्यानमेव ध्येयाकारं निर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमेव यदा भवति ध्येय-स्वभावावेशात्तदा समाधिरित्युच्यते**[6] के द्वारा ध्येयाकार निर्भास ध्यान को ही 'समाधि' कहा गया है। यहाँ ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम ही समाधि है। समाधि, चित्तस्थैर्य की सर्वोत्तम अवस्था है। भगवान् बुद्ध ने 'सम्बोधि-लाभ' करते समय चार ध्यानों की प्राप्ति की थी, 'मज्झिमनिकाय' में इनको समाधि संज्ञा से अभिहित किया गया है।[7] बौद्ध साधना-पद्धति में 'ध्यान' का केन्द्रीय स्थान है। शील के बाद समाधि (ध्यान) और समाधि के अभ्यास से प्रज्ञा (परम ज्ञान) की प्राप्ति होती है। शास्ता की यह वाणी—"भिक्षुओ, ध्यान करो! प्रमाद मत करो!" सहस्रों वर्षों तक ध्वनित होती रही है। यद्यपि बौद्धों में ध्यान-सम्प्रदाय की विद्यमानता के लिखित प्रमाण नहीं मिलते; परन्तु उसकी परम्परा बुद्ध के समय से ही अवश्य चली आ रही थी, ऐसा चीनी परम्परा के आधार पर कहा जा सकता है। आचार्य बोधिधर्म ने चीन में बताया कि ध्यान के गूढ़ रहस्यों का उपदेश भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्य महाकाश्यप को दिया था, जिन्होंने उसे आनन्द को बताया।[8] उपनिषदों में भी 'उत्कृष्ट ध्यान' को समाधि कहा है। साधारण ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान तीनों का पृथक्-पृथक् प्रतिभास होता रहता है; किन्तु उत्कृष्ट ध्यान में ध्येय-मात्र ही अवभासित होता है और उसे ही समाधि कहते हैं।

---

१ परमात्म-प्रकाश, पं० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३०६
२ आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ७२
३ उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ९।२९
४ योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, दूहा १७२, १८७
५ पं० आशाधर, जिनसहस्रनाम, स्वोपज्ञवृत्ति, ६।७४, पृ० ९१ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
६ पातञ्जल योगसूत्र, व्यासभाष्य, ३।३ मेजर बी० डी० वसु सम्पादित, इलाहाबाद, १९२४ ई०,
७ देखिये, मज्झिमनिकाय, चूलहत्थि, पदोपमसुत्त
८ हिन्दी साहित्य सम्मेलन पत्रिका, भाग ४१, संख्या ?, पृ० ३८

ध्यान और मन की एकाग्रता

ध्यान में मन की एकाग्रता को प्रमुख स्थान है। मन के एकाग्र हुए बिना ध्यान हो ही नहीं सकता। जैनाचार्यों ने **एकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानम्**[1] के द्वारा एकाग्र में चिन्ता के निरोध को ध्यान कहा है। "अग्र पद का अर्थ है 'मुख', अर्थात् आलम्बन-भूत द्रव्य या पर्याय। जिसके एक अग्र होता है, उसे एकाग्र-प्रधान वस्तु या ध्येय कहते हैं। 'चिन्ता-निरोध' का अर्थ है—अन्य अर्थों की चिन्ता छोड़कर एक ही वस्तु में मन को केन्द्रित करना। ध्यान का विषय एक ही अर्थ होता है। जब तक चित्त में नाना प्रकार के पदार्थों के विचार आते रहेंगे, तब तक वह ध्यान नहीं कहला सकता।"[2] अतः चित्त का एकाग्र होना ही ध्यान है। योगसूत्र में भी **तस्मिन्देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानतासदृशः प्रवाहः प्रत्यान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम्**[3] कहकर ध्येय-विषयक प्रत्यय की एकतानता को ध्यान माना है। 'एकतानता' एकाग्रता ही है। बौद्धों के 'मज्झिमनिकाय' में चार ध्यानों का निरूपण हुआ है और उनमें एकाग्रता को ही प्रमुख स्थान है। गीता के ध्यान-योग में आत्म-शुद्धि के लिए मन की एकाग्रता को अनिवार्य स्वीकार किया गया है। चंचल मन को एकाग्र किये बिना मनुष्य योगी नहीं कहला सकता।[4] स्थिरचित्त योगी ही आत्मा को परमात्मा के साथ जोड़ सकता है, अन्य नहीं।[5] श्री अरविन्द ने 'मन की एकाग्रता' में उस मन को लिया है जो निश्चय करने वाला और व्यवसायी है; उस मन को नहीं लिया, जो केवल बाध करने वाला है। निश्चय करने वाले मन की एकाग्रता ही एकनिष्ठ बुद्धि है, जिसका महत्त्व गीता में स्थान-स्थान पर उद्घोषित किया गया है।[6]

समाधि में ग्राह्य और त्याज्य तत्त्व

जैन शास्त्रों में ध्यान को चार प्रकार का कहा गया है—आर्त्त, रौद्र, धर्म्य और शुक्ल।[7] यह जीव आर्त्त और रौद्र ही के कारण इस संसार में घूमता रहा है, अतः वे त्याज्य हैं। भावलिङ्गी मुनि धर्म्य और शुक्ल ध्यान-रूपी कुठार से संसार-रूपी वृक्ष का छेदने में समर्थ होता है, अतः वे उपादेय हैं।[8] आचार्य उमास्वाति ने भी **परे मोक्षहेतू** कहकर उपर्युक्त कथन का ही समर्थन किया है। योगीन्द्र ने '**ध्यानाग्निना कर्मकलङ्कानि दग्ध्वा**'[9] में ध्यान का अर्थ शुक्ल ध्यान ही लिया है। 'एकाग्रता' ध्यान अवश्य है; किन्तु शुभ और शुद्ध में एकाग्र होने वाला ध्यान ही आगे चलकर समाधि का रूप धारण करता है। योगसूत्र में चित्त की पाँच भूमिकाएं स्वीकार की हैं—क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनमें से प्रथम तीन को समाधि के लिए अनुपादेय और अन्तिम दो को उपादेय माना है।[10] योगसूत्र में ही स्वरूप-दृष्टि से

१ उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ६।२७

२ अग्रं मुखम्। एकमग्रमस्येत्येकाग्रः। नानार्थावलम्बनेन चिन्ता परिस्पन्दवती, तस्या अन्याशेषमुखेभ्यो व्यावर्त्य एकस्मिन्नग्र नियम एकाग्रचिन्तानिरोध इत्युच्यते। अनेन ध्यानं स्वरूपमुक्तं भवति।
—पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ६।२७ पृ० ४४४ भारतीय ज्ञानपीठ, काशी वि० सं० २०१२

३ पातञ्जल योगसूत्र, बी० डी० वसु-सम्पादित, ३।२ का व्यासभाष्य, पृ० १८०

४ महात्मा गांधी, अनासक्तियोग श्रीमद्भगवद्गीता भाषा-टीका, ६।१८, पृ० ८७

५ देखिये वही, ६।१६, पृ० ८८

६ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, प्रथम भाग, पृ० १७८; सातवीं पंक्ति से चौहदवीं पंक्ति तक का भाव

७ आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, ६।२८

८ आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा १२१-१२२

९ योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, पहला दूहा, संस्कृत-छाया

१० पातञ्जल योगसूत्र, १।१ का व्यास-भाष्य

चित्तवृत्तियों के दो भेद माने गए हैं—क्लिष्ट और अक्लिष्ट। क्लिष्ट क्लेश की और अक्लिष्ट ज्ञान की कारण है।[1] बौद्धों ने इन्हीं को कुशल और अकुशल के नाम से पुकारा है। इनमें कुशल में होने वाला ध्यान ही 'समाधि' हो सकेगा, अकुशल वाला नहीं।

समाधि के भेद और उनका स्वरूप

जैन शास्त्रों में समाधि के दो भेद किये गए हैं— सविकल्पक और निर्विकल्पक। सविकल्पक समाधि सालम्ब होती है और निर्विकल्पक निरवलम्ब। सालम्ब में मन को टिकने के लिए सहारा मिलता है, जब कि निरवलम्ब में उसे अनाधार में ही लटकना होता है। चंचल मन पहले तो किसी सहारे से ही टिकना सीखेगा, तब कहीं निराधार में भी ठहर सकने योग्य हो सकेगा। श्री योगीन्दु के मतानुसार जिस चिन्ता का समूचा त्याग मोक्ष को देने वाला है, उसकी प्रथम अवस्था विकल्प-सहित होती है। उसमें विषय-कषायादि अशुभ ध्यान के निवारण के लिए और मोक्ष-मार्ग में परिणाम दृढ़ करने के लिए ज्ञानी जन जो भावना भाते हैं, वह इस प्रकार है—"चतुर्गति के दुःखों का क्षय हो, अष्टकर्मों का क्षय हो, ज्ञान का लाभ हो, पञ्चम गति में गमन हो, समाधि में मरण हो और जिनराज के गुणों की सम्पत्ति मुझको प्राप्त हो!" यह भावना चौथे, पाँचवें और छठे गुणस्थान में ही की जाती है, आगे नहीं।[2] सालम्ब समाधि में मन को टिकाने के लिए तीन रूपों की कल्पना की गई है—पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ। शरीर-युक्त आत्मा पिण्डस्थ, पञ्च परमेष्ठी और ओंकारादि मंत्र पदस्थ तथा अर्हन्त रूपस्थ कहे जाते हैं।[3] आचार्य देवसेन ने स्पष्ट कहा है कि सर्वसाधारण के लिए निरवलम्ब ध्यान सम्भव नहीं, अतः उसे सालम्ब ध्यान करना चाहिए।[4]

सालम्ब समाधि का प्रारम्भिक रूप सामायिक है। सामायिक का अर्थ अरिहंतादि का नाम लेना और किसी मन्त्र का जाप जपना-मात्र ही नहीं है; अपितु वह एक ध्यान है, जिसमें यह सोचना होता है कि यह संसार चतुर्गतियों में भ्रमण करने वाला है; अशरण, अशुभ, अनित्य और दुःख-रूप है। मुझे इससे मुक्त होना चाहिए।[5] सामायिक का लक्षण बताते हुए एक आचार्य ने कहा है :

समता सर्वभूतेषु संयमः शुभभावना।
आर्त्तरौद्रपरित्यागस्तद्धि सामायिकं व्रतम्॥

अर्थात्, जिस व्रत में सब प्राणियों में समता-भाव, इन्द्रिय-संयम, शुभ भावना का विकास तथा आर्त्त और रौद्र ध्यानों का त्याग किया जाता है, वह सामायिक व्रत कहलाता है। सामायिक के पाँच अतिचार हैं—मन-वचन-काय का असत्-प्रयोग, अनुत्साह और अनैकाग्रता।[6] इनसे सामायिक में दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इस भाँति एकाग्रता सामायिक का गुण और अनैकाग्रता दोष है। इसी एकाग्रता का विकसित रूप समाधि का मूलाधार है। वास्तव में सामायिक गृहस्थ श्रावकों का एक व्रत है। आचार्य कुन्दकुन्द ने इसे शिक्षा-व्रतों में गिना है।[7] स्वामी कार्त्तिकेय ने अपने 'अनुप्रेक्षा' नामक प्रसिद्ध ग्रन्थ में गृहस्थ के बारह धर्मों में सामायिक को चौथा स्थान दिया है। आचार्य उमास्वति, समन्तभद्र, जिनसेन, सोमदेव, देवसेन, अमितगति, अमृतचन्द्र, आचार्य वसुनन्दि और पण्डितप्रवर आशाधर ने भी सामायिक के महत्त्व को स्वीकार किया है।

---

१ देखिये वही, १।५ का व्यास-भाष्य
२ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, पं० जगदीशचन्द्र-कृत हिन्दी-अनुवाद, पृ० ३२७-२८
३ आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा ४५६, ४६४, ४७२-७५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, वि० सं० २००६
४ आचार्य देवसेन, भावसंग्रह, गाथा ३८२,३८८; मणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, १९२१ ई०।
५ आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ५।१४, पृ० १४१; वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०
६ देखिये वही, ५।१५, पृ० १४२
७ आचार्य कुन्दकुन्द, चरित्तपाहुड, गाथा २६

उन्होंने यहाँ तक कहा है कि सामायिक में स्थित गृहस्थ सचेलक मुनि के समान होता है।[1] सामायिक कम-से-कम दो घड़ी या एक मुहूर्त्त (अड़तालीस मिनट) तक करनी चाहिए।[2]

निर्विकल्पक समाधि में मन को टिकाने के लिए किसी आलम्बन की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ तो 'रूपातीत' का ध्यान करना होता है। शरीर के जाल से पृथक् शुद्धात्मा अथवा भगवान् सिद्ध ही 'रूपातीत' कहलाते हैं।[3] उन पर जब मन ठहर उठता है, तभी निर्विकल्पक समाधि का प्रारम्भ समझना चाहिए। आचार्य योगीन्दु ने निर्विकल्पक समाधि की परिभाषा बतलाते हुए लिखा है—**सयलवियप्पहं जो विलउ परम समाहि भणंति। तेण सुहासुह भावड़ा मुणि सयलवि मेल्लंति।**[4] अर्थात्, सकल विकल्पों का विलीन होना ही परम समाधि है; इसमें मुनिजन शुभ और अशुभ भावों का परित्याग कर देते हैं। अपने इसी मत की पुष्टि करते हुए आचार्य ने एक-दूसरे स्थान पर कहा कि "जब तक समस्त शुभाशुभ परिणाम दूर न हों, मिटें नहीं, तब तक रागादि विकल्प-रहित शुद्ध चित्त में सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र रूप शुद्धोपयोग जिसका लक्षण है, ऐसी परम समाधि इस जीव के नहीं हो सकती।"[5] उन्होंने यहाँ तक कहा कि "केवल विषय-कषायों को जीतने से क्या होता है; मन के विकल्प मिटने ही चाहिए, तभी वह परमात्मा का सच्चा आराधक कहा जायेगा।"[6] आचार्य कुन्दकुन्द ने 'षट्पाहुड' में लिखा है कि "जो रागादिक अन्तरंग परिग्रह से सहित हैं और जिन भावना-रहित द्रव्य-लिंग को धार कर निर्ग्रन्थ बनते हैं, वे इस निर्मल जिन-शासन में समाधि और बोधि को नहीं पाते।"[7] इस भाँति आचार्य कुन्दकुन्द ने रागादिक अन्तरंग परिग्रह के त्याग को समाधि के लिए आवश्यक बतलाया। बाह्य ज्ञान से शून्य निर्विकल्पक समाधि में विकल्पों का आधारभूत जो मन है वह अस्त हो जाता है; अर्थात् निज स्वभाव में मन की चंचलता नहीं रहती। जिन मुनीश्वरों का परम समाधि में निवास है, उनका मोह नाश को प्राप्त हो जाता है, मन मर जाता है, श्वासोच्छ्वास रुक जाता है और कैवल्य ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।[8] आचार्य समन्तभद्र ने यह स्वीकार किया है :

स्वदोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मसात्क्रियाम्।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभूव च ब्रह्मपदामृतेश्वरः॥[9]

अर्थात्,समाधि-तेज से अपने आत्म-दोषों के मूल कारण को निर्दयतापूर्वक भस्म कर यह जीव ब्रह्म-पदरूपी अमृत का स्वामी हो सकता है।

योगसूत्र में समाधि की परिभाषा लिखते हुए कहा गया है—**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**[10] अर्थात्, ध्येयाकार निर्भास ध्यान ही जब ध्येय स्वभावावेश से अपने ज्ञानात्मक स्वभाव शून्य के समान होता है, तब उसे समाधि कहते हैं।[11] ध्यान करते-करते जब हम आत्म-विस्मृत हो जायें, जब केवल ध्येय-विषयक सत्ता की ही उपलब्धि

---

१ आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ५।१२, पृ० १३६, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली, १९५५ ई०
२ वसुनन्दिश्रावकाचार की प्रस्तावना, पं० हीरालाल-कृत, पृ० ५५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
३ वण्णरस-गंध-फासेहिं वज्जिओ णाण-दंसण सरूवो।
जंझाइज्जइ एवं तं झाणं रूव रहियं ति ॥४७६॥
—वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, पं० हीरालाल सम्पादित, पृ० २८०, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
४ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १९०, पृ० ३२८, प० श्रु०प्र० मंडल, बम्बई
५ देखिये वही, दोहा १९४, पृ० ३३२
६ देखिये वही, दोहा १९२, पृ० ३३१
७ आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड, भावपाहुड, ७२वीं गाथा, पृ० ७८, प्रकाशक बाबू सूरजभान वकील, देवबंद,
८ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, दोहा १६२, पृ० ३०६, बम्बई
९ आचार्य समन्तभद्र, स्वयम्भू-स्तोत्र, १।३, वीर-सेवा मन्दिर, सरसावा
१० देखिये योगसूत्र, ३।३
११ योगसूत्र ३।३का व्यास-भाष्य

होती रहे तथा अपनी सत्ता विस्मृत हो जाये, और ध्येय से अपना पृथक्त्व ज्ञानगोचर न हो, तब ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित्तस्थैर्य ही समाधि है।[1] इसमें ध्येय की सत्ता प्रतिभासित होती है। अतः वह सालम्ब, सबीज और सविकल्पक समाधि कहलाती है। विषय-भेद से यह समाधि—रूपरसादिग्राह्य विषयक, अहङ्कारादिग्रहण विषयक, अहमस्त्वमात्र-गृहीतृपदस्थविषयक तीन प्रकार की कही जाती है, जो जैनों के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ से मिलती-जुलती है। सब वृत्तियों के निरुद्ध होने पर संस्कार-शेष रूप-समाधि असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है।[2] इसका साधन परवैराग्य है; क्योंकि सालम्ब अभ्यास इसका साधन नहीं हो सकता। विराम का कारण परवैराग्य, वस्तुहीन आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है। उसमें कुछ भी चिन्त्य पदार्थ नहीं रहता। वह अर्थ-शून्य है और उसका अभ्यासी चित्त निरालम्ब और अभावापन्न-सा होता है। इस प्रकार की निर्बीज समाधि ही असंप्रज्ञात समाधि कही जाती है।[3] इसे ही जैन लोग निर्विकल्पक समाधि कहते हैं। समाधि का यह द्विविध वर्गीकरण बौद्धों में 'उपचार' और 'अर्पणा' के नाम से स्वीकार किया गया है। 'विसुद्धि-मग्ग' में उपचार-समाधि की परिभाषा लिखी है—**कुसलचित्तेकग्गता समाधिः**[4]; —कुशलचित्त में, अर्थात् शुद्ध आत्मा में, मन के एकाग्र होने को समाधि कहते हैं। इस सूत्र की व्याख्या से स्पष्ट है कि यह सालम्ब समाधि है। व्याख्या इस प्रकार है—**एकारम्मणे चित्तचेतसिकानं समं सम्मा च आधानं समाधानम्**[5]; अर्थात्, एक आलम्बन में चित्त और चित्त की वृत्तियों का समान और सम्यक् स्थित होना समाधान है।—**समाधानट्ठेन समाधिः**; अर्थात् समाधानार्थ ही समाधि है। यहाँ 'एकारम्मणे' के द्वारा आलम्बन की बात स्पष्ट ही झलकती है। अर्पणा-समाधि वह है, जिसमें आलम्बन के भान की आवश्यकता नहीं होती और मन निरवलम्ब में ही टिकता है।

जैन आचार्यों ने योगसूत्र की भाँति, निर्विकल्पक समाधि में आत्मविस्मृत हो जाने की बात स्वीकार नहीं की। वहाँ तो योगी सोता नहीं, अपितु जागरूक होता है। वह मोक्ष तक की इच्छा-कामनाओं को छोड़कर अपने शुद्ध आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आत्म-विस्मृति गीता की 'समाधि' में भी नहीं होती। श्री अरविन्द ने लिखा है, "समाधिस्थ मनुष्य का लक्षण यह नहीं है कि उसको विषयों, परिस्थितियों, मनोमय और अन्नमय पुरुष का होश ही नहीं रहता और शरीर को जलाने तथा पीड़ित करने पर भी इस चेतना में लौटाया नहीं जा सकता, जैसा कि साधारणतया लोग समझते हैं; इस प्रकार की समाधि तो चेतना की एक विशिष्ट प्रकार की प्रगाढ़ता है; यह समाधि का मूल लक्षण नहीं। समाधि की कसौटी है—सब कामनाओं का बहिष्कार, किसी भी कामना का मन पर चढ़ाई न कर सकना; और यह वह आन्तरिक अवस्था है जिससे स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है। आत्मा का आनन्द अपने ही अन्दर जमा रहता है और मन सम, स्थिर तथा ऊपर की भूमिका में ही अवस्थित रहता हुआ आकर्षणों और विकर्षणों से तथा बाह्य जीवन के घड़ी-घड़ी बदलने वाले आलोक, अन्धकार, तूफानों तथा झंझटों से निर्लिप्त रहता है।[6] यौगिक समाधि से गीता की समाधि सर्वथा भिन्न है। गीता में कर्म सर्वोच्च अवस्था तक पहुँचने का साधन है और मोक्ष-लाभ कर चुकने के बाद भी वह बना रहता है; जब कि राजयोग में सिद्धि के प्राप्त होते ही कर्म की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।[7]

पातञ्जल समाधि में पवन को वाञ्छापूर्वक अवरुद्ध करना पड़ता है; किन्तु जैनों के ध्यानी मुनियों को पवन रोकने का यत्न नहीं करना पड़ता। बिना ही यत्न के पवन रुक जाता है और मन अचल हो जाता है—ऐसा समाधि का प्रभाव है। पातञ्जल योग में समाधि को शून्य-रूप कहा है, किन्तु जैन ऐसा नहीं मानते; क्योंकि जब विभावों की शून्यता

---

१ पातञ्जल योगदर्शन, भगीरथ मिश्र-सम्पादित, श्रीमद्हरिहरानन्द-कृत हिन्दी-व्याख्या, पृ० २१४, लखनऊ वि० वि०
२ देखिये योगसूत्र, १।१८
३ देखिये, योगसूत्र, १।१८ का व्यास-भाष्य
४ आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, कौसाम्बीजी की दीपिका के साथ, तृतीय परिच्छेद, पृ० ५७
५ आचार्य बुद्धघोष, विसुद्धिमग्ग, तृतीय परिच्छेद, पृ० ५७
६ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, प्रथम भाग, पृ० १८७-१८८
७ देखिये, वही, पृ० १३३

हो जायेगी, तब वस्तु का ही अभाव हो जायेगा। योगसूत्र में अम्बर का अर्थ आकाश लिया गया है, तब जैनों ने आत्म-स्वरूप को अम्बर, अर्थात् शून्य, कहा है। "जैसे आकाश द्रव्य सब द्रव्यों से भरा हुआ है, परन्तु सबसे शून्य अपने स्वरूप में है, उसी प्रकार चिद्रूप आत्मा रागादि सब उपाधियों से रहित है, शून्य-रूप है, इसलिए आकाश शब्द का अर्थ शुद्ध आत्म-स्वरूप लेना चाहिए।"[1]

समाधि और भक्ति

योगसूत्र में ईश्वर-प्रणिधान को ही समाधि का कारण माना है।[2] ईश्वर का अर्थ है 'पुरुष-विशेष', जो पूर्वजों का भी गुरु है और जिसमें निरतिशय सर्वज्ञ के बीज सदैव प्रस्तुत रहते हैं। प्रणिधान का अर्थ है—भक्ति। ईश्वर की भक्ति से समाधि के मार्ग में आने वाली सभी बाधाएं शान्त हो जाती हैं। प्रणव का जाप, मन्त्रोच्चारण और अर्थ-भावन इसी ईश्वर-भक्ति के द्योतक हैं।[3] गीता में भी भक्ति को योग की प्रेरणा-शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। गीता की व्याख्या करते हुए श्री अरविन्द ने लिखा है, "यह योग उस सत्य की साधना है, जिसका ज्ञान दर्शन कराता है और इस साधना की प्रेरक शक्ति है—एक प्रकाशमान भक्ति, एक शान्त या उग्र आत्मसमर्पण का भाव—उन परमात्मा के प्रति, जिन्हें ज्ञान पुरुषोत्तम के रूप में देखता है।"[4] जैन शास्त्रों में धर्म्य ध्यान के चार भेद किये गए हैं जिनमें सबसे पहला है 'आज्ञा-विचय'।[5] 'विवेक' और 'विचारणा' विचय के पर्यायवाची नाम हैं। आज्ञा-विचय का अर्थ है—भगवान् जिन की आज्ञा में अटूट श्रद्धा करना। आज्ञा सर्वज्ञ-प्रणीत आगम को कहते हैं। आचार्य पूज्यपाद ने कहा है, **नान्यथावादिनो जिनाः इति गहनपदार्थश्रद्धानादवधारणमाज्ञाविचयः**।[6] अर्थात् भगवान् जिन अन्यथावादी नहीं होते; इस प्रकार गहन पदार्थ के श्रद्धान द्वारा अर्थ का अवधारण करना आज्ञा-विचय धर्म्य ध्यान है। आज्ञा-विचय के दूसरे अर्थ का उद्भावन करते हुए आचार्य ने कहा है, "भगवान् जिन के तत्त्व का समर्थन करने के लिए जो तर्क, नय और प्रमाण की योजना-रूप निरन्तर चिन्तन होता है, वह सर्वज्ञ की आज्ञा को प्रकाशित करने वाला होने से आज्ञा-विचय कहलाता है।"[7] प्रत्येक दशा में भगवान् जिन और उनकी आज्ञा पर पूर्ण श्रद्धा की बात है। इस भाँति धर्म्य ध्यान, जिसे मोक्ष-मार्ग का साक्षात् हेतु कहा गया है, भगवान् जिन में श्रद्धा करने की बात कहता है। यह बात गीता के आत्म-समर्पण तथा पातञ्जल योग के ईश्वर-प्रणिधान से किसी दशा में कम नहीं है। तीनों ही भक्ति और समाधि के स्थायी सम्बन्ध की घोषणा करते हैं।

सालम्ब समाधि के प्रकरण में रूपस्थ ध्यान की बात कही जा चुकी है। समवशरण में विराजित भगवान् अर्हन्त ही रूपस्थ हैं। रूपस्थ इसलिए हैं कि उनके रूप है और आकार है। रूपस्थ ध्यान में, ऐसे 'रूपस्थ' पर मन को टिकाना होता है। किन्तु इसके पूर्व मन का उधर झुकना अनिवार्य है, और मन श्रद्धा के बिना नहीं झुक सकता; अतः मन की एकाग्रता के पूर्व श्रद्धा का होना अनिवार्य है। अर्हन्त की पूजा, स्तुति और प्रार्थना आदि में लगी हुई एकाग्रता और इस ध्यान वाली एकाग्रता में बाह्य रूप से कुछ भी अन्तर हो; किन्तु दोनों ही के मूल में अगाध श्रद्धा की भूमिका है। श्रद्धा भक्ति-रस का स्थायी भाव है। पदस्थ ध्यान में एक अक्षर को आदि लेकर अनेक मन्त्रों का उच्चारण करते हुए 'पंच परमेष्ठी' का ध्यान किया जाता है। मन्त्रों के उच्चारण की एकतानता में आराध्य के प्रति मन की जो एकाग्रता पुष्ट

१ आचार्य योगीन्दु, परमात्मप्रकाश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, १६४वें दोहे का हिन्दी-भावार्थ, पृ० ३०८, बम्बई
२ पातञ्जल योगदर्शन, १।२३, पृ० ४९
३ पातञ्जल योगदर्शन, १।२४-२८, पृ० ५०-६०
४ अरविन्द, गीता-प्रबन्ध, भाग १, पृ० १३४
५ आज्ञापाय-विपाक-संस्थानविचयाय धर्म्यम्। —तत्त्वार्थसूत्र, ९।३६
६ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पं० फूलचन्द शास्त्रि-सम्पादित, पृ० ४४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
७ 'तत्त्वसमर्थनार्थं तर्कनयप्रमाणयोजनपरः स्मृतिसमन्वाहारः सर्वज्ञाज्ञाप्रकाशनार्थत्वादाज्ञाविचयः इत्युच्यते।'
—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ९।३६ का भाष्य, पृ० ४४९

होती है, वह ध्यान वाली एकाग्रता से कम नहीं है। मन्त्रोच्चारण, स्तुति-स्तवन, पूजा-अर्चा और ध्यान आदि सभी भक्ति की विभिन्न शैलियाँ हैं, जो श्रद्धा के प्रेरणा-स्रोत से ही सदैव सञ्चालित होती हैं।

सामायिक भी एक प्रकार का ध्यान है, जिसका निर्देशन उन गृहस्थ श्रावकों के लिए हुआ है, जो साधु नहीं हो सके हैं। श्रावक के शिक्षाव्रतों में इसका प्रथम स्थान है। सामायिक के स्वरूप से स्पष्ट है कि वह भक्ति का ही एक अंग-मात्र है। सामायिक में भी, गृहस्थ श्रावक को अपना मन 'पंच परमेष्ठी' पर केन्द्रित करना पड़ता है। 'चरित्तपाहुड' की छब्बीसवीं गाथा का हिन्दी-अनुवाद करते हुए पं० जयचन्द छावड़ा ने लिखा है, "सामायिक अर्थात् राग-द्वेष को त्याग कर, गृहारम्भ-सम्बन्धी सर्व प्रकार की पाप-क्रिया से निवृत्त होकर, एकान्त स्थान में बैठकर अपने आत्मिक स्वरूप का चिन्तवन करना व 'पंच परमेष्ठी' का भक्ति-पाठ पढ़ना, उनकी वन्दना करना, यह प्रथम शिक्षा-व्रत है।"[1] इस प्रकार आचार्य वसुनन्दि ने जिन-धर्म और जिन-वन्दना[2] को सामायिक कहा है और आचार्य श्रुतसागर ने समता के चिन्तवन को सामायिक कहा है।[3] आचार्य अमितगति सूरि के 'सामायिक-पाठ' में निबद्ध श्लोक भक्ति के ही निदर्शक हैं। एक स्थान पर उन्होंने लिखा है, "जैसे अन्धकार-समूह सूर्य को छू भी नहीं पाते, वैसे ही कर्म-कलंक जिसके पास फटक भी नहीं सकते, ऐसे नित्य और निरञ्जन भगवान् की शरण में मैं जाता हूँ।"[4] एक दूसरे स्थान पर उन्होंने भगवान् को हृदय में स्थापित करने की भावना भाते हुए लिखा है, "बड़े-बड़े मुनियों के समूह जिसका स्मरण करते हैं, सब नर और देवताओं के इन्द्र जिसकी स्तुति करते हैं तथा वेद और पुराण शास्त्र जिसके गीतों को गाते हुए नहीं रुकते, ऐसे देवों के देव भगवान् हमारे हृदय में विराजमान हों।"[5]

समाधिमरण और उसके भेद

समाधिमरण दो शब्दों, समाधि और मरण, से मिलकर बना है। इसका अर्थ है—समाधिपूर्वक मरना। शुद्ध आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते हुए प्राणों का विसर्जन समाधिमरण कहलाता है। सभी धर्मों के आचार्यों ने जीव के अन्त-काल को अत्यधिक महत्त्व दिया है। जैन आचार्यों ने तो यहाँ तक लिखा है कि जीवन-भर की तपस्या व्यर्थ हो जाती है, यदि अन्त समय में राग-द्वेष को छोड़कर समाधि धारण न की। आचार्य समन्तभद्र का कथन है—**अन्तक्रियाधिकरणं तपःफलं सलकदर्शिनः स्तुवते। तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्।**[6] अर्थात् तप का फल अन्तक्रिया के आधार पर अवलम्बित है, ऐसा सर्वदर्शी सर्वज्ञ देव ने कहा है। इसलिए यथासामर्थ्य समाधिमरण में प्रयत्नशील होना चाहिए। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' में लिखा है—**सुचिरामिवणिरदिचारं विहरित्ता णाण दंसण चरित्ते। मरणे विराधयित्ता अनंतसंसारिओ दिट्ठो।**[7] अर्थात् दर्शन, ज्ञान और चरित्र-रूप धर्म में चिरकाल तक निरतिचार प्रवृत्ति करने वाला मनुष्य भी यदि मरण के समय उस धर्म की विराधना कर बैठता है, तो वह संसार में अनन्त काल तक

---

१ आचार्य कुन्दकुन्द, षट्पाहुड में चरित्तपाहुड, २६वीं गाथा का हिन्दी-अनुवाद, प्रकाशक सूरजभान वकील, देवबंद

२ आचार्य वसुनन्दि, वसुनन्दिश्रावकाचार, गाथा २७४-७५, पृ० १०७, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३ देववन्दनायां निःसंक्लेशं सर्वप्राणिसमताचिन्तनं सामायिकमित्यर्थः।

—आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२१ का भाष्य, पृ० २४५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

४ न स्पृश्यते कर्मकलङ्कदोषैः, यो ध्वान्तसंघैरिव तिग्मरश्मिः।
निरञ्जनम् नित्यमनेकमेकम्, तं देवमाप्तं शरणं प्रपद्ये॥

—अमितगतिसूरि, सामायिक पाठ, ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जैन-सम्पादित, १८वाँ श्लोक, पृ० १७, धर्मपुरा, देहली

५ यः स्मर्यते सर्वमुनीन्द्रवृन्दैः, यः स्तयते सर्वनरामरेन्द्रैः।
यो गीयते वेदपुराणशास्त्रैः, स देवदेवो हृदये ममास्ताम्॥

—देखिये वही, १२वाँ, श्लोक, पृ० १४

६ आचार्य समन्तभद्र, समीचीनधर्मशास्त्र, ६।२, पृ० १६३, वीर-सेवा मन्दिर, दिल्ली

७ शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा १५, मुनि अनन्तकीर्ति दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई

घूम सकता है। समाधिमरण का विधान सभी के लिए है।

समाधिमरण के पाँच भेद हैं—पण्डितपण्डित, पण्डित, बालपण्डित, बाल और बाल-बाल। इनमें से प्रथम तीन अच्छे और अवशिष्ट दो बुरे हैं। बाल-बाल मरण मिथ्यादृष्टि जीवों के, बाल-मरण अविरत सम्यग्दृष्टियों के, बाल-पण्डित मरण देशव्रतियों (श्रावकों) के, पण्डित-मरण सकल संयमी साधुओं के और पण्डितपण्डित-मरण क्षीणकषाय केवलियों के होता है। पण्डितमरण के भी तीन भेद हैं—पहला 'भक्त-प्रत्याख्यान' कहलाता है। भक्त नाम भोजन का है, उसे शनैः-शनैः छोड़ कर जो शरीर का त्याग किया जाता है, उसे भक्त-प्रत्याख्यान मरण कहते हैं। भक्त-प्रत्याख्यान करने वाला साधु अपने शरीर की सेवा-टहल या वैय्यावृत्त्य स्वयं अपने हाथ से भी करता है, और यदि दूसरा करे, तो उसे भी स्वीकार कर लेता है। दूसरा 'इंगिनीमरण' है; जिसमें और तो सब 'भक्त-प्रत्याख्यान' के समान ही होता है, किन्तु दूसरे के द्वारा वैय्यावृत्त्य स्वीकार नहीं की जाती। तीसरा 'पादोपगमन मरण' है। इसे धारण करने वाले के लिए किसी प्रकार की वैय्यावृत्त्य का प्रश्न ही नहीं उठता। इसमें तो मरण-पर्यन्त प्रतिमा के समान किसी शिला पर तदवस्थ रहना होता है।[1]

सल्लेखना की व्याख्या

'समाधि-मरण' के अर्थ में ही 'सल्लेखना' का प्रयोग होता है। सल्लेखना पद 'सत्' और 'लेखना' दो शब्दों से मिल कर बना है। सत् का अर्थ है सम्यक् और लेखना का अर्थ है कृश करना; अर्थात् सम्यक् प्रकार से कृश करना। बुरे को ही क्षीण करने का प्रयास किया जाता है, अच्छे को नहीं। जैन सिद्धान्त में काय और कषाय को अत्यधिक बुरा कहा गया है, अतः उन्हें कृश करना ही सल्लेखना है। आचार्य पूज्यपाद ने **'सम्यक्कायकषायलेखना'**[2] को और आचार्य श्रुतसागर ने **सत् सम्यक् लेखना कायस्य कषायाणां च कृशीकरणं तनूकरणं**[3] को सल्लेखना कहा है।

मरण-काल के उपस्थित होने पर ही सल्लेखना धारण की जाती है। आचार्य उमास्वाति ने लिखा है—**मारणान्तिकीं सल्लेखनां जोषिता"**[4] अर्थात् मरण-काल आने पर गृहस्थ को प्रीतिपूर्वक सल्लेखना धारण करनी चाहिए। श्री उमास्वाति के इस सूत्र पर आचार्य पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि', भट्टाकलंक की 'राजवार्तिक' और श्रुतसागर सूरि की 'तत्त्वार्थवृत्ति' भाष्य-रूप में देखी जा सकती हैं। वहाँ इस सूत्र के प्रत्येक पद की व्याख्या विस्तारपूर्वक की गई है। सभी ने 'जोषिता' का प्रतिपादन प्रीतिपूर्वक धारण करने के अर्थ में ही किया है। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड-श्रावकाचार' में लिखा है—**उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे। धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनामार्याः।**[5] अर्थात्, प्रतिकार-रहित असाध्य दशा को प्राप्त हुए उपसर्ग, दुर्भिक्ष, जरा तथा रोग की दशा में और ऐसे दूसरे किसी कारण के उपस्थित होने पर जो धर्मार्थ देह का संत्याग है, उसे सल्लेखना कहते हैं।

काय और कषाय को क्षीण करने के कारण सल्लेखना दो प्रकार की होती है—काय-सल्लेखना, जिसे बाह्य सल्लेखना भी कहते हैं; और कषाय-सल्लेखना, जिसे आभ्यन्तर सल्लेखना कहते हैं। श्री शिवार्यकोटि ने 'भगवती-आराधना' में लिखा है—**एवं कदपरिकम्मो अब्भंतर बाहिरम्मि सल्लिहणे। संसार मोक्खबुद्धी, सव्ववरिल्लं तवं कुणदि॥** अर्थात् "ऐसे आभ्यन्तर सल्लेखना और बाह्य सल्लेखना ताके विषय बंध्या है परिकर जाकें, अर संसार तें छूटने की है बुद्धि जाकी, ऐसा साधु सो सर्वोत्कृष्ट तप कूं करै है।"[6] इन्हीं दो भेदों का निरूपण करते हुए आचार्य पूज्यपाद का कथन

---

१ समाधिमरण के भेदों के लिए देखिये, वट्टकेरि-कृत मूलाचार और शिवार्यकोटि-कृत भगवती-आराधना

२ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२ का भाष्य, पृ० ३६३, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

३ आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२२ को भाष्य, पृ० २४६, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

४ आचार्य उमास्वाति, तत्त्वार्थसूत्र, पं० कैलाशचन्द सम्पादित, ७।२२, पृ० १६८, चौरासी, मथुरा

५ आचार्य समन्तभद्र, समीचीन धर्मशास्त्र, ६।१, पृ० १६०

६ शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, हिन्दी-अनुवाद सहित, गाथा ७५, पृ० ४०, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला, हीराबाग, बम्बई

है—**कायस्य बाह्यस्याभ्यन्तराणां च कषायाणां तत्कारणहापन क्रमेण सम्यग्लेखना सल्लेखना**[1] अर्थात्, बाहरी शरीर और भीतरी कषायों को पुष्ट करने वाले कारणों को शनैः-शनैः घटाते हुए, उनको भले प्रकार कृश करना सल्लेखना है। आचार्य श्रुतसागर ने तो स्पष्ट ही कहा है—**कायस्य लेखना बाह्यसल्लेखना। कषायाणां सल्लेखना अभ्यन्तरा सल्लेखना**[2] अर्थात् काय की सल्लेखना बाह्य सल्लेखना और कषायों की सल्लेखना आभ्यन्तर सल्लेखना कही जाती है। काय बाह्य है और कषाय आन्तरिक।

आचार्य कुन्दकुन्द ने शिक्षाव्रतों के चार भेद माने हैं, जिनमें चौथी सल्लेखना है।[3] श्री शिवार्य कोटि, देवसेनाचार्य, जिनसेनाचार्य और वसुनन्दि सैद्धान्तिक ने भी सल्लेखना को शिक्षाव्रतों में ही शामिल किया है। दूसरी ओर, आचार्य उमास्वाति ने संल्लेखना को शिक्षाव्रतों में तो क्या, श्रावक के बारह व्रतों में भी नहीं गिना और एक पृथक् धर्म के रूप में ही उसका प्रतिपादन किया। आचार्य समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंकदेव, विद्यानन्दी सोमदेवसूरि, अमितगति और स्वामी कार्तिकेय आदि ने आचार्य उमास्वाति के शासन को स्वीकार किया है। इन आचार्यों का कथन है कि 'शिक्षा' अभ्यास को कहते हैं और सल्लेखना मरण-समय उपस्थित होने पर धारण की जाती है, अतः उसमें अभ्यास का समय ही नहीं रहता; फिर शिक्षा-व्रतों में उसकी गणना क्योंकर सम्भव हो सकती है ? इसके अतिरिक्त, यदि सल्लेखना को श्रावक के बारह व्रतों में गिना जाये तो श्रावक को आगे की प्रतिमाएं धारण करने के लिए जीवनावकाश ही न मिल सकेगा। सम्भवतः इसी कारण श्री उमास्वाति आदि आचार्यों ने सल्लेखना को श्रावक-व्रतों से पृथक् धर्म के रूप में प्रतिपादित किया है।[4]

सल्लेखना और समाधिमरण

जैन शास्त्रों के अनुसार सल्लेखना और समाधिमरण पर्यायवाची शब्द हैं। दोनों की क्रिया-प्रक्रिया और नियम-उपनियम एक-से हैं। आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' के छठे अध्याय की पहली कारिका में सल्लेखना का लक्षण लिखा, और दूसरी कारिका में उसी के लिए समाधिमरण का प्रयोग किया। श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-आराधना' में, अनेक स्थानों पर सल्लेखना और समाधिमरण का प्रायः एक ही अर्थ में प्रयोग किया गया है। आचार्य उमास्वाति ने श्रावक और मुनि, दोनों ही के लिए सल्लेखना का प्रतिपादन कर, मानों सल्लेखना और समाधिरण का भेद ही मिटा दिया है। किन्तु आचार्य कुन्दकुन्द समाधिमरण साधु के लिए और सल्लेखना गृहस्थ के लिए मानते थे। यह सच है कि 'मृत्यु' समय एक साधु, शुद्ध आत्मस्वरूप पर, अपने मन को जितना एकाग्र कर सकता है, उतना गृहस्थ नहीं। इस समय तक साधु अभ्यास और वैराग्य के द्वारा समाधि धारण करने में निपुण हो चुकता है। समाधि में एकाग्रता अधिक है, सल्लेखना में नहीं।

समाधिमरण और आत्म-वध

भारत के कुछ विद्वान्, जैन मुनि के समाधिमरण को आत्म-घात मानते हैं। आत्म-घात का शाब्दिक अर्थ है आत्मा का घात; किन्तु जैन दर्शन ने आत्मा को शाश्वत सिद्ध किया है। "आत्मा एक रूप से त्रिकाल में रह सकने वाला नित्य पदार्थ है। जिस पदार्थ की उत्पत्ति किसी भी संयोग से न हो सकती हो, वह पदार्थ नित्य होता है। आत्मा किसी

---

१ आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, ७।२२, पृ० ३६३

२ आचार्य श्रुतसागर, तत्त्वार्थवृत्ति, ७।२२ का भाष्य, पृ० २४४

३ सामाइयं च पढमं विदियं च तहेव पोसहं भणियं।
तइयं अतिहि पुज्जं चउत्थ संलेहणा अन्ते॥
—चरित्तपाहुड, गाथा २६, पृ० २८

४ पं० जुगलकिशोर मुख्तार, जैनाचार्यों का शासन-भेद, पृ० ४३ से ५७ तक

भी संयोग से उत्पन्न हो सकती हो, ऐसा मालूम नहीं होता; क्योंकि जड़ के चाहे कितने भी संयोग क्यों न करो, तो भी उसमें चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती।"[1] भावलिङ्गी मुनि सदैव विचार करता है, "मेरी आत्मा एक है, शाश्वत है है और ज्ञान-दर्शन ही उसका लक्षण है। अन्य समस्त भाव बाह्य हैं।"[2] इस भाँति नित्य आत्मा का घात किसी भी दशा में सम्भव नहीं है।

आत्मघात का प्रचलित अर्थ है—राग, द्वेष या मोह के कारण, विष, शस्त्र या अन्य किसी उपाय से, अपने इस जीवन को समाप्त कर लेना।[3] किन्तु जैन मुनि की समाधि न तो राग-द्वेष का परिणाम है, और न मोह का भावावेश। जैन आचार्यों ने समाधिमरण धारण करने वाले से स्पष्ट कहा है—यदि रोगादि कष्टों से घबरा कर शीघ्र ही समाप्त होने की इच्छा करोगे अथवा समाधि के द्वारा इन्द्रादि पदों की अभिवाञ्छा करोगे, तो तुम्हारी समाधि विकृत है।[4] इससे लक्ष्य तक न पहुँच सकोगे। मृत्यु-समय समाधि धारण करने वाले जीव का भाव अपने को समाप्त करना नहीं, अपितु शुद्ध आत्म-चैतन्य को उपलब्ध करना होता है। वह मृत्यु को बुलाने का प्रयास नहीं करता, अपितु वह स्वयं आती है। उसका समाधिमरण' आने वाले के स्वागत की तैयारी-मात्र है।

समाधिमरण में चिदानन्द को प्राप्त करने के लिए शरीर के मोह को छोड़ना होता है। किन्तु शरीर का मोह-त्याग और आत्मघात, दोनों एक ही बात नहीं हैं। पहले में संसार की वास्तविकता को समझ कर शरीर से ममत्व हटाने की बात है; और दूसरे में संसार से घबरा कर शरीर को समाप्त करने का प्रयास है। पहले में सात्त्विकता है, तो दूसरे में तामसिकता। एक में ज्ञान का प्रकाश है, तो दूसरे में अज्ञान का अन्धकार। मोह-त्याग में संयम है, तो आत्मघात में असंयम। समाधिमरण का उद्देश्य मोह-त्याग भी नहीं, अपितु आत्मानन्द प्राप्त करना है। आत्मस्वरूप पर मन को केन्द्रित करते ही मोह तो स्वयं ही दूर हो जाता है।[5] उसे नष्ट करने का प्रयास नहीं करना पड़ता। परम समाधि में तो सभी इच्छाएं विलीन हो जाती हैं, यहाँ तक कि आत्मा के साक्षात्कार की अभिलाषा भी नहीं रहती।

इसके अतिरिक्त जैन आगमों में आयु-कर्म को बहुत प्रबल माना गया है। चार घातिया कर्मों को जीतने वाले अर्हन्त को भी आयु-कर्म के बिल्कुल क्षीण होने तक इस संसार में रुकना पड़ता है। इस तथ्य को जानने वाला जैन मुनि आत्म-घात का प्रयत्न नहीं कर सकता। तीर्थंकर का स्पष्ट निर्देश है कि आत्मघात करने वाला नरकगामी होता है।

जैन शास्त्रों में समाधिमरण का उल्लेख

प्राकृत भाषा के 'दिगम्बर प्रतिक्रमण-सूत्र' में 'पण्डितमरण' शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ उसके तीन भेदों का भी विशद वर्णन है। यह प्रतिक्रमण सूत्र गौतम गणधर द्वारा रचित माना जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी सभी प्राकृत भक्तियों के अन्त में भगवान् जिनेन्द्र से—**दुक्खक्खओ कम्मक्खओ बोहिलाहो, सुगइगमणं, समाहिमरणं जिणगुण सम्पत्ति होउ मज्झं** के द्वारा समाधिमरण की याञ्चा की है। अनगारों की वन्दना करते हुए उन्होंने लिखा है, **एवं मएऽभित्थुया अणयारा रागदोसपरिसुद्धा। संघस्स वरसमाहिं मज्झवि-दुक्ख-**

१ श्रीमद् राजचन्द्र, डा० जगदीशचन्द्र जैन-सम्पादित, पृ० ३०७

२ एगो मे सास्सदो अप्पा णाण दंसण लक्खणो।
सेसा मे बाहिराभावा सव्वे संजोगलक्खणा॥

—आचार्य कुन्दकुन्द, भावप्राभृत, गाथा ५६।

३ रागद्वेषमोहाविष्टस्य हि विषशस्त्राद्युपकरणप्रयोगवशादात्मानं घ्नतः स्वघातो भवति।

—आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि, पृ० ३६३

४ जीवितमरणाशंसा-मित्रानुराग-सुखानुबन्ध निदानानि।

—तत्त्वार्थ सूत्र ७।३७

५ परमात्मप्रकाश, दोहा, पृ० ३२८

वखयं दिंतु ।[1] वट्टकेरस्वामी-कृत 'मूलाचार' में भी अनेक स्थानों पर समाधिमरण का प्रयोग हुआ है ।

श्री यतिवृषभाचार्य ने 'तिलोयपण्णत्ति' के 'चउत्थमहाधिकार' में **कत्तिय बहुल्लसंते सादीसुं दिणयरम्मि उग्गमिए। कियसण्णा सा सव्वे पावंति समाहिमरणं हि**[2] गाथा की रचना का है, इससे समाधिमरण प्राप्त करने की अभिलाषा स्पष्ट है ।

श्री शिवार्यकोटि की 'भगवती-आराधना' समाधिमरण का ही ग्रन्थ है । इसमें समाधिमरण-सम्बन्धी नियम-उपनियमों और भेद-प्रभेदों का विस्तार के साथ वर्णन हुआ है । इस विषय का ऐसा असाधारण ग्रन्थ दूसरा नहीं है । इसमें शौरसेनी प्राकृत की इक्कीस सौ सत्तर गाथाएं हैं। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है, "भक्ति से वर्णन की गई यह भगवती-आराधना संघ को तथा मुझको उत्तम समाधि का वर प्रदान करे। अर्थात्, इस के प्रसाद से मेरा तथा संघ के सभी प्राणियों का समाधिपूर्वक मरण होवे ।"[3]

'चेइयवंदणमहाभासं' में '**दुक्खक्खओ**......' की कई गाथाओं की व्याख्या की गई है। 'समाहिमरण' का अर्थ स्पष्ट करते हुए लिखा है—**भन्नइ समाहिमरणं, रागद्दोसेहिं विप्पमुक्काणं । देहस्सपरिच्चाओ भवंतकारी चरित्तीणं**[4] अर्थात् राग-द्वेष से विनिर्मुक्त चरित्रधारियों का भवान्तकारी देह का परित्याग समाधिमरण कहा जाता है। 'चेइयवंदणमहाभासं' प्राचीन प्राकृत गाथाओं का एक संकलन-ग्रन्थ है ।

आचार्य समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्डश्रावकाचार' में **तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम्**[5] के द्वारा समाधि-मरण का प्रतिपादन किया है । आचार्य पूज्यपाद ने स्व-रचित संस्कृत-भक्तियों में समाधि-भक्ति पर भी लिखा है। आचार्य जिनसेन ने अपने आदि-पुराण में लिखा है, "स्वयंप्रभा नामक देवी सौमनस वन की पूर्व दिशा के जिन-मन्दिर में चैत्य वृक्ष के नीचे पंच परमेष्ठी का भले प्रकार स्मरण करते हुए, समाधिमरण-पूर्वक प्राण-त्याग कर स्वर्ग से च्युत हो गई।"[6] उन्होंने ही एक दूसरे स्थान पर लिखा है, "जीवन के अन्त समय में परिग्रह-रहित दिगम्बर-दीक्षा को प्राप्त हुए सुविधि महाराज ने विधि-पूर्वक उत्कृष्ट मोक्ष-मार्ग की आराधना कर समाधिमरणपूर्वक शरीर छोड़ा, जिससे अच्युत स्वर्ग में इन्द्र हुए ।"[7]

श्री हरिषेणाचार्य-कृत बृहत्कथाकोश में 'जयसेननृपितकथानकम्' के

जिनेन्द्रदीक्षया शुद्धः सर्वत्यागं विधाय च। स्मरन् पंचनमस्कारं धर्मध्यानपरायणः ॥
स्वीयमुदरं हत्वा करवाल्याऽतितीक्ष्णया। समाधिमरणं प्राप्य सूरिरेष दिवं ययौ ॥[8]

---

१ देखिये आचार्य कुन्दकुन्द-कृत योगिभक्ति, गाथा २३, दश-भक्तिः, आचार्य प्रभाचन्द्र की संस्कृत-टीका और पं० जिनदास पार्श्वनाथ के मराठी-अनुवाद सहित, पृ० १८६, शोलापुर, १६२१ ई०

२ आचार्य यतिवृषभ, तिलोयपण्णत्ति, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित, चउत्थ महाधिकार, १५३१वीं गाथा, पृ० २४५, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, १६४३ ई०

३ आराहणा भगवदी एवं भत्तीए वण्णिदा संती ।
संघस्स सिवज्जस्स य समाहिवरमुत्तमं देउ ॥
—शिवार्यकोटि, भगवती-आराधना, गाथा २१६८ ।

४ चेइयवंदणमहाभासं, श्री शांतिसूरिसंकलित, मुनिश्री चतुरविजय और पं० बेचरदास-सम्पादित, गाथा ८६३, पृ० १५३, श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर, वि० सं० १६७७

५ आचार्य समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार ६।२, जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई

६ भगवज्जिनसेनाचार्य, महापुराण, प्रथम भाग, पं० पन्नालाल साहित्याचार्य-सम्पादित और अनूदित, ६।५६-५७, पृ० १२४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

७ देखिये वही, १०।१६-१७०, पृ० २२२,

८ हरिषेणाचार्य, बृहत्कथाकोश, डा० ए० एन० उपाध्ये-सम्पादित १५६।३६-४०, पृ० ३४६, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई

के द्वारा और 'शकटालमुनिकथानकम्' के

तद्वृतान्तमिदं ज्ञात्वा कृत्वा स्वालोचनाविधिम्। शरीरादिकमुज्झित्वा जपन् पञ्च नमस्कृतिम्।।
आदाय क्षुरिकां शान्तां पाटयित्वा निजोदरं। समाधिमरणं प्राप्य शकटालो दिवं ययौ।।[1]

द्वारा, प्रमाणित है कि नृपति जयसेन और मुनि शकटाल, दोनों ही ने अन्त समय में समाधिमरण धारण किया था।

श्री योगीन्दु ने 'परमात्मप्रकाश' में लिखा है कि मोक्ष-मार्ग में परिणाम दृढ़ करने के लिए ज्ञानी जन समाधिमरण की भावना भाते हैं।[2] इस प्रकार महाकवि पुष्पदन्त के 'णायकुमारचरिउ' में, **इसी मोक्खगामी, तुमं मज्झ सामी। फुडं देहि बोही विसुद्धा समाही।**[3] तथा 'त्रिभुवनतिलक' में **णं समाहि णं सरसइ णं दय, णं खम पुरिसवेस विहिणा कय।**[4] आदि उल्लेख मिलते हैं।

जैन पुरातत्त्व में समाधिमरण के चिह्न

श्रवण वेल्गोल के शिलालेख क्र० १ से प्रमाणित हो गया है कि श्री भद्रबाहु स्वामी संघ को आगे बढ़ने की आज्ञा देकर आप प्रभाचन्द्र नामक एक शिष्य-सहित कटवप्र पर ठहर गए और उन्होंने वहीं समाधिमरण किया।[5] प्रभाचन्द्र चन्द्रगुप्त का ही नामान्तर या दीक्षा-नाम था। श्रवण वेल्गोल के ही शिलालेख क्र० १७-१८, ४०, ५४ तथा १०८ से भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त दोनों का चन्द्रगिरि से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।[6] राजगिरि पर सप्तपर्ण और सोनभद्र नाम की दो गुफाएं हैं, जो वैभारगिरि के उत्तर में एक जैन मन्दिर के नीचे हैं। सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेनत्सांग ने वैभारगिरि पर निर्ग्रन्थ साधुओं को देखा था। इनमें से एक गुफा पर अङ्कित शिलालेख से स्पष्ट है कि मुनि वैरदेव के समय में वहाँ साधु समाधिमरणपूर्वक निर्वाण प्राप्त करते थे।[7] सितन्नवासल्ल पड्डुक्कोटा से वायव्यकोण में नवें मील पर अवस्थित है। यहाँ पर पाषाण के टीलों की गहराई में जैन गुफाएं उत्कीर्णित हैं। ईसा-पूर्व तीसरी शती का एक ब्राह्मी-लेख भी उपलब्ध है। उनमें जैन मुनियों की सात समाधि-शिलाएं हैं। प्रत्येक की लम्बाई ६-४ फुट है। गुफा का क्षेत्रफल १०० × ५० फुट है।[8] समाधि-शिलाएं वे स्थान हैं, जिन पर बैठ कर मुनियों ने समाधिमरण-पूर्वक मृत्यु को वरण किया था। महा नवमी-मण्डप के लेख क्र० ४२ (६६) में आचार्य नयकीर्ति के समाधि-मरण का सम्वाद है, जो सन् ११७६ में हुआ था।[9]

समाधिमरणपूर्वक मरने वाले साधु के अन्तिम संस्कार-स्थल को 'नसियाँजी' कहते हैं। यह जैन परम्परा का अपना शब्द है, जो अन्य किसी परम्परा में सुनने को नहीं मिलता। प्राकृत 'णिसीहिया' का अपभ्रंश 'निसीहिया' हुआ, और वह कालान्तर में नसिया होकर आजकल नशियाँ के रूप में व्यवहृत होने लगा है। संस्कृत में उसके 'निषीधिका', 'निषिद्धिका' आदि अनेक रूप प्रचलित हैं। 'बृहत्कल्पसूत्रनिर्युक्ति' की गाथा क्र० ५५११-४२ में 'निसीहिया' शब्द का

---

१ देखिये वही, १५७।१३६-४०, पृ० ३५४
२ देखिये परमात्मप्रकाश, पृ० ३२८
३ आचार्य पुष्पदन्त, णायकुमारचरिउ, डा० हीरालाल जैन-सम्पादित, द्वितीय परिच्छेद, ३।२०, पृ० १६, जैन पब्लिशिंग सोसाइटी, कारंजा, १९३३ ई०
४ देखिये वही, ६वां परिच्छेद, ४।५, पृ० ६५
५ जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, डा० हीरालाल जैन-सम्पादित, पृ० १-२, माणिकचन्द दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला समिति, बम्बई।
६ देखिये वही, पृ० क्रमशः ६, २४, १०१, २१०
७ प्राचीन जैन स्मारक, पृ० ११
८ मुनि कान्तिसागर, खंडहरों का वैभव, पृ० ६५, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
९ डा० हीरालाल जैन, श्रवणबेल्गोलस्मारक, जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग में निबद्ध, पृ० १३।

प्रयोग हुआ है, तात्पर्य उस स्थान से है, जहाँ क्षपक साधु का समाधिमरणपूर्वक दाह-संस्कार किया जाता है। 'भगवती-आराधना' की टीका में बतलाया गया है, "जिस स्थान पर समाधिमरण करने वाले क्षपक के शरीर का विसर्जन या अन्तिम संस्कार किया जाता है, उसे निषीधिका कहते हैं।"[1]

निसीदिया का सबसे पुराना उल्लेख सम्राट् खारवेल के हाथी-गुफा वाले शिलालेख में हुआ है। इस शिलालेख की १४वीं पंक्ति में '''**कुमारी पवते अरहते परवीण-संसतेहिकाय–निसीदयाय**''' और १५वीं पंक्ति में '''**अरहत निसीदिया समीपे पाभारे**''' पाठ आया है।[2] इससे निषीधिका की प्राचीनता सिद्ध होती है। उससे समाधिमरण की प्राचीनता तो स्वयमेव प्रमाणित है। वास्तव में ये निषीधिकाएं जैन मुनियों और साधुओं की स्मारक हैं। वे स्तूप भी इसके पर्यायवाची हैं, जो समाधिमरण करने वाले किसी महापुरुष की स्मृति में निर्मित हुए थे। आचार्य स्थूलभद्र ने वी० नि० सं० २१६ और ईसा-पूर्व ३११ में शरीर-त्याग किया। आज भी उनका समाधि-स्थान एक स्तूप के रूप में पटना में गुलजार-बाग स्टेशन के पिछले भाग में स्थित है। प्रसिद्ध यात्री श्युआनचुआंग ने इसे देखा था।[3] श्रवण बेल्गोल के जो लेख प्रकाशित हुए हैं, उनसे सिद्ध होता है कि वहाँ समाधिमरण से सम्बन्ध रखने वाले मुनि, अर्जिकाओं व श्रावक-श्राविकाओं के लेख-युक्त कई स्मारक हैं, जिनमें सर्वप्राचीन समाधिमरण का लेख शक० सं० ५७२ का है।

समाधिमरण की भावना

जैन परम्परा में आज भी **दुक्खक्खओ कम्मक्खओ समाहिमरणं च बोहिलाहो वि। मम होउ तिजगबन्धव तव जिणवर चरण सरणेण** की भावना भाई जाती है। समाधिमरण धारण करने वाले का यह आकुल भाव भिन्न-भिन्न युगों, स्थानों और भाषा-उपभाषाओं में व्यक्त होता रहा है। यहाँ आचार्य पूज्यपाद की समाधि-भक्ति[4] के कतिपय श्लोकों को उद्धृत किया जा रहा है। संस्कृत-साहित्य के सभी भक्त-कवियों ने कुछ कम-बढ़ रूप में इसी भाव को स्पष्ट किया है :

शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः
सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्।
सर्वस्यापि प्रिय-हितवचो भावना चात्मतत्त्वे
सम्पद्यन्तां मम भवभवे यावदेतेऽपवर्गः ॥२॥

हे भगवन्! मैं भव-भव में शास्त्राभ्यास, भगवान् जिनेन्द्र की विनती, सदा आर्यों के साथ संगति, अच्छे चरित्र वालों के गुणों का कथन, दूसरों के दोषों के विषय में मौन, सबके लिए प्रिय और हितकारी वचन और शुद्धात्म-तत्त्व में मन लगाता रहूँ, ऐसी प्रार्थना है।

आबाल्याज्जिनदेवदेव भवतः श्रीपादयोः सेवया,
सेवासक्त विनेय-कल्पलतया कालोऽद्य यावद्गतः।
त्वां तस्याः फलमर्थये तदधुना प्राणप्रयाणक्षणे,
त्वन्नाम प्रतिबद्धवर्णपठने कण्ठोऽस्त्वकुण्ठो मम ॥६॥

हे भगवन् जिनदेव! मेरा बचपन से लेकर आज तक का समय आपके चरणों की सेवा और विनय करते-करते ही व्यतीत हुआ है। इसके उपलक्ष में आपसे मैं यही वर चाहता हूँ कि आज इस समय, जबकि हमारे प्राणों के प्रयाण की

---

१ यथा निषीधिका-आराधक शरीर-स्थापनास्थानम्।
—मूलाराधना टीका, गाथा १६६७

२ जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग १६, किरण २, पृ १३५-३६

३ मुनि कान्तिसागर, खोज की पगडण्डियाँ, पृ० २४४, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

४ आचार्य पूज्यपाद, समाधि-भक्ति, संस्कृत भाषा में है, यह शोलापुर से मुद्रित दश-भक्ति में प्रकाशित हो चुकी है।

वेला आ उपस्थित हुई है, आपके नाम से जटित स्तुति के उच्चारण में मेरा कण्ठ अकुण्ठित न हो।

तव पादौ मम हृदये मम हृदयं तव पदद्वये लीनम्।

तिष्ठतु जिनेन्द्र तावद्यावन्निर्वाण सम्प्राप्तिः ॥७॥

हे जिनेन्द्र ! जब तक मैं निर्वाण प्राप्त करूँ, तब तक आपके चरण-युगल मेरे हृदय में और मेरा हृदय आपके दोनों चरणों में लीन बना रहे।

अनन्तानन्त-संसार-संततिच्छेदकारणम्। जिनराज-पदाम्भोज-स्मरणं शरणं मम ॥१४॥

अन्यथाशरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम। तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥१५॥

भगवान् जिनेन्द्र के चरणकमलों का वह स्मरण, जो अनन्तानन्त संसार-परम्पराओं को काटने में समर्थ है, मुझ दुःखी को शरण देने वाला है। मुझे आपके सिवा और कोई शरण देने वाला नहीं है, इसलिए हे भगवन् ! कारुण्य भाव से मेरी रक्षा करो।

न हि त्राता न हि त्राता न हि त्राता जगत्त्रये। वीतरागात्परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥१६॥

जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने। सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥१७॥

याचेऽहं याचेऽहं जिन तव चरणारविन्दयोर्भक्तिम्। याचेऽहं याचेऽहं पुनरपि तामेव तामेव ॥१८॥

तीनों लोकों में भगवान् वीतराग के अतिरिक्त कोई रक्षा करने वाला नहीं है। ऐसा देव न कभी भूत में हुआ और न भविष्यत् में होगा। भक्त का भगवान् से निवेदन है कि, प्रतिदिन भव-भव में मुझे भगवान् जिनेन्द्र की भक्ति उपलब्ध हो। हे जिनेन्द्र ! मैं बारम्बार यही प्रार्थना करता हूँ कि आपके चरणारविन्द की भक्ति मुझे सदैव प्राप्त होनी रहे। मैं पुनः-पुनः उसी की याचना करता हूँ।

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति शाकिनीभूतपन्नगाः। विषो निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे ॥१९॥

भगवान् जिनेन्द्र की स्तुति करने से विघ्नों के समूह-रूप शाकिनी, भूत और पन्नग सभी विलीन हो जाते हैं और विष निर्विषता को प्राप्त हो जाता है।
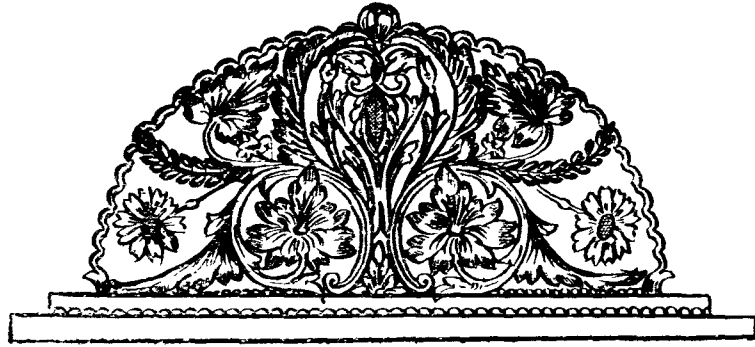
भारतीय दर्शन में स्याद्वाद

प्रो० विमलदास कोंदिया जैन, एम० ए०, एल-एल० बी०
दर्शन-विभाग, हिन्दू विश्व-विद्यालय, वाराणसी

दर्शन और विषय-प्रवेश

भारत धर्म-प्राण देश है। धर्म का उद्देश्य, ऐहिक सुख-दुःखों का तारतम्य अनुभव करते हुए चरम लक्ष्य—आत्यन्तिक सुख या मोक्ष की प्राप्ति है। धार्मिक तत्त्वों का साक्षात्कार करना दर्शन है। दर्शन की उत्पत्ति तत्त्व-साक्षात्कार के लिए हुई है। यही कारण है कि धर्म और दर्शन परम्परानुबद्ध हैं। 'धर्म' शब्द के मुख्य अर्थ हैं—धारण करने से धर्म,[1] या उत्तम सुख में धरने से धर्म,[2] अथवा वस्तु-स्वभावरूप धर्म।[3] धर्म वह है, जो धारण किया जाय या धर्म वह है जो मनुष्य को उत्तम सुख की प्राप्ति करा दे, या धर्म वह है जो वस्तु का स्वभावरूप हो। तीनों ही अर्थ प्रायः एक ही लक्ष्य को सूचित करते हैं। दर्शन शब्द का अर्थ है, जिसके द्वारा देखा जाये;[4] अर्थात् जिसके द्वारा तत्त्व (reality) का साक्षात्कार हो जाये।[5] तत्त्व इन्द्रिय-ज्ञानातीत है।[6] उसको देखने की प्रवृत्ति या आकांक्षा प्रत्येक मानव में है। मानव ऐहिक सुख की अस्थिरता का अनुभव करता है और सांसारिक वस्तुओं की क्षणभंगुरता देखकर किसी शाश्वत वस्तु की प्राप्ति के लिए जिज्ञासा करता है। जन्म-दुःख, जरा-दुःख, रोग-दुःख, मरण-दुःख आदि को अनुभव करते हुए किसके चित्त में उद्वेग उत्पन्न नहीं होता है? जब प्रत्येक प्राणी का अनुभव एक समान ही है तो धर्म या दर्शन की जिज्ञासा होना स्वाभाविक है। अतः ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं कि दुःखानुभूति मानव को धर्म या दर्शन की खोज में प्रवृत्त कराती है।[7] भारतवर्ष में संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ-साथ धर्म और दर्शन दोनों का लक्ष्य मोक्ष, अपवर्ग, निःश्रेयम्, कैवल्य, निर्वाण, आत्यन्तिक दुःख-निवृत्ति, ब्रह्म-प्राप्ति, विज्ञान, शून्य, स्वर्ग आदि की प्राप्ति रहा है। यही कारण है कि भारतीय चिन्तक धर्म और दर्शन को पृथक्-पृथक् न कर सके। आधुनिक युग में हमें कुछ-कुछ पार्थक्य पाश्चात्य दर्शन के प्रभाव में दीखने लगा है। पाश्चात्य दर्शन में हम दर्शन के लिए फिलॉसॉफी (Philosophy) शब्द का प्रयोग पाते हैं, जिसका अर्थ होता है बुद्धि का प्रेम (Love of wisdom)। पाश्चात्य देशों में दर्शन बुद्धि का चमत्कार रहा है। वहाँ लोग ज्ञान को मात्र ज्ञान के लिए ही अपने जीवन का लक्ष्य समझते थे और अब भी अनेक चिन्तकों का यही मत है।[8]

पाश्चात्य विचारों के अनुसार दार्शनिक वह है, जो जीव, जगत्, परमात्मा, परलोक आदि तत्त्वों का निरपेक्ष विद्यानुरागी हो। किन्तु इसके विपरीत भारतवर्ष में दार्शनिक वह है, जो तत्त्व का साक्षात्कार करते हुए मोक्ष-मार्ग में

---

१ धारणात् धर्ममित्याहु।—मनु।
२ यो धरत्युत्तमे सुखे। —रत्नकरण्डश्रावकाचार, समन्तभद्र
३ वत्थुसहावो धम्मो। —कुन्दकुन्दाचार्य
४ दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम्।—सर्वदर्शनसंग्रह टीका
५ The aim of philosophy is to see reality directly.
६ Reality is transcendental.
७ अणुभवमूलो धम्मो।
८ Knowledge for sake of knowledge.

संलग्न रहता है। यही कारण है कि जैन दर्शन में धर्म का मूल दर्शन या सम्यक् दर्शन को बतलाया है।[१] सम्यक् दर्शन का अर्थ स्वानुभूति या आत्म-साक्षात्कार है, जो आत्म-विकास की प्रथम सोपान या सीढ़ी है। इसके विना ज्ञान और चरित्र आत्म-विकास के हेतु नहीं होते।[२] यही कारण है कि भारतीय दर्शनशास्त्र कल्पना-कुशल कोविदों के मनोविनोद का साधन-मात्र नही है और न विश्व की अपूर्व, आश्चर्यमय वस्तुओं को देखकर उनके रहस्यों को जानने के लिए या तत्सम्बन्धी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए प्रयास-मात्र है। भारत में दर्शन की उत्पत्ति चरम मूल्यांकन के लिए हुई है और यहाँ के दर्शनकार अपनी सूक्ष्म और तलस्पर्शी विवेचना-शक्ति के द्वारा चरम लक्ष्य को निर्धारित कर, उसके साधन मार्ग की व्याख्या में प्रवृत्त होते रहे हैं और उसके लिए ही दार्शनिक तत्त्वों का पर्यालोचन करते रहे है। अतः दर्शन को दृष्टि कहना अधिक उपयुक्त है। भारतवर्ष में अनेक दृष्टियाँ उत्पन्न हुई और प्रायः सभी दर्शनकारों ने अपनी-अपनी दृष्टियों द्वारा जीवन और जगत् की गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न किया है। ये दृष्टियाँ दो प्रकार की हैं—१. एकान्त, और २. अनेकान्त। प्रथम वस्तु-तत्त्व का एकान्त-दृष्टि से विचार करती है और द्वितीय अनेकान्त-दृष्टि से। एकान्त-दृष्टि में आग्रह होता है और वह राग-द्वेषादि को जन्म देने वाली होती है। इससे चित्त की साम्यावस्था पैदा नहीं होती है। इसके विपरीत अनेकान्त-दृष्टि चित्त में स्थिरता पैदा करके राग-द्वेषादि विकारों या उद्वेगों को दूर करती है और मानव को साम्य-योग में अवस्थित कर स्थितप्रज्ञ बनाती है। एकान्त-दृष्टि के मुख्य भेद हैं—१. एकान्त, २. विपरीत, ३. संशय, ४. अज्ञान, ५. वैनयिक और ६. कुनय। उक्त दृष्टियाँ वस्तु-तत्त्व का एकान्त-दृष्टि से विचार करती हैं। अनेकान्त-दृष्टि इनके विरुद्ध वस्तु-तत्त्व को समग्र रूप से विवेचन करती हुई वस्तु के अशेष स्वरूप का साक्षात्कार कराती है। इसी हेतु से आचार्य समन्तभद्र ने कहा है कि तत्त्व एकान्त-दृष्टि का प्रतिविम्ब करता है।[३] तत्त्व एकान्त नहीं है; उसका स्वरूप अनेकान्तात्मक है।[४] जब इसी तत्त्व को हम भाषा द्वारा प्रकट करते हैं, तब यह स्याद्वाद कहलाता है।

भारतीय दर्शन की दो विचारधाराएं

भारतीय दर्शन दो विचारधाराओं में विभक्त है—१. श्रमण, और २. ब्राह्मण। इन दोनों धाराओं का परस्पर विचार-सम्बन्धी विरोध वैदिक काल से ही चला आ रहा है। इसके प्रतिपादक अनेक उल्लेख मिलते हैं। जैसे—"उस समय न सत् था और न असत् था।[५]" "जो व्यक्ति यहाँ नाना या अनेकता को देखता है, वह मृत्यु से मृत्यु को प्राप्त करता है।[६]" "जिनका शाश्वतिक विरोध है, वे हैं: श्रमण और ब्राह्मण, साँप और नेवला।[७]" इत्यादि विरोध-सूचक वाक्य इस को सिद्ध करते हैं कि भारतीय चिन्तन के क्षेत्र में इन परम्पराओं में बहुत काल तक संघर्ष चलता रहा है; फिर भी दोनों परम्पराएं यहाँ पर पनपती और फलती-फूलती रही हैं। उत्तर काल में दोनों परम्पराओं का आपस में आदान-प्रदान भी

---

१ दंसणमूलो धम्मो। —कुन्दकुन्दाचार्य

२ मोख महल की परथम सीढ़ी, या बिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै सो दर्शन, जानो भव्य पवित्रा॥
—पं० दौलतराम, छहढ़ाला

दर्शनं ज्ञानचारित्रात्साधिमानमुपाश्नुते।
दर्शनं कर्णधारं तन्मोक्षमार्गे प्रचक्षवे॥
—समन्तभद्र, रत्नकरण्डश्रावकाचार।

३ एकान्तदृष्टिप्रतिषेधि तत्त्वम्। —समन्तभद्र

४ तत्त्वमनेकान्तमशेषरूपम्। —समन्तभद्र

५ नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्। —ऋग्वेद, नासदीय सूक्त १०।२।८

६ मृत्योः स मृत्युमाप्नोति इह नानेव पश्यति।

७ येषां च शाश्वतिको विरोधः। श्रमणब्राह्मणम्, अहिर्नकुलम्। —पातञ्जल महाभाष्यम्, पृ० ५३९

होता रहा है और दोनों ने एक-दूसरी को प्रभावित भी किया है; जैसे, संन्यास ब्राह्मण-परम्परा में स्थान पा गया; वर्ण और आश्रम-व्यवस्था कुछ सीमा तक श्रमण-परम्परा में प्रवेश कर गई, इत्यादि। इन दोनों परम्पराओं के पार्थक्य की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

१. श्रमण-धारा की आधारशिला अहिंसा और अनेकान्त रहे हैं। ब्राह्मण-धारा इसके विपरीत हिंसा और एकान्त में विश्वास करती रही है। इसके प्रमाण यज्ञयागादि-जन्य हिंसा और अनेक दर्शनों की उत्पत्तियाँ हैं।

२. प्रथम परम्परा के लोग संयम और तप को प्रधान मानते रहे है और दूसरी परम्परा के लोग ऐहिक अभ्युदय या भोग और वर्णाश्रम-व्यवस्था को समाज का आधार मानते रहे हैं।

३. प्रथम विचारधारा का लक्ष्य मोक्ष रहा है,जो क्षत्रिय जाति की देन है। इसके विपरीत द्वितीय धारा के लोग ऐहिक सामंजस्य,दान-दक्षिणा और स्वर्ग-प्राप्ति को अपना ध्येय मानते रहे हैं। ब्राह्मणों में सर्वदा इसकी प्रधानता रही है।

४. श्रमण-परम्परा ईश्वर या ब्रह्म में विश्वास नहीं करती, अतः उनके दर्शन का आधार आत्मानुभव के साक्षात्कार में रहा है। ब्राह्मण-परम्परा ब्रह्म या ईश्वर में विश्वास करती हुई वेदों को अनादि, नित्य और ईश्वरोक्त मानती रही है, अतः उनके दर्शनों का मूलाधार आविर्भाव (Revelation) रहा है।

५. श्रमण लोग स्त्री और शूद्रों को उचित स्थान देते रहे हैं। ब्राह्मण लोगों ने उन्हें धर्म और वेदाध्ययन के अधिकारों से वंचित रखा है। स्त्री का वेदाध्ययन-निषेध इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

६. श्रमणों में संन्यास या त्याग का विशेष महत्त्व रहा है। ब्राह्मणों में पहले संन्यास को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता था; अपितु संन्यासी को अशुभ समझते थे। बोधायन आपस्तम्ब और गौतम गृह्यसूत्रों में इसका उल्लेख नहीं है। बाद में संन्यास को भी प्रश्रय मिला।

७. श्रमण-दर्शन आत्मा की खोज और उसके स्वरूप की प्राप्ति में सदा संलग्न रहता था। ब्राह्मण-दर्शन ईश्वर या ब्रह्म-प्राप्ति को अपना लक्ष्य समझता था और आत्मा को उससे भिन्न नहीं मानता था। इसीलिए ब्राह्मण-दर्शन अभेद-मूलक है और श्रमण-दर्शन भेद या भेदाभेद-मूलक है।

इस प्रकार दोनों परम्पराओं में भेद होते हुए भी दोनों के संघर्ष के परिणाम-स्वरूप भारतवर्ष मे दर्शन-शास्त्र का अच्छा विकास हुआ है। भारत अब भी अपने दार्शनिक चिन्तन के लिए सुप्रसिद्ध है और विदेशों में इसका मान है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

सब ज्ञानों की विषयभूत वस्तु अनेकान्तात्मक होती है।[1] इसी कारण से वस्तु को अनेकान्तात्मक कहा है। जिसमें अनेक अर्थ, भाव, सामान्य-विशेष गुण पर्यायरूप से पाये जायें, वह अनेकान्त है।[2] केवलज्ञान में वस्तु-तत्त्व अनेकधर्मात्मक ही प्रतीत होता है। इस अनेकान्तात्मक वस्तु-तत्त्व को भाषा द्वारा प्रतिपादन करने का नाम स्याद्वाद है।[3] अतः अनेकान्त और स्याद्वाद में महान् अन्तर है। जिन आचार्यों ने स्याद्वाद को अनेकान्त कहा है, उन्होंने स्थूल दृष्टि से कह दिया है। तत्त्व-ज्ञान की दृष्टि से दोनों में भेद है। स्याद्वाद श्रुत है; अनेकान्त वस्तुगत तत्त्व है। आचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट रूप से कहा है; "स्याद्वाद और केवलज्ञान दोनों ही वस्तु-तत्त्व के प्रकाशक है। दोनों में भेद इतना ही है कि एक वस्तु का साक्षात् ज्ञान कराता है और दूसरा असाक्षात् ज्ञान कराता है; अर्थात् एक प्रत्यक्ष है, तो दूसरा परोक्ष है। एक के बिना दूसरा अवस्तु हो जाता है।[4] कहा भी है—'स्याद्वाद श्रुत कहलाता है।'[5] स्याद्वाद परोक्ष होने से श्रुत है। स्याद्वाद में 'स्यात्'

१ अनेकान्तात्मकं वस्तुगोचरं सर्वसंविदाम्।—सिद्धसेन, न्यायावतार

२ अर्थोऽनेकान्तः। अनेके अन्ता, भावा, अर्थाः सामान्यविशेषगुणपर्यायाः यस्य सोऽनेकान्तः।

३ अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः।—अकलंक, लघीयस्त्रयी।

४ स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्ववस्तुप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत्।—समन्तभद्र, आप्तमीमांसा १०५

५ स्याद्वादः श्रुतमुच्यते।

शब्द का विशेष स्थान है। यह निपात है और अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रतिपादक है। अर्थ का प्रतिपादक होने से श्रुतकेवली द्वादशांगी की रचना में सर्वत्र इसका उपयोग करते हैं।[1] स्याद्वाद क्रमभावी ज्ञान है।[2] केवलज्ञान में क्रम नहीं होता। एकान्त का सर्वथा त्याग करने के कारण इसका दूसरा नाम कथंचित्वाद भी है।[3] अतः स्याद्वाद-सिद्धान्त के अनुसार कथंचित् वस्तु सद्रूप है, कथंचित् असद्रूप है; कथंचित् नित्य है, कथंचित् अनित्य है; कथंचित् एक है, कथंचित् अनेक है; कथंचित् भेद-रूप है, कथंचित् अभेद-रूप है; कथंचित् सामान्य-रूप है, कथंचित् विशेष-रूप है। इस प्रकार के परस्पर-विरोधी धर्मों का सामंजस्य स्याद्वाद द्वारा ही हो सकता है। क्योंकि वस्तु-तत्त्व की सिद्धि अर्पणा या अनर्पणा[4] अथवा गौण या मुख्य भाव से हो सकती है। यह कार्य अपेक्षा (Relativity) द्वारा ही सम्भव है। एकान्ताग्रह से वस्तु-तत्त्व की सिद्धि नहीं हो सकती और न दृष्टि में निर्मलता ही आ सकती है।

जैन दर्शन का मूल सिद्धान्त अनेकान्त है। स्याद्वाद उसी का विकास-मात्र है। अनेकान्त केवलज्ञानजन्य अनुभूति है। जब उसी अनुभूति का वचन द्वारा प्रकाशन किया जाता है तो उसे स्याद्वाद कहते हैं। यही कारण है कि भगवद्वाणी स्याद्वादमयी होती है।[5] अतः स्याद्वाद का जन्म भगवान् अर्हन्त देव की दिव्य भाषा के साथ है। इस युग के आदि तीर्थंकर ऋषभ हैं; इसलिए उनको ही स्याद्वाद का आदि-प्रवर्तक कहा जा सकता है। भगवान् ऋषभ के अनन्तर बाईस तीर्थंकर उसी प्रकार का उपदेश अपनी स्याद्वादमयी वाणी द्वारा करते रहे हैं।[6] वर्तमान समय के अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर हैं, जिनका अस्तित्व और सिद्धान्त बौद्ध त्रिपिटकादि ग्रन्थों द्वारा सिद्ध है। इस समय वेही स्याद्वाद-सिद्धान्त के पुरस्कर्ता कहे जाते हैं। कहा जाता है कि उनके ही समकालीन संजयवेलत्थिपुत्त ने इस सिद्धान्त का अज्ञानवाद के रूप में प्रतिपादन किया था।[7] उसी को भगवान् महावीर ने परिवर्धित और परिष्कृत किया, अथवा उत्तरकाल में जिस वस्तु को माध्यमिकों ने चतुष्कोटि-विनिर्मुक्त[8] कहा, उसी को महावीर स्वामी ने विधि-रूप देकर परिपुष्ट किया। ऐतिहासिक पण्डितों की ये कल्पनाएं इसीलिए निराधार हैं कि जैन तीर्थंकरों ने अनेकान्त-तत्त्व का साक्षात्कार किया और श्रुत-केवलियों ने उनके अर्थ को अनुश्रुत करके स्याद्वाद श्रुत के रूप में वर्णन किया। इसके अतिरिक्त निषेध सर्वदा विधिपूर्वक[9] होता है; अतः इसके प्रतिष्ठापक अर्हन्त-केवली, श्रुत-केवली आदि ही हैं, साधारण व्यक्ति नहीं। अन्य आरातीयादिकों ने उन्हीं का अनुसरण किया है। इस तत्त्व का बीज-रूप में धवलादि दिगम्बर आगम, आचारांग, भगवती आदि श्वेताम्बर आगमों में उल्लेख पाया जाता है;[10] किन्तु यह आश्चर्य है कि वहाँ स्याद्वाद शब्द का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इस तत्त्व का स्पष्ट उल्लेख समन्तभद्र सिद्धसेन, अकलंक[11] आदि के ग्रन्थों में ही है। उत्तरकालीन साहित्य में तो इसका अत्यन्त विस्तृत रूप पाया जाता है। अतः स्याद्वाद का विकास उत्तरोत्तर वृद्धिगत होता रहा है, इसमें कोई संशय नहीं। स्याद्वाद की मुख्य प्रतिष्ठा का श्रेय समन्तभद्र

१ वाक्येष्वनेकान्तद्योती गम्यं प्रति विशेषकः।
स्यान्निपातोऽर्थयोगित्वात्तव केवलिनामपि॥—समन्तभद्र, आप्तमीमांसा १०३
२ क्रमभावी च यज्ज्ञानं स्याद्वादनयसंस्कृतम्।— वही
३ स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात् किंवृत्तचिद्विधिः। — वही
४ अर्पितानर्पित सिद्धेः।—तत्त्वार्थसूत्र
५ स्याद्वादः भगवत्प्रवचनम्।—न्यायविनिश्चयविवरण, पृ० ३६४
६ सव्वे तित्थयरा एवमेव अत्थम् भासयन्ति।—आचारांगसूत्र; कल्पसूत्र
७ अत्थीत्ति न भणामि णत्थीत्ति न भणामि, इत्यादि
८ चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः।—माध्यमिक कारिका, नागार्जुन
९ विधिपूर्वकत्वान्निषेधस्य।
१० जीवाणं भन्ते! किं सासया, असासया?
गोयमा! जीवा सिय सासया, सिय असासया।—भगवती सूत्र ७।२।२७३; सूत्रकृतांगसूत्र २।५।२५
११ स्याद्वादः सर्वथैकान्तत्यागात्किंवृत्तचिद्विधिः। स्याद्वादिभ्यो नमो नमः, इत्यादि

की है। सिद्धसेन ने भी इसकी परिपुष्टि में अच्छा भाग लिया है। अकलंक, हरिभद्र, विद्यानन्द, वादिदेव, हेमचन्द्र आदि ने तो इसके विकास में चार चांद लगा दिये हैं। आचार्य कुन्दकुन्द ने तो केवल सप्तभंगी का उल्लेख किया है,[1] स्याद्वाद का नहीं; जो कुछ भी हो, स्याद्वाद जैन दर्शन के तत्त्वों का वर्णन करने में अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ है।

स्यात् शब्द का प्रयोग

स्याद्वाद में 'स्यात्' शब्द का अत्यन्त महत्त्व है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है 'स्यात्'शब्द सत्य का प्रतीक है।[2] पर्याय में सत्य (truth) का प्रतिपादन स्यात् शब्द के प्रयोग के बिना हो ही नहीं सकता। इस हेतु से ही आचार्यों ने 'स्यात्' शब्द का प्रयोग न करने पर भी सर्वत्र इसकी अनुस्यूतता की आवश्यकता बतलायी है।[3] सत्य का प्रवचन स्याद्वाद द्वारा होता है। इसी कारण स्याद्वाद को श्रुत या श्रुति कहा गया है। स्याद्वाद-दृष्टि द्वारा वस्तु अनित्य, नित्य, सदृश, विरूप आदि धर्मों द्वारा प्रकटित की जाती है।[4] इसकी व्यापकता और सार्वभौमता इसी से सिद्ध है कि यह सिद्धान्त वस्तु के सम्पूर्ण अर्थ का विनिश्चय करने वाला है। जो परस्पर-निरपेक्ष अर्थ है, वह मिथ्या है। जब वही सापेक्ष हो जाता है, तब नयश्रुत का विषय बन जाता है और वह सापेक्ष वस्त्वंशों का प्रतिपादक होने के नाते सम्यक् नयों के रूपों को धारण करता है।[5] इसलिए कहीं-कहीं पर नयों के प्रतिपादन में भी स्यात् शब्द की उपयोगिता बतलायी है। इसी के आधार पर सप्तभंगी के दो भेद कर दिये गए हैं: १. प्रमाण-सप्तभंगी और २. नय-सप्तभंगी। सप्तभंगी के सातों भंगों में स्यात् शब्द का प्रयोग है।

स्व-चतुष्टय और पर-चतुष्टय

जब हमने यह मान लिया कि वस्तु-तत्त्व सापेक्ष है और उसका प्रतिपादन स्याद्वाद द्वारा होता है, तो यह भी मानना पड़ेगा कि यह अपेक्षा चार सन्दर्भों में प्रकट की जा सकती है: १. द्रव्य, २. क्षेत्र, ३. काल और ४. भाव। प्रत्येक वस्तु अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा सत् है और पर द्रव्य, क्षेत्र,काल और भाव की अपेक्षा असत् है—इसकी आवश्यकता आचार्य समन्तभद्र ने इसी अर्थ में बतलायी है।[6] जब वस्तु का स्वरूप सत् है और सत् द्रव्य का लक्षण है,[7] और वह उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक[8] है; तो हमें कहना पड़ेगा कि ये तीनों आपेक्षिक है। क्योंकि उत्पाद ही भंग है, भंग ही उत्पाद है; ध्रौव्य ही उत्पादव्ययात्मक है, उत्पादव्यय ही ध्रौव्य हैं।[9] यह वर्णन देखने में विरोधात्मक प्रतीत होता है, किन्तु अपेक्षा-दृष्टि से विरुद्ध दीखता हुआ भी अविरोध-रूप और निर्दोष है। इसी हेतु जब द्रव्य-सम्बन्ध, क्षेत्र-सम्बन्ध, काल-सम्बन्ध और भाव-सम्बन्ध आदि सापेक्ष सम्बन्धों को लेते हैं तो विरोध स्वतः समाप्त हो जाता है और वस्तु का यथार्थ और सत्य-तत्त्व अनेकान्तात्मक प्रतीत होता है, जिसका वर्णन स्याद्वाद करता है।

१ सिय अत्थि णत्थि उहयं।—पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, कुन्दकुन्दाचार्य

२ स्यात्कारः सत्यलांछनः सर्वथात्वनिषेधकोऽनेकान्तद्योतकः कथंचिदर्थे स्यात्-शब्दो निपातः।

—पंचास्तिकायटीका, अमृतचन्द्र

३ सोऽप्रयुक्तोपि सर्वत्र स्यात्कारोऽर्थात्प्रतीयते।—लघीयस्त्रयी, श्लोक २२

४ स्यान्नाशि नित्यं सदृशं विरूपम्। —अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक २५, आचार्य हेमचन्द्र

५ निरपेक्षा तया मिथ्या, सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत्। —आप्तमीमांसा

६ सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते॥ —आप्तमीमांसा, श्लोक १५

७ सद् द्रव्यलक्षणम्। —तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५

८ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।—तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ५; उपन्नेइ वा विगमेई वा धुवेइ वा।—स्थानांग, सूत्र, ठा० १०

९ स्थितेरनोत्पद्यते विनाशमेव तिष्ठति उत्पत्तिरेव नश्यति। —अष्टशती, पृ० ११२

सत्य का स्वरूप जटिल (complex) है। इसका प्रतिपादन सरलता से नहीं हो सकता है। जिन दार्शनिकों ने सत्य को सरल समझा है, उन्होंने या तो इसको एकत्व में परिसमाप्त कर दिया है, या शून्यता के गर्त में डाल दिया है, या साधारण वर्णन करके छोड़ दिया है, या ऐहिक सुख के प्रलोभन में पड़कर भूत-चतुष्टय-मात्र कहकर टाल दिया है, या अज्ञेयता को परिपुष्ट किया है, या संशयवाद में पड़कर चुप हो गए हैं, या अनेक कुनयों के चक्कर में पड़कर भिन्न-भिन्न सिद्धान्त बनाये है,जो परस्पर-विरोधी होने के कारण त्याज्य और हेय है। इसकी जटिलता को समझ कर ही जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद-सदृश विलक्षण सिद्धान्त की खोज की है, जो सत्य को सत्यार्थ-रूप में प्रकट करके वस्तु-तत्त्व को सुबोध्य और सुगम्य बनाता है। इस कारण से ही आप्त-मीमांसा में आचार्य ने तीर्थंकर प्रभु को निर्दोष,[1] यथार्थ वक्ता और सत्य का प्रतिपादक कहा है। क्योंकि स्याद्वाद मानसिक तुष्टि और वचन-शुद्धि का साक्षात् कारण है। स्याद्वाद ही अहिंसा का आचरण करने के लिए मानव को बाध्य कराता है। मानसिक, वाचिक और कायिक अहिसा इसी से उत्पन्न होती है। जब विरोध ही नहीं तो हिंसा के लिए कहाँ स्थान है? हिंसा विरोध में उत्पन्न होती है। स्याद्वाद के मानने पर इसके प्रचार से हम शान्ति स्थापित कर सकते हैं और विरोध तथा युद्ध की विभीषिका को, विचार और कार्य के क्षेत्र से, सदा के लिए समाप्त कर सकते हैं। हेमचन्द्र ने ठीक कहा है कि निष्कंटक स्याद्वाद के शासन में ही सर्वत्र शान्ति और सुख की प्रतिष्ठा हो सकती है।

स्याद्वाद और वैदिक दर्शन

अन्य दर्शनों में स्याद्वाद का क्या स्थान है, यह विषय भी अपना एक मौलिक स्थान रखता है। वैदिक दर्शन का अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि वैदिक ऋषि स्याद्वादादिक चिन्तन की प्रक्रिया से परिचित थे। अन्यथा वे नासदीय सूक्त में सत् और असत् दोनों का विरोध न करते।[2] एक ही स्वर से दोनों का विरोध इस बात को सिद्ध करता है कि यह केवल स्याद्वाद का निषेध है। उपनिषद्-काल में तो इसका स्पष्ट निषेध मालूम होता है। श्रमणों तथा तपस्वियों के उल्लेख के साथ-साथ वहाँ स्याद्वाद की झलक भी स्पष्ट रूप से प्रतीत होती है। एक जगह कहा गया है: वह नहीं हिलता है और वह हिलता भी है।[3] अन्यत्र एक ऋषि कहता है: सत् एक है, किन्तु विप्र उसे अनेक रूप मे वर्णन करते हैं।[4] दूसरी जगह कहा है: सृष्टि के आरम्भ में सत् ही था; असत् से सत् की उत्पति कैसे हो गई?[5] गीता में एक जगह कहा गया है,'**न स सत्तन्नासदुच्यते**'; अर्थात् वह न सत् है और न असत्। इन उल्लेखों से इतना तो स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि सत् और असत् दोनों से परिचित थे। कहीं एक-एक का समर्थन है, कहीं दोनों की विधि है और कहीं दोनों का निषेध है। यथार्थ में देखा जाये तो प्रतीत होगा कि यही तीनों विकल्प—सत्, असत्, अवक्तव्य अनेकान्त या स्याद्वाद के मूल हैं। अनेकान्त, स्याद्वाद और सप्तभंगी के दार्शनिक सिद्धान्त इनकी ही सुव्यवस्था करते हैं। इससे अनेकान्त-तत्त्व और स्याद्वाद की काफी प्राचीनता सिद्ध होती है। वैदिक ऋषियों द्वारा 'नाना' आदि का खण्डन इसी तथ्य का सूचक है।

स्याद्वाद और बृहस्पति या चार्वाक दर्शन

चार्वाक दर्शन भौतिक दर्शन है।[6] इसका प्रतिपादन सृष्टि-कर्तृत्व तथा सृष्टि-अभिव्यक्ति द्वारा हुआ है। कुछ लोग भूत-चतुष्टय को विश्व का कर्ता मानते थे और कुछ लोग एक तत्त्व से सृष्टि की अभिव्यक्ति मानते थे। वहाँ केवल प्रत्यक्ष

१ **स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्रविरोधिवाक्। —आप्तमीमांसा**
२ **नासदासीन्नो सदासीत् तदानीम्, इत्यादि। —ऋग्वेद, १०।१२९।४; शतपथब्राह्मण १०।४।१**
३ **यन्नेजति तदेजति।—उपनिषद्**
४ **एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति। —उपनिषद्**
५ **सदेवेदमग्र आसीत् कथं त्वसतः सञ्जायेति।—ताण्ड्यब्राह्मण, प० ६।२**
६ **यावज्जीवेत् सखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।—चार्वाक दर्शन**

ही प्रमाण था। अतः जीवन को सुखमय बनाना या ऐहिक सुखवाद ही उनके जीवन का लक्ष्य था। इस प्रकार के भूत-चतुष्टयवाद की सभी दर्शनकारों ने आलोचना की है। यद्यपि जैन दर्शन का इससे साक्षात् सम्बन्ध तो कोई नहीं है; फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि चार्वाक लोग जड़ पदार्थ से ही निर्जीव तत्त्व और जीव-तत्त्व की व्याख्या करते हैं, जो बिना स्याद्वाद-दृष्टि को अपनाये नहीं बनती। अतः चार्वाकों का यह चिन्तन स्याद्वाद का आधार लिये हुए प्रतीत होता है। भौतिक क्षेत्र में स्याद्वाद को अपनाना सर्वथा स्याद्वाद का निषेध नहीं कहा जा सकता।[1] यहाँ एक बात शोचनीय है कि यहाँ के लोगों ने भूत-चतुष्टयवाद को पनपने नहीं दिया, अन्यथा इसके सिद्धान्त के विषय में हमारा इतना अज्ञान न होता।

स्याद्वाद और बौद्ध दर्शन

भारतीय दर्शनों में बौद्ध दर्शन अत्यन्त प्रौढ़ और बलिष्ठ है। यह वैदिक दर्शनों के सर्वथा विपरीत है। यदि वे नित्यत्व के प्रतिष्ठापक हैं तो यह अनित्यत्व का। दोनों में आत्यन्तिक विरोध है। सब क्षणिक है, सब अनित्य है, निर्वाण शान्त है[2], चार आर्य-सत्य, अष्टांग मार्ग, प्रतीत्य-समुत्पाद आदि इसके मुख्य सिद्धान्त हैं। निर्वाण प्रदीप की शान्ति के समान है। यद्यपि इनके सिद्धान्त एकान्त को लिये हुए हैं, फिर भी इन्होंने अनेकान्त या स्याद्वाद का विभज्यवाद के रूप में अवश्य उपयोग किया है। यही कारण है कि बुद्ध ने अनेक प्रश्नों का उत्तर नहीं दिया और आनन्द के ऐसे प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया।[3] इनके मुख्य भेद चार हैं: १. वैभाषिक, २. सौत्रान्तिक, ३. विज्ञानवाद और ४. माध्यमिक। इनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिकों का चिन्तन जैन दर्शन की प्रक्रिया के साथ कुछ साम्य रखता है। विज्ञानवाद और माध्यमिक दर्शन प्रत्ययवादी दर्शन होने के कारण जैन दर्शन से सर्वथा विपरीत हैं, जिनमें माध्यमिक दर्शन शून्यवादी होने के कारण स्याद्वाद का अत्यन्त विरोधी है।[4] शान्तरक्षित विज्ञानवादी ने तो इसको विप्र, निर्ग्रन्थ और कापिलों का अज्ञान कहा है।[5] त्रिपिटकों में भी 'सीहनाद सुत्त' आदि में महावीर स्वामी का खण्डन किया गया है। फिर भी इतना अवश्य है कि निश्चय, व्यवहार, संवृत्ति सत्य, पारमार्थिक सत्य, सन्तान, विज्ञान आदि के सिद्धान्त स्याद्वाद-दृष्टि के बिना समझ में नहीं आ सकते।

न्याय, वैशेषिक और स्याद्वाद

न्याय और वैशेषिक, चिन्तन और प्रक्रिया में लगभग समान होने के कारण एक गिने जाते है। सप्त पदार्थ[6] या सोलह[7] पदार्थ लगभग समान हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, अभाव आदि का वर्णन नित्यानित्यत्व दोनों को लिये हुए है; किन्तु ये दर्शन सर्वथा भेद के प्रतिपादक होने के कारण एकान्ती कहलाते हैं। इनका चिन्तन नैगम नय के समान है। गुण-गुणी आदि का सर्वथा भेद जैन-दर्शन से विरुद्ध पड़ता है। ईश्वर की मान्यता जैन दर्शन से सर्वथा विपरीत है। दोनों दर्शन पर्यायवादी होने के कारण कुछ समानता रखते हैं। पृथ्वी आदि तत्त्वों को नित्यानित्य[8] मानकर स्याद्वाद का आश्रय लेना प्रतीत होता है। अतः न्याय और वैशेषिक जैन दर्शन से विपरीत नहीं कहे जा सकते।

१ अध्यात्मसार।—यशोविजय।
२ सव्वं खणियम्। सर्वमनित्यम्। शान्तं निर्वाणम्।
३ दश अव्याकृत प्रश्न—शाश्वतो वाऽयं लोकः अशाश्वतो वा, इत्यादि।
४ चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदुः।— माध्यमिक कारिका
५ कल्पनारचितस्यैव वैचित्र्यस्योपवर्णने।
को नामातिशयः प्रोक्तः विप्रनिर्ग्रन्थकापिलैः॥ —तत्त्वसंग्रह
६ द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाभावाः सप्तपदार्थाः।—वैशेषिक दर्शन
७ प्रमाणप्रमेय···निःश्रेयसम्।—गौतम, न्यायसूत्र १
८ पृथ्वी नित्याऽनित्या च।—तर्कसंग्रह

इनका प्रमाण-विषयक चिन्तन अपूर्ण है। अकलंक आदि ने इनके चिन्तन से प्रभावित होकर प्रत्यक्ष के मुख्य और सांव्यवहारिक दो भेद किये हैं और जैन ज्ञान-सिद्धान्त को मध्य युग में तत्कालीन चिन्तकों के अनुरूप बनाया है। यह इनकी विशेषता है।

सांख्य, योग और स्याद्वाद

सांख्य अत्यन्त प्राचीन होने के कारण विशेष विचारणीय है। ये दो तत्त्वों को मानते हैं : १. पुरुष और २. प्रकृति। पुरुष इनके यहाँ पुष्कर-पलाश के समान निर्लेप है।[१] वह भोक्ता है। पुरुष जैन दर्शन के समान अनेक हैं। वह निरपेक्ष द्रष्टा है। बुद्धि से अध्यवसित अर्थ में पुरुष चेतना पैदा करता है। इनका लक्ष्य कैवल्य है। प्रकृति-तत्त्व, जैन पुद्गल-तत्त्व से समानता रखता है। किन्तु इनके यहाँ यह एक है जड़ है और प्रसवधर्मी है। सत्त्व, रज,तमस् की समता प्रकृति है। इनके अन्दर क्षोभ होने से सृष्टि का आरम्भ होता है और प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार, उससे षोडश गण : पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेद्रियाँ, पाँच भूत और उनमें पाँच तन्मात्राएं और मन की उत्पत्ति या विकास होता है।[२] कर्तृत्व धर्म इसमें पाया जाता है। यह विकार को भी स्थान देती है। पुरुष न प्रकृति है और न विकृति।[३] योग-सिद्धान्त भी प्रायः इसी प्रक्रिया को मानता है। पतंजलि ने ईश्वर को[४] तथा योग (अष्टांग) को इसके साथ मिलाकर नवीन दर्शन का निर्माण किया। जैन योग और पतंजलि-योग बहुत-कुछ समानता रखते हैं। इन दोनों दर्शनों ने प्रकृति को एक और अनेक मानकर स्याद्वाद की महत्ता का परिचय दिया है और प्रतीत होता है कि ये दर्शन इसके प्रभाव मे सर्वथा वंचित नहीं रहे हैं।

मीमांसा-दर्शन और स्याद्वाद

मीमांसा-दर्शन की उत्पत्ति वैदिक क्रियाकाण्ड को प्रामाणिक सिद्ध करने के लिए हुई थी। शब्द-नित्यत्व आदि के सिद्धान्त इनके अपूर्व हैं। भावना, विधि, नियोग आदि के द्वारा ये वैदिक सूक्तों के अर्थों का निर्णय करते थे। जहाँ तक दार्शनिक तत्त्वों का सम्बन्ध है, ये जैन दर्शन के समान ही उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यात्मक तत्त्व को ही मानते थे। इनके दो भेद हैं : १. भाट्ट मत और २. प्रभाकर मत। दोनों में बहुत थोड़ा अन्तर है। उत्पादादि त्रय को तत्त्व का स्वरूप मानने मे इनकी आस्था स्याद्वाद में प्रतीत होती है। तत्त्वसंग्रहकार इनको स्याद्वाद का पोषक मानता था। इसलिए ही, निर्ग्रन्थों के साथ-साथ ही इनका भी खण्डन किया है। ये वेदों को अपने चिन्तन का आधार मानते हैं। वेद-प्रामाण्य तथा शब्द के नित्यत्व के सिद्धान्तों का आलोचन करके जैन दर्शनकार तीर्थंकर-प्रणीत आगम और शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि करते हैं। फिर भी दार्शनिक क्षेत्र में इनका चिन्तन सामान्यविशेषात्मक है।[५] मीमांसा-दर्शन पदार्थ के निर्णय में अपनी अपूर्व देन समझता है, किन्तु तत्त्वचिन्तन में जैन दर्शनाधीन है और स्याद्वाद-शैली का उपयोग करता है। इनका लक्ष्य स्वर्ग-प्राप्ति[६] है न कि मोक्ष, जो जैन तत्त्वज्ञानियों का चरम ध्येय है।

वेदान्त और स्याद्वाद

भारतीय दर्शन में वेदान्त का विकास अन्तिम और सबसे महत्त्वपूर्ण है। यह ब्रह्म-तत्त्व को मानता है। वह सत्,

---

१ प्रकृतिस्तु कर्त्री पुरुषस्तु पुष्करपलाशवन्निर्लेपः।
२ प्रकृतेः महान् ततोऽहंकारः...पञ्चेभ्यः पञ्चभूतानि।—सांख्यतत्त्वकौमुदी
३ न प्रकृतिः न विकृतिः पुरुषः।—सांख्यकारिका
४ क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेषः ईश्वरः। —योगदर्शन
५ निर्विशेषं हि सामान्यं भवेच्छागविषाणवत्।
सामान्यरहितत्वेन विशेषास्तद्वदेव हि॥—कुमारिल मीमांसा श्लोकवार्तिक
६ स्वर्गकामो यजेत्। —यजुर्वेद

चित्, आनन्दमय है।[1] ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है। जीव और ब्रह्म में कोई अन्तर नहीं।[2] इन्होंने बाह्य जगत् की व्याख्या के लिए माया के सिद्धान्त का निर्माण किया है। माया अनिर्वचनीय है। यह है भी और नहीं भी है। इसके लिए ये निश्चय और व्यवहार का आश्रय लेते हैं। इनके यहाँ जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति-रूप तीन अवस्थाओं का वर्णन है। जब ब्रह्म माया से अविच्छिन्न होता है, तब ईश्वर का रूप निर्माण कर जगत् के सर्जन में प्रवृत्त होता है।[3] इनके अनुसार जगत् ब्रह्म का विवर्त है। जैसे समुद्र में लहरें उठती हैं, उसी प्रकार जगत् ब्रह्म का बाह्य रूप है।[4] संसार से निवृत्ति के लिए माया से ब्रह्म का पार्थक्य आवश्यक है। आचार्य बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में इसका अच्छा वर्णन किया है। शंकर ने भाष्य लिखकर इस सिद्धान्त की अच्छी तरह परिपुष्टि कर अद्वैत-तत्त्व की स्थापना की है। रामानुज ने इसी पर भाष्य लिखकर विशिष्टाद्वैत की स्थापना की है। माध्वाचार्य, निम्बार्क आदि आचार्यों ने भेदाभेद आदि सिद्धान्तों को प्रतिपादित कर, अद्वैत-तत्त्व ही सर्वप्रधान है, यह स्थापित किया है। माया के क्षेत्र में तथा निश्चय-व्यवहार के क्षेत्र में इन्होंने स्याद्वाद का आश्रय अवश्य लिया है। बिना स्याद्वाद के इनकी व्याख्या समुचित रूप से नहीं हो सकती। वेदान्तोत्तर दर्शनों ने कोई खास सिद्धान्तों की स्थापना नहीं की है, अतः उनका पर्यालोचन करने पर स्याद्वाद-शैली का उनके ऊपर स्पष्ट प्रभाव प्रतीत होता है।

स्याद्वाद और उसकी आलोचनाएं

बादरायण और शान्तरक्षित के बाद स्याद्वाद पर आलोचनाओं की काफी बौछारें पड़ी हैं। बादरायण ने विरोध को न्याय का मूल सूत्र मानकर कहा कि एक वस्तु में परस्पर-विरोधी धर्म नहीं रह सकते।[5] शान्तरक्षित ने लगभग ऐसा ही कहा है, अर्थात् अस्ति-नास्ति, नित्य-अनित्य, एक-अनेक, व्यापि-अव्यापि इत्यादि परस्पर-विरोधी अर्थ हैं। ये एक ही वस्तु में, एक ही क्षेत्र में, एक ही काल में तथा एक ही भाव में एकत्रित नहीं रह सकते हैं; अतः स्याद्वाद परस्पर-विरोधी भावों को समावेश करने के कारण सन्न्याय नहीं कहा जा सकता।[6] विरोध के रहने पर वैयधिकरण, संशय, संकर, उभय, व्यतिकर, अनवस्था, अप्रतिपत्ति, अभाव आदि दोष आयाततः आ जाते हैं।[7] इस कारण ही शान्तरक्षित ने कह डाला कि स्याद्वाद अज्ञानियों की परिकल्पना है। पश्चात् स्याद्वाद को संशयवाद, छल, अज्ञानवाद आदि दोषों से भी सम्बोधित किया जाने लगा। आलोचक लोग आज भी स्यात् शब्द का शायद (may be, perhaps) आदि शब्दों से अनुवाद करके इसको संशयवाद आदि शब्दों से उद्बोधित करने में नहीं चूकते। डा० एस०राधाकृष्णन्, दासगुप्ता, हिरियन्ना आदि विद्वानों ने शंकर की आलोचना के आधार पर इसकी आलोचना की है।

जैन तत्त्वज्ञानियों ने इस आलोचनाओं का समुचित उत्तर दिया है। अष्टसहस्री, लघीयस्त्रयी, प्रमेयकमलमार्तण्ड, स्याद्वादरत्नाकर, रत्नावतारिका, सिद्धिविनिश्चय, न्यायविनिश्चयविवरण आदि ग्रन्थों में इसका अच्छा विवेचन किया

---

१ सत् चित् आनन्दमयं ब्रह्म।

२ ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापरः।

३ जन्मा ह्यस्य यतः।—ब्रह्मसूत्र १

४ सर्वं खलु इदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कश्चन॥

५ नैकस्मिन्नासम्भवात्।—ब्रह्मसूत्र २, २-३३

६ सोऽयमज्ञैः परिकल्पितः।—शान्तरक्षित, तत्त्वसंग्रह, श्लोक १७७६

७ संशयविरोधवैयधिकरणसंकरमयोभयम् दोषाः।
अनवस्था व्यतिकरमपि जैनमते सप्तदोषाः स्युः॥
—स्याद्वादरत्नाकर, पृ० ७३८ सप्तभंगीतरंगिणी

है। इस विषयक आलोचना का स्पष्ट उत्तर उन्होंने दिया है कि स्याद्वाद एक ही द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा नित्यानित्यादि विकल्पों को नहीं मानता है। आचार्य उमास्वाति ने स्पष्ट-रूप में कहा है कि वस्तु-स्थिति[1] अर्पित और अनर्पित अपेक्षाओं को लेकर होती है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—"नाना भाव को न छोड़ते हुए वस्तु एक है और उसी प्रकार एक भाव को न छोड़ती हुई वस्तु नाना है। दोनों में अङ्गाङ्गी-भाव है और इसीसिए वस्तु अनन्तरूप है और वह वस्तु-क्रम मे वाणी की वाच्य बनती है।'[2] अनन्त-रूप वस्तु से जब हम वाणी द्वारा विवेचन करेंगे तो वह अवश्य स्याद्वाद रूप होगी। अतः विरोध के लिए कोई स्थान नहीं। जब विरोध न हो तो वैयधिकरण अर्थात् नित्य का अन्य अधिकरण, अनित्य का अन्य अधिकरण-रूप दोष भी नहीं। उसके अभाव में परस्पर विरोधरूप अनेक कोटियों से स्पर्श करने वाला संशय भी नहीं रह सकता। इसके अभाव में परस्पर नित्यानित्य के मिश्रण-रूप लेकर भी दोष नहीं आ सकता। संकर के अभाव में नित्यानित्य, फिर उसमें भी नित्यानित्यरूप अप्रामाणिक अनन्त पदार्थों की कल्पनारूप अनवस्था का भी दोष नहीं आ सकता। दोनों के अभाव में उभय दोष की तो कल्पना भी नहीं हो सकती। परस्पर विषयगमन-रूप व्यतिकर दोष भी स्थान नहीं पा सकता। जब परस्पर-विरोधी धर्म अपेक्षा-भेद से समाविष्ट हो सकते हैं तो अप्रतिरूप दोष के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता। कुन्दकुन्दाचार्य के अनुसार वस्तु-स्वरूप ही ऐसा है[3], जो परस्पर-विरुद्ध होता हुआ अविरुद्ध है। यह स्याद्वाद की महिमा है। जब वस्तु का रूप ही ऐसा है तो उसे अभाव का विषय नहीं बनाया जा सकता। यथार्थ में वस्तु सत्स्वरूप है और वह भावाभावात्मक है। भाव के समान अभाव भी वस्तु का धर्म है और इन सब का वर्णन स्याद्वाद-वाणी द्वारा किया जा सकता है। कुछ दार्शनिक लोक स्याद्वाद को छल-रूप[4] कहते हैं। उनका कहना है कि अर्थ के विकल्पों को उठाकर जो वचन का विधान करना है—वह छल है। स्याद्वाद में नित्यानित्यादि विकल्पों को उठाकर वस्तु की सिद्धि की जाती है, अतः वह छल-रूप है। उनकी यह आपत्ति सर्वथा निराधार है। स्याद्वाद में स्पष्ट रूप से नवकम्बल के नवीन कम्बल और नौ कम्बल के रूप में विकल्प उठाकर वचन का विधान नहीं किया गया है। इसमें तो अपेक्षा-भेद से वस्तु-तत्त्व का निर्दोष वाणी द्वारा वर्णन किया जाता है। इसी हेतु से आचार्य हेमचन्द्र ने स्याद्वाद को निष्कंटक राज्य कहा है। इसके साम्राज्य में विरोध कदापि नहीं रह सकता। प्रजा इसको अपनाने पर विरोधादि भावों को त्याग कर शान्ति और प्रेमपूर्वक जीवन व्यतीत कर सकती है। यथार्थ में एकान्त से आग्रह और आग्रह से राग-द्वेषादि दोष और इनके होने से अहंकार आदि उत्पन्न होते हैं, जो मानव के चित्त में क्षोभ आदि भावों को पैदा करके अनेक प्रकार से असद्वृत्ति के कारण बनते हैं और आत्मा में समत्व को कभी पैदा नहीं होने देते।[5]

मूल्यांकन

उपसंहार रूप में हमें कहना पड़ता है कि स्याद्वाद का मूल्य अपूर्व है। भारतीय दर्शन-क्षेत्र में इसका योगदान वैसा ही है जैसा कि राजनीतिक क्षेत्र में यू० एन० ओ० का है। स्याद्वाद सुख, शान्ति और सामंजस्य का प्रतीक है। विचार के क्षेत्र में अनेकान्त, वाणी के क्षेत्र में स्याद्वाद और आचरण के क्षेत्र में अहिंसा, ये सब भिन्न-भिन्न दृष्टियों को लेकर एकरूप ही हैं। क्योंकि जो दोष नित्यवाद में हैं, वे समस्त दोषअनित्यवाद में उसी प्रकार से हैं। अर्थ-क्रिया न नित्यवाद में बनती है न अनित्यवाद में; अतः दोनों वाद परस्पर-विध्वंसक हैं। इसी कारण स्याद्वाद की विजय अवश्यम्भाविनी है। जैन तत्त्वज्ञानियों को चाहिए कि इसका आचरण और प्रचार करें। इसका प्रचार हमारे अणुव्रत-आन्दोलन आदि में अत्यन्त

१ **अर्पितानर्पित सिद्धेः।—तत्त्वार्थ सूत्र, अध्याय ५।**

२ **नानात्यलमप्रजहत्तदेकमेकात्मतामप्रजहच्च नाना।**
अङ्गाङ्गिभावात्तव वस्तु तद्यत् क्रमेण वाक् वाच्यमनेकरूपम्॥ —युक्त्यनुशासनम् श्लोक ५

३ **अण्णोण्ण विरुद्धमविरुद्धम्। —पंचास्तिकाय**

४ **अर्थविकल्पोत्पत्त्या वचनविधानः छलम्। —गौतमसूत्र**

५ **एकान्तधर्माभिनिवेशमूला रागादयोऽहंकृतिजा जनानाम्। —समन्तभद्र**

सहायक होगा। हिंसा-ग्रहिंसा, सत्य-ग्रसत्य ग्रादि का निर्णय इसके द्वारा बड़ी सुगमता से हो सकता है। पाँच ग्रणुव्रत यथार्थ में ग्रहिंसा के ही ग्रल्परूप हैं। इनको महान् बनाकर ग्राचरण की शुद्धि करके नैतिक स्तर को उठाया जा सकता है। मानव ग्राचरण को शुद्ध करके, स्याद्वादरूप वाणी द्वारा सत्य की प्रस्थापना करके, ग्रनेकान्तरूप वस्तु-तत्त्व को प्राप्त कर ग्रात्म-साक्षात्कार कर सकता है। ग्रनन्तचतुष्टय ग्रौर सिद्धत्व की प्राप्ति इसी के द्वारा सम्भव हो सकती है। इसी हेतु ग्राचार्य समन्तभद्र ने ठीक कहा है :

सर्वान्तवत्तद्गुण मुख्यकल्पं, सर्वान्तशून्यं च मिथोनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥

जैन दर्शन सर्वोदय-रूप तीर्थ है। इसकी छत्र-छाया में सब का उदय सम्भव है। इसमें विरोध-विद्वेष ग्रादि के लिए कोई स्थान नहीं। यह शान्ति, सुख ग्रौर सामंजस्य का मूल है। इस दृष्टि को लेकर चलने से ही भारत का ग्रभ्युदय हो सकता है ग्रौर हम समग्र भू-मण्डल की संस्कृति ग्रौर सभ्यता के पुनः पुरस्कर्ता बन सकते हैं।
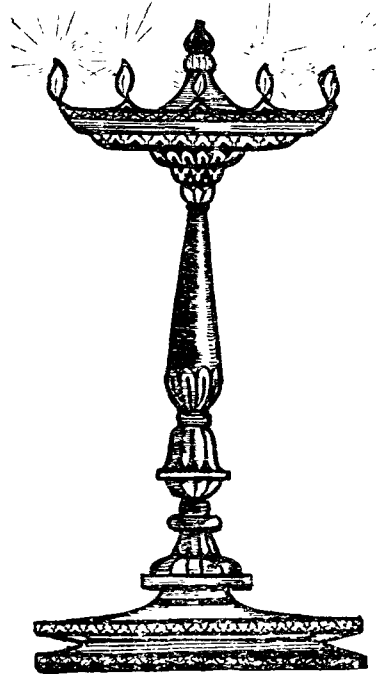
स्याद्वाद और जगत्

मुनिश्री नथमलजी

यह विश्व भेदाभेद, नित्यानित्य, अस्तित्व-नास्तित्व और वाच्यावाच्य के नियमों से शृंखलित है। कोई भी द्रव्य सर्वथा भिन्न नहीं है और कोई भी सर्वथा अभिन्न नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा नित्य नहीं है और कोई भी सर्वथा अनित्य नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा अस्ति नहीं है और कोई भी सर्वथा नास्ति नहीं है। कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य नहीं है कोई भी सर्वथा अवाच्य नहीं है। जो द्रव्य है, वह सत्य है। वह भिन्न भी है—अभिन्न भी है, नित्य भी है—अनित्य भी है, अस्ति भी है—नास्ति भी है, वाच्य भी है—अवाच्य भी है। इन सहज-सम्भूत नियमों को समझने का जो दृष्टिकोण है, वह अनेकान्त है। इन नियमों की जो व्याख्या-पद्धति है वह स्याद्वाद है। विश्व में इतना विरोध और इतना असामञ्जस्य है कि अनेकान्त के बिना उसमें अविरोध और सामञ्जस्य समझा ही नहीं जा सकता तथा स्याद्वाद के बिना उसकी सम्यक् व्याख्या की ही नहीं जा सकती।

अभेद और भेद का नियम

यह विश्व आकाशमय है। आकाश व्यापक है, शेष सब व्याप्य हैं। आकाश वहाँ भी है, जहाँ आकाशेतर कुछ नहीं है, पर अन्य ऐसे नहीं है, जहाँ आकाश न हो। जहाँ अन्य भी है और आकाश भी है वहाँ गति है, स्थिति है और दृश्य-परिवर्तन है; इसलिए उसे 'लोक' कहा जाता है। जहाँ अन्य नहीं है, केवल आकाश है, वहाँ गति नहीं है, स्थिति नहीं है और दृश्य-परिवर्तन भी नहीं है; इसलिए उसे 'अलोक' कहा जाता है। सत्ता की दृष्टि से लोक और अलोक दोनों एक हैं, अविभक्त हैं। गति, स्थिति और दृश्य-परिवर्तन सर्वत्र नहीं है, इस दृष्टि से लोक और अलोक दो हैं—विभक्त हैं। गति और स्थिति की दृष्टि से लोक एक है—अविभक्त है, पर कार्य की दृष्टि से वह एक नहीं है। गति का हेतु जो है, वह स्थिति का नहीं है और स्थिति का जो हेतु है वह गति का नहीं है। गतिशील द्रव्य दो हैं—पुद्गली (जीव) और पुद्गल। ये ही दो स्थिति-शील हैं। दृश्य-परिवर्तन भी इन्हीं के योग से होता है, इन्हीं में होता है। अभेद-दृष्टि से सत्ता ही पूर्ण सत्य है। भेद-दृष्टि के ६ प्रकार हैं—धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाश, ४. काल, ५. पुद्गल, ६. जीव। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाश—ये तीनों लोक में परिपूर्ण व्याप्त हैं। इन्हें कथमपि पृथक् नहीं किया जा सकता। इनका पृथक्करण कार्य से ही होता है। गति हेतुक जो है वह धर्मास्तिकाय[1] है। यह गति का अन्तिम हेतु है। स्थितिहेतुक जो है, वह अधर्मास्तिकाय[2] है। यह स्थिति का अन्तिम हेतु है। जहाँ वायु भी नहीं है वहाँ भी गति होती है, और वह इसीलिए होती है कि धर्मास्तिकाय वहाँ है। अवगाहहेतु जो है, वह आकाश है[3]। परिवर्तन का हेतु काल है। जो संयुक्त होता है और वियुक्त होता है, वह पुद्गल है[4]। जो चैतन्यमय है, वह जीव है[5]। आकाश और काल को छोड़कर किसी भी द्रव्य की

१ गुणतो गमण गुणे। —स्थानांग, ५।४४१
२ गुणतो ठाण गुणे। —वही, ५।४४१
३ गुणतो अवगाहणा गुणे। —वही, ५।४४१
४ गुणतो गहण गुणे। —वही, ५।४४१
५ गुणतो उवओग गुणे। —वही, ५।४४१

व्याख्या नहीं की जा सकती; इस दृष्टि से शेष सब द्रव्य आकाश और काल से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। आकाश और काल गति-स्थिति के हेतु नहीं हैं और गति-स्थितिशील भी नहीं हैं, इसलिए वे शेष सब द्रव्यों से सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय को छोड़कर गति और स्थिति की व्याख्या नहीं की जा सकती; इस दृष्टि से जीव और पुद्गल धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय से सर्वथा भिन्न नहीं हैं। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय गति-स्थितिशील नहीं हैं, संयुक्त-वियुक्तधर्मा भी नहीं हैं, इसलिए वे जीव और पुद्गल से सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। जीव के बिना पुद्गल की और पुद्गल के बिना जीव की व्याख्या नहीं की जा सकती। पुद्गल के बिना जीव की कोई प्रवृत्ति नहीं होती और जीव के बिना पुद्गल की स्थूल परिणति नहीं होती; इस दृष्टि से जीव और पुद्गल सर्वथा भिन्न नहीं हैं। जीव संयोग-वियोगधर्मा नहीं है, रूपी नहीं है और पुद्गल चैतन्यमय नहीं है, इसलिए वे सर्वथा अभिन्न भी नहीं हैं। तात्पर्य की भाषा में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा अभिन्न ही है और ऐसा भी कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा भिन्न ही है। अभिन्नता की दृष्टि से सारा विश्व एक है। भिन्नता की दृष्टि से सारा विश्व दो भागों में विभक्त है—चैतन्यमय और अचैतन्यमय।

चेतन और अचेतन की उत्पत्ति के विषय में अनेक दार्शनिक अभिमत हैं। उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—पहले असत् था; असत् से सत् उत्पन्न हुआ।[1] कुछ ऋषि कहते हैं—असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। सबसे पहले सत् ही था। उसने सोचा, मैं अनेक होऊँ। इस संकल्प में से सृष्टि उत्पन्न हुई।[2] जो है, वह सब आत्मा ही है।[3] जो कुछ हुआ है, वह आत्मा से ही हुआ है।[4] आत्मा ब्रह्म ही है।[5] यह आत्माद्वैतवाद है। इसके अनुसार अचेतन चेतन से उत्पन्न होता है। चेतन और अचेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

अनात्मवाद के अनुसार पहले अचेतन ही था। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु; ये चार भूत थे। इनसे चेतन उत्पन्न हुआ। यदि यह पता लगाना है कि मनुष्य की उत्पत्ति कैसे हुई, तो संसार के विकास में ही उसकी खोज करनी होगी। मनुष्य का विकास जीवन के पहले रूपों में से होता है। उस विकास के दौरान में ही विचार और सचेतन व्यवहार ने जन्म लिया है। इसका अर्थ यह है कि वस्तु अर्थात् वह वास्तविकता, जो अचेतन है, पहले से थी। मन अर्थात् वह वास्तविकता, जो सचेतन है, बाद में आयी। साथ ही इसका अर्थ यह भी है कि वस्तु या बाह्य वास्तविकता की सत्ता मन से स्वतन्त्र है। प्रकृति की इस समझ को भौतिकवाद कहते हैं।[6] यह भूताद्वैतवाद है। इसके अनुसार अचेतन से चेतन उत्पन्न होता है। अचेतन और चेतन सर्वथा भिन्न नहीं हैं।

अनेकान्त दृष्टि के अनुसार चेतन अचेतन से और अचेतन चेतन से उत्पन्न नहीं है। दोनों अनादि हैं, दोनों स्वतन्त्र और दोनों सापेक्ष। चेतन का एक प्रविभाग भी मिश्रित नहीं है। वह शुद्ध द्रव्य है। उसका प्रत्येक परमाणु (प्रदेश) अन्त तक चेतन ही रहता है। अचेतन का प्रत्येक परमाणु (प्रदेश) अन्त तक अचेतन ही रहता है। चेतन को अचेतन और अचेतन को चेतन के रूप में परिणत नहीं किया जा सकता। द्रव्य गुणों का संयुक्त रूप होता है। सब द्रव्यों की यही व्याख्या है। जो द्रव्य हैं, उन सबमें अनन्त गुण हैं और अनन्त गुणों के जितने समवाय हैं, वे सब द्रव्य हैं। इस भाषा में या तो द्रव्य अनन्त होंगे या एक। सचाई यह है कि वे अनन्त भी नहीं हैं और एक भी नहीं हैं। सर्वसाधारण गुणों की दृष्टि से द्रव्य एक ही है; किन्तु कुछ गुण ऐसे भी हैं, जो सर्वसाधारण नहीं हैं। उन्हीं की दृष्टि से द्रव्य अनेक हैं। गति और स्थिति विश्व-व्यवस्था के असाधारण गुण हैं। स्थूल पदार्थों की गति दृश्य-निमित्तों से होती है, किन्तु सूक्ष्म स्कन्धों और परमाणुओं

१ असतः सद्जायत ।—छान्दोग्य ६।२।१

२ कुतस्तु खलु सोम्य एवं स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति। सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयम्। तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति।—छान्दोग्य ६।२।२

३ आत्मैवेदं सर्वम्।—छान्दोग्य, ७।२५।२

४ आत्मत एवेदं सर्वम्।—छान्दोग्य ७।२६।१

५ सर्वं हि एतद् ब्रह्म, अयमात्मा ब्रह्म।—माण्डूक्य २

६ मार्क्सवाद क्या है ? लेखक —एमिल बर्न्स, पृ० ६८

की गति में वायु या विद्युत् आदि सहायक नहीं होते। वे उन्हें छू भी नहीं पाते। परमाणु की अप्रेरित गति बहुत तीव्र होती है। वह एक क्षण में भी लोक के निम्न भाग से ऊर्ध्व भाग तक चला जाता है। वहाँ उसकी गति का माध्यम गतितत्त्व (धर्मास्तिकाय) ही होता है। गतितत्त्व गतिमात्र में माध्यम बनता है; किन्तु जहाँ दृश्य माध्यम होते हैं वहाँ उसकी अनिवार्यता ज्ञात नहीं होती; जहाँ दृश्य माध्यम कार्य नहीं करते, वहाँ उसका अस्तित्व स्वयं व्यक्त होता है।

१८ वी एवं १९ वीं शताब्दी के भौतिक विज्ञानवेत्ताओं के समक्ष यह स्पष्ट हो गया कि यदि प्रकाश की तरंगें होती हैं, तो उनका कुछ आधार भी होगा। जैसे पानी सागर की तरंगों को पैदा करता है और हवा उन कम्पनों को जन्म देती है, जिन्हें हम ध्वनि कहते हैं। अतः जब परीक्षणों से यह व्यक्त हुआ कि प्रकाश शून्य से भी होकर विचर सकता है, तब वैज्ञानिकों ने 'ईथर' (Ether) नामक एक काल्पनिक तत्त्व को जन्म दिया, जो उनके विचार में, समस्त आकाश और पदार्थ में व्याप्त है। बाद में, फैरेडे ने एक अन्य प्रकार के ईथर का प्रतिपादन किया, जिसे विद्युत् एवं चुम्बकीय शक्तियों के वाहक के रूप में माना गया। अन्ततः जब मैक्स्वेल ने प्रकाश को एक 'विद्युत्-चुम्बकीय विक्षोभ' (Electromagnetic Disturbance) के रूप में मान्यता प्रदान की, तब ईथर का अस्तित्व निश्चित-सा हो गया।[1]

स्थिरता का माध्यम स्थिति-तत्त्व है। एक परमाणु आकाश-प्रदेश में स्थित होता है, वहाँ उसका माध्यम स्थिति-तत्त्व ही होता है।

आकाश स्थिति का माध्यम नहीं है। वह चर और स्थिर, दोनों तत्त्वों का माध्यम है। आधार-शून्य कुछ भी नहीं है। स्थूल पदार्थ के लिए स्थूल आधार होते हैं। सूक्ष्म या चतुःस्पर्शी स्कन्धों के लिए स्थूल आधार की अपेक्षा नहीं होती। उनका जो आधार है, वह आकाश ही है। एक पदार्थ की दूसरे पदार्थ से जो दूरी है, उसका माध्यम आकाश ही है। इसके बिना सब पदार्थ स्वावगाही नहीं होते।

ये तीन अस्तिकाय अरूपी हैं, इन्द्रियातीत हैं। ये विश्व-व्यवस्था की अनिवार्य अपेक्षा से स्वीकृत हैं। गति, स्थिति और अवगाह (=या विभाग) इन असाधारण गुणों से गतितत्त्व (धर्मास्तिकाय), स्थिति-तत्त्व (अधर्मास्तिकाय) और अवगाह-तत्त्व (आकाशास्तिकाय) का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

संघात और भेद भी असाधारण गुण हैं। चार अस्तिकायों में केवल संघात है, भेद नहीं है। भेद के पश्चात् संघात और संघात के पश्चात् भेद—यह शक्ति केवल पुद्गलास्तिकाय में है। दो परमाणु मिलकर द्विप्रदेशी, यावत् अनन्त परमाणु मिलकर अनन्तप्रदेशी स्कन्ध बन जाते हैं। वे वियुक्त होकर पुनः दो परमाणु यावत् अनन्त परमाणु हो जाते हैं। यदि संयोग-वियोग गुण नहीं होता तो यह विश्व या तो एक पिण्ड ही होता या केवल परमाणु ही होते। उन दोनों रूपों से वर्तमान विश्व-व्यवस्था फलित नहीं होती। पुद्गल द्रव्य रूपी है, इन्द्रियगम्य है, इसलिए इसका अस्तित्व बहुत स्पष्ट है; पर इसकी स्वतन्त्र सत्ता का आधार यह संघात-भेदात्मक गुण है।

चैतन्य भी असाधारण गुण है। अचेतन से चेतन की प्रक्रिया भिन्न होती है। ग्रहण, परिणमन, व्युत्सर्जन, स्वीकरण, सजातीय प्रजनन, वृद्धि, अनुभूति, ज्ञान आदि ऐसे धर्म हैं, जो चेतन में ही प्राप्त होते हैं। चेतन अरूपी है, इन्द्रियातीत है, उसका अस्तित्व चैतन्य गुण से गम्य है।

जीव और पुद्गल—इन दोनों अस्तिकायों के योग से विश्व की विविध परिणतियाँ होती हैं। तीन अस्तिकाय अपनी स्वरूप-मर्यादा तक ही परिवर्तित होते हैं। वे बाह्य निमित्तों से प्रभावित नहीं होते और न वे दूसरे द्रव्यों को प्रभावित करते है। उनका अस्तित्व और क्रिया सब दिशाओं में समान रूप से हैं। इसीलिए अमेरिकन भौतिक विज्ञान-वेत्ता ए० ए० माईकेलसन और ई० डब्ल्यू० मोरले ईथर-सम्बन्धी परीक्षणों में सफल नहीं हुए। उन्होंने क्लीवलैण्ड में सन् १८८१ में एक भव्य परीक्षण किया।

"उनके परीक्षण के पीछे निहित सिद्धान्त काफी सीधा था। उनका तर्क था कि यदि सम्पूर्ण आकाश केवल ईथर का एक गतिहीन सागर है, तो ईथर के बीच पृथ्वी की गति का ठीक उसी तरह पता लगना चाहिए और पैमाइश होनी

१ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, लिंकन बारनेट, पृष्ठ ४२

चाहिए, जिस तरह नाविक सागर में जहाज़ के वेग को मापते हैं। जैसा कि न्यूटन ने इंगित किया था, जहाज़ के अन्दर के किसी यांत्रिक परीक्षण द्वारा शान्त जल में चलने वाले जहाज़ की गति मापना असम्भव है। नाविक जहाज़ की गति का अनुमान सागर में एक लट्ठा फेंककर और उससे बँधी रस्सी की गाँठों के खुलने पर नज़र रखकर लगाते हैं। अतः ईथर के सागर में पृथ्वी की गति का अनुमान लगाने के लिए, माईकेलसन और मोरले ने लट्ठा फेंकने की क्रिया सम्पन्न की। अवश्य ही, यह लट्ठा प्रकाश की किरण के रूप में था। यदि प्रकाश सचमुच ईथर में फैलता है, तो इसकी गति पर, पृथ्वी की गति के कारण उत्पन्न ईथर की धारा का प्रभाव पड़ना चाहिए। विशेष तौर पर, पृथ्वी की गति की दिशा में फेंकी गई प्रकाश-किरण में ईथर की धारा से उसी तरह हल्की बाधा पहुँचनी चाहिए, जैसी बाधा का सामना एक तैराक को धारा के विपरीत तैरते समय करना पड़ता है; इसमें अन्तर बहुत थोड़ा होगा, क्योंकि प्रकाश का वेग (जिसका ठीक-ठीक निश्चय सन् १८४९ में हुआ) एक सैकण्ड में १,८६,२८४ मील है, जबकि सूर्य के चारों ओर अपनी धुरी पर पृथ्वी का वेग केवल बीस मील प्रति सैकण्ड होता है। अतएव ईथर-धारा की विपरीत दिशा में फेंके जाने पर प्रकाश-किरण की गति १,८६, २६४ मील होनी चाहिए; और यदि सीधी दिशा में फेंकी जाये, तो १,८६,३०४ मील। इन विचारों को मस्तिष्क में रख-कर माईकेलसन और मोरले ने एक यंत्र का निर्माण किया, जिसकी सूक्ष्मदर्शिता इस हद तक पहुँची हुई थी कि वह प्रकाश के तीव्र वेग में प्रति सैकण्ड एक मील के अन्तर को भी अंकित कर लेता था। इस यंत्र में, जिसे उन्होंने 'व्यति-करणमापक' (interferometer) नाम दिया, कुछ दर्पण इस तरह लगाये हुए थे कि एक प्रकाश-किरण को दो भागों में बाँटा जा सकता था और एक-साथ ही दो दिशाओं में उन्हें फेंका जा सकता था। यह सारा परीक्षण इतनी सावधानी से आयोजित और पूरा किया गया कि इसके परिणामों में किसी तरह के संदेह की गुंजायश नहीं रह गई। इसका परिणाम सीधे-सादे शब्दों में यह निकला—प्रकाश-किरणों के वेग में, चाहे वे किसी भी दिशा में फेंकी गई हों, कोई अन्तर नहीं पड़ता।

"माईकेलसन और मोरले के परीक्षण के कारण वैज्ञानिकों के सामने एक व्याकुल कर देने वाला विकल्प आया। उनके सामने यह समस्या थी कि वे ईथर-सिद्धान्त को—जिसने विद्युत्-चुम्बकत्व और प्रकाश के बारे में बहुत-सी बातें बतलाईं थीं—छोड़ें या उससे भी अधिक मान्य कोपरनिकन-सिद्धान्त को; जिसके अनुसार पृथ्वी स्थिर नहीं, गतिशील है। बहुत-से भौतिक विज्ञानवेत्ताओं को ऐसा लगा कि यह विश्वास करना अधिक आसान है कि पृथ्वी स्थिर है, बनिस्बत इसके कि तरंगें—प्रकाश-तरंगें, विद्युत् चुम्बकीय-तरंगें, बिना किसी सहारे के अस्तित्व में रह सकती हैं। यह एक बड़ी विकट समस्या थी—इतनी विकट कि, इसके कारण वैज्ञानिक विचारधारा पच्चीस वर्षों तक भिन्न-भिन्न रही, एकमत न हो सकी। कई नयी कल्पनाएं सामने प्रस्तुत की गईं और रद्द भी कर दी गई। उस परीक्षण को मोरले और दूसरे लोगों ने फिर शुरू किया, पर परिणाम वही निकला—ईथर में पृथ्वी का प्रत्यक्ष वेग शून्य है।"[1]

ईथर प्रकाश की गति को प्रभावित नहीं करता इसलिए आईन्स्टीन ने उसके अस्तित्व का निरसन किया। किन्तु गति-नियामक तत्त्व के अभाव में पदार्थ अनन्त में कहीं भटक जाते और वर्तमान विश्व एक दिन प्रकाश-शून्य हो जाता।

जीव और पुद्गल बाह्य निमित्तों से भी प्रभावित होते हैं, परिवर्तित होते हैं। जीव पुद्गल को प्रभावित करता है और पुद्गल जीव को प्रभावित करता है। इसलिए इनमें स्वाभाविक और वैभाविक (बाह्य निमित्तज) दोनों प्रकार के परिवर्तन होते हैं। पुद्गली जीव का अस्तित्व ही हमारे प्रत्यक्ष है। पुद्गल-मुक्त जीव हमारी ज्ञान-धारा से परे हैं। आहार, शरीर, इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन—छहों पर्याप्तियाँ पौद्गलिक हैं। इन्हीं के द्वारा जीव व्यक्त या ज्ञेय बनता है। दृश्य जगत् जो है, वह पौद्गलिक है, किन्तु इसका निमित्त जीव ही है। सूक्ष्म स्कन्ध हमारी दृष्टि के विषय नहीं बनते। हमारी दृष्टि में आ सकें, इतनी स्थूलता उन्हें जीव के द्वारा ही प्राप्त होती है। जितने पुद्गल-दृश्य हैं, वे तो या जीव के शरीर-रूप में परिणत हैं या हो चुके हैं।[2]

१ डा० आईन्सटीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ४३-४६
२ आचाराङ्गवृत्ति, १।१

ज्ञान, दर्शन, सुख-दुःख की अनुभूति, वीर्य ये जीव के गुण या कार्य हैं।[1] शब्द, अन्धकार, उद्योत, प्रभा छाया, आतप, वर्ण, रस, गन्ध, स्पर्श ये पुद्गल के गुण या कार्य हैं।[2] शब्द, आतप, उद्योत आदि संहति-रहित पदार्थ (Massless matter) अथवा ऊर्जारूप (energy) हैं।

दृश्य पदार्थ का मूल (ultimate constituent) परमाणु है। उनकी अनेक वर्गणाएं (सजातीय परमाणु समूह) हैं। वे मौलिक कण (elementry particles) समुदित होकर पदार्थ का निर्माण करते हैं। बाह्य निमित्तों से अथवा निश्चित काल-मर्यादा के अनुसार एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में परिवर्तित भी हो जाता है। पुद्गल की विचित्र परिणति के कारण विश्व की व्यवस्था अनन्तरूपी है।

महान् जर्मन गणितज्ञ लिबनिज ने लिखा है—"मैं यह प्रमाणित कर सकता हूँ कि न केवल प्रकाश, रंग, ताप और इस तरह की अन्य चीजें, अपितु गति, आकार और विस्तार भी वस्तु के ऊपरी गुण हैं।" उदाहरणस्वरुप, जैसे हमारी दृश्य शक्ति यह बतला देती है कि गोल्फ की गेंद सफेद है, उसी तरह हमारी स्पर्शानुभूति की मदद से वह यह भी बता देती है कि वह गोल, चिकनी और छोटी है। ये ऐसे गुण हैं, जो हमारी इन्द्रियों से पृथक् होने पर उस गुण से अधिक यथार्थता नहीं रखते, जिसे हम परम्परानुसार सफेद की संज्ञा देते हैं।[3]

बर्कले ने कहा है—"वे सभी तत्त्व, जिनसे इस संसार का ढाँचा तैयार हुआ है, मानस को छोड़ देने के बाद कोई तथ्य नहीं रखते। जब तक हम उन्हें इन्द्रियों से ग्रहण नहीं करते या जब तक वे हमारे या अन्य किसी प्राणी के मानस में अपना अस्तित्व नहीं रखते, तबतक या तो उनका सर्वथा अस्तित्व ही नहीं होता, या फिर वे किसी सनातन शक्ति के मानस में अपना अस्तित्व रखते हैं।" आईन्स्टीन यह प्रकट करके कि आकाश-काल (space time) केवल अन्तर्ज्ञान के रूप हैं—जिनको रंग, रूप और आकार की धारणाओं की भाँति चेतना से विलग नहीं किया जा सकता—इस तर्क की गाड़ी को अपनी अन्तिम सीमा तक ले गए। आकाश का अस्तित्व केवल पदार्थों के क्रम या उनकी व्यवस्था में है—इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है। इसी प्रकार काल, घटनाओं के एक क्रम के अतिरिक्त, जिससे हम उसे मापते हैं, और कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रखता।[4]

स्याद्वाद के अनुसार वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श का अस्तित्व मानसिक नहीं है। ये पुद्गल के पर्याय (विवर्त) हैं। इन्हीं की अपेक्षा वे अशाश्वत हैं।[5]

वर्णादि चतुष्टय की विविधता चेतना या बाह्य वस्तु-सापेक्ष है, किन्तु उसका अस्तित्व चेतना या बाह्य वस्तु-सापेक्ष नहीं है। एकत्व, पृथक्त्व, संख्या, आकार, संयोग और विभाग ये पुद्गल की अवस्थाएं हैं।[6] परमाणुओं का एकत्व और पृथक्त्व, सहज भी होता है, वैसे ही उनकी वर्णादि-चतुष्टयी की परिणति भी सहज होती है। छोटा-बड़ा, लघु-गुरु, ऋजु-वक्र, ये जैसे सापेक्ष धर्म हैं—दो वस्तुओं की तुलना में उत्पन्न धर्म हैं, वैसे वर्णादिचतुष्टयी सापेक्ष धर्म नहीं है। यह वस्तुवाद है। स्पर्श मूल शक्ति है। रूखा, चिकना ये उसकी अभिव्यक्ति के प्रकार हैं। इनकी कोई स्थायी सत्ता नहीं है। सौन्दर्य-असौन्दर्य, उपयोगी-अनुपयोगी आदि की कल्पना चेतना का रूप है। पर किसी वस्तु की अस्तिता चेतना का रूप नहीं है। दिक् और काल उपयोगितावाद के तत्त्व हैं। उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। स्याद्वाद के अनुसार

१ उत्तराध्ययन, अध्ययन २८
२ उत्तराध्ययन, अध्ययन २८
३ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० १७
४ वही, पृ० १८
५ 'परमाणुपोग्गलेणं भन्ते ! किं सासए असासए ?' 'गोयमा सिय सासय, सिय असासय।'
'से केणट्ठेणं भन्ते ! एवं वुच्चइ—'सिय सासए, सिय असासए ?'
'गोयमा दव्वट्टयाए सासए, वन्नपज्जवेहिं जाव फासपज्जवेहिं, असासए।'
६ उत्तराध्ययन, अध्ययन २८

विश्व की अखण्डता चतुरूपात्मक है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव; इन चारों के बिना उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। द्रव्य अनन्त गुणों का पिण्ड है। भाव उसकी अवस्थाएं हैं। वे भी अनन्त होती हैं। अवस्था से वियुक्त कोई द्रव्य नहीं होता और द्रव्य से वियुक्त कोई अवस्था नहीं होती। जितने परिवर्तन होते हैं वे सब द्रव्य में ही होते हैं, और जितने द्रव्य होते हैं वे सब परिवर्तन के कारण ही अपना अस्तित्व बनाये रखते हैं। परिवर्तन कहाँ होता है, इसकी व्याख्या क्षेत्र के बिना नहीं की जा सकती। इसके दो रूप हैं: आकाश और दिक्। आकाश वास्तविक है। दिक् निरपेक्ष तत्त्व नहीं है, वह आकाश का ही कल्पित रूप है। ऊर्ध्व, निम्न आदि सापेक्ष है। उनका अस्तित्व हमारी चेतनागत है। परिवर्तन कब होता है, इसकी व्याख्या काल के बिना नहीं की जा सकती; या सापेक्ष काल का भी निरपेक्ष अस्तित्व नहीं है। वह द्रव्य का ही एक पर्याय है। उसका तिर्यक् प्रचय नहीं है—स्कन्ध नहीं है। वह केवल ऊर्ध्व प्रचय है—पौर्वापर्य या क्रम है। जो जीव और अजीव के परिवर्तन का क्रम है, वह नैश्चयिक काल है। ज्योतिश्चक्र पर आधारित जो घटना-चक्र है, वह व्यावहारिक या सापेक्ष काल है। आईन्स्टीन की चतुर्विस्तारात्मक अखण्डता में द्रव्य के आकाश और काल में परिवर्तित भावों—पर्यायों का विचार है। उनके सापेक्षवाद के अनुसार "एक रेलमार्ग एकविस्तारात्मक आकाशीय अखण्डता है और उस पर चल रही गाड़ी का चालक किसी भी समय किसी एक समन्वयात्मक बिन्दु—एक स्टेशन या मील के पत्थर को देखकर अपनी अवस्थिति को मालूम कर सकता है; परन्तु एक जहाज़ के कप्तान को दो विस्तारों की चिन्ता करनी पड़ती है। समुद्र की सतह एक द्विविस्तारात्मक अखण्डता है और वे समन्वयात्मक बिन्दु, जिनसे नाविक द्विविस्तारात्मक अखण्डता में अपनी अवस्थिति का निश्चय करता है, अक्षांश और देशान्तर हैं। एक विमान-चालक को अपना विमान एक त्रिविस्तारात्मक अखण्डता के बीच से ले जाना पड़ता है, अतः उसे न केवल अक्षांश और देशान्तर की, बल्कि पृथ्वी से अपनी ऊँचाई का भी ध्यान रखना पड़ता है। एक विमान-चालक की अखण्डता जिस रूप में हम आकाश को देखते हैं, उसी से बनती है। दूसरे शब्दों में, हमारे संसार का आकाश एक त्रिविस्तारात्मक अखण्डता है।

"लेकिन गति से सम्बन्धित किसी प्राकृतिक घटना की चर्चा करते समय आकाश में उसकी अवस्थिति को ही व्यक्त करना पर्याप्त नहीं है। यह भी बतलाना आवश्यक है कि काल में स्थिति का परिवर्तन कैसे होता है। अतएव, न्यूयार्क से शिकागो जाने वाली ऐक्सप्रेस गाड़ी का एक सही चित्र प्रस्तुत करने के लिए इतना कह देना ही काफी नहीं है कि वह न्यूयार्क से अलबानी, वहाँ से सिराक्यूस, फिर वहाँ से टोलेडो तथा उसके बाद शिकागो जाती है; बल्कि यह बतलाना भी जरूरी है कि उन स्थानों पर वह किस समय पहुँचती है। यह कार्य या तो समय-सारिणी से पूरा हो सकता
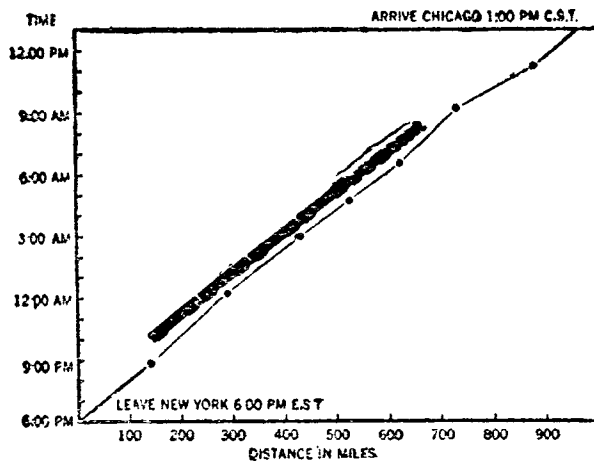
एक द्विविस्तारात्मक आकाश-काल-अखण्डता के रूप में चित्रित पश्चिम की
ओर जाने वाली न्यूयार्क-शिकागो ऐक्सप्रेस

है या दृश्य चित्र मे। यदि न्यूयार्क और शिकागो के बीच के मील, एक लकीर खिंचे हुए कागज पर नीचे की ओर निश्चित किये जायें; घण्टे तथा मिनट लम्बित रूप में दिखाये जायें और पृष्ठ के एक कोने मे सामने के दूसरे कोने तक एक रेखा खींचकर मार्ग-आलेख प्रदर्शित किया जाये तो द्विविस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता में गाड़ी की प्रगति प्रदर्शित होगी। इस तरह के नक्शों से अधिकांश समाचारपत्र-पाठक परिचित हैं। उदाहरणस्वरूप, स्टॉक-मार्केट का नक्शा द्विविस्तारात्मक डालर-काल अखण्डता में आर्थिक घटनाओं को प्रकट करता है। इसी तरह न्यूयार्क से लास एंजिलस जाने वाले एक विमान की उड़ान को एक चतुर्विस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता में चित्रित किया जा सकता है। यह तथ्य कि विमान **क्ष** अक्षांश, **य** देशान्तर और **भ** ऊँचाई पर है, विमान-कम्पनी के यातायात-व्यवस्थापक के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता, यदि सम्बन्धित काल की जानकारी न हो। अतएव काल चौथा विस्तार है। और, यदि कोई उड़ान को उसके सम्पूर्ण रूप में एक प्राकृतिक यथार्थता के रूप में देखना चाहता है, तो इसे पृथक्-पृथक् उड़ान, चढ़ाई, सरकाव और उतार के रूप में नहीं बाँटा जा सकता। इसे तो एक चतुर्विस्तारात्मक आकाश-काल अखण्डता के रूप में ही सोचना पड़ेगा।"[1]

दिक् और काल इन दो सापेक्ष सत्यों को न लें तो निरपेक्ष सत्य पाँच अस्तिकाय हैं। इनका अस्तित्व न तो हमारी चेतना में है और न एक-दूसरे की तुलना में उद्भूत है, किन्तु स्वतन्त्र है। इन भिन्न-भिन्न रूपों में अवस्थित अस्तिकायों और उनके कार्यों का जो समवाय है, वही विश्व है।[2]

कुछ समालोचकों ने लिखा है कि स्याद्वाद हमें पूर्ण या निरपेक्ष सत्य तक नहीं ले जाता; वह पूर्ण सत्य की यात्रा का मध्यवर्ती विश्रामगृह है। किन्तु इस समालोचना में तथ्य नहीं है। स्याद्वाद हमें पूर्ण या निरपेक्ष सत्य तक ले जाता है। उसके अनुसार पञ्चास्तिकायमय जगत् पूर्ण या निरपेक्ष सत्य है। पाँचों अस्तिकायों के अपने-अपने असाधारण गुण हैं और उन्हीं के कारण उनकी स्वतन्त्र सत्ता है। इनके अस्तित्व, गुण और कार्य की व्याख्या सापेक्ष दृष्टि के विना नहीं की जा सकती। चेतन में केवल चैतन्य ही नहीं है, उसके अतिरिक्त अनन्त धर्म और हैं; किन्तु चेतन चैतन्य धर्म की अपेक्षा से ही है, शेष धर्मों की अपेक्षा से वह चेतन नहीं है।[3]

एक धर्म से कोई द्रव्य नहीं बनता। सामान्य और असामान्य सम्भूत होकर द्रव्य का रूप लेते है। वे सब सर्वथा अविरोधी ही नहीं होते, कथंचित् विरोधी भी होते हैं। वे सर्वथा विरोधी ही नहीं होते, कथंचित् अविरोधी भी होते हैं। यदि सर्वथा अविरोधी ही हों तो वे अनेक नहीं हो सकते और यदि वे सर्वथा विरोधी ही हों तो एक नहीं हो सकते। यह अविरोधी और विरोधी भावों का जो सामञ्जस्य या सह-अस्तित्व है, वह द्रव्य की सहज सापेक्षता है और द्रव्यगत सापेक्षता की सामञ्जस्यपूर्ण व्याख्या हमारी बौद्धिक सापेक्षता है।

हम किसी भी निरपेक्ष सत्य को ऐसा नहीं पाते, जो अपने स्वरूप की व्याख्या में सापेक्ष न हो। वेदान्ती ब्रह्म को पूर्ण या निरपेक्ष सत्य मानते हैं, पर वह भी स्वभावगत सापेक्षता से मुक्त नहीं है। उपनिषद् की भाषा में "ब्रह्म सकम्प भी है, निष्कम्प भी है; दूर भी है और समीप भी है; सबके अन्तर में भी है और सबके बाहर भी है।"[4] वह अणु-से-अणु और महान्-से-महान् है।[5] भगवान् महावीर की भाषा में जीव सकम्प भी है और निष्कम्प भी है[6]; सवीर्य भी है और निर्वीर्य

---

१ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ७२-७४

२ किमियं भंते ! लोएत्ति पवुच्चइ ?
गोयमा ! पंचत्थिकाया, एसणं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ। —भगवती सूत्र, १३-४

३ प्रमेयत्वादिभिर्धर्मैरचिदात्मा चिदात्मकः।
ज्ञानदर्शनतस्तस्मात् चेतनाचेतनात्मकः॥ —स्वरूपसम्बोधन, श्लोक ३

४ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वदन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः।
—ईशावास्योपनिषद्, ५

५ अणोरणीयान् महतो महीयान्। —कठोपनिषद्।

६ भगवती सूत्र, २५।४

भी है।[1] इन विरोधी रूपों में ही जगत् पूर्णता अर्जित करता है। तात्पर्य यह है कि पूर्ण वही हो सकता है, जिसमें विरोधी धर्मों का सामञ्जस्यपूर्ण सह-अस्तित्व हो।

अस्तित्व और नास्तित्व का नियम

सामान्य धर्मों की दृष्टि से जगत् एक है। द्रव्यत्व एक सामान्य धर्म है। वह परमाणु में भी है और चेतन में भी है। उसकी दृष्टि से परमाणु और चेतन भिन्न नहीं हैं। चैतन्य विशेष धर्म है; वह चेतन में है, परमाणु में नहीं है। उसकी दृष्टि से चेतन परमाणु से भिन्न है। सामान्य धर्मों की दोनों में अस्तिता है। एक-दूसरे के विशेष धर्मों की एक-दूसरे में नास्तिता है। सामान्य धर्मों की अस्तिता से द्रव्य बनते तो वे अनेक नहीं होते। विशेष धर्म की नास्तिता से द्रव्य बनते तो विश्व की व्यवस्था सर्वथा वियुक्त होती, उसमें कोई सामञ्जस्य या सह-अस्तित्व नहीं होता। अस्तिता और नास्तिता इन दोनों के योग से द्रव्य बनते हैं, इसीलिए विश्व की व्यवस्था संयुक्त है और उसमें विशेष धर्मों या विरोधी धर्मों का सामञ्जस्यपूर्ण सह-अस्तित्व है। प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के पर्याय होते हैं—अस्तित्व-पर्याय और नास्तित्व-पर्याय। अस्तित्व-पर्याय जैसे द्रव्य के घटक होते है, वैसे ही नास्तित्व-पर्याय भी उसके घटक होते हैं। दोनों मिलकर ही उसकी स्वतन्त्र सत्ता की स्थापना करते हैं। स्वर्ण और जल, ये दो द्रव्य हैं। स्वर्ण के घटक परमाणु जल के घटक परमाणुओं से भिन्न है। स्वर्ण विशुद्ध है और जल दो वायुओं के मिश्रण से उत्पन्न है। अपने-अपने घटक परमाणु उनमें अस्ति-पर्याय के रूप में सम्बद्ध हैं। वैसे ही एक-दूसरे के घटक परमाणु उनसे नास्ति-पर्याय के रूप में सम्बद्ध है। दोनों पर्याय एक साथ सम्बद्ध रहकर ही द्रव्य को स्वरूप प्रदान करते हैं।[2] केवल-अस्ति रूप में कोई द्रव्य नहीं है, केवल नास्ति-रूपमें भी कोई द्रव्य नहीं है; जितने द्रव्य हैं, सब अस्ति-नास्ति रूप में हैं :

	द्रव्य
केवल अस्ति	०
केवल नास्ति	०
अस्ति-नास्ति	है

वस्तु-सत्य की दृष्टि से तीसरा विकल्प ही सत्य है। केवल अस्ति और केवल नास्ति का निरूपण सापेक्ष दृष्टि से ही हो सकता है :

स्यात्-अस्ति एव—किसी दृष्टि से है।

स्यात् नास्ति एव—किसी दृष्टि से नहीं है।

स्वर्ण के परमाणु स्वर्ण के साथ अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं और जल के परमाणु उसके साथ नास्तित्व रूप में सम्बद्ध हैं।

○○○○○
○○○○○ } जल है

○○○○○—जल नहीं है

○○○○○—है
○○○○○
○○○○○ } नहीं है } स्वर्ण है

---

१ भगवती सूत्र, १।८

२ द्विविधाः पर्यायिणः पर्यायाश्चिन्त्यन्ते—सम्बद्धाश्चासम्बद्धाश्च

—विशेषावश्यक भाष्य, ४८१-४८२ वृत्ति, पृ० १७८-१८०

ooooo } है
ooooo }   } जल है।
ooooo—नहीं है }

ooooo—स्वर्ण है

ooooo } स्वर्ण नहीं है
ooooo }

जल के परमाणु जल के साथ अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं और स्वर्ण के परमाणु उसके साथ नास्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं।

स्वर्ण के परमाणु जैसे स्वर्ण के साथ अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हैं, वैसे ही यदि जल के साथ भी अस्तित्व-रूप में सम्बद्ध हों, तो स्वर्ण और जल दो नहीं हो सकते।

स्वर्ण के परमाणु जैसे जल के साथ नास्तित्व-रूप से सम्बद्ध है, वैसे ही यदि स्वर्ण के साथ भी नास्तित्व रूप में सम्बद्ध हों, तो स्वर्ण होता ही नहीं।

जल के परमाणु स्वर्ण के साथ यदि नास्तित्व रूप में सम्बद्ध न हों, तो जल और स्वर्ण दो नहीं हो सकते।

इस प्रकार अस्ति और नास्ति दोनों पर्याय समन्वित या सापेक्ष होकर ही द्रव्य की स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करते हैं। इस सापेक्षता को समझकर ही हम भेद में अभेद की स्थापना कर सकते हैं :

द्रव्य

केवल भेद......................o

केवल अभेद...................o

भेद-अभेद.....................है

केवल भेद और केवल अभेद का निरूपण सापेक्ष दृष्टि से ही हो सकता है :

स्यात् भेद एव—किसी दृष्टि से भेद ही है

स्यात् अभेद एव—किसी दृष्टि से अभेद ही है।

ooooo—स्वर्ण—भेद (विशेष)

ooooo } जल—भेद (विशेष)
ooooo }

ooooo—पुद्गल }
ooooo } पुद्गल } अभेद (सामान्य)
ooooo }

वस्तु-सत्य पुद्गल है। स्वर्ण और जल सापेक्ष द्रव्य हैं।

स्थायित्व और परिवर्तन का नियम

कोई पूर्व-परिचित व्यक्ति हमारे सामने आता है, तब हम कहते हैं—"यह वही है।" बरसात होते ही भूमि अंकुरित हो उठती है, तब हम कहते हैं—"हरियाली उत्पन्न हो गई।" कपूर हमारे हाथ में रहते-रहते उड़ जाता है, तब हम कहते हैं—"वह नष्ट हो गया।" "यह वही है"—यह नित्यता का सिद्धान्त है। "हरियाली उत्पन्न हो गई"—यह उत्पत्ति का सिद्धान्त है। "वह नष्ट हो गया"—यह विनाश का सिद्धान्त है।

द्रव्य की उत्पत्ति के विषय में परिणामवाद, आरम्भवाद, समूहवाद आदि अनेक अभिमत हैं। उसके विनाश के विषय में भी अनेक विचार हैं—रूपान्तरवाद, विच्छेदवाद आदि। परिणामवादी सांख्य दर्शन कार्य को अपने कारण में सत् मानता है। सत्कार्यवाद के अनुसार जो असत् है वह उत्पन्न नहीं होता और जो सत् है वह नष्ट नहीं होता; केवल रूपान्तर

होता है। उत्पत्ति का अर्थ है सत् की अभिव्यक्ति और विनाश का अर्थ है सत् की अव्यक्ति। आरम्भवादी न्यायवैशेषिक कार्य को अपने कारण में सत् नहीं मानते। असत् कार्यवाद के अनुसार असत् उत्पन्न होता है और सत् विनष्ट होता है। इसीलिए नैयायिक ईश्वर को कूटस्थ नित्य और प्रदीप को सर्वथा अनित्य मानते हैं। बौद्ध दार्शनिक स्थूल द्रव्य को सूक्ष्म अवयवों का समूह मानते हैं, तथा द्रव्यमात्र को क्षण-विनश्वर मानते हैं। उनके अभिमत में स्थिति कुछ भी नहीं है। जो एकान्त नित्यवादी है, वे भी परिवर्तन की उपेक्षा नहीं कर सकते, जो हमारे प्रत्यक्ष है। जो एकान्त अनित्यवादी है, वे भी स्थिति की उपेक्षा नही करते, जो हमारे प्रत्यक्ष है। इसीलिए नैयायिकों ने दृश्य वस्तुओं को अनित्य मानकर उनके परिवर्तन की व्याख्या की और बौद्धों ने सन्तति मानकर उनके प्रवाह की व्याख्या की।

वैज्ञानिक जगत् में रूपान्तर का सिद्धान्त सर्व-सम्मत है। उदाहरणस्वरूप, एक मोमबत्ती को ले लीजिये। जलाये जाने पर कुछ ही समय में उसका सम्पूर्ण नाश हो जायेगा। प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि मोमबत्ती के नाश होने से अन्य वस्तुओं की उत्पत्ति हुई।[१]

इसी तरह जल को एक प्याले में रखा जाये और प्याले में दो छिद्र कर तथा उनमें कार्क लगा कर दो प्लेटिनम की पत्तियाँ जल में खड़ी कर दी जायें और प्रत्येक पत्ती के ऊपर एक काँच का ट्यूब लगा दिया जाये तथा प्लेटिनम की पत्तियों का सम्बन्ध तार द्वारा बिजली की बैटरी के साथ कर दिया जाये तो कुछ ही समय में पानी ग़ायब हो जायेगा। साथ ही यदि उन प्लेटिनम की पत्तियों पर रखे गए ट्यूबों पर ध्यान दिया जायेगा तो दोनों में एक-एक तरह की गैस मिलेगी, जो ऑक्सीजन और हाइड्रोजन होगी।[२]

आधुनिक वैज्ञानिक शोधों से यह प्रमाणित हुआ है कि पुद्गल शक्ति में और शक्ति पुद्गल में परिवर्तित हो सकती है।[३] सापेक्षवाद के अनुसार पुद्गल के स्थायित्व के नियम व शक्ति के स्थायित्व के नियम को एक ही नियम में समा देना चाहिए। उसका नाम 'पुद्गल और शक्ति के स्थायित्व' का नियम कर देना चाहिए।[४]

स्याद्वाद के अनुसार सत् का कभी नाश नाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता।[५] ऐसी कोई स्थिति नहीं होती, जिसके साथ उत्पाद और विनाश की अविच्छिन्न धारा न हो; और ऐसे उत्पाद-विनाश नहीं होते, जिनकी पृष्ठ-भूमि में स्थिति का हाथ न हो?

सब द्रव्य उभय-स्वभावी हैं। उनके स्वभाव की व्याख्या एक ही नियम से नहीं हो सकती। असत् का उत्पाद नहीं होता और सत् का विनाश नहीं होता। इस द्रव्यनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा द्रव्यों (ध्रौव्यांशों या मूलभूत तत्त्वो) की ही व्याख्या हो सकती है। इसके द्वारा रूपान्तरों (पर्यायों) की व्याख्या नहीं हो सकती। उनकी व्याख्या—असत् की उत्पत्ति और सत् का विनाश होता है—इस पर्यायनयात्मक सिद्धान्त के द्वारा ही की जा सकती है। इन दोनों को एक भाषा में परिणामी-नित्यवाद या नित्यानित्यवाद कहा जा सकता है। इसमें स्थायित्व और परिवर्तन के सापेक्ष रूप की व्याख्या है। इस जगत् में ऐसा कोई भी द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा स्थायी ही है; और ऐसा भी कोई द्रव्य नहीं है, जो सर्वथा परिवर्तनशील ही है। मोमबत्ती, जो परिवर्तनशील है, वह भी स्थायी है; और जीव, जो स्थायी माना जाता है, वह भी परिवर्तनशील है। स्थायित्व और परिवर्तनशीलता की दृष्टि से जीव और मोमबत्ती में कोई अन्तर नहीं है।[६]

कोरी स्थिति ही होती, तो सब द्रव्य सदा एक-रूप रहते; कहीं कोई परिवर्तन नहीं होता—न कुछ बनता और

१ A Text Book of Inorganic Chemistry by J. R. Partington, p. 15

२ A Text-Book of Inorganic Chemistry by G. S. Neuth, p. 237

३ General Chemistry by Linus Pauling, pp. 4-5

४ General and Inorganic Chemistry by P. J. Durrant, p. 18

५ भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स उप्पादो।—पञ्चास्तिकाय, १५

६ आदीपमाव्योमसमस्वभावं स्याद्वादमुद्राऽनतिभेदि वस्तु।
तन्नित्यमेवैकमनित्यमन्यदिति त्व दाज्ञाद्विषतां प्रलापाः॥

—अन्ययोगव्यवच्छेदिका, श्लोक ५

न कुछ मिटता। न कोई घटना होती न कोई क्रम होता, और न कोई व्याख्या होती।

कोरे उत्पाद और व्यय होते तो उनका कोरा क्रम होता; पर स्थायी आधार के बिना वे कुछ रूप नहीं ले पाते। कर्तृत्व, कर्म और परिणामी की कोई व्याख्या नहीं होती। स्याद्वाद की मर्यादा के अनुसार परिवर्तन भी है और उसका आधार भी है, परिवर्तन-रहित कोई स्थायित्व नहीं है, और स्थायित्व-रहित कोई परिवर्तन नहीं है। दोनों अपृथक्भूत है। परिवर्तन स्थायी में ही हो सकता है, और स्थायी वही हो सकता है, जिसमें परिवर्तन हो। निष्कर्ष की भाषा में कहा जा सकता है—निष्क्रियता और सक्रियता, स्थिरता और गतिशीलता का जो सहज समन्वित रूप है, वही द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपने केन्द्र में ध्रुव, स्थिर और निष्क्रिय है। उसके चारों ओर परिवर्तन की अटूट शृंखला है। इसे हम परमाणु (या व्यावहारिक परमाणु) की रचना के द्वारा समझ सकते है। अणु की रचना तीन प्रकार के कणों से मानी जाती है: १. प्रोटोन, २. इलेक्ट्रोन, ३. न्यूट्रोन। प्रोटोन धनात्मक कण है। वह परमाणु का मध्य-बिन्दु होता है। इलेक्ट्रोन ऋणात्मक कण है। यह धनाणु के चारों ओर परिक्रमा करता है। न्यूट्रोन उदासीन कण होते हैं।

जीव के प्रयत्न से जो परिवर्तन होता है, वह प्रत्यक्ष है। किन्तु जीव में भी जो प्रतिक्षण परिवर्तन होता है—अस्तित्व की सुरक्षा के लिए जो सहज सक्रियता होती है अथवा निषेध की सुरक्षा के लिए जो विधि का प्रयत्न होता है—वह प्रत्यक्ष नहीं है। इसीलिए हमारी दृष्टि में किसी भी वस्तु का अस्तित्व व्यक्त (व्यञ्जन) पर्याय से होता है। अर्थ-पर्याय (सूक्ष्म सक्रियता) में हम किसी वस्तु का अस्तित्व मानने में सफल नहीं होते।

बहुत सारा परिवर्तन जीवों के प्रयत्न के बिना होता है—पदार्थ की स्वाभाविक गति से होता है। अनेक परमाणु मिलकर परिवर्तन करते हैं। तब वह समुदायकृत कहलाता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय में ऐकत्विक परिवर्तन होता है। उत्पाद और विनाश दोनों का यही क्रम है।[1] परमाणु स्वतन्त्र परमाणु के रूप में रहता है तो कम-से-कम एक समय और अधिक-से-अधिक असंख्य काल तक रह सकता है। द्व्यणुक स्कन्ध से लेकर अनन्ताणुक स्कन्ध के लिए भी यही नियम है।[2]

एक परमाणु परमाणु-रूप को छोड़कर स्कन्ध-रूप में परिणत होता है, वह जघन्यतः एक समय के पश्चात् और उत्कर्षतः असंख्य काल के पश्चात् फिर परमाणु-रूप में आ जाता है। उससे आगे वह स्कन्ध-रूप में नहीं रह सकता।[3] स्कन्ध में उत्कृष्ट अन्तर अनन्त काल का हो सकता है।[4]

यह समूचा जगत् अणुओं या प्रदेशों से निष्पन्न हैं। पुद्गल के अणु विश्लिष्ट है। शेष चारों अस्तिकायों के अणु श्लिष्ट हैं—परस्पर एक-दूसरे से अविच्छिन्न हैं। वे अनादि विस्रसा (स्वाभाविक) बन्ध से बँधे हुए हैं।[5] वह बन्ध अनन्तकालीन या सर्वकालीन है।

सादि-विस्रसा बन्ध का काल-मान इस प्रकार होता है[6]—

		जघन्य	उत्कृष्ट
१. बन्धन प्रत्ययिक	—	एकसमय	असंख्य काल
२. भाजन प्रत्ययिक	—	अन्तर-मुहूर्त्त	संख्येय काल
३. परिणाम प्रत्ययिक	—	एक समय	छः मास

जीव और पुद्गल अनादि प्रायोगिक बन्ध से बँधे हुए हैं। १. आलायन, २. आलीन, ३. शरीर, ४. शरीर-प्रयोग;

---

१ सन्मतिप्रकरण, ३।३२-३४
२ भगवतीसूत्र ५।७
३ वही, ५।७
४ वही, ५।७
५ वही, ८।९
६ वही, ८।९

—ये सादि प्रायोगिक बन्ध हैं।[1] इनका काल-मान इस प्रकार होता है :

		जघन्य	उत्कृष्ट
१. आलायन	—	अन्तर-मुहूर्त्त	संख्येय काल
२. आलीन	—	,,	,,
३. शरीर	—	एक समय	अनन्त काल
४. शरीर-प्रयोग	—	,,	,,

सूक्ष्म परिवर्तन (अगुरु-लघु पर्याय) प्रतिक्षण होता है और सब द्रव्यों में होता है। स्थूल परिर्तन (व्यञ्जन पर्याय) जीव और पुद्गल; इन दो ही द्रव्यों में होता है। वह पर-निमित्त से ही होता है और सहज भी होता है। असंख्य काल के पश्चात् व्यञ्जन-पर्याय का निश्चित परिवर्तन होता है। सोने का परमाणु असंख्य काल के पश्चात् सोने का नहीं रहता, वह दूसरे द्रव्य का प्रायोग्य बन जाता है।[2] यह परिवर्तन ही विश्व-संचालन का बहुत बड़ा रहस्य है। सृष्टि के आरम्भ, विनाश और संचालन की व्यवस्था इसी स्वाभाविक परिवर्तन के सिद्धान्त पर आधारित है। अगुरु-लघु पर्याय (=या अस्तित्व की क्षमता) की दृष्टि से विश्व अनादि-अनन्त है। व्यञ्जन-पर्याय की दृष्टि से विश्व सादि-सान्त है। स्वाभाविक परिवर्तन की दृष्टि से विश्व स्वयं सञ्चालित है। प्रत्येक द्रव्य की सञ्चालन-व्यवस्था उसके सहज स्वरूप में सन्निहित है। वैभाविक परिवर्तन की दृष्टि से विश्व जीव और पुद्गल के संयोग-वियोग से प्रजनित विविध परिणतियों द्वारा सञ्चालित है। विश्व के परिवर्तन और स्थायित्व की व्याख्या सापेक्षवाद इस प्रकार करता है[3]—"वैज्ञानिक निष्कर्षों को आन्तरिक और बाह्य सीमाओं पर जो भी सूत्र प्राप्त हुए हैं, वे यह व्यक्त करते हैं कि ब्रह्माण्ड का निर्माण किसी निश्चित काल में हुआ होगा। जिस अभिन्न हिसाब से यूरेनियम अपनी परमाणु-केन्द्रीय शक्ति को बिखेरता है (और चूँकि उसके निर्माण की किसी प्राकृतिक प्रणाली का पता नहीं चलता), उससे प्रगट होता है कि इस पृथ्वी पर जितना भी यूरेनियम है, सबका निर्माण एक निश्चित काल में हुआ होगा। भू-विज्ञानवेत्ताओं की गणना के अनुसार यह काल करीब बीस अरब वर्ष पूर्व रहा होगा। तारों के आन्तरिक भागों में दुर्धर्ष रूप से चलने वाली तापकेन्द्रीय प्रणालियाँ जिस तीव्रता से पदार्थ को प्रकाश-किरण में परिणत करती हैं, उससे अन्तरिक्ष-विज्ञानवेत्ता नक्षत्रीय जीवन का विश्वास-पूर्वक हिसाब लगाने में समर्थ हैं। उनके हिसाब से अधिकांश दृश्य तारों की औसत आयु बीस अरब वर्ष है। इस प्रकार भू-विज्ञानवेत्ताओं और अन्तरिक्ष-विज्ञानवेत्ताओं के हिसाब ब्रह्माण्डवेत्ताओं के हिसाब के बहुत अनुकूल ठहरते हैं; क्योंकि दौड़ती हुई ज्योतिर्मालाओं के प्रत्यक्ष वेग के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रह्माण्ड का विस्तार-कार्य बीस अरब वर्ष पूर्व आरम्भ हुआ होगा। विज्ञान के अन्य क्षेत्रों में भी कुछ ऐसे लक्षण उपलब्ध हैं, जो इसी तथ्य को प्रगट करते हैं। अतएव ब्रह्माण्ड के अन्ततः विनाश की ओर इंगित करने वाले सारे प्रमाण काल पर आधारित उसके आरम्भ को भी निश्चयपूर्वक व्यक्त करते हैं।

"यदि कोई एक अमर स्फुरणशील ब्रह्माण्ड (जिसमें सूरज, पृथ्वी और विशालकाय लाल तारे अपेक्षाकृत नवागन्तुक है) की कल्पना से सहमत हो जायें, तो भी आरम्भिक उद्भव की समस्या शेष रह ही जाती है। इससे केवल उद्भव-काल असीम अतीत के गर्भ में चलता जाता है, क्योंकि वैज्ञानिकों ने ज्योतिर्मालाओं, तारों, तारा-सम्बन्धी रजकणों, परमाणुओं और यहाँ तक कि परमाणु में निहित तत्त्वों के बारे में गणित की सहायता से जो भी लेखा-जोखा तैयार किया है, उसके हर सिद्धान्त की आधारभूत धारणा यह रही है कि कोई चीज़ पहले से विद्यमान अवश्य थी—चाहे वह उन्मुक्त 'न्यूट्रोन' हो, या शक्ति की राशि, या केवल अगाध 'ब्रह्माण्डीय तत्त्व', जिससे आगे चलकर ब्रह्माण्ड ने यह रूप प्राप्त किया।"

---

१ भगवती सूत्र, ८।९

२ वही, ८।९

३ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ११३-११४

स्याद्वाद की भाषा में विश्व के स्थायित्व और परिवर्तन (आरम्भ और विनाश, रूपान्तर या अर्थान्तर) को इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है :

१. स्यात् नित्यं एव—एक दृष्टि से नित्य ही है।
२. स्यात् अनित्यं एव—" " " अनित्य ही है।
३. स्यात् नित्यं स्यात् अनित्यं एव—युगपत् वस्तु नित्यानित्य ही है।

	द्रव्य
केवल नित्य	०
" अनित्य	०
नित्यानित्य	है

एक परमाणु विभिन्न अवस्थाओं से संक्रान्त होते हुए भी अन्ततः परमाणु ही है। वह अनन्त अवस्थाओं को और प्राप्त करके भी अन्ततः परमाणु ही रहेगा। यह नियम सभी द्रव्यों के लिए समान है।

वाच्य और अवाच्य का नियम

उपनिषद् का ब्रह्म न सत् है,न असत् है,[1] किन्तु अवक्तव्य है। उसका स्वरूपबोधक वाक्य है—नेति-नेति।[2] वह वाणी के व्यवहार से परे है।[3] उपनिषदों में सकम्प-निष्कम्प, क्षर-अक्षर, सत्-असत्, अणु-महान् आदि अनेक विरोधी युगल ब्रह्म में स्वीकृत हैं।[4] इसलिए वह अवक्तव्य बन गया। वेदान्त का वाच्य है—नामरूपात्मक जगत्।

महात्मा बुद्ध ने—

१. लोक शाश्वत है ?
२. ,, अशाश्वत है ?
३. ,, सान्त है ?
४. ,, अनन्त है ?
५. जीव और शरीर एक है ?
६. ,, ,, ,, भिन्न हैं ?

इन प्रश्नों को अव्याकृत कहा है।[5]

ऐकान्तिक शाश्वतवाद और ऐकान्तिक उच्छेदवाद उन्हें निर्दोष नहीं लगा, इसलिए वे नित्यानित्य की चर्चा में नहीं गये। उन्होंने इन प्रश्नों को अव्याकृत कहकर टाल दिया। उन्होंने जन्म-मरण आदि प्रत्यक्ष धर्मों को व्याकृत कहा।[6]

भगवान् महावीर ने विरोधी धर्मों की अवहेलना भी नहीं की और उनकी सहस्थिति से विचलित भी नहीं हुए। वे विरोधी धर्मों की सहस्थिति से परिचित हुए; अतः उन्होंने किसी एक को वाच्य और किसी दूसरे को अवाच्य नहीं माना। उनकी नय-दृष्टि के अनुसार विश्व का कोई भी द्रव्य सर्वथा वाच्य नहीं है, और कोई भी द्रव्य सर्वथा अवाच्य नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त विरोधी युगलों का पिण्ड है। उसके सब धर्मों को कभी नहीं कहा जा सकता। एक काल में एक ही शब्द एक ही धर्म को व्यक्त करता है, इसलिए एक साथ अनन्त धर्मों का निरूपण नहीं किया जा सकता। इस

---

१ नसन्न चासत्। —श्वेताश्वतर, ४।१८
२ स एष नेति नेति। —बृहदारण्यक, ४।५।१५
३ यतो वाचो निवर्तन्ते। —तैत्तिरीय, २।४
४ ईशा० ५; श्वेताश्वतर, १।८; मुण्डक, २।२।१; कठो० १।१२।२०
५ मज्झिमनिकाय, चूल मालुंक्यसुत्त, ६३
६ वही, चूल मालुंक्यसुत्त, ६३

नय-दृष्टि से द्रव्य अवाच्य भी है। प्रयोजनवश हम द्रव्य के किसी एक धर्म का निरूपण करते हैं, इस दृष्टि से वे वाच्य भी हैं। जब हम एक धर्म के द्वारा अनन्तधर्मात्मक द्रव्य का निरूपण करते हैं, तब हमारी दृष्टि और हमारा वचन सापेक्ष बन जाते हैं। हम उस विवक्षित धर्म को अनन्तधर्मात्मक द्रव्य का प्रतीक मानकर एक के द्वारा सकल का निरूपण करते हैं। इस नियम को 'सकलादेश' कहा जाता है। 'स्यात्' शब्द इसी सकलादेश का सूचक है। जहाँ हमें एक धर्म के द्वारा समग्र धर्मी का निरूपण करना हो, वहाँ 'स्यात्' शब्द का प्रयोग कर देना चाहिए। जैसे :

१. स्यात् अस्ति—यहाँ अस्ति धर्म के द्वारा समग्र धर्मी वाच्य है।

२. ,, नास्ति— ,, नास्ति ,, ,, ,, ,, ,, वाच्य है।

द्रव्य में जिस क्षेत्र और जिस काल में अस्ति-धर्म होता है, उसी क्षेत्र और उसी काल में नास्ति धर्म-होता है; एक साथ वे दोनों कहे नहीं जा सकते, इसलिए हम कहते हैं :

३. स्यात् अवक्तव्य—यहाँ अवक्तव्य पर्याय के द्वारा समग्र धर्मी वाच्य है। इसका तात्पर्यार्थ है कि द्रव्य में अस्ति-नास्ति जैसे विरोधी धर्म युगपत् हैं, पर उन्हें कहने के लिए हमारे पास कोई शब्द नहीं है। वे जिस रूप में हैं, उस रूप को युगपत् वाणी के द्वारा प्रगट करना शक्य नहीं है, इसलिए वे अवाच्य हैं।

तीनों विकल्पों का निष्कर्ष यह है कि एक धर्म को समग्र धर्मी का प्रतीक मानकर हम द्रव्य का वर्णन करें तो वह अवाच्य भी है; और अनेक या समग्र धर्मों को हम एक साथ कहना चाहें तो वह अवाच्य भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु अपनी विचित्र परिस्थिति के कारण वाच्य और अवाच्य दोनों है। स्याद्वाद धर्मीग्राही है, इसलिए उसमें अवाच्य का पक्ष प्रधान है और वाच्य पक्ष गौण है। नयवाद धर्मग्राही है, इसीलिए उसमें वाच्य पक्ष प्रधान है और अवाच्य पक्ष गौण। हमारा ज्ञेय सत्य अनन्त है और वाच्य सत्य उसका अनन्तवाँ भाग है।[1] हमारा इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है और हमारी भाषा की भी निश्चित सीमा है। प्रत्येक वस्तु अपने-आप में असीम है। ससीम के द्वारा असीम का दर्शन और निरूपण जो होता है वह सापेक्ष ही होता है। धर्मी के एक धर्म के द्वारा धो आकलन व निरूपण होता है, वह अभेद-वृत्ति या अभेदोपचार से होता है। एक धर्म का आकलन या निरूपण स्वाभाविक सहज शक्ति से होता है। हमारी इन्द्रियाँ एकधर्मग्राही हैं। हमारा जो दृश्य जगत् है, वह पौद्गलिक है। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप; ये पुद्गल के गुण हैं और शब्द उसका कार्य है। हमारी पाँचों इन्द्रियाँ क्रमशः इन्हें ग्रहण करती हैं :

स्पर्शन—स्पर्श
रसन—रस
घ्राण—गन्ध
चक्षु—रूप
श्रोत्र—शब्द

आम में स्पर्श आदि चारों गुण होते हैं। चारों इन्द्रियाँ उसे पृथक्-पृथक् चार रूपों में ग्रहण करती हैं। स्पर्शन-इन्द्रिय के लिए वह एक स्पर्श है, रसन-इन्द्रिय के लिए वह एक रस है, घ्राण-इन्द्रिय के लिए वह एक गन्ध है, चक्षु-इन्द्रिय के लिए वह एक रूप है। इन्द्रियाँ ऋजु हैं, वर्तमान को जानती हैं; अतीत का चिन्तन और भविष्य की कल्पना उनमें नहीं होती। वे अपने-अपने विषय को जान लेती हैं, पर सब विषयों को मिला कर जो एक वस्तु बनती है, उसे नहीं जान पातीं। स्पर्श, रस, गन्ध और रूप में भी अनन्त तारतम्य होता है :

स्पर्श	एकगुण	संख्यात गुण	असंख्य गुण	अनन्त गुण
रस	,,	,,	,,	,,
गन्ध	,,	,,	,,	,,
रूप	,,	,,	,,	,,

१ पण्णवणिज्जा भावा, अणंत भागो उ अणभिलप्पाणं —विशेषावश्यक भाष्य, १४१

इन्द्रियाँ नहीं जान पातीं कि तारतम्य के आधार पर किस वस्तु को क्या कहना चाहिए ? इसकी व्यवस्था मन करता है। वह इन्द्रियों के द्वारा गृहीत धर्मों को धर्मी के साथ संयुक्त कर देता है। चक्षु-इन्द्रिय के द्वारा केवल रूप-धर्म का ग्रहण होता है। मन उस रूप-धर्म के द्वारा रूपी धर्मी का भी ग्रहण कर लेता है। हमारे ज्ञान का प्रथम द्वार है इन्द्रिय, और दूसरा द्वार है मन। हम पहले-पहल धर्म को जानते हैं, फिर धर्मी को। धर्म धर्मी से वियुक्त नहीं है; इसलिए हमारी इन्द्रियाँ जब धर्म को जानती हैं, तब भी हमारा ज्ञान सापेक्ष होता है। क्योंकि धर्मी से पृथक् स्वन्तत्र धर्म का कोई अस्तित्व नहीं है। धर्मी किसी एक धर्म के माध्यम से ही अपने को व्यक्त करता है, इसलिए हमारा धर्मी का ज्ञान भी सापेक्ष होता है। इन्द्रिय और मन में निरपेक्ष ज्ञान करने की क्षमता नहीं है, अर्थात् धर्मी से वियुक्त धर्म को तथा धर्म के माध्यम के बिना धर्मी को जानने की क्षमता नहीं है। धर्म-धर्मी के इस सापेक्ष ज्ञान को 'नयवाद' या 'विकलादेश' कहा जाता है। जितने धर्म हैं, उतने ही वचन प्रकार हैं। जितने वचन-प्रकार हैं, उतने ही नयवाद है।[1]

द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक

द्रव्य की दो प्रधान अवस्थाएं हैं—अन्वय और परिवर्तन। परिवर्तन क्रमिक होता है और अन्वय उन क्रमिक अवस्थाओं की अटूट कड़ी होता है। तरंग एक क्रम है, जल उसमें सर्वत्र व्याप्त है। जल से तरंग को और तरंग से जल को पृथक् नहीं किया जा सकता। जल और तरंग दोनों भिन्न अवस्थाएं हैं, उन्हें एक भी नहीं माना जा सकता। फिर भी हम कहीं-कहीं अन्वयी की उपेक्षा कर केवल अन्वय का प्रतिपादन करते हैं और कहीं-कहीं अन्वय की उपेक्षा कर अन्वयी का प्रतिपादन करते हैं। यह एकान्तवाद है। पर यहाँ उपेक्षा का अर्थ निराकरण नहीं है, इसलिए यह निरपेक्ष एकान्त-वाद नहीं है। अन्वयी के प्रतिपादन में अन्वय और अन्वय के प्रतिपादन में अन्वयी स्वयं-गम्य है। कभी हमारा दृष्टिकोण अन्वय-प्रधान (द्रव्यार्थिक) होता है और कभी परिवर्तन-प्रधान (पर्यायार्थिक) होता है। सच तो यह है कि हमारे जितने एकांगी दृष्टिकोण हैं, वे सब परिवर्तन-प्रधान हैं। फिर भी जब हम अन्वय का स्पर्श करते हुए परिवर्तन की व्याख्या करते हैं, तब हमारा दृष्टिकोण अन्वय-प्रधान बन जाता है; और जब हम अन्वय का स्पर्श किये बिना केवल परिवर्तन की व्याख्या करते हैं, तब हमारा दृष्टिकोण परिवर्तन-प्रधान बन जाता है।

नैगम

अन्वय सब कालों व स्थितियों में सामान्य होता है, इसलिए वह अभेद है। परिवर्तन विलक्षण होता है, इसलिए वह भेद है। केवल अभेदात्मक वा केवल भेदात्मक दृष्टिकोण से विश्व की व्याख्या नहीं की जा सकती। उसकी व्याख्या अभेद को गौण व भेद को प्रधान अथवा भेद को गौण व अभेद को प्रधान मान कर की जा सकती है। इस प्रणाली को 'नैगम नय' कहा जाता है।

संग्रह

विश्व में अनेक धर्म ऐसे हैं, जो विलक्षण हैं; पर विलक्षणता में भी अस्तित्व या सत्ता ऐसा धर्म है, जो सबको एक साथ टिकाये और स्वरूप प्रदान किये हुए है। जब हम अस्तित्व-धर्म की दृष्टि से विश्व की व्याख्या करते हैं, तब समूचा विश्व हमारे लिए एक हो जाता है। विश्व के केन्द्र में सत्ता है। वह एक और अखण्ड है।

वेदान्त चेतन को केन्द्र में मानकर विश्व को एक मानता है और संग्रह-दृष्टि सत्ता को केन्द्र में मानकर विश्व को एक मानती है। वह भी सापेक्ष दृष्टि है, अर्थात् चेतन की अपेक्षा विश्व एक है; और यह भी सापेक्ष दृष्टि है अर्थात् सत्ता की अपेक्षा विश्व एक है। सब धर्मों की अपेक्षा अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म भी नहीं है, और सब धर्मों की अपेक्षा अद्वैत स्याद्-

---

१ जावइया वयण वहा, तावइया चेव होंति णयवाया।

—सन्मति-प्रकरण, ३।४७

वाद का विश्व भी नहीं है। परम संग्रह या परम एकत्व की दृष्टि में अस्तित्व के अतिरिक्त और कोई प्रश्न ही नहीं होता। वहाँ एक ही तत्त्व होता है—जो सत् है, वह सत्य है; और जो सत्य है, वह सत् है। इस अद्वैत-प्रणाली को 'संग्रह-नय' कहा जाता है।

व्यवहार

आकाश सर्वत्र व्याप्त है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय असंख्य योजन तक आकाश के सहवर्ती हैं। आकाश, धर्म, अधर्म और जीव—ये चारों अमूर्त हैं, इसलिए वे अन्योन्य-प्रविष्ट रह सकते हैं। पुद्गल मूर्त है। अमूर्त और मूर्त में एकावगाह का विरोध नहीं है, इसलिए वे सभी एक साथ रह सकते हैं। सहज ही जिज्ञासा होती है—पाँचों एकावगाह हो सकते हैं, तब उन्हें पृथक् क्यों माना जाय ? इसका समाधान उनके विलक्षण स्वभाव के आधार पर ही किया जा सकता है। वे एक साथ रहते हुए भी अपने विलक्षण स्वभाव का परित्याग नहीं करते,[1] इसलिए सत्ता व एकावगाह की दृष्टि मे अपृथक् होते हुए भी वे विलक्षण स्वभाव व परिणाम की दृष्टि से पृथक् हो जाते हैं। विश्व के इस पृथक्त्व की व्याख्या-पद्धति को 'व्यवहार-नय' कहा जाता है।

जब विश्व की व्याख्या समस्यमान दृष्टि से की जाती है, तब वह अद्वैत का रूप लेता है और जब उसकी व्याख्या विविच्यमान दृष्टि से की जाती है, तब वह द्वैत का रूप लेता है। अद्वैत और द्वैत, दोनों एक ही विश्व के दो पहलू हैं।[2] अद्वैत की सर्वथा अवहेलना कर द्वैत तथा द्वैत की सर्वथा अवहेलना कर अद्वैत की व्याख्या नहीं की जा सकती। जब हम केन्द्रोन्मुखी दृष्टि से देखते हैं, तब हम द्वैत से अद्वैत की ओर बढ़ते हैं। जब हम परिणामोन्मुखी व विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से देखते हैं तब हम अद्वैत से द्वैत की ओर बढ़ते हैं। हमारा विकेन्द्रित दशा का चरम बिन्दु केन्द्र-लक्षी है और केन्द्रित दशा का चरम बिन्दु विकेन्द्र-लक्षी है:
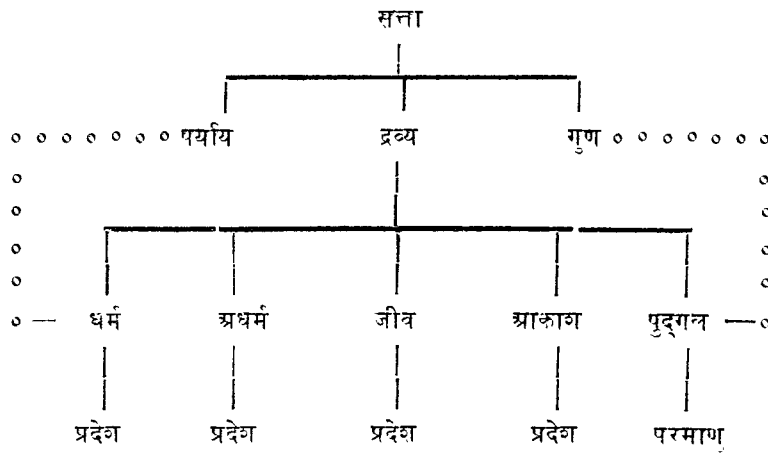
१ अण्णोण्णं पविसंता, दिंता ओगास मण्ण मण्णस्स।
मेलंता विय निच्चं, सगं सभावं ण विजहंति॥
—पञ्चास्तिकाय, ७५

२ जैनसिद्धान्तदीपिका, प्रकाश १, सूत्र ४१-४३
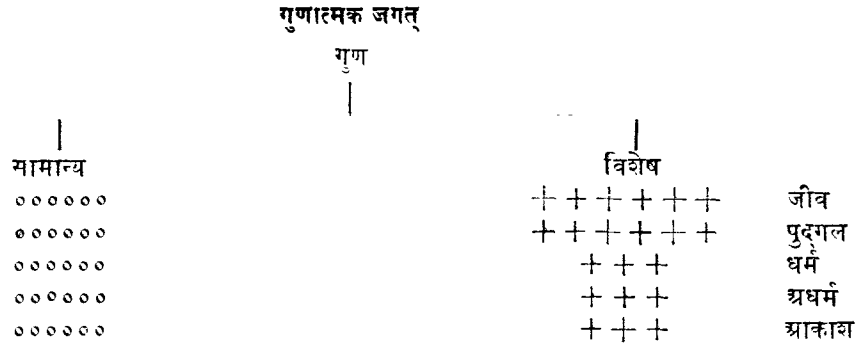
ऋजसूत्र

अद्वैत या द्रव्यात्मक जगत् हमारे लिए प्रत्यक्ष नहीं है, परिणाम हमारे प्रत्यक्ष होते हैं। हमारा अधिकांश समय परिणामात्मक जगत् में बीतता है। इस जगत् की रचना बहुत ऋजु है। इसमें सब-कुछ वर्तमान है। भूत और भावी के लिए कोई स्थान नहीं है, भूत बीत जाता है, भावी अनागत होता है, इसलिए वे कार्य कर नहीं होते। वर्तमान अर्थ-क्रिया-सम्पन्न है, इसलिए वह वस्तु-स्थिति है। यह परिवर्तन का सिद्धान्त है। यह अन्वय की व्याख्या नहीं दे सकता। इस पद्धति को 'ऋजुसूत्र-नय' कहा जाता है।

परिणामात्मक जगत्
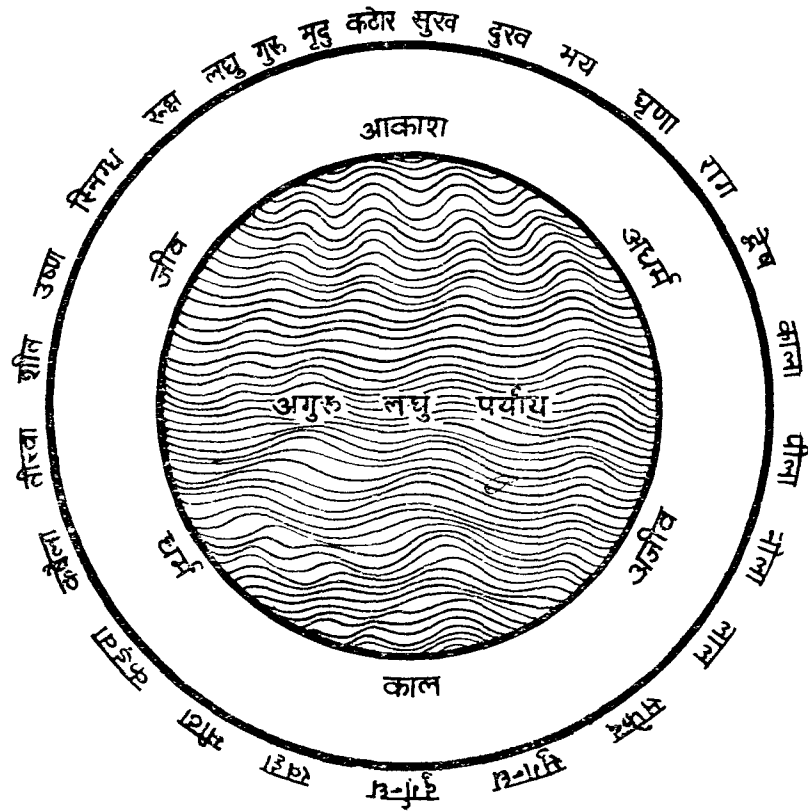
पूर्ववर्ती तीन दृष्टिकोण द्रव्याश्रित परिणामों की व्याख्या देते हैं और प्रस्तुत दृष्टिकोण केवल परिणामों की व्याख्या देता है। द्रव्य दृष्टिगामी होता है और पर्याय दृष्टिद्वैतगामी। द्रव्य अद्वैत—अविच्छिन्न होता है और पर्याय विच्छिन्न होता है। विच्छेद के हेतु तीन हैं: वस्तु, देश और काल। अविच्छेद और विच्छेदनय की अपेक्षा से तीन-तीन रूप बनते हैं:

द्रव्य-दृष्टि से विश्व एक है, अभिन्न है और नित्य है।

पर्याय-दृष्टि से विश्व अनेक है, भिन्न है और अनित्य है। निरपेक्ष रहकर दोनों दृष्टियाँ सत्य नहीं हैं। ये सापेक्ष रहकर ही पूर्ण सत्य की व्याख्या कर सकती हैं।

सत्य की मीमांसा

सत्य की शोध अनादि काल से चल रही है; किन्तु सत्य अनन्तरूपी है। मनुष्य अपनी दो आँखों से देख उसके एक रूप की व्याख्या करता है, इतने में वह अपना रूप-परिवर्तन कर लेता है। वह उसके दूसरे रूप की व्याख्या का यत्न करता है, इतने में उसका तीसरा रूप प्रगट हो जाता है। इस दौड़ में मनुष्य थक जाता है, उसका रूप-परिवर्तन का क्रम चलता रहता है। इस प्रक्रिया में सापेक्षता ही मनुष्य को आलम्बन दे सकती है। जो एक रूप को पकड़ शेष सब रूपों से निरपेक्ष होकर उसकी व्याख्या करता है, वह उसका अंग-भंग कर डालता है।

चार्वाक के अभिमत में इन्द्रिय-गम्य ही सत्य है; उपनिषदों के अनुसार अतीन्द्रिय (या प्रज्ञागम्य) ही सत्य है। जो दृश्य-मान है, वह शब्द-मात्र, विकार-मात्र या नाम-मात्र है।[1] शंकराचार्य के अनुसार जो जिस रूप में निश्चित है, यदि वह उस रूप का व्यभिचारी न हो, तो वह सत्य है। जो जिस रूप में निश्चित है, यदि वह उस रूप का व्यभिचारी बनता है, तो वह अनृत है। विकार इसीलिए अनृत है कि वह निश्चित रूप का व्यभिचारी है।[2] बौद्धों के अनुसार भेद ही सत्य है। वे वेदान्त की भाँति अभेद को सत्य नहीं मानते और चार्वाक की भाँति इन्द्रिय-गम्य को भी सत्य नहीं मानते। अतीन्द्रिय भी उनकी दृष्टि में सत्य है। महात्मा बुद्ध की यह एक शिक्षा थी—"जीवन-प्रवाह को इसी शरीर तक परिमित न मानना—अन्यथा जीवन और उसकी विचित्रताएं कार्य-कारण से उत्पन्न न होकर, केवल आकस्मिक घटनाएं रह जायेंगी।"[3]

वैज्ञानिक जगत् में सत्य की व्याख्या व्यवहाराश्रित है। उसके अनुसार—"एक यंत्र प्रकाश को कणों से निर्मित रूप में व्यक्त करता है और दूसरा उसके तरंगों से निर्मित होने की बात बतलाता है; तो उसे उन दोनों का परस्पर-विरोधी नहीं, बल्कि परस्पर-पूरक स्वीकार करना चाहिए। अलग-अलग इन दोनों में से कोई भी प्रकाश की व्याख्या करने में असमर्थ है; पर साथ मिलकर वे ऐसा करने में समर्थ हो जाते हैं। सत्य की व्याख्या करने के लिए दोनों ही महत्त्व-

---

१ वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।—छान्दोग्य उपनिषद्, ६।१।४

२ तैत्तिरीय उपनिषद् २।१; शांकर भाष्य, पृ० १०३

३ मज्झिम निकाय, भूमिका

पूर्ण हैं और यह प्रश्न निरर्थक है कि इन दोनों में से कौन वस्तुतः सत्य है। प्रमाता भौतिक विज्ञान के भाववाचक कोश में 'वस्तुतः' नामक कोई शब्द नहीं है।[1]

आचार्य शंकर के शब्दों में—यह लोक-व्यवहार सत्य और अनृत का मिथुनीकरण है। ब्रह्म सत्य है, प्रपञ्च मिथ्या है। **सत्यानृते मिथुनीकृत्य नैसर्गिकोऽयंलोक व्यवहारः।**—स्याद्वाद की भाषा में लोक-व्यवहार दो सत्यों का मिथुनीकरण है। उसके अनुसार केन्द्र और प्रपञ्च (द्रव्य और परिणाम या विस्तार) दोनों सत्य हैं। एक वस्तु-सत्य या निश्चय-सत्य है; दूसरा व्यवहार-सत्य या पर्याय-सत्य है। निश्चयनय पारमार्थिक, भूतार्थ, अलौकिक, शुद्ध और सूक्ष्म है। व्यवहार-नय अपारमार्थिक, अभूतार्थ, लौकिक, अशुद्ध और स्थूल है। निश्चयनय तत्त्वार्थ की व्याख्या करता है और व्यवहारनय लौकिक सत्य या स्थूल पर्याय की व्याख्या करता है।[2] आचार्य कुन्दकुन्द के अभिमत में निश्चयनय की दृष्टि से परमाणु ही पुद्गल है; व्यवहारनय की दृष्टि से स्कन्ध भी पुद्गल है।[3] परमाणु के गुण स्वाभाविक और स्कन्ध के गुण वैभाविक होते हैं। परमाणु में स्वभाव-पर्याय (अन्य-निरपेक्ष परिणमन) और स्कन्ध में विभाव-पर्याय (पर-सापेक्ष परिणमन) होते हैं।[4]

यति भोज के शब्दों में—बाह्य के आन्तरिक रूप, बहुत व्यक्तियों के अभेद तथा द्रव्य-नैर्मल्य (पर-निरपेक्ष परिणमन)—द्रव्य के इस पारमार्थिक रूप की व्याख्या का दृष्टिकोण निश्चयनय है। यह मूल-स्पर्शी है, वस्तु-सत्य को प्रगट करने वाला है।[5] व्यक्तियों के भेद, व्यक्त पर्याय और कार्य-कारण के एकत्व—द्रव्य के इस अपारमार्थिक रूप की व्याख्या का दृष्टिकोण व्यवहारनय है। यह परिणाम-स्पर्शी है, स्थूल सत्य को प्रगट करने वाला है।[6]

भगवान् से पूछा—भगवन्! प्रवाही गुड़ में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श कितने होते हैं?

भगवान् ने कहा—गौतम! इसकी व्याख्या मैं दो दृष्टिकोणों से करता हूँ:

१. व्यवहार-दृष्टि से वह मधुर है;

२. निश्चय-दृष्टि से वह सब रसों से उपेत है।

इसी प्रकार भ्रमर के बारे में पूछा गया, तो भगवान् ने कहा:

१. व्यवहार-दृष्टि से वह काला है;

२. निश्चय-दृष्टि से वह सब वर्णों से उपेत है।[7]

व्यवहार-दृष्टि से सत्-पर्याय सत्य होता है और निश्चय-दृष्टि से सत्-पर्याय व अनन्त असत्-पर्यायों से युक्त द्रव्य सत्य होता है। निश्चय-दृष्टिकोण का प्रतिपाद्य सत्य निरपेक्ष और व्यवहार-दृष्टि का प्रतिपाद्य सत्य सापेक्ष होता है, किन्तु निरपेक्ष दृष्टिकोण के बिना विश्व के केन्द्र तथा सापेक्ष दृष्टिकोण के बिना उसके विस्तार की व्याख्या नहीं की जा सकती; इसलिए निरपेक्ष और सापेक्ष सत्य जैसे परस्पर-सापेक्ष हैं, वैसे ही उनके प्रतिपादक निरपेक्ष और सापेक्ष दृष्टिकोण भी परस्पर-सापेक्ष हैं। स्याद्वाद की यही मर्यादा है।

---

१ डा० आईन्स्टीन और ब्रह्माण्ड, पृ० ३२-३३

२ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ८।२३

३ नियमसार, २६

४ नियमसार, २७—२८

५ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ८।२४

६ द्रव्यानुयोगतर्कणा, ८।२५

७ भगवती, सूत्र १८।६

स्याद्वाद-सिद्धान्त की मौलिकता और उपयोगिता

डॉ० कामताप्रसाद जैन
सम्पादक, 'अहिंसावाणी'

आज का युग अनात्मवादी है, इसीलिए उसका मानव बहिर्द्रष्टा है। वह परवस्तु का सहारा लेकर ऊपर उठना चाहता है; भौतिक आविष्कारों के द्वारा वह आनन्द पाना चाहता है; स्पूतनिक-यात्री बनकर स्वर्ग के नन्दन-कानन में अथवा चन्द्र-लोक में पहुँचने के स्वप्न देख रहा है। किन्तु आज का मानव भूल रहा है कि परावलम्वी जीवन कभी सुख-सम्पन्न नहीं होता। 'पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं', यह त्रिकाल सत्य है। बहिर्द्रष्टा परावलम्बी है, इन्द्रियजन्य वासनाओं का दास है और इच्छा का गुलाम है। यही कारण है कि इतने वैज्ञानिक चमत्कार और आविष्कार होने पर भी लोक में सुख और शान्ति का नाम नहीं है। अतः वर्तमान लोकस्थिति की यह माँग है कि मानव अन्तर्द्रष्टा बने—वह अपने अन्तर् में स्थित आत्मा को पहिचाने; क्योंकि उसके बारे में ऋषियों ने बताया है कि 'विश्व को प्रकाशित करने वाला वह आत्मा अनन्त शक्तिशाली है और ध्यान-शक्ति के प्रभाव से वह तीन लोक को चला सकता है।'[1] ऐसे शक्तिशाली महात्मा पलक मारते ही चन्द्र-लोक तो क्या, उससे भी परे के क्षेत्र का पर्यालोचन कर लेते थे—ध्यान के बल से चारण बनकर आकाश-गमन करते थे; उनको स्पूतनिक की भी आवश्यकता नहीं थी। वह अन्तर् की अणु-शक्ति को जगा लेते थे। अतः लोक में सुख और शान्ति की स्थापना तभी हो सकती है, जबकि मानव आत्मदर्शी अन्तर्द्रष्टा बने।

वर्तमान युग में स्याद्वाद की उपयोगिता

विगत काल में धार्मिक मान्यताओं के निमित्त से जो रक्तरंजित हिंसक घटनाएं घटित हुई हैं, उनके फलस्वरूप आज का बुद्धिवादी वर्ग धर्म का नाम सुनने के लिए भी तैयार नहीं है; किन्तु इसमें दोष धर्म का नहीं है। धर्म तो वस्तु का स्वभाव है। उसका उपयोग अच्छा भी हो सकता है और बुरा भी। आज विज्ञान को ही लीजिये—उसके आविष्कारों से जहाँ एक ओर मानव-जाति का महान् हित हुआ है, वहाँ दूसरी ओर अणुबम-जैसे घातक अस्त्र भी उसी के फलस्वरूप मिले हैं। हिरोशिमा की घोर नृशंसता का अभिशाप विज्ञान के बल पर ही घटित हुआ है; किन्तु इसमें दोष विज्ञान का नहीं, अपितु उसका उपयोग करने वालों का है। अतएव यह मानना पड़ता है कि न धर्म बुरा है और न विज्ञान; अपितु उनकी अच्छी या बुरी उपयोगिता उनके व्यवहार पर निर्भर है और व्यवहार व्यक्ति की आन्तरिक कर्मठता पर निर्भर है। अच्छा आदमी उसका अच्छा व्यवहार करेगा और बुरा उसका बुरा व्यवहार करेगा।

निस्सन्देह मानव-समाज की मौलिक इकाई व्यक्ति है—व्यक्ति ही मिलकर समाज का निर्माण करता है। अतः व्यक्ति का विचक्षण होना परमावश्यक है; और विचक्षणता आती है आत्मा और शरीर के स्वरूप को पहचानने से—सही दृष्टिकोण को पा लेने से। ज़रा गहरा विचार कीजिये तो पता चलेगा कि संघर्ष की जड़ बुद्धि है। बुद्धि के द्वारा ही अच्छे और बुरे संकल्पों को मूर्तिमान् बनाने की योजनाएं बनती हैं। अच्छा विचार अच्छी वाणी और अच्छे कार्यों का सृजन करता है। इसके विपरीत असद् विचार विषमता पैदा करता है। यही कारण है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् ने स्याद्वाद-सिद्धान्त का सहारा लेकर लोक-व्यवहार को चलाने का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा :

---

१ अहोऽनन्तवीर्योऽयमात्मा विश्वप्रकाशकः।
त्रैलोक्यं चालयत्येव ध्यानशक्तिप्रभावतः॥

"यदि व्यक्ति द्रव्य के अनेक गुणों को भुला कर केवल उसके एक गुण को ही पकड़ कर उसी में अटक जाता है,तो वह कभी भी सत्य को नहीं पाता है। अतः अनेकान्त-शैली को अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है, जैसे कि 'स्याद्' प्रत्यय से वह व्यक्त होता है।"[1]

और यह स्याद्वाद-सिद्धान्त जैन तीर्थंकरों की मौलिक देन है; क्योंकि यह ज्ञान का एक अंग है, जो तीर्थंकरों के केवलज्ञान में स्वतः ही प्रतिबिम्बित होता है। इस स्याद्वाद-सिद्धान्त के द्वारा मानसिक मतभेद समाप्त हो जाते हैं और वस्तु का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसको पाकर मानव अन्तर्द्रष्टा बनता है। 'स्याद्वाद' पद के दो भाग होते हैं—(१) स्यात् और (२) वाद। 'स्यात्' का अर्थ है 'कथंचित्'—किसी एक दृष्टिविशेषसे; अतः वह संशयात्मक नहीं है; प्रत्युत वह दृढ़ता से इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि वस्तु में यद्यपि अनेक गुण हैं, फिर भी शब्दों द्वारा उनका कथन या विधान एक साथ नहीं हो सकता; इसलिए वस्तु-स्वरूप को जानना है तो उसका पर्यालोचन विविध अपेक्षाओं और दृष्टिकोणों से करना उपादेय है। सापेक्षवाद कहिये, चाहे स्याद्वाद; हैवह 'थ्योरी ऑफ रिलेटिविटी' ही। चूँकि इस सिद्धान्त का आधार 'ही' न होकर 'भी' होता है—इसलिए इसका प्रयोग जीवन-व्यवहार में समन्वयपरक है—वह समता और शान्ति को सर्जता है—बुद्धि के वैषम्य को मिटाता है! स्कूल के दो छात्र अपनी पेंसिलों के बड़प्पन को लेकर झगड़ रहे थे। एक कहता था कि उसकी पेंसिल बड़ी है और दूसरा कहता था उसकी पेंसिल बड़ी है। छोटे-बड़े के थोड़े-से अन्तर को वे दृष्टि में ले ही नहीं रहे थे। उनके अध्यापकजी ने देखा तो अपने पास बुला कर उनके झगड़े को निबटाया। उन दोनों छात्रों की पेंसिलों को लेकर टेबिल पर रखा और उनके बीच में एक उनसे भी बड़ी पेंसिल रखकर पूछा—'बताओ, अब कौन-सी पेंसिल बड़ी है?' और उनको कहना पड़ा कि अध्यापकजी की पेंसिल बड़ी है। फिर अध्यापकजी ने उससे भी बड़ी पेंसिल उन पेंसिलों में रख दी और तब पूछा कि 'अब कौन-सी पेंसिल बड़ी है?' छात्रों ने नई पेंसिल को बड़ी बताया—जिसे पहले बड़ी बताया था, वह अब छोटी लगने लगी। इस प्रकार लोक में वस्तु-व्यवहार अपेक्षाकृत ही प्रयोग में आता है। जो लोग इस तथ्य से अनभिज्ञ रहते हैं वे उन छात्रों की तरह बेकार ही आपस में लड़ते-झगड़ते हैं। प्रत्येक वस्तु में एक नहीं, अनेक गुण होते हैं। भाषा द्वारा उन सबको एक साथ नहीं कहा जा सकता; एक समय में एक गुण-विशेष को लक्ष्य कर कथन किया जा सकता है। अतः यह भी मानना पड़ता है कि स्याद्वाद-सिद्धान्त तात्त्विक पृष्ठभूमि पर आधारित है—वह केवल भाषा के सुविधाजन्य व्यवहार तक ही सीमित नहीं है। यह सुविधा तो उसे ब्याज में मिल जाती है।

स्याद्वाद को समझने के व्यावहारिक उदाहरण

एक बार भगवान् महावीर विपुलचल पर्वत पर विराजमान् थे। उनके समवशरण में जातिविरोधी जीव, जैसे साँप और नेवला भी, पास-पास बैठे हुए, प्रेम और समता का रस पी रहे थे। अशोक वृक्ष की शीतल छाया और सुगन्ध व्याप्त हो रही थी। प्रधान गणधर इन्द्रभूति गौतम ने एक भौंरे को अशोक वृक्ष पर मँडराते देखा। उन्होंने सोचा, लोगों के मन से एकान्तपक्ष का प्रश्न मिटे तभी इनका कल्याण हो सकता है। अतः एकान्त के पक्षपात का निरसन करने के लिए श्री गौतम गणधर ने भगवान् से पूछा—प्रभो! यह भ्रमर उड़ रहा है इसके शरीर में कितने रंग हैं? सर्वज्ञ भगवान् महावीर ने उत्तर दिया—'व्यावहारिक दृष्टि में भ्रमर काला है।' उसका एक ही वर्ण है; परन्तु वस्तुस्वरूप-ज्ञापक निश्चय दृष्टि (Realistic View-point) से उसका शरीर पुद्गल (matter) है, जिसमें कृष्णादि पाँचों ही वर्ण होते हैं।' वस्तु अनन्तगुणात्मक है; उसमें एक नहीं, अनेक गुण हैं। अतः उसके प्रगट गुण को ग्रहण करते हुए अप्रगट गुणों को भुला नहीं देना चाहिए।

प्रत्येक घर में बिजली का तार लगा हुआ है। पंखे, बल्ब और स्टोव; सभी में बिजली दौड़ रही है,

---

१ एयन्ते निर्वक्खे नो सिज्झइ विविहभावगं दव्वं।
तं तहा वा अनेयं आ इत्रि बुज्झहा सिया अनेयन्तं॥

परन्तु उसका व्यवहार भिन्न है : पंखे में उसकी चालक शक्ति काम कर रही है, बल्ब में प्रकाश चमक रहा है और स्टोव में दाहक गुण काम कर रहा है। वस्तुतः व्यवहार में वस्तु के गुणों की एक अपेक्षा ही सामने आती है। भौंरा काला दीखता है, परन्तु निर्जीव होने पर उसका शरीर दूसरे रंग का हो जाता है। अतः लोक-व्यवहार में यदि इस सिद्धान्त का प्रयोग करना मानव सीखे, तो न तो धर्म के नाम पर वह लड़-झगड़ सकता है और न ही अन्य कारणों से संघर्ष को मोल ले सकता है। शब्दों के प्रयोग में सापेक्ष सत्य का ध्यान रखना उपादेय है।

कहा गया है—'शब्द से पद की सिद्धि होती है, पद की सिद्धि से उसके अर्थ का निर्णय होता है, अर्थ-निर्णय से तत्त्वज्ञान अर्थात् हेयोपादेय विवेक की प्राप्ति होती है और तत्त्वज्ञान से परम कल्याण होता है।'[1]

अतः स्याद्वाद मानव के लिए आत्म-कल्याण का अमोघ साधन है। उससे ज्ञान का विस्तार होता है और श्रद्धा निर्मल बनती है। उसके अभाव में मानव एकान्त पक्ष को ग्रहण करके अन्धश्रद्धा का शिकार हो जाता है और संकुचित मनोवृत्ति को अपना कर ज़रा-ज़रा-सी बात पर लड़ने-झगड़ने लगता है। आज के संघर्ष के युग में स्याद्वादी ही वह सूझ-बूझ का मानव हो सकता है, जो सत्य और अहिंसा के बल पर सब में मेल-मिलाप उत्पन्न कर सकता है। वह दलबन्दी से ऊपर उठकर समन्वयी बनने में गौरव अनुभव करता है।

सप्तभंगी

यहाँ स्याद्वाद के सप्तभंगों पर विचार किया गया है। वे भंग निम्न प्रकार हैं :

१. स्याद्-अस्ति—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु है। (यह सकारात्मक कथन-शैली है।)

२. स्याद्-नास्ति—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु नहीं है। (यह नकारात्मक शैली है।)

३. स्याद्-अस्ति-नास्ति—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु है भी और नहीं भी है। (यह समन्वयपरक दृष्टि है।)

४. स्याद्-अवक्तव्य—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु अनिर्वचनीय है। (अर्थात् किसी दृष्टि-विशेष के बिना सर्वांग रूप में वस्तु का विवेचन नहीं हो सकता। यह वस्तुस्वरूप का द्योतक है।)

५. स्याद्-अस्ति-अवक्तव्य—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु है, परन्तु अवक्तव्य है। (कथन में उसकी व्यक्तता का अभाव उसके अभाव का सूचक नहीं है—यह भंग एकान्त अवक्तव्यता के दोष को मिटाता है।)

६. स्याद्-नास्ति-अवक्तव्य—किसी दृष्टि-विशेष से वस्तु नहीं है और अवक्तव्य भी है। (कथन में एक वस्तु पर वस्तु से भिन्न होते हुए भी वह अवक्तव्य है। इससे कथंचित् भिन्नता का मौलिक स्पष्टीकरण अभीष्ट है।)

७. स्याद्-अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य—किसी अपेक्षा से वस्तु है और किसी अपेक्षा से नहीं भी है तथा अवक्तव्य भी है। (कथन में वस्तु के अस्तित्व को पर वस्तु से भिन्न कहने और अवक्तव्य बनाने का अर्थ यह नहीं कि वस्तु-स्वरूप कुछ नहीं है।)

इस प्रकार पाठक देखेंगे कि स्याद्वाद-सिद्धान्त में वस्तु-स्वरूप की विवेचना अपेक्षाकृत की गई है और सातों ही भङ्गों का तात्त्विक आधार वस्तु का विविध स्वरूप है; साथ ही यह सिद्धान्त हमें एक अन्य सत्य का बोध कराता है और वह यह है कि लोक का व्यवहार भी सापेक्षता पर निर्भर है—मानव-जीवन पर की अपेक्षा अथवा सहयोग के बिना चल ही नहीं सकता है; अतः स्याद्वाद-सिद्धान्त हमें उस विशाल समाजवाद की ओर ले जाता है, जो अपने-अपने राष्ट्र के मानवों तक सीमित नहीं है, अपितु जीव-मात्र जिसका क्षेत्र है। स्याद्वादी का समताभाव अन्तर् और बाह्य जगत् में एक समान होता है। अतः वह एक सार्वभौम अहिंसा-प्रधान समाजवाद का सृजन करने की क्षमता रखता है। चाहे दर्शन-शास्त्र का क्षेत्र हो और चाहे लोक-व्यवहार का—स्याद्वाद-सिद्धान्त सर्वत्र समन्वय और समता को सिरजता है। उसका स्थान हृदय है और उसका चालक विवेक है। उसे हम बुद्धिवादी अहिंसा कह कर भी पुकार सकते हैं।

---

१ **शब्दात् पदप्रसिद्धिः, पदसिद्धेरर्थनिर्णयो भवति।**
अर्थात्तत्त्वज्ञानं, तत्त्वज्ञानात्परं श्रेयः॥

स्याद्वाद-सिद्धान्त की चमत्कारी शक्ति और सार्वभौम प्रभाव को हृदयंगम करके डॉ० हर्मन जैकोबी ने कहा था कि **स्याद्वाद से सब सत्य विचारों का द्वार खुल जाता है।** और हाल में ही अमेरिका के दार्शनिक विद्वान् प्रो० आर्चि० जे० वह्न ने इस सिद्धान्त का अध्ययन करके जैनों को ये प्रेरणा-भरे शब्द कहे हैं कि **विश्वशान्ति की स्थापना के लिए जैनों को अहिंसा की अपेक्षा स्याद्वाद सिद्धान्त का अत्यधिक प्रचार करना उचित है।** म० गांधी को भी यह सिद्धान्त बड़ा प्रिय था और आज श्री विनोवा भावे भी इसके महत्त्व को मुक्त कण्ठ से स्वीकार करते हैं।

प्रो. वह्न के तर्क का निराकरण

अमेरिकन विद्वान् प्रो० आर्चि० जे० वह्न ने इस सिद्धान्त के अध्ययन में गहरी दिलचस्पी दिखायी है; किन्तु उनकी शोध की शैली ऐतिहासिक है, जबकि इस सिद्धान्त की पृष्ठभूमि तात्त्विक है। अतः इसका विकास काल-क्रम का ऋणी नहीं हो सकता। तत्त्वरूपेण उसका उद्गम सर्वज्ञ के ज्ञान में एक साथ एक समय में होता है। इस अवसर्पिणी काल में सब से पहले तीर्थंकर ऋषभ ही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पूर्ण पुरुष हुए और उनके ज्ञान में यह सिद्धान्त झलक कर द्वादशाङ्गश्रुत में अवतरित हुआ। उपरान्त समयानुसार जब-जब आवश्यकता हुई तब-तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार इसका बाह्य प्रयोग किया गया। अतः इतिहास इसके प्रयोग-मात्र को शोध कर प्रगट कर सकता है। किन्तु प्रो० वह्न इस सिद्धान्त के क्रमिक विकास का अनुमान करके कहते हैं कि यह भगवान् महावीर के पश्चात् पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ और इसके लिए वह बौद्धों की मान्यता का सहारा लेते हैं। उनकी यह मान्यता इतिहास से बाधित है; क्योंकि बौद्ध धर्म से जैन धर्म प्राचीन है। भगवान् महावीर के पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ जैन धर्म का उपदेश दे चुके थे, जिसमें उन्होंने स्याद्वाद-सिद्धान्त का निरूपण किया था। संजयवेलट्ठिपुत्त-सदृश प्राग्बौद्धकालीन आचार्य ने इस स्याद्वाद-सिद्धान्त को सम्यक्तया न समझने के कारण एक प्रकार के संशयवाद को जन्म दिया। यह घटना इस बात को स्पष्ट करती है कि स्याद्वाद-सिद्धान्त संजय-वेलट्ठिपुत्त के समय से बहुत पहले ही प्रचलित हो चुका था।

फिर भी प्रो० वह्न ने जो अनुमान उपस्थित किया है, वह जैन मान्यता के लिए घातक सिद्ध हो सकता है। इसीलिए उसका मार्मिक उत्तर और समाधान डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य ने प्रगट किया है।[1] संक्षेप में उसका अवलोकन इस प्रकार है :

प्रो० वह्न को स्याद्वाद के सप्तभङ्ग अटपटे लगे हैं—वह कहते है कि सात से अधिक भी भङ्ग बन सकते हैं; परन्तु उनकी तात्त्विक भित्ति क्या होगी—यह उन्होंने नहीं बताया। प्रत्युत उन्होंने यह अनुमान लगाया है कि भगवान् महावीर के बाद हुए जैनाचार्यों ने बौद्धों के 'चतुष्कोण निषेध या निरोध शैली के सिद्धान्त' (Principle of Four-cornered Negation) को ही पल्लवित करके सप्तभङ्गों की रचना की है। किन्तु उनका यह अनुमान नितान्त ही आधाररहित है। डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य ने स्पष्ट लिखा है कि बौद्धों के उक्त चतुर्भङ्गी-सिद्धान्त को प्रतिलोम (Reversal) कर देने से सप्तभङ्गी की उपलब्धि नहीं हो सकती और न ही यह अनुमान किया जा सकता है कि स्याद्वाद-सिद्धान्त बौद्ध धर्म के बाद का है। प्रत्युत सम्भव तो यह है कि बौद्धों ने स्याद्वाद-सिद्धान्त के चार भङ्गों को पलट कर अपने सिद्धान्त का निर्माण किया है। जैन पुराणों के उल्लेखों से यह स्पष्ट है कि गौतम बुद्ध एक समय तीर्थंकर पार्श्व की परम्परा के जैन साधु थे और उन्होंने जैन सिद्धान्त से बहुत-कुछ लिया था। स्वयं बौद्ध ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है और यह प्रगट होता है कि जैन धर्म बौद्ध धर्म से बहुत प्राचीन है।[2] निस्संदेह जैन सिद्धान्त का प्ररूपण भगवान् पार्श्व और भगवान् महावीर के बहुत पहले ही हो चुका था।

जो विद्वान् यह मानते हैं कि सप्तभङ्गों में पहले के चार भङ्ग ही मौलिक हैं और शेष तीन उनको संशोधित कर बनाये गए हैं, उनके लिए यही कहा जा सकता है कि उन्होंने स्याद्वाद-सिद्धान्त का स्वरूप ही नहीं समझा है। वास्तव

---

१ वॉयस ऑव अहिंसा, भा० ८, पृ० ३७४-३७६

२ देखें, डा० जैकोबी द्वारा सम्पादित 'जैन सूत्राज' की भूमिका (एस० बी० ई० सीरीज)

में स्याद्वाद वह सिद्धान्त है जो वस्तुस्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराता है।[1] उसका पाँचवाँ, छठा और सातवाँ भङ्ग— प्रत्येक अपनी भिन्न शैली मे विवक्षित पदार्थ के एक विशिष्ट पक्ष को उपस्थित करता है। दृष्टान्त के रूप में देखें तो उनकी महत्ता स्वतः स्पष्ट हो जायेगी। स्याद् अस्ति और स्याद् नास्ति भङ्गों का प्रयोग ईथर (Ether) मे किया जाये तो—अपेक्षा-विशेष से ईथर अवक्तव्य भासता है; किन्तु अवक्तव्य कह देने मे ईथर-विषयक शोध सर्वाङ्ग-रूपेण परिपूर्ण नहीं होती; क्योंकि उसकी शोध को आगे बढ़ाने पर हम पाते है कि यद्यपि ईथर अपेक्षाकृत अवक्तव्य है, किन्तु किसी एक रूप में वह अस्तित्व में है; क्योंकि वह भौतिक शक्ति (Material Energy) का मूलाधार है। अतः यह तथ्य-पूर्ण निष्पत्ति ही स्याद्वाद का पाँचवाँ भङ्ग—**'स्याद् अस्ति च स्याद् अवक्तव्य च'** सिद्ध हो जाती है, जिसमे ईथर की एक यथार्थ स्थिति की उपलब्धि होती है। इसके विपरीत केवल अवक्तव्य कह देने मात्र से कोई अर्थ सिद्ध नहीं होता। इसमे हम आगे पाते हैं कि जितने भी भौतिक पदार्थ (Material substances) हैं, वे सब विचारगम्य (Ponderable) हैं, परन्तु इस प्रसंग में ईथर जब विचारगम्य भौतिक द्रव्य नहीं है, तो वह इस अपेक्षा-विशेष से कथंचित् अस्तित्व-रहित कहा जायेगा। इस स्थिति में स्याद्वाद का छठा भङ्ग स्वतःसिद्ध होता है, जो **स्याद् नास्ति च स्याद् अवक्तव्य च** होने मे ईथर की एक नयी स्थिति को व्यक्त करता है। अब सातवें भङ्ग **'स्याद् अस्ति च, स्याद् नास्ति च, स्याद् अवक्तव्य च'** को लीजिये—यह निस्संदेह तीन भङ्गों के जोड़ से बना है, परन्तु उसके द्वारा ईथर का विशाल रूप सामने आता है। इसलिए उसकी अपनी विशिष्टता है।

यदि हम इस सिद्धान्त का प्रयोग वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परस्थिति पर लागू करके देखें तो डॉ० हरिसत्य भट्टाचार्य सोवियत रूस के उदाहरण को लेकर बताते हैं कि रूस कुछेक परिस्थितियों मे हिंसक भी रहा और कुछेक में अहिंसक भी। चौथे भङ्ग की अपेक्षा, इस परस्थिति में, रूस का यह व्यवहार अपेक्षाकृत अवक्तव्य ठहरता है। यह नहीं कहा जा सकता कि रूस हिंसक ही है या अहिंसक ही; किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय लोक-मत रूस की नीति के विषय में और अधिक स्पष्टीकरण चाहेगा, तो फिर चौथे भङ्ग की अपेक्षाकृत अवक्तव्यता को ध्यान में रखते हुए हमें आगे विचार करना होगा। उस स्थिति में हम पायेंगे कि चूँकि रूस ने हंगरी की राष्ट्रीयता के विरुद्ध बल-प्रयोग किया था, इसलिए वह स्पष्टतः हिंसक रहा। इस अपेक्षाकृत स्थिति में पाँचवें भङ्ग का प्रयोग अर्थपूर्ण हो जाता है, जिससे रूस की नीति का एक स्पष्ट रूप सामने आता है; अर्थात् यद्यपि रूस की नीति हिंसक और अहिंसक-सी होने के कारण अवक्तव्य थी, परन्तु हंगरी की घटना की अपेक्षा से वह स्पष्टतः हिंसक सिद्ध हो जाती है। अब और आगे ज़रा विचारिये—रूस का मिस्र के प्रति जो मैत्री-पूर्ण व्यवहार रहा, जबकि अन्यथा बर्ताव करने का अवसर भी उपस्थित हुआ था, उसमे यह स्पष्ट होता है कि यद्यपि रूस की नीति अवक्तव्य थी, फिर भी वह मिस्र के प्रसंग में पूर्ण अहिंसक रहा। रूस की यह स्थिति छठे भङ्ग की विशिष्टता को स्थापित करती है; अर्थात् रूस की नीति कथंचित् अवक्तव्य होते हुए भी निस्संदेह मिस्र की अपेक्षा अहिंसक भी थी; और यह नितान्त नया दृष्टिकोण होता है, जिसने संयुक्त अरब जन-संघ को यह विश्वास दिलाया कि वह रूस को मित्र समझ सके। यद्यपि उसकी दृष्टि मे रूस की नीति की अवक्तव्यता ओझल न थी। सातवाँ भङ्ग बताता है कि रूस की नीति कथंचित् अवक्तव्य रही, क्योंकि उसकी हिंसा व अहिंसा के बारे में कुछ भी निश्चित न था; फिर भी यह स्पष्ट है कि वह एक अपेक्षाकृत हिंसक थी और अन्य अपेक्षाकृत अहिंसक थी। बुद्धिमान् राजनीतिज्ञ रूस की नीति की विशालता को दृष्टिगत रखकर उससे लाभ उठा सकता है। भारत ने रूस के इस रूप को समझा; इसीलिए भारत का रुख रूस के प्रति मैत्रीपूर्ण रहा है। इस प्रकार स्याद्वाद-सिद्धान्त के पाँचवें, छठे व सातवें भङ्ग अपने पूर्व भङ्गों के गणित अथवा अनुमान-शैली के जोड़-तोड़ से नहीं बने हैं, अपितु उनका अस्तित्व स्वतन्त्र, मौलिक और विचाराधीन वस्तु के नये रूप को प्रगट करने वाला है। अतः इन तीन भङ्गों को बौद्धों के चतुष्कोण-निषेध शैली के उलट-पलट से उपलब्ध होने का प्रश्न

१ The Syadvada is a theory presenting things as they really are ! It is not a set of formal propositions, divorced from and unconnected with matters of actual experience.

ही उपस्थित नहीं होता।[1]

स्याद्वाद के पहले तीन भंगों के सम्बन्ध में विद्वानों को कोई कठिनाई अनुभव नहीं होती और कुछ विद्वान् इसीलिए उनको बौद्धों की चतुष्कोण-निरोध (Negation) शैली के पहले तीन दृष्टिकोणों का उलट-पलट रूप मानने की भ्रान्ति करते हैं। वह 'स्यात्' प्रत्यय की विशेषता को भूल जाते हैं। वास्तव में बौद्धों की चतुष्कोण-निरोध शैली का सिद्धान्त एक तरह से एकान्तवाद (Absolutism) ही है। क्योंकि उसके अनुसार 'अ नहीं है', कहने का अर्थ यह होता है कि 'अ' के अस्तित्व का सर्वथा अभाव है। अब इसका उलटा रूप भी एकान्त परिणामी (Absolute) ही होगा। अतः यह नितान्त असम्भव है कि बौद्धों की निरोध-शैली को पलट कर स्याद्वाद का सिरजा जा सकता है।

इसके विपरीत स्याद्वाद वस्तु-स्वरूप के निरूपण में हमारे यथार्थ अनुभव को विचार-कोटि में लेकर चलता है, इसलिए वह एकान्तवाद से बहुत दूर जा पड़ता है। सर्वथा अभाव सर्वथा सद्भाव की तरह ही अनुभवगम्य नहीं है। हमारा अनुभव सदा ही अपेक्षाकृत तथ्यों पर निर्भर होता है और ये अपेक्षाकृत तथ्य स्याद्वाद की विचार-कोटि में आते हैं। यही 'स्यात्' पद की विशेषता है, जिसका प्रयोग प्रत्येक भंग के साथ होता है। अतएव वह बौद्धों के एकान्ती निरोधवाद के तद्रूप दृष्टिकोण का विकृत रूप नहीं है। बौद्धों की निरोध या निषेध-शैली के चारों ही कोण, अर्थात् :

अ क नहीं है;
अ क-इतर नहीं है;
न **अ क** नहीं है;
न **अ क-इतर** नहीं है—

एक-दूसरे सम्बन्धित न होकर स्वाधीन हैं और वस्तु-स्थिति के अनुभूतिजन्य तथ्य से रहित हैं। इसके विपरीत स्याद्वाद के सप्तभंगों में :

एक विशेष अपेक्षा से **'अ'** है;
एक विशेष अपेक्षा से **'अ'** नहीं है।

इत्यादि ऐसे पद हैं, जिनका आधार मानव की वस्तुस्वरूपजन्य अनुभूति है। इस प्रकार हम देखते हैं कि स्याद्वाद-सिद्धान्त बौद्धों के चतुष्कोण-निषेध या निरोध शैली के सिद्धान्त से नितान्त भिन्न और निराला है। स्याद्वाद वस्तु-स्वरूपकी अनुभूति को विचार में लेता है, इसलिए उसके सात भंगों से अधिक भंग हो ही नहीं सकते हैं। वह वैज्ञानिक आधार को लिये हुए चलने वाला सिद्धान्त है, जो बुद्धि के वैषम्य को मिटाकर सत्य का दर्शन कराता है; इसीलिए वह समन्वयपरक मैत्री स्थापित करने का प्रबल साधन है।
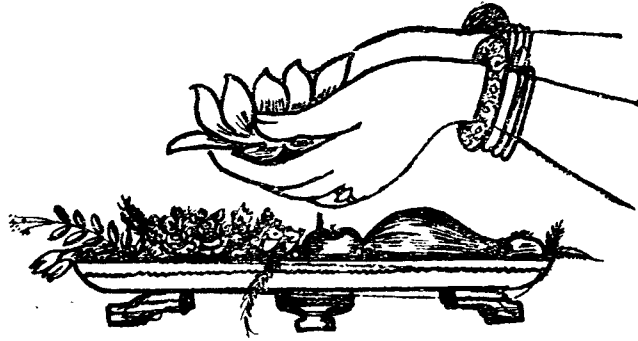
१ The question of these three Bhangas arising out of a reversal of the Four Cornered Negation does not arise at all.

मानवीय व्यवहार और अनेकान्तवाद

डा० बी० एल० आत्रेय
भूतपूर्व अध्यक्ष, दर्शन एवं मनोविज्ञान-विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय, बनारस

आज के युग की सबसे बड़ी समस्या है मानवीय व्यवहार की। वैयक्तिक और सामाजिक जीवन में इसके स्वरूप को समझने के लिए हमें कुछ उपाय और साधन खोजने हैं।

मानवीय व्यवहार का आधार क्या हो ?

आज के वैज्ञानिक युग में हमारे साधन वैज्ञानिक, तर्क-संगत और विश्व-भर में स्वीकार्य होने चाहिए। आज हम किसी पैगम्बर, धर्म-ग्रन्थ और परम्परा के नाम पर अपील नहीं कर सकते। क्योंकि न तो उन्हें सम्पूर्ण विश्व स्वीकार करता है और न उनका आदर करता है। दर्शन-शास्त्र का इतिहास भी दार्शनिक मतवादों से भरा पड़ा है और प्रत्येक दार्शनिक पद्धति के बारे में शंकाएं प्रकट की गई हैं। यदि आज किसी वस्तु के बारे में सारा विश्व एकमत है, तो वह है विज्ञान द्वारा विज्ञात और प्रस्थापित तथ्य। परन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि आधुनिक विज्ञान अभी तक मानव-प्रकृति, उसकी आकांक्षाओं, उसका सामर्थ्य और उसकी सम्भाव्यताओं से उतना परिचित नहीं है, जितना कि प्रकृति और भौतिक पदार्थों के गुणों से। विज्ञान के क्षेत्र में मानव, उसकी शक्ति और उसके आदर्शों के विषय में आनुमानिक सम्भावनाओं के लिए बहुत स्थान रह जाता है। मनोविज्ञान, जिसका उद्देश्य मानव-प्रकृति और व्यवहार का वैज्ञानिक अध्ययन करना है, अभी शैशवावस्था में है और जीवन के बारे में उपयुक्त पथप्रदर्शन कर सकने की अपेक्षा इसे अभी स्वयं ऐसे मनीषियों के पथप्रदर्शन और मन्त्रणा की आवश्यकता है, जो कि मानव-प्रकृति का सूक्ष्मता से निरीक्षण कर सकते हैं। फ्रायड सी० जी० जुंग, एफ० डब्ल्यू एच० मायर्स जैसे कुछ विचारकों ने अचेतन, सामूहिक अचेतन और उच्च चेतना के क्षेत्रों में अनुसंधान करके जो कुछ प्रगति की है, जिन्हें अभी परम्परानिष्ठ वैज्ञानिक मनोवैज्ञानिक स्वीकार करने से हिचकिचा रहे हैं, मानव-प्रकृति क्या हो सकती है— इस विषय में अत्यल्प और हल्की सी झाँकी देती है। प्राचीन भारतीय मनोविज्ञान, जो अभी प्रकाश में आ रहा है और जिस पर मानव-प्रकृति के आधुनिक अनुसंधानकर्ताको अधिकाधिक ध्यान देने की आवश्यकता है, मानव-प्रकृति, उसकी शक्ति, उसका सामर्थ्य और सम्भावना के क्षेत्रों के बारे में आधुनिक मनोवैज्ञानिक—वैज्ञानिक और अर्धवैज्ञानिक—प्रणालियों की अपेक्षा अधिक जानकारी प्रदान करना है। ऐसा समय आ सकता है, जबकि वैज्ञानिक मनोविज्ञान मानव-प्रकृति के ज्ञान की गहराई में पहुँच जाये और मनुष्य का उसके आचरण आदि के विषय में पथप्रदर्शन कर सके। तब तक केवल आन्तरिक अनुभूतियों और आकांक्षाओं के आधार पर निकाले गए निष्कर्षों की सहायता से हमें तर्क-वितर्क करना होगा।

आचार-शुद्धि

मनुष्य की प्रकृति, आकांक्षाएं और भवितव्यता चाहे जो हो, एक बात असन्दिग्ध रूप से सत्य है कि मानव एक सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहता है और समाज से बहुत-कुछ प्राप्त करता है। वस्तुतः मानव से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु सामाजिक है, और समाज में प्रत्येक वस्तु किसी-न-किसी व्यक्ति के प्रतिदान-स्वरूप है। समाज से हमारा अभिप्राय केवल मानव प्राणियों के समाज से नहीं है; समाज, जिसका एक अंग मानव है, सभी जीवित प्राणियों से बना हुआ है।

इसमें पशु और पौधे भी सम्मिलित हैं। विश्व-समाज, जैसा कि इसे नाम दिया जा सकता है, एक वास्तविकता है, और विचार करते समय हमें इस पर ध्यान देना ही होगा। तो भी यहाँ हम अपना विचार-क्षेत्र केवल मानव प्राणियों के समाज तक सीमित रखेंगे और यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि वह अपने साथी मानवों के साथ कैसा व्यवहार करे।

मानव-समाज में सभी प्रकार के मनुष्य हैं, इसलिए उसे अपने प्रत्येक क्रिया-कलाप और आचरण के बारे में सोचना होगा कि उसके चारों ओर एवं आस-पास रहने वाले लोगों पर तथा सम्पूर्ण समाज पर उसका क्या प्रभाव होगा। यह उसके लिए एक अनिवार्यता है, क्योंकि उसके आचरण की दूसरों पर जो प्रतिक्रिया होगी, उसी पर उसका अपना अस्तित्व और कल्याण निर्भर रहता है। उसके अपने अस्तित्व, कल्याण और सुख के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी भावनाओं, इच्छाओं, विचारों और आचरणों पर नियंत्रण रखे तथा दूसरों पर तथा सम्पूर्ण समाज पर पड़ने वाले सम्भावित प्रभावों को ध्यान में रखकर ही वह कोई निर्णय करे। केवल इसी कारण से उसे अपनी भावनाओं, विचारों और आचरणों के बारे में सावधान रहने की आवश्यकता नहीं है, अपितु इसलिए भी कि प्रत्येक व्यक्ति के आचरण का अनुकरण उसके आस-पास के रहने वाले लोग, विशेष रूप से बच्चे और निम्नवर्गीय व्यक्ति, जानने-बूझते अथवा अनजाने भी कर सकते हैं। इसलिए पदासीन और सामर्थ्यवान् लोगों का, माता-पिता और अध्यापकों का, प्रशासकों का और न्यायाधीशों का आचरण विशुद्ध, सन्देह-रहित और यथासम्भव आदर्श होना चाहिए। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को ठीक ही कहा है कि समाज में उच्च स्थिति के लोग जो कुछ करते हैं, अन्य लोग उसका अनुकरण करने की ओर प्रवृत्त हो जाते हैं।

धर्म की उपयोगिता

प्राचीन भारतीय विचारकों ने एक शब्द तैयार किया था, जिसे धर्म की संज्ञा दी गई। यह उन आचरणों के लिए प्रयुक्त किया गया, जो कि समाज में संतुलन बना रखने में समर्थ हों; न केवल मानव प्राणियों में, अपितु सम्पूर्ण जीव-जगत् में मैत्री-भाव स्थापित करने के लिए समर्थ हों; वैयक्तिक जीवन में सफलता और सुख तथा समाज में शान्ति स्थापित करने के लिए समर्थ हों। धर्म शब्द संस्कृत की धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है बन्धन में रखना, सँभाल कर रखना, संरक्षण करना, सुस्थिर करना आदि। भारत के प्राचीन स्मृतिकार मनु का कहना है कि धर्म इस प्रकार का आचरण या व्यवहार है, जो कि समाज को अक्षुण्ण रखता है। एक और प्राचीन भारतीय तत्त्वचिन्तक कणाद ने कहा है कि वह व्यवहार धर्म है, जो कि शान्ति और सफलता प्रदान करता है—वैयक्तिक जीवन में भी और सामाजिक जीवन में भी। प्राचीन भारतीय तत्त्वचिन्तकों के अनुसार—अर्थ, काम और भोग के पुरुषार्थ भी धर्म द्वारा नियन्त्रित होने चाहिए। अनैतिक प्रकार से अर्थार्जन और असंयत रूप में काम-सेवन को वहाँ हेय बताया गया है। उन्होंने मानव के लिए यह परामर्श दिया कि वह अपने जीवन-भर धर्म की सीमाओं के भीतर बना रहे, फिर उसका चाहे जो व्यवसाय हो और चाहे जो आवश्यकता। महाभारत के महान् लेखक व्यास के अनुसार तो—अपने जीवन की रक्षा के लिए भी धर्म के सिद्धान्तों को नहीं छोड़ना चाहिए; सुख, समृद्धि अथवा सुरक्षा के लिए तो कुछ कहना ही नहीं। भगवान् महावीर ने बताया कि धर्म अहिंसा, संयम और तप-रूप है तथा सर्वोत्कृष्ट मंगल है।[1]

इसलिए भारत में धर्म के उन सिद्धान्तों की खोज का एक गम्भीर और अविच्छिन्न प्रयत्न किया गया, जिनसे मनुष्य के आचरण का नियमन किया जा सके और परिणामस्वरूप वह समृद्ध और सुखी हो सके, एक स्थायी और संतुलित समाज की स्थापना की जा सके, उसे अक्षुण्ण रखा जा सके तथा उसमें सभी व्यक्ति अपने आदर्शों को प्राप्त कर सकें। मनु ने ऐसे दस सिद्धान्त खोज निकाले हैं—धृति, क्षमा, दम (स्वनियन्त्रण), अस्तेय (चोरी न करना), शौच (पवित्रता), इन्द्रिय-निग्रह, धी (विवेक), विद्या, सत्य और अक्रोध। पतंजलि के योग-सूत्रों में यम और नियम शीर्षकों से दस और सिद्धान्त प्रस्तुत किये गए हैं; वे ये हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और

१ दशवैकालिक सूत्र, १।१

ईश्वर-प्रणिधान। पुराण-लेखकों ने इन्हें न्यून करके केवल एक सिद्धान्त तक सीमित कर दिया और वह था कि परोपकार पुण्य का हेतु है और दूसरों को हानि पहुँचाना पाप है।[1] महाभारतकार ने धर्म को स्वर्णिम आचार-नियम में परिवर्तित कर दिया है—वह व्यवहार दूसरों से करने की मत सोचो, जो व्यवहार तुम अपने लिए नहीं चाहते। उसका कहना है कि सम्पूर्ण धर्म का यही सार है और प्रत्येक मानव प्राणी को उसका अनुसरण करना चाहिए। भगवान् महावीर ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—इन पाँच व्रतों को महाव्रत और अणुव्रत-रूप में प्रतिपादित कर मानवीय व्यवहार की आचार-संहिता प्रदान की। बुद्ध ने इसी प्रकार के पञ्चशीलों का उपदेश दिया।

धर्म के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय धारणा का उल्लेख हमारे विचार से इसलिए आवश्यक था कि आधुनिक युग के मानव को यह बात हृदयंगम हो जाये कि प्रत्येक व्यक्ति का वैयक्तिक आचार-व्यवहार नैतिक और सामाजिक दृष्टि से नियन्त्रित और शासित होना चाहिए। इस बात का महत्त्व नहीं है कि इस विचार को क्या नाम दिया जाये। इसे धर्म, औचित्य, नैतिकता, सामाजिक आचार, सदाचार—कुछ भी नाम दिया जा सकता है।

आज की आवश्यकताओं के अनुसार आज के युग में हमें धर्म को फिर से खोजना होगा। ऐसे सिद्धान्तों का अनुसरण करना होगा जिससे हम मानवीय व्यवहार की समस्या को हल कर सकें तथा विश्व-मैत्री स्थापित कर सकें, जो कि आज की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है और जिससे मानवता को उसके स्पष्ट प्रत्यासन्न विनाश से बचाया जा सके।

मानवीय व्यवहार को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए स्वार्थ, चोरी, शोषण, बलात्कार, हिंसा आदि का त्याग जितना आवश्यक है, उतना ही नैतिक नियमों का पालन और प्रामाणिकता, सत्यवादिता, न्यायप्रियता, आदरभाव, निष्पक्ष चिन्तन आदि विधेयात्मक सिद्धान्तों का आचरण भी।

अनेकान्तवाद

इन आचार-नियमों के पालन का परिणाम तभी आ सकता है जबकि मनुष्य का मस्तिष्क पूर्वग्रह, पक्षपात, आदि से रहित हो। मानवीय व्यवहार के सुचारु संचालन में बाधक बनने वाला एक तत्त्व और भी है। एक ऐसी भ्रान्ति मनुष्यों के मस्तिष्क में घर कर गई है कि जिसके अधिकांश लोग शिकार हो जाते हैं। हम इसे 'केवल भ्रान्ति' या 'एकान्तवाद' कह सकते हैं। लोग इस भ्रान्ति के जाने-अनजाने दोनों प्रकार से शिकार हो जाते हैं। केवल चिन्तन में ही नहीं, अपितु अनुभूति और व्यवहार के क्षेत्र में भी यह भ्रान्ति प्रायः सभी वर्गों में, सभी नर-नारियों में पायी जाती है। यह धर्म, आचार-शास्त्र, दर्शन-शास्त्र और विज्ञान सभी क्षेत्रों में पायी जाती है। इस भ्रान्ति के कारण सभी प्रकार के संघर्षों का जन्म होता है।

दो शब्द हैं—ही और भी। ये विरुद्धार्थक हैं और उनके प्रयोग से अर्थों में बहुत भिन्नता आ जाती है। वे दोनों नितान्त भिन्न अभिव्यक्तियाँ है और वस्तुतः दो विरोधी मानसिक प्रवृत्तियों की सूचक हैं। उनमें से एक मनुष्य को संघर्ष, विरोध, युद्ध और दुःख की ओर प्रवृत्त करती है, जब कि दूसरी सहयोग, सद्भाव, शान्ति और सुख की ओर। बौद्धिक और व्यावहारिक दृष्टि से प्रथम को हम 'केवल भ्रान्ति' या एकान्तवाद कह सकते हैं। जो व्यक्ति केवल कुछ ही लोगों, दलों, पक्षों, जातियों, सम्प्रदायों, वंशों अथवा देशों में रुचि रखता है तथा दूसरों की उपेक्षा करता है और उन्हें नापसन्द करता है, वह इस भ्रान्ति का शिकार है।

जिस विश्व में हम रहते हैं, गति करते हैं और सत्ता धारण करते हैं, वह अपने गठन, रूप और सामर्थ्य की दृष्टि से अनन्त रूप से बँटा हुआ है। इससे हम अस्तित्व और अस्तित्व में आने की प्रक्रिया, परिवर्तन और परिवर्तन-शून्यता, उत्पत्ति-विनाश-ध्रुवता, एकत्व और बाहुल्य, जन्म-वृद्धि-मृत्यु, स्वयं और अन्य, प्रेम और घृणा, कष्ट और सुख, धन-वैभव और ग़रीबी तथा युद्ध और शान्ति आदि की परस्पर क्रिया-प्रतिक्रिया देखते हैं। प्राचीन भारतीय चिन्तकों की भाषा में यह 'अनेकान्त'—अनन्तधर्मात्मकता है। इसे केवल एक अथवा दूसरे पहलू से समझना और इस एकांगी

१ परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीडनम्।

आधार पर और ग़लत धारणा के कारण इसके बारे में दृष्टिकोण बनाना तथा उसी के आधार पर जीवन-यापन करना बहुत बड़ी ग़लती करना है। वस्तुतः हमारे सभी दृष्टिकोण, विचारधाराएं, विश्वास, वाद, आदर्श, अनुभूतियाँ और व्यवहार सामान्य रूप से एकपक्षीय हैं। उनका वास्तविकता के कुछ ही पहलुओं से सम्बन्ध होना है और हमें इस तथ्य से सचेत हो जाना चाहिए। स्याद्वाद, जो कि जैन तत्त्वदर्शियों की एक अमूल्य देन है, के विचार से अपनी इस सचेतना को 'स्यात्' शब्द से प्रकट करना चाहिए, जिसका अर्थ है, एक अपेक्षा से या कथंचित्। स्यात् शब्द के साथ हमारी घोषणाएं अथवा वक्तव्य यह प्रकट करेंगे कि वे एकपक्षीय अथवा आपेक्षिक हैं। किसी निर्णय या कथन को अन्तिम निरपेक्ष अथवा अधिकृत नहीं मान लेना चाहिए; क्योंकि प्रत्येक निर्णय किसी व्यक्ति द्वारा किसी विशेष दृष्टिकोण से, कुछ विशिष्ट पहलुओं, तथ्यों और व्यक्तियों को ध्यान में रखकर, कुछ परिस्थिति और अवस्थाओं में, उन्हें वहाँ प्रस्तुत अन्य वस्तुओं से पृथक् कर के दिया जाता है। विभिन्न समयों और स्थानों पर समान वस्तुओं और परिस्थितियों के विद्यमान होने पर भी भिन्न-भिन्न निर्णय सम्भव हो सकते हैं। इस तथ्य के प्रति सचेत होने पर इसकी अभिव्यक्ति 'भी' शब्द द्वारा की जा सकती है, जिसका अभिप्राय होगा कि और भी निर्णय एवं कथन सम्भव हो सकते हैं और वे समान रूप से न्याय्य होंगे; अथवा जितने प्रकार के कथन सम्भव हो सकते हैं, यह उनके अतिरिक्त एक और है। इस दृष्टिकोण का स्याद्वादी चिन्तकों ने भारत में शक्तिशाली प्रकार से संवर्द्धन किया और उनके अनुयायी सदा दूसरों के साथ शान्ति-पूर्वक रहे।

एक व्यावहारिक सिद्धान्त

'केवल-भ्रान्ति' को अथवा एकान्तवाद को सर्वोत्तम प्रकार से उस सर्व-विदित दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा सकता है, जिसके अनुसार छः अन्धे व्यक्तियों ने एक हाथी का केवल स्पर्श करके चित्रण किया था। पहले अन्धे व्यक्ति ने, जिसने केवल हाथी का पेट छुआ था, कहा—'हाथी दीवार की भाँति होता है।' दूसरे ने, जिसने केवल हाथी के दाँत को छुआ था, पहले की स्थापना को चुनौती देते हुए कहा—'हाथी तो बिलकुल भाले जैसा होता है।' तीसरे ने, जिसने हाथी की सूंड को छुआ था, दोनों के कथनों पर आपत्ति करते हुए कहा—'हाथी तो बिलकुल साँप की तरह होता है।' चौथे ने, जिसने हाथी के पैर को छुआ था, तीनों को मूर्ख बताते हुए एक समझदार व्यक्ति की भाँति कहा—'हाथी तो बिलकुल एक वृक्ष की तरह होता है।' पाँचवें ने, जिसने केवल हाथी के कान का ही स्पर्श किया था, कहा—'तुम सब ग़लत हो, हाथी बिलकुल एक पंखे की तरह होता है।' और अन्त में छठे ने, जिसने हाथी की पूँछ ही टटोली थी, सबकी आलोचना करते हुए सगर्व कहा—'हाथी बिलकुल रस्सी की तरह होता है।' जहाँ तक हमारे चारों ओर के विश्व की जान-कारी का सम्बन्ध है, हम सब इन अन्धे मनुष्यों की तरह हैं। हम विश्व के बारे में बहुत कम जानते हैं और उसी जानकारी को हम एकमात्र वास्तविकता समझते हैं। हम अपने आंशिक, इस कारण ग़लत, ज्ञान के आधार पर दूसरों से विवाद करते हैं और झगड़ते हैं। छोटी चाप के सम्पर्क में होने पर भी हम सम्पूर्ण वृत्त के सम्बन्ध में चर्चा करते हैं। विश्व और अपने सम्बन्ध में भी हमारा ज्ञान जो कुछ है, वह अनुमानाश्रित है। वह कितना ही यथार्थ क्यों न हो, वह सदा आंशिक, सीमित और आपेक्षिक होता है। हमें सदा सावधान रहना चाहिए कि एक वस्तु के दूसरे पहलू भी हैं, एक प्रश्न के दूसरे पक्ष भी हैं, जिनसे हम अपरिचित हैं। मध्यकालीन यूरोप के दो योद्धाओं के बारे में एक बहुत ही शिक्षाप्रद कहानी है—एक ढाल पर खुदे लेख को लेकर दो सैनिक झगड़ पड़े और उस कलह में एक-दूसरे की लगभग हत्या सी कर दी; बात यह थी कि ढाल के दोनों ओर दो भिन्न-भिन्न विषयों के लेख खुदे थे। दोनों सैनिक विपरीत दिशाओं से ढाल की ओर आये और दोनों ने दूसरी ओर के लेख के बारे में कुछ भी नहीं सोचा। हम सब उन मूर्ख योद्धाओं की भाँति हैं, जिन्होंने लड़ने से पहले ढाल की दूसरी ओर के खुदाई के बारे में जानने का प्रयत्न ही नहीं किया। सभी विवाद, कलह या संघर्ष, समस्या के दूसरे पक्ष की जानकारी के अभाव में पैदा होते हैं और इस कारण होते हैं कि जिस पक्ष को हम जानते हैं, उसी को सम्पूर्ण सत्य समझ लेते हैं।

धार्मिक सम्प्रदायों की असहिष्णुता

इतिहास इस तथ्य का साक्षी है कि भिन्न-भिन्न युगों में, जिन समाजों में लोगों का मुख्य ध्यान धर्म में केन्द्रित रहा है और धर्म का लोगों के जीवन में आधिपत्य रहा है, उनके सभी प्रकार के संघर्षों, नृशंसताओं और यन्त्रणाओं का कारण 'केवल-भ्रान्ति' रही है। बलशाली और शक्तिशाली लोगों और धार्मिक जनों के सुसंगठित दलों के मस्तिष्क में यह घुस गया कि केवल उन्हीं का धर्म, विश्वास और उपासना-पद्धति एकमात्र सत्य है और दूसरे सब ग़लत है; कि केवल वे ही ईमानदार अथवा ईश्वर के कृपापात्र लोग हैं, शेष सब विधर्मी और काफिर हैं; कि केवल उन्हीं की जीवन-पद्धति स्वर्ग या मोक्षदायिनी है; कि ईश्वर केवल उन्हीं की पूजा-पद्धति और प्रार्थनाओं से प्रसन्न होता है; कि केवल उन्हीं का ईश्वर ही सम्पूर्ण विश्व का ईश्वर और परमेश्वर है; कि अन्य लोगों के देवगण मिथ्या हैं अथवा उनके देवता के अधीन हैं; कि केवल उन्हीं के धर्म-ग्रन्थ प्रामाणिक और ज्ञान के भण्डार हैं। उनके जीवन का एकमात्र उद्देश्य था दूसरों को अपने विश्वासों में दीक्षित करना। इस प्रकार की बातों के कारण मानव-समाज का समग्र इतिहास भयानक कलहों से भरा पड़ा है और अनेकों अमूल्य जानें गईं, रक्त की नदियाँ बहायी गई तथा मानव-जीवन को कष्टप्रद और दुःखी बना दिया गया।

दार्शनिक वादविवाद

दार्शनिक लोग भी, जो विवेक-प्रेमी और सत्यानुसन्धानी होने का दावा करते हैं, इस एकान्तवाद से मुक्त नहीं रहे हैं। बहुत से दृष्टिकोणों, सिद्धान्तों और दार्शनिक पद्धतियों का मूल इस भ्रान्ति में है। प्रायः देखा जाता है कि दार्शनिक अथवा दर्शन-प्रणालियाँ जगत् के या वास्तविकता के किसी विशिष्ट पहलू को छाँट लेती हैं और उसमें ही वास्तविकता का एकमात्र आवश्यक अथवा अनिवार्य अंग मान लेती हैं तथा यदि कोई अन्य पहलू दृष्टिगोचर हो जाता है तो उसे ग़लत मानती हैं। इस प्रकार अद्वैतवादी समझते हैं कि विश्व अथवा सृष्टि का वास्तविक रूप केवल अभेद, अस्तित्व, अद्वैत या सारूप्य ही है; अनेकता, भेद या परिवर्तन केवल आभास, कल्पना, प्रपंच, अस्थायी दर्शन अथवा भ्रान्त प्रतीति है। दूसरी ओर एकान्त अनेकतावादी, परिवर्तन के पक्षपाती होकर अनेकता, बहुत्व, विभिन्नता, परिवर्तन और सृष्टि को ही सत्य रूप में ग्रहण करते हैं और एकत्व, अभेद, सारूप्य और समता को केवल विचार, मानसिक कल्पना अथवा धारणा-मात्र बताते हैं। एकान्त आत्मवादी केवल आत्मा को नित्य और वास्तविक वस्तु के रूप में ग्रहण करते हैं और पदार्थ तथा मन को आत्मा से उद्भूत, प्रकल्पित, निष्पन्न अथवा उसकी अस्थायी और कल्पित प्रतीतियों के रूप में ही ग्रहण करते हैं; दूसरी ओर एकान्त भौतिकतावादियों का कहना है कि पदार्थ ही एकमात्र वास्तविकता है और जो कुछ मानसिक और आध्यात्मिक प्रतीत होता है, वह केवल पदार्थ के व्यापार व प्रभाव के कारण अथवा उससे उपजात हैं। विज्ञानवादी 'विचार' को ही विश्व में एकमात्र वास्तविक और नियन्त्रक हेतु मानते हैं और विश्व की अन्य सभी वस्तुओं को केवलमात्र उसका एक प्रकार, रूप और विस्तार मानते हैं। एक ओर नव-विचार-आन्दोलन, जो कि प्राचीन भारतीय विज्ञानवाद से मिलता-जुलता है और जो कि एकान्त आदर्शवाद है, विचार को एकमात्र उत्पादक शक्ति मानता है तथा भौतिक शरीर और उसकी अवस्थाओं को केवल विचार से अद्भुत और उसके प्रभाव-रूप ही मानता है; तो दूसरी ओर प्रवृत्तिवाद शरीर और उसकी क्रियाओं को ही सम्पूर्ण व्यक्ति-रूप मानता है तथा विचार, अनुभूति और चेतना को केवल शारीरिक व्यापार मानता है। कुछ मनोवैज्ञानिक चेतना को ही मन का एकमात्र विशिष्ट गुण मानते हैं, जब कि दूसरे अचेतन क्रिया-कलापों पर बल देते हैं और मनोजीवन में उन्हें ही प्रेरक तत्त्व मानते हैं। अधिकांश तथाकथित वैज्ञानिक-मनोवैज्ञानिकों का विचार है कि मन का केवल चेतन और अचेतन व्यापार ही मानव-व्यक्तित्व का निर्माण करता है; इनके अतिरिक्त मनुष्य में उच्च चेतना जैसी कोई वस्तु है ही नहीं, जिसका अस्तित्व मनोक्षेत्र के (Psychical) अनुसन्धान और परामनोविज्ञान (parapsychology) द्वारा स्थापित किया जा चुका है। कुछ विचारक अपरिवर्तनशील ज्ञाता अथवा आत्मा की पूर्णतः उपेक्षा करके, केवल सदा परिवर्तनशील मानसिक स्थितियों को ही मानव-व्यक्तित्व की रचयित्री मानते हैं। कुछ दार्शनिक केवल भगवान् अथवा परम सत्ता को ही एकमात्र सत् या वास्तविकता मानते हैं तथा

जगत् और व्यक्तियों को आभास-रूप मानते हैं और उनका कोई वास्तविक मूल्य अथवा महत्त्व स्वीकार नहीं करते। विश्व के अधिकांश विचारकों ने केवल जागृतावस्था की अनुभूति को ही वास्तविक अनुभूति माना है और स्वप्न, निद्रा तथा रहस्यपूर्ण अनुभूतियों की नितान्त उपेक्षा कर दी है; जब कि कुछ विचारकों ने केवल रहस्यपूर्ण अनुभूतियों को ही एकमात्र प्रामाणिक अनुभूति माना है और आत्मा का अस्तित्व इसी के आधार पर खड़ा किया है। कुछ आधुनिक दार्शनिक केवल जीवन के कष्टों, तनावों और दबावों को ही मानव-जीवन का एकमात्र रूप मानते हैं; जब कि प्राचीन काल के कुछ दार्शनिक जीवन की वास्तविक प्रकृति परम आनन्द और सुख में समझते थे। कुछ विचारक केवल अनुभूति को ज्ञान का एकमात्र स्रोत मानते हैं; जब कि दूसरे वास्तविक और निश्चित ज्ञान का एकमात्र स्रोत बुद्धि अथवा तर्क को ही मानते हैं।

आचार-शास्त्र की विभिन्न पद्धतियों के विचारक भी एकान्तवाद से मुक्त नहीं हैं। कुछ लोग इस जीवन और इस लोक को ही केवल विद्यमान और वास्तविक वस्तु मानते हैं; जबकि दूसरे परलोक तथा मरणोत्तर जीवन को ही चिन्तनीय वस्तु मानते हैं। कुछ सामाजिक विचारक, व्यक्ति और उसकी पूर्णता, समृद्धि और सुख को ही सामाजिक संगठन का उद्देश्य मानते हैं; जब कि दूसरे चिन्तक व्यक्तिगत हितों का बलिदान करके भी पूर्ण सामाजिक संस्थाओं के निर्माण को ही लक्ष्य मानते हैं।

राजनैतिक एकान्तवाद

यह एकान्तवाद विश्व की राजनीति में व्यापक और खुले रूप में जान-बूझ कर चलाया जाता है। प्रत्येक देश, राष्ट्र, दल व गुट केवल अपनी और अपने हितों की रक्षा और सुरक्षा के बारे में चिन्तित है, फिर चाहे उसके लिए दूसरों की बलि क्यों न दे दी जाये। प्रत्येक यह समझता है कि केवल उसकी प्रशासन-प्रणाली और सामाजिक संगठन ही ऐसा है, जो कि मानव जाति का उद्धार कर सकता है और उसे बचा सकता है। वह उसे सम्भावित आक्रमणों से बचाने का प्रयत्न करता है और उसमें शेष संसार को ढाल देना चाहता है। समाजवाद, साम्यवाद, पूँजीवाद, लोकतंत्रवाद अथवा सर्वोदयवाद इसी ढंग से अपने बारे में सोचता है और अपने को मानव-जाति का एकमात्र परित्राता समझता है। प्रत्येक देश का प्रत्येक दल केवल अपने को व अपनी नीति और कार्यक्रम को सर्वोत्तम मानता है और एकमात्र उसे ही देश में नव जीवन का संचार करने वाला मानता है। उसमें इतना धैर्य नहीं है कि वह दूसरे दलों के सुझावों में गुण या अच्छाई देख सके। प्रत्येक दल या गुट समझता है कि केवल उसके अनुयायी और सदस्य ही देश में एकमात्र उपयुक्त और योग्य व्यक्ति हैं, जो कि देश के प्रशासनिक पदों के योग्य हैं। प्रत्येक शक्तिशाली दल चाहता है कि केवल अपने ही लोगों के हाथ में देश के सम्पूर्ण साधनों के अधिकार रहें।

यह एकान्तवाद की घातक प्रवृत्ति है और शक्तिशाली लोगों और दलों में यह इतनी अधिक व्याप्त है कि प्रत्येक व्यक्ति या दल संसार-भर में केवल अपने-आपको ही एकमात्र बुद्धिमान्, एकमात्र सही, एकमात्र न्याय्य, एकमात्र समर्थ और एकमात्र उपयुक्त समझता है तथा चाहता है कि शेष संसार एकमात्र उसी के प्रति निष्ठा रखे और उसके सम्मुख आत्म-समर्पण कर दे। प्रत्येक यह सोचता-समझता है और अनुभव करता है कि वही एकमात्र व्यक्ति है जिसके लिए सम्पूर्ण विश्व की सत्ता है और जिसके प्रति अन्य सभी को दयालु, सहानुभूतिपूर्ण, स्नेहशील और श्रद्धालु होना चाहिए; परन्तु कठिनाई यह है कि इस विश्व में ऐसे अनगिनत दूसरे लोग हैं, जिनके उसी प्रकार विश्वास, दावे और इच्छाएं हैं। इसीलिए संघर्ष, कलह और युद्ध होते हैं।

यदि हम सब इस एकान्तवाद के दुष्परिणाम का अनुभव कर सकें और 'भी' का प्रयोग कर सकें तथा यह समझ सकें कि प्रत्येक को दूसरों की इच्छाओं, आशाओं और आकांक्षाओं की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, दूसरों के गुणों को खोजना, पहचानना और सराहना चाहिए तथा उनके साथ मित्रतापूर्वक और शान्तिपूर्वक रहना चाहिए; तो विश्व, जिस रूप में आज दिखायी देता है, उससे बिलकुल भिन्न हो जायेगा। अनेकान्तवाद पर आधारित यह अस्तित्व, सद्-भावना और पारस्परिक मैत्री इस विश्व के वासियों को सुखी और समृद्ध बना सकते हैं। इन्हें प्राप्त करने के लिए हमें 'केवल-भ्रान्ति' से मुक्ति पा लेनी चाहिए और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'भी' का प्रयोग सीख लेना चाहिए।

भेद में अभेद का सर्जक स्याद्वाद

—मुनिश्री कन्हैयालालजी

भारतीय संस्कृति में दर्शनों का अविरल गति से स्रोत बहा, विविध दार्शनिकों ने स्वकीय बौद्धिक विकास द्वारा विविध विचारधाराओं का विश्लेषण किया। अनेकान्तवादी दार्शनिकों ने भी अनेकान्त दर्शन का सार्वभौम प्रसार किया। जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। अनन्त-धर्मात्मक पदार्थों की विवक्षा करते समय एक धर्म को मुख्य मान कर उसका वर्णन किया जाता है और अन्य सभी धर्म गौणता की श्रेणी में गिन लिये जाते हैं। जीवन के समस्त पहलुओं में अनेकान्त का दृष्टिकोण निहित है। हर एक स्थल पर दो दृष्टियाँ लागू होती हैं। एक रोगी है, उसके लिए मिठाई बहुत हानिकारक है; किन्तु स्वस्थ व्यक्ति के लिए नहीं। जो विष किसी के लिए विष है, वही किसी दूसरे के लिए अमृत हो सकता है—यही वस्तुतः अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त दृष्टिकोण

प्राक्तन दार्शनिकों की विचारधाराओं में पारस्परिक विचार-गुत्थियाँ उलझी हुई थीं। आत्मादि तत्त्वों के विषय में भी विभिन्न धाराएं थीं। सांख्य दर्शन ने आत्मा को कूटस्थ[1] नित्य, अनादि, अनन्त एवं अविकारी कहा। नैयायिक वैशेषिकों ने परिवर्तन तो माना, पर वह तो गुणों तक ही सीमित रहा। मीमांसक ने आत्मा में अवस्था-भेदकृत परिवर्तन स्वीकार करके भी द्रव्य नित्य माना है। योगदर्शन का भी यही अभिप्राय है। बुद्ध के समक्ष जब ये प्रश्न आये कि आत्मा नित्य है या अनित्य ? लोक शाश्वत है या अशाश्वत ? आदि-आदि; तब बुद्ध ने तो समस्त प्रश्नों को अव्याकृत की कोटि में धकेल दिया। भगवान् महावीर ने बुद्ध की तरह आत्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों के स्वरूप-निरूपण में मौन नहीं किया, किन्तु उस समय के प्रचलित वादों का समन्वय करने वाला वस्तुतः तत्त्वस्पर्शी उत्तर दिया। ईसा के बाद होने वाले जैन दार्शनिकों ने जैन-तत्त्व विचार को अनेकान्तवाद के नाम से प्रतिपादित किया।

आत्मा की नित्यानित्यता

अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के अनुसार—आत्मा[2] कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य; अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य। इस दृष्टि के मूल में एक गम्भीर एवं मननीय तत्त्व है। इसमें शाश्वतवाद और उच्छेदवाद दोनों का समन्वय हो जाता है। चेतन जीव-द्रव्य का विच्छेद कभी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से जीव को नित्य मान करके शाश्वतवाद को प्रश्रय दिया। दूसरी ओर जीव की नाना अवस्थाएं स्पष्ट रूप से विच्छिन्न होती हुई देखी जाती हैं। उनकी अपेक्षा से उच्छेदवाद को भी प्रश्रय मिलता है।

लोक की शाश्वतता-अशाश्वतता

शाश्वतता-अशाश्वतता के विषय में भी कुवादों की चट्टानें खड़ी हुई थीं। किसी ने लोक को शाश्वत कहा और

---

१ अप्रच्युतानुत्पन्नस्थिरैकरूपनित्यम्।

२ 'जीवाणं भन्ते ! किं सासया, असासया ?' 'गोयमा ! जीवा सिय सासया, सिय असासया। गोयमा ! दव्वट्ठयाए सासया, भावट्ठयाए असासया।' —भगवती सूत्र, ७।२।७७३

किसी ने अशाश्वत। बुद्ध ने तो अव्याकृत कहकर मौन ही धारण कर लिया। भगवान् महावीर के सामने जब यह प्रश्न आया, तब भगवान् ने अनेकान्त दृष्टि से यह समस्या सुलझायी—'लोक[1] कथंचित् शाश्वत है; क्योंकि ऐसा समय न तो आया और न आयेगा कि जिस समय लोक न हो; अतः यह लोक ध्रुव, नित्य एवं शाश्वत है। कथंचित् लोक अशाश्वत भी है; चूंकि अवसर्पिणी के बाद उत्सर्पिणी और उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी आती है, इस कालचक्र की अपेक्षा से लोक का अशाश्वत होना भी सिद्ध है।'

आत्मा और शरीर की भिन्नता-अभिन्नता

इस अनेकान्तवाद की सुरभि से समस्त समस्या-रूपी दुर्गन्ध दूर हो सकती है। जीव और शरीर की भिन्नता के विषय में भी भारतीय संस्कृति में विविध विचारधाराएं प्रचलित हैं। जैसे—चार्वाक्-दर्शन ने आत्मा को शरीर से भिन्न स्वीकार नहीं किया, अर्थात् आत्मा और शरीर एक है। शरीर का नाश होते ही आत्मा का विलय हो जाता है,[2] अतः पुनरागमन भी नहीं है। कुछ-एक दार्शनिकों ने आत्मा और शरीर का एकान्त भिन्नत्व स्वीकार किया है, और दूसरों ने एकान्त अभिन्नत्व। इस समस्या को सुलझाते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—'आत्मा[3] कथंचित् शरीर से भिन्न भी है और अभिन्न भी। आत्मा रूपी भी है और अरूपी भी है।' आत्मा को यदि शरीर से कथंचित् भिन्न न माना जाये तो एक बहुत बड़े दोष का समागम असम्भव नहीं है, अर्थात् यदि शरीर के नाश के साथ-साथ आत्मा का नाश भी मान लिया जाये तो फिर स्वर्ग, नरक, मोक्ष व पुनर्जन्म आदि मान्यताएं निरर्थक हो जायेंगी। परन्तु आगम आदि प्रमाणों से स्वर्गादि का निरूपण सिद्ध है; अतः आत्मा को जड़ से कथंचित् पृथक् मानना निर्विवाद सिद्ध है। दूसरी विचारधारा है कि आत्मा शरीर से एकान्त भिन्न है। यह भी न्यायसंगत नहीं; चूंकि आत्मकृत कर्मों का सुख-दुःखादि फल शरीर के द्वारा ही भोगा जाता है। आत्मा शरीर से यदि एकान्त भिन्न हो तो शरीर पर प्रहार आदि लगने पर आत्मा को कष्ट नहीं होना चाहिए। अतः कथंचित् भिन्नत्व स्वीकार कर लेना असंगत नहीं होगा। आत्मा को रूपी-अरूपी बताने का भी तात्पर्य यह है कि कर्म-संश्लिष्ट आत्मा मूर्त है, अन्यथा अमूर्त।

विश्व की सान्तता-अनन्तता

एक प्रश्न यह भी खड़ा हुआ कि लोक सान्त है या अनन्त ? तब किसी दर्शन ने उसे केवल सान्त माना, तो किसी ने केवल अनन्त। लोक की सान्तता और अनन्तता के विषय में भगवान् बुद्ध का सिद्धान्त तो अव्याकृत रहा; परन्तु भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद का आश्रय लेकर अपना अपूर्व मार्ग जनता के सामने प्रस्थापित किया। 'लोक[4] द्रव्य की अपेक्षा से सान्त है और भाव अर्थात् पर्यायों की अपेक्षा से अनन्त है। काल की दृष्टि से लोक अनन्त है, अर्थात् शाश्वत

---

१ सासए लोए जमाली ! जन्न कयावि णासी णो कयावि ण भवति, ण कयावि ण भविस्सइ, भुवि च भवइ य भविस्सइ य, धुवे णितिए सासए अक्खए अव्वए अवट्ठिए णिच्चे। असासए लोए जमाली ! जओ ओसप्पिणी भवित्ता उसप्पिणी भवइ, उसप्पिणी भवित्ता ओसप्पिणी भवइ।

—वही, ९।६।३८७

२ भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।

३ 'आया भन्ते ! काये, अन्ने काये ?' 'गोयमा ! आयावि काये अन्नेवि काये।' 'रूवि भन्ते ! काये, अरूवि काये ?' 'गोयमा ! रूविपि काये अरूविपि काये।'

४ एवं खलु मए खंदया ! चउव्विहे लोए पन्नत्ते तंजहा—दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओणं एगे लोए सअन्ते ···भावओणं लोए अणंता। खंदया ! दव्वओ लोए सअंत्ते, खेत्तओ लोए सअंते, कालतो लोए अणंते, भावओ लोए अणंते।

—भगवती सूत्र, २।१।९०

है, क्योंकि ऐसा कोई काल नहीं जिसमें लोक का अस्तित्व न हो; किन्तु क्षेत्र की दृष्टि से लोक सान्त है।' इस तरह, 'जीव'[1] सान्त भी है और अनन्त भी। द्रव्य तथा क्षेत्र की अपेक्षा से तो जीव सान्त है और काल की अपेक्षा से अनन्त है; अर्थात् भूतकाल में जीव था, वर्तमान में जीव है और भविष्य में जीव रहेगा। भाव अर्थात् पर्यायों की दृष्टि से भी जीव अनन्त है।'

तत्त्वों की एकता-अनेकता

भगवान् महावीर अपनी बहुमुखी अनेकान्त दृष्टि से हरएक दर्शन का समन्वय करने के लिए सजग थे। इसके विपरीत अद्वैतवादियों ने एक ब्रह्म[2] अर्थात् आत्मा को ही स्वीकार किया—सर्वत्र एक ही आत्मा का प्रतिबिम्ब है; जैसे जल में एक ही चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब प्रतिभासित होता है।[3] इस विषय में भगवान् महावीर ने अनेकान्त-दृष्टि से सत्य का प्रतिपादन किया है—'आत्मा एक है,[4] चूँकि सभी जीवों का मूल स्वरूप सदृश है। इस दृष्टिकोण से जीव एक है और स्वरूप-पर्याय की अपेक्षा से अनेक। दूसरे दार्शनिकों ने परमाणु को भी एकान्त अनित्य अथवा एकान्त नित्य माना, परन्तु भगवान् महावीर ने कहा—परमाणु पुद्गल कथंचित् नित्य है और कथंचित् अनित्य। द्रव्य की अपेक्षा से नित्य और वर्ण-गन्धादि पर्यायों की अपेक्षा से अनित्य।[5] ऐसे ही धर्मास्तिकाय को द्रव्य-दृष्टि से एक होने के कारण सर्व-स्तोक कहा और उसी एक धर्मास्तिकाय को अपने से ही असंख्यात गुण भी कहा; क्योंकि द्रव्य-दृष्टि के प्राधान्य से एक होते हुए भी प्रदेश के प्राधान्य से धर्मास्तिकाय असंख्यात भी है।[6]

स्याद्वाद संशयवाद नहीं

जैन दर्शन की यह मान्यता रही है कि प्रत्येक पदार्थ अनन्त[7] धर्मों का पिण्ड है। अनन्त धर्मों का एक ही साथ निर्वाचन नहीं हो सकता। दूसरे धर्मों में उपेक्षा-भाव रहते हुए एक धर्म का निश्चित रूप से निरूपण करना स्याद्वाद है। अनेकान्त वाच्य है और स्याद्वाद वाचक है। अमुक निश्चित अपेक्षा से घट अस्ति ही है और अमुक निश्चित अपेक्षा से घट-नास्ति ही है। 'स्यात्' का अर्थ न तो 'शायद' है, न 'सम्भवतः' और न 'कदाचित्' ही। 'स्यात्' शब्द सुनिश्चित दृष्टिकोण का प्रतीक है। इस शब्द के अर्थ को प्राचीन मतवादी दार्शनिकों ने प्रामाणिकता से समझने का प्रयास तो नहीं किया, किन्तु आज भी वैज्ञानिक दृष्टि की दुहाई देने वाले दर्शन-लेखक उसी भ्रान्त परम्परा का पोषण करते आते हैं।

---

१ जे विय खंदया! जीवे सअंते, जीवे अणंते, जीवे तस्सवियणं एयमट्ठे। एवं खलु जाव दव्वओणं एगे जीवे सअन्ते, खेत्त-ओणं जीवे असंखेज्ज पएसिए असंखेज्ज पएसो गाढ़े अत्थि पुण से अंते, कालओणं जीवे न कयावि न आसी जाव निच्चे, नत्थि पुण से अंते, भावओणं जीवे अणंता णाण पज्जवा, अणंता दंसण पज्जवा, अणंता चरित्त पज्जवा, अणंता अगुरु लहुय पज्जवा, नत्थि पुण से अंते।

—वही, ३।१।६०

२ एको ब्रह्मा द्वितीयो नास्ति।

३ एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।

४ एगे आया।

५ 'परमाणु पोग्गलेणं भन्ते! किं सासए, असासए?' 'गोयमा! सिय सासए, सिय असासए।' 'असासए केणट्ठेण?' 'गोयमा! दव्वट्ठयाए सासए, वन्नपज्जवेहिं असासए।'

—भगवती सूत्र, १४-४-५१२

६ एगे धम्मत्थि काए, गोयमा। सव्वत्था वे दव्वट्ठयाए, से चेव पएसट्ठयाए असंखेज्ज गुणे।

—प्रज्ञापनासूत्र, पद ३, सू० ५६

७ अनन्तधर्मात्मकं वस्तु प्रमाणविषयस्त्विह।

—षट्दर्शनसमुच्चय

डा० देवराज[1] द्वारा किया गया स्यात् शब्द का 'कदाचित्' अनुवाद भी भ्रामक है। प्रो० बलदेव उपाध्याय[2] ने लिखा है—"यह अनेकान्तवाद संशयवाद का रूपान्तर नहीं है। आप उसे सम्भववाद कहना चाहते हैं, परन्तु 'स्यात्' का अर्थ 'सम्भवतः' करना भी न्यायसंगत नहीं है। **'स्यादस्ति घटः'** अर्थात् स्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से घट है ही, **'स्यान्नास्ति घटः'** पर द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से घट नहीं है। जब स्याद्वाद स्पष्ट रूप से यह कह रहा है कि **'स्यादस्ति'** यह द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव इस स्व-चतुष्टय की अपेक्षा से है ही, तो यह निश्चित अवधारण है। अतः यह न सम्भववाद है और न अनिश्चयवाद ही, किन्तु खरी अपेक्षायुक्त निश्चयवाद है।"

वैदिक आचार्य शंकराचार्य ने 'शांकर-भाष्य' में स्याद्वाद को संशय-रूप लिखा है, जिसके संस्कार आज भी कुछ विद्वानों के मस्तिष्कों में निहित हैं। प्रो० फणिभूषण अधिकारी ने स्पष्ट लिखा है—"जैन धर्म के स्याद्वाद-सिद्धान्त को जितना ग़लत समझा गया है, उतना अन्य किसी भी सिद्धान्त को नहीं। यहाँ तक कि शंकराचार्य भी दोष से मुक्त नहीं हैं। उन्होंने भी इस सिद्धान्त के प्रति अन्याय किया है। यह बात अल्पज्ञ पुरुषों के लिए क्षम्य हो सकती थी, किन्तु यदि मुझे कहने का अधिकार है तो मैं भारत के इस महान् विद्वान् के लिए तो अक्षम्य ही कहूँगा, यद्यपि मैं इस महर्षि को अतीव आदर की दृष्टि से देखता हूँ। ऐसा जान पड़ता है उन्होंने इस धर्म के दर्शनशास्त्र के मूल ग्रन्थों के अध्ययन की परवाह नहीं की।" जिन्होंने इस स्याद्वाद का गम्भीरता से अध्ययन कर लिया है, उन्होंने तो स्याद्वाद को संशयवाद का रूप न देकर संशय-विच्छेदवाद का रूप दिया है। जैनाचार्यों ने तो बार-बार इस बात की घोषणा की है कि स्याद्वाद संशयवाद नहीं है और ऐसा कोई दर्शन ही नहीं, जो किसी न किसी रूप में स्याद्वाद को स्वीकार न करता हो। सभी दर्शनों ने अपने-अपने ढंग से स्याद्वाद को स्वीकार तो किया है, किन्तु[3] उसका नाम लेने पर दोष बताने लग जाते हैं।

पाश्चात्य विद्वान् डा० थामस का कहना है—"स्याद्वाद-सिद्धान्त बड़ा गम्भीर है। यह वस्तु की भिन्न-भिन्न स्थितियों पर अच्छा प्रकाश डालता है। स्याद्वाद का अमर सिद्धान्त दार्शनिक जगत् में बहुत ऊँचा सिद्धान्त माना गया है। वस्तुतः स्याद्वाद सत्य ज्ञान की कुञ्जी है। दार्शनिक क्षेत्र में स्याद्वाद को सम्राट् का रूप दिया गया है। स्यात्-शब्द को एक प्रहरी के रूप में स्वीकार करना चाहिए, जो उच्चरित धर्म को इधर-उधर नहीं जाने देता है। यह अविवक्षित धर्मों का संरक्षक है, संशयादि शत्रुओं का संरोधक व भिन्न दार्शनिकों का संपोषक है।"

जिन दार्शनिक व्यक्तियों की भाषा स्याद्वादात्मक है, उन व्यक्तियों को कोई भी दर्शन भ्रमजाल के चक्र में नहीं फँसा सकता। एक स्थान में भगवान् महावीर के समक्ष यह प्रश्न आया था कि भिक्षु-साधु कैसी भाषा का प्रयोग करे? प्रश्न का प्रत्युत्तर देते हुए भगवान् ने कहा—'साधु को विभज्यवाद[4]—स्याद्वादात्मक भाषा का प्रयोग करना चाहिए।' टीकाकारों ने भी विभज्यवाद का अर्थ अनेकान्तवाद—स्याद्वाद ही किया है। यदि आग्रह—पक्षपात-रूपी तैमिरिक पोष से परिवेष्टित होकर स्याद्वाद के सिद्धान्त का निरीक्षण किया जायेगा, तो निश्चित ही उसको सत्यासत्य पदार्थों का आभास न होगा।

समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग

प्रत्येक दार्शनिक, धार्मिक व सांसारिक समस्या का समाधान इसी अनेकान्तवाद से हम कर सकते हैं। पिता को पुत्र, पुत्र को पिता, छोटे को बड़ा, बड़े को छोटा, यदि कहने का अधिकार है तो केवल अनेकान्त-दृष्टि से ही। यदि अनेकान्त-दृष्टि को न्यायाधीश के पद पर बैठा दिया जाये, तो विरोधी वाद मुद्दई-मुद्दाएलों का फैसला बहुत सुन्दर ढंग से हो सकता है और समझौता भी उचित रूप मे सम्भव है। पूर्वकालीन युग में समन्तभद्र, सिद्धसेन आदि दार्शनिकों ने अनेकान्त दृष्टि

---

१ **पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, पृ० ६५**

२ **भारतीय दर्शन, पृ० १७३**

३ **अनेकान्त व्यवस्था की अन्तिम प्रशस्ति, पृ० ८७**

४ **भिक्खु विभज्जवायं च वियागरेज्जा।**

—सूत्रकृतांग, १।१४।२२

के अनुपात से ही सत्-असत्, नित्यानित्य, भेदाभेद, द्वैताद्वैत, भाग्य-पुरुषार्थ आदि विविध द्वैधों में पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया और मध्य-कालीन युग में अकलंक, हरिभद्र आदि अनेक तार्किकों ने अंशतः पर-पक्ष का खण्डन करके भी उसी अनेकान्त दृष्टि का प्रसार किया।

भारतीय दर्शनशास्त्रों में अनेकान्त दृष्टि के आधार से ही वस्तु-स्वरूप के प्ररूपक जैन दर्शन को हम विचार-विकास की चरम रेखा कह सकते हैं। तात्पर्य यह है कि जब तक वस्तु-स्थिति स्पष्ट होती नहीं, तब तक विवाद बढ़ता ही जाता है। जब वह वस्तु अनेकान्त दृष्टि से अत्यन्त स्पष्ट हो जाती है, तब वादों का स्रोत अपने-आप सूख जाता है। जैन तत्त्व ज्ञान का विशाल भवन अनेकान्तवाद के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। जैन दर्शन का जीवन ही नहीं, अपितु इसे समस्त दर्शनों का जीवन कहें तो भी कोई अत्युक्ति नहीं होगी। पूर्ववर्ती जैन आचार्यों ने अपनी सर्वसमन्वयात्मक उदार भावना का परिचय देते हुए लिखा है—"एकान्त वस्तुगत धर्म नहीं है किन्तु बुद्धिगत है, अतः बुद्धि के शुद्ध होते ही एकान्त का नामो-निशान भी नहीं रहेगा। जैनेतरों की सर्व दृष्टियाँ अनेकान्त-दृष्टि में वैसे ही मिलती हैं जैसे भिन्न-भिन्न दिशाओं से आने वाली विभिन्न नदियाँ समुद्र में।"[1] प्रसिद्ध विद्वान् उपाध्याय यशोविजयजी के शब्दों में—'एक सच्चा अनेकान्तवादी किसी भी दर्शन से द्वेष नहीं कर सकता। वह सम्पूर्ण नयरूप-दर्शनों को इस प्रकार वात्सल्य की दृष्टि से देखता है जैसे कोई पिता अपने पुत्रों को देखता है। क्योंकि अनेकान्तवादी की न्यूनाधिक बुद्धि नहीं हो सकती। वास्तव में सच्चा शास्त्रज्ञ कहे जाने का अधिकारी वही है, जो स्याद्वाद का अवलम्बन लेकर सम्पूर्ण दर्शनों में समान भाव रखता है। वास्तव में मध्यस्थ भाव ही शास्त्रों का गूढ़ रहस्य है। यही धर्मवाद है। मध्यस्थ भाव रहने पर शास्त्रों के एक पद का ज्ञान भी सफल है, अन्यथा करोड़ों शास्त्रों के पढ़ जाने से भी कोई लाभ नहीं है।'[2] हरिभद्र सूरी ने लिखा है[3]—"आग्रही व्यक्ति अपने मत-पोषण के लिए युक्तियाँ ढूंढ़ता है, युक्तियों को अपने मत की ओर ले जाता है; पर पक्षपात-रहित मध्यस्थ व्यक्ति युक्ति-सिद्ध वस्तु-स्वरूप को स्वीकार करने में अपने ज्ञान की सफलता मानता है।" अनेकान्त दर्शन भी यही सिखाता है कि युक्ति-सिद्ध वस्तु-स्वरूप की ओर अपने मत को लगाओ, न कि अयुक्ति-सिद्ध वस्तुस्वरूप में। अतः आग्रह-बुद्धि का निराकरण करके सत्य पर पहुँचना ही एक निर्णीत फल है। किन्तु जो खींचातानी करता है, अपने ही को सच्चा मानता है, उसके लिए तत्त्वरूपी नवनीत का रसास्वादन कहाँ !

एक[4] को ढीला छोड़ेगा और दूसरे को तानेगा, तब ही नवनीत निकलेगा और यदि एक ही को खींचकर बैठ जाये

---

१ उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि नाथ दृष्टयः।
न च तासु भवान् प्रदृश्यते प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः॥

२ यस्य सर्वत्र समता नयेषु तनयेष्विव।
तस्यानेकान्तवादस्य क्व न्यूनाधिक शेमुषी॥
तेन स्याद्वादमालम्ब्य सर्वदर्शनतुल्यताम्।
मोक्षोद्देशा विशेषेण यः पश्यति स शास्त्रज्ञः॥
माध्यस्थमेव शास्त्रार्थो येन तच्चारु सिद्धयति।
स एव धर्मवादः स्यादन्यद् बालिशवल्गनम्॥
माध्यस्थसहितं ह्येकपदज्ञानमपि प्रभा।
शास्त्रकोटिवृथैवान्या तथा चोक्तं महात्मना॥
—अध्यात्म-संग्रह

३ आग्रही बत निनीषति युक्तिं, तत्र यत्र मतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्र तत्र मतिरेति निवेशम्॥

४ एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी॥

तो क्या नवनीत सम्भव है ? वैसे ही यदि कोई एक ही दृष्टि का अवलम्बन ले करके बैठ जाये तो वह सत्य के शिखर पर नहीं पहुँच सकता। अतः हर एक को एकान्त-दृष्टि का परिहार करके अनेकान्तरूपी मानसरोवर में क्रीड़ा करनी चाहिए।

स्याद्वाद के इस उदार सिद्धान्त से समस्त दर्शनों का समन्वय सहज ही हो सकता है। इस तरह अनेकान्त-दृष्टि-कोणों से जैनाचार्यों ने देखा कि प्रत्येक वाद सयुक्तिक होने के कारण अमुक-अमुक दृष्टि से अमुक-अमुक सीमा तक यथार्थ है। दार्शनिक जगत् के लिए जैन दर्शन की यह देन सर्वथा अनुपम व अद्वितीय है। अनेकान्तवाद व स्याद्वाद-सिद्धान्त के द्वारा विविधता में एकता व एकता में विविधता का दर्शन करा कर जैन दर्शन ने विश्व को नवीन दृष्टि प्रदान की है। भारतीय दर्शनशास्त्र सचमुच इस अद्वितीय सत्य को पाये बिना अपूर्ण रहता।

दक्षिण भारत में जैन धर्म

श्री० के० एस० धरणेन्द्रैया, एम० ए०, बी० टी०
निर्देशक, साहित्य एवं संस्कृति-विकास संस्थान, मैसूर राज्य, बंगलौर

बाहुबली (गोम्मटेश्वर)

जब हम दक्षिण भारत में जैन धर्म के विषय में चिन्तन करते हैं तो सहसा हमें स्मरण हो आता है कि जैन धर्म तीर्थकरों के देश से भगवान् गोम्मटेश्वर (बाहुबली) के देश में आया। जब प्रथम तीर्थकर भगवान् ऋषभनाथ ने अपना राज्य अपने पुत्रों को बाँटा, तब सम्भवतः दक्षिण भारत का राज्य बाहुबली (श्री गोम्मटेश्वर) को दिया गया। दक्षिण भारत में एक स्थान है, जिसे **बोदान** कहते हैं। यह हैदराबाद कर्णाटक में है। यह समझा जाता है कि यही **पौदानपुर** है जो बाहुबली की राजधानी थी। दक्षिण भारत में बाहुबली की अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। उनमें से उल्लेखनीय मूर्तियाँ श्रवण बेलगोला, करकाला, वेनूर और गोम्मटागिरि (मैसूर नगर के निकट) में हैं।

भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त मौर्य

उपलब्ध ऐतिहासिक विवरणों से यह ज्ञात होता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ईसा-पूर्व तीसरी शताब्दी में उत्तर भारत से दक्षिण भारत आये, जब कि उनकी भविष्यवाणी के अनुसार उत्तर भारत में बारह वर्ष का दुष्काल पड़ने वाला था। दक्षिण भारत उस समय शान्ति और समृद्धि का देश था, इसलिए उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने साथ दक्षिण चले आने का परामर्श दिया। जहाँ वे तीर्थकरों द्वारा प्रतिपादित आचार-नियमों का भंग न करते हुए धर्म के सिद्धान्तों का अनुसरण कर सकें। दक्षिण का प्रवास करने वाले उनके अनुयायियों में सबसे प्रमुख मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त थे, जिन्होंने अपने राज्य और समस्त पार्थिव सम्पदा का परित्याग करके संन्यास ले लिया और जैन श्रमण (साधु) बन गए। वे अपने १२,००० अनुयायियों को साथ लेकर, जिनमें साधु और गृहस्थ दोनों ही थे, अपने आध्यात्मिक गुरु श्री भद्रबाहु स्वामी के साथ दक्षिण की ओर चल पड़े। चलते-चलते वे अन्त में उस स्थान पर पहुँचे, जहाँ आज भी श्रवण बेलगोला का ऐतिहासिक स्थल अवस्थित है।

उस समय श्रवण बेलगोला में श्री गोम्मटेश्वर की मूर्ति नहीं थी। आज वहाँ दो पहाड़ियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—एक बड़ी और दूसरी छोटी। छोटी पहाड़ी का नाम चन्द्रगिरि है और उसका नामकरण महान् सम्राट् चन्द्रगुप्त के नाम पर हुआ था। इसी पहाड़ी पर श्री भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त आये थे और कुछ समय के लिए उन्होंने वहाँ निवास किया था। इस भाग को उस समय संस्कृत में **'कटवप्र'** और कन्नड़ में **'कलबोप्पु'** कहते थे। वहाँ श्री भद्रबाहु स्वामी एक बड़ी चट्टान के नीचे गुफा में तपस्या करते थे। इसी गुफा में उन्होंने देहत्याग किया था। कहा जाता है—राजवंशी शिष्य चन्द्रगुप्त ने अपने गुरु के पद-चिह्न उस चट्टान के नीचे खुदवा दिये थे। आज भी सहस्त्रों भक्त प्रतिवर्ष श्रवण बेलगोला की यात्रा करने आते हैं। चन्द्रगिरि पर, चन्द्रगुप्त के नाम पर एक अत्यन्त प्राचीन जैन मन्दिर भी है जिसे 'चन्द्रगुप्त बसदि' कहते हैं।

श्रमण चन्द्रगुप्त अपने गुरु के देहावसान के पश्चात् लगभग बारह वर्ष तक जैन धर्म का प्रचार करते रहे। मैसूर राज्य में ऐसे शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जिनसे यह ज्ञात हुआ है कि भद्रबाहु स्वामी और श्रमण चन्द्रगुप्त कन्नड़ प्रदेश में आये थे और उन्होंने जैन सिद्धान्तों द्वारा प्रतिपादित अहिंसा का प्रचार किया था।

भगवान् महावीर और राजा जीवन्धर

एक परम्परा के अनुसार यह भी माना जाता है कि भद्रबाहु स्वामी और चन्द्रगुप्त के दक्षिण-आगमन के पूर्व भी वहाँ जैन धर्म विद्यमान था। वर्तमान कन्नड़ प्रदेश को उस समय **हेमांगद प्रदेश** कहते थे और उस प्रदेश में भगवान् महावीर के समकालीन जीवन्धर नामक राजा राज्य करते थे। यह भी ज्ञात होता है कि भगवान् महावीर के समवसरण की रचना जीवन्धर के राज्य में दक्षिण भारत में हुई थी और राजा जीवन्धर भगवान् महावीर के दर्शन करने के पश्चात् राज्य त्याग कर जैन साधु बन गए थे। उन्होंने उत्कट तपस्या की और अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

तमिल प्रदेश और तमिल भाषा

विशाखाचार्य

श्री भद्रबाहु स्वामी ने अपने जिन शिष्यों को दक्षिण में भेजा था, उनमें सबसे प्रमुख विशाखाचार्य थे। वे तमिल प्रदेश में गये और उन्होंने वहाँ जैन धर्म का प्रचार किया। इतिहास बताता है कि जैन धर्म सारे तमिल प्रदेश में फैल गया था और वहाँ के अनेक राजाओं ने जैन धर्म को अंगीकार किया था। अनेक शताब्दियों तक जैन धर्म राज्य-धर्म के रूप में रहा। जैनों ने तमिल भाषा में समृद्ध साहित्य की रचना की और उस भाषा को व्याकरण, गद्य और पद्य की अनेक रचनाएं प्रदान कीं।

कुन्दकुन्दाचार्य और कुरल

तमिल-साहित्य के सब से महान् ग्रन्थ **'कुरल'** की रचना जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने ही की है, जो ईसा की प्रथम शताब्दी में मद्रास नगर के निकट पोन्नूर की पहाड़ियों पर रहते थे।[1] यद्यपि यह कहा जाता है कि कुरल की रचना श्री तिरुवल्लुवर ने की है, किन्तु दिवंगत प्रोफेसर ए० चक्रवर्ती ने आन्तरिक और बाह्य प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध कर दिया है कि यह ग्रन्थ जैन आचार्य ने ही लिखा है। कुछ विवरणों से, जिनमें अधिकांश मौखिक हैं, ज्ञात होता है कि श्री तिरुवल्लुवर एक निम्नजातीय हिन्दू थे, किन्तु अपने समय के एक आध्यात्मिक शक्ति और बुद्धि-सम्पन्न अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। वे श्री कुन्दकुन्दाचार्य के महान् व्यक्तित्व के प्रति आकर्षित हुए और कुन्दकुन्दाचार्य ने उनको अपना शिष्य बना लिया। अपनी रचना **'कुरल'** अपने शिष्य तिरुवल्लुवर को सौंपते हुए कुन्दकुन्दाचार्य ने उनको आदेश दिया—"देश में भ्रमण करो और इस ग्रन्थ के सार्वभौम नैतिक सिद्धान्तों का प्रचार करो।" साथ-साथ आचार्य ने अपने शिष्य को चेतावनी भी दी—"देखो ! ग्रन्थ के रचयिता का नाम प्रकट मत करना। क्योंकि यह ग्रन्थ मानवता के उत्थान के लिए लिखा गया है, आत्म-प्रशंसा के लिए नहीं।" श्री तिरुवल्लुवर ने अपने गुरु के इस आदेश का पालन किया और इस महान् ग्रन्थ के रचयिता का नाम कभी प्रकट नहीं किया। **'कुरल'** में चार में से तीन पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ और काम की चर्चा की गई है। उसमें चौथे पुरुषार्थ मोक्ष की चर्चा नहीं है।

'कुरल' का प्रारम्भ वर्षा की दानशीलता के वर्णन से होता है। उसमें बताया गया है कि विश्व में वर्षा ही सब रसों का मूलकारण है। उस ग्रन्थ में दाम्पत्य जीवन के सुख का वर्णन भी किया गया है। उसी ग्रन्थ में सर्वोच्च प्रेम का वर्णन भी किया गया है और बताया गया है कि वह किस प्रकार मानव-समाज के सभी पहलुओं को प्रभावित करता है। उसमें

---

१. एक किंवदन्ती के अनुसार श्री कुन्दकुन्दाचार्य जिन्होंने 'समयसार' और 'प्रवचनसार' नामक ग्रन्थों की रचना की है, जिन शासन देवों की सहायता से विदेह-क्षेत्र गये थे और तत्र विद्यमान भगवान् श्री सीमन्धर स्वामी से जैन सिद्धान्तों के विषय में अपनी शंकाओं का निवारण किया था। उसके पश्चात् ही उन्होंने जैन सिद्धान्त-विषयक अपनी रचनाओं को पूर्ण किया था।

न केवल मनुष्यों को, अपितु पशुओं और निम्न श्रेणी के जीवों को भी मनुष्यों के तुल्य माना गया है और ग्रन्थ में सर्वत्र अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की शिक्षाएं भरी पड़ी हैं। ये आचार के पाँच मूलभूत सिद्धान्त हैं, जिनकी इस महान् ग्रन्थ में शिक्षा दी गई है और जो सर्वव्यापी नैतिकता का पाठ पढ़ाते हैं। उसमें राजा के कर्तव्यों और शासन-कला की भी शिक्षा दी गई है। विश्व के साहित्य में शैली और विषय की दृष्टि से यह अपूर्व ग्रन्थ है।

तमिल-साहित्य

तमिल-साहित्य में जैनाचार्यों के लिखे हुए अनेक ग्रन्थ हैं। **तोलकप्पियम्** एक तमिल-व्याकरण है। **शिल्पाधिकरण** तमिल-साहित्य की एक और महान् रचना है, जिसे चेरा राजसंन्यासी इलंगो ने लिखा है। **मणिमेखलई** की रचना सत्तन ने की है। उसमें देवताओं के समक्ष किये जाने वाले पशु-बलि के आयोजनों का परिहास किया गया है। एक और ग्रन्थ **'नालदियर'** में आठ सौ जैन साधुओं द्वारा रचित दार्शनिक श्लोक हैं। उन साधुओं को उस समय के एक राजा ने रात-भर में तमिल-प्रदेश छोड़कर चले जाने का आदेश दिया था; तब प्रत्येक साधु ने एक-एक श्लोक की रचना की और सब साधु अपने निवास-स्थान पर उन पद्य-संग्रहों को छोड़कर उसी रात को देश से बाहर चले गए। कुछ विद्वानों ने उन पद्यों को संग्रहीत करके प्रकाशित किया और इसी संग्रह को **'नालदियर'** कहते हैं। इसका अंग्रेजी में अनुवाद भी हुआ है और उन पर विस्तृत टीकाएं और विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएं लिखी गई हैं। जैनाचार्यों द्वारा लिखे हुए तमिल के सैकड़ों ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों ने तमिलवासियों के जीवन और भाषा पर गहरा प्रभाव डाला है।

कन्नड़ प्रदेश और कन्नड़ भाषा

अब हम कन्नड़ प्रदेश और उसकी भाषा की चर्चा करेंगे, जिसे जैनाचार्यों, राजाओं, सामन्तों, मन्त्रियों, कवियों, कलाकारों और दार्शनिकों ने समृद्ध बनाया है। जैन कन्नड़ ग्रन्थों में हमारी दृष्टि जिन तीन प्रसिद्ध जैन सन्तों की ओर जाती है, वे हैं—समन्तभद्र, पूज्यपाद और कवि परमेष्ठी। यद्यपि इन सन्तों द्वारा कन्नड़ भाषा में रचित कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हुआ है, किन्तु प्रत्येक जैन कन्नड़ कवि ने अपनी रचना में इन तीनों जैन सन्तों के नामों का उल्लेख अवश्य किया है।

शिवकोट्याचार्य

कन्नड़ भाषा का एक गद्य ग्रन्थ **'वड्डाराधने'** (वृद्धराधना) है। उसमें महान् पूर्वजों को श्रद्धांजलि भेंट की गई हैं। इस ग्रन्थ में उन्नीस जैन सन्तों की गुणगाथाएं हैं और यह अत्यन्त प्राचीन कन्नड़-गद्य में लिखा गया है। यह ईसा की पाँचवीं शताब्दी का माना जाता है, यद्यपि उसकी रचना-तिथि के विषय में अब भी विवाद है। उसे शिवकोट्याचार्य नामक जैन सन्त ने लिखा है।

नृपतुंग, जिनसेनाचार्य और वीरसेनाचार्य

कन्नड़ भाषा का पहला काव्य-ग्रन्थ जहाँ तक पता चला है **'कवि राजमार्ग'** है। इस ग्रन्थ के रचयिता नृपतुंग हैं। वह राष्ट्रकूट वंश के प्रथम सम्राट् थे। वह अमोघवर्ष और अतिशयधवल के नाम से भी विख्यात थे। श्री जिनसेनाचार्य और वीरसेनाचार्य उनके आध्यात्मिक गुरु थे। जिनसेनाचार्य ने **'महापुराण'** की रचना की है, जो संस्कृत का एक श्रेष्ठ ग्रन्थ है। उसमें प्रथम तीर्थंकर आदिनाथ (ऋषभनाथ) की जीवन-गाथा सुन्दर और सरल शैली में लिखी गई है। **धवल, जयधवल** और **महाधवल** नामक ग्रन्थ वीरसेनाचार्य द्वारा लिखे गए हैं। वे **षट्खण्डागम** की टीकाएं हैं। इन ग्रन्थों का हिन्दी-अनुवाद अब प्रकाशित हो चुका है। ये ग्रन्थ जैन दर्शन के सिद्धान्तों के विशाल संकलन हैं।

कन्नड़ भाषा के पद्य-ग्रन्थ **'कविराजमार्ग'** के रचयिता नृपतुंग ने अपने ग्रन्थ में कन्नड़ प्रदेश के विस्तार का वर्णन करते हुए लिखा है कि कावेरी नदी उसकी दक्षिण सीमा और गोदावरी नदी उसकी उत्तरी सीमा बनाती हैं। उन्होंने कन्नड़वासियों की बौद्धिक प्रतिभा और अन्य विशिष्टताओं की सराहना की है। इस ग्रन्थ में ईसा की ९वीं शताब्दी के

पूर्ववर्ती कन्नड़ कवियों का परिचय दिया गया है। उनमें से कुछ ने पद्य और कुछ ने गद्य में रचना की है। उनके ग्रन्थों का अभी तक पता नहीं लग पाया है।

आदि पम्पा (ई० ६०१-६४१)

आदि पम्पा कन्नड़-साहित्य का पिता माना जाता है। उनकी सर्वश्रेष्ठ रचनाएं **'आदिपुराण'** और **'पम्पा भारत'** हैं। प्रथम रचना में आदिनाथ (ऋषभ स्वामी) और उनके महान् पुत्र भरत और बाहुबली (गोम्मटेश्वर) की जीवन-गाथा प्रस्तुत की गई है और दूसरी रचना में व्यास भारत का वर्णन है। व्यास महर्षि ने पाण्डवों की जो कथा लिखी है, उसी को आधार माना गया है। पम्पा ने दुर्योधन और कर्ण का पात्रालेखन महाभारत के सर्वोत्तम वीरों के रूप में किया है। पम्पा राष्ट्रकूटों के सामन्त अरिकेसरी के प्रधान मन्त्री, प्रधान सेनापति और राजकवि थे। इस प्रकार उनके व्यक्तित्व में राजनीतिज्ञता, साहस, विद्वत्ता और काव्य-प्रतिभा के अभूतपूर्व गुणों का सुन्दर समन्वय हुआ था। पम्पा के पूर्वज ब्राह्मण थे और उनके महाप्रपिता माधव सोमयाज़ी ने अनेक यज्ञ किये थे। पम्पा के पिता अभिराम देवराया ने वैदिक धर्म छोड़कर जैन धर्म अंगीकार किया। पम्पा ने अपने ग्रन्थ **'भारत'** में यह अर्थसूचक बात लिखी है कि मेरे पिता ने अपना धर्म-परिवर्तन करके बुद्धिमत्ता का परिचय दिया; कारण, भारत की जातियों में अग्रणी ब्राह्मण जाति के व्यक्ति के लिए जैन धर्म ही सबसे अधिक मान्य और अनुकरणीय हो सकता है। इससे हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि उस समय लोगों को धर्म की स्वतन्त्रता प्राप्त थी। ई० ६४१ में जब उनकी अवस्था ३९ वर्ष थी, उन्होंने अपनी सर्वश्रेष्ठ रचनाएं लिखीं। आज भी कन्नड़-साहित्य में उनकी इन रचनाओं का अभूतपूर्व स्थान है। उनके बाद के प्रत्येक कवि ने चाहे वह जैन हो या अजैन, इस महाकवि के प्रति भव्य श्रद्धांजलियाँ भेंट की हैं और उनको अपना गुरु स्वीकार किया है। कन्नड़-साहित्य के अनेक समालोचकों ने उनको कन्नड़-साहित्य का पिता घोषित किया है।

१०वीं से १६वीं शताब्दी के कवि

कर्णाटक के जैन और अजैन सम्राटों की संरक्षकता में ईसा की १०वीं से १६वीं शताब्दी के मध्य जैन-कवि फूले-फले। राष्ट्रकूटों, चालुक्यों, होयशालों, गंगों आदि के राजदरबारों में वे सम्मानित हुए। इन जैन कवियों ने कन्नड़ भाषा में अनेकानेक महान् ग्रन्थों की रचना कर कन्नड़-साहित्य को समृद्ध किया है। उनमें पून्ना (ई० ९५०), रण्णा, जन्ना, केशीराज, नेमिचन्द्र, अग्गल, मधुर, न्यायसेन, गुणवर्मा, मल्लिकार्जुन, नगराज, रत्नाकर आदि के नाम लिये जा सकते हैं। पून्ना (९५० ई०) ने राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण (कान्नड़ा) के राजदरबार को सुशोभित किया और **'शान्तिपुराण'** की रचना की, जिसमें १६वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का जीवन है। उन्होंने एक ग्रन्थ **भुवनैकरामाभ्युदय** की रचना भी की, जिसका अभी पता नहीं चला है।

रण्णा (ई० ९४९) को चालुक्य सम्राट् तैलप ने 'कवि-चक्रवर्ती' की उपाधि प्रदान की थी। रण्णा बीजापुर जिले के मुधोल नामक स्थान से दक्षिण में आये और चामुण्डराय का संरक्षण प्राप्त किया, जो गंग राजाओं के प्रधान मन्त्री और प्रधान सेनापति थे। चामुण्डराय ने ही ई० ९८३ में श्रवण बेलगोला में गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति की स्थापना की थी। रण्णा चामुण्डराय के मित्र थे। वह श्रवण बेलगाला में गोम्मटेश्वर की मूर्ति की स्थापना के समय उनके साथ थे। श्रवण बेलगोला की छोटी पहाड़ी चन्द्रगिरि पर चामुण्डराय और रण्णा दोनों ने अपने नाम खुदवाये हैं। रण्णा ने **'परशुरामचरित्र'** नामक एक ग्रन्थ की रचना की है। इसे चामुण्डराय का जीवन-चरित्र माना जाता है, जिनको 'समर-परशुराम' की उपाधि मिली थी। इस ग्रन्थ का अभी पता नहीं चला है। चामुण्डराय स्वयं एक विद्वान् और विद्वानों के संरक्षक थे। उन्होंने कन्नड़ गद्य में एक श्रेष्ठ ग्रन्थ की रचना की है, जिसमें तिरसठ महापुरुषों के जीवन-चरित्र हैं। उसका नाम है **'त्रिषष्टिशलाकापुरुषपुराण'**। **'वड्डाराधने'** नामक गद्य-रचना के बाद कन्नड़ गद्य-साहित्य के इतिहास में इस पुराण का विशिष्ट स्थान है। रण्णा ने कन्नड़ में दो महान् ग्रन्थ लिखे हैं--**'अजितनाथ पुराण'** और **'गदायुद्ध'**। प्रथम में द्वितीय तीर्थंकर का जीवन-चरित्र है और दूसरे में महाभारत की महत्त्वपूर्ण घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। इस

रचना की विशिष्टता यह है कि रण्णा ने दुर्योधन को अभागा नायक चित्रित किया है, जिसमें अनेक **गुण थे**, किन्तु आत्म-प्रशंसा **और** स्वाग्रह की एक दुर्बलता भी थी। रण्णा महाकवि की एक और संरक्षिका थी। इस राजमहिला का नाम अत्तिम्बे था, जिसके निर्देश पर कवि ने **'अजितनाथ पुराण'** लिखा। अत्तिम्बे अपने लोकोपकारी कार्यों के कारण **'दान चिन्तामणि'** कहलाती थीं। व्याकरणाचार्य नागवर्मा, केसिराज और भट्टाकलंक किसी भी भाषा के व्याकरणाचार्यों से कम नहीं हैं। जन्ना कन्नड़ के अत्यन्त प्रसिद्ध कवि हुए हैं। वह होयशाला सम्राट् नृसिंहवल्लभ के प्रधान मन्त्री, प्रधान सेना-पति और राजकवि थे। उन्होंने दो श्रेष्ठ ग्रन्थों की रचना की है : **अनन्तनाथ पुराण** (चौदहवें तीर्थंकर का जीवन-चरित्र) और **यशोधरा-चरित्र**। दूसरा ग्रन्थ वास्तव में जैन धर्म का दर्पण है। उसमें अहिंसा के सिद्धान्त को अन्य किसी भी धर्म के सिद्धान्तों से श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है।

अभिनवपम्पा और पम्पा रामायण

ई० १११५ में नागचन्द्र हुए। वह बीजापुर में रहते थे, जिसे उस समय विजयपुर कहा जाता था। उन्होंने इस नगर के नाम का अपने ग्रन्थ **'मल्लिनाथपुराण'** में उल्लेख किया है। उनकी महानता उनकी श्रेष्ठ रचना **पम्पा रामायण** में निहित है। नागचन्द्र अपने को **अभिनवपम्पा** कहते थे; अर्थात् वे अपने को आदिपम्पा के समान ही महान् मानते थे। उनकी विशिष्टता इसमें है कि उन्होंने रावण का महान् वीर और करुणापात्र नायक के रूप में चित्रण किया है। उनके कथनानुसार रावण अहिंसा के सिद्धान्त का कट्टर अनुयायी था। उसके 'अनन्तकेवली' नामक एक जैन गुरु थे, जिनके चरणों में उसने 'परदारा-विरत' रहने की प्रतिज्ञा ली थी। दक्षिण से उत्तर भारत के अपने विस्तृत अभियानों में वह अनेक अति सुन्दर स्त्रियों के समागम में आया था, किन्तु अपने व्रत में दृढ़ रहा। उसके आत्म-संयम का एक उल्लेखनीय उदाहरण है कि जब वह दुर्लघ्यपुर के राजा नलकुबेर की अति सुन्दर पत्नी उपरम्मा के सम्पर्क में आया और नलकुबेर को पराजित करके उसके अन्तःपुर में प्रविष्ट हुआ तो रानी उपरम्भा उस पर प्रेमासक्त हो गई। उस समय रावण ने उसे पावन चरित्र की महानता बताते हुए अपने पति के पास जाने और निष्कलंक जीवन विताने का परामर्श दिया था। रावण की एकमात्र दुर्बलता यही थी कि वह सीता के प्रति प्रेमासक्त हो गया था और लेखक के अनुसार यह घटना ऐसी परिस्थितियों में हुई, जिन पर उसका कोई नियन्त्रण नहीं था। वह कर्म का भोग बन गया। कोई भी मानवीय शक्ति विधाता के लिखे को नहीं मिटा सकती। लेखक रावण के प्रति सदय होकर उसकी अवस्था पर सहानुभूति प्रकट करता है। निस्सन्देह रावण सीता को अपनी राजधानी में ले आता है और उसके हृदय को प्रेम से जीतने की चेष्टा करता है, किन्तु उसे सफलता नहीं मिलती। सीता अपने पतिव्रत धर्म पर दृढ़ रहती है। वह राम के अतिरिक्त अन्य पुरुष का विचार ही नहीं कर सकती थी। जब रावण सीता को कहता है कि मैं राम को मार डालूंगा, तो सीता मूर्छित हो जाती है और दीर्घ-काल तक उसे चेतना नहीं आती। परिचारिकाएं, जो रावण ने सीता की देख-भाल करने के लिए छोड़ी थीं, थक कर हार जाती हैं। यह दुःखद दृश्य देख कर रावण का हृदय द्रवित हो जाता है। वह सीता के गुणों की सराहना करता है। जिस पर अपनी धमकियों और प्रलोभनों का कोई प्रभाव नहीं होता, ऐसी सीता को पवित्र और शीलवती सती नारी के रूप में वह देखता है और अपने चरित्र की रक्षा करने के उसके प्रयत्नों की सराहना करता है। अपने पति राम के प्रति सीता के अगाध प्रेम और भक्ति की वह सराहना करता है, अपने को सबसे बड़ा पापी कहकर आत्म-निन्दा करता है और अपने आस-पास के लोगों से कहता है—'मैंने एक पतिव्रता और शीलवती नारी सीता के प्रति जो बुरा व्यवहार किया है, उसके लिए मुझे हार्दिक पश्चात्ताप है।' वह घोषणा करता है—'मेरा विचार बदल गया है और मैं सीता को अपनी बहिन अथवा पुत्री समझूंगा और उसकी ओर कुदृष्टि नहीं डालूंगा।' इस प्रसंग में रावण की पत्नी मन्दोदरी हस्तक्षेप करती है और अपने पति से कहती है कि मुझे सीता को राम के पास पहुँचा आने दीजिये, जो सीता को प्राप्त करने के लिए युद्ध कर रहे हैं। किन्तु रावण ने इस सुझाव को स्वीकार नहीं किया। कारण—वह इस पृथ्वी पर किसी व्यक्ति के सामने कदापि झुक नहीं सकता था। वह राम से युद्ध करने का निश्चय करता है और घोषणा करता है कि राम और लक्ष्मण को युद्ध-भूमि में पराजित करने के बाद मैं सीता को उन्हें लौटा दूंगा। **पम्पा रामायण** में हमें रावण का यह अद्भुत चित्र देखने को मिलता है।

महाकवि रत्नाकर

रत्नाकर महाकवि जैन कन्नड़-साहित्य-क्षितिज के अन्तिम जाज्वल्यमान नक्षत्र हैं। वह दक्षिण कनाड़ा जिले के मुड़बिद्री नामक तीर्थस्थान में ईसा की १६वीं शताब्दी में हुए हैं। उन्होंने दो ग्रन्थ लिखे हैं—**भरतेशवैभव** और **शतकत्रयी।** प्रथम ग्रन्थ कन्नड़-साहित्य का महान् ग्रन्थ है। यद्यपि वह आधुनिक कन्नड़ छन्द 'संगत्मा' में लिखा गया है, फिर भी शैली और विषय की दृष्टि से अद्वितीय है। कन्नड़ प्रदेश के घर-घर में उसका नाम पहुँचा हुआ है। **भरतेशवैभव में** प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र भरत का एक आदर्श राजा के रूप में जीवन-चित्रण किया गया है। भरत में सम्राटों के ऐश्वर्य और सन्त के विनय एवं त्याग का संगम हुआ था। उनके व्यक्तित्व में भोग और योग का, राजसी वैभव और आध्यात्मिक तेज का समन्वय दिखायी देता है।

शतकत्रयी में लेखक ने कर्म और आत्मा के सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराया है। उन्होंने नैतिकता-सम्बन्धी सार्वभौम नियमों का प्रतिपादन किया है।

उपसंहार

दक्षिण में जैन धर्म ने भारत की सांस्कृतिक सम्पदा, कला, साहित्य और दर्शन के विकास में भारी योग दिया है। गोम्मटेश्वर की मूर्ति भारतीय कला की श्रेष्ठता संसार के सामने प्रकट करती है और अहिंसा का आदर्श भी प्रस्तुत करती है, जो कि संसार के समस्त रोगों की रामबाण औषधि है।

ऐसे अनेक उत्साही विद्वानों की आवश्यकता है, जो जैन स्थापत्य कला (एल्लौरा और बदामी आदि) की और प्राकृत, संस्कृत, कन्नड़ और तमिल भाषाओं में जैन साहित्य की गहरी शोध करें तथा वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के लाभ के लिए उनमें छिपी गुप्त सम्पदा को प्रकाश में लायें। तेलगू भाषा में ऐसा जैन साहित्य अधिक नहीं है, जो प्रकाश में आया हो।

इस निबन्ध के अन्त में, मैं भारत के एक महान्तम इतिहासकार श्री विंसेण्ट स्मिथ का यह कथन उद्धृत करूँगा—'जैन इतिहास में हमें धार्मिक उत्पीड़न का एक भी उदाहरण नहीं मिलता।'[1] जैन संस्कृति की यह प्रशंसनीय उपलब्धि है।

१ There is not a single instance of religious persecution in the annals of Jaina history.

निशीथ और विनयपिटक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

मुनिश्री नगराजजी

भारतीय इतिहास का व्यवस्थित रूप भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध के काल से बनता है। दोनों ही युग-पुरुषों की वाणी के संकलन गणिपिटक (जैनागम) और त्रिपिटक (बौद्धागम) जहाँ धर्म-साधना के प्रेरक ग्रन्थ हैं, वहाँ वे पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की सामाजिक, राजनैतिक व आर्थिक स्थितियों का ब्यौरा देने वाले इतिहास-ग्रन्थ भी हैं। जैनागमों और बौद्धागमों का संयुक्त-अध्ययन तो दोनों परम्पराओं के ऐतिहासिक सम्बन्धों पर व उनके सम और विषम स्वरूपों पर अनोखा प्रकाश डालता है। गवेषक उससे बहुत सारे नये तथ्य आसानी से पा सकते हैं। निशीथ और विनयपिटक जैन और बौद्ध परम्पराओं के समकक्ष ग्रन्थ हैं। दोनों का ही विषय प्रायश्चित्त-विधान है। उनका तुलनात्मक अध्ययन रोचक ही नहीं, अपितु ज्ञानवर्धक भी होगा, ऐसी आशा है।

निशीथ

जैन आगम प्रचलित विभाग-क्रम के अनुसार चार प्रकार के हैं—अंग, उपांग, मूल और छेद। छेद-विभाग में निशीथ एक प्रमुख आगम है। इसकी अपनी कुछ स्वतन्त्र विशेषताएं हैं। इसका अध्ययन वही साधु कर सकता है, जो तीन वर्ष से दीक्षित हो और गाम्भीर्य गुणोपेत हो। प्रौढ़ता की दृष्टि से कक्षा में बाल वाला १६ वर्ष का साधु ही निशीथ का वाचक हो सकता है।[1] निशीथ का ज्ञाता हुए बिना कोई साधु अपने सम्बन्धियों के घर भिक्षार्थ नहीं जा सकता[2] और न वह उपाध्यायादि पद के उपयुक्त भी माना जा सकता है।[3] साधु-मण्डली का अगुआ होने में और स्वतन्त्र विहार करने में भी निशीथ का ज्ञान आवश्यक माना गया है।[4] क्योंकि निशीथज्ञ हुए बिना कोई साधु प्रायश्चित्त देने का अधिकारी नहीं हो सकता। इन सारे विधि-विधानों से निशीथ की महत्ता भली-भाँति व्यक्त हो जाती है।

रचनाकाल और रचयिता

परम्परागत धारणाओं के अनुसार सभी आगम भगवान् श्री महावीर की वाणीरूप हैं। अंग आगमों का संकलन पंचम गणधर व भगवान् श्री महावीर के उत्तराधिकारी श्री सुधर्मास्वामी के द्वारा हुआ। अंगेतर आगमों का संकलन बहुश्रुत व ज्ञान-स्थविर मुनियों द्वारा हुआ। निशीथ भी अंगेतर आगम है; अतः वह स्थविरकृत है, ऐसा कहा जा सकता है। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह भगवान् महावीर की वाणी से कहीं दूर चला गया है। अर्थागम रूप से सभी आगम भगवत्प्रणीत हैं। सूत्रागम रूप से वे गणधरकृत या स्थविरकृत हैं। आगम-प्रणेता स्थविर भी पूर्वधर होते हैं। उनका प्रणयन उतना ही मान्य है, जितना गणधरों का। अब प्रश्न रहता है, रचयिता के नाम और रचनाकाल का। भाष्य, चूर्णि व निर्युक्ति से रचयिता के सम्बन्ध में अनेक अभिमत निकलते हैं। निशीथ का अन्य नाम **'आचार प्रकल्प'** व **'आचा-**

---

१ निशीथ चूर्णि गा० ६२६५; व्यवहार भाष्य, उद्देशक ७, गा० २०२-३; व्यवहार सूत्र, उद्देशक १०, गा० २०-२१
२ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ६, सू० २, ३
३ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सू० ३
४ व्यवहार सूत्र, उद्देशक ३, सू० १

राग्र' है। आचारांग चूर्णि के रचयिता ने इस सम्बन्ध से चर्चा करते हुए 'स्थविर' शब्द का अर्थ गणधर किया है।[1] आचारांग निर्युक्ति की **थेरेहिं** (गा० २८७) के 'स्थविर' शब्द की व्याख्या शिलांक ने इस प्रकार की है—**'स्थविरैः श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः**। यहाँ श्रुतवृद्ध, चतुर्दशपूर्वधर मुनि को स्थविर कहा है। पंचकल्प भाष्य की चूर्णि में बताया गया है—इस 'आचार-प्रकल्प' का प्रणयन भद्रबाहु स्वामि ने किया है। निशीथसूत्र की कतिपय प्रशस्ति-गाथाओं के अनुसार इसके रचयिता विशाखाचार्य प्रमाणित होते हैं।[2] इस प्रकार निशीथ के सम्बन्ध से किसी एक ही कर्ता-विशेष को पकड़ पाना कठिन है। तत्सम्बन्धी मतभेदों का कारण निशीथ की अपनी अवस्थिति भी हो सकती है। ऐतिहासिक गवेषणाओं से यह स्पष्ट होता है कि निशीथसूत्र प्रारम्भ में आचारांग सूत्र की चूला-रूप था। ऐतिहासिक आधारों से यह भी स्पष्ट होता है कि आचारांग स्वयं प्रथम नव अध्ययनों तक ही गणधर-रचित द्वादशांगी का प्रथम अंग था; क्रमशः स्थविरों ने इसके आचार-सम्बन्धी विधि-विधानों का पल्लवन किया और प्रथम, द्वितीय, तृतीय चूलिकाओं के रूप में उन्हे इस अंग के साथ संलग्न किया। साधुजन आचार-सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करे तो उनके लिए प्रायश्चित्त-विधान का एक स्वतन्त्र प्रकरण स्थविरों ने बनाया और चूला के रूप में आचारांग के साथ जोड़ दिया। यह प्रकरण नवें पूर्व के 'आचारवस्तु' नाम के विभाग से निकाला गया था। इसका विषय आचारांग से सम्बन्धित था, अतः वहीं वह एक चूला के रूप में संयुक्त किया गया। निशीथ का एक नाम **'आचार'** भी है; हो सकता है, वह इसी बात का प्रतीक हो। आगे चल कर स्थविरों द्वारा गोप्यता आदि कारणों से वह चूला आचारांग से पुनः पृथक् हो गई। उसका नाम निशीथ रखा गया और वह निशीथ एक स्वतन्त्र आगम के रूप में छेद-सूत्र का एक प्रमुख अंग बन गया। कर्ता के सम्बन्ध में नाना धारणाएं चूर्णि और भाष्य में मिल रही हैं। विभिन्न अपेक्षाओं से हो सकता है, वे सभी सही हों। इस घटनात्मक इतिहास में किसी अपेक्षा से उसके कर्ता भद्रबाहु मान लिये गए हों और किसी अपेक्षा से विशाखाचार्य मान लिये गए हों।

ऐतिहासिक दृष्टिपात से निशीथसूत्र का रचनाकाल बहुत प्राक्तन प्रमाणित होता है। विद्वद्वर श्री दलसुख मालवणिया के मतानुसार[3]—यह भद्रबाहुकृत हो या विशाखाचार्य-कृत, वीर-निर्वाण से १५० व १७५ वर्षों के अन्तर्गत ही रचा जा चुका था। अस्तु, यह माना जा सकता है, यह ग्रन्थ अर्थागम रूप से २५०० वर्ष तथा सूत्रागम रूप से २३०० वर्ष प्राचीन है।

'निशीथ' शब्द का अभिप्राय

निशीथ शब्द का मूल आधार **'निसीह'** शब्द है। कुछेक ग्रन्थकारों ने **'णिसिहिय,' 'णिसीहिय'** और **'णिसेहिय'** नाम से इस आगम को अभिव्यक्त किया है तथा इसका सम्बन्ध संस्कृत के 'निषिद्धिका' शब्द से जोड़ा है। इसका अभिप्राय होता है, निषेधक शास्त्र। यह व्याख्या मुख्यतः दिगम्बरीय धवला, जय धवला, गोम्मटसारटीका आदि ग्रन्थों की है।

---

१ एयाणि पुण आयारग्गाणि आयारा चेव निज्जूढाणि।
केण णिज्जूढाणि ? थेरेहिं (२८७) थेरा—गणधराः।
—आचारांग चूर्णि, पृ० ३३६

२ दंसणचरित्तजुत्तो, जुत्तो गुत्तीसु सज्जणहिएसु।
नामेण विसाहगणी, महत्तरओ गुणाण मंजूसा ॥१॥
कित्तीकंतिपिणद्धो, जसपत्तो (दो) पड़हो तिसागरनिरूद्धो।
पुणरूत्तं भमई महिं, ससिव्व गगणं गुणं तस्स ॥२॥
तस्स लिहियं निसीहं, धम्मधुरावरणपवरपुज्जरस।
आरोग्गं धारणिज्जं, सिस्सपसिस्सोवभोज्जं च ॥३॥
—निशीथसूत्रम्, चतुर्थ विभाग, पृ० ३९५

३ निशीथ सूत्रम्, चतुर्थ भाग में, 'निशीथः एक अध्ययन', प० २५

पश्चिमी विद्वान् वेबर ने भी इसी अर्थ को मान्यता दी है।[१]

तत्त्वार्थ भाष्य में **'निसीह'** शब्द का संस्कृत-रूप **'निशीथ'** माना है। निर्युक्तिकार ने भी यही अर्थ अभिप्रेत माना है। चूर्णिकार के मतानुसार निशीथ शब्द का अर्थ है—अप्रकाश।[२] आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं, **'निशीथस्तवर्धरात्रो'**[३] अर्थात् निशीथ शब्द का अर्थ है—अर्ध रात्रि। सारांश यह हुआ, एक परम्परा के अनुसार इस आगम का नाम है 'निषेधक,' तो एक मान्यता के अनुसार इसका नाम है, 'अप्रकाश्य'। निशीथसूत्र के अन्तर्गत जो विषय है उसके साथ दोनों ही नामों की संगति बैठ सकती है। सभा में इसका वाचन न किया जाये, इस चिरमान्यता के अनुसार वह अप्रकाश्य ही है। और इसमें अकरणीय कार्यों की तालिका है, अतः यह निषेधक भी है। फिर भी यथार्थ रूप में निषेधक आगम आचारांग को ही मानना चाहिए, जिसकी भाषा है—साधु ऐसा न करें।

निशीथसूत्र की भाषा आदि से अन्त तक एकरूप है और वह यह कि साधु अमुक कार्य करे तो अमुक प्रकार का प्रायश्चित्त। इस दृष्टि से 'निषेधक' की अपेक्षा 'अप्रकाश्य' अर्थ यथार्थता के कुछ अधिक निकट हो जाता है। निशीथ में कामभावना-सम्बन्धी कुछेक प्रकरण ऐसे हैं जो सचमुच ही गोप्य हैं। इस दृष्टि से भी उसका 'अप्रकाश्य' अर्थ संगत ही है।

मूल और विस्तार

निशीथसूत्र मूलतः न अतिविस्तृत है, न अति संक्षिप्त। इसमें बीस उद्देशक हैं। प्रत्येक उद्देशक का विषय कुछ सम्बद्ध है, कुछ प्रकीर्णक है। अन्तिम उद्देशक में प्रायश्चित्त करने के प्रकारों पर प्रकाश डाला गया है। भाषा अन्य जैन आगमों की तरह अर्धमागधी है। बहुत स्थलों पर भाव अति संक्षिप्त है। उनकी यथार्थता को समझने के लिए अपेक्षाएं खोजनी पड़ती हैं। उदाहरणार्थ—'जो साधु अपने आँखों के मैल को, कानों के मैल को, दाँतों के मैल को व नाखूनों के मैल को निकालता है, विशुद्ध करता है, निकालते व विशुद्ध करते किसी अन्य को अच्छा समझता है, तो उसे लघु मासिक प्रायश्चित्त आता है। जो साधु अपने शरीर का स्वेद, विशेष स्वेद, मैल, जमा हुआ मैल निकाले, शुद्ध करे, निकालते हुए को, विशुद्ध करते हुए को अच्छा जाने, तो वह मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।[४] जो साधु दिन का लाया हुआ आहार दिन को भोगवे, तो वह गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त का भागी होता है।'[५] यहाँ शोभा, आसक्ति, 'प्रथम प्रहर का चतुर्थ प्रहर में' आदि निमित्त ऊपर से न जोड़े जायें तो भाव बुद्धि-गम्य नहीं बनते। बीस उद्देशकों में कुछ मिलाकर १६५२ बोल हैं, अर्थात् इतने कार्यों पर प्रायश्चित्त-विधान है।

भाव-भाषा संक्षिप्त है, इसलिए आगे चलकर आचार्यों द्वारा इस पर चूर्णि, निर्युक्ति, भाष्य आदि लिखे गए। इस प्रकार कुछ मिलाकर यह एक महाग्रन्थ बन जाता है। तथापि आगम रूप से मूल निशीथ ही माना जाता है। व्याख्याएं कहीं-कहीं तो मूल आगम की भावना से बहुत ही दूर चली गई हैं। अतः वे जैन परम्परा में सर्वमान्य नहीं हैं। परन्तु प्रस्तुत निबन्ध में मूल आगम ही विवेचन और समीक्षा का विषय है।

---

१ This name (निसीह) is explained strangely enough by Nishitha though the character of the contents would lead us to expect Nisheda (निषेध)

—इन्डियन एण्टीक्वेरी, भा० २१, पृ० ९७

२ **णिसीहमप्रकाशम्।**

—निशीथ चूर्णि, गाथा ६८, १४८३

३ **अभिधानचिन्तामणिनाममाला, द्वितीय काण्ड, श्लोक ५९**

४ **निशीथसूत्र, उद्देशक ३, बोल ६९-७०**

५ **वही, उद्देशक ११, बोल १७९**

विनयपिटक

बौद्ध धर्म के आधारभूत तीन पिटकों में एक विनयपिटक है। पारम्परिक धारणाओं के अनुसार बुद्ध-निर्वाण के अनन्तर ही महाकाश्यप के तत्त्वावधान में प्रथम बौद्ध संगीति हुई और वहीं त्रिपिटक साहित्य का प्रथम प्रणयन हुआ। विनयपिटक के अन्तिम प्रकरण 'चुल्लवग्ग' में विनयपिटक की रचना का ब्यौरा निम्न प्रकार से दिया है[1] :

तब आयुष्मान् महाकश्यप ने भिक्षुओं को सम्बोधित किया—'आवुसो ! एक समय मैं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ पावा और कुसीनारा के बीच रास्ते में था। तब आवुसो ! मार्ग से हटकर मैं एक वृक्ष के नीचे बैठा। उस समय एक आजीवक कुसीनारा से मन्दार का पुष्प लेकर पावा के रास्ते में जा रहा था। आवुसो ! मैंने दूर से ही आजीवक को आते देखा। देखकर उस आजीवक से यह कहा—"आवुस ! हमारे शास्ता को जानते हो ?"

"हाँ आवुसो ! जानता हूँ, आज सप्ताह हुआ, श्रमण गौतम परिनिर्वाण को प्राप्त हुआ। मैंने यह मन्दारपुष्प वहीं से लिया है।" आवुसो ! वहाँ जो भिक्षु अवीतराग (=वैराग्य वाले नहीं) थे; (उनमें) कोई-कोई बाँह पकड़ कर रोते थे। कटे पेड़ के सदृश गिरते थे, लोटते थे—भगवान् बहुत जल्दी परिनिर्वाण को प्राप्त हो गए। किन्तु जो वीतराग भिक्षु थे, वे स्मृति सम्प्रजन्य के साथ स्वीकार (=सहन) करते थे—संस्कार (=कृत वस्तुएं) अनित्य हैं, वह कहाँ मिलेगा !"

"उस समय आवुसो ! सुभद्र नामक एक वृद्ध प्रव्रजित उस परिषद् में बैठा था। तब वृद्ध प्रव्रजित सुभद्र ने उन भिक्षुओं को यह कहा—'आवुसो ! मत शोक करो, मत रोओ। हम सुयुक्त हो गए। उस महाश्रमण से पीड़ित रहा करते थे। यह तुम्हें विहित नहीं है। अब हम जो चाहेंगे सो करेंगे, जो नहीं चाहेंगे उसे न करेंगे।" अच्छा हो आवुसो ! हम धर्म और विनय का संगान (=साथ पाठ) करें, सामने अधर्म प्रकट हो रहा है, धर्म हटाया जा रहा है; अविनय प्रकट हो रहा है, विनय हटाया जा रहा है। अधर्मवादी बलवान् हो रहे हैं, धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं, विनयवादी हीन हो रहे हैं।"

"तो भन्ते ! (आप) स्थविर भिक्षुओं को चुनें।" तब आयुष्यमान् महाकाश्यप ने एक कम पाँच सौ अर्हत् चुने। भिक्षुओं ने आयुष्यमान् महाकाश्यप से कहा :

"भन्ते ! यह आनन्द यद्यपि शैक्ष्य (अन्-अर्हत्) है, (तो भी) छन्द (=राग) द्वेष, मोह, भय, अगति (=बुरे मार्ग) पर जाने के अयोग्य है। इन्होंने भगवान् के पास बहुत धर्म (=सूत्र) और विनय प्राप्त किया है, इसलिए भन्ते ! स्थविर आयुष्मान् को भी चुन लें।"

तब आयुष्मान महाकाश्यप ने आयुष्यमान् आनन्द को भी चुन लिया। तब स्थविर भिक्षुओं को यह हुआ—'कहाँ हम धर्म और विनय का संगायन करें ?' तब स्थविर भिक्षुओं को यह हुआ—

"राजगृह महागोचर (=समीप में बहुत वस्ती वाला) बहुत शयनासन (वास-स्थान) वाला है, क्यों न राजगृह में वर्षावास करते हम धर्म और विनय का संगायन करें। (किन्तु) दूसरे भिक्षु राजगृह मत जावें। तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया :

ज्ञप्ति—"आवुसो ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है, तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास करते धर्म और विनय का संगायन करने की सम्मति दे। और दूसरे भिक्षुओं को राजगृह में नहीं बसने की।" यह ज्ञप्ति (=सूचना) है।

अनुश्रावण—"भन्ते ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है। जिस आयुष्मान् को इन पाँच सौ भिक्षुओं का संगायन करना, और दूसरे भिक्षुओं का राजगृह में वर्षावास न करना पसन्द हो, वह चुप रहे; जिसको नहीं पसन्द हो, वह बोले।

"दूसरी बार भी०।

"तीसरी बार भी०।

---

१ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, पञ्चशतिका-स्कन्धक

धारणा—'संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं के तथा दूसरे भिक्षुओं के राजगृह में वास न करने से सहमत है, संघ को पसन्द है, इसलिए चुप है—यह धारणा करता हूँ।"

तब स्थविर भिक्षु धर्म और विनय के संगायन करने के लिये राजगृह गए। तब स्थविर भिक्षुओं को हुआ—

"आवुसो ! भगवान् ने टूटे-फूटे की मरम्मत करने को कहा है। अच्छा आवुसो ! हम प्रथम मास में टूटे-फूटे की मरम्मत करें, दूसरे मास में एकत्रित हो धर्म और विनय का संगायन करें।"

तब स्थविर भिक्षुओं ने प्रथम मास में टूटे-फूटे की मरम्मत की।

आयुष्मान् आनन्द ने—बैठक (=सन्निपात) होगी, यह मेरे लिए उचित नहीं कि मैं शैक्ष्य रहते ही बैठक में जाऊँ। (सोच) बहुत रात तक काय-स्मृति में बिताकर, रात के भिनसार को लेटने की इच्छा से शरीर को फैलाया, भूमि से पैर उठ गए, और सिर तकिया पर न पहुँच सका। इसी बीच में चित्त आस्रवों (=चित्तमलों) से अलग हो, मुक्त हो गया। तब आयुष्मान् आनन्द अर्हत् होकर ही बैठक में गये।

आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया—

"आवुसो ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है तो मैं उपालि से विनय पूछूं ?"

आयुष्मान् उपालि ने भी संघ को ज्ञापित किया—

"भन्ते ! संघ सुने, यदि संघ को पसन्द है, तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप से पूछे गए विनय का उत्तर दूं ?"

अब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् उपालि को कहा—

"आवुस उपालि ! प्रथम-पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गई ?"—"राजगृह में भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"सुदिन्न कलन्द-पुत्त को लेकर।"

"किस बात में ?"—"मैथुन-धर्म में।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् उपालि को प्रथम पाराजिका की वस्तु (=कथा) भी पूछी, निदान (=कारण) भी पूछा, पुद्गल (=व्यक्ति) भी पूछा, प्रज्ञप्ति (=विधान) भी पूछी, अनुप्रज्ञप्ति (=सम्बोधन) भी पूछी, आपत्ति (=दोष-दण्ड) भी पूछी, अन्-आपत्ति भी पूछी।

"आवुस उपालि ! द्वितीय पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?"—"राजगृह में, भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"धनिय कुम्भकार-पुत्र को।"

"किस वस्तु में ?" "अदत्तादान (=चोरी) में।"

तब आयुष्मान् महाकश्यप ने आयुष्मान उपालि को द्वितीय पाराजिका की वस्तु (=कथा) भी पूछी, निदान भी० अनापत्ति भी पूछी।"आवुस उपाली ! तृतीय पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?"—"वैशालि में, भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"बहुत से भिक्षुओं को लेकर।"

"किस वस्तु में ?"—"मनुष्य-विग्रह (=नर-हत्या) के विषय में।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने०।—

"आवुस उपालि ! चतुर्थ पाराजिका कहाँ प्रज्ञापित हुई ?" | "वैशाली में, भन्ते !"

"किसको लेकर ?"—"वग्गु-मुदा-तीरवासी भिक्षुओं को लेकर।"

"किस वस्तु में ?"—"उत्तर-मनुष्य-धर्म (=दिव्य-शक्ति) में।"

तब आयुष्मान् काश्यप ने०। इसी प्रकार से दोनों। भिक्षु, भिक्षुणी के विनय को पूछा। आयुष्मान् उपालि पूछे का उत्तर देते थे।"

ऐतिहासिक दृष्टि से

प्राचीन धर्म-ग्रन्थों के रचना-सम्बन्ध से पारम्परिक कथन और गवेषणात्मक ऐतिहासिक कथन बहुधा भिन्न-

भिन्न ही तथ्य प्रस्तुत करते हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ विनयपिटक की भी, यही स्थिति है। कुछ-एक विद्वानों की राय में तो प्रथम संगीति की बात ही निर्मूल है। ओल्डनबर्ग का कथन है कि 'महापरिनिव्वाणसुत्त' में उक्त संगीति के विषय में कोई उल्लेख नहीं है। अतः इसकी बात एक कल्पना-मात्र ही रह जाती है।[१] फ्रेंक भी इसी बात का समर्थन करते हैं—'प्रथम संगीति को मानने का आधार केवल चुल्लवग्ग ग्यारहवाँ, बारहवाँ प्रकरण है। यह आधार नितान्त पारस्परिक है और इसका महत्त्व मनगढ़न्त कथा से अधिक नहीं है।'[२] परन्तु डा० हर्मन जेकौबी उक्त कथन से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है, महापरिनिव्वाणसुत्त में इस प्रसंग का उल्लेख करना कोई आवश्यक ही नहीं था।[३] कुछ विद्वान् यह भी मानते हैं कि चुल्लवग्ग के उक्त दो प्रकरण वस्तुतः महापरिनिव्वाणसुत्त के ही अंग थे और किसी समय चुल्लवग्ग के प्रकरण बना दिये गए हैं।[४] वस्तुस्थिति यह है कि चुल्लवग्ग के उक्त दो प्रकरण भाव-भाषा की दृष्टि से उसके साथ नितान्त असम्बद्ध से हैं। महापरिनिव्वाणसुत्त के साथ भाव-भाषा की दृष्टि से उनका मेल अवश्य बैठता है। 'संयुक्तवस्तु' नामक ग्रन्थ में परिनिर्वाण और संगीति का वर्णन एक साथ मिलता है। इससे यह यथार्थ माना जा सकता है कि उक्त दो प्रकरण 'महापरिनिव्वाणसुत्त' के ही अंग रूप थे। इन आधारों से संगीति की वास्तविकता संदिग्ध नहीं मानी जा सकती, पर उस संगीति के कार्यक्रम के विषय में अवश्य कुछ चिन्तनीय रह जाता है। उस संगीति में क्या-क्या संगृहीत हुआ इस सम्बन्ध से विद्वत्-समाज में अनेक धारणाएं हैं। प्रो० जी० सी० पाण्डे के कथनानुसार विनयपिटक व सुत्तपिटक का समग्र प्रणयन उस सीमित समय में हो सका, यह असम्भव है।[५] निष्कर्ष-रूप में यह कहा जा सकता है कि विनयपिटक में दो संगीतियों का उल्लेख है, पर तीसरी संगीति का नहीं; जिसका समय ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी का माना जाता है। सम्राट् अशोक का भी इसमें कोई वर्णन नहीं है, जो कि ईस्वी-पूर्व २६९ में राजगद्दी पर बैठे थे।[६] अतः इससे पूर्व ही विनयपिटक का निर्माण हो चुका था, यह असंदिग्ध-सा रह जाता है। विनयपिटक का वर्तमान विस्तृत स्वरूप प्रो० जी० सी० पाण्डे के मतानुसार कम-से-कम पाँच बार अभिवर्धित होकर ही बना है।[७]

निशीथसूत्र का रचनाकाल भगवान् महावीर के निर्वाण-काल से १५० या १७५ वर्ष के लगभग प्रमाणित होता है, जो कि ईस्वी-पूर्व ३७५ या ३५० का समय था। विनयपिटक का समय ई०-पू० ३०० के लगभग का प्रमाणित होता है। तात्पर्य हुआ, दोनों ही ग्रन्थ ई०-पू० चौथी शताब्दी के हैं।

भाषा-विचार

जैन आगमों की भाषा अर्धमागधी और बौद्ध त्रिपिटकों की भाषा पालि कही जाती है। दोनों ही भाषाओं का मूल मागधी है। किसी युग में यह प्रदेश-विशेष की लोकभाषा थी। आज भी बिहार की बोलियों में एक का नाम मगही है। भगवान् श्री महावीर का जन्म-स्थान वैशाली (उत्तर-क्षेत्रीय कुण्डपुर) और भगवान् बुद्ध का जन्म-स्थान लुम्बिनी था। दोनों स्थानों में सीधा अन्तर दो सौ पचास मील का माना जाता है। आज भी दोनों स्थानों की बोली लगभग एक है। वैशाली की बोली पर कुछ मैथिली भाषा का और लुम्बिनी (नेपाल की तराई में रुम्मिनदेई नाम का गाँव) की बोली पर अवधी भाषा का प्रभाव है। दोनों स्थानों की भाषा मुख्यतः भोजपुरी कही जाती है। आज की मगही और भोजपुरी को विद्वान् प्राचीन मागधी की सन्तान मानते हैं। हो सकता है भगवान् महावीर और भगवान् बुद्ध दोनों की मातृभाषा

१ Introduction to the Vinya Pitaka XXV—XXIX. Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellshaft, 1898, pp. 613-94.

२ Journal of the Pali Text Society, 1908, pp. 1-80.

३ Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft, 1880, p. 184ff

४ Finst & Obermiler, Indian Historical Quarterly, 1923; S. K. Dutt, Early Buddhist Monachism, p. 337

५ Studies in the Origins of Buddhism, p. 10

६ History of Buddhist Thought by Edward J. Thomas, p. 10

७ Studies in the Origins of Buddhism by, G. C. Pande, p. 16.

एक मागधी ही रही हो। शास्त्रकारों ने इसे अर्धमागधी कहा है।[1]

अर्धमागधी कहलाने के अनेक कारण माने जाते हैं, प्रदेश-विशेष में बोला जाना, अन्य भाषाओं से मिश्रित होना[2], आगमधरों का विभिन्न भाषा-भाषी होना आदि।

जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं के आगम शताब्दियों तक मौखिक परम्परा से चलते रहे। बौद्धागम २४ और जैनागम २६ पीढ़ियाँ बीत जाने के पश्चात् लिखे गए हैं। तब तक आगमधरों की मातृभाषा का प्रभाव उन पर पड़ता ही रहा है। आगमों की लेखबद्धता से भाषाओं के जो निश्चित रूप बने हैं,वे एक-दूसरे से कुछ भिन्न हैं। एक रूप का नाम पालि है और दूसरे रूप का नाम अर्धमागधी। दोनों विभिन्न कालों में लिखे गए, इसलिए भी भाषा-सम्बन्धी अन्तर पड़ जाना सम्भव था। भगवान् बुद्ध के वचनों को पालि[3] कहा गया है। इसलिए जिस भाषा में वे लिखे गए, उस भाषा का नाम भी पालि हो गया। समग्र आगम साहित्य के साथ निशीथ और विनयपिटक का भी यही भाषा-विचार है। निम्न दो उदाहरणों से दोनों शास्त्रों की भाषा और शैली और अधिक समझी जा सकती है कि वे परस्पर कितनी निकट हैं :

"जे भिक्खू णवे इमे पडिग्गहं लद्धे त्तिकट्टु, तेलेण वा, घएण वा, णवणीएण वा,
वसाएज्ज वा, मंखेज्ज वा, भिलिंगेज्ज वा, मक्खंतं वा, भिलिगंतं वा, साइज्जइ ॥
जे भिक्खू णमे इवे पडिग्गहं लद्धे त्तिकट्टु लोद्धेण वा कक्केण वा, चुण्णेण वा,
ण्हाणेण वा, जाव साइज्जइ ॥
जे भिक्खू णमे इवे पडिग्गहं लद्धे त्तिकट्टु, सीउदग वियडेण वा, उसिणोदग वियडेण
वा उच्छोलेज्ज वा, पधोवेज्ज वा, उच्छोलंतं वा, पधोवंतं वा, साइज्जइ ॥"[4]

'जो साधु मुझे नवा पात्र मिला है,ऐसा विचार कर उस पर तेल, घृत, मक्खन, चरबी एक बार लगावे, बारम्बार लगावे, लगाने को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त। जो साधु नवा पात्र मिला है, ऐसा विचार कर उसे लोद्रक, कोष्टक पद्म-चूर्ण, आदि द्रव्यों से रँगे, रँगने को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त। जो साधु मुझे नवा पात्र मिला है ऐसा विचार कर उसे अचित्त (धोवण) ठंडे पानी कर, अचित्त गरम पानी कर धोवे, बारम्बार धोवे, धोते को अच्छा जाने, उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।'

"यो पन भिक्खु जातरूपरजतं उग्गण्हेय्य वा उग्गण्हापेय्य वा
उपनिक्खित्तं वा सादियेय्य, निस्सग्गियं पाचित्तियं ति।
यो पन भिक्खु नानप्पकारकं रूपियसंवोहारं समापज्जेय्य, निस्सग्गियं पचित्तियं ति।"[5]

'जो कोई भिक्षु सोना या रजत (चाँदी आदि के सिक्के) को ग्रहण करे या ग्रहण करावे या रखे हुए का उपयोग करे, तो उसे 'निस्सग्गिय पाचित्तिय है।

जो कोई भिक्षु नाना प्रकार के रुपयों (=रूपिय=सिक्का) का व्यवहार करे, उसको 'निस्सग्गिय पाचित्तिय है।'

---

१ भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।

—समवायांग सूत्र, पृ० ६०

तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णो भिंभिसारपुत्तस्स······अद्धमागहाए भासाए भासइ······सावि य णं अद्धमागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणे सभासाए परिणामेणं परिणमइ······

—औपपातिक सूत्र

२ मगदद्धविसयभासाणिबद्धं अद्धमागहं, अट्ठारसदेसी भासाणिमयं वा अद्धमागहं।

—निशीथ चूर्णि

३ Studies in the Origins of Buddhism by G. C. Pande, p. 573

४ निशीथ सूत्र, उद्देशक १४, बोल १२, १३, १४

५ विनयपिटक, पाराजिक पालि, ४-१८, १२५, १३०

विषय-समीक्षा

'निशीथ' के विषय में आगमिक विधान है—कम-से-कम तीन वर्ष की दीक्षा-पर्याय वाला भिक्षु उसका अध्ययन कर सकता है। निशीथ व अन्य छेद-सूत्र गोप्य हैं। अतः उनका परिषद् में वाचन नहीं होता और न कोई गृहस्थ विशेष सूत्रागम रूप से उसे पढ़ने का अधिकारी होता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार विनयपिटक के विषय में भी यह मान्यता है कि वह संघ में दीक्षित भिक्षु को ही पढ़ाया जाना चाहिए।[1]

साधारणतया इस प्रतिबन्ध विधान को अनावश्यक और संकीर्णता का द्योतक माना जा सकता है, किन्तु वास्तव में इसके पीछे एक अर्थपूर्ण उद्देश्य सन्निहित है। इन ग्रन्थों में मुख्यतया भिक्षु-भिक्षुणियों के प्रायश्चित्त-विधान की चर्चा है। संघ है, वहाँ नाना व्यक्ति हैं। नाना व्यक्ति हैं, वहाँ नाना स्थितियाँ भी होती हैं। भगवान् श्री महावीर ने कहा—आचार-दृष्टि से एक साधु पूर्णिमा का चाँद है तो एक प्रतिपदा का। तात्पर्य हुआ—भिक्षु-संघ का अभियान साधना की उच्चतम मंजिल की ओर बढ़ने वाला है। पर उस अभियान के सभी सदस्य अपनी गति में कुछ भी न्यूनाधिक न हों, यह स्वाभाविक नहीं है। एक साथ चलने वालों में कोई पीछे भी रह सकता है, कोई लड़खड़ा भी सकता है और कोई गिर भी सकता है; गिरा हुआ पुनः उठ कर चल भी सकता है। इन सारी स्थितियों को ध्यान में रखते हुए संघ-प्रवर्तकों और संघ-नायकों को अनुभूत और आशंकित विधि-विधान सभी बड़ देने पड़ते हैं। अप्रौढ़ व्यक्ति के लिए उन सबका अध्ययन नाना विचिकित्साएं पैदा करने वाला बन सकता है। वह उसे संघ के नैतिक पतन का ऐतिहासिक ब्यौरा मान सकता है। इत्यादि कारणों से शास्त्र-प्रणेताओं ने यदि इस प्रकार के शास्त्रों को पढ़ने की आज्ञा सर्वसाधारण को नहीं दी, तो वह किसी असंगति का प्रभाव नहीं है। उनका ध्येय पाप को छिपाने का नहीं, पाप के विस्तार को रोकने का है।

निशीथ और विनयपिटक दोनों ही शास्त्रों में अब्रह्मचर्य के नियमन पर खुल कर लिखा गया है। साधारण दृष्टि में वह असामाजिक जैसा भले ही लगता हो; पर शोध के क्षेत्र में गवेषक विद्वानों के लिए विधि-विधान व चिन्तन के नाना द्वार खोलने वाले हैं।

निशीथसूत्र के ब्रह्मचर्य सम्बन्धी कुछेक विधान इस प्रकार हैं :

१. जो साधु हस्तकर्म करता है, करने को अच्छा समझता है; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[2]
२. जो साधु अंगुलि आदि से शिश्न को संचालित करे, करते को अच्छा समझे; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[3]
३. जो साधु शिश्न का मर्दन करे, बारम्बार मर्दन करे, मर्दन करने को अच्छा जाने; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[4]
४. जो साधु शिश्न का तेल आदि से मर्दन करे, करते को अच्छा समझे; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[5]
५. जो साधु शिश्न पर पीठी करे, करने को अच्छा समझे; उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[6]
६. जो साधु शिश्न का शीत या उष्ण पानी से प्रक्षालन करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[7]
७. जो साधु शिश्न के अग्रभाग को उद्घाटित करे, करने को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त।[8]

---

१ विनयपटिक, पाराजिक पालि, आमुख, ले०—भिक्षु जगदीश काश्यप, पृ० ६
२ निशीथसूत्र, उद्देशक १, बोल १
३ वही, उद्देशक १, बोल २
४ वही, उद्देशक १, बोल ३
५ वही, उद्देशक १, बोल ४
६ वही, उद्देशक १, बोल ५
७ वही, उद्देशक १, बोल ६
८ वही, उद्देशक १, बोल ७

८. जो साधु शिश्न को सूंघता है, सूंघने को अच्छा समझता है, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[1]
९. जो साधु शिश्न को अचित्त छिद्र-विशेष में प्रक्षिप्त कर शुक्रपात करे, करते को अच्छा समझे, उसे गुरु मासिक प्रायश्चित्त ।[2]

स्त्रियों के सम्बन्ध में कुछ एक विधान इस प्रकार किये गए हैं :

१. जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की प्रार्थना करे, करने को अच्छा समझे; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[3]
२. जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री के जननेन्द्रिय में अंगुलि आदि डाले, डालने को अच्छा समझे; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[4]
३. जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से शिश्न का मर्दन कराये, कराते को अच्छा समझे; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[5]
४. जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की इच्छा कर लेख लिखे या लिखने को अच्छा जाने; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[6]
५. जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री से सम्भोग की इच्छा कर अठारहसरा, नौसरा, मुक्तावलि, कनकावलि आदि हार व कुण्डल आदि आभूषण धारण करे, करते को अच्छा समझे; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[7]
६. जो साधु माता-समान इन्द्रियों वाली स्त्री को सम्भोग की इच्छा से शास्त्र पढ़ावे तथा पढ़ाने को अच्छा समझे; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[8]
७. जो साधु अपनी गच्छ की साध्वी तथा अन्य गच्छ की साध्वी के साथ विहार करता हुआ कभी आगे-पीछे रहे, तब साध्वी के वियोग से दुःखित होकर हथेली पर मुँह रखकर आर्त्त ध्यान करे, करने को अच्छा समझे; उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त ।[9]

इस प्रकार निशीथ उद्देशक छः, सात व आठ में अनेकानेक विधान अब्रह्मचर्य के सम्बन्ध से लिखे गए हैं।

विनयपिटक में अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी विधान

निशीथसूत्र की शैली के ही विनयपिटक में अब्रह्मचर्य-सम्बन्धी मुक्त विधान मिलते हैं :

१. जो भिक्षु भिक्षु-नियमों से युक्त होते हुए भी अन्ततः पशु से भी मैथुन धर्म का सेवन करे, वह 'पाराजिक' होता है तथा भिक्षुओं के साथ न रहने लायक होता है।[10]
२. स्वप्न के अतिरिक्त जान-बूझकर शुक्र-(वीर्य) मोचन करना 'संघादिसेस' है।[11]

---

१ निशीथसूत्र, उद्देशक १, बोल ८
२ वही, उद्देशक १, बोल ९
३ वही, उद्देशक ६, बोल १
४ वही, उद्देशक ६, बोल २
५ वही, उद्देशक ६, बोल ४
६ वही, उद्देशक ६, बोल १३
७ वही, उद्देशक ७, बोल ८-९
८ वही, उद्देशक ७, बोल ८८
९ वही, उद्देशक ८, बोल ११
१० विनयपिटक, भिक्खु पात्तिमोक्ख, पाराजिक, १-१-२१
११ वही, भिक्खु पात्तिमोक्ख, संघादिसेस, २-१-३

३. किसी भिक्षु का विकारयुक्त चित्त से किसी स्त्री के हाथ या वेणी को पकड़ कर या किसी अंग को छूकर शरीर का स्पर्श करना संघादिसेस है।[1]
४. किसी भिक्षु का विकारयुक्त चित्त से किसी स्त्री से ऐसे अनुचित वाक्यों का कहना, जिनको कि कोई युवती से मैथुन के सम्बन्ध मे कहता है; संघादिसेस है।[2]
५. किसी भिक्षु का वैकारिक चित्त से किसी स्त्री को यह कहना कि सभी सेवाओं में सर्वश्रेष्ठ सेवा यह है कि तू मेरे जैसे सदाचारी, ब्रह्मचारी को सम्भोगिक सेवा दे; संघादिसेस है।[3]

संघादिसेस का तात्पर्य है कुछ दिनों के लिए संघ द्वारा संघ से बहिष्कृत कर देना।

६. जो कोई साधु संघ की सम्मति के बिना भिक्षुणियों को उपदेश दे, उसे 'पाचित्तिय' है।[4]
७. सम्मति होने पर भी जो भिक्षु सूर्यास्त के बाद भिक्षुणियों को उपदेश दे, उसे पाचित्तिय है।[5]
८. जो कोई भिक्षु अतिरिक्त विशेष अवस्था के भिक्षुणी-आश्रम में जाकर भिक्षुणियों को उपदेश करे, तो उसे पाचित्तिय है; विशेष अवस्था से तात्पर्य है—भिक्षुणी का रुग्ण होना।[6]
९. जो कोई भिक्षु भिक्षुणी के साथ अकेले एकान्त में बैठे, उसे पाचित्तिय है।[7]

निशीथसूत्र में भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए ब्रह्मचर्य-सम्बन्धी पृथक्-पृथक् प्रकरण नहीं हैं। भिक्षुओं के लिए जो विधान हैं, वे ही उलटकर भिक्षुणियों के लिए भी समझ लिये जाते हैं।

विनयपिटक में सभी प्रकार के दोषों के लिए 'भिक्खु पातिमोक्ख' और 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' नाम से दो पृथक्-पृथक् प्रकरण हैं। 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' के कुछ विधान इस प्रकार हैं:

१. कोई भिक्षुणी कामासक्त हो, अन्ततः पशु से भी यौन धर्म का सेवन कर लेती है, वह 'पाराजिका' होती है, अर्थात् संघ से निकाल देने योग्य होती है।[8]
२. जो कोई भिक्षुणी किसी पाराजिक दोष वाली भिक्खुणी को जानती हुई भी संघ को नहीं बताती, वह 'पाराजिका' है।[9]
३. जो कोई भिक्षुणी आसक्ति भाव से कामातुर पुरुष के हाथ पकड़ने व चद्दर का कोना पकड़ने का आनन्द ले, उसके साथ खड़ी रहे, भाषण करे या अपने शरीर को उस पर छोड़े, तो वह 'पाराजिका' होती है।[10]

भिक्षुणियाँ यदि दुराचारिणी, बदनाम, निन्दित बन भिक्षुणी-संघ के प्रति द्रोह करतीं और एक-दूसरे के दोषों को ढाँकतीं (बुरे) संसर्ग में रहती हों, तो (दूसरी) भिक्षुणियाँ उन भिक्षुणियों को ऐसा कहें—"भगिनिओ ! तुम सब दुराचारिणी, बदनाम, निन्दित बन, भिक्षुणी-संघ के प्रति द्रोह करती हो और एक-दूसरे के दोषों को छिपाती (बुरे) संसर्ग में रहती हो। भगिनियों का संघ तो एकान्त शील और विवेक का प्रशंसक है।" यदि उनके ऐसे कहने पर वे भिक्षुणियाँ अपने दोषों को छोड़ देने के लिए न तैयार हों, तो वे तीन बार तक उनसे उन्हें छोड़ देने के लिए कहें। यदि तीन बार तक

---

१ विनयपिटक भिक्खु पातिमोक्ख, संघादिसेस, २-२-३७
२ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, संघादिसेस, २-३-५१
३ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, संघादिसेस, २-४-५८
४ वही, पाचित्तिय, २१
५ वही, पाचित्तिय, २२
६ वही, पाचित्तिय, २३
७ वही, पाचित्तिय, ३०
८ वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाराजिक, १
९ वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाराजिक, ६
१० वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाराजिक, ८

कहने पर वे उन्हें छोड़ दें, तो यह उनके लिए अच्छा है, नहीं तो वे भिक्षुणियाँ भी संघादिसेस हैं ।[1]

१. जो भिक्षुणी प्रदीपरहित रात्रि के अन्धकार में अकेले पुरुष के साथ अकेली खड़ी रहे या बातचीत करे, उसे पाचित्तिय है ।[2]

२. जो भिक्षुणी गुह्य स्थान के रोम बनवाये, उसे पाचित्तिय है ।[3]

३. जो भिक्षुणी अप्राकृतिक कर्म करे, उसे पाचित्तिय है ।[4]

४. जो भिक्षुणी यौन-शुद्धि में दो अंगुलियों के दो पोर से अधिक काम में ले तो, उसे पाचित्तिय है ।[5]

प्रश्न हो सकता है, शास्त्र-निर्माताओं ने यह असामाजिक-सी आचार-संहिता इस स्पष्ट भाव-भाषा में क्यों लिख दी । यह निर्विवाद है कि लिखने वाले संकोचमुक्त थे । इस विषय में संकोचमुक्त दो ही प्रकार के व्यक्ति होते हैं—एक वे, जो अधम होते हैं; दूसरे वे, जो परम उत्तम होते हैं, जिनकी वृत्तियाँ इस विषय के आकर्षण-विकर्षण से रहित हो चुकी हैं । शास्त्र-निर्माता दूसरी कोटि के लोगों में से हैं । संकोच भी कभी-कभी अपूर्णता का द्योतक होता है । समवृत्ति वाले लोगों में मुक्तता स्वाभाविक होती है । कहा जाता है—तीन ऋषि एक बार किसी प्रयोजन से देव-सभा में इन्द्र के दाहिनी ओर ससम्मान बैठे हुए थे और सभा का सारा दृश्य उनके सामने था । देखते-देखते अप्सराओं का नृत्य शुरू हुआ । अप्सराओं की रूप-राशि को देखते ही कनिष्ट ऋषि ने अपनी आखें मूंद ली और ध्यानस्थ हो गए । नृत्य करते-करते अप्सराएं मद-विह्वल हो गई और उनके देवदुष्य इधर-उधर बिखर गए । इस अशिष्टता को देख मध्यम ऋषि आँखें मूँद कर ध्यानस्थ हो गए । अप्सराओं का नृत्य चालू था । देखते-देखते वे सर्वथा वस्त्रविहीन होकर नाचने लगीं । ज्येष्ठ ऋषि ज्यों-के-त्यों बैठे रहे । इन्द्र ने पूछा—'इस नृत्य को देखने में आपको तनिक भी संकोच नहीं हुआ, क्या कारण है ?' ऋषि ने कहा—'मुझे तो इस नृत्य के उतार-चढ़ाव में कुछ अन्तर लगा ही नहीं । मैं तो आदि क्षण से लेकर अब तक अपनी सम स्थिति में हूँ ।' इन्द्र ने कहा—'इन दो ऋषियों ने क्रमशः आँखें क्यों मूंद ली ?' ज्येष्ठ ऋषि ने कहा—'वे अभी साधना की सीढ़ियों पर हैं । मंजिल तक पहुँचने के बाद इनका भी संकोच मिट जायेगा ।' ठीक यही स्थिति प्रस्तुत प्रकरण के सम्बन्ध में सोची जा सकती है । साधारण पाठकों को लगता है, ज्ञानियों ने विषय को इतना खोल कर क्यों लिखा; परन्तु ज्ञानियों के अपने मन में संकोच करने का कोई कारण भी तो शेष नहीं था । दूसरी बात संघ-व्यवस्था के लिए यह आवश्यकता का प्रश्न भी था । देश के अधिकाश लोग भले होते हैं, पर कुछ एक चोर-लुटेरे और व्यभिचारी आदि असामाजिक तत्त्व भी रहते हैं । राजकीय आचार-संहिता में यही तो मिलेगा न—अमुक प्रकार की चोरी करने वाले को यह दण्ड, अमुक प्रकार का व्यभिचार करने वाले का यह दण्ड । साधुओं का भी एक समाज होता है । सहस्रों के समाज में अनुपात से असाधुता के उदाहरण भी घटित होते हैं । उस चारित्रशील साधु-समाज की संघीय आचार-संहिता में उक्त प्रकार के नियम अनावश्यक और अस्वाभाविक नहीं माने जा सकते ।

प्रायश्चित्त-विधि

प्रायश्चित्त और प्रायश्चित्त करने के प्रकार, दोनों परम्पराओं में बहुत ही मनोवैज्ञानिक हैं । जैन परम्परा में प्रायश्चित्त के मुख्यतया निम्नोक्त दस भेद हैं[6] :

१. आलोयणा (आलोचना) निवेदना तल्लक्षणं शुद्धि यदर्हत्यतिचारजातं तदालोचना—लगे दोष का गुरु के

---

१ विनयपिटक भिक्खुणी पातिमोक्ख, संघादिसेस, १२
२ वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ११
३ वही, भिक्खुखी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, २
४ वही, भिक्खणी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ३
५ वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ५
६ ठाणांग सूत्र, ठा० १०

पास यथावत् निवेदन करना आलोचना-प्रायश्चित्त है, उससे मानसिक मलिनता का परिष्कार माना गया है।

२. **पडिक्कमण (प्रतिक्रमण) मिथ्या दुष्कृतं**—यह प्रायश्चित्त साधक स्वयं कर सकता है। इसका अभिप्राय है—मेरा पाप मिथ्या हो।

३ **तदुभयं**—आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों मिलकर **तदुभयं** प्रायश्चित्त है।

४. **विवेग (विवेक) अशुद्धभक्तादि त्यागः**—आधाकर्म आदि अशुद्ध आहार का त्याग।

५. **विउसग्ग (व्युत्सर्ग) कायोत्सर्ग**—यह प्रायश्चित्त ध्यानादि से सम्पन्न होता है।

६. **तव (तपस्) निर्विकृतिकादि**—दूध, दही आदि विगय वस्तु का त्याग तथा अन्य प्रकार के तप।

७. **छेय (छेद) प्रव्रज्यापर्याय ह्रस्वीकरणम्**—दीक्षा-पर्याय को कुछ कम कर देना। उस प्रायश्चित्त से जितना समय कम किया गया है, उस अवधि में बने हुए छोटे साधु दीक्षा-पर्याय में उस दोषी साधु से बड़े हो जाते हैं।

८. **मूल—महाव्रतारोपणम्**—अर्थात् पुनर्दीक्षा।

९. **अणवट्ठप्पा (अनवस्थाप्य) कृततपसो व्रतारोपणम्**—तप-विशेष के पश्चात् पुनर्दीक्षा।

१०. **पाराञ्चिय (पाराञ्चिक) लिङ्गादिभेदम्**—इस प्रायश्चित्त में संघ-बहिष्कृत साधु एक अवधि-विशेष तक साधु-वेश परिवर्तित कर जन-जन के बीच अपनी आत्म-निन्दा करता है, उसके बाद ही उसकी पुनर्दीक्षा होती है।

व्याख्या-ग्रन्थों में इन दशों प्रायश्चित्तों के विषय में भेद-प्रभेदात्मक विस्तृत व्याख्याएं हैं। निशीथ सूत्र में मासिक और चातुर्मासिक प्रायश्चित्तों का ही विधान है। इनका सम्बन्ध ऊपर बताये गए सातवें प्रायश्चित्त '**छेद**' से है। मासिक प्रायश्चित्त अर्थात् एक मास की संयम-पर्याय का छेद। '**छेद**' प्रायश्चित्त छठे भेद '**तप**' में भी बदल जाता है। इससे दोषी साधु संयम-पर्याय का छेद न कर तप-विशेष से अपनी शुद्धि करता है। दोष की तरतमता से मासिक प्रायश्चित्तों में गुरु और लघु दो-दो भेद हो जाते हैं।

विनयपिटक में समग्र दोषों को आठ भागों में बाँटा गया है, जिनका ब्यौरा निम्न प्रकार से है :

भिक्षु के लिए ४ दोष, भिक्षुणी के लिए ८ दोष '**पाराजिक**' हैं।

भिक्षु के लिए १३ दोष, भिक्षुणी के लिए १७ दोष '**संघादिसेस**' है।

भिक्षु के लिए २ दोष '**अनियत**' हैं।

भिक्षु के लिए ३० दोष, भिक्षुणी के लिए ३० दोष '**निसग्गिय पाचित्तिय**' हैं।

भिक्षु के लिए ९२ दोष, भिक्षुणी के लिए १६६ दोष '**पाचित्तिय**' हैं।

भिक्षु के लिए ४ दोष, भिक्षुणी के लिए ८ दोष '**पाटिदेसनिय**' है।

भिक्षु के लिए ७५ बातें, भिक्षुणी के लिए ७५ बातें '**सेखिय**' है।

भिक्षु के लिए ७ बातें, भिक्षुणी के लिए ७ बातें '**अधिकरण-समथ**' है।

दोष की तरतमता के अनुसार प्रायश्चित्तों का स्वरूप मृदु और कठोर है।

'**पाराजिक**' में भिक्षु सदा के लिए संघ से निकाल दिया जाता है।

'**संघादिसेस**' में कुछ अवधि के लिए दोषी भिक्षु संघ से पृथक् कर दिया जाता है।

'**अनियत**' में संघ विश्वस्त प्रमाण से दोष-निर्णय करता है और दोषी को प्रायश्चित्त कराता है।

'**निस्सग्गिय पाचित्तिय**' में दोषी भिक्षु-संघ या भिक्षु विशेष के समक्ष दोष स्वीकार करता है और उसे छोड़ने को तत्पर होता है।

'**पाचित्तिय**' में भिक्षु आत्मालोचनपूर्वक प्रायश्चित्त करता है।

'**पाटिदेसनीय**' में दोषी भिक्षु-संघ के समक्ष दोष स्वीकार करता है और क्षमा-याचना भी करता है।

'**सेखिय**' में शिक्षा-पद हैं। उन व्यवहारिक शिक्षा-पदों का लंघन भी दोष है।

'**अधिकरण-समथ**' में उत्पन्न कलह की शान्ति के आचार बतलाये गए हैं। उनका लंघन करना भी दोष है।

दोषी साधु प्रायश्चित्त कैसे करे, इस विषय में दोनों परम्पराओं के अपने-अपने प्रकार हैं। जैन परम्परा के अनुसार प्रायश्चित्त कराने के अधिकारी आचार्य व गुरु हैं। वे बहुश्रुत व गाम्भीर्यादि अनेक गुणों के धारक होने चाहिए। एक साधु की आलोचना वे दूसरे साधु को बताने के अधिकारी नहीं होते। व्यवहार-सूत्र में बताया गया है—दोषी साधु अपने आचार्य व उपाध्याय के पास शल्यरहित होकर आलोचना करे। आचार्य या उपाध्याय निकट न हों, तो अपने गण के प्रायश्चित्तवेत्ता साधु के पास वह आलोचना करे। यदि ऐसा भी सम्भव न हो तो अन्य गण के शास्त्रज्ञ साधु के पास वह आलोचना करे। ऐसा भी सम्भव न हो तो किसी बहुश्रुत पार्श्वस्थ के पास वह आलोचना करे। पार्श्वस्थ साधु का तात्पर्य है—जो साधु का वेष तो धारण किये रहता है पर आचार का यथावत् पालन नहीं करता। ऐसा भी संयोग न हो तो ऐसे श्रावक के पास आलोचना करनी चाहिए, जो पहले साधु-जीवन में रह चुका हो और प्रायश्चित्त-विधि का ज्ञाता हो। ऐसा भी संयोग न हो तो किसी समभावी देवता के पास आलोचना करे। यह भी सम्भव न हो तो वह साधु शून्य अरण्य में चला जाये और पूर्वाभिमुख या उत्तराभिमुख होकर अरिहन्त व सिद्धों को नमस्कार करे; उनकी साक्षी ग्रहण कर तीन बार अपने दोष का उच्चारण करे और आत्म-निन्दा करता हुआ अपनी धारणा के अनुसार प्रायश्चित्त ग्रहण करे।[1]

जैन विधि में व्यक्तिपरता और गोप्यता को जहाँ प्रधानता दी गई है, वहाँ बौद्ध परम्परा में साधु-समुदाय के सामने प्रायश्चित्तग्रहण का विधान किया गया है। वहाँ प्रायश्चित्त-विधि का व्यवस्थित रूप निम्न प्रकार से है :

प्रत्येक मास की कृष्णा चतुर्दशी और पूर्णमासी को तत्रस्थ सभी भिक्षु उपोसथागार में एकत्रित होते हैं। भगवान् बुद्ध ने अपना उत्तराधिकारी संघ को बनाया, अतः कोई निश्चित आचार्य नहीं होता। किसी प्राज्ञ भिक्षु को सभा के प्रमुख पद पर नियुक्त किया जाता है। तदनन्तर 'पातिमोक्ख' का वाचन होता है। प्रत्येक प्रकरण की पूर्ति में पूछा जाता है— 'उपस्थित सभी भिक्षु उक्त बातों में शुद्ध हैं?' कोई भिक्षु खड़ा होकर तत्सम्बन्धी अपने किसी दोष की आलोचना करना चाहता है, तो संघ उस पर विचार करता है और उसकी शुद्धि कराता है। दूसरी बार फिर पूछा जाता है, 'उपस्थित सभी भिक्षु इन सब बातों में शुद्ध हैं?' इस प्रकार तीन बार पूछकर मान लिया जाता है, सब शुद्ध हैं। तदनन्तर इसी क्रम से एक-एक कर आगे के प्रकरण पढ़े जाते हैं। इसी प्रकार भिक्षुणियाँ 'भिक्खुणी पातिमोक्ख' का वाचन करती हैं।[2] जैन और बौद्ध, दोनों परम्पराओं की प्रायश्चित्त-विधियाँ पृथक्-पृथक् प्रकार की हैं, पर दोनों में ही मनोवैज्ञानिकता अवश्य है। प्रायश्चित्त करने वाले के लिए हृदय की पवित्रता और सरलता दोनों ही विधियों में अपेक्षित मानी गई है।

आचार-पक्ष

निशीथ और विनयपिटक के संविधानों से दोनों ही परम्पराओं की आचार-संहिता भली भाँति स्पष्ट हो जाती है। दोनों के संयुक्त अध्ययन से ऐसा लगता है, आचार की ये दोनों सरिताएं कहीं-कहीं एक-दूसरे के बहुत निकट हो जाती हैं तो कहीं एक-दूसरे से बहुत दूर। हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह दोनों ही शास्त्रों में कठोरता से वर्जित किये गए हैं। इनके न्यूनाधिक सेवन पर प्रायश्चित्त भी न्यूनाधिक रूप से बताया गया है। कुल मिला कर निशीथ के विधान अहिंसा, सत्य आदि के पालन की सूक्ष्मता तक पहुंचते हैं, विनयपिटक के विधान कुछ अर्थों में बहुत ही स्थूल और व्यावहारिक मात्र रह जाते हैं। दोनों परम्पराओं की आचार-संहिता में यह मौलिक अन्तर है ही। जैन भिक्षु की अहिंसा पृथ्वी, पानी, वनस्पति, वायु और अग्नि तक भी अनिवार्य होकर पहुंचती है। निशीथ में पृथ्वी, पानी आदि की हिंसा के सम्बन्ध में अनेकों मासिक तथा चातुर्मासिक प्रायश्चित्त के विधान मिलते हैं। निशीथ के विधि-विधानों में व्यावहारिक पक्ष गौण और अहिंसा, सत्य आदि रूप सैद्धान्तिक पक्ष प्रमुख हैं। विनयपिटक में सैद्धान्तिक पक्ष से भी अधिक संघ-व्यवस्था-रूप व्यावहारिक पक्ष प्रमुख है।

---

१ व्यवहार सूत्र, उद्देशक १, बोल ३४ से ३९,

२ विनयपिटक, निदान

जैन-परम्परा के अनुसार पानी-मात्र जीव है। साधु नदी, तालाब, वर्षा, कुएँ आदि के पानी का उपयोग नहीं करता। पानी मात्र शस्त्रोपहत अर्थात् अचित (अजीव) होकर ही साधु के लिए व्यवहार्य बनता है। विनयपिटक में अहिंसा की दृष्टि केवल अनछाने पानी तक पहुँची है। वहाँ जान-बूझकर प्राणि युक्त (अनछाने) पानी पीने वाले भिक्षु को पाचित्तिय दोष बताया है।[1] जैन भिक्षु के लिए स्नानमात्र वर्जित है।[2] वह अचित पानी से भी सर्वस्नान और देहस्नान नहीं करता। विनयपिटक में पन्द्रह दिनों से पूर्व स्नान करने को 'पाचित्तिय' कहा है। उसमें भी ग्रीष्म ऋतु आदि अपवाद-रूप हैं।[3] बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणियों के लिए नदी आदि में स्नान करने की भी व्यवस्थित आचार-संहिता है। तात्पर्य पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि के सम्बन्ध से जैनाचार और बौद्धाचार एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न रह जाते हैं।

वस्त्र के सम्बन्ध से निशीथ सूत्र में अपने लिए बनाए गए या अपने लिए खरीदे गये वस्त्र को कोई ग्रहण करे तो उसे लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित बताया गया है।[4] विनयपिटक की व्यवस्था है—कोई राजा, राजकर्मचारी या गृहस्थ धन देकर अपने दूत को भिक्षु के पास भेजें, वह दूत भिक्षु से जाकर कहे—'भन्ते! आपके लिए यह चीवर का धन है, आप इसे ग्रहण करें।' तब उस भिक्षु को दूत से कहना चाहिए—'आवुस ! हम चीवर के धन को नहीं लेते, समयानुसार चीवर ही लेते हैं।' वह दूत किसी उपासक को चीवर लाकर देने के लिए वह धन दे दे, तो भिक्षु को अधिक-से-अधिक तीन बार उसे चीवर की बात याद दिलानी चाहिए और कहना चाहिए—'उपासक ! मुझे चीवर की आवश्यकता है।' इतने पर भी वह चीवर प्रदान न करे तो अधिक-से-अधिक और तीन बार और उसके पास जाकर उसे याद दिलाने की दृष्टि से खड़ा रहना चाहिए। इतने तक वह उपासक चीवर प्रदान करे तो ठीक; इससे अधिक प्रयत्न कर यदि भिक्षु चीवर को प्राप्त करे तो उसे निस्सग्गिय पाचित्तिय है। उस भिक्षु का कर्तव्य है, वह उस अर्थदाता के पास जाकर कहे—आयुष्मान् ! तुम्हारा धन मेरे काम का नहीं हुआ। अपने धन को देखो, वह नष्ट न हो जाये।[5]

निशीथ का विधान है—कोई साधु आहार, पानी, औषधि आदि रात भर भी संगृहीत रखता है तो उसे गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित्त।[6] विनयपिटक का विधान है—'भिक्षुओ ! घी, मक्खन, तेल, मधु, खांड आदि रोगी भिक्षुओं को सेवन करने लायक पथ्य-भेषज्य को ग्रहण कर अधिक-से-अधिक सप्ताह भर रखकर, भोग कर लेना चाहिए। इसका अतिक्रमण करने पर उसे निस्सग्गिय-पाचित्तिय है।[7] निशीथ में भिक्षु के लिए रात्रि-भोजन वर्जित है। विनयपिटक के अनुसार जो कोई भिक्षु विकाल (मध्याह्न के बाद) में खाद्य भोजन खाये, उसे पाचित्तिय है।[8]

विशेष भोज्य पदार्थों को माँग कर लेना जैन परम्परा में निषिद्ध है। विनयपिटक में भी घी, मक्खन, तेल, दूध, दही आदि विशेष पदार्थों को भिक्षु माँग कर ले तो उसे पाचित्तिय बताया है।[9]

जैन-परम्परा के अनुसार साधु भोजन को भिक्षा-रूप से अपने पात्र में ग्रहण करता है और अपने उपाश्रय में आकर या किसी उपयुक्त एकान्त स्थान में भोजन करता है। बौद्ध परम्परा के अनुसार बौद्ध भिक्षु आमन्त्रण पाकर गृहस्थ के घर भोजन के लिए जाता है। विनयपिटक के **सेखिय** प्रकरण में भिक्षु-भिक्षुणी को गृहस्थ के घर में किस संयत गति-विधि से जाना व बैठना चाहिए, इस विषय में बहुत ही व्यवस्थित शिक्षा-विधान है। भोजन करने सम्बन्धी शिक्षा-पद

१ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ६२
२ दशवैकालिक सूत्र, अध्ययन ६, गाथा ६१–६४
३ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ५७
४ निशीथ सत्र, उद्देशक १८, बोल ३५
५ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, निस्सग्गिय पाचित्तिय, १०
६ निशीथ सूत्र, उद्देशक ११, बोल १७९ से १८३
७ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, निस्सग्गिय पाचित्तिय, २३
८ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ३७
९ वही, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ३९

रोचक और समुचित सभ्यता सिखलाने वाले हैं। इस सम्बन्ध में भिक्षुणी की प्रतिज्ञाएं हैं :

१. ग्रास को बिना मुँह तक लाये मुख के द्वार को न खोलूँगी।
२. भोजन करते समय सारे हाथ को मुँह में न डालूँगी।
३. ग्रास पड़े हुए मुख से बात नहीं करूँगी।
४. ग्रास उछाल-उछाल कर नहीं खाऊँगी।
५. ग्रास को काट-काटकर नहीं खाऊँगी।
६. न गाल फुला-फुला कर खाऊँगी।
७. न हाथ झाड़-झाड़ कर खाऊँगी।
८. न जूठन बिखेर-बिखेर कर खाऊँगी।
९. न जीभ चटकार-चटकार कर खाऊँगी।
१०. न चप-चप करके खाऊंगी।[1]

ये प्रतिज्ञाएं 'भिक्खुपातिमोक्ख' में भिक्षुओं के लिए भी हैं। भिक्षुणियों के लिए लहसुन की वर्जना भी की गई है।[2]

दीक्षा-प्रसंग

दीक्षा किस वयोमान में दी जा सकती है, इस विषय मे दोनों परम्पराओं के विधान बहुत ही भिन्न हैं। जैन परम्परा में जन्म से आठ वर्ष से कुछ अधिक उम्र वाले की दीक्षा का विधान किया गया है।[3] इससे पूर्व दीक्षा देने वाले को प्रायश्चित्त कहा है। विनयपिटक का कथन है—यदि भिक्षु जानते हुए बीस वर्ष से कम उम्र वाले व्यक्ति को उप-सम्पन्न (दीक्षित) करे, तो वह दीक्षित अदीक्षित है।[4] भगवान् श्री महावीर और बुद्ध लगभग एक ही युग व एक ही क्षेत्र में थे। दोनों ही श्रमण-संस्कृति की दो धाराओं के नायक थे। दीक्षा-वयोमान का यह मौलिक भेद अवश्य ही आश्चर्योत्पादक है। वयस्क दीक्षा और दीक्षा का प्रश्न उस समय भी समाज में रहा होगा। यदि ऐसा ही था तो एक संघ ने उसे मान्यता दी और एक संघ ने उसे मान्यता नहीं दी, इसका क्या कारण ?

अल्पवयस्क की दीक्षा का विधान ही भगवान् श्री महावीर ने किया; यही नहीं, उन्होंने अतिमुक्तक कुमार को अल्पावस्था में दीक्षित भी किया। वह घटना इस प्रकार है—प्रथम गणधर गौतम गोचरी करने पोलासपुर नगर मे घूम रहे थे। अचानक अतिमुक्तक नामक एक बालक ने आकर उनकी अंगुली पकड़ी और कहा—मेरे यहां भिक्षा के लिए चलिए। बालहठ कैसे टलता ! गणधर गौतम ने उसके घर जाकर भिक्षा ली। भिक्षा लेकर मुड़े, तो बालक भी उनके साथ-साथ चल पड़ा। मार्ग में अतिमुक्तक ने पूछा—'आप कहाँ जा रहे हो ?' गणधर गौतम ने कहा—'परम शान्ति के उद्भावक भगवान् श्री महावीर के पास।' अतिमुक्तक ने कहा—'मुझे भी शान्ति चाहिए; मैं भी वहीं जाऊंगा।' इस प्रकार वह उद्यान में आया और यथाविधि भगवान् श्री महावीर के पास दीक्षित हुआ। उसी अतिमुक्तक भिक्षु ने एक बार प्रमादवश अपने पात्र से नदी में जल-क्रीड़ा की। स्थविर भिक्षुओं ने उसे डाँटा। भगवान् महावीर ने उसे प्रायश्चित्त दे कर शुद्ध किया और कहा—'अतिमुक्तक अभी अज्ञ-जैसा लगता है, किन्तु यह इसी जीवन में यथाक्रम कैवल्य व निर्वाण प्राप्त करेगा।'[5]

भगवान् श्री महावीर ने यह भी निरूपण किया है कि आठ वर्षो से कुछ अधिक वय वाला बालक उसी वय में

---

१ विनयपिटक, भिक्खुणी पातिमोक्ख, सेखिय, ४१-५०
२ वही, भिक्खुणी पातिमोक्ख, पाचित्तिय, १
३ व्यवहार सूत्र, उद्देशक १०, बोल २४
४ विनयपिटक, भिक्खु पातिमोक्ख, पाचित्तिय, ६५
५ भगवती सूत्र

कैवल्य और मोक्ष प्राप्त कर सकता है। इससे पूर्व साधुत्व, कैवल्य और मोक्ष तीनों ही अप्राप्य हैं।[1] दीक्षा-ग्रहण में माता, पिता आदि की आज्ञा भी आवश्यक होती है।

बौद्ध परम्परा के दीक्षा-सम्बन्धी विधानों का इतिहास और अभिप्राय विनयपिटक में भी मिल जाता है। राजगृह नगर में सत्रह बालक परस्पर मित्र थे। उपालि उन सबमें मुखिया था। एक दिन उपालि के माता-पिता सोचने लगे—उपालि को किस मार्ग पर लगाना चाहिए, जिससे हमारी मृत्यु के बाद भी वह सुखी बना रहे। पहले इन्होंने सोचा—यदि लेखा सीख जाये तो वह सदा सुखी रह सकेगा। फिर उनके मन में आया—लेखा सीखने में तो उसकी उँगुलियाँ दुखेंगी। इस प्रकार अनेकों विकल्प सोचे, पर कोई भी विकल्प निरापद नहीं लगा। अन्त में सोचा—ये शाक्य-पुत्रीय श्रमण सुख-ही-सुख में रहते हैं। ये अच्छा भोजन करते हैं व अच्छे निवासों में रहते हैं। क्यों न उपालि भिक्षु बनकर इनके साथ रहे? हम मर भी जायेंगे, तो यह तो सदा सुखी ही रहेगा।

उपालि भी एक ओर बैठा इस वार्तालाप को सुन रहा था। वह तत्काल अपनी मित्र-मण्डली में गया और बोला—'आओ आर्यो! हम सब शाक्यपुत्रीय श्रमणों के पास प्रव्रजित हो सदा के लिए सुखी हो जायें।' सब सहमत हो गये। अन्त में माता-पिताओं ने भी सबकी समरुचि देखकर सहर्ष उन्हें दीक्षित होने की आज्ञा दी। वे भिक्षुओं के पास आये और दीक्षित हो गए। दिन में वे सुख से रहते। रात को सवेरा होने से पूर्व ही भूख से व्याकुल होकर वे रोते और कहते—'खिचड़ी दो! भात दो!! खाना दो!!!' तब भिक्षु ऐसा कहते थे—'ठहरो आवुसो! सवेरा होते ही यवागू (पतली खिचड़ी या दलिया) हो तो पीना, भात हो तो खाना, रोटी हो तो भोजन करना। यह सब न हो, तो भिक्षा करके खाना।' इस प्रकार भिक्षु उन्हें समझाते पर भूख की क्या दवा! वे तिलमिलाते और बिस्तरों पर इधर-उधर लुटकते।

एक दिन भगवान् बुद्ध को इस बात का पता लगा। उन्होंने भिक्षुओं को एकत्रित किया और कहा—'भिक्षुओ! बीस वर्ष से कम उम्र का पुरुष सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, साँप-बिच्छू आदि के कष्टों को सहने में असमर्थ होता है। कठोर दुरागत के वचनों और दुःखमय, तीव्र, खरी, कटु, प्रतिकूल, अप्रिय, प्राण हरने वाली उत्पन्न हुई शारीरिक पीड़ाओं को सहन न करने वाला होता है। भिक्षुओ! इन्हीं सब कारणों से मैं नियम करता हूँ कि बीस वर्ष से कम के व्यक्तियों को उपसम्पदा नहीं देनी चाहिए।[2]

तब से भिक्षु बनाने का नियम बीस वर्ष का हो गया। पर समय-समय पर ऐसे प्रसंग आने लगे कि अन्त में बालकों को भी संघ-सम्बद्ध करने का अन्य मार्ग भगवान् बुद्ध को निकालना पड़ा। वह था—श्रामणेर बनाना। एक बार घटना-विशेष पर नियम बना दिया गया—पन्द्रह वर्ष से कम आयु वाले बच्चे को श्रामणेर नहीं बनाना चाहिए। जो बनायेगा, उसे दुक्कट का दोष होगा।[3] पुनः एक प्रसंग ऐसा आया जिससे पन्द्रह वर्ष से कम आयु वाले बच्चे को भी श्रामणेर बनाने का विधान करना पड़ा :

आयुष्मान् आनन्द का एक श्रद्धालु परिवार महामारी में मर गया। केवल दो बच्चे बच गए। आनन्द को उनकी अनाथ अवस्था पर दया आई। उसने सारी स्थिति भगवान् बुद्ध के पास रखी। भगवान् बुद्ध ने कहा—'आनन्द! क्या वे बालक कौवा उड़ाने लायक हैं?' आनन्द ने कहा—'हाँ, हैं भगवान्!' तब भगवान् बुद्ध ने एकत्रित भिक्षुओं से कहा—भिक्षुओ! कौवा उड़ाने में समर्थ पन्द्रह वर्ष से कम उम्र के बच्चे को श्रामणेर बनाने की अनुमति देता हूं।[4]

राहुल को श्रामणेर प्रव्रज्या देने की बात बहुत ही रोचक है। उसी घटना से माता-पिता की आज्ञा का नियम निष्पन्न हुआ। एक बार भगवान् बुद्ध राजगृह से विहार कर कपिलवस्तु में आये। वह उनकी जन्मभूमि थी। भगवान् के पिता

---

१ भगवती सूत्र, शतक ८, उद्देशक १०

२ विनयपिटक, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-६

३ वही, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-७

४ वही, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-८

शुद्धोदन व उनकी पत्नी व राहुल आदि पारिवारिक जन वहाँ रहते थे। भगवान् बुद्ध नगर के बाहर न्यग्रोधाराम में ठहरे।

एक दिन प्रातःकाल पात्र, चीवर लेकर शुद्धोदन के घर भी आये और बिछाये गए आसन पर बैठे। तब राहुल-माता देवी ने राहुलकुमार को कहा—'पुत्र ! यह तेरे पिता हैं। तू इनसे अपनी दायज (विरासत) माँग!' राहुल बुद्ध के निकट गया और बोला—'श्रमण, तेरी छाया सुखमय है'। बुद्ध आसन से उठकर चले। राहुल भी उनके पीछे-पीछे चला। मार्ग में वह रह-रहकर कहता— 'श्रमण ! मुझे दायज दे ! श्रमण मुझे दायज दे !!' बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र से कहा—'सारिपुत्र ! राहुल कुमार को श्रामणेर प्रव्रज्या दो।' सारिपुत्र ने वैसा ही किया। इतने में शुद्धोदन स्वयं वहाँ आ गए और बोले—'भगवन् ! मैं एक वर चाहता हूँ, वह यह है कि भगवान् के प्रव्रजित होने पर मुझे बहुत दुःख हुआ था। राहुल के प्रव्रजित होने से उसी दुःख की पुनरावृत्ति हुई है। भन्ते ! पुत्र-प्रेम मेरी चमड़ी छेद रहा है, मांस छेद रहा है, नस छेद रहा है, अस्थि छेद रहा है, मैं घायल हो रहा हूँ। अच्छा हो भन्ते ! भिक्षु लोग माता-पिता की अनुमति के बिना किसी को भी प्रव्रजित न करें।'

भगवान् बुद्ध ने शुद्धोदन को धर्म-कथा कही। वे भगवान् का अभिवादन कर चले गए। भिक्षुओं को एकत्रित कर भगवान् ने कहा—'भिक्षुओ ! माता-पिता की अनुमति के बिना पुत्र को प्रव्रजित नहीं करना चाहिए। जो प्रव्रजित करेगा, उसे दुक्कट्ट का दोष होगा।'[1]

उक्त प्रकरणों से जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं के दीक्षा-सम्बन्धी अभिमत प्रकट हो जाते हैं। भगवान् श्री महावीर ने आठ वर्ष से कुछ अधिक की अवस्था वाले बालक को दीक्षित करने का विधान किया है। भगवान् बुद्ध ने काक उड़ाने में समर्थ बालक को श्रामणेर बनाने का विधान किया है। श्रामणेरता भिक्षुत्व की ही एक पूर्वावस्था है। कुल मिला कर यह माना जा सकता है, धर्माचरण में बाल्यावस्था को दोनों ने ही सर्वथा बाधक नहीं माना है।

धर्म-संघ में स्त्रियों का स्थान

भगवान् श्री महावीर ने एक साथ साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका रूप चतुर्विध संघ की स्थापना की। विनय-पिटक के अनुसार बौद्ध धर्म संघ में पहले-पहल भिक्षुणियों का स्थान नहीं था। वह स्थान कैसे बना इसका विनयपिटक में रोचक वर्णन है—

एक बार भगवान् बुद्ध कपिलवस्तु के न्यग्रोधाराम में रह रहे थे। भगवान् की मौसी, प्रजापति गौतमी, उनके पास आयी और बोली—'भगवन् ! अपने भिक्षु संघ में स्त्रियों को भी स्थान दें !' भगवान् बुद्ध ने कहा—'यह मुझे अच्छा नहीं लगता।' गौतमी ने दूसरी बार और तीसरी बात दोहरायी, पर उसका परिणाम कुछ नहीं निकला।

कुछ दिनों बाद जब भगवान् बुद्ध वैशाली में विहार कर रहे थे, गौतमी भिक्खुणी का वेष बनाकर अनेकों शाक्य स्त्रियों के साथ आराम में पहुँची। आनन्द ने उसका यह हाल देखा। दीक्षा-ग्रहण की आतुरता उसके हर अवयव से टपक रही थी। आनन्द को दया आयी। वह भगवान् बुद्ध के पास पहुँचा और निवेदन किया—'भगवन् ! स्त्रियों को भिक्षु-संघ में स्थान दें!' क्रमशः तीन बार कहा, पर कोई परिणाम नहीं निकला। अन्त में कहा—'यह महाप्रजापति गौतमी है, जिसने मातृ-वियोग में भगवान् को दूध पिलाया है। अतः अवश्य इसे प्रव्रज्या मिले !'

अन्त में भगवान् बुद्ध ने आनन्द के अनुरोध को माना और कुछ शर्तों के साथ उसे उपसम्पदा देने की आज्ञा दी। उनमें एक शर्त थी—सौ वर्ष की उपसम्पन्न भिक्षुणी को भी उसी दिन के उपसम्पन्न भिक्षु को वन्दन करना होगा।[2]

उपसम्पन्न गौतमी ने आनन्द के पास प्रश्न उठाया—भिक्षु और भिक्षुणी दीक्षा-पर्याय के अनुसार एक-दूसरे को वन्दन करें, यह सुन्दर होगा। आनन्द ने भगवान् बुद्ध के पास जाकर गौतमी की बात कही। भगवान् बुद्ध ने कहा—'आनन्द ! यह सम्भव नहीं है कि तथागत (बुद्ध) स्त्रियों को अभिवादन करने की आज्ञा दे। दूसरे असम्यग् प्ररूपित धर्मों

---

१ विनयपिटक, महावग्ग, महास्कन्धक, १-३-११

२ वही, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी स्कन्धक, १०-१-२

में भी स्त्रियों को अभिवादन करने का विधान नहीं है। मैं ऐसा कैसे कर सकता हूँ ?"[१]

इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को एकत्रित करके कहा—'भिक्षुओ ! भिक्षुणियों को अभिवादन, प्रत्युत्थान, हाथ जोड़ना आदि नहीं करना चाहिए। जो करेगा, उसे दुक्कट्ट का दोष होगा।[२]

इस प्रकरण से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व नारी जाति के सम्बन्ध में समाज की जो बद्धमूल धारणा थी, उसका भली-भाँति पता लग जाता है। साध्वियाँ साधु-वर्ग को वन्दन करें, यह रीति जैन परम्परा में भी ज्यों-की-त्यों है। जैन परम्परा में साध्वी को आचार्यपद की अधिकारिणी माना है, परन्तु वह इस स्थिति में कि साधु संघ में कोई साधु इसके योग्य न हो और साध्वी योग्य होने के साथ साठ वर्ष की प्रव्रजिता भी हो। ये सब विधि-विधान इस बात के द्योतक हैं कि पुरुष-समाज नारी-समाज को अपने ही समान योग्य समझने में सदा ही हिचकता रहा है। आश्चर्य की बात यह है—प्रजापति गौतमी ने भिक्षु और भिक्षुणियों के पारस्परिक वन्धन का प्रश्न भगवान् बुद्ध के सामने आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व ही उठा लिया था। कम आश्चर्य यह भी नहीं है कि आज अढ़ाई हजार वर्षों के बाद भी यह प्रश्न धर्म-संघों के सामने ज्यों-का-त्यों खड़ा है।

सिंह सेनापति जैन से बौद्ध

आचार और प्रायश्चित्त-सम्बन्धी ग्रन्थ होने के कारण निशीथ और विनयपिटक दोनों ही शास्त्रों में परमत की चर्चा विशेषतः नहीं है। विनयपिटक में सिंह सेनापति का वर्णन स्वमत-प्रशंसा और परमत-कुत्सा का द्योतक है। जैन शास्त्रों में सिंह सेनापति का कहीं नामोल्लेख नहीं है। विनयपिटक के अनुसार सिंह सेनापति भगवान् श्री महावीर का दृढ़ उपासक था। यत्र-तत्र गौतम बुद्ध की प्रशंसा सुनकर वह भगवान् महावीर के निषेध करते हुए भी गौतम बुद्ध के पास चला गया। प्रभावित होकर बौद्ध हो गया। भगवान् बुद्ध और भिक्षु-समुदाय को अपने घर भोजन के लिए ले गया; विविध प्रकार के भोजन में मांस की भी व्यवस्था थी। जैन श्रमणों ने नगर में आते-जाते इस बात की आलोचना की कि श्रमण गौतम अपने लिए पकाये मांस का भी जान-बूझ कर भोजन करता है। यह चर्चा सिंह सेनापति के कानों में भी पहुँची। उसने कहा—"ये निर्ग्रन्थ सदा ही श्रमण गौतम की निन्दा करते रहते हैं।" इस घटना-प्रसंग से भगवान् बुद्ध ने यह नियम बनाया—"जान-बूझकर अपने उद्देश्य से बने मांस को नहीं खाना चाहिए। जो खायेगा, उसे दुक्कट्ट का दोष होगा।"[३] यह विवरण भाव-भाषा की दृष्टि से साम्प्रदायिक रंग से रँगा है; फिर भी अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व के साम्प्रदायिक मनोभावों का एकरंगा चित्र तो हमारे सामने प्रस्तुत हो ही जाता है। बौद्ध भिक्षु-संघ की मांसाहार-परम्परा का भी यह एक ज्वलन्त उदाहरण है।

संयुक्त अध्ययन

प्रस्तुत निबन्ध निशीथ और विनयपिटक के संयुक्त अध्ययन का एक प्रकरण-मात्र ही माना जा सकता है। दोनों ही शास्त्रों में अनेकानेक स्थल हैं, जो हरेक पाठक के चिन्तन को उत्प्रेरित करते हैं। निशीथ की तरह व्यवहार सूत्र आदि अन्य छेद-सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन विनयपिटक के साथ हो तो इतिहास और संस्कृति के अन्वेषण में एक नया राजमार्ग खुल सकता है। आशा है, तटस्थ गवेषक इस ओर ध्यान देंगे।

१ विनयपिटक, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी स्कन्धक, १०-१-४

२ वही, चुल्लवग्ग, भिक्षुणी स्कन्धक, १०-१-४

३ वही, महावग्ग, भेषज्य स्कन्धक, १-४-८, ९

बौद्ध धर्म में आय सत्य और अष्टांग मार्ग

श्री केशवचन्द्र गुप्त, एम०, ए०, एल-एल० बी०
उपाध्यक्ष, महाबोधि सोसाइटी

बौद्ध साहित्य का सामान्य अनुशीलन करने वाला पाठक भी वहाँ प्रयुक्त शिक्षाओं के वर्गीकरण और श्रेणी के विभाजनकी प्रणाली से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। निर्वाण के पथ पर सफलतापूर्वक आगे बढ़ने की प्रक्रिया की आश्चर्यजनक व्याख्याएं वहाँ दी गई हैं। उनको सम्यक्तया समझने के लिए राजकुमार गौतम सिद्धार्थ द्वारा ज्ञान-प्राप्ति की ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक भूमिका को स्मरण रखना आवश्यक होगा। उनकी पवित्र आत्मा ने दुःख और शोक से परिपूर्ण जीवन की कठोर वास्तविकताओं के सामने विद्रोह किया। वे प्रयोजनहीन क्रियाकाण्ड के विरुद्ध थे। उनकी धारणा थी कि धनिकों और शक्तिशालियों का ऐश्वर्य उन्हें उस क्षेत्र के निकट नहीं पहुँचा सकता, जहाँ वास्तविक सुख-शान्ति का राज्य है। गौतम को ऐसे साधनों और उपायों का आविष्कार करने की तीव्र उत्कण्ठा थी, जिनके द्वारा मनुष्य शोक, कष्ट और दुःखों के जीवन-चक्र से मुक्त हो सके। इस संकल्प से जिज्ञासु राजकुमार के हृदय की आत्यन्तिक उदारता प्रकट होती है, जिन्होंने अपने बन्धु-प्राणियों की मुक्ति के लिए सांसारिक ऐश्वर्य और राज-पाट का त्याग कर दिया।

बुद्ध के ऐतिहासिक अभिनिष्क्रमण की मनोवैज्ञानिक भूमिका थी—सर्वव्यापी मैत्री और करुणा। अहिंसा उसका मूल स्रोत था—जिसका अर्थ होता है, किसी भी परिस्थिति में किसी के प्रति शत्रुता न बरतने की सतत भावना।

बुद्ध की करुणा पारमार्थिक है—देश-काल से बाधित नहीं है। एक बौद्ध को जिन तीन शरण-स्थलों की खोज रहती है, उनमें से एक शरण-स्थल संघ है। इस अनुशासित धर्म-प्रचारकों के संघ का कार्य धर्म (दूसरे शरण-स्थल) के सत्यों का प्रचार करना होता है।

चार आर्य सत्य

दुःखों को देखकर प्रारम्भ में राजकुमार सिद्धार्थ का हृदय द्रवित होता है। ज्ञान प्राप्त होने पर वे दुःख को जीवन का मौलिक सत्य स्वीकार करते हैं। दुःख को उन्होंने प्रथम आर्य सत्य कहा है। आर्य सत्य का तात्पर्य है—मौलिक अनिवार्य सत्य। यदि बौद्ध धर्म इस अनुभूति तक ही सीमित रह जाता तो वह निराशावाद का प्रतिपादक-मात्र होता। किन्तु भगवान् बुद्ध ने पता लगाया कि दुःखों की वेदना से मुक्ति भी सत्य है—मौलिक और अनिवार्य सत्य है। यह आर्य सत्य है। दुःखों का मूल कारण उतना ही सत्य है जितने कि दुःखमूलक जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति दिलाने वाले साधन।

बौद्ध धर्म की मूलभूत शिक्षाएं इस अनुभूति में निहित हैं, जिसे जीवन के चार आर्य सत्य—मौलिक अनिवार्य सत्य कहा गया है। वे इस प्रकार हैं :

१. दुःख—कष्ट और शोक,
२. दुःखका मूल,
३. दुःख का निवारण,
४. दुःख-निवारण के उपाय।

प्रथम आर्य सत्य—दुःख

दुःख का वास्तविक स्वरूप क्या है ? विश्लेषणात्मक चिन्तन और सम्यग्-ज्ञान के द्वारा हमें यह विदित होता है कि जीवन में मनुष्य ऐसे शारीरिक और मानसिक अभ्यास एवं विचारों का ग्रहण तथा संचय करता है, जिनमें दुःख और वेदना छिपी रहती है। उनके जनक हम स्वयं ही होते हैं। जिस प्रकार कोई ग्रन्थकार अपने ग्रन्थ के एक स्कन्ध अथवा अध्याय में सापेक्ष और बिखरे हुए विचारों का संकलन करता है, उसी प्रकार प्रत्येक प्राणी अपने जीवन के स्कन्ध अथवा अध्याय में वेदनाओं, अनुभूतियों, स्मृतियों और संस्कारों का संचय करता है। इन सबका समुच्चय ही व्यक्ति का जीवन होता है।

इन समुच्चयों का वाहन केवल देह अर्थात् स्थूल शरीर ही नहीं, अपितु उपादान अर्थात् संस्कार भी होते हैं। देह और उपादान उस वृक्ष के स्कन्ध हैं, जिन पर दुःख के फल लगते हैं।

देह अथवा स्थूल शरीर—१. रूप, २ वेदना, ३. संज्ञा, ४. संस्कार और ५. विज्ञान—इन पाँच के समुच्चय से उत्पन्न होता है।

रूप अथवा जगत् का भौतिक स्वरूप चार तत्त्वों—पृथ्वी, जल, अग्नि (तेज) और वायु, शरीर की पाँच इन्द्रियों, लिंग-संस्कारों, मनोदशा और ज्ञानेन्द्रियों का समुच्चय होता है।

इस प्रकार सब प्रकार के शारीरिक और मानसिक दुःख 'दुःख' के अन्तर्गत हैं। उपादानों का संचय जन्म, रोग, मृत्यु, शोक, पश्चात्ताप, दुःख, निराशा और वियोग से होता है। अपने प्रवाह में जीवन इन शक्तियों का संचय और संग्रह करता है तथा स्कन्ध अथवा वृक्ष का धड़ निर्माण करता है; उसे ही हम जीवन कहते हैं। साहित्य में स्कन्ध उसे कहते हैं, जिसमें विचारों का संकलन किया जाता है।

दूसरा आर्य सत्य—दुःख का मूल

दूसरा आर्य सत्य है—दुःखों का मूल। दुःखों का मूल कारण **तन्हा** अथवा तृष्णा है। उसका उद्भव 'कर्म-चेतना' और 'प्रतीत्यसमुत्पाद' से होता है। कर्म-चेतना का अर्थ होता है—कर्म करने के लिए चैतन्य की उत्कट अभिलाषा। प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ है—वाह्य विषयों पर निर्भर तृष्णा की उत्पत्ति का कारण। हमें अपने दैनिक जीवन में इन्द्रियों के सुखोपभोग की इच्छा होती है, जिससे हममें **भव तृष्णा** उत्पन्न होती है। जिस प्रकार हमें ऐन्द्रिय विषयों से मुक्ति की तृष्णा (**विभव तृष्णा**) होती है, उसी प्रकार हम शाश्वत जीवन की भी तृष्णा करते हैं। जिस प्रकार हम इन्द्रियों की मरीचिका के पीछे दौड़ते हैं, उसी प्रकार हम जब पार्थिव सुखोपभोग की व्यर्थता समझ जाते हैं तो अलौकिक जीवन की ओर दौड़ते हैं।

तीसरा आर्य सत्य—निर्वाण

तीसरा आर्य सत्य निर्वाण है। यह अनिवार्य सत्य है, जिसका सम्बन्ध उस प्रयत्न से है, जिसे हम जीवन कहते हैं।

यह विवाद का विषय रहा है—क्या निर्वाण सक्रिय दशा है अथवा सम्पूर्ण विनाश की दशा ? क्या वह पूर्ण शून्यावस्था है, अथवा शोक और पुनर्जन्म से मुक्त शाश्वत अवस्था ? यदि वह शाश्वत आनन्द की सक्रिय दशा है, तो निर्वाण की बौद्ध कल्पना भगवद्गीता की ब्रह्म-निर्वाण की कल्पना के समकक्ष ठहरती है। किन्तु बुद्ध ने शाश्वत आत्मा की कल्पना को स्वीकार नहीं किया, इसलिए कठिनाई उत्पन्न होती है।

महान् बौद्ध दार्शनिक कवि अश्वघोष का अभिमत है कि निर्वाण शून्य अवस्था है—वहाँ अस्तित्व ही असद्-अवस्था को प्राप्त हो जाता है। एडविन आर्नोल्ड ने अपनी कविता में कहा है :

यदि कोई कहते हैं कि निर्वाण का अर्थ नाश है;

उनसे कहो कि वे झूठ बोलते हैं।
यदि कोई कहते हैं कि निर्वाण का अर्थ जीवन है;
उनसे कहो कि वे भूल करते हैं।
वे नहीं जानते कि दीपक टूट जाने के बाद प्रकाश नहीं चमकता
निर्वाण जीवनातीत और समयातीत आनन्द है।[1]

वास्तव में निर्वाण शून्य नहीं है, प्रत्युत ऐसी अवस्था है जिसका वर्णन अथवा कल्पना नहीं की जा सकती। यह विचार केवल कवि का ही नहीं है।

महान् पाश्चात्य विद्वान् मेक्स मूलर ने पूर्ण उत्साह और उमंग के साथ कहा था कि निर्वाण मनुष्य की पूर्ण अवस्था है, न कि उसका विलय अथवा शून्यावस्था। वे प्रश्न करते हैं—'क्या जो धर्म हमको शून्यावस्था में पहुँचा देता है, वह धर्म जीवित भी रह सकेगा?'

डा० ओल्डनबर्ग, जो यद्यपि इस निष्कर्ष को स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं, फिर भी विपरीत धारणा रखने वालों को चुनौती देते हुए कहते हैं—

"निर्वाण के विषय में एक विकल्प यह है कि वह शून्य है; और दूसरा विकल्प यह है कि वह सर्वोच्च आनन्द का प्रतीक है। दोनों ही विकल्पों के पक्ष में नाना प्रकार के तर्क दिये जाते हैं। किन्तु मुझे कम आश्चर्य नहीं हुआ जब मैंने यह पाया कि पूर्ण सत्य न इस विकल्प के पक्ष में है और न उस विकल्प के पक्ष में।" यह स्पष्ट है कि ओल्डनबर्ग पूर्ण नाश के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करते।

सुप्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् रीस डेविड्स के अनुसार :

"निर्वाण वह अवस्था है, जिसमें मन और हृदय पाप-पाश से मुक्त हो जाता है, अन्यथा कर्म के महान् रहस्य के अनुसार पुनः व्यक्तिगत जीवन धारण करना आवश्यक हो जाता है।......अतः निर्वाण मन की पाप-रहित शान्त दशा का ही नाम है और उसकी व्याख्या ही करना हो तो 'पवित्रता' उसका सर्वोत्तम पर्याय हो सकती है। बौद्ध कल्पना के अनुसार पूर्ण शान्ति, पूर्ण मंगल और पूर्ण विवेक को निर्वाण कहना चाहिए।"

बौद्ध धर्म के अधिकारी विद्वान् डॉ० थामस कहते हैं :

"इस विचार पर चर्चा करना अनावश्यक है कि निर्वाण का अर्थ व्यक्ति का नाश होना है। बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में इस विचार का कहीं समर्थन नहीं मिलता; उनमें उसके वास्तविक अर्थ को प्रकट करने वाली प्रचुर सामग्री है और वह यह कि निर्वाण-अवस्था में कामनाएं शान्त हो जाती हैं। रीस डेविड्स का भी हमेशा यही आग्रह रहा है। उनमें बहुधा कामनाओं की तुलना अग्नि से की गई है और कामनाओं को सचेत करना अग्नि में ईंधन डालने के समान कहा गया है।"

भारतीय लेखक, जिनमें डा० बी० सी० ला जैसे विद्वान् भी हैं, शून्य को अस्तित्वहीनता का पर्याय नहीं मानते। डा० ला० ने अपने कथन को 'विशुद्धि-मार्ग', 'मिलिन्द प्रश्न' और अन्य बौद्ध ग्रन्थों से पुष्ट किया है। हम निश्चयपूर्वक यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यह धारणा सत्य नहीं है कि बौद्ध धर्म निष्क्रियता, नकारात्मकता अथवा निराशावाद का पोषण करता है।

जब हम 'बुद्ध' शब्द का उपयोग करते हैं, तो हम भ्रान्ति के प्रकट दलदल में फँस जाते हैं। बुद्धत्व का अर्थ होना

---

१ If any teach Nirvana is to cease,
Say unto them they lie;
If any teach Nirvana is to live,
Say unto them they err; not knowing this,
Nor what light shines beyond their broken lamps,
Nor lifeless timeless bliss.

है, जीवन और उसके व्यवहार के शाश्वत सत्यों का पूर्ण ज्ञान। बुद्ध ने जगत् को वह मार्ग दिखाया, जिस पर चलकर मानवता भ्रम के आवरण को चीर सकती है। उनकी चेतना ने शाश्वत ज्योति प्रकाशित की। क्या निर्वाण का अर्थ पूर्ण ज्ञान के उस दीप का बुझना हो सकता है? प्रकाश का अन्धकार और शाश्वत सत्य की चेतना को शाश्वत निद्रा मानना एक भयंकर विरोधी कल्पना प्रतीत होती है।

मानवता का उत्थान करने वाली बुद्ध की शिक्षाओं से मेरे विचार की पुष्टि होती है। अहिंसा के विकास से ही बुद्ध अर्हत की अवस्था को प्राप्त हुए थे। क्या यह सब 'शून्य' की प्राप्ति के लिए था?

रवीन्द्रनाथ की कवि-प्रकृति ने बुद्ध के जीवन के इस पहलू में अपूर्व प्रकाश की छटा देखी थी और बुद्ध का यही पहलू हमें आकर्षित करता है। बुद्ध के मानस की इस करुणामूलक पृष्ठभूमि का, जिसे **'ब्रह्म-विहार'** कहते हैं, वर्णन करते हुए कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कहा है:

"**ब्रह्म-विहार** का पाठ कोई प्रवचन नहीं था और न ही नैतिक सिद्धान्तों का सामान्य प्रतिपादन। हम जानते हैं कि उनके जीवन में वह साकार रूप में विकसित हुआ। सर्वव्यापी सदा जागृत दया की भावना कोई आवश्यकता से प्रेरित वस्तु नहीं थी। वह किसी कारण से उत्पन्न नहीं हुई थी। वह मैत्री-भावना थी। वह मानव-चर्चा का विषय नहीं थी। वह सत्य के रूप में प्रकट हुई। यह भावना मानवता के कोषागार में सदा-सर्वदा सुरक्षित रहेगी।"

चतुर्थ आर्य सत्य—अष्टांग मार्ग

चतुर्थ आर्य सत्य है—दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपद्। यह है 'अष्टांग मार्ग', जो दुःख के निरोध की ओर ले जाने वाला मार्ग है। जीवन के शाश्वत सहचर दुःख का मूल स्रोत मनुष्य के मानसिक बन्धनों और शारीरिक आकांक्षाओं में निहित है। जीवन नाना पथों और पगडंडियों से यात्रा करता है। आस-पास की झाड़ियों से निरन्तर अपमान और आक्रमण होते रहते हैं। जिससे अन्त में पथ दुःखदायी हो जाता है और इस प्रकार पुनः एक नया पथ खुलता है। समस्या ऐसा पथ चुनने की होती है, जो यात्री को यात्रा के लक्ष्य तक पहुँचा दे।

भगवान् बुद्ध ने मानवता के लिए जिस पथ का निर्माण किया है, उसे अष्टांग मार्ग कहते हैं। धम्मपद में कहा गया है—जिस प्रकार सत्यों में चार आर्य सत्य श्रेष्ठ हैं और मनुष्यों में आँखें खोल कर चलने वाला मनुष्य श्रेष्ठ है, उसी प्रकार सब मार्गों में अष्टांग मार्ग श्रेष्ठ है।

अष्टांग मार्ग में निम्न बातों का समावेश होता है:

१. **सम्यक् दृष्टि**—सम्पूर्ण व्यापक अखण्ड दृष्टि और ज्ञान।

२. **सम्यक् संकल्प**—मार्ग निर्धारित करने के बाद उस पर चलने का पूरा अपरिवर्तनीय आग्रह।

इन दोनों का प्रज्ञा अर्थात् विवेक में समावेश होता है

३. **सम्यक् वाचा**—सही भाषण, सम्पूर्ण भाषण, अर्थात् हम ऐसा कोई शब्द न बोलें, जो निर्वाण के आदर्श के अनुपयुक्त हो।

४. **सम्यक् कर्मान्त**—पूर्ण निर्देशित कर्म। केवल नैतिक सिद्धान्तों के ज्ञान से उस व्यक्ति को कोई लाभ नहीं हो सकता, जिसके कर्म धर्म और आदर्शों के विपरीत हों।

५. **सम्यक् आजीव**—अनुचित आजीविका को छोड़ना।

इन तीनों प्रयत्नों का समावेश शील अर्थात् नैतिक सदाचार में होता है।

६. **सम्यक् व्यायाम**—कुशल धर्मों के सिद्धान्त और दृष्टिकोण को व्यवहार में लाने के लिए सम्पूर्ण और सही पुरुषार्थ।

७. **सम्यक् स्मृति**—सम्पूर्ण एकाग्रता।

८. **सम्यक् समाधि**—कामादि भावों से रहित होकर उन आदर्श विषयों पर ध्यान केन्द्रित करना, जो निर्वाण-प्राप्ति में सहायक हों।

अन्तिम तीनों का समावेश योग और ध्यान की समान समाधि अथवा एकाग्रता की श्रेणी में होता है।

पंचशील

अष्टांग-मार्ग के अनुसरण का व्यावहारिक उपाय है—शील अर्थात् नैतिक नियमों का पालन। इनका भी विस्तृत वर्णन और वर्गीकरण किया गया है। इनको पंचशील कहा जाता है। यह स्पष्ट है कि शील के आचरण का सम्बन्ध मनुष्य के अपने बन्धुओं के प्रति होने वाले व्यवहार से है। पंचशील के पालन से व्यक्ति को बल और मानसिक सौन्दर्य उपलब्ध होता है। इससे मनुष्य को निरर्थक आचरणों और बन्धनों से मुक्त होने में सहायता मिलती है। सामाजिक दृष्टि-कोण से ये आचार-नियम श्रेष्ठ हैं। यदि समाज का प्रत्येक व्यक्ति उन पर आचरण करे, तो यह पृथ्वी स्वर्ग बन सकती है।

पंचशील इस प्रकार हैं :

१. मैं किसी प्राणी की हिंसा नहीं करूँगा—इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

२. मैं ऐसी कोई सम्पत्ति प्राप्त नहीं करूँगा, जो मुझे उसके मालिक से न्यायोचित रीति से नहीं मिली होगी और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

३. मैं काम-विषयक दुराचार नहीं करूँगा और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

४. मैं असत्य भाषण नहीं करूँगा और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

५. मादक पेयों और औषधियों का सेवन नहीं करूँगा और इसे मैं अपनी साधना का एक चरण स्वीकार करता हूँ।

इस मार्ग की आठ बातों में कितना विवेक छिपा है, यह आसानी से ज्ञात हो सकता है। जब तक मनुष्य पार्थिव अस्तित्व के अनित्य स्वरूप को सम्पूर्णतया नहीं देख लेगा, तब तक वह मिथ्या कल्पना और अहंकार की भूलभुलैया से बाहर नहीं निकल सकता। साथ ही केवल दृष्टि भी कुछ काम नहीं आ सकती, जब तक मनुष्य इन विचारों को व्यवहार में नहीं लाता। शील जीवन का व्यावहारिक मार्ग है।

मैंने संक्षेप में आर्य सत्यों और अष्टांग मार्ग की चर्चा की है। बुद्ध से पूर्वकालीन कुछेक भारतीय दर्शन और नैतिक आचार-संहिताओं के साथ तुलना करने से पता चलता है कि ये सिद्धान्त भगवद्गीता और उपनिषदों में भी बिखरे पड़े हैं। भक्ति-परम्परा में सृष्टिकर्ता के रूप में ईश्वर को माना जाता है, किन्तु कट्टर बौद्ध मत के अनुसार बुद्ध ने ऐसे ईश्वर की सत्ता को मान्यता नहीं दी।

बुद्ध ने स्पष्ट और प्रभावशाली रूप में उन गुणों का वर्णन किया है, जो मानव की दृष्टि को उन्नत कर सकते हैं। विश्व के किसी भी व्यक्ति के लिए ये चार सत्य और अष्टांग-मार्ग हितकारी हैं। उनके वर्गीकरण का आधार असाधारण है और उनका व्यावहारिक आचरण अवश्य ही मानवता को अन्ध बनाने वाले भ्रम के आवरण को हटा कर मनुष्य को मोक्ष की ओर ले जायेगा।

जैन दर्शन व बौद्ध दर्शन में कर्म-वाद एवं मोक्ष

डा० वीरमणिप्रसाद उपाध्याय, एम० ए०, डी० लिट्, साहित्याचार्य,
अध्यक्ष— संस्कृत विभाग, गोरखपुर-विश्वविद्यालय

कर्म-विपाक का सिद्धान्त, सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति (चार्वाक को छोड़कर) और दार्शनिक चिन्तन की मूल आधार-भित्ति का निर्माण करता है। ऋग्वेद के समय से लेकर उपनिषदों, बुद्ध और महावीर के वचनों तथा उनसे विकसित दर्शनों में और सभी आस्तिक सम्प्रदायों में इस सिद्धान्त का विकसित रूप उपलब्ध होता है। अविद्या के हेतु कर्म उत्पन्न होते हैं, कर्म संस्कारों के जनक है, संस्कार कामना के हेतु हैं, कामना ही जीवन का स्रोत और क्रिया का द्वार है, और क्रियाओं से सम्पूर्ण लौकिक विकल्प-जाल ग्रथित होता है। ये सभी विकल्प प्रपञ्च-रूप हैं और प्रपञ्च ज्ञान-हेतुक हैं, जो परमतत्त्व (Absolute) के यथार्थ स्वरूप को मलिन और आवृत्त कर लेते हैं। अज्ञान से, जो कर्म का ही एक विशेष रूप है, असीमित सीमित रूप में प्रकट होता और शुद्ध मलिन रूप में भासित होता है। आर्षदर्शनों और जैन सम्प्रदाय में इसी को ही जीव का बन्ध कहा जाता है। जैन दर्शन कर्म और आत्मिक अवयवों के मिथः सम्मिश्रण को ही बन्ध रूप मानता है। शैव दर्शनों में भी आणव मलों से ही जीव का पशु-भाव सम्पन्न होता है। योग दर्शन और सभी बौद्ध सम्प्रदायों में एक भव के कर्म दूसरे भव के हेतु माने गए हैं। प्रत्येक भव में पृथक्-पृथक् संस्कार और अविद्या प्रोद्भूत होते हैं। ये संस्कार या उपादान कर्महेतुक हैं। ये भव के हेतु हैं और जाति को भव-प्रत्यय कहा गया है। इस प्रकार कर्म ही इस अनादि भव-चक्र या प्रपञ्च-जाल के हेतु है। हम यहाँ संक्षेप में बौद्ध और जैन कर्म-सिद्धान्तों के एक विशेष पक्ष को लेकर उनकी समीक्षा कर रहे है।

बौद्ध दर्शन में कर्मवाद

यह ऊपर बताया जा चुका है कि बौद्ध दर्शन कर्म को अनादि भव-चक्र का हेतु मानता है। उसने लोक-वैचित्र्य का हेतु भी और कुछ न मानकर कर्म को ही माना है। ये कर्म सामान्य रूप से दो प्रकार के माने गए हैं—चेतना या मानसिक कर्म (मनस्कार) और चेतयित्वा कर्म, जिसकी उत्पत्ति में मानस कर्मों की अपेक्षा होती है। ये दूसरे प्रकार के कर्म कायिक और वाचिक के भेद से दो प्रकार के माने गए है। आश्रय, स्वभाव और समुत्थान के विचार से भी विविध कर्मों के भेद सम्भव होते हैं। वसुबन्धु कृतकर्म और उपचित कर्म में भेद मानते है।[1] उन सञ्चित कर्मों को ही 'उपचित कर्म' कहते हैं, जो अपना फल प्रसूत करना आरम्भ कर देते हैं। बुद्धिपूर्वक किये गए कर्म 'उपचित कर्म' कहे जाते है। जो कर्म विपाक-दान से नियत है, वही उपचित होता है; जो कर्म अनियत है, वह उपचित नहीं होता। जो कर्म असमाप्त होते हैं वे उपचित न होकर 'कृत कर्म' की संज्ञा से सम्बोधित किये जाते हैं। दूसरे शब्दों में अनियत विपाक कर्म ही 'कृत कर्म' कहे जाते हैं।

विशुद्ध मानसिक कर्म, जिन्हे 'चेतना कर्म' की संज्ञा दी गई है, अपने अभीष्ट की प्राप्ति कायिक और वाचिक कर्मों के बिना ही कर सकते हैं। मैत्री-चित्त इस मानस कर्म का एक निर्धारक हेतु है। इस चेतना से पृथक् कार्य-विज्ञप्तियाँ और वाग्-विज्ञप्तियाँ होती हैं। ये मानस कर्म से पृथक् उदित नहीं हो सकतीं। क्षणिक चेतना पौनःपुन्येन अभ्यासवश

---

१ अभिधर्म कोश, ४।१२०

कार्यविज्ञप्ति के समुत्थान द्वारा गुरु होती है। प्रयोग, मौल-प्रयोग, मौल-कर्म पथ और पृष्ठ—इन चतुर्विध हेतु-प्रत्ययों से कर्म की यह गुरुता प्राप्त होती है।

विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति के भेद से सभी कर्म दो प्रकार के होते हैं। विज्ञप्ति चित्त की अभिव्यक्ति करती है। अविज्ञप्ति इसके विपरीत है। विज्ञप्ति और अविज्ञप्ति के भेद से उपर्युक्त कर्म द्विविध पाये गए हैं, जो पुनः कुशल-अकुशल के दो स्थूल वर्गों में विभक्त किये गए हैं। व्यक्ति की चित्त-सन्तान और मनःस्थिति के भेद से उसकी अविज्ञप्तियाँ संवर-असंवर आदि रूपों में व्यक्त होती है।

सभी कर्म अपना-अपना कर्म-फल उत्पन्न करते हैं और ये कर्म-फल लोक-वैचित्र्य के हेतु हैं। सत्वों के कर्म का प्रभाव भाजन, लोक की नित्यता, अस्थायिता, सम-विषम परिणाम आदि पर पड़ता है। ये कर्म-फल—कारण-हेतु से निवृत्त 'अधिपति फल,' सत्वा-हव्य कुशलाकुशलव्यतिरिक्त 'विपाक-फल,' और 'सभाग' तथा 'सर्वत्रग' हेतुओं द्वारा प्रदत्त 'निष्पन्न फल', तीन प्रकार के होते हैं।

नियत कर्म त्रिविध बताये गए हैं—दृष्टधर्म वेदनीय, उपपद्य वेदनीय और अपरपर्याय वेदनीय। अनियत कर्म दो प्रकार के होते हैं—नियत विपाक और अनियत विपाक।[1]

स्थविरवादी व्यक्ति की चेतना में ही कर्म का उद्भव मानते हैं। लोभ, दोष, मोह तथा इनके प्रतियोगी अलोभ आदि चेतना के निर्माणक तत्त्व (Constituents) हैं। जीवन वस्तुतः इन्हीं में निहित है। संज्ञा, वेदना और चेतना इन त्रिविध प्रक्रियाओं का संघात ही चित्त के रूप में उपलब्ध होता है। यह चित्त (=चेतना) तीन प्रकार का माना गया है—कुशल,[2] अकुशल और अव्याकृत। कर्म भी कुशल-अकुशल आदि भेद से त्रिविध माने जाते हैं। कुशल कर्म शुभ विपाक दान में सामर्थ्य रखते हैं। इनके फल शोभन होते हैं। ये कर्म परार्थ और आत्मोत्सर्ग की भावना से अनुप्राणित होते हैं। पृथक् जनों के कर्म ही विपाक-दान-समर्थ होते हैं, किन्तु अर्हत् के कर्म ऐसे नहीं होते। इसीलिए उनके कर्मों को 'अक्रिय' (**अकिरिय**) कहा गया है। अकुशल चित्त अशुभ भावनाओं से संयुक्त रहता है और लोभ, दोष, मोह के त्रितय में से किसी एक से अवश्य सम्बद्ध रहता है। अव्याकृत (**अव्याकत**) चित्त किसी भी प्रकार के विपाक-दान में सामर्थ्य नहीं रखता। उसे निर्विपाक चित्त कहा जा सकता है। यह अहेतुक होता है और लोभ, अलोभ आदि षड्विध हेतुओं से नियत नहीं होता। चित्त की त्रिविध भूमियाँ (परित्त, महग्गत, लोकुत्तर) स्वीकृत हैं और क्रमेण ये निर्वाण के अधिगम में सहायक होती हैं। कर्मों के पृथक्-पृथक् कार्य होते हैं और उन्हीं के अनुसार उनका स्वरूप निर्धारित होता है। ये कर्म हैं—जनक, उपष्टम्भक, उपपीड़क और उपघातक।

संक्षेप में यह बौद्ध दृष्टिकोण से कर्मों का स्वरूप और उनका वर्गीकरण है।

जैन दर्शन में कर्मवाद

जैन विचारधारा में आत्मा या जीव अपने वास्तविक रूप में अत्यन्त विमल और ज्ञान-स्वरूप होता है, जो अनेक आस्रवों और मलों से संयुक्त होकर विभिन्न रूपों में अनुभव और व्यवहार का विषय बनता है। कर्म-पुद्गल जीव के कषाय स्वरूप से नियत होते हैं और कर्म-पुद्गल कषायों का स्वरूप निर्धारित करते हैं। कर्म-पुद्गल और जीव का यह सम्बन्ध अनादि काल से प्रवाह रूप में चला आ रहा है।

यथार्थवादी और अनेकान्तिक विचारधारा रखने के कारण जैन व्यवहारतः लब्ध सत्य पर भी विश्वास रखते हैं। पुद्गल और उनके धर्मों (modes and qualities) को व्यवहार में तद्रूप और अतद्रूप दोनों माना गया है और इस प्रकार एकता और भिन्नता के सहव्यापी सिद्धान्त (identity-cum-difference) का प्रतिपादन किया गया है। अन्य दर्शनों के विभिन्न दृष्टिकोणों का अतिक्रमण करते हुए जैन यह मानते हैं कि जिस प्रकार दूध में पानी मिल जाता

१ द्रष्टव्य, आचार्य नरेन्द्रदेव, बौद्ध धर्म दर्शन, पृ० ५५०-५७७; अभिधर्म कोश, कोशस्थान, ४
२ इसे 'शोभन' भी कहते हैं

है, उसी प्रकार कर्म-पुद्गलों के विभिन्न अवयव जीव के स्वरूप से संयुक्त हो जाते हैं और इसी रूप में उसका बन्ध व्यपदिष्ट होता है। जीव की अवगाहना तदाश्रयीभूत देह के परिणाम के साथ-साथ संकुचित होती है और विकास को प्राप्त होती रहती है। जब जीव का स्वरूप आस्रवों और कषायों से इतना वासित हो जाता है कि वह अपने पूर्व स्वरूप में गृहीत नहीं हो सकता, तो कर्म-पुद्गल के अवयव उसके (व्यवहारतः उपलब्ध) स्वरूप से सम्मिश्रित होकर गृहीत होते हैं। यही उसका बन्ध है। इसी रूप में कर्म और जीव का तादात्म्य भी सम्भव होता है। जबकि बौद्ध अमूर्त विज्ञान पर मूर्त कर्म का आवरण स्वीकार न कर उसे अमूर्त अविद्या और वासनाओं से उपप्लुत हुआ मानते हैं, जैन अमूर्त आत्मा पर मूर्त कर्म के कषायों का आवरण (या उनके अवयवों का मेलन) स्वीकार करते हैं, क्योंकि वे व्यवाहरतः उपलब्ध जगत् के अस्तित्व का बौद्ध योगाचारियों की भान्ति निषेध नहीं करते। उनका अभिप्राय है कि व्यवहारतः उपलब्ध मलों से अमूर्त आत्मा ग्रस्त हो सकता है; क्योंकि दोनों व्यवहार के स्तर पर एकत्र उपलब्ध होते हैं। जैन दर्शन पूर्णतः अनेकान्तवादी और स्याद्वादी है; अतः वह कर्म को पुद्गल रूप और आत्मा (जीव) से उनके बन्ध-क्षण में संयुक्त होने वाला मानता हैं। इसी दृष्टि से जीव का कार्मण शरीर सम्भव होता है। इस प्रकार कर्म-पुद्गल आत्मा की विमल प्रवृत्ति को मलिन बना देते हैं। जो कर्म-पुद्गल उसके ज्ञान तथा दर्शन को आवृत कर देते हैं, वे क्रमशः 'ज्ञानावरण' और 'दर्शनावरण' की संज्ञा प्राप्त करते हैं। कर्म-पुद्गल का वह रूप, जो स्वाभाविक आनन्द को रोककर भौतिक सुखों और वेदना की प्रसूति करता है, 'वेदनीय कर्म' कहा जाता है। जो कर्म-पुद्गल आत्मा के चरित्र-गुण और श्रद्धा-गुण को आवृत करते हैं, वे 'मोहनीय-कर्म' कहे जाते हैं। कर्म का जो रूप, अनन्त आयुष्य को सीमित कर देता है, 'आयुष्य कर्म' कहलाता है और देह-विहीन तत्त्व को देहधारी बनाने वाले कर्म नाम-कर्म की संज्ञा से व्यवहृत होते हैं। उच्च-नीच गोत्र को प्राप्त कराने वाले कर्म यदि 'गौत्र कर्म' कहे जाते हैं, तो जीव की अनन्त शक्तियों को रोकने और धन, सुख इत्यादि के उपभोग में अन्तराय-रूप आने वाले कर्म 'अन्तराय कर्म' कहे जाते हैं। इन अष्टविध कर्मों[1] के अनेक भेदोपभेद भी जैनागमों में वर्णित हैं।[2] किन्तु स्थानाभाव के हेतु से उनके बारे में कुछ कहना यहाँ शक्य नहीं है।

जीव[3] कर्म से किस प्रकार सम्बद्ध होता है—इसकी जैन दर्शन में पाँच अवस्थाएं बताई जाती हैं—औदयिक औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक।[4] इनमें से अन्तिम अवस्था ही जीव का वास्तविक स्वरूप है, जो ज्ञान से न तो अत्यन्त भिन्न ही है और न नितान्त अभिन्न भी।[5] शेष भाव जीव की विभिन्न स्थितियाँ हैं, जो कर्म से उसके सम्बन्ध हो जाने के हेतु होती हैं। औदयिक भावों में जीव कर्म के अवयवों से पूर्णतः ग्रस्त रहता है, किन्तु शेष अवस्थाएं ऐसी नहीं होतीं। जब कर्म क्रियाशील नहीं रहता, तो उस अवस्था को औपशमिक भाव कहते हैं। कर्म विषयों का जब नितान्त क्षय हो जाता है तो वही क्षायिक भाव कहलाता है। यही जीव के बन्ध-विगम रूप मोक्ष की अवस्था है। क्षायोपशमिक भाव में इन दोनों भावों का सम्मिश्रित रूप होता है। इसमें कुछ कर्म निरुद्ध हो जाते हैं और कुछ वर्तमान रहते हैं।

जैन दर्शन में मोक्ष

जैन दर्शन यह मानता है कि कर्मों के बन्ध होने के पश्चात् व फल-प्रसूति के पूर्व कुछ समय तक वे अक्रिय रहते हैं। यह समय उनकी शब्दावली में 'अबाधाकाल' कहा जाता है। इस अबाधाकाल के विगत हो जाने पर वे फल-

१ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र, ८-४, तथा वृत्ति

२ देखिये—वही, ८।५ तथा वृत्ति; Dr. Nathmal Tantia, Studies in Jain Philosophy p. 233ff.

३ जैन विचारधारा में आत्मा या जीव के स्वरूप के विस्तृत विवेचन के लिए, द्रष्टव्य, समयसार, मूर्ति देवी जैन ग्रन्थ माला सीरीज में प्रकाशित

४ तत्त्वार्थ सूत्र, २।१

५ देखिए—सर्वदर्शन संग्रह, ५।६ में उद्धृत वाक्य

प्रसवार्थ उदय की अवस्था में आते हैं। उनका यह उदय फल-विपाक की अवस्था तक रहता है और इसके पश्चात् वे आत्मा में विलग हो जाते हैं। जैन दर्शन में कर्म ग्रहण करने वाले जीव के परिणाम, आस्रव कहे जाते हैं। इनका निरोध ही 'संवर' के नाम से वहाँ व्यपदिष्ट हुआ है। आस्रव ही भव का हेतु है और संवर ही मोक्ष-प्राप्ति का प्रमुख कारण है। ऐन्द्रियिक विषयोपभोग की प्रवृत्तियों का निरोध ही संवर है। संवर द्वारा आत्मा में प्रवेश पाता हुआ कर्म निरुद्ध हो जाता है। अतः संवर द्वारा उनका निरोध कर, मन, वचन और शरीर की शुभ प्रवृत्ति द्वारा लगे हुए कर्मों का विच्छेद कर समस्त सांसारिक क्लेशों से आत्मा का मोक्ष सम्भव होता है। जो कर्म का उपचय आत्म-स्वरूप में समाविष्ट रूप से गृहीत हुआ था, उसकी तप के द्वारा निर्जरा (जला देना) तथा मानसिक, वाचिक और कायिक प्रवृत्तियों की गुप्ति और पांच महाव्रत आदि से संवर करना—ये ही जैन दर्शन में जीव के बन्ध-विगम रूप मोक्ष की प्राप्ति के प्रमुख हेतु-भूत हैं। इनके सम्यक् आचरण करने पर मोक्ष प्राप्ति हो सकती है।

जैन 'अर्हत्' का सिद्धान्त भी इस संवर और निर्जरा की कल्पना से अति निकट रूप से सम्बद्ध है। अर्हत् अपनी सभी इच्छाओं को जला कर क्लेश सहन करते हुए सम्पूर्ण सांसारिक कामनाओं, कर्मों, सुख-दुःख, तृष्णा, आदि का क्षय कर परम पद को प्राप्त करते हैं और निर्वाण लाभ करते हैं।[1]

इस प्रकार जैन दर्शन संवर के साथ-साथ कर्मों के क्षय पर विशेष बल देते हुए निर्जरा तत्त्व को इसके क्षय का प्रधान कारण बतलाते हैं। जैन योग का इस दृष्टि से बड़ा ही महत्त्व है। यह जैनियों के आचार, चारित्रिक शुद्धि और साधना की पवित्रता का द्योतन करता है।

एक समीक्षा

बौद्धों का कर्म-सिद्धान्त यद्यपि पृथक् रूप से उदित हुआ, तथापि वह जैन सिद्धान्तों से बहुत विलग न रह सका। वहाँ यद्यपि कर्म-विपाक का सिद्धान्त जैनों से कुछ पृथक् रूप में निबद्ध हुआ, तथापि लक्ष्य से एक होने के कारण वह बहुत कुछ समान रहा।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि जैन कर्म-पुद्गलों के अवयवों के जीव के साथ अविभागापन्न रूप से अवस्थान को ही बन्ध के नाम से व्यपदिष्ट करते हैं।[2] बौद्ध भी भंगान्तर या उक्त्यन्तर से इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। 'द्वादशाङ्ग प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धान्त के मूल में कर्मवाद का सिद्धान्त ही प्रतिष्ठित है, जिसके निमित्त से सम्पूर्ण भव-चक्र, पुनर्जन्मादि की व्यवस्था और लोक में विचित्रता सम्भव होती है। क्लेश और कर्म से बंधा हुआ विज्ञान-सन्तान पर-लोक की यात्रा करता है और इस प्रकार स्कन्धों से पृथक् रूप में अपने विशुद्ध विज्ञान में प्रतिष्ठित नहीं होता। हीनया-नियों का शमथ-दान और उनकी अर्हत् कल्पना इस जैन विचार से कदापि अप्रभावित नहीं मानी जा सकती। इन्द्रिय-निरोध और सामाजिक अवस्थाओं के प्रति उपेक्षा तथा प्राचीन बौद्धवाद में समाधियों और शमथ का निवेश आदि बातें स्पष्ट रूप से जैनों की देन ही है और इस दृष्टि से दोनों की विचारधाराओं में पर्याप्त साम्य ही है।

जैनों और बौद्धों के कर्म-सिद्धान्त की तुलना करने पर यह ज्ञात होता है कि यदि जैन कर्म को पुद्गल रूप मानते थे और उसके अवयवों का अमूर्त जीव से सम्बन्ध मानते थे तो बौद्ध इस विचार से कदापि सहमत न थे। कर्म के ऐसे अवयववादि की कोई स्फुट कल्पना बौद्धवाद में दृष्टिगत नहीं होती। साथ ही अमूर्त विज्ञान का मूर्त कर्मावयवों के साथ वहाँ सम्बन्ध भी लक्षित नहीं किया गया है। जहाँ तक कर्मों के स्वरूप और वर्गीकरण का प्रश्न है, जैन और बौद्ध दोनों ही परम्पराओं में कर्म की विचारधाराएं पृथक्-पृथक् रूपों में पल्लवित हुई हैं और उनका भिन्न परम्पराओं में विकास हुआ। कर्म और मोक्ष के सम्बन्ध पर यह बौद्ध और जैन सम्प्रदायों का एक सादृश्य दिखला कर अब हम अपने इस लघु लेख को समाप्त करेंगे।

---

१ सर्वदर्शनसंग्रह, पृ० ८०

२ देखिये वही, पृ० ८१

परवर्ती बौद्ध साहित्य (महायान) में कर्म और क्लेशों के क्षय से मोक्ष की उपपत्ति स्वीकार की गई है। जब अशेष कर्म वासनाएं लुप्त हो जाती हैं, अविद्या और संस्कार भी निःशेष रूप से क्षपित हो जाते हैं, रागादिक भी शान्त हो जाते हैं, तृष्णा का पुनः उदय नहीं होता और सभी क्लेश और मोह उच्छिन्न हो जाते हैं, तब विशुद्ध विमल ज्ञान-रूप बोधि-स्वरूपिणी प्रज्ञा का, पुण्य सम्भार (पञ्च-पारमिताओं, दान, शील आदि के) उपचय (अभ्यास) से उदय होता है और परम सुख, शान्ति और आनन्द रूप निर्वाण का उदय होता है तथा सभी प्रकार के क्लेशावरण और ज्ञेयावरण का भी प्रहाण हो जाता है। इस दृष्टि से भी बौद्ध दर्शन और जैन दर्शन में कर्म तथा मोक्ष के विषय को लेकर पर्याप्त विचार-सादृश्य लक्षित होता है।

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन

प्रो० उदयचन्द्र जैन

हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी

भारत पुरातन काल से ही धर्म तथा दर्शन-प्रधान देश रहा है। इस देश के ऋषि-महर्षियों ने समस्त भूमण्डल को अलौकिक ज्योति तथा दिव्य ज्ञान दिया है। इस भूमण्डल पर सभ्यता का जो विस्तार हुआ है, उसका श्रेय भारत को ही है। मनु ने कहा है—

एतद्देश प्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात् इस देश के अग्रजन्मा ब्राह्मणों से पृथिवीतल के समस्त मानवों ने अपने-अपने चरित्र को सीखा। मनुष्य की विचार-शक्ति का जितना भी विकास हुआ है, उसका प्रधान कारण दर्शन ही है। विवेकशील प्राणी होने के कारण मनुष्य प्रत्येक कार्य या बात में अपनी विचार-शक्ति का उपयोग करता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का दर्शन होता है, जो उसके जीवन के साथ सदा सम्बन्धित रहता है। मनुष्य और पशु में अन्तर केवल दर्शन का ही है। यदि मनुष्य में से दर्शन को निकाल दें, तो मनुष्य मनुष्य न रहकर निरा पशु रह जाएगा।

यद्यपि प्रत्येक मनुष्य का अपना दर्शन होता है, फिर भी वह इस बात से अनभिज्ञ रहता है कि दर्शन क्या है ? दर्शन का अर्थ होता है—**दृश्यते अनेन इति दर्शनम्**; अर्थात् जिसके द्वारा देखा जाए वह दर्शन है। क्या देखा जाय ? वस्तु का यथार्थ स्वरूप। जीवन क्या है, आत्मा है या नहीं, हम कहाँ से आए हैं, इस जगत् का स्वरूप क्या है, इसका कोई कर्ता है या नहीं, ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं, जीव शरीर के साथ ही समाप्त हो जाता है या उसका पुनर्जन्म होता है, इत्यादि बातों पर विचार करना दर्शन का काम है। दर्शन के साथ 'शास्त्र' शब्द भी लगा हुआ है। शास्त्र और विज्ञान का अर्थ एक ही होता है। दर्शन-शास्त्र इस संसार से सम्बन्धित सब बातों का वैज्ञानिक अध्ययन करता है। यहाँ के महर्षियों ने अपने दिव्यज्ञान से जिस वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार किया, वही दर्शन के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। भारतीय दर्शन का एक निश्चित उद्देश्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए वह प्रयत्नशील रहता है तथा उसकी प्राप्ति के उपाय भी बतलाता है। संसार में चार बातें ऐसी हैं, जिनको प्राप्त करना पुरुष का कर्तव्य हो जाता है। नाम भी उनका पुरुषार्थ है। पुरुष का अर्थ अर्थात् प्रयोजन। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ कहे गए हैं। इनमें से मोक्ष या मुक्ति उत्कृष्ट पुरुषार्थ है। इस संसार में समस्त प्राणी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—इन तीन प्रकार के दुःखों से सदा सन्तप्त रहते हैं। इन दुःखों से छुटकारा कैसे मिले, इसका उपाय 'दर्शन' बतलाता है। दुःखों से छूटना ही पुरुष का अन्तिम लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति कराना 'दर्शन' का काम है। इसलिए दर्शन-शास्त्र 'मोक्ष-शास्त्र' भी कहलाता है।

पाश्चात्य परम्परा में दर्शन-शास्त्र को 'फिलासॉफी' (Philosophy) कहते हैं। यह शब्द दो ग्रीक शब्दों के मेल से बना है : फिलास (प्रेम) तथा सोफिया (विद्या)। इसका अर्थ हुआ—विद्या का प्रेम या अनुराग। इस भूमण्डल पर अनेक विचित्र-विचित्र पदार्थ देखने में आते हैं। उनको देखकर यह जिज्ञासा होती है कि यह क्या है। बस इसी जिज्ञासा की पूर्ति के लिए पश्चिम में फिलासॉफी का उदय हुआ है। ग्रीक दार्शनिक प्लैटो ने कहा है—'फिलासॉफी का उदय आश्चर्य

से होता है।'[1] इतने से ही यह पता चल जाता है कि फिलॉसॉफी और दर्शन के अर्थ में कितना भेद है। पश्चिम में फिलॉसॉफी का न तो कोई लक्ष्य है, और न उस लक्ष्य की प्राप्ति के साधन। फिलॉसॉफी का काम कुछ विद्वानों का मनोविनोद मात्र है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। किसी को कुछ जिज्ञासा हुई; उसकी शान्ति के लिए कुछ तर्क-वितर्क कर लिया; इतने मात्र से ही फिलॉसॉफी का काम पूर्ण हो गया। पश्चिम में धर्म तथा दर्शन में कभी सामञ्जस्य नहीं रहा। इसके विपरीत कभी दर्शन का प्राधान्य रहा, तो कभी धर्म का और ऐसा होने से एक दूसरे का सहायक न होकर प्रत्युत घातक ही हुआ है। पश्चिम में मध्य युग में धर्म का प्राधान्य था। उस समय ईसाई धर्म के सम्प्रदाय ने दर्शन का गला घोंट डाला। अब यद्यपि धर्म का प्राधान्य नहीं है, परन्तु दर्शन का भी उतना महत्त्व नहीं रहा; क्योंकि विज्ञान ने धर्म तथा दर्शन दोनों पर अधिकार कर लिया है। आरम्भ में दर्शन के अन्तर्गत विज्ञान भी आता था। लेकिन अब पाश्चात्य देशों में दर्शन से विज्ञान को पृथक् कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त पश्चिम में दर्शन का धाराप्रवाह रूप से कोई क्रमिक विकास नहीं हुआ है। वहाँ जितने भी दार्शनिक हुए, प्रायः उनका दर्शन पृथक् पृथक् रहा है। एक दार्शनिक के विचार प्रायः उसकी मृत्यु के साथ ही सीमित होकर रह गए। ऐसा बहुत कम देखने में आया है कि एक दार्शनिक के विचारों को दूसरे दार्शनिक ने आगे बढ़ाया हो। यद्यपि उक्त बात का सर्वथा अभाव नहीं है।

भारतीय दर्शन में यह बात नहीं है। यहाँ दर्शन के अनेक समुदाय हैं और प्रत्येक समुदाय के विकास में सैकड़ों व्यक्तियों का हाथ रहा है। यहाँ किसी व्यक्ति ने अपना पृथक् दर्शन नहीं बनाया, किन्तु पूर्व परम्परा से आगत दर्शन में अपने विचारों को मिलाकर उस दर्शन के विकास में पूर्ण सहयोग दिया है। यहाँ धर्म तथा दर्शन में कभी विरोध नहीं रहा है। प्रत्युत दोनों के सामञ्जस्य ने परस्पर की उन्नति में बड़ा सहयोग प्रदान किया है। भारतीय दर्शन धर्म के सिद्धान्तों को तर्क की कसौटी पर कसने से घबड़ाता नहीं है, अपितु ईश्वर जैसे विषय पर भी अपना स्वतन्त्र विचार प्रगट करता है। भारतीय दर्शन की दृष्टि सदा व्यापक रही है। पाश्चात्य दर्शन की अपेक्षा भारतीय दर्शन अधिक व्यावहारिक तथा सुव्यवस्थित है।

पाश्चात्य दर्शन का श्रेणी-विभाग

तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics)—इसमें भौतिक तथा मानसिक पदार्थों के अस्तित्व के विषय में विचार किया जाता है। कुछ लोग केवल भौतिक पदार्थों की ही सत्ता मानते हैं। ये लोग भौतिकवादी कहलाते हैं। अन्य लोग केवल मानसिक पदार्थों की ही सत्ता मानते हैं। ये प्रत्ययवादी कहलाते हैं। कुछ लोग भौतिक तथा मानसिक दोनों पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता मानते हैं। ये द्वैतवादी कहलाते हैं। इन सब वादों का विस्तृत विचार तत्त्व मीमांसा में किया गया है।

प्रमाण-मीमांसा (Epistemology)—इसमें ज्ञान की विवेचना की जाती है। ज्ञान का स्वरूप, ज्ञान की मीमांसा, ज्ञान का प्रामाण्य, सत्यासत्य का निर्णय आदि विषयों पर गम्भीर विचार प्रमाण-मीमांसा में किया जाता है। कुछ पदार्थ अनुभव के द्वारा जाने जाते हैं। इन को अनुभवजन्य (a posteriori) कहते हैं। कुछ पदार्थ अनुभव में अगम्य हैं। इनको प्रागनुभव (a priori) कहते हैं। इनका विचार भी प्रमाण-मीमांसा में किया जाता है।

तर्कशास्त्र (Logic)—यह विचारों का विज्ञान है। इसमें विचार के उन नियमों का प्रतिपादन किया गया है जिनका पालन करने से हम विचारों में सत्यता की प्राप्ति कर सकते हैं और अपने विचारों में से गलतियों को दूर कर सकते हैं।

आचार-मीमांसा (Ethics)—मनुष्य का आचार-व्यवहार कैसा होना चाहिए, कर्तव्य क्या है, अकर्तव्य क्या है, इत्यादि आचार-शास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्तों का विस्तृत प्रतिपादन आचार-मीमांसा में किया गया है।

सौन्दर्य-शास्त्र (Esthetics)—सुन्दरता की तात्त्विक व्याख्या क्या है, किसी वस्तु को सुन्दर मानने का कारण क्या है, सौन्दर्य का मापदण्ड क्या है इत्यादि सौन्दर्य सम्बन्धी सिद्धान्तों की सैद्धान्तिक चर्चा सौन्दर्य-शास्त्र में की गई है।

---

१ Philosophy begins in wonder.

तर्क-शास्त्र, आचार-शास्त्र और सौन्दर्य-शास्त्र ये तीनों मिलकर **'सत्यं, शिवं, सुन्दरम्'** की तात्त्विक व्याख्या करते हैं।

मनोविज्ञान (Psychology)—इसमें मन की विभिन्न प्रक्रियाओं का अध्ययन किया जाता है। मन का स्वरूप क्या है, मन में विचार-शक्ति, इच्छा-शक्ति और क्रिया-शक्ति का प्रादुर्भाव किस प्रकार होता है, शरीर और मन में किस प्रकार का सम्बन्ध है, बाह्य चेष्टाओं के द्वारा आन्तरिक भावों का ज्ञान कैसे किया जाता है इत्यादि मन से सम्बन्ध रखने वाली समस्त बातों का विस्तृत विवेचन मनोविज्ञान में मिलता है। वर्तमान में यह विज्ञान जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने प्रयोग कर रहा है।

भारतीय दर्शन पर कुछ आरोप

कहा जाता है कि भारतीय दर्शन निराशावादी है, क्योंकि भारतीय दर्शन संसार का वह नग्न दृश्य उपस्थित कर देता है, जिससे कि मानव को संसार में कुछ सार प्रतीत नहीं होता है। यह आरोप यथार्थ बुद्धि के अभाव में ही सम्भव हो सकता है। क्या यह कहना निराशावादिता है कि संसार दुःखों से भरा है तथा जितने भी सुख हैं वे दुःखों से मिश्रित हैं? यदि भारतीय दर्शन संसार को असार और दुःख पूर्ण बतलाता है, तो वह दुःखों की निवृत्ति का मार्ग भी बतलाता है। मोक्ष के आनन्द की या ब्रह्मानन्द की प्राप्ति भी उसी के द्वारा होती है। कहा है—**'आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते**; अर्थात् आनन्द ब्रह्म का स्वरूप है और वह मोक्ष में मिलता है। संसार का आनन्द तो नकली आनन्द है। असली आनन्द मोक्ष है और वही अमृत है। कहा है—**भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति।** याज्ञवल्क्य ऋषि की पत्नी मैत्रेयी का कथन है—**येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्**; अर्थात् जिसके द्वारा मुझे अमृतत्व की प्राप्ति न हो उससे मुझे क्या करना है। मैत्रेयी उस अमृतत्व के सामने संसार के सारे पदार्थों को तुच्छ समझती है। नारद मुनि सनतकुमार के पास आकर कहते हैं कि मैंने समस्त विद्याओं का अध्ययन कर लिया है, किन्तु इससे मुझे कुछ भी सन्तोष नहीं हुआ। अब मुझे अध्यात्म विद्या की शिक्षा दीजिए; क्योंकि आत्माको जानने वाला शोक समुद्र से पार हो जाता है।[1]

इस प्रकार यदि भारतीय दर्शन संसार को दुःख-बहुल बतलाता है, तो उसकी निवृत्ति का उपाय भी बतलाता है। इस कारण वह निराशावादी कैसे सिद्ध हो सकता है। पाश्चात्य दर्शन में यह बात नहीं है। वहाँ दुःख की सत्ता तो बताई गई है, परन्तु उसकी निवृत्ति का कोई उपाय नहीं बताया गया है, प्रत्युत दुःख को स्थायी माना गया है। इस दृष्टि से भारतीय दर्शन निराशावादी न होकर पाश्चात्य दर्शन ही निराशावादी ठहरता है; क्योंकि वहाँ मनुष्य अपने प्रयत्न द्वारा दुःख से नहीं छूट सकता।

भारतीय दर्शन पर दूसरा दोषारोपण यह है कि त्याग की एव संसार से विरक्ति की शिक्षा देने के कारण वह अकर्मण्य है। यह ठीक है कि भारतीय दर्शन निवृत्ति की शिक्षा देता है, परन्तु साथ में वहाँ सत्प्रवृत्ति की शिक्षा भी दी गई है।

भगवद्गीता में योग द्वारा कर्ममार्ग और त्याग मार्ग का सामञ्जस्य किया गया है। योग का अर्थ है—ईश्वर के साथ तादात्म्य। यह तादात्मय कर्म से, ज्ञान से, ध्यान से तथा भक्ति आदि से भी हो सकता है। वहाँ कर्म को निष्काम कर्म के रूप में बतलाया है—**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेष कदाचन।** इस प्रकार भारतीय दर्शन को अकर्मण्य कहना तर्कसंगत नहीं है।

भारतीय दर्शन की विशेषताएं

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त, जैन, बौद्ध और चार्वाक—ये भारतीय दर्शन के प्रमुख मत हैं। चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शनों की सबसे बड़ी विशेषता है—लक्ष्य का अस्तित्व। उनका एक निश्चित लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए वे निश्चित साधन भी बतलाते हैं। वह लक्ष्य है—मोक्ष या मुक्ति। यद्यपि मुक्ति के स्वरूप के

---

१ **तरति शोकमात्मवित्**

विषय में दार्शनिकों में भेद है, तथापि मोक्ष नाम की वस्तु में सबका मतैक्य है। उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए यद्यपि विभिन्न दार्शनिकों ने विभिन्न मार्गो को बतलाया है, तथापि उन सबका लक्ष्य एक ही है। विभिन्न मार्गो को बतलाने में कोई विरोध भी नहीं आता है, क्योंकि एक ही स्थान पर कई मार्गो से पहुँचा जा सकता है।

यहाँ धर्म तथा दर्शन में सदा से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, क्योंकि दोनों का लक्ष्य एक ही है। दर्शन-शास्त्र के द्वारा धार्मिक तत्त्वों का निर्णय होने के कारण धार्मिक तत्त्वों की सुदृढ़ नींव दर्शन ही है। भारतीय दर्शन की धारा वैदिक काल से अविच्छिन्नरूप से प्रवाहित होती चली आ रही है। यहाँ दर्शन की उन्नति और विकास किसी व्यक्ति विशेष के कारण नहीं हुआ है, किन्तु पूर्व परम्परा से आगत सिद्धान्तों को आगे होने वाले महर्षियों ने वृद्धिगत किया है। यहाँ का दर्शन-शास्त्र बहुत ही स्वतन्त्र, लोकप्रिय तथा अध्ययन का विशिष्ट विषय रहा है। साथ ही अधिक व्यावहारिक तथा सुव्यवस्थित भी है। भारतीय दर्शन सदा ही उदार, व्यापक तथा विवेचनात्मक रहा है।

यहाँ के दर्शन पर दूसरे देशों के दर्शन का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा है। प्रत्युत यहाँ के दर्शन ने दूसरे देशों के दर्शन पर ही अधिक प्रभाव डाला है। यूनानी दार्शनिक पाइथेगोरस के धर्म, रेखागणित तथा दर्शन पर—विशेषरूप से अहिंसा, पुनर्जन्म आदि के सिद्धान्तों पर भारतीय दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। सूफी दार्शनिकों पर वेदान्त तथा तन्त्र का प्रभाव पड़ा है। दाराशिकोह ने उपनिषदों का फारसी भाषा में अनुवाद कराकर वितरित किया। फिर फारसी से लैटिन भाषा में अनुवाद हुआ, जिससे यूरोपीय दार्शनिक बहुत ही प्रभावित हुए। जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहावर ने उपनिषदों से प्रभावित होकर कहा था कि उपनिषद् मेरे जीवन में सन्तोष देने वाले रहे हैं, और मेरी मृत्यु में भी सन्तोष देने वाले होंगे।

जैन दर्शन

भारतीय दर्शन में अपने विपुल साहित्य एवं महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों के कारण जैन दर्शन अपना विशिष्ट स्थान रखता है। जैन दर्शन को सुप्रतिष्ठित करने वाले कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वाति, सिद्धसेन दिवाकर, अकलंक, विद्यानन्दि, हेमचन्द्र जैसे महान् आचार्य हुए हैं, जिन्होंने अपने-अपने ग्रन्थों में अपनी प्रखर बुद्धि का परिचय देकर जैन दर्शन की ध्वजा को सर्वत्र फहराया है। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रवर्तक आचार्य तुलसी भी उन आचार्यों के द्वारा प्रवर्तित तथा प्रदर्शित मार्ग पर चलकर जन-समाज के अभ्युत्थान एवं कल्याण के लिए जनता में अणुव्रतों का प्रचार कर जैन दर्शन तथा जैन-धर्म की प्रतिष्ठा को बढ़ा रहे हैं।

क्या जैन दर्शन नास्तिक है ?

किसी दर्शन को आस्तिक या नास्तिक कहने के पहले आस्तिक और नास्तिक शब्दों का अर्थ जान लेना आवश्यक है। साधारण अर्थ में ईश्वर की सत्ता मानने वाले को आस्तिक तथा ईश्वर की सत्ता के निषेध करने वाले को नास्तिक कहते हैं। इस अर्थ में जैन दर्शन नास्तिक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वह ईश्वर की सत्ता मानता है। यह दूसरी बात है कि वह अकाट्य प्रमाणों के आधार पर ईश्वर को सृष्टि-कर्त्ता नहीं मानता है। व्याकरण के आचार्य पाणिनि ने आस्तिक और नास्तिक शब्दों का अर्थ निम्न प्रकार बतलाया है। परलोक की सत्ता में विश्वास रखने वाले को आस्तिक तथा पर-लोक की सत्ता के निषेध करने वाले को नास्तिक कहते हैं। इस अर्थ में भी जैन दर्शन नास्तिक नहीं है। लेकिन मनु ने उक्त शब्दों का अर्थ भिन्न प्रकार से ही किया है। मनु के अनुसार—आस्तिक वह है, जो वेद की प्रामाणिकता में विश्वास करे तथा नास्तिक वह है, जो वेद को प्रमाण न मानकर उसकी निन्दा करे। **नास्तिको वेद निन्दकः**। जो लोग जैन दर्शन को नास्तिक कहते हैं, वे मनु के उक्त अर्थ को लेकर ही वैसा करते है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि जैन दर्शन समस्त वेद को अप्रमाण नहीं मानता है, किन्तु उतने ही अंश को अप्रमाण मानता है, जितना अंश अनुभव-विरुद्ध तथा तर्क-हीन प्रतीत होता है। वेद में विशेष रूप से ऐसी दो बातें हैं, जिन पर जैन दर्शन को आपत्ति है। वेदों में कहा गया है—**वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति**। इस विषय में जैन दर्शन का कहना है कि जिस प्रकार 'लौकिकी हिंसा' हिंसा कही जाती है,

उसी प्रकार 'वैदिकी हिंसा' भी हिंसा ही है। उसे अहिंसा कैसे माना जा सकता है ? वेदों को अपौरुषेय मानना भी जैन-दर्शन को इष्ट नहीं है। वेद एक प्रकार की शब्द रचना है। अतः रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि की तरह वेदों का निर्माण भी एक या अनेक व्यक्तियों ने अवश्य किया है। जैन दर्शन के स्याद्वाद, अनेकान्तवाद, कर्मवाद, अहिंसावाद, सृष्टि-अकर्तृत्ववाद आदि अनेक विशिष्ट सिद्धान्त हैं।

जैन रास का विकास

डा० दशरथ ओझा एम० ए० डी० लिट्०
रीडर, दिल्ली-विश्वविद्यालय

रास सम्बन्धी उपलब्ध साहित्य में जैन-साहित्य का मुख्य स्थान है। इस साहित्य के रचनाकाल को देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ग्यारहवीं से सोलहवीं शताब्दी तक शत-शत जैन रासों की रचना हुई।

जैनरास का प्रारम्भ

जिस प्रकार वैष्णव रास का सर्वप्रथम नामोल्लेख एवं विवरण हरिवंश पुराण में उपलब्ध है, उसी प्रकार प्रथम जैन रास का देवगुप्ताचार्य-विरचित नवतत्त्वप्रकरण के भाष्यकार अभयदेव सूरि की कृति में विद्यमान है। अभयदेव सूरि ने नवतत्त्वप्रकरण का भाष्य विक्रम संवत् ११२८ में रचते हुए कहा है कि 'मुकुट सप्तमी' एवं 'सन्धिबन्ध माणिक्य प्रस्तारिका' नामक रासों का सेवन करें।[1]

'मुकुट सप्तमी' एवं 'माणिक्य प्रस्तारिका' नामक रासों के अतिरिक्त प्राचीन रासों में अम्बिकादेवी नामक रास का ग्यारहवीं शताब्दी में उल्लेख मिलता है। 'उपदेश रसायन' रास के पूर्व में तीन रास ऐसे हैं, जिनका केवल नामोल्लेख मिलता है, किन्तु जिनके वर्ण्य विषय के सम्बन्ध में निश्चित मत स्थिर नहीं किया जा सकता। हाँ, उद्धरण के प्रसंग से इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये रास नीतिधर्म-विषयक रहे होंगे, तभी इनका अनुशीलन धार्मिक कृत्य के रूप में आवश्यक माना गया था। विचारणीय विषय यह है कि इन दोनों रासों—'मुकुट सप्तमी' और 'माणिक्य प्रस्तारिका' का रचनाकाल क्या है और किस काल में इनका अनुशीलन इतना आवश्यक माना गया है।

अभयदेव सूरि का परिचय जिनवल्लभ सूरि ने इस प्रकार दिया है: "चन्द्रकुल-रूपी आकाश के सूर्य श्री वर्धमान प्रभु के शिष्य सूरि जिनेश्वर हुए, जो दुर्लभराज की राज्यसभा में प्रतिष्ठित थे। मेधानिधि जिन चन्द्र सूरि संस्थापित श्री स्तम्भन नवनवांग विवृतिभेदा जिनेन्द्रपाल अभय सूरि उत्पन्न हुए।" अभयदेव सूरि जिनवल्लभ से पूर्व और जिनचन्द्र के पश्चात् हुए। जिनवल्लभ को उनके गुरु जिनेश्वर सूरि ने श्री अभयदेव सूरि के यहाँ कुछ काल तक शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा। जिनवल्लभ ने अभयदेव सूरि के यहाँ विधिवत् शिक्षा प्राप्त की। जिनवल्लभ का देवलोक-प्रयाण संवत् ११६७ कार्तिक कृष्णा द्वादशी को हुआ। अतः निश्चित है कि श्री अभयदेव सूरि वि० सं० ११६७ से कुछ पूर्व हुए होंगे और यह भी निश्चित है कि उनके समय तक 'मुकुट सप्तमी' एवं 'माणिक्य प्रस्तारिका' नामक रास सर्वत्र प्रसिद्ध हो चुके थे। अतः इन रासों की रचना बारहवीं शताब्दी या उससे पूर्व मानना उचित होगा।

'उपदेश रसायन रास' सम्भवतः उपलब्ध जैन रास ग्रन्थों में सबसे प्राचीन है। इस रास में पद्धटिका छन्द का प्रयोग किया गया है, जो **'गीतिकोविदैः सर्वेषु रागेषु गीयत इति'** के अनुसार सभी रागों में पाया जाता है।

इन उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'उपदेश रसायन रास' को रास-परम्परा की प्रारम्भिक

---

१ मुकुट सप्तमी सन्धि माणिक्य-प्रस्तारिका प्रतिबन्ध रासकाभ्यामवसेय इति।—भाष्यविवरण, पृ० ५१

प्रवृत्ति का परिचायक माना जा सकता है। 'मुकुट सप्तमी' एवं 'माणिक्य प्रस्तारिका' का मन्दिर से अवसेवन इस तथ्य का प्रमाण है कि इनमें धार्मिक एवं नैतिक शिक्षाओं का अवश्य समावेश रहा होगा; 'उपदेश रसायन रास' भी उसी परम्परा में विरचित हुआ हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

'उपदेश-रसायन-रास' के अनुशीलन से धार्मिक रास की उपयोगिता इस प्रकार प्रत्यक्ष प्रतीत होती है—"उन धार्मिक नाटकों को नृत्य द्वारा दिखाना चाहिए, जिनमें भरतेश्वर, बाहुबली एवं सगर का निष्क्रमण दिखाया गया हो। बलदेव दशार्णभद्रादि चरित्र को कहना चाहिए। ऐसे महापुरुष के जीवन को नर्तन के आधार पर दिखाना चाहिए, जिनसे प्रव्रज्या के लिए संवेग-वासना उत्पन्न हो।[1]

'जम्बूस्वामिचरित' में 'अम्बादेवी रास' का उल्लेख मिलता है। जम्बूस्वामिचरित की रचना वि० सं० १०७६ में हुई थी। इस उल्लेख से भी अनुमान लगाया जा सकता है कि अम्बादेवी के चरित्र के आधारपर जीवन को अध्यात्मतत्त्व की ओर उन्मुख करने के लिए इस रास की रचना हुई होगी।

इसी प्रकार अपभ्रंश में एक 'अंतरंग रास' की रचना का भी उल्लेख पाया जाता है। यह रास अभी तक प्रकाशित पुस्तक के रूप में नहीं आया है। मुझे इसकी हस्तलिखित प्रति भी अभी देखने को नहीं मिली। बारहवीं शताब्दी तक उपलब्ध रासों की संख्या अब तक इतनी ही मानी जा सकती है।

बारहवीं शताब्दी के पश्चात् विरचित उपलब्ध रास-ग्रन्थों की संख्या एक सहस्र तक पहुँच गई है। इनमें से अति प्रसिद्ध रासग्रन्थों का सामान्य विवेचन इस लेख में देने का प्रयास किया गया है।

तेहरवीं शताब्दी के रास

तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी का काल रास-रचना की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट माना जाता है। इस युग में साहित्यिक एवं अभिनेयता की दृष्टि से कई उत्कृष्ट रचनाएं दिखाई पड़ती हैं। जैनेतर रासकोंमें काव्य-कला की दृष्टि से सर्वोत्तम रास 'सन्देशरासक' इसी युग के आसपास की रचना है। वीररस पूर्ण 'भरतेश्वर-बाहुबलि घोर रास' तथा 'भरतेश्वर-बाहुबलि रास' काव्य की दृष्टि से उत्तम काव्यों में परिगणित होते हैं। इस रास की भाषा परिमार्जित एवं गम्भीर भावों के साथ होड़ लेती हुई चलती है। जैन-रासों में 'जम्बूस्वामि रास' 'रैवतगिरि रास' एवं 'आबूरास' प्रभृति ग्रन्थ प्रमुख माने जाते हैं। उनकी रचना इसी युग में हुई है।

'उपदेश रसायन रास' की शैली पर विरचित 'बुद्धिरास' गृहस्थ जीवन को सुखमय बनाने का मार्ग दिखाता है। इसके रचयिता आचार्य शालिभद्र सूरि, सज्जन से विवाद, नदी-सरोवर में एकान्त-प्रवेश, जुआरी से मैत्री, सुजन से कलह, गुरु-विहीन शिक्षा एवं धन-विहीन अभिमान को व्यर्थ बताते हुए गार्हस्थ्य धर्म के पालन पर बल देते हैं। इस प्रकार नैतिकता की ओर मानव मन को प्रेरित करने का रासकारों का प्रयास इस युग में भी दिखायी पड़ता है।

जैन धर्म में जीव-दया (अहिंसा) पर बड़ा बल दिया जाता है। इस युग में आसिग कवि ने 'जीव-दया रास' में श्रावक-धर्म को स्पष्ट करने का सफल प्रयास किया है। 'बुद्धिरास' के समान इसमें भी भक्ति, संयम, सत्य आदि पर बल दिया गया है। धर्म की महिमा बताते हुए कवि धर्म-प्रेमियों में विश्वास उत्पन्न कराना चाहता है कि धर्म-पालन से ही लोक में समृद्धि और परलोक में सुख सम्भव है। आगे चलकर कवि धर्मात्माओं की कष्ट-सहिष्णुता का उल्लेख करके धर्म-पालन के मार्ग की ओर भी संकेत करता है। इस प्रकार तिरेपन श्लोकों में विरचित यह लघुकाय रास अभिनेय एवं काव्य-छटा से परिपूर्ण दिखाई पड़ता है।

इसी युग में एक ऐसा जैन-रास मिलता है, जिसका कृष्ण-बलराम से सम्बन्ध है। तीर्थंकर नेमिनाथ की जीवन-

१ धम्मिय नाडय पर नच्चिज्जहिं, भरह-सगर निक्खमण कहिज्जहिं।
चक्कवट्टि-बल रायह-चरियइं, नच्चिवि अंति हुंति पव्वइयइं॥

गाथा के आधार पर, 'श्री नेमिनाथ रास' की रचना सुमतिगणि ने की। इस रास में कृष्ण के चरित्र से नेमिनाथ के चरित्र-बल की अधिकता दिखाना रासकार को अभीष्ट है। कृष्ण नेमिनाथ के चरित्र-बल को देखकर भयभीत हुए कि द्वारावती का राज्य उसे ही मिलेगा। अतः मल्लयुद्ध के लिए नेमिनाथ को ललकारा। नेमिनाथ ने युद्ध की निस्सारता समझते हुए कृष्ण से मल्लयुद्ध में भिड़ना स्वीकार नहीं किया। इसी समय ऐसा चमत्कार हुआ कि कृष्ण नेमिनाथ के हाथों पर बन्दर की भांति झूलते रहे, पर उनकी भुजाओं को झुका भी न सके। यह चमत्कार देखकर कृष्ण ने हार स्वीकार कर ली और वे नेमिनाथ की भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे। इसके पश्चात् उग्रसेन की कन्या राजिमती के साथ विवाह के अवसर पर जीव-हत्या देख कर नेमिनाथ के वैराग्य का वर्णन बड़े मार्मिक ढंग से किया गया है। इसकी अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ स्थान-स्थान पर जैन भण्डारों में उपलब्ध हैं।

कृष्ण-जीवन से सम्बन्ध रखने वाला एक और जैन रास 'गयसुकुमाल' मिला है। गजसुकुमाल मुनि का जो चरित्र जैन-आगमों में पाया जाता है, वही इसकी कथा-वस्तु का आधार है।

इस रास में गजसुकुमाल मुनि को कृष्ण का अनुज सिद्ध किया गया है। देवकी के छः मृतक पुत्रों का इसमें उल्लेख है। उन पुत्रों के नाम हैं—अनीकसेन, अजितसेन, अनन्तसेन, अनहितरिपु, देवसेन और शत्रुसेन। देवकी के गर्भ से गजसुकुमाल के उत्पन्न होने से बाल-क्रीड़ा देखने की उनकी अभिलाषा पूर्ण हो, यही इस रास का उद्देश्य है। चौंतीस श्लोकों के इस लघुकाय रास का अभिनय देखने और उस पर विचार करने से शाश्वत सुख-प्राप्ति निश्चित मानी गई है।

रैवतगिरि एवं आबू तीर्थों के महत्त्व के आधार पर 'रैवतगिरि रास' एवं 'आबू रास' विरचित हुए। 'रैवतगिरि रास' चार कड़वकों में और 'आबू रास' भासा और ठवणी में विभक्त है। काव्य-सौष्ठव एवं प्राकृतिक वर्णन की सूक्ष्मता की दृष्टि से 'रैवतगिरि रास' उत्कृष्ट रासों में परिगणित होता है।

चौदहवीं शताब्दी के प्रमुख जैन रास

चौदहवीं शती का मध्य आते-आते रासान्वयी काव्यों की एक नयी शैली 'फागु' के नाम से पनपने लगी। ऐसा प्रतीत होता है कि जब जैन-देवालयों में रास के अभिनय की परम्परा ह्रासोन्मुख होने लगी तो बृहत् रासों की रचना होने लगी। इस तथ्य का प्रमाण मिलता है कि रास के अभिनेता युवक-युवतियों के संगीत-माधुर्य से यत्रतत्र प्रेक्षकों के चारित्रिक पतन की आशंका उपस्थित हो गई। ऐसी स्थिति में विचारकों ने संगठन के द्वारा यह निर्णय किया कि जैन मन्दिरों में रास-नृत्य एवं अभिनय निषिद्ध घोषित किया जाये। इसका परिणाम यह हुआ कि रासकारों ने रास की अभिनेयता का बन्धन शिथिल देखकर बृहत् रास-काव्यों का प्रणयन प्रारम्भ किया। यह नवीन शैली इतनी विकसित हुई कि रास के रूप में पन्द्रहवीं शती में और उसके पश्चात् पूरे महाकाव्य बनने लगे और रास की अभिनेयता एक प्रकार से समाप्त हो गई।

चौदहवीं शती में जनता ने मनोविनोद का एक नया समाधान ढूंढ़ निकाला और फागु-रचना होने लगी। ये फागु सर्वथा अभिनेय होने और धार्मिक बन्धनों से कभी-कभी मुक्त होने के कारण भली प्रकार विकसित हुए।

इसी शती की प्रमुख रचनाओं में 'कछूली-रास' एवं 'सप्त क्षेत्री रास' का महत्त्व है। 'कछूली रास' कछूली नामक नगर के माहात्म्य के कारण विरचित हुआ। यह नगर अग्नि-कुण्ड से उत्पन्न होने वाले परमारों के राज्य में स्थित है। यह पवित्र तीर्थ आबू की तलहटी में स्थित होने के कारण पुण्यात्माओं का वास-स्थल माना गया है। यहाँ पार्श्वजिन का विशाल मन्दिर है, जहाँ निरन्तर पार्श्वजिन भगवान् का गुणगान होता रहता है। यहाँ निवास करने वाले माणिक प्रभु सूरि आयंबिलादि व्रतों का निरन्तर पालन करते हुए अपना शरीर कृश बना डालते थे। उन्होंने अन्तकाल समीप जानकर उदयसिंह सूरि को अपने पद पर आसीन किया। उदयसिंह सूरि ने अपने गुरु के आदेश का पालन किया और तप के क्षेत्र में दिग्विजय प्राप्त करके गुर्जरधरा, मेवाड़, मालवा, उज्जैन आदि राज्यों में श्रावकों को सद्धर्म का उपदेश किया। उन्होंने स्थान-स्थान पर संघ की प्रभावना की और वृद्धावस्था में कमलसूरि को अपने पद पर विभूषित करके अनशन द्वारा अपनी आत्मा को

युद्ध किया। इस प्रकार इस रास में कच्छूली नगरी के तीन मुनियों की जीवन-गाथा का संकेत प्राप्त होता है। इससे पूर्व विरचित रासों में प्रायः एक ही मुनि का माहात्म्य मिलता है। इस कारण यह रास अपनी विशेषता रखता है। प्रज्ञा-तिलक का यह रास वस्त में विभाजित है और प्रत्येक वस्त के प्रारम्भ में ध्रुवपद के समान एक पदांश की पुनरावृत्ति पाई जाती है। जैसे—१. **तम्हि नयरी य तम्हि नयरी २. जित्त नयरी य जित्त नयरी ३. ताव संधीड ताव संधीड।** यह शैली जैन-काव्यों में आज भी पाई जाती है। सम्भवतः एक व्यक्ति इनको प्रथम गाता होगा और तदुपरान्त **'कोरस'** के रूप में अन्य गायक इसकी पुनरावृत्ति करते रहे होंगे।

जैन-मन्दिरों में रास को नृत्य द्वारा अभिव्यक्त करने की प्रणाली इस काल में भली प्रकार प्रचलित हो गई थी। वि० सं० १३७१ में अम्बदेव सूरि-विरचित 'समरा रासो' इस युग की एक उत्तम कृति है। बारह भासाओं में विभक्त यह कृति रास-साहित्य को नाटक की कोटि में परिगणित कराने के लिए प्रबल प्रमाण है। इस रास की एकादशी भासा का चौथा श्लोक इस प्रकार है—

जलवट नाटकु जोई नवरंग ए रास लाउडारास ए।

जलाशय के समीप लकुटारास की शैली पर रास खेले जाने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है।

इसी कृति की द्वादशी भासा में समरा रास को पठन, मनन करने वालों को पुण्यात्मा माना गया है।[1] रास-साहित्य के विविध उपकरणों की भी इसमें चर्चा पाई जाती है।

इस युग की एक निराली कृति **'सप्तक्षेत्री रास'** है। जैन-धर्म में विश्व (ब्रह्माण्ड) की रचना, सप्तक्षेत्रों की सृष्टि एवं भरतखंड के निर्माण की विशेष प्रणाली पाई जाती है। 'सप्तक्षेत्री रास' में ऐसे नीरस विषय का वर्णन सरस-संगीतमय भाषा में पाया जाना कवि-चातुर्य एवं रास-माहात्म्य का परिचायक है। सप्तक्षेत्रों के वर्णन के पश्चात् श्रावक के बारह मुख्य व्रतों का उल्लेख भी किया गया है।

११९ श्लोकों वाले इस रास में व्रत-उपवास, चरित्र आदि का स्थान-स्थान पर विवेचन होने से यह रास पाठ्य-सा प्रतीत होने लगता है किन्तु सम्भव है, जैन धर्म की प्रमुख शिक्षाओं की ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए नृत्यों द्वारा इस रास को सरस एवं चित्ताकर्षक बनाने का प्रयास किया गया हो। यह तो निस्सन्देह मानना पड़ेगा कि जैन धर्म का इतना विस्तृत विवेचन एकत्र एक रास में मिलना कठिन है। कवि इसके लिए भूरि-भूरि प्रशंसा प्राप्त करने का भाजन है। कवि ने विविध गेय छन्दों का प्रयोग किया है; अतः यह रास-काव्य अभिनेय साहित्य की कोटि में आ सकता है।

चौदहवीं शताब्दी में जैन धर्म-प्रतिपालक कई महानुभावों के जीवन को केन्द्र बनाकर विविध रास लिखे गए। इस युग की यह भी एक विशेषता है। ऐतिहासिक रासों की परम्परा इस शताब्दी के पश्चात् भली प्रकार पल्लवित हुई।

पन्द्रहवीं शती के मुख्य रासकार

१. शालिभद्र सूरि—इन्होंने 'पंडव चरित' की रचना देवचन्द सूरि की प्रेरणा से की। यह एक रास-काव्य है, जिसमें महाभारत की कथा वर्णित है। केवल ७९५ पंक्तियों में सम्पूर्ण महाभारत की कथा सार-रूप से कह दी गई है। कथा में जैन-धर्मानुसार कुछ परिवर्तन कर दिया गया है परन्तु यह सब गौण है। काव्य-सौष्ठव, काव्यबन्ध और भाषा, तीनों की दृष्टि से इस ग्रन्थ का विशेष महत्त्व है। ग्रन्थ का वस्तु-संविधान बड़ा ही आकर्षक है। इतिवृत्त के तीव्र प्रवाह, घटनाओं के सुन्दर संयोजन और स्वाभाविक विकास की ओर हमारा ध्यान अपने-आप आकर्षित होता है। दूसरी ठवणी से ही कथा प्रारम्भ हो जाती है—

१ **रचियऊ ए रचियऊ ए रचियऊ समरा रासो,**
एहु रास जो पढ़इ गुणइ नाचिउ जिणहरिदेइ।
श्रवणी सुणइ सो बयठऊ ए,
तीरथ ए तीरथ ए तीरथ जात्र फलु लेई॥

हथिणा-उरि पुरि-कुरि-नरिंद के रो कुलमंडण।
सहजिहिं संतु सुहाग सीलु हूड नखर संतणु।।

कथानक की गति की दृष्टि से चतुर्थ ठवणी का प्रसंग विशेष उल्लेखनीय है। ऐसे अनेक प्रसंग इस ग्रन्थ में मिलते हैं। काव्य-बन्ध के दृष्टिकोण से देखा जाये तो समस्त ग्रन्थ १५ ठवणियों (प्रकरणों) में विभाजित है। प्रत्येक ठवणी गेय है। प्रत्येक ठवणी के अन्त में छन्द बदल दिया गया है और आगे की कथा की सूचना दी गई है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में बन्ध-वैविध्य पाया जाता है।

२. **जयानन्द सूरि**—इनकी कृति 'क्षेत्र प्रकाश' है। वि० सं० १४१० के लगभग इसकी रचना हुई। यह भी एक रास ही है।

३. **विजयभद्र सूरि**—इनके 'कमलावती रास' (वि० सं० १४११) में ३६ कड़ियाँ हैं और 'कलावती रास' में ४६ कड़ियाँ हैं। इसमें तत्कालीन भाषा के स्वरूप का अच्छा आभास मिलता है।

४. **विनयप्रभ**—'गौतमरास' (वि० सं० १४१२) ५६ कड़ियों का यह ग्रन्थ ६ भासा (प्रकरण) में विभक्त है। प्रत्येक भासा के अन्त में छन्द बदल दिया गया है। इसकी रचना कवि ने खंभात में की है—

चउदह से बारोत्तर वरिसे गोयम गणधर।
केवल दिवसे, खंभनयर प्रभुपास पसाये कीधो।।
कवित उपगार परो आदि ही मंगल एह भणीजे।
परब महोत्सव पहिलो दीजे रिद्धि-सिद्ध कल्याण करो।।

इस ग्रन्थ में काव्य चमत्कार भी कहीं पाया जाता है। अलंकारों का सुन्दर उपयोग झलकता है। चमत्कार का मूल भी यही अलंकार योजना है।

काव्य-बन्ध की दृष्टि से यह ग्रन्थ छः भासा (प्रकरण) में विभाजित है। छन्द-वैविध्य भी इस में पाया जाता है और इसका गेय तत्त्व सुरक्षित है।

५. **ज्ञानकलश मुनि**—'श्री जिनोदय सूरिपट्टाभिषेक रास' (वि० सं० १४१५) ३७ कड़ियों के इस ग्रन्थ में जिनोदय सूरि के पट्टाभिषेक का सुन्दर वर्णन है। अलंकारिक पद्धति में लिखित एक सुन्दर एवं सरल काव्य है।

काव्य की दृष्टि से इसमें वैविध्य कम ही है। रोला, सोरठा, घत्ता आदि छन्दों का प्रयोग पाया जाता है। संस्कृत की तत्सम शब्दावली इसमें पाई जाती है। साथ ही **तासु, सीसु** आदि रूप भी मिलते हैं। **नीयरे, नीबड, पाहि, परि, हारि, दीसई, लेखई** जैसे रूप भी मिलते हैं।

६. **पहराज**—इन्होंने अपने गुरु जिनोदय सूरि की स्तुति में छः छप्पय लिखे हैं। प्रत्येक छप्पय के अन्त में अपना नाम दिया है। इन छप्पयों से ऐसा विदित होता है कि अपभ्रंश के स्वरूप को बनाए रखने का मानो प्रयत्न-सा किया जा रहा हो। **इम जाणिकरि, बखाणइ** आदि शब्द इस में प्रयुक्त हुए हैं।

इसी युग में किसी अज्ञात कवि का एक और छप्पय भी जिनप्रभ सूरि की स्तुति का मिला है। सम्भव है, यह लघु रचना भी रास-सदृश गायी जाती रही हो। पर जब तक इसका कहीं प्रमाण नहीं मिलता ; इसे रास कैसे माना जाये?

७. **विजयभद्र**—'हँसराज वच्छराज चउपई' (वि० सं० १४६६) हँस और वच्छ राज की कथा इसमें वर्णित है।

८. **असाइत**—'हँसाउली'। इसमें हँस और वच्छराज की एक लोक कथा है। 'हँसाउली' का वास्तविक नाम 'हँसवछचरित' है। यह एक सुन्दर रसात्मक-काव्य है। इसका अंगी रस है—अद्भुत। करुण और हास्य रस को भी स्थान मिला है। तीन विरह-गीतों में करुण रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

छन्द की दृष्टि से दूहा, गाथा, वस्तु और चौपाई का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस ग्रन्थ की विशेषता है—इसका सुन्दर चरित्रांकन। हंस और वच्छ दोनों का चरित्र स्वाभाविक बन पड़ा है।

६. **मेरुनंदनगणी**—'श्री जिनोदय सूरि विवाहलउ'। इसका रचना-काल है वि० सं० १४३२ के बाद। इसमें श्री जिनोदय सूरि की दीक्षा के प्रसंग का रोचक वर्णन है। रचयिता स्वयं श्री जिनोदय सूरि के शिष्य थे। चवालीस

कड़ियों का यह काव्य अलंकारिक शैली में लिखा गया है।

काव्य-बन्ध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। झूलणा, वस्तु, घात, पादाकुल का विशेष प्रयोग पाया जाता है। इन्होंने बत्तीस झूलणा छन्दों में रचना की।

इसी कवि का बत्तीस कड़ियों का काव्य-ग्रन्थ है—'अजित-शान्ति-स्तवन'। कहा जाता है कि कवि संस्कृत का विद्वान् था, परन्तु अब तक उसकी कोई प्रति प्राप्त नहीं हुई।

इस युग में मातृका और कक्का (वर्ण-माला के प्रथम अक्षर से लेकर अन्तिम वर्ण तक क्रमशः पद-रचना) शैली में भी काव्य-रचना होती थी। फारसी में 'दीवान' इसी शैली में लिखे जाते हैं। जायसी की 'अखरावट' भी इसी शैली में लिखा गया है।

देवसुन्दर सूरि के किसी शिष्य ने उन्नहत्तर कड़ियों की 'काक बन्धि चउपइ' की रचना की है। इस ग्रन्थ में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है। कवि के सम्बन्ध में भी कुछ ज्ञात नहीं होता; केवल इतना ही जाना जा सकता है कि आरम्भ में वह देवसुन्दर सूरि को नमस्कार करता है। देवसुन्दर सूरि वि० सं० १४५० तक जीवित थे, अतः रचना भी उसी समय की मानी जा सकती है।

भाषा की दृष्टि से देखा जाए तो तत्सम शब्दों का बाहुल्य पाया जाता है। साथ ही **दीजइ, चिंतवइ, खाघइ, जिणवर** आदि शब्द-प्रयोग भी मिलते हैं।

इस युग में जैनों के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी काव्य-रचना की है, जिसमें श्रीधर व्यास विरचित 'रणमल-छन्द' का विशेष स्थान है।

१०. हंस—'शालिभद्र रास' (वि० सं० १४५५), कड़ियाँ २१९। इस काव्य की खंडित प्रति प्राप्त हुई है। हंस कवि जिनरत्न सूरि के शिष्य थे। आश्विन सुदी दशवीं के दिन यह रास-रचना पूर्ण हुई।

११. जयशेखर सूरि—प्राकृत, संस्कृत और गुजराती के बड़े भारी कवि थे। इनके गुरु का नाम था—महेन्द्रप्रभ सूरि। इनकी मुख्य रचना है 'प्रबोध चिन्तामणि' (४३२ कड़ियों वाला एक रूपक काव्य)। रचना-काल वि० सं० १४३२ है। इसकी रचना संस्कृत भाषा में भी है।

इसीके साथ कवि ने 'त्रिभुवन-दीपक-प्रबन्ध' की रचना देशी भाषा में की है। उसके 'उपदेश चिन्तामणि' नामक संस्कृत-ग्रन्थ में बारह हजार से भी अधिक श्लोक हैं। इसके अतिरिक्त शत्रुंजय तीर्थ द्वात्रिंशिका, गिरनारगिरि द्वात्रिंशिका, महावीर जिन द्वात्रिंशिका, जैन कुमार सम्भव, छन्द शेखर नवतत्त्व कुलक, अजित शान्तिस्तव, धर्म-सर्वस्व आदि मुख्य हैं। जयशेखर सूरि महान् प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इस रास नाम से इनकी कोई पृथक् कृति नहीं मिलती, किन्तु शत्रुंजय तथा गिरनार तीर्थों पर बत्तीस छन्दों की रचना रास के सदृश गेय हो सकती है। इस प्रकार इसे रासान्वयी काव्य माना जा सकता है।

१२. भीम—असाइत के बाद लोक-कथा लिखने वालों में दूसरा व्यक्ति है—भीम। उसने 'सदयवत्सचरित' की रचना वि० सं० १४६६ में की। कवि की जाति और निवास-स्थान का पता नहीं मिलता।

यह एक सुन्दर रसमयी कृति है। ग्रन्थारम्भ में ही प्रतिज्ञा की गई है—

सिंगार हास करुणा रुद्रो, वीरा भयान बीभत्थो।
अद्भुत शत नवइ रसि जंपिसु सुदय वच्छस्स।

फिर भी विशेषरूप से वीर और अद्भुत रस में ही अधिकांश रचना हुई है। शृंगार का स्थान अतिगौण है। भाषा ओजपूर्ण एवं प्रसादगुण-युक्त है।

अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग इसमें पाया जाता है। दूहा, पद्धडी, चौपाई, वस्तु, छप्पय, कुंडलियाँ और मुक्तिदाम का इसमें आधिक्य है। पदों का भी वैविध्य है।

१३. शालि सूरि—इन्होंने पौराणिक कथा के आधार पर १८२ छन्दों की एक सुन्दर रचना की। जयशेखर सूरि के पश्चात् वर्णवृत्तों में रचना करने वाले यही व्यक्ति हैं। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। काव्य-बन्ध की दृष्टि

से इस ग्रन्थ का कोई मूल्य नहीं, परन्तु विविध वर्णवृत्तों का विस्तृत प्रयोग इसकी विशेषता है।

गद्य और पद्य में साहित्य की रचना करने वालों में सोमसुन्दर सूरि का स्थान सर्व प्रथम है। अनेक जैन-ग्रन्थों का इन्होंने सफल अनुवाद किया है। इनके गद्य-ग्रन्थों में बालावबोध, उपदेशमाला, योगशास्त्र आराधना-पताका, नवतत्त्व आदि प्रमुख हैं। कहा जाता है कि इन्होंने आराधना-रास की भी रचना की थी। परन्तु अब तक उक्त ग्रन्थ अप्राप्य है। इनका दूसरा प्राप्त सुन्दर काव्य-ग्रन्थ है, 'रंग सागर नेमिनाथ फागु'। नेमिनाथ के जन्म से इनका चरित्र आरम्भ किया गया है।

यह काव्य तीन ग्रन्थों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः ३७, ४५ और ३७ पद्य हैं। छन्दों में भी वैविध्य है। अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित, गाथा आदि छन्दों का विशेष प्रयोग पाया जाता है।

इस युग में 'खरतर गुण वर्णन छप्पयं' नामक एक और विस्तृत ग्रन्थ भी किसी अज्ञात कवि का प्राप्त हुआ है। इतिहास की दृष्टि से इस काव्य का विशेष महत्त्व है। कई ऐतिहासिक घटनाएं इसमें आती हैं। काव्यतत्त्व की दृष्टि से इसकी विशेष उपयोगिता नहीं है। इसकी भाषा अवहट्ठ से मिलती-जुलती है। कहीं-कहीं डिंगल का प्रभाव भी परिलक्षित होता है।

लोक-कथाओं को लेकर लिखे जाने वाले काव्यों—'हंस बच्छ चउपई' 'हंसाउली' और 'मदय वत्स चरित' के पश्चात् हीरानन्द सूरि विरचित 'विद्याविलास पवाडु' का स्थान आता है। इनकी अन्य कृतियाँ भी मिलती हैं, यथा 'वस्तुपाल तेजपाल रास', 'कलिकाल दर्शाग भद्रकाल' आदि। परन्तु इन सबमें श्रेष्ठ है—'विद्याविलास पवाडु'। काव्य-सौष्ठव, काव्य-बन्ध और भाषा, इन तीनों की दृष्टि से इस कृति का विशेष महत्त्व है। इसकी कथा लोक-कथा है जो मल्लिनाथ काव्य में भी मिलती है।

काव्य-बन्ध की दृष्टि से भी इसका विशेष महत्त्व है। इसमें सवैयाँ देशी, वस्तु-छन्द, दूहे, चौपाई, राग भीम-पलासी, राग संधूड, राग बसन्त आदि का विपुल प्रयोग मिलता है। समस्त ग्रन्थ गेय है और यही इसकी विशेषता है। प्रत्येक छन्द के अन्त में कवि का नाम पाया जाता है।

सामाजिक जीवन की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। राजदरबार, वाणिज्य, नारी को लेकर समाज में होने वाले कलह, राज्य की खटपट, विवाह-समारोह आदि का सजीव वर्णन इसमें पाया जाता है।

रास द्वारा जैन-दर्शन का प्रसार

पन्द्रहवीं शताब्दी तक विरचित परवर्ती अपभ्रंश रासों के विवेचन एवं विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इस काव्य-प्रकार के निर्माता जैन-मुनियों का आशय एकमात्र धर्म-प्रचार था। जैन-धर्म में चार प्रकार के अनुयोग मूलरूप से माने जाते हैं, जिनके नाम हैं: द्रव्यानुयोग, चरणकरणानुयोग, कथानुयोग और गणितानुयोग। गणितानुयोग के आधार पर अनेक रास लिखे गए हैं, जिनमें द्रव्य, गुण, पर्याय, स्याद्वाद, नय, अनेकान्तवाद एवं तत्त्व-ज्ञानका उपदेश सन्निहित है। ऐसे रासों में यशोविजय गणी विरचित 'द्रव्यगुणपर्याय नो रास' सबसे अधिक माना जाता है। चरणकरणानुयोग के आधार पर विरचित रासों में महामुनियों के चरित्र, साधु-गृहस्थों के धर्म, अणुव्रत-महाव्रत-पालन की विधि, श्रावकों के इक्कीस गुण, साधुओं के सत्ताईस गुण, सिद्धों के आठ गुण, आचार्यों के छत्तीस और उपाध्याय के पच्चीस गुणों का वर्णन मिलता है। 'उपदेश-रसायन-रास' इसी कोटि का रास प्रतीत होता है। कथानुयोग रास में, कल्पित और ऐतिहासिक, दो प्रकार की कथा-पद्धति पाई जाती है। यद्यपि कल्पित रासों की संख्या अत्यल्प है, तथापि इनका महत्त्व निराला है। ऐसे रासों में 'अगड़धत्त रास', 'चूनड़ी रास', 'रोहिणीया चोर रास', 'जोग रासो', 'पोसहरास', 'जोगी-रासो' आदि का नाम उल्लेखीय है। यदि 'चतुष्पादिका' को रासान्वयी काव्य मान लें, तो विजयभद्र का 'हंसराज बच्छ-राज' एवं असाइत की 'हंसाउली' लोक-कथा के आधार पर विरचित हैं।

ऐतिहासिक रासों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक है। ऐतिहासिक रासों में भी रासकारों ने कल्पना का योग लिया है और अभीष्ट सिद्धि के लिए काव्य रस का सन्निवेश करके ऐतिहासिक रासों को रसाप्लुत कर देने की चेष्टा की

है। किन्तु ऐतिहासिक रासों में ऐतिहासिक घटनाओं की प्रधानता इस बात को सिद्ध करती है कि रासकार की दृष्टि कल्पना की अपेक्षा इतिहास को अधिक महत्त्व देना चाहती है। ऐतिहासिक रासों में 'ऐतिहासिक रास संग्रह', के चार भाग अत्यन्त महत्त्व के हैं।

गणितानुयोग के आधार पर विरचित रासों में भूगोल और खगोल के वर्णन को महत्त्व दिया जाता है। इस पद्धति पर विरचित रास सृष्टि की रचना, तारा-ग्रहों के निर्माण, सप्तक्षेत्रों, महाद्वीपों, देश-देशान्तरों की स्थिति आदि का परिचय देते हैं। ऐसे रासों में विश्व के प्रमुख पर्वतों, नदी-सरोवरों, वन-उपवनों, उपत्यकाओं और मरुस्थलों का वर्णन एवं प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा का वर्णन प्रिय विषय रहा है। किन्तु गणितानुयोग पर निर्मित रासों में प्राकृतिक छटा की अपेक्षा प्रकृति में पाये जाने वाले पदार्थों की नामावली पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसे रासो में 'सप्तक्षेत्री रास' बहुत अधिक प्रसिद्ध है।

जिस युग में लघुकाय रास अभिनय के उद्देश्य से लिखे जाते थे, उस युग में कथानक के उत्कर्ष एवं अपकर्ष, चरित्र-चित्रण की विविधता एवं मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की रक्षा पर उतना बल नहीं दिया जाता था जितना काव्य को रसमय एवं अभिनेय बनाने पर। आगे चलकर जब रास लघुकाय न रहकर विशालकाय होने लगे तो उनमें अभिनेय गुणों को सर्वथा उपेक्षणीय माना गया और उनके स्थान पर पात्रों के चरित्र-चित्रण की विविधता, कथा-वस्तु की मौलिकता व चरित्रों की मनोवैज्ञानिकता पर बहुत बल दिया जाने लगा।

रस की दृष्टि से इस युग में वीर, शृंगार, करुण, बीभत्स, रौद्र आदि सभी रसों के रास विरचित हुए।
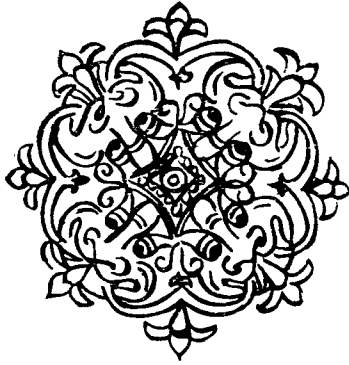
जैन दर्शन के मौलिक सिद्धान्त

श्री दरबारीलाल जैन कोठिया, एम० ए०, न्यायाचार्य
प्राध्यापक, संस्कृत महाविद्यालय, हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी

यों तो सभी दर्शनों में अपने-अपने सिद्धान्त और आदर्श होते हैं। किन्तु जैन दर्शन के सिद्धान्त और आदर्श अपना कुछ विशेष स्थान रखते हैं। उसके सिद्धान्तों की विशेषता यही है कि उनमें व्यापकता तथा असंकीर्णता के साथ विचार को भी स्थान प्राप्त है। यहाँ जैन दर्शन के उन्हीं मौलिक सिद्धान्तों पर कुछ प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

परीक्षण-सिद्धान्त

जैन दर्शन का सबसे पहला और कठोर, किन्तु महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि किसी बात को तुम इसलिए ग्रहण मत करो कि वह अमुक की कही हुई है और अन्य को इसलिए मत छोड़ो कि वह अमुक की कही हुई नहीं है। किन्तु परीक्षण की कसौटी पर पहले उसे कस लो और उसकी सत्यता तथा असत्यता को जान लो। यदि परीक्षण (परख) द्वारा वह सत्य सिद्ध हो, तो उसे स्वीकार करो और यदि सत्य सिद्ध न हो, तो उसे ग्रहण मत करो—उससे उपेक्षा (न राग और न द्वेष) धारण कर लो। जीवन बहुत ही अल्प है, उसके साथ खिलवाड़ नहीं होना चाहिए। एक पैसे की हाँडी खरीदी जाती है, तो वह भी सब तरह से ठोक-बजाकर ली जाती है। फिर जीवन-विकास के मार्ग को चुनने में भूल क्यों होनी चाहिए ? अतः जीवन-विकास अथवा आत्मोन्नति के लिए परीक्षण-सिद्धान्त नितान्त आवश्यक है और उसे सदैव उपयोग में लाना चाहिए। लौकिक कार्यों में एक बार भी यदि उसकी उपेक्षा कर दी जाये, तो वहाँ भी उसकी उपेक्षा करने मे भयंकर अलाभ और हानियाँ ही पल्ले में पड़ती हैं; तो फिर धर्म के विषय में उसकी उपेक्षा तो होनी ही नहीं चाहिए। मानव-जीवन और उसके लिए धर्म बार-बार नहीं मिलते हैं। यदि जीवन के साथ ऐसे धर्म का गठ-बन्धन हो गया है कि जीवन-विकास पर उसका कोई प्रभाव ही नहीं पड़ रहा है, तो मानव-जीवन और उससे सम्बन्धित धर्म दोनों ही उसके लिए व्यर्थ भार हैं। अतः धर्म के सम्बन्ध में तो परीक्षण-सिद्धान्त बहुत ही आवश्यक है। जैन दर्शन में सम्यक्त्व के आठ अंगों का जहाँ वर्णन किया गया है,उनमें **अमूढ़ दृष्टि** का विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण स्थान है। एक सत्यान्वेषी को सत्यान्वेषण में अ + मूढ दृष्टि होना परम आवश्यक है। उसके बिना वह सत्य का अन्वेषण ठीक तरह से नहीं कर सकता है। यह 'अमूढ दृष्टि' ही परीक्षण-सिद्धान्त है और दूसरी कोई वस्तु नहीं है। जैन दर्शन के इस अमूढ दृष्टि बनाम परीक्षण-सिद्धान्त के आधार पर जैनाचार्यों ने यहाँ तक घोषणा की है कि ईश्वर-परमात्मा जैसी श्रद्धेय और सर्वोच्च वस्तु को भी परीक्षा करके मानो। जैसा कि आचार्य हरिभद्र ने प्रकट रूप से कहा है—

"महावीर में न तो मेरा अनराग है और न कपिल आदिकों में द्वेष है। किन्तु जिसके वचन युक्तिपूर्ण हैं,उन्हीं का अनुगमन करना न्याययुक्त है।[1]

स्याद्वाद तीर्थ के प्रभावक एवं सुप्रसिद्ध जैन तार्किक स्वामी समन्तभद्राचार्य ने 'आप्तमीमांसा' नाम का एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण-ग्रन्थ लिखा है, जिसमें उन्होंने भगवान् महावीर की खूब परीक्षा-मीमांसा की है और परीक्षा के

---

१ पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद्वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥

पश्चात् उनमें परमात्मा के योग्य गुणों को पाकर उन्हें परमात्मा स्वीकार किया है।[1] विद्यानन्द आदि उत्तर कालीन आचार्यों ने भी 'आप्तपरीक्षा' जैसे परीक्षा-ग्रन्थों का निर्माण करके परीक्षण के सिद्धान्त को उद्दीप्त किया है। वस्तुतः सत्य का ग्रहण परीक्षण के सिद्धान्त को स्वीकार किये बिना हो ही नहीं सकता। अतः जैन दर्शन में उसे प्रथम महत्त्व दिया गया है और उसे अपनाया गया है। हमें प्रसन्नता है कि आज विज्ञान के युग में समूची दुनिया भी इस परीक्षण-सिद्धान्त को स्वीकार करने लगी है। इतना ही नहीं उसे प्रामाणिकता की सर्वोच्च कसौटी माना जाने लगा है और जो विज्ञान (Science) के नाम से हमारे सामने प्रस्तुत है।

यहाँ एक बात और कहने को रह गई है, वह यह कि परीक्षक को न्यायवान् (उपपत्तिचक्षुः) और निष्पक्ष (समदृष्टि) होना चाहिए।[2] इससे यह फल होगा कि उसका निर्णय विचारपूर्ण एवं अभ्रान्त तथा सत्य होगा और वह सत्य के ग्रहण एवं अनुसरण में सदैव प्रस्तुत रहेगा।

स्याद्वाद-सिद्धान्त

जैन दर्शन का दूसरा मौलिक सिद्धान्त स्याद्वाद है। कोई भी वस्तु क्यों न हो, उसे एक पहलू से मत देखो, उसे सभी पहलुओं-दृष्टियों से देखो; क्योंकि हर वस्तु अनुकूल-प्रतिकूल, विरोधी-अविरोधी आदि अनेक धर्मों का पिण्ड है। जो भोजन भूखे के लिए उसकी भूख-निवृत्ति करने से अच्छा एवं अमृतोपम है, वही भोजन भरपेट (अफरे अजीर्णवान्) के लिए अनिष्टकर एवं विष-तुल्य है। जो दूध अनेकों के लिए पौष्टिक और लाभदायक होता है, वही दूध पित्तज्वर वाले रोगी को अच्छा नहीं लगता। जो अग्नि रोटी बनाने, प्रकाश करने आदि के लिए उपयोगी और लाभ पहुँचाने वाली है वही अग्नि करोड़ों-अरबों की सम्पत्ति को राख बना देने वाली भी है। इससे यह ज्ञात हुआ कि सभी वस्तुओं में अनुकूल-प्रतिकूल अनेक धर्म समाये हुए हैं। एक धर्म वाली कोई भी वस्तु नहीं है; अतः उसे एक ही पहलू से देखना और मानना उचित नहीं है। यदि ऐसा किया जायेगा तो वस्तु के साथ तो अन्याय होगा ही, किन्तु उसकी सत्यता को भी हम नहीं पा सकेंगे। अतएव उसे स्यात् की मान्यता—स्याद्वाद अर्थात् अपेक्षा-सिद्धान्त द्वारा देखना और मानना चाहिए। जब वस्तु अनेकान्तात्मक—अनेक धर्मरूप है, तो उसका निर्दोष दर्पण स्याद्वाद ही हो सकता है, जिसमें समग्र धर्म प्रतिबिम्बित हो सकते हैं और एक की भी उसमें उपेक्षा या अभाव नहीं हो सकता है। इतना हो सकता है कि एक धर्म की विवक्षा में उसकी प्रधानता और शेष धर्मों की विवक्षा न होने से उनकी अप्रधानता (गौणता अथवा तदंगता) रहे[3] और वस्तुतः यही होता है। स्याद्वाद का प्रयोजन है—यथावत् वस्तु-तत्त्व का ज्ञान कराना, उसकी ठीक तरह से व्यवस्था करना; और 'स्याद्वाद' शब्द का अर्थ है—कथंचित्वाद, दृष्टिवाद, अपेक्षावाद, सर्वथा एकान्त का त्याग, भिन्न-भिन्न पहलुओं से वस्तु-स्वरूप का निरूपण, मुख्य और गौण की दृष्टि से पदार्थ का विचार, अपनी दृष्टि को रखते हुए अथवा उस पर विचार करते हुए विरोधी दृष्टि की उपेक्षा नहीं करना—उसको भी लक्ष्य में रखना।[4]

स्याद्वाद पद में दो शब्द हैं : **स्यात्** और **वाद**। इनमें 'स्यात्' का अर्थ है किसी एक अपेक्षा से—एक दृष्टि

१ आप्तमीमांसा, कारिका १ से ६ तक।

२ जैसाकि स्वामी समन्तभद्र ने 'युक्त्यनुशासनम्' नाम की अपनी दार्शनिक कृति में निम्न पद्य द्वारा प्रकट किया है :

कामं द्विषन्नप्युपपत्तिचक्षुः समीक्षतां ते समदृष्टिरिष्टम्।
त्वयि ध्रुवं खण्डितमानश्रृंगो भवत्यभद्रोऽपि समन्तभद्रः॥

—युक्त्यनुशासनम्, का० ६३

३ धर्मे धर्मेऽन्य एवार्थो धर्मिणोऽनन्तधर्मिणः।
अंगित्वेऽन्यतमान्तस्य शेषान्तानां तदंगता॥

—आप्तमीमांसा, का० २२

४ लेखक द्वारा सम्पादित न्यायदीपिका का प्राक्कथन, पृ० ६

मे—सब प्रकार मे नहीं; और 'वाद' का अर्थ है कथन या मान्यता। स्यात् के कथन या मान्यता का नाम स्याद्वाद है। अर्थात् अमुक धर्म अमुक अपेक्षा से है और अमुक धर्म अमुक अपेक्षा से है; इस प्रकार के कथन का नाम स्याद्वाद है। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'शायद' नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। उसका तो उल्लिखित 'कथंचित्' (एक अपेक्षा से) अर्थ है। किसी एक व्यक्ति को लीजिये। वह किसी का पुत्र है, किसी का पिता है, किसी का मामा है, किसी का भानजा है, किसी का ताऊ है और किसी का भतीजा है। इस तरह उसमें अनेक धर्म एवं सम्बन्ध समाये हुए हैं। अपने पिता की अपेक्षा वह पुत्र है और अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है। अपने भानजे की अपेक्षा मामा और अपने मामा की अपेक्षा भानजा है। इसी तरह वह अपने ताऊ की अपेक्षा भतीजा और भतीजे की अपेक्षा से ताऊ भी है। इस प्रकार उसमें पितृत्व, पुत्रत्व, मातुलत्व और स्वस्रीयत्व आदि अनेक धर्म पाये जाते हैं और उनमें परस्पर कोई विरोध या असंगति नहीं है। स्याद्वाद इन सब धर्मों की यथावत् व्यवस्था करता है। हाँ, मामा कहे जाने पर शेष सब धर्म गौण होकर रहते हैं और विवक्षित धर्म प्रधान बन जाता है।

'स्याद्वाद' वास्तव में दो विरोधी-से दिखने वाले धर्मों में समन्वय का मार्ग प्रदर्शित करता है। परन्तु आश्चर्य है कि उसका व्यवहार में उपयोग करते हुए भी उसे सिद्धान्ततः स्वीकार नहीं किया जाता। कितने ही व्यक्ति उसका पूरा उपयोग ही करना नहीं जानते, और अनेक ऐसे हैं कि उसके नाम से ही चिढ़ते हैं। जब स्वभावतः प्रत्येक वस्तु अनेकान्तात्मक है, तब उसकी व्यवस्था के लिए स्याद्वाद-सिद्धान्त को स्वीकार करना आवश्यक है; क्योंकि किसी भी धर्म के द्वारा वस्तु का अथवा वस्तु के किसी धर्म का प्रतिपादन करते समय उसके प्रतिकूल किसी भी निमित्त, किसी भी दृष्टिकोण या किसी भी उद्देश्य को लक्ष्य में रखना आवश्यक है और इस तरह से ही वस्तु की विरुद्ध धर्म-विशिष्टता अथवा वस्तु में विरुद्ध धर्म का अस्तित्व अक्षुण्ण रखा जा सकता है। यदि उक्त प्रकार से स्याद्वाद को न अपनाया जायेगा, तो वस्तु की विरुद्ध धर्म-विशिष्टता का, अथवा वस्तु में विरोधी धर्म का अभाव मानना अनिवार्य हो जायेगा और इस तरह से अनेकान्त स्वरूप का भी जीवन समाप्त हो जायेगा। अतः स्याद्वाद-सिद्धान्त एक वस्तु-व्यवस्थापक निर्णायक सिद्धान्त है और उसकी सार्वभौमता स्वतः सिद्ध है। वह एक सर्वोच्च न्यायाधीश है, जिसके निर्णय में अन्यथात्व का कभी भी प्रदर्शन नहीं हो सकता।

अहिंसा-सिद्धान्त

जैन दर्शन का तीसरा आदर्श सिद्धान्त है—अहिंसा। अहिंसा का अर्थ है—दुष्ट अभिप्राय से किसी को पीड़ा न पहुँचाना। जब तुम किसी जीव को जीवन-दान नहीं दे सकते, तो उसे तुम्हें लेने का भी अधिकार नहीं है। सृष्टि का छोटे-से-छोटा प्राणी जीने की इच्छा रखता है। वह यह नहीं चाहता कि मैं मारा जाऊं, यद्यपि प्रकृति के नियम—आयु के समाप्त हो जाने पर मरने—की वह अवहेलना नहीं कर सकता है और उसका उसे पालन करना ही पड़ता है। पर जब हमें अपने प्राण प्यारे हैं तो दूसरों को क्यों नहीं होने चाहिएं? इसलिए स्वयं अपने अनुचित स्वार्थों के लिए दूसरों को कष्ट न पहुँचाओ। यही अहिंसा-तत्त्व है। इस अहिंसा-तत्त्व के बिना एक पल भी कोई जी नहीं सकता। अतः यदि अहिंसा के इस श्रेष्ठ भाव को संसार का प्रत्येक मानव समझ ले और अपने जीवन में उसे उतार ले, तो मानव-जगत् में अत्याचारों एवं अन्यायों की सृष्टि न हो।

जैन धर्म की भित्ति इसी अहिंसा-तत्त्व की नींव पर स्थित है। जैन धर्म के प्रवर्त्तकों ने इस अहिंसा के अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और विस्तृत विवेचन किया है और यह सिद्ध किया है कि अहिंसा का परिपालन प्रत्येक धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं राष्ट्रीय स्थिति में किया जा सकता है, कोई बाधा उपस्थित नहीं हो सकती। अहिंसा के सम्यक् आचरण से जब साधारण आत्मा भी परमात्मा हो सकती है—कर्म-बन्धन से छूट सकती है, तब अन्य लौकिक कार्यों की सफलता प्राप्त होना असम्भव नहीं है।

आन्तरिक तथा बाह्य शत्रुओं पर विजय पाने वाले (वीर) व्यक्तियों की समष्टि को 'जैन' कहा गया है और

ऐसे व्यक्तियों द्वारा आचरित धर्म ही जैन धर्म है।[1] जब जैन-धर्म की भित्ति इतनी सुदृढ़ एवं विशाल है,तब उसकी नींव—अहिंसा, विशेष सुदृढ एवं विशाल होनी ही चाहिए। जैन धर्म के सभी आचार-विचार इसी अहिंसा-तत्त्व के ऊपर रचे गए हैं। जिस आचार और विचार में अहिंसा नहीं सधती है, जैन-धर्म की दृष्टि में वह आचार सदाचार नहीं है और विचार सद्विचार नहीं है। ऊपर जिस स्याद्वाद-सिद्धान्त की चर्चा की गई है, वह भी मानसिक अहिंसा (विचार-शुद्धि) के परिपालन के लिए है।

यों तो इस अहिंसा-तत्त्व को भारतीय सभी धर्मों में स्थान मिला है और उसकी कुछ-न-कुछ रूपरेखा खींची गई है; किन्तु उनकी अहिंसा स्थूल जगत् तक ही सीमित है—मानव तथा कुछ दूसरे स्थूल प्राणियों में ही परिसमाप्त हो जाती है। किन्तु जैन धर्म की अहिंसा स्थूल जगत् के परे सूक्ष्म जगत्—छोटे-छोटे जंगम और स्थावर प्राणियों में भी व्याप्त है। इससे भी आगे बढ़ती हुई वह रागद्वेषादि विकारों के उत्पन्न न होने में ही विश्रान्त होती है। तात्पर्य यह कि जैनों की अहिंसा मानसिक, वाचिक और कायिक होती हुई आत्मिक होकर रहती है; जब कि दूसरों की अहिंसा मात्र कायिक, और वह भी कुछ मर्यादा तक ही पाई जाती है। जैन धर्म के प्रवर्तकों ने इस अहिंसा-तत्त्व का मात्र कथन ही नहीं किया, अपितु अपने जीवन में उसे व्यवहार्य एवं आचरणीय भी बनाया है।

जैन-धर्म में अहिंसा की एक अविच्छिन्न धारा होते हुए भी साधु-अहिंसा और गृहस्थ-अहिंसा के भेद से उसके दो भाग कर दिये गए हैं। सर्वसंग-विरत साधुजन सब तरह की कठिनाइयों, उपद्रवों, परीषहों और कष्टों को सहन करते हुए अहिंसा की साधना करते हैं। वे अपने विरोधी अथवा हानि पहुँचाने वालों को भी मित्र समझते हैं। उन पर न कभी रोष भाव लाते हैं और न हिंसक वृत्ति को आने देते हैं। जो भी कष्ट आ पड़े उसे समता-भावों से सहन करना ही उनका एकमात्र कर्तव्य होता है। वे ऐसे प्रसंगों से कभी घबराते नहीं हैं। उनका स्वागत करने के लिए सदैव कटिबद्ध रहते हैं। इस तरह अहिंसा का आचरण करने से उनकी आत्मा में महान् आत्म-बल, प्रबल आत्म-साहस और असाधारण आत्म-तेज आदि गुण उदित होते हैं, जिससे कट्टर-से-कट्टर विरोधी भी अपना विरोध भूल जाते हैं और उनके अनुयायी बन जाते हैं। महर्षि पतञ्जलि ने भी इस बात को स्वीकार किया है।[2] जैन दर्शन में साधु-अहिंसा के बारे में स्पष्ट कहा गया है कि मुमुक्षु के लिए मोक्ष-प्राप्ति की साधना में साधु-पद अन्तिम स्थिति है। उसे अधिकाधिक निर्विकार एवं निर्लिप्त होना चाहिए तथा सम्पूर्ण प्रकार की कठिनाइयों को झेलने के पूर्ण सामर्थ्य से युक्त भी होना चाहिए। अतएव साधु-अहिंसा के पालन में कोई अपवाद या छूट नहीं है। इस अहिंसा की पूर्णता के लिए ही सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों—अपवादहीन व्रतों का जैन साधु आचरण करते हैं।

गृहस्थों के लिए देश-अहिंसा के पालन का उपदेश है। वे गृहस्थाश्रम में रहकर पूर्ण हिंसा का त्याग नहीं कर सकते हैं। उन्हें अपने परिवार की, अपनी जाति की, अपने देश की, अपनी सम्पत्ति की और स्वयं अपनी भी रक्षा करने के लिए एवं अपने जीवन-निर्वाह के लिए आरम्भादि अवश्य करने पड़ते हैं। तात्पर्य यह कि गृहस्थ जब हिंसा को छोड़ने के लिए प्रयत्नशील होता है तो वह समस्त हिंसा को चार भागों में बाँट लेता है। वे चार भाग इस प्रकार हैं :

१. **सांकल्पिकी**—संकल्प-पूर्वक होने वाली हिंसा।

२. **आरम्भी**—भोजनादि बनाने में होने वाली हिंसा।

३. **उद्योगी**—कृषि आदि से उत्पन्न होने वाली हिंसा।

४. **विरोधी**—आत्म-रक्षा के निमित्त से होने वाली हिंसा।

इन चार तरह की हिंसाओं में पहले प्रकार की अर्थात् संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिंसा का गृहस्थ, द्रव्य और भाव, दोनों तरह से त्याग करता है; अन्य हिंसाओं का त्याग केवल भावतः करता है। क्योंकि द्रव्यतः अन्य हिंसाओं को

---

१ अन्तः बाह्यारातीन् जयतीति जिनः, तदनुयायिनो जैना :।

२ अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग :।

—योगसूत्र

करते हुए भी उसका भाव हिंसा की ओर नहीं रहता, बल्कि आत्म-पोषण और आत्म-रक्षण की ओर रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक, सामाजिक, राजनैतिक, राष्ट्रीय और आध्यात्मिक सभी जीवनों और सभी क्षेत्रों में अहिंसा का उपयोग एवं प्रयोग अव्यवहार्य नहीं है। यह तो उपयोक्ता और प्रयोक्ता के मनोभावों पर निर्भर है। निष्कर्ष यह निकला कि हम अहिंसा को गृहस्थाश्रम में अपनी न्यायोचित सुविधानुसार पाल सकते हैं और उसके मधुर फलों को चख सकते हैं। वस्तुतः दुनिया में जितनी अधिक अहिंसा की प्रतिष्ठा होगी, उतनी ही अधिक सुख-शान्ति होगी। यही जैन दर्शन के इस अहिंसा सिद्धान्त की महत्त्वपूर्ण एवं विशिष्ट दृष्टि है।

कर्म-सिद्धान्त और सृष्टि का अकर्तृत्व

जैन दर्शन का चौथा सिद्धान्त कर्मवाद है और इसका फलित सृष्टि का अकर्तृत्व है। हम देखते हैं कि कोई तो निर्धन है, कोई धनी है; कोई नीरोग है, कोई रोगी है; कोई मूर्ख है, कोई विद्वान् है; कोई निर्बल है, कोई बलवान् है; कोई सुन्दर है, कोई कुरूप है। और तो क्या, एक ही माँ के पेट से पैदा हुई सन्तानों में भी यह विषमता पाई जाती है। एक तो लाखों की सम्पत्ति का स्वामी हो जाता है और दूसरा दर-दर का भिखारी बना फिरता है। इस तरह सारे ही संसार में विषमता देखी जाती है। इस विषमता का कारण क्या है? क्यों एक ही माँ की कुक्षि से पैदा होने वाले कोई मूर्ख और कोई विद्वान्, कोई दुःखी और कोई सुखी देखे जाते हैं? जैन दर्शन में इसका उत्तर है—प्राणियों के अपने-अपने कर्म। जो जैसा करता है, उसे वैसा ही फल भोगना पड़ता है। चूँकि जीवों के कर्म भिन्न-भिन्न हैं, इसलिए उन्हें फल भी भिन्न-भिन्न भोगने पड़ते हैं। इस बात को प्रायः ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी सभी स्वीकार करते हैं। न्यायमंजरीकार जयन्त भट्ट ने स्पष्टतया कहा है[1]—'जगत् में जो सुख-दुःखादि की विचित्रता देखी जाती है, खेती, नौकरी आदि के समान होने पर भी किसी को लाभ होता है और किसी को हानि उठानी पड़ती है; किसी को अचानक सम्पत्ति मिल जाती है और किसी के ऊपर बिजली पड़ जाती है; कोई प्रयत्न नहीं करता, फिर भी उसे फल प्राप्त हो जाता है और कोई प्रयत्न करने पर भी फल नहीं पाता। इससे दृष्ट कारण से अतिरिक्त अदृष्ट कारण भी मानना पड़ता है और वह प्राणियों का अपना-अपना अदृष्ट (धर्माधर्म) कर्म है।' रामायण का यह वाक्य तो अति प्रसिद्ध है:

करम प्रधान विश्व करि राखा।
जो जस करहि सो तस फल चाखा।

स्थूल रूप में यही कर्म-सिद्धान्त है और जिसे सामान्यतया प्रायः सभी दर्शनों में स्वीकार किया गया है। परन्तु जहाँ दूसरे दर्शनों में क्रिया, प्रवृत्ति या तज्जन्य संस्कार रूप ही कर्म है, जो अनादि संसार का कारण है और फलदान तक ही ठहरने वाला है, वहाँ जैन दर्शन में राग-द्वेषमूलक क्रिया-प्रवृत्ति से आने वाले (जीव के साथ सम्बन्ध को प्राप्त होने वाले) पुद्गल द्रव्य को कर्म कहा गया है, जो वास्तविक है—काल्पनिक नहीं और यही द्रव्य कालान्तर में आत्मा को शुभ अथवा अशुभ फल देता है। आचार्य कुन्दनकुन्द ने 'प्रवचनसार' में स्पष्ट कहा है—'जब राग अथवा द्वेष से युक्त होकर आत्मा अच्छे या बुरे कामों में प्रवृत्त होता है तो उस समय कर्म-रूपी रज ज्ञानावरणादि रूप से आता है और यही पुद्गल द्रव्य-

---

१ **जगतो यच्च वैचित्र्यं सुखदुःखादिभेदतः।**
कृषिसेवादिसाम्येऽपि विलक्षणफलोदयः॥
अकस्मान्निधिलाभश्च विद्युत्पातश्च कस्यचित्।
क्वचित्फलमयत्नेऽपि यत्नेऽप्यफलता क्वचित्॥
तदेतद् दुर्घटं दृष्टात्कारणाद् व्यभिचारिणः।
तेनादृष्टमुपेतव्यमस्य किञ्चन कारणम्॥

—न्यायमञ्जरी

रूप कर्म है।'[1]

जब यह पुद्गल-द्रव्य कर्म फलोन्मुख होता है तो आत्मा में राग-द्वेष, क्रोध-मोह आदि विकार-भाव पैदा होते हैं और फिर उनसे पुनः पुद्गल-द्रव्य कर्म आत्मा में आता है। इस तरह भाव और द्रव्य दोनों को ही जैन दर्शन में कर्म स्वीकार किया गया है और दोनों को अनादि प्रवाह माना है।[2]

ईश्वरवादी कहते हैं कि जीव अपने अच्छे या बुरे कर्मों के कर्ता तो स्वयं हैं और उनका फल भी उन्हें ही भोगना पड़ता है, परन्तु उस फल की व्यवस्था ईश्वर ही करता है।[3] परन्तु जैन दर्शन का मन्तव्य है कि कर्म स्वयं अपना फल देते हैं। उसकी व्यवस्था के लिए किसी दूसरे व्यवस्थापक की अपेक्षा नहीं होती। आप भूख से अधिक खा जाएं तो उसका फल (अजीर्ण-अफरा) आपको वह ज्यादा भोजन ही देगा। आप दस्तावर दवा खा लें तो उसका फल वह दवा ही आपको दस्तों के रूप में दे देगी। यदि हम आँख में मिर्च आँज लें तो उसका फल—जलना, वह मिर्च हमें स्वयं दे देगी। सब जानते हैं कि शराब नशा करती है और दूध पुष्टि करता है। जो मनुष्य शराब पीता है, उसे बेहोशी होती है और जो दूध पीता है, उसके शरीर में पुष्टता आती है। शराब या दूध पीने के बाद यह अपेक्षा नहीं रहती कि उसका फल देने के लिए दूसरा नियामक शक्तिमान हों।[4] अतएव हमारे कर्म ही हमें फल देते हैं। हम पढ़ना सीखते हैं तो पढ़ जाते हैं, नहीं सीखते हैं तो अनपढ़ रह जाते हैं—आदि प्राकृतिक बातों से यही निश्चित होता है कि जीवों को सुख-दुःख, उनके अपने कर्म ही स्वयं देते हैं। जीव के साथ जो राग-द्वेष के निमित्त से कर्म पुद्गल बँधते हैं, उनमें ही अच्छा या बुरा फल देने की शक्ति रहती है। यहाँ यह शङ्का नहीं होनी चाहिए कि कर्म अचेतन है, वह बिना चेतन ईश्वर की सहायता के फल कैसे दे सकता है? यह किसी से छिपा हुआ नहीं है कि हमारे आहार-विहार का प्रभाव हमारे मन और वाणी पर पड़ता है 'जैसा खावे अन्न वैसा हो मन्न, जैसा पीवे पानी वैसी होवे वाणी।' सिनेमा, चित्र, शराब आदि सैकड़ों पदार्थ अचेतन होते हुए भी अपना प्रभाव या असर डालते हुए देखे जाते हैं। अतः कर्म ही स्वयं जीवों को फलदाता है, ईश्वर नहीं।

जगत् की विषमता आदि को देखकर कितनेक दर्शन ईश्वर को उसका कर्ता बतलाते हैं। परन्तु जब कर्म को मान लिया जाता है तो फिर ईश्वर उसका कर्ता नहीं ठहरता। अन्यथा जब ईश्वर सर्वशक्तिमान् और बुद्धिमान् है तो उसकी सृष्टि में विषमता, न्यूनताएं, असंगतता, असुन्दरता और अव्यवस्था आदि बातें होनी ही नहीं चाहिए थीं। सर्वत्र एकरूपता ही होनी चाहिए थी। अतः जीव और अजीव के सम्बन्ध से ही जगत् अनादिकाल से बना चला आ रहा है और नाना परिवर्तनों को प्राप्त करता आ रहा है।[5] द्रव्य-समुदाय का नाम जगत् अथवा लोक है और सभी द्रव्य उत्पाद, व्यय तथा ध्रौव्य स्वरूप हैं। इसलिए यह जगत् स्वयमेव इसी प्रकार से अवस्थित है और अनादि-निधन है। जैन शास्त्रों में कर्म-सिद्धान्त और सृष्टि के अकर्तृत्व पर बहुत ही विस्तृत और सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया गया है।

● ● ●

---

१ परिणमदि जदा अप्पा सुहम्मि असुहम्मि राय-दोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं॥

२ पंचास्तिकाय, गा० १२८, १२९, १३०

३ अज्ञो जन्तु रनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा॥
—महाभारत

४ पंचम कर्म ग्रन्थ, प्रस्तावना पृ० १५

५ आप्तमीमांसा, का० ९९
गीता (५-१४, १५,) में भी 'न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः' कहकर ईश्वर के कर्तृत्वादि का निषेध किया गया है।

स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ

डा० इन्द्रचन्द्र शास्त्री, एम० ए०, पी-एच० डी०
दिल्ली-विश्वविद्यालय

अठारह पुराणों का सार देते हुए कहा जाता है 'परोपकार करना पुण्य है और पर-पीड़न पाप है।'[1] किन्तु एक ही कार्य किसी अपेक्षा से परोपकार सिद्ध होता है और दूसरी अपेक्षा से पर-पीड़न। इसी प्रकार कुछ कार्य ऐसे भी हैं जो न परोपकार है, न पर-पीड़न।

कठोपनिषद् में नचिकेता का वृत्तान्त आता है। उसके पिता धर्म का अर्थ केवल विधि-विधान समझते हैं और यह मानते हैं कि बूढ़ी एवं निकम्मी गाँएं देने पर भी दान का लक्ष्य पूरा हो सकता है। नचिकेता यह मानता है कि धर्म में सत्य और प्रामाणिकता का होना आवश्यक है। वह पिता का विरोध करता है; किन्तु उसका लक्ष्य है, उन्हें सत्य के मार्ग पर लाना। नचिकेता के व्यवहार से पिता को कष्ट पहुँचता है, अतः क्रिया की दृष्टि से पर-पीड़न होने पर उद्देश्य की दृष्टि से यह परोपकार ही है। महाभारत में राजा शिवि की कथा आती है जिसने अपनी शरण में आये हुए कबूतर की रक्षा के लिए भूखे बाज को अपना मांस काट कर दे दिया। यही कथा जैन-साहित्य मे मेघरथ राजा के नाम से आती है, जो कि सोलहवे तीर्थंकर शान्तिनाथ का पूर्व भव माना जाता है। बौद्ध साहित्य में भी इसी प्रकार की एक कथा नागानन्द के नाम से आती है। यहाँ यह प्रश्न खड़ा होता है कि अपने मांस का बलिदान देकर एक हिंसक एवं क्रूर प्राणी की रक्षा करना कहाँ तक पुण्य है? जहाँ तक शरणागत की रक्षा का प्रश्न है, वह बाज को मार देने पर भी हो सकती थी। हिंसक की रक्षा, बलिदान देने वाले के त्याग की दृष्टि से परोपकार होने पर भी, परिणाम की दृष्टि से परोपकार नहीं है। उससे अन्य प्राणियों के प्रति भय एवं अमंगल का जन्म होता है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को कहा था—'हे भिक्षुओ! ऐसी चर्या का पालन करो, जो आदि में मंगल हो, मध्य में मंगल हो तथा अन्त में भी मंगल हो। हे भिक्षुओ! ऐसे धर्म की देशना दो, जो आदि में मंगल हो, मध्य में मंगल हो और अन्त में भी मंगल हो।' हिंसक की रक्षा आदि में मंगल होने पर भी अन्त में मंगल नहीं है। इस प्रकार किसी कार्य को परोपकार या पर-पीड़न की कोटि में रखने के लिए किन तत्त्वों की आवश्यकता है, प्रस्तुत लेख में इसी पर विचार किया जायेगा। साथ में इस बात की भी चर्चा की जायेगी कि इन दोनों की क्या सीमाएं हैं। अन्त में इस बात पर विचार करेंगे कि परमार्थ और परोपकार में क्या भेद है और जीवन का अन्तिम लक्ष्य परमार्थ है या परार्थ अर्थात् परोपकार।

भर्तृहरि ने मनुष्यों को चार कोटियों में बाँटा है:

१. सत्पुरुष—वे लोग, जो स्वयं हानि उठाकर भी दूसरे का हित-साधन करते हैं।

२. सामान्य जन—वे जन, जो स्वार्थ को क्षति न पहुँचाते हुए परहित-साधन करते है।

३. मानव राक्षस—जो स्वार्थ के लिए दूसरे को हानि पहुँचाते है।

---

१ अष्टादशपुराणेषु, व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय, पापाय परपीड़नम्॥

४. पशुराक्षस—जो बिना ही स्वार्थ के दूसरे को हानि पहुँचाते हैं।

भर्तृहरि ने चौथी कोटि के लिए कोई नाम नहीं दिया। ऐसे व्यक्तियों के लिए **ते के न जानीमहे** कहकर छोड़ दिया है।

उपर्युक्त चार कोटियों में से प्रथम दो परार्थ में आती है और अन्तिम दो स्वार्थ या पर-पीड़न में। इनके साथ एक कोटि और जोड़ी जा सकती है और वह उन लोगों की है,जो स्वयं हानि उठाकर भी दूसरों को हानि पहुँचाना चाहते हैं, उन्हें 'उन्मत्त राक्षस' कहा जायेगा।

स्वार्थ एवं परार्थ तथा उनकी तारतम्यता का निर्णय नीचे लिखे चार तत्त्वों से होता है :

१. क्षेत्र की व्यापकता,

२. त्याग-वृत्ति,

३. उद्देश्य की पवित्रता,

४. परिणाम की मंगलमयता।

क्षेत्र की व्यापकता

पर-हित का क्षेत्र जितना व्यापक होगा, परार्थ में उतनी ही उत्कृष्टता आती जायेगी। जब वही क्षेत्र बढ़ते-बढ़ते अखिल विश्व तक पहुँच जाता है, तो परमार्थ बन जाता है। इसका प्रारम्भ कुटुम्ब से होता है; अर्थात् व्यक्ति जब निजी सुख-दुःख एवं इच्छाओं को भूल कर उन्हें अपने परिवार के सुख-दुःख के साथ मिला देता है, परिवार के सुख में सुखी तथा उसके दुःख में दुःखी होने लगता है; यह परार्थ की ओर पहला कदम है। मानवशास्त्रियों का कथन है कि मनुष्य में इतनी भी परार्थ-वृत्ति न होती, तो वह कभी का नष्ट हो गया होता। उसने यह पाठ जीवन एवं अस्तित्व के रक्षण के लिए संघर्ष करते हुए सीखा है। अतः उसमें त्यागवृत्ति के स्थान पर स्वार्थ की भावना ही अधिक है। मानव-शास्त्रियों का यह मत अंशतः ठीक होने पर भी सब जगह लागू नहीं होता।

परिवार से आगे बढ़कर मनुष्य वंश या कुल तक जाता है। पुरानी असभ्य जातियों में अपने वंश या कुल तक तो परस्पर परोपकार एवं सहानुभूति की भावना रहती थी, परन्तु उस परिधि से बाहर उत्पीड़न की। परिणामस्वरूप विभिन्न कुलों में परस्पर युद्ध होते रहते थे और विजेता कुल विजित कुल को समाप्त कर देता था। इस प्रकार का परोपकार कुल-धर्म होने पर भी आध्यात्मिक धर्म या पुण्य की कोटि में नहीं आता; क्योंकि वह क्षेत्र की दृष्टि से संकुचित तथा परिणाम की दृष्टि से अमंगल है।

ऐसे कुलों से आगे बढ़कर मनुष्य ने जाति, धर्म, राष्ट्र या ऐसी अन्य परिधियों तक परार्थी, किन्तु उनके बाहर स्वार्थी बन कर रहना सीखा। यहूदी धर्म में पाप और पुण्य की परिभाषा भी इसी प्रकार है। अर्थात्, एक यहूदी यदि दूसरे यहूदी पर अत्याचार करता है, तो वह पाप है; किन्तु उस परिधि के बाहर किसी को लूटना-मारना, स्त्रियों पर बलात्कार करना या अन्य किसी प्रकार अत्याचार करना पाप नहीं है। ईसाई तथा मुसलमान धर्मों ने सिद्धान्त रूप में तो विश्व-बन्धुत्व को आदर्श माना, किन्तु व्यवहार में अपने-अपने धर्म की परिधि से बाहर अत्याचार करने में कोई पाप नहा माना। आर्यों ने भी प्रारम्भ में भारत के आदिवासियों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया। भारत में धर्म की परिधि का प्रभाव अभी तक विद्यमान है। राष्ट्रीय परिधियों का प्रभाव तो सारे विश्व को घेरे हुए है और वही विभिन्न राष्ट्रों में गुटबन्दी, परस्पर भय एवं युद्ध की विभीषिका का कारण बना हुआ है।

क्षेत्र की दृष्टि से परार्थ का सर्वोत्कृष्ट रूप विश्व-मैत्री है। उपनिषदों ने समस्त चराचर-जगत् का आधारभूत एक तत्त्व बताया और प्रत्येक व्यक्ति से कहा—तू वही महान् तत्त्व है।[1] इस प्रकार सार्वभौम एकता का सन्देश दिया। बौद्ध एवं जैन परम्परा ने उसी तत्त्व को विश्व-मैत्री के रूप में उपस्थित किया। ईसामसीह का जो सन्देश पर्वतीय प्रवचन

---

१ तत्त्वमसि।

(Sermon on the mount) में मिलता है, वह भी इसी कोटि का है। बुद्ध, महावीर, ईसामसीह आदि कुछ बिरल पुरुषों ने उस महान् आदर्श को जीवन में उतार कर भी बताया है।

जिस प्रकार क्षेत्र जितना विकसित होगा, परार्थ उतना ही श्रेष्ठ तथा उदात्त होता जायेगा; उसी प्रकार क्षेत्र-विकास के साथ-साथ स्वार्थ निम्न से निम्नतर होता जाता है। प्राचीन समय में तैमूरलंग, नादिरशाह आदि बहुत से आततायियों ने व्यापक रूप से लूटमार की और वे विश्व के लिए अमंगल बने। जब व्यक्ति की पाशविक वृत्ति को धर्म का समर्थन मिल जाता है, तो वह और भी क्रूर हो जाती है। धर्म-युद्ध के नाम से संसार में जो अत्याचार हुए हैं वे इसका उदाहरण हैं। भर्तृहरि ने उन लोगों को निम्नतम कोटि में रखा है, जो बिना स्वार्थ के पर-पीड़न करते हैं। स्वार्थ का अभिप्राय जानने की आवश्यकता है। जहाँ तक भौतिक आवश्यकताओं या साधारण आकांक्षाओं की पूर्ति का प्रश्न है, उन्हें स्वार्थ कहा जा सकता है। किन्तु जब व्यक्ति की उद्दाम लिप्सा सब सीमाओं को पार कर अनर्गल बन जाती है, जब वह केवल अपना आतंक जमाने, दूसरों पर प्रभत्व स्थापित करने, दूसरों के न्यायोचित अधिकार को छीनने के लिए अत्याचार करता है तो वह स्वार्थ की सीमा में नहीं रहता और भर्तृहरि द्वारा प्रतिपादित चौथी कोटि में आता है। अमेरिका ने हिरोशिमा तथा नागासाकी पर अणु-बम गिराकर जो लाखों निर्दोष व्यक्तियों को भस्म कर डाला, उसे भी इसी कोटि में रखा जायेगा।

त्याग-वृत्ति

परार्थ का दूसरा तत्त्व त्याग-वृत्ति है। व्यक्ति में अपने सुख तथा स्वार्थ को छोड़ने की भावना जितनी प्रबल होगी, उतना ही परार्थ उच्च कोटि का होगा। विभिन्न धर्मों में त्याग का उपदेश दिया गया है। साथ ही फल का प्रलोभन भी कहा गया है—इस जन्म में दान देने से अगले जन्म में सैकड़ों गुना धन प्राप्त होगा। इस जन्म में काम-भोगों का त्याग करने से स्वर्ग में अप्सराएं मिलेंगी। इस्लाम में बताया गया है—इस जन्म में मदिरापान न करने से बहिश्त मिलेगा, जहाँ शराब की नदियाँ बह रही हैं। शंकराचार्य ने इस प्रकार के त्याग को वणिक्-वृत्ति कहा है। वास्तव में वह एक प्रकार का व्यापार है, जहाँ थोड़ी पूँजी लगा कर अधिक पूँजी प्राप्त करने की आशा की जाती है। वस्तुतः परार्थ में त्याग के लिए त्याग किया जाता है। वह अपने-आप में मुक्त है। उसमे सात्त्विक आनन्द की वृद्धि होती है। मनुष्य दूसरे के लिए परित्याग करते-करते जब उसकी चरम सीमा पर पहुँच जाता है, तब उसका 'स्व' कुछ नहीं रहता, सब कुछ 'पर' हो जाता है। इसी को सूफी परम्परा में 'खाकपरस्ती', वेदान्त में 'ब्रह्मलय', बौद्ध दर्शन में 'शून्यविलय' तथा जैन दर्शन में 'मोहनाश' कहा गया है।

इसके विपरीत स्वार्थ-साधन की भावना जितनी उग्र होगी, स्वार्थ उतना ही निम्नकोटि का होता जायेगा। इस उग्रता के कई मापदण्ड हैं।

जो व्यक्ति सामाजिक, राजकीय तथा धार्मिक सभी प्रकार के प्रतिबन्धों को तोड़कर स्वार्थ-साधन करता है, अर्थात् जो सामाजिक दृष्टि से दुराचारी, राजकीय विधि के अनुसार अपराधी तथा धर्मशास्त्र के अनुसार पापी भी है, वह निम्नतम कोटि पर है। बहुत-से व्यक्ति राजकीय नियमों को तो नहीं तोड़ते; किन्तु सामाजिक एवं धार्मिक कर्तव्यों का भंग करते हैं। राजकीय कानून का समर्थन प्राप्त होने के कारण वे अपने को अपराधी नहीं मानते, फिर भी दुराचारी एवं पापी तो हैं ही। दूसरी ओर कुछेक व्यक्ति अपराधी होने पर भी अत्याचार एवं पाप की दृष्टि से अपेक्षाकृत उच्च-स्तर पर होते हैं। चरित्र की दृष्टि से राजकीय एवं सामाजिक विधान की अपेक्षा धर्म का अधिक महत्त्व है; जो व्यक्ति धर्म के शाश्वत नियमों का उल्लंघन करता है, वह निम्नतम कोटि पर है। किन्तु यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि धार्मिक नियमों का अर्थ साम्प्रदायिक नियम नहीं है। साम्प्रदायिक नियमों का निर्माण मनुष्य अपने संगठन के लिए स्वयं करता है और धार्मिक नियम शाश्वत होते हैं। योगसूत्र में उन्हें देश, काल एवं परिस्थिति की परिधि से मुक्त सार्वभौम कहा गया है। साम्प्रदायिक मर्यादाएं मुख्यतया सामाजिक नियमों की कोटि में आती हैं।

सामाजिक तथा राजकीय नियमों का उल्लंघन भी चरित्र-विकास की दृष्टि से हेय है। किन्तु उसमें निर्णायक

तत्त्व उद्देश्य है। बहुत से सामाजिक नियम या रूढ़ियाँ अपने जन्म-काल में उपयोगी होने पर भी धीरे-धीरे निर्जीव हो जाती हैं और व्यक्ति के सच्चे विकास में बाधाएं उपस्थित करने लगती हैं। बहुत से राजकीय नियम भी इसी प्रकार के हो जाते हैं। ऐसे नियमों का उल्लंघन पाप के स्थान पर भी धर्म हो सकता है। अतः सामाजिक या राजकीय नियमों का पालन सापेक्ष है। अर्थात् उनका पालन करते समय उन्हें स्वमंगल तथा परमंगल की कसौटी पर परखने की आवश्यकता है। यदि वे उसमें सहायक हों, तो स्वीकार करने योग्य हैं, अन्यथा हेय। इसके विपरीत धार्मिक नियम शाश्वत हैं। उन्हें तात्कालिक विकास की परख पर नहीं उतारा जा सकता।

लक्ष्य-शुद्धि

परार्थ का तीसरा तत्त्व लक्ष्य-शुद्धि है; अर्थात् दूसरे की भलाई करते समय लक्ष्य जितना पवित्र और आध्यात्मिक होगा, परार्थ उतना ही उच्च कोटि का होगा। धन-प्राप्ति, वासनापूर्ति या किसी अन्य प्रकार की भौतिक कामना की पूर्ति या किसी अन्य प्रकार की भौतिक कामना के लिए दूसरे की सहायता करना परार्थ कोटि में नहीं आता। ये सब स्वार्थ के अन्तर्गत हैं। उनमें भी लक्ष्य जितना हिंसा, वासना या अन्य पापवृत्तियों वाला होगा, उतना ही स्वार्थ निम्न-कोटि का होगा। व्यक्ति जब भौतिक कामनाओं से ऊपर उठकर व सात्त्विक इच्छाओं से प्रेरित होकर पर-हित करता है तब वहाँ से परार्थ प्रारम्भ होता है।

विभिन्न धर्मों में व्यक्ति को परार्थ एवं परमार्थ की ओर प्रेरित करने के लिए विविध प्रकार के प्रलोभन दिये गए हैं। इसी प्रकार स्वार्थवृत्ति को दूर करने के लिए भय बताये गए हैं। कहा गया है जो तपस्या द्वारा काम-भोगों पर नियन्त्रण करता है, उसे चक्रवर्ती का राज्य या स्वर्ग का ऐश्वर्य प्राप्त होता है। इसी प्रकार दूसरे की हिंसा करने, झूठ बोलने, चोरी करने तथा दुराचार आदि के कारण इस जन्म में विविध प्रकार के रोग उत्पन्न होते हैं तथा दूसरे जन्म में नरक तथा पशुयोनि के कष्ट भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार भय या कामनापूर्ति के लक्ष्य से प्रेरित होकर जो पर-हित या धर्मसाधन किया जाता है, वह लक्ष्य-शुद्धि की दृष्टि से निम्न कोटि का ही माना जायेगा।

परिणाम की मंगलमयता

परोपकार का चौथा तत्त्व परिणाम की मंगलमयता है। इस दृष्टि से सर्वोत्तम रूप वह होगा, जो सभी के लिए मंगलमय है। जो आदि में भी मंगल है, मध्य में भी मंगल है और अन्त में भी मंगल है—ऐसा परोपकार परार्थ की सीमा से बढ़कर परमार्थ बन जाता है।

इस तत्त्व में क्षेत्र, भावना या लक्ष्य की अपेक्षा समझ या विवेक की अधिक आवश्यकता होती है। पिछली तीनों बातों के होने पर भी यदि करने वाले में विवेक नहीं है,तो उसका कार्य परोपकार के स्थान पर पर-पीड़न बन जाता है। धार्मिक एवं सामाजिक संगठनों में इस प्रकार का अविवेक पाया जाता है। धर्म के नाम पर विविध प्रकार के आडम्बर किये जाते हैं और समझा जाता है कि उनसे धर्म का उत्कर्ष होता है। किन्तु उन्हीं आडम्बरों के कारण धर्म की आत्मा घुट कर मर जाती है। उसके अन्दर रहा हुआ 'शिव' समाप्त हो जाता है और केवल शव बाकी रहता है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि हमारी दृष्टि इस लक्ष्य से न हटने पाये कि धर्म मंगलमय है। हमारे पुराने संस्कार,अहंकार, अस्मिता, मोह आदि विकारों के कारण वह दृष्टि से ओझल न हो।

महाकवि रवीन्द्र ने गीताञ्जलि में प्रश्नोत्तर के रूप में कहा है—

'दीपक क्यों बुझ गया ?

मैंने उसे अपनी चादर से ढक लिया और वह बुझ गया।'

वास्तव में हम धर्म के दीप पर अस्मिता की चादर डाल देते हैं और जिससे हमें प्रकाश प्राप्त करना चाहिए, वह बुझ जाता है। गीताञ्जलि में दूसरा प्रश्न किया गया है—

'फूल क्यों मुरझा गया ?

मैंने उसे तोड़कर अपनी छाती से चिपका लिया, अतः फूल मुरझा गया।'

अनेक महापुरुषों की तपस्या एवं साधना-रूपी खाद को प्राप्त करके यह धर्म-रूपी पुष्प खिलता है और चारों ओर सुगन्ध फैलाने लगता है। आवश्यकता है इस बात की कि हम त्याग और तपस्या के बल से इस लता को सींचते रहें, फूल अपने-आप खिला रहेगा और नये-नये फूल भी प्रकट होते रहेंगे। किन्तु अहंकार के मिथ्या अभिनिवेशों से प्रेरित होकर स्वार्थी मानव इसे तोड़कर अपनी छाती से चिपका लेता है। न स्वयं सुगन्ध लेता है, न दूसरों को लेने देता है। दीपक के प्रकाश और फूल की सुगन्ध पर एकाधिपत्य की भावना लोक के लिए मंगलमय सिद्ध नहीं हुई। यदि धार्मिक संगठनों का उद्देश्य लता को सींचना है, तो उनकी उपयोगिता समझ में आ सकती है; किन्तु यदि वे फूल को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं, तो धर्म-रक्षक के स्थान पर धर्म-भक्षक बन जाते हैं।

परिणाम की अमंगलमयता का एक और रूप भी धार्मिक इतिहास में देखा गया है। शताब्दियों एवं सहस्राब्दियों से एक सम्प्रदाय वाले दूसरे सम्प्रदाय वालों को अपना अनुयायी बनाने के लिए प्रयत्न करते आ रहे हैं और इसके लिए षड्यन्त्र, सैनिक आक्रमण आदि उपायों का आश्रय लेते आये हैं। वे यह दावा करते हैं कि हम मिथ्यात्व के मार्ग पर चलने वालों को धर्म के मार्ग पर ला रहे हैं और इस प्रकार पर-कल्याण के मार्ग पर चल रहे हैं। किन्तु वास्तव में दूसरे को धर्म-पथ पर लाना तो दूर रहा, स्वयं पाप के मार्ग पर चल पड़ते हैं। वे दूसरों को मोक्ष और स्वर्ग का सुख देना चाहते हैं, पर इसके लिए उन्हें इस लोक के सुखों से ज़बरदस्ती वंचित कर देते हैं। वास्तव में धर्म की आड़ लेकर उद्दाम अहंकार तथा क्रूरवृत्तियों की पुष्टि की जाती है। यह अविवेक के कारण होता है और परिणाम मंगलमय नहीं है।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है—क्या ऐसा कोई परिचित रूप है जो किसी के लिए अमंगल न हो? व्यक्तियों एवं प्राणियों के स्वार्थ परस्पर टकराते हैं। एक जीव दूसरे जीव का जीवन अथवा भोजन है। इसका अर्थ है, एक का पोषण दूसरे का शोषण किये बिना नहीं हो सकता। फिर परममंगल क्या होगा? वास्तव में यह विचारणीय प्रश्न है। इस दृष्टि से देखा जाये तो सर्वमंगल का चरम रूप समस्त व्यवहार की निवृत्ति है। इसी को भारतीय दर्शनों में 'मोक्ष' कहा गया है। वह स्थिति ब्रह्मसमाप्ति है या शून्य में विलय या सिद्धावस्था या अन्य कोई अवस्था—हम इस दार्शनिक चर्चा में नहीं जाना चाहते। परन्तु यह निश्चित है कि इस लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना विश्व के लिए मंगलमय है।

परमार्थ के दो रूप

ऊपर मुख्य रूप से स्वार्थ एवं परार्थ की चर्चा की गई है। यथास्थान यह भी बताया गया है कि परार्थ ही अपनी चरम सीमा को प्राप्त करने पर परमार्थ बन जाता है। उपनिषदों में ईश्वर का विराट् के रूप में वर्णन किया गया है। विश्व की सेवा ही परमात्मा की सेवा है। बुद्ध ने कहा है—'माता जिस प्रकार अपने इकलौते पुत्र से प्रेम करती है, इसी प्रकार का उत्कट प्रेम समस्त विश्व में फैला दो। जैन दर्शन में भी राग और द्वेष को जीतकर विश्वमैत्री पर बल दिया गया है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सभी धर्मों में परार्थ ही समस्त परिधियों को पार कर लेने पर परमार्थ बन जाता है।

बौद्धों की महायान परम्परा में साधना का लक्ष्य अशुभ वासना का क्षय और शुभवासना का विकास बताया गया है। परिणामस्वरूप प्रवृत्तिमात्र का निरोध नहीं होता। किन्तु अशुभ प्रवृत्ति रोककर शुभ प्रवृत्ति का विकास किया जाता है। विविध प्रवृत्तियों की पराकाष्ठा के रूप में दस पारमिताएं बतायी गई हैं, जिनका अभ्यास बोधिसत्त्व करते हैं। वे दूसरों के लिए निर्वाण अर्थात् मोक्ष भी छोड़ देते हैं। ईसाई-परम्परा भी इसी मार्ग का समर्थन करती है। भगवद्गीता में निवृत्ति-मार्ग सांख्य अर्थात् ज्ञान-योग की अपेक्षा से है और प्रवृत्ति-मार्ग कर्म-योग एवं भक्ति-योग की अपेक्षा से। दोनों मार्ग व्यक्ति की मनोवृत्ति पर अवलम्बित हैं। जिसकी जिधर अभिरुचि हो, वह उसे अपना सकता है। दोनों ही परम मंगलमय माने गये हैं। वैष्णव परम्परा में कहा गया है—परमात्मा की भक्ति मुक्ति से भी बड़ी है।[1]

---

१ भक्तिर्मुक्तेर्गरीयसी।

बौद्धों के हीनयान तथा जैन परम्परा में वैयक्तिक मुक्ति को सर्वोच्च लक्ष्य माना गया है। इन दोनों परम्पराओं की मान्यता है कि शुभ एवं अशुभ सभी प्रवृत्तियों का कारण वासना अथवा मोह है। जब तक इसका अस्तित्व रहेगा, परममंगल की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः वासना-क्षय या मोहनाश ही परममंगल है। उस समय व्यक्ति किसी के लिए अमंगल नहीं रहता। इन दोनों के मत में पारमार्थिक दृष्टि से अमंगल का नाश ही मंगल है। अद्वैतवेदान्त तथा सांख्य-दर्शन में भी दुःखाभाव को ही सुख बताया गया है। न्याय-दर्शन में मोक्ष का क्रम बताते हुए कहा है—तत्त्वज्ञान से मिथ्या-ज्ञान का नाश होता है, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश और जन्म के नाश से दुःख का नाश और दुःख का नाश ही 'मोक्ष' है।
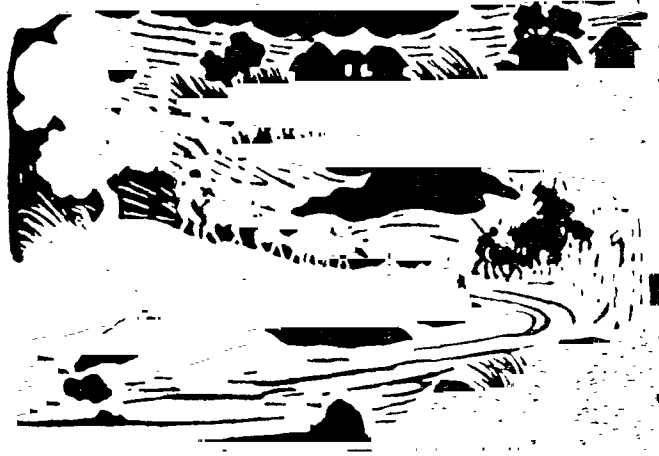
द्रव्यप्रमाणानुगम

श्री जबरमल भंडारी, एडवोकेट
अध्यक्ष, जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा

जीवों का परिमाण जानने के लिए जैनागमों में चार अपेक्षाएं बतलाई गई हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव[1]।

द्रव्य प्रमाण

द्रव्य प्रमाण के तीन भेद हैं—संख्यात, असंख्यात और अनन्त। जो संख्या पाँच इन्द्रियों का विषय है, वह संख्यात है; उसके ऊपर जो संख्या अवधिज्ञान का विषय है वह असंख्यात है, और उसके ऊपर जो संख्या केवलज्ञान द्वारा ही विषय-भाव होती है, वह अनन्त है।[2]

संख्यात

संख्यात के तीन भेद हैं—जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट। गणना की आदि '२' से मानी जाती है, क्यों कि '१' सत्ता को सूचित करता है, भेद को सूचित नहीं करता।[3] इस प्रकार जघन्य संख्यात '२' है और उत्कृष्ट संख्यात, 'जघन्य परीतासंख्यात' (जिसकी परिभाषा आगे बताई जायेगी) से एक कम होता है। जघन्य संख्यात और उत्कृष्ट संख्यात के बीच सब मध्यम संख्यात के भेद हैं।

असंख्यात

असंख्यात के तीन भेद हैं—परीत, युक्त और असंख्यात; और इन तीनों में से प्रत्येक के जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट—तीन-तीन भेद होने से सर्व नौ भेद होते हैं—जघन्य परीतासंख्यात, मध्यम परीतासंख्यात, उत्कृष्ट परीतासंख्यात; जघन्य युक्तासंख्यात, मध्यम युक्तासंख्यात, उत्कृष्ट युक्तासंख्यात; जघन्य असंख्यातासंख्यात, मध्यम असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात।

जघन्य परीतासंख्यात—इसको समझने के लिए असत्कल्पना के द्वारा चार पल्य जम्बूद्वीप प्रमाण लम्बे-चौड़े और एक हजार योजन गहरे कल्पित किए जाएं। उनको शलाका, प्रतिशलाका, महाशलाका और अनवस्थित नाम से पुकारा जाए। अनवस्थितपल्य को सरसों के दानों से भर दिया जाए। अब असत्कल्पना द्वारा एक सरसों का दाना एक-एक द्वीप में व एक-एक समुद्र में डाला जाए। जब एक सरसव बाकी रहे, तब उसे शलाकापल्य में डाला जाए। जिस क्षेत्र में अन्तिम

---

१ **कई आचार्यों ने क्षेत्र के पहले काल रखा है और उनका कहना है कि काल की अपेक्षा क्षेत्र प्रमाण सूक्ष्म होता है और स्थूल व अल्प वर्णनीय का आख्यान पहले करने का नियम है।**

२ **अहवा जं संखाणं पंचिंदिया विसओ तं संखेज्जं णाम।
तदो उवरि जमवहिणाणविसओ तमसंखेज्जं णाम।।
तदो उवरि जं केवलणाणस्सेव विसओ तमणंतं णाम।। —षट्खण्डागम**

३ **एको गणणं न उवेइ दुप्पभिति संखा। —अनुयोगद्वार सूत्र**

सरसों का दाना डाला गया था, उसी क्षेत्र का एक और अनवस्थितपल्य कल्पित किया जाए और उसे सरसों से भरकर पूर्ववत् अन्य द्वीप-समुद्रों में प्रक्षिप्त किया जाये। जब एक दाना सरसों का रहे, तो उसे शलाकापल्य में प्रक्षिप्त किया जाए और इसी उपरोक्त क्रिया द्वारा शलाका को भर दिया जाए। फिर शलाकापल्य के सरसों को अन्य द्वीप-समुद्रों में एक-एक डाला जाए और जब एक दाना बचे, तो उसे प्रतिशलाकापल्य में डाला जाए। फिर अनवस्थितपल्य के द्वारा शलाकापल्य को वापस भर, फिर शलाका को पूर्व रीति अनुसार खाली करते हुए बचा एक सरसों प्रतिशलाकापल्य में डाले। इस प्रकार अनवस्थित से शलाका भर लिया जाए शलाका से प्रतिशलाका। फिर उपरोक्त क्रिया द्वारा ही प्रतिशलाका से महा-शलाकापल्य भरा जाए। जब चारों पल्य भर जाएं, तब उन सरसों की एक राशि बना ली जाए। इस राशि को जघन्य परीतासंख्यात कहते हैं और इस राशि में से एक सरसों कम करने से उत्कृष्ट संख्यात रह जाता है।

जघन्य युक्तासंख्यात का प्रमाण, जो आगे बताया जाएगा, उसमे एक कम करने पर उत्कृष्ट परीतासंख्यात का प्रमाण मिलेगा। जघन्य परीतासंख्यात और उत्कृष्ट परीतासंख्यात के बीच सब गणना मध्यम परीतासंख्यात के भेद हैं।

जघन्य परीतासंख्यात के वर्गित संवर्गित[1] करने से जघन्य युक्तासंख्यात परिमाण प्राप्त होता है[2] और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात का प्रमाण, जघन्य असंख्यातासंख्यात (जिसको आगे समझाया गया है) से एक कम है। जघन्य युक्तासंख्यात और उत्कृष्ट युक्तासंख्यात के बीच की प्रत्येक गणना मध्यम युक्तासंख्यात का भेद है। जघन्य युक्तासंख्यात से आवलिका को परस्पर गुणा कर उसमें एक न्यून उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है अथवा जघन्य असंख्यातासंख्यात का एक न्यून उत्कृष्ट युक्तासंख्यात होता है।

जघन्य युक्तासंख्यात का वर्ग ($य^2$ अथवा $य \times य$) अथवा जघन्य युक्तासंख्यात के साथ आवलिका की राशि को परस्पर गुणा करने से जघन्य असंख्येयासंख्येयक प्राप्त होता है अथवा उत्कृष्ट युक्तासंख्यात में एक जोड़ने से जघन्य असंख्येयासंख्येयक होता है। आगे जिसको बताया जायेगा उस जघन्य परीतानन्त से एक न्यून को उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात कहते हैं और जघन्य असंख्यातासंख्यात और उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात के बीच की गणना मध्यम असंख्यातासंख्यात के भेद हैं। जघन्य असंख्यातासंख्यात की राशि का वर्ग करने से अर्थात् उस राशि को उसी के साथ परस्पर गुणा करने से जघन्य परीतानन्तक आता है या एक रूप कम करने से उत्कृष्ट असंख्यातासंख्यात आता है।

अनन्त

जघन्य परीतानन्तक राशि को परस्पर गुणन करके गुणनफल में से एक न्यून करने से उत्कृष्ट परीतानन्तक होता है। जघन्य परीतानन्तक और उत्कृष्ट परीतानन्तक के बीच की गणना मध्यम परीतानन्तक के भेद हैं।

जघन्य परीतानन्तक राशि को परस्पर गुणा करने से जघन्य युक्तानन्तक होता है अथवा उत्कृष्ट परीतानन्तक में एक और जोड़ देने से भी जघन्य युक्तानन्तक ही होता है। अभव्य जीवों की राशि जघन्य युक्तानन्तक प्रमाण है। तत्पश्चात् जहाँ तक उत्कृष्ट युक्तानन्तक नहीं होता, वहाँ तक सब गणना मध्यम युक्तानन्तक के भेद हैं।

यदि जघन्य युक्तानन्तक की राशि को उसके साथ गुणा करें या जघन्य युक्तानन्तक की राशि को अभव्यों की

---

१ वर्गित-संवर्गित का प्रयोग किसी संख्या का संख्या तुल्य घात करने के अर्थ में किया गया है, जैसे $न^{न}$ 'न' का प्रथम वर्गित-संवर्गित है। $(न^{न})^{न^{न}}$ द्वितीय वर्गित संवर्गित; $\left\{(न^{न})^{(न^{न})}\right\}^{\left\{(न^{न})^{(न^{न})}\right\}}$ तृतीय वर्गित-संवर्गित है।

२ जघन्य युक्तासंख्यात प्रमाण के जितने सरसों हों उतने ही आवलिका के समय होते हैं।

राशि के साथ गुणा करे तो जघन्य अनन्तानन्तक की राशि प्राप्त होती है; उसमें से एक न्यून कर दें तो उत्कृष्ट युक्तानन्तक होता है। अथवा यदि उत्कृष्ट युक्तानन्तक की राशि में एक रूप और प्रक्षेप कर दें तो भी जघन्य अनन्तानन्तक होता है। इसके पश्चात् अजघन्योत्कृष्ट मध्यम अनन्तानन्त ही होता है। उत्कृष्ट अनन्तानन्तक नहीं होता।[1]

क्षेत्र प्रमाण

पुद्गल द्रव्य के उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग को परमाणु कहते हैं जिसका पुनः विभाग न हो सके और जो स्वतन्त्र हो। परमाणु इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं है। वह अप्रदेशी है; इसका आदि, अन्त, मध्य नहीं है। परमाणु अग्निकाय में प्रवेश कर सकता है, परन्तु जलता नहीं; पुष्कल संवर्त नामक महामेघ में प्रवेश कर सकता है परन्तु पानी से आर्द्र नहीं होता। ऐसा अविभागी परमाणु जितने आकाश को अवगाह करता है, उस क्षेत्र को एक प्रदेश कहते हैं। 'क्षेत्र प्रमाण' दो प्रकार के हैं—प्रदेश-निष्पन्न और विभाग-निष्पन्न।

प्रदेश-निष्पन्न—प्रदेश निर्विभाग है; उसमें द्रव्य यावन्मात्र प्रदेशों पर ठहरता है, उस अपेक्षा से प्रदेश-निष्पन्न 'क्षेत्र प्रमाण' होता है, जैसे कि एक प्रदेशावगाही, द्विप्रदेशावगाही, संख्यातप्रदेशावगाही, असंख्यात प्रदेशावगाही पुद्गल।

विभाग-निष्पन्न—जो क्षेत्र विभाग से निष्पन्न हो, उसे विभाग-रूप क्षेत्र कहते हैं। उदाहरणार्थ—अङ्गुल, वितस्ति, हस्त, कुक्षि, धनुष, कोश आदि।

विभाग-निष्पन्न क्षेत्र प्रमाण के मान

अङ्गुल तीन प्रकार के हैं—आत्माङ्गुल, उत्सेधाङ्गुल और प्रमाणाङ्गुल। जिस काल में जो मनुष्य उत्पन्न हो, उस काल में उसका अङ्गुल आत्माङ्गुल कहा जाता है। प्रामाणिक पुरुषों का शरीर अपने अङ्गुल (आत्माङ्गुल) के माप से एक सो आठ अङ्गुल और मुख द्वादश अङ्गुल प्रमाण होता है। आत्माङ्गुल के तीन भेद है—सूच्यङ्गुल (Linear), प्रतराङ्गुल (Square) घनाङ्गुल (Cubic)। परमाणु से लेकर उत्सेधाङ्गुल तक के मान इस प्रकार हैं :

अनन्त परमाणु	=	१ उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका
८ उच्छ्लक्ष्णश्लक्ष्णिका	=	१ श्लक्ष्णिका
८ श्लक्ष्णिका	=	१ ऊर्ध्वरेणु
८ ऊर्ध्वरेणु	=	१ त्रसरेणु
८ त्रसरेणु	=	१ रथरेणु
८ रथरेणु	=	१ देवकुरु उत्तरकुरु के मनुष्य का बालाग्र
८ दे० उ० बालाग्र	=	१ हरिवर्ष, रम्यकवर्ष ,, ,, ,, ,,
८ ह० र० बालाग्र	=	१ हैमवय एरण्यवय ,, ,, ,, ,,
८ हैम० ए० बालाग्र	=	१ महाविदेह ,, ,, ,, ,,
८ महाविदेह-बालाग्र	=	१ भरत, एरावत ,, ,, ,, ,,
८ भरत, एरावत-बालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यव-मध्य भाग
८ यव-मध्य भाग	=	१ उत्सेधाङ्गुल
१००० उत्सेधाङ्गुल	=	१ प्रमाणाङ्गुल

१ किसी किसी आचार्य ने अनन्त के नव भेद भी किये हैं, किन्तु वे श्वेताम्बर आगमों में विहित नहीं हैं। अनुयोगद्वार आगम में उत्कृष्ट अनन्तानन्तक का प्रतिपादन नहीं किया है, मध्यम अनन्तानन्तक पर्यन्त ही गणना संख्या सम्पूर्ण कर दी है। दिगम्बर परम्परा के षट्खंडागम में अनन्तान्तक के तीन भेद किये हैं अर्थात् उत्कृष्ट अनन्तान्तक भेद भी किया है।

अङ्गुल के आगे के प्रमाण आत्म, उत्सेध व प्रमाण अङ्गुल के अनुसार तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

६ अङ्गुल	=	१ पाद
२ पाद	=	१ विहस्ति (वितस्ति)
२ विहस्ति	=	१ हाथ
२ हाथ	=	१ किष्कु (कुक्षि)
२ किष्कु	=	१ धनुष (दण्ड, युग, नालिक)
२००० धनुष	=	१ कोस
४ कोस	=	१ योजन

उत्सेधाङ्गुल मे नरक, तिर्यक् योनि के जीवों के तथा मनुष्य और देवों के शरीरों की अवगाहना मापी जाती है। उत्सेधाङ्गुल के भी तीन प्रकार हैं—सूच्यङ्गुल, प्रतराङ्गुल, और घनांगुल। जो लोक में शाश्वत हैं—जैसे रत्नप्रमादि पृथ्वियों, देवलोकों, विमानों, वर्षधरों, द्वीपों, समुद्रों आदि, उन की लम्बाई, चौड़ाई, गहराई आदि प्रमाणाङ्गुल के माप से निष्पन्न कोस, योजन आदि द्वारा मापी जाती हैं। सर्व लौकिक व्यवहार के दर्शक प्रमाण-भूत तथा इस अवसर्पिणी काल में प्रथम युगादिदेव श्री ऋषभदेव के अङ्गुल को एवं उनके पुत्र भरत चक्री के अङ्गुल को 'प्रमाण-अङ्गुल' कहते हैं। प्रमाणाङ्गुल के भी श्रेणी अङ्गुल, प्रतराङ्गुल और घनाङ्गुल, तीन प्रकार हैं। उत्सेधाङ्गुल भगवान् महावीर की आधी अङ्गुल के बराबर होता है। उदाहरणार्थ—भगवान् महावीर सात हाथ ऊँचे थे; एक हाथ चौबीस अङ्गुल का होता है, इसलिए भगवान् महावीर १६८ उत्सेध अङ्गुल प्रमाण ऊँचे हुए। मतान्तर की अपेक्षा मनुष्य अपने हाथ से ३½ हाथ (आत्माङ्गुल) ऊँचा होता है, अतः भगवान् महावीर चौरासी अङ्गुल ऊँचे हुए। इस तरह भगवान् महावीर की एक अङ्गुल दो उत्सेधाङ्गुल प्रमाण हुई। एक उत्सेधाङ्गुल को सहस्रगुणा करने से एक प्रमाणाङ्गुल होता है।

काल प्रमाण

जीवों का परिमाण जानने के लिए तीसरा माप काल का बताया गया है। 'काल प्रमाण' के दो भेद है—प्रदेश-निष्पन्न और विभाग निष्पन्न।[1]

समय

एक परमाणु को एक आकाश प्रदेश से दूसरे आकाश-प्रदेश पहुँचने में जो काल लगता है, उसे 'समय' कहते हैं। यह काल का सबसे छोटा अविभागी परिमाण है। इसको समझने के लिए आगमों में 'कमलपत्रभेद' एवं 'जीर्ण वस्त्रकर्त्तन' के उदाहरण दिये गए हैं। चतुर युवा पुरुष के द्वारा कमल के पत्तों की जुड़ी को सूक्ष्म काल (निमेष मात्र) में तीक्ष्ण लम्बी सूई द्वारा छेद दिया जाता है और कपड़े को भी निमेष मात्र में ही फाड़ दिया जाता है, परन्तु 'समय' इस सूक्ष्म काल से भी बहुत छोटा है। यदि कमल के पत्तों की जुड़ी में २०० पत्ते हैं तो यह मानना ही पड़ेगा कि पहला, दूसरा यावत् दो सौवाँ पत्ते के छेदे जाने का काल पृथक्-पृथक् है; क्योंकि पहला पत्ता छेदा गया तब दूसरा छेदा नहीं गया था। इस तरह निमेष के २०० भाग तो हम ने बुद्धिगम्य कर दिये। समय, निमेष के दो सौवाँ भाग से बहुत छोटा है। इसी तरह कपड़े को फाड़ने में निमेष मात्र लगा; उस सूक्ष्म काल के भी अनेक विभाग बुद्धिगम्य होते हैं, क्योंकि कपड़ा संख्यात तन्तुओं के समुदाय से बनता है; इसलिए ऊपर का तन्तु टूटने के पश्चात् ही दूसरा फिर तीसरा यावत् अन्तिम तन्तु टूटता है। इससे स्पष्ट है कि प्रत्येक तन्तु के टूटने का काल भिन्न-भिन्न है। तो प्रश्न उठता है कि क्या जितने काल में ऊपर का तन्तु टूटा, उसे समय कहें? नहीं, समय इससे भी छोटा है। क्योंकि प्रत्येक तन्तु संख्यात पक्ष्मणों (Fibers) का बना

---

१ से किं तं कालप्पमाणे?
दुविहे पण्णत्ते, तंजहा पएस-निप्फण्णे य विभाग निप्फण्णे य…

—अनुयोगद्वार सूत्र

हुआ होता है; ऊपर के तन्तु के ऊपर के पक्ष्मण के टूटे बिना नीचे का पक्ष्मण नहीं टूटता। अतः एक तन्तु के संख्यात पक्ष्मणों के टूटने का काल भी भिन्न-भिन्न है। समय इससे भी छोटा है। उपरोक्त दोनों स्थूल दृष्टान्त है, परन्तु जिज्ञासु के लिए पर्याप्त हैं।

एक समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध, दो समय की स्थिति वाले परमाणु या स्कन्ध यावत् असंख्यात समय की स्थिति वाले परमाणु-स्कन्धों को 'प्रदेश-निष्पन्न' काल प्रमाण कहते हैं।

विभाग-निष्पन्न काल प्रमाण

समय, आवलिका, मुहूर्त्त आदि 'विभाग-निष्पन्न' काल प्रमाण हैं।

समयावलिअ मुहुत्ता, दिवस अहोरत्त पक्ख मासाय।
संवच्छर जुग पलिया, सागर ओसप्पि परियट्टा॥[1]

काल का सबसे छोटा विभाग समय है। जैसा ऊपर बताया जा चुका है, जघन्य-युक्त-असंख्यात समयों की एक आवलिका होती है और संख्यात आवलिकाओं का एक श्वासोच्छ्वास या प्राण होता है। नीचे दी गई तालिका में शास्त्रोक्त काल-मान आधुनिक काल-मानों के साथ दिये गए हैं।

४४४६ $\frac{२४५८}{३७७३}$ आवलिका	=	१ प्राण	=	$\frac{२८८०}{३७७३}$ सेकेण्ड
७ प्राण	=	१ स्तोक	=	५ $\frac{१८५}{५३९}$ सेकेण्ड
७ स्तोक	=	१ लव	=	३७ $\frac{३१}{७७}$ सेकेण्ड
७७ लव	=	१ मुहूर्त = २ नाली	=	४८ मिनिट
३० मुहूर्त	=	१ अहोरात्र	=	२४ घण्टे
१५ अहोरात्र	=	१ पक्ष		
२ पक्ष	=	१ मास[2]		
१२ मास	=	१ संवत्सर (वर्ष)		
५ संवत्सर	=	१ युग		

एक मुहूर्त्त में ३७७३ (७७ × ७ × ७ = ३७७३) प्राण होते हैं। एक अहोरात्र में ३७७३ × ३० = ११३१९० श्वासोच्छ्वास (प्राण) होते हैं एक मुहूर्त्त के मिनिट ४८ होते हैं। अतः एक मिनिट में $\frac{३७७३}{४८}$ = ७८.६ श्वासोच्छ्वास आते हैं, जो आधुनिक मान्यतानुसार ही है।

८४ लाख वर्षों का 'पूर्वांग' और ८४ लाख 'पूर्वांग' का एक 'पूर्व' होता है। इसके आगे श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा में नामों का भेद है, जो निम्नांकित तालिका में दिये जाते हैं—

श्वेताम्बर

८४ लाख पूर्व = १ त्रुटितांग

इसी प्रकार आगे भी ८४ लाख से गुणा करते रहने से त्रुटित, अडडांग, अडड, अववांग, अवव, हुहुअंग, हुहुय, उप्पलांग, उप्पल, पद्मांग, पद्म, नलिणांग, नलिण, अच्छनिऊरांग, अच्छनिऊर, अयुतांग, अयुत, प्रयुतांग, प्रयुत, नयुतांग, नयुत, चूलिकांग, चूलिका, शीर्षप्रहेलिकांग और शीर्षप्रहेलिका।

दिगम्बर

८४ लाख पूर्व = नयुतांग

इसी प्रकार आगे-आगे ८४ लाख से गुणा करने से जो संख्याएं आती हैं, उनके नाम, नयुत, कुमुदांग, कुमुद, पद्मांग, पद्म, नलिनांग, नलिन, कमलांग, कमल, त्रुटितांग, त्रुटित, अटटांग, अटट, अममांग, अमम, हाहांग, हाहा, हूहांग, हूहू, लतांग, लता, महालतांग, महालता, श्रीकल्प, हस्त प्रहेलिका और अचलप्र।[3]

१ पन्नवणा सूत्र, पद १३

२ दो मास = एक ऋतु और तीन ऋतु = १ अयन; दो अयन = १ वर्ष

३ तिलोय पण्णत्ति के अनुसार अचलप्र का प्रमाण नब्बे अंक वाली संख्यात वर्षों का है, परन्तु लघुरिक्त (logarithms) से ८० अंक प्रमाण संख्या आती है।

आगमों में उपरोक्त अंक-गणना बताई गई है। ऐसी बड़ी संख्याओं का विवरण अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता।

जैन ग्रन्थों में एवं आगमों में इसके आगे भी गणना बताई है, परन्तु इसके आगे की गणना असंख्य होने से उसका स्वरूप उपमाओं द्वारा बताया गया है। औपमिक विवरण दो प्रकार से प्रतिपादित हैं—पल्योपम और सागरोपम। पल्य की उपमा देकर पदार्थों का विवरण करने को पल्योपम कहते हैं और 'पल्योपम' से ही 'सागरोपम' प्राप्त होता है। पल्योपम तीन प्रकार के है—उद्धार पल्योपम, अद्धा पल्योपम और क्षेत्र पल्योपम। प्रत्येक के दो-दो भेद हैं—व्यावहारिक और सूक्ष्म।

व्यावहारिक उद्धार पल्योपम—एक पल्य की कल्पना करें, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई एक योजन हो और गहराई भी एक योजन हो।[1] उस पल्य को एक से लेकर सात दिन तक के शिशुओं के बालाग्रों से भरा जाये और इतना सघन भरा जाये कि अग्नि से, वायु से, एवं वर्षा-जल से खण्डित न हो; फिर एकेक बालाग्र को एकेक समय[2] में निकाला जाये। जितने काल में वह पल्य निःशेष हो जाये, उस काल को 'व्यावहारिक उद्धार पल्योपम' कहते है। ऐसे पल्यों को दश कोटाकोटि से गुणन करने से जो गुणनफल हो, उसे 'व्यावहारिक उद्धार सागरोपम' कहते हैं। व्यावहारिक पल्योपम का कथन, केवल आगे वर्णन किये जाने वाले सूक्ष्म उद्धार पल्योपम व सागरोपम को समझने के लिए ही किया गया है।

सूक्ष्म उद्धार पल्योपम—ऊपर बताये हुए पल्य को बालाग्रों से परिपूर्ण करने के बाद एक-एक बालाग्र के असंख्यात-असंख्यात खण्ड किये जायें और उन खण्डों से पल्य को परिपूर्ण सघनता से भरा जाये। बालाग्रों के जो खण्ड किये जाएं,वे खण्ड द्रव्य से दृष्टिगत पदार्थों से असंख्यात भाग प्रमाण न्यून हों व क्षेत्र से निगोद (पनक) के जीव के शरीर की अवगाहना से असंख्यात गुणाधिक हों। एक-एक बालाग्र-खण्डों को यदि प्रति समय निकाला जाये, तो जितने काल में पल्य बिल्कुल रिक्त हो जाये, उस काल को 'सूक्ष्म उद्धार पल्योपम' कहते हैं। दश कोटाकोटि ऐसे पल्यों का एक 'सूक्ष्म उद्धार सागर' का परिमाण होता है। इन सूक्ष्म उद्धार पल्यों एवं सागरों द्वारा द्वीप-समुद्रादि का परिमाण किया जाता है। उदाहरणार्थ—ढाई उद्धार सूक्ष्म सागरों के या पच्चीस कोटाकोटि उद्धार पल्यों के तुल्य द्वीप-समुद्र है।

व्यावहारिक अद्धा पल्योपम—ऊपर बताये हुए बालाग्रों से परिपूर्ण व्यावहारिक उद्धार पल्य के बालाग्रों को सौ-सौ वर्षों से एक-एक बालाग्र निकालकर पल्य को निरज करने में जितना काल लगता है उसे 'व्यावहारिक अद्धा पल्य' कहते हैं और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यों को खाली करने मे जितना समय लगेगा, उस काल को 'व्यावहारिक अद्धा सागर' कहते हैं।

सूक्ष्म अद्धा पल्योपम—उन्हीं बालाग्रों के असंख्यात-असंख्यात खण्ड कर पल्य भरें और एक-एक खण्ड को सौ-सौ वर्षो से निकालें। जितने काल में पल्य निःशेष हो, उस काल को 'सूक्ष्म अद्धा पल्योपम' कहते है और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यों का एक 'अद्धा सागर' होता है। ऐसे दश कोटाकोटि सूक्ष्म अद्धा सागरों की एक 'उत्सर्पिणी' और इतने ही काल की एक 'अवसर्पिणी' होती है। दोनों मिलने से एक 'कालचक्र' या 'कल्प' होता है। सूक्ष्म अद्धा पल्य एवं सागर का कथन इसलिए किया है कि इनसे नरक, तिर्यच, मनुष्य और देवों की आयु का परिमाण बताया है।

क्षेत्र पल्योपम—यह भी दो प्रकार का है—व्यावहारिक और सूक्ष्म। पूर्व—कथित बालाग्रों से परिपूर्ण पल्य के उन आकाश-प्रदेशों को, जो बालाग्रों से स्पर्शित हुए हो, एकेक समय में एकेक निकालें। जितने काल में वह पल्य ऐसे आकाश-प्रदेशों से क्षीण हों, उस काल को 'व्यावहारिक क्षेत्र पल्योपम' कहते हैं और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यों का एक सागर होता है। यदि एक-एक बालाग्र के असंख्य-असंख्य खण्ड कर उनसे पल्य को सघन परिपूर्ण भरें,तो भी उन खण्डों को पल्य के कई आकाश-प्रदेश स्पर्श करते है और कई स्पर्श नहीं भी करते हैं। उन दोनों प्रकार के सर्व आकाश-प्रदेशों को एकेक कर

---

१ दिगम्बर मान्यता के अनुसार पल्य का विस्तार प्रमाणाङ्गुल से निष्पन्न योजन का है और श्वेताम्बर मान्यतानुसार उत्सेधाङ्गुल से निष्पन्न योजन का है।

२ दिगम्बर ग्रन्थों में एक-एक बालाग्र को सौ-सौ वर्षों से निकालने का उल्लेख है।

एक-एक समय में निकालें, तो जितने काल में पल्य प्रदेशों से खाली हो जाये, उस काल को 'सूक्ष्म क्षेत्र पल्योपम' कहते हैं और ऐसे दश कोटाकोटि पल्यों का 'सूक्ष्म क्षेत्र सागर' होता है। सूक्ष्म क्षेत्र पल्य एवं सागर से दृष्टिवाद के द्रव्य-मान किये जाते हैं

भाव-प्रमाण

जिसके द्वारा पदार्थों का भली प्रकार ज्ञान हो उसे 'भाव-प्रमाण' कहते हैं। यह तीन प्रकार का है—गुण प्रमाण, नय प्रमाण और संख्या प्रमाण। गुणों से द्रव्य का बोध होना 'गुण प्रमाण' और अनन्त धर्मात्मक वस्तुओं का एक अंश द्वारा ज्ञान करने वाला एवं निर्णय करने वाला तथा अन्य अंशों का खण्डन नहीं करने वाला 'नय प्रमाण' है।[1]

गुण प्रमाण

भेदानुभेद करने से 'गुण प्रमाण' के दो भेद—जीव गुण प्रमाण और अजीव गुण प्रमाण होते हैं। पाँच वर्ण हैं, गंध पाँच रस-स्पर्श और पाँच संस्थान ये पच्चीस 'अजीव गुण प्रमाण' के उपभेद हैं। ज्ञान गुण प्रमाण, दर्शन गुण प्रमाण और चारित्र गुण प्रमाण ये तीन 'जीव गुण प्रमाण' के भेद है।

ज्ञान गुण प्रमाण दो प्रकार का है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अनुमान, उपमा, आगम आदि परोक्ष में समाविष्ट हो जाते हैं। निम्नांकित कोष्टक में 'ज्ञान प्रमाण' के भेदानुभेद स्पष्ट किये गये हैं—
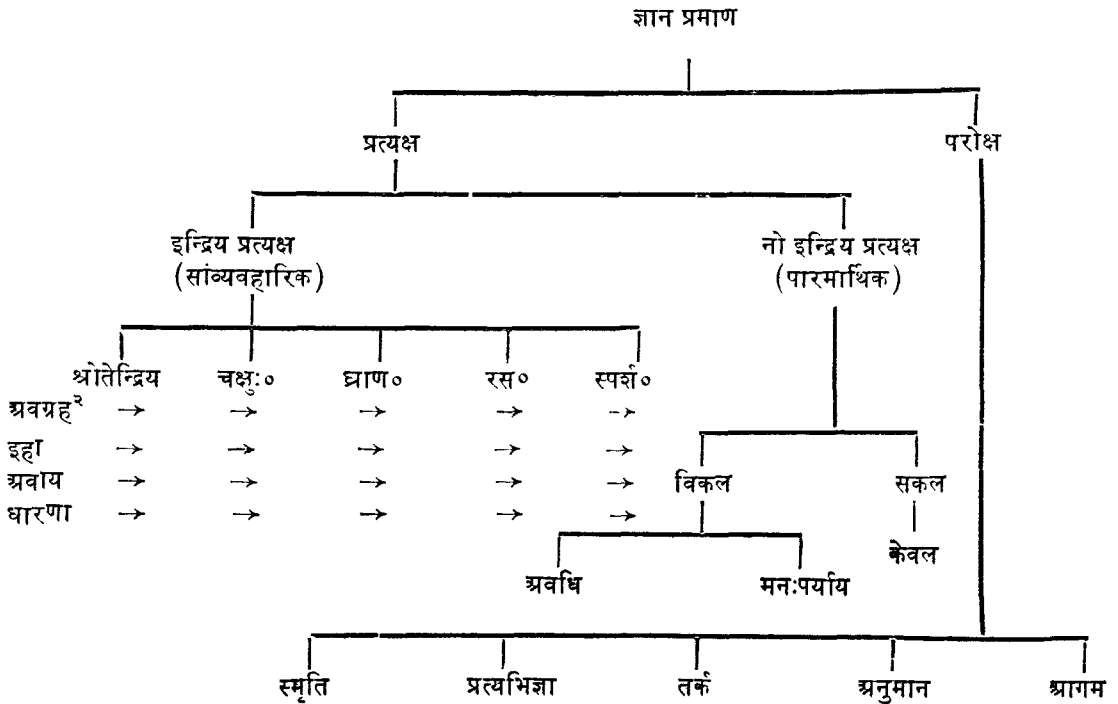
१ अनिराकृतेतरांशो वस्त्वंशग्राही ज्ञातुरभिप्रायो नयः।
—जैन सिद्धान्त दीपिका, ६। २७

२ अवग्रह के दो प्रकार हैं—व्यंजनावग्रह और अर्थावग्रह।

प्रत्यक्ष प्रमाण स्पष्टतया निर्णय करता है[1] और परोक्ष प्रमाण अस्पष्टतया निर्णय करता है।[2] 'अक्ष' शब्द को भिन्न प्रकार से सिद्ध करने से इसके भिन्न-भिन्न अर्थ आचार्यों ने किये हैं। इसी कारण भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया हुआ मिलता है।[3] परोक्ष के पाँच भेद हैं।

स्मृति—अनुभूत विषय का स्मरण करना है।

प्रत्यभिज्ञा—संकलनात्मक ज्ञान है अर्थात् भूतकाल में जो अनुभूत है और वर्तमान में जो अनुभव कर रहे, है इन दोनों का संयुक्त ज्ञान है।

व्याप्ति—साध्य और साधन का नित्य सम्बन्ध है; और जिस ज्ञान से साध्य और साधन का निश्चय होता है उसे **तर्क** कहते हैं।

अनुमान—साधन से साध्य का ज्ञान होना **अनुमान** है।

आगम—आप्त-वचन को **आगम** कहते हैं।

दर्शन गुण प्रमाण के चक्षु दर्शन, अचक्षु दर्शन, अवधि दर्शन और केवल दर्शन—ये चार भेद हैं और **चारित्र गुण प्रमाण** के पाँच भेद हैं—सामायिक चारित्र गुण प्रमाण, छेदोपस्थापनीय चारित्र गुण प्रमाण, परिहार विशुद्धि चारित्र गुण प्रमाण, सूक्ष्म सम्पराय चारित्र गुण प्रमाण और यथाख्यात चारित्र गुण प्रमाण।

नय प्रमाण

नय प्रमाण सात प्रकार का है—नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवम्भूत। पहले के तीन नय द्रव्यार्थिक हैं और शेष चार पर्यायार्थिक हैं। निश्चय और व्यवहार इन दो भेदों में भी सातों नयों का समावेश हो जाता है। सातों नयों में उत्तरोत्तर नय का क्षेत्र सामान्य से विशेष की ओर होता गया है। नय एक स्वतन्त्र विषय है, इसलिए इस लेख में इनका केवल साधारण रूप से कथन किया है। ज्ञाता के संकल्पग्राही अभिप्राय को **नैगमनय** कहा है। जिसने सम्यक् प्रकार से एक जाति रूप अर्थ को ग्रहण किया है, उसे **संग्रह नय** कहते हैं। इसमें केवल सामान्य स्वरूप ही माना जाता है। जो द्रव्यों में सर्वदा विशेष मात्र हो अर्थात् सामान्य स्वरूप का अभाव सिद्ध करने वाला है, वह **व्यवहार नय** है। वर्तमान काल को ही ग्रहण करने वाला **ऋजुसूत्र नय** है। यह भूत व भविष्य को असत् इस दृष्टि से मानता है कि भूतकाल में उत्पन्न वस्तु वर्तमान में अवस्तु है और भविष्यत्काल की वस्तु वर्तमान में अनुत्पन्न होने से

---

१ **स्पष्टं प्रत्यक्षम्।**

—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका ६।३

२ **अस्पष्टं परोक्षम्।**

—श्री जैनसिद्धान्तदीपिका ६।४

३ (क) **कश्चिदाह—अक्षं नाम चक्षुरादिकानिन्द्रियं, तत्प्रतीत्य यदुत्पद्यते तदेव प्रत्यक्षमुचितं नान्यत्।**

—न्यायदीपिका

(ख) **'परीक्षामुख' में मति, श्रुत को परोक्ष 'आद्ये परोक्षे' एवं अन्य ज्ञानों को प्रत्यक्ष 'प्रत्यक्षमन्यत्' कह कर लिखा है, जो 'एवंभूतनय' से ठीक भी है।**

(ग) **नन्दी सूत्र में इन्द्रिय जनित ज्ञान को प्रत्यक्ष कहा है।**

(घ) **अवग्रह आदि का ज्ञान वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं है, किन्तु अन्य ज्ञानों की अपेक्षा कुछ स्पष्ट होने से लोक-व्यवहार में उन्हें प्रत्यक्ष माना है। इस दृष्टि से आचार्य तुलसी ने पारमार्थिक और सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के दो भेद कर जटिलता को सुलझाया है। स्मृति, ज्ञान धारण की; प्रत्यभिज्ञा, अनुभव और स्मृति की; तर्क व्याप्ति की, अनुमान हेतु की और आगम शब्द-संकेत की अपेक्षा रखता है। इसलिए ये सब अस्पष्ट हैं और परोक्ष में रखे गये हैं।**

अवस्तु ही है। **शब्द नय** में शब्द प्रधान है, ऋजुसूत्र में लिंग-भेद होने पर भी अभेद-रूप माना जाता है, किन्तु शब्द नय में लिंग-भेद के साथ अर्थ-भेद गौण रूप होता है। **समभिरूढ़ नय** में वस्तु स्व गुण में प्रवेश करती है। इस नय की दृष्टि में यदि एक शब्द में अन्य शब्द का एकत्व किया जाये, तो वह वस्तु अवस्तु हो जाती है। इस प्रकार इन्द्र शब्द से शक्र शब्द उतना ही भिन्न है जितना घट से पट। इस नय को एक वस्तु के अनेक नाम मान्य नहीं हैं। बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक कि **एवम्भूत नय** में केवल वर्तमान में पूर्ण गुण प्राप्त को ही वस्तु माना है, शेष सब अवस्तु।

संख्या प्रमाण

जिसके द्वारा संख्या-गणना की जाये, उसे संख्या प्रमाण कहते है, जो आठ प्रकार की है—१. नाम संख्या, २. स्थापना संख्या, ३. द्रव्य संख्या, ४. भाव संख्या, ५. उपमान संख्या, ६. परिमाण संख्या, ७. ज्ञानसंख्या और, ८. गणना संख्या।

१. नाम संख्या—किसी जीव या अजीव एक या अनेक का, शब्द के अर्थ की अपेक्षा न रखते हुए, नाम 'संख्या' दिया जाए, उसे कहते हैं नाम संख्या।

२. स्थापना संख्या—मूल अर्थ से रहित वस्तु की 'संख्या' के अभिप्राय से स्थापना करना।

३. द्रव्य संख्या—उपयोग-शून्य को द्रव्य 'संख्या' कहते हैं। वर्तमान में गुण-रहित, एवं अनुप्रेक्षा-रहित उसके लक्षण हैं।

४. भाव संख्या—विवक्षित अर्थ की क्रिया में परिणत और उपयुक्त को भाव संख्या कहते हैं। अथवा संख्या के स्वरूप को जो उपयोग पूर्वक जानता है, उसका नाम भाव संख्या है। उपरोक्त चारों के भेदानुभेद निम्न कोष्टक में दिये गए हैं :
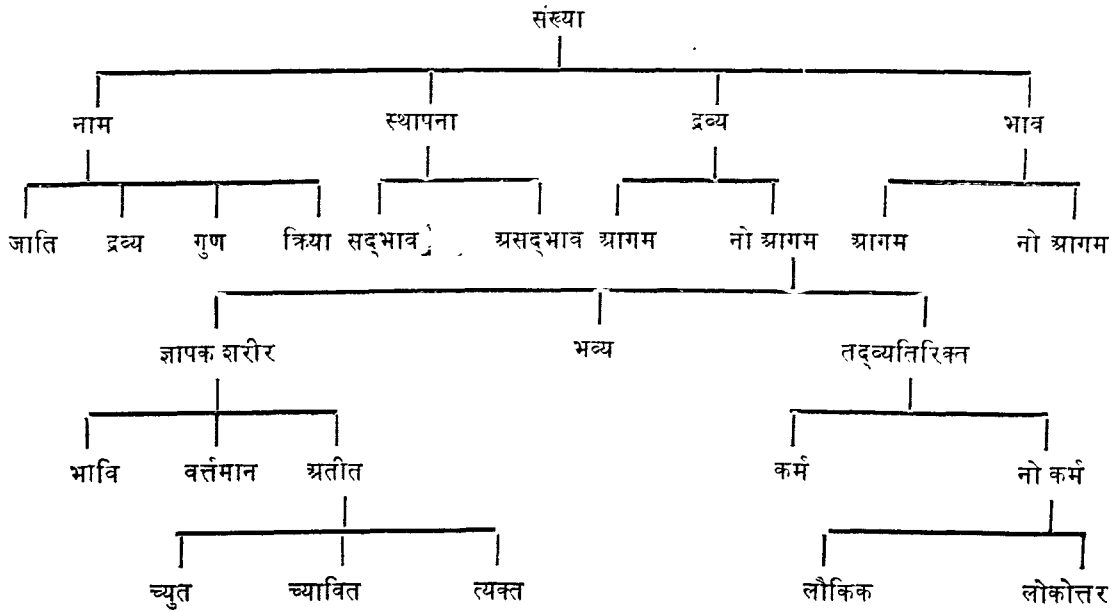
५. उपमान संख्या प्रमाण—इसके चार भेद हैं—१. विद्यमान पदार्थ को विद्यमान पदार्थ की उपमा देना, २. विद्यमान पदार्थ को अविद्यमान पदार्थ की उपमा देना, ३. अविद्यमान पदार्थ को विद्यमान पदार्थ की उपमा देना, ४. अविद्यमान पदार्थ को अविद्यमान पदार्थ की उपमा देना।

६. परिमाण संख्या प्रमाण—जिसकी गणना की जाये, उसे संख्या कहते हैं। जिसमें पर्यवादि का परिमाण हो उसे 'परिमाण संख्या' कहते हैं, जो दो प्रकार की है १. कालिक श्रुत परिमाण संख्या, २. दृष्टिवाद श्रुत परिमाण संख्या।

जिन-जिन सूत्रों की प्रथम या दूसरे प्रहर मे वाचना दी जाये और उनका जिसमें परिमाण हो, उसे कालिक श्रुत परिमाण संख्या कहते हैं, उदाहरणार्थ—गाथा संख्या, गतक संख्या, श्रुत स्कन्ध संख्या आदि। इसी प्रकार ही दृष्टिवाद श्रुत परिमाण संख्या है।

७. ज्ञान संख्या प्रमाण—जिसके द्वारा पदार्थों का स्वरूप जाना जाता है, उसे ज्ञान कहते हैं, और जिसमें उसकी संख्या का परिमाण हो, उसे **'ज्ञान संख्या'** कहते हैं।

८. गणना संख्या प्रमाण—जिसके द्वारा गणना की जाए, उसे गणना संख्या कहते हैं। जिसके तीन भेद है—संख्येयक, असंख्येयक और अनन्ततक। इनकी चर्चा लेख की आदि में हो चुकी है।
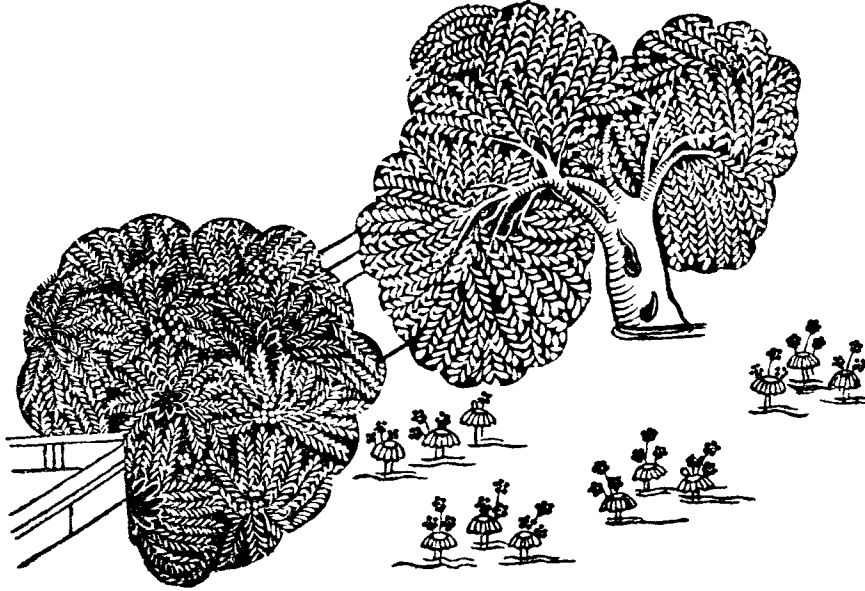
भगवान् महावीर और उनका सत्य-दर्शन

साध्वी श्री राजिमतीजी

दर्शन सत्य का सौन्दर्य है और सत्य 'दर्शन' का जीवन। दर्शन का इतिहास सत्य का इतिहास है। दर्शन की आलोचना तत्त्वतः सत्य की आलोचना है। भारतीय दार्शनिकों ने सत्य को जीवन का माधुर्य माना और दर्शन को उस सत्य का हलका-सा अनुभव। सत्य स्वयं में पूर्ण है, दर्शन के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति का क्रम बनता है। दर्शन स्वयं में कुछ नहीं, सत्य के द्वारा उसकी पृष्ठ-भूमि बनती है; फलतः दर्शन का विषय सत्य है।

प्रश्न इतना-सा रहता है—स्वयं में पूर्ण अपरिवर्तनशील सत्य, परिवर्तनशील दर्शन का विषय कैसे बना? सत्य की अनन्तता आज भी सारे ब्रह्माण्ड को अपने गर्भ में समाये हुए है। दर्शन, पूर्ण सत्य का प्रयोग है। एक उपयोगिता है। दर्शन का विषय सत्य की खोज करना है, पर पूर्ण सत्य खोज का विषय नहीं। सत्य अनुभवगम्य है और अनुभव के द्वारा ही साध्य है। फिर पूर्ण सत्य, अपूर्ण सत्य (दर्शन) का विषय कैसे?

दर्शन का विषय—सत्य

सत्य एक गुण है। यह स्वतन्त्र द्रव्य नहीं है। गुण का आधार द्रव्य होता है। सत्य गुण का आधार चित्त या चेतन है। प्रत्येक आत्मा पूर्ण सत्य की एकान्ततः आराधक और अनाराधक नहीं होती। किसी-न-किसी सीमा तक वह प्राणी-मात्र में रहता है। यही आंशिक सत्य स्थूल दर्शनों का विषय बनता है और हमारे संव्यवहार की सम्पूर्ति करता है। दार्शनिक किसी नये सत्य का अन्वेषण नहीं करता; वह तो उसी आदर्श सत्य (पूर्ण) के हेतु-गम्य मात्र को छूता है, गहराई से उसका अनुशीलन करता है। दार्शनिक का परीक्षित सत्य न्यायाधीश और वैज्ञानिक के सत्य से कुछ भिन्न होता है। एक न्यायाधीश यह कह सकता है—"मैं कहता हूँ वही ठीक है।" पर दार्शनिक की दृष्टि में पक्ष के अनेक स्वभाव रहेंगे। वह कहेगा—मैं कहता हूँ वह मेरी दृष्टि से सत्य है। अन्य विरोधी दृष्टियों से वह विवाद का हेतु भी हो सकता है। मेरी दृष्टि ही सत्य है, अन्य नहीं; यह आग्रह सापेक्षवादी दार्शनिक नही कर सकता। अपेक्षा का भाव एक में नहीं बनता। इसीलिए सापेक्ष में स्व और पर का द्वैध दार्शनिकों ने माना है।

एक समय था, जब दर्शन का अर्थ अध्यात्म की पर्यालोचना मात्र किया जाता था। आज वही दर्शन शब्द अनेक शब्दों में प्रयुक्त होता है। पर आज उन सब दर्शन वाच्य के अर्थों का आधार सत्य और अध्यात्म ही है, यह कहना कठिन है। ऐसी स्थिति में आवश्यकता हुई कि दर्शन की पृष्ठ-भूमि को सुदृढ़ किया जाये और सत्य-विषयक विशेषण जोड़ दिए जायें। अध्यात्म-दर्शन के चिन्तकों ने यही सोचा और दर्शन के पीछे एक विशेषण जोड़ा—सत्य। समस्या और आगे बढ़ी। कौन कहेगा कि मेरा दर्शन सत्य नहीं? इस प्रश्न के समाधान में इतना-सा संशोधन और हुआ—भगवान् महावीर का सत्य-दर्शन अथवा आत्म-दर्शन।

भगवान् महावीर सत्य के उद्गाता थे। वे जितने आदर्श पक्ष के समर्थक और प्रचारक थे, उसमे कम व्यवहार पक्ष के नहीं थे। वे यह मानते थे कि व्यक्ति के प्रत्येक भौतिक और अभौतिक अवयव से सत्य का सम्बन्ध है और वह परस्पर सापेक्ष है। श्रद्धा हमारे हृदय का धर्म है और दर्शन (तर्क) हमारी बुद्धि का फल है। दोनों में से किसी एक को निकाल कर हम सत्य को व्यवहार्य और सापेक्ष नहीं बना सकते। युग बदलते हैं। एक युग के बाद दूसरा युग आता है। आगम-युग के बाद दर्शन-युग आया। यह सही है; पर किसी नवीन युग में प्राचीन युग का नामशेष होना सर्वथा असम्भव है।

आगम-युग श्रद्धा-प्रधान था और दर्शन-युग तर्क-प्रधान। युग व्यक्ति की रुचि और जिज्ञासा के बल पर बदलते हैं। विस्तार-रुचि वालों के लिए आगम-युग में भी दर्शन-युग (तर्क) था। संक्षेप-रुचि और आज्ञा-रुचि वालों के लिए आज भी आगम-युग है। भगवान् महावीर ने दोनों के उचित महावस्थान में ही दृष्टि की पूर्णता स्वीकार की। आचारांग सूत्र इसका साक्षी है। एक जगह भगवान् महावीर कहते है—'मेरा धर्म आज्ञा में है।'[1] दूसरी जगह इसमे सर्वथा विरुद्ध पक्ष में कहते हैं—'तू देख कि तेरा हित किस बात में है?'[2] ऐसे अनेक स्थान हैं जो श्रद्धा और युक्ति की सहज संगति सिद्ध करते हैं। भगवान् का एक वाक्य है, 'वही सत्य और निर्विवाद है, जो सर्वज्ञ-कथित है।'[3] यह विश्वास की पराकाष्ठा और चरमवेदी है। 'संशय को जानने वाला संसार को जानता है।'[4] यहाँ संशय का अर्थ है—तर्क और जिज्ञासा। यह वाक्य तर्क का प्रबल समर्थक है। ऐसा एक और स्थल है जो दोनों की एक विषयक उपयोगिता सिद्ध करता है। गति और अगति-ज्ञान के हेतुओं का उल्लेख करते हुए कहा गया है—स्वसम्मति, परव्याकरण और विशिष्ट ज्ञानी मुनिजन—ये तीन हेतु हैं।[5] कितनेक लोग स्व-बुद्धि से तत्त्व को पहचानते हैं, कितनेक तीर्थंकरों की संदेशना से और कितनेक प्रत्यक्षदर्शी और पूर्वधरों से सुन कर अपने गमनागमन की दिशा को जानते हैं। इसमें प्रथम हेतु युक्तिपरक और दर्शन-(तर्क) प्रधान है, बाद के दो श्रद्धा परक हैं। इन आगमिक स्थलों से यह भली-भाँति समझा जा सकता है कि सम्यग् दर्शन का और सम्यग् ज्ञान का आधार सापेक्ष सत्य है। दर्शनों की अनेकता और विभिन्नता में वही दार्शनिक स्वयं को सुरक्षित रख सकता है, जो सापेक्षवाद को लेकर चलता है।

सफल जीवन के दो पक्ष होते हैं—आचार और विचार। भगवान् महावीर ने आचार में अहिंसा-दर्शन दिया और विचार में स्याद्वाद-दर्शन। केवल विचारगत सत्य व्यवहार को पवित्र नहीं बना सकता। अतः भगवान् महावीर ने क्रिया और चिन्तन के बीच होने वाले अन्तर् को क्रिया सिद्धि में बाधक माना और सक्रिय सत्य को जीवन का आधार तथा सौन्दर्य माना। उन्होंने कहा—'अपनी मुनियंत्रित वृत्तियों से सत्य की खोज करो और फिर उसका आचरण करो।'[6] यह समस्त शास्त्रों का नवनीत है।

सत्य का उत्स

आत्मा अमर है, पर उसके धर्म परिवर्तनशील हैं। सत्य हमारी परिवर्तनशील आत्मा है अथवा अमर आत्मा की एक पर्याय है। विश्व के महान् दार्शनिक इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि सत्य का जन्म जिज्ञासामयी, प्रयोजनमयी और आनन्दमयी आत्म-प्रवृत्तियों से होता है। जिज्ञासा से दर्शन का जन्म हुआ, प्रयोजन से विज्ञान का और आनन्द से साहित्य का जन्म हुआ। दर्शन से विचारों का परिष्कार होता है, विज्ञान से दृश्य जगत के साथ सम्बन्ध जुड़ता है और साहित्य से कल्पना-शक्ति तथा बुद्धि का विकास होता है। सापेक्ष सत्य का उपादान दर्शन है, प्रायोगिक सत्य का उपादान विज्ञान और आदर्श-सत्य का उपादान साहित्य है। जिज्ञासा से सत्य पाने वाला दार्शनिक कहलाता है, प्रयोजन से सत्य पाने वाला वैज्ञानिक और आनन्दात्मक प्रवृत्तियों से सत्य पाने वाला साहित्यकार कहलाता है। इन तीनों से हमारा दर्शन व्यापक और व्यवहार्य बनता है।

---

१ आणाए मामगं धम्मं।
२ मइमं पास।
३ तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।
४ जो संसयं जाणइ सो संसारे जाणइ।
५ सहसम्मइयाए, परवागरणेणं, अन्नेसिं वा अन्तिए सोच्चा।

—आचारांग सूत्र, १।१

६ अप्पणा सच्च मेसेज्जा मेत्ति भूएसु कप्पए।

—उत्तराध्ययन सूत्र

भगवान् महावीर का युग आगम-युग कहलाता था। उस समय वही सत्य माना जाता था, जो भगवान् कहते थे, क्योंकि वीतराग का वाक्य स्वतः प्रमाण होता है। यह क्रम श्रद्धालु लोगों का रहा। न्याय-युग में शास्त्रों पर व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गए। नायक की भिन्नता से न्यायोचित अर्थ का मापदण्ड एक नहीं रहा। अनेक मान्यताएं बनीं। विभिन्न सम्प्रदाय जन्मे। अब केवल 'आज्ञा ग्राह्य भाव' कहकर अपने तत्त्व को बनाए रखना कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में जैन मनीषियों ने शास्त्रों (आगमों) का यौक्तिक परीक्षण किया और कहा—आगम और युक्ति की सहज संगति में ही दृष्टि ज्ञेय को यथार्थतया समझ सकती है। भगवान् ने दो प्रकार के पदार्थ बतलाए—हेतु-ग्राह्य और अहेतु-ग्राह्य। फिर भी किसी एक से हम पदार्थ-समूह को नहीं समझ सकते। जब अधिकांश पदार्थों का स्वभाव ही हेतु और अहेतु-ग्राह्य है, तब किसी एक से यथार्थता को पाना महा कठिन है। इसलिए हमें यह मानकर चलना होगा कि दृष्टि तर्क और श्रद्धा, दोनों से पूर्ण बनती है। अध्यात्मोपनिषद् में आचार्य यशोविजयजी कहते हैं :

"प्रत्येक धर्म के आगम-ग्रन्थ सुनने चाहिएं। विश्वास युक्ति-परीक्षा के बाद होना चाहिए। श्रवण और मनन जैसे भिन्न-भिन्न दो क्रियाएं हैं, वैसे इनका व्यापार भी भिन्न है। श्रवण श्रद्धा का विषय है और मान्यता उपपत्ति (युक्ति) और श्रद्धा दोनों का विषय है।"[1]

विभज्यवाद

भगवान् महावीर का युग विभाजन की दृष्टि से आगम-युग था और प्रवचन की दृष्टि से दर्शन-युग। तत्कालीन पर्यनुयोग-परम्परा दार्शनिक होते हुए भी अधिक स्पष्ट और सुश्लिष्ट नहीं थी। महात्मा बुद्ध विभज्यवाद (प्रतिपदावाद) के द्वारा तत्त्व का प्रतिपादन करते थे और भगवान् महावीर भी विभज्यवाद (स्याद्वाद) में बोलते थे।[2] शब्द साम्य होते हुए भी दोनों में लम्बी भेद-रेखा थी। प्रसिद्ध विद्वान् डा० देवराज ने इस विषय की समालोचना करते हुए लिखा है—"वास्तव में जैनियों को भगवान् बुद्ध की तरह तत्त्व-दर्शन सम्बन्धी प्रश्नों पर मौन धारण करना चाहिए था। जिसके आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि पर निश्चित सिद्धान्त हो, उसके मुख से स्याद्वाद की दुहाई शोभा नहीं देती।"[3] पर तत्त्व यह नहीं है। महात्मा बुद्ध का विभज्यवाद अनिश्चायक था। भगवान् महावीर का स्याद्वाद (विभज्यवाद) उससे सर्वथा भिन्न और निश्चायक था। तत्त्व-व्याख्या में उन्होंने 'यह हो सकता है और यह भी' इस लचीली वाक्य पद्धति को स्थान नहीं दिया। उन्होंने निश्चय की भाषा में बोलते हुए कहा—अमुक पदार्थ अमुक उपेक्षा से ऐसा ही है। जैन मनीषी शीलांकाचार्य (वि० आठवीं शताब्दी) विभज्यवाद की विशद विवेचना करते हुए दार्शनिक कृति सूत्रकृतांग की टीका में लिखते हैं—'वस्तु में अनन्त स्वधर्म और अनन्त पर धर्म होते हैं। उनका (प्रत्येक का) ग्रहण अपेक्षा-भेद से होता है, अनेक्षा के बिना अनेकान्त-दृष्टि (चिन्तन-शैली) प्रतिपादन योग्य अर्थात् स्याद्वाद का विषय नहीं बन सकती। प्रतिपादन सत्य का होता है। सत्य प्रतिपादित होकर व्यवहार्य बनता है। व्यवहार्य, अस्खलित, अविसंवादी सत्य ही सर्वव्यापी और अखण्ड सत्य की सन्निधि पा सकता है। हमारे प्रतिपादन का आधार द्रव्य और पर्याय ये दो तत्त्व हैं। विभिन्न अवस्थाओं में परिवर्तित होने पर भी किसी द्रव्य का द्रव्यत्व नष्ट नहीं होता; इस दृष्टि से प्रत्येक वस्तु नित्य (शाश्वत) है। अवस्थाओं के द्वारा होने वाला परिवर्तन द्रव्यगत (वस्तुगत) होता है; इस दृष्टि से समस्त पदार्थ अनित्य हैं। यद्यपि वस्तु में नित्यत्व और अनित्यत्व दोनों युगपत् रहते हैं तथा स्वधर्म की दृष्टि से दोनों का प्रकटन भी एक साथ होता है; परन्तु प्रतिपादक की प्रवृत्ति

१ आगमश्चोपपत्तिश्च सम्पूर्णं दृष्टिलक्षणम्।
अतीन्द्रियाणामर्थानां सद्भावप्रतिपत्तये॥
श्रोतव्यः श्रुतिवाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येयं एते दर्शन-हेतवः॥

२ विभज्जवायं च वियागरेज्जा

३ दर्शन शास्त्र का इतिहास, पृ० १३५

के अनुसार उसमें मुख्य और गौण का आरोप होता है।"[1]

आचार और विचार दोनों अन्योन्याश्रित हैं। भगवान् महावीर के सत्य-दर्शन की सर्वांगीणता का प्रमुख हेतु यही अन्योन्याश्रय है। उन्होंने आचार-विशुद्धि के लिए अहिंसा-दर्शन दिया और विचार-विशुद्धि के लिए स्याद्वाद-दर्शन।

भगवान् महावीर के ये दोनों सिद्धान्त जीवन के ऊर्ध्वगत तथा अधोगत चरणों के समतल हैं। भगवान् ने कहा—"मानवीय वृत्तियों का आरोहण तथा अवरोहण चलता आया है और चलता रहेगा। आवश्यकता केवल इतनी ही है कि हम प्रत्येक पदार्थ को अनेकान्त की दृष्टि से देखें और उसका स्याद्वाद की पद्धति से प्रतिपादन करें।"

१ सर्वत्र अस्खलितं लोकसंव्यवहार अविसंवादितया सर्वव्यापिनं स्वानुभवसिद्धं वदेत्। अथवा सम्यग् अर्थात् विभज्य पृथक्कृत्वा कृत्वा तद्वादं वदेत्। नित्यवादं द्रव्यार्थतया पर्यायार्थतया त्वनित्यवादं वदेत्।

भौतिक मनोविज्ञान बनाम आध्यात्मिक मनोविज्ञान

कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार,
उपकुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

सत्य एक है। जहाँ सत्य में अनेकता दिखाई देती है, वहाँ विविधता होती है, विरोध नहीं होता, एक ही सत्य के अनेक पक्ष होते हैं। सत्य की खोज के लिए मनुष्य हर देश में और हर काल में प्रवृत्त रहा है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की तात्त्विक रचना में बुद्धि का निवास है, मनुष्य बुद्धिरूप है।

मानस-तत्त्व

सांख्य दर्शन ने संसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा है—'प्रकृति का जब विकास शुरु हुआ तब पहले-पहल महत् तत्त्व उत्पन्न हुआ, महत् तत्त्व से अहंकार पैदा हुआ।'[1] एक दूसरे स्थल पर सांख्यकार ने अन्तःकरण चतुष्टय का वर्णन करते हुए मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार—ये चार अन्तःकरण गिनाये हैं। अहंकार अन्तःकरण चतुष्टय का एक अंग है और अहंकार महत् से उत्पन्न हुआ है। महत् महान् को कहते हैं, परन्तु प्रकृति से जो महान् मानस-तत्त्व है, यह मानस-तत्त्व ही प्रकृति से उत्पन्न होकर अगली सृष्टि का विकास करता है। जो सत्य भारत में प्रकट हुआ वही जर्मनी के दार्शनिक हेगल के दर्शन में प्रकट हुआ। उसने कहा कि सृष्टि का प्रारम्भ तर्क (Reason) से हुआ, बुद्धि से हुआ।

संसार की रचना में जो 'मानस-तत्त्व,' 'बुद्धि' या 'रीज़न' काम कर रहा है, उसे जानने के यत्न से ही सब ज्ञान-विज्ञान उत्पन्न हुआ है। हम संसार-समुद्र के अथाह 'मानस-तत्त्व' में से जो कुछ इने-गिने नियम, सिद्धान्त या कायदे खोज निकालते हैं, उन्हीं को हमने गणित, भौतिकी, रसायन, यांत्रिकी या दर्शन का नाम दिया है।

यदि संसार की रचना का आधार-भूत तत्त्व 'मानस-तत्त्व' है, तो उसको खोजना मनुष्य के लिए स्वाभाविक है। यूरोप में ई० पू० चौथी-पाँचवीं शताब्दी में हुए यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात ने कहा—'अपने को जानो।' लोग समझते थे कि वे अपने को जानते हैं, परन्तु सुकरात जब उनसे बहस करता था तब वह उन्हें यह विश्वास करा देता था कि वे और तो बहुत कुछ जानते हैं, किन्तु अपने को नहीं जानते। उसका कहना था कि दूसरे लोग यह भी नहीं जानते कि वे अपने को नहीं जानते, मैं इतना तो जानता हूँ कि मैं अपने को नहीं जानता। सृष्टि के आधारभूत इस 'मानस-तत्त्व' को भारत के ऋषियों ने भी खोजने का प्रयत्न किया। उनका कहना था कि जो समझते हैं कि वे उसे नहीं जानते, वे ही उसे जानते हैं; जो समझते हैं कि वे उसे जानते हैं, वे उसे नहीं जानते।

प्रश्न खड़ा हो जाता है कि क्या हम संसार के आधारभूत 'मानस-तत्त्व' को नहीं जान सकते? इस बिन्दु पर आकर पाश्चात्य तथा भारतीय विचारधारा भिन्न-भिन्न दिशाओं की तरफ चल पड़ती हैं। पाश्चात्य विचारधारा का कथन है कि हमें इन्द्रियों से परे की सत्ताओं का ज्ञान नहीं हो सकता। हर्बर्ट स्पेंसर ने संसार की सत्ताओं को दो भागों में बाँटा है—'अज्ञेय' तथा 'ज्ञेय'। उसका कहना है कि आधारभूत सत्ता आदि तत्त्व ऐसे हैं जो 'अज्ञेय' के गर्भ में छिपे हैं, हमें अपने को 'अज्ञेय' के साथ निरर्थक टकराने की अपेक्षा 'ज्ञेय' के क्षेत्र में सीमित रखना चाहिए। भारतीय दर्शन भी

---

१ सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेः महान्, महतोऽहंकारः

इस बात को स्वीकार करते है कि सृष्टि का आधारभूत 'मानस-तत्त्व' एक दृष्टि से अज्ञेय' है, सर्वथा अज्ञेय नहीं। इसकी झाँकी हमें मिल सकती है। इस 'अज्ञेय' की झांकी ही 'ज्ञेय' के साक्षात्कार से भी कहीं ज्यादा महत्त्व की है।

भौतिक मनोविज्ञान

पाश्चात्य विचारक 'ज्ञेय' के पीछे पड़े और उन्होंने आज के युग के सब ज्ञान-विज्ञान पैदा कर दिये। इन विज्ञानों के दो रूप हैं; एक विज्ञान तो वे हैं, जो सर्वथा भौतिक हैं। भौतिकी, रसायन, यांत्रिकी आदि विज्ञानों को उन्होंने भौतिक रूप दे ही दिया है, सामाजिक विज्ञानों को भी पाश्चात्य विचारक भौतिक रूप देते जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, राजनीति-शास्त्र, इतिहास, समाजशास्त्र आदि का प्रतिपादन भौतिक-पद्धति के अनुसार किया जाने लगा है। भौतिक-पद्धति से अभिप्राय यह है कि जैसे भौतिकी, रसायन, यांत्रिकी आदि में निरीक्षण-परीक्षण-तुलना आदि द्वारा तथ्यों का निर्धारण होता है, वैसे ही राजनीति, इतिहास, समाजशास्त्र में भी यही पद्धतियाँ काम में लाई जाने लगी हैं। इसके अतिरिक्त वे 'मानस तत्त्व', जो 'अज्ञेय' के क्षेत्र में है, उस पर भी भौतिक-पद्धति का, निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का प्रयोग करते हैं। मानस-तत्त्व ही को वे उस क्षेत्र में खींच लाते हैं, जिस क्षेत्र में निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का प्रयोग किया जा सकता है। इस बात को अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है।

'मानस-तत्व' का अर्थ है—'आत्म-तत्व'। पाश्चात्य विचारकों का कहना है कि आत्मा क्या है—हम नहीं जानते। आत्मा पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना नहीं हो सकती; इसलिए वह हमारे अध्ययन का विषय नहीं हो सकता। 'मन' पर भी हम निरीक्षण-परीक्षण-तुलना नहीं कर सकते। 'मन' कहाँ है, कैसे है, है या नहीं, क्या इसकी सत्ता स्नायु-मण्डल से अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से है या नहीं; इन प्रश्नों का उत्तर जब तक हम यह सब नहीं जान सकते तब तक मन हमारे अध्ययन का विषय नहीं बन सकता है। तो क्या स्नायु-मण्डल हमारे अध्ययन का विषय है? स्नायु-मण्डल के अध्ययन में भी यह मानना पड़ता है कि जो ज्ञान अन्तःग्राही तन्तुओं से मस्तिष्क तक पहुँचता है, उसे कोई अज्ञेय शक्ति पहले समझे और समझकर फिर तन्तुओं द्वारा अपना आदेश आगे भेजे। इन सब कारणों से पाश्चात्य विचारकों ने अज्ञेय क्षेत्र के इस ज्ञान को जिसे 'मनोविज्ञान' कहा जाता है, ज्ञेय क्षेत्र में लाने का यत्न किया। पहले मनोविज्ञान आत्म गुणों को जानने वाला ज्ञान था; फिर इसका काम मन के गुण जानना हो गया। अब मनोविज्ञान का काम स्नायु-मण्डल का अध्ययन करना हो गया; इसलिए मनोविज्ञान का वर्तमान रूप सिर्फ भौतिक रूप हो गया। वह आत्मा, मन, चेतना आदि के क्षेत्र से बाहर निकल आया है और अन्य भौतिक विज्ञानों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर खड़ा हो गया है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान भौतिक मनोविज्ञान है, क्योंकि पाश्चात्य मनोविज्ञान ने अपने को आत्मा, मन, चेतना, मस्तिष्क से अलग करके एक नया रूप धारण कर लिया है। आज के मनोविज्ञान का रूप है 'व्यवहारवाद'। इसके अनुसार—हम आत्मा, मन, मस्तिष्क के विषय में कुछ नहीं जानते। हम व्यक्ति के विषय में केवल यह जानते है कि वह कैसा व्यवहार करता है। किसी विशेष परिस्थिति के उत्पन्न होने पर मनुष्य क्या प्रतिक्रिया करता है, क्या व्यवहार करता है—बस, इसका अध्ययन मनोविज्ञान का काम है। यह व्यवहार क्योंकि भौतिक है, देखा जा सकता है, इसे नापा-तोला जा सकता है, इस पर परीक्षण किये जा सकते हैं, यह निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का विषय हो सकता है; इसलिए आज का मनोविज्ञान व्यवहार को अपने अध्ययन का विषय बनाता जा रहा है। इसी दिशा पर चलते हुए आज मनोविज्ञान में परीक्षणात्मक मनोविज्ञान के नाम से अनेक परीक्षण किये जा रहे है, जिनके लिए प्रयोगशालाओं का निर्माण हो रहा है।

"मनोविज्ञान का काम मन की 'चेतना' का अध्ययन करना नहीं, प्राणी के 'व्यवहार' का अध्ययन करना है"—यह विचार उन्नीसवीं सदी में वाटसन के मनोविज्ञान की देन थी। इस विचार को आधार बना कर थोर्नडाइक, पवलव आदि मनोवैज्ञानिकों ने पशुओं पर अनेक परीक्षण किये, जो शिक्षा-मनोविज्ञान की नींव हैं। यद्यपि फ्रायड के 'मनोविश्लेषण-वाद' तथा 'व्यवहारवाद' दोनों मनोविज्ञान के अलग-अलग सम्प्रदाय हैं, तो भी दोनों के आधार में यूरोप की भौतिक-पद्धति काम कर रही है। वाटसन, थोर्नडाइक तथा पवलव ने पशुओं के व्यवहार पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना करके

मनोविज्ञान के नियमों का प्रतिपादन किया है। फ्रायड ने अस्वस्थ मनुष्यों पर निरीक्षण-परीक्षण-तुलना करके मनोविज्ञान के नियमों का प्रतिपादन किया है।

फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद के विषय में कहा जा सकता है कि उसने मन के अज्ञेय-क्षेत्र में भी प्रवेश करने का प्रयत्न किया है। परन्तु फ्रायड भी मन को मनुष्य के व्यवहार से ही पकड़ने का प्रयत्न करता है। जिस बालक में भावना-ग्रन्थि पड़ जाती है, उसका व्यवहार बदल जाता है। हीनता-ग्रन्थि आदि सब ग्रन्थियाँ, जिनकी मनोविश्लेषणवाद में जगह-जगह चर्चा पाई जाती है, मनुष्य के व्यवहार को ही अपने अध्ययन का विषय बनाते हैं। इस दृष्टि से देखा जाए, तो यह कहने में संकोच नहीं हो सकता कि यूरोप के वर्तमान मनोविज्ञान का आधार भौतिकवाद है, भौतिक पद्धति है, निरीक्षण-परीक्षण-तुलना है, प्रयोगशाला है।

'मानस-तत्त्व' अज्ञेय कोटि में है; इसलिए उसके आत्मा, मन, मस्तिष्क आदि के विषय मे पाश्चात्य मनोविज्ञान तटस्थ हो जाता है। वह तो केवल उसके व्यवहार में आने वाले भौतिक रूप पर विचार करता है और इसीलिए उसे 'भौतिक-मनोविज्ञान' कहा जा सकता है। इस 'भौतिक-मनोविज्ञान' ने ज्ञान के जगत् को बहुत-सी नवीन बातें दी हैं और इससे मनुष्य के मानसिक-विकास में पर्याप्त प्रगति हुई है—इससे इन्कार नहीं किया जा सकता।

आध्यात्मिक मनोविज्ञान

पाश्चात्य 'भौतिक-मनोविज्ञान' के मुकाबले में भारतीय मनोविज्ञान को आध्यात्मिक मनोविज्ञान कहा जा सकता है। इसे 'आध्यात्मिक मनोविज्ञान' कहने का कारण यह है कि भारतीय मनोविज्ञान ने सांख्य के 'महत्' को या 'मानस-तत्त्व' को, या हीगल की परिभाषा में 'रीज़न' को, या स्पेंसर की परिभाषा में 'अज्ञेय' को अज्ञेय कहा, अनिर्वचनीय कहा; यह कहा कि जो उसे जानने का दावा करता है, वह उसे नहीं जानता, जो उसके विषय में यह कहता है कि वह उसे नहीं जानता, वही जानता है; यह सब कहते हुए भी भारतीय मनोविज्ञान ने उस अज्ञेय को जानने का प्रयत्न किया। अज्ञेय को जानने के प्रयत्न को ही आध्यात्मिक कहा जा सकता है और इसीलिए भारतीय मनोविज्ञान भौतिक न होकर आध्यात्मिक है।

'मानस-तत्त्व' का क्या रूप है ? इसे जानने से पहले भारतीय मनोवैज्ञानिकों के सामने सबसे पहला प्रश्न यह था कि 'मानस-तत्त्व' की सत्ता है या नहीं। 'मानस-तत्त्व' है—इसका प्रतिपादन करते हुए माण्डूकोपनिषद् में मन की तीन अवस्थाओं का वर्णन पाया जाता है। ये अवस्थाएं हैं—जागृत, स्वप्न तथा सुषुप्ति। जागृत अवस्था में मनुष्य की वृत्ति चारों तरफ फैली हुई होती है, बिखरी हुई होती है। वह देखता है, सुनता है, सूंघता है, चलता है, फिरता है। स्वप्न अवस्था में मनुष्य के अंग निश्चल हो जाते हैं। उसकी आँखें बन्द हो जाती हैं, कान-नाक की इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं, शब्द को वह सुन नहीं सकता, गन्ध को सूंघ नहीं सकता, हाथ-पैर शिथिल पड़ जाते हैं। स्वप्नावस्था में आँखें बन्द होने पर भी वह देखता है—ठीक वैसे ही देखता है, जैसे खुली आँखों से देखना होता है; बन्द कानों से वह सुनता है—ठीक वैसे ही सुनता है, जैसे खुले कानों से जागृतावस्था में सुना करता है; शिथिल हाथों से वह पकड़ता है तथा निश्चल पैरों से चलता-भागता है—ठीक वैसे ही पकड़ता, चलता, भागता है, जैसे जागृतावस्था में ये सब काम करता है। यदि कोई जागृत हो और आँखें बन्द कर ले और बन्द आँखों से देखने की कल्पना करना चाहे, तो वैसी कल्पना नहीं कर सकता, जैसे मनुष्य सोता हुआ देखता है। सोता हुआ मनुष्य जब देखता, सुनता, सूंघता, चलता, फिरता है, तब उसे यह अनुभव ही नहीं होता कि वह जाग नहीं रहा। उपनिषद् के ऋषि का कहना है कि जागृतावस्था में तो मनुष्य का शरीर तथा मन दोनों दूध-पानी की तरह घुले-मिले रहते हैं, इन दोनों को पृथक् ही नहीं किया जा सकता, परन्तु स्वप्नावस्था में शरीर तथा मन ये दोनों स्पष्टतया पृथक्-पृथक् जान पड़ते हैं। तभी तो सब इन्द्रियाँ सोई पड़ी हैं, फिर भी जागी इन्द्रियों का-सा अनुभव होता है। यह अनुभव अनुमान का विषय नहीं है, अपितु प्रत्यक्ष का है, सबके निरीक्षण-परीक्षण-तुलना का विषय है। हम सबको हर रात यह अनुभव प्राप्त होता है। इस अनुभव का इसके सिवाय क्या अर्थ हो सकता है कि शरीर से भिन्न कोई 'मानस-तत्त्व' है; वह तत्त्व, जो बिना आँखों से देख सकता है, बिना कानों के सुन सकता है, बिना हाथों के पकड़ सकता है और बिना पैरों के चल सकता है। उपनिषद्कार स्वप्नावस्था का दृष्टान्त देकर यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि शरीर से भिन्न

'चेतना' की—'मानस-तत्त्व' की एक स्वतन्त्र सत्ता है, स्वतन्त्र इसलिए कि जागृतावस्था में तो यह शरीर से मिली-जुली रहती है, परन्तु स्वप्नावस्था में यह शरीर से अलग होकर अपनी स्वतन्त्र सत्ता दिखला देती है। फिर चाहे हम इस चेतना को आत्मा कहें, मन कहें या अन्य किसी नाम से स्थापित करें। इतना तो स्पष्ट है कि शरीर से भिन्न कोई सत्ता अवश्य है; ऐसी सत्ता, जो शरीर के बिना रह सकती है, जिसके बिना शरीर नहीं रह सकता; जो शरीर के बिना क्रियाशील है, जिसके बिना शरीर क्रियाशील नहीं रह सकता।

भारत के 'आध्यात्मिक मनोविज्ञान' की दूसरी समस्या यह थी कि यदि शरीर से भिन्न कोई 'मानस-तत्त्व' है और यदि भौतिक-शरीर की अपेक्षा वही सत्य है, तो उसका स्वरूप क्या है? उसके स्वरूप का वर्णन करने के लिए माण्डूकोपनिषद् ने फिर जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति इन अवस्थाओं का वर्णन किया है। इन अवस्थाओं का वर्णन उपनिषत्कार इसलिए करते हैं कि ये तीनों अवस्थाएं प्रत्येक के अनुभव में आती हैं। इनके विषय में कुछ भी कहना कल्पना की बात कहना नहीं, अपितु अनुभव की बात कहना है। जागृत के बाद स्वप्नावस्था और स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्ति की अवस्था आती है। स्वप्नावस्था में तो मनुष्य बिना विषयों के सब-कुछ देखता-सुनता है। यह देखना-सुनना सिर्फ स्मृति नहीं होती। स्मृति में देखे-सुने की वह अनुभूति नहीं होती, जो स्वप्न में होती है। स्मृति में सचमुच का देखना-सुनना नहीं होता, स्वप्न में सचमुच का-सा देखना-सुनना होता है। एक चीनी विचारक च्यांगसे ने अपने लेखों में लिखा था कि मुझे तितली होने का स्वप्न आया। प्रश्न यह है कि क्या मैं वास्तव में च्यांगसे हूँ और मुझे तितली होने का स्वप्न आ रहा है, या मैं वास्तव में तितली हूँ और मुझे च्यांगसे होने का स्वप्न आ रहा है। स्वप्न तथा जागृत में इतनी समानता पाई जाती है। स्वप्नावस्था के बाद सुषुप्ति की अवस्था आती है। सुषुप्ति में सब ज्ञान लुप्त हो जाता है। मनुष्य छः-सात घण्टे की सुषुप्ति के बाद जब जागता है, तब क्या कहता है? वह कहता है—**सुखमहमस्वाप्सम्**—"मैं बड़े आनन्द में सोया, ऐसा सोया कि कुछ भी पता नहीं रहा, कोई स्वप्न तक नहीं आया।" उपनिषत्कार का कहना है कि सुषुप्ति के बाद मनुष्य यों कहता है कि मैं आनन्द में रहा। वस्तुतः 'मानस-तत्त्व' का यथार्थ रूप आनन्द का रूप है। जब वह जागृत अवस्था से स्वप्न में जाता है, तब शरीर तथा मन का सम्बन्ध टूट जाता है, मन अपने स्वरूप में आने लगता है, उस समय मन में संकल्प-विकल्प बने रहते हैं। जब वह स्वप्न से सुषुप्ति में जाता है, तब उसका संकल्प-विकल्प से भी सम्बन्ध टूट जाता है, 'मानस-तत्त्व' अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। 'मानस-तत्त्व' का शुद्ध रूप—वह रूप, जिसमें वह शरीर से जुदा होता है, आनन्द-मय रूप है और इसीलिए सुषुप्ति से फिर जागृत में लौट आने पर मनुष्य कहता है कि मैं बड़े आनन्द में रहा। सुषुप्ति अवस्था वह है जिसमें शरीर तथा मन का सम्बन्ध सर्वथा जुदा हो जाता है, जिसमें शरीर मानों मर जाता है, मन (आत्मा) अपने शुद्ध रूप में आ जाता है। उस अवस्था में जो अनुभूति होती है उसी अनुभूति का वर्णन करते हुए मनुष्य कहता है कि मुझे ऐसा आनन्द आया जैसा कभी अनुभव नहीं किया।

दो शब्दों में भारत के 'आध्यात्मिक-मनोविज्ञान' का सार शरीर तथा आत्मा के, शरीर तथा मन के भेद को अनुभव कर लेना है। आज के बीसवीं सदी के आधिभौतिक युग में मनोविज्ञान ने भौतिक रूप धारण करके आत्मा, मन, चेतना—इन सब अज्ञेय तत्त्वों को छोड़ कर व्यवहार को, जो ज्ञेय तत्त्व है, पकड़ लिया है; परन्तु भारत के मनोविज्ञान का रूप सदा आध्यात्मिक बना रहा है। वेदों में, उपनिषदों में, गीता में, रामायण में, महाभारत में, आगमों में और त्रिपिटकों में निरन्तर एक ही खोज दिखाई पड़ती है—उस खोज का लक्ष्य शरीर से भिन्न मन तथा आत्मा को पकड़ना है।

जैन दर्शन में धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय

डॉ० लूडो रोचेर
प्राध्यापक, ब्रसेल्स-विश्वविद्यालय

भारतीय दर्शनों में धर्मशास्त्र आदि के द्वारा 'धर्म' का विश्लेषण किया गया है। वहाँ धर्म शब्द नीति-शास्त्र अथवा आचार-शास्त्र (Ethics) से सम्बन्धित है। जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) में भी धर्म शब्द प्रयुक्त हुआ है। आचार शास्त्र में प्रयुक्त धर्म शब्द इससे सर्वथा भिन्न अर्थ रखता है। 'धर्म' का सिद्धान्त जैन दर्शन में जिस विलक्षणता के साथ देखने को मिलता है, वैसा पाश्चात्य दर्शनों में हमें कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। 'धर्म' शब्द जैन दर्शन का एक पारिभाषिक शब्द है। सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता की इस विषय में अति प्रसिद्ध उक्ति है—"जैन तत्त्व-मीमांसा में 'धर्म' और 'अधर्म' शब्द अन्य भारतीय दर्शनों से नितान्त भिन्न रूप में भी व्यवहृत हुए हैं।"[१] जैन दर्शन के 'धर्म' और 'अधर्म' क्या हैं? इसकी एक संक्षिप्त चर्चा यहाँ की गई है।

आचार्यश्री तुलसी ने 'धर्म', 'अधर्म' की व्याख्या इस प्रकार की है—

"गति में असाधारण रूप से सहाय करने वाला धर्म है।"[२]

"स्थिति में असाधारण-रूप से सहाय करने वाला अधर्म है।"[3]

जैन-दर्शन से अनभिज्ञ व्यक्ति के लिए इन शब्दों का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है। जैन दर्शन के अनुसार इस विश्व में छः प्रकार के द्रव्य हैं—धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव। यूरोप के विद्वान् इस द्रव्य-मीमांसा से १८९५ ई० में परिचित हो चुके थे, जबकि सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० हर्मन जेकोबी ने उत्तराध्ययन सूत्र के अनुवाद में इसका उल्लेख किया था—"धर्म, अधर्म, आकाश, काल, पुद्गल और जीव ये छः प्रकार के द्रव्य इस विश्व को बनाते हैं, ऐसा उत्तम ज्ञानवान् जिन (अरिहन्त) का निरूपण है।"[४] उत्तराध्ययन सूत्र में दी गई धर्म-अधर्म की परिभाषा का अनुवाद जेकोबी ने इस प्रकार किया है—

"धर्म का लक्षण गति है, अधर्म का स्थिति।"[५]

जेकोबी के इन सूत्रों के अनुवाद से गति और धर्म के सम्बन्ध तथा स्थिति और अधर्म के सम्बन्ध के विषय में पाश्चात्य भारतीय विद्याविदों और विचारकों में एक नया आकर्षण उत्पन्न हो गया है। उन्होंने जैन दर्शन के इन लाक्षणिक सिद्धान्तों के विषय में स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न किया है और मनुष्य-चिन्तन के विकास-क्रम सम्बन्धी अपने विचारों के आलोक में इन्हें समझाने का प्रयास भी किया है।

---

१ A History of Indian Philosophy, Vol. I, p. 197, Cambridge University Press, 1922.

२ **गत्यसाधारणसहायो धर्मः।**

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।४

३ **स्थित्यसाधारणसहायोऽधर्मः।**

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।५

४ **उत्तराध्ययन सूत्र, २८।७ का हर्मन जेकोबी द्वारा किया गया अनुवाद—**
Jain Sutras, Part II, Sacred Books of the East, 45, p. 153, Oxford, Clerendon Press, 1895.

५ **वही, २८।९**

डा० हर्मन जेकोबी ने स्वयं जैन दर्शन के धर्म-अधर्म-सिद्धान्त के विषय में प्रसंगानुसार यत्र-तत्र चर्चा की है। जेकोबी द्वारा किये गए उमास्वाति कृत तत्त्वार्थ सूत्र के अनुवाद[1] के आधार पर इन तत्त्वों (धर्म-अधर्म) के लक्षणों की चर्चा यहाँ की जा रही है, जिससे इनके विषय में हमारा ज्ञान स्पष्ट हो सके।

१. अन्य द्रव्यों में जीव को छोड़ कर शेष धर्म, अधर्म आदि द्रव्य **अजीव काया** अर्थात् निर्जीव हैं।[2] यह ध्यान देने योग्य बात है कि काल को यहाँ पर न गिन कर, उसके विषय में अन्यत्र सूत्र दिया गया है—'काल भी कुछ एक लोगों के अनुसार द्रव्य है।'[3]

२. धर्म और अधर्म में द्रव्य के सामान्य गुण पाये जाते हैं, जिनमें **नित्यत्व** भी है अर्थात् धर्म और अधर्म द्रव्य नित्य हैं।[4]

३. धर्म और अधर्म अरूपी हैं, अर्थात् वर्ण आदि गुणों से रहित हैं। इस दृष्टि से वे पुद्गल को छोड़ कर अन्य द्रव्यों के साथ समानता रखते हैं; क्योंकि केवल पुद्गल-द्रव्य रूपी है।[5]

४. धर्म और अधर्म आकाश के साथ इस अपेक्षा से सादृश्य रखते हैं कि वे **एक-द्रव्य** हैं, अर्थात् ये एक अखण्ड द्रव्य हैं।[6] इसी सूत्र से यह निष्कर्ष निकलता है कि पुद्गल और जीव अनेक द्रव्य हैं।

५. इसी तरह धर्म-अधर्म और आकाश में यह समानता भी है कि वे तीनों ही निष्क्रिय हैं। इसका अर्थ होना है कि पुद्गल और जीव-ये दो द्रव्य क्रियाशील हैं।[7]

६. धर्म और अधर्म द्रव्यों के प्रदेश—अविभागी अवयव, जीव की तरह असंख्येय हैं, जब कि आकाश के प्रदेशों की संख्या अनन्त है और पुद्गल के प्रदेशों की संख्या अनन्त, असंख्येय अथवा संख्येय भी हो सकती है, जिसमें भी परमाणु तो अप्रदेशी ही है।[8]

७. अवगाह के विषय में—समस्त लोकाकाश (Worldly Space) में व्याप्त केवल दो द्रव्य—धर्म और अधर्म ही हैं। पुद्गल और जीव विविध प्रकार से आकाश का अवगाहन करते हैं।[9]

इस प्रकार धर्म और अधर्म परस्पर सर्वथा समान गुण वाले होते हुए भी—जिनमें से कुछ एक गुण तो सभी द्रव्यों में सामान्य हैं, कुछ एक द्रव्य विशेष में ही हैं और कुछ एक अन्य द्रव्यों में हैं ही नहीं—केवल एक ही बात के द्वारा इनमें भेद किया जा सकता है। वह है उनका उपकार—धर्म द्रव्य का गति-सहायता-रूप और अधर्म द्रव्य का स्थिति-सहायता-रूप।

जैन परम्परा में धर्म द्रव्य की गति-सहायता को समझाने के लिए सामान्यतया जल और मत्स्य का दृष्टान्त दिया जाता है। जिस प्रकार जल मत्स्य की गति का माध्यम है, उसी प्रकार धर्म द्रव्य सभी गतिशील द्रव्यों की गति का माध्यम है। क्योंकि जैसे जल के माध्यम से मत्स्य की गति सम्भव हो सकती है, वैसे ही धर्म-द्रव्य के विषय में भी है। पुनः प्रसिद्ध विद्वान् श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता के शब्दों में—"इस गति-तत्त्व के निमित्त से ही, जो कि सर्वत्र व्याप्त है, पदार्थों की गति

---

१ Eine Jain Dogmatik, Umasvati's Tattvathadhigama Sutra Ubersetzund erlautert von Hermann Jacobi, in: Zeitschrift der Deutschen Morgenlandischen Gesellschaft 60 (1906) pp. 287-325 and 512—551.

२ तत्त्वार्थ सूत्र, ५।१-२

३ वही, ५।३९

४ वही, ५।४

५ वही, ५।५

६ वही, ५।६

७ वही, ५।७

८ वही, ५।८-११

९ वही, ५।१२-१६

सम्भव हो सकती हैं, जैसे जल से मत्स्य की गति। मत्स्य की गति के लिए पानी एक निष्क्रिय निमित्त या माध्यम है अर्थात् पानी प्रेरक निमित्त न होकर उदासीन निमित्त होता है। पानी कभी स्थित मीन को गति करने के लिए बाध्य नहीं करता, किन्तु यदि मत्स्य गति करना चाहता है, तो पानी उसकी गति के लिए आवश्यक हो जाता है। इसी तरह धर्म द्रव्य कदापि आत्मा या पुद्गल (भौतिक पदार्थों) को चला नहीं सकता, किन्तु उसके अस्तित्व के अभाव में वे गति कर ही नहीं सकते। दूसरी ओर अधर्म द्रव्य भी ऐसा ही उदासीन तत्त्व है, जो जीव-पुद्गल को स्थिर रहने में सहायक होता है। यदि धर्म न हो, तो कोई भी द्रव्य गति नहीं कर सकता और यदि अधर्म न हो, तो कोई भी द्रव्य स्थिर नहीं रह सकता।"[1]

पाश्चात्य विद्वानों के सामने जब धर्म-अधर्म के जैन-सिद्धान्त आये, तब वे केवल जैन रचयिताओं द्वारा की गई इनकी व्याख्याओं को समझ लेने मात्र से सन्तुष्ट नहीं हुए; अपितु इन्होंने जैन सिद्धान्तों की गवेषणाओं से यह जानने का प्रयत्न भी किया कि किस कारण से जैन शास्त्रकारों ने इन दो शब्दों (धर्म-अधर्म) का प्रयोग अपने यहाँ विशेष अर्थ में किया, जब कि भारतीय दर्शनों में ये शब्द नितान्त भिन्न अर्थ के सूचक थे।

पाश्चात्य गवेषकों के प्रतिनिधि के रूप में सर्वप्रथम हम प्रो० जन गोण्डा, यूट्रेस्ट विश्वविद्यालय (हालैण्ड) को उद्धृत करेंगे। प्रो० गोण्डा के अभिमतानुसार—"जैन दर्शन के विकास-काल में भारत में ये दो शब्द धर्म और अधर्म इतने प्रचलित थे कि जैन दर्शन अपने सिद्धान्तों में इन्हें स्थान दिये बिना नहीं रह सका। सामान्यतया इनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ जैन दर्शन को मान्य नहीं था, अतः जैन दर्शन ने इन शब्दों को बिल्कुल नवीन अर्थ में ही प्रयुक्त किया, जो कि अन्य भारतीय दर्शनकारों को ज्ञात नहीं थे।"[2]

धर्म-अधर्म की आधुनिक व्याख्या का दूसरा उदाहरण सुरेन्द्रनाथ दासगुप्ता के शब्दों में मिलता है—"जैन दार्शनिकों ने इन दो द्रव्यों को सम्भवतः इसलिए आवश्यक माना हो कि उनकी विचारधारा में जीव अथवा परमाणु (पुद्गल) की आन्तरिक प्रवृत्ति के बाह्य प्रकटन के लिए कोई बाह्य निमित्त होना चाहिए, जिसके बिना उसकी परिणति बाह्य गति के रूप में होनी असम्भव है।......इस प्रकार यह चिन्तन किया गया होगा कि गति की परिणति या निष्पत्ति के लिए किसी बाह्य तत्त्व की सहायता अपेक्षित होनी चाहिए, जिसके अभाव में मुक्त आत्मा की गति भी असम्भव हो जाती है।"[3]

अन्त में हम जेकोबी को उद्धृत करेंगे, जिन्होंने जैन दर्शन की इस विचारधारा के मूल उद्गम के विषय में चिन्तन किया है। जेकोबी के अनुसार—"यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि आकाश (Space) के सामान्यतया प्रकल्पित उपकारों को जैन दर्शन तीन तत्त्वों में विभाजित कर देता है—आकाश, धर्म और अधर्म। यह अत्यन्त ही कल्पना-प्रधान तथा अति तार्किक-सा प्रतीत होता है। किन्तु धर्म और अधर्म शब्द का पारिभाषिक अर्थ में आगमों में जो प्रयोग हुआ है, वह तो धर्म-अधर्म की प्राथमिक (Primitive) कल्पना पर आधारित है, ऐसा प्रतीत होता है; चूँकि 'धर्म', 'अधर्म' के विषय में सम्भवतः प्राथमिक कल्पना तो यही रही होगी कि धर्म-अधर्म वे अदृश्य तरल तत्त्व हैं जिनके सम्पर्क से 'पुण्य' और 'पाप' लगता है।"[4]

व्यक्तिगत-रूप से मैं जैन दर्शन के 'धर्म-अधर्म' शब्द-प्रयोग के सम्बन्ध से उपस्थित समस्याओं को थोड़े-से भिन्न रूप में रखना चाहता हूँ। ऊपर दिये गए उद्धरणों से कुछ एक अंश लेकर, आगे का विचार-विमर्श मैं स्वतन्त्र रूप से करूँगा। मेरे विचार में तो इस विषय में सबसे मौलिक बात यही है कि जैन विचारकों ने इस स्पष्ट तथ्य को जान लिया था कि पदार्थ स्थिति-अवस्था से गति-अवस्था में और गति-अवस्था से स्थिति-अवस्था में लाये जा सकते हैं।

---

१ A History of Indian Philosophy, Vol. I, pp. 197-198.

२ डच भाषा में लिखे गये विद्वत्तापूर्ण लेख में यह अभिप्राय व्यक्त किया गया है—
Het Begrip dharma in het Indische denken, in ! Tijdschrift voor philosophie, 20 (1958) p. 244.

३ A History of Indian Philosophy, Vol. I, pp. 198.

४ Encyclopaedia of Religion and Ethics, Vol. I, p. 468, (1914) यही अभिप्राय प्रो० वाल्टेर शूब्रिंग ने भी व्यक्त किया है। द्रष्टव्य, Die Lehre der Jainas, nach den alten Quellen dargestell, p. 12, Berlin—Leipzig, 1935.

इन गति-स्थिति तत्त्वों का नाम जैन दार्शनिकों ने धर्म-अधर्म दिया है, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं लगती, यद्यपि हम इस सत्य की उपेक्षा नहीं करना चाहते कि भारत में धर्म-अधर्म शब्दों का प्रयोग सामान्यतया इनसे भिन्न अर्थों में ही हुआ है। इस शब्द-प्रयोग की विस्तृत चर्चा में न जाकर केवल इतना ही कहना होगा कि धर्म-अधर्म शब्दों का व्यापक अर्थों में जो प्रयोग हुआ है, वह प्राचीन हिन्दू दर्शन की देन है। तात्पर्य यह हुआ कि धर्म-अधर्म शब्दों का व्यापक अर्थ में प्रयोग, जिसको सामान्यतया हम जानते हैं, जैन दर्शन के तात्त्विक प्रयोग से पूर्ववर्ती है, यहाँ तक कि जैनों के प्राचीनतम आगम से भी पूर्ववर्ती है। प्राचीनतम वैदिक और बौद्ध शास्त्रों से धर्म-अधर्म शब्दों के व्यापक अर्थ-प्रयोग के उदाहरण यदि यहां उद्धृत किये जायें, तो उनसे सहसा यह स्पष्ट हो सकता है कि इन दो शब्दों का चयन जैन दर्शनकारों ने अपने विशिष्ट तात्त्विक विचारों के प्रतिपादन के लिए क्यों किया।

दूसरी चर्चनीय बात यह है कि प्रथम अवलोकन में को भी व्यक्ति धर्म-अधर्म कोई गुण-वाचक शब्द मान सकता है और जैनों के इन शब्दों के द्रव्यवाचक प्रयोगों के विषय में आश्चर्य व्यक्त कर सकता है। फिर भी जैनों की द्रव्य-मीमांसा की साधारण रूपरेखा के अन्तर्गत इनका समावेश होने का कारण यही एकमात्र हल था। प्रथम तो यह बात है कि गुण सदा द्रव्याश्रित होते हैं; अब यदि धर्म-अधर्म भी द्रव्यों के गुण ही होते तो एक ही द्रव्य में दोनों विरोधी धर्मों का युगपत् आश्रय हो जाता। इसके अतिरिक्त स्वयं गुण होने के कारण, इनमें गुणों का अभाव हो जाता, जब कि, जैसा हम ऊपर देख चुके हैं, धर्म-अधर्म में अन्य द्रव्यों की तरह वास्तविक गुण होते हैं।

इस संक्षिप्त टिप्पणी की समाप्ति में एक बात की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है कि हम यहाँ यह चर्चा करना नहीं चाहते कि जैनों की धर्म-अधर्म की विचारधारा कोई जादुई तरल पदार्थ की प्राथमिक कल्पना पर आधारित है या नहीं। वस्तुतः तो वर्तमान समाजशास्त्र और मानव शास्त्र में 'प्राथमिक' शब्द का महत्त्व जो किसी युग में यूरोप में विशेष रूप में था, कम हो गया है। फिर भी इसके विषय में विशेष चर्चा करने का हमारा उद्देश्य नहीं है। हम तो इस तथ्य को आगे लाना चाहते हैं कि जैन दार्शनिकों ने ऐसे दो तत्त्वों के अस्तित्व को जाना, पहिचाना — चाहे हम इसे द्रव्य कहें या और कुछ—जो भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं; एक तो वह तत्त्व, जिसकी सहायता से स्थिर पदार्थ गति कर सकते हैं और दूसरा वह तत्त्व, जिसके माध्यम से गतिमान् पदार्थ स्थिर हो सकते हैं। तदुपरान्त यद्यपि मैं व्यक्तिगत रूप से प्राच्य आविष्कारों की पाश्चात्य आविष्कारों के साथ तुलना करने के पक्ष में अधिक विश्वास नहीं रखता हूँ, फिर भी जैन दर्शन की धर्म-अधर्म की विचारधारा का चिन्तन करते समय हम अवश्य आधुनिक पाश्चात्य भौतिक विज्ञान की ऊर्जा (energy) और जड़त्व (inertia) की विचारधारा को भूल नहीं सकते। यद्यपि दोनों विचारधाराओं में पूर्णतः सामंजस्य नहीं है, फिर भी यह लगता है कि 'ऊर्जा' और 'जड़त्व' के संदर्भ में जैन दर्शन के धर्म-अधर्म को समझा जाये, तो इनके विषय में अधिक स्पष्ट जानकारी प्राप्त हो सकती है।

मानव-संस्कृति का उद्गम और आदि विकास

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम'

क्रम-ह्रासवाद और क्रम-विकासवाद

इतिहास का सबसे महत्त्वपूर्ण और रोचक स्थल संस्कृति का उद्‌गम और आदि विकास ही हुआ करता है। जैन दर्शन के अनुसार सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नहीं होगा, अतः उसके रचना काल का प्रश्न भी नहीं उठता; वह शाश्वत है। क्रम-ह्रासवाद व क्रम-विकासवाद के आधार पर समय व्यतीत होता है, युग बनते हैं और उनसे इस विश्व में क्रमशः अवसर्पण और उत्सर्पण होता है। जैन धारणा के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग और कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक्र' के नाम से अभिहित किया गया है। कालचक्र के मुख्यतः दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी। दोनों ही विभाग फिर छः-छः भागों में विभक्त किये गए हैं। अवसर्पिणी के छः विभागों के नाम हैं—१. एकान्त सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषम-दुःषमा, ४. दुःषम-सुषमा, ५. दुःषमा और ६. दुःषम-दुःषमा। उत्सर्पिणी में इनका व्यतिक्रम होता है। इन छः विभागों को 'आरा' भी कहा जाता है। अवसर्पिणी में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन, संस्थान, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमशः अवनति होती है और उत्सर्पिणी में उन्नति। जब उन्नति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब अवनति आरम्भ होती है और जब अवनति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरम्भ से एक तरह की नई सृष्टि का आरम्भ होता है और समाप्ति होने पर समाप्ति।

अवसर्पण की आदि सभ्यता

प्रथम विभाग एकान्त सुषमा में मनुष्यों का आयुष्य तीन पल्य[1] का होता था और उनका शरीर तीन कोश-परिमाण। उनका समचतुरस्र संस्थान होता था और वज्रऋषभनाराच संहनन। वे अपक्रोध, निरभिमान, निश्छद्म व अवितृष्ण, विनीत, भद्र, भोज्य व भक्ष्य पदार्थों का संग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, औत्सुक्य-रहित और सर्वदा-धर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी और मिट्टी चीनी की तरह अतिशय मिष्ट; अतः नदियों में पानी भी मधुर व निर्मल ही होता था। पदार्थ अति स्निग्ध थे; अतः बुभुक्षा भी अल्प थी। चौथे दिन केवल तुअर की दाल के प्रमाण थोड़ा-सा भोजन करते थे। यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता की मृत्यु के छः मास पूर्व एक युग्म पैदा होता था और वही आगे चल कर पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाता था। विवाह, पूजन, प्रेतकार्य आदि नहीं थे; अतः व्यग्रता भी नहीं थी। पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति भी नहीं थी। मनुष्य केवल युगल रूप में व्यष्टि ही था। कर्म-युग था, पर कर्म-युग का प्रवर्तन नहीं हुआ था।

विकार अत्यल्प थे। जीवन की आवश्यकताएं बहुत सीमित थीं। खेती, सेवा व्यापार के आधार पर आजीविका चलाने की कोई आवश्यकता न थी। उनकी आवश्यकताएं दश प्रकार के कल्पवृक्षों से पूर्ण होती थीं।

१. मद्याङ्ग वृक्ष—शारीरिक पौष्टिक पदार्थ,

२. भृताङ्ग वृक्ष—भाजन,

---

१ असंख्य वर्षों का एक काल-मान

३. तूर्याङ्ग वृक्ष—विविध वाद्य,
४. दीपाङ्ग वृक्ष—दीपक का प्रकाश,
५. ज्योतिष्क वृक्ष—सूर्य या अग्नि का कार्य,
६. चित्राङ्ग वृक्ष—पुष्प,
७. चित्ररस वृक्ष—विविध भोजन,
८. मण्यङ्ग वृक्ष—आभूषण,
९. गेहकार वृक्ष—मकान की तरह आश्रय, और
१०. अनग्न वृक्ष—वस्त्र की पूर्ति।

इन दश प्रकार के वृक्षों द्वारा ही बुभुक्षा और प्यास की शान्ति, वस्त्र, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व अग्नि के अभाव की पूर्ति, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद के साधनों की उपलब्धि होती थी।

जन-संख्या बहुत कम थी और जीवन-यापन के साधन प्रचुर मात्रा में थे, अतः कलह, वैमनस्य या स्पर्धा नहीं होती थी। किसी के परस्पर स्वार्थ नहीं टकराते थे; अतः कुल, जाति या वर्ग भी नहीं बने। ग्राम या राज्य की तो कोई आवश्यकता भी न थी। सभी स्वेच्छाचारी या वनवासी थे। कोई शासक या शासित नहीं था और न कोई भी शोषक या शोषित। दास, प्रेष्य, कर्मचारी व भागीदार भी नहीं होते थे।

असत्याचरण, लूट-खसोट, लड़ना-झगड़ना व मार-काट नहीं थे। अब्रह्मचर्य सीमित था। नैसर्गिक आनन्द और शान्ति थी। धर्म और उसके प्रचारक भी न थे। जीवन सहज धार्मिक होता था। विश्वासघात, प्रतिशोध, पिशुनता या आक्षेप आदि न थे। हीनता और उच्चता के भावों का भी अभाव था। सफाई करने वाला वर्ग भी नहीं था।

हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट आदि सभी प्रकार के पशु होते थे, पर मनुष्य उन्हें वाहन के रूप में प्रयुक्त नहीं करता था। गाय, भैंस, बकरी आदि दुधारू पशु भी होते थे, पर न कभी उनका दूध निकाला जाता था और न कभी किसी ने दूध का स्वाद भी चखा था। गेहूँ, चावल आदि धान्य बिना बोये ही उगते थे, पर उन्हें उपयोग में नहीं लाया जाता था। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी किसी पर हमला नहीं करते थे। किसी प्रकार के शस्त्र भी नहीं थे। जीवन बहुत लम्बे होते थे। असामयिक मृत्यु नहीं होती थी। श्वास, ज्वर व महामारी आदि छोटी व बड़ी किसी प्रकार की भी व्याधि नहीं होती थी। इस प्रकार चार कोटाकोटि सागर[1] का एकान्त सुषमा नामक प्रथम विभाग समाप्त हुआ।

सभ्यता में परिवर्तन

अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमशः बीत गया। सभी बातें ह्रासोन्मुख होने लगीं। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेच्छ उपलब्धि क्रमशः कम होती गई। आयुष्य भी तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य व एक पल्य का हो गया। भोजन की आवश्यकता भी तीसरे व दूसरे दिन होने लगी। शरीर का परिमाण भी घटने लगा। कल्पवृक्षों ने भी आवश्यकताएं पूर्ण करना कुछ कम कर दिया।

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था। एक पल्य का केवल आठवाँ भाग अवशिष्ट था। यौगलिक व्यवस्था डोलने लगी। सरलता, निरभिमान व निश्छद्म के स्थान पर जीवन में कुटिलता, अहं व छद्म प्रविष्ट होने लगे। कल्पवृक्षों के द्वारा अभीप्सित मिलना अल्प हो गया। भूमि की सहज स्निग्धता और मधुरता में भी और अन्तर आ गया। आवश्यकताएं बढ़ने लगीं और उससे संग्रहवृत्ति भी। जब अनिवार्य आवश्यकताएं पूर्ण न हुई, तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-झपटी भी बढ़ी। सहज रूप में उगने वाले धान्य का भोजन के रूप में उपयोग होने लगा। क्षमा, शान्ति व सौहार्द आदि सहज गुण बदल गये। अपराधी मनोभावना के बीज अंकुरित होने लगे। असंख्य वर्षों के बाद ऐसी परिस्थिति हुई थी।

---

१ दस कोटाकोटि पल्य का एक सागर होता है।

समष्टि जीवन के आरम्भ के निमित्त

अव्यवस्था व अपराध न हों, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे। अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा। एक-दूसरे की निकटता बढ़ी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया। उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया।

मनुष्यों में अहंवृत्ति जागृत होने लगी थी; अतः उस 'कुल' का मुखिया कौन हो, यह प्रश्न भी सामने आया। पद-लिप्सा भड़कने लगी थी। परन्तु उसके लिए किसी प्रकार का विग्रह उचित नहीं समझा जाता था। किसी मध्यम मार्ग की गवेषणा की जा रही थी। एक दिन एक विशेष घटना घटी। एक युगल स्वेच्छया वन में भ्रमण कर रहा था। सामने से एक उज्ज्वल व बलिष्ठ हाथी आ रहा था। दोनों की आँखें मिलीं। हाथी के हृदय में युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुआ। उसे अपने गत भव की स्मृति हुई; जिससे उसने जाना, हम दोनों ही पश्चिम महाविदेह क्षेत्र में वणिक् पुत्र थे और दोनों में घनिष्ठ मैत्री थी। यह सरल था, अतः यहाँ मनुष्य रूप में उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त मायाचारी था, अतः इस पशु-योनि में आया हूँ। उसने अपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी, अपनी पीठ पर बैठा लिया। अन्य युगलों ने जब इस घटना को देखा तो उन्हें बहुत आश्चर्य हुआ। क्योंकि इस अवसर्पण काल में यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ़ हुआ था। हाथी बहुत विमल था, अतः उस युगल का नाम भी विमलवाहन कर दिया गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया। इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानते और वह सबको व्यवस्था देता।

दण्डनीति की आवश्यकता

अपराधी मनोवृत्ति बढ़ती हुई कुछ रुकी। किन्तु व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्त्रित न हुई। कुछ दण्ड-नीति की भी आवश्यकता अनुभव की गई। इससे पूर्व कोई दण्ड-व्यवस्था नहीं थी। उस स्थिति को निम्न श्लोक से अभि-व्यक्त किया जा सकता है :

नैव राज्यं, न राजासीत्, न दण्डो, न च दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा, रक्षन्तिस्म परस्परम्॥

विमलवाहन के समय यह स्थिति बदल गई। कल्पवृक्षों ने अभीप्सित प्रदान करना कुछ कम कर दिया; अतः युगलों का उन पर ममत्व होने लगा। एक युगल द्वारा अधिकृत कल्पवृक्ष का दूसरा युगल उपयोग करने लगा और इस प्रकार वे परस्पर लड़ने लगे। विमलवाहन ने सबको एकत्रित किया और अपने ज्ञान वैशिष्ट्य से झगड़ा टालने की दृष्टि से, कुटुम्बियों में जिस तरह सम्पत्ति बाँटी जाती है, कल्पवृक्षों को परस्पर बाँट दिया।

हाकार नीति

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही; पर इसका भी अतिक्रमण होने लगा। विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ किया। सर्वप्रथम हाकार नीति का प्रचलन हुआ। अपराधी को इतना ही कहा जाता—'हा! तुमने यह किया?' अपराधी पानी-पानी हो जाता। उस समय इतना कथन ही मृत्यु-दण्ड का काम करता था। कुछ दिनों तक यह व्यवस्था चलती रही। अपराध भी कम होते, व्यवस्था भी बनी रहती। किन्तु आवश्यकताओं की पूर्ति के अभाव में वैमनस्य बढ़ने लगा और प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगों के लिए सहज बन गई।

माकार नीति

विमलवाहन के बाद उसका ही पुत्र चक्षुष्मान् दूसरा कुलकर हुआ। वह भी अपने पिता की तरह ही व्यवस्थाएं देता रहा। कभी अपराध बढ़ते और कभी कम होते। 'हाकार' दण्ड से सब कुछ ठीक हो जाता। चक्षुष्मान् के बाद जब

उसका पुत्र यशस्वी तृतीय कुलकर बना, तब वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी बढ़ते ही गये। यशस्वी ने यह सोचकर कि एक औषधि से यदि रोगोपशान्ति न होती हो तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिए; 'माकार नीति' का प्रचलन किया। अपराधी से कहा जाता—और कभी ऐसा अपराध मत करना। अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दण्ड दिया जाता।

धिक्कार नीति

यशस्वी और चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दण्ड-व्यवस्थाओं से ही काम चलता रहा। पाँचवें कुलकर प्रसेनजित् को भी फिर इसमें परिवर्तन करना पड़ा। अपराधों की गुरुता बढ़ती जा रही थी। प्रारम्भ में जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि में आ चुका था। युगल कामार्त्त, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे; इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार और माकार के साथ 'धिक्कार नीति' का भी प्रचलन किया। अपराध-वृद्धि के साथ दण्ड-वृद्धि भी हुई। इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता—तुझे धिक्कार है, जो इस तरह के काम करता है। इस दण्ड-व्यवस्था से पुनः मर्यादाएं स्थापित हुई। युगल भीत रहते और अपराध करते हुए सकुचाते। छठे मरुदेव और मातवें नाभि कुलकर तक यह व्यवस्था चलती रही। नाभि कुलकर की पत्नी का नाम मरुदेवा था।

कुलकरों की संख्या

दिगम्बर परम्परा के अनुसार कुलकरों की संख्या चौदह है और प्रथम, षष्ठ व एकादशम कुलकर के समय क्रमशः एक-एक नीति का प्रवर्तन हुआ। कुछ एक परम्पराएं अन्तिम कुलकर नाभि के पुत्र ऋषभदेव को भी कुलकर मानती हैं। किन्तु वे कुलकर नहीं थे। क्योंकि उस समय कुलकर व्यवस्था से आगे समाज-व्यवस्था व राज्य-व्यवस्था का प्रवर्तन हो चुका था। व्यष्टि समष्टि में परिवर्तित होने लगी थी। उस समय नाना प्रकार के सामाजिक नियमन भी बन चुके थे और कुलकर व्यवस्था में जहाँ कल्पवृक्षों द्वारा आवश्यकताएं पूर्ण होती थीं, वहाँ ऋषभदेव के समय से ऐसा होना समाप्त हो गया था। क्रमशः असि, मषि, कृषि का विकास हो गया था और उसके आधार पर ग्राम-निर्माण, शासन-प्रणाली, वैवाहिक सम्बन्ध व उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रियों के कार्यों का विभाजन भी हो चुका था। इन विभिन्न आधारों से सहज निष्कर्ष निकलता है कि नाभि अन्तिम कुलकर थे और श्री ऋषभदेव मानवीय सभ्यता के आदि सूत्रधार। चौदह कुलकरों का जहाँ उल्लेख मिलता है, वहाँ प्रथम छः सर्वथा नये हैं। इनके नाम भी भिन्न हैं। सातवें से चौदहवें कुलकर तक के नाम दोनों परम्पराओं में एक ही हैं। केवल ग्यारहवें कुलकर चन्द्राभ को श्वेताम्बर परम्पराएं नहीं मानती हैं। इस तरह दिगम्बर परम्परा के ग्यारहवें कुलकर को छोड़ कर अन्तिम सात कुलकर, उनकी पत्नियाँ व उनके हाथी आदि वे ही हैं, जिन्हें श्वेताम्बर परम्परा में माना गया है। कुलकरों को 'मनु'[1] भी कहा जाता है।

कर्मयुग का आरम्भ

अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी। यह समय यौगलिक सभ्यता व मानवीय सभ्यता का सन्धिकाल था। आयु, संहनन, संस्थान व शरीर-परिमाण आदि घटने लगे थे। तृतीय विभाग सुषम-दुःषमा समाप्त होने में चौरासी हजार वर्ष अवशिष्ट थे। नाभि कुलकर के घर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। माता ने चौदह स्वप्न देखे। उनमें प्रथम स्वप्न वृषभ का था। शिशु के वक्षःस्थल पर वृषभ का लांछन भी था, अतः उनका नाम वृषभनाथ—ऋषभदेव रखा गया। आगे चलकर समाज-व्यवस्था व धर्म-व्यवस्था के आदि प्रवर्तक होने से वे आदिनाथ के नाम से भी विश्रुत हुए। सहजात कन्या का नाम सुमङ्गला रखा गया।

---

१ आदि पुराण, ३।१५

वंश-उत्पत्ति व उनके नामकरण

जब ऋषभदेव कुछ कम एक वर्ष के हुए, वंश का नामकरण किया गया। इन्द्र स्वयं इस कार्य के लिए आया। उसके हाथ में गन्ना था। उस समय ऋषभदेव नाभि राजा की गोद में बैठे थे। इन्द्र के अभिप्राय को जान कर उन्होंने उसे लेने के लिए हाथ बढ़ाया; अतः इक्षु + आकु (भक्षणार्थे) = इक्ष्वाकु वंश के नाम से वह प्रसिद्ध हुआ। पहला वंश इक्ष्वाकु बना, ऐसा इस आधार से कहा जा सकता है। इसी तरह एक-एक घटना विशेष को लेकर पृथक्-पृथक् समूहों के पृथक्-पृथक् वंश बनते गये।

अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का बाल्य-जीवन बहुत ही आनन्द से बीता। धीरे-धीरे बड़े होने लगे। एक अद्भुत घटना घटी। एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड़ वृक्ष के नीचे बैठा कर स्वयं कदलीवन में क्रीड़ा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बड़ा फल टूटा और किसलय के समान कोमल उस पुत्र पर पड़ा। उसकी अकाल ही मृत्यु हो गई। यह पहली अकाल मृत्यु थी। यौगलिक माता-पिता ने अपनी उस लाडली कन्या का लालन-पालन किया। वह बहुत सुरूपा थी। उसके प्रत्येक अवयव से लावण्य टपकता था। कुछ महीनों बाद उसके माता-पिता का भी देहान्त हो गया। वह अकेली रह गई। उसका नाम सुनन्दा था। वह एकाकिनी यूथभ्रष्ट हरिणी की तरह इधर-उधर भटकने लगी। कुछ युगलों ने कुलकर श्री नाभि के समक्ष यह सारा उदन्त कहा। श्री नाभि ने सुनन्दा को यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी होगी, अपने पास रख लिया।

विवाह-परम्परा

यौवन प्रवेश पर ऋषभदेव का सहजात सुमङ्गला और सुनन्दा के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। अपनी बहिन के अतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह-सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमङ्गला ने चवदह स्वप्न-पूर्वक भरत व ब्राह्मी को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुबलि व सुन्दरी को। इसके बाद क्रमशः सुमङ्गला के अट्ठानवें पुत्र और हुए।

राज्य-व्यवस्था का आरम्भ

प्राचीन मर्यादाएं विच्छिन्न होती जा रही थीं। तीनों ही दण्ड-व्यवस्थाओं की उपेक्षा होने लगी; अतः किसी भी प्रकार का नया विधान आवश्यक हो गया था। कल्पवृक्षों से प्रकृति सिद्ध जो ईप्सित मिलता था, वह अपर्याप्त होने लगा। तृष्णा बढ़ने लगी, आवेश उभरने लगा, अहं जागृत होने लगा और छद्म खुलकर सामने आने लगा। शान्ति भंग होने लगी। जिन युगलों ने कभी अपने जीवन में लड़ना, झगड़ना या वैमनस्य नहीं देखा था; उन्हें यह बहुत ही बुरा लगा। वे इन स्थितियों से घबरा गये। एक दिन वे ऋषभदेव के पास पहुँचे और सारी स्थिति उनसे निवेदित की। ऋषभदेव ने कहा—जो लोग मर्यादाओं का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। पहले भी ऐसा हुआ था और उसके प्रतिकार स्वरूप ही तीन प्रकार की दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रचलन हुआ था। अब अपराध और बढ़ गए हैं; अतः उनके शमन व मर्यादाओं की रक्षा के निमित्त अन्य दण्ड-व्यवस्था का भी आविर्भाव होना चाहिए। यह सब कुछ तो राजा ही कर सकता है।

युगलों ने पूछा—राजा कौन होता है और उसके कार्य क्या होते हैं ?

ऋषभदेव ने कहा—राजा के पास चार प्रकार की सेना होती है। उच्च सिंहासन पर बैठा कर सर्वप्रथम उसका अभिषेक किया जाता है। वह अन्याय का परिहार और न्याय का प्रवर्तन अपने बुद्धि-कौशल से करता है। शक्ति के सारे स्रोत उसमें केन्द्रित होते हैं; अतः वहाँ कोई मनमानी नहीं कर सकता।

हमारे में तो आप ही सर्वाधिक बुद्धिशाली व समर्थ हैं, अतः आप ही हमारे राजा बनें। आपको हमारी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, युगलों ने कहा।

यह माँग आप कुलकर श्री नाभि के समक्ष प्रस्तुत करें। वे आपको राजा देंगे; श्री ऋषभदेव ने युगलों से कहा।

युगल मिल-जुल कर नाभि के पास पहुँचे। उन्होंने आत्म-निवेदन किया। नाभि ने ऋषभदेव को उनका राजा घोषित किया। युगलों ने उन्हें सहर्ष स्वीकार किया और ऋषभदेव के सम्मुख आकर कहने लगे नाभि कुलकर ने आपको ही हमारा राजा बनाया है।

युगलों ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक अपूर्व आह्लाद के साथ किया। ऋषभदेव राजा बने और शेष जनता प्रजा। उन्होंने अपने पुत्र की तरह प्रजा का पालन आरम्भ किया। राजा बनने के बाद ऋषभनाथ पर व्यवस्था-संचालन का सारा भार आ गया। सारी परम्पराएं जर्जरित हो चुकी थीं। आवास, भूख, शीत, ताप आदि की समस्याएं सताने लगी थीं। अराजकता भी बढ़ रही थी। जनता अतिभद्र थी। वह किसी भी प्रकार का कर्म नहीं जानती थी। ऋषभदेव के सम्मुख यह एक जटिल पहेली थी, पर उन्होंने अपने ज्ञान-चातुर्य से सबका समाधान प्रस्तुत किया। आवास-समस्या के समाधान हेतु उस समय नगर व ग्राम बसाये गये। पहले-पहल अयोध्या का निर्माण हुआ और उसके अनन्तर अन्य नगरों व ग्रामों का। सज्जनों की सुरक्षा और दुर्जनों के परिहार के निमित्त उन्होंने अपने मंत्री-मण्डल का निर्माण किया। चोरी, लूट-खसोट व दूसरे के अधिकारों का अपहरण न हो, इसके लिए आरक्षक वर्ग की स्थापना की। राज्य-शक्ति को कोई चुनौती न दे, इसके लिए, गज, अश्व, रथ और पादातिक, चार प्रकार की सेना एकत्रित की और सेनापति की नियुक्ति भी। गो, बलीवर्द, भैंसे, खच्चर, ऊँट आदि पशुओं को भी उपयोगी समझ कर एकत्र किया गया।

खाद्य-समस्या

इस समय तक युगलों का भोजन कल्पवृक्षों के अभाव में कन्द, मूल, फल, पत्र, पुष्प आदि हो गया था। तृण की तरह स्वयं उगने वाले चावल, गेहूँ, चने, मूँग आदि भी उनके भोजन में सम्मिलित हो चुके थे। वनवास से गृहवास की ओर जब जनता का क्रम चला, कन्द, मूल, फल का भोजन अपर्याप्त व चावल, चने व गेहूँ का भोजन स्वास्थ्य के लिए अहित-कर अनुभव होने लगा। सहज उत्पन्न अन्न को पकाना भी वे नहीं जानते थे और न पकाने के साधन भी उनके पास थे। अपक्व अन्न-ग्रहण से अजीर्ण का रोग सताने लगा। युगल ऋषभदेव के पास अपनी व्यथा लेकर पहुँचे। उन्होंने कहा—अनाज को अब हाथ में मलकर, उसके छिलके निकाल डालो और फिर खाओ। यह व्याधि दूर हो जायेगी। लोगों ने वैसा ही किया। कुछ दिन बीते किन्तु कड़ा होने से वैसा अनाज भी दुष्पाच्य रहा और वही व्याधि पुनः सताने लगी। ऋषभदेव के पास फिर वही समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने समाधान दिया—हाथों से मलकर, पानी में भिगोकर व पत्तों के दोनों में रखकर खाओ। इससे तुम व्याधि से बच सकोगे। लोगों की ऋषभदेव पर पूरी श्रद्धा थी, अतः उन्होंने वैसा ही किया। कुछ दिन उस उपक्रम से काम चल गया, किन्तु स्थायी समाधान नहीं मिला। फिर ऋषभदेव के सम्मुख ही वे आये और अपनी चिन्ता सुनाने लगे। कुछ चिन्तन के बाद उन्होंने उत्तर दिया—पूर्व विधि से अन्न तैयार कर कुछ देर मुट्ठी में या बगल में इस तरह रखो कि उससे अन्न कुछ गर्म हो जाये। फिर खाओ। सभी ऐसा करने लगे। ऐसा करने पर भी उनका अजीर्ण नहीं मिटा और वे कमजोर होते गये।

अग्नि और पात्र-निर्माण का आरम्भ

कुछ दिन बीते। एक दिन एक नई घटना घटी। वृक्षों के परस्पर टकराने से अग्नि प्रकट होने लगी। उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। तृण, काष्ठ व अन्य वस्तुएँ जलने लगीं। ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा था। लोगों ने उसे रत्न-राशि समझा और उसे लेने के लिए हाथ फैलाये। उनके हाथ जलने लगे। सारे ही भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुँचे। ऋषभदेव बोले—अब स्निग्धरूक्ष काल आ गया है, अतः अग्नि प्रकट हुई है। एकान्त रूक्ष व एकान्त स्निग्ध समय में अग्नि पैदा नहीं होती। इतने दिन अत्यन्त स्निग्ध समय था, अतः अन्न की पाचन-क्रिया में भी दुविधा होती थी

और उससे अजीर्ण होता था। अब यह समस्या नहीं रहेगी। तुम लोग सब जाओ और पूर्व विधि से तैयार किये हुए अन्न को उसमें पका कर खाओ। उसके आस-पास जो भी घास-फूस व अन्य सामग्री है, उसे हटा दो।

सरलाशय मनुष्य दौड़े और उन्होंने पकाने के लिए अग्नि में अन्न रखा। किन्तु अन्न तो सारा ही उसमें जल कर भस्म हो गया। बेचारे दौड़े-दौड़े फिर वहीं आये और कहने लगे—स्वामिन्! वह तो बिल्कुल भूखा राक्षस है। हमने उसके समीप जितना भी अन्न रखा, कुक्षिभरी की तरह अकेला ही सब कुछ खा गया। हमें तो उसने कुछ भी वापस नहीं किया।

ऋषभदेव ने उत्तर दिया—इस तरह नहीं। पहले तुम पात्र बनाओ, फिर उसमें अन्न पकाओ और खाओ।

जनता ने पूछा—स्वामिन्! ये पात्र कैसे बनाये जायेंगे?

ऋषभदेव उस समय हाथी पर सवार थे। उन्होंने आर्द्र मृत्तिका-पिण्ड मंगवाया। हाथी के सर पर उसे रखा, हाथ से थपथपाया और उसका पात्र बना कर सबको दिखलाया तथा साथ में शिक्षा भी दी कि इस प्रकार तरह-तरह के पात्र बनाओ और उनमें अन्न पका कर खाओ। इस प्रकार पाक-विद्या के साथ-ही-साथ पहला शिल्प कुम्भकार का भी समाज में प्रचलित हुआ।

अध्ययन व कला-विकास

जीवन की आवश्यकताओं के भरने के निमित्त विविध शिल्प व अग्नि का आविष्कार हुआ। अपराध न बढ़ें; और जीवन सुखमय हो, इसके लिए राज्य-व्यवस्था का प्रचलन हुआ। जीवन और अधिक सरस व शिष्ट हो और व्यवहार अधिक सुगमता से चल सके, इसके लिए ऋषभदेव ने कला, लिपि व गणित का ज्ञान भी दिया। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र श्री भरत को बहत्तर कलाओं का व परमतत्त्व का ज्ञान दिया। बाहुबली को प्राणी-लक्षण ज्ञान, ब्राह्मी को अठारह लिपियों का ज्ञान व सुन्दरी को गणित का ज्ञान प्रदान किया। व्यवहार साधन के लिए मान (माप), उन्मान (तोला, मासा आदि वजन), अवमान (गज, फुट, इंच आदि) व प्रतिमान (छटाँक, सेर, मन आदि) बताये। मणि आदि पिरोने की कला भी सिखाई।

व्यष्टि से समष्टि की ओर

विसंवाद—कलह उत्पन्न होने पर न्याय-प्राप्ति के लिए राज्याध्यक्ष के समक्ष जाने का विचार दिया। वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए एक प्रकार के व्यवहार की स्थापना की। साम आदि नीति, बाहु आदि अनेक प्रकार की युद्ध-प्रक्रिया, धनुर्वेद, राजा की सेवा करने के प्रकार, चिकित्सा शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, रस्सी आदि से बाँधना, गोष्ठादिक का मिलना, ग्राम-नगर आदि का अधिग्रहण, किसी प्रयोजन विशेष से ग्रामवासियों का एकत्रित होना आदि बातें भी ऋषभदेव ने ही सिखाईं। यहाँ आकर व्यष्टि एकदम टूट गई और समष्टि काफी मात्रा में विकसित हो गई। कुलकर व्यवस्था में व्यष्टि अधिक थी और समष्टि का आरम्भ था। कुल, जातियाँ व समाज भी पृथक्-पृथक् बन गये। इस प्रणाली से जहाँ मनुष्य का जीवन कुछ सुखमय बना, बढ़ते हुए विकार रुके; वहाँ ममत्व, स्वार्थ व उनसे प्रतिस्पर्धा आदि विकार बढ़ने लगे। पहले मनुष्य के समक्ष सारा प्राणी-जगत् ही अपना बन्धु था, सबके प्रति मैत्री भाव थे, वहाँ ममत्व की यह कल्पना बल पकड़ने लगी—यह मेरा पिता है, भाई है, पुत्र है, माता है, पत्नी है। इस प्रकार के कौटुम्बिक ममत्व के अनन्तर लोकैषणा व धनैषणा भी वृद्धिंगत हुई।

दण्ड-व्यवस्थाओं का विकास

समाज की धुरी सुस्थिर रखने के लिए साम, दाम, दण्ड व भेद का खुल कर प्रयोग होने लगा। सुख व समृद्धि के स्थायित्व के लिए दण्ड-व्यवस्था का नाना रूपों में विकास होने लगा। औषधि और दण्ड, रोग और अपराध के निरोधक होते हैं; यह उस समय की मान्यता बन गई। कड़ी-से-कड़ी दण्ड-नीति के प्रादुर्भाव की अनुभूति होने लगी; क्योंकि हाकार,

माकार और धिक्कार नीतियाँ असफल व शिथिल हो चुकी थीं। क्रमशः १. परिभाष, २. मण्डल बन्ध, ३. चारक और ४. छविच्छेद आदि दण्ड भी चले।[1]

१. परिभाष—सीमित समय के लिए नजरबन्द करना। क्रोधपूर्ण शब्दों में अपराधी को 'यहाँ से मत जाओ' ऐसा आदेश देना।

२. मण्डल बन्ध—नजरबन्द करना। संकेतित क्षेत्र से बाहर न जाने का आदेश देना।

३. चारक—जेल में डालना।

४. छविच्छेद—हाथ, पैर आदि काटना।

ये चार दण्ड-नीतियाँ कब चलीं, इसमें थोड़ा-सा मतभेद है। कुछ की कल्पना है कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभनाथ के समय में चलीं और दो भरत के समय। कुछ विद्वानों की मान्यता है ये चारों नीतियाँ भरत के समय चलीं। अभयदेव सूरी के अनुसार भरत के समय में ही इन चारों नीतियों का प्रचलन हुआ। किन्तु ऐसा लगता है, उनके समय में भी यह मतभेद चलता था, अतः उन्होंने स्थानांग[2] वृत्ति में अपर सिद्धान्त के रूप में यह भी उल्लेख किया है कि चार प्रकारों में से प्रथम दो प्रकार ऋषभनाथ के समय में चले और शेष दो भरत के समय में, ऐसा भी माना जाता है। आवश्यक-निर्युक्तिकार[3] के अभिमतानुसार बन्ध (बेड़ी का प्रयोग) और घात (डण्डे का प्रयोग) ऋषभनाथ के समय प्रारम्भ हो गये थे और मृत्यु-दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ।

विभिन्न मतवादों के होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि वह समय बहुत नाजुक हो गया था। उस समय तक प्रचलित धिक्कार नीति अन्य दो नीतियों की तरह प्राचीन और सहज हो गई थीं और सन्तुलन बिगड़ रहा था, अपराध बढ़ने लगे थे, अतएव राजतंत्र का उदय हुआ था और उस स्थिति में किसी भी तरह की दण्ड-नीति का आरम्भ न हुआ हो, यह गले उतरता नहीं है। व्यवस्थित उल्लेख न मिलने से अनुमान के आधार पर ही किसी निर्णय पर पहुँचा जा सकता है। अपना अनुमान आवश्यकनिर्युक्तिकार की मान्यता के अधिक समीप पहुँचता है।

दण्ड-व्यवस्थाओं की कठोरताओं से स्थितियाँ सुलझीं और अन्य पद्धतियों से जीवन सुचारु रूप से चलने लगा।

विवाह सम्बन्ध में नई परम्परा

यौगलिक परम्परा में भाई-बहिन ही पति-पत्नी के रूप में परिवर्तित हो जाया करते थे। ऋषभनाथ का सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण होने से यह परम्परा टूटी। इस नई परम्परा को सुदृढ़ रूप देने के लिए उन्होंने भरत का विवाह बाहुबली की बहिन सुन्दरी के साथ और भरत की बहिन ब्राह्मी का विवाह बाहुबली के साथ विधिपूर्वक व ठाट-बाट से किया। इन विवाहों का अनुसरण कर जनता ने भिन्न गोत्र में उत्पन्न कन्या का उसके माता-पिता द्वारा दान होने पर ही ग्रहण करना, यह नई परम्परा चल पड़ी।[4]

---

१ परिभावणाउ पढमा, मंडलबंधम्मि होइ बीयातु।
चारग छविछेराति, भरहस्स चउव्विहा नीई॥ —स्थानांग वृत्ति, ७।३।५५७

२ आद्यद्वयमृषभकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये—स्थानांग वृत्ति, ७।३।५५७

३ गाथा २१७, २१८

४ युगिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभुः।
सोदर्यां बाहुबलिनः सुन्दरीं गुणसुन्दरीम्॥
भरतस्यचसोदर्यां ददौ ब्राह्मीं जगत्प्रभुः।
भूपाय बाहुबलिने तदादिजनताप्यथ॥
भिन्नगोत्रादिकां कन्यां दत्तां पित्रादिभिर्मुदा।
विधिनोपायत प्रायः प्रावर्तत तथा ततः॥ —श्रीकाललोकप्रकाश, सर्ग ३२ श्लोक ४७-४९

जैन पुराण-कथा : मनोविज्ञान के आलोक में

श्री वीरेन्द्रकुमार जैन
सम्पादक—भारती

पुराण-कथा का मनोवैज्ञानिक उद्गम

मनुष्य कभी अपने वास्तविक रूप से तुष्ट नहीं होता है। उसे अनादिकाल से उच्चतर और सम्पूर्णतर जीवन की खोज रही है। इस खोज ने इन्द्रियगम्य वस्तु-जगत् की सीमा लाँघी है और मनुष्य ने लोकोत्तर और दिव्य सपने भी देखे हैं। सपने ही नहीं देखे, अपने उन सपनों को अपने रक्तांशों में जीवित कर, अपने ही माँस में से उसने प्रकाश की मूर्तियों को जीवन्त भी किया है। जब-जब मनुष्य के स्वप्न के उस 'परम सुन्दर' ने रूप ग्रहण किया, वह अपने सर्वांगीण ऐश्वर्य की अनेक लीलाओं को मानवीय मन पर बहुत गहरा अंकित कर गया। उस परम पुरुष या परम नारी का जो स्थूल व्यक्तीकरण होता है, वह अपने-आप में ही समाप्त नहीं है। उस लीला में एक अधिक गहरा और सूक्ष्म सत्य होता है, जो अरूप होता है। चर्म-चक्षुओं की पकड़ में वह नहीं आता, पर बोध के द्वारा वह उस काल के मनुष्यों की अनुभूति में रम जाता है। यह अनुभूति मानवी रक्त में समाविष्ट होकर पीढ़ी-दरपीढ़ी संक्रमित होती रहती है। विकास के नव-नवीन उन्मेषों और सपनों से मनुष्य उस अनुभूति को सघनतर और विपुलतर बनाता जाता है, नाना काव्यों और कला-कृतियों में उसे संजोता है और अन्ततः वही अनुभूति श्रेष्ठतर और उच्चतर मानवों के रूप में आविर्भूत होकर हमें आगामी देवत्व का आभास दे जाती है। हमारे वैज्ञानिक युग के 'सुपरमैन' की कल्पना के मूल में भी उत्तरोत्तर विकास की यही अजस्र चेतना काम कर रही है।

मनुष्य के भीतर अपार ऐश्वर्य की सम्भावनाएं दिन और रात हिलोरें ले रही हैं। उन्हें वह एक वास्तविक और सीमित घटना के वर्णन के रूप में नहीं आँक सकता, क्योंकि वह देश-काल की बाधा से मुक्त असीम भूमा का परिण-मन है। इसी से उस अनन्त सौन्दर्य को व्यक्त होने के लिए कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। सर्वकाल और सर्वदेश में उसी एक प्राण-पुरुष की सत्ता व्याप्त है। इसी से मनुष्य का मन सब जगह समान रूप से काम करता है और यही कारण है कि जहाँ भी और जब भी किसी लोकोत्तर, दिव्य सत्ता ने जन्म लिया है, तो उसने सर्वत्र मानवी मन पर अपनी असा-धारणता की प्रायः एक-सी छाप डाली है। इस तरह मनुष्य के स्वप्न में विगत, आगत और अनागत आदर्श पुरुषों की कथाओं को एक लाक्षणिक रूप-सा मिल गया है।

कल्प-पुरुष के इसी लाक्षणिक रूप को भिन्न-भिन्न देश-काल के लोगों ने और उनके कवि-मनीषियों ने नाना रंगों के प्रकाश-सूत्रों में बाँधा है। स्वप्न-पुरुष और स्वप्न-नारी की इस कल्पना-ग्राह्य कथा को ही हम 'पुराण-कथा' कह सकते हैं। निरे वास्तव के तथ्य से ऊपर उठ कर कथा जब भी भाव-कल्पना के दिव्य लोक में चली गयी है, तभी वह पुराण-कथा बन गयी है। अपने मन की सारी उद्दीप्त आशा, कांक्षा और कामना से अभिषिक्त कर मनुष्य की अनेक पीढ़ियाँ उसी कल्प-पुरुष की कथा के नव-नवीन और महत्तर रूपों को दुहराती गयी हैं। मनुष्य की कथा जब भी प्रकट सामान्य के धरातल से उठ कर सम्भाव्य असामान्य के स्वप्न-जगत् में चली गयी है, तभी वह पुराण-कथा हो गयी है। इसी से प्रायः ये कथाएं रूपक, प्रतीक और दृष्टांत के रूप में ही पायी जाती हैं। वे मात्र वास्तविक घटना की कथा नहीं कहतीं, वे तो बिना कहे ही जीवन के कई निगूढ़ सत्यों पर अनेक रंगों का प्रकाश डाल देती हैं।

जन-पुराण में शलाका पुरुष

जैन-पुराणों में भी इस कल्प-पुरुष यानी मनुष्य के परम काम्य आदर्श की कथा को ही लाक्षणिक रूप प्राप्त हुआ है। जैनों के यहाँ इन परम पुरुषों को 'शलाका पुरुष' कहा गया है। उनके स्वरूप, सामर्थ्य, लीला और चरम प्राप्ति की भिन्न-भिन्न कोटियों के अनुसार उनकी पृथक्-पृथक् लाक्षणिक मर्यादाएं कायम कर दी गयी हैं। प्रत्येक उत्सर्पण व अवसर्पण कालचक्रार्ध में ६३ शलाका पुरुष होते हैं जिनमें २४ तीर्थंकर, १२ चक्रवर्ती, ६ बलदेव, ६ वसुदेव और ६ प्रतिवासुदेव होते हैं।

तीर्थंकर

जैन कवि-मनीषियों ने अपने आदर्श की चूड़ा पर तीर्थंकर की प्रतिष्ठा की है। तीर्थंकर वह व्यक्तिमत्ता होती है, जिसमें सारे लौकिक और अलौकिक ऐश्वर्य एक साथ प्रकाशित होते हैं। दैहिक दृष्टि से वे असामान्य बल, वीर्य, शौर्य, विक्रम-प्रताप और सौन्दर्य का स्वामी माने जाते हैं। उनकी अंग रचना का बड़ा ही विशद और सार्थक वर्णन शास्त्रों में मिलता है। आदि से अन्त तक बाल-रूप का सलौना और निर्दोष मार्दव उनके मुख पर और काया में विराजता रहता है। आयुष्य के प्रभाव से वे अविक्षत रहते हैं और स्वयं काल भी उनकी देह का घात नहीं कर सकता। इसीसे उन्हें 'चरम शरीरी' कहा गया है। वे लोक के अपराजित आदित्य-पुरुष यानी पूषन होते हैं, जिनमें सारे तत्त्वों के सारभूत तेज, रस और शक्ति समाये रहते हैं। किसी पूर्व जन्म में निखिल चराचर के कल्याण की कामना करने से वे तीर्थंकर-नाम कर्म-प्रकृति बाँधते हैं। इसी से जब वे तीर्थंकर होकर पैदा होते हैं, तो लोक में सर्वांगीण अभ्युदय प्रकट होता है। प्राणिमात्र के प्राण एक अव्याहत सुख से व्याप्त हो जाते हैं। तत्कालीन धरती पर वही लोक और परलोक की सारी सिद्धियों का प्रकाशक, विधाता और नेता होते हैं।

आदि से अन्त तक तीर्थंकर की जीवन-लीला बड़ी काव्यमय और रोचक होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि मानव-कवि की कल्पना का सारभूत मधु और तेजस् उस रूपक में साकार हुआ है। वह मानवों और देवों की महत्त्वाकांक्षा का चरम रूप है। तीर्थंकर के गर्भ में आने के छः महीने पहले से पंच आश्चर्यों की वृष्टि होने लगती है। आस-पास के प्रदेशों में निरन्तर रत्न-वर्षा होती है, नन्दन के कल्प-वृक्षों से फूल बरसते हैं, गन्धोदक की वृष्टि होती है और आकाश में दुन्दुभियों के घोष के साथ देव जय-जयकार करते हैं। पृथ्वी अपने भीतर के समूचे रस से संसार को नव-नवीन सर्जनों से भर देती है। तीर्थंकर जिस रात गर्भ में आते हैं, उस रात उनकी माता ऐरावत हाथी, वृषभ, सिंह आदि के चौदह सपने देखती है, जो उस आगामी परम-पुरुष की अनेक विभूतियों के प्रतीक होते हैं। तीर्थंकर के जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है, देवलोक और मर्त्यलोक में अनेक आश्चर्य घटित होते हैं। सभी स्वर्गों के इन्द्र अपनी देवसभाओं-सहित अन्तरिक्ष को दिव्य संगीत से गुंजित करते हुए, लोक में प्रभु के जन्म का उत्सव मनाने आते हैं। बड़े समारोह से शिशु भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर, उन्हें पांडुक शिला पर विराजमान किया जाता है, फिर देवांगनाओं द्वारा लाये हुए क्षीर-सागर के जल के एक हजार आठ कलशों से उनका अभिषेक किया जाता है। कई दिनों तक इन्द्राणियाँ और देवियाँ प्रभु की माता की सेवा में नियुक्त रहती हैं। इसके उपरान्त भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों के प्रकरणों में उनके कुमार-काल और राज्यकाल की विशिष्ट कथाएं वर्णित होती हैं।

दीर्घ समय तक विपुल सुख-भोग के साथ राज्य करते-करते किसी एक दिन अचानक सांसारिक क्षणभंगुरता पर उनकी दृष्टि अटक जाती है। सारा ऐहिक सुख-भोग उनकी दृष्टि में विनाशी और हेय जान पड़ता है। देह, प्रासाद और संसार के बन्धन उन्हें असह्य हो उठते हैं। सब कुछ त्याग कर वे चल पड़ने को उद्यत हो जाते हैं, तभी लोकान्तिक देव आकर उनकी इस मांगलिक चित्त-वेदना का अभिनन्दन कर, उनके वैराग्य का संकीर्तन करते हैं। जब वे नरसिंह महाभिनिष्क्रमण के लिए उद्यत होते हैं, उस समय संसार की सारी विभूतियाँ हाहाकार कर उठती हैं कि हाय, उनका एकमेव समर्थ भोक्ता भी उन्हें त्याग कर चले जा रहे है और उन्हें बाँध कर पकड़ रखने की शक्ति उनमें नहीं है।

इन्द्र आकर बड़े समारोह से प्रभु का दीक्षा-कल्याणक उत्सव करता है। वे मानव-पुत्र निर्वसन होकर प्रकृति

की विजय-यात्रा पर निकल पड़ते हैं। महाविकट कान्तारों और पर्वत-प्रदेशों में वे दीर्घकाल तक मौन समाधि में लीन होकर रहते हैं। अनायास एक दिन कैवल्य के प्रकाश से उनकी आत्मा आरपार निर्मल हो उठती है। तीनों काल और तीनों लोक के सारे परिणमन उनके चेतन में हस्तामलकवत् झलक उठते हैं। तब निर्जन की कन्दरा को त्याग कर लोक-पुरुष अपना पाया हुआ प्रकाश निखिल चराचर के प्राणों तक पहुँचाने के लिए लोक में लौट आते हैं। इन्द्र और देवगण उनके आस-पास विशाल समवशरण की रचना करते हैं। तीर्थंकर की यह धर्मसभा देश-देशान्तरों में विहार करती है। आगे-आगे धर्मचक्र चलता है, दिशाएं नव युगोदय और नवीन परिणमन के प्रकाश से भर जाती हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुरूप लोक में अनेक कल्याणकारी परिवर्तन होते हैं। प्रभु की अजस्र वाणी से प्राणीमात्र के परम कल्याण का उपदेश निरन्तर बहता रहता है। लोक में उस समय अपूर्व मंगल और आनन्द व्याप्त हो जाता है। जीवों के वैर, मात्सर्य, दुःख-विषाद मानो एकबारगी लुप्त ही हो जाते हैं। इस तरह अनेक वर्ष दूर-दूर देशों में विहार करके धर्मचक्र-प्रवर्तन करते हुए अनायास एक दिन किसी ज्योतिर्मय क्षण में प्रभु का परिनिर्वाण हो जाता है व सदा के लिए वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त अवस्था को प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी भव्य और दिव्य है तीर्थंकर की जीवन-कथा।

चक्रवर्ती

लोक का दूसरा प्रतापी शलाका पुरुष होता है चक्रवर्ती। चक्रवर्तित्व के साथ ही उसके महाप्रासाद में उसकी नियोगिनी चौदह ऋद्धियों और सिद्धियों के देने वाले चौदह रत्न प्रकट होते हैं। इन्हीं रत्नों में से चक्रवर्ती की सारी आधिभौतिक और दैवी विभूतियाँ प्रकट होती हैं। वह पूर्व निदान से ही षट् खंड पृथ्वी के विजेता होने का नियोग लेकर जन्म लेता है। पृथ्वी के नाना खंडों में जहाँ पीड़क असुरों और शोषक राजाओं के अत्याचारों से लोक-जन पीड़ित होते हैं, उन सब का निर्दलन कर, धरती पर परम सुख, शान्ति, कल्याण और समता का धर्म-शासन स्थापित करने के लिए ही चक्रवर्ती अवतरित होता है। जब चक्री दिग्विजय के लिए जाता है, तो उसका चक्र-रत्न आगे-आगे चलता हुआ उसका पन्थ-सन्धान करता है। यह चक्र एकबारगी ही धर्म और उसकी स्थापक कल्याणी शक्ति का प्रतीक होता है। जब ससागरा पृथ्वी के छः खंडों को जीत कर चक्री अपनी विजय के शिखर पर गर्वोन्नत खड़ा होता है, तभी वृषभाचल पर्वत पर अपनी विजय का मुद्रालेख अंकित करने जाता है। पर वहाँ जाकर देखता है कि विजय के उस शिलास्तम्भ पर उससे पहले ऐसे असंख्य चक्री अपनी विजय की हस्तलिपि आँक गये हैं और उस शिला पर नाम लिखने की जगह नहीं है। उसी क्षण चक्री का विजयाभिमान चूर्ण हो जाता है। वह अकिंचन भाव से किसी पिछले चक्री का नाम मिटा, अपने हस्ताक्षर कर देता है और समभाव लेकर अपने राज-नगर को लौट जाता है। तब अपनी सारी शक्ति और विभूति प्रजा के कल्याण के लिए उत्सर्ग कर देता है और यों अप्रमत्त भाव से वह धर्म-शासन का संचालन करता है। इस कथा में बड़े ही लाक्षणिक ढंग से भौतिक सत्ता के अन्तिम बिन्दु को, परम कल्याण के छोर में ग्रथित कर दिया गया है। आदि तीर्थंकर वृषभदेव के पुत्र भरत ऐसे ही चक्रवर्ती थे, जिनके नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा।

इस तरह वासुदेव, प्रतिवासुदेव और बलदेव के रूप में परमता की कोटियाँ होती हैं और उनके विविध विवरण उपलब्ध होते हैं।

मानव-सृष्टि का ऐश्वर्य-कोष

इन शलाका पुरुषों के दिग्विजय, देशाटन, समुद्र-यात्रा, साहसिक व्यवसाय और अन्ततः ब्रह्म-साधना की बड़ी ही सार्थक और लाक्षणिक कथाओं से जैन पुराण ओत-प्रोत हैं। वस्तु और घटना मात्र को देखने वाली स्थूल ऐतिहासिक दृष्टि को इन कथाओं में शायद ही कुछ मिल सके। उनके मर्म को समझने के लिए पंडित जवाहरलाल जैसा मानव इतिहास का पारगामी कवि द्रष्टा चाहिए। पंडितजी ने अपनी 'Discovery of India' में कहा है "पुराण, दंतकथा और कल्पकथा को वास्तविक घटना के रूप में न देख कर यदि हम उन्हें गहरे सत्यों के वाहक रूपकों के रूप में देखें, तो इनमें अनादिकालीन मानव-सृष्टि का अनन्त ऐश्वर्य-कोष हमें प्राप्त हो सकेगा।"

जैन धर्म का मर्म : समत्व की साधना

श्री अगरचन्द नाहटा

श्रमण धर्म

जैन धर्म का मूल नाम श्रमण धर्म है। जैन आगमों में श्रमण को निर्ग्रन्थ और श्रावकों को श्रमणोपासक (**समणोपासक**) कहा गया है। पक्खी सूत्र में अनेक बार पंच महाव्रत आदि को श्रमण धर्म (**समण धम्म**) शब्दों से सम्बोधित किया गया है। वैसे जैन धर्म की व्युत्पत्ति 'जिन' के अनुयायी के रूप में होती है और जिन का अर्थ होता है राग-द्वेष को जीतने वाला। उन जिन-प्रणीत तत्त्वों पर श्रद्धा रखने वाला और उनको जीवन में स्थान देने वाला व्यक्ति जैनी या जैन धर्मी कहा जाता है। 'जिन' एवं 'अर्हत्' ये दोनों शब्द बौद्ध ग्रन्थों में भी बुद्ध के विशेषण रूप में प्रयुक्त मिलते हैं। दार्शनिक युग के जैन सम्प्रदाय में 'जिन' शब्द तीर्थंकरों के लिए रूढ़ होने से, उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म 'जैन' के नाम से प्रसिद्ध हो गया। जैन आगमों में से ज्ञाता सूत्र में और शक्रस्तव में **नमो जिणाणं ध्रुवं दाउं जिणवराणं** आदि के रूप में तीर्थंकरों के लिए 'जिन' शब्द का प्रयोग मिलता है और जैनों के परम मान्य मांगलिक नमस्कार सूत्र में **नमो अरिहंताणं** आदि पदों द्वारा 'अर्हत्' विशेषण का प्रयोग प्राचीन काल से तीर्थंकरों के लिए प्रयुक्त होता आया है, यह सिद्ध ही है; पर तब यह 'जिन' या 'अर्हत्' शब्द केवल जैनों में ही प्रचलित न होकर बौद्धों में भी प्रचलित था। फिर भी 'जैन धर्म' यह शब्द पीछे से ही प्रसिद्ध हुआ प्रतीत होता है। प्राचीन नाम 'श्रमण धर्म' ही होगा। पीछे के कुछ आचार्यों के नाम के साथ भी 'क्षमा श्रमण' विशेषण संलग्न है, जैसे जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण, देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण आदि। क्षमा श्रमण में श्रमण शब्द प्रधान है और वन्दन के सूत्र में मुनियों व आचार्यों के लिए **क्षमा श्रमण** सम्बोधन उपलब्ध होता है। कुछ भी हो जैन धर्म का मर्म 'श्रमण' शब्द में ही दिखाई देता है।

समण (श्रमण) शब्द के भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं और विभिन्न ग्रन्थों में यह विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त भी हुआ है। 'श्रमण' का एक अर्थ है—**समण** = उपशमन अर्थात् दबाना, शान्त करना। श्रमण का दूसरा अर्थ होता है—सर्वत्र सम—समान प्रवृत्ति वाला मुनि या साधु। कल्प सूत्र आदि में जगह-जगह पर भगवान् महावीर का सम्बोधन **समणं भगवं महावीरे** आदि के रूप में मिलता है। वास्तव में उसके मूल में समदृष्टि, समता का उपासक, समत्व का प्रतीक, प्राणीमात्र को आत्मवत्—अपने समान समझने वाला, सब के साथ समानरूप से हित और सुख का व्यवहार करने वाला समता या समत्वरूप जीवन-धर्म वाला व्यक्ति का सम्बोधन 'समण' शब्द हो, यह अधिक उपयुक्त लगता है। ऐसा समत्व का उपासक व्यक्ति शान्त होगा ही और कषायों के उपशमन के विना कोई भी व्यक्ति समत्व या समता पा नहीं सकता। अतः दोनों अर्थ एक ही भाव के दो प्रकार की व्याख्या-रूप हैं। मैंने 'समण' शब्द को जैन धर्म का मूल माना है, उसका प्रधान कारण यही है कि श्रमण भगवान् महावीर के सम्बोधन के रूप में **समण** शब्द मिलता है एवं उनके निर्दिष्ट धर्म का पालन करने वाले साधुओं के लिए भी वही **समण निग्गथ** विशेषण प्रयुक्त हुआ है। साधु सर्व-विरति और गृहस्थ देश-विरति है, किन्तु दोनों ही श्रमण धर्म के ही उपासक हैं। वे दोनों ही क्षमा आदि दश धर्मों के पालन करने वाले हैं। क्षमा आदि दश धर्मों की संज्ञा **समग धम्म** है। स्थानांग सूत्र व समवायांग सूत्र में **दश विहे समणे धम्मे पन्नते** इस प्रारम्भिक वाक्य के साथ उन दश धर्मों का प्रतिपादन किया गया है। इससे भी **समण धम्म** ही जैन धर्म का मूल नाम व समभाव ही जैन धर्म का मर्म सिद्ध होता है।

समत्व की साधना

श्रमण शब्द का अर्थ समभाव व समता वाला ग्रहण करने का एक दूसरा कारण भी है कि तीर्थंकर जब सर्व सम्बन्ध-परित्याग करके चारित्र-धर्म स्वीकार करते हैं, तब उनका पहला प्रतिज्ञा वाक्य होता है **करेमि सामाइयं सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि** अर्थात् मैं सामायिक करता हूँ, सर्व सावद्य योगों का प्रत्याख्यान करता हूँ। आगे के वाक्यों में उसकी व्याख्या रूप में कहा है कि यह प्रत्याख्यान तीन करण व तीन योग से अर्थात् मन, वचन, काया; करने, कराने व अनु-मोदन—इन नव भंगों से करता हूँ। अपनी आत्मा को पाप कार्यों से छुड़ाता हूँ।[1] इसमें मूल प्रतिज्ञा सामायिक करने की और सावद्य योग के प्रत्याख्यान की है। इसमें पहला वाक्य विधेयक और दूसरा निषेधक है। विधि और निषेध, दोनों का सम्बन्ध एक दूसरे के पूरक रूप में बहुत ही घनिष्ठ रहता है। जो अच्छा कार्य करता है, उसे बुरे को छोड़ना होता है; जो बुरे को करता है, उसे अच्छे को छोड़ना होता है। सावद्य योग समभाव में बाधक है, क्योंकि सावद्य योग जीव में विषमता लाते हैं, उसे अशान्त बनाते हैं। अतः 'सामयिक करता हूँ।' इस विधेयक वाक्य के साथ सावद्य योगों का त्याग आवश्यक हो जाता है। इसलिए इस निषेधात्मक वाक्य का उच्चारण करना आवश्यक है एवं वह पूर्व प्रतिज्ञा का पूरक है। वास्तव में ये दोनों ही शब्द एक ही भाव को व्यक्त करने वाले हैं। प्रथम विधेयक वाक्य 'सामयिक करता हूँ' यही मूल है, विधेय है; दूसरा निषेधक वाक्य उसका पूरक है।

चारित्र

पाँच प्रकार के चारित्र में पहला चारित्र सामायिक चारित्र है। पाँच महाव्रत की प्रतिज्ञाएं तो उसके बाद दूसरे **छेदोपस्थापनीय** चारित्र ग्रहण करते समय ली जाती हैं, जिसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में वर्तमान में 'बड़ी दीक्षा' कहते हैं। साधु और श्रावक के लिए अर्थात् श्रमण या श्रमणोपासक के लिए जो नित्य आवश्यक कर्तव्य बतलाये हैं, उनमें पहला आवश्यक कर्तव्य **सामायिक** का है। सामायिक का अर्थ है—समभाव का लाभ, समत्व की उपासना, समता की साधना। तीर्थंकरों का जीवन समत्व का प्रतीक है। उनके न कोई शत्रु है, न कोई मित्र; न कोई अच्छा है, न कोई बुरा। समभाव राग और द्वेष के अभाव का सूचक है। राग और द्वेष दोनों विषमता के प्रतीक हैं। कर्म-बन्धन के ये ही दो प्रधान व मूल कारण हैं और इनका नाश ही 'मुक्ति' है। द्वेष, राग भाव के कारण ही पैदा होता है, इसलिए राग को प्रधानता देकर तीर्थंकरों व केवलज्ञानियों का विशेषण 'वीतराग' दिया गया है अर्थात् जिनका रागभाव चला गया है। परम समत्व की वृत्ति की साधना ही जिनके जीवन का लक्ष्य प्रतीत होता है, ऐसे वीतरागी राग-द्वेष के विजेता ही जिन कहलाते हैं। उनके उपासक ही जैन, उनके द्वारा प्रणीत आचार धर्म ही जैन धर्म और उनकी तात्त्विक विचारधारा ही जैन दर्शन है।

तीर्थंकर स्वयं पंच महाव्रत आदि व्रत नहीं लेते। उनके व्रतों का समावेश सामायिक सूत्र में ही हो जाता है। वास्तव में पाँच महाव्रत आदि सभी व्रत समभाव की साधना के सोपान हैं। जब समत्व की परिपूर्ण साधना कर तीर्थंकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, तो उनकी वाणी का घोष यही होता है कि धर्म का द्वार सबके लिए खुला है। जाति-पांति के भेद-भाव और उच्च-नीच के भेद-भाव परिहार्य हैं। उनका समवसरण समस्त मानवों के लिए ही नहीं, अपितु पशु-पक्षियों के लिए भी खुला रहता है। जो भी आये—राजा हो या रंक, पुरुष हो या स्त्री, ब्राह्मण हो या शूद्र, सबके लिए उनकी वाणी समान रूप से प्रचारित होता है। प्रत्येक जीव में वे सिद्धत्व या परमात्मा का दर्शन करते हैं। उनके सिद्धान्त इतने ऊँचे हैं कि तीर्थंकरत्व का ठेका वे स्वयं नहीं लेते। कोई एक विशिष्ट व्यक्ति ही परमात्मा है, ऐसा वे नहीं मानते। वे कहते हैं सत्तागत स्वभाव या स्वरूप की दृष्टि से सभी जीव सिद्ध के समान हैं। सिद्ध हो जाने पर तीर्थंकर या साधारण केवली में कोई अन्तर नहीं रहता। अतः भेद व अलगाव से जो विषमता का उदय होता है—दर्शन होता है, वह वास्तविक नहीं, आरोपित व कल्पित है। सभी जीवों को समान रूप से परमात्मा का पद प्राप्त हो सकता है।

---

१ अप्पाणं वोसिरामि।

पाँच महाव्रत

तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपने युग में देखा कि व्यक्ति-व्यक्ति में बड़ा भेद हो गया है। ब्राह्मण और शूद्र, स्त्री, पुरुष व पशु आदि जीवों में इतनी ऊँच-नीच की भेद-भावना रूढ़ हो गई है कि ब्राह्मण के वस्त्र के स्पर्श-मात्र से शूद्र मारने का पात्र हो जाता है। स्त्रियों को पुरुष निर्जीव की भाँति समझ व्यवहार करते हैं। दास और दासियों को तो मुँह ऊँचा करने का भी अधिकार नहीं है। पशु तो मनुष्य के भक्षण व बलि के लिए ही जन्मे हैं। इस तरह की विषमता को व्याप्त देखकर उन्होंने अहिंसा का अपूर्व सन्देश प्रचारित किया। इन विषमताओं को नष्ट करने का अमोघ उपाय उन्होंने अहिंसा में ही देखा। यद्यपि अहिंसा एक निषेधात्मक शब्द है, पर उस समय चारों ओर जो हिंसा का ताण्डव नृत्य हो रहा था, उसका निवारण करने के लिए इस निषेधात्मक वाक्य—अहिंसा की ही आवश्यकता थी। उसके साथ उसका विधेयक रूप भी उन्होंने रखा था, वह था—सब जीवों के साथ मैत्री-सम्बन्ध।[1] सबको अपने ही समान समझने और उनसे अच्छा व्यवहार करने का सन्देश अहिंसा के अन्तर्हित था ही। अनुकम्पा, दया दान आदि अहिंसा के ही पर्याय हैं।

सब व्रतों में अहिंसा को पहला स्थान दिया गया है—इसका यही कारण है कि वह समत्व की पहली और सीधी सीढ़ी है। भगवान् महावीर ने कहा—कोई जीव दुःखी होना नहीं चाहता, मरना नहीं चाहता। तुम्हारे समान सभी को जीवन प्रिय है, सुख प्रिय है; अर्थात् समस्त जीवों में चैतन्य की एक-सी व्याप्ति है। इस एकता और समता को पहचानो, आत्मौपम्य भावना से सबके साथ मैत्री का सम्बन्ध जोड़ो; आत्मीयता बढ़ाओ। तुम जिन जीवों को अपना आत्मीय कहते एवं मानते हो, उन्हें मारते नहीं हो, सताते नहीं हो, तो उस आत्मीयता का विस्तार प्राणीमात्र तक व्याप्त कर दो। फिर कोई वध्य और दुःख देने योग्य रहेगा ही नहीं। अहिंसा की साधना करने वाला साधक राग-द्वेष को कर्मों का बीज या मूल जानकर समभाव रखता है। जितने-जितने अंशों में राग व द्वेष की कमी होगी या उनका नाश होगा, उतने-उतने अंशों में समता का विकास व प्रकाश होगा, यह निःसंशय है। अहिंसा के द्वारा हम समस्त प्राणियों में समबुद्धि प्रचारित करते हैं। इससे स्पष्ट है कि दूसरों को तुच्छ, हीन, नीच व घृणा-योग्य समझना हिंसा है, क्योंकि इनमें विषमता का भाव व्याप्त है। अहिंसा समता की सीढ़ी है; अतः सबसे पहले समभाव की साधना का आरम्भ अहिंसा से माना है।[2] अन्य चारों व्रत अहिंसा के ही पूरक रूप हैं या उसकी पुष्टि करने वाले हैं।

दूसरा व्रत है—असत्य का त्याग। मनुष्य असत्य चार कारणों से बोलता है—क्रोध, भय, लोभ व हास्य। ये चारों राग-द्वेष के ही भेद हैं। इनसे विषमता बढ़ती है, हिंसा होती है।

तीसरा व्रत—चोरी न करना है। दूसरे को क्षीण बनाकर अपने को समृद्ध बनाना, यह विषमता का बढ़ना ही है। गांधीजी ने कहा है—'आवश्यकता से अधिक संग्रह करना चोरी है। तुम्हें अधिक संग्रह का अधिकार नहीं हैं, अतः वह सामाजिक अपराध है। दूसरे अभावग्रस्त रहें, दुःख भोगें और तुम उनके उपयोग व भोग की वस्तुओं पर अधिकार कर लो और संग्रह करते जाओ; यह व्यक्ति व समाज दोनों की दृष्टि से अपराध है—विषमता बढ़ाने वाला असत्कर्म है।'

चौथा व्रत—मैथुन का परित्याग है। जैन आगमों में केवल स्त्री-पुरुष के मैथुन सम्बन्ध को ही परिहार्य नहीं माना गया, पर काम एवं भोग, इन दो शब्दों में पाँचों इन्द्रियों के विषयों का समावेश करके उनका विकारों से अलग रहना ही ब्रह्मचर्य माना गया है। पाँचों इन्द्रियों के विषयों पर लुभा जाना, उनके उपभोग के लिए लालायित हो जाना, अपने समत्व को खो बैठना है, विषमता को बढ़ावा देना है; क्योंकि राग-द्वेष ही विषमता के मूल स्रोत हैं। राग-भाव के विना विषय-भोग की प्रवृत्ति हो नहीं सकती। अतः समता की साधना के लिए ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है।

परिग्रह तो स्पष्ट-रूप से ही विषमता का सबसे बड़ा प्रतीक है, क्योंकि जैन आगमों में मूर्च्छा को ही परिग्रह की संज्ञा दी है और मूर्च्छा, आसक्ति, तृष्णा, ममत्व आदि को राग की सन्तान माना है। संग्रह-वृत्ति से बाह्य रूप में भी विषमता

---

१ मित्ति मे सव्वभूएसु।

२ समता सर्वभूतेषु।

बढ़ती है। एक के पास साधन-सम्पत्ति का ढेर लगा रहे व बढ़ता रहे और दूसरे अभावग्रस्त रहें, भूखे-प्यासे व नंगे रहें; उनके लिए रहने को मकान न हो, जीवन-यापन दुष्कर हो जाये; यह धनी एवं गरीब की विषमता की खाई तो स्पष्ट ही है। सम्पन्न व्यक्ति को देखकर अभावी व्यक्ति के हृदय में विद्रोह व संघर्ष की ज्वाला भभकेगी ही। दूसरी ओर सम्पन्न व्यक्ति अपने को समृद्ध मानकर अहंकारी बनेगा। दूसरों को दीन, हीन व नीच मान लेने से उनके प्रति तुच्छता व घृणादि के भाव उदित होंगे ही। अतः दोनों के जीवन विषम बन जायेंगे। कलह, विवाद, विद्रोह, द्वेष, क्रोध, संघर्ष या युद्ध का मूल ममत्व-रूप परिग्रह ही है।

इस प्रकार पाँचों महाव्रतों का मूल उद्देश्य समता की साधना है—वीतराग-भाव की वृद्धि करना है। वीतराग-भाव को बढ़ाते-बढ़ाते जब साधक पूर्ण समदर्शी पद तक पहुँच जाता है तो उसकी आत्मा ही परमात्मा बन जाती है। यही परम पुरुषार्थ है, जीवन का परम व चरम लक्ष्य है। यही निर्वाण या मोक्ष है।

जैन दर्शन का अनेकान्तिक यथार्थवाद

श्री जे० एस० झवेरी, बी० एस-सी०

मानव-मस्तिष्क की यह भी एक विशिष्ट प्रकार की वृत्ति रहती है, जबकि वह सोचता है, "किसी भी वस्तु का अस्तित्व क्यों है?" जब हम अस्तित्व सम्बन्धी तथ्य पर एक समस्या के रूप में विचार करते हैं, तो क्या हम किसी पारमार्थिक अथवा अनुभवातीत अतीन्द्रिय (Transcendental) समाधान की खोज करते हैं अथवा व्यावहारिक या अनुभव-गम्य (Empirical) समाधान द्वारा स्वयं विश्व के भीतर ही विश्व की व्याख्या कर सकते हैं ? पाश्चात्य दार्शनिकों की एक परम्परा में ऐन्द्रिय ज्ञान की सामाओं के भीतर रहकर अस्तित्व की इस समस्या पर विचार किया गया है। अरस्तु (Aristotle) से आरम्भ होकर यह विचारधारा एक्विनाज (Acquinas) तथा अन्य चिन्तकों के माध्यम से मध्य युग तक आ पहुँची; डेकार्टस (Decartes), स्पिनोजा (Spinoza) और लीबनिज़ (Leibniz) द्वारा पुनर्जीवित हुई; काण्ट ने इसमें आमूलचूल परिवर्तन किया और इस शती में रसेल (Russell) की कृतियों में भी यह विद्यमान है। दूसरी ओर अनेक भारतीय दार्शनिक पद्धतियों में इस समस्या का समाधान विशुद्ध निगमनात्मक पद्धति द्वारा ढूंढा गया, अर्थात् वह पद्धति जिसमें प्राग्-अनुभव तर्क से सत्य क्या होना चाहिए—इसका निगमन होता है। जैन दर्शन ने सम्भवतः एक अद्वितीय तत्त्व-मैमांसिक चिन्तन पद्धति का विकास किया है, जो कि उनकी अपनी अपूर्व ज्ञान-मीमांसा पर आश्रित है, जिसमें मानवी ज्ञान-क्षेत्र के अन्तर्गत अनुभव एवं पारमार्थिक, दोनों प्रकार की अनुभूतियों को स्थान दिया गया है। उनके मत से, सर्वप्रथम, वास्तवता (Reality) स्वसत्तामय (Self-existing) है, स्वसंगत और अपने आप में पूर्ण है। अपने अस्तित्व के लिए यह किसी बाह्य पदार्थ पर निर्भर नहीं है। दूसरी बात यह है कि जैन-दर्शन सब प्रकार के निरपेक्ष-वाद अथवा एकान्तवाद से मुक्त है। प्राग्-अनुभव तर्क के समर्थन में यह पद्धति अनुभवों की सामान्य बौद्धिक व्याख्याओं की उपेक्षा नहीं करती। उनके प्रयोगवाद अथवा अनुभववाद के साथ तर्क-संगत दृष्टिकोण घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है।

जैनदर्शन के ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्तों अथवा पूर्ण तत्त्व-मीमांसा की विस्तृत चर्चा करना इस लघु लेख में सम्भव नहीं है। यहाँ केवल संक्षेप में द्रव्य, गुण और पर्याय की समस्याओं के विषय में जैनदर्शन के अनेकान्तिक यथार्थवाद के प्रयोग का विवेचन किया गया है।

पर्याय

दर्शनशास्त्र के सम्पूर्ण क्षेत्र में अस्तित्व अथवा सत्ता के अविरत परिवर्तन ने एक समस्या उपस्थित की हुई है। यह न केवल प्राचीनतम समस्याओं में से एक है अपितु प्रलम्बतम समस्याओं में से भी एक है। सीधे-सादे शब्दों में इसे हम यों कह सकते हैं—'क्या नित्यत्व ही वास्तविक है अथवा परिवर्तन ही अथवा दोनों ?' अनुभवगम्य जगत का यह एक सामान्य लक्षण है कि एक ही पदार्थ में समय-प्रवाह के साथ-साथ निरन्तर रूप से विभिन्न स्थितियाँ एक के बाद एक उप-स्थित होती रहती हैं। यह इसलिए होता है कि परिवर्तित होने वाला 'स्व' अब भी वही पुराना 'स्व' है और उसके परि-वर्तन से हम आनन्द अथवा दुःख का अनुभव करते हैं। यदि अपने 'स्व' में प्रत्येक उत्तरोत्तर परिवर्तन के साथ हम पूर्ण रूप से नये हो जायें, तो अच्छा या बुरा जो भी परिवर्तन होगा, वह हमारे उल्लास और कष्ट का कारण नहीं होगा। इस प्रकार यह तथ्य कि केवल निर्विशेष और नित्य में ही परिवर्तन हो सकता है, सब पर्यायों या परिवर्तनों के विषय में विरोधा-भास उत्पन्न कर देता है।

जो नित्य है, उसी में परिवर्तन हो सकता है—इस विरोधात्मक विचार ने दर्शनशास्त्र के इतिहास को विभिन्न प्रकार से प्रभावित किया है। यूनानी दर्शन के प्रारम्भिक काल में अणुवादी भौतिकशास्त्रियों का यह पथ-प्रदर्शक सिद्धान्त था। बाद में पारमेनाइडस इस चरम मतवाद पर आ गये कि नित्य और एकरूप वास्तवता में परिवर्तन असम्भव होने के कारण परिवर्तन मात्र ऐन्द्रिय भ्रान्ति है। तत्पश्चात् पुनः एम्पोडोकलस ने प्रत्यक्ष पर्यायत्व की पारमेनाइडस द्वारा की गई आलोचना के साथ संगति बैठाने के लिए आकाश में तत्त्वों अथवा परमाणुओं के पुनर्वर्गीकरण का सिद्धान्त प्रस्तुत किया। प्लेटो ने अधिक विकसित स्तर पर उठ कर सत्ता अथवा अस्तित्व के दो प्रकार बताये—एक तो वास्तविक, जो कि अपरिवर्तनशील, शाश्वत और स्व-निर्विशेष है और दूसरा केवल प्रतीयमान, जोकि परिवर्तनशील और अस्थिर है। फिर भी प्लेटो यह स्पष्ट करने में असफल रहा कि सत्ता के ये दो प्रकार—नित्य और अनित्य—अन्ततोगत्वा किस प्रकार सम्बद्ध होते हैं।

इसी प्रकार उक्त विरोधाभास को हल करने के लिए इसकी सत्यता से ही इन्कार कर देने के प्रयत्न भी कम नहीं हुए हैं। परिवर्तन को निर्मूल व भ्रान्ति-रूप में प्रतिपादित करना जहाँ इस प्रकार के प्रयत्नों की एक चरम सीमा प्रतीत होती है, वहां सतत् परिवर्तन में नित्य निर्विशेष अथवा अन्तर्वर्त्ती एकत्व को स्वीकार करने से इन्कार करना दूसरी चरम सीमा प्रतीत होती है।[1] प्रथम वर्ग के लोग जहाँ एक ओर प्रत्यक्ष अनुभूति की एकदम उपेक्षा करके अपनी मान्यता का आधार प्राग्-अनुभव तर्क को बनाते हैं, वहाँ दूसरी ओर दूसरा वर्ग केवल सतत परिवर्तन को ही वास्तविक मानता हुआ अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में केवल प्रत्यक्ष अनुभूति को ही प्रमाण मानता है। इस दूसरे वर्ग का कहना है कि किसी भी वास्तविक अनुभूति में हमें केवल परिवर्तन और क्षणिकता का ही बोध होता है, हमें कभी भी किसी नितान्त अपरिवर्तनशील वस्तु की अनुभूति होती ही नहीं है।

अनेकान्तवादी जैन दर्शन एकान्त नित्यता अथवा पूर्ण लय को स्वीकार नहीं करता। उसके मत से नित्यत्व और अनित्यत्व, दोनों ही गुण एक ही द्रव्य में सहवर्ती होते हैं। जैन दर्शन का यह तर्क है कि अनुभव न तो हमें केवल अपरिवर्तनशील तत्त्व के स्थायित्व का बोध कराता है और न हमें स्थायित्वहीन परिवर्तन का ही कभी बोध कराता है। हमारी वास्तविक अनुभूति तो निर्विशेषत्व और अस्थायित्व दोनों ही रूपों को सम्मुख ला देती है। इस प्रकार प्रत्यक्ष अनुभव उपर्युक्त एकान्तवादी धारणाओं की जरा भी पुष्टि नहीं करता। इन धारणाओं का भावात्मक अप्रामाण्य तो स्वयं उनकी अपनी अन्तर्वर्ती असंगति में विद्यमान है। प्रत्येक परिवर्तन किसी-न-किसी वस्तु में अथवा किसी-न-किसी वस्तु का परिवर्तन होगा; जहाँ यह आधारभूत निर्विशेष नहीं है, वहाँ परिवर्तन के लिए कुछ भी विद्यमान नहीं है। इसलिए निर्विशेष अथवा नित्य से पृथक् अपने-आप में 'परिवर्तन' असम्भव है।

जैन दर्शन की विचारधारा इस प्रकार 'अनेकान्तिक यथार्थवाद' है। न तो यह एकान्त शून्यवाद का समर्थन करता है और न एकान्त शाश्वतवाद का; उसकी व्याख्या के अनुसार तो एक ही वास्तवता या सत्ता के विभिन्न पहलुओं के रूप में ये दोनों चरम सीमाएं वास्तविक हैं।

जैन दर्शन का मूल सिद्धान्त है 'परिणामी-नित्यत्ववाद।' जहाँ एकान्तवादी समान आकाश-काल में एक ही वास्तवता में नित्यत्व और अनित्यत्व, दोनों की प्रतीति आत्म-विरोधी समझते हैं, वहाँ अनेकान्तवादी जैन दर्शन कहता है कि किसी को भी इस सत्य को स्वीकार करने से घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि पदार्थ का सहज धर्म ही ऐसा है और हमारे सामान्य अनुभव से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है।

इस प्रकार जैन दृष्टिकोण के अनुसार पर्याय या परिवर्तन असन् नहीं, अपितु एक निर्विशेष में ही अनुक्रमण है और इस प्रक्रिया में निर्विशेष उतना ही अनिवार्य है, जितना कि अनुक्रमण। साथ ही परिवर्तन उतना ही वास्तविक है, जितना कि स्थायित्व। पर्याय तो वस्तुतः घटनाओं का अनुक्रमण है जिसको जोड़ने वाला आधार एक ही निर्विशेष है।

---

१ प्रथम निरपेक्षवादी अथवा एकान्तवादी मतवाद में वेदान्तियों और ईलीटिक्सों ने उल्लेखनीय योगदान दिया है, जबकि दूसरे मतवाद में बौद्धों और हेराक्लीटस के शिष्यों का योगदान रहा है।

किसी वस्तु के जीवनकाल का निर्माण करने वाली सतत प्रवाहशील उत्तरोत्तर अथवा अनुक्रमिक अवस्थाएं ही हैं और वे ही वस्तु की रचना को अभिव्यक्त करती हैं। किसी वस्तु की रचना को समझना उसकी अवस्थाओं के अनुक्रमण की कुंजी प्राप्त कर लेना है और यह हृदयंगत कर लेना है कि किस नियम के आधार पर प्रत्येक अवस्था अपनी उत्तरवर्ती अवस्था को स्थान देती है।

तत्त्व में अनुक्रमण के इस समाहार को परिवर्तन के रूप में हृदयंगम कर लेने पर, वह (परिवर्तन) न तो विरोधाभास रहता है और न ही पर्याय ऐसा रह जाता है, जो कि बुद्धिगम्य न हो। पर्याय किसी भी एक पूर्ण तत्त्व का निर्माण करने वाले अनेकत्व के अस्तित्व का केवलमात्र तर्क-संगत परिणाम है।

गुण

परिवर्तनों की श्रृंखला में निरन्तर जो निर्विशेष व्याप्त रहता है, वह द्रव्य भी हो सकता है, गुण भी।[1] इससे हमारे सम्मुख द्रव्य और गुण तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों की समस्या उपस्थित होती है। जिसे हम 'एक वस्तु' कहते हैं, उसमें एकत्व विद्यमान होने पर भी अनेक गुण बताये जाते हैं। उदाहरणार्थ—एक भौतिक पिण्ड ही लीजिये, एक ही समय में वह श्वेत है, चमकदार है, कठोर है और गोल है, अथवा एक साथ वह हरा, कोमल और स्निग्ध है। समस्या यह है कि एक ही वस्तु के जो अनेक गुण बताये जाते हैं, वह एक साथ उन्हें कैसे धारण किये रहता है। इस सम्बन्ध में हमें अनेक प्रकार के सिद्धान्त उपलब्ध हैं, उनमें से कुछ पर हम यहाँ संक्षेप में विचार करेंगे।

(क) एक स्पष्ट सिद्धान्त है, जिसमें पदार्थ को उसके गुणों से पूर्ण रूप से अभिन्न कर दिया जाता है अथवा जैसा कि सामान्य रूप से किया जाता है, पदार्थ को उन कुछ गुणों (गुण-समूह) से अभिन्न कर दिया जाता है, जिन्हें विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण अथवा अधिक स्थायी माना जाता है। उस अवस्था में इस मूल गुणसमूह[2] को ही पदार्थ के रूप में ग्रहण किया जाता है और कहा जाता है कि उसमें कुछ कम स्थायी 'गौण' गुण भी हैं।

इस सिद्धान्त के विषय में जैन दर्शन का कहना है कि उसे इस सिद्धान्त को प्रयोगवादी विज्ञान की एक काम-चलाऊ परिकल्पना के रूप में स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है; परन्तु जहाँ तक द्रव्य और गुणों के पारस्परिक सम्बन्धों की तत्त्व-मैमांसिक समस्याओं के समाधान का प्रश्न है, इस सिद्धान्त में स्पष्टतः गम्भीर आपत्ति की बातें हैं। सर्वप्रथम यह सिद्धान्त केवल भौतिक पदार्थों पर ही लागू होता है और केवल उन्हीं की अवस्थाओं या स्थितियों की व्याख्या कर सकता है। दूसरा, मूल गुणों का सम्बन्ध भी ठीक उसी प्रकार वर्णित कर दिया जाता है, जिस प्रकार गौण गुणों का और इस समस्या के समाधान रूप में जो पृथकत्व प्रस्तुत किया जाता है, वह ठीक वहीं ले जाता है जहाँ हम पहले से ही थे। वस्तु में आकार, संहति, घनत्व ठीक उसी प्रकार हैं जिस प्रकार उसमें भार, स्वाद और रंग हैं। इसके साथ ही यह सिद्धान्त बुद्धिसंगत रूप से इस प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ रहता है कि मूल गुण किस प्रकार गौण गुण धारण करते हैं। मूल गुणों को स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में बताने का और गौण गुणों को केवल स्वानुभूतिमूलक बताकर उपेक्षा कर देने का प्रयत्न किसी सन्तोषजनक परिणाम की ओर नहीं ले जाता। मूल गुण भी अनिवार्य रूप से किसी और अधिक चरम तत्त्व के गुण के रूप में ही हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त केवल अनुभूति के द्वारा हमें मूल गुणों की स्वतन्त्र उपलब्धि भी नहीं होती; हम कभी भी विस्तार आदि मूल गुणों को उक्त गौण गुणों से पृथक्—स्वतन्त्र रूप में अनुभव नहीं करते।

---

१ लक्खणं पज्जवाणं तु उभओ अस्सिया भवे।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८।६

२ सामान्य-रूप से पदार्थ के वे गाणितिक गुण मूल गुण माने जाते हैं, जिनका विज्ञान की यांत्रिक भौतिकी में मौलिक महत्त्व है। विस्तार, आकार, संहति आदि मूल गुणों में से कुछ हैं, जबकि स्वाद, गंध, रंग आदि गौण गुण हैं। साथ ही यह भी कहा जाता है कि स्वाद, गंध आदि गौण गुण हमारी संवेदनशीलता में होने वाले स्वानुभूतिमूलक (Subjective) परिवर्तन हैं, जो हमारी इन्द्रियों पर पड़ने वाले मूल गुणों के प्रभाव के कारण होते हैं।

(ख) कभी-कभी उपर्युक्त दृष्टिकोण के विकल्प में एक दूसरी विचारधारा रखी जाती है। इस विचारधारा के अनुसार द्रव्य एक अज्ञात 'आश्रय' के रूप में है और गुण इसमें से अव्यक्त प्रकार से 'प्रवाहित' होते हैं। इसलिए, इस विचारधारा का प्रतिपादन है कि द्रव्य के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते हैं, अर्थात् हम यह नहीं जान सकते कि 'पदार्थ' वस्तुतः क्या है; हम तो केवल उसकी उपाधियों या गुणों अथवा उसकी अभिव्यक्तियों को जानते हैं। अब, इस प्रकार के आश्रय और उससे 'प्रवाहित' गुणों का जो सम्बन्ध कल्पित किया गया है, वह बुद्धिगम्य नहीं है। क्योंकि गुणों से पूर्णतः रहित द्रव्य या आश्रय हो ही नहीं सकता। जो द्रव्य सर्वथा ही गुण-शून्य है, वह तो केवल अवास्तविक विविक्त विचारणा है, द्रव्य के एक ऐसे पहलू को छोड़ कर हम इस धारणा पर पहुँचते हैं, जो कि वास्तविक अनुभव में द्रव्य से अविच्छेद्य प्रतीत होती है और इसलिए यह विचारणा सम्भवतः विधिसम्मत नहीं है। उसे अवैध कहने का तात्पर्य यही है कि हम पदार्थ की मौलिक वास्तवता के दृष्टिकोण से उसे प्रस्तुत करते हैं।

(ग) यही आपत्ति न्याय-वैशेषिक के 'समवाय सिद्धान्त' पर भी लागू होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य अपने गुणों से नितान्त भिन्न है। यह कहा जाता है कि गुण और द्रव्य 'समवाय सम्बन्ध' से जुड़ते हैं और स्वयं समवाय भी द्रव्य और गुण की तरह भावात्मक वास्तविकता है। इससे आगे उक्त विचारधारा का कहना है—जब कि गुण अपने अस्तित्व के लिए द्रव्य पर निर्भर करता है, द्रव्य अपने-आप अपना अस्तित्व बनाये रख सकता है। साथ ही यह सम्बन्ध अविलोमी है, अर्थात् यद्यपि द्रव्य में गुण हो सकता है, गुण में द्रव्य नहीं होता। इस प्रकार न्याय-वैशेषिक दर्शन यद्यपि द्रव्य को गुण के आश्रय के रूप में तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वे गुणों को द्रव्य की सहज प्रकृति के रूप में स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं।

इसके प्रत्युत्तर में जैनों का कहना है कि यदि गुण अपने द्रव्य से एकान्ततः भिन्न है, तो यह कहना अवैध होगा कि यह गुण 'द्रव्य का' है। यदि दो वस्तुएं एक-दूसरे से एकान्ततः भिन्न हैं, तो उनमें धर्म और धर्मी का सम्बन्ध नहीं हो सकता।[1] इसके अतिरिक्त समवाय को भी दो वस्तु के बीच की कड़ी नहीं समझा जा सकता, क्योंकि किसी भी प्रकार से उसकी अनुभूति नहीं होती। पुनः यह प्रश्न खड़ा होता है कि यह 'समवाय' द्रव्य 'में' किस सम्बन्ध से रहता है? यदि समवाय की सत्ता वहाँ एक अन्य समवाय द्वारा है, तो स्पष्ट रूप से वहाँ अनवस्था दोष की उत्पत्ति हो जाती है।

दूसरी बात यह है कि हम यह कल्पना नहीं कर पाते कि किस प्रकार से पहले तो कोई भी सुनिश्चित गुण या लक्षण धारण किये बिना ही द्रव्य 'अस्तित्व' रखता है और फिर बाद में समवाय की सहायता से कैसे गुण प्राप्त करता है अथवा अपनी सत्ता के विशेष पर्यायों को धारण करता है। किसी निश्चित रूप में 'हुए' बिना न तो कोई कुछ हो सकता है अथवा न विद्यमान रह सकता है और यह किसी निश्चित रूप में होना ही ठीक वही है जिसे हम द्रव्य का 'गुण' कहते हैं; इसलिए हम वस्तु के 'अस्तित्व' को उसके 'निश्चित रूप में होने' से पृथक् नहीं कर सकते। अर्थात् न तो हम 'निश्चित रूप में होने' को ऐसी वस्तु समझ सकते हैं, जो कि अकस्मात् 'अस्तित्व' पर आ पड़ी हो अथवा उससे उत्पन्न हुई हो, और न हम 'अस्तित्व' को कोई ऐसी वस्तु मान सकते हैं जो कि 'निश्चित रूप में होने' से सर्वथा पृथक् होकर या उसके बिना रह सकती हो।

जैनों की मुख्य आपत्ति 'एकान्तिकता' के विरुद्ध है। गुण न तो द्रव्य से एकान्ततः भिन्न हो सकते हैं और न द्रव्य के साथ एकान्ततः तद्रूप हो सकते हैं। गुण ही स्वयं द्रव्य का स्वरूप बने बिना और अस्तित्व बने बिना उससे द्रव्य का सम्बन्ध नहीं हो सकता।[2] जैन-दर्शन यह स्वीकार करता है कि गुण सदा बदलते रहते हैं, परन्तु वह निश्चय के साथ कहता है कि गुणों में परिवर्तन का होना द्रव्य के स्वरूप का विनाश नहीं है। कोई भी सत्तावान् द्रव्य परिवर्तन के द्वारा ही अपने स्वरूप को बनाये रखता है। गुण भी अपने सदा परिवर्तनशील पर्यायों के द्वारा ही अपनी निर्विशेषता बनाये रखते हैं।

---

१ हेमचन्द्राचार्य, स्याद्वाद मंजरी।

२ सहभावी धर्मो गुणः।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।४०

इसलिए द्रव्य और इसके गुणों के बीच सही सम्बन्ध है—भिन्नाभिन्नता का। अभिन्नता का तत्त्व उसके नित्यत्व की अनुभूति की व्याख्या करता है, जबकि भिन्नता का तत्त्व उसके अनित्यत्व की अनुभूति की।

द्रव्य

परिभाषा और प्रकार

जैन दर्शन में वास्तवता या सत् की परिभाषा है—जो उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य-युक्त होता है।[1] अर्थात् जो उत्पत्ति और विनाश-रूप (अनन्त) परिवर्तनों द्वारा सतत् शाश्वत अस्तित्व बनाये रखने में समर्थ है। साथ ही दूसरी परिभाषा है—जो गुणों का आश्रय है।[2] अर्थात् जो अनन्त गुणों का अखण्ड पिण्ड है।

द्रव्य एक चरम वास्तवता (Ultimate reality) है, अतः उसकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है—जो गुण और पर्यायों का आश्रय है।[3] अर्थात् जो गुण और पर्याय, दोनों को धारण करता है।

विश्व की सभी वस्तुओं को निम्न पाँच चरम द्रव्यों में विभाजित किया जा सकता है[4]—

१. धर्मास्तिकाय, २. अधर्मास्तिकाय, ३. आकाशास्तिकाय, ४. पुद्गलास्तिकाय और ५. जीवास्तिकाय।

इन सबको 'अस्तिकाय' कहा जाता है, क्योंकि इनमें से प्रत्येक केवल एक प्रदेशात्मक या एक बिन्दु परिमाण वाला नहीं है, अपितु अनेक प्रदेशात्मक एक अखण्ड द्रव्य है।[5] इन द्रव्यों के गुण-पर्यायों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया गया है।

धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय

जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा के अतिरिक्त अन्य किसी भी तत्त्व-मैमांसिक पद्धति में धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का मौलिक तत्त्वों के रूप में निरूपण उपलब्ध नहीं होता। विज्ञान में एक ईथर नामक तत्त्व का अस्तित्व स्वीकार किया गया है, जो गति के प्रसार में माध्यम-रूप से सहायक बनता है। धर्मास्तिकाय-अधर्मास्तिकाय को तुलनात्मक शब्दावलि में धन ईथर और ऋण ईथर भी कहा जा सकता है।

जैन दर्शन अपनी इस मान्यता के पक्ष में यह तर्क उपस्थित करता है कि किसी भी गति के लिए 'माध्यम' का अस्तित्व होना ही चाहिए। वह माध्यम भी ऐसा होना चाहिए जो—

१. सर्वलोक व्यापी हो, २. स्वयं अगतिशील हो, और ३. अन्य गतिशील पदार्थों की गति में सहायक हो।

धर्मास्तिकाय इन तीनों शर्तों की पूर्ति करता है। अतः कहा गया है—धर्मास्तिकाय की सहायता सूक्ष्मतम स्पन्दन में भी अनिवार्य है।[6] यह तो स्पष्ट है ही कि गति और स्थिति, दोनों एक-दूसरे की सापेक्ष अवस्थाएं हैं और इसलिए

---

१ उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्।

—तत्त्वार्थ सूत्र, ५।२९

२ गुणाणामासओ दव्वं।

—उत्तराध्ययन सूत्र, २८।६

३ गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।

—जैन सिद्धान्त दीपिका, १।३

४ धर्माऽधर्माकाशपुद्गलजीवास्तिकाया द्रव्याणि।

—वही, १।१

५ काल को भी द्रव्यों की सूची में छठे द्रव्य के रूप में रखा जाता है, पर वह अस्तिकाय नहीं है। द्रष्टव्य, वही, १।२

६ भगवती सूत्र, १३।४।४८१

अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व भी स्वतः सिद्ध हो जाता है। इन दोनों में से प्रत्येक द्रव्य—

द्रव्यतः—एक, अखण्ड, समरूप और अरूपी (वर्णादि रहित) है, तथापि असंख्य प्रदेशात्मक है।

क्षेत्रतः—सर्वव्यापी है, किन्तु लोक से बाहर—अलोक में नहीं है। वस्तुतः तो यह लोक की सान्तता का प्रमुख कारण है।

कालतः—शाश्वत है, अनादि-अनन्त है, क्योंकि पुद्गल और जीव, दोनों द्रव्यों के अस्तित्व एवं गति-स्थिति अनादि-अनन्त हैं।

भावतः—चैतन्यरहित है एवं इन्द्रियग्राह्य नही है।

आकाशास्तिकाय

जैन दर्शन आकाशास्तिकाय (Space) को एक वस्तु-निष्ठ वास्तवता (Objective reality) के रूप में मानता है। यह अन्य सभी द्रव्यों को आश्रय देने वाला है, अनन्त-असीम है, अनन्त प्रदेशात्मक है। इसके अतिरिक्त अन्य द्रव्य सान्त-ससीम हैं, अतः समस्त आकाश में व्याप्त नहीं होते। आकाश का वह भाग, जो अन्य द्रव्यों द्वारा अवगाहित होता है, 'लोक' अथवा 'लोकाकाश' कहलाता है। हम इसको क्रियाशील विश्व भी कह सकते हैं। यह सान्त है और इसके चारों ओर सभी दिशाओं में अलोक-आकाश है, जो निष्क्रिय एवं अनन्त-असीम है। सभी द्रव्य लोक में होते हैं[1], जबकि अलोक केवल आकाशमय ही होता है।[2] वस्तुतः तो आकाश एक ही द्रव्य है, किन्तु धर्म-अधर्म द्रव्यों की सान्तता के कारण षड् द्रव्यमय लोकाकाश भी सान्त हो जाता है।

पुद्गलास्तिकाय

जो प्रसिद्ध रूप में जड़ या मैटर (Matter) कहा जाता है, उसे जैन दर्शन 'पुद्गल' कहता है। 'पुद्गल' जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है और पुत्+गल से बना है। इसका तात्पर्य है: जो द्रव्य संयुक्त (Fusion) और विभक्त (Fission) होने में समर्थ है, वह पुद्गल है। पुद्गल के अतिरिक्त और कोई भी द्रव्य इस क्रिया को करने में समर्थ नहीं है; अतः यह पुद्गल द्रव्य का ही लक्षण है।

पुद्गल द्रव्य भौतिक है, अतः उसके गुण और पर्याय इन्द्रिय-गम्य हो सकते हैं। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि भौतिक पदार्थों का अस्तित्व ही ज्ञाता पर आधारित है। उनका अस्तित्व तो वस्तु-सापेक्ष (Objective) है ही, केवल उनकी अनुभूति इन्द्रियों पर आधारित होती है।

वर्ण और आकार, इन दो गुणों के संयोग से रूप अथवा दृश्यता की उत्पत्ति होती है। जैन दर्शन के अनुसार जिस पदार्थ में दृश्यता होती है, उसमें अनिवार्यतया गन्ध, रस (स्वाद) और स्पर्श के गुण भी होने ही चाहिए। दूसरे शब्दों में जिसमें एक इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य गुण हैं, उसमें अन्य तीनों इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य गुण होते हैं।

पुद्गल द्रव्य ही एकमात्र ऐसा द्रव्य है, जो इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। अन्य द्रव्यों से पुद्गल और भी कई दृष्टिकोणों से भिन्न है। उदाहरणस्वरूप एक आत्मा (जीव), आकाश, धर्म और अधर्म—ये चारों द्रव्य अविभाज्य हैं और अखण्ड हैं, जबकि परमाणु[3] को छोड़कर शेष पुद्गलों को विभाजित किया जा सकता है। इस प्रकार, केवल पुद्गल

---

१ षड्द्रव्यात्मको लोकः।

—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १।८

२ आकाशमयोऽलोकः।

—वही, १।१०

३ अविभाज्य परमाणुः।

—वही, १।१४

द्रव्य ही परस्पर संयुक्त होने योग्य होते हैं। प्रकाश और अंधकार, छाया और प्रतिबिम्ब तथा शब्द आदि भी पौद्गलिक ही हैं, यह प्रतिपादन वर्तमान वैज्ञानिक युग से ढाई हजार वर्ष पूर्व ही जैन दार्शनिक कर चुके थे। भौतिक पदार्थ और ऊर्जा की द्विरूपता, जो न्यूटन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों में मिलती है और जिसका निषेध आधुनिक वैज्ञानिक करते हैं, जैन दर्शन के अनुसार केवल पर्यायों की द्विरूपता है, द्रव्यतः तो ऊर्जा और भौतिक पदार्थ दोनों ही पुद्गल हैं।

परमाणु पुद्गल की चरम इकाई है, जो किसी भी प्रकार के बल-प्रयोग से विभाजित नहीं किया जा सकता। परमाणु का आदि, मध्य और अन्त वह स्वयं ही है। परमाणुओं के मिलने से स्कन्ध बनते हैं। स्कन्धों के टूटने से छोटे स्कन्ध अथवा परमाणु बनते हैं। दो, तीन, चार से लेकर अनन्त परमाणुओं के भी स्कन्ध होते हैं। सूक्ष्मतम चाक्षुष पदार्थ भी अनन्त परमाणुओं से बना हुआ होता है। परमाणु की गति, कम्पन, वेग आदि सम्बन्धी विस्तृत विवेचन जैन दर्शन में उपलब्ध होता है और आधुनिक विज्ञान के कुछ एक नवीनतम सिद्धान्तों के साथ अद्भुत साम्य रखता है।[1]

जीवास्तिकाय

जीव 'आत्मा' है, जिसकी वास्तवता स्वतः सिद्ध है। जीव की दो अवस्थाएं है— १. मुक्त-अवस्था, २. बद्ध-अवस्था। दोनों अवस्थाओं में जीव का अस्तित्व 'वास्तविक' होता है। 'मुक्ति' का अर्थ 'सम्पूर्ण विनाश' नहीं है और 'बद्धता' भी केवल प्रपंचमात्र नहीं है।

मुक्त-अवस्था की कल्पना के आधार में 'मलिन-अवस्था' की कल्पना है। जीव की यह मलिनता का कारण है— जीव और पुद्गल का अनादिकालीन सम्बन्ध। जीव अपने स्वरूप में शुद्ध और पूर्ण है, किन्तु पुद्गल के साथ बद्ध होने के कारण विकृत हो जाता है। जैन दर्शन के अनुसार कुछ विशेष प्रकार के पुद्गल, जिसे कर्म-पुद्गल कहते हैं, जीव की यौगिक स्पन्दन क्रियाओं द्वारा आकृष्ट होकर, जीव के प्रदेशों में घुल-मिल जाते हैं, ठीक वैसे ही जैसे लोह के साथ अग्नि तथा दूध के साथ पानी ! बन्ध, सत्ता, उदय, उदीरणा आदि कर्मों की अनेक अवस्थाएं होती हैं। जीव की विकार-भावना जितनी तीव्र होती है, कर्मों का बन्धन-काल उतना ही अधिक दीर्घ और विपाक भी उतना ही अधिक तीव्र होता है। कुछ समय पश्चात् बँधे हुए कर्म-पुद्गल अपना फल देते हैं और बाद में पृथक् हो जाते हैं।

कर्मों के फल भी दो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। शुभ फल देने वाले कर्म पुद्गल पुण्य और अशुभ फल देने वाले पाप कहलाते हैं। अच्छा स्वास्थ्य, उच्च कुल, धन-वैभव आदि सांसारिक सुखों का अनुभव पुण्य के निमित्त से होता है, जब कि बुरा स्वास्थ्य, नीच कुल, गरीबी आदि दुःखों का अनुभव पाप के निमित्त से होता है। पुण्य और पाप, दोनों ही पौद्गलिक हैं और जीव से भिन्न हैं। अतः मुक्त दशा में दोनों से ही मुक्ति हो जाती है।

जहाँ वैदिक दर्शन 'ब्रह्म' और जीव को एक-दूसरे से नितान्त अभिन्न मानता है और केवल ब्रह्म को ही वास्तविक, नित्य और अनन्त मानता है, वहाँ बौद्ध दर्शन आत्मा के अस्तित्व को क्षणिक मानता हुआ 'शून्य में विलय' को 'मोक्ष' या 'निर्वाण' की संज्ञा देता है। जैन दर्शन अनेकान्तवादी है। वह न तो वैदिकों के इस एकान्तवाद को स्वीकार करता है कि समग्र जगत् के प्रपंच और अनेकताओं के पीछे वास्तवता तो केवल एकमात्र ब्रह्म ही है तथा न ही बौद्धों के इस एकान्तवाद को भी मान्यता देता है कि सब कुछ क्षणिक ही है। जैन दर्शन के अनुसार जीव, जन्म-मृत्यु रूप अनन्त परिवर्तनों में से गुजरने के बाद भी नष्ट नहीं होता। जीव शुभाशुभ कर्मों को बाँधता रहता है और उसके फलस्वरूप सुख-दुःख भोगता रहता है तथा अन्ततः चरम मुक्त-अवस्था को भी प्राप्त कर सकता है, जिसमें वह अपने शुद्ध स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

---

१ विस्तृत विवेचन के लिए द्रष्टव्य,
Jain Philosophy and Modern Science, Muni Shri Nagrajji, Chapter III.

उपसंहार

जैन तत्त्व-मीमांसा का संक्षिप्त अवलोकन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह दर्शन-प्रणाली सब प्रकार के एकान्तवाद से मुक्त है और इसलिए बौद्ध या वैदिक दर्शन जैसे एकान्तवादी दर्शनों से बिल्कुल भिन्न है। हमने यह भी देखा कि जैन दर्शन न तो आदर्शवादी (Idealist) है और न सन्देहवादी (Sceptic) ही। वह वास्तव-वादी या यथार्थवादी (Realist) है, किन्तु अनीश्वरवादी (Atheist) नहीं। वह ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार करता है, किन्तु सर्वव्यापी तत्त्व के रूप में नहीं, जैसे सर्वेश्वरवादी (Pantheist) करते हैं अथवा जगत्-कर्त्ता के रूप में नहीं, जैसे ईश्वरवादी (Theist) करते हैं। जैन दर्शन मध्ययुगीन पाण्डित्यवाद (Scholasticism) या वर्तमान युगीन कार्ल-मार्क्स के द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के साथ कहाँ तक साम्य रखता है, इसका निष्कर्ष निकालना स्वयं पाठक पर छोड़ते हुए, इस लघु लेख को समाप्त करता हूँ।

आदर्शवाद और वास्तविकतावाद

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय', बी० एस-सी० (ऑनर्स)

वास्तविकता (Reality) का क्या स्वरूप है ?—इस प्रश्न ने न केवल पश्चिम के अपितु पूर्व के भी, न केवल दर्शन-जगत् के अपितु विज्ञान-जगत् के तत्त्व-मीमांसकों को प्राचीनकाल से लेकर आज तक व्यथित किया है। यहाँ तक कि कुछ एक दार्शनिकों ने सन्देहवाद[1] (Scepticism) स्थापित करके यह प्रतिपादित किया कि कोई भी नहीं जान सकता 'विश्व क्या है'। पश्चिम में भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने और भिन्न-भिन्न वैज्ञानिकों ने भिन्न-भिन्न रूप में इस प्रश्न का उत्तर दिया है। पूर्व में भी अनेक दर्शन-प्रणालियाँ इस प्रश्न का समाधान विविध रूप में प्रस्तुत करती हैं। इस संक्षिप्त लेख में जैन-दर्शन और पाश्चात्य विचार-धाराओं का एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

पश्चिम की दो धाराएँ

पश्चिम में वास्तविकता के स्वरूप का प्रतिपादन वैज्ञानिकों और दार्शनिकों के द्वारा मुख्यतया दो रूप में हुआ है :—

१. आदर्शवाद[2] (Idealism)—इस विचारधारा के अनुसार हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality) न होकर केवल 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' (subjective reality) है।[3] आदर्शवाद कहता है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व होने पर भी हमारा (मनुष्य का) ज्ञान केवल ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता तक सीमित है। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिकों में डॉ० अलबर्ट आईन्स्टीन, सर ए० एस० एडिंग्टन, सर जेम्स जीन्स, हर्मन वाइल, अर्नेस्ट माख, पोईनकारे आदि हैं और दार्शनिकों में प्लुतो (Plato),

---

१ सन्देहवाद (Scepticism) प्राचीन यूनानी दार्शनिक पीरो (Pyrrho) जिसकी मृत्यु ई० पू० २७० में हुई थी, से लेकर आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक ह्यू म (Hume) तक नाना रूपों में प्रचलित हुआ है। इसके पश्चात् भी आंशिक रूप में तो हर्बर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) जैसे विज्ञानविद् दार्शनिकों में भी यह दिखाई पड़ता है। जैसे स्पेन्सर ने लिखा है : "वैज्ञानिक का शोध-प्रयत्न उसे सभी दिशाओं में एक ऐसे स्थान पर ले जाता है, जहाँ से आगे कोई मार्ग नहीं निकलता। इस बात का अनुभव उसे स्वयं भी अधिक-से-अधिक होता है कि कभी नहीं सुलझने वाली पहेली उसके सामने उपस्थित हो ही जाती है।··· वैज्ञानिक किसी भी दूसरे व्यक्ति से अधिक अच्छी तरह यह जानता है कि किसी भी पदार्थ के मूल स्वरूप का ज्ञान होना अशक्य है।"— (देखें फर्स्ट प्रिंसिपल्स, पृ० ५६)

२ आदर्शवाद (Idealism) शब्द तत्त्व-मीमांसा (Metaphysics) और नीतिशास्त्र (Ethics) में भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है। तत्त्व-मीमांसा में सामान्यतया आदर्शवाद का अर्थ होता है—वह विचारधारा, जो प्रत्यय (Idea) अथवा आत्मा को वास्तविकता का मूल मानती है। इस अर्थ में ही आदर्शवाद शब्द प्रस्तुत लेख में प्रयुक्त हुआ है। नीतिशास्त्र में प्रयुक्त 'नैतिक आदर्शों की साधना' से सम्बन्धित 'आदर्शवाद' से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

३ किसी भी पदार्थ का अस्तित्व यदि ज्ञाता की अपेक्षा बिना—अपने-आप में स्वतन्त्रतया—होता है, तो वह 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' (objective reality) है। दूसरी ओर जिस पदार्थ का अपने-आप में स्वतन्त्रतया कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है, किन्तु केवल ज्ञाता के मस्तिष्क में उसका अस्तित्व होता है, तो वह ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता (subjective reality) है।

लाइबनीज़, लोक, बरकले, ह्यूम, काण्ट हेगल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

२. **वास्तविकतावाद** (Realism)—इसके अनुसार विश्व वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। विश्व-स्थित पदार्थ ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। इस अभिप्राय को स्वीकार करने वाले वैज्ञानिकों में न्यूटन, बोहर (Bohr), हाईसनबर्ग, व्हीट्टाकर, राईशनबाख, सी० इ० एम० जोड, सर ओलिवर लोज और भौतिकवादी सोवियत वैज्ञानिक हैं तथा दार्शनिकों में डेमोक्रिटस और अणुवादी यूनानी दार्शनिक, अरस्तु, ईसाई पाण्डित्यवादी (Scholastic) दार्शनिक, रेने डेकार्टस, बर्ट्रेण्ड रसेल, हेनरी मार्गैनौ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

दार्शनिकों का आदर्शवाद

आदर्शवादी दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न रूप से आदर्शवाद का प्रतिपादन किया है। इनके सूक्ष्म वैसदृश्यों का विश्लेषण दर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में मिलता है और अपने-आप में एक स्वतन्त्र और अतिविस्तृत विषय है। यहाँ पर तो केवल स्थूल रूप से ही इनके अभिप्राय को ग्रहण करके प्रतिपादन किया जा सकता है। आदर्शवादियों के अभिप्राय को स्पष्टतया समझने के लिए यूनान के प्राचीन दार्शनिक प्लुतो (Plato) के 'गुफा के कैदी' का प्रसिद्ध रूपक सहायक हो सकता है। प्लुतो ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में एक गुफा का वर्णन किया है, जिनमें रहे हुए कैदियों में से एक कैदी मुक्त हो जाता है। वह भीतर के कैदियों को वस्तुस्थिति समझाने के लिए आता है। उसके और एक कैदी के बीच जो संवाद हुआ, उसको वह स्वयं सुना रहा है[1]—मैंने कहा—देखो! यह है भूगर्भ के भीतर की गुफा। इस गुफा का द्वार प्रकाश की ओर खुला हुआ है, जिसमें से सारी गुफा में प्रकाश आ रहा है। यहाँ गुफा में मनुष्य रह रहे हैं। ये लोग यहाँ पर बाल्यकाल से ही हैं। इनके पैर जंजीर से इस प्रकार बँधे हुए हैं कि ये चल-फिर नहीं सकते और केवल आगे ही देख सकते हैं, क्योंकि उनकी गर्दन भी जंजीर से इस प्रकार बाँध दी गई है कि ये अपनी गर्दन को पीछे की ओर हिला नहीं सकते। इनके पीछे और ऊपर की तरफ, कुछ दूरी पर अग्नि जल रही है। इन कैदियों और अग्नि के बीच एक थोड़ा-सा ऊँचा मार्ग है और यदि आप देखेंगे तो आपको एक ऊँची-सी दीवार उस मार्ग पर दिखाई देगी। यह दीवार वैसी ही लगती है जैसा कि नाटक में पर्दा होता है, जिस पर छाया द्वारा नृत्य आदि दिखाया जाता है।

वह बोला—हाँ, मैं देख रहा हूँ।

मैं—और क्या आप देख रहे हैं कि बहुत लोग उस दीवार के पास से कुछ सामान लिए हुए गुज़र रहे हैं······इन सबकी छाया उस दीवार पर पड़ रही है?······

वह—आपने मुझे बहुत ही विचित्र दृश्य दिखाया है—वे अति विचित्र कैदी हैं।

मैं—अपने जैसे ही हैं। वे केवल उनकी छाया अथवा दूसरों की छाया ही देख सकते हैं, जो अग्नि के प्रकाश द्वारा उस दीवार पर पड़ रही है?

वह—हाँ। जबकि वे अपनी गरदन को घुमा ही नहीं सकते, तब छाया के अतिरिक्त वे बेचारे और क्या देख सकेंगे?

मैं—और जो वस्तुएं वे उठाकर ले जा रहे हैं, उनकी भी वे केवल छाया देख सकते हैं?

वह—हाँ।

मैं—उनके लिए उन आकृतियों की छाया ही वास्तविक है; इसके अतिरिक्त और कोई 'सत्य' नहीं है।

प्लुतो ने इस रूपक में सामान्य मनुष्यों को उन कैदियों के सदृश माना है। मनुष्य जो ज्ञान प्राप्त करता है, वह वास्तविक ज्ञान नहीं है। दूसरे शब्दों में विश्व केवल ज्ञाता-सापेक्ष है—हमारे मस्तिष्क के अतिरिक्त उसका और कहीं अस्तित्व नहीं है। वस्तु-सापेक्ष तत्त्व का ज्ञान वही कर सकता है, जो मुक्त कैदी की तरह हो। किन्तु जो लोग गुफा में बद्ध हैं, उनके लिए यह सम्भव नहीं है। हम (मनुष्य) भी कैदी ही हैं; अतः हमारा विश्व केवल ज्ञाता-सापेक्ष है।

---

१ रिपब्लिक, पुस्तक ७।

प्लुतो के पश्चात् अनेक पाश्चात्य दार्शनिकों ने आदर्शवाद का अपने-अपने ढंग से निरूपण किया है। जैसे कि लाइबनीज़ (Leibniz) ने आत्मिक-इकाइयों (monads) के अतिरिक्त भौतिक-जगत् की वास्तु-सापेक्ष वास्तविकता को अस्वीकार किया है। लोक (Locke) ने पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार तो किया है, किन्तु मनुष्य के द्वारा उसका ज्ञान होना अशक्य माना है। दार्शनिक ज्योर्ज बरकले (George Berkeley) (ई० १६८५-१७५३) द्वारा भी इससे सदृश्यता रखने वाला चिन्तन आया।

बरकले ने कहा, "आकाश का समग्र नक्षत्र-मण्डल और पृथ्वी की समग्र सामग्री अथवा एक शब्द में कहें तो वे सभी वस्तुएं, जो इस विश्व का विशाल रूप बनाती हैं, ज्ञाता (आत्मा) की अपेक्षा बिना असत् हैं।...जहाँ तक मेरे द्वारा इनका ग्रहण नहीं होता अथवा मेरे मस्तिष्क में अथवा अन्य कोई प्राणी के मस्तिष्क में इनका अस्तित्व नहीं होता, वहाँ तक इनका कोई अस्तित्व नहीं है अथवा तो कोई शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क में ये विद्यमान हैं।"[1] इस प्रकार, बरकले भी विश्व को केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही मानते हैं। यद्यपि उन्होंने शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क में विद्यमान विश्व के रूप में[2] वस्तु-सापेक्ष विश्व का अस्तित्व स्वीकार किया है, फिर भी वह विश्व हमारी पहुँच से बाहर है। बरकले के बाद ह्यूम (Hume) के दर्शन ने सन्देहवाद (Scepticism) को जन्म दिया, जिससे विश्व के साथ आत्मा की वास्तविकता भी सन्दिग्ध हो गई। जर्मन दार्शनिक काण्ट (Kant) के दर्शन में वास्तविकता को पुनरुज्जीवित किया गया। परन्तु आदर्शवाद का प्रतिपादन तो उसने भी किया। अनुभव-प्राक् ज्ञान (a priori knowledge) को विशेष स्थान देकर काण्ट ने आदर्शवाद की ही पुष्टि की है। यद्यपि बरकले और ह्यूम ने तो वास्तविकतावाद से बिल्कुल ही सम्बन्ध तोड़ दिया था, काण्ट ने 'स्व-सापेक्ष वस्तुत्व' (thing-in-itself) को स्वीकार कर वास्तविकता के साथ कुछ सम्बन्ध रखा है। काण्ट के अनुसार हमारे ज्ञान में आने वाला समग्र विश्व आभास के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; जो पारमार्थिक वास्तविकता (transcendental reality) है, वह इससे सर्वथा भिन्न है।[3] इस प्रकार विभिन्न दार्शनिकों द्वारा प्रतिपादित आदर्शवाद में आत्मनिरूपणात्मक (Subjective) दृष्टि का तारतम्य है, किन्तु स्थूल रूप से यह कहा जा सकता है कि सभी आदर्शवादी दार्शनिक विश्व के वस्तुगत अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं।

वैज्ञानिकों का आदर्शवाद

प्राचीन दार्शनिक आदर्शवाद का प्रतिबिम्ब आधुनिक आदर्शवादी वैज्ञानिकों के विचारों में हमें देखने को मिलता है। आदर्शवादी वैज्ञानिकों की विचारधारा के अनुसार विज्ञान—विशेषतः भौतिक-विज्ञान—की गवेषणा का विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' है। प्रत्येक पदार्थ जिसको कि हम इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं, वस्तुतः तो गुणों का समुदाय मात्र है और ये गुण हमारे मस्तिष्क में ही अस्तित्व रखते हैं अर्थात् हमारी कल्पना से ही इनकी उत्पत्ति हुई है। इसलिए, जड़ पदार्थ और शक्ति, अणु और आकाशगंगा आदि रूप समग्र विश्व वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं रखता; केवल हमारी चेतना शक्ति के द्वारा रचित काल्पनिक प्रासाद के अतिरिक्त इसका कोई अस्तित्व नहीं है।[4] आपेक्षिकता के सिद्धान्त के आविष्कर्ता डा० अल्बर्ट आईन्स्टीन ने विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' है, इस अभिप्राय की पुष्टि की है।

सुप्रसिद्ध ब्रिटिश वैज्ञानिक सर जेम्स जीन्स ने इस विचारधारा का निरूपण अपनी पुस्तक 'दी मिस्टीयर्स युनिवर्स'

---

१ देखें, दी मिस्टीयर्स युनिवर्स, ले० सर जेम्स जीन्स, पृ० १२६।

२ सर जेम्स जीन्स ने बरकले की इस बात का स्पष्टीकरण किया है कि "किसी भी वस्तु-सापेक्ष पदार्थ का अस्तित्व मेरे मस्तिष्क में हो अथवा अन्य किसी प्राणी के मस्तिष्क में अथवा न भी हो, यह कोई खास बात नहीं है। क्योंकि कोई 'शाश्वत आत्मा' के मस्तिष्क में होने के कारण वे वस्तु-सापेक्ष हो ही जाते हैं।"

—दी मिस्टीयर्स युनिवर्स, पृ० १२७।

३ दी नेचर ऑफ मेटाफिजिक्स, पृ० १४।

४ देखें, दी युनिवर्स एण्ड डा० आईन्स्टीन, पृ० २२।

में किया है। जीन्स ने वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं किया है। किन्तु उनकी यह दृढ़ मान्यता है कि मनुष्य का ज्ञान (जिसमें विज्ञान भी समाहित है) इस वास्तविकता पर पहुँचने में असमर्थ है। अतः हमारे ज्ञान में आने वाला विश्व तो केवल ज्ञाता-सापेक्ष ही है। विज्ञान और गणित द्वारा विश्व का प्रतिपादन जिन संज्ञाओं के द्वारा होता है, वे केवल हमारे मस्तिष्क की उपज हैं। इन संज्ञाओं के द्वारा विश्व का वास्तविक तत्त्व कदापि नहीं जाना जा सकता। ये संज्ञाएं विश्व की प्रक्रियाओं का ही, जो ज्ञाता-सापेक्ष है, प्रतिपादन हैं।

पदार्थत्व (Substantiality) भी अपने-आप में कुछ नहीं है; केवल हमारी इन्द्रियों पर पड़ने वाले पदार्थों का प्रभाव है। किसी भौतिक पदार्थ की सामान्य रूप से ठोस कणों के समुदाय के रूप में कल्पना की जाती है। विज्ञान इसको तरंगों के साथ और गणित के सूत्रों (Formulae) के साथ जोड़ता है। जीन्स का अभिमत है कि ठोस कणों से बने हुए पत्थर आदि पदार्थों का पदार्थत्व जितना वास्तविक है उतना ही वास्तविक तरंगमय अथवा गाणितिक सूत्र द्वारा प्रतिपादित पदार्थ का है। किन्तु इस पदार्थत्व का सम्बन्ध भी केवल हमारे विचारों से ही है।

स्वयं जीन्स ने अपने विचारों को व्यक्त करते हुए लिखा है, "विश्व की सबसे अधिक उपयुक्त कल्पना यही है कि विश्व शुद्ध विचारों से बना है।...इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि हम वास्तविकतावाद को तिलांजलि दे रहे हैं और उसके स्थान में आदर्शवाद को आरूढ़ कर रहे हैं। फिर भी, मैं समझता हूँ, ऐसा कहना स्थिति का अपक्व अवलोकन होगा। क्योंकि, यदि यह बात सही है कि पदार्थों का वास्तविक तत्त्व हमारे लिए अज्ञेय है तो वास्तविकतावाद और आदर्शवाद के बीच की भेदरेखा को स्पष्ट रूप से परखना भी कठिन हो जाता है।...वस्तु-सापेक्ष वास्तविकताओं का अस्तित्व अवश्य है, क्योंकि कुछ पदार्थ आपकी चेतना को और मेरी चेतना को समान रूप से स्पर्श करते हैं। किन्तु, उन पदार्थों को 'वास्तविक' अथवा 'आदर्श' कहना तो हमारे अधिकार की बात नहीं है। मैं समझता हूँ कि इनको हम 'गाणितिक' की संज्ञा दे सकते हैं...ऐसी संज्ञा यह नहीं बताती कि वस्तु का मूल तत्त्व क्या है, वह तो केवल इतना ही सूचित करती है कि पदार्थ किस प्रकार कार्य करते हैं।"[1]

आदर्शवादी विचारधारा के पोषक वैज्ञानिकों में सर० ए० एस० एडिंग्टन मुख्य रूप से हैं। एडिंग्टन ने वैज्ञानिक दर्शन को 'सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद' (Selective Subjectivism) के रूप में माना है, जो कि बरकले के ज्ञाता सापेक्षवाद से काफी भिन्न है। एडिंग्टन के अनुसार विश्व न तो ज्ञाता-सापेक्ष है और न केवल वस्तु-सापेक्ष; और न ज्ञाता-सापेक्ष व वस्तु-सापेक्ष पदार्थों और गुणों का सरल सम्मिश्रण है। परन्तु, विज्ञान द्वारा विश्व का जो ज्ञान हमें होता है, वह अधिकतर प्रेक्षणों पर आधारित होने के कारण, ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता पर अधिक प्रकाश डालता है। शुद्ध वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता 'आत्मा' है, जब कि भौतिक विश्व 'ज्ञाता-सापेक्ष' है। अतः वस्तु-सापेक्ष विश्व सम्बन्धी ज्ञान भौतिक विज्ञान नहीं करा सकता। भौतिक विज्ञान के नियम ज्ञाता-सापेक्ष विश्व के नियम हैं। जैसे कि उन्होंने लिखा है, "भौतिक विज्ञान के मूलभूत नियम और अचर (संख्याएं) पूर्णतः ज्ञाता-सापेक्ष हैं, क्योंकि वे ज्ञाता की इन्द्रियों और बुद्धि रूप साधनों का इन साधनों—इन्द्रियों और बुद्धि—द्वारा होने वाले ज्ञान पर जो प्रभाव पड़ता है, उसको व्यक्त करते हैं।"[2]

विज्ञान-जगत् के एक प्रमुख विचारक पोइनकारे (Poincare) ने यह अशक्य माना है कि ज्ञाता (आत्मा) के बिना कोई वास्तविकता का अस्तित्व हो सकता है। पोइनकारे के शब्दों में, "किसी भी वास्तविकता का अस्तित्व, जिस आत्मा (ज्ञाता) के द्वारा उसका अनुमान किया जाता है, वह देखी जाती है अथवा अनुभूत होती है, उस आत्मा के बिना स्वतन्त्र रूप से होना अशक्य है। इतना अधिक बहिःस्थित विश्व यदि अस्तित्वमान हो, तो भी वह सदा के लिए हमारी पहुँच से बाहर रहेगा। जिसको हम 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' मानते हैं, सही अर्थ में तो वह वही है, जो बहुत सारे चिन्तनशील प्राणियों के लिए समान रूप में है और संभवतः सभी प्राणियों के लिए समान रूप में हो।"[3]

---

१ दी मिस्टीर्यस युनिवर्स, पृ० १२४, १२७।
२ दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साइन्स, पृ० १०४।
३ दी वेल्यु ऑफ साइन्स, सर ए० एस० एडिंग्टन द्वारा न्यू पाथवेज इन साइन्स, पृ० १ पर उद्धृत।

दार्शनिक वास्तविकतावाद

'विश्व का अस्तित्व वास्तविक है और पदार्थों की वास्तविकता स्व-आधारित है।' यह वास्तविकतावाद है। इसके भी अनेक रूप बने हैं। इनके भिन्न-भिन्न मतों का सूक्ष्म विश्लेषण न करके केवल स्थूल दृष्टि से इनकी मान्यता का प्रतिपादन यहाँ किया जा रहा है। आदर्शवाद में वास्तविकता का आधार ज्ञाता है, जबकि वास्तविकतावाद में पदार्थ या वस्तु है। हम किसी एक भौतिक पदार्थ को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं। रंग, स्पर्श आदि गुणों के द्वारा पदार्थ का ज्ञान हम करते हैं। अब, आदर्शवाद कहता है कि ज्ञाता के इन रंग आदि गुणों के ग्रहण से ही वस्तु अस्तित्व में आता है, अतः वह ज्ञाता-सापेक्ष है। जबकि वास्तविकतावाद के अनुसार हम केवल रंग आदि गुणों का ग्रहण ही नहीं करते। इसके अतिरिक्त हम 'कोई पदार्थ' के रूप में वस्तु को जानते हैं। अतः पदार्थ स्वयं में वास्तविक है अर्थात् हमारे द्वारा ग्रहण होने पर ही अस्तित्व में नहीं आता है; अपने-आप में—ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी—इसका वास्तविक अस्तित्व है।

पाश्चात्य दार्शनिकों में प्राचीन यूनानी दार्शनिक परमेनिडस (Parmenides) ने पदार्थ के शाश्वत अस्तित्व को स्वीकार कर इस विचारधारा को मान्य रखा है। डेमोक्रिटस (Democritus) ने 'अणु' के रूप में वास्तविकता को स्वीकार किया है। यद्यपि डेमोक्रिटस ने स्पर्श, रस, वर्ण आदि अणु के गुणों को वस्तु सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार नहीं किया है, फिर भी अणु, जोकि सभी पदार्थों की इकाइयों के रूप में हैं, वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व रखते हैं, ऐसा माना है।

अरस्तु (Aristotle) ने प्लुतो के 'विचारों के सिद्धान्तों' (Theory of Ideas) का खण्डन किया और उसके स्थान में 'पदार्थ' (Substance) और 'अस्तित्व' (Essence) के सिद्धान्त के रूप में वास्तविकतावाद का समर्थन किया। अरस्तु के दर्शन से प्रभावित होने वाला ईसाई धर्म के अधिकारियों का दर्शन पाण्डित्यवाद (Scholasticism) वास्तविकतावाद का प्रबल पोषक है। पाण्डित्यवादियों ने (जिसमें ईसाई धर्म के सेंट थोमस आदि प्रसिद्ध पादरियों का समावेश होता है), "विश्व में अनेक पदार्थ हैं और ये अपना-अपना वास्तविक रखते हैं", इस रूप में विश्व की वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता स्वीकार की है।[1] आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के आदि दार्शनिक रेने डेकार्टस (Rene Descartes) ने स्पष्ट रूप से वास्तविकतावाद को स्वीकार किया है। डेकार्टस के अस्तित्ववाद (Ontology) में वास्तविक अस्तित्व के विषय में चिन्तन किया गया है।[2] ईश्वर के अतिरिक्त दो प्रकार के पदार्थों का वास्तविक (वस्तु-सापेक्ष) अस्तित्व डेकार्टस ने बताया है। एक तो भौतिक पदार्थ अथवा जड़ (matter) और दूसरा मानसिक पदार्थ अथवा मन; इस प्रकार के विभागीकरण को तात्त्विक वास्तविकतावाद (Metaphysical realism) कहा गया है।[3]

आधुनिक दार्शनिक बर्ट्रेण्ड रसेल (Bertrand Russell) ने वैज्ञानिक और गाणितिक तथ्यों के आधार पर एक नया दर्शन दिया है। उन्होंने अपने दर्शन में गणित और तर्क को प्रधानता दी है और गणित को प्रधानता देने का कारण यही है कि गणित के द्वारा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का प्रतिपादन किया जा सकता है।[4] इन्द्रियों की सहायता से होने वाले पदार्थों के ज्ञान अथवा अनुभूति (Perception) के विषय में वे लिखते हैं: "अनुभूति कुछ अंशों में तो अनुभूत पदार्थ का प्रभाव ही है और इसलिए अनुभूति और अनुभूत पदार्थ में सादृश्य होना ही चाहिए, अन्यथा वह अनुभूति पदार्थ का ज्ञान नहीं करा सकती।......" इस प्रकार पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व हुए बिना हमारी अनुभूति पर उसका प्रभाव नहीं हो सकता तथा अनुभूति और अनुभूत पदार्थ की सदृशता भी तभी हो सकती है, जब अनुभूत

---

१ देखें, कोस्मोलोजी, ले० जेम्स ए० मेकविलियम्स, पृष्ठ ४८-५७, ७६

२ दी नेचर ऑफ मेटाफिजक्स, पृ० ११

३ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, ले० हाईसनबर्ग, पृ० ७५

४ देखें, दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी, पृ० ३५६

५ हिस्ट्री आफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ८६१

पदार्थ का स्वतन्त्र वास्तविक अस्तित्व हो।

प्रो० हेन्री मार्गेनौ आधुनिक विज्ञान के माने हुए विद्वान् हैं और वैज्ञानिक दर्शन के विषय में अपना स्वतन्त्र और मौलिक दृष्टिकोण रखते हैं। प्रो० मार्गेनौ ने 'आधुनिक भौतिक-विज्ञान के दर्शन' सम्बन्धी 'भौतिक वास्तविकता का स्वरूप' नामक पुस्तक लिखी है, जिसमें ज्ञान-मीमांसा और वैज्ञानिक पद्धतियों के आधार पर 'वास्तविकता' पर प्रकाश डाला है। वास्तविकता की ज्ञाता-सापेक्षता को अस्वीकार करते हुए वे लिखते हैं : "हम चाहते हैं कि वास्तविकता हमारे छिछले ऐन्द्रिय-ज्ञान से अधिक शाश्वत हो : वृक्ष तभी वास्तविक है जब कि वह मेरी खिड़की के सामने सदा ही अस्तित्व में हो,चाहे मैं उसको किसी समय न भी देखता हूँ।"[१] "वास्तविकता पदार्थ-सदृश होनी चाहिए, विचार-सदृश नहीं।...कोई भी व्यक्ति तर्क-सम्मत दृष्टि से ऐसा नहीं कह सकता कि सरल से सरल प्रकार के पदार्थ के भी सभी गुण बहिर्जन्य हैं अर्थात् केवल इन्द्रियों की अनुभूति के द्वारा उसमें आरोपित होते हैं।"[२] इन उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता का केवल ज्ञाता-सापेक्ष होना, मार्गेनौ स्वीकार नहीं करते। मार्गेनौ की विचारधारा के अनुसार पदार्थों का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व पूर्ण रूप से इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं होता; फिर भी कुछ एक साधनों के द्वारा ऐन्द्रिय अनुभूति और वास्तविक पदार्थों के बीच सम्बन्ध हो सकता है। किन्तु ये साधन केवल काल्पनिक या आदर्श नहीं हैं। ऐसे साधनों को उन्होंने 'कन्स्ट्रक्ट्स' (Constructs)[3] कहा है। वे मानते हैं कि इनके द्वारा आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के बीच का मार्ग निकलता है।[४]

वैज्ञानिकों का वास्तविकतावाद

वास्तविकतावादी वैज्ञानिकों का यह अभिमत है कि जितने भी पदार्थों का ज्ञान हम करते हैं, वे सभी स्वतन्त्र रूप से अपना-अपना वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। ज्ञाता की अपेक्षा बिना भी उनका अस्तित्व बना रहता है। फोन वाइजसेइकर (von Weizsaker) के शब्दों में "प्रकृति मनुष्य से पूर्वतर है।" यद्यपि वास्तविकतावाद का निरूपण कुछ सूक्ष्म भेद के साथ किया गया है और जिससे वास्तविकतावाद के सरल वास्तविकतावाद (Simple or Naive Realism), विवेचनात्मक वास्तविकतावाद (Critical Realism), भौतिकवाद (Materialism), विधानवाद (Positivism) आदि अनेक प्रकार होते हैं; फिर भी सभी मुख्य रूप से विश्व को वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के रूप में स्वीकार करते हैं।

आधुनिक युग के प्रमुख वैज्ञानिक वरनर हाईसनबर्ग (Heisenberg) वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता के निरूपण को ही विज्ञान का लक्ष्य मानते हैं।[५] उदाहरणार्थ क्वांतम सिद्धान्त (Quantum Theory) में 'सम्भावना फलन' (Probability Function), जो कि आणविक कणों के स्थान और वेग सम्बन्धी एक गाणितिक संज्ञा है, के विषय में उन्होंने लिखा है, "इसमें ज्ञाता-सापेक्ष और वस्तु-सापेक्ष तत्त्व जुड़े हुए हैं। 'सम्भावना फलन' में वे कथन भी हैं, जो कि पूर्णता वस्तु-सापेक्ष हैं और वे कथन भी हैं, जो कि हमारे ज्ञान के विषय में होने के कारण ज्ञाता-सापेक्ष हैं। किन्तु शुद्ध रूप में, सम्भावना फलन में ज्ञाता-सापेक्ष तत्त्व, वस्तु-सापेक्ष तत्त्वों की अपेक्षा में नगण्य होते हैं।"[६] विश्व का वस्तु-सापेक्ष निरूपण करने में हम कहाँ तक समर्थ हैं, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है[७], "विज्ञान की यह मान्यता शुरू से रही है कि ज्ञाता-निरपेक्ष दृष्टि से विश्व का निरूपण किया जा सकता है। वस्तुतः यह अधिकांशतया शक्य हुआ

---

१ दी नेचर ऑफ फिज़िकल रीयालिटी, पृ० ४

२ वही, पृ० ५, ६

३ यह पारिभाषिक शब्द है, अतः इसका शब्दशः हिन्दी-अनुवाद नहीं दिया गया है।

४ देखें, दी नेचर ऑफ फिज़िकल रीयालिटी, पृ० ७१

५ फिज़िक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ७६, १२५, १२६

६ वही, पृ० ५३

७ वही, पृ० ५४, ५५

है। हम जानते हैं कि लन्दन शहर का अस्तित्व है, चाहे हम उसे देखें या नहीं...। उसकी (विज्ञान की) सफलता ने विश्व के वस्तु-सापेक्ष विवेचन के लक्ष्य तक हमें पहुँचाया है। 'वस्तु-सापेक्षता' किसी भी वैज्ञानिक निष्कर्ष की प्रथम कसौटी बन चुकी है।" लोक, बरकले, ह्यू म आदि आदर्शवादी दार्शनिकों की विचारधारा का खण्डन करते हुए हाईसनबर्ग लिखते हैं, "हमारी अनुभूतियाँ केवल वर्ण और शब्दों की गठरियाँ नहीं हैं; जिस पदार्थ का हम ज्ञान करते हैं, वह 'कोई वस्तु' के रूप में पहले ही अनुभव में आ जाता है; यहाँ 'वस्तु' शब्द पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अतः यदि हम वास्तविकता का पारमार्थिक तत्त्व 'वस्तुओं' को न मानकर, अनुभूतियों को मानते हैं तो हम निःसंदिग्ध रूप से गलती करते हैं।"[1]

वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को प्राथमिकता देने वाले वैज्ञानिकों में ब्रिटिश वैज्ञानिक सर एडमण्ड ह्वीट्टाकर (Whittaker) का नाम उल्लेखनीय है। वास्तविकता की परिभाषा करते हुए वे लिखते हैं, "जो सभी ज्ञाताओं द्वारा समान रूप से जाना जाये, वह 'वास्तविकता' है।"[2] इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि वास्तविकता का स्वरूप ज्ञाता-सापेक्ष न होकर वस्तु-सापेक्ष है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण ह्वीट्टाकर ने स्वयं किया है, "यद्यपि उक्त परिभाषा से वास्तविकता का ज्ञान, इन्द्रियों द्वारा विषय-ग्रहण और व्यक्तिगत मन द्वारा बुद्धिपूर्वक चिन्तन पर आधारित हो जाता है, फिर भी वास्तविकता स्वयं में किसी भी व्यक्ति के मन (ज्ञाता) से स्वतन्त्र है और व्यक्तियों (ज्ञाता) के जन्म और मृत्यु का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।"[3] ह्वीट्टाकर का यह स्पष्ट अभिमत है कि वैज्ञानिक नियमों को गाणितिक रूप देने से सम्पूर्णतः वस्तु-सापेक्ष दृष्टि से वास्तविकता का विवेचन किया जा सकता है।[4]

हंस राइशनबाख़ (Hans Reichenbach) बीसवीं सदी के माने हुए गणितज्ञ और दार्शनिक थे। राइशनबाख़ ने वैज्ञानिक दर्शन की चर्चा करते हुए लिखा है कि वैज्ञानिक दर्शन का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण ध्येय है—समस्त दार्शनिक ज्ञान की कसौटी के रूप में 'वस्तु-सापेक्ष सत्य' की स्थापना करना।[5] राइशनबाख़ ने गाणितिक आधारों पर 'आकाश और काल' सम्बन्धी नवीन वैज्ञानिक धारणाओं का मौलिक प्रतिपादन करके विश्व के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को सिद्ध किया है।[6]

आधुनिक वैज्ञानिकों में सी० ई० एम० जोड (C. E. M. Joad) का नाम सुप्रसिद्ध है। जोड ने 'दर्शन का मार्गदर्शन' (Guide to Philosophy) नामक अपनी पुस्तक में वास्तविकता के स्वरूप-विषयक ज्ञाता-सापेक्ष आदर्शवाद, वास्तविकतावाद, विधानवाद, आधुनिक आदर्शवाद आदि नाना वादों की चर्चा की है। वास्तविकतावाद का निरूपण करते हुए वे लिखते हैं, "यह स्पष्ट है कि जब कभी मैं किसी भी प्रकार की अनुभूति करता हूँ—चाहे मैं स्वप्न देखता हूँ या चिन्तन करता हूँ, चाहे मुझे भ्रम अथवा आभास होता है अथवा मैं केवल अनुभव ही करता हूँ, तब कोई-न-कोई वस्तु स्वप्न में दिखाई देती है, चिन्तन में आती है, भ्रम या आभास के रूप में आती है अथवा उसका केवल अनुभव ही होता है; और मेरे मस्तिष्क का उस पदार्थ के साथ कोई-न-कोई रूप में सम्बन्ध होता है।"[7] इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि बाह्य पदार्थ का अपना अस्तित्व ज्ञाता के मस्तिक से (अथवा विचार से) भिन्न है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि "सभी प्रकार के मानसिक कार्यों में यह लाक्षणिक समानता है कि ज्ञाता से भिन्न तत्त्व का ज्ञान उनमें होता है। मानसिक कार्य का अर्थ यही होता है कि मन से भिन्न 'कोई पदार्थ' का ज्ञान उसमें होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि 'कोई अन्य पदार्थ' जिसका ज्ञान होता है, वह ज्ञाता के ज्ञान के कारण किसी भी प्रकार से प्रभावित

---

१ फिजिक्स एण्ड फिलोसोफी, पृ० ७७
२ फ्रॉम युक्लिड टू एडिंग्टन, पृ० २
३ वही, पृ० ३, ४
४ देखें, वही, पृ० ४
५ दी फिलोसोफी ऑफ स्पेस एण्ड टाइम, इण्ट्रोडक्शन, पृ० १६
६ इसके विवेचन के लिए देखें, वही, पृ० २८६ से २८८
७ गाइड टू फिलोसोफी, पृ० ६६

नहीं होता है। (वास्तविक) अनुभूति के आधार पर इसी तथ्य को दूसरे शब्दों में कहा जाये तो पदार्थ वस्तुतः वही है, जो यदि ज्ञाता द्वारा ग्रहण न भी होता हो, तो भी उसी रूप में रहता है।"[१] इस प्रकार, पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व है; इन्द्रियों या मन द्वारा उसके ग्रहण (perceiving) होने से हमारा (ज्ञाता का) उसके साथ सम्बन्ध होता है, किन्तु इस क्रिया से उस पदार्थ के अस्तित्व पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भौतिकवादी सोवियत वैज्ञानिक आदर्शवाद के कड़े विरोधी हैं। इसका कारण केवल यही नहीं है कि वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते; किन्तु वे मानते हैं कि सभी पदार्थों के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार किये बिना विज्ञान बहुत सारी समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ बन जाता है। 'विश्व और परमाणु' के लेखक वैज्ञानिक व० मेजन्तसेव ने लिखा है: "भौतिकवाद के दुश्मन आदर्शवादी पदार्थ के वस्तुगत (मनुष्य को छोड़कर) अस्तित्व को अस्वीकार कर पदार्थ की अक्षयता के विधान को भी अस्वीकार करते हैं। ये अपनी हठधर्मी से इस महान् विधान को गलत साबित करने की कोशिश में लगे रहते हैं।

"साथ ही वे 'शून्य' से पदार्थ की उत्पत्ति और 'शून्य' में ही उसके रूपान्तर की सम्भावना के अनर्थक ख्याल को सिद्ध करने की कोशिश करते हैं।"[२] मार्क्स के दार्शनिक भौतिकवाद का आधार लेकर सोवियत वैज्ञानिकों ने पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को प्रमाणित किया है। उदाहरणार्थ 'प्रकाश' के विषय में न्यूटन (Newton) से लेकर अब तक विविध प्रकार के सिद्धान्त वैज्ञानिक जगत् में आये हैं। प्रकाश 'तरंगरूप' है या 'कणों के समुदाय' के रूप में है, इस समस्या ने वैज्ञानिकों को काफी व्यथित किया है। कुछ एक प्रक्रियाएं प्रकाश को स्पष्ट रूप से तरंगमय बताती हैं, तो दूसरी ओर कुछ एक प्रक्रियाएं उसको कण-समुदाय के रूप में स्थापित करती हैं। इतना ही नहीं, कुछ प्रक्रियाएं पदार्थ-कणों को भी तरंगमय बताती हैं। इस प्रकार पदार्थ एवं प्रकाश तरंगमय भी हैं और कणरूप भी। अतः द्रव्य, अर्थात् पदार्थ और प्रकाश में तरंगों एवं कणों, दोनों के गुण साथ होते हैं; पर पूर्णरूप में न तो वह तरंगें हैं, न कण और न दोनों का मिश्रण ही। प्रकाश और पदार्थ के बीच में किस प्रकार का सम्बन्ध है, इसका स्पष्टीकरण अब तक विज्ञान नहीं कर पाया है, फिर भी प्रकाश और पदार्थ का वस्तु-सापेक्ष निरूपण करने में वह सफल रहा है, ऐसा सोवियत वैज्ञानिकों का मानना है।[३] जे० वी० स्तालिन ने इसके सम्बन्ध में लिखा है, "आदर्शवाद के विपरीत, जो विश्व और उसके नियमों को जानने की सम्भावना को अस्वीकार करता है, जो हमारे ज्ञान की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करता, वास्तविक सत्य को नहीं मानता और यह मानता है कि संसार स्वयं-सीमित वस्तुओं से, जिन्हें विज्ञान कभी नहीं जान सकता, भरा है, मार्क्सवादी दार्शनिक भौतिकवाद का मत है कि विश्व और उसके नियम पूर्णतः ज्ञातव्य हैं, प्रयोग तथा व्यावहारिकता द्वारा परीक्षित, प्रकृति के नियमों का हमारा ज्ञान प्रामाणिक ज्ञान है, और उसमें वास्तविक सत्य की प्रामाणिकता है तथा संसार में ऐसी वस्तुएं नहीं हैं, जो अज्ञातव्य हों; उसमें केवल वे वस्तुएं हैं जो अब ज्ञात न भी हों, किन्तु जो विज्ञान की चेष्टाओं एवं व्यावहारिकता से प्रकट और ज्ञात हो जायेंगी।"[४] स्तालिन के इस कथन में स्पष्टतः आदर्शवाद का खण्डन कर वास्तविकतावाद की स्थापना की गई है।

जैन दर्शन की तत्त्व-मीमांसा

जैन दर्शन वास्तविकतावादी है, किन्तु साथ में अनेकान्तवादी भी। लोक (विश्व) की व्याख्या करते हुए जैन दर्शन में कहा गया है, "जिसमें छः प्रकार के द्रव्य हैं, वह लोक है"[५] इन छः द्रव्यों के नाम इस प्रकार हैं—

१ गाइड टू फिलोसोफी, पृ० ७४
२ विश्व और परमाणु (हिन्दी-अनुवाद), पृ० १४२
३ देखें, स० इ० वाविलोव द्वारा लिखित 'नेत्र और सूर्य' (हिन्दी-अनुवाद), पृ० ५८-६१
४ सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी का इतिहास, (संक्षिप्त पाठ्यक्रम) पृ० १७८, (नेत्र और सूर्य, पृ० ६२ से उद्धृत)
५ षड्-द्रव्यात्मको लोकः।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-८

१. धर्मास्तिकाय	:	गति-सहायक	द्रव्य
२. अधर्मास्तिकाय	:	स्थिति-सहायक	द्रव्य
३. आकाशास्तिकाय	:	आश्रय देने वाला	द्रव्य
४. काल	:	समय	
५. पुद्गलास्तिकाय	:	मूर्त जड़ पदार्थ	(Matter)
६. जीवास्तिकाय	:	चैतन्यशील आत्मा	(Soul)

इन छः द्रव्यों की सह-अवस्थिति 'लोक' है।[1] इस प्रकार की द्रव्य-मीमांसा जैन दर्शन की अपनी विशेषता है। इन छः द्रव्यों में से 'काल' को छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय कहे गये हैं। 'अस्तिकाय' का तात्पर्य है कि ये द्रव्य सप्रदेशी[2]—सावयवी हैं। 'काल' द्रव्य के प्रदेश नहीं होते। अतः उसे अस्तिकाय नहीं कहा गया है। इस कारण से कहीं-कही लोक की चर्चा करते हुए लोक को 'पंचास्तिकायरूप' बताया गया है।[3] संक्षिप्त में जिसको हम 'विश्व' (Universe) की संज्ञा देते हैं, वह 'लोक' है।

'द्रव्य' की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि "गुण और पर्यायों के आश्रय को द्रव्य कहते हैं।"[4] अर्थात् द्रव्य वह है, जिसमें गुण और पर्याय (अवस्थाएं) होती हैं: प्रत्येक द्रव्य में दो प्रकार के धर्म रहते हैं—एक तो सहभावी धर्म (गुण) जो द्रव्य में नित्य रूप से रहता है, दूसरा क्रमभावी धर्म (पर्याय) जो परिवर्तनशील होता है। गुण भी दो प्रकार के हैं—सामान्य गुण और विशेष गुण। सामान्य गुण वे हैं, जो सभी द्रव्यों में निश्चित रूप से होते हैं। जैसे[5] अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व और अगुरुलघुत्व। ये छः गुण सामान्य गुण हैं, अतः प्रत्येक द्रव्य में ये गुण होते ही हैं। अस्तित्व गुण उसे कहते हैं, जिस गुण के कारण द्रव्य का कभी विनाश न हो अर्थात् द्रव्य सदा विद्यमान रहता है—कभी नष्ट नहीं होता। वस्तुत्व गुण का अर्थ होता है द्रव्य का सदा किसी-न-किसी प्रकार की अर्थक्रिया करते रहना। प्रत्येक द्रव्य अन्य पदार्थों के साथ अनेक प्रकार के सम्बन्धों से जुड़ता है और अन्य पदार्थों के द्वारा प्रभावित भी होता रहता है। किन्तु इन क्रिया-प्रतिक्रियाओं में भी द्रव्य 'वस्तुत्व' गुण के कारण अपनेपन को नहीं छोड़ता। 'द्रव्यत्व' गुण यह है जिसके कारण द्रव्य गुण और पर्यायों को धारण करता है। प्रतिक्षण प्रत्येक द्रव्य की अवस्था बदलती रहती है। इन अवस्थाओं के परिवर्तन से द्रव्य में 'उत्पत्ति और विनाश' का क्रम चलता रहता है। 'प्रमेयत्व' गुण के कारण द्रव्य ज्ञान द्वारा जाना जा सकता है। जो प्रमाण (यथार्थ ज्ञान) का विषय बन सकता है, वह 'प्रमेय' है। प्रदेशत्व गुण के कारण द्रव्य के प्रदेशों का माप होता है। प्रत्येक द्रव्य का विस्तार (extension) उसके प्रदेशवान् होने के कारण होता है।

---

१ धम्मो अधम्मो आगासं, कालो पुग्गल-जन्तवो।
एस लोगोत्ति पन्नतो, जिणेहि वरदंसिहि ॥
—उत्तराध्ययन सूत्र, २८-७

२ 'प्रदेश' शब्द का अर्थ है—द्रव्य का 'निरंश अवयव'। निरंशः प्रदेशः ॥
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-२३

३ 'किमियं भन्ते ! लोएत्ति पवुच्चइ ?'
'गोयमा ! पंचत्थिकाया, एस णं एवतिए लोएत्ति पवुच्चइ तंजहा—
धम्मत्थिकाए, अहम्मत्थिकाए जाव पोग्गलत्थिकाए।'
—भगवती सूत्र, १३-४-४८१

४ गुणपर्यायाश्रयो द्रव्यम्।
—श्री जैन सिद्धान्त दीपिका, १-३

५ आद्योऽस्तित्ववस्तुत्वद्रव्यत्वप्रमेयत्वप्रदेशत्वाऽगुरुलघुत्वादि।
—वही, १-४२

अगुरुलघुत्व गुण के कारण द्रव्य में अनन्त धर्म एकीभूत होकर रहते हैं—बिखर कर अलग-अलग नहीं हो जाते। इसी गुण के कारण प्रत्येक द्रव्य के 'स्वरूप' की अविचलता होती है।

प्रत्येक द्रव्य (अस्तिकाय) एक वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता है। इनमें से पुद्गल द्रव्य और जीव द्रव्य, विश्व के सक्रिय और महत्त्वपूर्ण द्रव्य हैं और पश्चिमी दर्शनों में तथा विज्ञान में इनकी ही चर्चा विशेष होने के कारण यहाँ पर संक्षिप्त में इनका स्वरूप-चिन्तन किया गया है।

पुद्गल और जीव

'पुद्गल' शब्द जैन दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। जो वर्ण, स्पर्श, गन्ध और रस—इन गुणों से युक्त है, वह पुद्गल है। पुद्गल का आधुनिक पर्यायवाची शब्द जड़ (matter) अथवा भौतिक पदार्थ (Physical Substance) हो सकता है। किन्तु, ऊर्जा (energy), जो कि वस्तुतः जड़ का ही एक रूप है, पुद्गल के अन्तर्गत आ जाती है। पुद्गल के सूक्ष्मतम अविभाज्य अंश को परमाणु कहा जाता है। विश्व (लोकाकाश) में परमाणुओं की संख्या अनन्त है और प्रत्येक परमाणु स्वतन्त्र इकाई है। जब ये परमाणु परस्पर जुड़ते हैं, तब स्कन्ध का निर्माण होता है। स्कन्ध में दो से लेकर अनन्त परमाणु हो सकते हैं। लोकाकाश के जितने भाग को एक परमाणु अवगाहित करता है, उतने भाग को 'प्रदेश' कहा जाता है। किन्तु, पुद्गल की स्वाभाविक अवगाहन-संकोच शक्ति के कारण लोकाकाश के एक प्रदेश में 'अनन्त-प्रदेशी' (अनन्त परमाणुओं से बना हुआ) स्कन्ध भी ठहर सकता है। समग्र लोकाकाश में (जो कि असंख्यात प्रदेशात्मक है) अनन्त 'अनन्त-प्रदेशी' स्कन्ध विद्यमान हैं। इस प्रकार द्रव्य-संख्या की दृष्टि से पुद्गल द्रव्य अनन्त हैं, क्षेत्र की दृष्टि से स्वतन्त्र परमाणु एक प्रदेश का अवगाहन करता है और स्वतन्त्र स्कन्ध एक से लेकर असंख्यात प्रदेशों का अवगाहन करता है तथा समग्र पुद्गल द्रव्य समस्त लोक में व्याप्त है; काल की दृष्टि से अनादि और अनन्त है; स्वरूप की दृष्टि से वर्ण, स्पर्श आदि गुणों से युक्त, चैतन्य-रहित और मूर्त है।

छः द्रव्यों में केवल जीव द्रव्य ही चैतन्य युक्त माना गया है। 'जीव' शब्द 'आत्मा' (Soul) का पर्यायवाची है। चैतन्य (Consciousness) इसका मुख्य लक्षण है। द्रव्य की दृष्टि से जीव की संख्या अनन्त है और प्रत्येक जीव अथवा आत्मा स्वतन्त्र इकाई है। क्षेत्र की दृष्टि मे एक स्वतन्त्र जीव कम-से-कम लोक के असंख्यात भाग प्रमाण किन्तु असंख्यात-प्रदेशात्मक आकाश का अवगाहन करता है और अधिक-से-अधिक समग्र 'लोकाकाश' का अवगाहन भी कर सकता है। सभी जीव द्रव्यों की अपेक्षा से समस्त लोक में जीव द्रव्य व्याप्त है। काल की दृष्टि से प्रत्येक जीव अनादि और अनन्त है। स्वरूप की दृष्टि से जीव अमूर्त, वर्ण आदि गुणों से रहित और चैतन्य-युक्त है। ज्ञान चैतन्य की ही प्रवृत्ति होने से जीव का गुण है।

जीव और विशेष प्रकार के पुद्गल-स्कन्ध जिनको 'कर्म' कहा जाता है, परस्पर में सम्बन्धित होते हैं। जीव की विविध प्रवृत्तियों और क्रियाओं के कारण कर्म-पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होता है और उन क्रियाओं के अनुसार कर्म-पुद्गल विविध रूप में जीव को प्रभावित करते हैं। विश्व में जितने भी प्राणी (जीव) हैं वे सभी जहाँ तक कर्म-पुद्गलों से युक्त होते हैं, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु आदि परिणामों को भोगते रहते हैं और कर्म-पुद्गलों से जो मुक्त हो जाते हैं, वे इन सभी परिणामों से भी मुक्त हो जाते हैं और 'परमात्मा' अथवा 'सिद्ध' की संज्ञा को प्राप्त करते हैं।

समीक्षा

आदर्शवाद और जैन दर्शन

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि अनेकानेक दार्शनिकों ने और वैज्ञानिकों ने इस जटिल पहेली को हल करने का प्रयत्न किया है। पश्चिम में 'विश्व के स्वरूप' का प्रतिपादन मुख्यतया आदर्शवाद और वास्तविकतावाद के रूप में हुआ है। आदर्शवादी वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्व की वस्तु-निष्ठ वास्तविकता को अस्वीकार कर प्रत्यय (Idea), विचार (Thought), अनुभूति (Perception), ईश्वर (God), आत्मा (Soul), चैतन्य (Consciousness)

आदि तत्त्वों में विश्व की वास्तविकता का प्रतिपादन करते हैं। जहाँ केवल ईश्वर (अथवा ब्रह्म) नामक तत्त्व को सत् (वास्तविक) माना गया है और शेष विश्व को असत् (मिथ्या) प्रतिपादित किया गया है, वहाँ सर्वेश्वरवाद (Pantheism) के रूप में आदर्शवाद प्रकट हुआ है। भारतीय वेदान्त दर्शन की विचारधारा—'ब्रह्म सत्, जगत् मिथ्या'—भी इस रूप में आदर्शवाद को ही स्वीकार करती है। इस प्रकार के आदर्शवाद में केवल एक तत्त्व (ईश्वर) वास्तविक अस्तित्व रखता है और शेष विश्व केवल काल्पनिक माना जाता है अथवा उसी एक तत्त्व का ही रूप माना जाता है।

आदर्शवाद की दूसरी धारा अनुभूति में आने वाले विश्व को 'ज्ञाता-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप में मानती है। इस विचारधारा के अनुसार—वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व तो है; किन्तु वह पारमार्थिक है। मनुष्य का ज्ञान और एन्द्रिय अनुभूति इस वास्तविक तत्त्व को ग्रहण नहीं कर सकती। जो कुछ भी मनुष्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करता है, वह सभी आभास रूप है—अवास्तविक है।

आदर्शवाद का एक रूप अनुभववाद (Empiricism) है। इसके अनुसार जब हम किसी भी पदार्थ का चिन्तन करते हैं अथवा उसको इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करते हैं, तब वह पदार्थ अस्तित्व में आता है; मूलतः पदार्थों का कोई वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व नहीं है। यह वाद 'अनुभूति' को विश्व की वास्तविकता का मूल तत्त्व मानता है।

आदर्शवादी वैज्ञानिकों की विचारधारा के अनुसार 'भौतिक पदार्थ' (Matter) का स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व नहीं है, किन्तु केवल आत्मा (Soul) ही स्वतन्त्र 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' है। भौतिक विज्ञान का क्षेत्र केवल ज्ञाता-सापेक्ष वस्तुओं तक सीमित रह जाता है। वस्तु-सापेक्ष विश्व का ज्ञान इसके क्षेत्र में सन्निहित नहीं हो सकता।

इसके अतिरिक्त आदर्शवाद के अनेक रूप दर्शन-जगत में प्रचलित हुए हैं। जैन दर्शन के साथ आदर्शवाद की विचारधारा का सादृश्य भी है, वैसदृश्य भी। जैन-दर्शन आत्मवादी दर्शन है। आत्मा को जैन दर्शन में स्वतन्त्र द्रव्य—'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप में माना गया है। आत्मा चैतन्य-युक्त तत्त्व है और ज्ञान उसका सहज गुण है। आत्मा जब अपने शुद्ध स्वरूप में स्थित होती है तब सर्वज्ञता को प्राप्त कर लेती है। ऐसी अवस्था में आत्मा स्वयं परमात्मा अथवा ईश्वर बन जाती है। इस अर्थ में तो जैन दर्शन ईश्वरवादी भी है।

आत्मवादी अथवा ईश्वरवादी होने पर भी जैन दर्शन की विचारधारा को हम 'आदर्शवादी' नहीं कह सकते। तत्त्व-मीमांसा के दृष्टिकोण से देखा जाय तो जैन दर्शन स्पष्ट रूप से वास्तविकतावादी अथवा यथार्थवादी ही है। जैन दर्शन आत्मा के अतिरिक्त भी विश्व का वास्तविक अस्तित्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अस्तिकायवाद में पंच अस्तिकाय अस्तित्व की अपेक्षा से सर्वथा स्वतन्त्र और 'वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता' के रूप में माने गये हैं। इनमें भी आत्मा (जीवास्तिकाय) और पुद्गलास्तिकाय संख्या की दृष्टि से केवल एक ही द्रव्य नहीं, अपितु अनेक हैं। प्रत्येक आत्मा और पुद्गल का प्रत्येक परमाणु अपना-अपना वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व रखता है। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय, इन तीनों का भी अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। जिस प्रकार से वास्तविकता अथवा सत् की परिभाषा जैन दर्शन ने की है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक सत् (तत्त्व) ज्ञाता-निरपेक्ष है।

अब हम आदर्शवाद की नाना विचारधाराओं की पृथक्-पृथक् रूप में जैन दर्शन के साथ समीक्षा करें। 'सर्वेश्वर-वाद', जो केवल 'ईश्वर' को ही एकमात्र वास्तविकता के रूप में स्वीकार करता है, स्पष्ट रूप से जैन दर्शन को मान्य नहीं है। यद्यपि जैन दर्शन ईश्वर के वस्तु-सापेक्ष वास्तविक अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता, फिर भी समग्र विश्व को तद्-रूप नहीं मानता। जैन दर्शन के दार्शनिक ग्रन्थों में सर्वेश्वरवाद का विस्तृत तार्किक चर्चाओं के द्वारा खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त सर्वेश्वरवाद का प्रतिपादन तर्क और अनुभव के आधार पर भी यथार्थ नहीं लगता। वस्तु-सापेक्ष पदार्थों की बहुविधता और वास्तविकता सामान्य अनुभव से भी सिद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में सर्वेश्वरवाद की मान्यता सहज ही अप्रमाणित हो जाती है। ईश्वरवादी अन्य दर्शनों ने भी सर्वेश्वरवाद का खण्डन किया है। इसमें भी पाश्चात्य-दर्शन पाण्डित्यवाद (Scholasticism) द्वारा किया गया सर्वेश्वरवाद का खण्डन उल्लेखनीय है।[1]

---

१ देखें, कास्मोलॉजी, पृ० ५१-५३

प्लुतो, काण्ट और जैन दर्शन

आदर्शवाद की दूसरी विचारधारा, जिसमें वास्तविकता को व्यावहारिक न मान कर पारमार्थिक माना गया है, मुख्यतः प्लुतो और काण्ट जैसे दार्शनिकों की देन है। प्लुतो ने 'प्रत्ययों के सिद्धान्त' (Theory of Ideas) में जो प्रतिपादन किया है,उसका संक्षिप्त में यही तात्पर्य है कि वास्तविक पदार्थ पारमार्थिक है, अपनी अनुभूति में आने वाले पदार्थ आभास रूप हैं। उदाहरणार्थ—'बिल्ली' का अर्थ है, वह एक निश्चित बिल्ली, जो कि वस्तुतः ईश्वर द्वारा सर्जित है, वही 'बिल्ली' वास्तविक है। इसके अतिरिक्त जितनी भी बिल्लियाँ हम देखते हैं, वे सभी अवास्तविक और अपूर्ण हैं[1]—अर्थात् मनुष्य जो कुछ भी जानता है, वह केवल अवास्तविक वस्तुओं के विषय में जानता है। जैन दर्शन का वस्तुओं की वास्तविकता के विषय में जो दृष्टिकोण है, वह तो स्पष्ट हो ही चुका है। जैन दर्शन छः द्रव्यों में से केवल पुद्गल द्रव्य को एन्द्रिय अनुभूति का विषय मानता है। पुद्गल-द्रव्य के अतिरिक्त शेष पाँच द्रव्य अमूर्त हैं, ऐन्द्रिय अनुभूति के विषय नहीं बन सकते। पुद्गल-द्रव्य में भी परमाणु और कुछ एक सूक्ष्म पुद्गल स्कन्ध अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय हैं। इस अर्थ में हम यह कह सकते हैं कि विश्व के अधिकांश वास्तविक तत्त्वों का ज्ञान हम इन्द्रियों द्वारा नहीं कर सकते। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो जाता कि हम इन्द्रियों द्वारा जिन पदार्थों को जानते हैं, वे सभी अवास्तविक हैं अथवा केवल आभास रूप हैं। अन्य दार्शनिकों ने भी प्लुतो के सिद्धान्त का खण्डन किया है। इसका एक उदाहरण हमें रसेल के विचारों में मिलता है। प्लुतो के सिद्धान्त का खण्डन करते हुए वे लिखते हैं—"यदि आभास वस्तुतः दिखाई पड़ता है,तो वह अवस्तु नहीं है। अतः वास्तविकता का ही अंग है।...यदि आभास वस्तुतः दिखाई नहीं पड़ता तो हम क्यों इसके लिए सिर खपाएं? परन्तु कदाचित् कोई कहेगा, 'आभास वस्तुतः नहीं दीखता, किन्तु आभास रूप से दिखाई पड़ता है।' तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसको हम पूछ सकते हैं, 'क्या वह वस्तुतः आभास रूप से दिखाई पड़ता है अथवा केवल आभास रूप से आभास रूप दिखाई पड़ता है?' इस प्रकार चलते-चलते कहीं-न-कहीं तो उसे यह कहना पड़ेगा कि वह वस्तुतः दिखाई पड़ता है, चाहे वह आभास रूप से दिखाई पड़ता हो। इसलिए वह स्वतः ही वास्तविकता का अंग बन जाता है। इस बात को तो स्वयं प्लुतो भी अस्वीकार नहीं करता कि बहुत सारे बिछौने दिखाई पड़ते हैं, पर केवल 'एक बिछौना' वास्तविक है, जो कि ईश्वर द्वारा निर्मित है। परन्तु उसने इस बात के परिणामों के विषय में तो सोचा ही नहीं होगा कि इसका तात्पर्य तो यही हो जाता है कि आभास भी बहुत सारे हैं; अतः यह बहुलता भी वास्तविकता का हीअंग हो जाती है। विश्व के कुछ एक तत्त्वों को दूसरों से अधिक वास्तविक मानकर, किया जाने वाला विश्व-विभाजन का प्रयत्न सदा ही असफल रहेगा।"[2] रसेल द्वारा किया गया प्लुतो के प्रत्ययवाद का यह खण्डन वस्तुतः तर्क पर आधारित है और सहज रूप से ही 'वास्तविकता के स्वरूप' के विषय में एक नई दृष्टि देता है।

काण्ट के आदर्शवाद में यह बताया गया कि वास्तविक तत्त्वों अथवा पदार्थों का अस्तित्व तो है, किन्तु हम जो कुछ भी इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं,वह'वास्तविक'नहीं है। काण्ट का अभिप्राय है कि जब हम इन्द्रिय द्वारा किसी भी पदार्थ को ग्रहण करते हैं, तब हमारी ग्रहण-क्रिया के हस्तक्षेप के कारण अनुभूत पदार्थ वह नहीं होता जो मूलतः अस्तित्व में था। अतः अनुभूति में जो पदार्थ आया, वह तो केवल प्रपंच (Phenomenon) अथवा आभास (Appearance) ही है; जो वास्तविक पदार्थ था (जिसको काण्ट ने अपने-आप में-वस्तु (Thing-in-iteself) कहा है, उसकी अनुभूति हम इन्द्रियों के द्वारा कभी नहीं कर सकते; उसका अस्तित्व तो केवल अनुमान द्वारा माना जा सकता है; क्योंकि ज्योंही हम उसे इन्द्रिय द्वारा ग्रहण करते हैं, त्यों ही वह मूल स्वरूप में नहीं रह पाता।[3]

इस दृष्टि से देखा जाये तो काण्ट ने बाह्य विश्व अथवा भौतिक पदार्थों की वास्तविकता का निषेध नहीं किया

---

१ दी हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० १४३

२ वही, पृ० १५०-१५१

३ क्रिटिक ऑफ प्योर रीजन, पृ० ३७ तथा देखें, दी स्टोरी ऑफ फिलोसोफी, पृ० २०६

है। 'अपने-आप में-वस्तु' का स्वीकार कर काण्ट का सिद्धान्त यद्यपि वास्तविकतावाद के निकट आ जाता है, फिर भी उसमें आदर्शवाद की ही प्रधानता रही है। यद्यपि इस आदर्शवाद में ज्ञाता के अतिरिक्त विश्व के अस्तित्व का निषेध नहीं किया गया है, फिर भी ज्ञाता की प्रधानता को अक्षुण्ण रखा गया है। इसलिए ऐन्द्रिय अनुभूति द्वारा ज्ञात पदार्थ प्रपंच अथवा आभास माना गया है।

अब, जैन दर्शन के दृष्टिकोण के साथ काण्ट के सिद्धान्त की तुलना की जाये, तो यहाँ तक तो दोनों सिद्धान्तों में साम्य है कि अन्य पदार्थ ज्ञाता से भिन्न स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं। जैन दर्शन ने पुद्गलास्तिकाय को स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष द्रव्य माना है। काण्ट ने 'अपने-आप में-वस्तुओं' का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। जैन दर्शन के अनुसार प्रत्येक पौद्-गलिक पदार्थ में—चाहे वह परमाणु के रूप में हो, चाहे परमाणुओं से बने स्कन्ध के रूप में हो—स्पर्श, रस, गन्ध और वर्ण नामक गुण रहते हैं। वस्तु की अपेक्षा अथवा वस्तु-निष्ठ होने के कारण ये गुण ज्ञाता से सर्वथा स्वतन्त्र हैं। जब ज्ञाता किसी भी पुद्गल को इन्द्रियों द्वारा ग्रहण करता है, तब ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण यदि वह वस्तु को मूल स्वरूप में न भी जाने, तो भी इससे वस्तु का स्वरूप नहीं बदल जाता। उदाहरणार्थ—यह माना गया है कि प्रत्येक चक्षुग्राह्य पदार्थ अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध होता है। उसमें सभी वर्ण विद्यमान होते हैं। किन्तु जब हम उस पदार्थ को देखते हैं, तब यह आवश्यक नहीं होता कि उसमें रहे हुए सभी वर्ण हमें दिखाई दें। जैसे भ्रमर में पाँचों ही वर्ण होते हैं, फिर भी हमें वह काला ही दिखाई देता है। यह ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण होता है। अतीन्द्रिय ज्ञान के द्वारा भ्रमर के सभी वर्णों का ज्ञान सम्भव हो सकता है। जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावलि में इस तथ्य को कहें तो निश्चय नय की दृष्टि में तो भ्रमर पाँच वर्णों से युक्त है, किन्तु व्यवहार नय की दृष्टि से भ्रमर काला है। काण्ट के सिद्धान्त का प्रपंच (Phenomenon) व्यवहार नय की दृष्टि से वस्तु-स्वरूप है, 'अपने-आप में वस्तु' (Thing-in-iteself) के रूप में पदार्थ का स्वरूप निश्चय नय की दृष्टि से है, ऐसा कहा जा सकता है। फिर भी काण्ट और जैन दर्शन के 'वस्तु' और 'ज्ञाता' के स्वरूप के विषय में तो मूलभूत मतभेद रह ही जाता है। जहाँ काण्ट की मान्यता के अनुसार पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान कभी नहीं हो सकता, वहाँ जैन दर्शन इसको असम्भव नहीं मानता है। काण्ट के अनुसार ज्ञाता द्वारा ही अनुभूत वस्तु को रूप दिया जाता है; जबकि वस्तु के स्वरूप में कोई परिवर्तन ज्ञाता के हस्तक्षेप के द्वारा होता है, ऐसा जैन दर्शन नहीं मानता। काण्ट के दर्शन में ज्ञेय पदार्थ और ज्ञात पदार्थ में सर्वथा भेद माना गया है तथा ज्ञाता की प्रत्यय शक्ति को सर्वोपरि बताया गया है, वहाँ जैन दर्शन ज्ञात अथवा अनुभूत पदार्थ और ज्ञेय में भेद नहीं मानता; हमें जो भिन्नता दिखाई देती है, वह हमारे ऐन्द्रिय ज्ञान की सीमितता के कारण है, न कि वस्तु-निष्ठ गुणों के परिवर्तन के कारण। इसके अतिरिक्त ज्ञेय और ज्ञाता का अपना-अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्त्व माना गया है तथा ज्ञाता के हस्तक्षेप (विषय-ग्रहण) से ज्ञेय पदार्थ के स्वरूप में परिवर्तन नहीं होता, यह जैन दर्शन का स्पष्ट मन्तव्य है।

अनुभववाद और जैन दर्शन

आदर्शवाद का तीसरा रूप है—अनुभववाद (Empiricism)। लोक, बरकले, ह्यूम, विलियम जेम्स आदि दार्शनिक इस विचारधारा के प्रमुख प्रचारक हुए हैं। जैसे कि बरकले की विचारधारा के प्रतिपादन में कहा जा चुका है, अनुभववाद ने आत्मा अथवा ज्ञाता के अतिरिक्त अन्य पदार्थों की वास्तविकता को अस्वीकार किया गया है। अनुभववादी मानते हैं कि कोई भी पदार्थ जब तक हम उसको इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं करते, तब तक अस्तित्वहीन ही रहता है। इसका अर्थ यह होता है कि जो पदार्थ हमारे अनुभव के विषय बनते हैं, उनके अतिरिक्त सभी पदार्थ अवास्तविक हैं। सामान्य ज्ञान और पारम्परिक विज्ञान इस विचारधारा को कभी मान्य नहीं रख सकता। क्योंकि हम जानते हैं कि विश्व में बहुत सारे पदार्थ ऐसे हैं, जो किसी भी व्यक्ति की ऐन्द्रिय अनुभूति का विषय नहीं बनते। जैसे बर्ट्रेण्ड रसेल ने उदाहरण दिया है कि "रात्रि के समय में जब घोर अन्धकार होता है और मैं नींद लेता हूँ, तब मेरे शयनगृह में विद्यमान सारे उपकरण किसी

---

१ हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ६८२

की भी अनुभूति के विषय नहीं बनते।"[1] इसका अर्थ यह तो नहीं हो सकता कि उस समय वह सारे उपकरण अवास्तविक हो जाते हैं। इसी प्रकार का दूसरा दृष्टान्त जी० ई० मूर द्वारा दिया गया है, जिसमें यह बताया गया है कि "आदर्शवादी विचारधारा के अनुसार तो जब ट्रेन स्टेशन में होती है, तब तो उसके चक्र वास्तविक होते हैं और जब वह स्टेशन से दूर चली जाती है, जहाँ कि इसके चक्रों को देखने वाला कोई नहीं होता, तब वे अवास्तविक बन जाते हैं। मनुष्य की सामान्य बुद्धि भी यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि जब हम चक्र को देखते हैं, तब वे एकाएक अस्तित्व में आते हैं और जब उन्हें देखने वाला कोई नहीं होता, तब वे अस्तित्वहीन हो जाते हैं।"[1] इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिये गए हैं। चन्द्र के पिछले भाग को हम कभी नहीं देख सकते। आदर्शवाद के अनुसार तो वह भी अवास्तविक हो जायेगा।[2] डा० सेम्युअल जॉन्सन ने बरकले के सिद्धान्त की व्यर्थता को प्रकट करने के लिए पास में पड़े हुए पत्थर को लात मारकर बताया कि पत्थर वास्तविक पदार्थ है। रसेल ने अन्यत्र इसकी चर्चा करते हुए लिखा है, अनुभव क्या है ? यह जानने के लिए यह जानना आवश्यक है कि अनुभूत होने वाली घटना और नहीं होने वाली घटना में क्या अन्तर है। वर्षा की बूंदें जो हम देखते हैं अथवा स्पर्श द्वारा जिनका अनुभव हम करते हैं, वे तो 'अनुभूत' हैं और जो बूंदें जंगल में कहीं ऐसे स्थान में गिरती हैं, जहाँ कोई उसे अनुभव करने वाला है ही नहीं, वे 'अननुभूत' हैं। इसका तात्पर्य यही होता है, कि अनुभव वहाँ ही हो सकता है, जहाँ जीवन है……।"[3] इस कथन के आधार पर अनुभववाद का खण्डन सहज रूप से हो सकता है, क्योंकि यदि 'अनुभूति' में आने वाले पदार्थ ही वास्तविक हों, तब तो जिस स्थान में जीवन्त प्राणी नहीं हैं, वहाँ तो कोई भी पदार्थ वास्तविक नहीं हो सकता। इस प्रकार के सिद्धान्त को सामान्य बुद्धि के आधार पर भी स्वीकार नहीं किया जा सकता।

जैन दर्शन की ज्ञान-मीमांसा (epistemology) के अनुसार ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो 'केवलज्ञानी'[4] के द्वारा न जाना जा सके। बरकले के अनुसार भी शाश्वत आत्मा के मस्तिष्क में जो पदार्थ अस्तित्व रखते हैं, वे चाहे किसी व्यक्ति के द्वारा अनुभूत न हों, तो भी अस्तित्वमान हो जाते हैं। इस अर्थ में देखा जाये तो विश्वस्थित सभी पदार्थ वास्तविक अस्तित्व रखते हैं। किन्तु फिर भी बरकले और जैन दर्शन की विचारधारा में मौलिक अन्तर रह जाता है। बरकले जहाँ शाश्वत आत्मा द्वारा अनुभूत होने के कारण ही बाह्य विश्व को अस्तित्वमान स्वीकार करता है, वहाँ जैन दर्शन विश्व के सभी द्रव्यों के अस्तित्व को वस्तु-सापेक्ष मानता है, ज्ञाता-सापेक्ष नहीं। बरकले का अभिमत है—ज्ञाता पदार्थों को जानता है अथवा उनका अनुभव करता है; इसलिए वे वास्तविक बनते हैं। जैन दर्शन प्रतिपादन करता है—द्रव्यों का अस्तित्व वास्तविक है, इसलिए वे ज्ञाता द्वारा जाने जाते हैं अथवा अनुभूत होते हैं।

वैज्ञानिकों का आदर्शवाद और जैन दर्शन

विज्ञान के सहज दार्शनिक स्वभाव के विषय में यह कहा जाता है कि विज्ञान का एक सुनिश्चित दर्शन है। इसमे यही तात्पर्य है कि विज्ञान मनुष्य के ज्ञान की धारा होने के कारण 'दर्शन' से अछूता नहीं रह सकता। किन्तु, वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक धाराएं विज्ञान का दर्शन है, ऐसा नहीं माना जा सकता। जैसे मार्गेनौ के शब्दों में—वास्तविकता के विषय में वैज्ञानिकों का भिन्न-भिन्न मत होना आश्चर्यजनक नहीं है।[5] इस अभिप्राय के आधार पर मार्गेनौ ने वैज्ञानिकों को भिन्न-भिन्न दार्शनिक प्रकारों में विभक्त किया है, जिनमें प्लान्क (Plank) और आईन्स्टीन को विवेचनात्मक वास्तविकतावादी (Critical realists), एडिंग्टनऔर वाईलको सीमित आदर्शवादी (Moderate Idealists)

१ देखें, हिस्ट्री ऑफ वेस्टर्न फिलोसोफी, पृ० ६८२
२ वही, पृ० ४८१
३ वही, पृ० ४८१
४ 'केवलज्ञान' आत्मा का सहज गुण माना गया है, जो कर्मावरण के दूर होने पर प्रकट हो जाता है। 'केवलज्ञान' का अर्थ है—समस्त द्रव्य और पर्यायों का साक्षात्कार। इस ज्ञान में आत्मा को किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती है।
५ दि नेचर ऑफ फिजिकल रीयालिटी, पृ० १२

तथा बोहर और हाईसनबर्ग को विधानवादी अथवा प्रत्यक्षवादी (Positivists) बताये हैं। मार्गेनौ तो यहाँ तक मानते हैं कि नितान्त आत्मवादी (Solipsist) भी कुछेक सीमाओं में सफल वैज्ञानिक बन सकता है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वैज्ञानिक दर्शन और वैज्ञानिकों का दर्शन एक ही नहीं है। एडिंग्टन ने विज्ञान के दर्शन का जिस रूप में प्रतिपादन किया है, उसे हम एडिंग्टन का दर्शन कह सकते हैं,परन्तु विज्ञान का दर्शन नहीं कह सकते। इसी प्रकार अन्य वैज्ञानिकों के द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक विचारधाराएं, उन वैज्ञानिकों के दर्शन हैं,न कि 'विज्ञान का दर्शन'।

आदर्शवादी वैज्ञानिकों में मुख्यतः एडिंग्टन, वाईल, सर जेम्स जीन्स जैसे वैज्ञानिक हैं। एडिंग्टन ने यह तो स्वीकार किया है कि वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता का अस्तित्व है, किन्तु भौतिक विज्ञान के द्वारा हम विश्व का जो ज्ञान करते हैं, वह ज्ञाता-सापेक्ष है। एडिंग्टन की विचारधारा में ज्ञाता अथवा चैतन्य को प्रधानता दी गई है।[2] विज्ञान (विशेषतः भौतिक विज्ञान) विश्व के विषय में निरपेक्ष सत्य को अथवा वस्तु-सापेक्ष वास्तविकता को न जानना चाहता है और न जान सकता है। वैज्ञानिक पद्धतियों के द्वारा हम जो ज्ञान करते हैं, वह पूर्णतः ज्ञाता-सापेक्ष है।[3] इसका कारण यही है कि विज्ञान चैतन्य और बाह्य विश्व की संयुक्त अनुभूति से सम्बन्धित है। इसका तात्पर्य यही हुआ कि भौतिक-विश्व के पदार्थों का अस्तित्व चैतन्य की ज्ञान पद्धति के द्वारा ही व्यक्त होता है और विज्ञान का सम्बन्ध इसके साथ होने के कारण विज्ञान के द्वारा निर्मित नियम अथवा सिद्धान्त ज्ञाता-सापेक्ष ही हैं।

एडिंग्टन ने अपनी विचारधारा में वास्तविकतावादियों का स्पष्ट विरोध किया है। वास्तविकतावादियों का अभिमत है कि भौतिक पदार्थ का अस्तित्व वस्तु-सापेक्ष है और उसमें रहे हुए स्पर्श, रस आदि गुण भी वस्तु-सापेक्ष हैं। एडिंग्टन कहते हैं कि भौतिक पदार्थों में वास्तविक गुण (रस आदि) होते हैं, यह समझ से परे की बात हो जाती है। उदाहरण के लिए वे 'सेब' को लेते हैं और कहते है कि[4] सेब का अस्तित्व ज्ञाता के मस्तिष्क के बाहर स्वतन्त्र है, इस बात का मैं विरोध नहीं करता; और न मैं इस बात का भी विरोध करता हूँ कि 'रस' का वास्तविक अस्तित्व है। मेरा विरोध तो इस बात से है कि दार्शनिक लोग वास्तविक सेब के भीतर ही वास्तविक रस की कल्पना करते है। दूसरे स्थान में वास्तविकतावादी विचारधारा को उद्धृत करके वे कहते हैं कि इस प्रकार की विचारधारा बीसवीं सदी के दर्शन का आधार कैसे बन सकती है, यह मेरी समझ में नहीं आता।[5]

जैन दर्शन के साथ एडिंग्टन के सीमित ज्ञाता-सापेक्षवाद की तुलना करने में विस्तृत विवेचन की अपेक्षा रहती है। यहाँ केवल एक-दो पहलुओं को लेकर ही हमें सन्तोष करना पड़ेगा। जैन दर्शन यह तो स्वीकार करता ही है कि एन्द्रिय ज्ञान (जिसमें भौतिक विज्ञान भी समाहित है) अप्रत्यक्ष है और इसलिए ज्ञाता (आत्मा) और ज्ञेय (पदार्थ) का सीधा सम्बन्ध इसमें नहीं बन पाता। इसमें सदा इन्द्रियों और बाह्य पौद्गलिक साधनों की अपेक्षा रहती है और इस प्रकार इसमे होने वाला ज्ञान भी इनसे प्रभावित होता रहता है। किन्तु जहाँ तक पदार्थ के वस्तु-स्वरूप का या वास्तविक स्वरूप का सम्बन्ध है, जैन दर्शन वास्तविकतावादी है। वह निश्चयपूर्वक यह मानता है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ आत्मा की तरह ही स्वतन्त्र अस्तित्व वाला है। प्रत्येक परमाणु में एक वर्ण, एक गन्ध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। ये गुण परमाणु के वस्तु-सापेक्ष गुण हैं और ज्ञाता की अपेक्षा बिना ये सदा परमाणु में रहते है। इस प्रकार 'सेब' जिन परमाणुओं का बना है,उनमें से प्रत्येक परमाणु में कोई-न-कोई 'रस' तो होता ही है। इन सब परमाणुओं के समूहरूप 'सेब' का रस भी वास्तविक अस्तित्व रखता

---

१ दी नेचर ऑफ फिजिक्ल रीयालिटी, पृ० १२

नितान्त आत्मवाद (solipsism) में सामान्यतया 'स्व' (आत्मा) के अतिरिक्त समस्त विश्व की वास्तविकता का निषेध किया गया है। ज्ञाता-सापेक्ष आदर्शवाद का एकान्तिक रूप 'नितान्त आत्मवाद' है।

२ देखें, दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साइन्स, पृ० १८५, १८६.

३ देखें, वही, पृ० १८४

४ दी न्यू पाथ वेज इन साइन्स, पृ० २८१

५ दी फिलोसोफी ऑफ फिजिकल साइन्स, पृ० २११, २१२

है। इससे आगे जैन दर्शन यह भी मानता है कि अतीन्द्रिय ज्ञानकी सहायता से 'सेब' के इस वस्तु-सापेक्ष रस का ज्ञान मनुष्य कर सकता है। हाँ, ऐन्द्रिय ज्ञान की सहायता से हम इसको जानने में असमर्थ हो सकते हैं और इन्द्रिय आदि बाह्य साधनों के हस्तक्षेप के कारण हमारी अनुभूति में आनेवाला 'रस' वस्तु-सापेक्ष रस से भिन्न भी हो सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं होता कि वस्तु-सापेक्ष रस का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

जैन दर्शन अनेकान्तवादी है—वह आत्मा का स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व स्वीकार करता है और पुद्गल का भी। एक पुद्गल नाना आत्माओं (ज्ञाताओं) की अनुभूति का—ज्ञान का विषय बन सकता है; नाना पुद्गल एक आत्मा की अनुभूति के—ज्ञान के विषय बन सकते हैं। एडिंग्टन केवल आत्मा के अस्तित्व को वस्तु-सापेक्ष मानते हैं; पर एक ही पदार्थ का नाना ज्ञाताओं के द्वारा अनुभव, किस प्रकार होता है, यह उनके समझ में नहीं आता। किन्तु जब प्रत्यक्ष रूप में हमें यह अनुभव होता है कि एक ही पदार्थ अनेक ज्ञाताओं के ज्ञान का विषय बन सकता है, तो फिर पदार्थ के वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व के विषय में कोई विरोध ही नहीं रह जाता।

वाईल, सर जेम्स जीन्स आदि वैज्ञानिकों ने अपने-अपने विचारों के आधार पर आदर्शवाद की पुष्टि का प्रयत्न किया है। जैन दर्शन की दृष्टि में तो यह एकान्तवाद किसी भी रूप में सत्य नहीं हो सकता कि केवल आत्मा ही एकमात्र स्वतन्त्र वास्तविकता है, शेष विश्व केवल इसी का ही सर्जन और कल्पना रूप है।

वैज्ञानिकों का वास्तविकतावाद और जैन दर्शन

जैन दर्शन वास्तविकतावादी है। अतः वास्त विकतावादी वैज्ञानिकों के साथ इसकी विचारधारा सहज रूप से सामंजस्य रखती है। भौतिकवाद को छोड़कर दूसरी विचारधाराएं, जो आत्मा और भौतिक पदार्थ—दोनों के स्वतन्त्र वस्तु-सापेक्ष अस्तित्व को स्वीकार करती हैं, जैन दर्शन की विचारधारा के बहुत निकट हैं। उदाहरणस्वरूप, मार्गेनौ की विचारधारा के अनुसार वे सभी भौतिक पदार्थ वास्तविक हैं,जो हमारी सामान्य अनुभूति में आते हैं, क्योंकि वे सभी प्रमाणित कन्स्ट्रक्ट्स (Valid Constructs) हैं। इसके अतिरिक्त मार्गेनौ आकाश को भी वास्तविक मानते हैं। इतना ही नहीं,इससे आगे वे अभौतिक वास्तविकताओं की भी चर्चा करते हैं और यही धारणा बनाते हैं कि ऐसे तत्त्वों का भी वास्तविक अस्तित्व होता है।[1] इस प्रकार हाईसनबर्ग, रसेल, बोहर आदि के विचारों में जैन दर्शन के वास्तविकवाद के साथ बहुत सदृश तत्त्व उपलब्ध होते हैं।

भौतिकवाद 'वास्तविकतावाद' का एक रूप है, जो एकान्तिक विचारधारा के रूप में केवल भौतिक पदार्थ का ही वास्तविक अस्तित्व मानता है। सोवियत भौतिक वैज्ञानिक इस वाद के प्रबल पोषक हैं। वे आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते जैन दर्शन यद्यपि भौतिक पदार्थ (पुद्गल) के अस्तित्व को वास्तविक मानता है, फिर भी आत्मा के अस्तित्व का निषेध नहीं करता। इस प्रकार, जैन दर्शन का वास्तविकतावाद अनेकान्तिक है, जबकि भौतिकवाद एकान्तिक है। 'आत्मा' का अस्तित्व ज्ञान-मैमांसिक पद्धतियों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो सकता है और आदर्शवादी वैज्ञानिकों का यही निरूपण है। जैन दर्शन में भी आत्मा के अस्तित्व को तर्क के आधार पर सिद्ध किया गया है। इस दृष्टि से भौतिकवाद के एकान्तिक दृष्टिकोण का खण्डन हो जाता है।

उपसंहार

जैन दर्शन का अनेकान्तिक वास्तविकतावाद तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में वास्तविकता के स्वरूप के विषय में एक अनोखा सिद्धान्त उपस्थित करता है। आत्मा और पुद्गल, दोनों तत्त्वों के स्वरूप-विश्लेषण द्वारा जैन दर्शन आदर्शवादियों को एवं भौतिकवादियों को एक चुनौती देता है। इसके अतिरिक्त षड्-द्रव्य-मीमांसा, द्रव्य-गुण-पर्याय, आदि तात्त्विक सिद्धान्त जैन दर्शन की वे मौलिक देन हैं, जो आज के युग में भी तत्त्व-मीमांसा के क्षेत्र में अप्रतिम और अनुपम हैं।

---

१ नेचर ऑफ फिजिकल रीयालिटी, पृ० ४५८

कर्म बन्ध निबन्धन भूता क्रिया

श्री मोहनलाल बांठिया, बी० कॉम०

जैन दर्शन कर्मवादी है। आत्मवाद और कर्मवाद जैन दर्शन के मूल सिद्धान्त हैं। उसका कथन है कि आत्मा है, तथा वह अनादिकाल से कर्म-पुद्गलों (Karmic matter) के बन्धन में लिप्त है। अनेक जीवात्माओं ने अनन्त अतीत में इस कर्म-बन्धन से सर्वथा छुटकारा पाया है तथा अनेक अनन्त अनागत काल में पायेंगी। अवशेष आत्माएं कर्म-पुद्गलों से देश (आंशिक) छुटकारा पाती रहती हैं और अपने नाना विध कार्यों और भावनाओं से नवीन कर्म-पुद्गलों से लिप्त होती रहती हैं। आत्मा के साथ कर्म का बन्धन कैसे होता है, इसका जैन दर्शन में विशद और वैज्ञानिक विश्लेषण है। कर्मवाद का ऐसा वास्तविक और बृहद् विवेचन अन्य किसी दर्शन में नहीं है।

जीवात्मा के विभिन्न कार्यों और भावनाओं के द्वारा नाना प्रकार से कर्मों का आत्म-प्रदेशों के साथ बन्धन होता रहता है। इन कार्यों और भावनाओं के द्वारा जो विभिन्न प्रकार से कर्म-बन्धन होता है, उसे जैन दर्शन की पारिभाषिक शब्दावली में 'क्रिया लगना' कहते हैं। क्रिया शब्द का पारिभाषिक अर्थ है—कर्म का बन्धन होना। **कर्म बन्ध निबन्धनभूता सा क्रिया**—जिससे आत्मा के साथ कर्म का बन्धन हो, वह क्रियाएं भी है।

जैन आगमों में क्रिया की विविधता का बड़ा रोचक और तात्त्विक वर्णन है। मनुष्य के जीव के विभिन्न कार्यों का मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता से विवेचन करके बतलाया गया है—किस कार्य से किस प्रकार की और कैसी—हलकी, भारी, गाढ़ी क्रिया लगती है। मनुष्य के एक ही कार्य से कार्य की विभिन्न अपेक्षाओं—दशाओं के निमित्त से विभिन्न प्रकार की क्रिया लग सकती है। एक ही समय में कार्य की गतिविधियों से अधिक प्रकार की क्रियाएं भी लग सकती हैं।

अप्रत्याख्यानी क्रिया

हिंसात्मक कार्यों के करने का, हिंसात्मक अधिकरणों (शस्त्रों) के ग्रहण-उपयोग करने का जब तक जीवात्मा त्याग नहीं करता, तब तक इन कार्यों और अधिकरणों की अपेक्षा उसके क्रिया लगती रहती है, चाहे वह हिंसात्मक कार्य करे या न करे, हिंसात्मक शस्त्रों का ग्रहण-उपयोग करे या न करे। उस क्रिया का नाम **अप्रत्याख्यानी क्रिया** है। यह क्रिया शारीरिक या मानसिक हिंसक कार्यों से नहीं लगती है, न अधिकरणों (शस्त्रों) के उपयोग से लगती है, बल्कि इन कार्यों के करने और शस्त्रों के ग्रहणोपयोग करने की अन्तर्मन की असंयतता से लगती है; इस असंयतता की भावना से अवचेतन मन का स्पन्दन (आडोलन) होता है और इस स्पन्दन से कर्म-रज आत्मा से चिपकती है।

अप्रत्याख्यानी क्रिया एक मनोवैज्ञानिक प्रश्न है। आधुनिक विज्ञान की भाषा में इसका सम्बन्ध अवचेतन मन (Subconscious mind) से है। जीवात्मा हिंसा नहीं करने का तथा हिंसात्मक अधिकरणों के संग्रह-उपयोग नहीं करने का जब तक निश्चय—त्याग—प्रतिज्ञा नहीं करता, तब तक उसके अवचेतन मन में एक भावना रूप लौ जलती रहती है। किसी काम को करना या न करना, यह चेतन मन का कार्य है। जब चेतन मन किसी काम के करने का विचार भी न कर रहा हो, अवचेतन मन में उस काम के करने की असंयतता की भावना सदा विद्यमान रहती है। इस आकांक्षा की लौ से अप्रत्याख्यानी क्रिया लगती रहती है। यह लौ अत्यागमयी जीवात्मा के अवचेतन मन में सदा एक मात्रा में और निरन्तर जलती रहती है। यह लौ सभी अत्यागमय जीवात्मा के एक समान होती है। अतः अप्रत्याख्यानी क्रिया सर्व अत्यागमय जीवों के समान रूप से लगती है।

सर्व जीवात्माओं की समानता (Equality) का अप्रत्याख्यानी क्रिया जैन दर्शन में एक ज्वलन्त उदाहरण है।

सर्व जीव समान हैं, यह जैन दर्शन का बुलन्द नारा है। कोई ऊँच, काई नीच, कोई छोटा, कोई बड़ा नहीं है। आत्मा आत्मा समान है। अप्रत्याख्यानी क्रिया सर्व अत्यागमय संसारी जीवों के समान रूप से लगती है। चाहे सेठ हो या चोर हो, धनी हो या गरीब हो, कृपण हो या दानी हो, ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो—समाज के किसी पद (Status) का हो, उसके अप्रत्याख्यानी क्रिया एक समान लगती है।[1] जीव के छोटे-बड़े देह का इस अप्रत्याख्यानी क्रिया पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। हाथी जैसे बृहद् शरीरी, कुन्थु-चीटी-किटभक्षु जैसे क्षुद्र देही जीवों के भी अप्रत्याख्यानी क्रिया सम्मान ही लगती है।[2] मनुष्य, पशु, कीटाणु, फल, फूल, पत्र, किसलय आदि सर्व अत्यागमय जीवों के यह क्रिया समान भाव से लगती है। जैन दर्शन में मनुष्यात्मा, पश्वात्मा, किटाण्वात्मा या अन्य जीवात्मा, आत्म तत्त्व की अपेक्षा समान मानी गयी है। इस समानता को अप्रत्याख्यानी क्रिया की समानता समर्थन देती है।

कायिकी आदि क्रिया-पञ्चक

जैन दार्शनिकों का कथन है कि हर हिंसक (सावद्य) कार्य से कर्म का बन्धन होता है; अतः उन्होंने हर हिंसक कार्य को सूक्ष्मता से विश्लेषणपूर्वक देखा और उसको समझा। उन्होंने अपने निरीक्षण से पाया कि हिंसक कार्य की पाँच अवस्थाएं होती हैं।

१. काया से हिंसा के लिए उद्यत होना—हिंसा के लिए काया का संचालन करना,

२. हिंसा के लिए शस्त्र का निर्माण, ग्रहण-उपयोग करना,

३. हिंसा के परिणाम (भावना) का होना,

४. जीव को दुःख—कष्ट पहुँचाना,

५. जीव का प्राण-हनन करना।

जब कोई मनुष्य किसी जीव के वध करने का विचार करता है तो वह शरीर से इस काम को करने के लिए उद्यत होता है, अस्त्र-शस्त्रादि वध के उपकरणों को सम्भालता है, निरीक्षण करता है, आवश्यकतानुसार धार तीक्ष्ण करता है या सफाई आदि करता है; मन को हिंसा के विचारों से ओत-प्रोत करता है। इस सम्पूर्ण कार्य को जैन दर्शन में पाँच विभागों में बाँटा गया है और तदनुसार हिंसक कार्य के लिए पाँच प्रकार की क्रिया बतलाई गई है और इन पाँचों क्रियाओं का एक दल (Group) 'पञ्चक' कहा गया है। प्रत्येक हिंसा कार्य के लिए जीव को इस पञ्चक की तीन या चार या पाँचों क्रियाएं, हिसा की अवस्था के अनुसार लगती हैं। वे पाँच क्रियाएं इस प्रकार हैं—**१. कायिकी, २. आधिकरणिकी, ३. प्राद्वेषिकी, ४. पारितापनिकी, ५. प्राणातिपातिकी।**

ये पाँच क्रियाएं निश्चित शृंखला में बतलाई गई हैं। यदि तीन क्रियाएं लगती हैं तो प्रथम तीन लगती हैं; यदि चार लगती हैं, तो प्रथम चार लगती हैं। कोई तीन या कोई चार नहीं लगतीं। निश्चित क्रम के अनुसार ही लगती हैं। कम-से-कम तीन क्रियाएं अवश्य लगती हैं।

कायिकी—हिंसा के लिए राग-द्वेष युक्त काया के उद्यम के लिए जो क्रिया लगे, वह कायिकी क्रिया है।

आधिकरणिकी—हिंसा के उपकरणों के व्यवहार से जो क्रिया लगे, वह आधिकारणिकी क्रिया कहलाती है।

प्राद्वेषिकी—हिंसा के परिणाम (भाव) होने से राग-द्वेष की वृद्धि के कारण जो क्रिया लगती है, वह प्राद्वेषिकी क्रिया है।

पारितापनिकी—अन्य जीव को दुःख, कष्ट पहुँचाने से जो क्रिया लगे, वह पारितापनिकी क्रिया है।

प्राणातिपातिकी—अन्य जीव के प्राण-हनन करने से जो क्रिया लगे, वह प्राणातिपातिकी क्रिया है।

यदि कोई किसी जीव की हिंसा करने की व्यवस्था करता है, तब तक प्रथम तीन क्रियाएं लगती हैं; व्यवस्था

---

१ भगवती सूत्र, १।६।३०१

२ वही, ७।८।९

उपरान्त जीव को जब दुःख—कष्ट पहुँचाता है, तब प्रथम चार क्रियाएं लगती हैं और जब उस जीव को मार डालता है, तब पाँचों क्रियाएं लगती हैं।

कब कितनी क्रियाएं लगती हैं, इसको जैन-आगमों में अनेक हृदयग्राही उदाहरणों से समझाया गया है। उनमें से तीन उदाहरण वध के द्वारा व्यवहृत तीन प्रकार के अस्त्रों—जाल, अग्नि और तीर-धनुष को लेकर हैं।

(क) बहेलिया, शिकारी, शिकार संकल्पी, मृगादि पशु मारने को, वध करने को उद्यम मनुष्य, चाहे उसको किसी नाम से पुकारें कच्छ में, द्रह में, नदी के किनारे पर, गहन वन में,गहन वन के एक प्रान्त में,पर्वत में,पर्वत के एक प्रान्त में, सामान्य वन में, किसी भी स्थान में जाकर—पशु-प्राणियों को देखकर उनको मारने के विचार से गड्ढा खोदे, जाल रचे तो अवस्थाविशेष की अपेक्षा उसे दो, तीन, चार या पाँच क्रियाएं लगती हैं।

१. वह पुरुष जब तक गड्ढा खोदता है, जाल रचता है, लेकिन पशु को बाँधता नहीं है, मारता नहीं है, तब तक उसे प्रथम तीन क्रियाएं लगती हैं।

२. जब तक पशु को पकड़ने को उद्यत है और उसको बाँध लेता है, लेकिन जान से मारता नहीं है, तब तक प्रथम चार क्रियाएं लगती हैं।

३. जब उक्त शिकार के लिए उद्यत और बधक पुरुष पशु के प्राण-हनन करता है, तब उसे पाँचों क्रियाएं होनी हैं और वह पाँचों क्रियाओं से स्पृष्ट है।

(ख) उपरोक्त बहेलिया आदि नामांकित मनुष्य उपरोक्त या अन्य किसी स्थान में जाकर सूखी घास एकत्रित करके, उसमें आग लगा कर मृगादि पशुओं को मारता है, तो उस मनुष्य के तीन, चार या पाँच क्रियाएं अवस्थाविशेष से लगती हैं।

१. घास एकत्रित करने तक की प्रथम तीन क्रियाएं।

२. तदुपरान्त अग्नि जलाने तक की चार क्रियाएं।

३. आगी लगाने के बाद जलना आरम्भ होने से पाँच क्रियाएं लगने लगती हैं।

(ग) उपरोक्त मृगादि शिकार को उद्यत पुरुष तीर-धनुष से सज्जित हो उपरोक्त या अन्य किसी स्थान में जाकर मृगादि पशुओं को मारने के लिए बाण छोड़ता है, तो उस पुरुष को अवस्थाविशेष से तीन, चार या पाँच क्रियाएं लगती हैं।

१. बाण धनुष से छोड़ने पर धनुष से निकल कर मृगादि पशुओं को बींधता नहीं, तब तक तीन क्रियाएं।

२. बाण जब से पशुओं को बींधता है, किन्तु उनके प्राण-हनन नहीं होते, तब तक चार क्रियाएं।

३. निक्षिप्त तीर पशु को बेंधकर उसके प्राण विनष्ट कर देता है, तब पाँच क्रियाएं लगती हैं।[1]

भारतीय दण्ड-विधान के अनुसार यदि कोई मनुष्य अन्य किसी मनुष्य को गुरुतर रूप से आहत करे और वह आहत व्यक्ति एक मास के अन्दर मर जाये तो आघातक व्यक्ति को हत्या का दायी माना जाता है। जैन मनीषियों का इसमें मतभेद है। वे कहते हैं कि मरने वाला आहत होने के बाद छः मास के अन्दर मर जाये तो आघातक को पाँचों क्रियाएं लगती हैं, वह हत्या का अपराधी है; लेकिन यदि आहत व्यक्ति छः मास के बाद मरे तो आघातक प्राणातिपात का दोषी नहीं है और उसको चार क्रियाएं ही लगती हैं।[2]

आरम्भिकी आदि क्रिया-पञ्चक

आरम्भिकी, पारिग्राहिकी, माया प्रत्यया, अप्रत्याख्यानी और मिथ्या दर्शन प्रत्यय—इन पाँच क्रियाओं का भी एक दल (Group) है। ये जीव के सामान्य जीवन से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक जीव के चाहे वह मनुष्य हो, पशु हो, दानव

---

१ भगवती सूत्र, १।८।२६४, २६६, २६८

२ वही, १।८।२७० का शेषांश

हो, पक्षी हो, प्राणी हो, भूत हो या सत्त्व हो—जीवन की दिन-प्रतिदिन की घटनाओं से, कार्य-कलापों से इन क्रियाओं का सम्बन्ध है। जीवन की सामान्य-से-सामान्य, विशेष-से-विशेष सभी घटनाओं से इनका सम्बन्ध है। ये क्रियाएं जीव की प्रतिक्षण की भावनाओं,अवस्थाओं,घटनाओं से लगती हैं। ये क्रियाएं किसी विशिष्ट स्थिर-शृंखला (fixed order) में नहीं हैं। जीव की अवस्था, घटना की परिस्थिति के अनुसार कभी एक, कभी दो, कभी तीन, कभी चार, कभी पाँच और किसी जीव विशिष्ट को बिल्कुल नहीं लगती हैं। स्थिर-शृंखला नहीं होते हुए भी विशृंखला (disorder) नहीं है। परस्पर में एक कड़ी हैं। जहाँ आरम्भिकी लगती है, वहाँ माया प्रत्यया निश्चय लगती है। बाकी तीन लग भी सकती हैं, नहीं भी लग सकती हैं। जहाँ पारिग्राहिकी लगती है, वहाँ आरम्भिकी और माया प्रत्यया निश्चय लगती है, बाकी दोनों की भजना (optional) है। जहाँ माया प्रत्यया लगती है, वहाँ आरम्भिकी, पारिग्राहिकी और माया प्रत्यया निश्चय लगती है और अवशेष की भजना है। जहाँ मिथ्यादर्शन प्रत्यया लगती है, वहाँ बाकी चार अवश्य लगती हैं।[1]

इस पंचक की अपेक्षा सब मनुष्य समान क्रिया वाले नहीं होते, किन्तु हिंसक-अहिंसक, संयमी-असंयमी, सम्यग्दृष्टि, मिथ्या दृष्टि की अपेक्षा-भेद होते हैं।[2] सम्यग्दृष्टि, अहिंसक, वीतराग (राग-द्वेष से सर्वथा रहित) संयमी मनुष्य को इस पंचक की कोई क्रिया नहीं लगती है।

जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि अप्रमादी है, किन्तु सराग (मोह सहित) संयमी है, उसको केवल माया प्रत्यया क्रिया लगती है। जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि, सराग (मोह सहित) संयमी, लेकिन अहिंसकवृत्ति में यदा-कदा प्रमादी है, उसे आरम्भिकी और माया प्रत्यया यह दो क्रियाएं लगती हैं। जो मनुष्य सम्यग्दृष्टि है, पर आंशिक संयत, आंशिक-असंयत (संयता-संयत) है, उसके प्रथम तीन क्रियाएं अवश्य लगती हैं। जो मनुष्य मिथ्यादृष्टि है या सम्यग्मिथ्यादृष्टि है उसको पाँचों क्रियाएं लगती हैं।

इस क्रिया पंचक के अगणित उदाहरण हो सकते हैं। इस लेख में मनुष्य के व्यापारिक जीवन सम्बन्धी तीन उदाहरण भगवती सूत्र से उद्धृत किये जाते हैं—

१. किसी व्यापारी का माल गोदाम से चोर चोरी कर के ले गये और और व्यापारी ने उसके लिए थाने में फरियाद की, स्वयं भी खोज करने लगे; खोज जारी रखने के समय उस व्यापारी के या तो प्रथम चार क्रियाएं तीव्रता से लगें और यदि व्यापारी मिथ्यादृष्टि हो, तो पांचों लगें।

यदि संयोग से चोरी हुआ माल वापस मिल जाये, तो क्रियाएं ह्रस्वता से लगती हैं।

यदि संयोगवश चोरी हुआ माल सर्व प्रयत्न के बावजूद न मिले और व्यापारी आशारहित होकर-खोज खबर बंद कर दे, तो क्रियाओं का लगना बन्द नहीं होता, किन्तु उनमें ह्रस्वता आ जाती है।[3]

२. विक्रेता व्यापारी क्रेता व्यापारी को माल भविष्य में देने के (foreword delivary) हिसाब से बेचता है और बयाने (advance) के रूप में लेता है तो—

(क) माल जब तक विक्रेता के स्थान से क्रेता के जिम्मे न चला जाये, तब तक—१. विक्रेता को चार या पाँच क्रियाएं लगती हैं और २. क्रेता को भी चार या पाँच क्रियाएं लगती हैं, पर विक्रेता की अपेक्षा ह्रस्व।

(ख) विक्रेता व्यापारी क्रेता को यथासमय माल डिलीवरी दे दें,तब—१. क्रेता को चार या पांच क्रियाएं लगती हैं और २. विक्रेता को भी चार या पांच क्रियाएं लगती हैं, पर क्रेता की अपेक्षा ह्रस्व। यहां क्रिया लगना आपेक्षिक है और माल की अपेक्षा से है।[4]

३. विक्रेता व्यापारी ने माल उधार बेचा और माल यथासमय डिलीवरी दे दिया, पर माल का मोल (धन)

---

१ प्रज्ञापना सूत्र, २२।१२

२ भगवती सूत्र, १।२।६४-६५

३ वही, ५।६।५

४ वही, ५।६।५

न मिले तब तक १. विक्रेता व्यापारी को (धन न मिलने पर भी) धन की अपेक्षा क्रिया लगती है, किन्तु ह्रस्व भाव से। २. क्रेता जब तक मोल नहीं देता है, तब तक क्रेता को मोटी क्रिया लगती है।

क्रेता व्यापारी ने माल खरीद कर, माल डिलीवरी लेकर यथा समय माल मोल विक्रेता को दे दिया, किन्तु फिर भी क्रेता को मोल के धन की अपेक्षा क्रिया लगती है। पर ह्रस्व भाव से। विक्रेता को धन की प्राप्ति के बाद धन की अपेक्षा मोटी क्रिया लगती है।[1]

२ भगवती सूत्र, ५।६।५ के बाद से।

भाषा : एक तात्त्विक विवेचन

मुनिश्री सुमेरमलजी (लाडनूं)

अपनी भावना को प्रकट करने का स्पष्ट साधन है—भाषा। भाषा वह फसल है, जो एकमात्र आत्मा रूपी क्षेत्र में ही पैदा होती है। जैसी आत्मा होगी, वैसी ही भाषा की फसल तैयार होगी। भाषा का इतिहास उतना ही प्राचीन है, जितना कि जीव-विज्ञान का। जैन आगम तो जीव की भाँति भाषा को भी अनादिकालीन मानता है। इनके प्रकार में अन्तर अवश्य पड़ा है और पड़ता रहेगा। भाषा आखिर अपने-अपने युग के निर्धारित संकेत ही तो है, जो समयान्तर से तथा क्षेत्रान्तर से बदलते रहते हैं। फिर भी भाषा के उन संकेतात्मक शब्दों का अर्थ अपने-अपने समय में निर्णयात्मक रहता है। यदि ऐसा न हो, तो भावों की अभिव्यक्ति भाषा के द्वारा हो ही नहीं सकती और आगमों में कहा है भाषा निर्णयात्मक बोध कराने वाली है।[1]

यह एक आत्मा की विशेष प्रक्रिया का फल है। आत्मा जब बोलने की ओर प्रवृत्त होती है, तब कहीं भाषा की उत्पत्ति होती है। भाषा सजीव है या निर्जीव? रूपी है या अरूपी? उसके फैलाव की क्या प्रक्रिया है? आदि अनेक विषयों का विशद विवेचन आगमों में मिलता है।

भाषा का स्वरूप

प्रश्न—भगवन्! भाषा आत्मा है? या आत्मा से पृथक् कोई दूसरा तत्त्व है?

उत्तर—गौतम! भाषा आत्मा नहीं है, आत्मा से अन्य पदार्थ है।

प्रश्न—भगवन्! भाषा रूपी पदार्थ है, या अरूपी पदार्थ?

उत्तर—गौतम! भाषा रूपी पदार्थ है, अरूपी नहीं है। भाषा हमें सुनाई देती है। यदि अरूपी होती तो सुनाई कैसे देती? आवाज रूपी पदार्थ की ही होती है।

प्रश्न—भगवन्! भाषा सचित्त है या अचित्त तथा सजीव है अथवा निर्जीव?

उत्तर—गौतम! भाषा अचित्त है, निर्जीव है। भाषा आत्मा से पृथक् पुद्गल वर्गणा मात्र है।

प्रश्न—भगवन्! भाषा जीवों के होती है, अथवा अजीवों के?

उत्तर—गौतम? भाषा जीवों के होती है, अजीवों के नहीं होती। यद्यपि भाषा स्वयं अजीव है, किन्तु भाषा के रूप में उसकी संकलना जीवों के पुरुषार्थ से ही होती है। जीवों के पुरुषार्थ से पहले भाषा नाम का कोई तत्त्व नहीं था। केवल तद्योग पुद्गल के रूप में समूचे लोक में बिखरे रहते हैं। ज्यों ही जीवों का पुरुषार्थ हुआ, वे पुद्गल भाषा के रूप में संगठित हो जाते हैं। शब्द तो अजीव के भी होता है। दो स्थूल पुद्गल स्कन्ध, जब एक दूसरे से टकराते हैं, तब शब्द होता है। किन्तु भाषा नहीं, भाषा केवल वह ही कही जाती है, जो तालू, ओष्ठ आदि आठ स्थानों में से किसी भी स्थान से निकली हुई हो और भाषा पर्याप्ति के द्वारा गृहीत भाषा वर्गणा के पुद्गल हों। ये स्थान तथा भाषा पर्याप्ति जीव के ही होती है, अजीव के नहीं।

प्रश्न—भगवन्! बोलने से पहले भाषा कही जाती है, अथवा बोलते हुए को भाषा कही जाती है? या फिर

---

१ गोयमा! मण्णामीति ओहारिणी भाषा—अभिधान राजेन्द्र कोश

बोलने के बाद में भाषा कही जाती है।

उत्तर—गौतम ! बोलने से पूर्व भाषा नहीं कही जाती। बोलने के बाद में भी वह भाषा नहीं कहलाती। केवल बोलते समय में ही भाषा कहलाती है। उत्पन्न होने से पहले तो वे केवल असंगृहीत पुद्गल मात्र हैं। जब तक भाषा के योग्य पुद्गल एक स्थान पर व्यवस्थित रूप से भाषा पर्याप्ति के द्वारा संगृहीत नहीं हो जाते, तब तक वे केवल पुद्गल ही कहलाते हैं। इससे अधिक उन पुद्गलों को हम कुछ कहें तो द्रव्य भाषा कह सकते हैं। किन्तु फलितार्थ में वे पुद्गल ही हैं। उन्हें भाषा नहीं कहा जा सकता।

बोलने के बाद भी हम उन्हें भाषा नहीं कह सकते। जिन पुद्गलों को भाषा पर्याप्ति द्वारा ग्रहण करके आत्मा विसर्जन कर देती है, वे पुद्गल कुछ समय पर्यन्त उसी भाषा के रूप में वायुमंडल में मँडराते रहते हैं। फिर भी हम उन्हें भाषा नहीं कह सकते। भाषा तो केवल वर्तमान में ही है। जिस समय में व्यक्ति बोलता है, उसी समय में उसे भाषा कहा जाता है, यह नैश्चियिक कथन है। व्यवहार में बोलने के बाद कुछ समय तक हमें जो सुनाई देता है, उसे हम भाषा ही कहेंगे।[1]

भाषा वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण शरीर योग से होता है तथा विसर्जन वचन योग से होना है। पाँच शरीर में से केवल तीन शरीर से ही ग्रहण होता है। ग्रहण करने में भाषा पर्याप्ति की अनिवार्यता मानी गई है, और पर्याप्तियाँ, औदारिक, वैक्रयिक तथा आहारक शरीर में ही सक्रिय बनती हैं। कार्मण तथा तेजस् शरीर में पर्याप्तियाँ नहीं होतीं, अतः तीन शरीर से ही भाषा वर्गणा के पुद्गल ग्रहण किये जाते हैं।[2]

ग्रहण करने की प्रक्रिया

भाषा पर्याप्ति के द्वारा आत्मा भाषा वर्गणा के पुद्गल ग्रहण करती है। भाषा वर्गणा के उन्हीं पुद्गलों को भाषा पर्याप्ति ग्रहण करती है, जो वर्तमान में स्थिर है। अस्थिर पुद्गलों का ग्रहण नहीं होता।[3]

पुद्गलों के स्वरूप का निर्णय द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव से किया जाता है। द्रव्य से जिन पुद्गल स्कन्धों को ग्रहण किया जाता है। वे एक प्रदेशीय यावत् संख्य तथा असंख्य प्रदेशीय पुद्गल स्कन्ध नहीं होते, वे तो अनन्त प्रदेशीय पुद्गल स्कन्ध ही होते हैं। दो-तीन प्रदेशीय स्कन्ध तो क्या, असंख्य प्रदेशीय स्कन्ध को भी आत्मा ग्रहण नहीं कर सकती। आत्मा के काम आने वाले केवल अनन्त प्रदेशीय स्कन्ध ही हैं।[4]

क्षेत्र से एक प्रदेश में रहने वाले, दो प्रदेश में रहने वाले तथा संख्यात प्रदेश में रहने वाले भाषा वर्गणा के पुद्गलों को आत्मा ग्रहण नहीं करती। आत्मा से गृहीत होने वाले पुद्गल असंख्य प्रदेशाकाश में रहने वाले होते हैं।[5]

काल से एक समय की स्थिति वाले, दो समय की स्थिति वाले यावत् असंख्य समय की स्थिति वाले पुद्गलों को भाषा के रूप में आत्मा ग्रहण करती है।[6] भाषा के पुद्गल कुछ एक समय के स्थिति वाले होते हैं, एक समय के बाद वे

---

१ भगवती सूत्र, शतक १३

२ अभिधान राजेन्द्र कोश

३ गोयमा ! ठियाइं गिण्हति णो अट्ठियाइं गिण्हति।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

४ अणंतपदेसियाइं गेण्हति, नो असंखिज्जपदेसियाइं गिण्हइ।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

५ असंखेज्जपएसोगाढाइं गेण्हति।

—वही, पद ११

६ गोयमा ! एगसमय ठितीयाइं पि गेण्हति, दुसमय ठितीयाइं पि गेण्हति जाव असंखेज्ज समय ठितियाइं पि गेण्हति।

—प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

भाषा के रूप में काम नहीं आते। एक समय की स्थिति वाले पुद्गल भाषा की आदि परिणति में काम आते हैं। कुछ पुद्-गल ऐसे हैं, जो असंख्य समय तक भाषा के रूप में अपरिवर्तनीय स्वरूप में रह जाते हैं।

भाव से आत्मा वर्णवान्, गन्धवान्, रसवान् तथा स्पर्शवान् पुद्गलों को ग्रहण करता है।

वर्ण में ग्रहण द्रव्य की अपेक्षा से एक वर्ण वाले यावत् पाँचों वर्ण वाले पुद्गलों को तथा सर्व ग्रहण की अपेक्षा नियमतः पाँचों वर्ण वाले पुद्गलों को आत्मा ग्रहण करता है। इसी प्रकार गन्ध और रस को जानना चाहिए।

स्पर्श में ग्रहण द्रव्य की अपेक्षा से भी एक स्पर्श वाले पुद्गलों को आत्मा ग्रहण नहीं करता। गृहीत होने वाले पुद्गलों में कम-से-कम दो स्पर्श तथा अधिक-से-अधिक चार स्पर्श पाते हैं। उनके नाम हैं—शीतस्पर्श, उष्णस्पर्श, स्निग्ध-स्पर्श तथा रूक्षस्पर्श। पाँच, छः यावन् आठ स्पर्श वाले पुद्गलों का भाषा के रूप में ग्रहण नहीं होता। भाषा वर्गणा के पुद्गल-समूह नियमतः चतुस्पर्शी हैं।[1]

गृहीत होने वाले पुद्गल आत्मा से स्पृष्ट होते हैं, अस्पृष्ट नहीं। अस्पृष्ट पुद्गलों को आत्मा ग्रहण नहीं कर सकता। स्पृष्ट पुद्गल भी आत्म-प्रदेश के आकाश में अवस्थित हो, तभी उन्हें आत्मा ग्रहण कर सकता है। जिन आकाश प्रदेशों में आत्म-प्रदेश अवस्थित हैं, उन्हीं आकाश प्रदेशों में पुद्गल अवस्थित हो तो आत्मा उन्हें ग्रहण करता है। एक क्षेत्रावग्राही हाने पर भी वे अनन्तरवर्ती (व्यवधानरहित) क्षेत्रावग्राही होने चाहिए। परम्परवर्ती (व्यवधान सहित) क्षेत्रावग्राही पुद्गल आत्मा के ग्रहण का विषय नहीं बन सकते।

अनन्तरवर्ती पुद्गल सूक्ष्म भी होते हैं, तथा बादर भी होते हैं। यहाँ सूक्ष्म का अर्थ परिमाण में कम प्रदेशों वाला स्कन्ध करना चाहिए। कम परिमाण वाले पुद्गलों को भी आत्मा ग्रहण करता है और तीव्र प्रयत्न के द्वारा अधिक प्रमाण वाले पुद्गलों को भी एक साथ ग्रहण कर लेता है। चतुःस्पर्शी होने के कारण वे चर्म-चक्षुओं से तो दीखते नहीं। जो पुद्गल-समूह अनन्त प्रदेशीय होते हुए भी कम मात्रा में हैं, उन्हें सूक्ष्म कहा गया है और जो अधिक मात्रा में हैं, उन्हें बादर कहा गया है। दोनों को आत्मा ग्रहण करता है। दोनों प्रकार के पुद्गल स्कन्धों का ऊर्ध्व, मध्य तथा नीचे से ग्रहण होता है; अतः नियमतः छहों दिशाओं से भाषा वर्गणा के पुद्गल-स्कन्धों का ग्रहण किया जाता है।

छहों दिशाओं से पुद्गल स्कन्धों का ग्रहण आदि में भी होता है, मध्य में भी होता है और अन्त में भी होता है। अन्तर मुहूर्त पर्यन्त भाषा के पुद्गल ग्रहण किये जा सकते हैं। उस अन्तर मुहूर्त के आदि में भाषा वर्गणा के पुद्गलों का ग्रहण होता है तथा मध्य और अन्त में भी उसी प्रकार ग्रहण होता रहता है।[2]

गृहीत होने वाले पुद्गल अपने निर्धारित विषय के ही होते हैं, अन्य विषय के नहीं। जैसे सत्य बोलने वाला व्यक्ति जब बोलने के लिए पुद्गल ग्रहण करता है, तो सत्य विषयक पुद्गल ही गृहीत होंगे, असत्य के नहीं। इसी प्रकार मृदु और कर्कश, स्त्रीलिंग, पुंल्लिग, नपुंसक लिंग, एकवचन, द्विवचन, बहुवचन आदि अनेक विषय हैं। जिस विषय में तथा जिस रूप में व्यक्ति बोलना चाहता है, तदनुरूप ही पुद्गल गृहीत होते हैं। वे भी अनुक्रम से, व्यतिक्रम से नहीं।

भाषा वर्गणा का ग्रहण निरन्तर भी होता है और सान्तर भी। व्यवधान पड़ता है तो कम-से-कम एक समय का और अधिक-से-अधिक असंख्य समय का। यहाँ जो एक समय का व्यवधान लिया गया है, वह बोलते समय का सम-झना चाहिये। जैसे—पहले समय में भाषा के पुद्गल ग्रहण किये, दूसरे समय में उनका विसर्जन किया। नये पुद्गलों का ग्रहण दूसरे समय न कर तीसरे समय में यदि करता है, तो एक समय का व्यवधान पड़ जाता है और निरन्तर ग्रहण करते समय दूसरे क्षण में भी पुद्गल लेते रहते हैं। जिस समय में विसर्जन होता है, उस समय में भी ग्रहण होता रहता है।[3]

---

१ प्रज्ञापना सूत्र, पद ११
२ वही, पद ११
३ वही, पद ११

विसर्जन प्रक्रिया

भाषा के पुद्गल गृहीत होते हैं। भाषा के रूप में उनका परिणमन होता है, फिर उनका विसर्जन होता है। वस्तुतः विसर्जन के समय में ही भाषा है और तो उसकी प्रारम्भिक परिणतियाँ हैं।[1] जब उसका विसर्जन होता है, तभी वह जनोपयोगिनी बनती है। ग्रहण की भाँति विसर्जन निरन्तर नहीं होता, सान्तर ही होता है। एक पुद्गल-स्कन्ध के विसर्जन के बाद दूसरे पुद्गल-स्कन्ध के विसर्जन में व्यवधान केवल ग्रहण किये जाने वाले पुद्गलों का है। जो पुद्गल वर्तमान क्षण में गृहीत होते हैं, उनका विसर्जन उसी क्षण में नहीं होता, उत्तरवर्ती क्षण में होता है। अत विसर्जन प्रारंभ होने के बाद समय की अपेक्षा से निरन्तर होता है, पुद्गलों की अपेक्षा से सान्तर होता है। पुद्गलों का ग्रहण और विसर्जन पहले और अन्तिम समय को छोड़ कर बीच के सभी क्षणों में साथ-साथ होता है। पहले समय में केवल पुद्गलों का ग्रहण होता है, क्योंकि विसर्जन तो ग्रहण किए बिना हो नहीं सकता और अन्तिम में केवल विसर्जन ही होता है। बोलने की इच्छा बन्द होते ही, पुद्गलों का ग्रहण बन्द हो जाता है। उस समय में केवल गृहीत पुद्गलों का विसर्जन ही होता है। समय की अपेक्षा से निरन्तर विसर्जन होते हुए भी उन गृहीत पुद्गलों की अपेक्षा से व्यवधान सहित विसर्जन होता है। विसर्जन का क्रम गृहीत पुद्गलों के अनुरूप ही होगा। यदि सत्य भाषा के पुद्गलों को ग्रहण किया है तो उसका विसर्जन भी सत्य भाषा के रूप में होगा। इसी प्रकार जिस विषय में पुद्गलों का ग्रहण होगा, उसी विषय में उसका विसर्जन होगा। पुद्गल स्कन्ध की मात्रा भी गृहीत पुद्गलों के अनुरूप ही रहेगी।

विसर्जित होने वाले पुद्गल भिन्न होकर विसर्जित होते हैं, और अभिन्न भी। भाषा वर्गणा के कुछ पुद्गल ऐसे होते हैं जो भेद (टुकड़े) होकर बाहर निकलते हैं और कुछ पुद्गल ऐसे भी होते हैं, जो बाहर निकलने के अन्तिम क्षण तक भेद प्राप्त नहीं होते। बाहर निकल जाने के बाद ही उनका भेद होता है।[2]

विस्तार की प्रक्रिया

वचन योग के द्वारा भाषा ज्यों ही बाहर निकलती है, उसी क्षण उसका फैलाव प्रारम्भ हो जाता है। सब पुद्गलों का विस्तार एक-सा नहीं होता है। जो पुद्गल वक्ता के तीव्र प्रयत्न द्वारा भेद प्राप्त होकर निकलते हैं, उनका विस्तार लोकान्त तक होता है और जो वक्ता के मन्द प्रयत्न के कारण भेद बिना पाये ही निकल जाते हैं, वे असंख्य प्रदेशात्मक क्षेत्र दूर जाकर भेद प्राप्त होते हैं और संख्यात योजन दूर जाकर विध्वंस हो जाते हैं। वे लोकान्त तक नहीं पहुँच सकते।[3]

भाषा वर्गणा के पुद्गलों को समूचे लोक में फैलाव करने में चार समय लगते हैं। उनके विस्तार की भी एक प्रक्रिया है और वह केवलीसमुद्घात के पहले चार समय की प्रक्रिया के अनुरूप ही प्रक्रिया है। पहले समय में भाषा के पुद्गलों का चतुर्दशरज्ज्वात्मक एक दण्ड बनता है, जो ऊर्ध्व और अधो दिशि में लोकान्त का स्पर्श करता है। दूसरे समय में वे पुद्गल कपाट के आकार के हो जाते हैं। कपाट के द्वारा वे पुद्गल पूर्व, पश्चिम या उत्तर, दक्षिण वक्ता के सम्मुख तथा पीठवर्ती दो दिशाओं मे लोकान्त का स्पर्श कर लेते हैं। तीसरे समय में वे पुद्गल मथनी के आकार के बन जाते है। इससे अवशिष्ट दो दिशाओं के लोकान्त का स्पर्श कर लेते हैं। चौथे समय में वे लोकव्यापी बन जाते हैं। चार दिशाओं के अलावा लोकान्त के कोण आदि में भी फैल जाते है। इस प्रकार चार समय में भाषा वर्गणा के पुद्गल समूचे लोक में फैल

---

१ निसर्गसमय वर्तिन्येव भाषा।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

२ प्रज्ञापना सूत्र, पद ११

३ वही, पद ११

जाते हैं ।[1]

कुछ आचार्यों का मत है, तीन समय में ही ये पुद्गल लोक व्यापी बन जाते हैं । पहले समय में छहों दिशाओं में अनुश्रेणिगत लोकान्त तक पुद्गल फैल जाते हैं, दूसरे समय में मन्थान करके विदिशाओं में फैल जाते हैं तथा तीसरे समय में बचे-खुचे आन्तरों को पूर देते हैं, ऐसा वे मानते है ।[2]

कुछ आचार्य पाँच समय की मान्यता भी रखते हैं । वे कहते हैं—वक्ता किसी विदिशा में बैठा है । वहाँ से एक समय तो उन पुद्गलों को विदिशा से दिशा में आने में लग जाता है, दूसरे समय में लोक के मध्य में प्रवेश करता है । शेष तीन समय में विस्तार की प्रक्रिया ऊपर बताई गई प्रक्रिया के समान ही समझ लेनी चाहिए ।[3]

तीन प्ररूपणा में हमें तीन-चार तथा पाँच समय का उल्लेख मिलता है । समय की गणना अतीन्द्रिय-ज्ञानियों के द्वारा ही गम्य है । चर्म चक्षुओं के लिए तो यह केवल कल्पना का विषय रह जाता है । जहाँ एक पलक फेरने में असंख्य समय बीत जाते हैं, वहाँ तीन-चार तथा पाँच समय का माप हो ही कैसे सकता है ? आज जो वैज्ञानिकों ने शब्द की गति का अंकन किया है, वह स्थूल है । जैन दृष्टिकोण से भाषा के पुद्गल सेकिण्ड के असंख्यातवें हिस्से जितने समय में समूचे लोक में फैल जाते हैं ।

---

१ केवली समुद्घातक्रमेण चतुर्भिः समयैः सर्वोऽपि लोको भाषा-द्रव्यैरापूर्यंत इति। दण्ड प्रथमे समये कपाटमथ चोत्तर तथा समये, मन्थानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे च ।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

२ पढम समयेञ्चिय जओ मुक्काइं जंति छदिसि ताइं । दितिय समयम्मितेञ्चिय, छदण्डा होंति धम्मंथा ।।
मंथं तरेंहि तइए, समए पुन्नेंहि पुरिओ लोगो ।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

३ दिसि विट्ठ यस्स पढ़मोऽतिगमे ते चेत्र सेसया तिन्नि । विदिसि ट्ठियस्स समया पंचातिगमम्मि जं दोणि ।।

—अभिधान राजेन्द्र कोश

वर्तमान युग में तेरापंथ का महत्त्व

डा० राधाविनोद पाल

तेरापंथ के महत्त्व को समझने के लिए इस तथ्य को समझना आवश्यक है कि वर्तमान विश्व की स्थिति विवेक पर आधारित 'श्रद्धा-युग' अथवा वास्तविक श्रद्धा पर आधारित 'विवेक-युग' की पुनःस्थापना शीघ्र से शीघ्र चाहती है।

समस्याएं समय-समय पर उत्पन्न होती रहती हैं और विभिन्न समयों में उनको अपने विशिष्ट पहलुओं के कारण विशेष महत्त्व मिल जाता है। मानव-समाज के सम्मुख उपस्थित एक युग के कतिपय बड़े प्रश्नों का घटनाओं के परिवर्तन के कारण आज हमारे युग में अपेक्षाकृत अल्प महत्त्व रह गया है। जबकि कुछ प्रश्नों ने हाल के वर्षों में नया और कहीं अधिक महत्त्व प्राप्त कर लिया है। किन्तु विज्ञान ने मानव-जाति के हाथों में वर्तमान युग में जो विनाशकारी अस्त्र सौंप दिये हैं, उनके कारण उत्पन्न समस्या से अधिक गम्भीर समस्या और कोई नहीं है। विनाश की इन सम्भावनाओं को देखते हुए, अहिंसा का सिद्धान्त जिस पर तेरापंथ-सम्प्रदाय के पूज्य संस्थापक द्वारा अधिक बल दिया गया था, एक ऐसा सिद्धान्त माना जा सकता है, जो सभी सदाशयी व्यक्तियों को शीघ्र ही आकर्षित कर सकता है।

इस सत्य को कदाचित् ही अस्वीकार किया जा सकता है कि इस युग में मानव समाज की रक्षा उसी दिशा में हो सकती है जबकि आधुनिक मानव समुदाय विचार और व्यवहार में अहिंसा के सिद्धान्त का सच्चाई से अनुसरण करना आरम्भ कर दे।

वर्तमान सामाजिक एवं राजनैतिक प्रणालियों में संशोधन की अत्यन्त आवश्यकता है और इसके लिए कुछ वास्तविक आन्तरिक रचना करनी होगी, जिससे श्रेष्ठ सामाजिक जीवन अस्तित्व में आ सके और जो वर्तमान दुनिया को एक इकाई मान कर उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। यह संशोधन केवल समझौते का रूप न होकर वर्तमान स्थिति से उत्पन्न समस्याओं का वास्तविक समाधान होना चाहिए। किन्तु मनुष्य की शोध-शक्ति आज सर्वत्र ही भूल-भुलैया में भटक रही है। इसका कारण यही है कि हम अपनी सीमित दृष्टियों को ही अन्तिम मान बैठे हैं। हम केवल अपने दृष्टिकोण की मर्यादाओं को ही अस्वीकार करने का प्रयत्न नहीं करते, अपितु हम अपने ज्ञान की अपर्याप्त भावना और क्षुधा पर भी पर्दा डालने और उसे छिपाने का प्रयत्न करते हैं। उसके फलस्वरूप जो असहिष्णुता उत्पन्न होती है, वह शान्ति के लिए आवश्यक पारस्परिक सहमति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा सिद्ध हो रही है। आज की दुनिया इतनी असहिष्णु हो गई है कि निष्पक्ष आलोचना को भी सहन नहीं कर सकती। कोई भी ऐसा देश राज्य अथवा नेता नहीं है जो अपने दोषों की चर्चा सुनने को तैयार हो। यही कारण है कि तेरापंथ के सिद्धान्तों में सहिष्णुता पर इतना बल दिया गया है।

निस्सन्देह आज मनुष्य को अपने नैतिक और भावनात्मक साधनों से ऊपर उठ कर संगठित होने को कहा जा रहा है। हम जिस सभ्यता के विकास की जिस कसौटी को खोज रहे हैं और मनुष्य बाह्य प्रकृति की उत्तरोत्तर विस्तृत और प्रभावशाली विजयों में जिसे पाने में असफल रहा है, वह इस बात में निहित है कि हम शक्ति के रूपान्तर पर अधिकाधिक जोर दें और उसका कार्य-क्षेत्र बाहरी क्षेत्र से हटाकर ऐसे क्षेत्र में ले जाएं, जहाँ चुनौतियों का सफल समाधान बाहरी बाधाओं अथवा बाहरी शत्रु पर विजय प्राप्त करने के रूप में नहीं होता, अपितु आन्तरिक आत्म-निर्माण और आत्म-निर्णय के रूप में होता है।

इस समय जबकि विश्व में सर्वत्र हर कोई मानव-शक्ति के अत्यधिक विस्तार पर स्तंभित है, तब मानव-ज्ञान

की सीमितता के विषय में हमारा अज्ञान समस्त दुनिया के समक्ष एक महान् खतरा उपस्थित करता है और विघटनकारी रोग सिद्ध हो रहा है। कम-से-कम हम भारतीय संस्कृति के उत्तराधिकारी तो इस खतरे से अपने को बचा सकते हैं।

हम अपने ज्ञान की सीमितता को जो अस्वीकार करते हैं, उसका कारण कुछ अंश तक तो हमारे 'अज्ञान का अज्ञान' है, किन्तु अपने सत्य के लिए सम्पूर्णता के हमारे दावे हमारे 'अज्ञान का अज्ञान' नहीं होते। अवश्य हम कभी-कभी सत्य के अपने ज्ञान के आंशिक और मन-गठित स्वरूप पर पर्दा डालने के सचेतन अथवा अर्ध चेतन प्रयास के रूप में ऐसा दावा करते हैं।

सत्य और असत्य के बीच की सरल भेद-रेखा इस भयंकर और करुणाजनक भ्रम का सुविधाजनक अस्त्र है कि 'हमारे सत्य' जो कुछ भी विरुद्ध है, वह असत्य है और उस असत्य का नाश करने के लिए हमें हर प्रकार के दमनकारी साधन का उपयोग करना चाहिए। यह भेद-रेखा इस बात को स्वीकार नहीं करती कि शुद्धतम सत्य में भी कुछ-न-कुछ भूल हो सकती है और जो अधिक-से-अधिक प्रकट असत्य है। मानव बुद्धि की इस मर्यादा को समझ कर ही तेरापंथ के पूज्य संस्थापक आचार्यश्री भिक्षु ने सहिष्णुता पर इतना बल दिया है और उसे उच्च सांस्कृतिक सद्गुण माना है।

हम पिछली अर्ध शताब्दी में जिस इतिहास में रहते आये हैं और मानवता के सामने जो नये-नये आतंक और अकालीन भय उपस्थित हो रहे हैं, उनका स्मरण करके ही हम तेरापंथ का महत्त्व पूर्णतया समझ सकते हैं। हमको यह स्मरण रखना होगा कि धर्म अन्य अनेक बातों के साथ एक ऐसी शिक्षा प्रणाली है, जिसके द्वारा मनुष्य प्रथमतः आत्म-शिक्षा प्राप्त करता है और अपने व्यक्तित्व में वांछनीय परिवर्तन करता है और दूसरे ऐसी चेतना का विकास करता है कि उसके और विश्व के मध्य उचित सम्बन्ध स्थापित हो सके, जिसका कि वह एक अंग है। हम आज ऐसे युग में हैं, जब विश्व-समुदाय को अपने समस्त विचारों में एकता ही शक्तिशाली भावना का विकास करना चाहिए। दूसरे शब्दों में हमारे मानसिक ढाँचे में भौतिक परिवर्तन होना चाहिए। इस युग में जब विज्ञान ने सारे विश्व के सिर पर संहार के नये भीषण अस्त्र लटका दिये हैं और मानव के विवेक और बुद्धि अधिक-से-अधिक भ्रष्ट हो गए हैं, हमारे त्राण का यही सरलतम मार्ग हो सकता है। क्या हम इस सत्य की उपेक्षा कर सकते हैं कि हमारे जीवित रहने की न्यूनतम शर्त यह है कि हम अपने वर्तमान मानसिक गठन में तुरन्त परिवर्तन करें?

इस समय दुनिया में हमारे सामने कठिनाई यह है कि यन्त्र विद्या की अद्भुत प्रगति ने एक नई ही दुनिया खड़ी कर दी है और हमारे भवन भावुक मन को उसके साथ आकस्मिक रूप में संगति बिठानी पड़ रही है। यहीं तेरापंथ समुदाय के संस्थापक स्वामी भिक्खनजी जैसे धर्म गुरु अहिंसा, सहिष्णुता और सत्य की अपनी शिक्षाओं और सिद्धान्तों को लेकर हमारे मध्य आते हैं। जिनके द्वारा मनुष्य का मन नई परिस्थितियों के साथ संगति बिठा सकता है।

यदि मनुष्य दूसरों पर सूर्य का प्रकाश डालना चाहे तो उसे सबसे पहले स्वयं उस प्रकाश में आलोकित होना चाहिए। विचारों ने केवल विचारों के रूप में दुनिया को नहीं जीता है। प्रत्युत उन विचारों की शक्ति ने ही विजय प्राप्त की है। विचारों के बौद्धिक तत्त्व मनुष्यों के मन को उतना प्रभावित नहीं करते जितना उनकी जाज्वल्यमान शक्ति करती है, जो इतिहास के अमुक काल में उनके द्वारा प्रसारित होती है। उनसे ऐसी तीव्र गन्ध प्रसारित होती है कि मंद-से-मंद घ्राण शक्ति पर भी वह विजय प्राप्त कर सकती है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को केवल अपने शब्दों द्वारा प्रभावित नहीं कर सकता प्रत्युत अपने जीवन द्वारा प्रभावित कर सकता है। ऐसे महापुरुष होते हैं जो अपने नेत्रों से ही शक्ति और प्रेम का वातावरण फैला सकते हैं और उनके संकेतों में और उनकी आत्मा की सौम्यता के मूक सम्पर्क में अपूर्व शान्ति मिलती है।

बुद्ध ने इसी प्रकार जीवन का आलोक फैलाया था। वसन्त की भीनी वायु की भाँति मन्द-मन्द वह उस समय की दुनिया के तंद्रिल प्राचीन भवन की दीवारों और बन्द खिड़कियों में प्रविष्ट हुआ। उसने उन स्त्री और पुरुषों को नया प्रकाश दिया जिनको शोक, निर्बलता और एकान्त ने वर्षों से क्षीण कर दिया था और जो सूखकर मूक प्राणियों के समान हो गये थे।

इसी प्रकार जैन धर्म के संस्थापकों ने जीवन ज्योति फैलाई और तेरापंथ के संस्थापक आचार्यश्री भिक्खनजी

ने बड़ी जीवन ज्योति विकीर्ण की और उनके पश्चात् आने वाले आचार्यों ने भी उसी प्रकार जीवन ज्योति का प्रसार किया।

मुझे तेरापंथ के वर्तमान आचार्य पूज्य श्री तुलसी महाराज के सम्पर्क में आने का अवसर मिला है और मुझे कहना चाहिए कि उनका हम पर जो भी प्रभाव है उसका कारण उनके शब्दों में नहीं प्रत्युत उनके अपने जीवन में है।

हम सबको आचार्यों के विचारों और शिक्षाओं—तेरापंथ की शिक्षाओं और सिद्धान्तों से प्रेम करना चाहिए। हम सबको आचार्यश्री तुलसी के विचारों और शिक्षाओं से भी प्रेम करना चाहिए। यही नहीं हमको उनकी इच्छा और शिक्षाओं के आगे भक्ति पूर्वक नतमस्तक होना चाहिए। हमारी आत्मा स्वयं समर्पण के लिए उत्सुक होनी चाहिएं। उनकी शिक्षाओं को स्वीकारकरने और उन पर चलने की प्रेरणा हमारे अन्तरतम में से उद्भावित होनी चाहिए।

आचार्यश्री भिक्षु और उनका विचार-पक्ष

मुनिश्री मोहनलालजी 'शार्दूल'

तेरापंथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने विचार-पक्ष के विषय में बहुत गहन, सूक्ष्म एवं व्यापक चिन्तन किया है। क्योंकि मूल मान्यताओं की भूमिका पर ही कोई संगठन उच्च तथा नया जीवन देने वाला साबित हो सकता है। आचार्य भिक्षु ने आगम-मंथन और अपनी तर्क प्रवण प्रतिभा के बल पर वे सत्य प्राप्त किये, जो जीवन-विकास के अप्रतिम आधार हो सकते थे। सत्य क्या है और उसकी उपलब्धि कैसे हो सकती है? इस विषय पर उन्होंने खूब खुले मस्तिष्क से विचार किया, फिर भी अपनी तर्कणा की कसौटी पर कसे हुए को भी अपनी समझ का सत्य माना। उस पर अपरिवर्तनीयता की छाप नहीं लगाई।

'कल्याण केवल उस मार्ग पर चलने से ही हो सकता है, जिस पर मैं चल रहा हूँ', ऐसा आग्रह और अविवेक भरा कथन उन्होंने कहीं नहीं किया। प्रत्युत विचार स्वातन्त्र्य के पथ को विशाल बनाते हुए कहा—"मैं जो कर रहा हूँ, वह उत्तरवर्त्ती आचार्यों को सही लगे तो करें और सही न लगे तो छोड़ दें।[1] इस प्रकार उन्होंने विकास और स्थायित्व के मूल को अपने संगठन में सुरक्षित कर लिया था।

सत्य की परख और उसकी प्राप्ति का मूल यही है कि हठवादिता न हो। अभिनिवेशपूर्वक यह मानना कि सत्य केवल वही है जो मैं मानता हूँ, सत्य के नहीं प्रत्युत असत्य के निकट होना है। सत्य केवल वही नहीं है, जो हमें दिखाई देता है। सम्भव है, वह बात भी सत्य हो, जो दूसरों के मुख से आ रही हो। सत्य मार्ग पर आये हुए व्यक्ति की पहचान यही है कि वह दुराग्रही नहीं होता। वह इस बात को नहीं मानता कि मेरा मार्ग ही सही है और सबके गलत। आचार्य भिक्षु इसी कोटि के महापुरुष थे। उन्होंने सत्य को बहुत विशाल और व्यापक माना। उन्होंने चिन्तन के द्वार को सदा खुला रखा, फिर भी अपने मंथन से प्राप्त तत्त्व को उन्होंने तर्कपूर्ण तरीके से प्ररूपित किया। धर्म, दया, दान आदि विषयों को उन्होंने गहराईपूर्वक तात्त्विक ढंग से विवेचित किया।

धर्म

धर्म आत्म-विकास का साधन है। मौलिक रूप से उसका सीधा सम्बन्ध आध्यात्मिकता से लिया जाता है, किन्तु उसकी व्यापकता हर पहलू पर अपनी छाप लगाती है। जीवन के हर व्यवहार में उसे साधा जाना चाहिए। उस पर कोई प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। वह किसी जाति-विशेष या वर्ग-विशेष का ही नहीं है। उसके गरीब, 'धनिक, ऊँच-नीच, काले-गोरे, सभी अधिकारी हैं। धर्म के दृष्टिकोण मे उच्चता और नीचता की आधार भूमिका भी आचरण-व्यवहार ही है; न कि कुल, जाति या धन। किन्तु धर्म शब्द जितना प्रिय और आस्था को समेटे हुए है, उतना ही जन-साधारण के लिए भ्रान्तिमूलक भी है। उसके स्वरूप के विषय में बहुत कुछ मिथ्या धारणाएं मिलती हैं। लोगों ने उसे बहुत विकृत रूप में प्रख्यात किया है। यही कारण है कि धर्म के नाम पर भयंकर रक्तपात होते रहे हैं और मनुष्य ही मनुष्य का शत्रु होता रहा है। 'धर्म खतरे में है' के नारे के बल पर मानव-समुदाय में बहुत-बहुत वैमनस्य एवं वैर को बढ़ावा दिया गया है।

---

१ कवाड़्या री ढालां, ५१

धर्म का कार्य शान्ति प्रदान करना है। शान्ति जहाँ भंग होती हो, वहाँ वह टिक नहीं सकता, जैसे धूप में छाया नहीं टिक सकती। धर्म के विषय में गलत मान्यताओं के कारण बहुत बखेड़े होते रहे हैं और विविध मतमतान्तरों का जाल बिछता रहा है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म की मूल आत्मा 'त्याग' को माना है। उन्होंने स्पष्ट कहा कि धर्म भोगवृत्ति में नहीं, त्याग-वृत्ति में है। त्याग के बल पर व्यक्ति संयत, शुद्ध एवं आत्मोन्मुख बनता है। असंयतता से शोषण और संघर्ष निकलता है। असंयम दूसरों के अधिकारों को छीनने का प्रतीक है। समुद्र अनेक नदी, नालों और निर्झरों का जल खींचकर उन्हें अस्तित्व विहीन बना देता है। यह असंयतता और परिग्रह का परिणाम है। अपरिग्रह व्रत को निभाने वाला अपने पास कुछ संचय करने की बात नहीं सोचेगा। अतः वह दुर्व्यवस्था-जन्य दुविधा का जनक न होगा।

भोग और त्याग में यही भेद-रेखा है। भोग व्यक्ति को विलासिता की ओर ले जाता है और विलासिता संग्रह की ओर ले जाती है। संग्रह निष्ठुरता को पैदा करता है। निष्ठुरता अर्थात् हृदय-काठिन्य शोषण और संघर्षों की कहानी प्रारम्भ करता है और तब शान्ति लड़खड़ा जाती है। यह सब अनिष्ट परम्परा भोगवाद से प्रवाहित होती है। इसीलिए भारतीय दार्शनिकों ने अनासक्ति और असंग्रह को महत्त्व दिया। वैदिक ऋषियों ने कहा—**तेन त्यक्तेन भुञ्जीयथा**—त्यागपूर्वक भोग करो। भारतीय संस्कृति की मूल प्रेरणा है कि भोग के आगे त्याग को रखो, अनासक्ति को रखो। आचार्य भिक्षु ने इसी तथ्य को जनता के समक्ष दृढ़ता के साथ रखा था।

आचार्य भिक्षु ने धर्म को धन-निरपेक्ष माना। उन्होंने कहा—धर्म तो आत्म-परिष्कृति है, उसका धन से कोई लगाव नहीं। धन से यदि 'धर्मानुष्ठान होने लगे तो धनिक ही सबसे अधिक धार्मिक होंगे। गरीब तो उसका अंश भी न पा सकेंगे। धन से धर्म की निष्पत्ति मानने मे धर्म-प्राप्ति के लिए भी लोग द्रव्य-संचय चाहेंगे और परिणाम यह होगा कि उसमें से अधर्म निकल आयेगा।

ऐहिक और भौतिक अभ्युदय धन से होता है; इस दृष्टि से वह समाज के लिए अनिवार्य है। समाज का परस्पर विनिमय भी धन के माध्यम से होता है। इससे समाज की एक व्यवस्था बनी रहती है और सामाजिक जीवन सुविधा से चलता रहता है। यहाँ तब उसकी आदेयता मानी जा सकती है, किन्तु वह धर्म के विषय में कुछ भी उपकारक नहीं हो सकता। धर्म तो भौतिक जीवन से परे है। वहाँ मनुष्य का दृष्टिकोण और क्रियापद्धति ही विशेष होते हैं। धन की यहाँ कोई प्रेरणा नहीं रहती।

समाज-धर्म और आत्म-धर्म

आचार्य भिक्षु ने धर्म का विश्लेषण करते हुए यह भी प्ररूपणा की कि आत्म-धर्म और समाज-धर्म दोनों पृथक्-पृथक् सत्ता वाले हैं। दोनों का सम्मिश्रण नहीं होना चाहिए। हर सामाजिक कृत्य धर्म नहीं हो सकते। सामाजिक कृत्यों में प्रवृत्ति का प्राचुर्य रहता है और उसमें बल, दबाव, नीति, स्वार्थ, मोह और द्वेष आदि भी सम्मिलित रहते हैं। अतः लौकिक धर्म विशुद्ध आत्म-धर्म के समक्ष नहीं ठहर सकता। सामाजिक कृत्य अपने समाज और राष्ट्र के लिए हितकर होते हुए भी दूसरे समाज या देश के लिए आक्रामक या अप्रिय हो सकते हैं; किन्तु आत्म-धर्म किसी के भी विरुद्ध नहीं हो सकता; अतः हर कर्तव्य को धर्म नहीं माना जाता। धर्म अवश्य कर्तव्य है, पर कर्तव्यमात्र धर्म नहीं है। सैनिक के लिए युद्ध करना कर्तव्य हो सकता है, पर धर्माङ्ग नहीं हो सकता। उसमे दूसरों के प्राणों का अपहरण होता है, जो कि अनधिकार प्रयत्न है। अपनी या अपने देश की सुरक्षा के लिए अन्य देश को असुरक्षित कर देना धर्मसम्मत कार्य नही है।

असल में तो सामाजिक दृष्टिकोण धर्म-अधर्म की गहरी गुत्थी को लेकर नहीं चलता। सामाजिक दर्शन के अनुसार तो उपयोगी और निरुपयोगी का ही अधिक महत्त्व है। कोई कार्य यदि सामाजिक उत्थान या सामाजिक सुरक्षा के लिए उपयोगी होता है तो समाज-दर्शन उसे विहित मानेगा, भले ही उसमे कितनी ही विकट हिंसा को प्रश्रय मिलता हो और कितना ही बड़ा अधर्म क्यों न होता हो, उसकी मर्यादा के अनुसार उसकी अपनी सुरक्षा करना और अपना ढाँचा बनाये रखना ही प्रमुख लक्ष्य है, न कि धर्म-अधर्म।

सामाजिक विचारधारा की अपनी सीधी-सी कसौटी तो यह है कि समाज के लिए जो वस्तु आवश्यक है और उपयोगी है, वह अच्छी है तथा जो उसके लिए अनावश्यक व अनुपयोगी है, वह बुरी है। अतः सामाजिक दृष्टिकोण के अनुसार वही धर्म है, जो उसके विकास के लिए किया जाये, भले ही वह कार्य परम अधर्ममय और हिंसामय हो। अतः सामाजिक कृत्यों को कभी आत्म-धर्म का रूप नहीं दिया जा सकता। उसे लौकिक व्यवहार, लोक-धर्म, समाज-व्यवस्था, सांसारिक कर्तव्य, गृह-धर्म आदि के रूप में ही देखना होगा।

समाज शास्त्र के अनुसार तो विकट परिस्थितियों में की गई हिंसा क्षम्य है। वह सामाजिक धर्म है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण से वह विवशता की बात होगी, अनिवार्यता होगी, किन्तु वह धर्म की श्रेणी में अवकाश नहीं पा सकेगी; रहेगी अनिवार्य हिंसा ही, अधर्म ही।

सामाजिक व्यक्ति को बहुत-से कर्तव्य निभाने होते हैं। सामाजिक जीवन में वे कर्तव्य न किये जायें तो समाज व्यवस्था में या परस्पर के सम्बन्धों में कटुता आ जाये अथवा अव्यवस्था उत्पन्न हो पाये। अतः सामाजिक व्यक्ति के लिए वे सब कृत्य आवश्यक होते हैं, जो समाज के उन्नयन में सहायक होते हैं। यह उसकी अनिवार्यता है, पर उसे धर्म मानना अज्ञान का परिणाम है।

खेती करना, उसकी सुरक्षा के लिए टिड्डियों को मारना, किसी रुग्ण की शारीरिक परिचर्या करना, किसी असहाय को सहायता देना आदि आवश्यक सामाजिक कार्य हो सकते हैं। सामाजिक जीवन के लिए ये अनिवार्य हो सकते हैं, किन्तु अनिवार्य होने से कोई वस्तु धर्म नहीं हो सकती। गृह-धर्म के लिए भोग अनिवार्य है, तो क्या वह आत्म-धर्म बन जायेगा? अतः सामाजिक कृत्य आत्म-धर्म की कल्पना में निरुपयोगी और त्याज्य ही माने जायेंगे। यहाँ तो आत्म-विकासमूलक प्रवृत्तियों का ही ग्रहण हो सकता है। सबके प्रति प्रेम भावना या समत्व की दृष्टि रहे; अपनी किसी प्रवृत्ति से दूसरे को संकट में न डाला जाये; किसी का मन में अहित-चिन्तन न हो; अपनी प्रवृत्ति से कोई आत्म-जागरण की दिशा में बढ़े; यही अभीष्ट और धर्म है।

आचार्य भिक्षु के अभिमतानुसार अज्ञानी को ज्ञानी, मिथ्यात्वी को सम्यक्त्वी और असंयमी को संयमी बनाना ही धर्म है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के अतिरिक्त धर्म का कोई मार्ग नहीं है। अतः इस चतुरंग धर्म की वृद्धि करना ही धर्म है। इसका विकास करना ही बड़ा उपकार है और वास्तविक धर्म है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप के सिवा जो सहयोग, सेवा आदि किये जाते हैं, वे कार्य उनके स्वार्थमूलक पारस्परिक सम्बन्ध के सूत्र होते हैं। अतः वहाँ आत्म-धर्म को खोजना जलती आग में शैत्यान्वेषण के समान है।

आचार्य भिक्षु ने धर्म का उद्गम स्थल आत्म-जागृति को माना है। मन में परिवर्तन आये और आत्मा उसे ग्रहण करे, तभी धर्म की साधना हो सकती है। बल प्रयोग के माध्यम से धर्म की आराधना नहीं की जा सकती। एक हिंसक को बलपूर्वक हिंसक बनाना भी पाप ही है, धर्म नहीं। बल-प्रयोग से किसी को भोग से निवृत्त करना भी अधार्मिक और पापमय कृत्य होगा। क्योंकि वहाँ व्यक्ति का मानस जागता नहीं, उल्टा भयभीत होता है।

आचार्य भिक्षु ने स्पष्ट घोषणा की कि यदि बल-प्रयोग से धर्माराधना होती, तो अनन्तबली तीर्थंकर और सर्व-सत्ताधीश चक्रवर्ती अवश्य ही अपने आदेश से समस्त हिंसा को बन्द करवा देते, किन्तु मूल तथ्य यह है कि धर्म की उपलब्धि बलात्कार में नहीं, वह तो हृदय-परिवर्तन में है। इस प्रकार उन्होंने साध्य-साधन की पवित्रता पर पूरा बल दिया था। अशुद्ध साधन से पाप को मिटाना भी पाप माना और उसे हेय घोषित किया।

कुछ लोगों की मान्यता है कि जीवों को बचाना धर्म है, पर वास्तविक सत्य यह है कि धर्म का सम्बन्ध जीवों के बचने या मरने से नहीं, संयम और समता से है। पर-पीड़क बन कर व्यक्ति का अपने-आपका जीवन भी पापमय बन जाता है तो दूसरों को उत्ताप पहुँचा कर दूसरों की रक्षा करना धर्म-संगत कैसे हो सकता है? जो जीवन दूसरों के लिए शस्त्र के समान है, उस जीवन की वांछा अज्ञानी लोग करते हैं। ज्ञानी तो जीवन-मरण में समता रखते हैं। समता ही धर्म है।

जीवों को बचाने का विचार बहुत विशाल है। उसमें से आवेश और बलात्कार भी निकल सकते हैं। बचाने के

आग्रह में हिंसा को भी प्रश्रय मिल सकता है। इसीलिए 'बचाओ' की अपेक्षा 'मत मारो' का सिद्धान्त उपयुक्त है। आचार्य भिक्षु ने अपनी क्रिया-कलापों द्वारा 'मत मारो' पर ही बल दिया था। उन्होंने 'बचाओ' को इस रूप में ग्रहण किया कि पाप से अपनी और हिंसक की आत्मा बचाओ। वस्तुत: तो हिंसक की आत्मा को ही मोड़ना है, उसे अहिंसक बनाना है। हिंसकों की हिंस्र मनोवृत्ति बदले बिना जीवों की रक्षा और बचाव कोई अर्थ नहीं रखता। एक हिंसक से किसी उपाय के द्वारा जीवों को बचा भी लिया जायेगा, तो भी उसकी क्या सुरक्षा हो सकेगी, जब कि अनेक हिंसक उपस्थित हैं। इस प्रकार आचार्य भिक्षु ने समस्या के उपरीतन को न पकड़कर मूल को ग्रहण किया था।

आचार्य भिक्षु ने धर्म के सम्बन्ध में अपने मौलिक एवं व्यापक विचार व्यक्त किये थे। लोगों में जो कर्तव्य और धर्म को मिलाने की भ्रमणा थी, उसे मिटाने का प्रयास किया था। उन्होंने धर्म का अंकुश सब क्रियाओं पर माना, पर हर क्रिया को धर्म नहीं माना। राजनीति और समाज-नीति से भी उन्होंने धर्म को पृथक् माना क्योंकि ये नीतियाँ सामाजिक और परिवर्तनशील होती हैं, जब कि धर्म का स्वरूप सब समयों और सब क्षेत्रों में एक समान होना है।

दया

दया शब्द अत्यधिक प्रचलित है और वह धर्मांग के रूप में ग्रहण किया जाता है। भारतीय संस्कृति में इस क्रिया को अतिशय आस्था से देखा जाता है, पर जैसी हर शब्द की सीमा कालान्तर में बहुत विस्तीर्ण हो जाया करती है, उसी प्रकार दया की परिधि भी बहुत व्यापक बन चुकी है। जैसे—दूध शब्द में गौ, भैंस, आक, थोर आदि अनेक वस्तुओं के दूध समाविष्ट हैं, उसी प्रकार दया शब्द में भी अनेक विध दयाओं का अन्तर्निवेशन है।

आचार्य भिक्षु ने यहाँ विश्लेषण चाहा। उन्होंने कहा—जैसे दूध शब्द से दूध मात्र का निर्देशन होने पर भी दूध का उपयोग करने वाला और उसे व्यवहार में लाने वाला पार्थक्य करता है कि कौन-सा दूध कहाँ काम में लिया जाये। शारीरिक पौष्टिकता और स्वास्थ्य के लिए वह उसी दूध का उपयोग करता है, जो तदनुकूल परिणति कर सके। हर वस्तु अपने विशेष स्थान पर ही उपयुक्त हो सकती है, सब जगह नहीं। पुष्टता एवं बलवर्धन का अभिलाषुक व्यक्ति आक के दूध का पान करे तो उलटा परिणाम होगा। इसी प्रकार आध्यात्मिक और सामाजिक दया भी अपने पृथक्-पृथक् स्थानों पर कार्यकारी हैं। उनका सम्मिश्रण करने से विपर्यास हो जाता है।

आचार्य भिक्षु ने दया के स्वरूप पर गहरा मन्थन किया है और कहा कि दया-दया सब पुकारते हैं। पर रहस्य की बात यह है कि उसके वास्तविक स्वरूप को पहचानकर जो उसका पालन करेंगे, वे ही मुक्ति के निकट होंगे। जो बिना इसका स्वरूप पहचान किये दया पालन करने वाले दया के नाम पर हिंसा को प्रश्रय दे डालते हैं, वे लाभ के बदले हानि के भागीदार बन जाते हैं।

आचार्य भिक्षु ने दया का विवेचन करते हुए कहा—सूक्ष्म और स्थूल सब जीवों के प्रति समभाव रखना ही दया है। किसी के प्रति मोह और किसी के प्रति विद्वेष पैदा न होने देना आत्माभिमुख क्रिया है और यही दया का सुन्दर स्वरूप है। तात्पर्य यह है कि दया बाहर से सम्बद्ध न होकर व्यक्ति की अपनी ही आन्तरिक मनोवृत्ति और प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। एक को उबारना और एक को डुबोना दया की परिधि से एकदम बाहर है। निर्बल और असहाय की सुरक्षा के लिए किसी सबल पर प्रहार करना दया का कार्य नहीं है। यह तो राग-द्वेष का नर्तन है। बल-प्रयोग कभी दया का जनक नहीं हो सकता।

आचार्य भिक्षु की दया पूरी गहराई में उतरी। उन्होंने कहा—वह कभी दया नहीं मानी जा सकती, जिसमें तनिक भी हिंसा का मेल हो। बहुतों के लिए स्वल्पों की हिंसा भी हिंसा ही है। वह बहुतों की सुरक्षा के लिए की गई है, इस दृष्टि से उसे अहिंसा नहीं ठहराया जा सकता। इसी प्रकार बड़ों के लिए छोटी हिंसा भी अहिंसा की कोटि में प्रवेश नहीं पा सकती। मनुष्य की सुविधा के लिए जो इतर जीवों का हनन किया जाता है, उसे अहिंसा समर्थन नहीं दे सकती। इस प्रकार के समर्थन से तो लघु जीवों के संहार को बहुत बड़ा प्रश्रय मिल जाता है।

मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। यह मनुष्य का अपना ही दर्शन है। अन्यथा तो अपने-अपने क्षेत्र में सब जीव श्रेष्ठ हैं।

कोई हीन या लघु नहीं । कोई मृत्यु के लिए तैयार नहीं। कोई कितना ही श्रेष्ठ क्यों न हो, फिर भी उसके लिए अपने प्राणों का बलिदान किसी को मान्य नहीं हो सकता। समर्थ प्राणी जो ऐसा करते हैं, वे अपनी सबलता के आधार पर ही करते हैं, उन्हें इसका कोई अधिकार नहीं होता; वे अनधिकार चेष्टा करते हैं।

अनिवार्य हिंसा

अनेक लोगों और मतमतान्तरों की मान्यता है कि जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य है। संसार में जो जीव रहते हैं, उन्हें खान-पान, रहवास आदि जीवन के अनिवार्य कार्यों के निमित्त हिंसा का सहारा लेना ही पड़ता है। **जीवोजीवस्य जीवनम्** यह उक्ति इसी तथ्य को प्रगट करती है। जीवों की इतनी विवशता है कि हिंसा के बिना उनका जीवन ही नहीं टिक सकता। इतनी अनिवार्यता में जो हिंसा की जाती है, वह अहिंसा की कक्षा में है, आचार्य भिक्षु ने इस सिद्धान्त का डट कर विरोध किया। उन्होंने कहा—हिंसा कितनी ही अनिवार्य क्यों न हो, उसे अहिंसा नहीं माना जा सकता। विवेकशील व्यक्ति की यह कितनी बड़ी कमजोरी की बात है कि वह आदर्श तक नहीं पहुँच पाता, तो आदर्श को ही खिसका कर नीचे ले आना चाहता है; पर वस्तुतः यह कार्य उसका समुचित नहीं है। हिंसा के सहारे की गई सेवा, सहानुभूति, सहयोग आदि सभी हिंसामय ही माने जायेंगे, क्योंकि उसके मूल में राग-द्वेष की भावना काम कर रही होती है। हिंसा हर अवस्था में हिंसा ही रहेगी। हिंसा किसी भी पवित्र कार्य के लिए की जाये, पर उसमें धर्म नहीं हो सकता। सूई की नोक में कोई मोटे रस्से को पिरोना चाहे तो वह नहीं पिरोया जा सकता। वैसे ही हिंसा के किसी कार्य में धर्म नहीं पिरोया जा सकता।

एक विचारधारा है कि बहुत प्राणियों के जीवन-हेतु जो थोड़े प्राणियों की हिंसा की जाती है उसमें पाप तो लगता है, पर बहुत स्वल्प लगता है। क्योंकि उनसे कई गुणों प्राणियों की रक्षा उस थोड़ी-सी हिंसा से हो जाती है। राष्ट्र या समाज की सुरक्षा के लिए कुछ व्यक्तियों को मौत के घाट उतार देना अहित का नहीं, प्रत्युत हित का साधन है। इसी तरह वे ऐसा भी मानते हैं कि योग्य और समर्थ जीवों के लिए क्षुद्र जन्तुओं का घात भी कोई अनिष्ट नहीं, उसमें दयाभाव की प्रधानता है। विशिष्ट जीवों को बचाने के लिए उठाया गया यह कदम अनुचित नहीं।

आचार्य भिक्षु ने इस विचारधारा पर सूक्ष्म विश्लेषण किया और पाया कि हिंसा और अहिंसा, दोनों एक जगह नहीं हो सकतीं। एक क्रिया से उभय की उत्पत्ति किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। उन्होंने कहा—अन्य कुछ वस्तुओं में तो सम्मिश्रण हो सकता है, पर दया और हिंसा में किसी प्रकार का मेल नहीं हो सकता। जैसे पूर्व और पश्चिम के मार्ग परस्पर मेल नहीं खा सकते, उसी प्रकार जहाँ थोड़ी-सी भी हिंसा का सम्मिश्रण है, वहाँ दया नहीं हो सकती।

आचार्य भिक्षु ने दया के सम्बन्ध में एक अन्य विश्लेषण भी प्रस्तुत किया। उन्होंने कहा—दया दो प्रकार की होती है—एक आध्यात्मिक और दूसरी सांसारिक। अध्यात्म क्षेत्र की दया मर्यादित होती है, उसमें किसी भी प्रकार से हिंसा प्रवेश नहीं पा सकती। आध्यात्मिक दया की सीमा वहाँ तक है, जहाँ तक उसे तनिक भी हिंसा-भाव का समर्थन न करना पड़े। पर सामाजिक दया धीरे-धीरे अपना विस्तार पा लेती है और खाद्य, न्याय तथा राष्ट्र की सुरक्षा के लिए हिंसा को प्रोत्साहन देने लगती है। समाज-शास्त्र अनेक दण्ड विधानों को मान्य करता है। राष्ट्र-सुरक्षा के लिए की गई हिंसा के लिए वैध करार देता है। अपने आक्रान्ता को मारने में किसी प्रकार का दोष नहीं देखता, पर आध्यात्मिक दया इन सब कृत्यों से किसी भी अवस्था में सहमत नहीं है। उसके मन में प्राण-अपहरण तो दूर, किसी का अहित-चिन्तन मात्र हिंसा है। प्रवंचना करना भी हिंसा है।

आचार्य भिक्षु ने अपना यथार्थवादी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट कहा है कि सांसारिक दया केवल समाज व्यवहार की दृष्टि से ही उपयोगी मानी जा सकती है, आध्यात्मिक चिन्तन की अपेक्षा से नहीं; उसमें कोई आत्म-विश्वास का या समता-भाव का संवर्धन या पुष्टीकरण नहीं बल्कि आत्म-भाव का ह्रास और वैषम्य का उद्दीपन है। सामाजिक दया में अभेद की प्रतिष्ठा न होकर, भेद की ही होती है। सामाजिक दया के माध्यम से जहाँ अनेक प्राणियों का कष्ट-निवारण होता है या उनके प्राणों की रक्षा होती है, वहाँ उनकी जानें भी चली जाती हैं। अतः यह अध्यात्म पथ के अनुसार महत्त्व-

पूर्ण नहीं रह जाती ।

दान

आचार्य भिक्षु ने दान के सम्बन्ध में भी विशेष विश्लेषण प्रस्तुत किया । जन-साधारण में जो दान की प्रथा प्रचलित है, वे उससे सहमत न हुए । वहाँ उन्हें यशः-कामना और अहं का पोषण तथा उसके अन्तर्-गर्भित शोषण नजर आया। प्रचलित दान प्रथा समाज में समता नहीं, वैषम्य पैदा करती है और याचक व्यक्ति में हीन भावना उत्पन्न करती है। तथा प्रकार के दान से व्यक्ति की शोषण करने की प्रकृति को प्रश्रय मिलता है, क्योंकि समाज में दाता को सन्मान मिलता है । लोग उसे हर आयोजन में मिन्नतें कर करके ले जाते हैं और ऊँचे मंच पर बैठाते हैं। धर्मशाला, विद्यालय और चिकित्सालय की पट्टी पर भी उनका ही सबसे पहले नाम होता है, जो बड़ी रकम देते हैं। इस प्रकार समाज के अधिकांश भाग का आदर उनको प्राप्त हो जाता है और उनके अहं की वृत्ति को प्रोत्साहन मिल जाता है। वे शोषण के अन्य नये मार्ग खोजते हैं तथा अधिक कमा कर और अधिक नाम कमाना चाहते हैं । परिणाम यह होता है कि उनकी शोषण की परम्परा कभी समाप्त नहीं होती ।

दान विषयक मन्थन करते हुए आचार्य भिक्षु ने कहा कि दान दो प्रकार के होते हैं—धार्मिक दान और लौकिक दान । धार्मिक दृष्टि से दान का अधिकारी संयमी ही हो सकता है, कोई अन्य नहीं । संयमी, जो कि अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह आदि की साधना में लगा हुआ है जो अकिंचन और निर्ग्रन्थ है, जो अपने जीवन के लिए भी हिंसा को आदेय नहीं मानता; ऐसे संयत पुरुष ही दान लेने के अधिकारी हैं । वे सिर्फ संयम-साधना के लिए अत्यन्त अनिवार्य वस्तु को ही ग्रहण करते हैं, उनका संग्रह नहीं करते । यहाँ पर दाता को सम्यक् साधना में समीचीन सहयोग देने के कारण शुद्ध दान का फल प्राप्त होता है । अतः धार्मिक दान ही सुपात्र दान है और वही आचरणीय है । लौकिक दान से यद्यपि समाज के अबल, असहायों को सहायता प्राप्त होती है, उनकी दैहिक आवश्यकताओं की भी पूर्ति होती है, फिर भी वह शोषण पर आधारित है और आगे के लिए भी शोषण ही उत्पन्न करता है, अतः वर्तमान समाज तथाप्रकार के दान को आशंका की दृष्टि से देखता है । वह शोषण-मुक्ति चाहता है, दान नहीं । तथाप्रकार के दान से वैषम्य को बहुत बढ़ावा मिलता है। माँगने वालों की अकर्मण्यता और हीनवृत्ति इतनी बढ़ जाती है कि वे अपने को अपांग तक बना लेते हैं और अत्यन्त कारुणिक दृश्य उत्पन्न करके वे पैसा लेना चाहते हैं, पर कार्य करना नहीं चाहते ।

आचार्य भिक्षु ने अपने स्पष्टीकरण में यह भी बताया है कि असंयत व्यक्ति का खाना, पीना, भोजन करना आदि सावद्य क्रियाएं धार्मिक नहीं हैं; वैसे ही उस समाज के अंगभूत एक याचक की सावद्य प्रवृत्तियाँ भी धर्ममय नहीं हैं; उसे आर्थिक या अन्य प्रकार का सहयोग देना धर्म नहीं, किन्तु एक सामाजिक कर्तव्य की पूर्ति मात्र है । वह आत्म-विकास का कार्य तो हो ही कैसे सकता है ? उनका स्पष्ट मत था कि पात्र दान के अतिरिक्त दान का समर्थन अध्यात्म दृष्टि से नहीं किया जा सकता ।

तेरापंथ में अवधान-विद्या

मुनिश्री मांगीलालजी 'मुकुल'

भारत सदा से ही अध्यात्म-विद्या में अग्रणी रहा है। आज इस अन्वेषण-प्रधान युग में जहाँ बड़े-बड़े वैज्ञानिक भौतिक पदार्थों के विश्लेषण में अपने को लगाये हुए हैं, वहाँ भारत के अध्यात्मवादी मुनियों ने आत्म-तत्त्व के अनुसन्धान में अपना समग्र जीवन लगा कर उसका विश्लेषण किया और उसके साथ ही प्राप्त आत्म-ज्ञान के आधार पर उन्होंने भौतिक पदार्थों का भी गम्भीरता से विवेचन किया, जो कि आज भी वैज्ञानिकों के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री तथा मार्ग-दर्शन प्रस्तुत करता है। जैन अध्यात्म-वेत्ताओं ने इन विषय पर अपेक्षाकृत और भी अधिक सूक्ष्मता से विचार किया है। लाक-रचना सम्बन्धी तथा परमाणु सम्बन्धी उनका तत्त्वज्ञान प्रयोगवादी वैज्ञानिकों के लिए आधुनिक प्रगति के बाद भी मननीय है।

वैज्ञानिकों ने जहाँ भौतिक सुख सुविधाओं का निर्माण कर दुनिया के लिए जीवनोपयोगी वस्तुओं की सुलभता की है, वहाँ अणुवम, उद्जनबम आदि विनाशकारी शस्त्रों का निर्माण कर न केवल मानव मात्र के जीवन को ही, अपितु प्राणीमात्र के जीवन को ही एक बहुत बड़े खतरे में डाल दिया है। यदि वैज्ञानिकों ने इन भौतिक तत्त्वों के साथ-साथ आत्म-तत्त्व का भी अन्वेषण किया होता, तो बहुत सम्भव है कि यह खतरा उपस्थित न हो पाता। चन्द्रलोक व मंगललोक की यात्रा में सफल होने का स्वप्न देखने वाला वैज्ञानिक यदि आत्म-लोक की ओर उन्मुख होता, तो कितना महत्त्वपूर्ण होता? अणु में छिपी शक्तियों के आविष्करण के साथ ही यदि आत्मा में छिपी अनन्त शक्तियों के आविष्करण में भी दत्तचित्त होता, तो सम्भवतः उसने बहुत अधिक उन्नत और शान्त जीवन का प्रशस्त कर लिया होता।

वैज्ञानिकों ने जिस दिशा को एक प्रकार से अछूता छोड़ दिया है,उसी दिशा की ओर भारत के मनीषियों ने बहुत पहले से ही ध्यान दिया है। उसमें विकास करते हुए उन्होंने आत्म-शक्ति के अनेक पहलुओं को विकसित किया है। अवधान विद्या भी उन्हीं में से एक है। समय-समय पर भारत में अनेक व्यक्तियों ने इस विद्या के द्वारा स्मृति-शक्ति में एक चामत्कारिक विशेषता उपलब्ध की है। ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत बड़ी तो नहीं, फिर भी काफी है। वर्तमान में भी इस विद्या में निपुण अनेक व्यक्ति हैं।

अवधान का तात्पर्य

अव उपसर्ग पूर्वक **धा धारणे** धातु के साथ **अनट्** प्रत्यय आने पर अवधान शब्द बना है। इसका अर्थ होता है—अच्छी तरह से धारण करना। प्रतिदिन बहुत-से पदार्थ देखे जाते हैं,बहुत-सी बातें सुनी जाती हैं; फिर भी स्मृति पर उनमें से कुछ तो बिल्कुल ही नहीं टिकतीं तथा कुछ आंशिक रूप से ही टिक पाती हैं। जो टिकती हैं, उनमें एक अवधि के बाद कई बातें भुला दी जाती हैं। बहुधा विद्यार्थी वर्ग की भी यह शिकायत सुनने में आती है कि बहुत कुछ रटने पर भी पाठ याद नहीं होता। आज याद करते हैं और कल भूल जाते हैं। इसका उपचार क्या किया जाये? यह समस्या केवल विद्यार्थियों के ही समक्ष नहीं है, अपितु सभी व्यक्तियों के सामने आती है। बहुधा मनुष्य अपनी आवश्यक बातों को भी याद नहीं रख पाता। इस स्मृति-भ्रंशता का मूलभूत कारण यह है कि मनुष्य स्मर्तव्य के प्रति अवधान नहीं करता। यदि याद रखने के लिए अवधानपूर्वक देखा व सुना जाये, तो कोई कारण ही नहीं कि वे याद नहीं रह सकें।

उदाहरण के तौर पर सुनने को ही लिया जाये और पता लगाया जाये कि जितना सुना जाता है, वह याद क्यों

नहीं रहता ? कुछ विवेचक अनुसन्धान के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि स्वर लहरियों का कानों में प्रविष्ट होना मात्र ही सुनना नहीं है, उसमें मस्तिष्क का सक्रिय सहयोग भी जरूरी है। इस सहयोग में सबसे बड़ी बाधा यह है कि बोलने से सोचने की गति तीव्र होती है। एक मिनट में बोलने की गति एक सौ पच्चीस शब्द होती है, जबकि सोचना उससे चौगुनी गति से होता है। तात्पर्य यह है सौ शब्द सुनने के समय में चार सौ शब्द सोचने योग्य समय बच जाता है। असावधान श्रोता इस समय में और कुछ सोचने लग जाता है और वक्ता से बिछुड़ जाता है। फिर बीच-बीच में वक्ता की ओर ध्यान जाने पर भी बात का क्रम नहीं जुड़ पाता। वह ऊब जाता है। इससे सुनना कठिन और अन्य किसी विषय पर सोचना सुगम हो जाता है। आधी बात सुनने का अर्थ है—समय का अपव्यय। उपर्युक्त निष्कर्ष से यह स्वतः स्पष्ट हो जाता है कि यदि मनुष्य एकाग्र व सावधान होकर सुनने लग जाये तो नैरन्तरिक अभ्यास के द्वारा वह हर बात को सुगमतापूर्वक चिरकाल तक स्मृति पर अंकित रखने में समर्थ हो सकता है।

पौराणिक युग में जब लिखने की परिपाटी नहीं थी, तब इस प्रकार के प्रयोगों द्वारा ही ऋषिजन लाखों पद्य कण्ठस्थ रखने में समर्थ होते थे। वे अपने शिष्य-प्रशिष्यों को भी इन्हीं प्रयोगों द्वारा ग्रन्थ कण्ठस्थ करा दिया करते थे। यह परम्परा भारत में हजारों वर्षों तक चलती रही है। पर अब ज्यों-ज्यों मुद्रण-युग प्रगति कर रहा है, त्यों-त्यों मानव यह सोचने लगा है कि जिसे लिख कर या प्रकाशित कर अपने लिए व अपनी भावी पीढ़ी के लिए सुरक्षित किया जा सकता है व आवश्यकता पड़ने पर उसका भली-भाँति उपयोग भी किया जा सकता है, तब स्मृति पर इतना अनधिकृत दबाव क्यों डाला जाये। सम्भव है, इस भावना ने ही मानव-मस्तिष्क को इतना कमजोर बना डाला कि यही सुनने को मिलता है कि स्मरण-शक्ति कमजोर हो गई है, कुछ भी याद नहीं रहता। अभी सुना कि अभी भूल गए। पर यह कैसी विडम्बना है कि जिनके पूर्वज सम्पूर्ण आगम-शास्त्र कण्ठस्थ रखते थे, उनकी सन्तान को अपने आवश्यक दैनिक कार्यों की स्मृति के लिए भी डायरी का अवलम्बन लेना होता है और उसके अभाव में अपने-आपको खोया-खोया-सा अनुभव करते हैं। प्राचीन शिक्षा-परम्परा यह थी कि लोग सूत्र से वृत्ति की ओर तथा फिर भाष्य और टीका की ओर बढ़ते थे। उत्तरोत्तर ज्ञान की विशदता के लिए पक्ष-विपक्ष के तर्कों का मूल ग्रन्थों के द्वारा अध्ययन करना महत्त्वपूर्ण समझते थे, पर आज की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। आज के छात्र किसी भी वस्तु-विस्तार को जानने को उतने उत्सुक मालूम नहीं देते। मूल-ग्रन्थों के अध्ययन की भी उन्हें अधिक परवाह नहीं है। वे काम चलाऊ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही पर्याप्ति समझते हैं। इसलिए तो बहुधा नोट बुकों, गाइडों या गैस पेपरों आदि पर निर्भर रहते हैं। छात्र यदि अवधान-विद्या में रुचि लेने लगे, तो अवश्य ही उन्हें स्मृति विषयक विशेष सामर्थ्य प्राप्त हो सकता है।

अवधान-प्रणाली का विद्या के रूप में यद्यपि कुछ ही व्यक्ति प्रयोग कर सकते हैं, परन्तु साधारण रूप से तो इसका प्रयोग सर्वसाधारण के लिए भी हो सकता है। अवधान का अर्थ होता है—परिचित या अपरिचित किसी भी बात या वस्तु को मनोयोगपूर्वक अपने मस्तिष्क में धारण कर रखना। जब कोई शब्द या वस्तु बहु परिचित होती है तो वह सहज ही याद रह जाती है। पर अल्प-परिचित या अपरिचित को याद रखना कठिन होता है। उसे याद रखने के लिए साधारणतया व्यक्ति अपनी नोट बुक में उसका नाम लिख लेता है। पर इतने पर भी एक मूलभूत कमी यह रह सकती है कि उस नोट बुक के याद रखने का क्या साधन है ? किसी व्यक्ति को बाजार से अपनी दैनिक आवश्यकता की कोई वस्तु खरीदनी है। उसका नाम उसको याद है। अथवा कोई अपरिचित वस्तु खरीदनी हुई, तो वह उसका नाम अपनी नोट बुक में लिख लेता है। परन्तु जब वह बाजार में से गुजरा, तब उसे न तो दैनिक आवश्यकता की वस्तु खरीदने का स्मरण हुआ और न उस नोट की हुई वस्तु के खरीदने का। घर आने पर पत्नी ने उलाहना देते हुए आगे के लिए सावधान किया और कहा—अब अपने रूमाल के गांठ देकर ही जाना ताकि जब-जब रूमाल पर हाथ लगेगा, तब-तब याद आता रहेगा कि बाजार से कुछ खरीदना है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि दो तरह से बात याद रखी जाती है। एक तो खरीदना है, दूसरे में 'क्या खरीदना है ?' खरीदना है, इसे गाँठ देकर याद रखते हैं और क्या खरीदना है, इसे नोट बुक में लिख कर।

जन-साधारण में प्रचलित इसी साधारण प्रक्रिया का एक विकसित तथा सुनियमित रूप अवधान-विद्या में प्रयुक्त

किया जाता है। अपने मस्तिष्क को नोट बुक के पन्नों की तरह अनेक काल्पनिक भागों में विभक्त करना, प्रत्येक भाग के प्रतीक स्थापित करना और फिर स्मरणीय वस्तु का उन प्रतीकों के साथ सम्बन्ध योजित करना होता है। स्मरणीय वस्तुओं के प्रति तीव्र अभिरुचि तथा मस्तिष्क प्रकोष्ठों के प्रतीकों के साथ सम्बन्ध योजन करने वाली प्रबल कल्पना-शक्ति इस विद्या में प्रमुख रूप से सहायक सामग्री का काम देती है।

अवधान की प्रक्रिया के मुख्य चार अंग माने जाते है :

१. ग्रहण—जिस इन्द्रिय का विषय हो, उसके द्वारा उस वस्तु को एकाग्रता से ग्रहण करना।

२. धारण—मस्तिष्क-प्रकोष्ठों के साथ सम्बन्ध-योजन द्वारा गृहीत बात को धारण कर सुरक्षित रखना।

३. स्मरण—आवश्यकता होने पर धारण की हुई बात को दोहराना।

४. प्रत्यभिज्ञा—स्मृति में ली हुई वस्तु को पृथक्-पृथक् पहचानना।

अवधान-विद्या और जैन-परम्परा

जैन ग्रन्थों में स्मरण-शक्ति विषयक उल्लेखों में ईसा पूर्व में हुए नन्दराज के महामंत्री शकडाल की पुत्रियों की स्मृति-विलक्षणता का उल्लेख मिलता है। किन्तु उन्होंने अधीन अवधान किया हो, ऐसा नहीं लगता। वह तो उनकी एक स्वाभाविक विशिष्टता थी। इस शक्ति को व्यवस्थित रूप में विकसित करने तथा अवधान विद्या के रूप में प्रयुक्त करने का सिलसिला क्रमश: विकसित हुआ लगता है। इस परम्परा में जैन मुनि उपाध्याय श्री यशोविजयजी का नाम-विशेष उल्लेखनीय है। उन्होंने इसका प्रयोग व्यवस्थित विधि से किया। उनका समय लगभग विक्रम की सोलहवी शताब्दी थी। वे सहस्रावधानी थे। कहा जाता है कि वे मनोयोग पूर्वक १००० गणित एवं स्मृति प्रधान प्रश्नों को सुन कर घंटों तक याद रख सकते थे। वाराणसी में विद्वन् समाज के समक्ष जब उन्होंने अवधान प्रस्तुत किये, तब आत्म-शक्ति के इस विलक्षण विकास पर सभी चकित रह गये थे। उनके बाद श्रीमद् रायचन्द्र का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे एक महान् तत्त्वज्ञानी तथा अध्यात्मवेत्ता सद्गृहस्थ थे। महात्मा गांधी उनके जीवन से बहुत प्रभावित थे। अहिंसा विषयक उनके अनेक प्रश्नों का समाधान श्रीमद रायचन्द्र ही किया करते थे। गांधीजी उन्हें गुरु-तुल्य माना करते थे। उन्होंने गणित के जटिल प्रश्न एवं स्मरण शक्ति के अद्भुत प्रयोगों द्वारा अनेकों बार लोगों को चमत्कृत किया था। वर्तमान में भी अनेक जैन मुनि तथा सद्गृहस्थ इस विद्या के पारंगत विद्वान् हैं।

तेरापंथ में प्रथम अवधान-प्रयोग

तेरापंथ संघ में सर्वप्रथम शतावधान का प्रयोग मुनिश्री धनराजजी (सरसा) ने किया। वे संस्कृत, राजस्थानी तथा गुजराती आदि भाषाओं के कवि, तत्वज्ञ एवं व्याख्यानी हैं। विक्रम संवत् २००३ में भारत के प्रमुख नगर बम्बई में उन्होंने सैकड़ों की उपस्थिति में गणित एवं स्मृति प्रधान १०१ जटिल प्रश्नों को लगभग सात घण्टे बाद दोहराया। उसका केवल वहाँ की जनता पर ही नहीं, अपितु अन्यत्र भी व्यापक असर हुआ। मुनिश्री धनराजजी ने सौराष्ट्र, पंजाब, राजस्थान में अनेकों बार इस विद्या के प्रयोग किये हैं व उससे जनता में स्मृति-विलक्षणता के प्रति एक सहज अनुराग बढ़ा है।

अवधान-विद्या का राष्ट्रव्यापी प्रभाव

अवधान-विद्या के प्रभाव को भारत की करोड़ों जनता तक फैलाने का श्रेय है—मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' को। वे संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी तथा गुजराती आदि भाषाओं के विद्वान्, लेखक तथा संस्कृत के आशु कवि हैं। अणुव्रत-आन्दोलन के प्रचार-प्रसार में भी उनका बेजोड़ श्रम रहा है। दिल्ली, जयपुर, बम्बई व लखनऊ उनके विशेष कार्यक्षेत्र रहे हैं। उन्होंने भी इसका पहला प्रयोग बम्बई नगर में किया। अन्य नगरों के अतिरिक्त उन्होंने दिल्ली में भी तीन बार अवधान किये। यहाँ से अवधानों की प्रसिद्धि और गरिमा सुविस्तृत बनी। तीनों बार के अवधानों ने क्रमश: अधिक-से-अधिक वैचारिक क्षेत्रों को प्रभावित किया और भारत की राजधानी में एक प्रकार की हलचल-सी पैदा कर दी। आध्या-

त्मिक विद्या का यह प्रयोग अनेक लोगों के लिए सर्वथा नया था। जो शिक्षित वर्ग अवधानों को एक तिकड़म मानता था, उनकी वास्तविकता को देख कर विस्मय विमुग्ध रह गया।

मुनिश्री नगराजजी के तत्त्वावधान में ता० ५ मई, १९५७ को दिल्ली के सुप्रसिद्ध स्थान टाउन हॉल में उन्होंने अवधान प्रस्तुत किये थे। इससे पूर्व दिल्ली में कोई अवधान-प्रयोग सुनने में नहीं आया था। जनता में उत्साह और कौतूहल दोनों विद्यमान थे। प्रस्तुत आयोजन में वाणिज्यमंत्री श्री मुरारजी देसाई, रेलमंत्री श्री जगजीवनराम, सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश श्री बी० पी० सिन्हा, उद्योगमंत्री श्री नित्यानन्द कानूनगो आदि तथा अन्य अनेक साहित्यकार प्रश्न-कर्ता के रूप में उपस्थित थे। इस आयोजन की सफल समाप्ति का जनता पर अपूर्व असर पड़ा। इसके अनन्तर अनेक शिक्षा-केन्द्रों तथा दूसरे स्थानों से उनको निमन्त्रण मिले।

अवधान का दूसरा आयोजन कान्स्टीट्यूशन क्लब में रखा गया। प्रस्तुत समारोह में गृहमंत्री पंडित गोविन्द वल्लभ पंत, राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन, लोकसभा के अध्यक्ष श्री अनन्तशयनम् आयंगर, श्रममंत्री श्री गुलजारीलाल नन्दा, खाद्यमंत्री श्री अजितप्रसाद जैन, इस्पातमंत्री सरदार स्वर्णसिंह, श्री महावीर त्यागी, सुप्रसिद्ध कवि श्री बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' आदि के अतिरिक्त अनेक साहित्यकार, पत्रकार और नगर के गण्यमान व्यक्ति उपस्थित थे। इस अवधान-प्रयोग का राजकीय वर्ग पर बहुत सुन्दर असर रहा। बहुत सारे लोगों ने इसे दैवी चमत्कार ही माना। मुनिश्री नगराजजी द्वारा इसका स्पष्टीकरण करने पर भी पं० गोविन्द वल्लभ पन्त यह मानने को तैयार न हुए कि यह कोई दैवी-चमत्कार नहीं है।

ता० २५ अक्तूबर, १९५७ को तीसरा अवधान-प्रयोग, राष्ट्रपति भवन में रखा गया, जिसमें केन्द्रीय मंत्री, उपमंत्री, संसद सदस्य, सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, प्लानिंग कमीशन के सदस्य व प्रमुख साहित्यकार आमन्त्रित थे। राष्ट्रपति भवन के अशोक हॉल में यह समारोह हुआ था। प्रस्तुत समारोह में राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद, उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन्, प्रधानमंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू, दिल्ली विश्वविद्यालय के तात्कालीन उपकुलपति डा० वी० के० आर० वी० राव आदि प्रश्नकर्ता के रूप में तथा अन्य मन्त्री, संसद सदस्य, साहित्यकार, पत्रकार एवं सम्भ्रान्त नागरिक अवधान-प्रयोग देखने के लिए उपस्थित हुए थे।

अवधान का आरम्भ करते हुए डा० राजेन्द्रप्रसाद ने ८,३,४,२,५,४,६,९,१,७,४,३,०,९,६,१,८,५ के रूप में अठारह अंक कहे थे। पं० जवाहरलाल नेहरू ने फ्रेंच भाषा का 'पक्खतिरसे एपद मुहिय' वाक्य कहा था और उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् ने तेलगू भाषा का एक वाक्य और संस्कृत का एक श्लोक बोला था। मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'प्रथम' अपनी समाधि लगाकर बैठ गये और एक के बाद एक-एक अवधान सुनने लगे तथा सवा घण्टा के बाद उन्हें विधिवत् दोहरा दिया।

संस्कृत में आशु कविता के लिए प्रधानमंत्री ने 'रूस का कृत्रिम चाँद' विषय दिया था। वस्तुतः ही यह कार्यक्रम बहुत रोचक व आकर्षक रहा था। इस अवसर पर भाषण करते हुए राष्ट्रपति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने कहा—हम लोगों को आज का यह दृश्य देखकर बड़ी प्रसन्नता हुई है। आपकी इस विद्या से हम प्रभावित भी हुए हैं और बहुत चकित भी। भारतवर्ष की पुरानी विद्या, जिसे हम लोग भूलते जा रहे हैं; उसको आपने जीवित रखने का यह सुन्दर प्रयास किया है, इसके लिए आप बधाई के पात्र हैं।

आभार प्रदर्शन करते हुए उन्होंने कहा—मैं सबकी ओर से मुनिश्री नगराजजी, मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी तथा उनके साथियों का धन्यवाद करता हूँ कि उन्होंने अपना समय देकर, कष्ट उठा कर हमें ऐसा चामत्कारिक प्रयोग दिखाया। हम आपके आभारी हैं।

अवधान विद्या में नया उन्मेष

प्रथम नवोन्मेष मुनिश्री राजकरणजी ने किया जो कि गणित एवं अवधान-विद्या के पूर्ण अधिकारी हैं। उन्होंने सं० २०१५ की ग्रीष्म ऋतु में उदयपुर डिवीजन के अन्तर्गत धारीण गाँव में बाहर से समागत सैकड़ों ग्रेजुएट छात्रों, वकीलों एवं सम्भ्रान्त नागरिकों के बीच ५०१ अवधान करके नया रिकार्ड स्थापित किया। उन्होंने ये अवधान अपने

प्रत्युत्पन्न बुद्धि की स्वतन्त्र स्फुरणा के आधार पर ही किये थे। पुस्तक एवं व्यक्ति आदि के मार्गदर्शन बिना ऐसा कर पाना सहज नहीं हो पाता। उन्होंने गणित विषयक अनेकों नये 'गुर' निकाले तथा अनेकों नये प्रयोग किये। पूर्व अवधानकार मुनियों ने २५ खानों से अधिक का यन्त्र नहीं भरा था, पर उन्होंने अधिक खानों वाले यन्त्रों के गुर निकाले तथा ४९, ६४, १२५ खानों वाले यन्त्र ही नहीं,अपितु ऊपर में ८४१ खानों के यंत्र को अस्खलित भर कर अवधान-विद्या में एक नई कड़ी जोड़ दी। सबसे अधिक आश्चर्य तो तब हुआ, जब मुनिश्री ने ५०१ अवधानों को लगभग आठ घण्टे बाद क्रमशः तथा व्युत्क्रम से पूछे जाने पर भी बतला दिया। आप अच्छे तत्वज्ञ,चिन्तक,जैन शास्त्रों के विद्वान् एवं चर्चावादी माने जाते हैं।

सहस्रावधान

अर्ध-सहस्रावधान के लगभग एक सप्ताह पश्चात् दूसरा नवोन्मेष एक हजार अवधान का हुआ। इसका श्रेय मुनिश्री चम्पालालजी (सरदारशहर) को है, जोकि हिन्दी के आशुकवि एवं संस्कृत के अच्छे विद्वान् हैं। उन्होंने बीकानेर डिवीजन के अन्तर्गत तारानगर में सुबह से शाम तक बिना कुछ खाये लगभग तेरह घण्टे तक एक स्थान पर ही बैठे रह कर सैकड़ों की उपस्थिति में १००१ अवधान कर लोगों को चकित कर दिया। इसके बाद अब वे अवधान विद्या में एक और नया उन्मेष करने में लगे हुए हैं। वे चाहते हैं कि सौ मनुष्य अपने-अपने विषय चुन कर उन्हें दें और वे उसी समय आशु-कविता के रूप में उन सभी विषयों पर कविता के प्रथम दो चरण पहले बोल दें और अन्तिम दो चरण कुछ समय पश्चात् क्रमशः बोलते चले जाएं। उनकी यह साधना विकासोन्मुख है और आशा है कि वे शीघ्र ही उसमें निष्णात होंगे।

मुनिश्री श्रीचन्दजी 'कमल' ने केवल साधुओं की उपस्थिति में ही डेढ़ हजार (१५०१) अवधान करके अपनी कुशाग्र बुद्धि का परिचय दिया। मुनिश्री श्रीचन्दजी संस्कृत, राजस्थानी, हिन्दी, गुजराती भाषा एवं गणित के अच्छे विद्वान हैं। अतः कलकत्ता, कानपुर आदि अनेक नगरों में आचार्यश्री के सान्निध्य में वे इस विद्या के सफल प्रयोग कर चुके हैं।

मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' के अवधान-प्रयोग भी काफी चामत्कारिक व प्रभावोत्पादक रहे हैं। इन्होंने पहला प्रयोग विद्वानों की नगरी वाराणसी में किया था। वाराणसी में इन शताब्दियों में यह पहला प्रयोग था। विद्वानों की सभा में उन्होंने कठिन-से-कठिन संस्कृत श्लोक व विदेशी भाषाओं के वाक्य स्मृति में रखकर तथा गणित के दुरूह से भी दुरूह प्रश्नों का तत्काल समाधान प्रस्तुत कर जनता को चमत्कृत कर दिया। पटना के राजभवन में भी उनके सफल प्रयोग हुए। कलकत्ता महानगरी में दस हजार की जनता के बीच अवधान प्रस्तुत कर उन्होंने अपनी स्मृति-विलक्षणता का विशेष परिचय दिया। उन्नीस वर्ष की वय में मुनिश्री महेन्द्रकुमारजी 'द्वितीय' बम्बई विश्वविद्यालय से बी० एस-सी० प्रथम श्रेणी से उत्तीर्ण करके दीक्षित हुए हैं और केवल आठ मास के अल्पकाल पश्चात् ही अवधान-प्रयोग करने में सफल हुए हैं। वे संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, मराठी, अंग्रेजी, जर्मनी आदि भाषाओं के भी अच्छे ज्ञाता हैं।

साध्वी समाज में भी अवधान-विद्या पनपने लगी है। अनेकों साध्वियाँ इसका अभ्यास कर रही हैं। इनमें प्रथम प्रयोग साध्वी श्री किस्तूरांजी ने दक्षिण भारत में किया। वे संस्कृत, हिन्दी आदि की अच्छी विदुषी साध्वी हैं।

आदि घटना

आज से करीब बीस साल पहले आचार्यश्री का ध्यान अवधान-विद्या की ओर आकृष्ट हुआ था। उस समय गुजरात के एक श्रावक श्री धीरजलाल टोकरसी शाह ने आचार्यश्री के सम्मुख कुछ अवधान प्रस्तुत किये थे। तभी से आचार्यश्री की इच्छा थी कि संघ के साधु इस कला में निष्णात हों। लेकिन तत्काल तो ऐसा कुछ नहीं हो सका, पर लग-भग छः वर्ष बाद जबकि मुनिश्री धनराजजी (सरसा) ने बम्बई में चातुर्मास किया, तो वहाँ श्री शाह के पास उन्होंने यह अभ्यास किया। इस प्रकार आचार्यश्री की वह मनःकामना पूर्ण हुई। उसके बाद तो अवधान-विद्या का तेरापंथ में विकास होता ही गया। सार्ध सहस्रावधान के बाद तो आचार्यश्री को इसकी संख्या-वृद्धि पर एक प्रकार से रोक ही लगा देनी पड़ी। अन्यथा दो हजार अवधान करने की कामना तथा शक्ति रखने वाले भी साधु हैं।

परिशिष्ट

धवल समारोह समिति

(पदाधिकारी व सदस्य)

पदाधिकारी

१. श्री यू० एन० ढेबर, भूतपूर्व अध्यक्ष अ० भा० कांग्रेस कमेटी	अध्यक्ष
२. डा० सम्पूर्णानन्द, भूतपूर्व मुख्यमन्त्री उत्तरप्रदेश	उपाध्यक्ष
३. श्री वाई० बी० चह्वाण, मुख्यमन्त्री महाराष्ट्र	,,
४. श्री मोहनलाल सुखाड़िया, मुख्यमन्त्री राजस्थान	,,
५. श्री बी० डी० जत्ती, मुख्यमन्त्री मैसूर	,,
६. श्री श्रीमन्नारायण, सदस्य योजना आयोग	संयोजक
७. श्री जबरमल भण्डारी, अध्यक्ष श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा	सह-संयोजक
८. श्री सुगनचन्द आंचलिया, भूतपूर्व अध्यक्ष अ० भा० अणुव्रत समिति	,,
९. लाला गिरधारीलाल जैन, अध्यक्ष जै० श्वे० तेरापंथी सभा दिल्ली	कोषाध्यक्ष

सदस्य

१०. श्री बी० पी० सिन्हा, मुख्य न्यायाधीश सर्वोच्च न्यायालय
११. आचार्य जे० बी कृपलाणी, भू० पू० अध्यक्ष प्रजा समाजवादी पार्टी
१२. श्री अटलबिहारी वाजपेयी, मन्त्री अखिल भारतीय जनसंघ
१३. श्री जयसुखलाल हाथी, विद्युत् उपमन्त्री भारत सरकार
१४. महाराजा श्री करणीसिंहजी, संसद सदस्य
१५. सेठ गोविन्ददास, संसद सदस्य, मन्त्री भारतीय संगम
१६. श्री सादिक अली, महामन्त्री अ० भा० कांग्रेस कमेटी
१७. श्री चपलाकान्त भट्टाचार्य, संसद सदस्य, अध्यक्ष अ० भा० समाचार-पत्र सम्पादक सम्मेलन
१८. श्री फादर जे० एन० विलियम्स, आर्चबिशप इण्डियन नेशनल चर्च बम्बई
१९. श्री गोपीनाथ 'अमन', अध्यक्ष जनसम्पर्क समिति दिल्ली प्रशासन
२०. डा० युद्धवीरसिंह, अध्यक्ष औद्योगिक सलाहकार मण्डल दिल्ली प्रशासन
२१. डा० विश्वेश्वरप्रसाद, अध्यक्ष इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
२२. डा० हरिवंशराय 'बच्चन', एम० ए०, डी० लिट्
२३. डा० सतकौड़ी मुकर्जी, निर्देशक नवनालन्दा महाविहार
२४. डा० हीरालाल जैन, अध्यक्ष भाषा विभाग जबलपुर विश्वविद्यालय
२५. डा० नथमल टाटिया, निर्देशक वैशाली प्राकृत विद्यापीठ
२६. श्री के० एस० धरणेन्द्रैय्या, निर्देशक सांस्कृतिक व साहित्यिक संस्थान मैसूर राज्य
२७. श्री एन० ओ० जोशी, मुख्य सचिव दिल्ली प्रशासन

२८. डा० रामसुभगसिंह, मन्त्री कांग्रेस संसदीय दल
२९. श्री आई० डी० जालान, स्वायत शासन मन्त्री बंगाल
३०. चौधरी कुम्भाराम आर्य, संसद सदस्य, उपाध्यक्ष अ० भा० पंचायत संघ
३१. श्री रामनिवास मिर्धा, अध्यक्ष राजस्थान विधान सभा
३२. श्री चन्दनमल बैद, भूतपूर्व वित्त उपमन्त्री राजस्थान
३३. श्री यशपाल जैन, सम्पादक जीवन साहित्य
३४. श्री रिषभदास रांका, सम्पादक जैन जगत्
३५. श्री चिरंजीलाल बड़जाते
३६. आशुकविरत्न पण्डित रघुनन्दन शर्मा, आयुर्वेदाचार्य
३७. सेठ श्री पद्मपत सिंहानिया
३८. साहू श्री शान्तिप्रसाद जैन
३९. श्री लालचन्द सेठी
४०. समाजभूषण श्री छोगमल चोपड़ा, भूतपूर्व अध्यक्ष श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४१. श्री नेमचन्द गधैया　　　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,
४२. श्री मदनचन्द गोठी　　　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,
४३. श्री प्रभुदयाल डाबड़ीवाल　　भूतपूर्व उपाध्यक्ष श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४४. श्री पन्नालाल सरावगी　　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,
४५, श्री डालिमचन्द सेठिया बार एट ला ,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,　　,,
४६. श्री मोहनलाल बांठिया, प्रधान ट्रस्टी श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४७. श्री सन्तोषचन्द बरड़िया, भूतपूर्व मन्त्री बीकानेर स्टेट
४८. श्री श्रीचन्द रामपुरिया, भूतपूर्व मन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
४९. डा० जेठमल भंसाली, मन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
५०. श्री हणुतमल सुराणा, संस्थापक आदर्श साहित्य संघ
५१. श्री पारस जैन, अध्यक्ष अखिल भारतीय अणुव्रत समिति
५२. श्री रामचन्द्र जैन, संस्थापक भारतो लोजिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट श्रीगंगानगर
५३. श्री जयचन्दलाल दफ्तरी, भूतपूर्व मन्त्री अ० भा० अणुव्रत समिति
५४. श्री मोहनलाल कठौतिया, मन्त्री अणुव्रत समिति दिल्ली
५५. श्री कुन्दनमल सेठिया
५६. सेठ सुमेरमल दूगड़
५७. श्री शुभकरण दसाणी
५८. श्री तेजमाल चोपड़ा
५९. श्री खेमकरण भूतोड़िया, भूतपूर्व मन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६०. श्री जसवन्तमल सेठिया, ट्रस्टी श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६१. श्री जयचन्दलाल कोठारी
६२. श्री धनराज सेठिया
६३. श्री केवलचन्द नाहटा, उपमन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६४. श्री नथमल कठौतिया, उपमन्त्री श्री जै० श्वे० ते० महासभा
६५. श्री नेमचन्द नगिनचन्द जवेरी, अध्यक्ष श्री जै० श्वे० ते० सभा बम्बई

६६. श्री जेठालाल झवेरी
६७. श्री रमणीकचन्द जवेरी
६८. श्री कन्हैयालाल दूगड़, संयोजक बिहार प्रदेशीय अणुव्रत समिति
६९. श्री चूनी भाई मेहता, भूतपूर्व दिवान वाव स्टेट
७०. श्री मोहनराज कोठारी, एडवोकेट
७१. श्री हीरालाल कोठारी
७२. प्रो० भैरूलाल धाकड़
७३. श्री मंगतराय जैन, उपाध्यक्ष अणुव्रत समिति दिल्ली
७४. श्री केसरीमल सुराणा
७५. श्री सुमेरमल आंचलिया
७६. श्री नूनीयामल जैन
७७. श्री सुलतानसिंह जैन
७८. श्री सागरमल बैंगाणी
७९. श्री हनुमानमल बैंगाणी
८०. श्री रामलाल गोलछा
८१. श्री चम्पालाल बैद
८२. श्री केसरीचन्द बोथरा
८३. श्री धर्मचन्द मेठिया
८४. श्री फतेहचन्द चोपड़ा, अवकाश प्राप्त आयकर अधिकारी
८५. श्री चन्दनमल बैंगाणी
८६. श्री केवलराज सिंघी, प्रोप्राइटर मारवाड़ टेण्ट फैक्ट्री
८७. श्री कजोड़ीमल मेहता
८८. श्री मोतीलाल राँका
८९. श्री भँवरलाल कर्णावट
९०. श्री छगनलाल शास्त्री
९१. श्री सोहनलाल बाफणा, उपमंत्री अणुव्रत समिति दिल्ली
९२. श्री लादूलाल आच्छा, एम० कॉम
९३. श्री बच्छराज संचेती, सम्पादक जैन भारती
९४. श्री खेमचन्द मेठिया
९५. श्री कल्याणमल बरड़िया, संयोजक पारमार्थिक शिक्षण संस्था
९६. श्री पन्नालाल बांठिया, मंत्री अणुव्रत समिति जयपुर
९७. श्री शुभकरण दूगड़
९८. श्री शोभाचन्द सुराणा
९९. श्री रिद्धपाल जैन
१००. श्री ए० बी० आचार्य, मंत्री कन्नड़ संघ पूना

सम्पादक-मण्डल : परिचय

श्री जयप्रकाश नारायण

जीवन के पूर्वार्ध में सर्वोच्च श्रेणी के राजनयिक, वर्तमान में सर्वोदयी विचारक, जननेता और विश्वशान्ति के अन्तर्देशीय ख्यातिलब्ध समर्थक।

श्री नरहरि विष्णु गाडगिल

पंजाब के राज्यपाल, मराठी के महान् साहित्यकार, भूतपूर्व केन्द्रीय निर्माण मंत्री।

श्री के० एम० मुंशी

उत्तरप्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल, भू० पू० केन्द्रीय खाद्य-मंत्री, भारतीय विद्याभवन के संस्थापक।

श्री हरिभाऊ उपाध्याय

गांधीवादी साहित्य के महान् लेखक, तात्कालिक अजमेर राज्य के मुख्यमंत्री, राजस्थान के वित्तमंत्री।

श्री मुकुटबिहारी वर्मा

हिन्दुस्तान दैनिक के प्रधान सम्पादक, अ० भा० समाचार-पत्र सम्पादक सम्मेलन की कार्यकारिणी के सदस्य।

मुनिश्री नगराजजी

अणुव्रत-भावना के महान् प्रेरक, शोध प्रधान और तुलनात्मक साहित्य के यशस्वी लेखक, तेरापंथ के कर्मण्य और विचारक मुनि।

श्री मैथिलीशरण गुप्त

साकेत, भारत-भारती आदि के रचयिता, राष्ट्रकवि, संसद सदस्य।

श्री एन० के० सिद्धान्त

सुप्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री, दिल्ली विश्वविद्यालय के उपकुलपति, ग्रन्थ के सम्पादन काल में ही निधन प्राप्त।

श्री जैनेन्द्रकुमार

हिन्दी के मूर्धन्य साहित्यकार, सूक्ष्म विचारक, साहित्य अकादमी की हिन्दी समिति के सदस्य।

श्री जबरमल भण्डारी

एडवोकेट, श्री जैन श्वेताम्बर तेरापंथी महासभा के अध्यक्ष, आदर्श अणुव्रती।

श्री अक्षयकुमार जैन

नवभारत टाइम्स के प्रधान सम्पादक, हिन्दी साहित्य सम्मेलन दिल्ली के प्रधानमंत्री, अ० भा० समाचार पत्र सम्पादक सम्मेलन की कार्यकारिणी के सदस्य।

श्री मोहनलाल कठौतिया

मैनेजिंग डायरेक्टर मैचवेल इलैक्ट्रिकल्स (इण्डिया) लि०,
अध्यक्ष फैन मेकर एसोसियेशन,
मंत्री अणुव्रत समिति दिल्ली।

●

अकारादि-अनुक्रम